

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितस्य

# स्वविवृतिसहितलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

## न्यायकुसुदचन्द्रः

[ द्वितीयो भागः ]

(न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारलिखितटिप्पणादिसहितः)

स चायम्

काशीस्थ-श्रीस्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालयस्य न्यायाध्यापकपदप्रतिष्ठितेन

‘प्रमेयकमलमार्तण्ड-अकलङ्कग्रन्थत्रया’दिग्रन्थानां सम्पादकेन  
न्यायाचार्य-न्यायदिवाकर-जैन-प्राचीनन्यायतीर्थाद्युपाधिभूषितेन

पं० म हे न्द्र कु मा र शा स्त्रि णा

प्रस्तावना-पाठान्तर-तुलनार्थबोधकटिप्पणी-अवतरणनिर्देश-परिशिष्टादिभिः

संस्कृत्य संशोधितः, सम्पादितश्च ।

प्रकाशक :-

मन्त्री-श्री पं० नाथूराम प्रेमी,  
माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला  
हीराबाग, गिरगाँव, बंबई नं० ४ ।

मुद्रक -बानू रामचण्णदास बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस ।

धीरनिर्वाणायदा २४६७

विक्रमाब्दा १९६८ ]

प्रथमावृत्ति ६०० प्रति.

[ क्रिस्ताब्दा १९४९.

# MÂNIK CHANDRA DIG. JAIN GRANTHMÂLÂ,

A SERIES PUBLISHING CRITICAL EDITIONS OF CANONICAL PHILOSOPHICAL,  
HISTORICAL LITFERIAL NARRATIVE ETC WORKS OF JAIN LITERATURE  
IN PRAKITA SANSKRIT AND APABHRAMSA

FOUNDED

BY

THE DIG. JAIN SAMÂJA

IN MEMORY OF

LATE, DÂNVÎR, SÊTH MÂNIK CHANDRA HIRA CHANDRA

JUSTICE OF PEACE BOMBAY.

---

NUMBER 39

---

HONY SECRETARIES

Pandit Nathu Ram Premi, *Bombay.*

Prof. Hiralal, M.A., LL.B. *Amraoti*

CASHIER —

Seth Thakur Das, Bhagwan Das Javery, *Bombay*

---

TO BE HAD FROM—

Secy. MANIK CH. DIG. JAIN SERIES

HIRABAG,

Post Girgaon, BOMBAY, 4.

5490

# NYÂYA KUMUD CHANDRA

OF

## ŚRÎMAT PRABHÂCHANDRÂCHÂRYA

[ VOL II ]

*A commentary on Bhattâkalankadêva's Laghiyastraya.*

EDITED WITH —INTRODUCTION EXHAUSTIVE ANNOTATIONS COMPARATIVE  
STUDY OF JAIN BUDDHIST AND VEDIC—PHILOSOPHIES AND THE  
VARIANT READINGS INDEXES ETC

BY

PT. MAHENDRA KUMAR NYAYACHARYA

NYAYA DIIAKAR, JAIN & PRACHIN NYAYATÎRTHA

EDITOR OF AKAJANA GRANTHATRAI PRAMEYA KAVAL MARTAND ETC

JAIN DARŚANÂDHYÂPAK

ŚRÎ SYÂDVÂD DIG JAIN MAHAVIDYÂLAYA

BHADAINI, KASHI

---

PUBLISHED BY

SECY. PANDIT NATHU RAM PREMI

MÂNIK CHANDRA DIG JAIN SERIES

HIRABAG, GIRGAON,

BOMBAY 4

PRINTED BY—RAMA KRISHNA DAS AT THE BYNARES HINDU UNIVERSITY PRESS BENARES

V. E. 1998]

First Edition, 600 Copies.

[ 1941 A D.

Sajin  
PRAJMAH

## न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागका अनुक्रम



१ प्रकाशक की ओरसे—प० नाथूरामजी प्रेमी	४९
७-८	
२ आदि बचन—डॉ० मङ्गलदेवजी शास्त्री १-११	४६
३ प्राक्थन—प० सुखलालजी १२-२०	४७
४ सम्पादकीयम् १-४	
५ प्रस्तावना ५-६७	
अकलङ्कका समय ५	
आ० प्रभाचन्द्र ६-६७	
प्रभाचन्द्र की इतर आचार्योंसे तुलना ६-४६	
[ (वैदिक दर्शन)—वेद, उपनिषत्, स्मृति- कार, पुराण, व्यास, पतञ्जलि, भर्तृहरि, व्यास, ईश्वरकृष्ण, माठर, प्रसास्तपाद, ध्योम शिव, [ ध्योमशिवका समय ] श्रीधर, वात्सा- यन, उद्योतकर, जयन्त, [ जयन्तका समय ] वाचस्पति, शबर, कुमारिल, मण्डनमिश्र, प्रभाकर, शालिकराम, शङ्कराचार्य, भामह, वाण, माध, ( अवैदिक-दर्शन )—भागार्जुन, बसुबन्धु, विद्याय, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, कर्ण कर्मोमि, शान्तरक्षित, कमलशील, अचंठ, धर्मा- त्तर, शान्ती, जयसिंहराशिभट्ट, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, धून्वपाद, धनञ्जय, [ धनञ्जय- का समय ] रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य, विद्या- नन्द, अनन्तकीर्ति, शाकटायन, अमयनन्द, मूलाचार्यकार, नैमिष-द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती, प्रमे- यरत्नमालाकार अनन्तवीर्य, देवसेन, धृत- वीर्य, श्वे० आगमसाहित्य, तत्त्वार्थभाष्य कार, सिद्धसेन, धर्मशास्त्रगण, हरिचन्द्र, सिद्धपि अमयदेव, वादिदेवगूरि, हेमचन्द्र, मल्लगिरि, देवभद्र, मल्लिषेण, गुणरत्न, यशाविजय आदिसे प्रभाचन्द्र की तुलना ]	

प्रभाचन्द्रका आयुर्वेदज्ञान	४९
प्रभाचन्द्र की कल्पनाशक्ति	४६
उदार विचार	४७
प्रभाचन्द्र का समय	४८-५८
वार्यक्षेप और गुरुकुल	
समय विचार	
प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ	५६-६७
शाकटायनन्यायके कर्तृत्वपर विचार	
शब्दार्थभेदभ्राम्य	
प्रवचनसारसरोजभास्कर	
शब्दकथाकोश	

६ मूलग्रन्थका विषयानुक्रम	६८-६२
७ मूलग्रन्थ	४०४-८८१
८ परिशिष्ट	८८५-६२६

- १ लघीयस्वयकारिकार्थका अकारानुक्रम
- २ लघीयस्वयगत अवतरण
- ३ लघीयस्वयके लाक्षणिक और विविष्ट  
दार्शनिकशब्द
- ४ जिन आचार्योंने लघीयस्वयके वाक्योंको  
उद्धृत किया है उन आचार्योंकी सूची
- ५ न्यायकुमुदचन्द्रगत अवतरण
- ६ न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्ट न्याय
- ७ न्यायकुमुदचन्द्रगत ऐतिहासिक और  
भौगोलिक शब्द
- ८ न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्ट ग्रन्थ-ग्रन्थकार
- ९ न्यायकुमुदचन्द्रगत लाक्षणिकशब्द
- १० न्यायकुमुदचन्द्रगत विशिष्टशब्द
- ११ न्यायकुमुदचन्द्रके दार्शनिकशब्द
- १२ मूलटिप्पण्युपयुक्त ग्रन्थसङ्केतविवरण

९ शुद्धिपत्र	६२६
--------------	-----





## समर्पणम्—

“श्रीजैनसिद्धान्तमहोदधिं ममग्रसिद्धान्तगुरुश्चकास्ति ।  
बन्धीधरो जैनकुलागतसी हसीयति न्यायनये जनोऽयम् ॥ १ ॥

म न्यायालङ्कारश्चन्त्याद्वादशरिधिर्धामान् ।  
वाग्देवीनर्मज्ञो मर्मज्ञ र्मकाण्डभ्य ॥ २ ॥

तस्याद्य वरिवस्यायामुपहारविया मया ।  
मम्पाद्य न्यायमुदोत्तराधमिदमर्प्यते ॥ ३ ॥”

तद यतमशिष्येण  
न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारेण



## प्रकाशककी ओरसे



लगभग दो वर्षके बाद न्यायकुमुदचन्द्रना यह दूसरा भाग भी पाठकोंके सामने उपस्थित किया जा रहा है और इस तरह कोई बीस वर्षके बाद इस महान् ग्रन्थको प्रकाशित करनेको मेरी इच्छा पूरी हो रही है। पूर्वार्थके समान इस उत्तरार्थका भी सर्वोत्तम सुन्दर पद्धतिसे सम्पादन और संशोधन किया गया है और इसके लिए सम्पादक महाशय धन्यवाद के पात्र हैं। उनका यह परिश्रम और अध्यवसाय दूसरे विद्वानोंके लिए ग्रन्थ-सम्पादन कार्यमें मार्गदर्शन का काम देगा। हमें आशा करना चाहिए कि प्रागे जो महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो वे इसी सावधानी और ऐसे ही परिश्रमसे हों।

इन दो वर्षोंमें इस ग्रन्थमालाकी ओर से महामुरालिका दूसरा खण्ड और 'जटासिंहनन्दिका वरागचरित्र', ये दो ग्रन्थ और भी प्रकाशित हो चुके हैं। महामुरालिका तीसरा खण्ड प्रेसमें है, और आशा है कि वह भी इस सालके अन्त तक समाप्त हो जायगा।

ग्रन्थमालाके आर्थिक सङ्कटकी बात मैं पहले लिख चुका हूँ वह अभी चल ही रहा है। ग्रन्थमालाके कोषाध्यक्ष सेठ ठाकुरदास भगवानदासजी जौहरीने अपने हाथकी अन्य सत्थाओंसे कुछ रकम कर्जके तौर पर ले ली है और इस तरह किलहान अपूरे ग्रन्थोंको पूरा करनेकी समस्याको हल कर लिया गया है। आगे क्या होगा, यह भविष्य ही बतलायगा अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

यह बात ग्रन्थमालाके मन्त्रीके अधिकारकी सीमाके भीतर नहीं आती कि वह ग्रन्थकर्ताके समय आदिके विषयमें भी कुछ लिखे और उसकी ऐसी कोई जरूरत भी नहीं मालूम होती। परन्तु सम्पादन महाशयका आग्रह है कि मुझे कुछ लिखना ही चाहिए अतः एवं विनम्र है।

पहले भागकी भूमिकामें पं० कैलासचन्द्रजीने और इस भागकी भूमिकामें पं० महेन्द्रगुप्तजीने आचार्य प्रभाचन्द्रके समयवृत्तिके विषयमें खूब विस्तारके साथ उद्घापोह किया है। यद्यपि दोनों विद्वानोंमें अनेक बातोंमें मतभेद है, फिर भी उससे इस ग्रन्थके पाठकोंके समक्ष आचार्य प्रभाचन्द्रके समयकी शताब्दी तो कमसे कम निर्वाचनरूपसे स्पष्ट हो जाती है और यह बहुत बड़ी बात है।

मेरी समझमें प्रभाचन्द्राचार्य, जैसा कि उनके ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें ही लिखा है धारानरेश भोज-देव और उनके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवने समयके विद्वान् हैं और अब इस विषयमें जग भी सन्देहकी गुंजाइश नहीं है।

अभी तर्क उनके समय-निर्णयमें सबसे बड़ा बाधन भगवज्जिनसेनके अदिपुराणका वह चन्द्रागुप्त-यशस' आदि श्लोक\* था, जिसने विद्वानोंको एक ऐसा दिग्भ्रम उत्पन्न कर दिया था कि वे जिनसेनके बाद प्रभाचन्द्रके होनेकी बात सोच ही नहीं सकते थे। क्योंकि उसमें 'प्रभाचन्द्राक्षि' और 'कृत्वा चन्द्रोदय' पद इतने स्पष्ट थे कि उनके कारण प्रभाचन्द्राचार्य और न्यायकुमुदचन्द्रके सिवाय दूसरी ओर किसीकी दृष्टि ही नहीं जाती थी। जहाँ तक मैं जानता हूँ सबसे पहले पं० कैलासचन्द्रजीने उक्त श्लोकके माने हुए अर्थमें शङ्का उठाई और अनुमान किया कि जिनसेन स्वामीने किसी ओर ही प्रभाचन्द्रकी स्तुतिकी होगी और उनका बनाया हुआ कोई 'चन्द्रोदय' नामका ग्रन्थ भी होगा।

उन्होंने द्वितीय जिनसेनके हरिप्रशंसापुराणके आनूपार यशो लोके' आदि श्लोक से यह भी अनुमान

\* चन्द्रागुप्तयशस प्रभाचन्द्राक्षि स्तुते । कृत्वा चन्द्रोदय येन शम्भुशङ्करादित् जगत् ॥

† आनूपार यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोन्मज्जन् । शुरो कुमारसेनस्य विचल्यजितामनसम् ॥

किया कि वे प्रभाचन्द्र कुमारसेन गुरुके शिष्य थे जब कि न्यायकुमुदचन्द्रकर्ताके गुरु पद्मनन्दि थे । अत एव दोनों जुदा जुदा समयके जुदा जुदा विद्वान् हैं ।

इस उलझनेके मुलक जानेपर प्रभाचन्द्रके समय-निर्णयका मार्ग सुगम हो गया और अब तो पं० महेन्द्रकुमारजीने उनके ग्रन्थोंके अन्तरंग प्रमाणों तथा वहि प्रमाणोंसे निलकुल निश्चित ही कर दिया है ।

प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदके अतिरिक्त उनके और कौन कौन ग्रन्थ हैं, इसका पता लगानेकी ओर यह सप्रमाण सिद्ध करनेकी कि वे उन्हीके हैं दूसरे प्रभाचन्द्र नामधारियोंके नहीं है, अभी और जरूरत है ।

मेरी सम्झमें प्रभाचन्द्रने टीका-टिप्पण ग्रन्थ बहुत लिखे हैं और अभी तक जिनमें दूसरे प्रभाचन्द्रोंका सम्झा जाता था उनमेंसे नीचे लिखे टीका ग्रन्थ तो उनके ही हैं यह प्राय निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है । भूमिकामें इनमेंसे कुछकी चर्चा भी की जा चुकी है—

१ तरवार्यष्टतिपद विवरण ( सर्गार्थसिद्धि-टिप्पण ) ।

२ प्रश्नचनसरोजभास्कर ।

३ शब्दाभ्योजभास्कर ।

४ रत्नकरणद-टीका ।

५ त्रियाकलाप-टीका ।

६ समापितग्रन्थ-टीका ।

७ आभानुशासन-तिलक ।

८ महापुराण ( पुष्पदन्त )-टिप्पण ।

९ द्रव्यसंग्रह-वर्जिका ।

पिछले ग्रन्थकी सूचना अभी हान ही मुझे रायल एशियाटिक सोसाइटी बाम्बे जाचके हस्तलिखित ग्रन्थोंके पैटर्नलॉगम मिली । उक्त ग्रन्थकी प्रतिसं० १८२२ की मिली हुई है । उसका मद्रलाचरण यह है—

“नत्वा जिनाकर्मपहस्तिरतसर्वदोष लोकनयाधिपतिसंस्तुतपादपद्मम् ।

ज्ञानप्रभाप्रकटितारिणवस्तुसाधे पंड्रव्यनिर्णयमहं-प्रष्टु प्रवक्ष्ये ॥”

मद्रलाचरणकी यह शैली प्रभाचन्द्रकी ही है और उनके अन्य मद्रलाचरणोंके साथ इसका शब्दसाम्य भा है ।

आराधनाकथाकोश ( गद्य ) भी इन्होंने बनाया हुआ है ।

अन्य ग्रन्थसूचियोंमें प्रभाचन्द्रके नामसे नीचे लिखे टीका ग्रन्थोंके नाम और भी मिलते हैं । मेरा अनुमान है कि इनमेंसे अधिकतर इन्हीं प्रभाचन्द्रके होंगे—

१ अष्टपादद्व-वर्जिका

२ स्वयम्भूतोत्र-वर्जिका

३ देवागम वर्जिका

४ समयसार टीका

५ पञ्चालिकावटीका

६ मूलाचारटीका

७ आराधना-टीका

८ पद्मनन्दिपञ्चारितिकाटीका

इन टीका-ग्रन्थोंकी छान-बीन होने पर समयादिके सम्बन्धमें और भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हो सकेंगे । मैं गगनमण्ड सन्मूल कालेजके प्रिंसिपल डॉ० मद्रनदेवजी शास्त्री और हिन्दू विश्वविद्यालयके जैनदर्शन-ध्यापक पं० सुप्रकाशजी आमार मानता हूँ जिन्होंने शादिरचन और प्राहयनके रूपमें बहुतमूल्य विचार उपस्थित किए हैं ।

बम्बई  
२७ १-४१

—नाथूराम प्रेमी

मन्त्री मन्थमाला ।

## । आ दि व च न ॥

भारतीय दर्शनशास्त्रका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। भिन्न भिन्न समयमें अधिकारिभेदसे अनेक दर्शनोंका उत्थान इस देशमें हुआ। दृश्य जगत्के सम्पर्कसे विभिन्न परिस्थितियोंके कारण मनुष्यके हृदयमें जो अनेक प्रकारकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है उनका समाधान करना ही किसी दर्शनका मुख्य लक्ष्य होता है। जिज्ञासाभेदसे दर्शनोंका भेद स्वाभाविक है। भारतीय दर्शनोंमें जैनदर्शनका भी एक प्रधान स्थान है। इसका हमारी समझमें एक मुख्य ग्रंथिस्थ यह है कि इसके आचार्योंने प्रचलित परम्परागत विचार और रूढ़ियोंसे अपनेको पृथक् करके स्वतन्त्र दृष्टिसे दार्शनिक प्रमेयोंके विश्लेषणकी चेष्टा की है। हम यहां विश्लेषण शब्दका प्रयोग जान-बूझकर कर रहे हैं। वस्तुस्थितिमें एक दार्शनिकका कार्य—जिस प्रकार एक वैयाकरण शब्दका व्याकरण अर्थात् विश्लेषण, न कि निर्माण, करता है—इसी प्रकार पदार्थोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले हमारे विचारों और उनके सम्बन्धोंके रहस्यका उद्घाटन करना होता है। 'पदार्थोंकी सत्ता हमारे विचारोंसे निरपेक्ष, स्वतः सिद्ध है' इस सिद्धान्तको प्रायः लोग भूल जाते हैं। हम समझते हैं कि जैनदर्शनका अनेकान्तवाद, जिसको कि उसकी मूलभूति कहा जा सकता है, उपर्युक्त मूलसिद्धान्तको लेकर ही प्रवृत्त हुआ है।

अनेकान्तवादका मौलिक अभिप्राय यही हो सकता है कि तत्त्वके विषयमें आप्रह न

होते हुए भी उसके विषयमें, तत्तदवस्थाभेदके कारण दृष्टिभेद सभव है। इस सिद्धान्तकी मौलिकतामें किसको सन्देह हो सकता है? क्या हम

“श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।” [महाभारत],

“यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविज्ञानताम्॥” [केनोपनिषत् २।३] इत्यादि वचनोंसे मूलमें अनेकान्तवादका ही प्रतिपादक नहीं कह सकते? दर्शन शब्द ही स्वतः दृष्टिभेदके अर्थको प्रकट करता है। इस अभिप्रायसे जेनाचार्योंने अनेकान्तवादके द्वारा दार्शनिक आधार पर विभिन्न दर्शनोंमें विरोध भावनाको हटाने परस्पर समन्वय स्थापित करनेका एक सत्प्रयत्न किया है।

अनेक अवस्थाओंसे उद्भूत, सदैव विभिन्न दृष्टिकोणोंसे पदार्थोंको देखनेका अभ्यासी, मनुष्य किसी पदार्थके अरण्य सकल-स्वरूपको कैसे जान सकता है? उस अरण्य मूल-स्वरूपको हम सबे अर्थमें “गुहाहितं गह्वरेष्टं पुराणम्” कह सकते हैं। “पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि” [यजुर्वेद पुरुषसूक्त] इस वेदिकश्रुतिका भी वास्तविक तात्पर्य यही है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनदर्शनमें प्रतिपादित अनेकान्तवादके इस मौलिक अभिप्रायको समझनेसे दार्शनिक जगत्में परस्पर विरोध तथा कलहही भावनाओंके नाशसे परस्पर सौमनस्य और शान्तिका माघ्राज्य स्थापित हो सकता है।

जैनधर्मकी भारतीय सस्कृतिको उड़ी भारी देन अहिंसावाद है। जो कि वास्तवमें दार्शनिक-भित्तिपर स्थापित अनेकान्तवादका ही नैतिकशास्त्रकी दृष्टिसे अनुवाद कहा जा सकता है। धार्मिकदृष्टिसे यदि अहिंसावादको ही जैनधर्ममें सर्वप्रथम स्थान देना आवश्यक हो तो हम अनेकान्तवादको ही उसका दार्शनिकदृष्टिसे अनुवाद कह सकते हैं। अहिंसा शब्दका अर्थ भी मानवीय सभ्यताके उत्कर्षानुत्कर्षकी दृष्टिसे भिन्न भिन्न किया जा सकता है। एक माधारण मनुष्यके स्थूल विचारोंकी दृष्टिसे हिंसा किसीकी जान लेनेमें ही हो सकती है। किसीके भावोंको आघात पहुँचानेमें वह हिंसा नहीं कहेगा। परन्तु एक सभ्य मनुष्य तो विरुद्ध विचारोंकी अमहिष्णुताकी भी हिंसा ही कहेगा। उसका सिद्धान्त तो यही होता है कि—

“अभ्यासहति कल्याणं विविधं वाक्यमुभाषिता।

मैत्र दुर्भाषिता राजन् अनर्थायोपपद्यते॥

वाग्मापसा उदनाग्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रायहानि।

परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नास्मृजेत् परम्यः॥”

[त्रिपुरतीति २।७७, ८०]

सभ्य जगत्का आदर्श विचारम्वानन्त्य है। इस आदर्शकी रक्षा अहिंसावाद (हिंसा-अमहिष्णुता) के द्वारा ही हो सकती है। विचारोंकी मङ्गीयता या अमहिष्णुता

ईर्ष्या-द्वेषकी जननी है। इस असहिष्णुताको हम किसी अन्धकारसे कम नहीं समझते। आज हमारे देशमें जो अशान्ति है उसका एक मुख्य कारण यही विचारोंकी सङ्कीर्णता है। प्राचीन संस्कृत साहित्यमें पाया जानेवाला 'आनुशंस्य' शब्द भी इसी अहिंसावादका द्योतक है। इस प्रकारके, अहिंसावादकी आवश्यकता सारे संसारको है। जैनधर्मके द्वारा इसमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। उपर्युक्त दृष्टिसे जैनदर्शन भारतीय दर्शनमें अपना एक विशिष्ट स्थान रमता है।

चिरकालसे ही हमारी यह हार्दिक इच्छा रही है कि हमारे देशमें दार्शनिक अध्ययन साम्प्रदायिक सङ्कीर्णतासे निकलकर विशुद्ध दार्शनिकदृष्टिसे किया जावे। और उसमें दार्शनिक समस्याओंको सामने रखकर तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टिका यथासंभव अधिकाधिक उपयोग हो। इसी पद्धतिके अवलम्बनसे भारतीय दर्शनका क्रमिक विकास समझा जा सकता है, और दार्शनिक अध्ययनमें एक प्रकारकी सजीवता आ सकती है।

यह प्रसन्नताकी बात है कि कुछ विद्वानोंने बहुत कुछ इसी पद्धतिके अनुसार ग्रन्थोंका सम्पादन प्रारम्भ कर दिया है। प्रज्ञाचलु प्रसिद्ध विद्वान् पं० मुखलालजीका नाम इस सम्बन्धमें विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। दार्शनिक विद्वान् पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्रीने भी इसी पद्धतिका अवलम्बन कर जैनदर्शनके साहित्यका सम्पादन करना प्रारम्भ कर दिया है। अब तक आप न्यायकुसुमचन्द्र प्रथमभाग, अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके विद्वत्पूर्ण संस्करण प्रकाशित कर चुके हैं। न्यायकुसुमचन्द्रका यह द्वितीय भाग भी उसी प्रकार घड़े परिश्रमसे सम्पादन करके प्रकाशित किया जा रहा है। आपकी प्रस्तावनाओं और टिप्पणियोंसे पगपग पर यह स्पष्ट है कि आपने अनेकानेक अन्य ग्रन्थोंके साथ तुलना करके यथासंभव इस बातकी चेष्टा की है कि प्रकृतग्रन्थका उनके साथ जो कुछ भी सम्बन्ध हो वह स्पष्ट हो जाये। इसके लिए संस्कृत विद्वन्मण्डली सम्पादक महाशयकी अवश्य आभारी होगी। हम अपनी ओरसे उनको हृदयसे इस सफलता पर बधाई देते हैं, और आशा करते हैं कि अन्य ग्रन्थ सम्पादक महाशय उनकी पद्धतिका अवलम्बन करेंगे।

—मङ्गलदेव शान्नी,

M A, D Phil, (oxon)

भारतवती भवन,  
२८।३।४१ }

[ प्रिंसिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस  
रजिस्ट्रार, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज इजामिनेशन्स,  
यू० पी०, बनारस ]

# ॥ प्राक्कथन ॥



न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथम भागमें मैं अपना प्राक्कथन लिख चुका हूँ । फिर भी इस दूसरे भागकी प्रस्तारना जब मैं सुन गया तब प्राक्कथन रूपसे कुछ भी लिखनेके सर्पादकीय अनुरोधको टाल न सका । इसीलिए कुछ लिखने को प्रवृत्त हुआ हूँ । न्यायकुमुदचन्द्र यह दर्शनका प्रथम है सो भी संप्रदायविशेषज्ञा, अतएव सर्गोपयोगिताकी दृष्टिसे यह विचार करना उचित होगा कि दर्शनज्ञा मतलब क्या समझा जाता है और वस्तुतः उसका मतलब क्या होना चाहिए । इसी तरह यह भी विचारना समुचित होगा कि संप्रदाय क्या वस्तु है और उसके साथ दर्शन का सम्बन्ध कैसा रहा है तथा उस सांप्रदायिक सम्बन्धके फल स्वरूप दर्शनमें क्या गुण-दोष आए हैं इत्यादि ।

सब कोई सामान्यरूपसे यही समझते और मानते आए हैं कि दर्शनका मतलब है तत्त्वसाक्षात्कार । सभी दार्शनिक अपने अपने सांप्रदायिक दर्शनको साक्षात्काररूप ही मानते आए हैं । यहाँ सवाल यह है कि साक्षात्कार किसे कहना ? इसका जवाब एक ही हो सकता है कि साक्षात्कार वह है जिसमें भ्रम या सदेहको अवकाश न हो और साक्षात्कार किए गए तत्त्वमें फिर मतभेद या विरोध न हो । अगर दर्शनकी उक्त साक्षात्कारात्मक व्याख्या सबको मान्य है तो दूसरा प्रश्न यह होता है कि अनेक संप्रदायाश्रित विविध दर्शनोंमें एक ही तत्त्वके विषयमें इतने नाना मतभेद कैसे ? और उनमें असमाधेय समझा जानेवाला परस्पर विरोध कैसा ? इस शकाका जवाब देने के लिए हमारे पास एक ही रास्ता है कि हम दर्शन शब्दका कुछ और अर्थ समझें । उसना जो साक्षात्कार अर्थ समझा जाता है और जो चिरकालसे शास्त्रोंमें भी लिखा मिलता है, वह अर्थ अगर यथार्थ है, तो मेरी रायमें वह समस्त दर्शनों द्वारा निर्विवाद और असदिग्धरूपसे समस्त निम्नलिखित व्याप्यामिक प्रमेयोंमें ही घट सकता है—

१-पुनर्जन्म, २-उसना कारण, ३-पुनर्जन्मग्राही कोई तत्त्व, ४-साधनविशेषद्वारा पुनर्जन्मके कारणोंका उच्छेद ।

ये प्रमेय साक्षात्कारके विषय माने जा सकते हैं । कभी न कभी किसी तपस्वी द्रष्टा या द्रष्टाओंको उक्त तत्त्वोंका साक्षात्कार हुआ होगा ऐसा कहा जा सकता है; क्योंकि आज तक किसी व्याप्यामिक दर्शनमें इन तथा ऐसे तत्त्वोंके बारेमें न तो मतभेद प्रकट हुआ है और न उनमें किसीका विरोध ही रहा है । पर उक्त मूल व्याप्यामिक प्रमेयोंके विशेष विशेष स्वरूपके विषयमें तथा उनके व्यौरेगार विचारमें सभी प्रधान प्रधान दर्शनोंका, और कभी कभी तो एक ही दर्शनकी अनेक शाखाओंका इतना अधिक मतभेद और विरोध शास्त्रोंमें देखा जाता है कि जिसे देखकर तत्त्व समालोचक यह कभी नहीं मान सकता कि किसी एक या सभी संप्रदायके व्यौरेगार मत-य साक्षात्कारके विषय हुए हों । अगर वे मन्तव्य साक्षात्कृत हों तो जिन संप्रदायके ? किसी एक



संप्रदायको व्यौरेके बारेमें साक्षात्कर्ता—द्रष्टा सावित करना टेढ़ी खीर है। अतएव बहुत हुआ तो उक्त मूल प्रमेयोमे दर्शनका साक्षात्कार अर्थ मान लेनेके बाद व्यौरेके बारेमें दर्शनका कुछ और ही अर्थ करना पड़ेगा।

निचार करनेसे जान पड़ता है, कि दर्शनका दूसरा अर्थ 'सबलप्रतीति' ही करना ठीक है। शब्दके अर्थोंके भी जुदे जुदे स्तर होते हैं। दर्शनके अर्थका यह दूसरा स्तर है। हम वाचक उमास्वातिके "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्रमें तथा इसकी व्याख्याओंमें यह दूसरा स्तर स्पष्ट पाते हैं—'वाचकश्रीने साफ कहा है कि प्रमेयोंकी श्रद्धा ही दर्शन है। यहाँ यह कमी न भूलना चाहिए कि श्रद्धाके माने हैं बलवती प्रतीति या विश्वास, न कि साक्षात्कार। श्रद्धा या विश्वास, साक्षात्कारको संप्रदायमें जीवित रखनेकी एक भूमिका-निशेप है, जिसे मैंने दर्शनका दूसरा स्तर कहा है।

यों तो संप्रदाय हर एक देशके चिन्तकोंमें देखा जाता है। यूरोपके तत्त्वचिन्तनकी आद्य भूमि ग्रीसके चिन्तकोंमें भी परस्पर विरोधी अनेक संप्रदाय रहे हैं, पर भारतीय तत्त्वचिन्तकोंके संप्रदायकी कथा कुछ निराली ही है। इस देशके संप्रदाय मूलमें धर्मप्राण और धर्मजीवी रहे हैं। सभी संप्रदायोंने तत्त्वचिन्तनको आश्रय ही नहीं दिया बल्कि उसके विकास और विस्तार में भी बहुत कुछ किया है। एक तरहसे भारतीय तत्त्वचिन्तनका चमत्कारपूर्ण बौद्धिकप्रदेश जुदे जुदे संप्रदायोंके प्रयत्नका ही परिणाम है। पर हमें जो सोचना है वह तो यह है कि हर एक संप्रदाय अपने जिन मन्तव्यों पर सबल विश्वास रखता है और जिन मन्तव्योंको दूसरा विरोधी संप्रदाय कतई माननेको तैयार नहीं है वे मन्तव्य सांप्रदायिक विश्वास या सांप्रदायिक भावनाके ही विषय माने जा सकते हैं साक्षात्कारके विषय नहीं। इस तरह साक्षात्कारका सामान्य स्रोत संप्रदायोंकी भूमि पर व्यौरेके विशेष प्रजाहोंमें विभाजित होते ही विश्वास और प्रतीतिका रूप धारण करने लगता है।

जब साक्षात्कार विश्वास रूपमें परिणत हुआ तब उस विश्वासको स्थापित रखने और उसका समर्थन करनेके लिए सभी संप्रदायोंको कल्पनाओंका—दलीलोंका तथा तर्कोंका सहारा लेना पड़ा। सभी सांप्रदायिक तत्त्वचिन्तक अपने अपने विश्वासकी पुष्टिके लिए कल्पनाओंका सहारा पूरे तौरसे लेते रहे फिर भी यह मानते रहे कि हम और हमारा संप्रदाय जो कुछ मानते हैं वह सब कल्पना नहीं किन्तु साक्षात्कार है। इस तरह कल्पनाओंका तथा सत्य असत्य और अर्धसत्य तर्कोंका समावेश भी दर्शनके अर्थमें हो गया। एकतरफसे जहाँ संप्रदायने मूलदर्शन यानी साक्षात्कारकी रक्षाकी और जहाँ उसे स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रकारके चिन्तनको चालू रखा तथा उसे व्यक्त करनेकी अनेक मनोरम कल्पनाएँकीं, वहाँ दूसरी तरफसे संप्रदायकी बाड़ पर बढ़ने तथा फलने फलनेवाली तत्त्वचिन्तनकी बेल इतनी पराश्रित हो गई कि उसे संप्रदायोंके सिंगेय दूसरा कोई सहारा ही न रहा। फलतः पर्देबन्द पद्धतियोंकी तरह तत्त्वचिन्तनकी बेल भी कोमल और सकुचितदृष्टिवाली बन गई।

हम सांप्रदायिक चिन्तकोंका यह मुँकाव रोज देखते हैं कि वे अपने चिन्तनमें तो कितनी ही कमी या अपनी दलीलोंमें कितनाही सचरपन क्यों न हो उसे प्रायः देख नहीं पाते । और दूसरे विरोधी संप्रदायके तत्त्वचिन्तनोंमें कितना ही सादृश्य और वैशद्य क्यों न हो उसे स्वीकार करनेमें भी हिचकिचाते हैं । सांप्रदायिक तत्त्वचिन्तकोंका यह भी मानस देखा जाता है कि वे संप्रदायान्तरके प्रमेयोंको या विशेष चिन्तनोंको अपनाकर भी मुक्तरूपसे उसके प्रति कृतज्ञता दर्शानेमें हमेशा हिचकिचाते हैं । दर्शन जब साक्षात्कारकी भूमिकाको लँघकर विज्ञासत्री भूमिका पर आया और उसमें कल्पनाओं तथा सत्यासत्य तर्कोंका भी समावेश किया जाने लगा, तब दर्शन सांप्रदायिक संकुचित दृष्टियोंमें आवृत होकर, मूलमें शुद्ध आध्यात्मिक होते हुए भी अनेक दोषोंका पुञ्ज भी बन गया । अब तो यह पृथक्करण करना ही कठिन हो गया है कि दार्शनिक चिन्तनोंमें क्या कल्पनामात्र है, क्या सत्य तर्क है, या क्या असत्य तर्क है ? हर एक संप्रदायका अनुयायी चाहे वह अपठ हो, या पढ़ा लिखा, विद्यार्थी एवं पंडित, यह मानकर ही अपने तत्त्वचिंतक ग्रन्थोंरो सुनता है या पढ़ता पढ़ाता है, कि इस हमारे तत्त्वग्रन्थमें जो कुछ लिखा गया है वह अक्षरशः सत्य है, इसमें भ्रान्ति या सदेहको अवकाश ही नहीं है । तथा इसमें जो कुछ है वह दूसरे किसी संप्रदायके ग्रन्थमें नहीं है । और अगर है तो भी वह हमारे संप्रदायसे ही उभर गया है । इस प्रकारकी प्रत्येक संप्रदायकी अपूर्णमें पूर्ण मान लेनेकी प्रवृत्ति इतनी अधिक चलती है कि अगर इसका कुछ इलाज न हुआ तो मनुष्य-जातिया उपकार करनेके लिए प्रवृत्त हुआ यह दर्शन मनुष्यताका ही घातक सिद्ध होगा ।

मैं समझता हूँ कि उक्त दोषको दूर करनेके अनेक उपायोंमें से एक उपाय यह भी है कि जहाँ दार्शनिक प्रमेयोंका अध्ययन तात्त्विकदृष्टिसे किया जाय वहाँ साथ ही साथ वह अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी किया जाय । जब हम किसी भी एक दर्शनके प्रमेयोंका अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे करते हैं तब हमें अनेक दूसरे दर्शनोंके प्रमेयोंके बारेमें भी जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है । वह जानकारी अधूरी या विपर्यस्त नहीं । पूरी और यथासंभव यथार्थ जानकारी होते ही हमारा मानस व्यापक ज्ञानके आलोकसे भर जाता है । ज्ञानकी विशालता और स्पष्टता हमारी दृष्टिमें संकुचितता तथा तन्त्रमय भ्रम आदि दोषोंको उभी तरह हटाती है जिस तरह प्रकाश तम को । हम असर्वज्ञ और अपूर्ण हैं, फिर भी अधिकसे अधिक सत्यके निष्ठ पढ़ेंचना चाहते हैं । अगर हम योगी नहीं हैं फिर भी अधि-पायिक मूल या तत्त्वदर्शनके अधिकांश बनना चाहते हैं तो हमारे वास्ते साधारण मार्ग यही है कि हम जिन भी दर्शनोंको यथा समभव सर्वांगीण ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिमें ली पढ़ें ।

न्यायकुमुदचन्द्रके सारांशक पृ० महेन्द्रकुमारजी न्यायचार्यने मूल ग्रन्थके नीचे एक एक छोटे बड़े गुरुरर जो बहुधा अनर्गल टिप्पण दिए हैं और प्रत्याख्यानमें जो अनेक संप्रदायोंके आचार्योंके ज्ञानमें एक दूसरेमें लेनदेनका ऐतिहासिक पर्यालोचन किया है, उन सबकी मार्गदर्शना उपर्युक्त दृष्टिमें अध्ययन करने करानेमें दी है । सारे न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पण तथा प्रत्याख्यानका

मर्मांश अगर कार्यसाधक है तो सर्वप्रथम अध्यापकोंके लिए । जन् हो या जैनेतर, सच्चा जिज्ञासु इसमें से बहुत कुछ पा सकता है । अध्यापकोंकी दृष्टि एक बार साफ हुई, उनका अन्तर्लोकन प्रदेश एक बार विस्तृत हुआ, फिर वह सुनास विद्यार्थियोंमें तथा अपद अनुयायियोंमें भी अपने आप फैलने लगती है । इस भावी लाभकी निश्चित आशासे देखा जाय तो मुक्तके यह कहनेमें लेश भी सन्देह नहीं होता कि सपादकका टिप्पण तथा प्रस्ताननाविषयक श्रम दार्शनिक अध्ययन क्षेत्रमें साप्रदायिकताकी सज्जित मनोवृत्ति दूर करनेमें बहुत कारगर सिद्ध होगा ।

भारतवर्षको दर्शनकी जन्मस्थली और क्रीडाभूमि माना जाता है । यहाँका अपद जन भी ब्रह्मज्ञान, मोक्ष तथा अनेकान्त जैसे शब्दोंको पद पद पर प्रयुक्त करता है, फिर भी भारतका दर्शनिक पौरुषशून्य क्यों हो गया है ? इसका विचार करना जल्दरी है । हम देखते हैं कि दर्शनिक प्रदेशमें कुछ ऐसे दोष दाखिल हो गए हैं जिनकी ओर चिन्तकोंका ध्यान अवश्य जाना चाहिए । पहली बात दर्शनोंके पठन सम्बन्धी उद्देश्यकी है । जिसे दूसरा कोई क्षेत्र न मिले और बुद्धि प्रधान आजीविका धरनी हो तो बहुधा वह दर्शनोंकी ओर झुकता है । मानो दार्शनिक अभ्यास का उद्देश्य या तो प्रधानतया आजीविका हो गया है या बादनिजय एव बुद्धिबिलास । इसका फल हम सर्वत्र एक ही देखते हैं कि या तो दार्शनिक गुलाम बन जाता है या सुखशील । इस तरह जहाँ दर्शन शाश्वत अमरताकी गाथा तथा अनिमर्ष प्रतिक्षण मृत्युकी गाथा सिखाकर अभयका संकेत करता है वहाँ उसके अभ्यासी हम निरे भीरु बन गए हैं । जहाँ दर्शन हमें सत्य-असत्यका निवेक सिखाता है वहाँ हम उलटे असत्यको समझनेमें भी अससर्ध हो रहे हैं, तथा अगर उसे समझ भी लिया, तो उसका परिहार करनेके विचारसे ही काँप उठते हैं । दर्शन जहाँ दिन रात आनैक्य या आनौपम्य सिखाता है वहाँ हम भेद-प्रभेदोंको और भी विशेषरूपसे पुष्ट करनेमें ही लग जाते हैं । यह सब विपरीत परिणाम देखा जाता है । इसका कारण एक ही है, और वह है दर्शनके अध्ययनके उद्देश्यको ठीक ठीक न समझना । दर्शन पढ़नेका अधिकारी वही हो सकता है और उसेही पढ़ना चाहिए कि जो सत्य असत्यके निवेकता सामर्थ्य प्राप्त करना चाहता हो और जो सत्यके स्वीकारकी हिम्मतकी अपेक्षा असत्यका परिहार करनेकी हिम्मत या पौरुष सर्वप्रथम और सर्वाधिक प्रमाणमें प्रकट करना चाहता हो । सक्षेपमें दर्शनके अध्ययनका एक मात्र उद्देश्य है जीवनकी बाहरी और भीतरी शुद्धि । इस उद्देश्यको सामने रखकर ही उसका पठन-पाठन जारी रहे तभी वह मानवताका पोषक बन सकता है ।

दूसरी बात है दार्शनिक प्रदेशमें नये सशोधनोंकी । अभी तक यही देखा जाता है कि प्रत्येक संप्रदायमें जो मान्यताएँ और जो कल्पनाएँ रुढ़ हो गई हैं उन्हींको उस संप्रदायमें सर्वज्ञप्रणीत माना जाता है । ओर आवश्यक नये विचार प्रकाशका उनमें प्रवेश ही नहीं होने पाता । पूर्व-पूर्व पुरखोंके द्वारा किए गए और उत्तराधिकारमें दिए गए चिन्तनो तथा आरणोंका प्रवाह ही संप्रदाय है । हर एक संप्रदायका माननेवाला अपने मत-योंके समर्थनमें ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रतिष्ठाना उपयोग तो करना चाहता है, पर इस दृष्टिकोण उपयोग वह वहाँ तक

ही करता है जहाँ उसे कुछ भी परिवर्तन न करना पड़े। परिवर्तन और सशोधनके नामसे या तो सम्प्रदाय धवड़ाता है या अपनेमें पहलेसे ही सब कुछ होनेकी डींग हँकता है। इसलिए भारतका दार्शनिक पीछे पड़ गया है। जहाँ जहाँ वैज्ञानिक प्रमेयोंके द्वारा या वैज्ञानिक पद्धतिके द्वारा दार्शनिक विषयोंमें सशोधन करनेकी गुंजाइश हो वहाँ सर्वत्र उसका उपयोग अगर न किया जायगा तो यह सनातन दार्शनिकविद्या केवल पुराणोंकी ही वस्तु रह जायगी। अत एव दार्शनिक क्षेत्रमें सशोधन करनेकी प्रवृत्तिकी ओर भी झुकाव होना जरूरी है।

दर्शन सम्बन्धी इतनी सामा य चर्चा कर लेनेके बाद कुछ ऐतिहासिक प्रश्नों पर भी लिखना आवश्यक है। पहला प्रश्न है अकलक के समयका। प० महेन्द्रकुमारजीने “अकलकप्रन्थग्रन्थ” की प्रस्तावनामें धर्मकीर्ति और उसके शिष्यों आदिके प्रयोगोंकी तुलनाके आधार पर अकलकका समय निश्चित करते समय जो विक्रमार्थीय शकसंवत् का अर्थ विक्रमीयसंवत् न लेकर शक संवत् लेनेकी ओर संकेत किया है वह मुझको भी विशेष साधार मालूम पड़ता है। इस विषयमें पंडितजीने जो धनलाटीकागत उल्लेख तथा प्रो० हीरालालजीके रूपनका उल्लेख प्रस्तावना (पृ० ५) में किया है वह उनकी अकलकप्रन्थग्रन्थमें स्थापित विचारसरणीका ही पोषक है। इस बारेमें सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ प० जयचंद्र मिशालद्वाराजीका § विचार भी प० महेन्द्रकुमारजीकी धारणाका ही पोषक है। मैं तो पहिलेमे ही मानता आया हूँ कि अकलकका समय विक्रमकी आठवीं

शताब्दीका उत्तरार्ध और नववीं शताब्दीका पूर्वार्ध ही हो सकता है जैसा कि याज्ञिकीसूत्र हरि-भद्रका है। मेरी रायमें अकलङ्क, हरिभद्र, तत्त्वार्थभाष्यटीकाकार सिद्धसेनगणि, ये सभी थोड़े बहुत प्रमाणमें समसामयिक अग्रगण्य हैं। आगे जो स्वामी समन्तभद्रके समयके बारेमें कुछ कहना है उससे भी इसी समयकी पुष्टि होती है।

आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमें पुरानी नववीं सदीकी मान्यताका तो निरास पं० कैलाशचन्द्रजीने कर ही दिया है। अब उसके सन्न्धमें इस समय दो मत है, जिनका आधार 'भोजदेवराज्ये' और 'अपसिंहदेवराज्ये' वाली प्रशस्तिओंका प्रक्षिप्तत्व या प्रभाचन्द्रकर्तृत्वकी कल्पना है। अगर उक्त प्रशस्तिपत्रों प्रभाचन्द्रकर्तृक नहीं हैं तो समयकी उत्तरावधि ई० स० १०२०, और अगर प्रभाचन्द्रकर्तृक मानीं जाय तो उत्तरावधि ई० स० १०६५ हैं। यही दो पक्षोंका सार है। पं० महेन्द्रकुमारजीने प्रस्तावनामें उक्त प्रशस्तिओंको प्राभाषिक सिद्ध करनेके लिए जो निवारक्रम उपस्थित किया है वह मुझको ठीक मालूम होता है। मेरी रायमें भी उक्त प्रशस्तिओंको प्रक्षिप्त सिद्ध करनेकी कोई बलवत्तर दलील नहीं है। ऐसी दशामें प्रभाचन्द्रका समय विक्रमकी ११ वीं सदीके उत्तरार्धसे गारुडवीं सदीके प्रथम पाद तक स्वीकार कर लेना सय दृष्टिसे संयुक्तिक है।

मैंने 'अकलङ्क ग्रन्थत्रय'के प्राक्कथनमें ये शब्द लिखे हैं—“अधिक सभन तो यह है कि समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच साक्षात् विचाका ही सम्बन्ध रहा है, क्योंकि समन्तभद्रकी कृतिके ऊपर सर्वप्रथम अकलङ्ककी ही व्याख्या है।” इत्यादि। आगेके कथनसे जब यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र पूज्यपादके बाद कभी हुए हैं। और यह तो सिद्ध ही है कि समन्तभद्रकी कृतिके ऊपर सर्वप्रथम व्याख्या अकलङ्ककी है, तब इतना मानना होगा कि अगर समन्तभद्र और अकलङ्कमें साक्षात् गुरु-शिष्य भाग न भी रहा हो तब भी उनके बीचमें समयका कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे समन्तभद्रका अस्तित्व विक्रमकी सातवीं शताब्दीका अमुक भाग हो सकता है।

मैंने अकलङ्कग्रन्थत्रयके ही प्राक्कथनमें विद्यानन्दकी आतपरीक्षा\* एवं अष्टसहस्रीके स्पष्ट

\* श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतमल्लिनिये 'बाला जो इलोक आतपरीक्षामें है उसमें 'इदरत्नोद्भवस्य' ऐसा सामासिक पद है। इत्येका अर्थ या अनुवाद करते समय उस सामासिक पदको 'अम्बुनिधि' का समानाधिकरण विशेषण मानकर विचार करना चाहिए। चाहे उसमें समास 'इदरत्नोद्भव उद्भव प्रभवस्वा' ऐसा तत्पुरुष किया जाय, चाहे 'इदरत्नो' का उद्भव उत्पत्ति हुआ है जिममेव' ऐसा बहुव्रीहि किया जाय। उभय दशामें वह अम्बुनिधिका समानाधिकरण विशेषण ही है। ऐसा करनेसे प्रोत्थानारम्भकाले' यह पद ठीक अम्बुनिधिके साथ अपुनश्चन रूपम मन्वद हो जाता है। और फलितार्थ यह निकलता है कि तत्त्वार्थशास्त्ररूप समुद्रकी प्रोत्थान भूमिका बांधते समय जो स्त्रोत्र किया गया है। इस वाक्यार्थमें ध्यान देनेकी मुख्य वस्तु यह है कि तत्त्वार्थका प्रोथान बांधनेवाला अर्थात् उसकी उत्पत्तिका निमित्त बतलानेवाला और स्त्रोत्रका रचयिता ये दोनों एक हैं। जिमने तत्त्वार्थशास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त बतलाया उसीने उस निमित्तको बतलानेके पहिले 'मोक्षमार्गस्य नेगारम' यह स्त्रोत्र भी रचा। इस विचारके प्रकाशमें सर्वापेक्षिकी भूमिका जो पड़ेगा उसे यह सन्देह ही नहीं हो सकता कि वह स्त्रोत्र खुद पूज्यपाद का है या नहीं।

उल्लेखोंके आधार पर यह निःशक रूपसे बतलाया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके आस-स्तोत्रके मीमांसाकार हैं अथ एव उनके उत्तरवर्ती ही हैं। मेरा यह विचार तो बहुत दिनोंके पहिले स्थिर हुआ था, पर प्रसंग आनेपर उसे सक्षेपमें अकलंरुग्रन्थत्रयके प्राक्कथनमें निविष्ट किया था। पं० महेन्द्रकुमारजीने मेरे सक्षिप्त लेखका विशद और सबल भाष्य करके प्रस्तुत भागकी प्रस्तावना (पृ० २५) में यह अभ्रान्तरूपसे स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरवर्ती हैं। अलवत्ता उन्होंने मेरी सप्तभगीशाली दलीलको निर्णायक न मानकर विचारणीय कहा है। पर इस विषयमें पंडितजी तथा अन्य सज्जनोंसे मेरा इतना ही कहना है कि मेरी वह दलील विद्यानन्दके स्पष्ट उल्लेखके आधार पर किए गए निर्णयकी पोषक है। और उसे मैंने वहाँ स्वतन्त्र प्रमाणरूपसे पेश नहीं किया है। यद्यपि मेरे मनमें तो वह दलील एक स्वतन्त्र प्रमाणरूपसे भी रही है। पर मैंने उसका उपयोग उस तरहसे वहाँ नहीं किया। जो जैन परम्परामें संस्कृत भाषाके प्रवेश, तर्कशास्त्रके अध्ययन और पूर्ववर्ती आचार्योंकी छोटीसी भी महत्त्वपूर्ण कृतिका उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा उपयोग किया जाना इत्यादि जैन मानसको जानता है उसे तो कभी सदेह हो ही नहीं सकता कि पूज्यपाद, दिग्भागके पद्यको तो निर्दिष्ट करें पर अपने पूर्ववर्ती या समकालीन समन्तभद्रकी आसाधारण कृतियोंका किसी अंशमें स्पर्श भी न करें। क्या ब्रह्म है कि उमास्वातीके भाष्यकी तरह सर्गार्थसिद्धिमें भी सप्तभगीका विशद निरूपण न हो? जो कि समन्तभद्रकी जैन-परंपराको उस समयकी नई देन रही। अस्तु। इसके सिवाय मैं और भी कुछ बातें विचारार्थ उपस्थित करता हूँ जो मुझे स्वामी समन्तभद्रको धर्मकीर्तिके समकालीन माननेकी ओर झुकाती हैं—

मुझेकी बात यह है कि अभी तक ऐसा कोई जैन आचार्य या उनका ग्रन्थ नहीं देखा गया जिसका अनुकरण ब्राह्मणों या बौद्धोंने किया हो। इसके विपरीत १३०० वर्षका तो जैन संस्कृत एव तर्कशास्त्रमयका ऐसा इतिहास है जिसमें ब्राह्मण एव बौद्ध परम्पराकी कृतिओंका प्रतिविम्ब ही नहीं, कभी कभी तो अक्षरशः अनुकरण है। ऐसी सामान्य व्याप्ति बाँधनेके जो कारण हैं उनकी चर्चा यहाँ अप्रस्तुत है। पर अगर यह सामान्यव्याप्तिकी धारणा भ्रान्त नहीं हैं तो धर्मकीर्ति तथा समन्तभद्रके बीच जो कुछ महत्त्वका साम्य है उस पर ऐतिहासिकोंको विचार करना ही पड़ेगा। व्यापारतारमें धर्मकीर्तिके द्वारा प्रयुक्त एक मात्र अभ्रान्त पदके बलपर सूक्ष्मदर्शी प्रो० याज्ञिकीने सिद्धसेन दिग्भक्तके समयके बारेमें सूधन किया था, उस पर विचार करनेवाले हम लोगों को समन्तभद्रकी कृतिमें पाये जाने वाले धर्मकीर्तिके साम्य पर भी विचार करना ही होगा।

पहली बात तो यह है कि दिग्भागके प्रमाणसमुच्चयगत मंगलश्लोकके उपर ही उसके व्याख्यानरूपसे धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक का प्रथम परिच्छेद रचा है। जिसमें धर्मकीर्तिने प्रमाणरूपसे सुगनको ही स्थापित किया है। ठीक उसी तरह से समन्तभद्रने भी पूज्यपादके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' वाले मंगल पद्यको लेकर उसके ऊपर आसमीमांसा रची है और उसके द्वारा जैन तीर्थंकरों की आस-प्रमाण स्थापित किया है। अमल बात यह है कि कुमारिलने श्लोकवार्तिकमें चोदना-वेद कोई अतिम प्रमाण स्थापित किया, और 'प्रमाणभूताप जगद्वितैपिणै'

इस मगलपद्यके द्वारा दिग्गगप्रतिपादित बुद्धप्रामाण्यको सण्डित किया । इसके जगव में धर्म-कीर्तिने प्रमाणवार्तिकके प्रथम परिच्छेदमें बुद्धका प्रामाण्य अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे अपने दगसे सन्तिस्तर स्थापित किया । जान पड़ता है इसी सरणीका अनुसरण प्रबलप्रज्ञ समन्तभद्रने किया । पूज्यपादका 'मोक्षमार्गस्य नेनारम्' वाला सुप्रसन्न पद्य उन्हें मिला फिर तो उनकी प्रतिभा और जग उठी । प्रमाणवार्तिकके सुगतप्रामाण्यके स्थानमें समन्तभद्रने अपनी नई सप्तमगी सरणीके द्वारा अन्वयोगव्यवच्छेदरूपसे ही अर्हत्-जिन को ही आसप्रमाण स्थापित किया । यह तो विचारसरणीका साम्य हुआ । पर शब्दका सादृश्य भी बड़े मार्के का है । धर्मकीर्तिने सुगतको- 'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्' ( प्रमाणवा० १।१३५ ) "वैफल्याद् वक्ति नानृतम्" ( प्र० वा० १।१४७ ) कह कर अतिरुद्धमापी कहा है । समन्तभद्रने भी "युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्" ( आसमी० का० ६ ) कह कर जैन तीर्थंकर को सर्वज्ञ स्थापित किया है ।

धर्मकीर्तिने चतुरार्यसत्यके उपदेशकरूपसे ही बुद्धको सुगत-यथार्थरूप साबित किया है, स्वामी समन्तभद्रने चतुरार्यसत्यके स्थानमें स्याद्वाद-याय या अनेकान्तके उपदेशक रूपसे ही जैन तीर्थंकरको यथार्थरूप सिद्ध किया है । समन्तभद्रने स्याद्वाद-यायसी यथार्थता स्थापित करनेकी दृष्टिसे उसके विषयरूपसे अनेक दार्शनिक मुद्दोंको लेकर चर्चा की है, सिद्धसेनने भी सम्म-तिके तीसरे काण्डमें अनेकान्तके विषयरूपसे उन्हीं मुद्दों पर चर्चा की है । सिद्धसेन और समन्तभद्रकी चर्चामें मुख्य अन्तर यह है कि सिद्धसेन प्रत्येक मुद्देकी चर्चामें जब केशल अनेका-त-दृष्टिका स्थापना करते हैं तब स्वामी समन्तभद्र प्रत्येक मुद्दे पर सयुक्तिक सप्तमगी प्रणालीके द्वारा अनेकान्त दृष्टिका स्थापन करते हैं । इस तरह धर्मकीर्ति, समन्तभद्र और सिद्धसेनके बीचका साम्य वैषम्य एक खास अभ्यासकी वस्तु है ।

स्वामी समन्तभद्रको धर्मकीर्ति समकालीन या उनसे अनन्तरोत्तरकालीन होनेकी जो मेरी धारणा हुई है, उसकी पोषक एक और भी दलील निचारार्थ उपस्थित करता हूँ । समन्तभद्रके "द्रव्यपर्याययोरैक्यम्" तथा "संज्ञासख्याविशेषाच्च" (आसमी० ७१, ७२) इन दो पद्योंके और प्रत्येक शब्दका खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है, जिसे प० महेन्द्रकुमारजीने नववीं शताब्दीका लिखा है । अर्चटने हेतुबिन्दु टीकामें प्रथम समन्तभद्रके कारिकाके अशोक लेख गद्यमें खण्डन किया है और फिर 'आह च' कहकर खण्डनपरम् ४५ कारिकाएँ दी हैं । पंडित महेन्द्रकुमारजीने अपनी सुनिश्चित प्रस्तानामें ( पृ० २७ ) यह सभावना की है कि अर्चटोद्भूत हेतुबिन्दुटीकागत कारिकाएँ धर्मकीर्तिकृत होगी । पण्डितजीका अभिप्राय यह है कि धर्मकीर्तिने ही अपने किसी ग्रंथमें समन्तभद्रकी कारिकाओंका खण्डन पद्यमें किया होगा जिसका अवतरण धर्मकीर्तिका टीकाकार अर्चट कर रहा है । पर इस विषयमें निर्णायक प्रकाश डालनेवाला एक ग्रन्थ और प्राप्त हुआ है जो अर्चटीय हेतुबिन्दु टीकाकी अनुटीका है । इस अनुटीकाका प्रणेता है दुर्गेक मिश्र, जो ११ वीं शताब्दीके आसपासका ब्राह्मण विद्वान् है । दुर्गेकमिश्र चौदह शाखों का, खासकर धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंका, तथा उसके टीकाकारोंका गहरा अभ्यासी था । उसने अनेक

बौद्ध ग्रन्थों पर व्याख्याएँ लिखी हैं। जान पड़ता है कि वह उस समय किसी विद्यासम्पन्न बौद्ध विहारम अध्यापक रहा होगा। वह बौद्ध शास्त्रोंके बारेमें बहुत मार्मिकतासे और प्रमाणरूपसे लिखने वाला है। उसकी उक्त अनुटीका नेपालके अथसग्रहमेंसे कॉपी होकर भिदु राहुलजीके द्वारा मुझको मिली है। उसमें दुर्गेक मिश्रने स्पष्ट रूपसे उक्त ४५ कारिकाओंके बारेमें लिखा है कि—ये कारिकाएँ अर्चटकी है। अब विचारना यह है कि समन्तभद्रकी उक्त दो कारिकाओंका शब्दशः खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है न कि धर्मकीर्तिने। अगर धर्मकीर्तिके सामने समन्तभद्रकी कोई कृति होती तो उसकी उसके द्वारा समालोचना होनेकी विशेष सम्भावना थी। परऐसा हुआ जान पड़ता है कि जब समन्तभद्रने प्रमाणवार्तिकमें स्थापित सुगतप्रामाण्यके विरुद्ध आत्ममीमासामें जैनतीर्थंकरका प्रामाण्य स्थापित किया और बौद्धमतका जोरोंसे निरास किया तब इसका जवाब धर्मकीर्तिके शिष्योंने देना शुरू किया। कर्णगोमीने भी जो धर्मकीर्तिके टीकाकार है, समन्तभद्रकी कारिका लेकर जैनमतका खण्डन किया है। ठीक इसी तरह अर्चटने भी समन्तभद्रकी उक्त दो कारिकाओंका सविस्तर खण्डन किया है। ऐसी अवस्थामें मैं अभी तो इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कमसे कम समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्वजालीन तो हो ही नहीं सकते।

ऐसी हालतमें विद्यानन्दकी आपत्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीवाली उक्तियोंकी ऐतिहासिकताम किसी भी प्रकारके सन्देहका अवकाश ही नहीं है।

पंडितजीने प्रस्तावना (पृ० ३७) में तत्त्वार्थभाष्यके उपास्यासीप्रणीत होनेके बारेमें भी अयदीय सदेहका उल्लेख किया है। मैं समझता हूँ कि सदेहका कोई भी आधार नहीं है। ऐतिहासिक सत्यकी गवेषणामें सांप्रदायिक सरकारके बश होकर अगर सदेह प्रकट करना हो तो शायद निर्णय किसी भी वस्तुका कभी भी नहीं हो सकेगा, चाहे उसके बलवत्तर कितने ही प्रमाण क्यों न हों। अस्तु।

अतमें मैं पंडितजीकी प्रस्तुत गवेषणापूर्ण और श्रमसाधित सकृत्तिरा सच्चे हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ, और साथ ही जैन समाज, खासकर दिगम्बर समाजके विद्वानों और श्रीमानोंसे भी अभिनन्दन करनेका अनुरोध करता हूँ। विद्वान् तो पंडितजीकी सभी कृतियोंका उदारभावसे अध्ययन-अध्यापन करके अभिनन्दन कर सकते हैं और श्रीमान्, पंडितजीकी साहित्यपत्रण शक्तियान् अपने साहित्यो र्ण तथा भण्डारोद्धार आदि कार्योंमें विनियोग कराकर अभिनन्दन कर सकते हैं।

मैं पंडितजीसे भी एक अपना मन्त्र विचार कहे देना हूँ। वह यह कि आगे अत्र वे दार्शनिक प्रमेयोंको, खासकर जैन प्रमेयोंको केन्द्रमें रखकर उनपर तार्किक दृष्टिसे ऐसा विवेचन करें जो प्रमेय या मुख्य मुख्य प्रमेयके स्वरूपका निरूपण करनके साथ ही साथ उसके सम्बन्धमें सब दृष्टिओंमें प्रकाश डाल सके।

—सुखलाल सक्ती

हिन्दू विश्वविद्यालय  
काशी।  
२५।३।५१

[प्रथम संशोधनात्मक शोधित काल  
हिन्दू विश्वविद्यालय काशी,  
मूलपूर्व दशनाम्यायक गुणवत् विद्यार्थी अन्तर्गत]



## ॥ सम्पादकीयम् ॥

सितम्बर सन् १९३८ में न्यायकुमुदचन्द्र का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था । करीब २॥ वर्ष बाद उसका अवशिष्टांश दूसरे भाग के रूप में सम्पादित करके चित्त आनन्द से किसी अनिर्वचनीय उल्लासता का अनुभव कर रहा है, सो इसलिए कि—इस भाग के सम्पादन का पूरा भार मुझे ही देना पड़ा है । इस भाग को प्रथम भाग से भी अधिक परिष्कृत तथा सामग्री-समृद्ध रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्रथमभाग के रसिक विद्वन्मण्डल को ही दिया जाना चाहिए । उन्हीं के सदसिप्राथो में इसके प्रेरणावीज निहित हैं ।

इस भाग का सम्पादन सशोधन व०, आ० तथा थ० प्रति के आधार से किया गया है । इनका परिचय प्रथम भाग के सम्पादकीय स्तम्भ में दिया जा चुका है । ओरियण्टल बुक् एजेन्सी पूना के अध्यक्ष श्री देसाई ने कृपा करके न्यायकुमुदचन्द्र की एक अधूरी प्रति हमारे पास भेजी थी, उसका भी यथानसर उपयोग किया है । इस भाग के टिप्पणों में प्रथम भाग में उपयुक्त ग्रंथों के सिवाय प्रमाणवार्तिकखट्वत्ति, प्रमाणवार्तिकखट्वत्तिटीका, प्रमाणवार्तिक मनोरथनन्दिनीवृत्ति जैसे दुर्लभ ग्रन्थों के प्रूफ तथा हेतुविडम्बनोपाय, हेतुविन्दुटीका, सिद्धिविनिश्चयटीका, सत्यशासनपरीक्षा, न्यायविनिश्चयनिवरण जैसे अलभ्य लिखित ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है । अर्थोद्धाटन करने वाले टिप्पण भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये हैं ।

टिप्पणों में समस्त दर्शनशास्त्रों के प्रमुख ग्रन्थों से की गयी बहुमुखी तुलना से जिज्ञासु पाठकों को न केवल ग्रन्थ के हार्द को ही समझने में सहायता मिलेगी किन्तु प्रत्येक दार्शनिक मुद्दे के क्रमविकास का सारा इतिवृत्त दृष्टिपट पर अङ्कित हो सकेगा । वीरहिमाचल से निजली हुई अर्धभागधीमय त्याग्वाद-वाणी की धारा कितने उच्चाग्र दर्शनस्थानों से बहकर उन्हें सम बनाती है तथा नितनेत्र समन्तभद्र सिद्धसेन पूज्यपाद मल्लवादि अकलक जिनभद्र हरिभद्र विद्यानन्द जैसे तीर्थों पर मिलने वाले सहायकनदीकल्प दार्शनिकगद्गो के खच्छ युक्तिसलिल-समार से समृद्ध बनती है । आज वह इस विक्रमिit दार्शनिक रूप में एकान्तवाद के कदाग्रह से सन्तप्त जिज्ञासुओं को शीतल, समन्वयकारक, मानसअहिंसा के प्रतिरूप, अनेकान्तवाद-रूप जीवन से अरुण आप्यायक सुषमा का सहज मातृ से अनुभव कराती है । वीर हिमाचल की वह वाग्म्या प्रमाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र की पूर्ण विस्तृत ज्योत्स्ना में आज काशी की गंगा की तरह धीर और उदात्तभास से बह रही है । उसके उदर में कितनी ऐतिहासिक घटनाएँ द्रव्य में पर्याय या उद्दाम जवानी में लोल बालभास की तरह छिपी पड़ी हैं । उसमें कितने उच्चाग्र शिलाखण्डकल्प दार्शनिकवाद आज रेत बनकर तदाम हो रहे हैं । इस सन क्रमविनास की धारा का यत्किञ्चित् आभास इन टिप्पणों में की गयी बहुमुखी तुलना से

हो सकेगा। इन उदात्त आचार्यों ने अपनी अहिंसारूपा अनेकान्तदृष्टि से विरोधी दर्शनों की सुयुक्तियों को भी उचित स्थान देकर उनका समन्वय किया है। दार्शनिक क्षेत्र में एकात्मक चौका न लगाकर अनेकान्त का प्रकाश सर्वत्र फैलाया है और उसमें अहिंसा की जान स्याद्वाददृष्टि से सभी एकान्तों का उचित आदर किया है। और इस तरह उन्होंने दार्शनिक वादविवादों का समन्वय कर अहिंसा का मार्ग प्रशस्त किया है तथा उन वादों का उचित फैसला करने का प्रयत्न किया है। आज तक कितनेक वाद उदित हुए, अस्त हुए, तथा कितने ध्यान भी अन्तिम आसं ले रहे हैं और वे किस पर अपना कितना और कैसा प्रभाव छोड़ गए हैं, यह सब कहानी इन टिप्पणों के परीशीलन से मानस पटल पर चित्रित होगी।

दर्शनशास्त्र स्थूलरूप से यदि मानसिक व्यायाम का प्रदर्शन है तो इसका दूसरा रूप अनेकों वादों के उत्थान पतनों का अजायबघर भी है। इसके परीशीलन से उन उन युगों की विद्वन्मनोवृत्ति के साथ ही साथ अनेक सामाजिक प्रवृत्तियों का पूरा पूरा प्रतिबिम्ब झलकने लगता है। दर्शन ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसके क्रमविकास की कहानी का तटस्थ-भाष से अवलोकन, हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि खण्डन मण्डन में सिद्धान्तों की समता और विषमता के कारण एक वादी दूसरे वादी का सहकार प्राप्त करने में, उसकी युक्तियों का अपने ढंग से अनुसरण करने में कभी नहीं हिचकता था। प्रत्युत ऐसी विनिमयपरम्परा के कारण ही आज दर्शनशास्त्र इस विकास को पा सका है। उदाहरणार्थ—नैयायिकाभिमत सृष्टिकर्तृत्व के खण्डन में जहाँ जैन और बौद्धों के साथ मीमांसक भी अपना कन्धा लगाता है वहाँ मीमांसकाभिमत वेद के अपौरुषेयत्व के खण्डन में नैयायिक, जैन और बौद्धों का साथ देता है। इसी तरह वैशेषिक आदि के खण्डन में साथ साथ चलने वाले बौद्ध और जैन भी, जहाँ क्षणिकत्व का विचार होता है, वहाँ वादी और प्रतिवादी बन जाते हैं। उस समय वैशेषिक आदि पपासभन जैन का खण्डन करने में बौद्धों का तथा बौद्धों का खण्डन करने में जैन का साथ देते हैं। पर जहाँ चार्वाक का खण्डन करने का प्रसंग है वहाँ वैदिक दर्शनों के साथ ही साथ बौद्ध और जैन भी पूरी तरह मैदान में डट जाते हैं। सर्वज्ञत्व के विचार में जैन बौद्ध तथा वैशेषिक आदि मिलकर मीमांसक का मुकाबिला करते हैं। पर जहाँ ब्राम्हणत्वजाति का विचार आता है वहाँ वैश्य बौद्ध और जैन ही एक ओर रह जाते हैं। इस तरह इस दार्शनिक महाभारत में सिद्धान्तों की समता और विषमता के कारण परस्पर विरोधी वादी भी वही समानतन्त्रीय बनकर किसी तीसरे वादी का खण्डन करते हुये देगे जाते हैं तो कहीं एक दूसरे का खण्डन करने में ही अपना बुद्धिकौशल दिखाते हैं। अतः विभिन्न वादों की समालोचना के समय एक ग्रन्थकार का दूसरे ग्रन्थकार की युक्तियों का शब्द अर्थ और भाव की दृष्टि से अनुसरण करना सिद्धान्तों के साम्य-वैयर्थ्य का ही फल है। दार्शनिक क्षेत्र में यह कोई अनहोनी या अनुचित बात नहीं है क्योंकि यह विचार विनिमय ही तो दर्शन शास्त्र के विकास का आधार होता है और इसी में उसकी प्राप्ति है।

दर्शनशास्त्र का चरम उद्देश तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का यथावत् परिज्ञान करके शान्ति लाभ करना है। स्वदर्शनप्रभावना, लाभ पूजा ख्याति आदि तो वादियों के चित्त की विजिगीषा के परिणाम हैं। सच्चा दार्शनिक इस स्तरके ऊपर रहता है और वस्तुतत्त्व की समीक्षा में ताटस्थ्य रखने में ही अपनी बुद्धि का सदुपयोग मानता है।

**संस्करणपरिचय**—इस भाग का मुद्रण भी प्रथम भाग की तरह ही कराया गया है। विशेषता यह है कि टिप्पणों में ग्रन्थों के नाम मोटे टाइप में दे दिये हैं। जिस ग्रन्थ का पाठ लिया है उस ग्रन्थ का (—) ऐसे डैश के साथ पाठ के बाद सर्वप्रथम निर्देश किया है। अन्य जिन ग्रन्थों के मात्र पृष्ठसंख्या दिये हैं उन ग्रन्थों में वैसी ही आनुपूर्वी से पाठ का होना आवश्यक नहीं है। उन ग्रन्थों के नाम तो अर्थसादर्य, भावसादर्य और कहीं शब्दसादर्य मूलक तुलना के लिए दिये हैं। जो अर्थबोधक टिप्पण आ० प्रति के हॉसिए में लिखे थे उनके आगे 'आ० टि०' ऐसा विभाजक निर्देश किया गया है। बाकी टिप्पण स्वयं सम्पादक द्वारा ही लिखे गये हैं। टिप्पण या मूल ग्रन्थ में जो शब्द त्रुटित थे या नहीं थे उनकी जगह सम्पादक ने जिन शब्दों को अपनी ओर से रखा है वे [ ] ऐसे ब्रेकेट में मुद्रित हैं। तथा जिन अशुद्ध शब्दों को सुधारने का प्रसङ्ग आया है वहाँ सम्पादक द्वारा कल्पित शुद्ध पाठ ( ) ऐसे ब्रेकेट में दिया गया है।

**भूमिका** में जो नियम प्रथम भाग की प्रस्तावना में चर्चित हो चुके हैं उनकी चरचा यहाँ नहीं की है। आ० प्रभाचन्द्र के समय के नियम में ही कुछ विशिष्ट सामग्री के साथ उदाहरण दिया है। मैं अकलङ्कदेव के समय विषयक अपने निवार सिंही सीरीज से प्रकाशित "अकलङ्कग्रन्थत्रय" की प्रस्तावना में लिख आया हूँ। अतः यहाँ आवश्यक होने पर भी पुनरुक्ति नहीं कर रहा हूँ।

**परिशिष्ट**—इस भाग में निम्नलिखित १२ परिशिष्ट लगाए गए हैं। जिनसे ऐतिहासिक या तात्त्विकदृष्टिवाले जिज्ञासु, ग्रन्थ के नियमों को अपनी दृष्टि से सहज ही खोज सकेंगे। १ लघीयलक्ष्य के कारिकार्थ का अकाराबनुक्रम। २ लघीयलक्ष्य और उसकी स्वविवृति में आए हुए अन्तराल वाक्यों की सूची। ३ लघीयलक्ष्य और स्वविवृति के विशेष शब्दों की सूची, इसमें लाक्षणिक शब्द काले टाइप में दिए हैं। ४ लघीयलक्ष्य की कारिकाएँ तथा विवृति के अंश जिन दि० श्रे० आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किए हैं या उन्हें अपने ग्रन्थों में शामिल किया है उन आचार्यों के उन ग्रन्थों की सूची। ५ न्यायकुमुदचन्द्र में आए हुए ग्रन्थान्तरो के उद्धरणों की सूची। ६ न्यायकुमुदचन्द्र में उपयुक्त न्यायों की सूची। ७ न्यायकुमुदचन्द्रगत प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषों के नाम तथा भौगोलिक शब्दों की सूची। ८ न्यायकुमुदचन्द्र में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सूची। ९ न्यायकुमुदचन्द्र में जिन शब्दों के लक्षण या निरुक्तियाँ की गई हैं उन लाक्षणिक शब्दों की सूची। १० न्यायकुमुदचन्द्र के कुछ विशिष्ट शब्द। ११ न्यायकुमुदचन्द्र के दार्शनिक शब्दों की सूची। १२ टिप्पणी में तथा मूलग्रन्थ

में आए हुए ध्वतरणों के मूलस्थल निर्दिष्ट करने में जिन ग्रन्थों का उपयोग किया है उन ग्रन्थों के संस्करण आदि का परिचय, संकेत विवरण तथा न्यायकुमुद के जिन पृष्ठों पर उनका उपयोग किया है उन पृष्ठों की सूची ।

शुद्धिपत्र—मूफ देखने में पर्याप्त सावधानी रखने पर भी दृष्टिदोष, यन्त्रपरिचालन आदि के कारण होने वाली स्थूल अशुद्धियों का निर्देश ही इस पत्रक में किया है ।

आभार—आदरणीय प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी ने अपनी सहज विद्यारसिकता से यथावसर संपरामर्श दिये हैं तथा सिद्धिनिश्चयटीका, हेतुविन्दुटीका एवं तत्त्वोपप्लवसिंह आदि लिखित ग्रन्थों के उपयोग करने की पूरी पूरी सुनिवा दी है । ग्रन्थमाला के प्राण, निर्व्याज साहियोपासक यथार्थोपनामक पं० नाथूराम जी प्रेमी ने प्रभाचन्द्र के समय में उपयुक्त होने वाली प्रशस्तियाँ, श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र नामक लेख की कच्ची नकल तथा अन्य आवश्यक सामग्री को बड़ी तत्परता एवं निरुत्सेक सहज भाव से जुटाया है । सच पूछे तो प्रेमीजी जैसे सद्बुद्ध मन्त्री की सदाशयता से ही इस ग्रन्थ का इस रूप में सम्पादन, मुद्रण आदि हो सका है । त्रिपिटिकाचार्य महापंडित राहुलसाकृत्यायन ने प्रमाणनार्तिकखट्वत्ति, खट्वत्तिटीका के दुर्लभ मूफ तथा प्रमाणनार्तिकालङ्कार की सर्वथा अलस्य प्रेस कापी से यथेष्ट नोट्स लेने दिये हैं । सुहृद् पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के सहयोग से ही प्रथम भाग की प्रेस कापी के समय इस भाग में मुद्रित अंश का प्रथमपाचन हुआ था और व० प्रति के पाठान्तर लिए गये थे ।

प० परमानन्दजी वीर सेवा मन्दिर सरसाया ने प्राकृतपंचसंग्रह की गाथाओं के स्पल खोज पर मेने । ओरियंटल बुक् एजेन्सी पूना के अध्यक्ष श्री देसाई ने न्यायकुमुदचन्द्र की एक प्रतित प्रति मेजी । माण्डारकर प्राच्यविद्यासशोधनमन्दिर के अध्यक्ष ने हेतुविडम्बनोपाय तथा जैनसिद्धान्तभजन आरा के पुस्तकाध्यक्ष श्री के० भुजबली शास्त्री ने सत्यशासनपरीक्षा ग्रन्थ के उपयोग करने का अमर दिया तथा पत्रोत्तर दिए । श्रीमान् प्रो० हरिलाल जी, प्रो० ए० एन० उपाध्ये, प० जुगलकिशोर जी मुत्तार, पं० चैनसुखदास जी, पं० लोकराम जी शास्त्री, प० वर्षमान् रायजी, सा० र० पं० हरिलाल शास्त्री, पं० नाथूलाल जी आदि जिद्वन्मसज्ज ने यथासमय प्रशस्ति आदि के बान झतन्य प्ररनों के उचर दिये । पञ्चाचार्य पं० भूपनारायण जी ग्हा ने प्रशस्ति श्लोकों की रचना करके सदायग की । श्री त्रिजयमूर्ति जी एम० ए०, शास्त्री ने पाठान्तर लेने में तथा त्रिपिटिष्य गुलामचन्द्र जी न्याय-सांख्यतीर्थ और उदयचन्द्रजी ने परिशिष्ट बनाने में पूरी पूरी मदद की है । मैं उक्त सभी महाशयों का हार्दिक आभार मानता हूँ ।

श्री ८४३ गुणिमा  
महाराष्ट्र  
४० वि० २६९७

सम्पादक—  
न्यायाचार्य महेंद्रकुमार  
स्था० वि० काशी ।

## ॥ प्रस्तावना ॥

इस संस्करणमें मुद्रित मूलग्रन्थ लघीयल्लय और उसकी व्याख्या न्यायकुमुदचन्द्रका परिचय इसी ग्रन्थके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। यहाँ ग्रन्थकारोंके विषय में ही कुछ लिखना इष्ट है। प्रस्तुतग्रन्थके कर्ता आचार्य प्रभाचन्द्र हैं। यह न्यायकुमुदचन्द्र अकलङ्कदेवके स्वनिवृत्तियुक्त लघीयल्लय प्रकरणकी विस्तृत व्याख्या है। अतः मूलकार अकलङ्कदेव और व्याख्याकार प्रभाचन्द्रके विषयमें लिखना ही यहाँ प्रस्तुत है। न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावनामें सुद्धर ५० केशवचन्द्रजी शास्त्रीने इन दोनों आचार्योंके समयआदिके विषयमें यथेष्ट उद्घापोह किया है। मैं अकलङ्कदेवके समयविषयक अपने विचार “अकलङ्क-ग्रन्थत्रय” की प्रस्तावनामें विस्तार के साथ लिख चुका हूँ। जिस—

“विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाणेषु।

कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत ॥”

कारिकाके ‘विक्रमार्कशक’ शब्द पर विद्वानों का मतभेद है कि ‘अकलङ्कदेव का शास्त्रार्थ विक्रमसंवत् ७०० में हुआ है, या शक संवत् ७०० में’ उसके विषयमें इतना और विशेष वक्तव्य है कि—‘विक्रमार्कशक’ शब्दका प्रयोग अनेक प्राचीन आचार्योंने ‘शकसंवत्’ के अर्थमें किया है। उदाहरणार्थ धवलाटीकाकी अन्तिम प्रशस्तिकी यह गाथा ही पर्याप्त है—

“अठतीसस्मिन् सतसए विक्रमरायंकिए सु-सगणामे।

घासे सुतेरसीए भाणुविलग्गे धवलपक्खे ॥”

पट्खडागम प्रथमभागकी प्रस्तावना (पृ० २५-४५) में प्रो० हीरालालजीने बहुमुख उद्घापोहके अनन्तर यह सिद्ध किया है कि उक्त गाथा में वर्णित ‘विक्रमरायंकिए सुसगणामे’ पदसे ‘शकसंवत्’ ही ग्राह्य हो सकता है। इसी प्रस्तावना (पृ० ४०) में प्रो० सा० ने अपने मतके समर्थनकेलिए त्रिलोकसारके (भा० ८५०) टीकाकार श्रीमधवचन्द्रत्रैविधिक का यह अन्तरण दिया है—“श्रीगीरनाथनिवृत्तेः सकाशात् पंचोत्तरपद्मशतवर्षाणि (६०५) पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् ‘विक्रमाङ्कशकराजो’ जायते ---” इससे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि शकराजको भी ‘विक्रमाङ्कशक’ लिखने की प्राचीन परम्परा रही है और इसीलिए ‘शकसंवत्’ का उल्लेख भी ‘विक्रमाङ्कशकसंवत्’ पदसे किया जाता था। मैंने “अकलङ्क-ग्रन्थत्रय” की प्रस्तावनामें अन्य प्रमाणोंके आधारसे विक्रमार्कशकाब्दका शक संवत् ७०० अर्थ करके अकलङ्कदेवका समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध किया है। अस्तु।

## आ० प्रभाचन्द्र

आ० प्रभाचन्द्रके समयत्रिपयक इस निबन्धको वर्गीकरणके ध्यानसे तीन स्थूल भागों में बाँट दिया है—१ प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यों से तुलना, २ समयत्रिचार, ३ प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ ।

### §१. प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यों से तुलना—

इस तुलना मरु भागको प्रत्येक परम्पराके अपने क्रमविज्ञासको लक्ष्यमें रखकर निम्नलिखित उपभागोंमें क्रमशः विभाजित कर दिया है । १ वैदिक दर्शन—वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, महाभारत, वेयाकरण, साख्ययोग, वैशेषिक न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा । २ अत्रैदिक दर्शन—बौद्ध, जैन-दिगम्बर, श्वेताम्बर ।

### ( वैदिकदर्शन )

**वेद और प्रभाचन्द्र**—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डमें पुरातनवेद ऋग्वेदसे “पुरुष एवेदं यद्भूतं” “हिरण्यगर्भः समवर्ततामे” आदि अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं । कुछ अन्य वेदवाक्य भी न्यायकुमुदचन्द्र ( पृष्ठ ७२६ ) में उद्धृत हैं—“प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत्, तत्तत्त्वयो वेदा अन्वसृज्यन्त” “रुद्रं वेदकर्तारम्” आदि । न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ७७० ) में “आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मणं ससर्ज, धातुभ्यां क्षत्रियमुख्यभ्यां वैश्यं पद्भ्यां शूद्रम्” यह वाक्य उद्धृत है । यह ऋग्वेद के “ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्” आदि सूक्तकी छाया रूप ही है ।

**उपनिषद् और प्रभाचन्द्र**—आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों न्यायग्रन्थोंमें ब्रह्माद्वैतवाद तथा अन्य प्रकरणोंमें अनेकों उपनिषदों के वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किये हैं । इनमें बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, तैत्तिरीयुपनिषद्, ब्रह्मविन्दु-पनिषद्, रामतापिन्युपनिषद्, जाबालोपनिषद् आदि उपनिषद् मुख्य हैं । इनके अवतरण अवतरणसूची में देखना चाहिये ।

**स्मृतिकार और प्रभाचन्द्र**—महर्षि मनुकी मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यकी याज्ञवल्क्यस्मृति प्रसिद्ध हैं । आ० प्रभाचन्द्रने कारकसाकरूपवादके पूर्वपक्ष ( प्रमेयक० पृ० ८ ) में याज्ञवल्क्य-स्मृति ( २।२२ ) का “लिखित साक्षिणो भुक्तिः” वाक्य कुछ शाब्दिक परिवर्तनके साथ उद्धृत किया है । न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ५७५ ) में मनुस्मृतिका “अकुर्वन् विहितं कर्म” श्लोक उद्धृत है । न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ६३४ ) में मनुस्मृतिके “यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः” श्लोकका “न हिंस्यात् सर्वा भूतानि” इस कर्मपुराणके वाक्यसे निरोध दिखाया गया है ।

**पुराण और प्रभाचन्द्र**—प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें मत्स्य-पुराणका “प्रतिमन्वन्तरञ्चैव श्रुतिरन्या विधीयते ।” यह श्लोकांश उद्धृत मिलता है । न्याय-कुमुदचन्द्र ( पृ० ६३४ ) में कर्मपुराण ( अ० १६ ) का “न हिंस्यात् सर्वा भूतानि” वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है ।

**व्यास और प्रभाचन्द्र**—महाभारत तथा गीताके प्रणेता महर्षि व्यास माने जाते हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ५८०) में महाभारत वनपर्व (अ० ३०।२८) से “अज्ञो जन्तुरनीशो-  
ऽयमात्मनः सुरतदुःखयो. . .” श्लोक उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ३६८ तथा ३०६) में भगवद्गीताके निम्नलिखित श्लोक ‘व्यासवचन’ के नामसे उद्धृत हैं—“यथैधासि  
समिद्धोऽग्निः ” [गीता ४।३७] “द्वाविमौ पुरुषौ लोके, उत्तमपुरुषस्त्वन्यः . ” [गीता  
१५।१६, १७] इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३५८) में गीता (२।१६) का “नाभायो  
विद्यते सतः” अश प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

**पतञ्जलि और प्रभाचन्द्र**—पाणिनिसूत्रके ऊपर महाभाष्य लिखनेवाले ऋषि पतञ्जलिका  
समय इतिसाहकारोने ईसवी सन्से पहिले माना है। आ० प्रभाचन्द्रने जैनेन्द्रव्याकरणके साथ  
ही पाणिनिव्याकरण और उसके महाभाष्यका गमीर परिशीलन और अध्ययन किया था। वे  
शब्दाम्भोजभास्करके प्रारम्भमें खय ही लिखते हैं कि—

“शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताऽहर्निशम्”

आ० प्रभाचन्द्रका पातञ्जलमहाभाष्यका तलस्पर्शी अध्ययन उनके शब्दाम्भोजभास्कर-  
में पद पद पर अनुभूत होता है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७५) में वैयाकरणोंके मतसे गुण  
शब्दका अर्थ बताते हुये पातञ्जलमहाभाष्य (५।१।११६) से “यस्य हि गुणस्य भावात् शब्दे  
द्रव्यविनिवेशः” इत्यादि वाक्य उद्धृत किया है। शब्दोंके साधुत्वासाधुत्व-विचारमें व्याकरणकी  
उपयोगिताका समर्थन भी महाभाष्यकी ही शैलीमें किया है।

**भर्तृहरि और प्रभाचन्द्र**—ईसाकी ७ वीं शताब्दीमें भर्तृहरि नामके प्रसिद्ध वैयाकरण  
हुए हैं। इनका वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ये शब्दाद्वैतदर्शनके प्रतिष्ठाता माने जाते हैं।  
आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें शब्दाद्वैतवादके पूर्णपक्षको वाक्यपदीय  
की अनेक कारिकाओंको उद्धृत करके ही परिपुष्ट किया है। शब्दोंके साधुत्व असाधुत्व विचार  
में पूर्णपक्षका खुलासा करनेके लिए वाक्यपदीयकी सरणीका पर्याप्त सहारा लिया है। वाक्य-  
पदीयके द्वितीयकाण्डमें आए हुए “आख्यातशब्दः” आदि दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका  
मनिस्तर खण्डन किया है। इसी तरह प्रभाचन्द्रकी कृति जैनेन्द्रन्यासके अनेक प्रकरणोंमें वाक्य-  
पदीयके अनेक श्लोक उद्धृत मिलते हैं। शब्दाद्वैतवादके पूर्णपक्षमें बैखरी आदि चतुर्विधवाणीके  
स्वरूपका निरूपण करते समय प्रभाचन्द्रने जो “स्थानेषु विवृते वायौ” आदि तीन श्लोक  
उद्धृत किये हैं वे मुद्रित वाक्यपदीयमें नहीं हैं। टीकामें उद्धृत हैं।

**व्यासभाष्यकार और प्रभाचन्द्र**—योगसूत्र पर व्यास-ऋषि का व्यासभाष्य प्रसिद्ध है।  
इनका समय ईसाकी पञ्चम शताब्दी तक समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र  
(पृ० १०६) में योगदर्शनके आधारसे ईश्वरवादका पूर्णपक्ष करते समय योगसूत्रोंके अनेक उद्धरण  
दिए हैं। इसके विवेचनमें व्यासभाष्यकी पर्याप्त सहायता ली गई है। अधिमादि अष्टविध

ऐश्वर्यका वर्णन योगभाष्यसे मिलता जुलता है। न्यायकुमुदचन्द्रमें योगभाष्यसे “चेतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्” “चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा” आदि वाक्य उद्धृत किये गये हैं।

**ईश्वरकृष्ण और प्रभाचन्द्र**—ईश्वरकृष्णकी साह्यसप्तति या साह्यकारिका प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी समझा जाता है। साह्यदर्शनके मूलसिद्धान्तोंका साह्यकारिकामें सक्षिप्त और स्पष्ट विवेचन है। आ० प्रभाचन्द्रने साह्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सर्वत्र साह्यकारिकाओंका ही विशेष उपयोग किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें साह्योंके कुछ वाक्य ऐसे भी उद्धृत हैं जो उपलब्ध साह्यग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते। यथा—“बुद्धयध्वनसितमर्थं पुरुषश्चेतयते” “आसर्गप्रलयादेका बुद्धिः” “प्रतिनियतदेशा वृत्तिरभिव्यज्येत” “प्रकृतिपरिणाम शुक्ल कृष्णश्च कर्म” आदि। इससे ज्ञात होता है कि ईश्वरकृष्णकी कारिकाओंके सिवाय कोई अन्य प्राचीन साह्य ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके सामने था जिससे ये वाक्य उद्धृत किये गए हैं।

**माठराचार्य और प्रभाचन्द्र**—साह्यकारिकाकी पुरातन टीका माठरवृत्ति है। इसके रचयिता माठराचार्य ईसाकी चौथी शताब्दीके विद्वान् समझे जाते हैं। प्रभाचन्द्रने साह्यदर्शनके पूर्वपक्षमें साह्यकारिकाओंके साथ ही साथ माठरवृत्तिको भी उद्धृत किया है। जहाँ वही साह्यकारिकाओं की व्याख्याका प्रसङ्ग आया है, माठरवृत्तिके ही आधारसे व्याख्या की गई है।

**प्रशस्तपाद और प्रभाचन्द्र**—अणादसूत्र पर प्रशस्तपाद आचार्यका प्रशस्तपादभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रशस्तपादभाष्यकी “एयं धर्मैर्विना धर्मिणामेव निर्देशः कृतः” इस पक्तिको प्रमेयकमलमार्चण्ड (पृ० ५३१) में ‘पदार्थपवेशकग्रन्थ’ के नामसे उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्चण्ड दोनोंकी पदपदार्थपरीक्षाका यात्र पूर्वपक्ष प्रशस्तपादभाष्य और उसको पुरातनटीका व्योमवतीसे ही स्पष्ट किया गया है। प्रमेयकमलमार्चण्ड (पृ० २७०) के ईश्वरवादके पूर्वपक्षमें ‘प्रशस्तमतिना च’ लिखकर “सर्गादौ पुरुषाणा व्यवहारो” इत्यादि अनुमान उद्धृत है। यह अनुमान प्रशस्तपादभाष्यमें नहीं है। तत्त्वसमूह की पञ्जिका (पृ० ४३) में भी यह अनुमान प्रशस्तमतिके नामसे उद्धृत है। ये प्रशस्तमति, प्रशस्तपादभाष्यकारसे भिन्न मालूम होते हैं, पर इनका कोई ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं है।

**व्योमशिव और प्रभाचन्द्र**—प्रशस्तपादभाष्यके पुरातन टीकाकार आ० व्योमशिवकी व्योमवती टीका उपलब्ध है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों ग्रन्थोंमें, न केवल वैशेषिकमतके पूर्वपक्षमें ही व्योमवतीको अपनाया है किन्तु अनेक मतोंके खडनमें भी इसका पर्याप्त अनुसरण किया है। यह टीका उनके विशिष्ट अध्ययनकी वस्तु थी। इस टीकाके तुलनात्मक अंशोंको न्यायकुमुदचन्द्रकी टिप्पणीमें देखना चाहिए। आ० व्योमशिवके समयके विषयमें विद्वानोंका मतभेद चला आ रहा है। डॉ० कीथ ई० नमशताब्दी का कहते हैं तो डॉ० दासगुप्ता इन्हें छठवीं शताब्दीका। मैं इनके समयका कुछ विस्तार से विचार करता हूँ—



राजशेखरने प्रशस्तपादभाष्यकी 'कन्दली' टीकाकी 'पत्रिका' में प्रशस्तपादभाष्यकी चार टीका-श्लोका इस क्रमसे निर्देश किया है—सर्वप्रथम 'व्योमवती' (व्योमशिवाचार्य), तत्पश्चात् 'न्यायकन्दली' (श्रीधर), तदनन्तर 'किरणावली' (उदयन) और उसके बाद 'लोलावती' (श्रीवत्साचार्य) । ऐतिह्यपर्यालोचनासे भी राजशेखरका यह निर्देशक्रम सगत जान पड़ता है । यहाँ हम व्योमवतीके रचयिता व्योमशिवाचार्यके विषयमें कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं ।

व्योमशिवाचार्य शैव थे । अपनी गुरु-परम्परा तथा व्यक्तित्वके विषयमें स्वयं उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा । पर रणिपदपुर रानोद, वर्तमान नारोदग्राम की एक बापी प्रशस्ति ॥ से इनकी गुरुपरम्परा तथा व्यक्तित्व-विषयक बहुतसी बातें मालूम होती हैं, जिनका कुछ सार इस प्रकार है—

“कन्दम्बगुहाधिवासी मुनीन्द्रके शल्लमठिकाधिपति नामक शिष्य थे, उनके तैग्म्बिपाल, तैरम्बिपालके आमर्दकतीर्थनाथ और आमर्दकतीर्थनाथके पुरन्दरगुरु नामके अतिशय प्रतिभाशाली तार्किक शिष्य हुए । पुरन्दरगुरुने कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा है; क्योंकि उसी प्रशस्ति-शिलालेखमें अत्यन्त स्पष्टतासे यह उल्लेख है कि—“इनके वचनोका खण्डन आज भी बड़े बड़े नैयायिक नहीं कर सकते ।”† स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थोंमें पुरन्दरके नामसे कुछ वाक्य उद्धृत मिलते हैं, सम्भव है वे पुरन्दर थे ही हो । वन पुरन्दरगुरुको अवन्तिवर्मा उपेन्द्रपुरसे अपने देशको ले गया । अवन्तिवर्माने इन्हें अपना राज्यभार सौंप कर शैवदीक्षा धारण की और इस तरह अपना जन्म सफल किया । पुरन्दरगुरुने मत्समयूरमें एक बड़ा मठ स्थापित किया । दूसरा मठ रणिपदपुरमें भी इन्होंने स्थापित किया था । पुरन्दरगुरुका कवचशिव और नवचशिवका सदाशिव नामक शिष्य हुआ, जो कि रणिपदपुरके तापसाश्रम में तप साधन करता था । सदाशिवका शिष्य हृदयेश और हृदयेशका शिष्य व्योमशिव हुआ, जोकि अच्छा प्रभावशाली, उत्कट प्रतिभासम्पन्न और समर्थ विद्वान् था ।” व्योमशिवाचार्यके प्रभावशाली होनेका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इनके नामसे ही व्योममन्त्र प्रचलित हुए थे । ‡ ये सद्गुणप्राप्तपरायण, मृदु मितभाषी, विनय नय-सयमके अद्भुत स्थान तथा अप्रतिम प्रतापशाली थे । इन्होंने रणिपदपुरका तथा रणिपदमठका उद्धार एवं सुधार किया था और वही एक शिवमन्दिर तथा बापीका भी निर्माण कराया था । इसी बापीपर उक्त प्रशस्ति खुदी है ।

इनकी विद्वत्ताके विषयमें शिलालेखके ये श्लोक पर्याप्त हैं—

“सिद्धान्तेषु महेश एव नियतो न्यायैः प्रसादो मुनिः । गम्भीरे च कथाशिनस्तु कणभुक्शास्त्रे श्रुती जैमिनि ॥ साहसैः प्रहस्यति स्वयं ॥ कपिलो लोकायते सद्गुरुः । बुद्धो बुद्धमते जिनोक्तिषु जिन को गाय नाय कृती ॥ यद्भूतं यदनागतं यदधुना किञ्चित्त्वचिद्वधं (तं) ते । सम्यग्दर्शनसम्पदा तदखिलं पश्यन् प्रमेयं महत् ॥ सर्वज्ञ स्फुटमेव कोपि भगवान् न्य क्षिती स(श)करः । धत्ते किन्तु न ज्ञानधीविषमदृष्टीं वपु केवलम् ॥”

इन श्लोकोंमें बतलाया है कि ‘व्योमशिवाचार्य शैवसिद्धान्तमें स्वयं शिव, न्यायमें असापाद, वैशेषिक शास्त्रमें कणाद, मीमांसामें जैमिनि, साम्प्रत्यमें कपिल, चार्वाकशास्त्रमें बृहस्पति, बुद्धमतमें बुद्ध तथा जिनमतमें स्वयं जिनके समान थे । अधिक क्या; अतीतानागतवर्तमानवर्ती यावत् प्रमेयोकी अपनी सम्म-दर्शनसम्पत्तिसे स्पष्ट देखने जानने वाले सर्वज्ञ थे । और ऐसा मालूम होता था कि मात्र विषमनेत्र (तृतीयनेत्र) तथा रौद्रदरीर को धारण किए बिना वे पृथ्वी पर दूसरे शकर भगवान् ही अवतरे थे । इनके गगनेश, व्योमशम्भु व्योमेश, गगनशशिमील आदि भी नाम थे ।

शिलालेखके आधारसे समय-व्योमशिवके पूर्ववर्ती चतुर्थगुरु पुरन्दरके अवन्तिवर्मा राजा अपने नगरमें ने गया था । अवन्तिवर्मके चाँदीके सिक्के पर “विजितायनिरवनिपति. श्री अवन्तिवर्मा दिव

॥ प्राचीन लेखमाला द्वि० भाग, शिलालेख न० १०८ ।

† “यस्माधुनापि विबुधैरिति वृत्त्यशसि व्याहृत्यते न वचनं नयमार्गविद्वि ॥”

‡ “अस्य व्योमपदादिमन्त्ररचनाख्याताभिधानस्य च ।”—बापीप्रशस्ति

जयति" लिखा रहना है तथा सवत् २५० पड़ा गया है ॥ यह सवत् सम्भवतः गुप्त सवत् है। डॉ० फ्लीट्के मतानुसार गुप्तसवत् ई० सन् ३२० की २६ फरवरी को प्रारम्भ होता है †। अतः ५७० ई० में अवन्तिवर्मा अपनी युद्धाक्रान्ति प्रचलित करना इतिहाससिद्ध है। इस समय अवन्तिवर्मा राज्य कर रहे होंगे। तथा ५७० ई० के आसपास ही वे पुरन्दरपुर के अपने राज्य में आए होंगे। वे अवन्तिवर्मा मोहरी-वर्धन राजा थे। वे होने के कारण शिवोपासक पुरन्दरपुर के अपने यहाँ लाना भी इनका ठीक ही था। इनके समय के सम्बन्ध में दूसरा प्रमाण यह है कि—वैसवर्धन राजा हर्षवर्धन की छोटी बहिन राज्यश्री अवन्तिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा की विवाही गई थी। हर्षवर्मा जन्म ई० ५९० में हुआ था। राज्यश्री उससे १ या २ वर्ष छोटी थी। ग्रहवर्मा हर्षसे ५-६ वर्ष बड़ा जरूर होगा। अतः उसका जन्म ५८४ ई० के करीब मानना चाहिए। इसका राज्यकाल ई० ६०० से ६०६ तक रहा है। अवन्तिवर्मा का यह इकलौता लड़का था। अतः मालूम होता है कि ई० ५८४ में अर्थात् अवन्तिवर्मा की इच्छा से अवस्थामे यह पैदा हुआ होगा। अतः यहाँ तो इतना ही प्रयोजन है कि ५७० ई० के आसपास ही अवन्तिवर्मा पुरन्दर के अपने यहाँ ले गए थे।

यद्यपि सन्यासियों की शिष्य परम्परा के लिए प्रत्येक पीढ़ी का समय २५ वर्ष मानना आवश्यक नहीं है; क्योंकि कभी कभी २० वर्षों में ही शिष्य प्रशिक्षण की परम्परा चल जाती है। फिर भी यदि प्रत्येक पीढ़ी का समय २५ वर्ष ही मान लिया जाय तो पुरन्दर से तीन पीढ़ी के बाद हुए व्योमशिव का समय सन् ६७० के आसपास सिद्ध होता है।

दार्शनिक ग्रन्थों के आधार से समय—व्योमशिव स्वयं ही अपनी व्योमवती टीका (पृ० ३९२) में श्रीहर्ष का एक महत्त्वपूर्ण ढंग से उल्लेख करते हैं। यथा—

"अत एव मदीय शरीरमित्यादिप्रत्ययेष्वात्मानुरागसद्भावेऽपि आत्मनोऽवच्छेदकत्वम्। श्रीहर्षं देवकुलमिति ज्ञाने श्रीहर्षस्यैव उभयमापि बाधकसद्भावात्, यत्र ह्यनुरागसद्भावेऽपि विशेषणत्वे बाधकमस्ति तत्रावच्छेदकत्वमेव कल्प्यते इति। अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्। आत्मनि कर्तृत्वकरणत्वयोरसम्भव इति बाधकम्..."

यद्यपि इस सन्दर्भ का पाठ कुछ छूटा हुआ मालूम होता है फिर भी 'अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्' यह वाक्य वास्तविक रूप से ध्यान देने योग्य है। इससे साफ मालूम होता है कि श्रीहर्ष (606-647 A.D.) राज्य व्योमशिव के समय में विद्यमान थे। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि व्योमशिव श्रीहर्ष के बहुत बाद होकर भी ऐसा उल्लेख कर सकते हैं, परन्तु जब शिलालेख उसका समय ई० सन् ६७० के आसपास है तथा श्रीहर्ष की विद्यमानता का वे इस तरह जोर देकर उल्लेख करते हैं तब उनका कल्पना का स्थान ही नहीं मिलता।

व्योमवती का अन्तः रीक्षण—व्योमवती (पृ० ३०६, ३०७, ६८०) में धर्मकीर्तिके प्रमाणवातिक (१-११, १३ तथा १-६८, ७२) से कारिकाएँ उद्धृत की गई हैं। इसी तरह व्योमवती (पृ० ६१७) में धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दु प्रथमपरिच्छेदके "दिण्डिकराग परित्यज्य प्रसिन्धि निमील्य" इस वाक्य का प्रयोग पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रमाणवातिक की ओर भी बहुत सी कारिकाएँ उद्धृत देखी जाती हैं।

व्योमवती (पृ० ५९१, ५९२) में कुमारिलके श्रीमासा-श्लोकवार्तिक की अनेक कारिकाएँ उद्धृत हैं। व्योमवती (पृ० १२९) में उद्योतकर का नाम लिया है, भर्तृहरिके शब्दाद्वैतदर्शनका (पृ० २०) का खण्डन किया है और प्रमाकरके स्मृतिप्रमोषवाद का भी (पृ० ५४०) खण्डन किया गया है।

इनमें भर्तृहरि, धर्मकीर्ति, कुमारिल तथा प्रमाकर ये सब प्रायः समसामयिक और ईसावी सानवी शताब्दी के विद्वान् हैं। उद्योतकर छठी शताब्दी के विद्वान् हैं। अतः व्योमशिव के द्वारा इन समसामयिक एवं किचित्पूर्ववर्ती विद्वानों का उल्लेख तथा समालोचन का होना सगन ही है। व्योमवती (पृ० १५) में बाण की कादम्बरी का उल्लेख है। बाण हर्ष की समाधि विद्वान् थे, अतः इसका उल्लेख भी होना ठीक ही है।

॥ देवी, भारत के प्राचीन राजवंश, द्वि० भाग पृ० ३७५।

† देवी, भारत के प्राचीन राजवंश, द्वितीय भाग पृ० २२९।

व्योमवती टीकाका उल्लेख करनेवाले परवर्ती ग्रन्थकारोंमें शान्तरक्षित, विद्यानन्द, जयन्त, वाचस्पति, सिद्धपि, श्रीधर, उदयन, प्रभाचन्द्र, वादिराज, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र तथा गुणरत्न, विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं।

शान्तरक्षितने वैशेषिक सम्मत पदपदार्थोंकी परीक्षा की है। उसमें वे प्रशस्तपादके साथ ही साथ शकरस्वामी नामक भैयाधिकका मत भी पूर्वपक्षरूपसे उपस्थित करते हैं। परन्तु जब हम ध्यानसे देखते हैं तो उनके पूर्वपक्षमें प्रशस्तपादव्योमवतीके शब्द स्पष्टतया अपनी छाप मारते हुए नजर आते हैं। (तुलना-तत्त्वसंग्रह पृ० २०६ तथा व्योमवती पृ० ३४३)। तत्त्वसंग्रहकी पंक्ति (पृ० २०६) में व्योमवती (पृ० १२९) के स्वकारणसमवाय तथा सत्तासमवायरूप उत्पत्तिके लक्षणका उल्लेख है। शान्तरक्षित तथा उनके शिष्य कमलशीलका समय ई० की आठवीं शताब्दिका पूर्वार्द्ध है। (देखो, तत्त्वसंग्रहकी भूमिका पृ० ३०१)

विद्यानन्द आचार्यने अपनी आप्तपरीक्षा (पृ० २६) में व्योमवती टीका (पृ० १०७) से समवायके लक्षणकी समस्त पदवृत्त्य उद्धृत की है। 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यका लक्षण है' व्योमवती (पृ० १४९) के इस मन्तव्यकी समालोचना भी आप्तपरीक्षा (पृ० ६) में की गई है। विद्यानन्द ईसाकी नवम शताब्दीके पूर्वार्द्धवर्ती है।

जयन्तकी न्यायमञ्जरी (पृ० २३) में व्योमवती (पृ० ६२१) के अनर्थजत्वात् स्मृतिकी अप्रमाण माननेके सिद्धान्तका समर्थन किया है, साथही पृ० ६५ पर व्योमवती (पृ० ५५६) के फलविशेषणपक्षको स्वीकारकर कारकसामग्रीको प्रमाणमाननेके सिद्धान्तका अनुसरण किया है। जयन्तका समय हम आगे ईसाकी ९वीं शताब्दीका पूर्वभाग सिद्ध करेंगे।

वाचस्पति मिश्र अपनी तात्पर्यटीका में (पृ० १०८) प्रत्यक्षलक्षणसूत्रमें 'यत्' पदका अध्याहार करते हैं तथा (पृ० १०२) लिंगपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं। व्योमवतीटीकामें (पृ० ५५६) 'यत्' पदका प्रयोग प्रत्यक्षलक्षणमें किया है तथा (पृ० ५६१) लिंगपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि भी कहा है। वाचस्पति मिश्रका समय ८४१ A.D. है।

प्रभाचन्द्र आचार्यने भोक्षनिरूपण (प्रमेयकमलभातपद पृ० ३०७) आत्मस्वरूपनिरूपण (न्याय-कुमुदचन्द्र पृ० ३४९, प्रमेयकमलमा० पृ० ११०) समवायलक्षण (न्यायकुमु० पृ० २९५, प्रमेयकमलमा० पृ० ६०४) आदिमें व्योमवती (पृ० २०, ३९३, १०७) का पर्याप्त सहारा लिया है। स्वसवेदनसिद्धिमें व्योमवतीके ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाक्यका खटन भी किया है।

श्रीधर तथा उदयनाचार्यने अपनी कन्दली (पृ० ४) तथा किरणावलीमें व्योमवती (पृ० २० क) के 'नवानामानविशेषगुणानां सत्तानोऽन्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात् यथा प्रदीपसन्तानः।' इस अनुमानको 'तादिका' तथा आचार्या' शब्दके साथ उद्धृत किया है। कन्दली (पृ० २०) में व्योमवती (पृ० १४९) के 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यत्वेन योग' इस मतकी समालोचना की गई है। इसी तरह कन्दली (पृ० १८) में व्योमवती (पृ० १२९) के अनित्यत्वं तु प्रागभावप्रध्वसाभावोपलक्षिता वस्तुसत्ता।' इस अनित्यत्वके लक्षणका खण्डन किया है। कन्दली (पृ० २००) में व्योमवती (पृ० ५९३) के 'अनुमान लक्षणमें विद्याके सामान्यलक्षणकी अनुवृत्ति करके सशयादिका व्यवच्छेद करना तथा स्मरणके व्यवच्छेदके लिये 'द्रव्यादिषु उत्पद्यते' इस पदका अनुवृत्ति करना' इन दो मतोंका समालोचन किया है। कन्दलीकार श्रीधरका समय कन्दलीके अन्तमें दिए गए "अधिकदशोत्तरनवशतशकाब्दे" पदके अनुसार ९१३ तक अर्थात् ९९१ ई० है। और उदयनाचार्यका समय ९८४ ई० है।

वादिराज अपने न्यायविनिश्चय विवरण (लिखित पृ० १११ B. तथा १११ A.) में व्योमवतीसे पूर्वपक्ष करते हैं। वादिदेवसूरि अपने स्माद्धादरत्नाकर (पृ० ३१८ तथा ४१८) में पूर्वपक्षरूपसे व्योमवतीका उद्धरण देते हैं।

सिद्धपि न्यायवाक्यतारवृत्ति (पृ० ९) में, हेमचन्द्र प्रमाणभूमिमांसा (पृ० ७) में तथा गुणरत्न अपनी पद्धत्योक्तिसमुच्चयकी वृत्ति (पृ० ११४ A.) में व्योमवतीके प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम रूप

प्रमाणत्रित्वकी वैशेषिकपरम्पराका पूर्वपक्ष करते हैं। इस तरह व्योमवतीकी सक्षिप्त तुलनासे ज्ञात हो सकता है कि व्योमवतीका जैनग्रन्थोंसे विशिष्ट सम्बन्ध है।

इस प्रकार हम व्योमशिवका समय दिला लेख तथा उनसे ग्रन्थोंसे उल्लेखोंके आधारसे ईस्वी सातवीं शताब्दीका उत्तर भाग अनुमान करते हैं। यदि ये आठवीं या नवमी शताब्दीके विद्वान् होते तो अपने समसामयिक शकराचार्य और शान्तरक्षित जैसे विद्वानोंका उल्लेख अवश्य करते। हम देखते हैं कि व्योमशिव शाकरवेदान्तका उल्लेख भी नहीं करते तथा विपर्यय ज्ञानके विषयमें अलौकिक रस्यति, स्मृतिप्रमोय आदिका खण्डन करने पर भी शकरके अनिवर्चनीयार्थस्थातिवादका नाम भी नहीं लेते। व्योमशिव जैसे बहुभुज एक संकड़ा मतमनान्तरोंका उल्लेख करनेवाले आचार्योंके द्वारा किसी भी अष्टम शताब्दी या नवम शताब्दीवर्ती आचार्योंके मतका उल्लेख न किया जाना ही उनके सप्तम शताब्दीवर्ती होनेका प्रमाण है।

अतः डॉ० कीयका इन्हें नवमी शताब्दीका विद्वान् लिखना तथा डॉ० एस० एन० दासगुप्ताका इन्हें छठी शताब्दीका विद्वान् बतलाना ठीक नहीं जँचता।

**श्रीधर और प्रभाचन्द्र**—प्रशस्तपाद भाष्यकी टीकाओंमें न्यायकन्दली टीकाका भी अपना अच्छा स्थान है। इसकी रचना श्रीधरने शक ६१३ ( ई० ६६१ ) में की थी। श्रीधराचार्य अपने पूर्व टीकाकार व्योमशिवका शब्दानुसरण करते हुए भी उनसे मतभेद प्रदर्शित करनेमें नहीं चूकते। व्योमशिव बुद्ध्यादि विशेष गुणोंकी सन्ततिके अत्यन्तोच्छेदको मोक्ष कहते हैं और उसकी सिद्धिके लिए 'सन्तानत्वात्' हेतुका प्रयोग करते हैं (प्रश० व्यो० पृ० २० क)। श्रीधर आत्मान्तिक अहितनिवृत्तिको मोक्ष मानकर भी उसकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त होनेवाले 'सन्तानत्वात्' हेतुको पार्थिवपरमाणुकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताते हैं (कन्दली पृ० ४)। आ० प्रभाचन्द्रने भी वैशेषिकोंकी मुक्तिका खण्डन करते समय न्यायकुमुद० (पृ० ८२६) और प्रमेयकमल० (पृ० ३१८) में 'सन्तानत्वात्' हेतुको पाकजपरमाणुओंकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताया है। इसी तरह और भी एकाधिकस्थलोंमें हम कन्दलीकी आभा प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर देखते हैं।

**वात्सायन और प्रभाचन्द्र**—न्यायसूत्रके ऊपर वात्सायनकृत न्यायभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दी समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें इनके न्यायभाष्यका कहीं न्यायभाष्य और कहीं भाष्य शब्दसे उल्लेख किया है। वात्सायनका नाम न लेकर सर्वत्र न्यायभाष्यकार और भाष्यकार शब्दोंमें ही इनका निर्देश किया गया है।

**उद्योतकर और प्रभाचन्द्र**—न्यायसूत्रके ऊपर न्यायवार्तिक ग्रन्थके रचयिता आ० उद्योतकर ई० ६ वीं सदी, अन्ततः सातवीं सदीके पूर्वपादके विद्वान् हैं। इन्होंने दिङ्नागके प्रमाण-समुच्चयके खंडनके लिए न्यायवार्तिक बनाया था। इनके न्यायवार्तिकका खंडन धर्मकीर्ति (ई० ६३५ के बाद) ने अपने प्रमाणवार्तिकमें किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सृष्टिकर्तृत्व प्रकरणके पूर्वपक्षमें (पृ० २६८) उद्योतकरके अनुमानोंको 'वार्तिकारेणापि' शब्दके साथ उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें एकाधिकस्थानोंमें 'उद्योतकर' का नामोल्लेख करके न्यायवार्तिकसे पूर्वपक्ष किए गए हैं। न्यायकुमुदचन्द्रके षोडशपदार्थवादका पूर्वपक्ष भी उद्योतकरके न्यायवार्तिकसे पर्याप्त पुष्टि पाया है। "पूर्ववच्छेषवत्" आदि अनुमानसूत्रकी वार्तिकारकृत

विविध व्याख्याएँ भी प्रमेयकमलमार्तण्डमें संडित हुई हैं। वार्तिककारकृत साधकतमत्वका “भावाभावयोस्तद्वत्ता” यह लक्षण प्रमेयकमलमार्तण्डमें प्रमाणरूपसे उद्धृत है।

**भट्ट जयन्त और प्रमाचन्द्र**—भट्टजयन्त जरन्नेयायिकके नामसे प्रसिद्ध थे। इन्होंने न्यायसूत्रोंके आधारसे न्यायकलिका, और न्यायमञ्जरी ग्रन्थ लिखे हैं। न्यायमञ्जरी तो कतिपय न्यायसूत्रोंकी विशद व्याख्या है। अब हम भट्टजयन्तके समयका विचार करते हैं—

जयन्तकी न्यायमञ्जरीका प्रथम संस्करण विजयनगर सौरीजमें सन् १८९५ में प्रकाशित हुआ है। इसके संपादक म० म० गंगाधर शास्त्री मानवल्ली हैं। उन्होंने भूमिकामें लिखा है कि—“जयन्तभट्टका गणेशोपाध्यायने उपमानचिन्तामणि (पृ० ६१) में जरन्नेयायिक शब्दसे उल्लेख किया है, तथा जयन्तभट्टने न्यायमञ्जरी (पृ० ११२) में वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्य टीकासे “जात च सम्बद्ध चेत्येकः कालः” यह वाक्य ‘आचार्य’ करके उद्धृत किया है। अतः जयन्तका समय वाचस्पति (841 A. D.) से उत्तर तथा गणेश (1175 A. D.) से पूर्व होना चाहिये।” इन्हींका अनुसरण करके न्यायमञ्जरीके द्वितीय संस्करणके सम्पादक प० सूर्यनारायणजी शुक्लने, तथा ‘संस्कृतसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास’के लेखकोंने भी जयन्तको वाचस्पतिका परवर्ती लिखा है। स्व० डॉ० शशीशचन्द्र विद्याभूषण भी उक्त वाक्यके आधार पर इनका समय ९ वींसे ११ वीं शताब्दी तक मानते थे। अतः जयन्तकी वाचस्पतिका उत्तरकालीन माननेकी परम्पराका आधार म० म० गंगाधर शास्त्री द्वारा ‘जात च सम्बद्ध चेत्येकः कालः’ इस वाक्यको वाचस्पति मिश्रका लिख देना ही मालूम होता है। वाचस्पति मिश्रने अपना समय ‘न्यायसूचीनिबन्ध’ के अंतमें स्वयं दिया है। यथा—

“न्यायसूचीनिबन्धोऽयमकारि सुधियां भूदे। श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्त्वकवसुवत्सरे।”

इस श्लोकमें ८९८ वत्सर लिखा है।

म० म० विष्णुदेवरीप्रसादजीने ‘वत्सर’ शब्दसे शकसंवत् लिया है। डॉ० शशीशचन्द्र विद्याभूषण विक्रम मवत् लेते हैं। म० म० गोपीनाथ कविराज लिखते हैं कि ‘तात्पर्यटीका’ की परिशुद्धिटीका बनानेवाले आचार्य उदयनने अपनी ‘लक्षणावली’ शक स० ९०६ (984 A. D.) में समाप्त की है। यदि वाचस्पतिका समय शक स० ८९८ माना जाता है तो इतनी जल्दी उस पर परिशुद्धि जैसी टीका बन जाना संभव मालूम नहीं होता।

अतः वाचस्पति मिश्रका समय विक्रम संवत् ८९८ (811 A. D.) प्रायः सर्वसम्मत है। वाचस्पति मिश्रने वैशेषिक दर्शनको छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों पर टीकाएँ लिखी हैं। सर्वप्रथम इन्होंने मडनमिश्रके विधीवैक पर ‘न्यायकलिका’ नामकी टीका लिखी है, क्योंकि इनके दूसरे ग्रन्थोंमें प्रायः इसका निर्देश है। उसके बाद मडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिकी व्याख्या ‘ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा’ तथा तत्त्वबिन्दु; इन दोनों ग्रन्थोंका निर्देश तात्पर्य-टीकामें मिलता है, अतः उनके बाद ‘तात्पर्य टीका’ लिखी गई। तात्पर्य टीकाके साथही ‘न्यायसूची-निबन्ध’ लिखा होगा, क्योंकि न्यायसूत्रोंका निर्णय तात्पर्य-टीकामें अत्यन्त अपेक्षित है। ‘सांख्यतत्त्वकीमुदी’ में तात्पर्य टीका उद्धृत है, अतः तात्पर्य टीकाके बाद ‘सांख्यतत्त्वकीमुदी’ की रचना हुई। योगभाष्यकी तत्त्ववैशारदी टीकामें ‘सांख्यतत्त्वकीमुदी’ का निर्देश है, अतः निर्दिष्ट कीमुदीके बाद ‘तत्त्ववैशारदी’ रची गई। और इन सभी ग्रन्थोंका ‘आमती’ टीकामें निर्देश होनेसे ‘आमती’ टीका सबके अन्तमें लिखी गई है।

॥ हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १४६।

† न्यायवार्तिक भूमिका, पृ० १४५।

‡ हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १३३।

§ हिस्ट्री एंड विन्लोशाफी ऑफ दि न्याय-वैशेषिक Vol. III, पृ० १०१।

जयन्त वाचस्पति मिश्रके समकालीन युद्ध हैं—वाचस्पति मिश्र अपनी आद्यकृति 'न्याय-  
कणिका' के मङ्गलाचरणमें न्यायमञ्जरीवारको बड़े महत्वपूर्ण शब्दोंमें गुरुरूपसे स्मरण करते हैं। यथा:-

‘अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यामञ्जरीं रुचिराम् । प्रसन्निधे प्रभविधे विद्यातरवे नमो गुरवे ॥’

अर्थात्—जिनने अज्ञानतिमिरका नाश करनेवाली, प्रतिवादियोंका दमन करनेवाली, रुचिर न्यायमञ्जरीको जन्म दिया उन समर्थ विद्यातट गुरुको नमस्कार हो ।

इस श्लोकमें स्मृत ‘न्यायमञ्जरी’ भट्ट जयन्तकृत न्यायमञ्जरी जैसी प्रसिद्ध ‘न्यायमञ्जरी’ ही होनी चाहिये । अभी तब कोई दूसरी न्यायमञ्जरी तो सुनने में भी नहीं आई । जब वाचस्पति जयन्तको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं तब जयन्त वाचस्पति के उत्तरकालीन कैसे हो सकते हैं । यद्यपि वाचस्पतिने तात्पर्य-टीकामें ‘त्रिलोचनगुरुप्रीत’ इत्यादि पद देकर अपन गुरुरूपसे ‘त्रिलोचन’ का उल्लेख दिया है, फिर भी जयन्तको उनके गुरु अथवा गुरुसम होने में कोई वाधा नहीं है; क्योंकि एक व्यक्तिके अनेक गुरु भी हो सकते हैं ।

अभी तक ‘जातञ्च सम्बद्ध चेत्येकः काल’ इस वचनके आधार पर ही जयन्तको वाचस्पतिको उत्तरकालीन माना जाता है । पर, यह वचन वाचस्पतिकी तात्पर्य-टीकाका नहीं है, किन्तु न्यायवातिककार श्री उद्योतकरका है (न्यायवातिक पृ० २३६), जिस न्यायवातिक पर वाचस्पतिकी तात्पर्य-टीका है । इनका समय धर्मकीर्तिसे पूर्व होना निर्विवाद है ।

म० म० गोपीनाथ कविराज अपनी ‘हिस्ट्री एण्ड बिब्लोग्राफी ऑफ न्याय वैशेषिक लिटरेचर’ में लिखते हैं † कि—“वाचस्पति और जयन्त समकालीन होने चाहिये, क्योंकि जयन्तके ग्रन्थों पर वाचस्पतिकी कोई असर देखने में नहीं आता ।” ‘जातञ्च’ इत्यादि वाक्यके विषय में भी उन्होंने सन्देह प्रकट करते हुए लिखा है कि—“यह वाक्य किसी पूर्वाचार्य का होना चाहिये ।” वाचस्पतिके पहले भी शंकरस्वामी आदि नैयायिक हुए हैं, जिनका उल्लेख तत्त्वसंग्रह आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है ।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन मानकर न्यायमञ्जरी (पृ० १२०) में उद्धृत ‘भूतनानुमितोऽप्यर्थ’ इस वाक्यको टिप्पणीमें ‘भामती’ टीकाका लिख दिया है । पर वस्तुतः यह पद्य वाक्यपदीय (१-३४) का है और न्यायमञ्जरी की तरह भामती टीकामें भी उद्धृत ही है, मूलका नहीं है ।

न्यायमूलके प्रत्यक्ष-लक्षणसूत्र (१-१-४) की व्याख्यामें वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि—‘व्यवसायात्मक’ पदसे सविकल्पक प्रत्यक्षका ग्रहण करना चाहिये तथा ‘अव्यपदेश्य’ पदसे निविकल्पक ज्ञानका । संशयज्ञानका निराकरण तो ‘अव्यभिचारी’ पदसे ही ही जाता है, इसलिये संशयज्ञानका निराकरण करना ‘व्यवसायात्मक’ पदका मुख्य कार्य नहीं है । यह बात में ‘गुरुप्रीत मार्ग’ का अनुगमन करके कह रहा हूँ । इसी तरह कोई व्याख्याकार ‘अयमव्य’ इत्यादि शब्दसमूह ज्ञानकी उभयजज्ञान कहकर उसकी प्रत्यक्षताका निराकरण करनेके लिये अव्यपदेश्य पदकी सार्थकता बताते हैं । वाचस्पति ‘अयमव्य’ इस ज्ञानकी उभयजज्ञान में मानकर ऐन्द्रियक कहते हैं । और वह भी अपने गुरुके द्वारा उपदिष्ट इस वाक्यके आधार पर—

शब्दजत्वेन शब्दञ्चेत् प्रत्यक्ष चाज्ञजत्वात् । स्पष्टग्रहरूपत्वात् युक्तमेन्द्रियकं हि तत् ॥

इसलिये ये ‘अव्यपदेश्य’ पदका प्रयोजन निविकल्पका संग्रह करना ही बतलाते हैं ।

न्यायमञ्जरी (पृ० ७८) में ‘उभयजज्ञानका व्यवच्छेद करना अव्यपदेश्यपदका कार्य है’ इस मतका ‘आचार्याः’ इस शब्दके साथ उल्लेख किया गया है । उसपर व्याख्याकारकी अनुपपत्ति दिखाकर न्यायमञ्जरीकारने उभयजज्ञानका खंडन किया है ।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने इस 'आचार्या' पदके नीचे 'तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमित्रा' यह टिप्पणी की है। यहाँ यह विचारणीय है कि—यह मत वाचस्पति मित्र का है या अन्य किसी पूर्वाचार्यका। तात्पर्य टीका (पृ० १४८) में तो स्पष्ट ही उभयजज्ञान नहीं मानकर उसे ऐन्द्रियक कहा है। इसलिये वह मत वाचस्पतिका तो नहीं है। व्योमवती\* टीका (पृ० ५५५) में उभयजज्ञानका स्पष्ट समर्थन है, अतः यह मत व्योमशिवाचार्यका हो सकता है। व्योमवतीमें न केवल उभयजज्ञानका समर्थन ही है किन्तु उसका व्यवच्छेद भी अव्यपदेश्य पदसे किया है। हाँ, उसपर जो व्याख्याकार की अनुपपत्ति है वह कदाचित् वाचस्पतिभी तरफ लग सकती है, सो भी ठीक नहीं; क्योंकि वाचस्पतिन अपने गुरुकी जिस गाथाके अनुसार उभयजज्ञानकी ऐन्द्रियक माना है, उससे साफ मालूम होता है कि वाचस्पतिके गुरुके सामने उभयजज्ञानको माननेवाले आचार्य (सम्भवत व्योमशिवाचार्य) की परम्परा थी, जिसका खण्डन वाचस्पतिके गुरुने किया। और जिस खण्डनको वाचस्पतिने अपने गुरुकी गाथाका प्रमाण देकर तात्पर्य टीकामें स्थान दिया है।

इसी तरह तात्पर्य टीकाम (पृ० १०२) 'यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः, फलम्' इस भाष्यका व्याख्यान करते हुए वाचस्पति मित्रन उपादेयताज्ञानको 'उपादान' पदसे लिया है और उसका क्रम भी 'तोयालोचन, तोयविकल्प, दुष्टतज्जातीयसंस्कारोद्बोध, स्मरण, 'तज्जातीयञ्चेदम्' इत्याकारवपरामर्श, इत्यादि बताया है।

न्यायमञ्जरी (पृ० ६६) में इसी प्रकरणमें बाङ्का की है कि—प्रथम आलोचन ज्ञानका फल उपादानादिबुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें कई क्षणोंका व्यवधान पड़ जाता है? इसका उत्तर देते हुए मञ्जरीकारने 'आचार्या' शब्द लिखकर उपादेयताज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं इस मतका उल्लेख किया है। इस 'आचार्या' पद पर भी म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने 'न्यायवार्तिक तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमित्रा' ऐसा टिप्पण किया है। न्यायमञ्जरीके द्वितीय संस्करणके संपादक प० सूर्यनारायणजी न्यायाचार्यने भी उन्हींका अनुसरण करके उसे बड़े टाइपमें हेडिंग देकर छपाया है। मञ्जरीकारने इस मतके बाद भी एक व्याख्याताका मत दिया है जो इस परामर्शात्मक उपादेयता ज्ञानको नहीं मानता। यहाँ भी यह विचारणीय है कि—यह मत स्वयं वाचस्पतिका है या उनके पूर्ववर्ती उनके गुरुका? यद्यपि यहाँ उन्होंने अपने गुरुका नाम नहीं लिया है, तथापि जब व्योमवती† जैसी प्रगल्भतापदकी प्राचीन टीका (पृ० ५६१) में इसका स्पष्ट समर्थन है, तब इस मतकी परम्परा भी प्राचीन ही मानना होगी। और 'आचार्या' पदसे वाचस्पति न लिए जाकर व्योमशिव जैसे कोई प्राचीन आचार्य लेना होये। मालूम होता है म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने "ज्ञातञ्च सम्बद्धञ्चेत्येक काल" इस वचनको वाचस्पतिका माननेके कारण ही उक्त दो स्थलों में 'आचार्या' पद पर 'वाचस्पतिमित्रा' ऐसी टिप्पणी कर दी है, जिसकी परम्परा चलती रही। हाँ, म० म० गोपीनाथ कविराजने अवश्य ही उसे सन्देह कीटिमैं रखा है।

भट्ट जयन्तकी समयावधि—जयन्त मञ्जरीमें धर्मकीतिके मतकी समालोचनाके साथ ही साथ उनके टीकाकार धर्मांतरकी आदिवाक्यकी चर्चाकी स्थान देते हैं। तथा प्रज्ञाकरपुस्तके 'एकमेवैव ह्यव्यापार-

\* 'न, इन्द्रियसहकारिणा शब्देन यज्जग्यते तस्य व्यवच्छेदार्थत्वात्, तथा ह्यनुक्तसमयो रूप पश्यन्नपि चक्षुषा रूपमिति न जानीते रूपमितिशब्दोच्चारणानन्तर प्रतिपलत इत्युभयज ज्ञानम्, ननु च शब्देन्द्रिययोरेकस्मिन् काले व्यापाराऽसम्भवादयुक्तमेतत् । तथाहि मनसाप्रतिष्ठितं न श्रोत्र शब्द गृह्णाति पुन क्रिया क्रमेण चक्षुषा सम्बन्धे सति रूपग्रहणम् । च शब्दज्ञानस्येतावत्कालमवस्थान सम्भवतीति कथमुभयज ज्ञानम् ? अत्रैका श्रोत्रसम्बद्धे मनसि क्रियोत्पत्ता विभागमारभते तत स्वज्ञानसहायशब्दसहकारिणा चक्षुषा रूपज्ञानमुत्पद्यते इत्युभयज ज्ञानम् । यदि वा भवत्येवोभयज ज्ञानम् ।"—प्रश्न० व्यो० पृ० ५५५ ।

† "द्रव्यादिजातीयस्य पूर्वं सुखदुःखासाधनत्वोपलब्धं तज्ज्ञानानन्तरं यद्यत् द्रव्यादिजातीयं तत्तत्सुखसाधनमित्यविनाभावस्मरणम्, तथा चेद द्रव्यादिजातीयमिति परामर्शज्ञानम्, तस्मात् सुखसाधनमिति विनिश्चयं तत उपादेयज्ञानम् ।"—प्रश्न० व्यो० पृ० ५६१ ।

यनेकाकारविषयं पश्याम तत्र यथेष्ट सज्ञा क्रियन्ताम् ( भिक्षु राहुलजीवी वार्तिकालकारकी प्रेसकापी पृ० ४२९ ) इस वचनका खडन करते हैं, ( न्यायमजरी पृ० ७४ ) ।

भिक्षु राहुलजीन टिबेटियन ग्रन्थरम्भराके अनुसार धर्मकीतिवा समय ई० ६२५, प्रशाकरगुप्तका ७००, धर्मोत्तर श्रीर रविगुप्तका ७२५ ईस्वी लिया है । जयन्त एव जगह रविगुप्तका भी नाम लिया है । अतः जयन्तकी पूर्वावधि ७६० A D तथा उत्तरावधि ८४० A D होनी चाहिए । क्योंकि वाचस्पतिका न्यायसूचीनिबन्ध ८४१ A D में बनाया गया है इसके पहिले भी वे ब्रह्मसिद्धि, तत्त्वविदु श्रीर सा पर्यटीका लिखचुके हैं । संभव है कि वाचस्पतिने अपनी आसकृति न्यायकणिका ८१५ ई० के आसपास लिखी हो । इस न्यायकणिका में जयन्तकी न्यायमजरीका उल्लेख होनेसे जयन्तकी उत्तरावधि ८४० A D ही मानना समुचित ज्ञात होता है । यह समय जयन्तके पुत्र अभिनन्द द्वारा दी गई जयन्तकी पूर्वजावलीसे भी संगत बैठता है । अभिनन्द अपने कादम्बरी वयासारमे लिखते हैं कि—

“भारद्वाज कुलमे शक्ति नामका गोड ब्राह्मण था । उसका पुत्र मित्र, मित्रका पुत्र शक्तिस्वामी हुआ । यह शक्तिस्वामी कर्कोटबन्धके राजा मुक्तापीड ललितादित्यके मंत्री थे । शक्तिस्वामीके पुत्र कल्याणस्वामी कल्याणस्वामीके पुत्र चन्द्र तथा चन्द्रके पुत्र जय त हुए जो नववृत्तिकारके नामसे मशहूर थे । जयन्तके अभिनन्द नामका पुत्र हुआ ।

काश्मीरके कर्कोट वशीय राजा मुक्तापीड ललितादित्यका राज्य काल ७३३ से ७९८ A D तक रहा है। शक्तिस्वामी के, जो अपनी प्रौढ अवस्थामे मंत्री होंगे अपन मन्त्रित्वकालके पहिले ही ई० ७२० में कल्याणस्वामी उत्पन्न हो चुके होंगे । इसके अनन्तर यदि प्रत्येक पीढ़ीका समय २० वर्ष भी मान लिया जाय तो कल्याण स्वामीके ईस्वी सन ७४० में चन्द्र, चन्द्रके ई० ७६० में जयन्त उत्पन्न हुए श्रीर उन्होंने ईस्वी ८०० तकमे अपनी न्यायमजरी बनाई होगी । इसलिय वाचस्पतिके समयमे जयन्त वृद्ध होंगे श्रीर वाचस्पति इन्हे आदर की दृष्टिसे देखते होंगे । यही कारण है कि उन्होंने अपनी आसकृतिमे न्यायमजरीकारका स्मरण किया है ।

जयन्तके इस समयका समर्थक एक प्रबल प्रमाण यह है कि—हरिभद्रसूरिन अपन पददर्शनसमुच्चय (श्लो० २०) में न्यायमजरी ( विजयानगर स० पृ० १२९ ) के

“गम्भीरगजितारम्भनिमिगिरिगह्वरा । रोलम्भगवलध्यालतमालमलिनद्विष ॥

स्वङ्गसङ्घिलतासङ्घविशङ्कोत्तुङ्गविषहा । बृद्धि व्यभिचरन्तोह नैवप्राया पयोमुच ॥”

इन दो श्लोकाके द्वितीय पादोकी जैसाका तैसा शामिल कर लिया है । प्रसिद्ध इतिवृत्तज्ञ मुनि जिन विजयजीन जैन साहित्यसंशोधक ( भाग १ अथ १ ) में अनेक प्रमाणोंसे खासकर उद्योतनसूरिकी कुचलय माला कथामे हरिभद्रका गुरुत्पमे उल्लेख होनेके कारण हरिभद्रका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है । कुचलयमाला कथाकी समाप्ति शक ७०० ( ई० ७७८ ) में हुई थी । मेरा इस विषयमे इतना संशोधन है कि उस समयकी आयु स्थिति देखते हुए हरिभद्रकी निर्धारित आयु स्वल्प मालूम होगी है । उनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक माननेसे वे न्यायमजरीको देख सकेंगे । हरिभद्र जैसे संकटों प्रकरणोंके रचयिता विद्वानके लिए १०० वर्ष जीना अत्यावधिक नहीं हो सकता । अतः ई० ७१० से ८१० तक समयवाले हरिभद्रसूरिके द्वारा न्यायमजरीके श्लोकोका अपन ग्रन्थमे शामिल किया जाना जयन्तके ७६० से ८४० ई० तकके समयका प्रबल साधक प्रमाण है ।

आ० प्रभाचन्द्रने वात्सायनभाष्य एव न्यायवार्तिककी अपेक्षा जयन्तकी न्यायमजरी एव न्यायकणिकाकी ही अधिक परिशीलन एव समुचित उपयोग किया है । षोडशपदार्थके निरूपणमें जयन्तकी न्यायमजरीके ही शब्द अपनी आया दिखाते हैं । प्रभाचन्द्रको न्यायमजरी खम्यस्त



थी। वे कहीं कहीं मंजरीके ही शब्दोंको 'तथा चाह भाष्यकारः' लिखकर उद्धृत करते हैं। भूतचैतन्य-वादके पूर्वपक्षमें न्यायमञ्जरी में 'अपि च' करके उद्धृत की गई १७ कारिकाएँ न्यायकुमुदचन्द्रमें भी ज्योंकी त्यों उद्धृत की गई हैं। जयन्तके कारकसाकल्यका सर्वाग्रयम खण्डन प्रभाचन्द्रने ही किया है। न्यायमञ्जरीकी निम्नलिखित तीन कारिकाएँ भी न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत की गई हैं।

(न्यायकुमुद० पृ० ३३६) "ज्ञातं सम्यगसम्यग्ना यन्मोक्षाय भवाय वा ।

तत्प्रमेयमिहाभीष्टं न प्रमाणार्थमात्रकम् ॥" [न्यायमं० पृ० ४४७]

(न्यायकुमुद० पृ० ४६१) "भूयोऽवयवसमान्ययोगो यद्यपि मन्यते ।

सादृश्यं तस्य तु ज्ञप्तिः गृहीते प्रतियोगिनि ॥" [न्यायमं० पृ० १४६]

(न्यायकुमुद० पृ० ५११) "तन्वस्त्येष गृहद्वारवर्तिनः संगतिग्रहः ।

भावेनाभावसिद्धौ तु कथमेतद्विष्यति ॥" [न्यायमं० पृ० ३८]

इस तरह न्यायकुमुदचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें न्यायमञ्जरीका नाम लिखा जा सकता है।

**वाचस्पति और प्रभाचन्द्र**—पण्डितश्रीकाकार वाचस्पतिने अपना न्यायसूचीनिबन्ध ई० ८४१ में समाप्त किया था। इनने अपनी तात्पर्यटीका (पृ० १६५) में साख्यो के अनुमान के मात्रामात्रिक आदि सात भेद गिनाए हैं और उनका खण्डन किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४६२) में भी साख्योके अनुमानके इन्हीं सात भेदोंके नाम निर्दिष्ट है। वाचस्पतिने शाकरभाष्यकी भांति टीकामें अध्यासे अध्याके उल्लेख करने के लिए "यथा पथः पथोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति, विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा घातककरजो रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पाथः करोति..." इत्यादि दृष्टान्त दिए हैं। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्चण्ड (पृ० ६६) में इन्हीं दृष्टान्तों को पूर्वपक्ष में उपस्थित किया है। न्यायकुमुदचन्द्रके विधिवादके पूर्वपक्षमें त्रिधिविक के साथही साथ उसकी वाचस्पतिकृत न्यायकणिका टीकाका भी पर्याप्त सादृश्य पाया जाता है। वाचस्पतिके उक्त ई० ८४१ समयका साधक एक प्रमाण यह भी है कि इन्होंने तात्पर्यटीका (पृ० २१७) में शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रह (श्लो० २००) से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है— "नर्त्तकीभ्रूलताक्षेपो न होरुः पारमार्थिकः । अनेकाणुसमूहत्वात् एकत्वं तस्य कल्पितम् ॥" शान्तरक्षितका समय ई० ७६२ है।

**शबर ऋषि और प्रभाचन्द्र**—जैमिनिसूत्र पर शबरभाष्य लिखने वाले महर्षि शबरका समय ईसाकी तीसरी सदी तक समझा जाता है। शबरभाष्यके ऊपर ही कुमारिल और प्रभाकर ने व्याख्याएँ लिखी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने शब्दनिवृत्त्यनाद, वेदापौरुषेयत्वनाद आदिमें कुमारिल के श्लोकार्थिकके साथ ही साथ शबरभाष्य की दलीलो को भी पूर्वपक्षमें रखा है। शबरभाष्य से ही "गौरित्यत्र कः शब्दः ? गऊरौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः" यह उपवर्ष ऋषि का मत प्रमेयकमलमार्चण्ड (पृ० ४६४) में उद्धृत किया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७६) में शब्दको वायवीय माननेवाले शिक्षाकार भीमासकेका मत भी शबरभाष्यसे ही

उद्धृत हुआ है। इसके सिवाय न्यायकुमुदचन्द्र में शाबरभाष्यके कई वाक्य प्रमाणरूपमें और पूर्णपक्ष में उद्धृत किए गए हैं।

**कुमारिल और प्रभाचन्द्र**—महकुमारिलने शाबरभाष्य पर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका नामकी व्याख्या लिखी है। कुमारिलने अपने तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-२५३) में वाक्यपदीयके निम्नलिखित श्लोककी समालोचना की है—

“अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याप्यलक्षणम्।

अपूर्वदेयतास्वर्गः सममाहुर्गवादिषु ॥” [वाक्यप० २।१२१]

इसी तरह तन्त्रवार्तिक (पृ० २०६-१०) में वाक्यपदीय (१।७) के “तत्त्वावबोध शब्दाना नास्ति व्याकरणादृते” अश उद्धृत होकर खंडित हुआ है। मीमांसाश्लोकवार्तिक (वाक्याधिकरण श्लो० ५१) में वाक्यपदीय (२।१-२) में निर्दिष्ट दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका समालोचन किया गया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचना भी कुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकके स्फोटवादमें बड़ी प्रखरतासे की है। चीनी यात्री ह्वेनसांगने अपने यात्रा-विवरणमें भर्तृहरिका मृत्युसमय ई० ६५० बताया है। अतः भर्तृहरिके समालोचक कुमारिलका समय ईस्वी ७ वीं शताब्दी का उत्तर भाग मानना समुचित है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेय-कमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें सर्वज्ञवाद, शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, आगमादि-प्रमाणोंका विचार, प्रामाण्यवाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलके श्लोकवार्तिकसे पचासों कारिकाएँ उद्धृत की हैं। शब्दनित्यत्ववाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलकी युक्तियोंका सिलसिलेवार सप्रमाण उत्तर दिया गया है। कुमारिलने आत्माको व्यावृत्त्यनुगमात्मक या नित्यानित्यात्मक माना है। प्रभाचन्द्रने आत्माकी नित्यानित्यात्मकताका समर्थन करते समय कुमारिलकी “तस्मादुभय-हानेन व्यवृत्त्यनुगमात्मकः” आदि कारिकाएँ अपने पक्षके समर्थनमें भी उद्धृत की हैं। इसी तरह सृष्टिकर्तृत्वखंडन, ब्रह्मवादखंडन, आदिमें प्रभाचन्द्र कुमारिलके साथ साथ चलते हैं। सारांश यह है कि प्रभाचन्द्रके सामने कुमारिलका मीमांसाश्लोकवार्तिक एक विशिष्ट ग्रन्थके रूप में रहा है। इसीलिए इसकी आलोचना भी जमकर की गई है। श्लोकवार्तिक की भट्ट उम्बेक-कृत तात्पर्यटीका अभी ही प्रकाशित हुई है। इस टीकाका आलोचन भी प्रभाचन्द्रने खूब किया है। सर्वज्ञवादमें कुछ कारिकाएँ ऐसी भी उद्धृत हैं जो कुमारिलके मौजूदा श्लोकवार्तिकमें नहीं पाई जाती। समग्र है ये कारिकाएँ कुमारिलकी बृहट्टीका या अन्य किसी ग्रन्थ की हों।

**मंडनमिश्र और प्रभाचन्द्र**—आ० मंडनमिश्रके मीमांसानुक्रमखंडी, विधिधिवेक, मारना-विवेक, नैष्कर्म्यसिद्धि, ब्रह्मसिद्धि, स्फोटसिद्धि आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग है। आचार्य विद्यानन्दने (ई० ६ वीं शताब्दी का पूर्वभाग) अपनी अष्टसहस्रीमें मण्डनमिश्र का नाम लिया है। यत मण्डनमिश्र अपने ग्रंथोंमें सप्तमशताब्दीकी कुमारिलका नामोल्लेख करते हैं। अतः इनका समय ई० की सप्तमशताब्दीका अन्तिमभाग तथा

८ वीं सदी का पूर्वार्ध सुनिश्चित होता है। आ० प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४६) में मडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका “आहुर्विधात् प्रत्यक्षं” श्लोक उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५७२) में विधिवादके पूर्वपक्ष में मडनमिश्रके विधिविवेकमें वर्णित अनेक विधिवादियोंका निर्देश किया गया है। उनके मतनिरूपण तथा समालोचन में विधिविवेक ही आधारभूत मालूम होता है।

**प्रभाकर और प्रभाचन्द्र**—शाबरभाष्यकी बृहती टीकाके रचयिता प्रभाकर करीब करीब कुमारिलके समकालीन थे। भट्टकुमारिलका शिष्य परिवार माट्टके नामसे ख्यात हुआ तथा प्रभाकर के शिष्य प्रभाकर या गुरुमतानुयायी कहलाए। प्रभाकर विपर्ययज्ञानको स्मृतिप्रमोप या विवेकाख्याति रूप मानते हैं। ये अभावको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। वेदवाक्योका अर्थ नियोगपरक करते हैं। प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें प्रभाकरके स्मृतिप्रमोप, नियोगवाद आदि सभी सिद्धान्तों का निस्तृत खंडन किया है।

**शालिकनाथ और प्रभाचन्द्र**—प्रभाकरके शिष्योंमें शालिकनाथका अपना विशिष्ट स्थान है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। इन्होंने बृहतीके ऊपर श्रज्जुनिमला नाम की पत्रिका लिखी है। प्रभाकरगुरुके सिद्धान्तोंका विवेचन करनेके लिए इन्होंने प्रकरणपश्चिका नामका स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा है। ये अन्धकारको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते किन्तु ज्ञानानुत्पत्तिको ही अन्धकार कहते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २३८) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६६) में शालिकनाथके इस मतकी विस्तृत समीक्षा की है।

**शङ्कराचार्य और प्रभाचन्द्र**—आद्य शङ्कराचार्यके ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य आदि अनेकों ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय ई० ७८८ से ८२० तक माना जाता है। शाङ्करभाष्यमें धर्मकीर्तिके ‘सहोपलम्भनियमात्’ हेतुका खण्डन होनेसे यह समय समर्थित होता है। आ० प्रभाचन्द्रने शङ्करके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादकी समालोचना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें की है। न्यायकुमुदचन्द्रके परमब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें शाङ्करभाष्यके आधार से ही वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोषोका परिहार किया गया है।

**सुरेश्वर और प्रभाचन्द्र**—शङ्कराचार्यके शिष्योंमें सुरेश्वरचार्यका नाम उल्लेखनीय है। इनका नाम विश्वरूप भी था। इन्होंने तेत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, मानसोल्लास, पञ्चीकरणवार्तिक, काशीश्रुतिमोक्षनिचार, नैष्कर्म्यसिद्धि आदि ग्रन्थ बनाए हैं। आ० विद्यानन्द (ईसाकी ६ वीं शताब्दी) ने अष्टसहस्री (पृ० १६२) में बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकसे “ब्रह्माविद्यावदिष्टश्रेष्ठतु” इत्यादि वारिकाएँ उद्धृत की हैं। अतः इनका समय भी ईसाकी ६ वीं शताब्दीका पूर्वभाग होना चाहिए। ये शङ्कराचार्य (ई० ७८८ से ८२०) के साक्षात् शिष्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४४-४५)

तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४१) में ब्रह्मनादके पूर्वपक्षमें इनके बृहदाण्यकोपनिषद्वाच्य वार्तिक (३।५।४३-४४) से “यथा विशुद्धमाकाशं” आदि दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

**भामह और प्रभाचन्द्र**—भामहका काव्यालङ्कार ग्रन्थ उपलब्ध है। शान्तरक्षितने तत्त्वसमग्रह (पृ० २६१) में भामहके काव्यालङ्कारकी अपोहखण्डन वाली “यदि गौरित्यय शब्द.” आदि तीन कारिकाओंकी समालोचनाकी है। ये कारिकाएँ काव्यालङ्कारके ६ वें परिच्छेद (श्लो० १७-१९) में पाई जाती हैं। तत्त्वसमग्रहकारका समय ई० ७०५-७६२ तक सुनिर्णीत है। बौद्धसम्मत प्रत्यक्षके लक्षणका खण्डन करते समय भामहने (काव्यालङ्कार ५।६) दिङ्नागके मात्र ‘कल्पनापोढ’ पदवाले लक्षणका खण्डन किया है, धर्मकीर्तिके ‘कल्पनापोढ और अभ्रान्त’ उभयविशेषणवाले लक्षणका नहीं। इससे ज्ञात होता है कि भामह दिङ्नागके उत्तरवर्ती तथा धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती हैं। अन्ततः इनका समय ईसाकी ७ वीं शताब्दी का पूर्वभाग है। आ० प्रभाचन्द्रने अपोहवादका खण्डन करते समय भामहकी अपोहखण्डन-विषयक “यदि गौरित्यय” आदि तीनों कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४३२) में उद्धृत की हैं। यह भी संभव है कि ये कारिकाएँ सीधे भामहके ग्रन्थसे उद्धृत न होकर तत्त्वसमग्रहके द्वारा उद्धृत हुई हों।

**बाण और प्रभाचन्द्र**—प्रसिद्ध गद्यकाव्य कादम्बरीके रचयिता बाणभट्ट, सम्राट् हर्षवर्धन (राज्य ६०६ से ६४८ ई०) की सभाके कविरत्न थे। इन्होंने हर्षचरितकी भी रचना की थी। बाण, कादम्बरी और हर्षचरित दोनों ही ग्रन्थोंको पूर्ण नहीं कर सके। इनकी कादम्बरीका आधरलोक “रजोजुषे जन्मनि सस्वयुत्तये” प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २६८) में उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने वेदापौरुषेयत्वप्रकरणमें (प्रमेयक० पृ० ३६३) कादम्बरीके कर्तृत्वके विषयमें सन्देहात्मक उल्लेख किया है—“कादम्बर्यादीना कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः”—अर्थात् कादम्बरी आदिके कर्त्ताके विषयमें विवाद है। इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रके समयमें कादम्बरी आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता विवादग्रस्त थे। हम प्रभाचन्द्रका समय आगे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध करेंगे।

**माघ और प्रभाचन्द्र**—शिष्टपालबध काव्यके रचयिता माघ कविका समय ई० ६६०-६७५ के लगभग है। माघकविके पितामह सुप्रभदेव राजा वर्मलातके मन्त्री थे। राजा वर्मलात का उल्लेख ई० ६२५ के एक शिलालेखमें विद्यमान है अतः इनके नाती माघ कविका समय ई० ६७५ तक मानना समुचित है। प्रभाचन्द्रने माघकाव्य (१।२३) का “युगान्तकाल-प्रतिसहस्रात्मनो...” श्लोक प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ६८८) में उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रने माघकाव्यको देखा था।

## ( अवैदिकदर्शन )

अथघोष और प्रभाचन्द्र—अथघोषका समय ईसाका द्वितीय शतक माना जाता है । इनके बुद्धचरित और सौन्दरनन्द दो महाकाव्य प्रसिद्ध हैं । सौन्दरनन्दमें अथघोषने प्रसङ्गत बौद्धदर्शनके कुछ पदार्थोंका भी सारगर्भ विवेचन किया है । आ० प्रभाचन्द्रने शून्यनिर्वाणवादका खडन करते समय पूर्वपक्षमें ( प्रमेयक० पृ० ६८७ ) सौन्दरनन्दकाव्यसे निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किए हैं—

“क्षीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैयावाग्निं गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिश न काञ्चिद् विदिश न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥

जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैयावाग्निं गच्छति नान्तरिक्षम् ।

विश न काञ्चिद्विदिश न काञ्चित्क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥”

[ सौन्दरनन्द १६।२८, २९ ]

नागार्जुन और प्रभाचन्द्र—नागार्जुन की माध्यमिककारिका और विग्रहव्यावर्तिनी दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं । ये ईसाकी तीसरी शताब्दीके विद्वान् हैं । इन्हें शून्यवादके प्रस्थापक होनेका श्रेय प्राप्त है । माध्यमिककारिकामें इन्होंने निरुत परीक्षाएँ लिखकर शून्यवादको दार्शनिक रूप दिया है । विग्रहव्यावर्तिनी भी इसी तरह शून्यवादका समर्थन करनेवाला छोटा प्रकरण है । प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० १३२ ) में माध्यमिकके शून्यवादका खडन करते समय पूर्वपक्षमें प्रमाणवार्तिककी कारिकाओंके साथ ही साथ माध्यमिककारिकासे भी ‘न स्वतो नापि परतः’ और ‘यथा मया यथा स्वप्नो’ ये दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं ।

वसुबन्धु और प्रभाचन्द्र—वसुबन्धुका अभिधर्मकोश ग्रन्थ प्रसिद्ध है । इनका समय ई० ४०० के करीब माना जाता है । अभिधर्मकोश बहुत अंशमें बौद्धदर्शनके सूत्रग्रन्थका कार्य करता है । प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ३१० ) में वैभाषिक सम्मत द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पादका खडन करते समय प्रतीत्यसमुत्पादका पूर्वपक्ष वसुबन्धुके अभिधर्मकोशके आधारसे ही लिखा है । उसमें यथावसर अभिधर्मकोशसे २।३ कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं । देखो—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३६५ ।

दिग्नाग और प्रभाचन्द्र—आ० दिग्नागका स्थान बौद्धदर्शनके विशिष्ट सस्थापकोंमें है । इनके न्यायप्रवेश, और प्रमाणसमुच्चय प्रकरण मुद्रित हैं । इनका समय ई० ४२५ के आसपास माना जाता है । प्रमाणसमुच्चयमें प्रत्यक्षका कल्पनापोष लक्षण किया है । इसमें अभ्रान्तपद धर्मकीर्तिने जोड़ा है । इन्हींके प्रमाणसमुच्चय पर धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक रचा है । भिक्षु राहुलजीने दिग्नाग के आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, और हेतुचक्राडमरु आदि ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है । आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड ( पृ० ८० ) में

‘स्तुतश्च अद्वैतादिप्रकरणानामादौ दिग्नागादिभिः सद्भिः’ लिखकर प्रमाणसमुच्चयका ‘प्रमाणभूताय’ इत्यादि मगलरलोकाश उद्धृत किया है। इसी तरह अपोहवादके पूर्वपक्ष (प्रमेयक० पृ० ४३६) में दिग्नागके नामसे निम्नलिखित गद्यांश भी उद्धृत किया है—  
 “दिग्मागेन विशेषणविशेष्यभावसमर्थनार्थम् ‘नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः’ इत्युक्तम्।”

**धर्मकीर्ति और प्रभाचन्द्र**—बौद्धदर्शनके युगप्रधान आचार्य धर्मकीर्ति इसाकी ११ वीं शताब्दीमें नालन्दाके बौद्धनिवासीपीठके आचार्य थे। इनकी लेखनीने भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें एक युगान्तर उपस्थित कर दिया था। धर्मकीर्तिने वैदिकसंस्कृति पर दृढ़ प्रहार किए हैं। यद्यपि इनका उद्धार करनेके लिए व्योमशिव, जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, उदयन आदि आचार्योंने कुछ उठा नहीं रखा। पर बौद्धोंके खडगमें जितनी कुशलता तथा सतर्कतासे जैनआचार्योंने लक्ष्य दिया है उतना अन्यने नहीं। यही कारण है कि अकलङ्क, हरिमद्र, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि आदिके जैनन्यायशास्त्रके ग्रन्थोंका बहुभाग बौद्धोंके खडगने ही रोक रखा है। धर्मकीर्तिके विषयमें मैं विशेष ऊहापोह “अकलङ्कग्रन्थत्रय” की प्रस्तावना (पृ० १८-) में कर आया हूँ। इनके प्रमाणवार्तिक, हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका प्रभाचन्द्रको गहरा अभ्यास था। इन ग्रन्थों की अनेकों कारिकाएँ, खासकर प्रमाणवार्तिक की कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें उद्धृत हैं। मालूम होता है कि सम्बन्धपरीक्षाकी अथ से इति तरु २३ कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सम्बन्धवादके पूर्वपक्ष में ज्यों की त्यों रखी गई हैं, और खण्डित हुई हैं। विद्यानन्दके तत्त्वार्थरत्नकोशवार्त्तिक में इसकी कुछ कारिकाएँ ही उद्धृत हैं। वादन्यायका “हसति हसति स्वामिनि” आदि श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत है। सवेदनद्वैतके पूर्वपक्षमें धर्मकीर्तिके ‘सहोपलम्भनियमात्’ आदि हेतुओंका निर्देश कर बहुनिध विकल्पजालोंसे खण्डन किया गया है। वादन्यायकी “असाधनाङ्गवचनमदो योद्गायन द्वयोः” कारिकाका और इसके निनिध व्याख्यानोंका समुक्तिक उत्तर प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दिया गया है। इन सब ग्रन्थोंके अवतरण और उनसे की गई तुलना न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें देखनी चाहिए।

**प्रज्ञाकरगुप्त और प्रभाचन्द्र**—धर्मकीर्तिके व्याख्याकारोंमें प्रज्ञाकरगुप्तका अपना खास स्थान है। उन्होंने प्रमाणवार्तिक पर प्रमाणवार्तिकालङ्कार नामकी विस्तृत व्याख्या लिखी है। इनका समय भी ईसाकी ७ वीं शताब्दीका अन्तिम भाग और आठवींका प्रारम्भिक भाग है। इनकी प्रमाणवार्तिकालङ्कार टीका वार्तिकालङ्कार और अलङ्कारके नामसे भी प्रख्यात रही है। इन्हींके वार्तिकालङ्कारसे भाजना विधि नियोगकी विस्तृत चर्चा विद्यानन्दके ग्रन्थों द्वारा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें अन्तीर्ण हुई है। इतना विशेष है कि—विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने प्रज्ञाकरगुप्तकृत भावना विधि आदिके खडगका भी स्थान स्थान पर विशेष समालोचन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३८०) में प्रज्ञाकरके भाविकारणवाद और भूतकारणवादका उल्लेख तथा

प्रज्ञाकरका नाम देकर किया गया है। प्रज्ञाकरगुप्तने अपने इस मतका प्रतिपादन प्रमाणवार्तिकालङ्कार में ही किया है<sup>१</sup>। भिक्षु राहुलसाकल्याणके पास इसकी हस्तलिखित कापी है। प्रभाचन्द्रने धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह उनके शिष्य प्रज्ञाकरके वार्तिकालङ्कारका भी आलोचन किया है।

प्रभाचन्द्रने जो ब्राह्मणत्वजातिका खण्डन लिखा है, उसमें शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहके साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिकालङ्कारका भी प्रभाव मालूम होता है। ये बौद्धाचार्य अपनी संस्कृतिके अनुसार सदैव जातिवाद पर खड्गहस्त रहते थे। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके निम्नलिखित श्लोकमें जातिवादके मदको जड़ताका चिह्न बताया है—

“वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादायलेपः।

सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये ॥”

उत्तराध्वयनसूत्रमें ‘कम्मुणा बहणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ’ लिखकर कर्मणा जातिना स्पष्ट समर्थन किया गया है।

दि० जैनाचार्योंमें बराह्मचरित्रके कर्ता जयासिंहनन्दिने बराह्मचरित्रके २५ वें अध्यायमें ब्राह्मणत्वजातिका निरास किया है। और भी रणियेण, अमितागति आदिने जातिवादके खिलाफ थोड़ा बहुत लिखा है पर तर्कग्रन्थोंमें सर्वप्रथम हम प्रभाचन्द्रके ही ग्रन्थोंमें जन्मना जातिना सयुक्तिक खण्डन यथेष्ट विस्तारके साथ पाते हैं।

**कर्णकगोमि और प्रभाचन्द्र**—प्रमाणवार्तिकके तृतीयपरिच्छेद पर धर्मकीर्तिकी खोपज्ञवृत्ति भी उपलब्ध है। इस धृतिपर कर्णकगोमिकी निस्तृत टीका है। इस टीकामें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कारका ‘अलङ्कार’ शब्दसे उल्लेख है। इसमें मण्डनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका ‘आहु-रिधातृ’ श्लोक उद्धृत है। अतः इनका समय ई० = बी० सदीका पूर्वार्ध संभव है। न्यायकुमुदचन्द्रके शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, स्फोटवाद आदि प्रकरणों पर कर्णकगोमिकी खड्गवृत्ति-टीका अपना पूरा असर रखती है। इसके अवतरण इन प्रकरणोंके टिप्पणोंमें देखना चाहिये।

**शान्तरक्षित, कमलशील और प्रभाचन्द्र**—तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित तथा तत्त्वसंग्रह-पक्षिकाके रचयिता कमलशील नालन्दाविश्वविद्यालयके आचार्य थे। शान्तरक्षितका समय ई० ७०५ से ७६२ तथा कमलशीलका समय ई० ७१३ से ७६३ है। शान्तरक्षितकी अपेक्षा कमलशीलकी प्रामादिक प्रसादगुणमयी भाषाने प्रभाचन्द्रको अत्यधिक आकृष्ट किया है। यों तो प्रभाचन्द्रके प्रायः प्रत्येक प्रकरणपर कमलशीलकी पक्षिका अपना उन्मुक्त प्रभाव रखती है पर इसके लिए पट्पदार्थपरीक्षा, शब्दब्रह्मपरीक्षा, ईश्वरपरीक्षा, प्रकृतिपरीक्षा, शब्दनित्यत्वपरीक्षा आदि परीक्षाएँ खासतौरसे द्रष्टव्य हैं। तत्त्वसंग्रहकी सर्वज्ञपरीक्षामें कुमारिलकी पचासो कारिकाएँ उद्धृत कर पूर्णपक्ष किया गया है। इनमेंसे अनेकों कारिकाएँ ऐसी हैं जो कुमारिलके श्लोक-

१ इसके अवतरण अकलक ग्रन्थत्रयकी प्रस्तावना पृ० २७ में देkhना चाहिए।

२ इन आचार्योंके ग्रन्थोंके अवतरणके लिए देखो न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ टि० १।

३ देखो तत्त्वसंग्रहकी प्रस्तावना पृ० Xcvi

वार्तिकमें नहीं पाई जाती। कुछ ऐसी ही कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके प्रमेयक्रमलमार्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्द्रमें भी उद्धृत हैं। समझ है कि ये कारिकाएँ कुमारिलके ग्रन्थसे न लेकर तत्त्वसमग्रसे ही ली गई हों। तात्पर्य यह कि प्रभाचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें तत्त्वसमग्र और उसकी पञ्जिका अग्रस्थान पानेके योग्य है।

**अर्चट और प्रभाचन्द्र**—धर्मकीर्तिके हेतुविन्दु पर अर्चटकृत टीका उपलब्ध है। इसका उल्लेख अनन्तरीयने अपनी सिद्धिनिश्चयटीकामें अपनेमें स्पष्टमें किया है। 'हेतु-लक्षणसिद्धि' में तो धर्मकीर्तिके हेतुविन्दुके साथ ही साथ अर्चटकृत निररुणका भी खण्डन है। अर्चटका समय भी करीब ईसास्ती २ वीं शताब्दी होना चाहिये। अर्चटने अपने हेतुविन्दु-विवरणमें सहकारित्व दो प्रकारका बताया है—१ एकार्पकारित्व, २ परस्परतिशयाधायकत्व। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयक्रमलमार्तण्ड (पृ० १०) में वारकमाकल्पनादकी समीक्षा करते समय सहकारित्वके यही दो निरूपण किये हैं।

**धर्मोत्तर और प्रभाचन्द्र**—धर्मकीर्तिके न्यायविन्दु पर आ० धर्मोत्तरने टीका रची है। मिश्र राहुलजी द्वारा लिखित टिवेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार इनका समय ई० ७२५ के आसपास है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयक्रमलमार्तण्ड (पृ० ७) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २०) में सम्बन्ध, अभिधेय, शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनरूप अनुबन्धनयसी चर्चामें, जो उन्मत्तनाक्य, काकदन्तपरीक्षा, मातृनिगहोपदेश तथा सूर्यग्रहरतक्षकचूड़ारत्नालङ्कारोपदेशके उदाहरण दिए हैं वे धर्मोत्तरकी न्यायविन्दुटीका (पृ० २) के प्रभाससे अछूते नहीं हैं। इनकी शब्दरचना करीन करीन एक जैसी है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २६) में प्रत्यक्ष शब्दकी व्याख्या करते समय अक्षाश्रितवको प्रक्षलशब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त बताया है और अक्षाश्रितचोपलक्षित अर्थसाक्षात्कारित्व को प्रवृत्तिनिमित्त। ये प्रकार भी न्यायविन्दुटीका (पृ० ११) से अक्षरशः मिलते हैं।

**ज्ञानश्री और प्रभाचन्द्र**—ज्ञानश्रीने क्षणभगाध्याय आदि अनेक प्रकरण लिखे हैं। उदयानाचार्य ने अपने आत्मतत्त्वविवेकमें ज्ञानश्रीके क्षणभगाध्यायका नामोल्लेखपूर्वक आनुपूर्वी से खण्डन किया है। उदयनाचार्यने अपनी लक्षणामाली तर्काम्बराक (६०६) शक, ई० ६८४ में समाप्तकी थी। अतः ज्ञानश्रीका समय ई० ६८४ से पहिले तो होना ही चाहिए। मिश्र राहुल साकृत्सायनजीके मोट्स देखनेसे ज्ञात हुआ है कि—ज्ञानश्रीके क्षणभगाध्याय या अपोह-सिद्धिके प्रारम्भमें यह कारिका है—

“अपोहः शब्दलिङ्गाभ्या न वस्तु विधिनोच्यते।”

विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें भी यह कारिका उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने भी अपोहवाद के पूर्वपक्षमें “अपोहः शब्दलिङ्गाभ्या” कारिका उद्धृत की है। वाचस्पतिमिश्र (ई० ८४१) के ग्रन्थों में ज्ञानश्रीकी समालोचना नहीं है पर उदयनाचार्य (ई० ६८४) के ग्रन्थोंमें है, इसलिए भी ज्ञानश्रीका समय ईसास्ती १० वीं शताब्दीके बाद तो नहीं जा सकता।



**जयसिंहराशिभट्ट और प्रभाचन्द्र**—भट्ट श्री जयसिंहराशिका तत्त्वोपसंहारसिंह नामक ग्रन्थ गायकवाड सीरीजमें प्रकाशित हुआ है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। तत्त्वोपसंहारग्रन्थ में प्रमाण प्रमेय आदि सभी तत्त्वोक्त बहुविध विकल्पजालसे खडन किया गया है। आ० विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम तत्त्वोपसंहारादीका पूर्वपक्ष देखा जाता है। प्रभाचन्द्रने संशयज्ञानका पूर्वपक्ष तथा वाचकज्ञानका पूर्वपक्ष तत्त्वोपसंहार ग्रन्थसे ही किया है और उसका उतने ही विकल्पों द्वारा खडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६४८) में 'तत्त्वोपसंहारादि' का दृष्टान्त भी दिया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३३६) में भी तत्त्वोपसंहारादिका दृष्टान्त पाया जाता है। तात्पर्य यह कि परमतके खडनमें क्वचित् तत्त्वोपसंहारादिकृत विकल्पोंका उपयोग कर लेने पर भी प्रभाचन्द्रने स्थान स्थान पर तत्त्वोपसंहारादिके विकल्पोंकी भी समीक्षा की है।

**कुन्दकुन्द और प्रभाचन्द्र**—दिगम्बर आचार्यों में आ० कुन्दकुन्दका विशिष्ट स्थान है। इनके सारत्रय—प्रवचनसार, पञ्चास्तिकायसमयसार और समयमार—के सिवाय बारसअणुवेक्खा अष्टपाहुड आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें इनका समय ईसाकी प्रथमशताब्दी सिद्ध किया है। कुन्दकुन्दाचार्यने बोधपाहुड (गा० ३७) में देवलीको आहार और निहारसे रहित बताकर कलहाहारका निषेध किया है। सूत्रप्राभृत (गा० २३-३६) में स्त्रीको प्रव्रज्याका निषेध करके स्त्रीमुक्तिका निरास किया है। कुन्दकुन्दके इस मूलमार्गका दार्शनिकरूप हम प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें केवलिवलाहारवाद तथा स्त्रीमुक्तिवादके रूपमें पाते हैं। यद्यपि शाकटायनने अपने केवलिमुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंमें दिगम्बरोंकी मान्यताका निस्तृत खडन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि शाकटायनके सामने दिगम्बराचार्योंका उक्त सिद्धान्तद्वयका समर्थक विकसित साहित्य रहा है। पर आज हमारे सामने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ ही इन दोनों मान्यताओंके समर्थकरूपमें समुपस्थित हैं। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रवचनसारकी 'जियदु य मरदु य' गाथा, भावपाहुडकी 'एगो मे सत्सदो' गाथा, तथा प्रा० सिद्धभक्तिकी 'पुवेदं वेदन्ता' गाथा उद्धृत की है। प्राकृत दशभक्तियों भी कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं।

**समन्तभद्र और प्रभाचन्द्र**—आद्यस्तुतिकार स्वामी समन्तभद्राचार्यके बृहत्संन्यम्भूस्तोत्र, आत्मनीमासा, युत्तयनुशासन आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है। किन्हीं विद्वानोंका विचार है कि इनका समय विक्रमकी पाचवीं या छठवीं शताब्दी होना चाहिए। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें बृहत्संन्यम्भूस्तोत्रसे "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः" "मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्" "तदेव च स्यान्न तदेव" इत्यादि श्लोक उद्धृत किए हैं।

आ० विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाका उपसंहार करते हुए निम्नलिखित श्लोक लिखा है कि—

“श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरजोद्भवस्य  
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलमिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।

स्तोत्रं तीर्थोपमानं पृथितपृथुपथं स्वामिभीमांसित तत्

विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै ॥१२३॥”

अर्थात् तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रसे दीप्तर्त्तोंके उद्भवके प्रोत्थानारम्भकाल—प्रारम्भिक समयमें, शास्त्रकारने, पापोंका नाश करनेके लिए, मोक्षके पथको बतानेवाला तीर्थस्वरूप जो स्तन किया था और जिस स्तनकी स्वामीने भीमासा की है, उसीका विद्यानन्दने अपनी सत्यशक्तिके अनुसार सत्यवाक्य और सत्यार्थकी सिद्धिके लिए विवेचन किया है ।

वे इस श्लोकमें स्पष्ट सूचित करते हैं कि स्वामी समन्तभद्रने ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ मंगलश्लोकमें वर्णित जिस आत्मकी भीमासा की है उसी आत्मकी मैंने परीक्षा की है । वह मंगलस्तोत्र तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रसे दीप्त रत्नोंके उद्भवके प्रारम्भिक समयमें शास्त्रकारने बनाया था । यह तत्त्वार्थशास्त्र यदि तत्त्वार्थसूत्र है तो उसका मथन करके रत्नोंके निकालनेवाले आचार्य पूज्यपाद हैं । यह ‘मोक्षमार्गस्य नेतारं’ श्लोक स्वयं सूत्रकारका तो नहीं मालूम होता, क्योंकि भट्टकलङ्कदेन और विद्यानन्दने अपने राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें इसका व्याख्यान नहीं किया है । यदि विद्यानन्द इसे सूत्रकारकृत ही मानते होते तो वे अग्रिम ही श्लोकवार्तिकमें उसका व्याख्यान करते । इस श्लोकमें विद्यानन्दने ‘मोक्षमार्गस्य नेतारं’ श्लोकको उस शास्त्रकारका बताया है, जिसने तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रका मथन करके दीप्तरत्न निकाले थे । वे इस श्लोकको मूलसूत्रकारका नहीं मानते । परन्तु यही विद्यानन्द आत्मपरीक्षा ( पृ० ३ ) के प्रारम्भमें इसी श्लोकको सूत्रकारकृत भी लिखते हैं । यथा—

“किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते—मोक्षमार्गस्य नेतारं ”

इस पक्तिमें यही श्लोक सूत्रकारकृत कहा गया है । किन्तु विद्यानन्दकी शैलीका ध्यानसे समीक्षण करने पर यह स्पष्टरूपसे निहित हो जाता है कि वे अपने ग्रन्थोंमें किसी भी पूर्वोक्तार्थको सूत्रकार और किसी भी पूर्वग्रन्थको सूत्र लिखते हैं । तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ( पृ० १८४ ) में वे अकलङ्कदेवका सूत्रकार शब्दसे तथा राजवार्तिकका सूत्र शब्दसे उल्लेख करते हैं—“तेन ‘इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचार साकारग्रहणम्’ इत्येतत्सूत्रोपात्तमुक्तं भवति । ततः, प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्ट साकारमञ्जसा । द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥ ४ ॥ सूत्रकार इति श्रेयमाकलङ्कावबोधने ।” इस अवतरणमें ‘इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष’ वाक्य राजवार्तिक पृ० ३८ का है तथा ‘प्रत्यक्षलक्षण’ श्लोक न्यायविनिश्चय ( श्लो० ३ ) का है । अतः मात्र सूत्रकारके नामसे ‘मोक्षमार्गस्य नेतारं’ श्लोकको उद्धृत करनेके कारण हम विद्यानन्दका झुकाव इसे मूल सूत्रकारकृत माननेकी ओर है यह नहीं समझ सकते । अन्यथा वे इसका व्याख्यान श्लोकवार्तिकमें अवश्य करते । अतः इस पक्तिमें सूत्रकार शब्दसे भी इद्वरत्नोंके उद्भवकर्ता आचार्यका ही ग्रहण करना चाहिए । ‘मोक्षमार्गस्य नेतारं’ श्लोक वस्तुतः सर्वार्थसिद्धिका ही मंगलश्लोक है । और यदि समन्तभद्रने इसी श्लोकके ऊपर अपनी आत्मभीमासा बनाई है, जैसा कि विद्यानन्दका उल्लेख है, तो समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरकालीन सिद्ध होते हैं । प० मुखलाजी का यह तर्क कि—“यदि समन्तभद्र

पूज्यपादके प्राक्कालीन होते तो वे अपने इस युगप्रधान आचार्य की आसमीमासा जैसी अनूठी कृति-का उल्लेख किए बिना नहीं रहते" विचारणीय है। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाणों से किसी आचार्यके समय-का स्वतन्त्र भावसे साधन बाधन नहीं होता फिर भी विचार की एक स्पष्ट कोटि तो उपस्थित हो ही जाती है। समन्तभद्रकी आसमीमासाके चौथे परिच्छेदमें वर्णित "विरूपकार्यारम्भाय" आदि कारिकाओंके पूर्वपक्षों की समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने सभ्यतः दिग्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं। बौद्धदर्शन की इतनी स्पष्ट विचारधाराकी सम्भावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती।

हेतुविन्दुके अर्चटकृत विवरणमें समन्तभद्रकी आसमीमासाकी "द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः" कारिकाके खडन करनेवाले ३०-३५ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। ये श्लोक सभ्यतः धर्मकीर्तिके किसी ग्रन्थके हों। अर्चटका समय २ वीं सदी है। कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकमें समन्तभद्रकी "घटमौलिसुवर्णार्थी" कारिकाके प्रतिच्छायाभूत निम्न श्लोक पाये जाते हैं—

"वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा । तदा पूर्वार्थिनः श्लोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥

हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु घ्नयात्मकम् । न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना मुदम् ॥

स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ॥" [ मी० श्लो० पृ० ६१६ ]

कुमारिलका समय ईसाकी ७ वीं सदी है। अतः समन्तभद्रकी उत्तरावधि तो सातवीं सदी सुनिश्चित है। पूर्वोक्तिका नियामक प्रमाण दिग्नागका समय होना चाहिए। इस तरह समन्तभद्रका समय इसाकी ५ वीं और सातवीं शताब्दीका मध्यभाग अधिक संभव है। यदि विद्यानन्दके उल्लेखमें ऐतिहासिक दृष्टि भी निविष्ट है तो इनका समय पूज्यपादके बाद होना चाहिए। अन्यथा दिग्नाग (ई० ४२५) के बाद और पूज्यपादसे कुछ पहिले।

**पूज्यपाद और प्रभाचन्द्र**—आ० देवनन्दिका अपर नाम पूज्यपाद था। ये विक्रम की पाचवी और छठी सदीके ख्यात आचार्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि पर तत्सर्वार्थवृत्तिपदनिरण नामकी लघुवृत्ति लिखी है। इसके सिवाय इन्होंने जैनेन्द्रव्याकरण पर शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास लिखा है। पूज्यपादकी संस्कृत सिद्धभक्तिसे 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः' पद मी न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तयङ तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें जहां कहीं मी व्याकरणके सूत्रोंके उद्धरण देनेकी आवश्यकता हुई है वहां प्रायः जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए गए हैं।

**धनञ्जय और प्रभाचन्द्र**—'संस्कृतसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास' के लेखकद्वयने धनञ्जयका समय ई० १२ वें शतकका मध्य निर्धारित किया है (पृ० १७३)। और अपने इस मतकी पुष्टिके लिए के० बी० पाठक महाशयका यह मत भी उद्धृत किया है कि—“धनञ्जयने द्विसन्धान महाकाव्यकी रचना ई० ११२३ और ११४० के मध्यमे की है।” डॉ० पाठक और उक्त

१ देखो अनेकान्त वर्य १ पृ० १९७। प्रेमी जी सूचित करते हैं कि इसकी प्रति बर्बईके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमें मौजूद है।

इतिहास के लेखकद्वय अन्य कई जैन कर्मियोंके समय निर्धारणकी भाति धनञ्जयके समयमें भी बड़ी भारी भ्रान्ति कर बैठे हैं। क्योंकि विचार करनेसे धनञ्जयका समय ईसाकी ८ वीं सदीरा श्रन्त और नवीना प्रारम्भिक भाग सिद्ध होता है—

१ जल्हण ( ई० द्वादशशतक ) निरचित सूक्तिमुक्तावलीमें राजशेखरके नामसे धनञ्जयकी प्रशंसामें निम्न लिखित पद्य उद्धृत है—

“द्विसन्धाने निपुणता सतां चक्रे धनञ्जयः । यया जात फल तस्य स तां चक्रे धनञ्जयः ॥”

इस पद्यमें राजशेखरने धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका मनोमुग्धकर सरणिसे निर्देश किया है। संस्कृत साहित्यके इतिहासके लेखकद्वय लिखते हैं कि—“यह राजशेखर प्रयन्धकोशका कर्ता जैन राजशेखर है। यह राजशेखर ई० १३४८ में विद्यमान था।” आश्चर्य है कि १२ वीं शताब्दीके विद्वान् जल्हणके द्वारा निरचित ग्रन्थमें उल्लिखित होने वाले राजशेखरको लेखकद्वय १४ वीं शताब्दीका जैन राजशेखर बताते हैं। यह तो मोटी बात है कि १२ वीं शताब्दीके जल्हणने १४ वीं शताब्दीके जैन राजशेखरका उल्लेख न करके १० वीं शताब्दीके प्रसिद्ध काव्य-मीमांसाकार राजशेखरका ही उल्लेख किया है। इस उल्लेखसे धनञ्जयका समय ८ वीं शताब्दीके अन्तिम भागके बाद तो किसी भी तरह नहीं जाता। ई० ८६० में निरचित सोमदेवके यशस्तिलकचम्पूमें राजशेखरका उल्लेख होनेसे इनका समय करीब ई० ८१० ठहरता है।

२ वादिराजसूरि अपने पार्श्वनाथचरित (पृ० ४) में धनञ्जयकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—  
“अनेकभेदसन्धानाः सन्तो इदमे मुहुः । वाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम् ॥”  
इस छिष्ट श्लोकमें ‘अनेकभेदसन्धानाः’ पदसे धनञ्जयके ‘द्विसन्धानकाव्य’ का उल्लेख बड़ी कुशलतासे किया गया है। वादिराजसूरिने पार्श्वनाथचरित ८४७ शत (ई० १०२५) में समाप्त किया था। अतः धनञ्जयका समय ई० १० वीं शताब्दीके बाद तो किसी भी तरह नहीं जा सकता।

३ आ० धीरसेनने अपनी धवलाटीका (अमरावतीकी प्रति पृ० ३८७) में धनञ्जयकी अनेकार्थनाममालाका निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किया है—

“हेतावेव प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्यये । प्रादुर्भावे समाप्ती च इतिशब्दं विदुर्बुधाः ॥”

आ० धीरसेनने धवलाटीकाकी समाप्ति शत ७३८ (ई० ८१६) में की थी। अतः धनञ्जयका समय ८ वीं शताब्दीका उत्तरभाग और नवीं शताब्दीका पूर्वभाग सुनिश्चित होता है। धनञ्जयने अपनी नाममालाके—

“प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् । धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥”

इस श्लोकमें अकलङ्कदेवका नाम लिया है। अकलङ्कदेव ईसाकी ८ वीं सदीके आचार्य हैं अतः धनञ्जयका समय ८ वीं सदीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सुसंगत है। आचार्य प्रभावचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४०२) में धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका उल्लेख किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें इसी स्थल पर द्विसन्धानकी जगह त्रिसन्धान नाम लिया गया है।

रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र—रविभद्रपादोपजीवि अनन्तवीर्याचार्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका समुपलब्ध है। ये अकलङ्कके प्रकरणोंके तलद्रष्टा, निवेचयिता, व्याख्याता और मर्मज्ञ थे। प्रभाचन्द्रने इनकी उक्तियोंसे ही दुरवगाह अकलङ्कवाक्यका सुष्ठु अभ्यास और निवेचन किया था। प्रभाचन्द्र अनन्तवीर्यके प्रति अपनी कृतज्ञताका भाव न्यायकुमुदचन्द्रमें एकाविकवार प्रदर्शित करते हैं। इनकी सिद्धिविनिश्चयटीका अकलङ्कवाक्यके टीकासाहित्यका शिरोरत्न है। उसमें सैकड़ों मतमतान्तरोंका उल्लेख करके उनका सविस्तर निरास किया गया है। इस टीकामें धर्मकीर्ति, अर्चट, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकरगुप्त, आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध धर्मकीर्तिसाहित्यके व्याख्याकारोंके मत उनके ग्रन्थोंके लम्बे लम्बे अवतरण देकर उद्धृत किए गए हैं। यह टीका प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर अपना विचित्र प्रभाव रखती है। शान्तिसूरिने अपनी जैनतर्कशास्त्र-टीका (पृ० ६८) में 'एके अनन्तवीर्यादयः' पदसे सभन्त. इन्हीं अनन्तवीर्यके मतका उल्लेख किया है।

विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र—आ० विद्यानन्दका जैनतार्किकोंमें अपना विशिष्ट स्थान है। इनकी श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आसपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यनुशासनटीका आदि तार्किककृतियाँ इनके अतुल्य तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुख अध्ययन का पदे पदे अनुभूत कराती हैं। इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना समय आदि नहीं दिया है। आ० प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्चण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र दोनों ही प्रमुखग्रन्थों पर विद्यानन्दकी कृतियोंकी सुनिश्चित अमिट छाप है। प्रभाचन्द्रको विद्यानन्दके ग्रन्थोंका अन्ठा अभ्यास था। उनकी शब्दरचना भी विद्यानन्दकी शब्दभंगीसे पूरी तरह प्रभावित है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्चण्डके प्रथमपरिच्छेदके अन्तमें—

“विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्”

इस श्लोकाशमें श्लिष्टरूपसे विद्यानन्दका नाम लिया है। प्रमेयकमलमार्चण्डमें पत्रपरीक्षासे पत्रका लक्षण तथा अथ एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है। अतः विद्यानन्दके ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके लिए उपजीव्य निर्विवादरूपसे सिद्ध हो जाते हैं।

आ० विद्यानन्द अपने आसपरीक्षा आदि ग्रन्थोंमें 'सत्यवाक्यार्थसिद्धयै' 'सत्यवाक्याधिपा.' विशेषणसे तत्कालीन राजाका नाम भी प्रकारान्तरसे सूचित करते हैं। बाबू कामताप्रसादजी (जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ३ किरण ३ पृ० ८७) लिखते हैं कि—“बहुत सभ्य है कि उन्होंने गगनादि प्रदेश में बहुवास किया हो, क्योंकि गगनादि प्रदेशके राजा राजमल्लने भी गगनशमें होने वाले राजाओंमें सर्वप्रथम 'सत्यवाक्य' उपाधि या अपरनाम धारण किया था। उपर्युक्त श्लोकोंमें यह सभ्य है कि विद्यानन्दजीने अपने समयके इस राजाके 'सत्यवाक्याधिप' नामको ध्वनित किया हो। युक्त्यनुशासनाल्कारमें उपर्युक्त श्लोक प्रशस्ति रूप है और उसमें रचयिता द्वारा अपना नाम और समय सूचित होना ही चाहिए। समयके लिए तत्कालीन राजाका नाम ध्वनित करना पर्याप्त है। राजमल्ल सत्यवाक्य विजयादित्यका लड़का था और वह सन् ८१६

के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। उनका समय भी विद्यानन्दके अनुकूल है। युत्तयनुशासनालङ्कारके अन्तिम श्लोकके “प्रोक्तं युक्तयनुशासनं विजयिभिः श्रीसत्यवाक्याधिपैः” इस अंशमें सत्यवाक्याधिप और विजय दोनो शब्द हैं, जिनसे गगराज सत्यवाक्य और उसके पिता विजयादित्यका नाम घनित होता है।” इस अनुरणसे यह सुनिश्चित हो जाता है कि विद्यानन्दने अपनी कृतियाँ राजमल सत्यवाक्य (८१६ ई०) के राज्यकालमें बनाई हैं। आ० विद्यानन्दने सर्वप्रथम अपना तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ बनाया है, तदुपरान्त अष्टसहस्री और विद्यानन्द-महोदय, इसके अनन्तर अपने आत्मपरीक्षा आदि परीक्षान्तनामवाले लघु प्रकरण तथा युत्तयनुशासनटीका; क्योंकि अष्टसहस्रीमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका, तथा आत्मपरीक्षा आदिमें अष्टसहस्री और विद्यानन्दमहोदयका उल्लेख पाया जाता है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीमें, जो उनकी आद्य रचनाएँ हैं, ‘सत्यवाक्य’ नाम नहीं लिया है, पर आत्मपरीक्षा आदिमें ‘सत्यवाक्य’ नाम लिया है। अतः मालूम होता है कि विद्यानन्द श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीको सत्यवाक्यके राज्यसिंहासनासीन होनेके पहिले ही बना चुके होंगे। विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें मडनमिश्रके मतका खडन है और अष्टसहस्रीमें सुरेश्वरके सम्बन्धवार्तिकसे ३४ कारिकाएँ भी उद्धृत की गई हैं। मडनमिश्र और सुरेश्वरका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग माना जाता है। अतः विद्यानन्दका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सयुक्तिक मालूम होता है। प्रभाचन्द्रके सामने इनकी समस्त रचनाएँ रही हैं। तत्त्वोपपन्नवादका खडन तो विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें ही विस्तारसे मिलता है, जिसे प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है। इसी तरह अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिकमें पाई जानेवाली भावना विधि नियोगके विचारकी दुरवगाह चरचा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रसन्नरूपसे अवतीर्ण हुई है। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २०६) में न्यायदर्शनके ‘पूर्ववत्’ आदि अनुमानसूत्रका निरास करते समय केवल भाष्यकार और वार्तिककारका ही मत पूर्वपक्ष रूपसे उपस्थापित किया है। वे न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकारके अभिप्रायको अपने पूर्वपक्षमें शामिल नहीं करते। वाचस्पतिमिश्रने तात्पर्यटीका ई० ८४१ के लगभग बनाई थी। इससे भी विद्यानन्दके उक्त समयकी पुष्टि होती है। यदि विद्यानन्दका ग्रन्थ रचनाकाल ई० ८४१ के बाद होता तो वे तात्पर्यटीका उल्लेख किये बिना न रहते।

**अनन्तकीर्ति और प्रभाचन्द्र**—लघीयलयादि सग्रहमें अनन्तकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण मुद्रित हैं। लघीयलयादिसग्रहकी ही प्रस्तावनामें प० नाथूरामजी प्रेमीने इन अनन्तकीर्तिके समयकी उत्तरावधि विक्रम संवत् १०८२ के पहिले निर्धारित की है, और इस समयके समर्थनमें वदिराजके पार्श्वनाथचरितका यह श्लोक उद्धृत किया है—

“आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धि निबध्नता। अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमासैव लक्ष्यते ॥”

वादिराजने पार्वनाथचरित की रचना विक्रम संवत् १०८२ में की थी। समझ तो यह है कि इन्हीं अनन्तकीर्तिने जीवसिद्धिकी तरह लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थ बनाये

हो। सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनन्तवीर्यने भी एक अनन्तकीर्तिका उल्लेख किया है। यदि पार्श्वनाथ चरितमें स्मृत अनन्तकीर्ति और सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित अनन्तकीर्ति एक ही व्यक्ति है तो मानना होगा कि इनका समय प्रभाचन्द्रके समयसे पहिले है, क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें सिद्धिविनिश्चयटीकाकार अनन्तवीर्यका सबहुमान स्मरण किया है। अस्तु। अनन्तकीर्तिके लघुसर्वज्ञसिद्धि तथा बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थोका और प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रके सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणोंका आभ्यन्तर परीक्षण यह स्पष्ट बताता है कि इन ग्रन्थोंमें एकका दूसरेके ऊपर पूरा पूरा प्रभाव है।

बृहत्सर्वज्ञसिद्धि—(पृ० १८१ से २०४ तक) के अन्तिम पृष्ठ तो कुछ थोड़ेसे हेरफेरसे न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८३८ से ८४७) के मुक्तिवाद प्रकरणके साथ अपूर्व सादृश्य रखते हैं। इन्हें पढ़कर कोई भी साधारण व्यक्ति कह सकता है कि इन दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेका पुस्तक सामने रखकर अनुसरण किया है। मेरा तो यह विश्वास है कि अनन्तकीर्तिकृत बृहत्सर्वज्ञसिद्धिका ही न्यायकुमुदचन्द्र पर प्रभाव है। उदाहरणार्थ—

“किन्तु अज्ञो जन दुःखानुपक्तसुखसाधनमपरयन् आत्मस्नेहात् सासारिकेषु दुःखानुपक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधन रज्यादिक परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नानुरः तादात्विकसुखसाधन व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्तते। उक्तञ्च—तदात्वसुखसङ्गेषु भावेऽज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षका॥”—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८४२।

“किन्त्वतज्ज्ञो ज्ञो दुःखानुपक्तसुखसाधनमपरयन् आत्मस्नेहात् ससारान्त पतितेषु दुःखानुपक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधन रज्यादिक परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नानुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु आनुरस्तादात्विकसुखसाधनं दध्यादिक परित्यज्य पेयादावारोग्यसाधने प्रवर्तते। तथा च कस्यचिद्बिदुषः सुभाषितम्—तदात्वसुखसङ्गेषु भावेऽज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥”—बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १८१।

इस तरह यह समूचा ही प्रकरण इसी प्रकारके शब्दानुसरणसे ओतप्रोत है।

शाकटायन और प्रभाचन्द्र—राष्ट्रकूटवंशी राजा अमोघवर्षके राज्यकाल (ईस्वी ८१४-८७७) में शाकटायन नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हो गए हैं। ये यापनीय सघके आचार्य थे। यापनीयसघका बाह्य आचार बहुत कुछ दिगम्बरोसे मिलता जुलता था। ये नग्न रहते थे। श्वेताम्बर आगमोंको आदरकी दृष्टिमें देखते थे। आ० शाकटायनने अमोघवर्षके नामसे अपने

१ देवो—प० नाथरामप्रणीत यापनीय साहित्यकी खोज (अनकात वर्ष ३ किरण १) तथा प्रो० ए० उपाध्यायका ‘यापनीयसघ’ (जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ७) लेख।

शाकटायनव्याकरण पर 'अमोघवृत्ति' नामकी टीका बनाई थी। अतः इनका समय भी लगभग ई० ८०० से ८७५ तक समझना चाहिए। यापनीयसधके अनुयायी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी कुछ कुछ बातोंको स्वीकार करते थे। एक तरहसे यह सध दोनों सम्प्रदायोंके जोड़नेके लिए शृङ्खलाका कार्य करता था। आचार्य मलयगिरिने अपनी नन्दीसूत्रकी टीका (पृ० १५) में शाकटायनको 'यापनीययतिप्रामाप्रणी' लिखा है—“शाकटायनोऽपि यापनीय-यतिप्रामाप्रणीः स्वोपशान्तानुशासनवृत्तौ”। शाकटायन आचार्यने अपनी अमोघवृत्तिमें छेदसूत्र नियुक्ति कालिकसूत्र आदि श्वे० ग्रन्थोंका बड़े आदरसे उल्लेख किया है। आचार्य शाकटायनने केवलिकनलाहार तथा स्त्रीमुक्तिके समर्थनके लिए स्त्रीमुक्ति और केवलिमुक्ति नामके दो प्रकार बनाए हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके परस्पर बिलगानमें ये दोनों सिद्धान्त ही मुख्य माने जाते हैं। यों तो दिगम्बर ग्रन्थोंमें बुन्दबुन्दाचार्य पूज्यपाद आदिके ग्रन्थोंमें स्त्रीमुक्ति और केवलि-मुक्तिका सूत्ररूपसे निरसन किया गया है, परन्तु इन्हीं नियोंके पूर्वोत्तरपक्ष स्थापित करके शास्त्रार्थका रूप आ० प्रभाचन्द्रने ही अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिया है। श्वेताम्बरोंके तर्कसाहित्यमें हम सर्गप्रथम हरिभद्रसूरिकी ललितनिस्तारमें स्त्रीमुक्तिका सक्षित समर्थन देखते हैं, परन्तु इन नियोंको शास्त्रार्थका रूप सम्प्रतिटीकाकार अभयदेव, उत्तराध्ययन पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरि, तथा स्याद्वादरत्नाकरकार वादि देवसूरिने ही दिया है। पीछे तो यशोविजय उपाध्याय, तथा मेघविजयगणि आदिने पर्याप्त साम्प्रदायिक रूपसे इनका विस्तार किया है। इन निवादग्रन्थ निधयोंपर लिखे गए उभयपक्षीय साहित्यका ऐतिहासिक तथा तारिक-दृष्टिसे सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि स्त्रीमुक्ति और केवलिमुक्ति विषयोंके समर्थनका प्रारम्भ श्वेताम्बर आचार्योंकी अपेक्षा यापनीयसध वालोंने ही पहिले तथा दिलचस्पीके साथ किया है। इन विषयोंको शास्त्रार्थका रूप देनेवाले प्रभाचन्द्र, अभयदेव, तथा शान्तिसूरि करीब करीब समकालीन तथा समदेशीय थे। परन्तु इन आचार्योंने अपने पक्षके समर्थनमें एक दूसरेका उल्लेख या एक दूसरेकी दलीलोंका साक्षात् खडन नहीं किया। प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्ति और केवलिमुक्तिका जो विस्तृत पूर्वपक्ष लिखा गया है वह किसी श्वेताम्बर आचार्यके ग्रन्थका न होकर यापनीयाग्रणी शाकटायनके केवलिमुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंसे ही लिया गया है। इन ग्रन्थोंके उत्तरपक्षमें शाकटायनके उक्त दोनों प्रकरणोंकी एक एक दलीलका शब्दशः पूर्वपक्ष करके सयुक्तिक निरास किया गया है। इसी तरह अभयदेवकी सम्प्रतिर्कटीका, और शान्तिसूरिकी उत्तराध्ययन पाइयटीका और जैनतर्कमार्तिकमें शाकटायनके इन्हीं प्रकरणोंके आधारसे ही उक्त बातोंका समर्थन किया गया है। हाँ, वादिदेवसूरिके रत्नाकरमें इन मतभेदोंमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सामने सामने आते हैं। रत्नाकरमें प्रभाचन्द्रकी दलीलें पूर्वपक्ष रूपमें पाई जाती हैं। तात्पर्य यह कि—प्रभाचन्द्रने स्त्रीमुक्तिवाद तथा केवलिकनलाहार-वादमें श्वेताम्बर आचार्याकी उजाय शाकटायनके केवलिमुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंको ही अपने



खडनका प्रधान लक्ष्य बनाया है। न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ८६६ ) के पूर्वगतमें शाकटायनके श्रीमुक्ति प्रकरणकी यह कारिका भी प्रमाण रूपसे उद्धृत की गई है—

“गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वा विख्याताः शीलवत्तया जगति ।

सीतादयः कथं तास्तपसि विशीला विसत्त्वाश्च ॥” [ छीमु० श्लो० ३१ ]

अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र—जैनेन्द्रव्याकरणपर आ० अभयनन्दिद्वृत महावृत्ति उपलब्ध है। इसी महावृत्तिके आधारसे प्रभाचन्द्रने ‘शब्दाभ्योजभास्कर’ नामका जैनेन्द्रव्याकरण-का महान्यास बनाया है। ५० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ‘जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी’ नामक लेखमें जैनेन्द्रव्याकरणके प्रचलित दो सूत्र पाठोंमेंसे अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठको ही प्राचीन और पूज्यपादकृत सिद्ध किया है। इसी पुरातनसूत्रपाठ पर प्रभाचन्द्रने अपना न्यास बनाया है। प्रेमीजीने अपने उक्त गवेषणापूर्ण लेखमें महावृत्तिकार अभयनन्दिको चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका गुरु बताया है और उनका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वभाग निर्धारित किया है। आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तिके गुरु भी यही अभयनन्दि थे। गोम्मतसार कर्मकाण्ड ( गा० ४३६ ) की निम्नलिखित गाथासे भी यही बात पुष्ट होती है—

“जस्स य पायपसाएणणंतससारजलहिमुत्तिण्णो ।

वीरिंदणदिबज्जो णमामि तं अभयणदिगुरुं ॥”

इस गाथासे तथा कर्मकाण्डकी गाथा न० ७८४, ८६६ तथा लब्धिसार गा० ६४८ से यह सुनिश्चित हो जाता है<sup>१</sup> कि वीरनन्दिके गुरु अभयनन्दि ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तिके गुरु थे। आ० नेमिचन्द्रने तो वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि तकका गुरुरूपसे स्मरण किया है। इन सब उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अभयनन्दि, उनके शिष्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि, तथा इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि सभी प्रायः नेमिचन्द्रके समकालीन वृद्ध थे।

बादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शकसंवत् ६४७, ई० १०२५ में पूर्ण हुआ था। अतः वीरनन्दिकी उत्तरावधि ई० १०२५ तो सुनिश्चित है। नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिने गोम्मतसार ग्रन्थ चामुण्डरायके सम्बोधनार्थ बनाया था। चामुण्डराय गंगवशीयमहाराज मारसिंह द्वितीय ( ६७५ ई० ) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। चामुण्डरायने अरण्यबेलगुलस्थ बाहुबलि गोम्मटेश्वरकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा ई० ६८१ में कराई थी, तथा अपना चामुण्डपुराण ई० ६७८ में समाप्त किया था। अतः आ० नेमिचन्द्र सिद्धा तचक्रवर्तिके समय ई० ६८० के आसपास सुनिश्चित किया जा सकता है। और लगभग यही समय आचार्य अभयनन्दि आदिका होना

१ इसका परिचय ‘प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ शीर्षक स्तम्भमें देखना चाहिए।

२ जैन साहित्यसंशोधन भाग १ अंक २।

३ देखो त्रिलोकसार की प्रस्तावना।

चाहिए। इन्होंने अपनी महावृत्ति (लिखित पृ० २२१) में भर्तृहरि (ई० ६५०) की वाक्यपदीयका उल्लेख किया है। पृ० ३६३ में माघ (ई० ७ वीं सदी) काव्यसे 'सटाच्छटाभिन्' श्लोक उद्धृत किया है। तथा ३२।५५ की वृत्तिमें 'तत्त्वार्थवार्तिकमधीयते' प्रयोगसे अकलङ्कदेव (ई० ८ वीं सदी) के तत्त्वार्थराजवार्तिकका उल्लेख किया है। अतः इनका समय ६ वीं शताब्दीसे पहिले तो नहीं ही है। यदि यही अभयनन्दि जेनेन्द्र महावृत्तिके रचयिता हैं तो कहना होगा कि उन्होंने ई० ६६० के लगभग अपनी महावृत्ति बनाई होगी। इसी महावृत्ति पर ई० १०६० के लगभग आ० प्रभाचन्द्रने अपना शब्दाभोजमास्कर न्यास बनाया है, क्योंकि इसकी रचना न्यायकुमुदचन्द्रके बाद की गई है और न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेव (राज्य १०५६ से) के राज्य के प्रारम्भकाल में बनाया गया है।

**मूलाचारकार और प्रभाचन्द्र**—मूलाचार ग्रन्थके कर्त्ताके विषयमें विद्वान् मतभेद रखते हैं। कोई इसे कुन्दकुन्दकृत कहते हैं तो कोई वट्टकेरिकृत। जो हो, पर इतना निश्चित है कि मूलाचारकी सभी गाथाएँ स्वयं उसके कर्त्ताने नहीं रचीं हैं। उसमें अनेकों ऐसी प्राचीन गाथाएँ हैं, जो कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें, भगवती आराधनामें तथा आवरणकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति और सन्मतितर्क आदि में भी पाई जाती हैं। समन है कि गोम्मतसार की तरह यह भी एक संग्रह ग्रन्थ हो। ऐसे संग्रहग्रन्थोंमें प्राचीनगाथाओंके साथ कुछ संग्रहकाररचित गाथाएँ भी होती हैं। गोम्मतसारमें बहुभागं स्वरचित है जब कि मूलाचारमें स्वरचित गाथाओंका बहुभाग नहीं मालूम होता। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८४५) में "एगो मे सस्सदो" "संजोगमूल जीवेन" ये दो गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये गाथाएँ मूलाचारमें (२।४८, ४९) दर्ज हैं। इनमें पहिली गाथा कुन्दकुन्दके भानपाहुड तथा नियमसारमें भी पाई जाती है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३३१) में "आचेलकुदेसिय" आदि गाथाश दशविध स्थितिकल्पका निर्देश करने के लिए उद्धृत है। यह गाथा मूलाचार (गाथा न० ६०६) में तथा भगवती आराधनामें (गा० ४२१) विद्यमान है। यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि प्रभाचन्द्रने इस गाथाको श्वेताम्बर आगममें आचेलकम्पके समर्थनका प्रमाण बताने के लिए श्वेताम्बरध्यागमके रूपमें उद्धृत किया है। यह गाथा जीतकल्पभाष्य (गा० १६७२) में पाई जाती है। गाथाओं की इस सक्रान्त स्थितिको देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि—कुछ प्राचीन गाथाएँ परम्परासे चली आई हैं, जिन्हे दिग० श्वेता० दोनों आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है।

**नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती और प्रभाचन्द्र**—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती वीरसेनापति श्री चामुण्डरायके समकालीन थे। चामुण्डराय गगवर्तीय महाराज मारसिंह द्वितीय (६७५ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। इन्हींके राज्यकालमें चामुण्डरायने गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठा (सन् ६८१) कराई थी। आ० नेमिचन्द्रने इन्हीं चामुण्डरायको सिद्धान्त परिज्ञान करानेके लिए गोम्मतसार ग्रन्थ बनाया था। यह ग्रन्थ प्राचीन सिद्धान्तग्रन्थोंका सक्षिप्त सस्करण है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २५४) में 'लोयायासपएसे'

गाथा उद्धृत है। यह गाथा जीवकांड तथा द्रव्यसमूह में पाई जाती है। अतः आपातत यही निष्कर्ष निकल सकता है कि यह गाथा प्रमाचन्द्रने जीवकांड या द्रव्यसमूहसे उद्धृत की होगी, परन्तु अन्वेषण करने पर मालूम हुआ कि यह गाथा बहुत प्राचीन है और सर्वार्थसिद्धि (५।३८) तथा श्लोकार्ति (पृ० ३६६) में भी यह उद्धृत की गई है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ३००) में 'विमोहगड्मावण्णा' गाथा उद्धृत की गई है। यह गाथा भी जीवकांड में है। परन्तु यह गाथा भी वस्तुतः प्राचीन है और ध्वलाटीका तथा उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञासिद्धि में मौजूद है।

प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र-रभिभद्रके शिष्य अनन्तवीर्य आचार्य अरुल्लूके प्रकरणोंके ख्यात टीकाकार विद्वान् थे। प्रमेयरत्नमालाके टीकाकार अनन्तवीर्य उनसे पृथक् व्यक्ति हैं; क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रथम अनन्तवीर्यका स्मरण किया है, और द्वितीय अनन्तवीर्य अपनी प्रमेयरत्नमालामें इन्हीं प्रभाचन्द्र का स्मरण करते हैं। वे लिखते हैं कि प्रभाचन्द्रके वचनोंको ही सन्निहित करके यह प्रमेयरत्नमाला बनाई जा रही है। प्रो० ए० एन० उपाध्यायने<sup>१</sup> प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यके समयका अनुमान ग्यारहवीं सदी किया है, जो उपयुक्त है। क्योंकि आ० हेमचन्द्र (१०८८-११७३ ई०) की प्रमाणमीमांसा पर शब्द और अर्थ दोनों दृष्टिसे प्रमेयरत्नमालाका पूरा पूरा प्रभाव है। तथा प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका प्रभाव प्रमेयरत्नमाला पर है। आ० हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसाने प्रायः प्रमेयरत्नमालाके द्वारा ही प्रमेयकमलमार्तण्ड को पाया है।

देवसेन और प्रभाचन्द्र—देवसेन श्रीविमलसेन गण्टीके शिष्य थे। इन्होंने धारानगरीके पार्श्वनाथ मन्दिरमें भाष सुदी दशमी त्रिकमसवत् ६६० (ई० ६३३) में अपना दर्शनसार ग्रन्थ बनाया था। दर्शनसारके बाद इन्होंने भावसमूह ग्रन्थकी रचना की थी, क्योंकि उसमें दर्शनसारकी अनेकों गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं। इनके आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्रसमूह तथा आलापपद्धति ग्रन्थ भी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ३००) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५६) के कवलाहारवादमें देवसेनके भावसमूह (गा० ११०) की यह गाथा उद्धृत की है—

“गोकम्पकम्भहारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।

ओज मणोवि य कमसो आहारो छविवहो णेयो ॥”

यद्यपि देवसेनसुरिने दर्शनसार ग्रन्थके अन्तमें लिखा है कि—

“पुण्यारियकयाइ गाहाइ सचिऊण एयत्थ । सिरिदेवसेणगणिणा धाराए सवसतेण ॥

१ प्रमेयकमलमार्तण्डक प्रथम संस्करणके संपादक प० बशीधरजी शास्त्री सोलापुरने प्रमेयक० की प्रस्तावनामें यही निष्कर्ष निकाला भी है।

२ “प्रमदुवचनोदारवाद्रिकाप्रसरे सति । मादुधा क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभा ॥  
तथापि तद्वनोऽपूर्वरचनाध्विरं सताम् । चेतोहर मृत यद्वनद्या नवघट जलम् ॥

३ देखो जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ९।

४ नयचक्रकी प्रस्तावना पृ० ११-।

रइयो दंसणसारो हारो भव्याण णवसए णवए । सिरिपासणाहगेहे सुविमुद्धं माहसुद्धदसमीणा”  
 अर्थात् पूर्वाचार्यकृत गाथाओंका संचय करके यह दर्शनसार ग्रन्थ बनाया गया है।  
 तथापि बहुत खोज करने पर भी यह गाथा किसी प्राचीन ग्रंथमें नहीं मिल सकी है। देवसेन  
 धारानगरीमें ही रहते थे, अतः धारानिवासी प्रभाचन्द्रके द्वारा भावसंग्रहसे भी उक्त गाथाका  
 उद्धृत किया जाना असंभव नहीं है। चूँकि दर्शनसारके बाद भावसंग्रह बनाया गया है, अतः  
 इसका रचनाकाल संभवतः विक्रम संवत् ६६७ ( ई० ६४० ) के आसपास ही होगा।

**श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र**—जैनेन्द्रके प्राचीन सूत्रपाठपर आचार्य श्रुतकीर्तिकृत पचवस्तु-  
 प्रक्रिया उपलब्ध है। श्रुतकीर्तिने अपनी प्रक्रियाके अन्तमें श्रीमद्वृत्तिशब्दसे अमयनन्दिश्रुत  
 महावृत्ति और न्यासशब्दसे संभवतः प्रभाचन्द्रकृत न्यास, दोनोंका ही उल्लेख किया है। यदि  
 न्यासशब्द पूज्यपादके जैनेन्द्रन्यासका निर्देशक हो तो ‘टीकामाल’ शब्दसे तो प्रभाचन्द्रकी  
 टीकाका उल्लेख किया ही गया है। यथा—

“सूत्रस्तम्भसमुद्धृतं प्रचिलसन्न्यासोरुत्तरक्षिति,  
 श्रीमद्वृत्तिपाटसंपुटयुतं भाष्यौघशय्यातलम् ।  
 टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमम्,  
 प्रासादं पृथुपद्मवस्तुकमिदं सोपानमारोहसात् ॥”

कनडी भाषाके चन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता अगलकविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बताया है—  
 “इति परमपुरुषाथकुलभूभूतसमुद्धृतप्रयचनसरित्सरित्राथश्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधा-  
 नदीपवर्तिश्रीमदगलदेवपिरचिते चन्द्रप्रभचरिते ॥” यह चरित्र शक संवत् १०११, ई०  
 १०=६ में बनकर समाप्त हुआ था। अतः श्रुतकीर्तिका समय लगभग १०८० ई० मानना  
 युक्तिसंगत है। इन श्रुतकीर्तिने न्यासको जैनेन्द्र व्याकरण रूपी प्रासादकी रत्नभूमिकी उपमा  
 दी है। इससे शब्दाभ्योक्त्यात्मक रचनासमय लगभग ई० १०६० समर्थित होता है।

**श्वे० आगमसाहित्य और प्रभाचन्द्र**—भ० महावीरकी अर्धभागधी दिव्यध्वनिको गणधरों  
 ने द्वादशांगी रूपमें रूँथा था। उस समय उन अर्धभागधी भाषामय द्वादशांग आगमोंकी परम्परा  
 श्रुत और स्मृत रूपमें रही, लिपिबद्ध नहीं थी। इन आगमोंका आखरी संरुलन वीर स० ६८०  
 ( वि० ५१० ) में श्वेताम्बरार्च्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणने किया था। अगग्रन्थोंके सिनाय कुल्ल  
 अगवाह्य या अनगात्मक श्रुत भी है। छेदसूत्र अनंगश्रतमें शामिल है। आ० प्रभाचन्द्रने  
 न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ८६८ ) के क्षीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें कल्पसूत्र ( ५।२० ) से “नो कप्पइ  
 णिग्गंधीए अचेलाए होत्तए” यह सूत्राक्य उद्धृत किया है।

**तत्त्वार्थभाष्यकार और प्रभाचन्द्र**—तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं। एक तो  
 वह, जिस पर स्वयं वाचक उमास्वातिका स्वोपनिषद्भाष्य प्रसिद्ध है, और दूसरा वह जिस पर पूज्य-  
 पादकृत सर्वार्थसिद्धि है। दिगम्बर परम्परामें पूज्यपादसम्मत सूत्रपाठ और श्वेताम्बरपरम्परामें भाष्य-

सम्मत सूत्रपाठ प्रचलित है। उमास्वातिके स्तोपज्ञभाष्यके कर्तृत्वके विषयमें आज कल विवाद चल रहा है। सुल्तारसा० आदि कुछ विद्वान् भाष्यकी उमास्वातिकर्तृकताके विषयमें सन्दिग्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिग्म्बरसूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए हैं। उन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५६) के श्रीमुक्तिगदके पूर्वपक्षमें तत्त्वार्थभाष्यकी सम्बन्ध-कारिकाओंमेंसे “श्रूयन्ते चानन्ता सामायिकमात्रसंसिद्धाः” कारिकाश उद्धृत किया है। तत्त्वार्थ-राजवार्तिक (पृ० १०) में भी “अनन्ताः सामायिकमात्रसंसिद्धाः” वाक्य उद्धृत मिलता है। इसी तरह तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पाई जाने गली ३२ कारिकाएँ राजवार्तिकके अन्तमें ‘उक्तञ्च’ लिखकर उद्धृत हैं। पृ० ३६१ में भाष्यकी ‘दग्धे बीजे’ कारिका उद्धृतकी गई है। इत्यादि प्रमाणोंके आधारसे यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि प्रस्तुत भाष्य अरुलङ्कदेवके सामने भी था। उनसे इसके कुछ मन्तव्योंकी समीक्षा भी की है।

**सिद्धसेन और प्रभाचन्द्र**—आ० सिद्धसेनके सम्मतितर्क, न्यायान्तार, द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनके सम्मतितर्क पर अभयदेवसूरिने निरुद्ध व्याख्या लिखी है। डॉ० जैसोबी न्यायवतारके प्रत्यक्ष लक्षणमें अभ्रान्त पद देखकर इनको धर्मकीर्तिका समझालीन, अर्थात् ईसाकी ७ वीं शताब्दीका विद्वान् मानते हैं। प० सुखलाल जी इन्हें विक्रमकी पाचवीं सदीका विद्वान् सिद्ध करते थे। पर अब उनका विश्वास है कि “सिद्धसेन ईसाकी छठी या सातवीं सदीमें हुए हों और उन्होंने सभ्यत धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंको देखा हो।” न्यायवतारकी रचनामें न्यायप्रवेशके साथ ही साथ न्यायविन्दु भी अपना यत्किञ्चित् स्थान रखता ही है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) में पक्षप्रयोगका समर्थन करते समय ‘धानुष्क’ का दृष्टान्त दिया है। इसकी तुलना न्यायान्तारके श्लोक १४-१६ से भलीभाँति की जा सकती है। न केवल मूलश्लोकसे ही, किन्तु इन श्लोकोंकी सिद्धार्थिकृत व्याख्या भी न्यायकुमुदचन्द्रकी शब्दरचनासे तुलनीय है।

**धर्मदासगणि और प्रभाचन्द्र**—शे० आचार्य धर्मदासगणिका उपदेशमाला ग्रन्थ प्राकृत-गापानिबद्ध है। प्रसिद्धि तो यह रही है कि ये महावीरखामीके दीक्षित शिष्य थे। पर यह इतिहासविरुद्ध है, क्योंकि इन्होंने अपनी उपदेशमालामें वज्रसूरि आदिके नाम लिए हैं। अस्तु। उपदेशमाला पर सिद्धार्थसूरिकृत प्राचीन टीका उपलब्ध है। सिद्धार्थने उपमितिभयप्रपञ्चाक्या पि स० १६२ उषेष्ट शुद्ध पक्षमीके दिन समाप्त की थी। अतः धर्मदासगणिकी उत्तरावधि विक्रम की ६ वीं शताब्दी माननेमें कोई बाधा नहीं है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ३३०) में उपदेशमाला (गा० १५) की ‘वरिससयदिकलयाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहु’ इत्यादि गाथा प्रमाणरूपसे उद्धृत की है।

१ देखो गुजराती सम्मतितर्क पृ० ४०।

२ इतिहास सम्मतितर्क की प्रस्तावना।

३ जैनसाहित्यको इतिहास पृ० १८६।

युक्तियोंमें परस्पर कोई पूर्वोत्तरपक्षता नहीं देखी जाती। अभयदेव, शान्तिसूरि, और प्रभाचन्द्र करीब करीब समकालीन और समदेशीय थे। इसलिए यह अधिक संभव था कि लीमुक्ति और केवलमुक्ति जैसे साम्प्रदायिक प्रकरणोंमें एक दूसरेका खंडन करते। पर हम इनके ग्रन्थोंमें परस्पर खंडन नहीं देखते। इसका कारण मेरी समझमें तो यही आता है कि उस समय दिगम्बर आचार्य यापनीयोंके साथ ही इस विषयकी चर्चा करते होंगे। यही कारण है कि जब प्रभाचन्द्रने शाकटायनके लीमुक्ति और केवलमुक्ति प्रकरणोंका ही शब्दशः खंडन किया है तब श्वेताम्बराचार्य अभयदेव और शान्तिसूरिने शाकटायनकी दलीलोंके आधारसे ही अपने ग्रन्थोंके उक्त प्रकरण पुष्ट किए हैं। बादिदेवसूरिने अथर्व ही प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंके उक्त प्रकरणोंको पूर्वपक्षमें प्रभाचन्द्रका नाम लेकर उपस्थित किया है।

सम्मतितर्कके सम्पादक श्रीमान् प० सुखलालजी और वैचरदासजीने सम्मतितर्क प्रथम भाग ( पृ० १३ ) की गुजराती प्रस्तावनामें लिखा है कि—“जो के आ टीकामा सैकड़ो दार्शनिक-ग्रन्थों नु दोहन जणाय छे, छुता सामान्यरीते मीमांसरूकुमारिलभट्टनु श्लोकरवार्तिक, नालन्दा-विश्वविद्यालय ना आचार्य शान्तरक्षितकृत तत्त्वसमग्र ऊपरनी कमलशीलकृत पञ्जिका अने दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्रना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड अने न्यायकुमुदचन्द्रोदय विगैरे ग्रंथों नु प्रतिबिम्ब मुख्यपणे आ टीकामा छे।” अर्थात् सम्मतितर्कटीका पर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तत्त्वसमग्रपञ्जिका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब पड़ा है। सम्मतितर्कके विद्वद्रूप सम्पादकोंकी उक्त बातसे सहमति रखते हुए भी मैं उसमें इतना परिवर्धन और कर देना चाहता हूँ कि—“प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका सम्मतितर्कसे शब्दसादृश्य मात्र साक्षात् निम्ब-प्रतिबिम्बमात्र होनेके कारण ही नहीं हैं, किन्तु तीनों ग्रंथोंके बहुभागमें जो अक्षिप्त सादृश्य पाया जाता है वह तृतीयराशिमूलक भी है। ये तृतीय राशिके ग्रंथ हैं—भट्टजयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह, व्योमशिवकी व्योमवती, जयन्तकी न्यायमञ्जरी, शान्तरक्षित और कमलशीलकृत तत्त्वसमग्र और उसकी पञ्जिका तथा विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा, आमपरीक्षा आदि प्रकरण। इन्हीं तृतीयराशिके ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब सम्मतितर्कटीका और प्रमेय-कमलमार्त्तण्डमें आया है।” सम्मतितर्कटीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि सम्मतितर्कका प्रमेयकमलमार्त्तण्डके साथ ही अधिक शब्दसादृश्य है। न्यायकुमुदचन्द्रमें जहाँ भी यत्किञ्चित् सादृश्य देखा जाता है वह प्रमेयकमलमार्त्तण्डप्रयुक्त ही है साक्षात् नहीं। अर्थात् प्रमेयकमलमार्त्तण्डके जिन प्रकरणों के जिस सन्दर्भसे सम्मतितर्कका सादृश्य है उन्हीं प्रकरणोंमें न्यायकुमुदचन्द्रसे भी शब्दसादृश्य पाया जाता है। इससे यह तर्कणा की जा सकती है कि—सम्मतितर्ककी रचनाके समय न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना नहीं हो सकी थी। न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेवके राज्यमें सन् १०५७ के आसपास रचा गया था जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्तिसे विदित है। सम्मति-

तर्कटीका, प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रकी तुलनाके लिए देखो—प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रथम अध्यायके टिप्पण तथा न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें दिए गए सन्मतिटीका के अन्तरण।

**वादि देवसूरि और प्रभाचन्द्र—देवसूरि** श्रीमुनिचन्द्रसूरिके शिष्य थे। प्रभाचक्र चरित्रके लेखानुसार मुनिचन्द्रने शान्तिसूरिसे प्रमाणविद्याका अध्ययन किया था। ये प्राग्जाटनशके रत्न थे। इन्होंने वि० स० ११४३ में गुर्जर देशको अपने जन्मसे पूत किया था। ये भड़ोच नगरमें ६ वर्षकी अल्पवयमें वि० स० ११५२ में दीक्षित हुए थे तथा वि० स० ११७४ में इन्होंने आचार्यपद पाया था। राजर्षि कुमारपालके राज्यकालमें वि० स० १२२६ में इनका सर्गासत हुआ। प्रसिद्ध है कि—वि० स० ११८१ वैशाख शुद्ध पूर्णिमाके दिन सिद्धराजकी सभामें इनका दिगम्बरनादी कुमुदचन्द्रसे वाद हुआ था और इसी वादमें विजय पानेके कारण देवसूरि वादि देवसूरि कहे जाने लगे थे। इन्होंने प्रमाणनयतत्कालोक्तकार नामक सूत्र ग्रन्थ तथा इसी सूत्रकी स्याद्वादरत्नाकर नामक विस्तृत व्याख्या लिखी है। इनका प्रमाणनयतत्कालोक्तकार माणिक्यनन्दिकृत परीक्षामुखसूत्रका अपने ढंगसे किया गया दूसरा संस्करण ही है। इन्होंने परीक्षामुखके ६ परिच्छेदोंका विषय ठीक उसी क्रमसे अपने सूत्रके आद्य ६ परिच्छेदोंमें यत्किञ्चित् शब्दभेद तथा अर्थभेदके साथ प्रथित किया है। परीक्षामुखसे अतिरिक्त इसमें नयपरिच्छेद और वादपरिच्छेद नामक दो परिच्छेद और जोड़े गए हैं। माणिक्यनन्दिके सूत्रोंके सिवाय अकलङ्कके स्वविवृतियुक्त लघीपत्रय, न्यायविनिश्चय तथा विद्यानन्दके तत्कार्यरत्नोक्तार्तिकना भी पर्याप्त साहाय्य इस सूत्रग्रन्थमें लिया गया है। इस तरह मिला मिल प्रन्थोंमें विशकलित जैनपदार्थोंका शब्द एवं अर्थदृष्टिसे सुन्दर संकलन इस सूत्रग्रन्थमें हुआ है।

परीक्षामुखसूत्रपर प्रभाचन्द्रकृत प्रमेयकमलमार्तण्ड नामकी विस्तृत व्याख्या है तथा अकलङ्कदेशके लघीपत्रयपर इन्हीं प्रभाचन्द्रका न्यायकुमुदचन्द्र नामका बृहत्काय टीकाग्रन्थ है। प्रभाचक्रने इन मूल ग्रन्थोंकी व्याख्याके साथही साथ मूलग्रन्थसे सम्बद्ध विषयोंपर विस्तृत लेख भी लिखे हैं। इन लेखोंमें विविध निकल्पजालोंसे परपक्षका खंडन किया गया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके तीक्ष्ण एवं आह्लादक प्रकाशमें जब हम स्याद्वादरत्नाकरको तुलनात्मक दृष्टिसे देखते हैं तब यदि देवसूरिकी गुणग्राहिणी समग्रदृष्टिकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। इनकी समग्रहक वीजबुद्धि प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रसे अर्थ शब्द और भावोंको इतने चेतश्चम कारक ढंगसे चुन लेती है कि अकेले स्याद्वादरत्नाकरके पद लेनेसे न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्तण्डका यावद्विषय निशेद रीतिसे अवगत हो जाता है। वस्तुतः यह रत्नाकर उक्त दोनों ग्रन्थोंके शब्द-अर्थरत्नोक्त सुन्दर आकर ही है। यह रत्नाकर मार्तण्डकी अपेक्षा चन्द्र (न्यायकुमुदचन्द्र) से ही अधिक उल्लेखित हुआ है। प्रकरणोंके क्रम और पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षके जमानेकी पद्धतिमें कहीं कहीं तो न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है कि दोनों ग्रन्थोंकी पाठशुद्धिमें एक दूसरेका मूलप्रतिकी तरह उपयोग किया जा सकता है।

हरिभद्र और प्रभाचन्द्र—आ० हरिभद्र श्वे० सम्प्रदायके युगप्रधान आचार्योंमेंसे हैं। कहा जाता है कि इन्होंने १४०० के करीब ग्रन्थोंकी रचना की थी। मुनि श्री जिनविजय जीने अनेक प्रबल प्रमाणोंसे इनका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। मेरा इसमें इतना संशोधन है—कि इनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक होनी चाहिए; क्योंकि जयन्त भट्टकी न्यायमजरीका ‘गम्भीरगार्जितारम्भ’ श्लोक पङ्दर्शनसमुच्चयमें शामिल हुआ है। मैं निस्तारसे लिख चुका हूँ कि जयन्तने अपनी मजरी ई० ८०० के करीब बनाई है अतः हरिभद्रके समयकी उत्तरावधि कुछ और लम्बानी चाहिए। उस युगमें १०० वर्षकी आयु तो साधारणतया अनेक आचार्यों की देखी गई है। हरिभद्रसूरिके दार्शनिक ग्रन्थोंमें ‘पङ्दर्शनसमुच्चय’ एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका—

“प्रत्यक्षमनुमानञ्च शब्दश्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च पट्प्रमाणानि जैमिनेः ॥ ७२ ॥”

यह श्लोक न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५०५) में उद्धृत है। यद्यपि इसी भागका एक श्लोक—  
“प्रत्यक्षमनुमानञ्च शब्दश्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च पडेते साध्यसाधकाः ॥”  
इस शब्दावलीके साथ कमलशीलकी तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (पृ० ४५०) में मिलता है और उससे सभावना की जा सकती है कि जैमिनीकी पट्प्रमाणसंख्याका निदर्शक यह श्लोक किसी जैमिनिमतानुयायी आचार्यके ग्रन्थसे लिया गया होगा। यह सभावना हृदयको लगती भी है। परन्तु जबतक इसका प्रसाधक कोई समर्थ प्रमाण नहीं मिलता तबतक उसे हरिभद्रकृत माननेमें ही लाघव है। और बहुत कुछ संभव है कि प्रभाचन्द्रने इसे पङ्दर्शनसमुच्चयसे ही उद्धृत किया हो। हरिभद्रने अपने ग्रन्थोंमें पूर्वपक्षके पक्षबन्धन और उत्तरपक्षके पोषणके लिए अल्पग्रन्थकारोंकी कारिकाएँ, पर्याप्त मात्रामें, कहीं उन आचार्योंके नामके साथ और कहीं बिना नाम लिए ही शामिल की हैं। अतः कारिकाओंके विषयमें यह निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है कि ये कारिकाएँ हरिभद्रकी स्वरचित हैं या अन्यरचित होकर संगृहीत हैं? इसका एक और उदाहरण यह है कि—

“विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च । समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ॥  
आत्मादभीयस्वभावाख्यः समुदयः स सम्मतः । क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना यका ॥  
स मार्ग इति विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते । पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ॥  
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च...”

ये चार श्लोक पङ्दर्शनसमुच्चयके बौद्धदर्शनमें मौजूद हैं। इसी आनुपूर्वीसे ये ही श्लोक किञ्चिद् शब्दभेदके साथ जिनसेनके आदिपुराण (पर्व ५ श्लो० ४२-४५) में भी विद्यमान हैं। रचनासे तो ज्ञात होता है कि ये श्लोक किसी बौद्धाचार्यने बनाए होंगे, और उसी बौद्धग्रन्थसे पङ्दर्शनसमुच्चय और आदिपुराणमें पहुँचे हों। हरिभद्र और जिनसेन प्रायः समकालीन हैं, अतः यदि ये श्लोक हरिभद्रके होकर आदिपुराणमें आए हैं तो इसे उससमयके असाम्प्रदायिक भावकी महत्त्वपूर्ण घटना समझनी चाहिए। हरिभद्रने तो शास्त्रवार्ता-समुच्चयमें समन्तमद्रकी आसमीमासाके श्लोक उद्धृत कर अपनी पङ्दर्शनसमुच्चयक बुद्धिके प्रेरणा



बीजको ही मूर्तरूपमें अङ्कुरित किया है। यदि न्यायप्रवेशवृत्तिकार हरिभद्र ये ही हरिभद्र हैं तो उस वृत्ति (पृ० १३) में पाई जाने वाली पक्षशब्दकी 'पच्यते व्यक्तीक्रियते योऽर्थः सः पक्षः' इस व्युत्पत्तिकी अस्पष्ट छाया न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३८) में की गई पक्षकी व्युत्पत्ति पर आभासित होती है।

**सिद्धिर्पि और प्रभाचन्द्र**—श्रीसिद्धिर्पिगणि श्रे० आचार्य दुर्गाग्रामीके शिष्य थे। इन्होंने ज्येष्ठ शुक्ला पचमी, विक्रम समत् १६२ ( १ मई १०६ ई० ) के दिन उपमितिभवनप्रपञ्चा कथाकी समाप्ति की थी। सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतारपर भी इनकी एक टीका उपलब्ध है। न्यायावतार ( श्लो० १६ ) में पक्षप्रयोगके समर्थनके प्रसंगमें लिखा है कि—“जिस तरह लक्ष्यनिर्देशके बिना अपनी धनुर्विद्याका प्रदर्शन करने वाले धनुर्धारीके गुण-दोषोंका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता, गुण भी दोषरूपसे तथा दोष भी गुणरूपसे प्रतिभासित हो सकते हैं, उसी तरह पक्षका प्रयोग किए बिना साधनवादीके साधन सम्बन्धी गुण-दोष भी निपरीत रूपमें प्रतिभासित हो सकते हैं, प्राश्रिक तथा प्रतिगदी आदिको उनका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता।” न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) के 'पक्षप्रयोगविचार' प्रकरणमें भी पक्षप्रयोगके समर्थनमें धनुर्धारीका दृष्टान्त दिया गया है। उसकी शब्दरचना तथा भाग्यजननामें न्यायावतारके मूलश्लोकके साथ ही साथ सिद्धिर्पिकृत व्याख्याका भी पर्याप्त शब्दमाहश्य पाया जाता है। अन्तरणोंके लिए देखो—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ४३७ टि० १।

**अभयदेव और प्रभाचन्द्र**—चन्द्रगच्छमें प्रद्युम्नसूरि बड़े ख्यात आचार्य थे। अभयदेव सूरि इन्हीं प्रद्युम्नसूरिके शिष्य थे। न्यायनसिंह और तर्कपञ्चानन इनके विरुद्ध थे। सन्मतिनर्ककी गुजराती प्रस्तानना (पृ० ८३) में श्रीमान् प० सुखलालजी और प० वेचरदासजीने इनका समय विक्रमकी दशमी सदीका उत्तरार्ध और ग्यारहवींका पूर्वार्ध निश्चित किया है। उत्तराध्ययनकी पाठ्यटीकाके रचयिता शान्तिसूरिने उत्तराध्ययनटीकाकी प्रशस्तिमें एक अभयदेव को प्रमाणविद्याका गुरु लिखा है। प० सुखलालजीने शान्तिसूरिके गुरुरूपमें इन्हीं अभयदेवसूरिकी सभानना की है। प्रभाकरचरित्रके उल्लेखानुसार शान्तिसूरिका स्वर्गगत १० स० १०६६ में हुआ था। इन्हीं शान्तिसूरिने धनपालकनिकी तिलकमञ्जरी व्याख्यायिका का सशोधन किया था, और उस पर एक टिप्पण लिखा था। धनपाल कवि मुञ्ज तथा भोज दोनोंकी राजसभाओं में सम्मानित हुए थे। इन सब घटनाओंको मद्दे नजर रखते हुए अभयदेव सूरिका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक मान लेने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। अभयदेव सूरिकी प्रामाणिक-प्रकाण्डताका जीवन्त रूप उनकी सन्मतिटीका में पद पद पर मिलता है। इस सुविस्तृत टीका की 'वादमहार्णव' के नामसे भी प्रसिद्धि रही है।

प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रकी अपेक्षा प्रमेयकमलमार्चण्डका अकल्पित सादृश्य इस टीका में पाया जाता है। अभयदेवसूरिने सन्मतिटीका में स्त्रीमुक्ति और केवलिकरलाहारका समर्थन किया है। इसमें दी गई दलीलोंमें तथा प्रभाचन्द्रके द्वारा किए गए उक्त वादोंके खण्डन की

प्रतिबिम्बवाद नामक प्रकरणमें वादि देवसूरिने अपने रत्नाकर (पृ० ८६५) में न्याय-कुमुदचन्द्र (पृ० ४५५) में निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खडन करनेका प्रयास किया है। प्रभाचन्द्रका मत है कि—प्रतिबिम्बकी उत्पत्तिमें जल आदि द्रव्य उपादान कारण हैं तथा चन्द्र आदि बिम्ब निमित्तकारण। चन्द्रादि बिम्बोंका निमित्त पाकर जल आदिके परमाणु प्रतिबिम्बाकारसे परिणत हो जाते हैं।

वादि देवसूरि कहते हैं कि—मुखादिबिम्बोंसे छायापुद्गल निकलते हैं और वे जाकर दर्पण आदिमें प्रतिबिम्ब उत्पन्न करते हैं। यहाँ छायापुद्गलोंका मुखादि बिम्बोंसे निकलनेका सिद्धान्त देवसूरिने अपने पूर्वाचार्य श्रीहरिभद्रसूरिके धर्मसारप्रकरणका अनुसरण करके लिखा है। वे इस समय यह भूल जाते हैं कि हम अपनेही ग्रन्थमें नैयायिकोंके चतुसे रश्मियोंके निकलनेके सिद्धान्तका खडन कर चुके हैं। जब हम भासुररूपवाली आखसे भी रश्मियोंका निकलना युक्ति एवं अनुभूतिसे विरुद्ध बताते हैं तब मुख आदि मलिन बिम्बोंसे छायापुद्गलोंके निकलनेका समर्थन किस तरह किया जा सकता है? मजेदार बात तो यह है कि इस प्रकरणमें भी वादि देवसूरि न्यायकुमुदचन्द्रके साथही साथ प्रमेयकमलमार्त्तण्डका भी शब्दशः अनुसरण करते हैं। और न्यायकुमुदचन्द्रमें निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खडनकी धुनमें स्वयं ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डके उसी आशयके शब्दोंको सिद्धान्त मान बैठते हैं। वे रत्नाकरमें (पृ० ६६८) ही प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का शब्दानुसरण करते हुए लिख जाते हैं कि—“स्वच्छताविशेषाद्वि जलदर्पणादयो मुखादित्यादिप्रतिबिम्बाकारविकारधारिणः सम्पद्यन्ते।”—अर्थात् विशेष स्वच्छताके कारण जल और दर्पण आदि ही मुख और सूर्य आदि बिम्बोंका आकारवाली पर्यायो को धारण करते हैं। कवलाहाके प्रकरणमें इन्होंने प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दी गई दलीलोंका नामोल्लेख पूर्वक पूर्वपक्षमें निर्देश किया है और उनका अपनी दृष्टिसे खडन भी किया है। इस तरह वादि देवसूरिने जब रत्नाकर लिखना प्रारम्भ किया होगा तब उनकी आखोंके सामने प्रभाचन्द्रके ये दोनों ग्रन्थ बराबर नाचते रहे हैं।

**हेमचन्द्र और प्रभाचन्द्र**—विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें आ० हेमचन्द्रसे जैनसाहित्यके हेमयुगका प्रारम्भ होता है। हेमचन्द्रने व्याकरण, काव्य, छन्द, योग, न्याय आदि साहित्यके सभी विभागोंपर अपनी प्रौढ सम्राट्टक लेखनी चलाकर भारतीय साहित्यके भंडारको खूब समृद्ध किया है। अपने बहुमुख पाण्डित्यके कारण ये ‘कलिमाल सर्वज्ञ’ के नामसे भी ख्यात हैं। इनका जन्म समय कार्तिकी पूर्णिमा विक्रमसंवत् ११४५ है। वि० सं० ११५४ (ई० सन् १०६७) में ८ वर्षकी लघुयुवमें इन्होंने दीक्षा धारण की थी। विक्रमसंवत् ११६६ (ई० सन् १११०) में २१ वर्षकी अवस्थामें ये सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। ये महाराज जयसिंह मिश्रराज तथा राजर्षि कुमारपालकी राजसभाओंमें सबहुमान लब्धप्रतिष्ठ थे। वि० सं० १२२६ (ई० ११७३) में ८४ वर्षकी आयुमें ये दिवंगत हुए। इनकी न्यायविषयक रचना-प्रमाणमीमासा जैनन्यायके ग्रंथोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। प्रमाणमीमासाके निम्न-

स्थानके निरूपण और खडनके समूचे प्रकरणमें तथा अनेकान्तमें दिए गए आठ दोषोंके परिहारके प्रसंगमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका शब्दशः अनुसरण किया गया है। प्रमाण-मीमांसाके अन्य स्थलोंमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी छाप साक्षात् न पड़कर प्रमेयरत्नमालाके द्वारा पड़ी है। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यने प्रमेयकमलमार्त्तण्डको ही सक्षिप्त कर प्रमेयरत्नमालाकी रचना की है। अतः मध्यकदवाली प्रमाणमीमांसामें बृहत्काय प्रमेयकमलमार्त्तण्डका सीधा अनुसरण न होकर अपने समान परिमाणवाली प्रमेयरत्नमालाका अनुसरण होना ही अधिक सगत मालूम होता है। प्रमाणमीमांसाके प्रायः प्रत्येक प्रकरण पर प्रमेयरत्नमालाकी शब्दरचनाने अपनी स्पष्ट छाप लगाई है। इस तरह आ० हेमचन्द्रने कहीं साक्षात् और कहीं परम्परया प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डको अपनी प्रमाणमीमांसा बनाते समय मद्देनजर रखा है। प्रमेयरत्नमाला और प्रमाणमीमांसाके स्थलोंकी तुलनाके लिए सिंधी सीरिजसे प्रकाशित प्रमाणमीमांसाके भाषा टिप्पण देखना चाहिए।

**मलयगिरि और प्रभाचन्द्र**—निक्रमकी १२ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा तेरहवीं शताब्दीका प्रारम्भ जैनसाहित्यका हेमयुग कहा जाता है। इस युगमें आ० हेमचन्द्रके सहनिहारी, प्रख्यात टीकाकार आचार्य मलयगिरि हुए थे। मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, नन्दीसूत्र आदि अनेकों आगमिकग्रंथों पर सस्कृत टीकाएँ लिखी हैं। आवश्यकनिर्युक्तिकी टीका (पृ० ३७१ A) में वे अकलङ्कदेवके 'नयनाक्यमें भी स्यात्पदका प्रयोग करना चाहिए' इस मतसे असहमति जाहिर करते हैं। इसी प्रसंगमें वे पूर्वपक्षरूपसे लघीयलक्ष्यस्वनिवृत्ति (का० ६२) का 'नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्' यह वाक्य उद्धृत करते हैं। और इस वाक्यके साथ ही साथ प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६१) से उक्त वाक्यकी व्याख्या भी उद्धृत करते हैं। व्याख्याका उद्धरण इस प्रकारसे लिया गया है—“अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाण्याकामित्यपिशब्दार्थः, तथैव स्यात्पदप्रयोग-प्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषय स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति, स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति।”—इस अवतरणसे यह निश्चित हो जाता है कि मलयगिरिके सामने लघीयलक्ष्यकी न्यायकुमुदचन्द्र नामकी व्याख्या थी।

अकलङ्कदेवने प्रमाण, नय और दुर्नयकी निम्नलिखित परिभाषाएँ की हैं—अनन्तधर्मात्मक वस्तुको अखण्डभाससे ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। एकधर्मको मुख्य तथा अन्यधर्मोंको गौण करनेवाला, उनकी अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान नय है। एकधर्मको ही ग्रहण करके जो अन्य धर्मोंका निषेध करता है—उनकी अपेक्षा नहीं रखता वह दुर्नय कहलाता है। अकलङ्कने प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें भी नयान्तरसापेक्षता दिखानेके लिए 'स्यात्' पदके प्रयोगका विधान किया है।

आ० मलयगिरि कहते हैं कि—जब नयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब 'स्यात्' शब्दसे सूचित होनेवाले अन्य अशेषधर्मोंको भी विषय करनेके कारण नयवाक्य नयरूप न होकर प्रमाणरूप ही हो जायगा। इनके मतसे जो नय एक धर्मको अवधारणपूर्वक विषय

करके इतरनयसे निरपेक्ष रहता है वही नय कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होंने सभी नयोंको मिथ्यावाद कहा है। मलयगिरिके कोषमें सुनय नामका कोई शब्दही नहीं है। जब स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब वह प्रमाणकोटिमें पहुँचेगा तथा जब नयान्तरनिरपेक्ष रहेगा तब वह नयकोटिमें जाकर मिथ्यावाद हो जायगा। इन्होंने अकलकदेवके इस तत्त्वको मदेनजर नहीं रखा कि—नयवाक्यमें स्यात् शब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्मोंका मात्र सद्भाव ही जाना जाता है, सो भी इसलिए कि कोई वादी उनका ऐकान्तिक निषेध न समझ ले। प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें स्याच्छब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्म प्रधानभाससे विषय नहीं होते। यही तो प्रमाण और नयमें भेद है कि—जहाँ प्रमाणमें अशेष ही धर्म एकरूपसे—अखण्डभावसे विषय होते हैं वहाँ नयमें एकधर्म मुख्य होकर अन्य अशेषधर्म गौण हो जाते हैं, 'स्यात्' शब्दसे मात्र उनका सद्भाव सूचित होता रहता है। दुर्नयमें एकधर्म ही विषय होकर अन्य अशेषधर्मोंका तिरस्कार हो जाता है। अतः दुर्नयसे सुनयका पर्याय करनेके लिए सुनयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग अप्रत्यक्ष है। मलयगिरिके द्वारा की गई अकलककी यह समालोचना उन्हीं तक सीमित रही। हेमचन्द्र आदि सभी आचार्य अकलकके उक्त प्रमाण, नय और दुर्नयके विभागको निर्विवादरूपसे मानते आए हैं। इतना ही नहीं, उपाध्याय यशोगिजयने मलयगिरिकी इस समालोचनाका सयुक्तिक उत्तर गुरुतत्त्वविनिश्चय (पृ० १७ B) में दे ही दिया है। उपाध्यायजी लिखते हैं कि यदि नयान्तरसापेक्ष नयका प्रमाणमें अन्तर्भाव किया जायगा तो व्यवहारनय तथा शब्दनय भी प्रमाण ही हो जायेंगे। नयवाक्यमें होनेवाला स्यात्पदका प्रयोग तो अनेक धर्मोंका मात्र घोतन करता है, वह उन्हें निश्चितधर्मकी तरह नयवाक्यका विषय नहीं बनाता। इसलिए नयवाक्यमें मात्र स्यात्पदका प्रयोग होनेसे वह प्रमाणकोटिमें नहीं पहुँच सकता।

देवभद्र और प्रभाचन्द्र—देवभद्रसूरि मलधारिगच्छके श्रीचन्द्रसूरिके शिष्य थे। इन्होंने न्यायान्तरटीका पर एक टिप्पण लिखा है। श्रीचन्द्रसूरिने वि० सवत् ११६३ (सन् ११३६) के दिवालीके दिन 'मुनिमुव्रत चरित' पूर्ण किया था। अतः इनके साक्षात् शिष्य देवभद्रका समय भी करीब सन् ११५० से १२०० तक सुनिश्चित होता है। देवभद्रने अपने न्यायान्तर टिप्पणमें प्रभाचन्द्रवृत्त न्यायकुमुदचन्द्रके विमललिखित दो अवतरण लिए हैं—

१—"परिमण्डलाः परमाणवः तेषां भावः धारिमण्डल्य धर्तुल्यम्, न्यायकुमुदचन्द्रे प्रभाचन्द्रेणाप्येव व्याख्यातत्वात् ।" (पृ० २५)

२—"प्रभाचन्द्रस्तु न्यायकुमुदचन्द्रे निमाया सद्धर्मप्रतिपादको ग्रन्थनिर्देशः तां निवृत्तिं अभीष्टे वा वैभाषिणः इत्युक्तम् ।" (पृ० ७६)

ये दोनों अवतरण न्यायकुमुदचन्द्रमें क्रमशः पृ० ४३-५० १३ तथा पृ० ३६० ५० १ में पाए जाते हैं। इनके सिवाय न्यायान्तरटिप्पणमें अनेक स्थानोंपर न्यायकुमुदचन्द्रका प्रतिविम्ब एतद्वत्पसे भ्रमकता है।

**मल्लिपेण और प्रभाचन्द्र**—आ० हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके ऊपर मल्लिपेण की स्याद्वादमजरी नामकी सुन्दर टीका मुद्रित है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदायके नागेन्द्रगच्छीय श्रीउदयप्रभसूरिके शिष्य थे। स्याद्वादमजरीके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि—इन्होंने शक संवत् १२१४ (ई० १२६३) में दीपमालिना शनिवारके दिन जिनप्रभसूरिकी सहायतासे स्याद्वादमजरी पूर्ण की थी। स्याद्वादमजरीकी शब्द रचनापर न्यायकुमुदचन्द्रका एक विलक्षण प्रभाव है। मल्लिपेणने का० १४ की व्याख्यामें विधिवादकी चर्चा की है। इसमें उन्होंने विधिवादियोंके आठ मतोंका निर्देश किया है। साथही साथ अपनी ग्रन्थमर्यादाके विचारसे इन मतोंके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षोंके विशेष परिज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ देखनेका अनुरोध निम्नलिखित शब्दोंमें किया है—“एतेषा निराकरण सपूर्वोत्तरपक्ष न्यायकुमुदचन्द्रादयसेचम्।” इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है कि मल्लिपेण न केवल न्यायकुमुदचन्द्रके विशिष्ट अभ्यासी ही थे किन्तु वे स्याद्वादमजरीमें अर्चर्चित या अल्पचर्चित विषयोंके ज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्रको प्रमाणभूत आकर ग्रन्थ मानते थे। न्यायकुमुदचन्द्रमें विधिवादकी विस्तृत चरचा पृ० ५७३ से ५६८ तक है।

**गुणरत्न और प्रभाचन्द्र**—विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें तपागच्छमें श्रीदेव-सुन्दरसूरि एक प्रभावक आचार्य हुए थे। इनके पट्टशिष्य गुणरत्नसूरिने हरिभद्रकृत ‘षड्दर्शनसमुच्चय’ पर तर्करहस्यदीपिका नामकी बृहद्बृत्ति लिखी है। गुणरत्नसूरिने अपने क्रियारत्नसमुच्चय ग्रन्थकी प्रतियोका लेखनकाल विक्रम संवत् १४६८ दिया है। अतः इनका समय भी विक्रमकी १५ वीं सदीका उत्तरार्ध सुनिश्चित है। गुणरत्नसूरिने षड्दर्शनसमुच्चय टीकाके जैनमत निरूपणमें मोक्षलक्षका सविस्तर विशद विवेचन किया है। इस प्रकरणमें इन्होंने स्वामिमत मोक्षलक्षरूपके समर्थनके साथही साथ वैशेषिक, सांख्य, वेदांती तथा बौद्धोंके द्वारा माने गए मोक्षलक्षरूपका बड़े विस्तारसे निराकरण भी किया है। इस परखडनके भागमें न्यायकुमुदचन्द्रका मात्र अर्थ और भावकी दृष्टिसे ही नहीं, किन्तु शब्दरचना तथा युक्तियोंके कोटिक्रमकी दृष्टिसे भी पर्याप्त अनुसरण किया गया है। इस प्रकरणमें न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है कि इससे न्यायकुमुदचन्द्रके पाठकी शब्दशुद्धि करनेमें भी पर्याप्त सहायता मिली है। इसके सिवाय इस बृत्तिके अन्य स्थलोंपर खासकर परपक्षखंडनके भागोंपर न्यायकुमुदचन्द्रकी शुभ्रज्योत्स्ना जहाँ तहाँ छिटक रही है।

**यशोविजय और प्रभाचन्द्र**—उपाध्याय यशोविजयजी विक्रमकी १८ वीं सदीके युग प्रवर्तक विद्वान् थे। इन्होंने विक्रम संवत् १६८८ (ईस्वी १६३१) में प० नयविजयजीके पास दीक्षा ग्रहण की थी। इन्होंने काशीमें नव्यन्यायका अध्ययन कर बादमें किसी विद्वान् पर विजय पानेसे ‘न्यायविशारद’ पद प्राप्त किया था। श्रीविजयप्रभसूरिने वि० सं० १७१८ में इन्हे ‘वाचक-उपाध्याय’ का सम्मानित पद दिया था। उपाध्याय यशोविजय वि० सं० १७४३

( सन् १६८६ ) में अनशन पूर्वक स्वर्गस्थ हुए थे । दशवीं शताब्दीसे ही नव्यन्यायके विकासने भारतीय दर्शनशास्त्रमें एक अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी । यद्यपि दसवीं सदीके बाद अनेकों बुद्धिशाली जैनाचार्य हुए पर कोई भी उस नव्यन्यायके शब्दजालके जटिल अध्ययनमें नहीं पड़ा । उपाध्याय यशोबिजय ही एकमात्र जैनाचार्य हैं जिन्होंने नव्यन्यायका समग्र अध्ययन कर उसी नव्यपद्धतिसे जैनपदार्थोंका निरूपण किया है । इन्होंने सैकड़ों ग्रन्थ बनाए हैं । इनका अध्ययन अत्यन्त तलस्पर्शी तथा बहुमुख था । सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्योंके ग्रन्थोंका इन्होंने विधिवत् पारायण किया था । इनकी तीक्ष्ण दृष्टिसे धर्मभूषणयतिकी छोटीसी पर सुविशद रचनावाली न्यायदीपिका भी नहीं छूटी । जैनतर्कभाषामें अनेक जगह न्याय-दीपिकाके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं । इनके शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका आदि बृहद्ग्रन्थोंके परपक्ष खंडनवाले अंशोंमें प्रभाचन्द्रके विविध विरूपजाल स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बित हैं । इन्होंने प्रभाचन्द्रका केवल अनुसरण ही नहीं किया है किन्तु साम्प्रदायिक स्त्रीमुक्ति और कनलाहार जैसे प्रकरणोंमें प्रभाचन्द्रके मन्तव्योंकी समालोचना भी की है ।

उपरिलिखित वैदिक अवैदिकदर्शनोकी तुलनासे प्रभाचन्द्रके अगाध, तलस्पर्शी, सूक्ष्म दार्शनिक अध्ययनका यत्किञ्चिन् आभास हो जाता है । बिना इस प्रकारके बहुभुत अवलोकनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे जैनदर्शनके प्रतिनिधि ग्रन्थोंके प्रणयनका उल्लास ही नहीं हो सकता था । जैनदर्शनके मध्ययुगीन ग्रन्थोंमें प्रभाचन्द्रके ये ग्रन्थ अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं । ये पूर्वयुगीन ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब लेखर भी पारदर्शी दर्पणकी तरह उत्तर-कालीन ग्रन्थोंके लिए आधारभूत हुए हैं, और यही इनकी अपनी विशेषता है । बिना इस आदान-प्रदानके दार्शनिक साहित्यका विकास इस रूपमें तो हो ही नहीं सकता था ।

**प्रभाचन्द्रका आयुर्वेदज्ञान—**प्रभाचन्द्र शुष्क तार्किक ही नहीं थे; किन्तु उन्हें जीरानोपयोगी आयुर्वेदका भी परिज्ञान था । प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ४२४ ) में वे बधिरता तथा अन्य कर्णरोगोंके लिए बलातैलका उल्लेख करते हैं । न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ६६६ ) में छाया आदिको पौष्टिक सिद्ध करते समय उनमें गुणोंका सद्भावन दिखानेके लिए उनने वैद्यकशास्त्रका निम्नलिखित श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

“आतपः कटुको रुक्षः छाया मधुरशीतला ।

कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहरं (करं) तमः ॥”

यह श्लोक राजनिषण्ण आदिमें कुछ पाठभेदके साथ पाया जाता है । इसी तरह वैशेषिकोंके गुणपदार्थका खंडन करते समय (न्यायकु० पृ० २७५) वैद्यकतन्त्रमें प्रसिद्ध विशद, भिर, गर, पिच्छलत्व आदि गुणोंके नाम लिए हैं । प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ८ ) में नड्ड-छोदक-तृणमिगेरके जलसे पादरोगघ्नी उत्पत्ति बताई है ।

**प्रभाचन्द्रकी कल्पनाशक्ति—**सामान्यतः वस्तुकी अनन्तात्मकता या अनेकधर्माधारताकी सिद्धिके लिए अकल्पक आदि आचार्योंने चित्रज्ञान, सामान्यविशेष, मेचकज्ञान और नरसिंह

आदिके दृष्टान्त दिए हैं। पर प्रभाचन्द्रने एक ही वस्तुकी अनेकरूपताके समर्थनके लिए न्याय-कुमुदचन्द्र (पृ० ३६६) में 'उमेश्वर' का दृष्टान्त भी दिया है। वे लिखते हैं कि जैसे एक ही शिव वामाङ्गमें उमा पार्वतीरूप होकर भी दक्षिणाङ्गमें विरोधी शिवरूपको धारण करते हैं और अपने अर्धनारीश्वररूपको दिखाते हुए अखंड बने रहते हैं उसी तरह एक ही वस्तु विरोधी दो या अनेक आकारोंको धारण कर सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए।

**उदारचिन्तार—**आ० प्रभाचन्द्र सच्चे तार्किक थे। उनकी तर्कणा शक्ति और उदार विचारोका स्पष्ट परिचय ब्राह्मणत्व जातिके खण्डनके प्रसङ्गमें मिलता है। इस प्रकरणमें उन्होंने ब्राह्मणत्व जातिके नित्यत्व और एवम्यका खण्डन करके उसे सदृशपरिणमन रूप ही सिद्ध किया है। वे जन्मना जातिका खण्डन बहुविध विकल्पोंसे करते हैं और स्पष्ट शब्दोंमें उसे गुण-कर्मानुसारिणी मानते हैं। वे ब्राह्मणत्व जाति निमित्तक वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदिके व्यवहारको भी क्रियाविशेष और यज्ञोपवीत आदि चिह्नोंसे उपलक्षित व्यक्ति विशेषमें ही करनेकी सलाह देते हैं—

“ननु ब्राह्मणत्वादिसामान्यानभ्युपगमे कथं भवता वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निवन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारः स्यात् ? इत्यप्यचोद्यम्, क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्ति-विशेषे तद्व्यवस्थाया तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः। तत्र भवत्कल्पित नित्यादिस्वभाव ब्राह्मण्य कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्धयतीति क्रियाविशेषनिवन्धन एवाय ब्राह्मणादिव्यवहारो युक्तः।”

[ न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ । प्रमेयक्रमलमार्त्तण्ड पृ० ४८६ ]

“प्रश्न—यदि ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ नहीं हैं तब जैनमतमें वर्णाश्रमव्यवस्था और ब्राह्मणत्व आदि जातियोंसे सम्बन्ध रखनेवाला तप दान आदि व्यवहार कैसे होगा ? उत्तर—जो व्यक्ति यज्ञोपवीत आदि चिह्नोंको धारण करे तथा ब्राह्मणोक्त योग्य निश्चित क्रियाओंका आचरण करे उनमें ब्राह्मणत्व जातिसे सम्बन्ध रखने वाली वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदि व्यवहार भली भाँति किये जा सकते हैं। अतः आपके द्वारा माना गया नित्य आदि स्वभाववाला ब्राह्मणत्व किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, इसलिये ब्राह्मण आदि व्यवहारों को क्रियानुसार ही मानना युक्तिसंगत है।”

वे प्रमेयक्रमलमार्त्तण्ड ( पृ० ४८७ ) में और भी स्पष्टतासे लिखते हैं कि—“तत्र सदृशक्रियापरिणामादिनिवन्धनेवेय ब्राह्मणक्षत्रियादिव्यवस्था—इसलिये यह समस्त ब्राह्मण क्षत्रिय आदि व्यवस्था सदृश क्रिया और सदृश परिणमन आदिके निमित्तसे होती ही है।”

बौद्धोंके धम्मपद और खे० आगम उत्तराध्ययनसूत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें ब्राह्मणत्व जातिको गुण और कर्मके अनुसार बताकर उसको जन्मना माननेके सिद्धान्तका खण्डन किया है—

“न जटाहिं न गोत्तेहिं न जच्चा होति ब्राह्मणो ।

जम्हि सच्च च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥

न चाह ब्राह्मण ब्रूमि योनिन मत्तिसमव ।” [ धम्मपद गा० ३१३ ]

“कम्मुणा वंभणो होइ कम्मुणा होइ रत्तिओ ।

वईसो कम्मुणा होइ मुहो हवइ कम्मुणा ॥” [ उत्तरा० २५।३३ ]

दिगम्बर आचार्योंमें ब्राह्मणचरित्रके कर्ता श्री जटासिंहनदि कितने स्पष्ट शब्दोंमें जातिकी क्रियानिमित्तक लिखते हैं—

“क्रियाविशेषाद् व्यवहारमानात् दयाभिरक्षाकृपिशिल्पभेदात् ।

शिष्टाश्च वर्णाश्रुतुरो वदन्ति न चायथा वर्णचतुष्टय स्यात् ॥” [ ब्राह्मचरित २५।११ ]

“शिष्टजन इन ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंको ‘अहिंसा आदि व्रतोंका पालन, रक्षा करना, खेती आदि करना, तथा शिल्पवृत्ति’ इन चार प्रकारकी क्रियाओंसे ही मानते हैं । यह सब वर्णोंव्यवस्था व्यवहार मात्र है । क्रियाके सिवाय और कोई वर्णव्यवस्थाका हेतु नहीं है ।”

ऐसे ही विचार तथा उद्धार पद्मपुराणकार रजियेण, आदि पुराणकार जिनसेन, तथा धर्म परीक्षाकार अमितागति आदि आचार्योंके पाए जात हैं । आ० प्रभाचन्द्रने, इन्हीं वैदिक सत्कृति द्वारा अनभिभूत, परम्परागत जैनसत्कृतिके निष्ठुद्ध विचारोंका, अपनी प्रखर तर्कधारासे परि सिद्ध कर पोषण किया है । यद्यपि ब्राह्मणत्वजातिके खण्डन करते समय प्रभाचन्द्रने प्रधान तथा उसके नित्यत्व और ब्रह्मप्रभवत्त्व आदि अशोकें खण्डनके लिए इस प्रकरणको लिखा है और इसके लिरनमें महात्तर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कार तथा शास्तरक्षितके तत्त्वसमूहने पर्याप्त प्रेरणा दी है परन्तु इससे प्रभाचन्द्रजी अपनी जातिविषयक स्वतन्त्र चिन्तनवृत्तिमें कोई कमी नहीं आती । उन्होंने उसके हर एक पहलू पर विचार करके ही अपने उक्त विचार स्थिर किए ।

## § २. प्रभाचन्द्रका समय—

कार्यक्षेत्र और गुरुकुल—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदिकी प्रशस्तिमें ‘पद्मनादि सैद्धांत को अपना गुरु लिया है । श्रैयणवेङ्गोलाके शिलालेख (न० ४०) में गोल्लापार्ष्णे शिष्य पद्मनादि सैद्धांतिकता उल्लेख है । और इसी शिलालेखमें आगे चलकर प्रतिनर्तकप्रत्यकार, शब्दाम्भोरुहमास्कर प्रभाचन्द्रका शिष्यरूपमें वर्णन किया गया है । प्रभाचन्द्रके प्रतिनर्तकप्रत्यकार और शब्दाम्भोरुहमास्कर ये दोनों विगोचर यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि ये प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड जैसे प्रथित तर्कप्रयोग रचयिता थे तथा शब्दाम्भोरुहमास्करनामक जैनद्रव्यासके कर्ता भी थे । इसी शिलालेखमें पद्मनादि सैद्धांतिकोंके अरिद्धकर्गादिक और कौमारदेवनाती लिखा है । इन विरूपणोंमें ज्ञात होता है कि—पद्मनादि सैद्धांतिकता का अन्तर्धान होने पर पश्चिम की दीक्षा धारण की होगी और इसीलिए ये कौमारदेवनाती बंदे जात थे । ये मूलमतात्मक नादिगणके प्रमेयस्वरूप दर्शकगुरु श्रीगोल्लापार्ष्णे शिष्य थे ।



प्रभाचन्द्रके सधर्मा श्रीकुलभूषण मुनि थे । कुलभूषण मुनि भी सिद्धान्तशास्त्रोंके पारगामी और चारित्रसागर थे । इस शिलालेखमें कुलभूषणमुनिकी शिष्यपरम्पराका वर्णन है, जो दक्षिणदेशमें हुई थी । तात्पर्य यह कि आ० प्रभाचन्द्र मूलसघान्तर्गत नन्दिगणकी आचार्यपरम्परामें हुए थे । इनके गुरु पद्मनन्दिसेद्धान्त थे और सधर्मा थे कुलभूषणमुनि । मालूम होता है कि प्रभाचन्द्र पद्मनन्दिसे शिक्षा-दीक्षा लेकर धारानगरीमें चले आए, और यहीं उन्होंने अपने ग्रन्थोंकी रचना की । ये धाराधीशभोजके मान्य विद्वान् थे । प्रमेयकमलभार्तण्डकी “श्रीभोज-देवराज्ये धारानिवासिना” आदि अन्तिम प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि—यह ग्रन्थ धारानगरीमें भोज-देवके राज्यमें बनाया गया है । न्यायकुमुदचन्द्र, आराधनागद्यकथाकोश और महापुराण-टिप्पणकी अन्तिम प्रशस्तियोंके “श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना” शब्दोंसे इन ग्रन्थोंकी रचना भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवके राज्यमें हुई ज्ञात होती है । इसलिए प्रभाचन्द्रका कार्यक्षेत्र धारानगरी ही मालूम होता है । सभ्य है कि इनकी शिक्षा-दीक्षा दक्षिणमें हुई हो ।

श्रवणवेल्लोलाके शिलालेख न० ५५ में मूलसघके देशीगणके देवेन्द्रसैद्धान्तदेवका उल्लेख है । इनके शिष्य चतुर्मुखदेव और चतुर्मुखदेवके शिष्य गोपनन्दि थे । इसी शिलालेखमें इन गोपनन्दिके सधर्मा एक प्रभाचन्द्रना वर्णन इस प्रकार किया गया है—

“अथ सधर्मरु-

श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरदिमच्छटा-

च्छायाकुङ्कुमपङ्कलिप्रचरणाम्भोजातलक्ष्मीधयः ।

न्यायाब्जजाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्जरोदोमणिः,

स्थेयात्पण्डितपुण्डरीतरणि श्रीमान् प्रभाचन्द्रमा ॥१७॥

श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्योऽधृष्यः प्रवादिभिः ।

पण्डितश्रीप्रभाचन्द्रो रुद्रवादिगजाङ्गुशः ॥१८॥”

इन श्लोकोंमें वर्णित प्रभाचन्द्र भी धाराधीश भोजराजके द्वारा पूज्य थे, न्यायरूप कमल-समूह ( प्रमेयकमल ) के दिनमणि ( मार्तण्ड ) थे, शब्दरूप अब्ज ( शब्दाम्भोज ) के विकास करनेको रोदोमणि ( भास्कर ) के समान थे । पण्डित रूपी कमलके प्रफुल्लित करने वाले सूर्य थे, रुद्रवादि गजोंको वश करनेके लिए अंकुशके समान थे तथा चतुर्मुखदेवके शिष्य थे । क्या इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र और पद्मनन्दि सेद्धान्तके शिष्य, प्रयितर्कग्रन्थकार एवं शब्दाम्भोजभास्कर प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं ? इस प्रश्न का उत्तर ‘हाँ’ में दिया जा सकता है, पर इसमें एकही बात नयी है । वह है—गुरुरूपसे चतुर्मुखदेवके उल्लेख होनेकी । मैं समझता हूँ कि—यदि प्रभाचन्द्र धारामें आनेके बाद अपनेही देशीयगणके श्री चतुर्मुखदेवको आदर और गुरुकी दृष्टिसे देखते हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । पर यह सुनिश्चित है कि प्रभाचन्द्रके आद्य और परमादरणीय उपास्य गुरु पद्मनन्दि सेद्धान्त ही थे । चतुर्मुखदेव द्वितीय गुरु या गुरुसम हो सकते हैं । यदि इस शिलालेखके प्रभाचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि

के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं तो यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र धारा-धीश भोजके समकालीन थे। इस शिलालेखमें प्रभाचन्द्रको गोपनन्दिका सधर्मा कहा गया है। हलेबेल्लोलके एक शिलालेख (नं० ४६२, जैनशिलालेखसंग्रह) में होयसलनरेश एरेयङ्ग द्वारा गोपनन्दि पण्डितदेवको दिए गए दानका उल्लेख है। यह दान पौष शुद्ध १३, संवत् १०१५ में दिया गया था। इस तरह सन् १०६४ में प्रभाचन्द्रके सधर्मा गोपनन्दिकी स्थिति होनेसे प्रभाचन्द्रका समय सन् १०६५ तक माननेका पूर्ण समर्थन होता है।

**समयविचार**—आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमें डॉ० पाठक, प्रेमीजी तथा मुस्तार सा० आदिका प्रायः सर्वसम्मत मत यह रहा है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ईसाकी ८ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध एवं नवीं शताब्दीके पूर्वार्धवर्ती विद्वान् थे। और इसका मुख्य आधार है जिनसेनकृत आदिपुराण का यह श्लोक—

“चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे। कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत् ॥”

**अर्थात्**—‘जिनका यश चन्द्रमाकी किरणोंके समान धवल है, उन प्रभाचन्द्रकविकी स्तुति करता हूँ। जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना करके जगत् को आह्लादित किया है।’ इस श्लोकमें चन्द्रोदयसे न्यायकुमुदचन्द्रोदय (न्यायकुमुदचन्द्र) ग्रन्थका सूचन समझ गया है। आ० जिनसेनने अपने गुरु वीरसेनकी अधूरी जयधवला टीकाको शक सं० ७५६ (ईसवी ८३७) की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण किया था। इस समय अमोघवर्षका राज्य था। जयधवलाकी समाप्तिके अनन्तर ही आ० जिनसेनने आदिपुराणकी रचना की थी। आदिपुराण जिनसेनकी अन्तिम कृति है। वे इसे अपने जीवनमें पूर्ण नहीं कर सके थे। उसे इनके शिष्य गुणमद्रने पूर्ण किया था। तात्पर्य यह कि जिनसेन आचार्यने ईसवी ८४० के लगभग आदिपुराणकी रचना प्रारम्भ की होगी। इसमें प्रभाचन्द्र तथा उनके न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख मानकर डॉ० पाठक आदिने निर्निादरूपसे प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा नवीं का पूर्वार्ध निश्चित किया है।

सुद्वंद्वर ५० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग की प्रस्तावना (पृ० १२३) में डॉ० पाठक आदिके मतना निरास करते हुए प्रभाचन्द्रका समय ई० ६५० से १०२० तक

१ श्रीमान् प्रेमीजीका विचार धब बदल गया है। वे अपने “च्योचन्द्र और प्रभाचन्द्र” लेख (अनेकान्त वर्ष ४ सं० १) में महापुराणटिप्पणकार प्रभाचन्द्र तथा प्रमेयकमलमासंग्रह और गद्यकपाकोश आदिके कर्ता प्रभाचन्द्रका एक ही व्यक्ति होना सूचन करते हैं। वे अपने एक पत्रमें मुझे लिखते हैं कि—‘हम समझते हैं कि प्रमेयकमलमासंग्रह और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्ता प्रभाचन्द्र ही महापुराणटिप्पणके कर्ता हैं। और न्यायपर्यवृत्तिाद (सर्वार्थमिद्विषे पदोक्त प्रकटीकरण), समाधितन्त्रटीका, आत्मानुशासनतिलक, त्रिया-वन्तरटीका, प्रवचनमारमरोजभास्वर (प्रवचनमारकी टीका) आदिके कर्ता, और वायद रत्नचण्डीकाके कर्ता भी वही हैं।’

१ ५० संज्ञानुषङ्गजीने आदिपुराणके ‘चन्द्रांशुशुभ्रयशसं’ श्लोकमें चन्द्रोदयकार किमी अन्य प्रभा-चन्द्रविशेष उल्लेख बताया है, जो ठीक है। पर उन्होंने आदिपुराणकार जिनसेनके द्वारा न्यायकुमुदचन्द्रकार प्रभाचन्द्रके सम्युक्त होनेके बावजूद जो अन्य तीन हेतु दिए हैं वे बलवन् नहीं मालूम होते। यतः (१) आदि-

निर्धारित किया है। इस निर्धारित समयकी शताब्दियाँ तो ठीक हैं पर दशकोंमें अन्तर है। तथा जिन आधारोंसे यह समय निश्चित किया गया है वे भी अन्तर्गत नहीं हैं। पं० जीने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें व्योमशिवआचार्यकी व्योमवती टीकाका प्रभाव देखकर प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि १५० ई० और पुष्पदन्तकृत महापुराणके प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणको वि० सं० १०८० (ई० १०२३) में समाप्त मानकर उत्तरावधि १०२० ई० निश्चित की है। मैं 'व्योमशिव और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय (पृ० ८) व्योमशिवका समय ईसाकी सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित कर आया हूँ। इसलिए मात्र व्योमशिवके प्रभावके कारण ही प्रभाचन्द्रका समय ई० १५० के बाद नहीं जा सकता। महापुराणके टिप्पणकी वस्तुस्थिति तो यह है कि—पुष्पदन्तके महापुराण पर श्रीचन्द्र आचार्यका भी टिप्पण है और प्रभाचन्द्र आचार्यका भी। बलात्कारणके श्रीचन्द्रका टिप्पण भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। इसकी प्रशस्ति निम्न लिखित है—

पुराणकार इसके लिए बाध्य नहीं माने जा सकते कि यदि वे प्रभाचन्द्रका स्मरण करते हैं तो उन्हें प्रभाचन्द्रके द्वारा स्मृत अनन्तवीर्य और विद्यानन्दका स्मरण करना ही चाहिए। विद्यानन्द और अनन्तवीर्यका समय ईसाकी नवीं शताब्दीका पूर्वार्ध है, और इसलिए वे आदिपुराणकारके समकालीन होते हैं। यदि प्रभाचन्द्र भी ईसाकी नवीं शताब्दीके विद्वान् होते, तो भी वे अपने समकालीन विद्यानन्द आदि आचार्योंका स्मरण करके भी आदि-पुराणकार द्वारा स्मृत हो सकते थे। (२) 'जयन्त और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय मैं जयन्तका समय ई० ७५० से ८५० तक सिद्ध कर आया हूँ। अतः समकालीनबूद्ध जयन्त से प्रभावित होकर भी प्रभाचन्द्र आदिपुराणमें उल्लेख्य हो सकते हैं। (३) गुणभद्रके आत्मानुशासन से 'अन्धादय महानन्धः' श्लोक उद्धृत किया जाना अशक्य ऐसी बात है जो प्रभाचन्द्रका आदिपुराणमें उल्लेख होनेकी बाधक हो सकती है। क्योंकि आत्मानुशासनके "जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्। गुणभद्रभद्रान्तानां कृतिरात्मानु-शासनम् ॥" इस अन्तिमश्लोकसे ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ जिनसेन स्वामीकी मृत्युके बाद बनाया गया है; क्योंकि वही समय जिनसेनके पादोंके स्मरणके लिए ठीक जँवता है। अतः आत्मानुशासनका रचना-काल सन् ८५० के करीब मालूम होता है। आत्मानुशासन पर प्रभाचन्द्रकी एक टीका उपलब्ध है। उसमें प्रथम श्लोकका उत्पत्ति वाक्य इस प्रकार है— "बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामृगधबुद्धे सम्बोधनध्याजेन सर्वसम्बोधकारक सम्मार्गमुपवर्तयितुकामो गुणभद्रदेव..." अर्थात्—गुणभद्र स्वामीने विषयकी ओर प्रवृत्ति बन्द करके धर्ममार्ग (?) लोकसेनको समझानेके बहाने आत्मानुशासन ग्रन्थ बनाया है। ये लोकसेन गुणभद्रके प्रियशिष्य थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें इन्हीं लोकसेनको स्वयं गुणभद्रने 'विदितसकलशास्त्र, मुनीश, कवि, अचिकलवृत्त' आदि विशेषण दिए हैं। इससे इतना अनुमान तो सहज ही किया जा सकता है कि आत्मानुशासन उत्तरपुराणके बाद तो नहीं बनाया गया क्योंकि उस समय लोकसेनमुनि विषयव्यामृग-बुद्धि न होकर विदितसकलशास्त्र एवं अचिकलवृत्त हो गए थे। अतः लोकसेनकी प्रारम्भिक अवस्थामें, उत्तर-पुराणकी रचनाके पहिले ही आत्मानुशासनका रचा जाना अधिक सम्भव है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने विद्वद्रत्न-माला (पृ० ७५) में यही सम्भावना की है। आत्मानुशासन गुणभद्रकी प्रारम्भिक कृति ही मालूम होती है। और गुणभद्रने इसे उत्तरपुराणके पहिले जिनसेन की मृत्युके बाद बनाया होगा। परन्तु आत्मानुशासनकी आन्तरिक जाँच करने से हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इसमें अन्य कवियोंके सुभाषितोंका भी यथावसर समावेश किया गया है। उदाहरणार्थ—आत्मानुशासनका ३२ वाँ पद्य 'नेता यस्य बृहस्पति' भर्तृहरिके नीति-शासकका ८८वाँ श्लोक है, आत्मानुशासनका ६७ वाँ पद्य 'अदेतत्स्वच्छन्द' वैराग्यशासकका ५० वाँ श्लोक है। ऐसी स्थितिमें 'अन्धादय महानन्ध' सुभाषित पद्य भी गुणभद्रका स्वरचित ही है यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा सकते। तथापि किसी अन्य प्रबल प्रमाणके अभावमें अभी इस विषयमें अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

जब अन्य अनेक प्रमाणोंसे प्रमाचन्द्रका समय करीब करीब भोजदेव और जयसिंहके राज्यकाल तक पहुँचता है तब इन प्रशस्तिवाक्योंको टिप्पणकारकृत या किसी पीछे होनेवाले व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता। मेरा यह विश्वास है कि 'श्री भोजदेवराज्ये' या 'श्रीजयसिंह-देवराज्ये' प्रशस्तियाँ सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाव देने ही बनाई हैं। और जिन जिन ग्रन्थोंमें ये प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं वे प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रमाचन्द्र के ही ग्रन्थ होने चाहिए।

२-यापनीयसंघाप्रणी शाकटायनाचार्यने शाकटायन व्याकरण और अमोघवृत्तिके सिद्धान्तकेवलभुक्ति और स्त्रीभुक्ति प्रकरण लिखे हैं। शाकटायनने अमोघवृत्ति, महाराज अमोघवर्षके राज्य काल (ई० ८१४ से ८७७) में रची थी। आ० प्रमाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्द्रमें शाकटायनके इन दोनों प्रकरणोंका खडन आनुपूर्वीसे किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीभुक्तिप्रकरणसे एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः प्रमाचन्द्रका समय ई० ९०० से पहिले नहीं माना जा सकता।

३-सिद्धसेनदिवाकरके न्यायायतारपर सिद्धपिंगणिकी एक वृत्ति उपलब्ध है। हम 'सिद्धपि और प्रमाचन्द्र' की तुलना में बता आए हैं कि प्रमाचन्द्रने न्यायायतारके साथ ही साथ इस वृत्तिको भी देखा है। सिद्धपिने ई० ९०६ में अपनी उपनिमित्तवप्रपञ्चाकथा बनाई थी। अतः न्यायायतारवृत्तिके द्रष्टा प्रमाचन्द्रका समय सन् ९१० के पहिले नहीं माना जा सकता।

४-भासर्वज्ञका न्यायसार ग्रन्थ उपलब्ध है। कहा जाता है कि इसपर भासर्वज्ञकी स्वोपज्ञ न्यायभूषण नामकी वृत्ति थी। इस वृत्तिके नामसे उत्तरकालमें इनकी भी 'भूषण' रूपमें प्रसिद्धि हो गई थी। न्यायलीलावतीकारके कथनसे ज्ञात होता है कि भूषण क्रियाको संयोग रूप मानते थे। प्रमाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २८२) में भासर्वज्ञके इस मतका खडन किया है। प्रमेयकमलमार्तण्डके छठवें अध्यायमें जिन विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासोंका निरूपण है वे सब न्यायसारसे ही लिए गए हैं। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र निद्याभूषण इनका समय ई० ९०० के लगभग मानते हैं। अतः प्रमाचन्द्रका समय भी ई० ९०० के बादही होना चाहिए।

५-आ० देवसेनने अपने दर्शनसार ग्रन्थ (रचनासमय ९९० वि० ९३३ ई०) के बाद मायसग्रह ग्रन्थ बनाया है। इसकी रचना समवत सन् ९४० के आसपास हुई होगी। इसकी एक 'नोक्कम्मकम्महारो' गाथा प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत है। यदि यह गाथा स्वयं देवसेनकी है तो प्रमाचन्द्रका समय सन् ९४० के बाद होना चाहिए।

६-आ० प्रभावद्रने प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० बनानेके बाद शब्दांमोजमास्कर नामका जैनद्रन्धास रचा था। यह न्यास जैनन्द्रमहावृत्तिके बाद इसीसे आधारसे बनाया गया है। में 'धमयनदि और प्रभावद्र' की तुलना (पृ० ३३) करते हुए लिख आया हूँ कि नेमिचन्द्रसिद्धान्त-

चक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दिने ही यदि महावृत्ति बनाई है तो इसका रचना काल अनुमानतः १६० ई० होना चाहिए। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० १६० से पहिले नहीं माना जा सकता।

७-पुष्पदन्तकृत अपभ्रंशभाषाके महापुराण पर प्रभाचन्द्रने एक टिप्पण रचा है। इसकी प्रशस्ति रत्नकरण्डआवकाचार की प्रस्तावना (पृ० ६१) में दी गई है। यह टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन् १६५ ई० में समाप्त किया था। टिप्पणकी प्रशस्तिसे तो यही मालूम होता है कि प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र ही इस टिप्पणके कर्ता हैं। यदि यही प्रभाचन्द्र इसके रचयिता हैं, तो कहना होगा कि प्रभाचन्द्रका समय ई० १६५ के बाद ही होना चाहिए। यह टिप्पण इन्होंने न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना करके लिखा होगा। यदि यह टिप्पण प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रका न माना जाय तब भी इसकी प्रशस्तिके श्लोक और पुष्पिकालेख, जिनमें प्रमेयफलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके प्रशस्तिरत्नकोका एव पुष्पिकालेखका पूरा पूरा अनुकरण किया गया है, प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि जयसिंहके राज्य कालतक निश्चित करनेमें साधक तो हो ही सकते हैं।

८-श्रीधर और प्रभाचन्द्रकी तुलना करते समय हम बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर श्रीधरकी कन्दली भी अपनी आभा दे रही है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन् १११ में समाप्त की थी। अतः प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ई० ११० के करीब मानना और उनका कार्यकाल ई० १०२० के लगभग मानना संगत मालूम होता है।

९-श्रमणवेङ्गोलाके लेख न० ४० (६४) में एक पद्मनन्दिसैद्धान्तिकका उल्लेख है और इन्हींके शिष्य कुलभूषणके सधर्मा प्रभाचन्द्रको शब्दान्मोरुहभास्कर और प्रथिततर्क-ग्रन्थकार लिखा है-

“अधिद्वर्णादिकपद्मनन्दिसैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।

कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिर्जीयातु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः ॥ १५ ॥

तच्छिष्यः कुलभूषणाख्यतिपञ्चारित्रवारांनिधिः,

सिद्धान्तान्मुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान्।

शब्दान्मोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा-

चन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवरः श्रीकुण्डकुन्दान्वयः ॥ १६ ॥”

इस लेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र, शब्दान्मोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार विशेषणोंके बलसे शब्दान्मोजभास्कर नामक जैनेन्द्रन्यास और प्रमेयफलमार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंके कर्ता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही है। धनलाटीका पु० २ की प्रस्तावनामें ताड़पत्रीय प्रतिका इतिहास बताते हुए प्रो० हीरालालजीने इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्रके समय पर सशुक्तिन ऐतिहासिक प्रकाश डाला है। उसका सारांश यह है-“उक्त शिलालेखमें कुलभूषणसे आगेकी शिष्य परम्परा इस प्रकार है-कुलभूषणके सिद्धान्तगारानिधि सद्गुरु कुलचन्द्र नामके शिष्य

जब अन्य अनेक प्रमाणोंसे प्रभाचन्द्रका समय करीब करीब भोजदेव और जयसिंहके राज्यकाल तक पहुँचता है तब इन प्रशस्तिगाथोंको टिप्पणकारकृत या किसी पीछे होनेवाले व्यक्तिकी करतुत कहकर नहीं टाला जा सकता। मेरा यह विश्वास है कि 'श्री भोजदेवराज्ये' या 'श्रीजयसिंह-देवराज्ये' प्रशस्तियाँ सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्रने ही बनाई हैं। और जिन जिन ग्रंथोंमें ये प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं वे प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्र के ही ग्रन्थ होने चाहिए।

२-यापनीयसंघाग्रणी शाकटायनाचार्यने शाकटायन व्याकरण और अमोघवृत्तिके सिवाय केरलिमुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरण लिखे हैं। शाकटायनने अमोघवृत्ति, महाराज अमोघवर्षके राज्य-काल (ई० = १४ से ८७७) में रची थी। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्द्रमें शाकटायनके इन दोनों प्रकरणोंका खंडन आनुपूर्वीसे किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्तिप्रकरणसे एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० १०० से पहिले नहीं माना जा सकता।

३-सिद्धसेनदिनाकरके न्यायावतारपर सिद्धर्पिण्यिकी एक वृत्ति उपलब्ध है। हम 'सिद्धर्पि और प्रभाचन्द्र' की तुलना में बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रने न्यायावतारके साथ ही साथ इस वृत्तिको भी देखा है। सिद्धर्पिने ई० १०६ में अपनी उपमितिमत्प्रपञ्चाकथा बनाई थी। अतः न्यायावतारवृत्तिके दृष्टा प्रभाचन्द्रका समय सन् ११० के पहिले नहीं माना जा सकता।

४-भासर्वज्ञका न्यायसार ग्रन्थ उपलब्ध है। कहा जाता है कि इसपर भासर्वज्ञकी स्वोपज्ञ न्यायभूषण नामकी वृत्ति थी। इस वृत्तिके नामसे उत्तरकालमें इनकी भी 'भूषण' रूपमें प्रसिद्धि हो गई थी। न्यायलीलावतीकारके कथनसे शत होता है कि भूषण क्रियाको संयोग रूप मानते थे। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २८२) में भासर्वज्ञके इस मतका खंडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके छठवें अध्यायमें जिन विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासोंका निरूपण है वे सब न्यायसारसे ही लिए गए हैं। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र त्रिपाठीभूषण इनका समय ई० १०० के लगभग मानते हैं। अतः प्रभाचन्द्रका समय भी ई० १०० के बादही होना चाहिए।

५-आ० देवसेनने अपने दर्शनसार ग्रन्थ (रचनासमय ११० वि० १३३ ई०) के बाद भायसमद ग्रन्थ बनाया है। इसकी रचना समव्रत सन् १४० के आसपास हुई होगी। इसकी एक 'नोरम्मकम्महारो' गाथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत है। यदि यह गाथा सत्य देखनेकी है तो प्रभाचन्द्रका समय सन् १४० के बाद होना चाहिए।

६-आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० बनानेके बाद शब्दाभोजमास्कर नामका जनेन्द्रपाठ रचा

मे 'धमपनि'

१-द्रमशवृत्तिके बाद इसीके आधारसे बनाया गया है।

२-अबसे हुए किम थाया हैं कि नेमिचन्द्रसिद्धान्त-

चक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दिने ही यदि महावृत्ति बनाई है तो इसका रचना काल अनुमानत १६० ई० होना चाहिए। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० १६० से पहिले नहीं माना जा सकता।

७-पुष्पदन्तकृत अपभ्रंशभाषाके महापुराण पर प्रभाचन्द्रने एक टिप्पण रचा है। इसकी प्रशस्ति रत्नकरण्डावलीकाचार की प्रस्तावना (पृ० ६१) में दी गई है। यह टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन् १६५ ई० में समाप्त किया था। टिप्पणकी प्रशस्तिसे तो यही मालूम होता है कि प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र ही इस टिप्पणके कर्त्ता है। यदि यही प्रभाचन्द्र इसके रचयिता हैं, तो कहना होगा कि प्रभाचन्द्रका समय ई० १६५ के बाद ही होना चाहिए। यह टिप्पण इन्होंने न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना करके लिखा होगा। यदि यह टिप्पण प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रका न माना जाय तब भी इसकी प्रशस्तिके श्लोक और पुष्पिकालेख, जिनमें प्रमेयमलमार्चण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके प्रशस्तिश्लोकोंका एव पुष्पिकालेखका पूरा पूरा अनुसरण किया गया है, प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि जयसिंहके राज्य कालतक निश्चित करनेमें साधक तो हो ही सकते हैं।

८-श्रीधर और प्रभाचन्द्रकी तुलना करते समय हम बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर श्रीधरकी कन्दली भी अपनी आभा दे रही है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन् १६१ में समाप्त की थी। अतः प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ई० १६० के करीब मानना और उनका कार्यकाल ई० १०२० के लगभग मानना सगत मालूम होता है।

९-अरण्यवेङ्गोलाके लेख न० ४० (६४) में एक पद्मनन्दिसैद्धान्तिका उल्लेख है और इन्हींके शिष्य कुलभूषणके सधर्मा प्रभाचन्द्रको शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार लिखा है-

“अविद्वक्कर्णादिकपद्मनन्दिसैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।

कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिर्जियात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीर ॥ १५ ॥

तन्निष्ठस्य कुलभूषणाख्ययतिपञ्चारित्रवाराणिधि,

सिद्धान्तान्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान्।

शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकार प्रभा

चन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवर श्रीकुण्डकुन्दान्वय ॥ १६ ॥”

इस लेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र, शब्दांभोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार विशेषणोंके वलसे शब्दाम्भोजभास्कर नामक जनेन्द्रन्यास और प्रमेयमलमार्चण्ड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही हैं। घन्टाटीमा पु० २ की प्रस्तावनामें ताड़पत्रीय प्रतिज्ञा इतिहास बताते हुए प्रो० हीरालालजीने इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्रके समय पर सयुक्तिरूपेतिहासिक प्रकाश डाला है। उसका सारांश यह है-“उक्त शिलालेखमें कुलभूषणसे आगेकी परम्परा इस प्रकार है-कुलभूषणके सिद्धान्तगारानिधि सद्गुरु कुलचन्द्र नामके शिष्य

हुए, कुलचन्द्रदेवके शिष्य माघनन्दि मुनि हुए, जिन्होंने कोल्लापुरमें तीर्थ स्थापन किया। इनके श्रावक शिष्य थे—सामन्तकेदार नाकरस, सामन्त निम्बदेव और सामन्त कामदेव। माघनन्दिके शिष्य हुए—गण्डविमुक्तदेव, जिनके एक छात्र सेनापति भरत थे, व दूसरे शिष्य भानुकीर्ति और देवकीर्ति, आदि। इस शिलालेखमें बताया है कि महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडितदेवने कोल्लापुरकी रूपनारायण वसदिके अचीन केन्डलगरेय प्रतापपुरका पुनरुद्धार कराया था, तथा जिननाथपुरमें एक दानशाला स्थापित की थी। उन्हीं अपने गुरुकी परोक्ष विनयके लिए महामाधान सर्वधिकारी हिरिय भडार्गी, अभिनवगङ्गदण्डनायक श्री हुल्लराजने उनकी निषद्या निर्माण कराई, तथा गुरुके अन्य शिष्य लक्ष्मनन्दि, माघन और त्रिमुवनदेवने महादान व पूजाभिक्ष करके प्रतिष्ठा की। देवकीर्तिके समय पर प्रकाश डालने वाला शिलालेख न० ३२ है। इसमें देवकीर्तिकी प्रशस्तिके अतिरिक्त उनके स्वर्गासका समय शक १०८५ सुभानु सप्तसर आपाद शुक्ल २ बुधवार सूर्योदयवाल बतलाया गया है। और कहा गया है कि उनके शिष्य लक्ष्मनन्दि माघनचन्द्र और त्रिमुवनमल्लने गुरु भक्तिसे उनकी निषद्याकी प्रतिष्ठा कराई। देवकीर्ति पद्मनन्दिसे पाँच पीढ़ी तथा कुलभूषण और प्रभाचन्द्रसे चार पीढ़ी बाद हुए हैं। अतः इन आचार्योंको देवकीर्तिने समयसे १००—१२५ वर्ष अर्थात् शक २५० (ई० १०२८)के लगभग हुए मानना अनुचित न होगा। उक्त आचार्योंके कालनिर्णयमें सहायक एक और प्रमाण मिलता है—कुलचन्द्र मुनिके उत्तराधिकारी माघनन्दि कोल्लापुरीय कहे गए हैं। उनके गृहस्थ शिष्य निम्बदेव सामन्तना उल्लेख मिलता है जो शिलाहारनरेश गङ्गादित्यदेवके एक सामन्त थे। शिलाहार गङ्गादित्यदेवके उल्लेख शक स० १०३० से १०५८ तक के लेखों में पाए जाते हैं। इससे भी पूर्वाक्त कालनिर्णयकी पुष्टि होती है।”

यह विवेचन शक स० १०८५ में लिखे गए शिलालेखोंके आधारसे किया गया है। शिलालेखरी यधुओंना ध्यानसे समीक्षण करने पर यह प्रश्न होता है कि जिस तरह प्रभाचन्द्रके समान कुलभूषणकी शिष्यपरम्परा दक्षिण प्रान्तमें चली उस तरह प्रभाचन्द्रकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता? मुझे तो इसका सभाव्य कारण यही मालूम होता है कि पद्मनन्दिक एक शिष्य कुलभूषण तो दक्षिणमें ही रहे और दूसरे प्रभाचन्द्र उत्तर प्रातमें आकर धारा नगरीके आसपास रहे हैं। यही कारण है कि दक्षिणमें उनकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस शिलालेखीय अक्षगणनासे निर्गम्य सिद्ध हो जाता है कि प्रभाचन्द्र भोजदेव और जयमिह दोनोंके समयमें विद्यमान थे। अतः उनकी पूर्वावधि सन् २२० के आसपास माननेमें कोई बाधक नहीं है।

१०—सादिराजमूरिन अपने पार्श्ववर्तितमें अपने पूर्वाचार्योंका स्मरण किया है। पार्श्व-परि शक स० ६४७ (ई० १०२५) में बाबर समाप्त हुआ था। इन्होंने अम्बकदेवके व्यापनिधिष्य प्रकरण पर व्यापनिधिष्यविवरण या व्यापनिधिष्यतात्पर्यान्वयेतनी व्यापानरत्न-माता नामकी स्मृत टीका लिखी है। इस टीकामें पचासों जैन-जैनेतर आचार्योंके प्रयोगोंसे



प्रमाण उद्धृत किए गए हैं। संभव है कि वादिराजके समयमें प्रभाचन्द्रकी प्रसिद्धि न हो पाई हो, अन्यथा तर्कशास्त्रके रसिक वादिराज अपने इस यशस्वी ग्रन्थकारका नामोल्लेख किए बिना न रहते। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाण स्वतन्त्रभावसे किसी आचार्यके समयके साधक या बाधक नहीं होते फिर भी अन्य प्रबल प्रमाणोंके प्रकाशमें इन्हें प्रसङ्गसाधनके रूपमें तो उपस्थित किया ही जा सकता है। यही अधिक संभव है कि वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन और सम-व्यक्तित्वशाली रहे हैं अतः वादिराजने अन्य आचार्योंके साथ प्रभाचन्द्रका उल्लेख नहीं किया है।

अब हम प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधिके नियामक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—ईसाकी चौदहवीं शताब्दीके विद्वान् अभिनवधर्मभूषणने न्यायदीपिका (पृ० १६) में प्रमेयकमलमार्त्तण्डका उल्लेख किया है। इन्होंने अपनी न्यायदीपिका वि० सं० १४४२ (ई० १३८५) में बनाई थी\*। ईसाकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् मल्लिषेणने अपनी स्याद्वादमञ्जरी (रचना समय ई० १२६३) में न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख किया है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् आ० मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्तिटीका (पृ० ३७१ A) में लघीय-लपकी एक कारिकाका व्याख्यान करते हुए 'टीकाकारके' नामसे न्यायकुमुदचन्द्रमें की गई उक्त कारिकाकी व्याख्या उद्धृतकी है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् देवभद्रने न्यायान्तर-टीकाटिप्पण (पृ० २१, ७६) में प्रभाचन्द्र और उनके न्यायकुमुदचन्द्रका नामोल्लेख किया है। अतः इन १२ वीं शताब्दी तकके विद्वानों के उल्लेखों के आधारसे यह प्रामाणिकरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र ई० १२ वीं शताब्दीके बाद के विद्वान् नहीं है।

२—रत्नकरण्डश्रावकाचार और समाधितन्त्र पर प्रभाचन्द्रकृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। प० जुगलकिशोर जी मुस्तार ने इन दोनों टीकाओंको एक ही प्रभाचन्द्रके द्वारा रची हुई सिद्ध किया है। आपके मतसे ये प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयितासे भिन्न हैं। रत्नकरण्ड-टीकाका उल्लेख प० आशाधरजी द्वारा अनागारधर्मामृत टीका (अ० ८ श्लो० ६३) में किये जाने के कारण इस टीकाका रचनाकाल वि० सं० १३०० से पहिलेका अनुमान किया गया है; क्योंकि अनागारधर्मामृत टीका वि० सं० १३०० में बनकर समाप्त हुई थी। अन्ततः मुस्तारसा० इस टीकाका रचनाकाल विक्रमकी १३ वीं शताब्दीका मध्यभाग मानते हैं। अस्तु, फिलहाल मुस्तारसा० के निर्णयके अनुसार इसका रचनाकाल वि० १२५० (ई० ११९३) ही मान कर प्रस्तुत विचार करते हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (पृ० ६) में केवलिकवलाहारके खडनमें न्यायकुमुदचन्द्रगत शब्दावलीका पूरा पूरा अनुसरण करके लिखा है कि—“तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्।” इसी तरह समाधितन्त्र टीका (पृ० १५) में लिखा है कि—“यैः पुनर्योगसांख्यैः मुक्तौ तत्पञ्च्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।” इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और

\* स्वामी समन्तभद्र पृ० २२७। † रत्नकरण्डश्रावकाचार भूमिका पृ० ६६ से।

न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ इन टीकाओंसे पहिले रचे गए हैं। अतः प्रभाचन्द्र ईसा की १२ वीं शताब्दीके बादके विद्वान् नहीं हैं।

३—वादिदेवसूत्रिका जम वि० स० ११४३ तथा खर्गवास वि० स० १२२२ में हुआ था। ये वि० स० ११७४ में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। समभव है उन्होंने वि० स० ११७५ (ई० १११८) के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थस्याद्वैतवाक्यकी रचना की होगी। स्याद्वैतवाक्यमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका न केवल शब्दार्थानुसरण ही किया गया है किंतु कवलाहारसमर्थन प्रकरणमें तथा प्रतिविम्ब चर्चामें प्रभाचन्द्र और प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका नामोल्लेख करके खडन भी किया गया है। अतः प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि अतत ई० ११०० सुनिश्चित हो जाती है।

४—जैनेन्द्रयासकारणके अभयनदिसम्मत सूत्रपाठ पर श्रुतकीर्तिने पचवस्तुप्रक्रिया बनाई है। श्रुतकीर्ति कनडीचन्द्रप्रमचरित्रके कर्त्ता अगलकविने गुरु थे। अगलकविने शक १०११, ई० १०८६ में चन्द्रप्रमचरित्र पूर्ण किया था। अतः श्रुतकीर्तिकाल समय भी लगभग ई० १०७५ होना चाहिए। ई० होने अपनी प्रक्रियामें एक न्यास ग्रन्थका उल्लेख किया है। समभव है कि यह प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर नामका ही न्यास हो। यदि ऐसा है तो प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि ई० १०७५ मानी जा सकती है। शिमोगा जिलेके शिलालेख न० ४६ से ज्ञात होता है कि पूज्यपादने भी जैनेन्द्रयासकी रचना की थी। यदि श्रुतकीर्तिने न्यास पदसे पूज्यपादकृत न्यासका निर्देश किया है तब 'टीकामान' शब्दसे सूचित होनेवाली टीकाकी मालामें तो प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करको पिरोया ही जा सकता है। इस तरह प्रभाचन्द्रके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उल्लेखोंके आधारसे हम प्रभाचन्द्रका समय सन् १८० से १०६५ तक निश्चित कर सकते हैं। इन्हीं उल्लेखोंके प्रकाशमें जब हम प्रमेयकमलमार्त्तण्डके 'श्री भोजदेवराग्ये' आदि प्रशस्तिश्लोक तथा न्यायकुमुदचन्द्रके 'श्री जयसिंहदेवराग्ये' आदि प्रशस्ति श्लोकों देखने हैं तो वे अत्यन्त प्रामाणिक मालूम होते हैं। उन्हीं किसी टीकाटिप्पणकारका या किसी अन्य व्यक्तिकी वरत्त कहकर नहीं टाला जा सकता।

उपयुक्त निवेदनसे प्रभाचन्द्रके समयकी पूर्ववधि और उत्तरावधि करीब करीब भोजदेव और जयसिंह इनके समय तक ही आती है। अतः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें पाए जाने वाले प्रशस्ति श्लोकोंकी प्रामाणिकता और प्रभाचन्द्रकर्तृत्वमें सन्देहको कोई स्थान नहीं रहता। इसलिये प्रभाचन्द्रका समय ई० १८० से १०६५ तक माननेमें कोई बाधा नहीं है\*।

\* देखो—इमा प्रभाचन्द्राका श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र' भाग पृ० ३६।

\* प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रमेयकमलमार्त्तण्डके गणान्तक प० बगीचरजी गारुडि सोलापुरन उक्त सस्तरण के उलोडानमें श्रीभोजदेवराग्ये' प्रशस्तिव अनमार प्रभाचन्द्रका समय ईमाकी प्यारहवीं गणान्ती सूचित किया है। प्रीर आनन इमके समयनक न्ति नमिचन्द्रमिडान्नचवर्तीकी गाथाभावा प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उदून होना' यह प्रमाण उपस्थित किया है। पर आनका यह प्रमाण अश्रान्न नह। ह प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें विमहगणमावना घोर लोपापासणम गाथाएँ उद्व है। पर य गाथाएँ नमिचन्द्रकृत नही ह। पहिनी

### § ३. प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ—

आ० प्रभाचन्द्रके जितने ग्रन्थोंका अभी तक अन्वेषण किया गया है उनमें कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं तथा कुछ व्याख्यात्मक । उनके प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखव्याख्या), न्यायकुमुद-चन्द्र (लघीयसूत्र व्याख्या), तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण (सर्वार्थसिद्धि व्याख्या), और शाकटायन-न्यास (शाकटायनव्याकरणव्याख्या) इन चार ग्रन्थोंका परिचय इसी ग्रन्थके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है । यहाँ उनके शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरण महान्यास) और प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारटीका) का परिचय दिया जाता है । गद्यकथाकोश, महापुराणटिप्पण आदि भी इन्हींके ग्रन्थ हैं । इस परिचयके पहिले हम 'शाकटायनन्यास' के कर्तृत्व पर विचार करते हैं—

भाई पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने शिलालेख तथा किंरदन्तियोंके आधारसे शाकटायन-न्यासको प्रभाचन्द्रकृत लिखा है § १ शिमोगा जिलेके नगरताळुकेके शिलालेख न० ४६ (एपि० कर्ना० पु० ८ भा० २ पृ० २६६-२७३) में प्रभाचन्द्रकी प्रशंसापरक ये दो श्लोक हैं—

“भाणिक्कनन्दिजिनराजयाणीप्राणाधिनाथ, परवादिमर्दी ।

चित्रं प्रभाचन्द्र इह क्षमायां मार्सण्डपृद्धौ नितरा व्यदीपित ॥

\*सुखि न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः ।

शाकटायनकृतसूत्रन्यासकर्त्रे प्रतीन्दवे ॥”

जैनसिद्धान्तभजन आरामें वर्धमानमुनिकृत दशभक्त्यादिमहाशास्त्र है । उसमें भी ये श्लोक हैं । उनमें ‘सुखि...’ की जगह ‘सुखीशे’ तथा ‘प्रतीन्दवे’ के स्थानमें ‘प्रमेन्दवे’ पाठ है ।

गाथा धवलाटीका (रचनाकाल ई० ८१६) में उद्धृत है श्रीगं उमास्वानिकृत आवकप्रशस्तिमें भी पाई जाती है । दूसरी गाथा पूज्यपाद (ई० ६ बी) कृत सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत है । अतः इन प्राचीन गाथाओंकी नैमिचन्द्रकृत नहीं माना जा सकता । अवश्य ही इन्हे नैमिचन्द्रने जीवकाण्ड और द्रव्यसंग्रहमें संगृहीत किया है । अतः इन गाथाओंका उद्धृत होना ही प्रभाचन्द्रके समयको ११ वीं सदी नहीं साध सकता ।

§ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पु० १२५ ।

\* इस शिलालेखके अनुवादमें राइस सा० ने आ० पूज्यपादकी ही न्यायकुमुदचन्द्रोदय और शाकटायन-न्यासका कर्ता लिख दिया है । यह गलती आपसे इसलिय हुई कि इस श्लोकके बाद ही पूज्यपादकी प्रशंसा करनेवाला एक श्लोक है, उसका अन्वय आपने भूलसे “सुखि” इत्यादि श्लोकके साथ कर दिया है । वह श्लोक यह है—

“न्यासं जैनेन्द्रसप्त सवलद्वधनुतं गाणिनीयस्य भूयो-

न्यास शब्दावतार मनुजततिहित वंछशास्त्र च कृत्वा ।

यस्तत्त्वार्थस्य टीका व्यरचयदिह ता भात्यसौ पूज्यपाद-

स्वामी भूपालवन्द्य, स्वपरीहितवच, पूर्णदुग्धोद्युत ॥”

योदी सं। सावधानीसे विचार करने पर यह स्पष्ट मालूम होता जाता है कि ‘सुखि’ इत्यादि श्लोकके चतुर्थ्यन्त पदोंका ‘न्यास’ वाले लोकसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है । ब्र० शीतलप्रसादजीने ‘मद्रास और मैसूरप्रान्तके स्मारक’ में तथा प्रो० हीरालालजीने ‘जैनशिलालेख संग्रह’ की भूमिका (पृ० १४१) में भी राइस सा० का अनुसरण करके इसी गलतीको दुहराया है ।

यह शिलालेख १६ वीं शताब्दीका है और वर्धमानमुनिका समय भी १६ वीं शताब्दी ही है। शाकटायनन्यासके प्रथम दो अध्यायोकी प्रतिलिपि स्याद्वादविद्यालयके सरस्वतीभवनमें मौजूद है। उसको सरसरी तौर से पलटने पर मुझे इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें निम्नलिखित कारणों से सन्देह उत्पन्न हुआ है—

१—इस ग्रन्थमें मंगलश्लोक नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें मंगलाचरण नियमित रूपसे करते हैं।

२—सन्धियोके अन्तमें तथा ग्रन्थमें कहीं भी प्रभाचन्द्रका नामोल्लेख नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें 'इति प्रभाचन्द्रविरचिते' आदि पुष्पिकालेख या 'प्रमेन्दुर्जित' आदि रूप से अपना नामोल्लेख करनेमें नहीं चूकते।

३—प्रभाचन्द्र अपनी टीकाओंके प्रमेयकमलमार्पण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर आदि नाम रखते हैं जब कि इस ग्रन्थके इन श्लोकोंमें इसका कोई खास नाम सूचित नहीं होता—

“शब्दानां शासनाख्यस्य शास्त्रस्यान्वर्थनामतः ।

प्रसिद्धस्य महामोघवृत्तेरपि विशेषतः ॥

सूत्राणां च विवृतिर्लिक्यते च ययामति ।

ग्रन्थस्यास्य च न्यासेति ( १ ) क्रियते नामनामतः ॥”

४—शाकटायन यापनीयसघके आचार्य थे और प्रभाचन्द्र थे कष्टर दिगम्बर । इन्होंने शाकटायनके क्षीमुक्ति और केरलमुक्तिप्रकरणोंका खडन भी किया है। अतः शाकटायनके व्याकरणपर प्रभाचन्द्रके द्वारा न्यास लिखा जाना कुछ समझमें नहीं आता ।

५—इस न्यासमें शाकटायनके लिए प्रयुक्त 'संघाधिपति, महाश्रमणसघप' आदि विशेषणों का समर्पण है। यापनीय आचार्यके इन विशेषणोंके समर्पणकी आशा प्रभाचन्द्र द्वारा नहीं की जा सकती। यथा—

“एवभूतमिदं शास्त्रं चतुरध्यायरूपतः, संघाधिपतिः श्रीमानाचार्यः शाकटायनः ॥

महत्तारभते तत्र महाश्रमणसघपः, श्रमेण शब्दतत्त्वं च विशदं च विशेषतः ॥

महाश्रमणसंघाधिपतिरित्यनेन मनःसमाधानमाख्यायते । विषयेषु विक्षिप्तचेतसो न मनः-  
समाधिः “असमाहितचेतसश्च किं नाम शास्त्रकरणम्, आचार्य इति तु शब्दविद्यायां गुरुत्वं  
शाकटायन इति अन्ययवुद्धिप्रकर्षः, विशुद्धान्वयो हि शिष्टैरुपलीयते । महाश्रमणसंघाधिपतेः  
सन्मार्गानुशासनं युक्तमेव -”

१ मैत्रय युनि० में न्यासग्रन्थकी दूसरे अध्यायके चौथे पादके १२४ सूत्र तक की कपी है ( नं० A 605 ) । उसमें निम्नलिखित मंगलश्लोक है—

‘प्रणम्य जपितं प्राप्तविश्वध्याकरणधियं । शब्दानुशासनस्यार्थं वृत्तेर्विवरणोद्यमः ॥

अस्मिन् भाष्याणि भाष्यन्ते वृत्तयो वृत्तिमाधिता । न्यासां न्यस्ता हृता टीका परं वारायणान्ययम् ॥  
तत्र वृत्ता ( रया ) शब्दयं मंगलश्लोकं धोबोरममूनमिरादि ।

परन्तु इन श्लोकोंकी रचनाकी प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदि के मंगलश्लोकोंसे अत्यन्त विपरीत है ।

६-प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें जैनेन्द्रव्याकरणसे ही सूत्रोंके उद्धरण दिए हैं जिसपर उनका शब्दाम्भोजभास्कर न्यास है । यदि शाकटायनपर भी उनका न्यास होता तो वे एकाध स्थानपर तो शाकटायनव्याकरणके सूत्र उद्धृत करते ।

७-प्रभाचन्द्र अपने पूर्वग्रन्थोंका उत्तरग्रन्थोंमें प्रायः उल्लेख करते हैं । यथा न्याय-कुमुदचन्द्रमें तत्पूर्वकालीन प्रमेयकमलमार्त्तण्डका तथा शब्दाम्भोजभास्करमें न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड दोनोंका उल्लेख पाया जाता है । यदि शाकटायनन्यास उन्होंने प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड आदिके पहिले बनाया होता तो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिमें शाकटायनव्याकरणके सूत्रों के उद्धरण होते और इस न्यासका उल्लेख भी होता । यदि यह उत्तरकालीन रचना है तो इसमें प्रमेयकमल आदिका उल्लेख होना चाहिये था जैसा कि शब्दाम्भोजभास्करमें देखा जाता है ।

८-शब्दाम्भोजभास्करमें प्रभाचन्द्रकी भाषाकी जो प्रसन्नता तथा प्राबाहिकता है वह इस दुरुह न्यासमें नहीं देखी जाती । इस शैलीवैचित्र्यसे भी इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें सन्देह होता है । प्रभाचन्द्रने शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास बनाया था और इसलिए उनकी न्यासकारके रूपसे भी प्रसिद्धि रही है । मालूम होता कि वर्धमानमुनिने प्रभाचन्द्रकी इसी प्रसिद्धिके आधार से इन्हे शाकटायनन्यासका कर्त्ता लिख दिया है । मुझे तो ऐसा लगता है कि यह न्यास स्वयं शाकटायनने ही बनाया होगा । अनेक वैयाकरणोंने अपने ही व्याकरण पर न्यास लिखे हैं ।

शब्दाम्भोजभास्कर-श्रवणवेङ्गोलके शिलालेख न० ४० ( ६४ ) में प्रभाचन्द्रके लिये 'शब्दाम्भोजदिवाकरः' विशेषण भी दिया गया है । इस अर्थगर्भ विशेषणसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे प्रथिततर्क ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रथिततर्कग्रन्थकार प्रभा-चन्द्रही शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रव्याकरण महान्यासके रचयिता हैं । ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवनकी अधूरी प्रतिके आधारसे इसका ठुक परिचय यहाँ दिया जाता है । यह प्रति सवत् १९८० में देहलीकी प्रतिसे लिखाई गई है । इसमें जैनेन्द्रव्याकरणके मात्र तीन अध्यायका ॥ न्यास है सो भी बीचमें जगह जगह भ्रुष्टित है । ३९ से ६७ न० के पत्र इस प्रतिमें नहीं हैं । प्रारम्भके २८ पत्र किसी दूसरे लेखकने लिखे हैं । पत्रसंख्या २२८ है । एक पत्रमें १३ से १५ तक पक्तियाँ और एक पक्तिमें ३९ से ४३ तक अक्षर हैं । पत्र बड़ी साइजके हैं । मगलाचरण-

“श्रीपूज्यपादमकलङ्कमनन्तबोधम्, शब्दार्थसंशयहर निखिलेषु बोधम् ।

सच्चन्द्रलक्षणमशेषमतः प्रसिद्धं वक्ष्ये परिस्फुटमलं प्रणिपत्य सिद्धम् ॥ १ ॥

सविस्तर यद् गुरुभिः प्रकाशितं महामतीनामभिधानलक्षणम् ।

मनोहरैः स्वल्पपदैः प्रकाश्यते महद्भिरुपदिष्टि याति सर्वापिमार्गे ( ? )

...तदुक्तं कृतशिक्ष ( ? ) श्लाघ्यते तद्धि तस्य ।

किमुक्तमखिलज्ञैर्भाषमाणे गणेन्द्रो विविक्तमखिलार्थं श्लाघ्यतेऽतो मुनीन्द्रैः ॥३॥

शब्दानामनुशासनानि निखिलन्याष्यायताहर्निशम्,

यो यः सारतरो विचारचतुरस्तल्लक्षणाशो गतः ।

तं स्वीकृत्य तिलोत्तमेव विदुषां चेतश्चमत्कारकः,

सुव्यक्तैरसमैः प्रसन्नवचनैर्न्यासः समारभ्यते ॥ ४ ॥

श्रीपूज्यपादस्वामि (मी) विनेयानां शब्दसाधुत्वासाधुत्वविवेकप्रतिपत्त्यर्थं शब्दलक्षणप्रणयनं कुर्वाणो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकमभिलषन्निष्टदेवतास्तुतिविषयं नमस्कुर्वन्नाह—लक्ष्मी-  
रात्यन्तिकी यस्य....”

यह न्यास अभयनन्दिकृत जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है । इसमें महावृत्तिके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं और कहीं उनका व्याख्यान भी किया है । यथा—

“सिद्धिरनेकान्तात्—प्रकृत्यादिविभागेन व्यवहाररूपा श्रोत्रप्राज्ञतया परमार्थतोषेता प्रकृत्यादिविभागेन च शब्दानां सिद्धिरनेकान्ताद् भवतीत्यर्थाधिकार आशास्त्रपरिसमा-  
प्तेर्वेदितव्यः । अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वसामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकः  
अन्तः स्वभावो यस्मिन् भावे सोऽयमनेकान्तः अनेकात्मा इत्यर्थः”—महावृत्ति पृ० २ ।

“द्विविधा च शब्दानां सिद्धिः व्यवहाररूपा परमार्थरूपा चेति । तत्र प्रकृतीय (१)  
विकारागमादिविभागेन रूपा तत्सिद्धिः तद्वेदस्यात्र प्राधान्यात् । श्रोत्रप्राज्ञौ (द्याः) परमार्थतोये  
प्रकृत्यादिविभागाः प्रमाणनयादिभिरभिगमोपायैः शब्दानां तत्त्वप्रतिपत्तिः परमार्थरूपा सिद्धिः  
तद्वेदस्यात्र प्राधान्यात्, सामयितेषां सिद्धिरनेकान्ताद्भवतीत्येवोऽधिकारः आशास्त्रपरिसमा-  
प्तेर्वेदितव्यः । अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह—अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्य-  
सामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासायनेकान्तः अनेकान्ता-  
त्मक इत्यर्थः ।”—शब्दान्भोजभास्कर पृ० २ A ।

इस तुलनासे तथा तृतीयाध्यायके अन्तमें लिखे गए इस श्लोकसे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है—

“नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने । प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥”

इस श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार किया गया है । प्रत्येक पादकी समाप्तिमें “इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दान्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः” इसी प्रकारके पुष्पिकालेख हैं ।

तृतीय अध्यायके अन्तमें निम्नलिखित पुष्पिका तथा श्लोक हैं—

“इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दान्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे तृतीयस्या-  
ध्यायरप प्तुर्थः पादः समाप्तः ॥ श्रीवर्धमानाय नमः ॥

सन्मार्गप्रतिबोधको बुधजनैः संस्तूयमानो दृढात् ।

अज्ञानान्धतमोपहः चितितले श्रीपूज्यपादो महान् ॥

सार्पः सन्ततसत्रिमन्धिनिषतः पूर्वापरानुक्रमः ।

शब्दान्भोजदियाफ्रोऽस्तु महसानः श्रेयसे यं च ये ॥

नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने ।

प्रभाचन्द्राय गुरुवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥ छ ॥

श्री वासुपूज्याय नमः । श्री नृपतिविक्रमादित्यराज्येन संवत् १६८० मासोत्तममासे चैत्रशुद्ध-  
पक्षे एकादश्यां ११ श्री महावीरसंवत् २४४६ । हस्ताक्षर छाजूराम जैन विजेश्वरी लेखक  
पालम ( सूबा देहली )”

जैन-द्रव्याकरणके दो सूत्र पाठ प्रचलित हैं—एक तो वह जिस पर अभयनन्दिने महा-  
वृत्ति, तथा श्रुतकीर्तिने पञ्चरस्तु नामकी प्रक्रिया बनाई है; और दूसरा वह जिस पर सोमदेव-  
सूरिकृत शब्दार्णवचन्द्रिका है । प० नाथूराम प्रेमीने<sup>१</sup> अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे अभयनन्दिनसम्मत  
सूत्रपाठको ही प्राचीन तथा पूज्यपादकृत मूलसूत्रपाठ सिद्ध किया है । प्रभाचन्द्रने इसी अभय-  
नन्दिसम्मत प्राचीन सूत्रपाठ पर ही अपना यह शब्दांशोजभास्कर नामका महान्यास बनाया है ।

आ० प्रभाचन्द्रने इस ग्रन्थको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रकी रचनाके बाद  
बनाया है जैसा कि उनके निम्नलिखित वाक्यसे सूचित होता है—

“तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्धयति तथा प्रपञ्चतः प्रमेय-  
कमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम् ।”

प्रभाचन्द्र अपने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ३२१ ) में प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ देखनेवा  
अनुरोध इसी तरहके शब्दोंमें करते हैं—“ एतच्च प्रमेयकमलमार्त्तण्डे सप्रपञ्च प्रपञ्चितमिह  
द्रष्टव्यम् ।”

व्याकरण जैसे शुष्क शब्दविषयक इस ग्रन्थमें प्रभाचन्द्रकी प्रसन्न लेखनीसे प्रसूत  
दर्शनशास्त्रकी क्वचित् अर्थप्रधान चर्चा इस ग्रन्थके गौरवको असाधारणतया बढ़ा रही है ।  
इसमें विविचिचार, कारकविचार, लिंगविचार जैसे अनूठे प्रकरण हैं जो इस ग्रन्थको किसी  
भी दर्शनग्रन्थकी कोटिमें रख सकते हैं । इसमें समन्तभद्रके युक्तयनुशासन तथा अन्य अनेक  
आचार्योंके पद्योंसे प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है । पृ० ६१ में ‘विश्वदृष्ट्याऽस्य पुत्रो जनिता’  
प्रयोगका हृदयप्राप्ति व्याख्यान किया है । इस तरह क्या भाषा, क्या नियम और क्या प्रसन्नशैली,  
हर एक दृष्टिसे प्रभाचन्द्रका निर्मल और प्रौढ़ पाण्डित्य इस ग्रन्थमें उदात्तभाससे निहित है ।

प्रवचनसारसरोजभास्कर—यदि प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलको विवक्षित करनेके लिए  
मार्त्तण्ड बनानेके पहिले प्रवचनसारसरोजके विकासार्थ भास्करका निर्माण किया हो तो कोई

१ देखो—‘जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी’ लेख, जैनसाहित्य सशोधक भाग १ प्रक २ ।

० पंडित नाथूलाल शास्त्री इन्दौर सूचित करते हैं कि तुकोगज इन्दौरके ग्रन्थभण्डारमें भी शब्दा-  
ंशोजभास्करके तीन ही अध्याय हैं । उसका मंगलाचरण तथा अन्तिम प्रशस्ति-लेख बम्बईकी प्रतिके ही  
समान हैं । प० भुजंगलीजी शास्त्रीके पत्रसे ज्ञात हुआ है कि कारवल्लके मठमें भी इसकी प्रतिक है । इस प्रति  
में भी तीन ही अध्यायका न्यास है । प्रेमीजी सूचित करते हैं कि बंबईके भवनमें इसकी एक प्राचीन प्रति है  
उसमें चतुर्थ अध्यायके तीसरे पादके २११ वें सूत्र तकका न्यास है, आगे नहीं । हो सकता है कि यह प्रभा-  
चन्द्रकी अन्तिमकृत ही हो और इसलिए पूर्ण न हो सकी हो ।

अनहोनी बात न होकर अधिक संभव और निश्चित बात मालूम होती है। ( प्रमेय ) कमल-मार्गण्ड, (न्याय) कुमुदचन्द्र, (शब्द) अम्भोजभास्कर जैसे सुन्दर नामोंकी कल्पिका प्रभाचन्द्रीय बुद्धिने ही ( प्रवचनसार ) सरोजभास्करका उदय किया है। इस ग्रन्थकी सवत् १५५५ की लिखी हुई जीर्णप्रति हमारे सामने है। यह प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बईकी है। इसका परिचय सन्नेपमें इस प्रकार है—

पत्रसख्या ५३, श्लोकसख्या १७४६, साङ्ख १३×६। एक पत्रमें १२ पंक्तिया तथा एक पक्तिमें ४२-४३ अक्षर हैं। लिखावट अच्छी और शुद्धप्राय है। प्रारम्भ—

“ओं नमः सर्वज्ञाय शिष्याशयः।

वीर प्रवचनसारं निखिलार्थं निर्मलजनानन्दम्।

वक्ष्ये सुसाधगोष्ठं निर्माणपदं प्रणम्याप्तम्॥

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः सफललोकोपकारकं मोक्षमार्गमध्ययनरुचिविनेयाशयवशेनोपदर्शयितुं नामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं शास्त्रस्यादौ नमस्कुर्वन्नाह ॥ छ ॥ एस सुरासुर ।”

अन्त—“इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे शुभोपयोगाधिकार समाप्तः॥छ॥ संवत् १५५५ वर्षे माघमासे शुक्लपक्षे पून्यमाया तिथौ गुरुवासरे गिरिपुरे व्या० पुरुषोत्तम लि० ग्रन्थसख्या पदचत्वारिंशदधिकानि सप्तदशशतानि ॥१७४६॥”

मध्यकी सन्धिधोक्ता पुष्पिकालेख—“इति श्री प्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोज-भास्करे...” है।

इस टीका में जगह जगह उद्धृत दार्शनिक अवतरण, दार्शनिक व्याख्यापद्धति एवं सरल प्रसन्नशैली इसे न्यायकुमुदचन्द्रादिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी कृति सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त है। अवतरण—( गा० २।१० ) “नाज्ञोत्पादौ समं यद्ब्रह्मामोत्रामौ तुलान्तयो,” ( गा० २।२० ) “द्वयोपान्तकर्मवशाद् भवाद् भवान्तरावाप्तिः ससार ” इनमें दूसरा अवतरण राजवार्तिक का तथा प्रथम किसी बौद्ध ग्रन्थका है। ये दोनों अवतरण प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० में भी पाए जाते हैं। इस व्याख्याकी दार्शनिक शैलीके नमूने—

( गा० २।१३ ) “यदि हि द्रव्यं स्वयं सदात्मकं न स्यात् तदा स्वयमसदात्मक मत्तात् पृथग्या ? तत्राद्यः पक्षो न भवति, यदि सत् सद्रूपं द्रव्यं तदा असद्रूपं ध्रुवं निश्चयेन न त तन् भवति । कथं येन प्रकारेण द्रव्यं ग्रथविषाणयत् । इयदि पुणो अण्णं वा । अय मत्तातः पुनरन्यद्वा पृथग्भूतं द्रव्यं भवति तदा अतः पृथग्भूतस्यापि सत्त्वे मत्तात्स्यना व्यर्था । मत्तात्मन्वधात्मत्त्वे चान्योन्याश्रयः—मिद्वे हि तत्त्वत्त्वे मत्तासम्बन्धसिद्धि तस्याश्च सम्बन्ध-मिद्वौ मत्ता नत्त्वमिद्विरिति । तत्त्वत्त्वमिद्विमन्तरेणापि मत्तासम्बन्धे ग्रपुण्णदेरपि तत्त्वमद्रः । तस्मान् द्रव्यं स्वयं मत्ता स्वयमेव मद्व्युपगन्तव्यम् ।” ( गा० २।१६ )

“....तथादि—द्रव्यतिद्रोष्ययदुद्रवत्तास्तान् गुणपर्यायान् गुणपर्यायेर्वा द्रोष्यते द्रुतं वा द्रव्यमिति।



गम्यते उपलभ्यते द्रव्यमनेनेति गुण । द्रव्य वा द्रव्यातरात् येन विशिष्यते सः गुण । इत्येतस्मादर्थविशेषात् यद् द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेणाभवन एसो एष हि अतद्भावः ।” इन गाथाओंकी अमृतचन्द्रीय और जयसेनीय टीकाओंसे इस टीकाकी तुलना करने पर इसकी दार्शनिकप्रसूतता अपने आप झलक गारती है । इस टीकाका जयसेनीयटीका पर प्रभाव है और जयसेनीयटीकासे यह निश्चय ही पूर्वकालीन है ।

अमृतचन्द्राचार्यने प्रवचनसारकी जिन ३६ गाथाओंकी व्याख्या नहीं की है प्रायः वे गाथाएँ प्रवचनसारसरोजभास्करमें यथास्थान व्याख्यात हैं । जयसेनीयटीकामें प्रभाचन्द्रका अनुसरण करते हुए इन गाथाओंकी व्याख्या की गई है । हाँ जयसेनीयटीकामें दो तीन गाथाएँ अतिरिक्त भी हैं । इन टीकाका लक्ष्य है गाथाओंका सच्चेपसे खुलासा करना । परन्तु प्रभाचन्द्र प्रारम्भसे ही दशनशास्त्रके निशिष्ट अभ्यासी रहे हैं इसलिए जहाँ सास अरसर आया वहाँ उन्होंने सच्चेपसे दार्शनिक मुद्दोंका भी निर्देश किया है ।

प्र० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें भावत्रिभगीकार श्रुतमुनिके ‘सारत्रय निपुण प्रभाचन्द्र’ के उल्लेखसे प्रवचनसारसरोजभास्करके कर्त्तृका समय १४वीं सदीका प्रारम्भिक भाग सूचित किया है । परन्तु यह सभाजना किसी दृढ़ आधार से नहीं की गई है ।

जयसेनीय टीकापर इसका प्रभाव होनेसे ये उनसे प्राक्कालीन तो हैं ही । आ० जयसेन अपनी टीका में (पृ० २६) केवलिकरलाहारके खडनका उपसंहार करते हुए लिखते हैं कि— “अन्येपि पिण्डशुद्धिकथिता बहवो दोषा ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्या अत्र चाध्यात्म-प्रन्थरात्रोच्यन्ते ।” सम्भव है यहाँ तर्कशास्त्रसे प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिकी विवेक्षा हो । अस्तु, मुझे तो यह सच्चित्त पर निशदटीका प्रभाचन्द्राचार्यकी प्रारम्भिककृति मालूम होती है ।

गद्यकथाकोश—यह ग्रन्थ भी इही प्रभाचन्द्रका मालूम होता है । इसकी प्रतियें ८६ वीं कथाके बाद “श्रीजयसिंहदेवराज्ये” प्रशस्ति है । इसके प्रशस्ति श्लोकोंका प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदिके प्रशस्तिश्लोकोंसे पूरा पूरा सादृश्य है । इसका मूलश्लोक यह है—

“प्रणम्य मोक्षप्रदमस्तदोप प्रकृष्टपुत्रप्रभव चिनेन्द्रम् ।

घट्येऽत्र भव्यप्रतिबोधनार्थमाराधनासत्सुकथाप्रबन्ध ॥”

८६ वीं कथाके अनन्तर “जयसिंहदेवराज्ये” प्रशस्ति लिखकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया गया है । इसके अनन्तर भी कुछ कथाएँ लिखी हैं । और अन्तमें “सुकुमलैः सर्वसुखान्वोधैः” श्लोक

१ गद्यकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना प० १२२—

यराध्य चतुर्विधामनुपमाभाराधना निमलाम् । प्राप्तं सवमुखास्पदं निरुपमं स्वर्गापवगप्रदा (?) ।

तेषां धमकथाप्रपञ्चचरणास्वाराधना सस्थिता । स्वयात् कमविशद्विहेतुरमला चन्द्राकृताराधना ॥१॥

सुकुमलं सवमुखावबोधं पदं प्रभाचन्द्रकृतं प्रबन्धः ।

कल्याणकालऽयं जिनश्वराणां सुरेन्द्रदन्तीव विराजतेऽस्ती ॥२॥

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्वाराजनिवासिना परापरपञ्चपरमेष्ठिप्रणामोपाजितामलपुष्पनिराकृतनिमित्तमलकल-  
कुन्दधामप्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्सुकथाप्रबन्धः कृतः ।’

तथा " इति भट्टारकप्रभाचन्द्रकृतः कथाकोशः समाप्तः " यह पुष्पिकालेख है। इस तरह इसमें दो स्थलों पर ग्रन्थ समाप्तिकी सूचना है जो खासतौरसे विचारणीय है। हो सकता है कि प्रभाचन्द्रने प्रारम्भकी ८६ कथाएँ ही बनाई हों और बादकी कथाएँ किसी दूसरे भट्टारकप्रभाचन्द्रने। अथवा लेखकने भूलसे ८६ वीं कथाके बाद ही ग्रन्थ समाप्तिसूचक पुष्पिकालेख लिख दिया हो। इसको खासतौरसे जाँचे बिना अभी विशेष कुछ कहना शक्य नहीं है।

मेरे विचारसे प्रभाचन्द्रने तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण और प्रवचनसारसरोजभास्कर भोजदेवके राज्यसे पहिले अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें बनाए होंगे। यही कारण है कि उनमें 'भोजदेवराज्ये' या 'जयसिंहदेवराज्ये' कोई प्रशस्ति नहीं पाई जाती और न उन ग्रन्थोंमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिका उल्लेख ही पाया जाता है। इस तरह हम प्रभाचन्द्रकी ग्रन्थरचनाका क्रम इस प्रकार समझते हैं—तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, प्रवचनसारसरोजभास्कर, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर, महापुराणटिप्पण और गद्यकथाकोश। श्रीमान् प्रेमीजीने रत्नकरण्ड-

१ योगसूत्रपर भोजदेवकी राजमार्त्तण्ड नामक टीका पाई जाती है। संभव है प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और राजमार्त्तण्ड नाम परस्पर प्रभावित हों।

२. ५० जुगलकिशोर जी मुन्तारने रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावनामें रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीका और समाधितन्त्रटीकाको एवही प्रभाचन्द्र द्वारा रचित मिथ किया है, जो ठीक है। पर आपने इन प्रभाचन्द्रको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रसे भिन्न सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है वह वस्तुतः दृढ़ प्रमाणों पर अवलम्बित नहीं है। आपके मुख्य प्रमाण है कि—“प्रभाचन्द्रका आदिपुराणकारने स्मरण किया है इस लिए ये ईसाकी लगभगसत्राब्दीके विद्वान् हैं, और इस टीकामें यशस्तिलकचम्पू (ई० १५९) वसुनन्दिश्रावकाचार (अनुमानत वि० की १३ वीं सत्राब्दीका पूर्व भाग) तथा पद्मनन्दि उपासकाचार (अनुमानत वि० स० ११८०) के श्लोक उद्धृत पाए जाते हैं, इसलिए यह टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी नहीं हो सकती।” इनके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि—जब प्रभाचन्द्र का समय अन्य अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे ईसाकी ग्यारहवीं सत्राब्दी सिद्ध होता है तब यदि ये टीकाएँ भी उन्हीं प्रभाचन्द्रकी ही हों तो भी इनमें यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृतके वाक्योक्ता उद्धृत होना अस्वाभाविक एवं अनैतिहासिक नहीं है। वसुनन्दि और पद्मनन्दि का समय भी विजयकी १२ वीं और तेरहवीं सदी अनुमानमात्र है। कोई दृढ़ प्रमाण इसके साधक नहीं दिए गए हैं। पद्मनन्दि शुभचन्द्रके शिष्य थे यह बात पद्मनन्दिके ग्रन्थमें तो नहीं मान्य होती। वसुनन्दिकी 'पडिगहमुच्चट्टाण' गाथा स्वयं उन्हीं की बनाई है या अन्य किसी आचार्यकी यह भी अभी निश्चित नहीं है। पद्मनन्दिश्रावकाचारके 'स्रष्टृवाचरणे' आदि श्लोक भी रत्नकरण्डटीकामें पद्मनन्दिवा नाम लेकर उद्धृत नहीं हैं और न इन श्लोकोंके पहिले 'उक्तं च, तथा चोक्तम्' आदि बोर्ड पद ही दिया गया है जिससे इन्हें उद्धृतही माना जाय। तात्पर्य यह कि मुन्तार सा० ने इन टीकाओंके प्रामाण्य प्रमाण न होने में जो प्रमाण दिए हैं वे दृढ़ नहीं हैं। रत्नकरण्डटीका तथा समाधितन्त्रटीकामें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र का एक साथ विनिर्दिष्टनैलीमें उल्लेख होना इसकी गूना करता है कि ये टीकाएँ भी प्रामाण्य प्रमाणों की होती चाहिए। वे उत्तम इस प्रकार हैं—

“तद्वचनप्रमाणेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्र प्रवचन-ग्रन्थमात्”—रत्न० टी० ५० ६।  
“यं पुनर्वीणमार्त्तण्डे तन्त्रव्युत्तिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रं च भोक्तवित्तरेः प्रशस्तवता।”—समाधितन्त्रटी० ५० १५।

इन दोनों अवगताओं प्रमाणद्वारा सत्याम्भोजभास्करने निम्नलिखित अवतरणों गुना करने पर स्पष्ट मान्य हो जाता है कि सत्याम्भोजभास्करने रचित ही उक्त टीकाओंको बनाया है—

टीका, समाधितन्त्रटीका, क्रियाकलापटीका\*, आत्मानुशासनतिलका आदि ग्रन्थोंकी भी प्रभाचन्द्र-कृत होनेकी संभावना की है, वह खास तौरसे विचारणीय है। यथावसर इन ग्रन्थोंके विषयमें विशेष प्रकाश डाला जायगा। अन्तमें मैं उन सब ग्रन्थकार विद्वानोंके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थोंसे इस प्रस्तावनामें सहायता मिली है।

फाल्गुनशुक्ल द्वादशी  
आष्टाह्निकपूर्व  
बीर नि० म० २४६७ }

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री.  
स्याद्वैत विद्यालय काशी.

“तदात्मस्त्वञ्चार्थस्य अध्यस्ततोऽनुमानादेशच यथा सिद्धयति तथा प्रमेयकमलमातंण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम् ।”-शास्त्राभोजभास्कर ।

प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमें पाई जानेवाली अञ्जनचोर आदिकी कथाओंमें रत्नचरण्डटीकागत कथाप्रोका अक्षरशः सादृश्य है। इति ।

\* क्रियाकलापटीकाकी एक लिखित प्रति बम्बईके सरस्वती भवनमें है। उसके मगल और प्रशस्ति श्लोक निम्नलिखित हैं—

मगल— “जिनेन्द्रमुमूलितकर्मवृद्ध प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपम् ।  
अनन्तबोधदिभञ्ज गुणौघ क्रियाकलाप प्रकट प्रवक्ष्ये ॥”

प्रशस्ति—“यन्मे मोहृतमोविनाशनपटुस्त्रैलोक्यवीरप्रभु, ससृष्टिसमन्वितस्य मिलितस्नेहस्य सशोषक ।  
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रकिरण श्री पद्ममन्दिरप्रभु तच्छिष्यातप्रकटार्यता स्तुतिपद प्राप्त प्रभाचन्द्रत ॥१॥  
यो रात्रौ दिवसे पृथि प्रवृत्ता (?) दोषा यतीना कुतो व्योषाता (?) प्रलये तु रमलस्तेषा महादर्शित ।  
श्रीमद्गीतमनाभिभिर्गणपरैर्लोकत्रयोद्योतकं, सध्यकु (१) सकलोऽप्यसौ यतिपतेर्जात प्रभाचन्द्रत ॥२॥  
अ (यत्) सर्वात्महित न वर्णसहित न स्पन्दितोऽष्टद्वयम्,  
नो वाञ्छाकलितम्र दोषमलिन न श्वासतुष्ट (बद्ध) कमम् ।  
शान्तामर्षविषये (मर्षविधौ) सम पशु (पशु) गणैराकणित कर्णत,  
तद्वत् सबविद प्रणष्टविषय पायादपूर्वं यच्च ॥ ३ ॥”

इन प्रशस्तिश्लोकोंसे ज्ञात होता है कि जिन प्रभाचन्द्रन क्रियाकलापटीका रची है वे पद्मनन्दि-संज्ञान्तिकके शिष्य थे। न्यायकुमुदचन्द्र आदिके कर्ता प्रभाचन्द्र भी पद्मनन्दि संज्ञान्तिकके ही शिष्य थे, अतः क्रियाकलापटीका और प्रमेयकमलमातंण्ड आदिके कर्ता एक ही प्रभाचन्द्र हैं इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। प्रशस्तिश्लोकोंकी रचनाशैली भी प्रमेयकमल० आदिकी प्रशस्तियोंसे मिलती जुलती है।

† आत्मानुशासनतिलकाकी प्रति श्री प्रेमीजीने भेजी है। उसका मगल और प्रशस्ति इस प्रकार है—

मगल— “बीर प्रणम्य भववारिनिधिप्रपोतमुद्बोधोत्तिताखिलपदार्थमनल्पपुण्यम् ।  
निर्वाणमार्गमनवलयगुणप्रबन्धमात्मानुशासनमह प्रवर प्रवक्ष्ये ॥”

प्रशस्ति—“मोक्षोपायमनल्पपुण्यममलज्ञानोदय निर्मलम् । भव्यार्थ परम प्रमेन्दुकृतिना व्यक्तं प्रसन्नं पदै ।  
व्याख्यायन वरमात्मशासनमिदं ध्यामोहविच्छेदत । सूक्तार्थेषु कृतावरैरहरहश्चेतस्थल चिन्त्यताम् ॥१॥

इति श्री आत्मानुशासन (नं) सतिलक (कं) प्रभाचन्द्राचार्यविरचित (त) सम्पूर्णम् ।”

## न्यायकुमुदचन्द्रद्वितीयभागस्य विषयानुक्रमः

विषय	पृ०	विषय	पृ०
१० कारिकाव्याख्यानम्	४०४	समारोपव्यवच्छेदकत्वात् प्रमाण स्मृतिः	४१०
भूतस्य स्वरूपम्	४०४	अनुमानलक्षणप्रयोजनप्रसाधकत्वाच्च प्रमाण	
स्मृतिप्रामाण्यवादः	४०५-४११	स्मृति	४१०
( बौद्धादीनां पूर्वपक्ष ) स्मृते स्वरूप ज्ञाता		साध्यसाधनसम्बन्धो हि सत्तामात्रेण अनुमाना-	
ज्ञान वा ?	४०५	ज्ञम्, परिज्ञानो वा, स्मृतित्रोहीकृतो वा ?	४१०
ज्ञानमपि ज्ञानमात्रमनुभूतविषय वा ज्ञानम् ?	४०५	प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यवादः	४११-४१८
अनुभूते जायमाना स्मृतिरिति अनुभवेन		( बौद्धस्य पूर्वपक्ष ) विरुद्धधर्माध्यासात्,	
प्रतीमते स्मृत्या उभाभ्यां वा ?	४०५	कारणाभावात्, विषयाभावाच्च न प्रमाण	
यदि अनुभूतता प्रत्यक्षगम्या स्यात्तदैव स्मृति-		प्रत्यभिज्ञा	४११
रपि तामनुभूतता ज्ञातुं शक्नोति	४०६	सोऽप्यमित्यत्र प्रत्यक्ष स्मरणयो स्पष्टास्पष्ट	
स्मृतेविषयोऽर्थमात्रं स्यात् अनुभूतताविशिष्टो		लक्षणविरुद्धधर्माध्यास एव	४१२
वार्थ ?	४०६	'स एवायम्' इत्यत्र आकारद्वय परस्परानु	
अनुभूतार्थविषयत्वे स्मृतेर्न प्रमाणता अविध-		प्रवेशन प्रतिभासते अनुप्रवेशेन वा ?	४१२
मानविषयत्वान्	४०६	प्रत्यभिज्ञानस्य हि कारणमिन्द्रिय स्यात्, पूर्वा-	
अमदर्थविषयत्वेन स्मृतौ अर्थनिरासपि न		नुभवजनित संस्कार तदुभय वा ?	४१२
सम्बन्धि	४०६	प्रत्यभिज्ञानविषयो हि पूर्वज्ञानगृहीतमेव वस्तु	
( उत्तरपक्ष ) संस्कारप्रभव तदित्याकारो		स्यात्, तदतिरिक्त वा ?	४१३
ज्ञानविषय स्मृति	४०६	अतिरिक्तपक्षे किं स्वरूपभेदकृत अतिरेक,	
कारणभेदान् स्वरूपभेदान् विषयभेदाच्च		काल-पसम्बन्धकृत, तत्सम्बन्धे ऐक्य-	
प्रयसादिभ्यो भिन्ना स्मृति	४०७	प्रतिपत्तिरुक्तो वा ?	४१३
'अनुभूते स्मृति' इति त्रिकालानुयायिना		ऐक्यप्रतिपत्तिपक्षे एकत्वसंख्या स्यादित्य वा	
प्रमाणा प्रमायने	४०७	विवक्षितम् ?	४१३
स्मृतिरिह गृहीतप्राप्तिवादप्रमाणम्, परिच्छि-		स्यादित्यमपि वस्तुनो भिन्नमभिन्न वा ?	४१३
त्तिविशेषाभावात्, असत्यतीतार्थं प्रवर्त-		भेदपक्षे किं तत् पूर्वमप्यनुत्पन्नम्, प्रत्यभिज्ञान-	
मानवान्, अर्थादनुत्पन्नमानत्वात्, विम-		समय एव बोध्यते ?	४१३
वादवत्त्वान् समारोपव्यवच्छेदकत्वान्,		( उत्तरपक्ष ) किं धर्माणां धर्मिणा सह	
प्रमात्रनाप्रसाधकत्वाद्वा ?	४०८	विरोध परस्पर वा ?	४१४
गृहीतप्राप्तये कस्य गृहीतार्थस्य गृह्यमानस्य,		विरुद्धधर्माध्यासन कारणभूताभ्यां दर्शनस्म-	
अपस्य, ज्ञानविशिष्टस्य अर्थस्य, तद्विनि-		रणकारणाभ्यां प्रत्यभिज्ञानस्य भेद साध्येन	
ष्टस्य वा ज्ञानस्य ?	४०८	स्वभावभूताभ्यां वा ?	४१४
अपस्य ज्ञानविशिष्टस्य हि सन्न संयोग,		परस्परानुप्रवेशो हि परस्परस्वरूपमाद्वयम्,	
गमबाध, विगच्छीभाषो वा ?	४०९	एकस्मिन्प्रापारे वृत्तिर्वा ?	४१४
प्रमाणानुत्पत्तिरिति गृह्यमानस्य ज्ञानस्य		दर्शनस्मरणयो विवक्षितवत् कणश्चिन्नप्रवे-	
द्वयमप्यविन्यासकृत स्मृतावस्थयेव	४१०	धोऽभ्युपगम्यते	४१५

दर्शनस्मरणलक्षणकारणस्य सद्भावात्	
कारणाभावात् प्रत्यभिज्ञानाभावात्	४१५
विषयाभावात्, गृहीतग्राहित्वात्, बाध्यमान- त्वाद्वा प्रत्यभिज्ञानस्याप्रामाण्यं स्यात् ?	४१६
प्रत्यभिज्ञानविषयो हि प्रत्यक्षेण गृह्येत, स्मर- णेन, प्रमाणान्तरेण वा ?	४१६
प्रत्यक्षस्मरणयोः द्वय्याविषयत्वेऽपि द्वय्यविषय- कप्रत्यभिज्ञानजनकत्वमस्त्येव	४१७
प्रत्यभिज्ञानविषयस्य हि बाधक प्रत्यक्षम् अनुमानं वा स्यात् ?	४१७
लूनपुनर्जतितल्लक्षणादीं एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्य बाध्यमानत्वेऽपि न सर्वत्र तस्याप्रामाण्यम्	४१८
नापि सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्य बाध्यमान- नत्वम्, अनुमानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्	४१८
तर्कस्य लक्षणम्	४१८
व्याप्तिलक्षणम्	४१९
सर्कप्रामाण्यबाधः	४२०-४३४
(आर्वाकस्य पूर्वपक्षः) व्याप्तिस्वरूपस्यैवा- सम्भवात् कथं तर्कस्य प्रामाण्यम् ?	४२०
व्याप्तिर्हि देशतः कालतो वा स्यात् ?	४२०
किं सामान्यस्य सामान्येन अविनाभावः, किं वा सामान्यस्य विशेषे, उत विशयाणां विशेषे ?	४२०
द्वितीयपक्षे देशकालानवच्छिन्ने विशेषमात्रे सामान्यस्याविनाभावः तदवच्छिन्ने वा ?	४२०
विशयाणां विशेषैरविनाभावो हि दृष्टानां दृष्टं स्यात्, अदृष्टानामदृष्टं, दृष्टानां बाधदृष्टिरिति ?	४२१
न सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहं सुकरं	४२१
अविनाभावशब्दो हि व्यतिरेकमात्रवचनं	४२१
'अग्न्याभावे धूमो नोपपद्यते' इत्यत्र अग्न्यभाव- पारमाधिकं सन् विशेषणम्, अपार- माधिकं एव वा ?	४२१
एकस्य कस्यचिदग्नेरभावे धूमो नोपपद्यते, सर्वस्य वा ?	४२१
धूमसद्भावविरोधस्य च धूमाभाव एव उपाधिर्न अग्न्याभाव	४२२
अविनाभावे सत्यपि धूमाद् वह्निरेवानुमीयते नतु तद्गतं पञ्जल्यम्	४२२

(उत्तरपक्षः) स्वरूपप्रयुक्ताऽव्यभिचार एव हि व्याप्तिः	४२२
यस्य येन अव्यभिचारः तस्य तेन व्याप्तिः	४२३
अविनाभावशब्दो हि तथोपपत्त्यन्यानुपप- तिरूपनियमे पर्यवसितः	४२३
व्याप्तिः सर्वोपसंहारेण प्रतीयते नतु एकैक- धर्मुल्लेखेन	४२४
धूमाभावे अग्न्यभावस्य निमित्तात्ता अग्निधूमयोर्हि अग्नित्वधूमत्वद्वारेणैव व्या- प्तिर्नतु पञ्जल्यादिना	४२५
व्याप्तिज्ञानस्य कारणभूतौ प्रत्यक्षानुपलम्भौ प्रथमदर्शनकाले न स्तः अतो न प्रथम- समये एव व्याप्तिग्रहणम्	४२६
अन्वयव्यतिरेकवशात् व्याप्तिप्रतिभासे किं सा ताभ्यां जन्मते ज्ञाप्यते वा ?	४२६
<b>११ कारिकाव्याख्यानम्</b>	४२७
अस्पदादिसम्बन्धिनः योगिसम्बन्धिनो वा प्रत्यक्षास्तु व्याप्तिप्रतिपत्तिः	४२७
न स्वसंवेदनेन्द्रियमानसप्रत्यक्षे व्याप्तिपरि- ज्ञानम्	४२७
(योगानां पूर्वपक्षः) प्रत्यक्षेणैव अविनाभावः प्रतीयते	४२७
भूयोदर्शनावयवतान्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रिय- प्रभवः वा प्रत्यक्षः व्याप्तिग्राहकम्	४२८
अनुसन्धानेन व्याप्तिस्थितिरप्यते अतो न प्रथम- प्रत्यक्षेणैव तद्ग्रहणम्	४२९
अन्वयव्यतिरेको च प्रयोक्त्रसन्देहव्युदासायी	४२९
(उत्तरपक्षः) किमैन्द्रियं मानसं वा प्रत्यक्ष- व्याप्तिग्रहणे प्रभवेत् ?	४२९
प्रत्यक्षमात्रम्, भूयोदर्शनसहायकम्, अन्वयव्य- तिरेकसहकृतं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्रहणे प्रभवेत् ?	४२९
पुरोदृश्यमाने हि नियताग्निसम्बन्धित्वेन धूम- प्रतिभासेत, अनियताखिलाग्निसम्बन्धि- त्वेन वा ?	४३०
प्रत्यक्षस्य अन्वयव्यतिरेकसहकृतत्वं हि स्वविषय- यातिरूपेण अर्थान्तरे वृत्तिः, स्वविषये प्रवर्तमानस्य अतिशयाधानं वा ?	४३०
इन्द्रियविषये विद्यमानत्वात्तत्प्रभवप्रत्यक्षेण व्याप्तिः प्रतीयते, स्वविषयत्वाद्वा ?	४३०

किं मामान्यस्य सामान्येन व्याप्तिः, उत तद्वृ-  
 पलक्षितविशेषाणां तदुपलक्षितविशेषे ? ४३१  
 व्याप्तिज्ञाने हि तत्कारणकारणत्वादिन्द्रिया-  
 पेक्षा न तु साक्षात् ४३१  
 न मानस प्रत्यक्ष वहिरर्थे इन्द्रियनिरपेक्ष प्रवर्तते ४३१  
 सम्बन्धसम्बन्धोऽपि मनसः सद्भिरेव अर्थे-  
 नातीनानागनादिभि ४३२  
 नापि योगिप्रत्यक्षाद् व्याप्तिग्रह ४३२  
 योगी हि व्याप्तिं प्रतिपद्य स्वार्थमनुमानं विद-  
 ध्यात् परार्थं वा ? ४३३  
 योगी परार्थानुमानेन गृहीतव्याप्तिकमगृही-  
 तव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत् ? ४३३  
 कारिकाविवृत्योऽर्थस्याप्यनुमानम् ४३३  
 अनुमानस्य लक्षणम् ४३४  
**१२ कारिकाव्याख्यानम् ४३५**  
 प्रतिज्ञाप्रयोगसमर्थनम् ४३५-८  
 (बोद्धव्यं पूर्वपक्षः) पक्षस्य प्रयोजनाभावत-  
 प्रयोगानुपपत्ते ४३५  
 साध्यार्थप्रतिपादनलक्षणप्रयोजनमपि न पक्ष-  
 प्रयोगेण सिद्धयति ४३६  
 स हि केवलं साध्यमर्थं प्रतिपादयेत् हेतुपन्थास-  
 ममन्विता वा ? ४३६  
 (उत्तरपक्षः) पक्षस्य साध्यसिद्धिप्रतिवन्धि-  
 त्वादप्रयोगः, प्रकृतासाधित्वे, प्रयोजना-  
 प्रमाधकत्वात्, हेतुपन्थामापेक्षस्य तत्प्रति-  
 पत्तरादा ४३६  
 हेतुगोचरस्य पक्षस्यानिर्देशे हेतोरनेकान्तिक-  
 त्वादिदोषानुपपन्न ४३७  
 हेतुप्रयोगापेक्षस्यैव पक्षस्य साध्यमाधकत्वम् ४३७  
 पक्षाभावे कथं मन्तव्यपक्षस्यैव वा ? ४३८  
 प्रतिज्ञायां प्रयोगानर्हत्वे धारस्वादावपि सा-  
 नाभिधीयेत ४३८  
 त्रैलोक्यनिरासम् ४३८-४४१  
 (बोद्धव्यं पूर्वपक्षः) हेतोरत्रैक्यं हि अविद-  
 विद्वद्भेदेनानिश्चयदोषस्यैव शङ्कायां  
 अनुपपन्नमेव ४३८  
 (उत्तरपक्षः) न त्रैलोक्यं हेतोर्निरासं हेतुभा-  
 गमपि वर्तमानत्वात् ४३९  
 मुख्यधारीहेतुभागेऽपि त्रैलोक्यं समस्ति ४४०

न हि कृत्तिकोदयात् शकटोदयानुमाने पक्ष-  
 धर्मता सम्भवति ४४०  
 नापि कृत्तिकोदयादौ कालाकाशादीनां पक्षत्वम् ४४०  
 सन्दानित्यत्वे श्रावणत्वस्य, सर्वस्य क्षणिकत्वे  
 साध्ये सत्त्वस्य च सपक्षसत्त्वमावेष्टपि  
 गमनत्वप्रतीते ४४०  
 विपक्षेऽसत्त्व तु अविनाभावमात्मकमेव ४४१  
 सपक्षे सत्त्वमावेष्टपि अन्तर्ध्वस्तितरुक्षणो-  
 न्वय समस्येव ४४१  
 अन्ययानुपपत्तिलक्षणादेव हेतोः दोषत्रयपरि-  
 हारोपपत्ते ४४१  
 अविनाभावप्रपञ्चार्थं त्रैलोक्यस्याभिधाने निश्चि-  
 तत्वस्य अबाधितविषयत्वादेरपि अमि-  
 धानप्रसङ्ग ४४१  
**पाञ्चरूप्यनिरासः ४४२-४४२**  
 साध्याविनाभावव्यतिरेकेणापरस्य अबाधित-  
 विषयत्वादेरसम्भवात् ४४२  
 बाधितविषयत्व-अविनाभावयोर्विरोधान् ४४२  
 अबाधितविषयत्व निश्चितमनिश्चितं वा हेतो-  
 रस्य स्यात् ? ४४२  
 निश्चयनिवन्धनञ्च अनुपलम्भ संवादो वा ? ४४२  
 अन्यदपि तद्विषय प्रमाणास्तम् अविनाभावा-  
 दगमो वा अबाधितविषयत्वनिश्चय-  
 निवन्धनं स्यात् ? ४४३  
 प्रतिपक्षो हि अतुल्यबलं तुल्यबलो वा प्रतिपक्ष्येन ? ४४३  
 अतुल्यबलत्वञ्च तपो पक्षधर्मत्वादिभावाभावा-  
 दनमनुमानं गद्याजनिनं वा ? ४४३  
 हानादिवृद्धयोऽनुमानस्य कथम् ४४४  
**अविनाभावविचारः ४४४-४४८**  
 (बोद्धव्यं पूर्वपक्षः) अविनाभावो हि तादा-  
 त्म्य-तदुत्पत्तिभ्यामेव नियतः ४४४  
 तादात्म्येन स्वभावहेतोरविनाभावः तदुत्पत्त्या  
 च कार्यहेतोः, अनुपलब्धिरपि स्वभाव-  
 हेतुत्वमर्तव्यं ४४४  
 कार्यहेतोरविनाभावस्य प्रत्ययानुपलम्भप्रपञ्च-  
 नेन प्रतिपत्तेः ४४४  
 स्वभावहेतोः विपक्षे बाधकप्रमाणेन अविना-  
 भावावगतिं यथा मत्त्वस्य क्षणिकत्वेन ४४५  
 अनुपलब्धिरपि सर्वत्र स्वभावानुपपन्नोऽपि अन्त-  
 र्भवति अतः तादात्म्यमेव सम्बन्ध ४४५

(उत्तरपक्ष) तादात्म्ये सति भेदाभावात् तस्य अविनाभावनियमनिमित्तत्वम्	४४६
तादात्म्येन गमकत्वे च हेतुग्रहणवेलायामेव साध्यस्य प्रतिपन्नत्वात् व्यर्थमनुमानम्	४४६
विपरीतारोपव्यवच्छेदायमपि नानुमानस्य साफल्यं यतो हि तत्त्वरूपे प्रतिपन्ने अप्रतिपन्ने वा विपरीत आरोप स्यात् ?	४४७
साध्यसाधनयोरव्यतिरेके च शिक्षपात्यवत् वृक्षत्वमपि हेतु स्यात्	४४७
बह्व्युत्पन्नेष्वपि धूमधर्मेण श्यामत्वादिषु अविनाभावस्यानुपलब्धे न तदुत्पत्त्यापि अविनाभावनियम	४४७
तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव अविनाभावनियमे कथं कृतिकोदयशकटोदययोश्चन्द्रोदयसमुदबुद्धयोश्च गम्यगमकभावः ?	४४८
प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकस्य अनुपलम्भस्य च अर्थान्तररोपलम्भरूपस्य न व्याप्तिग्रहणे सामर्थ्यम्	४४८
निष्ठुतिव्याख्यानम्	४४९
तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि चम्प्रात् जलचन्द्रप्रतिपत्तिरिति भवति	४५०
<b>१३ कारिकाव्याख्यानम्</b>	<b>४५०</b>
प्रतिबिम्बव्याध्.	४५१-४५८
(कुमारिलस्य पूर्वपक्ष) बिम्बसन्निधाने हि प्रतिबिम्बगुणम्बं द्रव्यरूपं वा समुत्पद्यते ?	४५१
द्रव्यरूपमपि निरवयवद्रव्यरूपं सावयवद्रव्यरूपं वा तदुत्पद्यते ?	४५१
प्रतिबिम्बस्य जलादिपरमाणव एव आरम्भका अग्रे वा ?	४५१
नापि बिम्बरूपस्य प्रतिबिम्बारम्भकत्वम्	४५१
बिम्बसन्निधाने च आश्रयस्य आदशदि परिमाणगौरवयोरेकार्थं स्यात्	४५१
जले सूर्यादिदशदिना चक्षुरक्षिमिनिर्गमनप्रक्रिया यदि प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तदा कथं बिम्बे चलति तदपि चलेत् तिष्ठति च तिष्ठेत् ?	४५३
यदि च प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तदा विनष्टेऽपि बिम्बे दृश्येत	४५३
अतः जलादेः प्रतिहता रश्मयः व्यावृत्त्य बिम्बमेव दर्शयन्ति न तु तत्र प्रतिबिम्बोत्पत्ति	४५४

(उत्तरपक्ष) प्रतिबिम्बासम्बन्धो हि ग्राहकप्रमाणभावात् उत्पादककारणाभावाद्वाऽभिधीयते ?	४५४
चन्द्रादिप्रतिबिम्बं पश्यामीति प्रत्यक्षमेव तद्ग्राहकम्	४५४
न चेय प्रतीतिर्नान्ता बाधक-कारणदोषाभावात्	४५४
आश्रयबिम्बाभ्यां विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्वादर्थान्तरं प्रतिबिम्बम्	४५५
प्रतिबिम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारणं चन्द्रादिकं तु निमित्तकारणमिति	४५५
द्रव्यरूपमेव प्रतिबिम्बमुत्पद्यते	४५६
सावयवमेव प्रतिबिम्बमस्मदादीन्प्रियशब्दात्वात् घटादिवत्	४५६
जलादिकमेव प्रतिबिम्बाकारतया परिणमते यतो न पृथक् तत्त्वसंविष्टुपलम्भः	४५६
जलादिपरमाणव एव प्रतिबिम्बारम्भका न चात्र सावयवद्रव्यद्वयं किन्तु जलादीनामेव प्रतिबिम्बाकारपरिणाम	४५६
समानाकाशदेशत्वञ्च सावयवयोरपि वातातपयोरिवाविच्छेदम्	४५७
सावयवयो जलकनकादिसमुक्तानलादेरिव परिमाणगौरवोत्कर्षनियमोपि नास्ति	४५७
रश्मिरूपस्य चक्षुषोऽप्रसिद्धे अप्सूर्यवशिनामित्याद्यसंज्ञकत्वम्	४५७
स्वसामग्रीतं प्रतिबिम्बं सव्यवक्षिणविषयं गैवोत्पद्यते	४५७
प्रतिबिम्बस्य प्रतिबिम्बत्व हि सम्बन्धक्षिणविषयसिन्धैव, स च गुण एव	४५७
यदि प्रादशदिना प्रतिहता रश्मयः मुखमेव प्रकाशयन्ति तदा कुड्यादिप्रतिहता अपि ते मुखं प्रकाशयेयुः	४५८
यदि च प्रतिहता रश्मयः बिम्बमेव प्रकाशयन्ति तदा हस्त्यादीनां स्वपरिमाणानतिक्रमेणैव प्रतीतिरित्याह लघुतया	४५८
निमित्तवारणभूतबिम्बविमानुकारितया प्रतिबिम्बे क्रिया प्रतीयते छत्रछायावत्	४५८
प्रदीपछत्रादेरपाये प्रकाशछायायोरपायवत् बिम्बापाये प्रतिबिम्बमप्यपेति	४५८
प्रदीपविनाशेऽपि यथा न तस्य पृथगवयवा	

उपलभ्यन्ते नचैव प्रतिविम्बविनाशोऽपि न तत्पृथगवयवोपलब्धिः ४५९	प्रागभावादिभेदवत्त्वाभावास्तु प्रभावः ४६७
पूर्वोत्तरचरहेत्यो समर्थनम् ४५८	अभावस्यावस्तुत्वे हि अर्थानां साक्ष्यं स्यात् ४६७
१४ कारिकाव्याख्यानम् ४६०	प्रागभावादीनां लक्षणानि ४६७
वैशेषिकसूत्रोक्तानां कारणादिपञ्चहेतूनां निरास ४६०-६१	अनवृत्तिव्यावृत्तिवृद्धिवाह्यत्वादभावो वस्तु ४६७
(वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः) कारण-कार्यं सयोगि- ममवायि विरोधिभेदेन पञ्चानुमानम् ४६०	(उत्तरपक्षः) अभावस्य प्रत्यक्षादिभिः परि- च्छिद्यमानत्वान्न भावादतिरिक्तत्वम् ४६८
(उत्तरपक्षः) उक्तपक्षहेतुवितरिक्तानां कृति- कादिहेतूनां प्रतीतेः न लिङ्गस्य पञ्च- मस्यानियमः ४६१	अविप्रवृष्ट्यार्थसम्बन्धभावः प्रत्यक्षेणैव परि- च्छिद्यते ४६८
अविनाभाववशादि गमकत्व न कारणादि- रूपनामात्रेण, अव्यापकत्वादतिप्रसङ्गाच्च ४६१	अभावस्याप्रत्यक्षत्वे हि इन्द्रियेणासम्बद्धत्वात्, अरूपित्वात् असद्रूपत्वाद्वा ? ४६८
सांख्यपरिकल्पितमात्रमात्रिकादिसप्त- विधहेतुनिरासः ४६२	रूपित्वस्य-प्रत्यक्षता प्रत्यनङ्गं वात्र अरूपि- त्वादभावस्याप्रत्यक्षता ४६९
अदृश्यानुपलब्धेरपि गमकत्वप्रदर्शनम् ४६२	चक्षुरादिभावाभावाविवक्षाधित्वादभावस्य प्रत्यक्षविषयत्वम् ४६९
१५ कारिकाव्याख्यानम् ४६३	अभावस्याप्रत्यक्षत्वे हि आलोकापेक्षान्न स्यात् ४६९
अभावप्रमाणविचारः ४६३-४८२	इह भूतेषु यतो नास्तीति ज्ञानस्य भेदासिद्धेः न चक्षुराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानमन्यथा- सिद्धम् ४७०
(सोपानकस्य पूर्वपक्षः) अभावप्रमाण प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्न भिन्नसामग्री- प्रमवत्त्वात्, भिन्नकलसाद्यकत्वाच्च ४६३	प्रतियोगिस्मरणानन्तरभाविस्त्वादभावस्य अप्रत्यक्षत्वे सविकल्पकज्ञानस्य प्रत्यक्षत्व न स्यात् ४७०
अभावप्रमाण हि नेन्द्रियादिमात्रादिति प्रादु- र्भवति, किन्तु प्रतिपेक्ष्यानुपलब्धि-आश्र- योपलब्धि प्रतियोगिस्मरणरूपसामग्रीन ४६४	देशादिविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभावश्च अनुमाना- दिपरिच्छेदः ४७१
अनुपलब्धिर्हि गृहीतव्याप्तिर्वा अगृहीतव्या- प्तिर्वा वाऽभावमनुमापयेत् ? ४६५	'नासीदपवरके देवदत्त' इति प्रतीते स्मरण- रूपत्वान् ४७१
व्याप्तिग्रहणवेलायाञ्च आभावाद्यधर्मग्रहण किमत एव, अनुमानान्तराद्वा ? ४६५	न चाश्रयग्रहणपूर्वकमेव अभावग्रहणम् ४७२
अनुपलब्धिपरि उपलब्ध्यभावत्वात्, अन- स्तप्रतिपत्तावपि अयमेव दोषः ४६५	आश्रयस्य ग्रहणं हि किं निषेध्याभावसहि- तस्य केवलस्य वा ? ४७२
इह भूतेषु यतो नास्तीति प्रत्यक्षस्य हि किं यतो विषयः स्यात्, भूतत्वम्, समर्थो वा ? ४६५	प्रतियोगितोऽपि स्मरणं किमभावान्तरात्तस्य तद्विपरीतस्य वा ? ४७२
यतो विविक्तभूतत्वस्य तद्विषयत्वे तद्विषयस्य किं भूतत्वस्याभावात् तद्विपरिक्तं वा ? ४६५	परात्मना प्रतीयमानोऽपि भजार्थः यदादेवैव स्वरूपम् ४७३
न हि श्रयशरपरिच्छेदोऽभाव इन्द्रियेणा- गतिरुद्दिष्टस्य ग्रहणान् ४६६	यतो विविक्तत्व हि भूतत्वधर्मतया कथञ्चिद् भिन्नं पुच्छते पदार्थान्तरतया वा ? ४७३
नास्त्यनुमानादभावावर्गनि ४६६	पदार्था हि परस्परमङ्गीर्णाः समुत्पन्नाः तदि- परीता वा ? ४७३
ऽभावेन परिच्छेदमान्यप्राभावावयव अवगुणम् ४६७	अभावानामन्योन्य भावान्तराच्च विवेको यद्यन्यभावात्तदानवस्था ४७४
	यद्यन्य इत्येताभावाद् व्यावृत्तिरितरेतरा- भावान्, अभावान्तराद्वा ? ४७४



अभावस्य वस्तुत्वे हि किं स प्रमाणान्तरेण गृह्यते अभावप्रमाणेन वा ?	४७५
प्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिर्हि किं निषेध्यविषय-ज्ञानउपपत्त्या धात्मनोऽपरिणाम अन्य-वस्तुविज्ञानं वा ?	४७५
आत्मनोऽपरिणामस्य हि अभावरूपत्वात् कथं प्रामाण्यम् ?	४७५
अन्यस्मिन् वस्तुमात्रे विज्ञानम् घटाभावाद्यथे वा विज्ञानमभावरिच्छेदकम् ?	४७६
(सौगतस्य पूर्वपक्ष) न भावस्वरूपानिर्विकल-कविच्छभाव प्रत्यक्षानुमानग्राह्य	४७६
अभावाकारस्य ज्ञानेऽनुश्लेषे ज्ञानस्याप्य-संस्थापति	४७७
अविनाभावलिङ्गाभावाज्ञानानामादयि अभावग्रहणम्	४७७
(उत्तरपक्ष) प्रतीतिभेदात् स्वरूपभेदात् सामग्रीभेदात् अर्थक्रियाभेदाच्च भावा-भावयोर्भेद	४७७
प्रतिनिवृत्तप्रतियोगिस्मरणान्यथानुपपत्त्या प्रतिनियताभावप्रतिपत्ति प्रत्यक्षतएव प्रतिपत्त्या	४७८
इह भूतले घटो नास्तीति विशिष्टप्रतीतिः किं निषिध्यमानो घटादिरेव निबन्धनम्, तदाश्रयो भूतलादिर्वा ?	४७८
यदि भाव एवाभाव तर्हि भावकाले भावदेहे च अभावप्रतीति रयात्	४७९
भूतलमान घटाभावप्रतीतिनिबन्धन विशिष्ट वा ?	४७९
विशिष्टत्वपक्ष च किं स्वरूपकृत वैशिष्ट्य घट-सर्गादहितरकृत वा ?	४७९
नापि सदृश्यवहागानुदये एव अभावव्यवहार यतोऽभावस्य आभिमानीकत्वम्	४७९
सदृश्यवहारानुदयस्य च नास्तीति व्यवहार-निबन्धनत्वे सुपुष्पावस्थायामपि नास्तीति व्यवहार स्यात्	४८०
न च गुदगरादिसामग्र्या कपालोत्पाद एवोपयोग, तया घटाविनाशस्यापि करणात्	४८०
प्रमाणत प्रतीयमानत्वादिसाधनं अभावस्य वस्तुत्वसिद्धि	४८२
अर्थक्रियाकारित्वात् प्राग्भावादिभेदवत्त्वाच्च अभावो वस्तु	४८२

१६ कारिकाव्याख्यानम्	४८३
सविकल्पप्रत्यक्षेण न सर्वात्मना वस्तु प्रती-यते अत अगृहीताश्रयहृणाय अनुमानस्य साफल्यम्	४८३
१७ कारिकाव्याख्यानम्	४८५
क्षणिकत्वसिद्धये न स्वभावहेतो सम्भावना	४८५
१८ कारिकाव्याख्या	४८७
सविकल्पबुद्धे न स्वत सिद्धि नापि परत	४८७
१९ कारिकाव्याख्या	४८९
उपमानस्य न प्रमाणान्तरत्वम्	४८९
उपमानप्रमाणनिवार	४८९-५००
(सोमासकस्य पूर्वपक्ष) उपमानस्य लक्षणम्	४८९
अनधिगतार्थगन्तुत्वादुपमानस्य प्रामाण्यम्	४९०
न प्रत्यक्षानुमानयोः उपमानस्य अन्तर्भाव	४९०
लिङ्गादनुस्यूतमानत्वात् पक्षधर्मत्वादिस्रहणा-भावाच्च नानुमानत्वम्	४९१
नाप्यर्थापत्त्यादिपु उपमानस्यान्तर्भाव	४९१
(उत्तरपक्ष) प्रत्यक्षज्ञान एव उपमानस्य अन्तर्भाव	४९२
पूर्वं कस्यानुभावाभाव-गवयावच्छेदस्य सादृश्यं वा ?	४९२
सादृश्यं हि असिद्धिरहितत्वानुभूयते, प्रतिब-न्धकसदभावाद्वा ?	४९३
सादृश्यस्य एकैकत्र परिसमाप्तिर प्रतियोगि-न्यदुत्प्लुपलब्धि	४९३
सादृश्यव्यवहार एव हि प्रतियोगिग्रहणापेक्षो न तु स्वरूपम्	४९३
स्मरणापेक्ष गवयप्रत्यक्ष सादृश्यज्ञानमुपजन-यति अनपेक्ष वा ?	४९४
गोपिण्डस्मरणापेक्षित्वे च किं गोपिण्डस्मृति मात्रापेक्षम्, सादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्म-रणापेक्ष वा ?	४९४
सन्निकृष्टसादृश्यस्य हि करणत्वं किं तदनुमाप-नत्वम् तस्मादवत्वम्, तदुपमापकत्वं वा ?	४९५
उपमानस्य अनुमाने वाज्जितर्भाव	४९६
(नैयायिकस्य पूर्वपक्ष) सत्तासत्तिसम्बन्धज्ञान-मुपमानम्	४९६
न हीद सत्तासत्तिसम्बन्धज्ञान प्रत्यक्षाद्यन्यतम-प्रमाणफलम्	४९७

वृद्धनयायिकास्तु सारूप्यप्रतिपादकमतिदेश-  
वाक्यमेव उपमान स्वीकुर्वन्ति ४९७  
(उत्तरपक्ष) साक्षात् सत्तासत्तिसम्बन्धप्रति-  
पत्त्यङ्गस्य उपमानता परम्परया वा ? ४९७  
सारूप्यज्ञान हि केवल तदङ्ग स्यात् सत्तासत्ति-  
सम्बन्धस्मृतिसहाय वा ? ४९७  
ध्वान्दानुत्पत्त्यमानत्वादस्य आगमाफलत्वम्,  
तत्प्रतीनावृषायस्यापरस्यापेक्षणात्, वाच्य-  
सवित्यपेक्षणाद्वा ? ४९८  
अतिदेशवाक्यस्य आगमरूपतया उपमानत्वा-  
योगात् ५००  
प्रतिद्वार्यसाधर्म्यमन्यथानुपपन्नत्वेन निर्णीत  
चेत्तदनुमानेऽन्तर्भाव ५००  
बुधोऽयमिति ज्ञानञ्च किन्नाम प्रमाणम् ? ५०१  
२० कारिकाव्याख्या ५०२  
एतस्मात् पूर्वं पश्चिममृत्तर दक्षिण वा एत-  
न्नामक ग्रामघानकमिति वाक्यश्रावण  
तद्गतिन तन्नामप्रतिपत्ति किन्नाम  
प्रमाणम् ? ५०२  
२१ कारिकाव्याख्यानम् ५०३  
इदमस्य महद्दूरमित्याद्यापेक्षिकज्ञानस्य क्व  
प्रमाणे घन्तर्भाव ? ५०४  
द्विवादिसंख्याज्ञानस्य च प्रमाणान्तरत्वप्रसक्ति ५०४  
अयोपत्तिप्रमाणनिरासः ५०५-५२०  
(मीमांसकस्य पूर्वपक्ष) प्रत्यक्षादिभ्य विभिन्न-  
स्वरूपत्वादयोपत्ति प्रमाणान्तरम् ५०५  
प्रत्यक्षादिप्रमाणेभ्यो जायमानत्वात्पट्ट-  
प्रकारा अर्थोपत्ति ५०६  
अतीन्द्रियशक्तिविषयत्वादर्थोपत्तय प्रमाणान्तरम् ५०६  
न हि दाक्षिण्यं प्रदक्षपरिच्छेदा ५०६  
नापि दाक्षिण्यनुमानाद्वा ५०६  
नापि गण्डोमानाम्ना घातिन गृह्याने ५०७  
वाचकसारूप्यमन्यथानुपपत्त्या घट्टनित्यत्वमिदं  
अर्थोपत्तिरुक्त्यार्थोपत्ति ५०७  
'यानो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्यध्वन्यात्  
रात्रिभोजनप्रतिपत्ति श्रुत्यापत्ति ५०७  
जीवतो देवस्य गृह्णन् शरीरस्य बहिर्भाव-  
प्रतिपत्ति अभावापत्ति ५०९  
परम्पर्यादिगामाद्यभावापत्तिरिति अनुमा-  
नेत्यर्थः ५०९

बहिर्भावविशिष्टे चैत्रे चैत्रविशिष्टे वा बहि-  
भवि साध्ये गृह्णामावविशिष्टस्य चैत्रस्य,  
चैत्राभाविशिष्टस्य गृहस्य, गृहे चैत्रा-  
दर्शनस्य वा हेतुत्वम् ? ५०९  
प्रमेयानुप्रवेष्टप्रसङ्गाच्च नैयमनुमानम् ५०९  
सम्बन्धग्रहणाभावादपि नैयमनुमानम् ५१०  
गृह्णार्यपत्तिनो गृहेऽभावस्य बहिःसद्भावेन  
सम्बन्धग्रहेऽपि गृहे सद्भावस्य बहिर-  
भावेन कथं सम्बन्धग्रह ? ५११  
(उत्तरपक्षः) दृष्ट श्रुतो वार्थ साध्येन सम्बद्ध  
स न स कल्पयति असम्बद्धो वा ? ५१२  
सम्बद्धोऽपि तद्रूपतया ज्ञात- भ्रष्टातो वा  
तत्कल्पनानिमित्त स्यात् ? ५१३  
ज्ञातोऽपि साध्यप्रतिपत्तिकालेपूर्वं वाऽप्यो ज्ञात ? ५१३  
साध्यप्रतिपत्तिकालेऽपि प्रमाणान्तराज्ञान  
तत एव वा ? ५१३  
अर्थोपत्तिरनुमानमेव प्रमाणान्तरावगतसाध्य-  
सम्बन्धाद्धेतोस्त्वभावात्मानत्वात् ५१३  
पूर्वं साध्यमम्बद्धनयाऽप्यो साध्यधर्मिणि ज्ञान  
दृष्टान्तधर्मिणि वा ? ५१३  
दृष्टान्तधर्मिणि साध्यसम्बद्धनयाऽप्यो भूयो-  
दर्शनात् विषयेऽनुपलम्भात् अर्थोपत्त्यन्त-  
राद्वा प्रतीयते ? ५१३  
प्रत्यक्षपूर्वार्थोपत्ति किं बाह्यारक्त्या विना स्कोटा-  
देरभावोऽनुपपन्न, प्रमाणविरोधो वा ? ५१४  
प्रमाणविरोधपक्षेऽपि कारणभावात् निश्चितं सन्  
कार्यभावादिनिरास्य अतिविचिनो वा ? ५१४  
श्रुत्यर्थोपत्ति हि कार्येन कारणप्रतिपत्तिर्भ-  
वन्तो धनुस्तानमेव ५१५  
रात्रिभुक्तिमान् देवदत्त रसायनाद्युपयोगाभावे  
दिवाभुक्तिरहितस्यैव सति पीनत्वात् ५१५  
जीवनचैत्रस्य गृह्णामाव बहिर्भावपूर्वक जीव-  
मनुष्यगृह्णामावत्वात् इत्यनुमानस्वरूपेव  
अभावापत्तिरिति ५१६  
प्रमेयानुप्रवेष्टप्रसङ्गं हि किं सत्तामान प्रमेयमिष्ट  
बहिर्भावविशिष्टं वा सत्त्वम् ? ५१६  
न हि जीवविशिष्टगृह्णामावप्रतीतिरेव  
बहिर्भावप्रतीति ५१७  
अन्यथानुपपत्त्यैव समकविरोधमस्तु गम्यवि-  
रोधेण वा नैतावता अर्थोपत्त्यनुमानयो-  
र्भेदाभावात् ५१८

अर्थापत्ती अविवक्षाभावस्य गम्यविशेषणत्वञ्च असिद्धम्	५१९
उपमानादीनां परोक्षेऽन्तर्भावान्न ज्ञेयानां प्रमाणसत्त्वाव्याधात्	
इति तृतीय परोक्षपरिच्छेदः	
२२ कारिकाव्याख्या	५२३
प्रमाणाभासत्वेन प्रसिद्धमपि विज्ञानं कथञ्चि देव प्रमाणाभासः न संबंधात्	५२३
ज्ञानं हि यस्मिन्मते अविवक्षादि तत्र प्रमाणं मितरत्र तदाभासम्	५२३
विश्रुतिविवरणम्	५२४
२३ कारिकार्थः	५२५
विकल्पज्ञानं न प्रत्यक्षाभः किन्तु प्रमाणमेव	५२५
निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षाभः भवितुमर्हति	५२५
विश्रुतिव्याख्या	५२६
२४ कारिकार्थः	५२८
प्रतिशङ्कात्कान्तस्य लक्षणम्	५२८
प्रत्यक्षादीनां व्यवहाराविसर्वादात् प्रामाण्यम्	५२९
२५ कारिकार्थः	५२९
श्रुतज्ञानमतीश्रियायं प्रमाणम्	५३०
२६ कारिकार्थः	५३०
श्रुतस्य प्रामाण्यसमर्थनम्	५३१-५३६
(वैशेषिकबौद्धयोः पूर्वपक्षः) शब्दोऽनुमानान्न व्यतिरिच्यते अभिन्नसामग्री विषयवत्त्वात्, सम्बन्धाद्यप्रतिपत्तिहेतुत्वात्, अन्वयव्यति- रेकवत्त्वात्, पक्षधर्मोपेतत्वाच्च	५३१
शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणं न बाह्यार्थं	५३१
(उत्तरपक्षः) अभिन्नविषयवत्त्वासिद्धे, अर्थं मात्रं हि शब्दस्य विषयः अनुमानस्य तु धर्मविशिष्टो धर्मोऽस्ति	५३२
अनयोविषयभावेन हि सामान्यमात्रविषयतया, तद्वन्मात्रविषयतया, सम्बन्धार्थप्रति- पत्तिहेतुतया वा स्यात् ?	५३२
अभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वमप्यसिद्धम्	५३२
न ह्यत्र पक्षधर्मता, धर्मिणोऽसिद्धे	५३३
अत्र धर्मो शब्दः, अर्थो वा स्यात् ?	५३३
शब्दत्वादेतो किं शब्दस्य अर्थविशिष्टत्व साध्यते, अर्थप्रत्यायनशक्तिमुक्तत्वम्,	

अर्थप्रतीतिविशिष्टत्व वा ?	५३३
नाप्यर्थस्य धर्मित्वम्, शब्दार्थयोः सम्बन्धा- भावादेव	५३४
नापि शब्दार्थयोः अन्वयव्यतिरेकोऽस्ति	५३४
सम्बन्धस्मृत्यपेक्षित्वञ्च अननुमानभूते सश- योपमानादावप्यस्ति	५३५
ततः शब्दो नानुमानं विभिन्नविषयसामग्री- समन्वितत्वात्, पुरुषैर्वर्ण्येष्टं नियुज्यमानस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वात्	५३५
शब्दो नानुमानम् आप्तोक्तत्वेनैव अव्यभि- चारज्ञानजनकत्वात्	५३६
शब्दस्य अर्थवाचकत्वम्	५३६-५४३
(बौद्धस्य पूर्वपक्षः) शब्दोऽप्रमाणम् वस्तु- सम्बद्धत्वात्	५३६
शब्दार्थयोर्हि तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा सम्बन्ध- स्यात् ?	५३६
अर्थावस्थापितं शब्दा विकल्पमात्रजनमानं तिरस्कृतबाह्यायान् प्रत्ययानुत्पादयन्ति	५३६
न चान्न पुरुषदोषाणामपराध- वाचकप्रत्ययोत्पत्त्यावपि शब्दो मिथ्याज्ञान- जनयति अथो नास्तीत्यसंस्पर्शा	५३७
(उत्तरपक्षः) शब्दः सम्बद्धमेवार्थं प्रकाशयति प्रतिनियतप्रत्ययहेतुत्वात्	५३८
योग्यतालक्षणस्य सम्बन्धोऽभ्युपेयते	५३८
सङ्केतसंविदा योग्यता अर्थबोधनिमित्तम्	५३९
सङ्केतस्य लक्षणम्	५३९
सङ्केतोऽपि सहजयोग्यतानिबन्धन एव प्र- सूते अतो न बाध्यवाचकव्यत्ययः	५३९
सर्वशब्दानां सर्वशब्दार्थप्रत्यायनशक्तिरूपेयते, सङ्केताच्च प्रतिनियतार्थप्रतिपत्तिर्भवति	५४०
शब्दो हि ज्ञापक इति सङ्केतापेक्ष एवार्थबोधकः	५४१
आप्तप्रणीतस्य शब्दस्यार्थसिद्धिरित्येव प्रसा- ध्यते, अनाप्तप्रणीतस्य, शब्दमात्रस्य वा ?	५४१
शब्दे हि सत्ताविवक्षावादी पुरुषगुणदोषनिबन्धनो	५४२
शब्दस्य हि स्वरूपमर्थमात्रप्रकाशकत्वं न तु यथार्थार्थार्थप्रकाशकत्वं, तस्य वक्तृ- गुणदोषनिबन्धनत्वात् चक्षुर्बुद्धौ	५४२
प्रमाणशब्द अर्थोपलब्धिनिमित्तत्वात् स्वपर- पक्षसाधनद्रूपणसमर्थत्वात् सकलतत्त्ववि- प्रतिपत्तिनिमित्तत्वाच्च	५४३

स्यात्, शब्द एव भावना वा ?	५८०	प्रेषादिविशेषनिरूपेणस्य प्रवर्तनासामान्य-	
प्रचयन च शब्द प्रयोजनानुसन्धानाभावात्		स्यापि विधित्वमनुपपन्नम्, विशेषनिर-	
प्रेरकत्वम्	५८०	पक्षस्य सामान्यस्यासम्भवात्	५८८
गन्धभावनाया सद्भावे किं लिङादिध्वणा-		फलस्यापि प्रवर्तकत्वमनुपपन्नम्; अपि ता	
नन्तरभाविनी प्रवृत्ति प्रमाण किं वा		विना फलमात्रस्य अप्रवर्तकत्वात्	५८९
शब्द एव ?	५८१	नियतकर्मसाध्यताया फलसमवेताया प्रवृत्ति-	
शब्द स्वव्यापार विधिज्ञानसम्बन्धेऽनयति		हेतुत्वदर्शनात् फलस्य प्रवर्तकत्वे किं	
अनपक्षो वा ?	५८१	तत्साध्यता फलस्य स्वरूपम्, शक्तिभेदो	
यदि शब्द स्वव्यापार करोयमिषत्ते च, तदा		वा स्यात् ?	५९०
उत्पाद्य परचातममिषत्ते, युगपदोत्पाद-		फल विद्यमान सत् पुरुष प्रेरयति भविष्य-	
यति अभिषत्ते च ?	५८१	मान वा ?	५९०
( प्रभाकरस्य नियोगाधादिनः पूर्वपक्ष )		फल सत्तामात्रेण प्रवृत्तिहेतु साध्यतावि-	
नियोग एव प्रवृत्तिहेतुत्वादिषि	५८२	शिष्ट वा ?	५९१
गूढ कार्यं नियोग	५८३	पक्षाभिलाषस्य च बालकप्रवृत्त्यादिषु भ्रम्या-	
प्रेरणैव नियोग	५८३	पक्षत्वात् प्रवर्तकत्वम्	५९१
प्रेरणातृहिनं कार्यं नियोग	५८३	कर्मणस्तु विधिविषयतया विधित्वभावताऽ-	
कार्यमहिता प्रेरणा नियोग	५८३	नुपपन्ना	५९१
कार्यस्यैव उपकारेण प्रवर्तकत्वम्	५८४	उत्पन्न कर्म आत्ममिदृशस्य पुरुष प्रवर्तयति	
कार्यप्रेरणयोः सम्बन्धो नियोग	५८४	अनुत्पन्न वा ?	५९२
कार्यप्रेरणामनुपादयो नियोग	५८४	अप्रामात्रियासम्बन्धप्रतिपत्तिरपि न अभि-	
पञ्चाशद्विधो नियोग	५८४	लाप्यतरेण प्रवर्तिका	५९२
भाष्यरूपा नियोग	५८४	श्रेयःसाधनतायाः विधिशब्दवाच्यतयाऽप्र-	
पुरुष एव नियोग	५८४	मिद्वे. न तस्या विधिरवम	५९३
( उत्तरपक्ष ) नियोग्यप्रेरणानिरूपेणस्य		कस्यच श्रेय माधनता-भावनाया, धात्वर्थस्य वा ?	५९३
कार्यस्य नियोगरूपतागम्यत्वे तस्यापे-		क्षपदेशस्य विधित्वे ऽवशास्त्रोपदेशस्यापि	
क्षय वा ?	५८५	विधिम्व स्यात्	५९४
प्रेरणादिनिर्वाणवादानां प्रतिविधानम्	५८५	वेदत्वादीन्नेयत्वात् तत्र उपदेशस्य सम्भावनेव	
किं निषेधोऽस्ति नियोग किं वा निषेधः,		नास्ति	५९४
निषेधनिरासति वा नियोग स्यात् ?	५८६	कर्तव्यताप्रतिपत्तिरपि किं निर्विनिष्टा प्रवृत्ति-	
नियोग इन्द्रधनारूप, पुरुषधनारूप,		हेतु श्रेय माधनताविनिष्टा वा ?	५९५
उभयरूप, अनुपपन्नो वा ?	५८६	प्रतिभावरूपस्य च अभिप्रेत्यात् तस्या	
अनुपपन्नस्य विषयगम्यत्वात् पञ्चम्यत्वात्		विधिरूपता	५९६
नि स्वभावा वा स्यात् ?	५८६	प्रतिभाष्यमात्राकारनिर्णयकतामात्रस्य प्रति-	
मार्गविधिर किं निषेधवाचकत्वात् ?	५८६	भावे मविवचकज्ञानस्य प्रतिभावरूपस्य	
न वा ?	५८६	स्यात्	५९६
नियोग प्रवर्तकत्वमत्र न प्रवर्तकत्वमात्रो वा ?	५८७	माधनविशेष क्त्वाविशेषरूपस्य च किं पूर्वा-	
प्रेरणादिव्यापारानुसन्धानस्य पुरुषस्य-		हितमकारणत्वात्, प्रवृत्तादिप्रमाणभ्या	
स्यापि विधिरवमत्वात्, करोयत्तु वद		पारानुमाग्य, चोदना, वदो म आता-	
पुरुषस्यैव प्रवर्तकत्वमत्र न प्रवर्तकत्वमात्रो वा ?	५८८	स्यात् ?	५९६
प्रवर्तकत्वमात्रमत्र न प्रवर्तकत्वमात्रो वा ?	५८८	अतिर्हि उत्पन्ना मती प्रवृत्तिनिमित्तम्, उत्प-	

तिरुचास्या कि वाद्वान, निग्रहानुग्रह- समर्थपुरुषविशेषादा १	५९७
विषयफलनिरपेक्षाणाम इच्छाप्रयत्नादीना- मपि प्रवृत्तिहेतुत्वाभावाद्धिहित्वमनु- पपन्नम्	५९८
२७ कारिकाव्याख्या	५९९
श्रुतस्य प्रमाणत्वसमर्थनम्	५९९
२८ कारिकाव्याख्या	५००
प्राप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थविनिश्चयाभावे सत्येतरव्यवस्थाऽभावः स्यात्	६००
सुगतेतरयो आप्तानाप्तव्यवस्था क्वचित् साधनासाधनाङ्गत्वव्यवस्था वाऽभ्युपग- च्छना मौगतेन वाच बाह्यार्थविषयता स्वीकरणीया	६०१
२९ कारिकाव्याख्या	६०२
पुनः अभिप्रायवैचित्र्यात् शब्दानामविशेषन अर्थव्यभिचारे कार्यकारणभावादीनामपि व्यभिचारदर्शनादनुमानमपि प्रमाण न स्यात्	६०२
इति चतुर्थ आगमपरिच्छेदः —ॐ—	
३० कारिकाव्याख्या	६०५-६०७
नयदुर्नययो स्वरूपम्	६०५
३१ कारिकाव्याख्या	६०६
३२ कारिकायां संग्रहनयस्वरूपम्	६०६
३३-३४ कारिकयोः प्रत्यक्षस्यापि द्रव्यग्राहकत्वनिरूपणम्	६११
३५-३६ कारिकयोः क्षणिकैकान्ते अर्थक्रियाभावप्रदर्शनम्	६१४
३७ कारिकायां चित्रज्ञानवत् द्रव्य- स्यापि पूर्वापरपर्यायव्यापित्व- प्रदर्शनम्	६१८
३८ कारिकायां परसंग्रहस्य स्वरूपम्	६२१
३९ कारिकायां नैगमतदाभासयोः निरूपणम्	६२२
४० कारिकायां सत्तातद्वृत्तां भेदै- कान्तप्रतिषेधः	६२४

४१-४२ कारिकयोः व्यवहारनय- निरूपणम्	६३८-६३९
व्यवहाराभासस्य स्वरूपकथनम्	६३९
४३ कारिकायां श्रुतसूत्रनयस्वरूपम्	६३५
४४ कारिकायां शब्दसमभिरुद्धेत्य- म्भूतनयलक्षणानि	६३७
४५ कारिकायाम् अक्षबुद्धिस्मृत्योर- भिन्नार्थविषयत्वप्रदर्शनम्	६४०
४६ कारिकायां शब्दज्ञानस्यापि अविसंवादित्वात् प्रमाणत्वम्	६४४
४७ कारिकायां कालादीनां स्वरूप- कथनम्	६४६
४८ कारिकायाम् अनेकान्तात्मनोऽ- र्थस्य पट्टकारकात्मकत्वप्रदर्शनम्	६५०
४९-५० कारिकयोर्व्याख्या	६५२-६५४
पञ्चमः नयपरिच्छेदः —ॐ—	
५१ कारिकायां मंगलाचरणम्	६५५
५२ कारिकायां प्रमाणन्यासनयानां लक्षणानि	६५६
५३ कारिकायाम् अर्थकारणतायाः निरासः	६५८
५४ कारिकायाम् अर्थस्य ज्ञानकार- णत्वे संशयादिज्ञानानुत्पत्तिप्र- सङ्गापादनम्	६६१
५५ कारिकाव्याख्या	६६४
५६ कारिकायाम् आलोककारणतायाः निरामः	६६५
तमोद्रव्यवादः	६६६-६७२
(शालिकनाथ धीमयो पूर्वपक्षः) ज्ञानानुत्पत्ति- व्यतिरेकेण नास्त्यन्यत्तम	६६६
तमसो द्रव्यान्तरत्वे हि तत्प्रकाशने आलोका नपेक्षा न स्यात्	६६६

आलोकाभावरूप एव हि छाया	६६७
छायायां द्रव्यान्तरत्वे हि छायादपायेऽपि आलो	
केन सहावस्थान स्यात्	६६७
आवारकद्रव्यगतकर्मारोभात् 'छाया गच्छति'	
इति प्रतीयते न वस्तुन	६६८
देशान्तरप्राप्तिर्हि छायायां देशान्तरेण संयोग	
समवायो वा ?	६६८
(उत्तरपक्षः) आलोकतमसो स्वरूपवैदृक्ष्य	
प्रतीयते	६६८
तमसो रूपादिमत्त्वादभावरूपनाविरोध	६६८
छायातमसो कृष्णरूप स्रोतश्च रूपं प्रसिद्ध	६६९
द्रव्य तम गुणवत्त्वात्	६६९
वैद्यकशास्त्रेऽपि तमसो गुणवत्त्व प्रसिद्धम्	६६९
छापानमसो गुणानामौपचारिकत्वे ज्योत्स्ना-	
तयोरपि मुख्यतो गुणसिद्धिर्न स्यात्	६७०
सर्वथा ज्ञानानुत्पत्ति तम प्रतीतिहेतु	
कथञ्चिद्वा ?	६७०
तमसो ज्ञानानुत्पत्तिरूपत्वे आलोकस्यापि	
विषयज्ञानोत्पत्तिरूपतैव स्यात्	६७१
छायाद्यन्वकारः इत्य घटाद्यावारकत्वात्,	
गतिमत्त्वाच्च	६७१
देशान्तरप्राप्तिश्च संयोगरूपेव	६७१
छायाया अस्तत्वे हि आवारकद्रव्यगतकर्माणस्तत्र	
आरोपविरोध	६७२
छाया परमार्थसर्गो अध्यारोप्यमाणगतित्वान्	६७२
५७ कारिकायां प्रतिनियतावरण-	
विगमवशादात्मनः प्रतिनिय-	
तार्थप्रकाशकत्वरूपणम्	६७३
५८ कारिकायां तज्जन्मताद्रूप्यतद-	
ध्यवसायानां प्रामाण्यहेतुता-	
निरामः	६७५
५९ कारिकायां स्वहेतुजनितयोः	
ज्ञानज्ञेययोः परिच्छेद्यपरिच्छे-	
दकभावप्रदर्शनम्	६७८
६० कारिकायां प्रमाणस्य व्यवसा-	
यान्मरुत्वमभ्यन्तम्	६७९
६१ कारिकायां प्रमाणमेदनिरूपणम्	६८२

## स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादीनामनि-

न्द्रियप्रत्यक्षता	६८२
६२ कारिकायां श्रुतस्य स्याद्वाद-	
नयात्मकयोः द्वयोः उपयोगयोः	
निरूपणम्	६८६
सकलादेवविकलादेशयोः स्वरूपम्	६८६
६३ कारिकायां स्यात्कारप्रयोगस्य	
विचारः	६८६
अयोग-अव्ययोग अत्यन्तायोगभवेन त्रिधा	
एवकार	६९३
स्यात्कारमन्त्रेण इष्टानिष्टयोर्विधिप्रतिषेधा-	
नुपपत्ते	६९४
स्याद्वादाभ्युपगम एव एवकारस्य अयोगान्य-	
योगात्यन्तायोगप्रकारा सङ्गच्छन्ते	६९५
६४-६५ कारिकयोः शब्दानां बहि-	
र्थविषयत्वप्रदर्शनम्	६९६
शब्दनित्यत्ववाद	६९७-७००
(मीमांसकस्य पूर्वपक्षः) प्रत्यभिज्ञया शब्दस्य	
नित्यत्व निर्वचीयते	६९७
प्रत्यभिज्ञाया प्रत्यक्षत्वम् इन्द्रियान्वयव्यतिरे-	
कानुविषयायित्वात्	६९८
उच्चारण हि शब्दस्य अभिव्यञ्जकम्	६९९
'कालो गादिसम्बद्ध कालत्वात्' इत्यनुमान-	
तोऽपि शब्दस्य थावणत्वम्	६९९
नित्यः शब्द थावणत्वात्	६९९
'देशकालादिभिन्ना गोशब्दव्यक्तिबुद्धय एक-	
गोशब्दविषया गोरित्युत्पद्यमानत्वात्'	
इत्यनुमानतोऽपि शब्दनित्यत्वसिद्धि	७००
ह्यस्तनो गोशब्द अद्याप्यनुवर्तते गोरिति	
ज्ञायमानत्वात् इत्यनुमानेनापि नित्यत्वम्	७००
अस्तनो गोशब्द ह्योऽपि आयोन् गोरिति	
ज्ञायमानत्वात् इत्यनुमानादपि नित्यत्वम्	७००
मन्वन्वचनेन अर्थमनिर्जनकत्वादिपि नित्यत्वम्	७००
अर्थप्रतिपत्त्यन्ययानुपपत्त्या शब्दस्य नित्यत्वम्	७०१
मादृश्यस्य विचार्यमाणस्यानुपपत्ते न तत्रि-	
मित्तत्वमर्थप्रतिपत्ते	७०२
(उत्तरपक्षः) 'स एवाय मकार' इति प्रत्यभि-	
ज्ञानस्य भ्रान्तता, सादृश्यनिबन्धनत्वादस्य	७०३

न च प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षम् अविशदरूपत्वात्	७०४	अनेकान्तिकम्	७१६
'उत्पन्न' शब्द विनष्टः शब्द ' इति शब्दोत्पा-		सम्बन्धबलेनार्थमतिजनवञ्च चेष्टया अनेका-	
दविनाशप्राप्त्यप्रत्यक्षबाधितत्वात् न प्रत्य-		न्तिकम्	७१७
भिज्ञा शब्दनित्यत्वसाधिका	७०४	कञ्चित्कालावस्थायित्वञ्च विमुपलम्भकाला-	
शब्दाभावप्रतीती च शब्दान्तरमेव एकज्ञान-		वस्थायित्वमभिप्रेतम्, अतीतवर्तमान-	
ससमि भवति	७०५	कालावस्थायित्व वा ?	७१८
नित्यत्वे च शब्दस्य प्रागुच्चारणादनुपलम्भ		धूसवदनित्यस्यापि शब्दस्य सादृश्यतोऽभिप्रेति-	
किम् इन्द्रियाभावात्, शब्दस्यासिद्धिहि-		पादकत्वोपपत्ते	७१८
तत्त्वात्, आवृत्तत्वाद्वा स्यात् ?	७०५	शब्देऽपि उदात्तादिभेदतो नानात्वस्य प्रसिद्धे	
व्यञ्जकन्यापारात्पूर्वं शब्दस्य कुतश्चित्प्रमाणा-		अस्ति तेषु शब्दत्वं सामान्य सदृशपरि-	
त्प्रसिद्धौ आवरणकल्पना युक्ता	७०७	णामात्मकम्	७१९
आवरणमपि दृश्यमदृश्यं नित्यमनित्यं व्यापक-		सादृश्यस्य प्रमाणसिद्धत्वात् न सत्र बाध्या	७१९
मव्यापक एकमनेक वा स्यात् ?	७०७	अनित्य शब्द कुनवत्त्वात्	७१९
शब्दा प्रतिनियतावरणावर्षा प्रतिनियतव्य-		कृतक शब्द कारणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्	७१९
ञ्जकव्यङ्ग्या वा न भवति अभिन-		वैदिकानामपि शब्दानाम् अपौरुषेयप्रसाधक-	
वेशत्वे सति एकेन्द्रियप्राप्तात्वात्	७०९	प्रमाणाभावादनित्यत्वमेव	७२०
तात्वादीना ध्वनीना वा व्यञ्जकत्वे तद्वधा-		चेदपौरुषेयत्ववादः	७२१-३७
पारे शब्दाना नियमेनोपलब्धिर्न स्यात्	७०९	(श्रीमासकस्य पूर्वपक्ष) अपौरुषेयो वेदः कर्तुं	
न सर्वगत शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति-		स्मरणयोग्यत्वे सत्यपि अस्मर्यमाणकर्तृ-	
बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्	७१०	वत्त्वात्	७२१
ध्वनयश्च कि प्रत्यक्षेण प्रतीयन्ते अनुमानन		छिन्नमूलत्वाच्च वेदे कर्तृस्मरणाभाव	७२२
अर्थापत्त्या वा ?	७१०	वैदिकी रचना अपौरुषेयो दृष्टकर्तृकरणना-	
प्रत्यक्षेण चेत्, श्रोत्रेण स्पर्शनेन वा ?	७१०	विलक्षणत्वात्	७२२
विशिष्टसंस्कृत्यन्धानुपपत्त्या ध्वनिप्रतिपत्ती		वेदाध्ययनवाच्यत्वात् कालत्वाच्च वेदस्या-	
संस्कृति शब्दमस्काररूपा स्यात्, श्रोत्र-		पौरुषेयत्वम्	७२२
संस्काररूपा, उभयसंस्काररूपा वा ?	७११	नहि आप्तागुणसंक्रान्त्या शब्दस्य प्रामाण्यम्	
शब्दमस्कार कि शब्दस्योपलब्धिः, आत्मभूत		आप्तस्य शब्दोच्चारणमात्रे व्यापारात्	७२३
कश्चित्तिशय, अनतिशयव्यावृत्ति, स्वरूपपरिपोषः, अक्षितसमवाय, तद्ग्रह		वेदानुपूर्व्याः स्वसामर्थ्येनैव प्रामाण्यम्	७२४
णापेक्षग्रहणता, व्यञ्जकसन्निधिमात्रम्,		(उत्तरपक्ष) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं कि कर्तृ-	
आवरणविगमो वा स्यात् ?	७१२	स्मरणाभाव अकर्तृकत्व वा ?	७२४
श्रोत्रप्रदेश एव शब्दस्य ध्वनिभि संस्कार-		अभावप्रमाणमपि कर्तृस्मरणाभाव निराश्रय	
क्रियते सर्वत्र वा ?	७१२	प्रमाद्ययेत् साधय वा ?	७२४
इन्द्रियसंस्कारपक्षे सर्वशब्दाना युगपच्छ्रवण		साध्ययोग्यि स्वात्मना स्यात्, सर्वप्रमाणारो वा ?	७२५
स्यात्	७१३	न चाभाव कर्तृभावावेदव' वेदस्य स्वय	
अतः तात्वादिव्यापारानन्तरमाविन्वात् तज्ज-		स्वकर्तृप्रतिपादकत्वान्	७२६
स्यत्वमेवोपपन्न शब्दस्य	७१४	स्मृतिपुराणादिवच्च ऋषिनामाङ्किता बाणव-	
कालत्वादेतो शब्दस्यैवसाधने विधुदादीना-		माध्वान्दिनादयः शास्त्राभेदाः नयमस्मर्य-	
मपि नित्यत्वप्रसङ्गः स्यात्	७१६	माणकर्तृका ?	७२६
गीरीत्युत्पद्यमानत्वञ्च गोशब्दलिङ्गवृद्ध्या		एताः तत्कृतत्वात्प्रामाण्यभिरङ्किता तद्दृष्ट-	
११		त्वात्, तत्प्रकाशितत्वाद्वा ?	७२६

यदि योगादीना कर्तृविशेषे विप्रतिपत्ति  
तदा कर्तृविशेषस्मरणमव अप्रमाण स्यात्  
तु कर्तृसामान्यस्मरणमपि ७२७  
कार्यमेव हि स्मर्यमाणकर्तृकमस्मर्यमाण-  
कर्तृक वा प्रतीयते, अत कृतको वेद  
अस्मर्यमाणकर्तृवत्वात् ७२७  
कर्तृस्मरणं हि वादिन, प्रतिवादिन, सर्वस्य  
वा स्यात् ? ७२८  
कर्त्रभाविनिर्दिष्टत्व प्रामाणान्तरात्, अत एव वा ? ७२८  
अध्यक्षेण वेदकर्तृरनुभवमाभावात् स्मरणं छिन्न  
मूलम प्रमाणान्तरेणानुभवमाभावाद्वा ? ७२९  
अध्यक्षेण चत, भवत्सम्बन्धिना, सर्वसम्ब-  
न्धिना वा ? ७२९  
पीरूपयो वेद रचनामत्त्वात्, पदवाक्यात्म  
कत्वाच्च ७२९  
प्रमाणान्तरविषयभाञ्जि वैदिकानि वाक्यानि  
आप्तोक्तानि वाक्यत्वे सति प्रमाणत्वात् ७३०  
वेदरचनाया कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्व हि  
कि कुम्भणत्वम्, दुधवणत्वम्, लोक-  
भ्याकरणप्रसिद्धाशब्दवैलक्षण्येन शब्द  
विनिवेश, अपूर्वत्व दोषवद्वत्त्वम्, अतो  
निर्धार्यप्रतिपादकत्वम्, मह्यप्रभावेपेत्  
मन्त्रयुक्तत्वं वा ? ७३०  
अध्ययनवाक्यत्वं किं निर्विशेषणं सद् वेदस्य  
अपीकदेवत्वं प्रतिपादयेत् सविशेषणं वा ? ७३१  
वेदाध्ययनं हि किं सावन्मार्गेण हेतु अपर-  
विषयविशिष्टत्वेन ? ७३१  
अनीन्द्रियार्थप्रतिपादने वेदस्य प्रामाण्याभाव  
गुणवद्वत्त्वमावान् ७३३  
अपरविषयपणे किं कर्त्रस्मरणं विद्याप-  
णमभिप्रेतं सम्प्रदायाध्यवच्छेदो वा ? ७३३  
सम्प्रदायाध्यवच्छेदोऽपि आत्मगन् सर्वलोक  
गतो वा ? ७३३  
सम्प्रदायाध्यवच्छेदश्च किं स्वकन्त्र प्रमाणम  
प्रमाणान्तरमन तदन्तर्गुलं वा ? ७३३  
कालम्बहेतोः प्रतिक्रियानम  
वेद आध्यात्म अध्यारम्भो या स्वाव्य-  
प्रतीतिं कुर्यात् ? ७३४  
आध्यात्ममपि रक्त, पुण्यादा स्यात् ? ७३४  
आध्यात्मा च अतोन्द्रियार्थद्वेष्टा, तद्विषयीता

वा स्यात् ? ७३५  
मन्वादीना प्रज्ञातिशयश्च वेदाध्यात्म्यासात्,  
अदृष्टात्, ब्रह्मणो वा स्यात् ? ७३६  
अध्यात्मोऽपि ज्ञातस्य वेदस्य स्यादज्ञातस्य वा ? ७३६  
ज्ञातस्य चेत्, तज्ज्ञप्ति स्वत, अग्न्यतो वा ? ७३६  
वेदाध्यात्मिष्ठानाञ्चेत्, ज्ञातस्य अज्ञातस्य वा  
वेदाध्यात्म्य अग्न्यात्ता स्यात् ? ७३६  
अत पीरूपयो वेदो नररचितरचना-  
वशिष्टत्वात् ७३७  
वाक्यलक्षणविचारः ७३४-४५  
पदवाक्ययोरलक्षणे ७३८  
आकाङ्क्षा हि प्रतिपत्तुधर्म, सा च वाक्ये-  
ध्वन्यारोप्यते ७३८  
आरुधानशब्दो हि पदान्तरनिरपेक्ष सापेक्षो  
वा वाक्य स्यात् ? ७३९  
सापेक्षपक्षे क्वचिन्निरपेक्षोऽसौ न वा ? ७३९  
संघातस्य वाक्यत्वे किं वर्णानां पदानां वा  
संघातो वाक्यत्वं प्रतिपद्यते ? ७४०  
देशकालकृतो वा पदसंघात वाक्य स्यात् ? ७४०  
कालकृतोऽपि संघात पदेभ्यो भिन्न  
अभिन्नो वा ? ७४०  
अभिन्नश्चेत्, सर्वथा कथञ्चिद्वा ? ७४१  
पदसंघातमिति स्यात् सदस्यपरिणामलक्षणाया  
पदसंघातात्कथञ्चिदभिप्राया जाते.  
वाक्यत्वमभ्युपगम्यत एव ७४१  
बुद्धिश्च भाववाक्य इत्यवाक्य वा स्यात् ? ७४१  
अनुमहतेर्भाववाक्यरूपता स्वीक्रियते  
पदानामेव वाक्यान्वेषोपविधायकत्वे किं  
परस्परसापेक्षायां पदानां तद्विधायकत्वं  
निरपेक्षायां वा ? ७४३  
वाक्यार्थं पदार्थादयं अग्न्यो वा ? ७४३  
अथ अयं क्रियाकारकसमर्थरूप, तदा  
असौ नित्य अनित्यो वा स्यात् ? ७४६  
अनित्यश्चेत्, किं विविधानपदार्थजन्ये पदा-  
र्थतत्त्वात् ? ७४३  
विवक्षितपदार्थजन्यत्वे त एवोन्मादका ते एव  
च ज्ञापका तत्र च किं पूर्वं ज्ञापयन्ति,  
पश्चादुत्पादयन्ति, किं वा पूर्वमुत्पाद-  
यन्ति तदनु ज्ञापयन्ति ? ७४३  
असौ क्रियाकारकमस्यैव कर्तृभ्यनवा प्रति-




पादने कि कर्तव्यता भावरूपा स्यादभाव-  
रूपा वा उभयरूपा वा अन्तर्भावरूपा वा ? ७४३  
पदञ्च वर्णभ्यो भिन्नमभिन वा स्यात् ? ७४४  
भेदपक्षेऽपि किं तद् दृश्यमदृश्य वा ? ७४४  
पद वाक्य वा स्वातन्त्र्येण प्रतीयते वर्णद्वारेण वा ? ७४४  
वर्णद्वारेणापि सावयवस्य निरवयवस्य वा प्रतीति  
स्यात् ? ७४४  
निरवयवञ्च किं समस्तेभ्यो वर्णपदेभ्य प्रतीयते  
न्यस्तेभ्यो वा ? ७४४  
सकलवर्णसंस्कारवत्स्या अन्त्यया वर्णबुद्ध्या  
वाक्यावधारणे सा बुद्धि किं स्मरणम्  
उत अध्यक्षा वा स्यात् ? ७४५  
पूर्ववर्णस्मरण-अन्त्यवर्णग्रहणाभ्या समुत्पन्नस्य  
विकल्पज्ञानस्य वाक्यावधारणकतुल्ये सद्भि-  
कल्पज्ञान प्रमाण न वा ? ७४५  
प्रमाणञ्चेत्, किं प्रत्यक्षाद्यन्तमत्, प्रमा-  
णान्तर वा ? ७४५  
स्फोटपाद ७४५-५६  
(बंदाकरणानां पूर्वपक्ष) स्फोट एव अर्थप्रति-  
पादक न तु वर्णा ७४५  
वर्णा हि समस्ता व्यस्ता वा अर्थप्रतिपादका स्युः ? ७४५  
पूर्ववर्णानाम् अत्यवर्णानुप्राहकत्वे किं अन्त्य-  
वर्णजनकत्वमनुप्राहकत्वमभिप्रेतम्, अर्थ  
ज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्व वा ? ७४६  
संवेदनप्रभवसंस्काराश्च केवल स्वविधयस्मृति  
हेतवो भवन्ति न त्वर्णान्तरे ज्ञानोत्पादका ७४७  
अन्त्यवर्णस्य च अर्थप्रतिपादकत्वे पूर्ववर्णोच्चा-  
रणवैयर्थ्यम् ७४७  
अर्थप्रतीत्यस्य पदानुपपत्त्या स्फोट अर्थप्रतीति-  
हेतु स्वीकरणीय ७४७  
प्रत्यक्षत अभिन्न स्फोट समनुभूयते ७४८  
नित्यव्याप्ती स्फोट ७४८  
स्फोटो हि अन्तरालप्रत्ययैर्व्यज्यते ७४९  
(उत्तरपक्ष) पूर्णवर्णव्यवस्थित्वादन्यवर्णै  
दर्थप्रतिपत्त्युपपत्ते स्फोटकल्पना व्यर्थ ७५०  
पूर्णवर्णविज्ञानाभावाविशिष्ट तज्ज्ञानजनित  
संस्कारसव्यपेक्षो वाऽत्यो वर्ण अर्थप्रती-  
त्युत्पादक ७५०  
पूर्ववर्णविज्ञानप्रभवसंस्कारस्य अन्त्यवर्णसह-  
यताप्रणाली ७५१

अदुष्टवशात् अविनष्टा एव पूर्ववर्णसंविद  
तत्संस्काराश्च अन्त्यवर्णसंस्कार विदधति ७५१  
तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वाऽत्यो  
वर्ण पदार्थप्रतिपत्तिहेतु ७५१  
यदि वर्णा व्यस्ता समस्ता वा नार्थप्रतिपत्ति  
विदधति तदा स्फोटस्याभिव्यक्तावपि न  
तेषां सामर्थ्यं स्यात् ७५२  
एकनैव वर्णेन वा स्फोटस्याभिव्यक्तौ द्वितीया-  
दिवर्णोच्चारणवैयर्थ्यम् ७५३  
नापि पूर्ववर्ण स्फोटस्य संस्कारे अन्त्यवर्णस्य  
व्यञ्जकत्वम् ७५३  
संस्कारो हि स्फोट एव तद्वर्णो वा स्यात् ? ७५३  
किञ्च असौ संस्कार किमेकदेशेन क्रियते  
सर्वस्मिन्ना वा ? ७५३  
स्फोटसंस्कारो हि स्फोटविषयसंवेदनम् आव-  
रणापनयनं वा ? ७५३  
चिदारमव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्य अर्थप्रकाशन-  
सामर्थ्यासम्भवात् चिदात्मैव स्फोटोऽस्तु ७५४  
वायूनामपि न स्फोटाभिव्यञ्जकत्वम् ७५४  
स्फोटस्वरूपावेदकप्रमाणाभावाभास्य अभि-  
व्यक्तिरूपेणा युक्ता ७५५  
यदि वर्ण तद्बुद्धिभिर्वा व्यङ्ग्यो शब्दस्फोटोऽ-  
भ्युपगम्यते तदा प्रदीपादिस्फोटोऽप्यभ्यु-  
पगम्यते ७५६  
एव गत्यादिस्फोटोऽपि स्वीकार्य ७५६  
तथा हस्त-पाद करण मातृकास्फोटा अपि  
अभ्युपेया स्युः ७५६  
अपभ्रंशादीनां वाचकत्वनिवारः ७५७-६७  
(भीमासकवैयाकरणयोनां पूर्वपक्ष) संस्कृत-  
शब्दानामेव वाचकत्व साधुत्वात् तु प्राह  
तानां गान्ध्यादीनाम् ७५७  
अन्यथासिद्धान्तव्यतिरेकाभ्यां हि वाचकत्व  
संस्कृतशब्द एव निश्चीयते ७५८  
गान्ध्यादिप्राकृतशब्देषु वाचकगोशब्दस्मृतिद्वारेण  
अर्थबोधकत्वमतस्तत्र गोशब्दस्मृत्या  
अन्वयव्यतिरेको अन्यथासिद्धौ ७५८  
नहि गान्ध्यादिशब्देषु संकेतोऽपि शक्यः ७५९  
सकलशब्दानां सामान्यद्वारेण संकेतसौकर्याय  
व्याकरणस्य उपयोगिता ७५९  
व्याकरणस्याप्रामाण्ये हि लोकशास्त्रविरोध ७६०

शब्दसाधुत्वस्य च प्रत्यक्षतः एव प्रतीतिः ७६१  
 व्याकरणसंस्कारापेक्षमेव श्रोत्र साधुत्वग्राहक  
 भवति ७६१  
 व्याकरणानुशिष्टत्वात् अदृश्यमानप्रबोधाणा-  
 मपि शब्दानां साधुत्व जायते ७६१  
 आगमार्थापत्त्यादिभिरपि साधुत्वप्रतीतिर्भवत्येव ७६१  
 (उत्तरपक्ष) लोकव्यवहारे हि ग्राव्यादिशब्दा  
 नामेव साधुत्वमतस्तेषामेव वाचकत्वम् ७६२  
 न हि प्राकृतशब्देभ्यः प्रथमं संस्कृतशब्दस्मरण  
 ततोऽर्थबोध इति व्यवहिता प्रतीतिर्भवति ७६२  
 यैश्च संस्कृतशब्दा न श्रुता तेषां कथं संस्कृत-  
 शब्दस्मरणम् ? ७६२  
 ग्राव्यादिशब्दानामपश्चाद्वत्त्वञ्च पुरुषार्थाप्रसा-  
 धकत्वात्, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्व-  
 दानवर्चिष्ठस्य एकरत्नेन प्रतीत्यभावात्,  
 सङ्केतेन अर्थाभिधायित्वाद्वा स्यात् ? ७६३  
 साधुत्वञ्च किं वाचकत्वम्, अनादिप्रयोगिता,  
 धर्मसाधनत्वम्, विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वम्,  
 विशिष्टार्थाभिधायित्वम्, वाधारहितत्वम्,  
 प्रमाणात्तरानुगृहीतत्वम्, अनुपहृतेन्द्रिय-  
 ग्राह्यत्वम्, अनाद्युतत्वम्, व्याकरणसिद्ध-  
 स्वरूपत्व वा स्यात् ? ७६३  
 अनादिप्रयोगितापि प्रवाहापेक्षया नित्यत्वा  
 पेक्षया बोध्यते ? ७६४  
 प्रकृतिरेव हि प्राकृतं न तु प्रकृतेर्भवम् ७६४  
 प्रकृतिश्च किं स्वभावः, धातुगण, संस्कृत-  
 शब्दस्वरूप वा ? ७६४  
 गुणान्तराधानं हि संस्कार, अतः कथं संस्कृत  
 प्रकृति स्यात् ? ७६४  
 न हि अविचलितरूपतयावस्थापनमेव शब्दानां  
 संस्कार, अप्रतीति ७६४  
 अविचलितरूपतयावस्थापनञ्च शब्दानां साधु-  
 त्वापेक्षया, नित्यं कल्पनापेक्षया वा स्यात् ? ७६५  
 धर्मसाधनत्वमपि साक्षात् परस्परया वा ? ७६५  
 व्याकरणमिदं स्वरूपतः च प्राकृतशब्दस्याप्यस्ति ७६६  
 संस्कृता वाक् कदा एकनव्या कर्मकाले अध्य-  
 ययनकाले वा ? ७६६  
 अध्ययनकाले चेत्, नस्य अध्ययनकाले प्राकृतस्य  
 संस्कृतस्य वा ? ७६६  
 ग्राव्यादिशब्दानामपश्चाद्वत्त्वञ्च किं स्वरूप-

मानात् व्याकरणादिनिष्पत्तेर्वा ? ७६६  
 प्राकृतस्य अधर्महेतुत्वमपि सर्वदा यागादि-  
 कर्मकाले वा ? ७६७  
 संस्कृतशब्दोच्चारणस्य धर्महेतुत्वे चान्येषां  
 पुण्यानुष्ठानानां वैयर्थ्यम् ७६७  
 ब्राह्मणत्वजातिविचारः ७६७-७६८  
 (मीमांसकादीनां पूर्वपक्ष) प्रत्यक्षेणैव हि ब्राह्म-  
 णोऽयं ब्राह्मणोऽयमिति ब्राह्मण्यं प्रतीयते ७६७  
 मातापितृब्राह्मण्यज्ञानसहायं हि प्रत्यक्षं ब्राह्म-  
 णत्वजातिग्राहकम् ७६८  
 अथवा ब्राह्मणोऽयमित्युपपदेशसहकृतेन इन्द्रि-  
 येण ब्राह्मणत्वजातिग्राही प्रत्ययो जन्मते ७६८  
 मातापित्रो अविप्लुतत्वञ्च प्रवादाभावात्-  
 र्वचीयते ७६८  
 अनुमानतोऽपि ब्राह्मणत्वजातिः प्रतीयते ७६९  
 ब्राह्मणपदं व्यक्तिव्यतिरिक्तकनिमित्ताभिधेय-  
 सम्बद्धं पदत्वात् इत्यनुमानादपि ब्राह्मण-  
 त्वसिद्धि ७६९  
 वर्णविशेषयज्ञोपवीतादिव्यतिरिक्तनिमित्तानि -  
 बन्धनं ब्राह्मण इति ज्ञानम् ७६९  
 आगमस्यपि ब्राह्मणत्वजातिसिद्धि ७७०  
 (उत्तरपक्ष) किं केवलेन्द्रियजनितेन प्रत्य-  
 क्षेण ब्राह्मणत्वं प्रतीयते अन्यसहकृतेन्द्रि-  
 यजनितेन वा ? ७७०  
 प्रथमपक्षे निर्विकल्पकेन सविकल्पकेन वा तेन  
 तत्प्रतीयेत ? ७७०  
 इन्द्रियाणां सहकारि हि किं ब्राह्मणभूतपितृ-  
 जन्मत्वं स्यात्, पित्रोरविप्लुतत्वोपदेश,  
 आचारविशेष, संस्कारविशेष, वेदा-  
 ध्ययनम्, यज्ञोपवीतादिकम्, बह्व-  
 प्रभवत्व वा ? ७७१  
 पित्रो ब्राह्मणत्वमपि ब्राह्मणभूतपितृजन्म-  
 त्वात् सिद्धयेत् तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा ? ७७१  
 पित्रोरविप्लुतत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया,  
 अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया वाऽभिप्रेतम् ? ७७२  
 प्रथमपक्षे तज्जन्मनि अविप्लुतत्वमभिप्रेतम्,  
 अनादिकाले वा ? ७७२  
 तज्जन्मनि चेत्, केन प्रतीयेत-पुत्रेण अन्यैर्वा ? ७७२  
 अन्यैरपि प्रत्यक्षतः, अनुमानात्, आगमाद्वा  
 तत्प्रतीयेत ? ७७२

विमोहविप्लुतत्वे हि किं सावृताकारविशेष अपत्येष्वाविलक्षणता वा लिङ्ग स्यात् ?	७७३
आगमतोऽपि अपौरुषेयात् पौरुषेयाद्वा तत्प्र- तीतिः स्यात् ?	७७३
अबलानां प्रायण कामातुराणामविप्लुतत्वम- शक्यनिश्चयम्	७७३
आचारविशेष सस्कारयोश्च अव्याप्यतिव्या- प्तिः सद्भावात् ब्राह्मणत्वनिश्चायकत्वम्	७७४
ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति न वा ?	७७४
अस्ति चेत्; किं सर्वत्र मूलप्रदेश एव वा ?	७७४
ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते, तन्मुखादेव वाप्सो जायते ?	७७५
'ब्राह्मणपदम्' इत्यनुमानञ्च प्रत्यक्षबाधितम्	७७५
सत्ताकाशकालादिपदैरनैकान्तिकश्च पदत्व हेतु	७७५
नगरादिभिरनैकान्तिकश्च पदत्वहेतु	७७६
नगरादिषु अनुवृत्तप्रत्ययनिबन्धनं हि द्रव्यम्, सत्ता, प्रत्यासत्तिविशेषो वा स्यात् ?	७७६
सत्तापि गृहादिविशेषिता नगरप्रत्ययमु- त्पादयेत् केवला वा ?	७७६
प्रत्यासत्तिविशेषोऽपि गृहादीनां गृहाद्यन्तरे समवाय सयोगो वा अभिप्रेत ?	७७६
अप्रतिपक्षे च ब्राह्मण्ये लिङ्गस्य अविनाभा वागमो न भवति	७७६
आगमतोऽपि अपौरुषेयात् पौरुषेयाद्वा तत्प्र- तिपत्तिः स्यात् ?	७७७
अर्थापस्युपमानान्यामपि न ब्राह्मणत्वप्रतीति जनानाञ्च क्रियाविशेषमज्ञोपवीतादिविज्ञो पलक्षिते व्यक्तिविशेषे वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निमित्तकश्च तपोदानादिव्यवहार घटते	७७८
जाते पवित्रताहेतुत्वे वेश्यापाटकादिप्रविष्टानां ब्राह्मणीनां कथं निन्दा स्यात् ?	७७९
क्रियाभ्रंशान्निवृत्ताया सिद्ध क्रियानिमित्तक ब्राह्मणत्वम्	७७९
विधृतिनिवरणम्	७७९
विवक्षामात्रसूचकत्वे हि शब्दानां कथं बहिरर्थं प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तय स्युः ?	७८०
विवक्षा च किं शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्, अनेन शब्देनाममर्थं प्रतिपादयामीत्यभि- प्रायो वा स्यात् ?	७८०
समयानपेक्ष शब्द तादृशमभिप्राय गमयेत्	

तत्सापेक्षो वा ?	७८१
६६-६७ कारिकायोः सप्तनयनिर्देशः	७८२
श्रुतभेदा नया ननु मतिभेदा	७८३
स्पर्शवत्त्वात् जलादीनामपि गन्धादिमत्ता सिद्धमिति	७८७
६८ कारिकायां नैगम-नैगमाभास- निरूपणम्	७८८
६९ कारिकायां संग्रहतदाभासयोः लक्षणम्	७९०
७० कारिकायां व्यवहारतदाभास- स्वरूपम्	७९०
७१ कारिकायाम् श्रुतसूत्रतदाभास- लक्षणम्	७९२
७२ कारिकायां नैगमादीनां चतुर्णां- मर्थनयत्वस्य शब्दादित्रयाणां शब्दनयत्वस्य च समर्थनम्	७९३
शब्दादीनां नयानां लक्षणानि	७९४
अनेकान्तनिराकृते नयानां निरपेक्षत्वम इति पक्ष प्रवचनपरिच्छेद	७९४
	
७३-७६ कारिकासु निक्षेपस्यरूप- निरूपणम्	७९८
नामादिनिक्षेपाणां लक्षणानि	७९९
निर्देशाद्यनुयोगानां स्वरूपम्	८०२
सदाद्यनुयोगानां लक्षणानि	८०२
अर्थात्मिको निक्षेपो द्रव्यभाषो, वागारम्भक नामरूप, प्रत्ययात्मकश्च स्थापनारूप	८०३
एकजीवानेकजीवादिनामभेदेन अनेकधा नामनिक्षेप	८०४
सद्भावासद्भावभेदेन द्विधा स्थापना	८०५
आगम नोआगमादिभेदेन द्रव्यनिक्षेपस्य भेदा	८०६
भावनिक्षेपस्य भेदा	८०७
आवरणस्वरूपनिवारः	८०८-८१२
(वेदान्तिनां पूर्वपक्षः) न चावरणस्य स्वरूप किञ्चित् प्रसिद्धम, तद्वि शरीरम्, रागादि, देशकालादिकं वा स्यात् ?	८०८

अविद्यैव आवरण स्यात् न पौद्गलिक कर्म ८०९  
 पौद्गलिकत्वेऽपि वा अनादिसन्तानत्वात् न  
 निर्जैरामभव ८०९  
 ( उत्तरपक्षः ) कर्ममात्रसद्भावे विवाद  
 - ज्ञानावरणादिकर्मविशेषे वा ? ८०९  
 हीनस्थानादिषु विशिष्टाभिरतिदर्शनात्  
 कर्मसद्भावासिद्धिः ८०९  
 ज्ञानं सावरण स्वविषयेऽस्पष्टत्वात् इत्यनुमा-  
 नात् ज्ञानावरणसिद्धिः ८१०  
 अविद्याया अमूर्तत्वादावरणत्वासम्भवं ८१०  
 मूर्तं न विदरादिना अमूर्तस्याप्यात्मन आवरण  
 भवति ८१०  
 मिथ्याज्ञानाद पुद्गलविशेषसम्बन्धनिबन्धन  
 तत्स्वरूपान्यथाभावस्वभावत्वात् इत्यनु-  
 मानात् कर्मसिद्धिः ८१०  
 कर्मणामात्मगुणत्वे हि आत्मपारतन्त्र्यनिमित्ता-  
 र्थ न स्यात् ८१०  
 हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात् पारतन्त्र्यमात्मन-  
 सुप्रतिपक्षम् ८१०  
 \* धारीर हीनस्थानमात्मनो दुःखहेतुत्वात् ८११  
 पौद्गलिक कर्म आत्मन पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात् ८११  
 विषयपरमप्रकर्षसद्भावे कर्मणामनादित्वेऽपि  
 प्रक्षयोपपत्तेः ८११  
 प्रकृष्यमाणत्वाद्धेतो ज्ञानादीना परमप्रकर्ष-  
 गतिः सम्भाव्यते ८११  
 आवरणहानिः प्रकृष्यमाणा आवरणहानित्वात् ८१२  
 ज्ञानावरणादि आमूल प्रक्षीयते समग्रक्षयहेतु-  
 रित्येतात् ८१२  
 कर्मप्रक्षयहेतु न लक्षरनिर्जरे ८१२  
 अदृष्टस्य प्रवृत्तिविधित्वेन निरास ८१३-२३  
 ( साक्ष्यस्य पूर्वपक्ष ) नात्मगुणोद्भूत प्रकृति-  
 विवर्तत्वात् ८१३  
 पुरुषो हि साक्षित्वादित्स्वरूपः ८१३  
 त्वं हि प्रवृत्तेरेव ८१४  
 इति ससर्गात् अकर्ताऽपि पुरुष कर्तव्य भाति ८१४  
 इति सर्पात् मुसादिनमज्ञानतमवच्छन्नतया  
 आत्मस्य मय्यमानस्य तदुपभोक्तृत्वा भवति ८१५  
 ( उत्तरपक्ष ) न हि प्रवृत्तिः प्रमाणसिद्धा यत-  
 स्तद्विचर्तव्यं कर्मणा स्यात् ८१६  
 प्रवृत्तिर्हि पुरुषस्य निमित्तमपेक्ष्य तथा परि-

णमेतु अनपेक्ष्य वा ? ८१६  
 यद्यपेक्ष्य; तदा किमपेक्ष्यम्-विवेकानुपलम्भः  
 अदृष्ट वा ? ८१७  
 अमुक्तात्मनि प्रवृत्ताधिकारत्वञ्च किं तत्र  
 सम्बद्धत्वम्, शरीरसुखादिसम्पादकत्वम् वा ? ८१७  
 शरीरादिना आत्मनः कश्चिदुपकारः क्रियते  
 न वा ? ८१७  
 क्रियते चेत्; भिन्नः अभिन्नो वा ? ८१८  
 पुरुषो न वस्तु सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वात् ८१८  
 अकर्तृत्वे चात्मनः भोक्तृत्वविरोधः, भुजि-  
 त्वायाः कर्तव्यं हि भोक्ता ८१८  
 कर्तृत्वविकल्पस्य वस्तुशून्यत्वे भोक्तृत्वादि-  
 वर्णानामपि वस्तुशून्यत्व स्यात् ८१९  
 अकर्तृभोक्तृत्वाभ्युपगमे च कृतनाशाकृता-  
 भ्यागमप्रसङ्गः ८१९  
 बुद्धिचैतन्ययोर्हि भेदाभावः ८१९  
 अपरिणामिन्याश्चित्ताक्षरैः वस्तुत्वमेव प्र-  
 पन्नम् ८२०  
 जैनास्तु मुक्तात्मानमपि परिणामिन स्वीकुर्वन्ति ८२०  
 यदा बुद्ध्या चित्तवृत्त्यपेक्षया प्रदर्शयते तदा-  
 मो प्राचीनमवस्थितस्वरूपं त्यजति न वा ? ८२०  
 शुद्धत्वादनन्तत्वाद्वा न चित्तेरपरिणामित्वसिद्धिः ८२१  
 किम् अज्ञानमेव तमः, उत अज्ञानञ्च तमश्चेति ? ८२१  
 विवेकस्यातिशयं किं प्रकृतेर्भवति पुरुषस्य  
 तद्व्यतिरिक्तस्य वा कस्यचित् ? ८२२  
 विवेकस्यातिशयं बुद्धिधर्मत्वात् भवन्मते पुरुषे  
 न सम्भवति, सम्भवे वा सा ततो भिन्ना,  
 अभिन्ना वा ? ८२२  
 भिन्ना चेत्; नित्या अनित्या वा ? ८२२  
 नित्यापि सम्बद्धा असम्बद्धा वा ? ८२२  
 अनित्यापि ज्ञाना अज्ञाना वा ? ८२२  
 जन्यत्वेऽपि आत्मना प्रवृत्त्या तद्व्यतिरिक्तेन  
 वा केनचिदसौ जन्यते ? ८२२  
 आत्मनापि प्रवृत्तिविरुक्तेन तत्सहितेन वासो  
 जन्यते ? ८२२  
 प्रवृत्तेर्बद्धतया 'विज्ञातविरूपाद्भम्' इति  
 ज्ञानानुत्पत्तेः ८२३  
 विज्ञानापि मोक्षवस्थायामपि भोगसम्पादनाय  
 वायुवत् प्रवर्तनात् ८२३  
 अतः मोक्षेऽप्यात्मा विमुक्तज्ञानादिरूपः स्वीकार्यः ८२३

मुक्तिस्वरूपविचारः (योगानां पूर्वपक्षः) नवानामात्मविशेषगुणा- नामत्यन्तोच्छेदात् आत्मस्वरूपेण अवस्थानं मोक्षः	८२३-४७
सन्तानत्वाद्धेतोः विशेषगुणोच्छेदसिद्धिः	८२४
तत्त्वज्ञानाच्च मुक्तिः	८२४
सञ्चितकर्मणाञ्च फलोपभोगात् प्रक्षयः	८२४
प्रभिलापाभावेऽपि तत्त्वज्ञानिनः कर्मसंयार्थितया कर्मफलोपभोगे प्रवृत्तिः	८२५
शरीरादिनिवृत्तौ चात्मा सर्ववैयर्थिकमुल्लङ्घ्य- शून्यः समस्तधर्माधर्मरहितत्वात्	८२५
'न ह वै सशरीरस्य' इत्याद्यागमादपि मुक्तौ विशेषगुणशून्य आत्मा प्रतीयते	८२५
(उत्तरपक्षः) आत्मनः सर्वथा भिन्नानां बुद्ध्यादि- विशेषगुणानां सन्तानस्य उच्छेदः प्रसाध्यते, अभिन्नानाम्, कर्षञ्चिदभिन्नानां वा ?	८२५
सन्तानत्वञ्च साधन सामान्यरूप विशेषरूप वा ?	८२६
सामान्यरूपत्वेऽपि परसासामान्यरूपम्, अपर- सामान्यरूपं वा स्यात् ?	८२६
विशेषरूपत्वेऽपि उपादानोपादेयभूतबुद्ध्यादि- क्षणविशेषरूपम्, पूर्वपक्षसमानजातीयक्षण- प्रवाहमात्ररूपं वा ?	८२६
कार्यकारणक्षणप्रवाहलक्षणसन्तानत्वस्य नित्या- नित्यैकान्तयोरसम्भवात् विरुद्धोऽयं हेतुः	८२७
सन्तानत्वाद्धेतोः द्विप्रयजानां बुद्ध्यादिगुणा- नामुच्छेदः साध्यते अतीन्द्रियाणां वा ?	८२७
नहि निःसिलगुणोच्छेदरूपे पापाणकल्पे वैयर्थ्य- काभिमते मोक्षे प्रेक्षाकारिणा प्रवृत्तिः	८२८
मुक्तौ बुद्ध्यादिविशेषगुणानामभावः कारणा- भावात्, निष्प्रयोजनत्वात्, विरुद्धत्वाद्वा स्यात् ?	८२८
आद्यपक्षे कस्य कारणस्याभावः -चक्षुरादेः, प्रति- बन्धकापायस्य वा ?	८२८
भवता मते सत्तारस्वरूपं हि विशेषगुणानुच्छेद- भवान्तरावाप्तिर्वा स्यात् ?	८२६
अत्यन्तं बुद्ध्यादिगुणोच्छेदस्य मोक्षत्वे भवतः प्रदीपनिर्वाणवादिनः को विशेषः ?	८२९
उपभोगाच्च कर्मणामात्यन्तिकप्रक्षयानुपपत्तेः उपभोगसमये अपररागादीनामवश्य-	

म्भावित्वात्	८२९
आतुरस्यापि नीरुग्भावामिलापेर्णैव प्रवृत्तिः	८३०
सत्तारकारणं हि मिथ्यादर्शनादित्रयात्मकमत- मोक्षकारणेनापि त्रितयात्मकेनैव भवि- तव्यम्	८३०
(वेदान्तिनां पूर्वपक्षः) परमप्रकर्षप्राप्तसुखस्व- भावतैव आत्मनो मोक्षः न तु ज्ञानादि- स्वभावता	८३१
आत्मा सुखस्वभावः अत्यन्तं प्रियवृद्धिविषयत्वात्, मुख्यप्रेयोवृद्धिविषयत्वात्, निरुपचरित- प्रेयः शब्दवाच्यत्वाच्च	८३१
इष्टार्थो मुमुक्षुप्रयत्नः प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्	८३१
तारतम्यदर्शनात् सुखस्य पराकाष्ठाप्राप्तिः	८३१
'आनन्दः ब्रह्मणो रूपम्' इत्यादि श्रुतेश्च आनन्दरूपताप्रसिद्धिः	८३१
अविद्यावशाच्च सत्तारावस्थायां नित्यानन्द- स्यानभिव्यक्तिः	८३२
(उत्तरपक्षः) सुखस्वभावत्वं किं सुखत्वजाति- सम्बन्धित्वं सुखाधिकरणत्वं वा विवक्षितम् ?	८३२
सुखञ्च नित्यमनित्यं वा ?	८३२
नित्यमपि कथञ्चित् सर्वथा वा ?	८३२
आत्मनः प्रतिबन्धकापायोपेतस्य मुक्तौ अप- रापरसुखोत्पत्तेः कारणत्वात्	८३२
नित्यसुखप्राप्तिः प्रमाणञ्च प्रत्यक्षम् अनुमानम्, आगमो वा स्यात् ?	८३२
प्रत्यक्षञ्च ऐन्द्रियम्, मानसम्, स्वसंवेदनं वा ?	८३३
यस्यात्प्रमाणात्तत्सुखरूपप्रतीतिः तत्प्रमाण- नित्यमनित्यं वा ?	८३३
सत्तारावस्थायां हि प्रतिबद्धत्वं किं शरीरेण अविद्यया वैयर्थिकसुखाद्यनुभवेन बाह्य- विषयव्यासङ्गेन वा ?	८३४
यदि नित्यं सुखं मुक्तावस्थामुपगम्यते तदा नित्यं देहादिकमपि स्वीकर्तव्यम्	८३५
नित्यसुखाम्युपगमे तत्संवेदनाभ्युपगमे च दर्श- नस्य शक्तेश्च सामर्थ्यसिद्धत्वादनन्तचतु- ष्टयरूपतैव आयाता	८३६
अत्यन्तप्रियवृद्धिविषयत्वमन्यपरतयोपादीय- मानत्वं च दुःखान्नावेन अर्दवान्तिकम्	८३६
प्रेयोवृद्धिविषयत्वं निरुपचरितप्रेयः शब्दवाच्य-	

त्वञ्चामिदम्, दुःखितायामप्रियवृद्धे-  
रपि भावात् ८३६  
अनिष्टोपरमार्थमपि प्रेक्षावत्प्रयत्नो भवति ८३६  
इष्टाशब्देन च किं सुखमभिधीयते, अभिप्रेत-  
प्रयोजनमात्रं वा ? ८३६  
तारतम्यशब्दवाच्यत्वञ्च साधनं परत्वादिना  
अनेकान्तिकम् दुःखपरमप्रवर्ण्येण व्यभि-  
चारि च ८३७  
आगमस्य तु अपौरुषयस्य प्रामाण्यमेव नास्ति ८३७  
आगमश्च आनन्दरूपतासदभाववत् सुखाभा-  
मपि सूचयति ८३७  
अविद्याया आवरणरूपतानुपपत्ति ८३८  
( बौद्धस्य पूर्वपक्षः ) कार्यकारणभूतज्ञानप्रवाह-  
परिरेकेण अन्यस्य आत्मनोऽप्राप्तान् कस्य  
आनन्दादिकपत्ता प्रसाध्यते ? ८३८  
आत्मदर्शनस्य च भुक्तिं दूरोत्सारिता ८३८  
आमदर्शनं हि रागादिनिमित्तम् ८३८  
मुमुक्षुणा स्वरूपं पुत्रकलत्रादिकञ्च अनित्या-  
नात्मकाशुचिदुल्लेखेण ध्युनमय्या चिन्ता  
मय्या च भावनया भावनीयम् ८३९  
नैरात्म्याभ्यामानुभूति ८४०  
इन्द्रियादिषु उपभोगाश्रयत्वेन गृहीतेषु स्वत्वधी  
नैरात्म्यभावनयैव निर्वायते ८४०  
कायुक्तेरुपपत्तयः नारकादिकायसंन्यासवत्  
कर्मकलत्वात् तदसंन्यासानुपपत्ते ८४१  
नापि कर्मणा शक्तिवत्कृद्द्वारा तप कर्म-  
क्षयकारि ८४१  
( उत्तरपक्षः ) रागादिनिवृत्तौ मुक्ति इति तु  
स्वीक्रियते एव ८४२  
कालान्तरस्याप्यकात्मपरितरेकेण भावनापि न  
सङ्गच्छते ८४२  
क्षणिकरूपे हि बन्धमोक्षयोरैकाधिकरण्यमेव  
निरपद्यते ८४२  
इष्टानुसंधानं हि प्रसावप्रवृत्तिर्भवति,  
भवत्यन्यं च कः अनुसन्धाना रणान् क्षण  
सत्तानो वा ? ८४२  
आत्मनोऽभ्युपगमे च एकत्वाच्चारोपस्था-  
नानुपपत्त ८४३  
सत्काराणां निरन्तरात्मनस्त्वत्वं हि मोक्षार्थं  
प्रयानो व्यर्थ एव ८४३

तेन हि प्राक्तनस्य रागादिक्षणस्य नाशं क्रियते  
भाविनो वाऽनुत्पादः, तदुत्पादकशक्तेर्वा  
क्षयः, सन्तानस्योच्छेदोऽनुत्पादो वा, निरा-  
श्वचित्तसन्तत्युत्पादो वा ? ८४३  
अन्त्यज्ञानञ्च सत्, तदुत्पादने शक्तञ्च तत्क-  
थं ज्ञानान्तरक्षणमुत्पादयति ? ८४३  
सहकारिणा हि भावस्योत्पत्तेः प्रतिबन्ध-  
क्रियते उत्पादकत्वस्य वा ? ८४३  
अन्त्यचित्तक्षणस्य अर्थत्रियाकारित्वाभावे सकल-  
सन्तानस्यावस्तुत्व स्यात् ८४४  
निराश्वचित्तसन्तत्युत्पादपक्षो वा चित्तसन्तति-  
सन्ध्या निरन्ध्या वा ? ८४४  
'बद्धमेव आत्मानं मोचयिष्यामि' इति दृढतरै-  
कत्वाध्यवसाये कथं नैरात्म्यदर्शनम् ? ८४५  
हिताहिततत्त्वज्ञो हि आत्यंतिकमुत्साधनमेव  
उपभोगाश्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यते न तादा-  
त्विकसुखसाधनम् ८४५  
न हि आत्मनि साहचर्यादिदर्शनात्स्नेहो भवति  
किन्तु उपभोगाश्रयत्वात्पुण्यदर्शनात् ८४५  
प्रतापिरोधी हि कायक्लेषं निर्जराहेतुत्वात्  
तप इत्यभिधीयते ८४७  
क्षीणमोहो त्यसमयः अयोगिचरमसमये च स्व-  
त्वेनैव परमगुणध्यानरूपनपसा बहुतरकर्म  
प्रक्षयोऽभ्युपगम्यत एव ८४७  
मुमुक्षुणादिषु ज्ञानसद्भावसिद्धिः ८४७-४८  
( वैशेषिकादीनां पूर्वपक्षः ) किञ्चिदव्यप-  
च्छिन्दनेव हि सुपुप्त इत्यभिधीयते  
अतस्तेन नास्ति ज्ञानसद्भावः ८४७  
ज्ञानसद्भावे हि जाग्रत्सुषुप्त्यवस्थयोर्भेदा-  
भावः स्यात् ८४७  
निद्रयाऽभिभवो हि ज्ञानस्य नाशः तिरोभावो  
वा स्यात् ? ८४८  
( उत्तरपक्षः ) सुपुप्तावस्थायां स्वापादिसव-  
दनस्य तत्सुखसवेदनस्य च सदभावान् ८४८  
ज्ञानानभ्युपगम्य च 'सुखमहमस्वापम इत्युत्तर-  
कालं स्मरणं न स्यात् ८४८  
मत्तमुच्छिन्नावस्थायां न किञ्चिदभ्यु-  
यानुभूतम्' इति स्मरणसद्भावादस्ति  
मिथ्या ८४८  
न च सुपुप्तादिषु ज्ञानस्य इदमित्यमिति निरूप-

गाभावादभावः; बालमुखेनानेकान्तात्	८४९
मुपुत्तावस्थाया ज्ञानसद्भावेऽपि अनभिभूतज्ञा- नवती जाग्रदवस्था अभिभूतज्ञानवती च मुपुत्तावस्थेति तयोर्भेदः	८४९
ज्ञानस्य निद्रादिना अभिभवोऽपि बाह्याध्या- त्मिकार्थविचारविधुरूपेणावस्थानमेव	८४९
मुपुत्तावस्थाया ज्ञानाभावः स एवात्मा प्रतिपद्यते पार्श्वस्थो वा ?	८४९
यदि स एव, किं तत एव ज्ञानात्, तदभावात्, तदनुपपन्नात्, जाग्रत्प्रबोधदशाभावि- ज्ञानान्तराद्वा ?	८४९
अनुपपन्नमतीऽपि तत्कालभाविनः अन्यकाल- भाविनो वा तदभावप्रतिपत्तिः ?	८५०
ननु द्विविध प्राणादि-चैतन्यप्रभव प्राणादि- प्रभवश्च, चैतन्यप्रभवो जाग्रदवस्थाया प्राणादिप्रभवश्च सुषुप्त्यादिषु; इत्यप्यसत्; सुषुप्तेतरावस्थयोः प्राणादेर्विशेषाप्रतीतिः	८५१
सुषुप्त्यादौ च प्रथम प्राणादि कुतो जायताम् ?	८५१
केवलिकवलाहारविचारः	८५२-८६५
(शाकटाव्ययस्य श्वेतारामराजस्य पूर्वपक्षः) अवि- कलकारणत्वादस्ति केवलिन भुक्ति	८५२
क्षुदभावे हि प्रमाणम् आगमः अन्यद्वा ?	८५२
प्रमाणान्तरञ्च स्वभावानुपपन्नः अन्यद्वा ?	८५२
अन्यतोऽपि विधीयमानात् निषिध्यमानाद्वा केवलिन क्षुत्तिपेक्षः ?	८५२
ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोधः, तद्विशेषस्य वा ?	८५२
निषिध्यमानश्च भावः क्षुध कार्यं कारण व्यापको वा स्यात् ?	८५३
प्रतिपक्षभावनानिबन्धत्वेन च न मोहस्व- भावा क्षुत्	८५३
शीतोष्णवाधातुल्यत्वाच्च न क्षुधो मोहस्व- भावता	८५३
न च क्षुदभ्युपगमे धरोपज्ञत्वविरोधः	८५४
मुखस्थभावे देशोपपूर्वकोटि विहरतः केवलिनः कायस्थिति न घटते	८५४
प्रदीपज्वालाजलधारासमान शरीरं च मुख्यभावे स्थितिमाप्तिष्णुते	८५४
भक्तिर्यदि दोषः तदा निषेधा गमनञ्च केव- लिन न स्यात्	८५४
मासादिदर्शनतोऽन्तरायसभावना तु अवधि-	

ज्ञानिनामपि अस्ति	८५५
नापि केवलिनो जिह्वारसप्राप्तेः मतिज्ञानि- त्वम्, अन्यथा गणधरदेवादिदर्शन- दिव्यतूर्यरवादिश्रवणभ्यामपि तत्स्यात्	८५५
केवल्यो देवच्छन्दकाभिधाने स्थाने गणधरदेव- रानीतमाहार क्षुद्वेदोदये गृह्णाति	८५५
सर्वसाहारनिहारयो मनुष्यतिरस्चामगो- चरत्वान्	८५५
(उत्तरपक्षः) वेद्यादिकर्मोदयात् केवलिन आहारमान प्रसाध्यते कवलाहारो वा ?	८५५
षड्विधाहारमध्ये कवलाहारभावेऽपि कर्मनो- कर्मदानलक्षण आहार स्वीकृत्य एव	८५६
न च कवलाहारेणैव आहारित्व जीवानाम्	८५६
वेद्योदयः कवलाहारसाधक इति अभ्युपग- ममात्रान् स्वीकृत्यते, प्रमाणतो वा ?	८५७
प्रमाणमपि किं प्रत्यक्षम्, अनुमानम् आगमो वा ?	८५७
प्रत्यक्षञ्चेत्, किमन्विद्यम्, अतीन्द्रियं वा ?	८५७
अनुमाने च किं वेद्योदय एव लिङ्ग स्यात् मनुष्यत्व वा देहस्थितित्वं वा ?	८५७
देहस्थितित्वाच्च हेतोः किमाहारमात्रपूर्वकत्वं प्रसाध्यते कवलाहारपूर्वकत्वं वा ?	८५७
केत्यादिबिबुदधमत्वं च केवलिन भुक्त्यभा- वोऽपि ध्वनिश्च	८५७
न च केत्यादिबिबुदधभावो देवोपनीत भुक्त्यभ्युपगमे च अक्षिपक्षमनिमेव न लक्ष- बुदधादिबिबुदधभ्युपगन्तव्य	८५७
तपोमाहात्म्यात् चतुरास्यत्वादिबिबुदधस्य अभूतिपूर्वकत्वे को विद्वेषः ?	८५७
आयुर्जर्मैव हि प्रधान शरीरस्थिते निमित्त भुक्त्यादिकं तु सहायमात्रम्	८५५
आकाल शरीरस्थितेर्भुक्त्यभावेऽप्रतीतिः, किं प्रत्यक्षात् अनुमानाद्वा ?	८५८
'अभूतिपूर्वको देहस्थितिप्रकर्षं न वक्षित्वा- मकाठामापद्यते प्रकृत्यमाणत्वात्' इत्यनु- मानात्तत्सिद्धिः	८५८
अविकलकारणत्वञ्च भुक्तेः असिद्धम्; मोहनीयाभावात्	८५९
नास्ति भगवति बुभुक्षा तत्कारणमोहाभावात्	८५९
यदि कर्मणामुदय अनपेक्षः कार्यकारी स्यात्	

तदो'प्रमत्तादिषु त्रिवेदोदयात् मैथुना-  
दिक स्यात् ८५९  
नामादीनां शुभप्रकृतीनां केवलानि स्वकार्य-  
वारिता अप्रतिबद्धत्वात् ८५९  
प्रतिबद्धसामर्थ्यमपि वदनीयं यदि केवलानि  
क्षुभमुत्पादयेत् तदा दण्डकवाटादिरूप-  
समुद्धान्नित्या व्यर्था ८५९  
न हि बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्यैव  
कार्यम् ८६०  
बुभुक्षापि प्रतिपक्षभावनातो निवर्तते इच्छा-  
त्वात् रिरसावत् ८६०  
न बुभुक्षान् केवली तद्विरोधिन्यहस्व-  
भावीपेतत्वात् ८६०  
पिण्डपणोपदेशोऽपि चेतसः प्रतिपक्षभावना-  
मप्यन्योत्पत्तेः प्राग्वत्स्थायाग्रेव ८६०  
दुःखरूपत्वाच्च क्षुधी न अनन्तसुखे केवलानि  
सम्भव ८६०  
क्षुब्धुं विरोधिनः बलवतीऽन्तिमुक्तस्य सद्-  
भावे हि नाभ्युदितकारणापि क्षुत् केव-  
लानि सम्भाव्या ८६१  
सर्वज्ञत्वाच्च भगवतः क्षुदभावः ८६१  
'एकादशजिने' इत्यागमोऽपि क्षुधाद्येवादश-  
परीपहप्रतिषेधपरः प्रतिपक्षस्य 'एकेन  
अधिका न दण्ड' इति व्युत्पत्तेः ८६२  
वचनादीनां तीर्थकरवर्गमोदयाभावितात्  
दोषरूपत्वासम्भावोच्च ८६२  
नहि अष्टादशदोषेषु क्षुधादिषु वचनादिरपि  
पठ्यते ८६२  
अधिशानिना ज्ञानस्य सोपयोगतया उपयोग-  
कारि एव अन्तरायसम्भावना, केवल  
ज्ञानस्य तु सद्योपयुक्तत्वात् सर्वदाज्ञ-  
रूप स्यात् ८६३  
किमर्थञ्चासी भुङ्क्ते-सरीरोपचयार्थम्  
ज्ञानदर्शनवीर्यादिशयनिवृत्त्यर्थम्, क्षुदे-  
नाप्रतीकारार्थम्, आद्युपोऽनाघिनमुक्ति  
वस्यापवर्तननिवृत्त्यर्थम्, रसमृद्वुपपन्न  
मार्थम्, लोचानुग्रहाय वा ? ८६३  
गमवगारण विहाय केवली किमर्थं देवच्छन्द-  
गच्छति-मनोविशेषपरिहारेण ध्याननि  
द्वयस्य निरोधासम्भवतो यथामुसम-

वस्थानार्थम्, रहस्यकार्योऽनुष्ठानार्थं वा ? ८६४  
रहस्यकार्यञ्च निन्दमनिन्द्य वा ? ८६४  
अनिन्द्यञ्च कार्यं भोजनम्, वर्मक्षपणं वा ? ८६४  
वस्मादगौ एकान्ते भुङ्क्ते-दृष्टिदोषभयात्,  
याचकमयात् अनुचितानुष्ठानाद्वा ? ८६४  
कर्मणा क्षपणमपि पूर्वोपाजितानां भुक्तिवा-  
लोपाजितानां वा ग्रहंता तत्र विधीयते ? ८६४  
पूर्वोपाजितानामपि धानिनामघातिनां वा  
क्षयं क्रियते ? ८६४  
भुक्तिकालोपाजितानां कर्मणा क्षयो यदि  
प्रतिक्रमणतो विधीयते तदा कथं निर्दो-  
षता केवलानि स्यात् ? ८६४  
'भोजनकुर्वाण केवली गणधरदेवैरपि न  
दृश्यते' इत्यत्र किं तददर्शनकारणम्-  
बहुलतमं पटलाच्छादितत्वम्, काण्डपटा-  
च्छादितत्वम्, विद्याविशेषेण स्वस्य निरो-  
धानम्, अन्यजनानिगायी माहात्म्यवि-  
शेषो वा ? ८६५  
**स्त्रीमुक्तिवादः** ८६५  
(शाकटायनस्य सितपटानाञ्च पूर्वपक्षः)  
अधिकलकारणात्वादस्मिन् द्रव्यस्त्रीणां  
निर्वाणम् ८६५  
स्त्रीत्वसद्भावे च रत्नत्रयस्याभावः प्रत्यक्षतः  
अनुमानात्, आपमाद्वा प्रतीयेत ? ८६६  
'सप्तमपृषिवीयमनाभावात्' इति हेतोरपि न  
स्त्रीणां निर्वाणाभावः ; तद्वगमनाभावस्य  
निर्वाणाभावनं व्याप्त्यभावात् ८६६  
न हि सप्तमपृषिवीयमनं निर्वाणस्य कारणं  
व्यापकं वा ? ८६६  
चरमदेहं व्यभिचारि च ८६७  
विपमग्नयोऽप्यघस्तात् उपरिष्ठात्तुल्यमासह-  
कारं गच्छन्तां तद्विपमग्न्यूनताहेतुः ८६७  
नापि दादादिलब्धभावात् स्त्रीणां मोक्षभावः ८६७  
स्त्रीणां वस्त्रलक्षणपरिग्रहसद्भावोऽपि न  
निर्वाणाभावप्रसाधकः, नहि वस्त्रादि  
परिग्रहं वर्मसाधनत्वात् ८६८  
ममत्वमेव हि परिग्रहः ८६८  
प्रमादो हि हिंसा ननु जन्तून्पनिस्थानयस्व-  
परिधारणमात्रम् ८६८  
गणधरादयोऽपि तीर्थकरादिभिरवस्था अतः



पुरुषपरवेद्यत्वादपि न स्त्रीणा मोक्षामात्र	८६९
प्रतिपादयितुं शक्यं	८६९
नापि हीनसत्त्वा स्थित्य	८६९
सत्त्व हि तप शीलसाधारणम्, तच्च स्त्रीषु	८६९
विद्यत एव	८६९
'अद्वयसमयसमये' इत्याद्यमोऽपि स्त्रीनिर्वाणे	८७०
प्रमाणम्	८७०
यथा स्त्रीवेदेन पुंसा सिद्धि तथा स्त्रीणामपि	८७०
स्यात्	८७०
न च सिद्धयतो वेद सभवति	८७०
( उत्तरपक्ष ) रत्नत्रय हि परमप्रकर्षप्राप्त	८७०
सत मुक्तिकारण तन्मात्र वा ?	८७०
नास्ति निर्वाणकारणरत्नत्रयप्रत्ययं स्त्रीषु	८७०
परमप्रकर्षत्वात् सप्तमपूषिविधोक्तकारणापु	८७०
ष्यपरमप्रकर्षवत्	८७०
अविनाभावयथाहि सप्तमपूषिविधगमनाभावात्	८७०
हेतो निर्वाणभाव प्रसाध्यते	८७०
चरमशरीरिणामपि भरतादीना दिग्विजयया	८७०
त्राया सप्तमपूषिविधगमनयोग्याणामुभयार्मा-	८७०
जन्म, देवाचनसमये च सर्वार्थसिद्धि-	८७०
गमनकारणशुभकर्माजन्म भवति	८७०
यस्य उपरिष्ठात् प्रकृष्टाशुभगतिप्रसाधने	८७२
सामर्थ्यं तस्य अधस्तात् प्रकृष्टाशुभगति-	८७२
प्रसाधनेऽपि, न च स्त्रीणा प्रकृष्टाशुभ-	८७२
गतिसमुपार्जनसामर्थ्यमभ्युपेयते अत	८७२
उत्कृष्टाशुभोपार्जनसामर्थ्यमपि नास्ति	८७२
यदा स्त्रीषु लौकिकबादादिलब्धिहेतु सयमोपि	८७२
नास्ति तदा मोक्षहेतुरसी कथं भविष्यतीति ?	८७२
आगमे सयमविशेषनिषेधादेव मोक्षामात्र	८७२
उच्यते एव	८७२
स्त्रीणामाचेलक्षयसयमनिषेध आगमे कृत एव	८७२
प्रतिनिवेदनं हि सयमरसाय वस्त्र तु किमर्थम् ?	८७३
'धर्मसाधनानां परिष्कर्त्तव्ये' इत्यत्र कोऽयं धर्म	८७३
य वस्त्रान् स्यात्-पुण्यविशेष, सयम-	८७३
विशेषो वा ?	८७३
आगमविहितविधिना उपादीयमाना पिण्डोप-	८७३
ध्याय मोक्षहेतोः प्रकर्त्तार	८७३
बुद्धिपूर्वं हि पणित वस्त्रमादाय परिदधानस्य	८७३
मूर्छारहितत्वानुपपत्ते	८७३
उपसर्गाद्यासक्ते वस्त्रे पणिते बुद्धिपूर्वं ग्रहणा-	८७३

संभवात्	८७४
स्त्रीणा शीलपालनार्थं वस्त्रमस्तु, नात्र विवादः,	८७४
मोक्षे एव विवाद	८७४
नहि सचेल गृहस्थशील मोक्षहेतु	८७४
वस्त्रग्रहणे लोभवपापपरिणती अप्रमत्त-	८७४
त्वानुपपत्ते	८७४
लज्जापनोदार्थं वस्त्रस्वीकारे च कामपीडाप-	८७४
नयनाय कामुकादिस्वीकारोपि कर्त्तव्यं	८७४
न हि वीनरागस्य लज्जापि सभवति	८७४
यदि पुत्तामचेल सयम स्त्रीणाञ्च सचेल	८७४
मोक्षहेतु स्यात्तदा कारणभेदात् मुक्तेरपि	८७४
भेद स्यात्	८७४
मचेलसयमस्य मुक्तिहेतुत्वे वस्त्रादित्याग	८७४
किमर्थमुपदिष्ट ?	८७४
न वस्त्र मुक्तेरङ्ग तस्यागस्य कर्त्तव्यतयोपदि-	८७४
श्यमानत्वात्	८७४
स्त्रीणा न निर्वाणपदप्राप्ति यतिगृहिदेवबन्ध-	८७४
पदानर्हत्वात्	८७४
परापरभेदेन यतिबन्ध पदं द्विविधम्	८७४
गृहि देवबन्धमपि पद परापरभेदात् द्विविधम्	८७४
प्रतिगृहञ्च प्रभुत्व पुरुषाणामेव श्रूयते न	८७४
स्त्रीणाम्	८७४
नत स्त्रीणा न मोक्ष पुरुषेभ्यो हीनत्वात्	८७४
सारणवारणपरिचोदनादीनि स्त्रीणा पुरुषा	८७४
कुर्वन्ति न तु पुरुषाणा स्त्रिय	८७४
तीर्थकराकारधराश्च पुरुषा एव	८७४
नहि पुरुषवत् भ्राम्यन्त्वा स्त्रिय	८७४
स्त्रीवगपिधर्मैव सीतादीना प्रकृष्टत्वमुक्त न तु	८७४
पुरुषापेक्षयापि	८७४
न स्त्रीशरीर रत्नत्रयोपपात्ताश्रितम् महता	८७४
पापेन निर्वर्तितत्वात्	८७४
न स्त्रीशरीर मकलकर्मक्षपणाप्रारम्भहेतु मह-	८७४
ता पापेन मिथ्यात्वसहाय्येनोपाजितत्वात्	८७४
यासाञ्च उत्कृष्टस्थितिकदेवपदप्राप्तिरपि	८७४
नास्ति तासा नच मोक्षपदप्राप्ति ?	८७४
'अद्वयसमयसमये' इत्याद्यागमो नास्माक	८७४
प्रमाणम्	८७४
'पु वेद वेदन्ता जे पुरिसा' इत्यागमे द्रव्यपुरु-	८७४
षाणामेव पु वेदोदयवत् इतरवेदोदयेनापि	८७४
मुक्तिं प्ररूपिता	८७४

न द्रव्यस्त्री भावतः पुरुषो भूत्वा सिद्धयति,  
 द्रव्यस्त्रीवेदस्य मोक्षप्रसाधनसामर्थ्याऽ-  
 भावात्

८७८

अतः नास्ति द्रव्यस्त्रीणा मोक्ष

८७८

७७-७८ कारिकयोः शास्त्राध्ययनस्य

प्रयोजननिरूपणम्

८७८-७९

ग्रन्थकृतप्रशस्तिः

इति सप्तमं निक्षेपपरिच्छेदः

प्रशस्ति

सम्पादकप्रशस्तिः

८८

८९

९०





श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितस्वविवृतियुतलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीपद्मानन्दिप्रभुशिष्य-श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

# ॥ न्यायकुमुदचन्द्रः ॥

( द्वितीयो विभागः )

[पाठान्तर-अवतरणनिर्देश-ऐतिह्यतुलनार्थबोधरूढिप्पणी-परिशिष्टाद्यशुभी राजितः]



“श्रीमद्भट्टकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।

अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥”

—शुभचन्द्रः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यनिरचितः

# ॥ न्यायकुमुदचन्द्रः ॥



## [ द्वितीयो भागः ]



प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परोक्षपरिच्छेदः ।

प्रत्यक्ष प्रतिपाद्य लक्षणफलस्वर्यान्वित तत्त्वतः ,  
स्पष्टार्थप्रतिपत्तिशून्यमधुना व्याख्यायते तच्छ्रुतम् ।  
प्रामाण्य पुनरस्यैवैस्तु कुंमतध्वान्ताभिभूतेक्षणे ,  
नेष्ट तैर्ननु विप्रकृष्टविषयज्ञानाय दत्त जलम् ॥१॥

अथेदानीं परोक्षस्वरूपप्ररूपणयाह—

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाऽऽभिनिबोधिकम् ॥१०॥  
प्राज्ञ नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ।

नमता विद्यानन्दिनमैतिह्याद्यभिभूय सस्क्रियते ।

न्यायकुमुदचन्द्रोत्तरभाग सम्यङ् महेंद्रेण ॥१॥

( १ ) अस्पष्टम् । ( २ ) श्रुतस्य । ( ३ ) निश्चयन । ( ४ ) अतीन्द्रियज्ञानाय । ( ५ )  
अनया कारिकया मति स्मति संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् [ तत्त्वार्थसू० १।१३ ] इति  
सूत्राय समवति । तुलना— मतिस्मत्यादयः शब्दयोजनमतरेण न भवतीत्युक्तान्तो न यतस्तत्र  
सकीयते । तदेकान्ते पुनरुक्तं नवचितं स्युः तन्नामस्मतेरयोगात् अनवस्थानात् । —सिद्धिर्वि० पृ० १००  
A । अनतवीयविद्यानादाभयदेवाद्याचार्याभिप्रायेण शब्दयोजनात् प्राक्कालभाविना मतिस्मृयादीना  
मतिज्ञानेऽन्तर्भाव तदुत्तरकालभाविना तु तेषां श्रुतेऽन्तर्भाव इति । तथा च तेषां ग्रन्था— ननु  
मत्स्यादिकं सवमभिधानपुरस्सरमेव स्वार्थं प्रत्यति इति शब्दप्रत एवान्तर्भावोऽस्य तथा च तत्त्वचिन्तन  
एवास्य चिन्ता भविष्यतीति पृथग्निह चिन्तनमनर्थकमिति चेदत्राह— शब्दयोजनम् इत्यादि । मतिस्मृ  
त्यादयः शब्दयोजनमतरेण न भवन्ति किन्तु तदयोजनं सति भवति इत्युक्तेऽन्तर्भावो न यत एव एका तात  
तत्र अन्तर्भाव्यरन् इत्यर्थः । यत इति वा आक्षेपे नव सकीर्यते । विषयः वाचकमाह—तदेकान्त इत्यादि ।  
॥ चासी एकान्तश्च तस्मिन् अङ्गीक्रियमाणं पुन नवचितं बहिरन्तर्वा स्यु मतिस्मृत्यादयः । कुत एत  
दित्यत्राह—तन्नाम इत्यादि । यस्य नाम्नो योजनात् मतिस्मृत्यादयः तत् तन्नाम व्युच्यते तस्य स्मृतेर  
योगात् । —सिद्धिर्वि० टी० पृ० १०० A । सप्रति श्रुतस्वरूपप्रतिपादकमकलकप्र यमनुवादपुरस्सर

विवृतिः—अविसवादस्मृते फलस्य हेतुत्वात् प्रमाण धारणा, स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्ययवर्गस्य, सज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य, चिन्ताऽभिनिबोधस्यानुमानादेः । प्राक् शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम् ।

यत् प्रथमकारिकाया शेषम् अवशिष्टं ज्ञानमित्युक्तम्, तत् किम् ? § श्रुतम् अवि-

५ स्पष्टतर्कजम् § “श्रुतमविस्पष्टतर्कजम्” [ ] इत्यभिधानात् । किं कारिकायास्मान्—

यत् नामयोजनाज्जग्यतेऽविशदं ज्ञानं तदेव श्रुतम्, उतान्यदपि ? इत्याह—

प्राङ् नामयोजनात् । नाम अभिधानस्य योजनात् पूर्वमुपजायते यदस्पष्टं ज्ञानं तच्छ्रुतम् नामयोर्नानाजितार्थाऽस्पष्टज्ञानसाधर्म्यादित्यभिप्रायः । “चिन्ता च” इत्यत्र

॥ चशब्दो भिन्नप्रक्रमः ‘शब्दानुयोजनात्’ इत्यस्थानन्तरं द्रष्टव्यः । तेन न केवलं नामयोजनात् पूर्वं यदस्पष्टं ज्ञानमुपजायते तदेव श्रुतं किन्तु ‘शब्दानुयोजनाच्च यदुप-

विचारयति—अत्र प्रचलते केचित्तु शब्दानुयोजनात् । तत्पूर्वनियमावृत्तं नामयष्टविरोधतः ॥ शब्दानुयोजनादेव श्रुतं हि यदि वक्ष्यते । तदा श्रोत्रमतिज्ञानं न स्यात्त्रायमतो भवम् ॥ यद्यपक्षवचस्तेषां श्रुतं साध्यवहारिकम् । स्वेष्टस्य वाद्यनं न स्वादिति सप्रतिपक्षते ॥ ‘न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृतः । इत्यकान्तं निराकृतं तत्रोक्तं तैरिहेति वा ॥ ज्ञानमात्रं स्मृतिः सज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम् । प्राप्ताममसृत् शेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥ अत्राकलङ्कदेवा प्राहुः—ज्ञानमात्रं स्मृतिः सज्ञा विचारयति—मतिज्ञानादाद्यादाभिनिबोधिव्यपयन्ताच्छ्रुतं शब्दानुयोजनादेव तस्यवधारणम् श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति वा ? यदि श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति पूर्वनियमः तदा न वक्षिष्येति रोधः, शब्दमन्युज्ञानस्य अधुनज्ञानत्वव्यवच्छेदात् । अथ शब्दानुयोजनादेव श्रुतमिति नियमः तदा श्रोत्रमतिपूर्वकमेव श्रुतं न वक्षुरादिमतिपूर्वकमिति सिद्धातविरोधः स्यात् । साव्यवहारिकं चाशब्दज्ञानं श्रुतमित्यपक्षया तथानियमे तु गच्छवाप्राप्तिं वक्षुरादिमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्य परमाधतोभ्युपगमात् स्वसम्यक्प्रतिपत्तः । अथवा ‘न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृतः । अनुबिद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥’ इत्यकान्तं निराकर्तुं प्राप्तामयोजनात्समिष्टं न तु तन्नाममन्युमिति व्याप्यनमाकलङ्कमनुसृत्यम् । (पृ० २३१४०) शब्दानुयोजनात्स्वया श्रुतमस्त्वक्षवित्तिवत् । सप्तवाचमवित्तिरर्थावतिष्ठति यानुमा ॥ नामासम्युत्पत्त्या हि मतिरेषा प्रकीर्तिता । नातः वक्षिष्येति रोधोऽस्ति स्याद्वादासृत्तमोर्गमम् ॥’ —सप्तवाच्यलो० पृ० २४३ । अत्र च यत् ‘शब्दसंयोजनात् प्राक् स्मृत्यादिकमवित्तिवादिभ्यवहारनिवृत्तं नगमं प्रवृत्तं तन्मतिः, शब्दसंयोजनात् प्रादुर्भूतं तु सव श्रुतमिति विभागः ।’ —सप्तमति० टी० पृ० ५५३ । पृ० ५४० पृ० ८४ B ।

(१) तुलना— धारणास्वरूपा च मतिः अविवक्षास्वरूपस्मृतिफलस्य हेतुत्वान् प्रमाणम्, स्मृतिरपि तथाभूतप्रत्ययमास्वभावगतान् जनकत्वान् मतापि तथाभूततत्त्वभावविचिन्तापञ्जनकत्वात्, चिन्तापि अनुमानलक्षणमभिनिबोधपञ्जनकत्वान्, सोऽपि हानादिवृद्धिजनकत्वात् ।’ —सप्तमति० टी० पृ० ५५३ । पृ० ५४० पृ० ८४ B । (२) तुलना— ‘प्राक्’ शब्दानुयोजनात् मतिनाममत्तं साधमने कप्रभेदं शब्दानुयोजनादुपजायमानमिति ज्ञानं श्रुतमिति वक्षितं —सप्तमति० टी० पृ० ५५३ । पृ० ५४० पृ० ८४ B । (३) उदयनमिह—सिद्धिबि० टी० पृ० १०१ B तुलना—‘मतिपूर्वं ततो शर्त्तं श्रुतमस्य पञ्जनकम् ।’ —सप्तवाच्यलो० पृ० २३७ । न्यायवि० वि० पृ० ५०४ B ।

१—प्राज्ञान—य० । § एतन्नगत्तं पागे नाम्नि जा०, य० । २—तेवि—जा०, व०, य० ।

३—संयोजनाज्जनि—य० ।

जायते तदपि श्रुतम्' इति संगृहीतं भवति । किं तद् ? इत्याह—'संज्ञा' इत्यादि ।  
 'चिन्ता च' इत्ययं चैशब्दः पुनर्भिन्नप्रक्रमः 'मतिः' इत्यस्यानन्तरं स्मृतिसमुच्चयार्थो  
 द्रष्टव्यः । तेन स्मृत्यायविशदं ज्ञानं श्रुतमित्युक्तं भवति । इन्द्रियप्रभवं मतिज्ञानं तु  
 देशतो वैशद्यसम्भवात् सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षमित्युक्तम् । तस्य श्रुतस्य किं कारणम् ?  
 इत्याह—ज्ञानमायं कारणम् । किन्नाम ? इत्याह—'मतिः' इति । नचागमविरोधः;  
 "मतिपूर्वं श्रुतम्" [ तत्त्वावस० १२० ] इत्यभिधानान् । 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे फलं  
 स्यादुत्तरोत्तरम्' [ लघो० का० ७ ] इत्यनेन अधिकां कारिकां कृत्वा व्याचष्टे—  
 'अविसंवाद' इत्यादिना । न विद्यते विसंवादो यस्याः सा चासौ स्मृतिश्च तस्याः ।  
 कथम्भूतायाः ? फलस्य फलभूतायाः हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा सस्कारः ।

ननु स्मृतेः स्वरूपतो विषयतश्च विचार्यमाणाया अनुपपत्तेः कस्याऽविसंवादः 10

स्मरणस्य अप्रामा- प्राथ्येत, तथाहि—स्मृतिशब्दवाच्यस्यार्थस्य स्वरूपं ज्ञाता, ज्ञानं वा ?  
 ययवादिना बौद्धादीना तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्न, पूर्वोक्तज्ञानव्यतिरिक्तस्य ज्ञातु, कस्यचिदप्य-  
 पूर्वपक्ष - संभवात् । द्वितीयपक्षेऽपि ज्ञानमात्रम्, अनुभूताविषयं वा ज्ञानं

तैश्चद्वदाच्य स्यात् ? प्रथमविकल्पे प्रत्यक्षादेरपि स्मृतिरूपताप्रसङ्गात् तैश्च्यतिरिक्त-  
 प्रत्यक्षादिप्रमाणभेदवाचोच्छेदः स्यात् । द्वितीयविकल्पेऽपि देवदत्तानुभूतेऽर्थे यज्ञद- 10  
 त्तप्रत्यक्षादिज्ञानस्य स्मृतित्वप्रसक्तिः । अथ येनैव यदेव पूर्वमनुभूतं वस्तु पुनः कालान्तरे  
 तस्यैव तत्रैवोपजायमानं ज्ञानं स्मृतिरित्युच्यते, तदप्युक्तिमात्रम्, धारावाहिप्रत्यक्षास्यापि  
 स्मृतित्वप्रसङ्गात्, उक्तप्रक्रियायास्तैत्राप्यधिकलत्वात् ।

किञ्च, 'अनुभूते' जायमानम्' इत्येतत् केन प्रतीयते—अनुभवेन, स्मृत्या,  
 उभाभ्यां वा ? न तावदनुभवेन; तत्काले स्मृतेरेवाऽसम्भवात् । नचाऽसती विषयीकर्तुं 20  
 शक्या, अतिप्रसङ्गात् । यद् असन्न तत् विषयीकर्तुं शक्यं यथा खरविषाणम्, असती च  
 अनुभयकाले स्मृतिरिति । नचाऽविषयीकृता 'तत्रोपजायते' इति प्रत्येतुं शक्याऽतिप्र-  
 सक्तेरेव । यद् यत्र येन न विषयीक्रियते न तस्य 'तत्तत्रोपजायते' इति प्रतीतिरुक्ता  
 यथा सुप्रेनाऽविषयीकृते नीलसुखादिविषये जाग्रत्पुरुषप्रत्यये, अनुभवेनाऽविषयीकृता  
 च अतीतार्थे स्मृतिरिति । तन्न अनुभवात्तथाप्रतीतिः । नापि स्मृतेः, अनुभवाऽर्थयोर- 25

(१) योग प्राह—आ० टि० । (२) तुलना—“ननु कोऽयं स्मृतिशब्दवाच्योऽर्थः ज्ञानमात्रम्, अनु-  
 भूतार्थविषय वा विज्ञानम् ?”—प्रमेयक० पृ० ३३६ । (३) स्मृतिशब्द—आ० टि० । (४) स्मृति—आ०  
 टि० । (५) अनुभूतेऽर्थ—आ० टि० । (६) धारावाहिकप्रत्ययेऽपि । (७) तुलना—“ननु अनुभूते जाय-  
 मानमित्येतत् केन प्रतीयताम् ? न तावदनुभवेन, तत्काले स्मृतेरेवासत्त्वात् ...”—प्रमेयक० पृ०  
 ३३६ । (८) प्रत्यक्षेण—आ० टि० । (९) तुलना—“अतीतानुभवार्थयोरविषयीकरणे तथा प्रतीत्य-  
 योगात् ।”—प्रमेयक० पृ० ३३६ ।

१ 'च' नास्ति आ०, थ० । २-शदज्ञान आ०, थ० । ३-प्रभवमति-ब० । ४-वाच्याय-व० ।  
 ५ तत्रो-व०, थ० ।

विषयीकरणे 'अनुभूतेऽहमुत्पन्ना' इत्यनया प्रत्येतुमशक्यत्वात् । यदि च अनुभूतता प्रत्यक्षगम्या स्यात् तदा स्मृतिरपि जानीयात् 'अनुभूतेऽहमुत्पन्ना' इति, अनुभवानुसारित्वात्तस्याः । नचासौ प्रत्यक्षगम्या; अनुभूयमानतामात्र एव अस्य पर्यवसानात् । तत्र स्मृत्यापि तैत्प्रतीतिः । नाप्युभाभ्याम् ; उभयपक्षनिक्षिप्तदूर्पणप्रसङ्गात् । तत्र स्मृतिः स्वरूपतो विचार्यमाणाऽवतिष्ठते ।

नापि विषयतः; तस्या हि विषयः अर्थमात्रम्, अनुभूतताविशिष्टो वाऽर्थः ? न तावदर्थमात्रम्; सकलप्रमाणानां स्मृतित्वप्रसङ्गात् । नाप्यनुभूतताविशिष्टः; देवदत्ता-नुभूतेऽर्थे यद्दत्तज्ञानस्य धारावाहिविज्ञानस्य च स्मृतित्वप्रसङ्गापादनात् । अनुभूतार्थ-विषयत्वे चास्याः प्रामाण्यञ्च स्यात् अविद्यमानविषयत्वात् । यदविद्यमानविषयं न तत् प्रमाणम् यथा खे केशपाशज्ञानम्, अविद्यमानविषयश्च अनुभूतार्थविषयतयाऽभिप्रेतं स्मरणज्ञानमिति । तैधाविधस्याप्यस्य प्रामाण्ये अतिप्रसङ्गः ।

किञ्च, अर्थक्रियार्थिनामर्थक्रियासमर्थार्थप्रापकं प्रमाणं प्रसिद्धम् । न च स्मृतौ असदर्थविषयत्वेन एतत्संभवति, अतः कथमसौ प्रमाणमिति ?

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'ज्ञाता ज्ञानं वा' इत्यादि; तदसमीचीनम्;

तत्प्रतिविधानपुरस्सर स्मरणस्य प्रयक् स्मृतिरवमनुपज्यते; स्मृतित्वस्य ज्ञानमात्रप्रयुक्तत्वाभावात् । ज्ञानविशेष प्रामाण्यस्यैव स्थापनम्— एव हि संस्कारविशेषप्रभवः तदित्याकारोऽनुभूतार्थविषयः स्मृतिरित्युच्यते । स च इतरज्ञानेभ्यः कारणस्वरूपविषयभेदाद् भिद्यते । तत्र कारणभेदः—

(१) स्मृत्या । (२) अनुभूतता—आ० टि० । (३) प्रत्यक्षस्य । (४) 'अनुभूते जायमानम्' इति प्रतीतिः । (५) स्मृतिप्रत्यक्षाभ्याम् । (६) अविद्यमानविषयस्यापि स्मरणस्य । (७) तुलना—“लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् संवादक उच्यते, तद्वज्ज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितमर्थं प्रापयत्संवादकमुच्यते । प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वं नान्यत् । तयाहि— न ज्ञानं जनयदर्थं प्रापयति अपि त्वर्थं पुष्ट्यं प्रवर्तयत्प्रापयत्यर्थम् । प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदसंक्त्वमेव, न हि पुष्ट्यं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम् । अर्थक्रियार्थिभिश्चार्थक्रियासमर्थार्थप्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं मृग्यते । यच्च तैर्मृग्यते तदेव तेन सास्त्रे विचार्यते । ततोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शकं सम्यग्ज्ञानम् ।” —न्यायविक्रुटी० पृ० ५-६ । (८) अर्थक्रियासमर्थार्थप्रापकत्वम् (९) पृ० ४०५ प० ११ । (१०) तुलना—“आत्मनः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ।” —बौधे० सू० १।३।६ । “अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोदः स्मृतिः ।” —योगसू० १।११ । सांख्यतत्त्वालो० पृ० १६ । “निगदन्नेच्छानुस्मरणायपेक्षादात्ममनसो. संयोगविशेषात् पट्वभ्यासादप्रत्ययंजनिताच्च संस्काराद् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वप्युपेक्षानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेपहेतुस्तीनविषया स्मृतिरिति ।” —प्रज्ञा० भा० पृ० २५६ । “प्रत्यक्षबुद्धिनिगोषे तदनुमग्यानविषयः प्रत्ययः स्मृतिः ।” —न्यायशा० पृ० ३६६, ४३१ । “स्मृतिरिति दृष्टावन् पूर्वज्ञानसदृशं विज्ञानं पूर्वविज्ञानविषयं वा स्मृतिरित्युच्यते ।” —शाबरभा० पृ० १५ । “स्मृतिः पुनः पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रं ज्ञानमुच्यते ।” —अकरण पं० पृ० ४२ । तत्प्ररह० पृ० २ । “स्मृतिश्च संस्कारमात्रं ज्ञानमभिधीयते ।” —शास्त्रज्ञो० पृ० १५३ । “स्मरणं स्मृतिः” —सर्वा-



स्मृतेः पटुतरसंस्कारकारणकत्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च चक्षुरादिहेतुकत्वात्। स्वरूपभेदः—  
स्मृतेः तदित्युल्लेखित्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च ईदमित्याद्युल्लेखित्वात्। विषयभेदोऽपि—  
स्मृतेः अनुभूतार्थगोचरत्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च वर्त्तमानाद्यर्थविषयत्वात्।

यदप्युक्तम्—‘अनुभूते स्मृतिरित्येतन्नानुभवेन स्मृत्योभाभ्यां वा प्रतीयते’ इत्यादि,  
तदप्यनल्पतमोऽविलसितम्; त्रिकालानुयायिना प्रमात्रा तत्प्रतीते. कर्तुं शक्यत्वात्। 5  
पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तो न कश्चित् प्रमाता, इत्यप्ययुक्तम्, तद्व्यतिरिक्तस्यास्य सन्तान-  
निषेधावसरे<sup>१</sup> प्रपञ्चतः प्रसाधितत्वात्। नैन्वेवं प्रमातुः प्रत्यक्षेण अर्थेऽनुभूयमानतानुभवे  
अनुभूतताऽनुभवोऽपि स्यात् तत्सद्भावाऽविशेषात्, तथाच गृहीतग्राहित्वात् स्मृतेर्न  
प्रामाण्यम्, इत्यप्यसत्, अतीतकालनिबन्धनतया अनुभूयमानताकाले अनुभूततायाः  
संभवाभावात्, प्रमातृसद्भावमात्रस्य तैत्प्रतिपत्तिं प्रत्यनङ्गत्वाच्च। स्मृतिसहायो हि प्रमाता 10  
अर्थेऽनुभूततां प्रतिपद्यते, प्रत्यक्षसहायस्तु अनुभूयमानतामिति।

एव कारण-स्वरूप-विषयभेदेन अध्यक्षादिभ्यः स्मृतेर्भेदसंभवेऽपि अप्रामाण्ये  
कारणं वक्तव्यम्—तैश्च गृहीतग्राहित्वम्, परिच्छिन्निविशेषाभावं, असंस्त्यतीतार्थे प्रवर्त्त-

र्थसि० १।१३। ‘तैरेवेन्द्रियैर्ष्य परिच्छिन्नो विषयो रूपादिस्तं यत् कालान्तरेण विनष्टमपि स्मरति तत्  
स्मृतिज्ञानम्। अतीतवस्तुबालम्बनमकर्तृकं चैतन्यपरिणतिस्वभाव मनोज्ञानमिति यावत्।’—तत्रार्थं  
भाष्यध्या० १।१३। ‘संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिरिति’—परीक्षामु० ३।३। प्रमाणनी०  
१।२।३। ‘तदित्याकाराऽनुभूतार्थविषया स्मृति’—प्रमाणप० पृ० ६९। ‘स्मृतिश्च वितर्कलक्षणा।’—जैन-  
तर्कभा० वृ० पृ० ९९। ‘तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषय तदित्याकार संबन्धन स्मरणम्।’—प्रमा-  
णनय० ३।१। षड्व० बृह० पृ० ८४ B। ‘अनुभवमात्रजग्य ज्ञान स्मरणम्।’—जैनतर्कभा० पृ० ८।

(१) तुलना—‘प्रणिधाननिबन्धाभ्यामालङ्घ्यलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यविद्योर्ग-  
ककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानमुक्तं खेच्छाद्वेषभयाविश्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तम्।’—वायसू०  
३।२।४३। (२) पृ० ४०५ प० १९। (३) पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तस्य प्रमातुः। (४) पृ० ९-।  
(५) तुलना—‘न च प्रत्यक्षेणानुभूयमानतानुभवे’—प्रमेयक० पृ० ३३६। (६) प्रमातृसद्भावः।  
(७) अनुभूतताप्रतिपत्तिम्। (८) तुलना—‘अमुष्याप्रामाण्यं बुतोऽयमाविष्कृर्वीत—किं गृहीतार्थग्रा-  
हित्वात्, परिच्छिन्निविशेषाभावात्, असत्यतीतेऽर्थे प्रवर्त्तमानत्वात्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वात्, विसर्वा-  
दकत्वात्, समारोपाव्यवच्छेदकत्वात्, प्रयोजनाप्रसाधकत्वाद्वा?’—स्या० २० पृ० ४८६। (९) ‘पार-  
तन्त्र्यास्त्वतो नैषा प्रमाणत्वावधारणा। अप्रामाण्यविकल्पस्तु द्रष्टुमैव विहन्यते॥ पूर्वविज्ञानविषय-  
विज्ञान स्मृतिरुच्यते। पूर्वज्ञानादिना तस्या प्रामाण्यं नावधार्यते॥’—तन्त्रवा० १।३।१। ‘तत्र यत्पूर्व-  
विज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिष्यते। तदुपस्थापनमात्रेण स्मृतेः स्याच्चरितार्थता॥’—मी० श्लो० पृ०  
३९६। ‘प्रमिते च प्रवृत्तत्वात्स्मृतेर्नास्ति प्रमाणता।’—मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० १०४। ‘गृहीत-  
ग्रहणान्तेष्ट सावृत्’—प्रमाणवा० १।५। ‘यद् गृहीतग्राहि न तत्प्रमाणं यथा स्मृतिः।’—तत्त्वस०  
प० पृ० ३८८। ‘न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तिव्यपेक्षणात्। स्मृतिर्हि तदित्युपजायमाना प्राची

१ ईदमित्युल्लेख-श्र०। २ प्रमात्रा श्र०। ३-भवेऽनुभवोऽपि आ०। ४ गृहीतार्थग्रा-व०।

५-स्त्यतीतेऽर्थे व०।

मानत्वेम्, अर्थादिनुत्पद्यमानत्वम्, विसवादकत्वम्, समारोपाव्यवच्छेदकत्वम्, प्रयोजनं प्रसाधकत्वं वा स्यात् ? प्रथमपक्षे कस्य गृहीतस्यार्थस्य स्मृत्या ग्रहणम्—ज्ञानस्य, ज्ञेयस्य, ज्ञाननिशिष्टस्य ज्ञेयस्य, तद्विशिष्टस्य वा ज्ञानस्य ? न तावज्ज्ञानस्य, तद्व्यतिरिक्तज्ञेयस्य स्मृतौ प्रतिभासनात् । अथ ज्ञेयस्य, अस्तु नाभैतत्, तथापि अधिगतार्थाधिगममात्रेण स्मृतेर्नाऽप्रामाण्यम्, अनुमानेनाधिगतेऽग्नौ तदुत्तरकालभाविनोऽध्यक्षस्याप्यप्रामाण्य-  
प्रसङ्गात्, प्रत्यभिज्ञानाऽनुमानयोरपि केनचिदज्ञेन अधिगतार्थाधिगमसम्भवेन अप्रामा-  
ण्यप्रसङ्गाच्च । अथ अधिगतार्थाधिगमेऽर्थत्रयपूर्वस्याप्यर्थाश्रयाऽधिगमसम्भवात् प्रामा-  
ण्यम्, यद्यमेव स्मृतेरप्रामाण्यं तथापि हि वर्तमानकालावच्छेदेनाऽधिगतस्यार्थस्य अतीत-  
कालावच्छेदेनाऽधिगतेरपूर्वाधाऽधिगमोपपत्तेः ? प्रयोगः स्मृतिः प्रमाणम्, प्रमाणान्तरप्रति-

प्रतीतिमनुबद्धयमाना न स्वातन्त्र्येण परिच्छिन्ततीति न प्रमाणम् । —प्रकरण० पृ० ४२ ।  
तत्ररह० पृ० २ । 'न च स्मृतिः प्रमा लोकाधीनावधारणो हि शब्दाद्यसम्भवः । लोकवच्च सत्कार-  
मात्रजनः स्मृतरन्यामुपलब्धिर्मर्याद्व्यभिचारिणी प्रमामाचष्ट ।'—न्यायवा० तट्ट० पृ० २१ । न्याय-  
कुमु० ४१ । 'अत एव न प्रमाणं तस्या पूर्वाभूतविषयबोधदर्शनार्थं निश्चित्वत्या अपरिच्छेदे  
पूर्वाभूतविषयारतस्यात् ।'—प्रज्ञ० कव० पृ० २५७ । (१०) 'एतदुक्तं भवति—सर्वे प्रमाणादयोज-  
धिगममर्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिं पुनः पूर्वाभूतविषयानामतिक्रामति तद्विषया वा  
तद्विषयं वा ननु तदधिकविषयम् ।'—योगसू० तत्त्ववै० १।११ ।

(१) जैनकवार्तिककारा हि अवाविनाभावाभावात्स्मरणस्याप्राप्याप्य स्वीकुर्वन्ति तथाहि—  
एव भवति कवार्तिककार—अर्थाविनाभाविन एव ज्ञानस्य प्रामाण्यमुचितं न स्मृतं अथमन्तरेणापि तस्या  
भावात् । प्रत्यक्षास्तु अव्यभिचारनिमित्ताभिधानात् कस्यचित् व्यभिचारेऽपि न दोषः, न त्वच्च स्मृत-  
व्यभिचारनिमित्तमस्ति । अमुकस्मृतस्तु पूर्वप्रत्यक्षपक्षान्न पूर्वक प्रामाण्यम् ।—अनन्तवै० पृ० पृ०  
९९ । (२) तार्थान् भावस्तदाभावात् ।—प्रमाणवा० २।३७५ । अनुभवादुत्पद्यमाना स्मृतिरथमन्तरेण  
भवन्ती यद्य नीलाद्याकारा ।—प्रमाणवार्तिकाल० मनोरथ० २।३७५ । 'अप्राप्यजत्वमेव स्मृतं कस्मा-  
'नप्यत ? अर्थाविनाप्युत्पत्त्या । न च यद्वालालिङ्गितं नुभवज्ञानमुत्पन्नं तन्मूलम्भनमव न्याय्यम् ।  
स्मृतिश्चा' तस्याविद्यमानतया विषयत्वाभावात् । बाह्यद्विधायां च स्मृतिर्जमनि प्रत्यक् व्यभिचारा-  
दन्वयस्य व्यापारो निरवधीयत । न च तस्य स्वतन्त्रस्य कर्हि विषय व्यापारः सम्भवतीत्यनयजत्वमेव  
'न्याय्यम् नस्मान्निविषयत्वमेव ।—प्रग० व्यो० पृ० ६२१ । न स्मृतरप्रमाणत्वं गृहीतप्राप्तिनाहृतम् ।  
अपि त्वनयद्रव्यत्वं तत्प्रामाण्यकारणम् ॥ ननु कथमनयज्ञा स्मृतिः ? तदारूढस्य वस्तुमत्त्वानामित्यस्त्वान् ।  
—न्यायव० पृ० २३ । (३) 'कस्मान् स्मरणज्ञानमप्रमायमिति च ? रज्जुसर्पादिज्ञानवन् भ्रान्त्या  
मिति हम् ।—न्यायसारटी० पृ० ६८ । (४) तुलना—गृहीतग्रहणात्तत्र न स्मृतद्वयप्रमाणता । धारा-  
वाह्यविधानस्य लभ्यते केन सा ॥ विगिष्टस्योपयोगस्याभावात् सापि चमत्ता । तन्मात्र स्मरण-  
प्राप्तानवमानतास्तु न ॥ स्मृत्या स्वाय परिच्छिद्य प्रवृत्ती न च बाध्यन् । यत्र प्रमावता तस्या प्रवृत्ति-  
विनिवार्यन् ॥'—तत्त्वार्थसौ० पृ० १८९ । (५) न्यायविगिष्टस्य—आ० टि० । (६) ज्ञानव्यतिरिक्त ।  
(७) तुलना—'अनुमानेनाधिगतं बहु तदुत्तरकालभाविनः प्रयोगस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात् ।'—न्या०  
१० पृ० ४८९ । प्रमेयक० पृ० ३३७ । (८) प्रत्यभिज्ञानानुमानयो । (९) प्रत्यागादि ।

१ अर्थादिनु-व० । २-नासाध-व० । ३-रिक्तस्य तदस्य थ० । ४-धिगमप्रभवेन आ०, थ० ।  
५-न्यायनुबद्धाच्च व० । ६ अथ अर्थाधिगमे-आ०, थ० । ७-पूर्वाधि-व० ।

पन्नेऽप्यर्थे केनचिद्देशेनाऽपूर्वार्थपरिच्छेदकत्वात्, यद्यत्तथाविधं तत्तत्प्रमाणम् यथा अनुमानाधिगतार्थे प्रत्यक्षादि, तथा च स्मरणम्, तस्मात् प्रमाणमिति ।

एतेन ज्ञानविशिष्टज्ञेयपक्षोपपास्तः, अशत प्रामाण्यस्य अत्राप्युपपत्तेः । किञ्चेदज्ञेयस्य ज्ञानविशिष्टत्वं नाम—तत्र सयोगः, समवायः, विशेषणीभावो वा ? तत्र आद्यपक्षद्वयमनुपपन्नम्, ज्ञेये ज्ञानस्याऽद्रव्यतया संयोगाऽसम्भवात्, आत्मनि समवेततया च समवायस्याप्यनुपपत्तेः । तदभावे विशेषणीभावोऽपि दुर्घटः, तस्य तत्पूर्वकत्वात् । न खलु दण्डपुरुषादौ संयोगादिसम्बन्धानपेक्षस्तर्ङ्गभावो दृष्टः । ज्ञेयविशिष्टज्ञानपक्षस्तु न युक्तः, तत्प्रतिभासस्य स्मृतौ स्मरेऽप्यसम्भवात् । नहि ज्ञानं निर्विशेषणं संविशेषणं वा स्मृतौ प्रतिभासमानं केनचिदिष्टम्, यद्विषयस्तु न एव तत्र प्रतिप्राणि प्रतिभासप्रतीते । तन्न गृहीतप्राहित्वात् स्मृतेरप्रामाण्यम् ।

नापि परिच्छिद्विधिशेषाभावात्, निहितमन्त्रिताधीतादौ तस्यास्तद्विशेषसद्भावात् ।

नाप्यसत्यतीतार्थे प्रवर्त्तमानत्वात्, यतोऽतीतस्याऽर्थस्य स्वकालेऽसत्त्वम्, स्मृतिकाले वा ? न तावत् स्वकाले, तदा तस्य विद्यमानत्वात् । स्मृतिकाले तु तद्ग्राह्यस्याऽसत्त्वनाऽप्रामाण्यं प्रत्यङ्गम्, प्रत्यक्षस्यापि अप्रामाण्यप्रसङ्गे, तत्काले तद्ग्राह्यस्याप्यसत्त्वाऽविशेषात् । नहि प्रत्यक्षमाहोऽर्थं प्रत्यक्षकाले सोगतौ सत्त्वेनाऽभ्युपगम्यते ।

“मिन्नेकालं कथं ग्राह्यमिति चेद ग्राह्यता विदुः ।

हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्थीक्षितम् ॥” [ प्रमाणवा० २।२४७ ]

इत्यस्य विरोधाऽनुपपन्ना । अतः प्रत्यक्षस्याप्यसति प्रवर्त्तनादप्रामाण्यं स्यात् ।

(१) ज्ञापकानिरकरणम् । (२) संयोगसमवायाद्यभावः । (३) सम्बन्धः । (४) विशेषणीभावः । (५) ज्ञयविशिष्टज्ञानप्रतिभासस्य । (६) तुलना—“निहितमन्त्रिताधीतादौ हानोपादानहेतोः परिच्छिद्विधिशेषस्य स्मरणं सदभावात् ।”—स्या० २० पृ० ४८७ । (७) परिच्छिद्विधिशेषः । (८) तुलना—“यतोऽतीतस्याप्यस्य स्वकालेऽसत्त्वम्, स्मृतिकाले वा ?”—स्या० २० पृ० ४८७ । (९) अतीतकाले । (१०) स्मृतिग्राह्यस्य । (११) प्रत्यक्षकाले प्रत्यक्षग्राह्यस्यापि । (१२) व्याख्या—“युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम् । = प्राग्भाविताद् भिन्नकालं वस्तु कथं ग्राह्यमिति चेत् ? हेतुत्वमेव ज्ञानाकारस्य स्वानुत्पत्त्यस्य अपवर्णनं ग्राह्यता युक्तिज्ञा विदुः । न हि सः दशायोगोलयोरिव ज्ञानपदाययो ग्राह्यग्राहकभावः । कथं तर्हि ? यदाकारमनुकरोति तत् ग्राह्यस्य ग्राहकमित्युच्यते । —प्रमाणवा० मनीरथ० २।२४७ । निम्नग्रन्थेषु समुद्धृतयम्—“हेतुत्वमेव तद्युक्तं ज्ञानम्” न्यायवा० ता० पृ० १५३ । विधिवि० टी० पृ० १९८ । स्फोटसि० टी० पृ० २३३ । हेतुत्वमेव च व्यक्तजानाका सत्त्वद० पृ० ३६ । ज्ञानाकारार्पणक्षमम्—अद्वयवजस० पृ० १७ । प्रमाणमी० पृ० २० । प्रकृतपाठ—न्यायवि० वि० पृ० १३५ B । स्या० २० पृ० ४८७ । प्रमेयर० २।७ ।

१ प्रमाणस्य आ०, थ० । २-वायो वा विशेष-थ० । ३-योगाभावात् व०, थ० । ४ आत्मसमवे-थ० । ५-वायस्यानुप-व० । ६ ‘संविशेषणं’ नारितं व० । ७ स्मृतिभासमा-थ० । ८-सत्यतीतापप्र-आ० । ९-सत्त्व वा ना-थ० । १०-गणनम् थ० ।

अर्थादनुत्पद्यमानत्वञ्च अध्यक्षेऽप्यविशिष्टम्, ज्ञानं प्रति अर्थे कारणत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वात् ।

विसवादिदत्तत्वं स्मृतेरसिद्धम् स्वप्रतिपन्नेऽर्थे अविसवादिदत्तत्वात्तरया । यद्यत्राऽविसवादिदत्तं तत्तत्र प्रमाणम् यथा प्रत्यक्षाद्यर्थे प्रत्यक्षादि, अविसवादिदत्ता च स्वप्रतिपन्नेऽर्थे स्मृतिरिति । अविसवादो हि गृहीतेऽर्थे प्राप्तिः, प्रमाणात्तरवृत्तिर्वा स्यात् । स द्विविधोऽपि स्मृतिप्रतिपन्ने स्वयधृतद्रव्याद्यर्थेऽस्त्येव । यत्र तु विसवादः सा स्मृत्याभासा प्रत्यक्षाद्याभासवत् ।

समारोपाव्यवच्छेदकत्वान्न स्मृतिः प्रमाणम् इत्यप्यममीचीनम्, तद्गृहीतेऽर्थे विपरीतारोपाननुप्रवेशात् तैश्चवच्छेदसमवात् । यत् समारोपाव्यवच्छेदकं तत् प्रमाणम् यथा अनुमानम्, समारोपाव्यवच्छेदिका च स्वप्रतिपन्नेऽर्थे स्मृतिरिति ।

प्रयोजनाप्रसाधकत्वात् स्मृतेरप्रामाण्यम् इत्यप्यसुन्दरम् अनुमानप्रवृत्तिलक्षणस्य तत्साध्यप्रयोजनस्य सद्भावात् । तद्धि साध्यप्रतिबद्धाद्देतो प्रवर्त्तते । साध्यप्रविन्धश्च सत्तामात्रेण तत्प्रवृत्तेरङ्गम्, परिज्ञातं सन्, स्मृतिः कोडीकृतो वा ? प्रथमपक्षे नैलिकेरद्वीपायातस्य अप्रतिपन्नान्निधूमसम्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिरित्यात् । द्वितीयपक्षे तु

(१) तुलना— अर्थानुत्पद्यमानवञ्च स्मरणस्यासिद्धम् स्वविषयभूतादर्षादुत्पद्यमानत्वात् ।  
—स्या० २० पृ० ४८७ । (२) तुलना— प्रमाणमविसवादात् मिथ्या तद्विषययात् । गृहीतग्रहणानो चेन्न प्रयोजनभेदतः । प्रयोजनस्यापि प्रामाण्यमविसवादात् न पुनरर्थानुकारितयाऽतिप्रसगात् । स पुनरनुभूतस्मृतयदि स्यात् प्रामाण्यं लस्यति । सविकल्पेऽनधिगताव्यवसायाभावादयुक्तमिति चेन्न प्रयोजनविशेषात् क्वचित्तादृशाकारभङ्गानां तथैव प्रामाण्याविरोधात् । अथवा कालाविभेदतः अनधिगतायाधिगतपरिणामतः प्रमाणताऽनभ्युपगमात् । साकल्यनान्तितो व्याप्तिरूपं चलिङ्गलिङ्गिनो । अनुमेयस्मृतिरिति न प्रमाणविशेषकत्वं ॥—तिद्धिवि० टी० पृ० १४६ B प्रमाणप० पृ० ९९ । सा च प्रमाणमविसवादकत्वात् प्रयोजकत्वं । —प्रमाणप० पृ० ६९ । प्रमेयक० पृ० ३३७ । तत्पत्तिः टी० पृ० ५५३ । स्या० २० पृ० ४८७ । प्रमेयक० पृ० ३३ । प्रमाणमी० पृ० ३३ । वायवी० पृ० १७ । जनकभा० पृ० ९ । (३) अथत्रियास्यतिरविसवादनम् —प्रमाणवा० १।३ । अविसवादश्च अथादुत्पत्तौ अर्थव्याप्तिश्च । —प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २७३ । स चाविसवादोऽपक्रियालक्षण एव । —तत्त्वस० पृ० ७७८ । अविसवान्विचञ्च अभिमतापक्रियासमर्थाप्रापणान्निधुनं न तु प्रापणमेव प्रतिबध्नादिसम्भवात् । —तत्त्वस० पृ० ७० ३९२ । (४) तुलना तस्याश्च प्रामाण्यं युक्तम् न हि तस्याऽपि परिच्छिद्यं प्रवृत्तमानोऽप्यत्रियाया विसवाद्यते । —तिद्धिवि० टी० पृ० ३४ A प्रमेयक० पृ० ३३७ । स्या० २० पृ० ४८७ । (५) समारोपाव्यवच्छेदकं सम स्मर्यमानतः । स्वाद्य प्रमाणता तेन नवत्रापि निवार्यते ॥ —तत्त्वस० पृ० १८९ । प्रमेयक० पृ० ३३८ । स्या० २० पृ० ४८७ । (६) स्मृतिसाध्यः । (७) अनुमानं हि । (८) साध्याविनाभावान्निधुनं । (९) अविनाभावसम्बन्धः । तुलना— लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धसत्तामात्रशानुमानप्रवृत्तिहेतु तद्गणनात् तस्मिन्नाद्या —प्रमेयक० पृ० ३३८ । साध्यप्रतिबध्नात् हेतोस्तत्तामात्रेण अनुमानप्रवृत्तेरङ्गम् परिज्ञातं वा स्मृतिः कोडीकृतो वा ? —स्या० २० पृ० ४८८ । (१०) अनुमानप्रवृत्तेः । (११) स्मृतिविषयीकृतः । (१२) एतन्नीयवामिनो हि नालिकेरद्वीपमत्वा तज्जलञ्च निरीयं जीवनं पापयन्ति अतस्त्वं पातायमुपयुक्तो अग्निधूमो न दृष्टव्यः ।

बालानस्थाया प्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्य पुनर्वृद्धावस्थाया विस्मृततत्सम्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिप्रसङ्गः । तृतीयपक्षे तु कथं स्मृते प्रामाण्यप्रतिषेधः अनुमानप्रवृत्तोरङ्गत्वात् ? यदनुमानप्रवृत्तोरङ्गं तत्प्रमाणं यथा प्रत्यक्षम्, तथा च स्मरणम्, तस्मात् प्रमाणमिति । तदेव स्मृते कारणस्वरूपविषयभेदात् प्रत्यक्षादिभ्यो भेदप्रसिद्धे, स्वविषयेऽविसर्वादप्रसिद्धेश्च सूक्तम् — ‘अविसर्वादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा’ इति । तथा स्मृतिः प्रमाणम् अविमवादसंज्ञाया हेतुत्वात् । अस्या पर्यायमाह — प्रत्यक्षमर्थस्य ‘स एवायम्, तेन सदृशोऽयम्’ इति वा एकत्वसादृश्याभ्यां पदार्थानां सङ्कलनं प्रत्यक्षमर्थः ।

ननु प्रमाणप्ररूपणायसरे प्रत्यभिज्ञाया प्ररूपणमयुक्तम्, विरुद्धधर्माध्यास्तत् विरुद्धधर्माध्यास्तत् कारणभावाच्च अस्या स्वरूपस्यैवाऽसम्भवात्, विषयभावाच्च प्रामाण्यानुपपत्तेश्च । तथाहि — पूर्वं ज्ञातस्य पुनः कालान्तरे ‘स एवायम्’ इत्यादिज्ञानं प्रत्यभिज्ञा । न चास्या एकत्वं युक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासात्, यत्र विरुद्धधर्माध्यासः न तत्रैक्यम् यथा जलानलादौ, विरुद्धधर्माध्यासश्च प्रत्यभिज्ञायामिति । न चायमसिद्धः स्पष्टेतररूपाक्रान्ततया

(१) अग्निधूमसम्बन्धः । (२) तुलना को हि स्मृतिपूर्वकमनमानमन्युपगम्य पुनस्ता निराकुर्यात् अनुमानस्यापि निराकरणानुपपन्नम् । — प्रमेयक० पृ० ३३८ । स्या० १० पृ० ४८८ । प्रमेयर० पृ० ३२ । प्रमाणमी० पृ० ३४ । स्या० ४० पृ० २०८ । रत्नाकरा० ३१४ । (३) तुलना — पूर्वमनासिपमथ तमिम जानामीति ज्ञानयोः समानेऽथ प्रतिसिद्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । — व्यापभा० ३।२।२ । प्रत्यभिज्ञानं हि नाम जात्यप्रयथानिरोधं द्वितीयदशने प्रागाहितसत्काराभिव्यक्तौ स्मृतिपूर्व तृतीयं दशनम् । — व्यापभा० पृ० ४०० । प्रत्यभिज्ञा नाम स्मयमाणानुभूयमानसामानाधिकरण्यप्राहिणी सत्कारसचिद्वैद्विजया प्रतीतिरिति केचित् । अयं मयन्ते स्मयमाणपूवज्ञानं विनियतायप्राहिवात् तद्विपणस्य चायस्य बाह्यद्रियप्राहृत्यानुपपत्तं स्तम्भानावपि मानसी प्रत्यभिज्ञेति । — व्यापभा० पृ० २२४ । एतन्मतद्वयमभिमतं मञ्जरीकारस्य दृष्टव्यम् — व्यापभा० पृ० ४६१ । प्रत्यभिज्ञा प्रति आभिमुख्येन ज्ञानम् । लोके हि स एवायं चर इति प्रतिसिद्धानेनाभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति व्यवहियते । — सवद० पृ० १९३ । सञ्ज्ञानं सञ्ज्ञा — सर्वायति० १।१३ सञ्ज्ञानं नाम यत्तरेवेन्द्रियरनुभूतमथ प्राक् पुनर्विलोक्य स एवायं यमहमद्राक्ष पूर्वाह्ण इति सञ्ज्ञानमेतत् । — तत्त्वार्थभा० पृ० ११३ । दानस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि । — परीक्षामु० ३।५ । प्रमाणप० पृ० ६९ । प्रमाणमी० १।२।४ । अनुभवस्मृतिहेतुकं त्रियगूढवतासामायादिगोचरं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । — प्रमाणनय० ३।३ । जनतत्त्वा० पृ० ९ । (४) बौद्धः प्राह — अ० टि० । (५) एवायमिति प्रत्यय उत्पद्यमानो न कवे प्रमाणम् एकत्वस्याग्रहणात् दृष्टस्यैव तस्य प्रतिपत्तः । एकत्वं हि पूवणं सह गूह्यमाणमेकतां विवादविषयतां स्वीकरोति । यत् मानतामात्रस्यवत्त्वे सिद्धसाधनमेव । तच्च पूवं पूवप्रत्ययनं गूहीतत्वात्तापरम् । पूवप्रत्ययनं चासौ ऋचदवस्य एव पूवतया च गूह्यते । तत् पुनरपुसं पीयमानं यथाभूतं गूहीतं तयाभूतमेव वाऽनुसंधातव्यम् । गूहीतत्वेन च ग्रहणं स्मरणमेतदिनि गूहीतप्राहित्वाद्प्रमाणमपरस्मरणवत् । सवादिस्त्वयं क्रियाकरणात् । न च नत्वसायायत्रिया वस्तुसामान्यमात्रादुत्पत्तः । तस्मान्न स एवायम् इति

१ यज्ज्ञानमनुमानं ब० । २-यथे वादिस-थ० । ३-वाद्वास्या थ० । ४ पूवज्ञानस्य थ० ।

५-भिज्ञानं नचा-ब० ।

तत्र तत्प्रसिद्धे । तथाहि—‘स’ इत्याकार स्मरणरूपतया प्रत्यभिज्ञायामस्पष्टः, ‘अयम्’ इति चाध्यक्षरूपत्वात् स्पष्टः । न चार्त्रे स्पष्टैरलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेष्यभेदो युक्तः ; प्रत्यक्षा-  
नुमानयोरप्यभेदप्रसक्तेः ।

किञ्च, ‘स एवायम्’ इत्याकारद्वयं किं तत्र परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते, अननु-  
प्रवेशेन वा ? प्रथमपक्षे अन्येतराकारस्यैव प्रतिभासः स्यात्, द्वितीयाकारस्य ततोऽपि वि-  
क्तस्वरूपत्वात्, यद् यतोऽविविक्तरूपं न तत्तनो भेदेन प्रतिभासते यथा तस्यैव स्वरूपम्,  
एकस्मादाकारादिविविक्तरूपञ्च द्वितीयाकारस्वरूपमिति । द्वितीयपक्षे तु परस्परविभिन्न-  
प्रतिभासद्वयप्रसङ्गः, अन्योन्याननुप्रवेशेन आकारद्वयस्यावस्थानात्, ययो अन्योन्याननु-  
प्रवेशेन अवस्थानं तयो परस्परविभिन्नप्रतिभासः येषां रूपरसयोः, अन्योन्याननुप्रवेशेना-  
१० ऽवस्थानञ्च ‘स एवायम्’ इत्याकारद्वयस्य इति । न च ‘प्रतिभासद्वयमेकाधिकरणमेतत्’  
इत्याभिधातव्यम्, परोक्षापरोक्षानारयो प्रतिभासयोरेकाधिकरणत्वा अनुपपत्तेः, अन्यथा सर्वं  
सविदामेकाधिकरणत्वप्रसक्तेः पुरपाद्वैतसिद्धिः स्यात् । ततो विरुद्धधर्माध्यासानैकमिदं  
ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् । अतः कथं प्रत्यभिज्ञानसम्भवः ?

कारणभावाच्च, तथाहि—तत्कारणम् इन्द्रियम्, पूर्वानुभवजनित संस्कारः, तदुभय  
११ चा! न तावदिन्द्रियम्, तस्य चर्त्तमानार्थावभासजनकत्वात् । नापि संस्कारः, तस्य स्मरण-  
कारणत्वात् । नाप्युभयम्, उभयदोषानुपपन्नात् । न च कारणान्तरमुपलभ्यते । तन्न प्रत्य-  
भिज्ञानसम्भवः ।

प्रत्ययद्वयमतः ।—प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ५११ । ‘स’ इत्यनेन पूर्वकालसम्बन्धी स्वभावो विपरीतक्रियते ।  
अयमित्यनेन च वर्त्तमानकालसम्बन्धी । अनयोश्च भेदो न कश्चिदभेदो वर्त्तमानकालभाविर्नैकस्व-  
भावत्वाद्भूतुन । तस्माद् भेद एव प्रत्यभिज्ञानं सति भासते इति कथमनेन साक्षिकत्वानुमानवाधा ?  
यद्वा वस्तुन पूर्वकालसम्बन्धित्वमिदानीमसद्वत्त्वपूर्वकालभावात् । सर्वत्र वास्त्य वर्त्तमानकालसम्बन्धि धत्व-  
मवस्थानं पूर्वकालसम्बन्धि धत्व विरोधादित्युक्तम् । तस्मात्पूर्वकालसम्बन्धि धत्वस्यासतो ग्राह्यं स इति  
ज्ञानाशो भ्रान्तः अन्यथा वस्तुन स्पष्टवालाद्यवस्थाग्राह्यं स्यात्, न च भवति । तस्मात् भ्रान्तान्  
पूर्वदृष्टरूपारण ॥ एवायम्’ इति ज्ञानात् कथमनुमानवाधा ? विस्तारतत्त्वयं प्रत्यभिज्ञाभिज्ञं  
विचारो नैरात्म्यसिद्धौ कृत इति तत्रैवावधाय ।—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ७८ । तथाहि—यद्  
स एवायमिति तावत्प्रत्यभिज्ञा जायते । सा किं स्मृत्यनुभवरूपं ज्ञानद्वयम्, एकमेव वा विज्ञानमशो स्मृतिरशो  
षानुभव उत स्मृतिरेव, आहोस्विदनुभव एव ?—सङ्गच्छत० पृ० १५६ । (६) ‘प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययो  
भान् एव निविपयत्वात् । प्रयागस्त्वं यं प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः स तत्त्वतो नैवाल्म्वनं यथा लूनपुनर्जातं  
तुर्गादिषु, प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययस्यायं तदवयवं नो गदीनि प्रत्यय इति विरुद्धव्याप्तोपपत्त्यः ।’—तत्त्वभा०  
मो० पृ० २९ ।

(१) प्रत्यभिज्ञायाम् । (२) विरुद्धधर्माध्यासप्रसिद्धः । (३) प्रत्यभिज्ञायाम् । (४) प्रत्यभिज्ञा-  
याम् । (५) ‘स’ इत्याकारस्य अयम्’ इत्याकारस्य वा । (६) किन्तु ज्ञानद्वयमेतन्—न इत्याकारस्य  
स्मरणरूपत्वात् इदमर्थस्य च प्रत्यक्षात्मकत्वादिति भावः ।

१—सिद्धे स इत्या—आ०, थ० । २—तरविलक्षण—थ० । ३—यथा स्यान्नुपपत्त्यो व०, थ० ।

४—यमितोऽर्था—थ० । ५—ज्ञानमवस्थाम् थ० ।

अस्तु वा; तथापि न तत् प्रमाणम्, विषयामावात् । तस्य हि विषयः—पूर्वज्ञाने प्रतिभातमेव वस्तु, तदतिरिक्तं वा ? तत्राद्यविरूपे न तत् प्रमाणं गृहीतप्राहित्वात् धारा-  
वाहिज्ञानवत् । द्वितीयविरूपेऽपि किंकृतस्तैस्य अतिरेकः—स्वरूपभेदकृतः, कालद्वयस-  
म्बन्धकृतः, तत्सम्बन्धे ऐक्यप्रतिपत्तिकृतो वा ? यदि स्वरूपभेदकृतः, तदा ज्ञानवत् ज्ञेय-  
स्यापि प्रतिक्षण स्वरूपभेदप्रसिद्धे सौगतमत्तप्रसङ्गः ।

5

अथ कालद्वयसम्बन्धकृतः, तदप्ययुक्तम्, तैत्सम्बन्धस्य अर्थभेदेऽप्युपपद्यमानत्वात् ।  
न हि लूनपुनर्जातनरावैश्वर्यभेदे कालद्वयसम्बन्धोऽसिद्धः । अथ कालद्वयसम्बन्धे देव-  
दत्तस्य ऐक्यं प्रतीयते, अतः पूर्वज्ञाने प्रतिभातस्य वस्तुनः प्रत्यभिज्ञानेन आधिक्यग्रहणान्न  
गृहीतप्राहित्वेन अप्रामाण्यमित्यभिधीयते; तदप्यभिधानमात्रम्; यतः किमिदमैक्यं नाम—  
एकत्वसख्या, स्थायित्वं वा ? यदि एकत्वसख्या, तदास्थाः पूर्वमेव प्रतिपन्नत्वात् कथमा-  
धिक्यपरिच्छेदः प्रत्यभिज्ञायाः ? अथ स्थायित्वम्, तत् किं देवदत्तस्वरूपाद् भिन्नम्,  
अभिन्नं वा ? यद्यभिन्नम्; तदा तैत्स्वरूपवत् सैदपि पूर्वज्ञानेनैव प्रतिपन्नम् । यद्यतोऽभिन्नं  
तस्मिन् प्रतीयमाने तदपि प्रतीयते यथा तस्यैव स्वरूपम्, अभिन्नञ्च प्रत्यभिज्ञाविषय-  
त्वेनाऽभिप्रेतं वस्तुनः स्थायित्वमिति । अथ भिन्नम्; तत् किं पूर्वमप्युत्पन्नम्, अथ  
प्रत्यभिज्ञानसमय एवोत्पद्यते ? यदि पूर्वमप्युत्पन्नम्, तदा पूर्वज्ञानेनैव अर्थं परिच्छेदात्  
कथं प्रत्यभिज्ञानेन आधिक्यपरिच्छेदः ? केनचिदशेन आधिक्यपरिच्छेदाभ्युपगमे वा  
अनेवस्थातो न प्रकृतैतत्त्वसिद्धिः । अथ प्रत्यभिज्ञानसमय एव उत्पद्यते, तर्हि तस्य पूर्व-  
मप्रतिपन्नत्वात् कथं प्रत्यभिज्ञाविषयत्वम् ? पूर्वप्रतिपन्नस्यार्थस्य पुनः कालान्तरे गृह्यमाणस्य  
प्रत्यभिज्ञाविषयत्वाभ्युपगमात् । पूर्वज्ञानाप्रतिपन्नार्थान्तरावबोधकज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञात्वे च  
घटज्ञानानन्तरमाभिभूतपटज्ञानस्यापि तैत्त्वं प्रसङ्गः । तैत्समये स्थायित्वस्य उत्पत्तौ च  
क्षणिकत्वानुपपन्नात् कथं तद्विशिष्टार्थानामक्षणिकत्वं स्यादिति ॥४॥

10

15

20

(१) प्रत्यभिज्ञान । (२) 'निष्पादितक्रिये चार्थे वृत्ते प्रस्मरणादिवत् । न प्रमाणमिदं युक्तं  
करणार्थविहायितम् ॥—यदेव हि प्रमितित्रयासिद्धौ प्रकृष्टमुपकरणं तदेव साधकतमं कारकं प्रमाणमुच्यते ।  
यदि च प्रत्यभिज्ञा पूर्वप्रमाणगृहीतार्थविषया स्यात् तदा निष्पन्नप्रमितिप्रक्रियायै प्रवृत्त्याऽसाधकतमत्वात्  
कथमिव प्रमाणानामनुवृत्तौ ? अन्यथा हि स्मृतेरपि प्रामाण्यं स्यात् ॥—तत्त्वसं० पृ० १५९ । (३)  
विषयस्य । (४) अतीतवर्तमानकालद्वयसम्बन्धस्य । (५) प्रत्यक्षकाल एव । (६) देवदत्तस्वरूपवत् ।  
(७) स्थायित्वमपि । (८) स्थायित्वस्य । (९) स अत्र वस्तुस्वरूपाद् भिन्नोऽभिन्नो वा ? अभेदे  
वस्तुस्वरूपवत् पूर्वमेव प्रतिपत्तिः । भेदे किमसौ पूर्वमेवोत्पन्नः, अथ प्रत्यभिज्ञासमय एवोत्पद्यते ?  
इत्यादिरूपेण ग्रन्थावर्तनरूपाऽनवस्थाः । (१०) प्रत्यभिज्ञाने आधिक्यपरिच्छेदसिद्धिः । (११)  
प्रत्यभिज्ञानत्वप्रसङ्गः । (१२) प्रत्यभिज्ञानसमये । (१३) तत्कालोत्पन्नस्यायित्वविशिष्टार्थानाम् ।  
त्रिकालानुयायिस्थायित्वविशिष्टस्यैव अक्षणिकत्वादिति भावः ।

1—मतप्रवेशे व० । 2—सम्बन्धदेव—व० । 3—यमित्यभिधानमा—व० । 4—भिप्रेतवस्तुन आ०,  
थ० । 5—गमेऽनवस्था—आ०, व० । 6—कृतत्व—आ० । 7—ज्ञानवि—व०, थ० । 8—तिपन्नानन्तरावबोधक  
—आ० । 9—ज्ञानत्वे थ० । 10—तत्प्रसङ्गं थ० ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘विरुद्धधर्माध्यासतः’ इत्यादि । तत्र किं धर्माणां

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं धर्मिणा सह विरोधः, परस्परं वा ? न तावत् धर्मिणा; तत्र तेषां प्रती-  
प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्ययमानत्वात्, यद्यत्र प्रतीयते न तत्तत्र विरुद्धम् यथा चित्रज्ञाने नीला-  
प्राकारप्रसाधनम्—चाकाराः, प्रतीयते च प्रत्यभिज्ञाने ‘स एवायम्’ इत्याकारद्वयम्, तस्मान्न

५ तत्रात्र विरुद्धमिति । यत् पुनर्यत्र विरुद्धं न तत्तत्र कदाचिदप्युलभ्यते, यथा तुरङ्गमोत्तामाद्वे  
शृङ्गम्, उपलभ्यते च प्रत्यभिज्ञाने प्रागुक्तमाकारद्वयमिति । सन्न धर्मिणा सह धर्माणां  
विरोधो युक्तः । परस्परविरोधे तु धर्मिणः क्रियायात् येनास्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदः  
प्राप्येत ? धर्माणां हि परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधसंभवे तेषामेव अन्योन्यं भेदो युक्तः ।

किञ्च, विरुद्धधर्माध्यासतः कारणभूताभ्यां दर्शनस्मरणाकाराभ्यां प्रत्यभिज्ञानस्य  
१० भेदः साध्येत, स्वभावभूताभ्यां वा ? तत्राद्यपक्षे मिद्वैसाधनम् । न खलु ‘कारणस्वरूपमेव  
सर्वथा कार्यस्वरूपम्’ इति स्याद्वादिनो मन्यन्ते । द्वितीयपक्षेऽपि कथञ्चित्तद्भेदः साध्येत,  
सर्वथा वा ? यदि कथञ्चित्; तदा सिद्धसाधनमेव, आकारतद्वतोः कथञ्चिद्भेदाभ्युप-  
गमात् । सर्वथा भेदस्त्यनुपपन्नः; तयोः तत्त्वभावत्वाभावप्रसङ्गात् । यो यत्स्वभावः  
न तस्य तद्वतः सर्वथा भेदः यथा चित्रज्ञानात् नीलाद्याकारस्य, स्वभावश्च प्रत्यभिज्ञानस्य  
१५ ‘स एवायम्’ इत्याकारद्वयमिति । तद्धि प्रत्यक्ष-स्मरणसामग्रीतः समुपजायमानं  
श्रोतृदीक्षुनाऽऽकारद्वयमेवोपजायते चित्रपट्यादिसामग्रीतः चित्राकारैकज्ञानवत्, प्रत्यक्षा-  
दिसामग्रीतो निर्विकल्पेतराकारैकैकविकल्पवद्वा ।

यदप्युक्तम्—‘आकारद्वयं किं परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते’ इत्यादि; तत्र कोऽय-  
मस्य अनुप्रवेशो नाम—परस्परस्वरूपसाङ्ग्यम्, एकरिमन्नाधारे घृतिर्वा ? प्रथमविकल्पोऽ-

(१) पृ० ४११ पं० ८ । (२) धर्मिणि । (३) तुलना—‘तत्र यदि नाम दर्शनस्मरणलक्षण-  
योराकारयोर्विरोधः, तथापि धर्मिणः प्रत्यभिज्ञानस्य क्रियायात् येनास्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदः  
प्राप्येत ।’—स्या० १० पृ० ४९२ । (४) तुलना—‘विरुद्धाभ्यां दर्शनस्मरणाकाराभ्यां कारणभूताभ्यां  
स्वभावभूताभ्यां वा प्रत्यभिज्ञानस्य भेदः साध्येत ?’—स्या० १० पृ० ४९३ । (५) कार्यकारणयो-  
र्भेदस्येष्टत्वात्—आ० टि० । (६) प्रत्यभिज्ञानभेद—आ० टि० । (७) दर्शनस्मरणाकारयो-  
स्वभावयोः । (८) प्रत्यभिज्ञान । (९) आदिपदेन विरुद्धधर्माध्यासतः स्मरणसामग्रीतः  
ज्ञानात् । (१०) एवज्ञानस्वरूपवत्—आ० टि० । तुलना—‘यदि परोक्षपरोक्षपरोक्षपरोक्षमेवेदात्  
परोक्षपरोक्षपरोक्षपरोक्षमिति चेत्, ह्येवमिति चेत्, तदित्यपि विरुद्धो भवेत् । सोऽपि हि परोक्षपरोक्षपरोक्षपरोक्ष-  
विरोधोऽपि विरुद्धपरोक्ष । अयं परोक्षो विरुद्धपरोक्ष इत्यतस्मिन् त्वविरुद्धोऽपि विरुद्धपरोक्ष । तस्माद्विषयभेदादविरोध-  
इति चेत्, नन्विहापि तदेवैवं विज्ञानं तन्मैवेवैव वस्तुन पूर्वदेवतागम्यत्वे परोक्षम्, अपरोक्षपरोक्ष-  
परदोषात्तन्मैवेवैव इति को विरोधः ?’—न्यायवा० ता० पृ० १४० । विरुद्धो हि स्वभावे निर्विकल्प-  
कमपेक्ष्य यत्तद्विरुद्धमिति लोचनमनम् । (११) पृ० ४१२ पं० ४ । (१२) तुलना—‘परस्परस्वरूप-  
माद्वयं परस्परप्राधारे घृतिर्वा ।’—स्या० १० पृ० ४९३ ।

१—प्राप्येत—आ० । २—विदुषः—आ०, य० । ३—स्पर्शं विरोधं—आ० । ४—प्राप्येत य० । ५—तेषां  
कारणं य०, य० । ६—स्वभावो य० । ७—तस्य प्र—आ० । ८—मागनेत्या—आ० । ९—स्पर्शं स्व—आ० ।



नुपपन्न , प्रतीतिविरोधात् । नहि यथोक्तमाकारद्वयमन्योन्यसङ्कीर्णस्वरूप स्वप्नेऽपि प्रतीयते ।  
द्वितीयविकल्पे तु नेहि विशिद्धनिष्ठम्, एकस्मिन् प्रत्यभिज्ञारये ज्ञाने तदाकारद्वयस्य निर्जा  
धप्रतीतो प्रतिभासमानत्वात् । यद्यथा निर्जाधाय प्रतीतो प्रतिभासते तत्तथैवाभ्युपगन्त-  
व्यम् यथा नील नीलतया, प्रतिभासते च तथाविधाय प्रतीतौ आकारद्वयान्वितत्वेनैक  
ज्ञानमिति । न च प्रमाणप्रसिद्धे वस्तुस्वरूपे मिथ्याविकल्पसदृति किञ्चित्त्वं समर्था 5  
सकलशून्यतादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । कथञ्चैववादिन चित्रज्ञानादे सिद्धि १ नीलादि-  
प्रतिभासानां हि परस्परानुप्रवेशे सर्वेषामेकरूपताप्रसङ्गात् कुतश्चित्रता एव नीलाकारज्ञा  
नवत् २ तेषां तदननुप्रवेशे भिन्नैस्ततिनीलादिप्रतिभासानामिव अत्यन्तभेदसिद्धे  
नितरामचित्रता । एकज्ञानाधिकरणतया तेषां प्रत्यक्षत प्रतीते प्रतिपादितदोषानव  
काश प्रत्यभिज्ञानेऽप्यविशिष्ट । तन्न विरुद्धधर्माध्यासत प्रत्यभिज्ञानस्याभावो युक्त । 10

नापि कारणाभावर्य , दर्शन स्मरणलक्षणस्य तत्कारणस्य सद्भावात् । कथं विभिन्न  
विषययो विभिन्नाकारयोश्चानयो तत्कारणतेति चेत् ? तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि  
त्वात् । यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तत्कारणकम् यथा बीजाद्यन्वयव्यति-  
रेकानुविधायी अङ्कुर तत्कारणक , दर्शनस्मरणा-न्वयव्यतिरेकानुविधायिनी च प्रथमिज्ञे  
ति । न सलु बीजादे अङ्कुरकारणताया चित्रपन्थादे चित्रज्ञानकारणताया वा तदन्व 15  
यव्यतिरेकानुविधानादन्यभिध्वन्यनमसि । तन्नास्य कारणाभावादप्यभावो युक्त ।

किञ्च, इदं प्रत्यभिज्ञानं कार्यम्, कार्यञ्च प्रतीयमानं कारणसद्भावमवबोध  
यति, अतः कथमस्य कारणाभावो ज्यायान् ? तथाहि—यत् कार्यं तत् कारणपूर्वकम्  
यथा घटादि, कार्यश्चेदं प्रत्यभिज्ञानमिति ।

यदप्युक्तम्—‘सतोऽपि प्रत्यभिज्ञानस्य न प्रामाण्यम्’ इत्यादि, तदप्यसमीक्षिता 20

(१) दृगनस्मरणरूपम् । (२) दृगनस्मरणरूपमाकारद्वय परस्परमनुप्रवेशानुप्रवेशान  
वा प्रतिभासते इत्यववादिन सीगतस्य । तुलना— कथञ्चव वादिनश्चित्रज्ञानसिद्धि प्रमेयक०  
पृ० ३४२ । स्या० १० पृ० ४९३ । (३) नीलादिप्रतिभासानाम (४) ददत्तस्य नीलज्ञान  
यज्ञदत्तस्य पतिज्ञान इददत्तस्य च रक्तज्ञान यथा परस्परतोऽप्यन्तभिन्नं सत् चित्रकरूपता न प्रति  
पद्यते तथैव । (५) नीलादिप्रतिभासानाम । (६) तुलना— नापि कारणाभावत —स्या० १०  
पृ० ४९४ । यपुनस्त्वं सामग्रीभदान विरुद्धधर्मसमर्थाच्च प्रत्यभिज्ञानज्ञानस्य एकरूपानुपपत्तिरिति,  
तदप्युक्तम् सम्प्रयोगसंस्कारयो सम्भूयसामग्रीत्वात् । न तान्यन सम्प्रयोगसंस्कारयो प्रत्यक्षमयोऽ  
निरपेक्षयो कारणत्वादेवज्ञानकारणतानुपपत्ति यस्मात् अयत्र लिङ्गद्वययोऽन्योन्यनिरपेक्षयो दष्ट  
सम्भूयकारित्वं विगिष्टानुमिति प्रति । तस्मात् प्रथमिज्ञानज्ञानस्य एकत्वेन प्रामाण्यमभवान् । —  
वित्तु० पृ० २१४ । (७) दृगनस्मरणकारणव सकलं प्रथमिज्ञानम् [ परीक्षा ३५ ] इत्य  
भिधानात् । (८) वतमानपर्यायविषय हि दर्शनम् अतीतविवतगोचरञ्च स्मरणम् । (९) इदमाका  
रोलेवि हि दर्शनम् तदाकारोलेवि च स्मरणम् । (१०) पृ० ४१३ पृ० १ ।

1 न किञ्चि व० । 2 सलिलतया थ० । 3-तत्त्वेनैव ज्ञान-आ० थ० । 4-तत्त्वा-आ० थ० ।  
5-चित्रपटादे व०, थ० । 6-काय प्रती-थ० । 7-स्य प्रामा-व० ।

भिधानम्, यतो विषयाभावात्, गृहीतग्राहित्वात्, बाध्यमानत्वाद्वाऽस्य अप्रामाण्यं स्यात् ? न तावद्विषयाभावात्, पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्यैकद्रव्यस्य तद्विषयस्य सद्भावात् । प्रत्यक्षादित् प्रत्यभिज्ञानस्य स्वरूपवैलक्षण्यसमवाच्च विषयवैलक्षण्यमवश्यंभ्युपगन्तव्यम् । यस्य यत् स्वरूपवैलक्षण्यं तस्य ततो विषयवैलक्षण्यमप्यस्ति यथा प्रत्यक्षात्

- ५ स्मरणस्य, अस्ति च स्वरूपवैलक्षण्यं प्रत्यभिज्ञानस्येति । सुप्रसिद्धं हि प्रत्यक्षस्मरणयोस्मृतेतररूपतया अतीतवर्त्तमानविषयपरामर्शरूपतया च स्वरूपवैलक्षण्याद् अतीतवर्त्तमानकालावच्छेदेन विषयवैलक्षण्यम्, एवमत्रापि । प्रत्यक्षस्य हि वर्त्तमानकालावच्छिन्नो विषयः, स्मरणस्य तु अतीतकालावच्छिन्नः, प्रत्यभिज्ञानस्य तु उभयकालावच्छिन्नो द्रव्यविशेषो विषयः । न चाऽशेषार्थानां प्रतिक्षणं क्षणिकत्वात् द्रव्यविशेषोऽप्यसिद्धे प्रागेवं प्रपञ्चतो विहितत्वात् । तत्र विषयाभावात् तदप्रामाण्यम् ।

- नापि गृहीतग्राहित्वात् तद्विषयस्य प्रमाणान्तरेण गृहीतुमशक्यत्वात् । स हि प्रत्यक्षेण गृह्येत, स्मरणेन, प्रमाणांतरेण वा ? न तावत् प्रत्यक्षेण, तस्य वर्त्तमानविवर्त्तमानप्रगोचरधारितया अतीतवर्त्तमानविवर्त्तमानो द्रव्यस्य ग्रहणे सामर्थ्याऽसमभावात् । नापि स्मरणेन, तस्य अतीतपर्यायविषयतया तद्ग्रहणेऽसमर्थत्वात् । नापि प्रमाणांतरेण, उभयविषयवर्त्तितद्रव्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानतोऽन्यप्रमाणस्याऽसमभावात् । तदुभयसंस्कारजनित फलप्राज्ञानमस्तीति चेत् न तस्यैव प्रत्यभिज्ञानत्वात् ।

(१) तुलना- तदप्रामाण्यं हि गृहीतग्राहित्वात् स्मरणान्तरभावित्वात् गन्ताकारधारिवादा बाध्यमानवादा स्यात् ? -प्रमेयक० पृ० ३४३ । (२) प्रत्यभिज्ञानस्य । (३) प्रत्यक्षस्मरणं च प्रत्यक्षमिह तु युगपत्ति विगण-आ० टि० । (४) प्रत्यभिज्ञानेऽपि । (५) पृ० ३५७-३८९ । (६) तुलना- आचारवाङ्मन्यनिषेध पूर्वानुभवजनितसंस्कारस्मरणसहकाराद्विषयः स एवायं स्मृमयोऽस्ति ज्ञानं जयने । तस्य च अर्थावयव्यनिरेकानुविधानात् निविषयवमप्युक्तम् । -प्रग० श्लो० पृ० ३९७ । अतीतकालविगण्यो वनमानवाङ्मन्यविगण्यत्वाच्च एतस्यामवमाने । -प्राप० पृ० ४५९ । प्रतीयेते तावन्तस्माद्विज्ञानात् पूर्वानुवाङ्मन्यविगण्यमेकं वस्तुत्वं तस्यैव विषयो न भवतीति सिद्धिरिदम् । ग्रहणस्मरणं च नर्कं विषयमात्रमन्यते तस्मात्कमेवेति विचारं प्रतीतिनामप्यर्थावयवविषयमात्रमवयवम् । -प्रग० क० पृ० ८० । (७) तुलना- न हि तद्विषयमन्येव द्रव्यं स्मृतिप्रयत्नग्राह्यं यत् तत्र प्रवक्तव्यं प्रत्यभिज्ञानं गृहीतग्राहि मयत् तद्गृहीतानीनवनमानविकननागम्यात् द्रव्यस्य कश्चित् पूर्वविशेषः प्रत्यभिज्ञानस्य तद्विषयस्य नाप्रमाणं । लिंगित्वात्प्रमाणवत्प्रसंगात् तस्यापि सवयवापूर्वावागमिः । -प्रमाणपृ० पृ० ७० । प्रमेयक० पृ० ३४३ । स्मा० पृ० ४९५ । प्रमेयक० पृ० ३३ । प्रमाणपृ० पृ० ३५ । ( ८ ) अतीतवनमानप्राधान्याविशेषग्रहणं । (९) अतीतवनमान । (१०) स्मरणप्रयत्नः । तुलना- प्रत्यक्षस्मरणजनितकल्पनाप्रयत्नानि च न तस्यैव प्रत्यभिज्ञानान्वयान्तराभिरभ्युपगमान् । -प्रग० पृ० पृ० ४९५ । (११) उभयसंस्कारजनितविकल्पस्यैव ।

[ -विषयवर्त्ये-आ० । १-व्यपदेश-पृ० । ३-ज्ञानवर्त्ये ३-व० । १-विषयवर्त्ये-आ० पृ० । ६-विषयवर्त्ये पृ०, -विषयवर्त्ये पृ० । ]

ननु यदि प्रत्यक्षस्मरणयोः द्रव्यमविषयः तर्हि कथं ताभ्यां तत्र तज्जन्येत ? यद् यस्य विषयो न भवति न तत्र ज्ञानमुत्पादयति यथा चक्षु रसे, अविषयश्च एकत्वं प्रत्यक्षस्मरणयोरिति; तदप्यसुन्दरम्; विकल्पोत्पादकाऽविकल्पकाध्यक्षेण अनेकान्तात्, तस्य सामान्यागोचरस्यापि सामान्ये विकल्पोत्पादकत्वप्रतीतेः । 'विकल्पवासनासहायं स्वाविषयेऽपि तत्र तैत्तमुत्पादयति' इत्युत्तरम् अन्यत्रापि तुल्यम्, प्रत्यक्षस्यापि स्मरण- 5 सहायस्य एकत्वे प्रत्यभिज्ञानजनकत्वप्रतीतेः, सहकारिणामचिन्त्यशक्तित्वात् । कथमन्यथा असर्वज्ञज्ञानम् अर्ध्यासविशेषसहायं सर्वज्ञज्ञानं जनयेत् ? एकत्वविषयत्वञ्च प्रत्यक्षस्यापि अक्षणिकत्वसिद्धौ समर्थितम् । अन्यथा निर्यिषयत्वमेव अस्य स्यात्, एकान्तेन अनित्यत्वमप्य कदाचनाप्यप्रतीतेः । केवलं तेन एकत्वं प्रतिनियतयत्तमानपर्या- 10 याधारतया अर्थे प्रतीयते, स्मरणसहायप्रत्यक्षप्रभवप्रत्यभिज्ञानेन तु स्मर्यमाणाऽनुभूयमानपर्यायाधारतयेति विशेषः । अतः कथञ्चिदपूर्वार्थत्वसिद्धेः न गृहीतप्राहित्वमस्य यतोऽप्रामाण्यं स्यात्, अन्यथा अनुमानादेरपि अप्रामाण्यप्रसङ्गः सर्वथाऽपूर्वार्धविषयत्वाऽसंभवात्, तद्विषयस्य देशादिविशिष्टप्रापकदिव्यक्तिविशेषस्य सम्बन्धग्राहिज्ञानविषयात् साध्यसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्य कथञ्चित् पूर्वार्थत्वप्रसिद्धेः ।

वैध्वमानत्वात्तर्ह्यप्रमाण प्रत्यभिज्ञा; इत्यप्युक्तम्; सद्बाधकस्य कस्यचिदप्य- 15 संभवात् । तस्य हि बाधकं प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा स्यात् ? न तावत् प्रत्यक्षम्; तस्य तद्विषये प्रवृत्त्यभावात् । यद् यद्विषये न प्रवर्तते न तत्तस्य बाधकम् यथा रूपज्ञानस्य

(१) द्रव्ये । (२) प्रत्यभिज्ञानम् । (३) सौगतमते हि निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सविकल्पकमुत्पद्यते । निर्विकल्पकं च परमार्थसत्स्वलक्षणजन्यत्वात् वस्तुविषयं सविकल्पकं तु बुद्धिकल्पितसामान्यगोचरत्वादवस्तुविषयकं प्रसिद्धम् । ततो यथा निर्विकल्पकं सामान्यमज्ञानदपि सामान्यविषयं विकल्पमुत्पादयति तथैव अतीतवर्तमानोभयविवर्तवर्तिनमेवत्वमज्ञानत्यपि प्रत्यक्षस्मरणे तद्विषयकं प्रत्यभिज्ञानमुत्पादयतामिति भावः । तुलना—“विकल्पोत्पादकाध्यक्षेणानेकान्तात् ।”—स्या० २० पृ० ४९५ । (४) सामान्ये । (५) निर्विकल्पकम् । (६) विकल्पम् । (७) प्रत्यक्षस्मरणाभ्याम् एकत्वे प्रत्यभिज्ञानसमुत्पादनस्थलेऽपि । (८) अभ्यासविशेषादय सहकारिण—आ० टि० । (९) पृ० ३८१ । (१०) प्रत्यक्षेण । (११) अनुमानविषयस्य—आ० टि० । (१२) पर्वतादिदेशस्थप्रापकस्य—आ० टि० । (१३) तर्क—आ० टि० । तुलना—“सम्बन्धग्राहिज्ञानविषयात् साध्यादिसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्यानुमेयस्य देशकालविशिष्टस्य तद्विषयत्वात् ।”—प्रमाणप० पृ० ७० । प्रमेयकं पृ० ३४३ । (१४) तुलना—“संवादी बाधवैध्व्यनिदधयश्चेत् स विद्यते । सर्वत्र प्रत्यभिज्ञाने प्रत्यक्षादाविवाञ्जसा ॥ प्रत्यक्षबाधकं तावन्न संज्ञानस्य जातुचित् । तदभिन्नगोचरत्वेन परलोकमतेरिव ॥”—तत्त्वार्थस्तो० पृ० १९२ । “बाधक-प्रमाणान्न प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानमिति चायुक्तम्, तद्बाधकस्यासम्भवात् । न हि प्रत्यक्षं तद्बाधकं तस्य तद्विषये प्रवृत्त्यसंभवात्, साधकत्ववद् बाधकत्वविरोधात् ।”—प्रमाणप० पृ० ७० । अष्टसह० पृ० २८० । प्रमेयकं पृ० ३४४ । स्या० २० पृ० ४९६ । प्रमेयर० पृ० ३६ ।

१ न तत्र आ०, अ० । २-कत्वं प्रती-य० । ३-भिज्ञाने तु आ०, य० । ४ इति चायुक्तम् अ० ।

रसज्ञानम्, न प्रवर्त्तते च प्रत्यभिज्ञाविषये प्रत्यक्षमिति । नाप्यनुमानम्; तद्विषये तस्याप्यप्रवृत्तेः, प्रवृत्तौ वा सवादकत्वाच्च तद्वाचकत्वम् । नैतु लूनपुनर्जातनखवेशादौ वाध्यमानं तर्त्तुं प्रतीतमेव अतः कथं तत् प्रमाणमिति चेत् ? यदि नाम तत्रै तर्त्तथा प्रतीतम्, अन्यथै विमायातम् ? अन्यथा शुक्तिशकले रजताभासप्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वोप-

५ लम्भात् सत्परजतेष्यस्यै भ्रान्तत्वप्रसङ्ग । तन्न एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यापह्नवो युक्तः ।

नापि सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्यै, अनुमानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्—येनैव हि पूर्वं धूमसहितोऽग्निर्दृष्टः तस्यैव उच्चारकाल पूर्वधूमसदृशधूमदर्शनात् अग्न्यनुमानोत्पत्तिर्युक्ता, नान्यस्यै अन्यदर्शनात् । न च प्रत्यभिज्ञानमन्तरेण 'तेनेद् सदृशम्' इति प्रतिपत्तिर्घटते, पूर्व-प्रत्यक्षेण उच्चारस्य तदप्रत्यक्षेण च पूर्वस्य धूमादिवस्तुनोऽप्रतिपत्तेः । नै च द्वयाऽप्रति-  
१० पत्तौ द्विष्टं सादृश्यं प्रतिपत्तुं शक्यमतिप्रसङ्गात् । यद् द्विष्ट तद् द्वयप्रतिपत्तावेव प्रतीयते यथा सम्बन्धः, द्विष्टश्च सादृश्यमिति । ततः सिद्धा एकत्वोत्पत्तेरिति सादृश्योत्पत्तेरिति च प्रत्यभिज्ञा प्रमाणम् ।

एतदेवाह—संज्ञा प्रमाण चिन्तायाः 'फलस्य हेतुत्वात्' इति सम्बन्धः । अस्याः पर्यायमाह—तर्कस्य इति । क पुनरयं तर्को नाम इति चेत् ? व्याप्तिज्ञानम् । व्याप्तिर्हि

( १ ) प्रत्यभिज्ञाविषये । ( २ ) अनुमानस्यापि । ( ३ ) तुलना—'न च लूनपुनर्जातनख-  
वेशादिवत् सर्वत्र निविषया प्रत्यभिज्ञा'—प्रमेयक० पृ० ३४२ । स्या० २० पृ० ४९४ । ( ४ )  
स एवायं नखादिरिति एकत्वप्रत्यभिज्ञानम् । ( ५ ) लूनपुनर्जातनखवेशादौ । ( ६ ) स एवायं नख-  
वेशादिरिति प्रत्यभिज्ञानं वाच्यमानम् । ( ७ ) तस्मिन्नेव नखे केचो वा स एवायं नखादिरिति प्रत्यभि-  
ज्ञानं वयं वाच्यमानमिति भावः । ( ८ ) एकत्र वाध्यमानत्वोपलम्भात् सर्वत्र बाध्यमानत्वस्वीकारे ।  
( ९ ) रजताभासप्रत्यक्षस्य । ( १० ) अपह्नवा युक्त इति गतेन सम्बन्धः । ( ११ ) तुलना—'सादृश्य-  
प्रत्यभिज्ञानमेनेनैव विचारितम् । प्रमाणं स्वाचर्मवादादप्रमाणं ततोऽन्यथा ।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९३ ।  
'वयञ्च प्रत्यभिज्ञानविलोपेऽनुमानप्रवृत्तिर्येनैव हि'—प्रमेयक० पृ० ३४३ । 'अनुमानानुत्पत्तिप्र-  
सङ्गात्, येनैव हि पूर्वं धूमोऽगने'—स्या० २० पृ० ४९६ । ( १२ ) प्रतिपत्ता । ( १३ ) प्रतिपत्तु ।  
( १४ ) जनस्य । ( १५ ) घटादिदर्शनात् । ( १६ ) धूमस्य । ( १७ ) उत्तरकालीनधूमप्रत्यक्षेण । ( १८ )  
तुलना—'न च द्वयाप्रतिपत्तौ'—स्या० २० पृ० ४९६ । ( १९ ) 'चिन्ताज्ञानमागामिनो वस्तुन एवं  
निष्पत्तिर्भवति अन्यथा नति, यथैव ज्ञानादित्रयसम्वित्ते तथैव परममुखावाप्तिरन्यथा नैत्येतच्चिन्ताज्ञानं  
मनोज्ञानमेव ।'—तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ७८ । 'सम्बन्धं व्याप्तिनोऽर्थां विनिश्चयं प्रवर्त्तते । येन  
तर्कं स सवादानु प्रमाणं तत्र गम्यते ।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९४ । प्रमाणप० पृ० ७० । 'उपलम्भानुप-  
लम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूढः । इदमस्मिन् सयेव भवत्यस्मिन् तु न भवत्येवेति च ।'—परीक्षामु० ३।११,  
१२ । प्रमाणमी० १।२।५ । 'उपलम्भानुपलम्भमव विहाजीवलिनमाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिद-  
मस्मिन् सयेव भवतीत्याद्यादौ संवेदनमूहापरनामा तर्कं ।'—प्रमाणनय० ३।५ । जैनतर्कभा० पृ०  
१० । 'व्याप्तिज्ञानं तर्कं ।'—न्यायदी० पृ० १९१ । 'अवयव्यतिरेकाभ्यां व्याप्तिज्ञानं दानेनस्मरणाभ्या-  
मगृहीतप्रत्यभिज्ञाननिबन्धनं तर्कं चिन्ता ।'—सूची० अ० पृ० २९ । 'अविज्ञानतत्त्वस्य कारणोप-  
पत्तिरन्तरज्ञानार्थमूढतर्कं ।'—न्यायमु० १।१।४० । 'अविज्ञानतत्त्व सामान्यता ज्ञाने धर्मिणि

१-भिज्ञाने विषये य०,—भिज्ञानविषये य० । २ धूमोऽग्निर्दृष्टं य० । ३ 'यद्' नाम्नि य० ।

साध्यसाधनयोरविनाभावः । तद्ब्राहि ज्ञानं तर्कोऽभिधीयते, तत्र तस्यैव प्रामाण्यात्,  
ज्ञानान्तराणां तद्ग्रहणे सामर्थ्याऽसंभवतः तत्र प्रामाण्यानुपपत्तेः ।

एकपक्षानुबलवारणदर्शनात् तस्मिन् सभावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभासः तदतिरपक्षशैथिल्यापादने  
तद्ब्राह्मकप्रमाणमनुमृष्टं तान् मुखं प्रवर्तयन् तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कं ।”-न्यायमं० पृ० ५८६ ।  
न्यायकलि० पृ० १३ । “एकधर्माभ्युपगमे द्वितीयस्य नियतप्राप्तिरूपं तर्कं”-न्यायली० पृ० ५४ ।  
“व्यापकाभाववत्त्वेन निर्णयति व्याप्यस्याहारायांरोपाधो व्यापकस्याहारायांरोपः स तर्कः । यथा निर्वर्हि-  
त्वारोपाधिर्धूमत्वारोपः । यदि निर्वर्हि स्थानिधूमं स्यादिति ।”-न्यायसूत्रवृ० १।१।४० । “तर्कश्चा-  
पाद्यापादकयोर्व्याप्तिमूलः ।”-महावि० पृ० १३१ । “जैमिनीयास्तु भुवते-युवत्या प्रयोगनिरूप-  
णमूहः ।” स च त्रिविधः मन्त्रसामसंस्कारविषयः । [ शाबरभा० १।१।१ ]-“न्यायमं० पृ० ५०८ ।  
“अदृष्टसम्बन्धात् परोक्षप्रतीतिं तर्कं इति लक्षणम् ।”-प्रमाणवार्तिककाल० पृ० ३०० ।

(१) “सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना”-मी० श्लो० अनु० श्लो० ४ ।  
“नियमरूपं मीमांसका”-न्याय० भा० पृ० ५६ । प्रकरणपं० पृ० ६८ । “व्याप्तिरविनाभाव  
इति”-प्रज्ञ० श्लो० पृ० ५७० । “स्वभावतः साध्येन साधनस्य व्याप्तिरविनाभावः ।”-न्यायसा०  
पृ० ५ । “साहचर्यं तु सम्बन्ध इति नो हृदयङ्गमम् । तस्मिन् सत्येव भवने न विना भवनं ततः ॥  
अयमेवाविनाभावो नियम सहचारिता ।”-न्यायमं० पृ० १२१ । न्यायकलि० पृ० २ । “तस्मात् यो  
वा स वाऽस्तु सम्बन्धः, केवलं यस्यामौ स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेत्तर सम्बन्धीति  
युज्यते ।”-न्यायसा० भा० पृ० १६५ । “स्वाभाविको निरुपाधिरित्यर्थः ।”-ता० पं० पृ० ६९१ ।  
न्यायली० पृ० ५४ । “अनीपाधिक सम्बन्धः”-प्रज्ञ० किर० पृ० २१७ । “अनीपाधिक सम्बन्धो  
व्याप्तिः । यद्वा साध्यसामानाधिकरण्यान्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः ।”-वैशे०  
उप० ३।१।१४ । तत्त्वचि० व्या० । “उपाधिविधूर सम्बन्धः”-सर्वद० पृ० ७ । “साधनस्य च  
साध्येऽर्थे नियतत्वकथनं व्याप्तिकथनम् । यथोक्तम्-“व्याप्तिर्व्यापकस्य तत्र भावः एव व्याप्यस्य  
च तत्रैव भावः” [ प्रमाणवा० स्वबृ० ३।१ ] इति ।”-न्यायविभुटी० पृ० ६४ । “द्विविधा चैव व्याप्तिः  
व्यापकव्याप्यधर्मतया । तत्र व्याप्ये सति व्यापकस्यावश्यम्भावस्तस्य व्याप्तिः, व्याप्यस्य च व्यापक  
एव सति भावो नाम तस्य व्याप्तिः । आभ्या यथाक्रमसम्बन्धव्यतिरेकावुक्ती । व्याप्यसदभावे व्यापकस्य  
सत्त्वनियमस्य अन्वयरूपत्वान् । व्यापकाभावे व्याप्याभावस्य च व्यतिरेकरूपत्वात् ।”-प्रमाणवा०  
मनोरथ० ३।१ । “तस्य पक्षधर्मस्य सती व्याप्तिर्यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते व्याप्यव्यापकधर्मतया  
प्रतीतेः । यदा व्यापकधर्मतया विवक्ष्यते तदा व्यापकस्य गम्यस्य भावः एवेति सम्बन्धः । तत्रेति सप्त-  
म्यर्थप्रधानमेतन्नधारार्थप्रधानम् धर्माणां धर्मन्तरत्वाभावात् । तेनायमर्थः-यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति  
तत्र सर्वत्र व्यापकस्य भावः एवेति व्यापकधर्मो व्याप्तिः । नत्वेवमवधार्यते व्यापकस्यैव तत्र भावः इति,  
हेत्वभावप्रसङ्गात्, अव्यापकस्यापि मूर्तरवादेस्तत्र भावात् । नापि तत्रैवेत्यवधार्यते, प्रयत्नानन्तरियक-  
त्वादेरहेतुत्वापत्तेः । साधारणश्च हेतुः स्यादित्यत्वस्य प्रमेयेष्वेव भावात् । यदा तु व्याप्यधर्मता व्याप्ते-  
विवक्षिता तदा यत्र धर्मिणि व्यापनोऽस्ति तत्रैव व्याप्यस्य भावो नान्यत्र । अत्रापि व्याप्यस्यैव तत्र  
भावः इत्यवधारणम् हेत्वभावप्रसक्तरेव नाश्रितम् अव्याप्यस्यापि तत्र भावात् । नापि व्याप्यस्य तत्र  
भावः एवेत्यवधार्यते; सपक्षोद्देशवृत्तेरहेतुत्वप्राप्तेः, साधारणस्य च हेतुत्वं स्यात् प्रमेयत्वस्य नित्येष्व-  
वश्यम्भावादिति । व्यापकस्य तत्र भावः इत्यनेन चान्वय आक्षिप्तो व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः इत्यनेन  
व्यतिरेक आक्षिप्तः ।”-प्रमाणवा० स्वबृ० टी० ३।१ । हेतुचि० टी० पृ० १८० । प्रमाणमी० पृ० ३८ ।  
“सहक्रमभावानियमोऽविनाभावः”-परीक्षासू० ३।१६ । प्रमाणमी० १।२।१० । (२) व्याप्तिग्रहणे  
तर्कस्यैव । (३) प्रत्यक्षादीनाम् । (४) व्याप्तिग्रहणे ।

ननु व्याप्तिस्वरूपस्यैवाऽसमवात् कथं तत्र तर्क प्रमाणम् ? तथाहि—व्याप्ति

माप्तिस्वरूपस्यैवा-  
समवात्तास्ति तर्कस्य  
प्रामाण्यमिति चार्वा-  
कस्य पूर्वपक्षः — सम्बन्धोऽर्थानाम्, सा च देशतः कालतो वा कैस्यचित् केनचित्-  
स्यात् ? न तावद् देशतः, यतो व्योम्नि धूमः, भूमौ अग्निः, उपरि  
देशे वृष्टिः, अधोदेशे नदीपूरः । नापि कालतः, न हि वृष्टिकाले नदीपूर-  
कृतिकोदयकाले रोहिण्युदयो वाऽस्ति ।

किञ्च, कस्य केनायमविनाभावः—किं सामान्यस्य सामान्येन, किं वा सामान्यस्य  
विशेषैः, उत विशेषाणां विशेषैः ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, नित्यत्वविमुक्त्याभ्यां सकल  
देशकालसम्बन्धितया अग्नित्वधूमत्वयोः सुप्रसिद्धत्वात् । द्वितीयपक्षेऽपि दशकालानव-  
च्छिन्ने विशेषमात्रे सामान्यस्याविनाभावः, तदवच्छिन्ने वा ? यद्यनवच्छिन्ने, तदा सिद्ध-

साधनमेव । अथ देशकालावच्छिन्ने, तदा अनुगमाभावः । नहि महानसत्त्वधूमसामा-

(१) तुलना— किञ्च साध्यसाधनयोः व्याप्तिः किं यत्र यत्र साधनं तत्र तत्र साध्यमिति देश-  
रूपा निरूप्यत किं वा यदा यदा साधनं तदा तदा साध्यमिति कालरूपा युगपदुभयस्वभावा वा ? —  
हेतुबिडं १०४ B (२) साधनस्य साध्यस्य वा । (३) साध्यन साधनन वा । (४) तुलना—  
द्वयव्याप्तिमात्राङ्गीकारे समप्रत्यक्षप्रामाणिकमात्रं धूमानुभावेऽपि सत्यताभिमानाऽभिमानशालिना  
कस्य पृष्ठापथमानोपते, तत्र च दशव्याप्ये स्वप्नशायापि विभावनाभावात् । तथाहि—गगनमण्डलतः  
लावल्मी धूमः पर्वताखवनिर्गम्यसम्बन्धी च धूमध्वज इति न्वद्वयव्याप्तिरिति । —हेतुबिडं १०४ B ।  
(५) उपरि वृष्टौ मघः अधोनदीपूरदगनादित्यनुमानः । (६) तुलना उदयतो नभश्च द्रो जलच द्रो  
दयदगनात् आसीत्पूर्वमस्मिन् दश वृष्टिः उत्तरतः तथाविधवारिपूरविलोकनात् भविष्यति वा वारि-  
वाहवृष्टिः सादृगवारिवाहविभावात् उच्यति रोहिणी कृतिकोऽन्यात्, उच्यति इव सविता अद्यत-  
नादित्योदयदगनात् उदयं मुहूर्त्तात्पूर्व पूर्वाफाल्गुनी उत्तरफाल्गुनीनामुदयोपलब्ध इत्यादि मानानाम-  
नकेषां दशकालोभयभ्यो विप्रवृष्टानां वायव्यकारणपूर्ववत्तत्त्वोत्तरपरहनुविशेषाणां देशकालोभयं क्वापि  
व्याप्यनुपपत्तरेतुवप्राप्तेः । —हेतुबिडं १०४ B (७) तुलना— इतोऽपि अविनाभावसम्बन्ध-  
प्रवृत्तानुपपत्तिः—किं सामान्ययोः सम्बन्धवधारणम् आहो स्वलक्षणयोः सामान्यस्वलक्षणयोर्वा ? —  
तत्त्वोप० १०६५ ८३ । तथाहि—व्याप्तिभवन्ती किं साधनसाध्यव्यक्तयोर्वाभेति उताहो साधनत्वसाध्य-  
त्वजायोर्वा आहोस्वित् साधनवत्साध्यवती, किं वा साधनत्ववत्साध्यत्ववती उत साधनवत्त्वसाध्यव-  
त्वयो इति पक्षपञ्चतयी —हेतुबिडं १०४ A । तथाहि—किं व्यक्तधोरयथा जाल्योस्तद्वर्णोर्वा  
विणययोः । व्याप्तिस्त्वव्यक्तं किं वा साध्यसाधनवत्त्वयोः । सा न व्यक्त्योस्तदानन्त्यात् जायोस्त-  
समवात् । ॥ तद्वतोऽस्मदोपानं चतुर्थोऽपि निरूपणम् । —चित्तु० १०२३३ । (८) पर्वत-महानसादिदगम-  
भतीनवनमानानिवाल्जानपेक्ष्य अग्न्यादिविणयमात्रं । तुलना— यद्यनवच्छिन्नं, तदा सिद्धसाध्यतव-  
दशकालानवच्छिन्नानां बहुपानिविणयानामपि प्रतीतत्वात् । —स्वो० २० १०५५ । (९) तुलना—  
किं चानुमानं प्रमाणमुपेत्योक्तं वस्तुतस्तु न तमानमिमाह—विणय इति । विणयानुगमामात्रं सामान्य-  
गिदमाप्यता । इयान्तिपदुत्पत्त्याश्च च नोऽनुमितिः प्रमा ॥—व्यक्त्योर्वा व्याप्तिः जाल्योवा  
तदानान्विणययोवा धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोर्वा ? नाथ सर्वोपसहारासिद्धः । न द्वितीयः, तयो स्वरूप-  
भेदात् धमिभ्रमः । न तृतीयः उक्तोपानं । न चतुर्थः, औपाधिकवधस्य स्वरूपातिरिक्तस्यापि  
रूपान् । —बहुदा० वा० १०११ । न्यायकुमु० १०६९ टि० ५ ।

१-स्वरूपासम्बन्धः । २-व्याप्तिसम्बन्धः । ३ 'उत विणयानां विणयः' नास्ति व० ।

४ नित्यविमुक्ता-व० । ५-पक्षे देश-आ० ।

न्यस्य पर्वतस्थेन अग्निविशेषेणाऽनुगमोऽस्ति, पर्वतस्थस्य वा महानसस्थेन । नापि विशेष-  
पाणां विशेषैर्नियमः; स हि दृष्टानां दृष्टैः, अदृष्टानामदृष्टैः, दृष्टानां वा अदृष्टैः स्यात् ।  
यदि दृष्टानां दृष्टैः; तदा सिद्धसाधनम्, अपूर्वव्यक्तिदर्शने च अनुमानानुपपत्तिः । अथ  
अदृष्टानामदृष्टैः; तत्रापि सम्बन्धग्रहणाभावादनुगमाभावाच्च कथमनुमानम् ! नापि दृष्टा-  
नामदृष्टैः; पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् ।

5

किञ्च, अविनाभावः सम्बन्धः, स च सम्बन्धिग्रहणपूर्वकः, सम्बन्धिनौ च द्वौ द्वौ  
विशेषौ, अतः कथं सर्वोपसंहारेण व्याप्तिर्गृहीतुं शक्यः ?

किञ्च, अयमविनाभावशब्दः साध्याभावे साधनाभावं वदतीति व्यतिरेकमाश्रयचनः,  
न सम्बन्धवचनः ।

किञ्च, 'अग्न्यभावे धूमो नोपपद्यते' इति धूमानुपपत्तेः अग्न्यभावो विशेषणम् ।  
सः पारमार्थिकः, अपारमार्थिको वा स्यात् । पारमार्थिकत्वे अविद्यमानत्वात् धूमस्य  
न तदाश्रिता व्याप्तिर्गृहीतुं शक्या, नहि अगृह्यमाणे आश्रये<sup>१</sup> तदाश्रितं<sup>२</sup> गृहीतुं शक्यमति-  
प्रसङ्गात् । अपारमार्थिकत्वे तु उपाधेः<sup>३</sup> तदुपहितार्यां धूमानुपपत्तेरपि<sup>४</sup> अपारमार्थिकत्वं  
स्यात्, तथा चाऽनुमानस्यापि<sup>५</sup> अपारमार्थिकत्वमेव आयातम् । अथैवमुच्यते-अग्न्य-  
भावश्चेद् धूमसद्भावस्यानुपपत्तिः, अग्न्यभावस्य धूमाभावेन व्याप्तत्वात्; तदप्यनुप-  
पन्नम्; विद्यमाना गृहीता च व्याप्तिः अनुमानाङ्गम् न प्रसज्यमाना, तस्यैः सत्त्वे-  
नाप्यनिश्चितत्वात् । संभावनाज्ञानं चैतत्<sup>६</sup>, न च तद् वस्तुपरिच्छेदकम् यथा 'भूमिश्चे-  
न्नाभिषिष्यद् अपतिष्यन् पर्वताः' इति ।

10

15

किञ्च, एकस्य कस्यचिदग्नेरभावे धूमो नोपपद्यते, सर्वस्य वा ! न तावदेकस्य;  
अस्याभावेऽपि अग्न्यन्तरे धूमसद्भावस्योपपद्यमानत्वात् । नापि सर्वस्य; उपेक्षितग्रहणस्य  
उपाधिग्रहणमन्तरेणाऽसंभवात् । धूमानुपपत्तेश्च अशेषाग्न्यभाव एवोपाधिः, न चासौ

20

(१) प्रत्यक्षसिद्धे प्रत्यक्षमिदस्य अविनाभावे सिद्धेऽपि न किञ्चित्फलम्, साध्य-साधनयो  
प्रत्यक्षत्वात्, तथा च नानुमानप्राप्ताप्यमिति भावः । (२) अपूर्वव्यक्ती अविनाभावग्रहणाभावात् नानु-  
माप्रवृत्तिः । (३) अप्रत्यक्षेण सह अविनाभावग्रहणासंभवात्, संभवेऽपि अनुगमाभावः । (४) अपि तु  
यौ द्वौ सम्बन्धिनौ महानसीयधूमानी प्रत्यक्षविषयी स्याताम् तयोरेव सम्बन्धो गृहीतः स्यात् न सकलसा-  
ध्यसाधनव्यक्तीनाम् । (५) अग्न्यभावस्येति शेष-आ० टि० । (६) धूमाश्रिता । (७) धूमलक्षणे ।  
(८) व्याप्तिस्वरूपम् । (९) अग्न्यभावरूपविशेषणस्य । (१०) अग्न्यभावविशिष्टाया । (११) संभा-  
व्यमाना । (१२) संभाव्यमानाया व्याप्ते सत्त्वमपि अनिश्चितमेव । (१३) 'अग्न्यभावश्चेत् स्यात्  
धूमसद्भावस्यानुपपत्तिः स्यात्' इत्याकारक पूर्वोक्तं ज्ञानम् । (१४) कस्यचिदेकस्य अग्नेरभावेऽपि  
'अशेषाग्न्यभावविशिष्टो धूमाभावः' इत्याकारकविशिष्टग्रहणस्य अनुपपत्तेरिति भावः । (१५) विशिष्ट-  
आ० टि० । (१६) अशेषाग्न्यभावरूपविशेषणः ।

1-पत्तेः श्र० । २-अथ नास्ति आ० । ३-साधये श्र० । ४-उपाधिः श्र०, व० । ५-हित-  
त्वात् घू-व० । ६-एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । ७-साधकत्वं स्यात् श्र० । ८-पत्तेः श्र० ।

सर्वाग्निष्वगृहीतेषु ग्रहीतुं शक्यते, अभावग्रहणस्य प्रतियोग्याश्रयग्रहणसद्व्यपेक्षत्वात् ।

अपि<sup>१</sup> च कचिदग्न्यैवाभावाभावेऽपि धूमाभावे धूमसद्भावस्य विरोधो दृष्टः, अतो नाग्न्यभावो धूमभावविरोधस्य उपाधिः, किन्तु धूमाभाव एव । अतो न व्याप्ति-  
विचार्यमाणा घटते, तत्कथं तद्ग्राहिणः तर्कस्य तद्व्यभवानुमानस्य वा प्रामाण्यम् ? अस्तु  
या व्याप्तिः; तथापि अविनाभावे सत्यपि<sup>२</sup> न धूमाद् वह्निपैङ्गल्यमनुमीयते वह्नेरेव धूमेन  
अनुमीयमानत्वात् । तथा नियतत्वाविशेषेऽपि धूम एव गमको न तद्वताः इया-  
मत्वादय इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘व्याप्तिस्वरूपस्य’ इत्यादि; तदसमीचनम्;

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं यतः स्वरूपप्रयुक्तस्याऽग्न्यभिचारस्य व्याप्तिव्यतिज्ञानात् कथं तस्याः

१० तर्कस्य पृथक् प्रामाण्य- स्वरूपासंभवः ? स्वरूपं हि साध्यसाधनयोः स्वधर्मकलापकलितम्  
स्ववस्थापनम्— अग्नित्वं धूमत्वञ्च, तद्धि अन्यतो देशकालाकारादेर्व्याधिर्यं प्रकर्षेण

सम्यग्यम् आत्मन्येव योजयति । ‘मंदधीनामेव व्याप्तिं बुध्यस्व बुध्यस्व’ इत्यात्म-  
सम्बन्धित्वेनैव व्याप्तिं व्यवस्थापयत् स्वप्रयुक्तमेव व्याप्तिं बोद्धारं बोधयति ।

यदप्युक्तम्—देशतः कालतो वाऽविनाभावो न संभवति’ इति; तदप्येतेन प्रत्युक्तम्;

१५ तद्वतः तद्वता अविनाभावस्य निर्वाधयोधाधिरूढप्रतिभासत्वात् । अन्यभिचारिणा हि

(१) यस्याभाव क्रियते स प्रतियोगी यथा अशेषाग्न्यभावे कर्तव्ये अशेषाग्निं प्रतियोगी,  
यस्मिन् अभाव क्रियते स आश्रय, यथा त्रिलोके त्रिलोके च अशेषाग्न्यभावे प्रस्तुते कालत्रय त्रिलो-  
कश्च आश्रय । “गृहीत्वा वस्तुसद्भाव स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानस नास्तिताज्ञानं जायतेऽज्ञानपे-  
क्षया”—[ मी० श्लो० अभा० श्लो० २७ ] इत्यभिधानात् । ( २ ) तुलना—“अपि च यत्सद्भाव  
एव यस्य निवृत्ति तेनैव तस्य विरोध, तदिह धूमाभाव एव सति धूमस्य निवृत्तिर्दृश्यत इति धूमाभा-  
वेनैव अस्य विरोधो नत्वग्न्यभावेन । केवलाङ्गाराद्यवस्थायाम् अग्न्यभावाभावेऽपि धूमनिवृत्ते प्रतीय-  
मानत्वात् ।”—स्या० १० पृ० ५०५ । ( ३ ) अङ्गारावस्थापनाग्निमत्रिधूमप्रदेशे अग्न्यभावाभावेऽपि-  
अग्निसद्भावे सत्यपि । ( ४ ) यदि हि अग्न्यभाव धूमाभावस्य उपाधि स्यात् तदा ‘उपाध्यपाये  
उपाधिमतोऽभावात्’ इति न्यायेन अङ्गारावस्थाम्निमत्प्रदेशे अग्न्यभावस्य अभावो विद्यते अतस्तत्र  
धूमाभावस्यापि अभाव प्राप्नोति, न च तत्र धूमाभावस्याभाव धूमसद्भावरूप समस्ति । अत  
नाग्न्यभाव धूमाभावस्य विरोधणम् अपि तु धूमनिवृत्तिरेव । ( ५ ) तत्रगृहीतव्याप्तिवन्तोऽमृत ।  
( ६ ) तथा तेन अविनाभावप्रकारेण सम्बद्धत्वे समानेऽपि । ( ७ ) पृ० ४२० प० १ । ( ८ ) तुलना—  
“अविनाभावस्य साध्याव्याभिचारित्वस्य”—प्रमाणवा० मनोरथ० ३११ । “स्वरूपप्रयुक्तस्याग्न्यभिचारस्य  
व्याप्तिव्यतिज्ञानात्”—स्या० १० पृ० ५०६ । जेतकंमा० पृ० १० । ( ९ ) धूमत्वमग्नित्वञ्च ।  
( १० ) अग्नित्वधूमत्वप्रयुक्तमेव । ( ११ ) पृ० ४२० प० २ । ( १२ ) सामान्यविशेषवतो धूमादे—आ० टि० ।  
( १३ ) सामान्यविशेषवता अग्न्यादिना—आ० टि० । तुलना—“धूमो हि यत्र यत्रेति सामान्येनैव गृह्यते ।  
न पुन पत्रैरेत्येव गृहे वेत्तेवमित्यने ।”—न्यायमं० पृ० १११ । “देवताश्री परिपत्य स्वरूपमात्रेणैव  
धूमादग्न्यादिना महर्वाविनाभावस्य निर्वाधयोधाधिरूढत्वात् ।”—स्या० १० पृ० ५०६ ।



व्याप्ति । न च ऽदेशकालयोरव्यभिचारित्वम्, विवक्षितऽदेशकालयोरभावेऽपि धूमादे-  
रुपलम्भात् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘कस्य केन व्याप्ति’ इति, तत्र यस्य येन अव्यभिचार तस्य  
तेन व्याप्ति, सामान्यविशेषवतश्च धूमादे सामान्यविशेषवताऽग्न्यादिनाऽव्यभिचारात्  
तस्य तेनैव व्याप्ति, अतश्च उक्तदोषानवकाश । गम्य हि व्यापकम्, गमक व्याप्यम् । ८  
न च केवलौ सामान्यविशेषो गम्यगमकरूपतया अनुभूयेते, जात्यन्तररूपस्वैर्धै  
उभयात्मन तैर्द्रूपतयाऽवभासनात् ।

यदप्यभिहितम्—‘अविनाभाव सम्बन्ध, स च सम्बन्धिग्रहणपूर्वक’  
इत्यादि, तदप्यनेनैव प्रत्याख्यातम्, सामान्योपलक्षितविशेषयोर्व्याप्तिं सर्वोपसहारेणैव  
समभात् । नहि तत्र आनन्त्यादिदोषोऽवकाश लभते ।

यद्योच्यते—‘अविनाभावशब्दो व्यतिरेकमात्रवचनो न सम्बन्धवचन,  
तदप्युक्तिमात्रम्, यतोऽविनाभावशब्दो न व्यतिरेकमात्रे पर्यवस्यति घटाद्यभावेऽपि  
तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गात्, किन्तु नियमे । स च नियमो तथोपपत्ति-अन्यथानुपपत्तिप्रकाराभ्या  
व्यवस्थित, अत तावुभावपि अविनाभावशब्देन उच्येते, ‘यत्र यत्र धूम तत्र तत्राग्नि,  
यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति’ इति । ननु ‘यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति’ 15  
इत्येतत् कुतोऽवगम्यते इति चेत् ? अग्न्यभावे धूमस्य नियमेन अप्रतीयमानत्वात्  
तैस्तद्भावनियत एवाऽसौ, अन्यथा यथा धूमाभावेऽपि कश्चिदग्निरुपलभ्यते तथा

(१) तुलना—‘यो यथा नियतो यन सादृशन यथाविध । स तथा तादृगस्यैव तादृशोऽन्यत्र  
बोधक ॥’—याम० मा० पृ० ५७ । (२) पृ० ४२० प० ६ । (३) तुलना— व्याप्यस्य गमकत्वञ्च  
व्यापक गम्यमिष्यत । यो यस्य दशकालाभ्या समो यूनोऽपि वा भवेत् ॥ स व्याप्यो व्यापकस्तस्य  
समो वाऽभ्यधिकोऽपि वा । तेन व्याप्ये गृहीतेऽर्थे व्यापकस्तस्य गृह्यते ॥ न ह्ययथा भवत्यप्या व्याप्य  
व्यापकता तयो ।’—मी० श्लो० अनु० श्लो० ४-६ । (४) सवया सामान्यविशेषाभ्या विलक्षणजा  
तिकस्य कयञ्चिदुभयरूपस्य इत्यय । (५) गम्यगमकरूपतया । (६) पृ० ४२१ प० ६ । (७)  
धूमत्वान्तिविविशिष्टधूमान्नव्यक्तयो । तुलना— सामान्यवत्तोरविनाभावग्रहणाम्युपगमात् । यद्यपि  
अग्निविशेषा धूमविशेषाश्चानन्त्यनावस्थिता तथापि तेष्ववस्थितमग्नित्वं धूमत्वञ्च सामान्यमुपग्राह  
कमस्तीति तदुपग्राहकत्वान्न भूयोदशनवलादग्निधूमयोर्देशादिव्याभिचारेऽप्यव्यभिचारग्रहणम्—‘प्रश०  
व्यो० पृ० ५७० । प्रश० ब० प० २१० । (८) यावान् कश्चिद्भूम स कालातरे दशातरे च  
अग्निज मेव अग्निरजमा कदापि न भवतीत्यव प्रकारेण । तुलना— सर्वोपसहारेव व्याप्ति—‘सकभा०  
मी० पृ० १९ । (९) अननुगमदेशादिव्यभिचारादय । (१०) पृ० ४२१ प० ८ । (११) अभाव  
सामान्य । (१२) तुलना— अविनाभाव एव हि नियम साध्य विना न भवतीति कृत्वा ।’—  
प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ७० । (१३) तुलना— हनोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा ।  
द्विविधोऽयतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ।’—व्याख्याव० श्लो० १७ । पगीसामु० ३।१५ । प्रमाणनय०  
३।२८ । प्रमाणमी० २।१।४ । (१४) अग्निसद्भाव । (१५) धूमस्य अग्निसद्भावनियतत्वाभावे,  
अग्नेर्वा धूमसद्भावनियतत्वे । (१६) सत्तायोगोलकादी ।

अग्न्यभावे धूमोऽपि क्वचिदुपलभ्येत । यस्य येन विना नानुपपत्तिर्न स तेन नियतः यथा धूमाभावेऽप्युपपद्यमानोऽग्निर्न धूमेन नियतः, अग्निना विनाऽनुपपत्तिश्च धूमस्य, तस्मादसौ तन्नियत इति ।

यदप्युक्तम्—‘अग्न्यभावस्य पारमार्थिकत्वे धूमस्याविद्यमानत्वान्न तदाश्रिता व्याप्ति-  
५ ग्रहीतु शक्या’ इति, तदप्यसमीचीनम्; यतो यत्रैव देशे काले वा वास्तवोऽग्न्यभावः तत्रैव धूमस्य अविद्यमानत्वं न सर्वत्रेति कथं तदाश्रिता व्याप्तिः प्रत्येतुमशक्या ?

यदपि—‘एकस्याग्नेरभावे धूमो नोपपद्यते सर्वस्य वा’ इत्याद्युक्तम्; तदप्युक्तम्; येतो व्याप्तिः सर्वाक्षेपेण प्रतीयते ‘यः कश्चिद् धूमः स सर्वोऽग्न्यभावेऽनुपपन्नः’ इति, न पुनः एकैकधर्मसुल्लेखेन ‘पर्वते गृहे अरण्ये वा धूमोऽग्न्यभावेऽनुपपन्नः’ इति । तथा  
१० सत्प्रतिपत्तौ अनन्तेनापि कालेन व्याप्तिप्रतिपादनं स्यात् धर्मिणामानन्त्यात् । अनुमान-  
वैकल्यप्रसङ्गाच्च, अग्निधूमव्यवहाराणां धर्मिणां व्याप्तिग्रहणसाल एव गृहीतत्वात् ।

न च सर्वान्निष्यगृहीतेषु धूमानुपपत्तोर्विशेषणभूतः तदभावो ग्रहीतुमशक्य  
इत्यभिधातव्यम्, यत तदभावः तदन्यदेशादिस्वभावः, भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य,  
तुच्छस्वभावाऽभावस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । स चाग्निराग्निविधिको देशादि. प्रत्य-  
१५ श्रंत एव प्रतीयते । व्यवहार गद्य हि प्रतियोगिग्रहणसव्यपेक्षः न स्वरूपप्रतिपत्तिः,  
कथमन्यथा घटादेरपि प्रतिपत्तिः स्यात् तस्वरूपस्यापि त्रैलोक्यविलक्षणतया त्रैलोक्या-  
प्रतिपत्तावप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ?

यच्च—‘अग्न्यभावाभावेऽपि क्वचिद् धूमाभावे धूमसद्भावस्य विरोधो दृष्टः’ इत्याद्य-  
भिहितम्; तदप्यभिधानमात्रम्; अग्न्यभावे सति धूमसद्भावस्य नियमेन निवर्त्तमानत्वात्  
२० तद्विरोधे<sup>१</sup> स्वाभाव्यस्येव अग्न्यभावस्यापि निमित्तात्पोपपत्तेः । यदै यस्मिन् सति नियमेन  
निवर्त्तते तत्तद्विरोधनिमित्तम् यथा उष्णस्पर्शसद्भावे शीतस्पर्शः, नियमेन निवर्त्तते  
चाग्न्यभावे धूमसद्भावः, तस्माद् धूमविरोधस्यासौ<sup>२</sup> निमित्तमिति । ननु अग्न्यभावे

(१) दृ० ४२१ प० ११ । (२) महाहृदादी । (३) वृमाश्रिता । (४) दृ० ४२१ प० १९ ।  
(५) तुलना—‘तत्र सर्वस्यपि धूमः, यतो धूमानुपपत्तिः सर्वाक्षेपेण प्रतीयते यावान् कश्चिद् धूमः स  
सर्वः सर्वस्याग्नेरभावेऽनुपपन्नः’—स्या० १० पृ० ५०६ । (६) प्रतिनियतधर्मव्यक्तिनिर्देशेन व्याप्ति-  
प्रतीती आनन्त्य बाधकम् तदाह तपेति । (७) अग्न्यभाव—आ० टि० । (८) अग्न्यभाव—आ० टि० ।  
तुलना—‘यतोऽग्न्यभावः तदन्यदेशादिस्वभावः भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य ।’—स्या० १० पृ० ५०७ ।  
(९) तस्माद्विषयित्वस्तुनो वद्वेदन्यदश पर्वतादिस्तद्व्यवहारात्वात् इति—आ० टि० । (१०) महाहृ-  
दादि । (११) अत्र घटाभावः अत्र अग्न्यभावः इति व्यवहारः । (१२) स्वरूपप्रतिपत्तिरपि यदि  
प्रतियोगिग्रहणापक्षा स्यान्तदा । (१३) घटस्वरूपस्यापि । (१४) दृ० ६२२ प० २ । (१५) धूमविरोधे ।  
(१६) धूमाभावस्य । (१७) तुलना—‘तस्मात् यत्सद्भावे यस्य नियमेन निवृत्तिः तेन तद्विरुद्धमेव,  
अग्न्यभावे च सति धूमस्य नियमेन निवर्त्तमानत्वात् धूमाभावेनेव तेनापि तस्य विरोधः । तथाहि  
यस्मिन् सति नियमेन निवर्त्तते’—स्या० १० पृ० ५०७ । (१८) अग्न्यभाव—आ० टि० ।

१-धर्मोक्ते-व० । २-ग्रहीतु शक्य-व० । ३-क्ष एव व० । ४-तद्विरोधित्वभावात्त्येव अग्न्य-  
सभावस्या-य० । ५-वर्त्येव व० ।

तत्काले तद्वाहकाभावश्च तत्कारणाभावात् सिद्ध । व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणम् प्रैत्यक्षानु-  
पलम्भौ । न च प्रथमदर्शनकाले तौ स्त । न च प्राहकाभावात् तदा व्याप्तेरप्यभाव ,  
तदा प्राहकाभावस्य अन्यथासिद्धत्वात्, अन्यथा दूरे रूपदर्शनकाले रसस्याप्यभाव  
स्यादविशेषात् । तदा व्याप्तेरभावे च कथं पश्येत् प्रतिभासेव खपुष्पवत् ?

अथ अन्यव्यतिरेकज्ञानं प्रतिभासेव, ननु अन्यव्यतिरेकाभ्यां सा किं जन्यते,  
ज्ञाप्यते वा ? न तावज्जन्यते, 'तौ हि प्रमाणम्, न च प्रमाणं प्रमेयमुत्पादयति । अथ  
ज्ञाप्यते, तत्रापि किं तत्काले सती सा ज्ञाप्यते, प्रागपि वा ? तत्काले चेत्, न, अन्यव्य-  
त्यतिरेकज्ञानं एव व्याप्ते सत्त्वे कारणाभावान् । अथ प्रागपि सती ज्ञाप्यते, सिद्धं तर्हि  
प्रथमदर्शनकालेऽपि व्याप्ते सत्त्वमिति कथं सा तद्वाहकवर्कश्च अपहूयेत ? प्रतीयमा-

नस्याप्यपहूवे रूपादे तद्वाहकज्ञानस्य वाऽपहव स्यात् । तत् सिद्धं तर्कं प्रमाणम् ।

एतदेवाह—चिन्ता प्रमाणम् अभिनिर्गोचस्य फलस्य हेतुत्वान् । अस्य पर्यायमाह—  
अनुमानादेरिति । किन्नामददमुत्तलक्षणं प्रमाणम् ? इत्याह—श्रुतज्ञानम् इति । कुत एतत् ?  
शेषम् अस्पष्टयत, 'शब्दानुयोजनात्' इत्येतन्मध्ये कृणात् अनेन च संन्ध्यते ।  
तद्यो नाना यत् पूर्वम् अर्थात् अस्पष्टम् तद्यो नाना च यन्त्रेपमस्पष्टं तत् सर्वं श्रुतज्ञानमिति ।

तच्च अनेकप्रमेदम् शब्दयो नानान्वितेतराऽस्पष्टज्ञानव्यक्तिभेदानामानन्त्यादिति ।

ननु व्याप्तिप्रतीत्यर्थं तर्कलक्षणप्रमाणाभ्युपगमोऽनुपपन्न , प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा  
तस्या प्रतीतिमिदं इत्याशङ्क निराकुर्वाह—

अधिकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते ॥ ११ ॥

नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाज्ञसंम् ।

(१) प्रथमं घुमानिर्ज्ञानात् । (२) तत्तस्य । 'तुलना-व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणमुपलम्भानु-  
पलम्भौ न च प्रथमदर्शनकाले तौ स्त ।'—स्या० २० पृ० १०८ । (३) साध्यमाधनमभावविषयकं  
ज्ञानं प्रत्यक्षमा माध्याभावमाधनाभावगोचरस्य ज्ञानमनुपलम्भ । (४) प्रथमदर्शनकाल । (५)  
अप्रयोजकत्वात् । (६) यदि प्राहकाभावाद वस्तुनो भाव स्यात्तान् । (७) रसप्राहकस्य रागम  
प्रकाश्य अभावात् । (८) प्रथमदर्शनसमय । (९) भूयोर्ज्ञानान्तरम् । (१०) उपलम्भा  
नुपलम्भाभ्याम् । (११) व्याप्ति । (१२) अवयव्यतिरेकप्राप्तिर्गो उपलम्भानुपलम्भावेव अथ  
अवयव्यतिरेकप्राप्तेन विविङ्गिणी विषयविषयस्य विषयव्युत्पत्तारान् । (१३, अवयव्यतिरेकज्ञान ।  
(१४) 'अनुमानादसिद्धत्वात्' । (१५) 'प्रमाणम्' । (१६) निर्विकल्पकप्रमाणम् । (१७) अविनाभाव (१८)  
व्याप्तिप्रमाणम् पूर्वमन्वयमाधनाभ्याम् । (१९) तर्कस्यम् । (२०) लिङ्गं साध्यमाधनप्राप्तिनाभाव ।  
विचिन्तयन्ति । न सम्प्रतीयते न सामान्येन ज्ञायते । कथं ? अविनाशधिया निर्विकल्पकप्रमाणम्  
गोप्याभिधानं भावान् किञ्चिदपि न सर्वोपलम्भमेव अनभिज्ञमा वा न अवशीत्यनारब्धव्यतिरेक  
सामान्यं अथवा साधक-प्राप्तिरिति । नायनुमानान् नयवैवागिह्यताम् व्याप्तिप्रमाणपूर्वकज्ञानानुमा  
नाभावात् । अनुमानान्तरमाधनाभ्याम् विविङ्गिणी विषयव्युत्पत्तारान् । प्रथमानुमानान् द्वितीयानुमान

१-भावे तथा यः । २-भावे यः, यः । ३-हस्त-यः यः । ४ अयं भाः ।

५ सम्प्रत्यय यः ।

विवृतिः—नहि' प्रत्यक्षं 'यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावक-  
स्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति इयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्ते-  
रविचारकत्वात् । नाप्यनुमानान्तरम्; सर्वत्राऽविशेषात् । नहि साकल्येन लिङ्गस्य  
लिङ्गिना व्योप्तेरसिद्धौ कश्चित् किञ्चिदनुमानं नाम । "तत्र अप्रत्यक्षम् अनुमानव्य-  
तिरिक्तं प्रमाणम्" [ ] इत्ययुक्तम्; लिङ्गप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वात् । 5

लिङ्गं हि साध्येन साधनस्य अविनाभावोऽभिधीयते, तस्मिन् सत्येव लिङ्गस्य  
लिङ्गत्योपपत्तेः । तस्य प्रतिपत्तिं किं प्रत्यक्षात्, अनुमानतो वा स्यात् ? प्रत्यक्षाच्चेत्,  
किम् अस्मदादिसम्बन्धिन, योगिसम्बन्धिनो वा ? प्रथमपक्षे किं स्वसंवेदनात्, इन्द्रि-  
यजात्, मानसाद्वा ततोऽसौ प्रतीयेत ? न तावत् स्वसंवेदनात्, तस्य स्वरूपमात्रविष-  
यतया घहिरर्थवार्त्तानभिज्ञत्वात् । इन्द्रियमनप्रभवादि प्रत्यक्षात् सविकल्पात्, 10  
निर्विकल्पाद्वा अविनाभाव प्रतीयेत ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्न, सविकल्पकप्रत्यक्षस्य  
सौगतैः प्रामाण्यानभ्युपगमात् । तदभ्युपगमेऽपि न तत्रैतत् समर्थम्, इत्याह—'न प्रत्यक्षम्'  
इत्यादि । प्रत्यक्षसौगतयौगकल्पित मानसेन्द्रियलक्षणम् तत्र 'यावान् कश्चिद् धूमः  
कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति इयतो व्यापारान्  
कर्तुं समर्थम् । कुत एतत् ? सन्निहितविषयबलोत्पत्तेः । सन्निहितं अविमृष्ट- 15  
देशकालो यो विषय अग्निधूमादि साध्यमाधनव्यक्तिलक्षण तस्य बल सामर्थ्यं तेन  
उत्पत्तेः । एतेन निर्विकल्पकमपि न तत् तर्त तत्रै समर्थमिति प्रतिपत्तव्यम् । अत्रैव  
हेत्वन्तरमाह—अविचारकत्वात् इति । न विद्यते विचार 'यावान् कश्चिद् धूमः स  
सर्वोऽनेरेव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति परामर्शो यस्य निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य तस्य भावात्  
तत्त्वात् । चशब्दोऽत्र समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । कथमस्याऽविचारकत्वमिति चेत् ? 20

व्याप्तिनिगम इति चेत् सोऽयं परस्परश्रयदोषः । तत्रानुमानमपि व्याप्तिग्राहकमिति तदग्राहकं प्रमा-  
णान्तरं तर्कतयम आञ्जस पारमार्थिकं न मिथ्याविकल्पात्मकमभ्युपगन्तव्यम्, अयमा अनुमानप्रामा-  
ण्यायोगात् ।"—लघी० ता० पु० ३० ।

(१) तुलना— यदाह नहीदमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थमिति । —प्रमाणवा० स्व० टी०  
१।४१ । 'न हि वस्तुचित् साकल्येन व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्षं वस्तुचितं कदाचिद भवितुमर्हति सन्निहितवि-  
षयबलोत्पत्तरविचारकत्वात् ।'—सिद्धिचि०, टी० पु० १५६। अष्टमं, अष्टसहं पु० ११९। यदाह—  
न हीदमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलेनोत्पत्तेरविचारकत्वात् । —आ० भा० भासती  
पु० ७६६। व्यासवा० ता० पु० १३७। (२) उद्धृतमिदम्—प्रमाणसं० पु० १०१। (३) तुलना—'सन्निकृष्ट-  
विप्रकृष्टयोः साकल्यनदतया नेदतया वा व्यवस्थापयितुकामस्य 'त' परं धरणम् ।'—सिद्धिचि० टी०  
पु० २९३ A (४) अविनाभावे । (५) अविनाभावः । (६) सविकल्पकप्रत्यक्षम् अविनाभावग्रहण । (७)  
प्रत्यक्षम्—आ० टी० । (८) सन्निहितविषयबलोत्पत्तेः—आ० टी० । (९) व्याप्तिग्रहणे—आ० टी० ।

१ इति एतौ ज० वि० । २—नुमान्त—ई० वि० । ३ व्यतिरसि—ज० वि० । ४ प्रतीयेते  
थ० । ५ तत्त्वान्व चशब्दो आ०, व० ।

कस्यचिन् परोक्षत्वात्, अपरस्य दानान्तरवेद्यत्वेन अनवस्थानात्, अन्यस्य क्षणिकत्व-  
चदकिञ्चित्करत्यात् ।

अत्र यौगा ब्रुवते—साध्यसाधनयोरविनाभावः प्रत्यक्षेणैव प्रतीयते । प्रथमप्रत्य-

प्रत्यक्षेणैव अविना- क्षेऽपि अग्निसम्बन्धित्वेनैव धूमस्य प्रतिभासनान् तद्गतो नियमोऽपि

भावस्यावगतिरिति प्रतिभासत एव । न च तर्त्राप्यन्यतोऽपि, अन्यत एव वेति संशयवि-

यौगाना पूर्वपक्ष — पर्ययौ स्तः; 'अग्नेरेव अयम्' इति तत्सम्बन्धित्वेनैव अस्याऽवसायान् ।

इत्थं प्रथमप्रत्यक्षेण व्याप्तौ प्रतिपन्नयाम् अन्वयव्यतिरेकौ भूयोपलभ्यमानौ तस्यैव

ज्ञानस्य दार्ढ्यमुत्पादयतः । भूयोदर्शनावगतान्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रियप्रभयं वा प्रत्यक्षं

व्याप्तिं प्रतिपद्यते । ननु यदि प्रथमप्रत्यक्षेणैव व्याप्तिः प्रतीयते तर्हि किमित्ययमनेन नियत

इत्येवंरूपा तदानीमेव व्याप्तिप्रतीतिर्नोत्पद्यते इति चेत् ? सामर्थ्यभावात् । अनुसन्धानेन

(१) मीमांसकस्य, ऐन्द्रियस्य मानसस्य — आ० टि० । (२) नैयायिकस्य । (३) सौगतमते,

स्वलक्षणस्य—आ० टि० । (४) यथा हि क्षणिकादौ निर्विकल्पक सञ्ज्ञातमपि न तन्निश्चिनोति अत

क्षणिकादौ अकिञ्चित्कर निर्विकल्पक तथैव नीलाद्यशोऽपि । (५) "लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनमाद्य प्रत्य-

क्षम्"—न्यायवा० पृ० ४४ । (६) धूमेऽपि । (७) अयं धूम किमनेज्जात उत अन्यस्मादपि करणान् इति

मत्ताय । (८) धूमोऽयम् अग्निरव्यतिरेकतादयस्मादेव वस्माच्चिन् कारणाज्ज्ञान इति विपर्यय । (९)

अग्निसम्बन्धित्वेनैव । (१०) धूमस्य । (११) "भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिं सामान्यधर्मयो । शायते

भेदज्ञानेन क्वचिन्वापि विरोपयो ॥"—मी० श्लो० अनु० श्लो० १२ । "न ह्यन्यथानुपपत्तिं प्रत्यक्षम-

मधिगम्या । कार्याव्यभिचारसमधिगम्या हि सा । अव्यभिचारश्च असकृद्दर्शनपूर्वकः ।"—बृहती० पृ०

१११ । बृह० पं० पृ० ९६ । प्रक० पं० पृ० ७० । न्याय० भा० पृ० ७२ । 'भूयोदर्शनवलादग्निधूम-

योर्दत्तादिव्यभिचारोऽन्यव्यभिचारग्रहणम्"—प्रश्न० श्लो० पृ० ५७० । "तस्मादविज्ञानमणिभेदेनस्त्वन्

भूयोदर्शनजनितमस्कारसहितमिन्द्रियमेव धूमादीनां बह्वपादिभिः स्वाभाविकसम्बन्धग्राहीति युक्तमुत्प-

त्स्यम् । एवं मानान्तरविदितसम्बन्धिषु मानान्तराण्येव यथास्वं भूयोदर्शनसहाय्यानि स्वाभाविकसम्ब-

न्धग्रहणे प्रमाणानुपप्रेतव्यानि ।"—न्यायवा० ता० पृ० १६७ । ता० पृ० पृ० ६९७ । 'तदनेन अन्वय-

व्यतिरेकादेव भूयोदर्शनसहचारिणी तद्ग्रहणोपाय इति दर्शितम् । भूयोदर्शनं हि तज्ज्ञानजनितसंस्कार-

सहितमिन्द्रियमप्युत्पन्ने । मणिभेदेनस्त्वन्वाच स्फुटमुदाहरणम् । तथाहि—मणियैर्वैविध्यैस्तत्प्रवहार-

विषयो भवति धारयितुं तत्तत्फलसम्पादकचोद्योयते ते मूलमविज्ञेया परीक्षकेण भूयोभिरेव दर्शनैर-

प्रीयन्ते तथात्रापि । प्रथमं हि कान्तान्मयव्युदामाद्य ततः सातत्योर्ध्वगमनविशेषनिश्चयाय तत्तद्वचो-

पाधिनिरासाय ।"—प्रश्न० किर० पृ० २९५ । "सहभावदर्शनैजस्वरसहचारिणा निरस्तप्रतिपक्षशङ्केन

चरमप्रत्यक्षेण धूमसामान्यस्य अग्निमामान्येन स्वभावमात्राधीनं सहभाव निश्चित्य इदमनेन नियममिति

नियमं निश्चिनोति । यद्यपि प्रथमदर्शनेऽपि सहभावो गृहीतः तथापि न नियमग्रहणम् । न हि सहभाव-

मात्राश्रयम् अपि तु निरुपाधिकसहभावान् । निरुपाधिकत्वञ्च तस्य भूयोदर्शनाभ्यामावर्तयमित्येतेन

भूप महभावग्रहणशक्त्या नविकल्पकप्रत्यक्षेण सौम्यवनीयते ।"—प्रश्न० बन्ध० पृ० २०९ । "व्यभि-

चाग्ज्ञानविरहमहत्त्वं सहचारदर्शनं व्याप्तिग्राहकम् । ज्ञानं निश्चयः, र्क्षा च । सा च क्वाचिदुपाधि-

मन्देशान्, क्वचिद्विज्ञेयादर्शनमहितसाधारणपर्यदर्शनान् । तद्विरहश्च क्वचिद्विज्ञेयापचयनवन् क्वचिन्

स्वतः मिष्ट एव ।"—तत्त्ववि० अनु० पृ० २१० ।

हि व्याप्तिरुल्लिख्यते । अनुसन्धानञ्च सकृदेवेन सहितस्यैव ग्रहणे अनु पश्चाद् अपरेण सहितस्यैव ग्रहणम् । एतच्च भूयोदर्शनाऽदर्शनैरेव उत्पद्यते । अन्वयव्यतिरेकौ च प्रयोजकसन्देहव्युदासार्थौ युक्तवेव । अनेकसहचारिदर्शने हि प्रयोजके सन्देह — 'किं धूमत्वप्रयुक्तोऽयं नियमः, किं वा तार्णत्वश्यामत्वादिप्रयुक्तः ?' इति । तत्र तार्णत्वादयः सम्बन्धिनो व्यभिचारिणः, श्यामत्वादयस्तु धूमापेक्षाः, इति धूमस्य अग्निसम्बन्धित्वे धूमत्वमेव प्रयोजकम् । तस्मिन् सति न कदाचिदग्नित्वं व्यभिचरतीति भूयोदृष्टान्नय-व्यतिरेकवतो निस्फारिताक्षर्यं अनुपरतेन्द्रियव्यापारस्य अपरोक्षाकारतया उपनायमा नत्वा न विशिष्टदण्ड्यादिप्रत्ययवत् प्रत्यक्षमेवेदं व्याप्तिज्ञानमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'प्रत्यक्षेणैव अविनाशाय प्रतीयते' इत्यादि,

तत्र किम् ऐन्द्रियम्, मानसं वा प्रत्यक्षं तद्ग्रहणे प्रवर्तते ? न तावद् 10  
ऐन्द्रियम्, तद्धि येनार्थेन प्रतिनियतदेशकालादिना इन्द्रियं सम्बध्यते  
तमेव अवभासयति न तु व्याप्तिम्, तस्याः सकलदेशकालकला-  
परिगतार्थाक्षेपेण अयस्थितत्वात् । सौ हि गृह्यमाणो त्रैलोक्योदरव-  
र्त्तिनाम् अतीतानागतवर्त्तमानाऽशेषार्थानामुपसहारेण गृह्यते । यतो व्यापनं व्याप्तिः,  
सर्वासा व्याप्यव्यक्तीनां व्यापकव्यक्तीनाञ्च व्याप्यरूपतया व्यापकरूपतया च त्रौढी- 15  
करणम् । न च तत्र इन्द्रियस्य सम्बन्धो ग्रहणसामाख्यं वा सम्भवति, वर्त्तमाने नियत-  
प्यार्थे तत्सम्भवात् । न च त्रिशोडशवर्त्तिन्यो व्यक्तयः सर्वाः तेन सम्बद्धा वर्त्तमाना वा,  
तत्तद्वत् प्रत्यक्षतस्तत्र व्याप्तिप्रतिपत्तिः ?

किञ्च, प्रत्यक्षमात्रम्, भूयोदर्शनसहायम्, अन्वयव्यतिरेकसहकृतं वा प्रत्यक्षं  
व्याप्तिग्रहणे प्रभवेत् ? न तावत् प्रत्यक्षमात्रम्, भूयस्वनवर्द्धितोत्थितमात्रस्य प्रथमाऽग्निधू- 20  
मव्यक्तिदर्शनेऽपि व्याप्तिप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ।

यदुक्तम्—'प्रथमप्रत्यक्षेऽपि अग्निसम्बन्धित्वेनैव धूमस्य प्रतिभासनात् तद्ग्रतो निय-  
मोऽपि प्रतिभासते' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, यत् पुरोदृश्यमाने नियताग्नि-

(१) महान्साग्निना—आ० टि० । (२) धूमस्य । (३) चत्वराम्निना । (४) अनुसन्धानम् । (५) अवयव—आ० टि० । (६) व्यतिरेक—आ० टि० । (७) तूष्णीमिति तद्वदपि भावात् । (८) ५०४२८ ५०३ । (९) तुलना— तत्र किमौ द्वयं मानसं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्रहणं प्रवर्तते ?—स्या० २० ५१० । (१०) तुलना— न तावत्प्रत्यक्षम्, तत्रिहितदेशवतमानकालवस्तुविषयनियमात् । यत् हि प्रमाणं सर्व-देशेषु च धूमादीनामग्न्यादिसम्बन्धोऽवगम्यते तेन तेषां सम्बन्धनियमोऽवगम्यते । न च प्रत्यक्षं तत्र समयम् । —प्रक० ५० ५० ६८ । अष्टसह० ५० ४३ । प्रमेयक० ५० ३४६ । स्या० २० ५० ५१० । चित्तु० ५० २३८ । (११) सर्वोपसहारेण । (१२) व्याप्तिः । (१३) सर्वव्याप्यव्यापकव्यक्तिपु । (१४) सम्बन्धग्रहणसामाख्यो सम्भवात् । (१५) इन्द्रियण । (१६) विश्ववर्त्तितु व्याप्यव्यापकव्यक्तिपु । (१७) भूमिगृह—आ० टि० । (१८) ५०४२८ ५०३ । (१९) समशीमूले महानसादौ ।

सम्बन्धित्वेन धूमस्तत्र प्रतिभासेत, अनियताखिलाग्निसम्बन्धित्वेन वा ? प्रथमपक्षे कथं प्रथमदर्शने व्याप्तिप्रतिपत्तिः ? प्रतिनियतव्यक्तौ व्याप्तेरेवाऽसम्भवान्, तस्यो सर्वाक्षेपेण पर्यवसानात् । द्वितीयपक्षे तु आस्ता प्रथमप्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षज्ञतैरपि न व्याप्तिः प्रत्येतु शक्या, तेषां सम्बद्धवर्तमानार्थगोचरचारितया 'यावान् कश्चिद् धूम स सर्वोऽ  
 ५ ग्नौ एव' इति सर्वाक्षेपेण अविनाभावप्रतिपत्तावसमर्थत्वात् ।

एतेन 'भूयोदर्शनसहायमाद्यप्रत्यक्ष व्याप्तिं प्रतिपद्यते' इत्ययमपि पक्षे प्रत्युक्त ।

नाप्यन्यव्यतिरेकसहकृत तैत्त ता प्रतिपत्तु समर्थम्, यत् तत्सहकृतस्याप्यस्य यत्रैव सस्य प्रवृत्ति तत्रैव तैत्तप्रतिपत्तिर्घटते न पुन 'यत्र यत्र धूम तत्र तत्र अग्निः, यत्र अग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इति सर्वाक्षेपेण, तत्र च व्याप्तिप्रतिपत्तौ वैयर्थ्यम् ।

१० अनुमानार्थं हि सां इष्यते, प्रत्यक्षेण च प्रतिपत्ते साध्यसाधनव्यक्तिविशेषे किमनुमानेन ? अन्यव्यतिरेकसहकृतत्वञ्चास्य स्वविषयातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्ति, स्वविषये प्रवर्त्तमानस्य अतिशयाधान वा ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोध, स्वार्थातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्तिलक्षणसहकारित्यस्य कचिदप्यप्रतीते । न खलु प्रदीपसहकृत चक्षु रसादौ प्रवर्त्तमान प्रतीयते । स्वविषये प्रवर्त्तमानस्यातिशयाधानञ्च अध्यक्षस्य व्याप्तिविषयत्वे  
 १५ सिद्धे सिद्धेन । तच्च असिद्धम्, सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयत्वात्तस्य । न च तैत्तसहकृत स्यापीन्द्रियनाप्यक्षस्य कश्चनोत्कर्षो जायते, येन स्वविषयातिक्रमेणाप्यर्थान् गृहीयात् ।

एतेन 'भूयोदर्शनाद्यगताऽन्यव्यतिरेकसहकृतेन्द्रियप्रभञ्च प्रत्यक्ष व्याप्तिं प्रतिपद्यते' इति प्रत्युक्तम् । किञ्च, 'इन्द्रियविषये विद्यमानत्वान् तैत्तप्रभवप्रत्यक्षेण व्याप्तिं प्रतीयते स्वविषयत्वाद्वा ? न तावद् विद्यमानत्वान्, रसादेरपि चाप्युपत्वानुपह्वान्, व्याप्तिषद् धूमादौ  
 २० तैत्तस्वस्याप्यतिशेषान् । नापि स्वविषयत्वान्, तस्या तैत्तविषयत्वानुपपत्ते । अनियत-विषया हि व्याप्तिः, [ ता ] कथं नियतविषयमिन्द्रियप्रभव प्रत्यक्ष प्रतिपद्यते ?

(१) तुलना- यत् पुराणद्वयमानाग्निसम्बन्धित्वेन धूम प्रथमप्रयोग प्रतिभासेत सक्तानि गन्धचित्तवत् वा ? -स्या० १० पृ० ५१० । (२) व्याप्ति । (३) प्रत्यक्षानाम् । (४) सत्यञ्च भवति अविनाभावस्तु कश्चिदपि न भवतीत्यप्याह्वयम् । (५) पृ० ४२८ पृ० ७ । (६) प्रत्यक्षम् । (७) महत्तम अवयव्यतिरेकमहत्तमस्यापि प्रत्यक्षम् । (८) व्याप्ति । (९) प्रत्यक्षविषयीभूत धूमानिध्वानिवापः । (१०) व्याप्तिप्रतिपत्ति । (११) तुलना- अवयव्यतिरेकमहत्तमं हि प्रत्यक्षस्य स्वविषयानिप्रभव अर्थान्तरे प्रवृत्ति स्वविषय प्रवर्त्तमानस्य अवयव्यतिरेकमाध्यामनि गतायानं वा ? -स्या० १० पृ० ५११ । (१२) अध्यक्षस्य व्याप्तिविषयत्वम् । (१३) अवयव्यतिरेकमहत्तमम् । (१४) पृ० ४२८ पृ० ८ । (१५) तुलना- किञ्च इन्द्रियविषय विद्यमानवान् तत्रप्रभवप्रत्यक्षान् व्याप्तिं प्रतीयन् स्वविषयत्वाद्वा ? -स्या० १० पृ० ५११ । (१६) इन्द्रियप्रभव । (१७) यथा धूमानिध्वानि व्याप्तिरस्ति एवमाग्नौ रमानिध्वानि-स्या० ६० । (१८) व्याप्ति । (१९) प्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्ति । (२०) तुलना- अनियतविषया हि व्याप्तिरिति कथं नियत विषय इत्यत्रप्रभवप्रत्यक्षानां प्रतिपत्ति -स्या० १० पृ० ५११ ।

यदप्यभिहितम्<sup>१</sup>—‘अनुसन्धानेन हि व्याप्तिरल्लिख्यते, तच्च भूयोदर्शनादर्जनैरेव उत्पद्यते’ इत्यादि, तदुपपन्नमेव, उपलब्धमानुपलम्भप्रभवस्यैव ज्ञानस्य अस्माभिर्व्याप्तिप्रतिपत्तौ सामर्थ्यस्य समर्थयितुमुपपन्नतत्वात् । प्रत्यक्षरूपता तु तस्य अनुपपन्ना, विभिन्नसामग्रीविषयत्वात् । तद्वि इन्द्रियादिसामग्रीक सम्बद्धवर्तमानार्थविषयश्च प्रसिद्धम्, नचेद<sup>२</sup> तथा इति कथं प्रत्यक्षरूपता प्रतिपद्येत ?

ननु सामान्यस्य व्याप्तिप्रतिपत्तौ प्रयोजकत्वात्, तस्य च इन्द्रियेण सम्बद्धत्वात् वर्तमानत्वाच्च कथं न व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्षम् ? इत्यप्यविचारितरमणीयम्, यत् किं सामान्यस्य सामान्येन व्याप्ति, उत तदुपलक्षितविशेषाणां तदुपलक्षितविशेषै ? तत्र आद्यपक्षे न किञ्चिद् व्याप्तिप्रतिपत्तिप्रयोजनम् सामान्ये मिदं साधनतोऽनुमानवैफल्यप्रसङ्गात् । तदुपलक्षितविशेषाणां तु आनन्त्यात् कथं सम्बद्धवर्तमानता यतो व्याप्तिज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यात् ?

एतेन ‘भूयोदृष्टान्वय’ इत्यादि<sup>३</sup> प्रत्युक्तम्, विशिष्टवृण्ड्यादिप्रत्ययस्य हि सम्बद्धवर्तमानार्थगोचरचारितया प्रत्यक्षता युक्ता, न तु व्याप्तिज्ञानस्य तद्विपर्ययात् इत्यसकृदावेदितम् । अथ अस्य अप्रत्यक्षत्वे कथम् ‘इन्द्रियापेक्षा’ इत्युच्यते ? ‘तत्कारणकारणत्वात्’ इति धूमः । व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणं प्रत्यक्षानुपलम्भौ तयोश्च इन्द्रियमिति । तत्र इन्द्रियप्रभव प्रत्यक्ष व्याप्तिप्रतिपत्तौ समर्थम् ।

नापि मैनसम्, मैनसो बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य बहिरर्थे प्रवृत्त्यभावात् । ‘अस्वतन्त्र

(१) पृ० ४२८ प० १० । (२) अनुसन्धानम् । (३) तर्कालस्य—आ० टि० । (४) जनै । (५) उपलब्धमानुपलम्भजस्य तत्त्वस्य । (६) प्रत्यक्षम् । (७) तर्करूपं ज्ञानम् । (८) धूमत्वस्य अग्नित्वस्य च । (९) सयुक्तसमवायसम्बन्धसदभावात् चक्षुःस्युक्ते अग्नौ धूमे च अग्नित्वस्य धूमत्वस्य च समवायात् । (१०) सामान्योपलक्षितम् । (११) अग्निधूमसामवाययो महानसादावेव प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । (१२) विद्यापस्यैव साधनीयत्वात्—आ० टि० । (१३) पृ० ४२९ प० ६ । (१४) सकल साध्यसाधनव्यक्तिविषयतया सम्बद्धवर्तमानाद्यगोचरत्वाभावात् । (१५) व्याप्तिज्ञानस्य—आ० टि० । (१६) तत्र केचिदाचक्षते मानसं प्रत्यक्षं प्रतिवक्ष्यामीति । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामनलसहचरितमनसोऽप्येव व्यावर्तमानं धूममुपलभ्य विभावसी नियतो धूम इति मनसा प्रतिपद्यते । मनस्यैव सर्वविषयकेन वा नाभ्युपेयते असतिहितमप्ययमवधारयितुं क्षमम् । भावाभावसाहचर्यमवधारय मनसा नियमज्ञानसिद्धिरित्यलं निबन्धनम् । —याय० पृ० १२१, १२३ । तस्य ग्रहणं प्रत्यक्षानुपलम्भसहायमा मनसत् प्रत्यभात । धूममग्निसहचरितमिन्द्रियणोपलम्भान्तराच्च जलादव्यवित्तमानमनुपलम्भेन ज्ञात्वा मनसा निश्चिनोति धूमोऽग्निना अभिचरतीति । —न्यायकालि० पृ० ३ । (१७) तुलना— प्रत्यक्षमानम् यथा सम्बन्धं लिङ्गलिङ्गिनो । व्याख्या जानाति तेष्वर्थोऽनीन्द्रियं किमु नुवर्ते । यत्राक्षाणि प्रवर्तन्ते मानम् तत्र वर्तते । नोऽयत्राक्षादिवधुयप्रसंगात् सवदहिनाम् ॥ —तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७९ । न चातीतानागताना व्यक्तीना मनसा सङ्कलनमिति ‘याम्यम्’ मनसो बहिरर्थे स्वातन्त्र्यं अचर्वाधिराद्यभावप्रसङ्गात् । —प्रश० क० पृ० २१० । मनस्येह विषयकारणान्तरनिरपेक्षं प्रवर्तते तदा सव सर्वदर्शी स्यादविनापातः । —प्रक० पृ० ६९ । बृह० पृ० ९५ । याय० मा० पृ० ५८ । प्रमेयक० पृ० ३५१ । स्या० २० पृ० ५११ ।



- वैहिर्मन " [ ] इत्यभिधानात् । व्याप्तिश्च वहिरर्थधर्मत्वाद् वहिरर्थ, यो वहिरर्थधर्म स वहिरर्थ यथा रूपाणि, वहिरर्थधर्मश्च व्याप्तिरिति । भवत्कल्पितस्य मनस पट्पदार्थपरीक्षाया प्रतिषेधतोऽसत्त्वाच्च कथं तद्वै<sup>१</sup> प्रत्यक्षता प्रतीयात् । सत्त्वे वा न अणुस्वभावस्यास्यै अशेषार्थे सकृन् सम्बन्धसम्भवः, यदणुस्वभाव न तत् सकृदशेषार्थे
- ५ सम्बन्ध्यते यथा परमाणु, अणुस्वभावश्च भवत्कल्पितमन इति । अथ माक्षात् मनसोऽशेषार्थे सम्बन्धाभावेऽपि परम्परयाऽसौ<sup>२</sup> भविष्यति, तथाहि—मनसा साक्षात् मयुज्यते आत्मा तेन च सयुक्ता सर्वेऽग्न्यादयो धूमादयश्च साध्यसाधनव्यक्तियिशोपा इति, तदप्यपेशलम्, यैव सर्वस्य सर्वज्ञताप्रसङ्गान्, साध्यसाधनव्यक्तिरित् सर्वार्थानां मनसा सैम्बद्धस्य ( सैम्बन्धसम्बन्धस ) भवात् ।
- १० किञ्च, असौ सैम्बन्धसम्बन्धोऽपि मनस सद्विरेष अर्थे स्यात् नाऽसिद्धिः, तत्कथं तत्र व्याप्तिप्रतिपत्तिः ? न चात्मनो व्यापित्वं सिद्धम्, तस्यै पट्पदार्थपरीक्षाया प्रपञ्चत प्रतिषेधात्, तत्कथं सैम्बन्धसम्बन्धघोऽपि स्यात् ? अतो दृष्टान्त एव साध्यसाधनयो भवता व्याप्ति प्रतिपत्तव्या, तथा च अनुमानानुत्थान साध्यधर्मिणि साध्यधर्मेण हेतोर्व्याप्त्यनिश्चयात् । तन्न सोगतमते यौगमते वा ऐन्द्रिय मानस वा प्रत्यक्ष व्याप्ति
- १५ प्रतिपत्तेरङ्गमिति स्थितम् ।

एतेन योगिप्रत्यक्षस्यापि अविनाभावप्रतिपत्त्यङ्गत्वं प्रत्याख्यातम्, तस्याप्यविचार कतया कारणभूतप्रतिनियतसन्निहितार्थगोचरचारितया चैतावन्तो व्यापारान् कर्तुम् समर्थत्वाविशेषात् । अस्तु वा तत् सत्यप्रतिपत्तिः, तथापि—योगी<sup>१६</sup> प्रत्यक्षतो व्याप्तिं

(१) तुलना— परतत्र वैहिर्मन । विधिवि० पू० ११४ । लौकिकपा० सू० पू० ८२ । उद्धतमिन्द्र—स्था० २० पू० ५११ । (२) योगपरिकल्पितस्य । (३) पू० २६९ । (४) मनोभव ज्ञानम् । (५) मनस । (६) सम्बन्ध । (७) आत्मव्यापकत्वप्रयत्नसयुक्तमयोगवशात् अशेषधूमाम्नि व्यक्तीनां मनसा सम्बन्धकपन । (८) परम्परसम्बन्ध मनसयुक्त आत्मा तेन च सयुक्ता सर्वज्ञा इति । (९) तुलना— किञ्चासौ सम्बद्धसम्बन्धोऽपि सदभिरैवार्थे नासदभिरतीतानागत तत्कथं तत्र व्याप्तिप्रतिपत्तिः ? — स्था० २० पू० ५१२ । (१०) अतीतानागतदेशकलभाविरिति—आ० टि० । (११) आभनो व्यापित्वस्य । (१२) पू० २६१ । (१३) तुलना— अन्य तु व्याप्तिग्रहणकाल प्रतिपत्तयौगिन इवागविविषय यज्ज्ञानमस्त्योति ब्रुवते । अगथा हि सर्वो धूमोऽग्निं विना न भवतीति व्याप्तिस्मरण न स्यात् । विवेकेन चाप्रतिपत्तस समानाभिध्याहारात् यथा धायाशिक्षिताया घाया व्यक्तेरिति । — प्रश्न० व्यो० पू० ५७० । यस्तु भयत प्रज्ञाकरमुत्त योगिज्ञान व्यक्तितानमिति । — सिद्धिवि० टी० पू० १०५ B (१४) योगिप्रत्यक्षस्यापि । (१५) यावान कश्चिद्भूत स सर्वोऽप्यग्नि ज मा अनग्निजम् वा न भवतीत्युक्तवत् (१६) तुलना— योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिसिद्धिरित्यपि दुष्टम् । सवत्रानभिज्ञानाभावात् सवन्त्योगिन ॥ परार्थानुमितो तस्य व्यापारोऽपि न युज्यते । अयोगिन स्वय व्याप्तिमज्ञानान् जनान् प्रति ॥ योगिनोऽपि प्रति व्यय स्वस्वार्थानुमिताविव । समारोपविशेष स्याभावात् सवत्र योगिनाम् ॥ —तत्त्वाय इलो० पू० १७९ । प्रमेयक० पू० ३५१ ।

१ तत्प्रभवव० । २ सम्बन्धसम्भवनव० । ३ सम्बद्धसम्बन्ध—आ० । ४ सम्बद्धसम्बन्ध—आ० ।

प्रतिपद्य स्वार्थमनुमानं विदध्यात्, परार्थं वा ? न तावत् स्वार्थम्, सकलसाध्यसाधन-  
व्यक्तिविशेषाणां प्रत्यक्षतः परिस्फुटतया प्रतिपन्नत्वेन अस्य अफलत्वात् । यत् प्रत्यक्षतः परि-  
स्फुटतया प्रतिपन्नाश्च योगिनो निमित्ता साध्यसाधनव्यक्तिविशेषा इति । न च तयो-  
स्तत्प्रतिपन्नेष्वप्येतेषु समारोपव्यवच्छेदार्थं सफलमेवानुमानमित्यभिधातव्यम्, योगिनो 5  
विधूतकल्पनाजालतया समारोपस्यैवाऽसम्भवात् । अथ परार्थं योगिनोऽनुमानम्, ननु  
गृहीतव्याप्तिकम्, अगृहीतव्याप्तिकं वा परं परार्थानुमानेन योगी प्रतिपादयेत् ? यदि गृहीत-  
व्याप्तिकम्; कुतस्तेन गृहीता व्याप्तिः ? न तावत् स्वसवेदनेन्द्रियमनोविज्ञानैः; तेषां  
तद्विषयत्वप्रतिपादनात् । नापि योगिप्रत्यक्षेण, अनुमानानर्थक्यानुपपन्नात् । अगृहीत-  
व्याप्तिकस्य च प्रतिपादनानुपपत्तिः अतिप्रसङ्गात् । तत्र कुतश्चिदपि प्रत्यक्षात् साध्य- 10  
साधनयोर्व्याप्तिः प्रतिपत्तुं शक्या ।

अतः सूक्तम्—‘अविकल्पधिया’ इत्यादि । न विचिन्ते विकल्पं स्वपरव्यव-

कारिका विवृत्याया  
स्यात्—

सायो यस्या सा चासौ धीश्च तथा परोक्ष्या ज्ञानान्तरानुभवनिश्चया-

त्मिकया च न किञ्चित् स्वभावविषयं कार्योदिविषयं वा लिङ्गम्

अविनाभावः सम्प्रतीयत इति । तर्हि अनुमानात् तत्सम्प्रतीयते 15

इत्याह—न अनुमानात् ‘लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानम्’ इत्येव लक्षणात् तत्सम्प्रतीयते,

तथाहि—प्रथमानुमानं हेतोः अविनाभावावसाये समर्थम्, अनुमानान्तरं वा ? तत्राद्य-

पक्षोऽनुपपन्नः, तदनुमानस्य असिद्धत्वात् । अत एव तत्सिद्धौ अन्योन्याश्रय—

सिद्धे हि हेतोरविनाभावे ततस्तदुत्पत्तिसिद्धिः, तत्सिद्धौ च हेतोरविनाभावसिद्धिरिति ।

नाप्यनुमानान्तरम्; यत् तदपि प्रतिपन्नाऽविनाभावान् हेतोरुत्पद्यते, तत्प्रतिपत्तिश्च 20

तत्र प्रत्यक्षतः, अनुमानाद्वा स्यात् ? तत्राद्यपक्षे दूषणमाह—‘सर्वत्र’ इत्यादि । सर्वत्र

प्रथमानुमानवत् द्वितीयेष्वनुमाने अनिशेषात्, ‘न प्रत्यक्षम्’ इत्यादेर्दोषस्य अभेदान् ।

अनुमानतोऽपि तत् एव, अन्यतो वा तत्प्रतिपत्तिः स्यात् ? यदि तत् एव, अन्योन्याश्रयः ।

(१) अनुमानस्य । (२) परिस्फुटतया । (३) योगिप्रत्यक्षज्ञानेऽपि साध्यसाधनव्यक्ति-  
विशेषवत् । (४) ‘प्रागुक्तं यागिना तेषां तदभावनामयम् । विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते ॥’—  
प्रमाणवा० २।२८१ । सत्यस्वरूपविषयत्वेन विधूतकल्पनाजालम् अविकल्पकत्वाच्च स्पष्टं विशदज्ञया  
कारमेवावभासते ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८१ । (५) गुलना—तर्हि योगी परार्थानुमानेन  
गृहीतव्याप्तिकमगृहीतव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत् ।—प्रमेयक० पृ० ३५१ । (६) परेण प्रतिपन्नम् ।  
(७) व्याप्यविषयत्वम् । (८) सकलसाध्यसाधनयोः स्पष्टं प्रतिभातवान् । (९) मीमांसकमते ।  
(१०) नैयायिकमते । (११) लिङ्गम्—अविनाभावः । (१२) प्रवृत्तानुमानस्य व्याप्तिप्रवृत्त्यात्पूर्वमलव्य  
स्वरूपत्वात् । (१३) अनुमानसिद्धौ । (१४) अनुमानोत्पत्तिः । (१५) अविनाभावप्रतिपत्तिश्च अनुमा-  
नान्तरे । (१६) समानत्वात् । (१७) सिद्धाया हि व्याप्तिप्रतिपत्तौ अनुमानोत्पन्नम्, सति च अनु-  
मानात्मलाम् व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति ।

1—नयव्यप्रसङ्गात् अ० । 2 एतदनन्तरं व० प्रती अविकल्पधिया इति कारिकाऽपि लिखिता  
नमस्ति । 3 स्वरूपव्य—अ० । 4 ‘कार्योदिविषयं’ नास्ति व० । 5 सिद्धे हेतो—अ० ।

अथाऽन्यत्, तदा अनवस्था-तर्हुत्थापकहेतावप्यनुमानातरात्तत्प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । तन्न कुतश्चित् परस्य प्रतिबन्धसिद्धिः । मा भूत्, किं तथा ? इत्याह-“नहि” इत्यादि । न खलु सामान्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना व्याप्तेरसिद्धौ क्वचिद् अनित्यत्वादौ बह्व्यादौ वा साध्ये व्ययहारे परमार्थे वा किञ्चित् स्वभावलिङ्गज कार्यादिलिङ्गज वा अनुमाननाम ।

- ६ इदमत्र सात्पर्यम्-यथा अनुमानमन्तरेण न विञ्चिन् साध्य सिद्ध्यति इति तदर्थमनुमानमित्यते तथा तल्लिङ्गलिङ्गिव्याप्तिसिद्धिमन्तरेण तैदपि न सिद्ध्यति इति तदर्थं सांपि इष्यतामपिशेषात् । तत्, किं जातम् ? इत्याह-“तन्न” इत्यादि । यत् एव तत् तस्मात् न अप्रत्यक्षं परोक्षम् अनुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणमस्ति किन्तु अनुमानमेव’ इत्ययुक्तम्, लिङ्गप्रतिपत्तेः अविनाभावप्रतिपत्तेः तर्कख्याया प्रमाणान्तरत्वाद् अलिङ्गजाऽ-  
१० विशदस्वभावतया प्रमाणद्वयानन्तर्भूतत्वान् । तत् सूक्ष्म-“चिन्ता प्रमाणम् अनुमानादेहेतुत्वात्” इति । वीटश तदनुमानम् ? इत्याह-

लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणत्वात् ॥ १२ ॥

लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिवुद्धयः ।

(१) अयानुमानोत्थापक । (२) व्याप्तिप्रतिपत्ति । (३) अनुमानमपि । (४) अनुमानसिद्धयर्थः । (५) व्याप्तिसिद्धिरपि । तुलना- तत्संबादसदेहे नि सङ्खानुमति न्व त ।”-तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९५ । (६) तनाप्रयत्नम् इत्यादि शब्दोक्त वाक्यम् । (७) अनुमानप्रत्ययरूप । (८) व्याख्या- अनुमान प्रमाण भवति । किम् ? लिङ्गिधी लिङ्गिन साध्यस्य धीर्ज्ञानमित्यर्थः । लिङ्गमविनाभावसम्बोधोऽस्यास्तीति लिङ्गिर्ज्ञेय विग्रहात् । तत्परोक्षविकारणमाह लिङ्गात् साधनात् । साध्यविनाभावमभिनिबोधैकलक्षणत्वात् साध्येन इष्टावाधितासिद्धरूपेण सह अविनाभावोऽप्ययानुपपत्तिनियमस्य अभितौ दशकालान्तरव्याप्त्या निबोधो नियम स एक प्रधान लक्षण स्वरूप यस्य तत्त्वोक्त तस्माल्लिङ्गावुत्पद्यमाना लिङ्गिधीरनुमानमियम् । न वस्य तर्कफलत्वात्कथं प्रमाणत्वमित्याशङ्क्याह- तत्फलं हानादिवुद्धयः हान परिहार आदिगन्धन उपादानमपेक्षा च गृह्यते । तासां बुद्धयो विकल्पास्य अनुमानस्य फलं भवन्ति तत् फलहेतुत्वादनमान प्रमाण प्रत्यक्षवदित्यभिप्रायः ।”-लघी० ता० पृ० ३१ । (९) अनुमेयन सम्बद्ध प्रसिद्ध च तदविते । तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥”-प्रश० भा० पृ० २०० । उदाहरणसाधर्म्यान् साध्यसाधन हेतु । तथा बंधर्म्यान् ।”-न्यायसू० १।१। ३४ ३५ । “हेतुस्वरूप”-न्यायप्र० पृ० १ । ‘पक्षमस्तदशन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव स । अविनाभावमियमात् हेत्वाभासास्तनोऽपरे ।”-हेतुवि० प्र० परि०। प्रमाणवा० ३।१ । तत्त्वतः का० १३६२ । त्रिरूपो हेतु ।”-साध्यका० माठ० पृ० १२ । साधनत्वरथापक लिङ्गवचन हेतु ।-न्यायता० पृ० ५ । “अयथानुपपत्तत्वेन हेतोलक्षणमीरितम् ।”-न्यायवा० श्लो० २२ । ‘साधनप्रकृताभावेऽनुपपन्नम्”-प्रमाणस० पृ० १०२ । न्यायवि० का० २६९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४ । परोक्षाम् ३।१५ । ‘तथा चाम्यथापि कुमारनन्दिमटेदारकं-अयथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमभ्यते ।”-प्रमाणप० प० ७२ । ‘निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतु ।”-प्रमाणनय० ३।९ । ‘साधनत्वाभि व्यञ्जकविमर्शयन्त साधनवचन हेतु ।”-प्रमाणमी० २।१।१२ । (१०) लिङ्गदशनात्सञ्जायमान लिङ्गिकम् ।-प्रश० भा० पृ० २०० । अनुमान ज्ञातसम्बन्धस्येकदेवदर्शनादकदधान्तरेऽस्तित्वेऽर्थे बुद्धिः ।-न्यायभा० १।१।१५ । प्रतिवचनं प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ।”-साध्यसू० १।१०० । अनुमानं मितेन लिङ्गेन अनुपपत्त्या मानम् ।”-न्यायवा० पृ० २८ । तत्र स्वार्थं त्रिरूपात्लिङ्गाद् यदनुमेय

विवृतिः—नहि तादात्म्यतदुत्पत्ती ज्ञातुं शक्येते विनाऽन्यथानुपपत्तिवितर्केण ताभ्यां विनैव एकलक्षणसिद्धिः । नहि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । न चात्र विसंवादोऽस्ति ।

लिङ्गात् हेतोः । किंविशिष्टात् ? इत्याह—‘साध्य’ इत्यादि । साध्येन इष्टाऽवाधिताऽसिद्धविशेषणविशिष्टेन अविनाभावो व्याप्तिः, 5  
कारिकाव्याख्यानम्—  
तस्य अभि समन्तात् निबोधो निश्चयः एकं प्रधानं लक्षणं यस्य तस्मात् सुनिश्चिताऽन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयैकलक्षणात् इत्यर्थः । लिङ्गिनि साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि प्रयुज्यमाने गम्यमाने वा धीः ज्ञानम् अनुमानम् ।

ननु ‘प्रयुज्यमाने साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि’ इत्युक्तम्; पक्षस्य प्रयोजनाभावतः  
प्रतिज्ञाप्रयोगमनभ्यु- प्रयोगानुपपत्तेः, सर्वत्र गम्यमान एवास्मिन् साधनात् साध्यसम्प्रति- 10  
पगच्छतो बौद्धस्य पच्युपपत्तेः । अयं तत्प्रयोगस्य साध्यार्थप्रतिपादनलक्षणप्रयोजन-  
प्रतिविधानम्— संभवात् तदसंभवोऽसिद्धः; तन्न; तस्य तत्प्रतिपादनासंभवात् । स

ज्ञानं तदनुमानम् ।”-न्यायबि० २।३ । “सम्यगविनाभावेन परीक्षानुभवसाधनमनुमानम् ।”-न्यायसा० पृ० ५ । “साध्याविनाभुवो लिङ्गात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम् । अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्ष-  
वत् ॥”-न्यायाव० श्लो० ५ । “साधनात्माध्यविज्ञानमनुमानम्”-न्यायबि० का० १६७ । तत्कार्यश्लो० पृ० १०७। प्रमाणपृ० पृ० ७०। परीक्षापृ० ३।१४ । प्रमाणनय० ३।८। प्रमाणमी० १।२।७। न्यायदी० पृ० २०। जैनतर्कभा० पृ० १२ । (११) तुलना—‘तत्र लिङ्गदर्शनं प्रमाणं प्रमितिरग्निज्ञानम् । अथवा अग्निज्ञानमेव प्रमाणम्, प्रमितिरग्नी गुणदोषमाध्यस्थदर्शनमिति ।”-प्रश० भा० पृ० २०६ ।

(१) तुलना—‘पक्ष प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषणेन विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सित, प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यमेव ।”-न्यायप्रवे० पृ० १ । “स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृत पक्ष इति ।”-न्यायबि० पृ० ७९ । “न्यायमुखप्रकरणे तु स्वयं साध्यत्वेनेप्सित पक्षो विरुद्धार्थोऽनिराकृत इति पाठात्”-प्रमाणवार्तिकालं वरि० ४ । “साध्याभ्युपगमः पक्ष प्रत्यक्षाद्यनिराकृत ।”-न्यायाव० श्लो० १४ । “साध्यं शक्यमग्निप्रेतमप्रसिद्धम्”-न्यायबि० श्लो० १७२ । “इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्”-परीक्षापृ० ३।१५ । “अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम्”-प्रमाणनय० ३।१२ । “सिंसा-  
धयिपितमबाध्यं साध्यं पक्षः ।”-प्रमाणमी० १।२।१३ । (२) उपनयवाक्यसामर्थ्यात् हेतो पक्षधर्म-  
त्वसमर्थनाद्वा अर्थादापत्तेः । (३) “तत्पक्षवचनं वक्तुरभिप्रायनिवेदने । प्रमाणं संशयोत्पत्तेस्तत् साक्षात् साधनम् । साध्यस्यैवाभिधानेन पारम्पर्येण नाप्यलम्”-ननु- अस्यापिते हि विषये हेतुवृत्तेर-  
संभवात् । विपप्रस्थापनादेव सिद्धी चेत्तस्य शक्यता ॥ उक्तमत्र विनाप्यस्मात् कृतकं शब्द ईदृशा ।  
सर्वेऽन्तर्या इति प्रोक्तेऽप्यग्निज्ञानाधीनमेव ॥ अनुक्तावपि पक्षस्य सिद्धेरप्रतिबन्धतः । त्रिष्वन्यतम-  
रूपस्यैवानुक्तिर्नूतनीतिता ॥”-प्रमाणवा० ४ । १६-२३ । हेतुबि० प्र० परि० । “अथवा तस्यैव साधनस्य यद्वाङ्म प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि तस्यासाधनाङ्गस्य साधनवाक्ये उपादानं वाचिनो निग्रहस्थानं  
व्यर्थाभिधानात् । ननु च विषयोपदर्शनाय प्रतिज्ञावचनमसाधनाङ्गमप्युपादेयमेव; न; वैयर्थ्यात् असत्यपि  
प्रतिज्ञावचने यथोक्तात् साधनवाक्याद् भवत्येवेष्टार्थसिद्धिरित्यपार्थक्यं तस्योपादानम् ।”-वादन्याय पृ०  
६१-६५ । “द्वयोरप्यनयो प्रयोगे नवस्य पक्षनिर्देश । यतश्च साधनं साध्यधर्मप्रतिबद्धं तादात्म्यतदु-  
त्पत्तिभ्यां प्रतिपत्तत्वं द्वयोरपि प्रयोगयो तस्मात् पक्षोऽयस्यमेव न निर्देश्य । अथ यदि पक्षो न निर्देश्य

हि केवल साध्यमर्थं प्रतिपादयेत्, हेतूपन्याससमन्वितो वा ? यदि केवल, हेतूपन्यासो व्यर्थ, प्रतिज्ञाप्रयोगमात्रादेव तत्प्रतिपत्ते संज्ञातत्वात् । अथ हेतूपन्याससमन्वित, तर्हि हेतोरेव तत्र सामर्थ्योपपत्ते किं तत्प्रयोगेणेति ?

अत्रोच्यते—पक्षस्य साध्यसिद्धिप्रतिबन्धित्वादप्रयोग, प्रेरणात् तैत्तिरसिद्धे,  
६. प्रयोजनाऽपसाधकत्वात्, हेतूपन्यासापेक्षस्य तत्प्रसाधकत्वाद्वा ? न तावत् तत्सिद्धि-  
प्रतिबन्धित्वात्, वादिना सम्यक् साधनात् स्वपक्षसिद्धिलक्षणे कार्ये क्रियमाणे तद्विप-  
क्षाप्रसाधकत्वत, तत्प्रयोगस्य तत्प्रतिबन्धकत्वानुपपत्ते । यत् यस्मिन् कार्ये क्रियमाणे  
तद्विपक्षाप्रसाधकम् न तत्तस्य प्रतिबन्धकम् यथा धूमे काष्ठादिकम्, सम्यक् साधनत.  
स्वपक्षसिद्धिरक्षणे कार्ये क्रियमाणे तद्विपक्षाप्रसाधकश्च प्रतिज्ञाप्रयोग इति ।

१० प्रकृतात्तत्सिद्धिश्च प्रतिज्ञावत् हेत्वादावप्यदिशिष्टा, तैत्तिस्तस्याप्यप्रयोगप्रसङ्ग ।  
नहि शब्दस्य अनित्यत्वप्रतिज्ञाने कृतकत्वादिहेतु घटादिदृष्टान्तश्च प्रकृतार्थे सिद्धयति ।  
तैत्तिविधस्याप्यस्याभिधाने पक्षेण कोऽपराध कृत येनास्य तथाविधस्याभिधाने नेष्यते ?

प्रयोजनाप्रसाधकत्वस्य असिद्धम्, प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिविशेषस्य तत्प्रसाध्यप्रयोजनस्य  
सद्भावात् । प्रतिपाद्यो हि कश्चिन् मन्दमतिः कश्चिन्सीघ्रमतिः । तत्र यो मन्दमतिः न  
१० तस्य प्रकृतार्थप्रतिपत्तिविशेष प्रतिज्ञाप्रयोगमन्तरेणोपपद्यते, नापि नैयायिकादे  
पञ्चावयवप्रयोगे प्रतिपन्नसङ्कतस्यामन्दमतेरपि । तदप्रयोगे तेन निग्रहस्थानाभिधानात् ।  
“हानमन्यतमनापि न्यूनम्” [ न्यायसू० ५।२।१२ ] इति वचनात् । सीघ्रमतेस्तु तत्प्रयोग-  
मन्तरेणापि हेतुप्रयोगमात्रात् प्रकृतार्थप्रतिपत्तिप्रतीतेरैतस्य वैयर्थ्यं हेतुप्रयोगस्यापि वैयर्थ्यं  
स्यात्, “निश्चिताऽधिप्रवारावपुरपवचनाद् अग्निरत्र” इत्यादिप्रतिज्ञाप्रयोगमात्ररूपादेव  
५ वैयर्थ्यं प्रकृतार्थप्रतिपत्तिदर्शनात् ।

वचननिर्देशस्य अक्षयमुक्तम् ? न साधनवाक्यान्वयव वादस्य लक्षणमुक्तमपि तु असाध्य कश्चित् साध्य  
साध्य चासाध्य प्रतिपत्ता, तत्साध्यामाध्यविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पञ्चावयवमुक्तम् ।—न्यायवि० टी०  
पृ० ७७-७९ । असाधनाङ्गमूलत्वात् प्रतिज्ञानुपयोगिनी ।—तत्त्वसं० पृ० ४१८ ।

(१) साध्यार्थप्रतिपत्ति । (२) साध्याप्यप्रतिपत्ति । (३) तुलना— तस्यावयव साध्यसिद्धि  
प्रतिपत्तित्वात् प्रयोजनाभावाद्वा ?—अभेदक० पृ० ३७३ । वक्ष्यते पुनरस्या साधनाङ्गत्वं किं सवयव  
व्याख्यानमुपयोगान् असाधयुक्तस्याप्ययथैव परिग्रहान् ?—प्रज्ञा० वि० पृ० ३३५ । (४) प्रवरणान् ।  
(५) वक्ष्यमाणमिदं । (६) प्रयोजन । (७) स्वपक्षविरोधासाधकत्वात् । (८) साध्यसिद्धि । (९)  
यत् हेत्वादीनामपि प्रवरणात् मिदं सिद्धम् । (१०) प्रवरणान् मिदं साध्यं (११) तुलना— तत्प्रयोग  
प्रतिपत्तिप्रतिपत्तिविशेष्य प्रयोजनस्य सम्भावान् ।—अभेदक० पृ० ३७३ । स्वा० र० पृ० ५५० । (१२)  
प्रतिपाद्या अप्रयोग । (१३) नयाविवन । (१४) प्रतिज्ञाप्रयोग । (१५) प्रतिज्ञाप्रयोगस्य (१६) तुलना—  
‘अविप्रवारावनानिश्चिनपुरपवचनामात्रादि अग्निरत्र’ इत्यादिरूपान् वक्ष्यन् प्रमथोप मिदं पत्नीति  
हानस्यापन्नतन्निमित्तान् तद्विग्रहानि साध्यमिदं ।—न्यायवि० टी० पृ० ४७ । (१७) तीव्रमते शब्दात् ।

१ सामर्थ्यं प्र-प्र० । २ सत्तावयवान् व० । ३ पक्षमात्रसिद्धे प्र० । ४-प्र प्रति-व० ।

५ नियायकारैः व० ।

एतेन हेतूपन्यासापेक्षस्य प्रयोजनप्रसाधकत्वात्' इत्यपि प्रत्याख्यातम्, नियमा-  
भावान् । कचिद् हेतुप्रयोगमन्तरेणापि केवलस्यैव पक्षप्रयोगस्य प्रतिपाद्यस्य प्रतिपत्ति-  
विशेषलक्षणप्रयोजनप्रसाधकत्वप्रतीतिः ।

किञ्च, हेतुगोचरस्य पक्षस्यानिर्देशे हेतोरनैकान्तिकत्वादितोषानुपपन्नः, तमन्तरेण  
तत्र वास्तवगुणदोषविवेकस्य कर्तुमशक्यत्वात् । यथैव हि लक्ष्यनिर्देशं विना धानु- 5  
ष्कस्य द्रष्टुं प्रतिक्षिप्तो गुणोऽपि दोषतया दोषोऽपि गुणतया तत्प्रेक्षकजनानां व्यामोहात्  
प्रतिभाति, तस्मिन्देशे तु तद्गुणो लक्ष्यवेधप्राचीण्यलक्षणः तद्विपरीतत्वलक्षणश्च दोषः  
तेषां यथावत् प्रतिभाति, एवं पक्षाऽनिर्देशे व्यामोहात् सम्यग्हेतावपि 'किमयं हेतुः  
साध्ये एव वर्तते तदभावे वा' इत्याशङ्काकलङ्कितत्वादनैकान्तिकः, 'विपक्ष एव वर्त्तिष्यते'  
इति त्रिपरीताशङ्काऽनिवृत्ते विरुद्धो वा स्यात् । पक्षनिर्देशे तु लक्ष्यनिर्देशे धानुष्कत्वं 10  
यथावत्तद्गुणदोषयोः प्रतिपत्त्युपपत्तेः न कश्चिद् दोषः ।

यदप्यभिहितम्—'केवलस्यैव पक्षस्य साध्यप्रतिपादनसामर्थ्ये हेतूपन्यासो व्यर्थः'  
इति, तदप्यभिधानमात्रम्, एनाकिन कारणस्य कार्यकारित्वाप्रतीतिः । न खलु धीजादेः  
केवलस्यैव अङ्कुरादिकार्यकरणे सामर्थ्यं दृष्टम् । नाप्येकस्य तत्र सामर्थ्ये अन्येषां वैय-  
र्थ्यम् । कैश्चिद् हेतोः केवलस्यैव साध्यसिद्धौ सामर्थ्ये तत्समर्थनस्य उपनयादेध वैय- 15  
र्थ्यं न स्यात्? पक्षस्य अर्थसिद्धौ हेत्वपेक्षणां तत्सिद्धिनिवन्धनत्वम्, इत्यप्यसुन्दरम्,  
भैरवरूपलिप्ताऽविकल्पकाप्यक्षस्याप्यर्थसिद्धिनिवन्धनत्वाभाषप्रसङ्गात् तत्सिद्धौ तस्य  
विकल्पापेक्षणात् । अथ 'तत्प्रतिपन्नमेवार्थं विकल्पो व्यवस्थापयति' इत्युच्यते, तर्हि

(१) तुलना—'तत्प्रयोगोऽत्र कर्तव्यो हेतुगोचरदीपकः ॥ अन्यथा वाच्यभिप्रेतत्रतुगोचरभोहितः ।  
प्रत्याख्यस्य भवेदतुर्विरुद्धारोक्तिः यथा । धानुष्कगुणसंप्रेक्षजनस्य परिविध्यत । धानुष्कस्य विना  
लक्ष्यनिर्देशेन गुणेतरी ॥ ततश्च सम्यग्हेतावपि विपक्ष एवायं वर्त्तते इति व्यामोहाद् विरुद्धदूषणम-  
भिदधीत, पक्षोपन्यासात् निर्णीतहेतुगोचरस्य नैव दोषः स्यादित्यभिप्रायः यथा लक्ष्यनिर्देशं विना  
धानुष्कस्येपु प्रतिपत्तौ यो गुणदोषो तौ तद्विज्ञानस्य विपर्यस्तावपि प्रतिभात—गुणोपि दोषतया, दोषोऽ-  
पि वा गुणतया, तथा पक्षनिर्देशं विना हेतुमुपन्यस्यतो वादिनो यो स्वभिप्रेतसाध्यसाधनसमर्थत्वा  
समर्थत्वलक्षणो गुणदोषो तौ प्रादिकप्रतिवाद्यादीनां विपरीतावपि प्रतिभात इति भावार्थः ।"—श्याया-  
व० श्लो० १४-१६, टी० पृ० ४८-४९ । (२) लक्ष्यनिर्देशे । (३) धानुष्कस्य कीलस्यम् । (४)  
प्रेक्षकजनानाम् । (५) वादिनः स्वाभिप्रेतसाध्यसाधनसमर्थत्वासमर्थत्वलक्ष्यो गुणदोषयोः । (६)  
पृ० ४३६ प० १ । (७) बीजस्य हेतोर्वा । (८) अङ्कुरोत्पादने साध्यप्रतिपादने वा । (९) क्षितिस-  
ल्लिखितानाम् पक्षप्रयोगादीनां वा । (१०) तुलना— तत्र च यद्दूषणमुक्तम्—तर्हि हेतोरेव तत्र साम-  
र्थ्योपपत्तेः वि' पक्षवचनेनेति, तदयुक्तम्, एव हि हेतोः समर्थनापेक्षस्य साध्यसिद्धिनिवन्धनत्वोपपत्तेः  
तद्वचनमपि न स्यात् ।"—स्वा० र० पृ० ५५० । न्यायाव० टी० पृ० ६७ । (११) साध्यसिद्धिः ।  
(१२) सीगतः । (१३) अर्थमिदो (१४) अविकल्पवाक्यस्य । (१५) निविकल्पप्रतिपत्तः ।

१ इत्यत्रापि थ० । २ केवलस्यास्यैव व० । ३ यथावद्गुण—आ० । ४—कार्यकारणे आ० ।  
५—निवन्धनम् व० ।

पक्षप्रतिपादितमेयार्थं हेतु प्रतिपादयति, तत्प्रतिपादितञ्च प्रमाणान्तर समर्थयत इत्यप्यु-  
न्यतामविशेषात् । इदमेव च पक्षस्य स्वरूपम्—यद् हेत्वपेक्षस्य अर्थप्रतिपादकत्वं नाम ।  
'पैच्यते कोमलीक्रियते हेतुना मुकुमारप्रज्ञाना साध्यधर्मान्वितत्वेन व्यक्ततामापाद्यते  
इति पक्ष' इति व्युत्पत्ते ।

यदि च पक्षो नेष्यते कथं तर्हि सपक्षविषयव्यवस्था स्यात् तत्पूर्वकत्वात्तस्याः ?  
तदभावे च त्रिरूपस्य हेतोरप्यनुपपत्तेरनुमानोच्छेदः स्यात् ।

किञ्च, प्रतिज्ञाया प्रयोगानर्हत्वे शास्त्रादावप्यसौ न प्रयुज्येत अविशेषात् । न  
चैयम्, तत्र तत्प्रयोगदर्शनात् । नहि शास्त्रेऽनिर्यतकथाया वा प्रतिज्ञा नाभिधीयते  
'अभिरत्र धूमात्, वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्' इत्याद्यभिधानानां तत्रोपलम्भात् । 'परानुग्रह-  
प्रवृत्तानां शास्त्रकाराणां प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधिया शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव  
उपयोगित्वात्तस्य' इत्यभ्युपगमे बांद्देऽपि सोऽस्तु तत्रापि तेषां सादृशत्वादिति' ।

ननु लिङ्गस्य साध्याविनाभावैकलक्षणत्वमयुक्तम्, तर्ह्ये पक्षधर्मत्वादिलक्षणत्रया  
पक्षधर्मवदिरूपं न्वितत्वेन एकलक्षणत्वायोगात् । तदनन्वितत्वे हेतो असिद्धत्वादि-  
यस्य लिङ्गलक्षणं च दोषानुपपन्नात् । नहि पक्षधर्मत्वाभावे अस्य असिद्धत्वव्यवच्छेदः,  
सपक्षे सत्त्वाभावे च विरुद्धत्वव्युदासः, विपक्षेऽसत्त्वाभावे च अनै-  
कान्तिकत्वनियेध कर्तुं शक्य इति । उक्तञ्च—

(१) हेतुप्रतिपादितञ्च । (२) समचनरूपम् । (३) तुलना— पच्यते इति पक्ष । पक्षव्यक्ती  
करण । पच्यते व्यक्तीक्रियते याऽयं स पक्ष । —न्यायप्र० वृ० पृ० १३ । न्यायसारटी० पृ० १०१ ।  
(४) पक्षपूर्वकत्वात् । (५) सपक्षविषयव्यवस्थाया । (६) सपक्षविषयव्यवस्थाया अभावे । (७)  
मुद्रना— प्रतिनानुपयोगे शास्त्रादित्वमि नाभिधीयत विषयाभावात् । 'नहि शास्त्रं प्रतिना नाभिधीयत  
एव अनियतकथाया वा अभिरत्र धूमात् वृक्षोऽयं शिंशपात्वात् इत्यादिवचनानां शास्त्रं दानात्  
विरुद्धोऽयं हेतुरसिद्धोऽयम्' इत्यादिप्रतिनावचनानामनियतकथाया प्रयोगात् ।'—अष्टसह० पृ०  
८३ । प्रमेयक० पृ० ३७३ । स्या० २० पृ० ५५१ । (८) प्रयोगानर्हत्वाविनपात् । (९) शास्त्रादौ ।  
(१०) मुगोष्ठपाम । (११) शास्त्रं मुगोष्ठया वा । (१२) तुलना— परानुग्रहप्रवृत्तानां शास्त्रकाराणां  
प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधिया शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव उपयोगित्वात्तस्यति चेत् बांद्देऽपि  
मोक्षं तत्रापि तेषां सादृशत्वात्, बांद्देऽपि विजिगीषुप्रतिपादनाय आचार्याणां प्रवृत्त ।'—अष्टसह०  
पृ० ८३ । प्रमेयक० पृ० ३७३ । स्या० २० पृ० ५५१ । (१३) प्रतिज्ञाप्रयोगोऽस्तु । (१४) बांद्देऽपि ।  
(१५) शास्त्रकाराणाम् । (१६) परानुग्रहप्रवृत्तिमत्त्वात् । (१७) प्रकारान्तरेण पक्षप्रयोगसमयन निम्न  
पक्षपु द्वलक्ष्यम्—प्र० व्यो० पृ० ६०१ । न्यायम० पृ० ५७१ । न्यायवा० ता० टी० पृ० २७५ ।  
प्र० ब० द० पृ० २३५ । प्र० किर० पृ० ३३५ । प्रमाणमी० पृ० ५१ । (१८) 'हेतुस्त्रिरूप । किं  
पुनस्त्रिरूपम् ? पक्षधर्मत्वम् मगने सत्त्वम् विषय चासत्त्वमिति । —न्यायप्रवे० पृ० १ ।  
रूपं पुन लिङ्गस्यानुमेय सत्त्वमेव अनुमेय वक्ष्यमाणलक्षणम् तस्मिन्निगस्य सत्त्वमेव  
निश्चितम' रूपम् तत्र सत्त्ववचनन अमिद्ध चानुपवादि निरस्तम् । एकारेण पक्षवत्त्वा

१ इत्यप्युपपत्ताविनपात् व० २ इदमेव पक्ष—आ य० । ३ 'इतिपक्ष नास्ति व० । ४ शास्त्रनिय-  
मा० । ५ बांद्दे सो—बांद्दे सा—य० । ६ पच्यते इति व० ।

“हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः ।

असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतैः ॥” [प्रमाणवा० ३।१४] इति ।

अत्रोच्यते—न पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं हेतोलक्षणम्, विपक्षेऽप्यस्य वर्तमानत्वात्, यद् विपक्षेऽपि वर्तते न तत् लक्षणम् यथा सत्त्वम् अग्नेः, विपक्षेऽपि हेत्वाभासलक्षणे वर्तते च पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयमिति । यदेवै हि विपक्षासाधारणं स्वरूपं तदेव लक्षणतया लोके प्रसिद्धम्, यथा भासुरूपोष्णस्पर्शवस्त्वम् अग्नेः । न चेदं पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं

सिद्धो निरस्तो हेतुः, यथा चेतनास्तरव स्वापात् इति । पक्षोक्ततेपुतरपु पत्रसकोचलक्षण स्वा प एकदेशेन सिद्ध । न हि सर्वे बुद्धा रात्रौ पत्रसकोचभाजः, किन्तु केचिदेव । सत्त्ववधनस्य पश्चात्कृतेन एवकारेण असाधारणो धर्मो निरस्तः । यदि हि अनुमेष एव सत्त्वमिति कुर्यात् धावणत्वमेव हेतु स्यात् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्ध सर्वो निरस्तः । सपक्ष एव सत्त्वम्, सपक्षो वक्ष्यमाणलक्षणः, तस्मिन्नेव सत्त्वं निश्चित द्वितीयं रूपम् । इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः, स हि नास्ति सपक्षे । एवकारेण साधारणानैकान्तिकः, अनित्य शब्द प्रमेयत्वात्, स हि न सपक्ष एव वर्तते किन्तु भयत्रापि । सत्त्वग्रहात् पूर्वावधारणवचनेन सपक्षव्यापिसत्ताकस्यापि प्रत्यनान्तरीयकस्य हेतुत्वं कथितम् । पश्चादवधारणे त्वयमर्थः स्यात्—सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रत्यनान्तरीयकं न हेतुः स्यात् । निश्चितवचनेन सन्दिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्तः, यथा सर्वज्ञः कश्चिद् ध्वनतवात्, ध्वनत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धम् । असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्, असपक्षो वक्ष्यमाणलक्षणः, तस्मिन् असत्त्वमेव निश्चितं तृतीयं रूपम् । तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः, विरुद्धो हि विपक्षोऽस्ति । एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशबुद्धौ निरासः, नित्य शब्द कृतकत्वात् खड्गः । प्रत्यनान्तरीयकत्वे साध्ये हि अनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादावस्ति आकाशादौ नास्ति ततो नियमेनास्य निरासः । असत्त्ववचनान् पूर्वस्मिन्नावधारणेऽयमर्थः स्यात्—विपक्षे एव यो नास्ति स हेतुः । तथा च प्रत्यनान्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि सर्वत्र नास्ति ततो न हेतुः स्यात्, तत् पूर्वं न कृतम् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽनैकान्तिको निरस्तः ।” —न्यायवि०, टी० पृ० ३१-३३ । वादन्याय पृ० ६० । सत्त्वसं० पृ० ४०४ ।

( १ ) ‘निश्चय’—प्रमाणवा० । ( २ ) अभावादित्यर्थ—आ० टि० । ( ३ ) अस्य व्याख्या—“यत एव तेन कारणेन हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु पक्षधर्मव्यव्यतिरेकेषु निश्चयो वर्णित आचार्यदिनागेन प्रमाणसमुच्चयाविषु ‘असिद्धस्तु द्वयोरपि साधनम्’ इत्यादिना । कस्य निरासेनेत्याह—असिद्धेत्यादि । आद्यादित्वान् तृतीयार्थे तमि विपक्षेण इत्यर्थः । तत्र असिद्धविपक्षेण पक्षधर्मत्वनिश्चयो वर्णित । विपरीतार्थो विरुद्धः, तस्य विपक्षेण अन्वयनिश्चयः । व्यभिचार्यनैकान्तिकः, तस्य विपक्षेण व्यतिरेकनिश्चयः ।”—प्रमाणवा० स्ववृत्तिटी० । स्या० २० पृ० ५१८ । “तेन—प्रतिबन्धस्यावश्याभ्युपगन्तव्यत्वेन हेतोः त्रिष्वपि ...”—प्रमाणवा० धनोरथ० । उद्धृतोऽयम्—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३ । प्रमाणप० पृ० ७२ । प्रमेयक० पृ० ३५४ । ‘निश्चयस्तेन’—बृहदा० भा० वा० पृ० १५२१ । स्या० २० पृ० ५१८ । ( ४ ) हेत्वाभासेऽपि । तुलना—“निश्चित पक्षधर्मत्व विपक्षेऽसत्त्वमेव च । सपक्ष एव जन्यत्वं तत्रयं हेतुलक्षणम् ॥ केचिदाहुर्न तद्युक्तं हेत्वाभासेऽपि सभवात् । असाधारणतापायाल्लक्षणत्वाविरोधतः ॥ असाधारणो हि स्वभावो भावलक्षणमव्यभिचारादनेरोप्यवत्, न च त्रैलोक्यस्यासाधारणता तद्धेतो तदाभासेऽपि तस्य समुद्भवात् ।”—तत्त्वार्थश्लो० पु० १९८ । ( ५ ) तुलना—“यदेव हि लक्ष्यमाधारणं स्वरूपं तदेव लक्षणतया लोके प्रतीतमव्यभिचारित्वात्, यथा भासुरूपोष्णस्पर्शवस्त्वमग्नेः ।”—स्या० २० पृ० ५१८ ।



तथाविध तत्पुत्रत्वात् तदाभासेऽपि गतत्वात् पञ्चरूपत्वादिवत् । अथ अन्यधानुपत्ति नियमत्रैरूप्य तल्लक्षण न त्रैरूप्यमात्रम्, तथाविधश्च तत् तदाभासे नास्तीति, तदप्य सङ्गतम्, एव सति त्रैरूप्यकल्पनाऽनर्थक्यप्रसङ्गान् तन्निर्यमादेवास्य गमकत्वोपपत्ते ।

न खलु कृतिकोदयात् शक्नोदयाद्यनुमाने पक्षधर्मता समवति । अथ 'काला

कादादि भविष्यच्छकटोदयादिमान् कृतिकोदयादिमन्त्रात् पूर्वोपलब्धकालादिवत्' इती  
 5 त्थमत्र पक्षधर्मताऽभिधीयते, तर्हि न कश्चिदर्पक्षधर्मको हेतु स्यात्, काककाण्ड्यादेरपि  
 प्रासादधावल्ये साध्ये जगतो धर्मित्वेन पक्षधर्मत्वस्य कल्पयितुं सुशकत्वात्, तथाहि—  
 जगत् प्रासादधावल्ययोगि कारुकाण्ड्ययोगित्वात् । तथा महोदध्याधाराऽग्नियोगि तत्  
 महानसधूमयोगित्वात् पूर्वोपलब्धजगत्त्वदिति । लोकविरोध अन्यत्राप्यविशिष्ट । तन्न  
 10 पक्षधर्मत्व हेतोर्गमकत्वाद्गमम् ।

नैपि सपक्षे सत्त्वम्, 'अनित्य शब्द श्रावणत्वात्, सर्वं क्षणिक सत्त्वात्'

(१) विपक्षासाधारणम् । (२) तुलना— न च सपक्ष सत्त्व पक्षधर्मत्व विपक्ष चासत्त्वमात्र साधनलक्षणम् स इयाम् तत्पत्रत्वात् इतरन्तत्पुत्रवदियन् साधनाभावे तत्सम्भावसिद्ध । सपत्नी हीतरत्न तत्पुत्र तत्पत्रत्वस्य साधनस्य इयाम् व्याप्तस्य सत्त्व प्रसिद्धम् विवादाध्यामिने च तत्पुत्र पक्षोद्धते तत्पुत्रत्वस्य सदभावात् पक्षधर्मत्वम् विपक्ष वाऽयामेव बर्चवदयपुत्र तत्पुत्रत्वस्याभावात् विपक्ष सत्त्व मात्र च । न च तावता साध्यसाधनत्व साधनस्य । —प्रमाणप० पृ० ७० । सप्तमि० टी० पृ० ५९० । स्था० १० पृ० ५१८ । प्रमेय० ३।१५ । प्रमाणमी० पृ० ४० । पायवी० पृ० २६ । (३) अवि नाभावनिमित्तमत्राप्यम् । (४) अन्यधानुपपत्तिनियमात् । (५) तुलना— न हि गण्ट धमिणि उन्नेप्यसाया माप्याया दृतिवाया उदयोर्धस्त तस्य दृतिवायमत्वात् ततो न पक्षधर्मत्वम् । — प्रमाणप० पृ० ७१ । प्रमेय० पृ० ३५५ । स्था० १० पृ० ५१९ । प्रमेय० ३।१५ । प्रमाणमी० पृ० ४० । न च नपि इव उदप्यति सविता अद्यतनादियान्वात् जाना समुद्रवृद्धि गणाङ्को दपगानान इयामिप्रयोगपु हेतो पक्षधर्मत्वाभावेऽपि गमकत्वोपलब्धेर्न पक्षधर्मत्व तल्लक्षणम् । —सप्तमि० टी० पृ० ५९१ । (६) तथा न च द्रोण्यान् समुद्रवृद्धयनुमान च द्रोण्यान् (पूष पञ्चादि) तन्नुमानप्रसङ्गान् । च द्रोण्यान् एव तन्नुमान तत्त्व व्याप्तगृहीतवादिति चेत् यद्यपि तत्रात्रमर्वाध्वमेव साध्यसाधनयो तत्र च स एव काणे धर्मी तत्र च साध्यानुमान च द्रोण्यान् न तद्वद्योनि कथमत्र पक्षधर्मत्वम् ? —प्रमाणदा० स्वव० टी० १।३ । (७) दृतिकोदयात् । (८) तुलना— कालादिभिरनित्यतायामितिप्रसङ्ग । —प्रमाणस० पृ० १०४ । यदि पुनराकाश कालो वा धर्मी तत्त्वोपलब्धत्वात् साध्य दृतिकोदयाभाव पक्षधर्म एवेति भयम् तत्रा परित्रीयमिति महोदध्याधारानिमित्तं साध्य महानसधूमत्वत्वात् साधन पक्षधर्मोऽस्ति तथा च महानसधूमो महोदधो अग्नि गमयन्ति न वदित्वात्तत्रा हेतु स्यात् । प्रमाणप० पृ० ७१ । तत्त्वार्थालो० पृ० २०० । सप्तमि० टी० पृ० ५९१ । स्था० १० पृ० ५१९ । जननकभा० पृ० १२ । दृतिरान्यपुत्रा काला दिगितिप्रसङ्गान् । यदि स्यात्पक्षधर्मत्वं चाप्युक्तं न विचिती (वि ध्वनी) जननकभा० व० पृ० १४० । ग्यादाव० टी० पृ० ३५ । (९) जगत् । (१०) तुलना नि गण्ट सामक जीवच्छृणार परिणा मिता । पुगा प्राणात्मित्ववत्त्वययानुपपत्तिन ॥ सप्तमत्वगुणस्य हेतारस्य सधनान् । नूननिचायने सप्तमिर्गमयो हेतुगमप ॥ शणिगन्धन न व्याप्त सत्त्वमव प्रसिद्धयति । यदिपक्षधर्मित्वान्च ततो-

इत्यादेः सपक्षे सत्त्वाभावेऽपि गमकत्वप्रतीतिः । विपक्षे वाधकप्रमाणबलात् अन्तर्व्याप्ति-  
सिद्धेरस्यैव गमकत्वे बहिर्व्याप्तिकल्पनाऽनर्थस्यम्, अत एव सर्वत्र गमकत्वोपपत्तेः । तत्र  
पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं वा हेतोर्लक्षणम् ।

विपक्षे पुनरसत्त्वमेव निश्चितं साध्याऽविनाभावनियमनिश्चयस्वरूपमेव, अतस्त-  
देयं प्रधानं हेतोः लक्षणमस्तु अल लक्षणान्तरेण । न च सपक्षे सत्त्वाभावे हेतोरनन्व- 5  
यत्वानुपपन्नः; अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्य अन्यस्य सद्भावात् अन्यथानुपपत्ति-  
रूपव्यतिरेकवत् । नहि 'दृष्टान्तधर्मिण्येव अन्ययो व्यतिरेकश्च प्रतिपत्तव्य इति नियमो  
युक्तः; सर्वस्य क्षणिकत्वादिसाधने सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात् । नहि निरन्वयं क्षणिकत्वं  
कचिदपि प्रसिद्धम्, शब्द-विद्युत्-प्रदीपाद्यावपि विप्रतिपत्तेः ।

यदप्युक्तम्—'पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयासमवे हेतोरसिद्धत्वादिदोषानुपपन्नः' इत्यादि; 10  
तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; अन्यथानुपपत्तिनिश्चयलक्षणत्वादेव असिद्धत्वादिदोष-  
रिहारसिद्धेः । स्वयमसिद्धस्य अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासंभवो विरुद्धाऽनैकान्तिकवत् ।  
तथापि अविनाभावप्रपञ्चत्वात् पक्षधर्मत्वादेः असिद्धादि (द्वत्वादि) व्यवच्छेदार्थमभिधाने  
निश्चितत्वस्यापि रूपान्तरस्य अज्ञातासिद्धताव्यवच्छेदार्थम्, अवाधितविषयत्वादेश्च बाधित-  
विषयत्वादिव्यवच्छिन्नतये अभिधानप्रसङ्गः । तत्र सौगतपरिकल्पितं पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं 15  
हेतोर्लक्षणं युक्तम् ।

सिद्धि लक्षणस्ये ॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१-२०२ । "सपक्षे सत्त्वरहितस्य च श्रावणत्वादे शब्दा-  
नित्यत्वे साध्ये गमकत्वप्रतीतिः ।"—प्रमेयक० पृ० ३५५। स्या० २० पृ० ५१९ ।

(१) "पक्षीकृत एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः । यथा  
अनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः, अग्निमानयं देशो धूमवत्वात्, य एवं स एवं यथा पाकस्थान-  
म् ।"—प्रमाणप० ३३६। (२) सत्त्वस्य श्रावणत्वस्य वा । (३) अन्तर्व्याप्तिरेव । (४) तुलना-  
"साध्याभावे विपक्षे तु योऽसत्त्वस्यैव निश्चयः । सोऽविनाभाव एवास्तु हेतो रूपात्तयाह च ॥"—तत्त्वार्थ-  
श्लो० पृ० २०३। प्रमेयक० पृ० ३५६। स्या० २० पृ० ५२१। (५) विपक्षासत्त्वमेव । (६) तुलना-  
"अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्यान्वयस्य सद्भावादव्ययानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत् ।"—प्रमेयक० पृ०  
३५६। स्या० २० पृ० ५२०। (७) तथा साध्ये सत्येव उपपत्तिः साधनस्य । (८) अन्यथा साध्याभावे  
अनुपपत्तिः अभावः साधनस्य । (९) शब्दादीनामपि द्रव्यार्थतया नित्यत्वाम्युपगमात् । (१०) पृ० ४३८  
पं० १२। (११) तुलना—"हेतोरन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारसिद्धे, स्वयमसिद्धस्य  
अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासंभवात् अनैकान्तिकविपरीतार्थवत् । तस्य तथोपपत्तिनियमनिश्चयरूप-  
त्वात् । तस्य च असिद्धे व्यभिचारिणि विरुद्धे च हेतावसंभावनीयत्वात् ।"—प्रमाणप० पृ० ७२। तत्त्वार्थ-  
श्लो० पृ० २०३। प्रमेयक० पृ० ३५४। स्या० २० पृ० ५२१। प्रमेयक० ३१५। प्रमाणप० पृ० ४०।  
(१२) हेतो—आ० टि० (१३) असिद्धादीनाम् अविनाभावशून्यत्वे सत्यपि । तुलना—"रूपत्रय-  
स्य सद्भावात्तत्र तद्वचनं यदि । निश्चितत्वस्वरूपस्य चतुर्थस्य वचो न किम् ॥ त्रिषु रूपेषु चेदृषं  
निश्चितत्वं न साधने । नाज्ञातासिद्धता हेतो रूप स्यात्तद्विपर्ययः ॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३।  
प्रमाणप० पृ० ७२। स्या० २० पृ० ५२१। (१४) अज्ञात सन्नसिद्ध तद्भावस्तत्ता—आ० टि० ।

नापि यौगोपेकल्पित पञ्चरूपत्वम्, पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयस्य प्रागेव प्रत्याख्यातत्वात्,

साध्याऽविनाभावव्यतिरेकेणाऽपरस्य अवाधितविषयत्वादेरप्यसम्भवात्,  
साध्यापरिकल्पितस्य साध्याऽविनाभावव्यतिरेकेणाऽपरस्य अवाधितविषयत्वादेरप्यसम्भवात्,  
पाञ्चरूपस्य प्रतिवि अतस्तदेवं प्रधान हेतोर्लक्षणमस्तु किं पञ्चरूपकल्पनया ? नहि  
धानम्— 'अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात् जलवत्' इत्यादेवपि अविनाभावभावादप्यद्व

५ अवाधितविषयत्व नाम प्रतीयते, अवाधितविषयत्व अविनाभावयो विरोधात् । साध्यसद्भाव  
एव हेतो धर्मिणि सद्भाव अविनाभाव, तर्कभावे एव च तत्र तत्सम्भवो विषयबाधेति ।

किञ्च, अवाधितविषयत्व निश्चितम्, अनिश्चितं वा हेतोर्लक्षणं स्यात् ? न  
साधदनिश्चितम्, अतिप्रसङ्गात्, अत्रायमानस्य ज्ञापकहेत्वनङ्गत्वाच्च । नापि निश्चितम्,  
तन्निश्चयनिबन्धनाऽसम्भवात् । तन्निबन्धनं हि अनुपलम्भ, सबाध, अन्यद्वा किञ्चित् ?

॥ तत्राद्यधिकल्पोऽयुक्त, सर्वान्तरसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य असिद्धाऽनैकान्तिकत्वात् ।

(१) 'तत्र परोक्षोऽर्थो लिङ्गपते गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम् तच्च पञ्चलक्षणम् । कानि पुन पञ्च  
लक्षणानि ? पक्षधर्मत्व सपक्षधर्मत्व विषयज्ञाद्वयावृत्तिरवाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वञ्चेति । सिद्धाधिमि  
पित्तधर्मविशिष्टो धर्मो पक्ष, तद्वत्त्व तदाधितत्वमित्ययं । साध्यधर्मयोगेन निज्ञातं धर्मन्तरं सपक्ष तत्रा  
स्तित्वम् । साध्यधर्मसम्पन्नानां धर्मो विषय ततो व्यावृत्तिः । अनुमेयस्यास्य प्रत्यक्षणागमनं वाऽनपह  
रणमवाधितविषयत्वम् । सप्तयबीजभूतेनार्थेन प्रत्यनुमानतया प्रयुज्यमानानुपहृतत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम् ।  
एत पञ्चभिलक्षणैरप्यलं लिङ्गमनुमापकं भवति ।—'न्यायम० पृ० १७० । न्यायकलि० पृ० २ । न्याय  
सा० पृ० ६ । पञ्चसु वा चतुर्षु वा रूपेषु हतोरविनाभाव परिसमाप्यते तस्मादवाधितत्वात्सत्प्रतिपक्षित  
त्वरूपद्वयसमुच्चनाय नियमनमिति —'न्यायवा० ता० पृ० ३०२ । अतश्चानयो (कालात्ययापदिष्टप्रक  
रणसमयो) व्यवच्छेदाद्यमवाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्व च समानतः वगनयस्य ह्यस्य, चाव्यवस्थानुक्तसमु  
च्चयापत्वात् ।—'प्रदा० व्यो० पृ० ५६५ । (२) तुलना— साध्याविनाभावव्यतिरेकेणापरस्य अवा  
धितविषयत्वादेरसम्भवात्—'प्रमेयक० पृ० ३५७ । (३) अविनाभावव्यतिरेकः । (४) तुलना— अयपानु  
पपनत्व एवं किं पञ्चभिः कृतम् । नान्यथानुपपन्नत्व रूपं किं पञ्चभिः कृतम् ॥—'प्रमाणप० पृ०  
७२ । स्या० १० पृ० ५२७ । (५) तुलना— बाधया अविनाभावस्य च विरोधादिति । तयाहि—सत्यप्य  
विनाभावे यथोक्ते बाधासम्भव मयमानैरवाधितविषयत्व रूपान्तरमुच्यते सा चय तत्सम्भावना न सम्भ  
वति बाधया अविनाभावेन विरोधात् सहानुवस्थानलक्षणत्वात् । तमेव विरोध साध्ययन्ताह—अविनाभावो  
हि इत्यादि । सत्यप्य हि साध्यधर्मो भावो हतोरविनाभाव उच्यते, प्रमाणवाचा तु तस्मिन् नसति । यदि  
हि सत्यप्य तस्मिन् सद्भावविषय प्रमाण प्रवर्तते तदास्य भान्तत्वात्प्रमाणतैव स्यादिति कुतो बाधा ?  
तत स हेतुस्तत्क्षण साध्याविनाभावी धर्मिणि स्यात् अत्र च साध्यधर्म कथम् भवेत् यतो बाधाव  
कां स्यात् । तस्मान् विनाभावस्य प्रमाणवाचायां सहानुवस्थानम्, अविनाभावोपस्थापितस्य  
च तदभावस्य परस्परपरिहारास्मिन्निर्माणतया निराधन एव धर्मिण्यसम्भवान्ति ।—'हेतुवि० टी०  
पृ० १९५ B । बाध्यापटी० पृ० १३८ । 'न्यायम० पृ० ४४८ । प्रमेयक० पृ० ३५७ । प्रमाणमी०  
पृ० ४१ । (६) साध्याभाव एव । (७) धर्मिणि विषय । (८) हनुमम्भव । (९) तुलना—  
'विज्ञावाधितविषयत्व निश्चिनमनिश्चितं वा हनोलक्षणं स्यात् ?—'प्रमेयक० पृ० ३५८ ।  
(१०) अवाधितविषयवनिचय । (११) तुलना— 'तन्निबन्धनं हनुपलम्भं सबाधो वा स्यात् ।  
—'प्रमेयक० पृ० ३५८ । (१२) तुलना— सर्वान्तरस्य सन्निष्ठा स्वादृष्टिव्यभिचारिणी ।  
विज्ञातिरयद्विद्वत्पुत्रावापि मत्तव ॥ —तत्त्वस० पृ० ६५ । स्वसवानुपलम्भयो । आरेका

१ —बाधविनाभाववादयद् आ०, —बाधविनाभाववादयद् ध० ।

द्वितीयविकल्पोप्यनुपपन्नः; प्रागनुमानप्रवृत्तेः संवादस्याऽसिद्धत्वात् । तदुत्तरकालं तैस्तिद्धयभ्युपगमे त्वन्योन्याश्रयः; तथाहि—अनुमानात् प्रवृत्तौ संवादसिद्धिः; ततश्च अबाधितविषयत्वसिद्धेरनुमानप्रवृत्तिरिति । अथान्यत् किञ्चित्; तत् किं तद्विषयं प्रमाणान्तरम्, अविनाभावावगमो वा ? तत्र प्रमाणान्तरात् कुतश्चिदबाधितविषय- 5 त्वावगमे हेतोरकिञ्चित्करत्वं साध्यस्यापि अत एवावगमात् । न ह्यसति साध्यसद्भावा- वगमे तद्भावाविरहो निश्चेतुं शक्यः । अथाविनाभावावगमात् तदवगमः; तन्न; पञ्च- रूपयोगिनि हेतावविनाभावपरिसमाप्तिवादिनाम् अबाधितविषयत्वस्याऽनवगमे अवि- नाभावाऽवगमस्यैवाऽसंभवात् । ततोऽबाधितविषयत्वस्याऽसिद्धेः न तद्वेतोर्लक्षणं युक्तम् ।

नाप्यसत्प्रतिपक्षत्वम्; यतः प्रतिपक्षः तुल्यबलः, अतुल्यबलो वा सत्त्वेन प्रति- पिध्येत ? तुल्यबलत्वे बाध्यबाधकभावानुपपत्तिः । ययोस्तुल्यबलत्वं न तयोर्बाध्यबा- 10 धकभावः यथा राज्ञोः, तुल्यबलत्वञ्च पक्षप्रतिपक्षयोरिति । अतुल्यबलत्व तु अनयोः किङ्कृतम्—पक्षधर्मत्वादिभावाभापकृतम्, अनुमानबाधाजनितं वा ? न तावत् प्रथमपक्षो युक्तः; पक्षधर्मत्वादेरुभयोरप्यविशेषात् । नहि मूलत्वे साध्ये तत्पुत्रत्वादेः पक्षधर्म- त्वादिकं न संभवति, शैलव्याख्यानलिङ्गस्यैव वा संभवति । द्वितीयपक्षोऽप्यसंभाव्यः; अनुमानबाधाया अद्याप्यसिद्धेः । नहि द्वयोः पक्षधर्मत्वाद्यविशेषे एकस्य बाध्यत्वम् 15 अपरस्य च बाधकत्वं युक्तम्, अविशेषेणैव तैः प्रमद्भावात् । अन्योन्याश्रयश्च;

सिद्धते "न्यायवि० का० ४०६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३ । सम्प्रति० टो० पृ० १८ । आत्मतत्त्ववि० पृ० ९४ । तर्कभा० मो० लि० पृ० २२ । न्यायली० पृ० २२ । सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य सर्वश- त्वमन्तरेण ज्ञातुमशक्यत्वादमिदत्त्वम्, आत्मसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्तु परचेतोवृत्तिविशेषादिना व्यभिचारी ।

(१) अनुमानप्रवृत्त्यनन्तरम् । (२) संवादसिद्धिस्वीकारे । (३) अर्थक्रियाया सत्याम् अर्थ- क्रियास्यतिलक्षणं संवादं सिद्धयति । (४) तुलना—"तद्भावाभावनिराति सिद्धा चेत्साधनेन किम् । यथैव हेतोर्विषयस्य बाधासद्भावनिश्चये ॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०५ । "तदाप्यकिञ्चित्करत्वं हेतोः, यथैव हि हेतोर्विषयस्य बाधासद्भावनिश्चये तत्साधनासमर्थत्वादकिञ्चित्करत्वं तथैव बाधाविरह- निश्चये कुतश्चित्तस्य सद्भावसिद्धेस्तत्साधनाय प्रवर्तमानस्य मिदसाधनादपि इति ।"—स्या० २० पृ० ५२६ । (५) प्रमाणान्तरादेव । (६) अबाधितविषयत्वावगम-आ० टि० । (७) योगानाम्—आ० टि० । "एतेषु पञ्चसु लक्षणेष्वविनाभावः समाप्यते"—न्यायकलि० पृ० ३ । (८) तुलना—"यत् प्रतिपक्षस्तुल्यबलोऽतुल्यबलो वा सन् स्यात् ।"—प्रमेयक० पृ० ३५९ । स्या० २० पृ० ५२७ । "अत आह तुल्ये लक्षणे हि इत्यादि । शङ्क्यमानप्रतिहेतुना तुल्य लक्षणं दर्शनादर्शनमात्रनिमित्ताविनाभावत्वं यस्य तस्मिन्, दृष्टं प्रतियोगिनः प्रतिहेतोर्बाधकस्य संभवः स येषामपि तत्तुल्यलक्षणानां प्रतियोगी न दृश्यते तेष्वपि शकाः प्रतिहेतुसम्भवविषयामुत्पादयन्ति । किं कारणम् ? अदृष्टप्रतियोगिनो दृष्टप्रतियोगिनो विशे- पाभावात् । न हि तस्येतरेण कश्चिद्विशेषोऽस्ति यतस्तत्सम्भो न शक्येत । अथ विशेषः प्रतिबन्ध- लक्षणोऽविनाभावनिश्चायको दृष्टप्रतिहेतोरदृष्टप्रतियोगिन इष्यते, यत् प्रतियोगिसम्भवाशकाऽस्तमुपैति तदा सति वा विशेषे ॥ विशेषो हेतोरलक्षणम् ।"—हेतुवि० टो० पृ० २०४ A. । (९) अमूर्खोऽयं शास्त्रव्याख्यानादित्यस्यापि सम्भवात्—आ० टि० । (१०) बाध्यत्वस्य बाधकत्वस्य वा ।

तथाहि—अतुल्यबलत्वे अनुमानबाधा, तस्याश्च अतुल्यबलत्वमिति । ततः सूक्ष्म-  
यथोक्ताल्लिङ्गात् लिङ्गिणीः अनुमानमिति ।

ननु चार्थे निष्फलत्वात् किं तत्स्वरूपनिरूपणप्रयासेन ? फलवता हि प्रमाणेन

भवितव्यम् नान्येन अतिप्रसङ्गात्, इत्याशङ्कानुदार्थं 'तत्फलम्' इत्याद्याह । तस्य

- ५ अनुमानस्य फलं हानम् आदिर्यस्य उपादानानादेः तस्य बुद्ध्यः । ननु न किञ्चिद्  
वास्तव प्रमाणमस्ति नापि तत्फलम् अन्यत्राऽविद्यावासनाविशेषात्, इत्यप्यविचारित-  
रमणीयम्; तदुभयसङ्गावस्य वास्तवस्य 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरो-  
त्तरम्' [ लघी० का० ७ ] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्ररूपितत्वात् ।

अत्र सौगतः प्राह—यदुक्तं 'साध्याविनाभाव' इत्यादि, तत्सूक्ष्मम्; अविनाभा-

- 10 अविनाभावस्य तादा- घषलेनेव सर्वत्र हेतोः गमकत्वप्रतीतेः, स त्वविनाभावः तादात्म्यतदु-  
त्मतदुत्पत्तिभ्यामेव त्यत्तिनियतत्वात् कार्यस्यभावहेतावेव अवतिष्ठते । तदात्म्येन हि  
नियतत्वात् कार्यस्य स्वभावहेतोः अविनाभावः परिसमाप्यते, तदुत्पत्त्या तु कार्यहेतोः ।  
भावहेतावेव तत्समा- न च अन्यलिङ्गमस्ति, अनुपलब्धेरपि स्वभावहेतौ अन्तर्भावात् ।  
वन्ति नैदस्य पूर्वपक्ष- घटाद्यभाषो हि घटादिविविक्तभूतलादिस्वभावः, तदनुपलब्धिश्च

- III तद्विविक्तभूतलादिस्वभावोपलब्धिः ।

तैत्तिप्रतिपत्तिश्च उद्घातानात्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्, कार्यहेतोरविनाभावस्य प्रत्यक्षा-

(१) अनुमानस्य । (२) नाकदन्तादीनामापि निरूपणप्रसङ्गात् । (३) प्र० २०८ । (४)

'तच्च प्रतिबन्ध साध्यस्य त्रिङ्गस्य वस्तुनस्तदात्म्यात् साध्यादर्शदुत्पत्तेरपि । अतस्त्वभावस्यानदुत्पत्तेरपि  
तत्राप्रतिबन्धस्वभावत्वात् । तच्च तादात्म्यनदुत्पत्तौ स्वभावकार्ययोरेव ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः ।'

स्यापि ७० ४०-४२ । । कार्यकारणाभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् । अविनाभावानियमो दर्शनाना-

दर्शनात् ॥ यत् एव प्रतिबन्धवन्नाह गमकत्वात्तस्मात् कार्यकारणभावाद्वा नियामकात् साध्यसाधनयो-

रव्यभिचारसाधकात् स्वभावाद्वा तादात्म्यउक्षणात्रियामकात् कार्यस्य स्वभावस्य च लिङ्गस्याविनाभाव-

साध्यधर्मं विना न भाव इत्यपि —प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३३ । हेतुवि० टी० ७० ६ B । यत्तादा-

त्म्यनदुत्पत्त्या सम्बन्ध परिनिर्दिष्टम् । तदेव साधनं प्राहुः सिद्धय न्यायवादिनः ॥ —तत्त्वम० ७० ४२९ ।

(५) "इमं सर्वं कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धियप्रयोगा स्वभावानुपलब्धौ मग्नमुपयान्ति" —न्याय-

वि० ७० ५५ । "अनुपलब्धेस्तु स्वभावेऽन्तर्भावः ।" —तत्त्वम० ७० ७० ४३१ । 'स्वभावानुपलब्धेस्तु

स्वभावहेतावन्तर्भावोऽस्ति तस्या तादात्म्यप्रमाण एव प्रतिबन्धः । व्यापककारणानुपलब्धौ तु तादा-

त्म्यनदुत्पत्तिप्रमाणप्रतिबन्धवन्नादव व्याप्यव्यापक्यानिर्वात साधयन् ।' —हेतुवि० टी० ७० ७ A. । (६)

यस्मादवज्ञानगमनिर्णयो प्रत्यक्षेण एवस्य ग्रहणमेव अन्यस्याग्रहणम्, तदग्रहणमेव च तस्याभावग्रहणम्,

भाव हि तस्याप्रवृत्तायांगान् । यदाह—अन्यहेतुमात्रस्य तदप्यभिचाराच्चोपलम्भ गन्ता, तदभावोऽनुपलब्धि-

रमता, अन्यापलब्धिश्चानुपलब्धिर्निर्णयः । —प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।५ । (७) घटानुपलब्धिः । (८)

पटारतिः । (९) अविनाभावप्रतिपत्तिश्च । (१०) तुङ्गा—न्यायकु० ७० १२ टि० ३ । "यस्तु

अग्निधूमव्यतिरिक्तदण प्रथम धूमस्यानुपलम्भ एव, तदनन्तरमनुरूपलम्भ ततो धूमस्यत्युपलम्भद्वयम्,

पदवादननुरूपलम्भानन्तर धूमस्याप्यनुपलम्भ इति द्वावनुपलम्भाविनि प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चवाद् व्या-

१-प्रवरूपण-व० । २-साध्याविनाभाववलेनेव आ० । ३-तदनुपलब्धि-व० । ४-कार्यहेतोः स्वभाव-

ध०, कार्यतद्भावाद्-व० । ५-एवा वा-व० । ६-सत्ये आ० । ७-इत्यादिपि व० ।

नुपलम्भपञ्चकेन प्रतिपत्तेः । तथाहि—अग्निधूमव्यतिरिक्तेषु उपलभ्यमानेष्वपि भूत-  
लाद्यर्थेषु प्रथमम् अग्निधूमयोरनुपलम्भः एकः, अनन्तरम् अग्निरुपलम्भः ततो धूमस्य  
इत्युपलम्भद्वयम्, पश्चादग्नोरनुपलम्भोऽनन्तरं धूमस्याप्यनुपलम्भः इति द्वावनुप-  
लम्भौ, इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन एकस्यामपि व्यक्तां कार्यकारणभावावगमो भवति  
अग्नेः कार्यं धूमः । यैश्च यत्कार्यः स तेन नियतः । यदि तेन नियतो न श्यात् तर्हि  
निरपेक्षत्वात् नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात् । यैश्च नियतः स नियामकवान्, तदभावे  
स्वातन्त्र्यात् नित्यं सत्त्वासत्त्वयोः पुनः प्रसङ्गः स्यात् । ततश्चायमर्थः सम्पन्नः—यो  
यस्मादुत्पद्यमानः सकृदप्युपलब्धः स तस्मादेव नाग्यस्मात्, अहेतोस्तदुत्पत्तौ सर्वस्मात्  
सर्वस्योत्पत्तिः, इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन स्वभावहेतुद्वयेन च कार्यहेतोः सार्वत्रिकी  
व्याप्तिः प्रतीयते ।

10

स्वभावहेतोस्तु विपक्षे बाधकप्रमाणेन, यथा सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन । तथाहि—  
अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत्त्वम्, अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, ते चाऽक्ष-  
णिकान्निवर्त्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय निवर्त्तते, सां च सत्त्वम् । कस्मात् पुनः  
अक्षणिकात् क्रमयौगपद्योव्यावृत्तिरिति चेत् ? नानारूपत्वात् । कालतः पौर्वापर्यं हि  
क्रमः तद्विपरीतं यौगपद्यम्, इत्यञ्च ते नानारूपे, अक्षणिकेत्वञ्च एकरूपता, एकरूपता-  
नानारूपते च एकाशिते विरुद्धे, अतः अक्षणिकान्निवर्त्तमानं सत्त्व क्षणिक एव अद्यतिष्ठते  
प्रकारान्तरासंभवात् । नहि क्षणिकाऽक्षणिकव्यतिरिक्तसृतीयः प्रकारोऽस्ति यतस्तत्रै-  
वैस्य वृत्तिराशङ्क्येत ।

15

प्रतिग्रह इत्येषा सिद्धान्तः । तदुक्तम्—“धूमाधीर्बह्विज्ञान धूमज्ञानमपीत्यस्यो । प्रत्यक्षानुपलम्भा-  
भ्यामिति पञ्चभिरन्वयः ॥”—जैनतर्कभा० पृ० ११ । “प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन कार्यकारणभावः ।”  
—हेतुबि० पृ० ५३ B. ।

(१) उपलम्भ इति शेषः । (२) धूमोऽग्निनियतः तत्कार्यत्वात् इति । (३) अग्निना । (४)  
“नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोर्न्यायपेक्षणात् । अपेक्षातो हि भावना कादाचित्कत्वसंभवः ॥”—प्रमाणवा०  
१।३६ । (५) धूमोऽग्निनियामकः अग्निकार्यत्वेन तन्निवृत्तत्वात् । (६) उत्पद्यते इति शेषः ।  
(७) आसन्नोक्तं नियतत्वनियामकत्वरूपेण—आ० टि० । पूर्वोक्तं नियतत्वनियामकत्वरूपेण हेतुद्वयम् ।  
(८) “सत् शब्द कृतको वा, यस्त्वेव य सर्वोऽनित्यः यथा घटादिरिति । अत्र व्यस्तिसाधन विपर्यये  
बाधकप्रमाणोपदर्शनम् । यदि न सर्वं सत् कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि स्यादक्षणिकस्य त्रययौगपद्या-  
भ्यामर्थत्रयाप्रयोगादर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात् । सर्वसामर्थ्यात्त्याविरहलक्षण  
हि निरुपाध्यमिति ।”—वादव्याय पृ० ७ । तत्त्वसं० पृ० १४३ । हेतुबि० टी० पृ० १४३ A । क्षणभग-  
सि० पृ० २० । न्यायकु० पृ० ८ टि० १ । (९) त्रययौगपद्ये । (१०) अर्थक्रिया । (११) “त्रयो  
नाम परिपाटि कार्यान्तरासाहित्यं कवन्वयमङ्कुरादे । यौगपद्यमपि तत्सापरैर्बीजादिकार्ये साहित्य  
प्रकारान्तराङ्कुरादे, तदुभयावस्थाविरहेऽप्यन्याथाभवनम् ”—हेतुबि० टी० पृ० १४३ B । (१२)  
तृतीयं क्षणिकाक्षणिकवद्विभूतिं प्रकारान्तरे । (१३) सत्त्वस्य ।

1—पलम्भाऽनन्त—आ०, ख० । 2—यौगपद्यव्या—व० । 3—कृता चैक—व० । 4 ‘एकरूपता’ नास्ति  
आ०, थ० ।

अनुपलब्धिः पुनः सर्वा स्वभावानुपलब्धौ अन्तर्भवति । स्वभावानुपलब्धिश्च स्वभावहेतुः, तस्य च तादात्म्यमेव प्रतिबन्धः । अतोऽस्या न पृथक् प्रतिबन्धचिन्ता इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अविनाभावस्तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां नियतः’

इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; नहि तादात्म्यम् अविनाभावनिय-

मनिमित्तम्; तस्मिन् सति भेदाभावेन सम्बन्धाभावे अविनाभावानुप-

पत्तेः, भेदाधिष्ठानत्वात् सम्बन्धस्य । न चानिर्धार्यवादिनैः तादात्म्य-

भेदौ मनागपि उपपद्य (चे) ते । तादात्म्यं हि तत्त्वभावता, तेन साध्येन

साधनस्यैक्यम्, न चैक्ये भेदः संभवति, भेदे वा नैक्यम्, अतः

कथं तदात्मतया शिक्षाया वृक्षं गमयेत् ? तादात्म्येन च गमकत्वे

10 हेतुप्रवृत्तेः लक्षणायां तदव्यतिरेकितया साध्यस्य प्रतिपत्तत्वात् नानुमानस्य साफल्यम् ।

न ह्यगृहीतं लिङ्गं लिङ्गविषयां धियमाधत्ते । गृहीतौ च यदि लिङ्गप्रतीतौ न लिङ्गी

प्रतिभासेत् तदा कथं तथोक्तादात्म्यम् ? प्रतिभासे तु सिद्धमनुमानस्य फल्यम्, प्रति-

ज्ञार्थैकदेशता च हेतोः । विपरीतसमारोपव्यवच्छेदार्थत्वात्तस्यै साफल्यञ्चेत्; ननु तत्त्व-

(१) पृ० ४४४ प० १० । (२) तुलना—‘तथा वृक्षत्वशिक्षात्त्वयोर्न तादात्म्यप्रतिबन्ध

साध्यसाधनभावानुपपत्तिप्रसगात् । तथाहि—वर्मिष्णुपलब्धे तत्तादात्म्यादुभयोरप्युपलब्धे कथं साध्यसाध-

नभावः ।’—प्रश्न० व्यो० पृ० ५७१ । ‘अपि च तादात्म्ये कथं गम्यगमकभावः, न हि तदेव कर्म कर्तुं

चेति युक्तम्, तस्य भेदाश्रयत्वात् ।’—न्यायबा० ता० पृ० १६३ । ‘न च तादात्म्ये गम्यगमकता घटते

एवस्य सहज्जातत्वात्तादात्म्यायोगात् ।’—बृह० पृ० पृ० ९५ । ‘तादात्म्ये च यदनुमानं तदपि न साधीय,

सिद्धं हि लिङ्गं साध्यं लिङ्गवत्, न सिद्धस्य साध्यस्य च तादात्म्यमुपपद्यते ।’—प्रश्न० पृ० पृ० ६७ ।

‘न च तादात्म्ये गम्यगमकभावव्यवस्था युक्ता, तस्या भेदाश्रयत्वात् । यदि शिक्षात्वे गृह्यमाणे वृक्षमगृ-

हीतं न च तादात्म्यम् ? गृहीतं चेत् क्वानुमानम् ?’—प्रश्न० कन्द० पृ० २०७ । ‘अपि च यदि तादात्म्यं

गमकत्वागमिष्यते तदा साध्यसाधनयोर्भेदाभावेन सम्बन्धाभावादविनाभावानुपपत्तिः’—स्या० १० पृ०

५३३ । (३) सीगतस्य । (४) तुलना—‘तादात्म्ये तावत् गमकत्वाङ्गे हेतुसाध्ययोरव्यतिरेके गम्यगम-

कभाव एव दुरपपादः । न खल्वगृहीतं लिङ्गं लिङ्गप्रतीतिमाधातुमर्हति । तत्र लिङ्गबुद्धौ लिङ्गं

( लिङ्गी ) प्रतिभासे न वा ? अप्रतिभासे तद्वबुद्ध्या तदग्रहणात् कथं तस्य तदात्मकत्वम् । प्रतिभासे

तु लिङ्गवत् प्रत्यक्ष एव मोक्ष इति विमनुमानेन ?’—न्यायार्थ० पृ० ११३ । ‘तादात्म्येन च गमकत्वे

हेतुप्रतिपत्तिरेकितया साध्यस्यापि प्रतिपत्तत्वात्तानुमानस्य साफल्यम् ।’—स्या० १० पृ० ३५३ । (५)

हेतुतादात्म्येन अभिप्रतत्वात् । (६) गृहीतनिगद्यस्य सप्तम्येकवचनम् । लिङ्गग्रहणे सत्यपि, चशब्दस्य

अप्यर्थैकत्वात् । (७) लिङ्गलिङ्गिनो । (८) लिङ्गप्रतीति साध्यस्य प्रतिभासे । (९) साध्यसाध-

नयो वृक्षान्विगमपान्वयोः तादात्म्ये हि प्रतिज्ञेयदेशगुणं यत् वृक्षत्वं साध्यं तत्तादात्म्यापन्नं शिक्षात्त्व-

मेव च हेतुः इति साध्यस्य अभिप्रतत्वात् हेतोरप्यभिप्रतत्वमिति भावः । (१०) तुलना—‘विपरीतसमा-

रोत्पद्यच्छेदादर्थमनुमानमिति चेत्, न, तत्त्वस्याप्यग्रहणे विपरीतारोपणावगमभावान् । न हि गिरपाण्या-

दिविगोपदन्ते मणि रत्नाणामारोहं प्रवर्तते, तत्र तद्भेदादुपपत्तेर्नापि, न हि गिरपाण्यादय एव पुराय

इति, तदग्रहणेऽप्युपपादोः काम भवेत्, इह वृक्षान्विगमपान्वयोर्भेदान् विगमपान्वग्रहणे मणि वा वया

वृक्षोत्पत्तिमात्रेण ।’—न्यायार्थ० पृ० ११३ । स्या० १० पृ० ५३५ । (११) विगमपान्वत्वादेहेतो

—आ० टि० । (१२) हेतुत्वस्ये ।

रूपे प्रतिपन्ने, अप्रतिपन्ने वा विपरीतसमारोपः स्यात् ? तत्र प्रतिपन्ने कोऽवसरो विपरीत-  
समारोपस्य ? न हि शिरःपाण्यादिविशेषोपलब्धे स्थाणुसमारोपः समाविशति । तत्त्व-  
रूपेऽप्रतिपन्ने तु का कथा विपरीतसमारोपस्य ?

किञ्च, वृक्षत्वग्रहणे सति सामान्यग्रहणाद् विशेषाग्रहणात् स्यात् कदाचिदशिर-  
पात्वसमारोपः, नतु शिरःपात्वग्रहणे सति अवृक्षत्वसमारोपः । शिरःपात्वं हि यस्य प्रत्यक्षं ५  
वृक्षत्वं न तस्याऽप्रत्यक्षम् ।

किञ्च, सौध्यसाधनयोरव्यतिरेके यथा शिरःपात्वेन वृक्षत्वमनुमीयते, तथा वृक्ष-  
त्वेनापि किञ्च शिरःपात्वं तादात्म्याऽविशेषात् ? अथ शिरःपात्वमेव वृक्षत्वे प्रतिषेद्धं न  
वृक्षत्वं शिरःपात्वे; न स हि तादात्म्याद् गमकत्वम्, अपितु अविनाभावादेव । तत्र तादात्म्ये  
अविनाभावस्य नियतत्वम् ।

10

नापि तदुत्पत्तौ; बह्व्युत्पन्नेष्वपि धूमधर्मेण श्यामत्वादिषु अविनाभावस्याऽनुप-  
लब्धेः । न च सामान्ययोः कार्यकारणभावः किन्तु विशेषयोः, ययोश्चाऽनैधोर्महानसादौ  
कार्यकारणभावोऽधगतः न तयोर्गम्यगमकभावः, ययोस्तु पर्वतस्थयोः गम्यगमकभावः न  
तयोः कार्यकारणभावोऽनगतः । न चानवगते तस्मिन् तयोरविनाभावो प्रहीतुं शक्यः ।

(१) शिरःपात्वलक्षणे हेतुस्वरूपे प्रतिपन्ने हि तदभेदाद् वृक्षत्वमपि प्रतीतमेवेति विपरीतस्य  
वृक्षत्वेतत्त्वस्य आरोपः कथं स्यात् ? (२) “तुलना—अपि च वृक्षस्य ग्रहणे सति सामान्यधर्मग्रहणाद्वि-  
शेषानध्यवसायात् कदाचिदशिरःपासमारोपः स्यान्न तु शिरःपात्वग्रहणे सति अवृक्षत्वसमारोपो युक्तः ।  
प्रमाणः शिरःपात्वं हि यस्य प्रत्यक्षगोचरः । परोक्ष तस्य वृक्षत्वमिति नातीव लोकिक्म् ॥” —न्यायम०  
पृ० ११४ । (३) तुलना—“तयोर्भयोस्तादात्म्याद्विशेषेऽपि शिरःपात्वेन वृक्षस्य प्रतिपत्तिवत् वृक्षत्वेन  
शिरःपात्वप्रतिपत्तिरपि स्यात् ।”—प्रश० पृ० ५७१ । “किञ्च साधसाधनयोरव्यतिरेकाद् यथा  
शिरःपात्वेन वृक्षत्वमनुमीयते तथा वृक्षत्वेनापि शिरःपात्वमनुमीयते तादात्म्याविशेषात् । ततश्च सपक्ष-  
व्याप्त्यव्याप्तिभ्यां वृक्षत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोर्भेद उक्तः स हीयेत । ननु चान्य सम्बन्धः अन्यश्च  
प्रतिबन्धः, द्विष्ट सम्बन्धः, प्रतिबन्धस्तु परायतत्त्वलक्षणः । तत्र शिरःपात्व वृक्षत्वे प्रतिबन्धः न वृक्षत्व  
शिरःपात्वे, प्रयत्नानन्तरीयकत्वमपि अनित्यत्वे नियत न त्वनित्यत्व तत्रैति, तथा धूमस्याग्नी प्रतिबन्ध  
न त्वनेर्धूमे, सत्यमेवम्, किन्त्वेवमुच्यमाने नियम एवाङ्गीकृतो भवेत् तादात्म्यम् । तादात्म्ये हि यथा  
शिरःपा शिरःपा विना न दृश्यते तथा वृक्षत्वमपि शिरःपारहितं न दृश्यते, दृश्यते च खदिरादी शिरःपा-  
रहितं वृक्षत्वम्, विद्युदादौ च प्रयत्नानन्तरीयकत्वरहितमनित्यत्वमुपलभ्यत इति कथमभेदः ? विना साधन-  
धर्मेण साध्यधर्माश्रयस्ति हि । दृष्टस्तद्व्यतिरेकेण तादात्मा चेति कतवम् ॥” —न्यायम० पृ० ११४ ।  
प्रक० पृ० ५० ६७ । स्या० २० पृ० ५३५ । (४) तुलना—“कार्यहेतुरपि न सम्भवति, भवता हि  
क्षणयोर्वा कार्यकारणभावो भवेत्, सन्तानयोर्वा ? यदि धूमः कार्यत्वादनलमनुमापयेत् कटुमलिन-  
गगनमामिहवादिधर्मेरपि तस्य गमको भवेत् । न च कथञ्चित्तत्कार्यत्व कथञ्चिदतत्कार्यत्वञ्च धूमस्योप-  
पन्नम्, सर्वात्मकस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधायिप्रभवत्वात् ।”—न्यायम० पृ० ११६ । स्या० २० पृ०  
५३५ । (५) कार्यकारणभूतयो धूमाग्नयो । (६) कार्यकारणभावे । (७) पर्वतस्थधूमाग्नयो ।



न च अगृहीतोऽसौ<sup>१</sup> अनुमानाङ्गम् । तदानीं ग्रहणे तु हेतुप्रतिपत्तिसमय एव साध्यप्रति-  
पत्तेर्जातत्वात् किमनुमानेन ?

तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्याम् अविनाभावप्रतिनियमे च कथं कृत्तिकोदय शकटोदययो  
चन्द्रोदय-समुद्रवृद्धयोश्च गम्यगमकभावस्त्रै तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात् ।

५ यदप्युक्तम्—‘अविनाभासस्य प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन प्रतिपत्तेः’ इत्यादि, तदप्य-  
साम्प्रतम्, प्रत्यक्षस्य अविकल्पकतया अनुपलम्भस्यापि अर्थान्तरोपलम्भस्वभावस्य  
तर्थाभूततया शतशोऽपि प्रवृत्तस्य व्याप्तिग्रहणे मामर्ध्यासभवान् । नहि निर्विकल्पकम्  
‘इदमस्मिन् सत्येव भवति अतोऽन्यथा न भवत्येव’ इत्येतावतो व्यापारान् कर्तुं  
ममर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च इत्युक्तमन्तरमेव । नापि तत्त्वभयो  
१० निरूप, तस्य भवतीं प्रामाण्यानभ्युपगमात् ।

“व्यावृत्त्योल्लिङ्गलिङ्गित्व प्रतिन्यस्तु वस्तुनो ।

विकल्पेर्ग्रहणं तस्यै को मूयात् सांगतात् पर ॥” [ न्यायम० पृ० ११७ ]

यदपि—‘स्वभावहेतोर्विपक्षे बाधकप्रमाणेन व्याप्तिं प्रतीयते’ इत्याहुक्तम्, तदप्यु-

(१) अविनाभाव । (२) अनुमानप्रयोगकाले तु कार्यकारणयो अविनाभावग्रहणं स्वीक्रिय-  
माणं । (३) तुलना—एव सवत्र देगकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम आसन्न कार्यादिग्रहणं निदगनाय  
वृत्तं नावधारणायम । वस्मात् ? व्यतिरेकत्वात् । तद्यथा अध्वयुरोधावयनं व्यवहितस्य होतु-  
र्लिङ्गम चन्द्रोदयं समुद्रवृद्धं कुमुदविवाहस्य च गरदि जल्पसादोऽन्यस्तयोदयस्यति । एवमादि  
तत्त्ववमस्यदमिनि वचनान् मिदम् । —प्रश्न० भा० पृ० ५६२ । न्यायम० पृ० ११७ । न च तादा-  
त्म्यतदुत्पत्तिरक्षणप्रतिवधाभ्युपगमं रूपदगनात् स्वार्थानुमानम् उदयादन्तमयप्रतिपत्तिं कृत्तिको-  
दयाच्च रोहिण्यनुमानं न स्यात् तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावात् । —प्रश्न० श्यो० पृ० ५७१ । अपि च  
रसादयद्रूपं रसममानवात्प्रभुमिमनेऽनुमातारं न चानयोरस्ति कार्यकारणभावमन्तादात्म्यं वा ।  
अपि बाधनमस्य सवितुरदयस्य ह्यन्तन सवितुरदयनं चन्द्रोदयस्य च सप्तमकालस्य समुद्रवृद्धपा-  
मध्यतद्वदृष्ट्या बाधमास्तमयोदयस्य न कार्यकारणभावमन्तादात्म्यं वा अथ च दृष्ट्वा गम्यगमकभाव ।  
—न्यायम० ता० पृ० १६१-१६३ । प्रश्न० पृ० पृ० ६७ । प्रश्न० क० पृ० २०९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ०  
१९९ । समति० टी० पृ० ५९३ । स्वा० १० पृ० ५३६ । (४) कृत्तिकोदयादिहेतोः । (५) पृ०  
४४४ प० १६ । (६) अविवक्ष्यतया—आ० टि० । (७) साध्याभावे । (८) पृ० ४२७ प० २ ।  
(९) निविवक्ष्यवज्जो विवक्ष्य । (१०) सौमनेन । (११) तुलना—अपि च—व्यावृत्त्योल्लिङ्गलि-  
ङ्गित्वं प्रतिवचयन्न वस्तुनो । विवक्ष्यग्रहणं तस्य कथं गङ्गाच्छनामिदम् ॥ —न्यायम० पृ० ११७ ।  
यो हि तादात्म्यतदुत्पत्तिस्वभावं प्रतिवचयन्नप्यत्र स किं वस्तुधर्मो विवक्ष्यारविनावारधर्मो वा ? तत्र  
नायमागत्यधर्मो भवितुमर्हति वस्तु वस्तुना जयत वस्तु च वस्तुस्वभावं भवेन तस्माद्वस्तुधर्म  
प्रतिवचय । विवक्ष्यव वस्तु न सृजत तन्प्रतिवचयन्न निरसीयत इति चित्रम् । इदञ्च स्वभाविनम  
वस्तुना प्रतिवचयताम्प्यात् गम्यगमकवञ्च विवक्ष्यारोपिनयोरुपेक्षा । तन्वमयत्र प्रतिवचय  
अथ न दृष्टान्ताय अथ प्रवृत्तिप्रवृत्ति इति नव ननवम । —न्यायम० पृ० ३४ ।  
(१२) प्रतिवचयन्न अविनाभावमप्य । (१३) पृ० ४४५ प० ११ ।

किमात्रम्; यतो विपक्षे बाधकं प्रमाणं क्रमयौगपद्यानुपलम्भलक्षणमनुमानम् । अनुमानञ्च सिद्धव्याप्तिकमेव स्वसाध्यसिद्धये प्रभवति नान्यथाऽतिप्रसङ्गात् । व्याप्तिश्च तत्राप्यनुमानान्तरेण प्रतीयते, प्रथमानुमानेन वा ? अनुमानान्तरेण चेत्; अनवस्था । प्रथमानुमानेन चेद्; अन्योन्याश्रयः । अतोऽनुमानमिच्छता भवता व्याप्तिग्राही तर्कः प्रमाणान्तरं प्रतिपत्तव्यः, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तद्ग्रहणानुपपत्तेः इति ।

एतदेवाह—‘नहि’ इत्यादि । तत् साध्यम् आत्मा यस्य तस्य भावः तादात्म्यम्, तस्मात् साध्याद् आत्मलाभः तदुत्पत्तिः, पुनरनयोः इतरेतरयोगविनूतिव्याख्यानम्—  
लक्षणो द्वन्द्वः । ननु स्वन्तत्वात् तदुत्पत्तिशब्दस्य पूर्वनिपातः प्राप्नोति; तन्न; अस्य लक्षणस्य “लक्षणहेत्वोः क्रियायाः” [ जैनेन्द्रव्या० २।२।१०४ ] इत्यनेन अनैकान्तिकत्वात् । ते तादात्म्यतदुत्पत्ती नहि नैव ज्ञातुं शक्येते । कथमित्याह—‘विना’ इत्यादि । साध्याभावप्रकारेण अन्यथा या अनुपपत्तिः अघटना साधनस्य तस्याः सम्बन्धी ग्राहकत्वेन तर्कः तेन विना । तदेवं वृक्षत्वशिशपात्पादादौ तादात्म्यादेः सद्भावेऽपि अविनाभावबलेनैव शिशपात्पादादेरेव वृक्षादिकं प्रति गमकत्वम् न वृक्षत्वादेः शिशपादिकं प्रति इति प्रतिपाद्य, इदानीं तदभावेऽपि तद्बलेनैव गमकत्व प्रतिपादयन्नाह—‘ताभ्याम्’ इत्यादि । ताभ्यां तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनैव एकलक्षणस्य अविनाभावस्य सिद्धिः निष्पत्तिः निर्णीतिर्या । एतदेव समर्थयमानः ग्राह—‘नहि’ इत्यादि । ‘हिर्यस्मात् न वृक्षादिः आदिशब्देन रसादिपरिग्रहः । छायादेः अत्रापि आदिशब्देन रूपादिस्वीकारः, स्वभावः वृक्षादिछायाद्योः देशादिविभेदात्, कार्यं वा सहभावात् इत्यभिप्रायः ।

ननु च आस्वाद्यमानात् रसात् वृक्षाच्च सारमयी अनुमीयते ततो रूपस्य छायायाश्चा-

(१) अनुमीयतेऽनेनेति अनुमान हेतु । (२) नित्यमर्थोक्रियाशून्य क्रमयौगपद्यानुपलम्भात् इत्यत्र । (३) व्याप्तिग्रहणानुपपत्तेः । (४) ‘तु’ इति सज्ञा जैनेन्द्रव्याकरणे पाणिनिव्याकरणस्य ‘चि’ सज्ञाया स्थाने प्रयुज्यते । “द्वन्द्वे सु ।” १ । ३ । ९७ । द्वन्द्वे स्वे स्वन्त पूर्व प्रयोक्तव्यम् ।” —जैनेन्द्रव्या० । (५) ‘द्वन्द्वे सु’ इति व्याकरणमूलस्य । (६) अत्र हि हेतुशब्द स्वन्तस्तथापि नास्य पूर्वनिपातः । (७) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि । (८) अविनाभावबलेनैव । (९) वृक्षादि छायादेर्न स्वभाव देशादिभेदात्, न च कार्यं सहभावान्—आ० टि० । (१०) “एकसामग्र्याधीनस्य रूपादे रसतो गति । हेतुधर्मानुमानेन धूमेधनविकारवत् । या च रसतो मधुरादिकात् रूपादे, आदिशब्दात् गन्धस्य स्पृशस्य च एकसामग्र्याधीनस्य रसादिना सह एकसामग्र्यायसस्य गति, सा कथमित्याह हेतुधर्मानुमानेन रसकारणस्य धर्मो रसादिसहचररूपजनकत्व तदनुमानेन रसात् रूपादिगति । न हि कार्यं रस कारणमन्तरेण, कारणञ्चास्य रमसहचारिरूपजनक पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्तेः । अतस्तस्मिन्ननुमितेऽनुमितयेव रूपम् धूमेधनविकारवत् । धूमाद् हेतुधर्मानुमानेन द्रव्यनविकारस्य अङ्गारादेर्धूमसहचरस्यैव धानुमानम् ।” —प्रमाणवा० मनोरथ० ३।८ । “तेनायमर्थो रसात् सकाशात् तद्धेतो रमसमानकालभाविस्वरूपजनकत्वनिश्चीयते, एव हि तस्य रमसमानकालभाविस्वरूपजनकत्व निश्चीयते । यदि समानकालभाविनो रूपस्यापि निश्चय स्यात् तेनानीतकालानामेकैव गति कार्यलिङ्गजा ।” —प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।८ । हेतुवि० टी० पृ० ५४ A. ।

1-लक्षणमनुमानञ्च सि-ब० । २ इत्यन्तत्वात् थ०, स्वल्पान्तरत्वात् व० । ३-मित्याद्याह व० । ४ वृक्षादेः व० । ५ हि य-व० । ६ देशादिभे-प्र०, व० । ७ सामाग्र्यानु-ब०, सामग्र्यानु-थ० ।

नुमानम् अनुमितानुमानान्; इत्यप्यसत्; तथा व्यवहाराभावात् । नहि आस्वाद्यमानाद् रसाद् व्यवहारी सामग्रीमनुमिनोति; वर्तमानरूपादेरप्रतीतिप्रसङ्गात् । तथा च 'इदमा-  
न्नफलम् एवंविधरूपम् एवंविधरसत्वात्' इत्यनुमानम्, पावकरूपदर्शनात् तत्समकालो-  
प्यस्पर्शानुमानम्, तदर्थिनः तत्रैव प्रवृत्तिश्च न प्राप्नोति । व्यवहारानुसारेण च भवेता प्रमा-  
० णचिन्ता प्रतन्यते "प्रमाणार्थं व्यवहारेण" [ प्रमाणवा० २५ ] इत्यभिधानात् । सामग्रीतो  
रूपानुमाने च कारणत्वात् कार्यानुमानप्रसङ्गात् लिङ्गसंख्याव्याघातः स्यात् । ततः सिद्धम्-  
अकार्यादस्यभावाच्च वृक्षादेः छायाद्यनुमानम् । तर्हि व्यभिचारोऽत्र भविष्यति इत्यत्राह-  
'नच' इत्यादि । नच नैव वृक्षादेः छायाद्यनुमाने विसंवादो व्यभिचारोऽस्ति तत्प्राप्ति-  
प्रतीतिः । अत्रैवार्थे दृष्टान्तान्तरमाह-

१० चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथाऽनुमा ॥ १३ ॥

विवृतिः-न हि जलचन्द्रादेः चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा ।

चन्द्र आदिर्यस्य आदित्यादेः स तथोक्तः, तस्मात्, जलचन्द्र आदिर्यस्य

कारिकविबृत्यो. जलादित्यादेः सोऽपि तथोक्तः तस्य प्रतिपत्तिः तथा [अन्यथाऽ] नृपे-  
व्याख्यानम्- तिप्रकारेण अनुमा अनुमानम् । जलचन्द्रादिना प्रतिपत्तिः चन्द्रादेरिति

१५ या व्याख्यातव्यम् । एतदेव व्याचष्टे 'नहि' इत्यादिना । 'नहि' नैव जलचन्द्रादेः

(१) तुलना-"समानक्षणयोग्यगमकभावोपलब्धे, तथाहि-रूपसणात् समानकाल. स्पर्शोऽनु-  
मीयते न पूर्वं, तत्र एकसामग्र्यधीनत्वासम्भवं एव । न च रूपस्पर्शयो परस्परतोत्पत्तौ कारणत्वे प्रमाणमस्ति  
इतरान्वयस्येतरानुपलब्धे ।"-प्रश्न० श्लो० ५० ५७१ । "लौकिकानाम्बन्धनद्वसाद् रूपानुमानम् । न चैते  
पिशितचक्षुष क्षणानामन्योन्यप्रेषदध्यवस्यन्ति । न चानध्यवस्यन्त प्रवृत्तरूपोपादानसामर्थ्यं रसहेतुमनु-  
मातुमुत्सहते ।"-श्यायवा० ता० ५० १६३ । "लोकस्येत्स्वमप्रतीति, रूपमेव रमाल्लोक प्रतिपद्यते ।  
लौकिकी च प्रतीति परीक्षार्कण्यनुसरणीया ।"-प्रश्न० पं० ५० ६७ । बृह० पं० ५० ९४ । (२) न  
प्राप्नोतीत्यर्थं किन्तु इदमामुपलमेवविधिसामग्रीकमिति प्राप्ति -आ० टि० । (३) रूप-उप्यस्पर्शादिन ।  
(४) रूपादौ न प्रवृत्ति प्राप्नोति किन्तु सामग्र्याम् -आ० टि० (५) सोगतेन । (६) तुलना-"तथा  
च रमात् कार्यात्तत्कारण रूपमनुमानन् तदवचानुमिताद्रूपात् कारणात् तत्कार्यं रसमानकाल रूपमनु-  
मातव्य तथा च कारणात् कार्यानुमान तादात्म्यतदुत्पातिभ्यामन्यदिति नाभ्यामेव प्रतिबन्धसिद्धि ।"  
-श्यायवा० ता० ५० १६२ । प्रश्न० पं० ५० ६७ । बृह० पं० ५० ९४ । "रसादेकसामग्र्यनुमानेन  
रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारण हेतुर्नैव सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैक्ये ।"-परीक्षा०  
३।६० । सगति० टी० ५० ५९३ । प्रमाणनय० ३।६६ । प्रमाणमी० ५० ४३ । (७) यदि सामग्री  
कारण रूपादयन्तु कार्यं तदा स्वभावलिङ्ग वार्यलिङ्ग कारणलिङ्गमिति त्रयप्रसक्ते -आ० टि० । (८)  
"त्रोपेव च लिङ्गाणि । अनुपलब्धि स्वभावकार्ये चेति ।"-न्यायवि० ५० ३५ । (९) कारणहेतुसमर्थ-  
नार्थम् । (१०) "चन्द्र आदिर्यस्य आदित्यादेरसौ चन्द्रादि तस्मात् कारणभूतात्, जले स्वच्छाम्मसि  
चन्द्रादे चन्द्रादिप्रतिबिम्बस्य प्रतिपत्तिरवबोधोऽनुमा अनुमानमनुमन्तव्यमव्यभिचारात् । किञ्च ? तथा  
कार्यात्कारणप्रतिपत्तिवत् ।"-लघी० ता० ५० ३२ । तुलना-"चन्द्रादौ जलचन्द्रादि सोऽपि तत्र तथाविध ।  
छायादिपादपादौ च सोऽपि तत्र कदाचन ॥"-तत्त्वार्थश्लो० ५० २०१ । (११) जलप्रतिबिम्बितस्य  
चन्द्रादे । (१२) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि -आ० टि० ।

१ अनुमित्यनुमा-आ०, व० । २ प्रतिपत्तिश्च व० ।

चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा, अथ च अतः तत्रै अन्यमिचारिणी प्रतिपत्तिः प्रतीयते इति ।

ननु जलादौ न प्रतिबिम्बं नाम वस्त्वन्तरं संभवति, तत्संभवे विम्बसन्निधानात् जलादौ न आदित्यादेः प्रागपि तत्रै तदुपलम्भप्रसङ्गात् । अथ विम्बसन्निधान एव तदुत्पद्यते प्रतिबिम्बं किन्तु स्वदेशस्य एव आदित्यादि अतो न प्रागपि तत्प्रसङ्गः ; ननु तैत्तिन्ननिधाने गुणरूपम्, द्रव्यरूपं वा तत्र प्रनिभास्ते इति प्रति तदुत्पद्यते ? न तावद् गुणरूपम् ; द्रव्यत्वेन प्रतिभासमानत्वात् । अथ विम्बाभाववादिन कुमारेण द्रव्यरूपम् ; तर्हि निरवयवद्रव्यरूपम्, सावयवद्रव्यरूपं वा ? रिलमट्टस्य पूर्वपक्षे - तत्राद्य-पक्षोऽनुपपन्नः ; तत्रै अवयवप्रतिभासनात् । नापि सावयवम् ; जलादिस्पर्शात् पृथक् तैत्तिन्नोपलम्भासम्भवात् ।

स्पर्शवन्तश्च परमाणवः स्पर्शवद्रव्यस्यारम्भका भवन्ति, तत्र चार्थं किं जलादिपरमाणव एव आरम्भकाः, अन्ये वा ? न तावदन्ये, स्पर्शवदवयविदेशे तेषां तदारम्भकत्वासंभवात् । अथ जलादिपरमाणव एव तदारम्भकाः, तत्र, जलमयत्वेन अस्याऽप्रतिभासनात् । जलरूपवैलक्षण्यप्रतीतिश्च, शुक्ल हि रूपं जलस्य, न च मुत्तादिप्रतिबिम्बे तदस्ति । न च विम्बरूपमेव तदारम्भकमित्यभिधातव्यम्, निमित्तकारणगतस्य पृथग्देशावस्थितस्य रूपस्य कार्यद्रव्यरूपानारम्भकत्वात् । द्वयोश्च सावयवयोः समानाकाशदेशत्वा-नुपपत्तिः । आश्रयद्रव्यस्य च आदर्शदेः परिमाणगौरवयोरुत्कर्षः स्यात्, न चैतदस्ति । अतो न प्रतिबिम्बं किञ्चिद् वस्त्वन्तरं युक्तम् । ननु यदि तैत्तिन्नास्ति कथं जलादौ सूर्यादिप्रतिबिम्बप्रतिभासः ? इत्यप्युक्तम् ; तत्रै तैत्तिन्नप्रतिभासाऽसंभवात्, स्वदेशस्थस्यैव आदित्यादेः तत्रै प्रतिभासनात् ।

अत्रैके प्रतिबिम्बोदयवादिनः पर्यनुयुज्यते—यदि स्वप्रदेशस्थ एव सचिता उपलभ्यते न प्रतिबिम्बानि, कस्मात्तर्हि नोपरि एव दृश्यते ? नहि अन्यत्रैस्थः अन्यत्रै द्रष्टुं

(१) जलचन्द्रादे । (२) चन्द्रादौ । (३) जले—आ० टि० (४) प्रतिबिम्बोपलम्भ । (५) प्रतिबिम्बम् । (६) विम्बसन्निधाने । (७) प्रतिबिम्बे—आ० टि० । (८) हस्तपादादीनाम्—आ० टि० । (९) यदि सावयव प्रतिबिम्बमर्थान्तरभूत जले समुत्पन्नं तदा तस्य स्पर्शादिभिः पृथग्भूतैर्भवि-तव्यम्, न चैतन्मभवति, जलीयस्पर्शाद्यात्मकत्वात् प्रतिबिम्बस्पर्शादीनाम् । (१०) प्रतिबिम्बस्य । (११) उत्पादका । (१२) अन्येषाम्—आ० टि० । (१३) शुक्ल रूपम् । (१४) कार्यद्रव्यरूप-पारम्भकं हि समवायिकारणगतं रूपं भवति । (१५) अथ निमित्तकारणं तत्रागत्य निष्पादयतीत्याह—आ० टि० । निमित्तसमवायिकारणयोः । “सहैकत्र द्रव्यासत्त्वान्न वस्तु प्रतिबिम्बकम् । तत्कथं कार्यता तस्य युक्ता चेत्पारमार्थिकी ॥ अवस्तुत्वे हेतुः सहैकत्र द्रव्यासत्त्वादिति । यत्रैव प्रदेशे आदर्शरूपं दृश्यते प्रतिबिम्बकञ्च तत्रैव । न चैकत्र प्रदेशे रूपद्रव्यस्यास्ति सहभावः सप्रतिपत्त्यात्, अतः सहैकत्र द्वयो रूपयोः सत्त्वं न प्राप्नोति । तस्माद् भ्रान्तिरियम् । अतो नाम्नेव किञ्चिद्बस्तुभूतं प्रतिबिम्बकं नाम ।” —तत्त्वसं० प० पृ० ४९८, ६९७ । (१६) प्रतिबिम्बम् । (१७) जलादौ । (१८) सूर्यादिप्रतिबिम्ब । (१९) जलादौ । (२०) जनादयः । (२१) नमोदेसस्य । (२२) जलादौ ।

१ जलादेर्न व० । २ नावयवम् अ० । ३ स्पर्शद्रव्य-अ० । ४—स्थितस्य कार्य-व० । ५-रूपागम्भक-अ० । ६ वा व० । ७-त्यादे प्रति-व०, अ० । ८ अत्र केचित् प्र-अ० ।

पार्यते सर्वदा तैश्चादर्शनप्रसङ्गात् । न च प्रतिबिम्बमन्तरेण कूपादिषु अधस्तात्तद्दीक्षणम् । प्राङ्मुखश्चैव दर्पणे पश्यन् प्रत्यङ्मुखश्च कथं स्यात् ? यदि च बहिर्निष्क्रान्तमिन्द्रियं तत्रैव बोधयेदर्थं तत एतदेवं भवेत्, शरीरे तु तद्बोधकमिति । उक्तञ्च—

“अन्ये तु बोधयन्त्यत्र प्रतिबिम्बोदयैपिणः । एव चेत् प्रतीयेत कस्माच्चोपरि दृश्यते ? ॥

- ४ कूपादिषु कुतोऽधस्तात् प्रतिबिम्बाद्विनेक्षणम् । प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् स्याच्च प्रत्यङ्मुखः कथम् ? ॥ तत्रैव बोधयेदर्थं बहिर्याति तैदीन्द्रियम् । तत एतद्भवेदेवं शरीरे तच्च बोधकम् ॥”

[ भी० श्लो० अम्बनि० श्लो० १८३-१८६ । ] इति” ।

- अत्रोच्यते—जले सूर्यादिदर्शनां द्वेधा चक्षुः सर्वदा प्रवर्तते, एकमूर्ध्वम्, अपरञ्च अधस्तात् । तत्र नोर्ध्वासप्रकाशितं सूर्यम् आत्मा प्रतिपद्यते अधिष्ठानाऽन्तु-  
 10 स्यात्, अवागवृत्त्या तु तं बुध्यते पारम्पर्यार्पितं सन्तम् अधिष्ठानजुत्पत्त्या, अवागिव च मन्यते । ऊर्ध्ववृत्तितदेकत्वात्, तेन कारणेन अधस्तादेव आवित्यः सान्तरालः प्रतीयते । एवं दर्पणादौ नायनो रश्मिः प्रतिहृतो व्यावृत्त्य स्वकीयमेव मुखं प्राङ्मुखरश्मेः समर्पयति, ततश्च प्राग्गतया नायनरश्मिवृत्त्या मुखं बुद्ध्यमानः प्रतिपत्ता प्रत्यक् तद्वृत्तिसमर्पितं “प्रत्यग्” इत्यवगच्छेति । तदुक्तम्—

- 15 “तैर्ध्वसूर्यदर्शनां नित्यं द्वेधा चक्षुः प्रवर्तते । एकमूर्ध्वमधस्ताच्च तैर्ध्वोऽप्रकाशितम् ॥

(१) जलादावेव सूर्यदर्शनं स्यात् । (२) सूर्यादि । (३) पुरुषः । (४) अर्धदेवो गत्वा । (५) स्वदे-  
 वास्य एव आदित्यादिस्तत्र प्रतिभासत इति—आ० टि० । (६) इन्द्रियं चक्षुः । (७) व्याख्या—“जलादिषु  
 यदेकोऽपि नानात्मा सञ्चितेदयते—इत्यस्य हेतुव्याभिचारविषयत्वेनोक्तस्यासिद्धिं मन्यमाना प्रतिबिम्बमर्था-  
 न्तरनिष्कन्तारचोदयन्ति । यदि स एव एवादित्यो दृश्यते न प्रतिबिम्ब तत्त्वमिति उपरिष्टादस्य दर्शनं न  
 भवति ? एव हि तस्य दर्शनं भवेत् यदि देशावस्थितस्वरूपं गृहणीयात् नान्यथा, अन्यथा हि अतिप्रसङ्गः ।  
 निष्पन्नं, कूपादिषु च दूराद्यधिवृत्त्यादिः कथं ग्रहणं भवेत् यदि तत्र प्रतिबिम्ब नोत्पन्नः स्यात् ? न हि  
 तत्र तथार्थादिबिम्बमिति । अपि च प्राङ्मुखो दर्पणमवलोकयन् चक्षुःप्रत्यङ्मुखो भवति ? न हि  
 तस्य तदा पृष्ठाभिमुखं मुखमुपजातं दृश्यते । एव मन्यते यदि बहिर्निगलमिन्द्रियमादित्यं बोधयेत्तत  
 एतत्स्यात् उपरिस्थितमेव पश्येन्प्राथम्यादिनि । यावता धर्मापमेवशीकृते शरीरे एव तदिन्द्रियं प्राह्वमि-  
 प्यते नांरिष्यम् ।”—तत्त्वसं० पृ० ६१४ । (८) ‘प्रतिबिम्बेक्षणं भवेत्’-भी० श्लो० । (९) ‘स्याच्चैत्र’  
 -भी० श्लो० । (१०) ‘यदिन्द्रियं’-भी० श्लो० । (११) उद्धृता एते—तत्त्वसं० पृ० ६१४ । प्रमेयक०  
 पृ० ४०८ । (१२) प्रतिबिम्बनिर्णयमिति—आ० टि० । (१३) ऊर्ध्वाधोरश्मोनामेवत्वात्—आ० टि० ।  
 (१४) व्याख्या—“एवमेव चक्षुस्तत्त्वमिन्द्रियमवगतं द्वेधा वर्तते अधस्तादूर्ध्वञ्च । तत्रोर्ध्ववृत्तिप्र-  
 काशितं देशानाजंवाप्रात्मा बुद्ध्यत इति । नस्मात्तर्हि बुद्ध्यत अत्र आह—पारम्पर्येति । ऊर्ध्ववृत्तिरथोर्ध्वं  
 समर्पयति सा च आत्मन इति । न पुनर्ऊर्ध्ववृत्तिरथोर्ध्वत्वा सम्बन्धो येन समर्पयति अत्र आह ऊर्ध्वेति ।  
 एवमेव हि तावन्तो तेनाथोर्ध्ववृत्तेस्तस्या वृत्त्या धर्मरूपेणैकमिति अधोवृत्त्याज्वल्यमानान्नदानुगुण्याद-  
 वागिव मुखं मन्यत इति । यत्तु प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् कथं प्रत्यङ्मुखो दृश्यत इत्युक्तं तत्राह—  
 एवमिति । तत्रार्थं प्रत्यङ्मुखिरवागिव मुखम् अधिष्ठानानाजंवाप्रात्मा प्रतिपद्यत इति, किन्तु प्रत्यङ्वृत्ति-  
 प्राङ्मुखे समर्पयति तथा च समर्पितं प्राङ्मुखत्वा बुद्ध्यमानः तदानुगुण्येन प्रत्यङ्गिति बुद्ध्यते । नन्वत्र दर्पणस्यमेव

अधिष्ठानानुजुत्वाच्च नात्मा सूर्यं प्रपद्यते । पारम्पर्यार्पितं सन्तमवावृत्त्या नु बुध्यते ॥  
 ऊर्ध्ववृत्तितदेकत्वात् अवागि न च मन्यते । अथस्तादेव तेनार्कः सान्तरालः प्रतीयते ॥  
 एवं प्रोग्नतेया वृत्त्या प्रत्यवृत्तिसमर्पितम् । बुध्यमानो मुक्तं भ्रान्तः प्रत्यगित्यवगच्छति ॥”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८६-१९० । ] ईति ।

किञ्च, यदि प्रतिबिम्बमर्थान्तरं बिम्बादुत्पन्नं तदा कथं बिम्बे चलति नियमेन ५  
 तदपि चलेत्, तिष्ठति च तिष्ठेत्? नहि दण्डे चलति तिष्ठति च ततोऽर्थान्तरभूतो घटः  
 नियमेन चलति तिष्ठति चेति प्रतीयते । प्रतीयते च बिम्बस्य चलाचलत्वे नियमेन  
 प्रतिबिम्बस्य चलाचलत्वम्, अतो न तत् ततोऽर्थान्तरम् । § यदि च तसतोऽर्थान्तरं §  
 स्यात् तदा दर्पणादौ बिम्बापाये कुतो नोपलभ्यते ? विनष्टत्वाच्चेत्; न; निमित्तकारणा-  
 पाये कार्यस्य अपायाऽप्रतीतेः । न सलु दण्डादेर्निमित्तकारणस्यापाये घटादेः कार्यस्य 10  
 विनाशः स्वप्नेऽपि प्रतीयते । अस्तु वा तदपाये तद्विनाशः; तथापि प्रतिबिम्बविनाशे  
 पृथक् तदवयवोपलम्भप्रसङ्गः घटविनाशे कपालोपलम्भवत्, नैवैवमस्ति । ततो न

मुखं गृह्यते न जलपात्रेणैव अथ सान्तराल तत्कस्य हेतो ? अत्रापि सान्तरालमेव प्रत्यावृत्त्या प्रकाशित  
 प्राग्वृत्त्यै समर्पितं तथैव ग्रहीतव्यम्, उच्यते-वस्तुस्वभावस्याप्यनुयोग्यत्वादयोप । तत्रैव हि दर्पणादिषु  
 तद्गतमेव मुखं गृह्यते जले तु सान्तरालमिति किमत्र पुच्छ्यते इति ।”-मी० श्लो० म्यावर० पृ० ७७६-७७७।  
 “ये हि जलपात्रे जलं सूर्यञ्च पश्यन्ति तेषामभ्युदयशिनोऽमेकमेव चक्षुर्ध्वमधश्च द्विधा भागशः प्रवर्तते ।  
 तत्रोर्ध्वभागप्रकाशितमादित्यमात्मा पुरुषो न गृह्णाति । कुत ? अधिष्ठानानुजुस्यत्वात्-चक्षुरिन्द्रिया-  
 धिष्ठानस्याजनेन तदानवस्थितत्वात् । पारम्पर्येण तु सीरेण तेजसा वृत्तेरपि मादित्यमवागृत्वा कार-  
 णभूतया बुध्यते । तथाहि-किल सीर तेजस्तेजस्विन वृत्तेरप्यति वृत्तिश्चक्षुषश्चक्षुरात्मन इत्येतेत्  
 पारम्पर्यार्पणं सूर्यस्य तेजस्विन इति । आदित्यमूर्ध्ववृत्तिम् उपरित्यञ्च तमादित्यमवागिव अथ स्थि-  
 तमिव मन्यते । क ? आत्मा । न पुनरथस्तादन्य एवादित्य । कुत ? तदेकत्वात् तस्यादित्यस्य  
 अभिन्नत्वात् । चक्षुष इत्यपरे । तस्मादनन्तरोदितेनैव चक्षुषो वृत्तिवत्त्वेन सान्तरालोऽभ्यस्तात्प्रादिषु  
 सूर्यो दृश्यते जलादिपात्रभेदाच्च । अन्यथा कथमभेदेन ग्रहणं स्यात् ? प्रथमं विलं चक्षुरश्मयो मुखमा-  
 दाय निर्गच्छन्ति यावदादर्शादिदेनाम्, सा प्राकृतता वृत्तिरुच्यते । ते च तनाददर्शादौ प्रतिहता निवर्तमाना  
 स्वमुखमेव मयाकस्थितमागच्छन्ति । सा च प्रत्यवृत्तिः । तत्र प्राकृतता वृत्तिर्मुखं प्रत्यवृत्तेरप्यस्ति,  
 प्रत्यवृत्तिश्चात्मन, तत आत्मा प्रत्यवृत्तिसमर्पितमवगच्छन् मुखं भ्रान्त्या प्रत्यङ्मुखं यास्यामीति  
 भ्रम्यते । चक्षुर्वृत्तेर्विचित्र्यमेव भ्रान्तिबीजमिति भावः ।”-तत्त्वसं० पं० पृ० ६१५ । (१५) ‘चक्षुर्ध्वं’  
 -मी० श्लो० । (१६) ‘तत्रोर्ध्वानुप्र’-तत्त्वसं० ।

(१) ‘अधिष्ठानानुजुस्यत्वात्मा’-मी० श्लो०, तत्त्वसं० (२) ‘वृत्त्याऽववृ’-तत्त्वसं० ।  
 ‘वृत्त्या तु वृ’-मी० श्लो० । (३) ‘ऊर्ध्ववृत्तेस्तदे’-मी० श्लो०, ‘ऊर्ध्ववृत्तितदे’-तत्त्वसं० । ऊर्ध्ववृ-  
 त्तिरश्मीनामधोवृत्तिभि रश्मिभि सममेकत्वात्-आ० टि० । (४) ‘प्राग्भूतया’-मी० श्लो० । (५)  
 ‘भ्रान्त्या’-मी० श्लो०, तत्त्वसं० । ‘भ्रान्ते’-प्रमेयक० । (६) उद्धृता इमे-तत्त्वसं० पृ० ६१४ ।  
 प्रमेयक० पृ० ४०८ । (७) प्रतिबिम्बमपि । (८) दण्डात् । (९) प्रतिबिम्बम् । (१०) बिम्बात् ।  
 (११) प्रतिबिम्बम् । (१२) निमित्तकारणस्य बिम्बस्याभावे । (१३) कार्यभूतस्य प्रतिबिम्बस्यापायः ।  
 (१४) प्रतिबिम्बावयव । (१५) न सलु प्रतिबिम्बनाशे पश्चात्पुटिता अवयवा समुपलभ्यन्ते ।

वास्तवं जलादौ प्रतिबिम्बमभ्युपगन्तव्यम्, किन्तु तेन प्रतिहता रश्मयो व्यावृत्य मुसादि-  
विम्बमेव जलादौ दर्शयन्तीत्यभ्युपगन्तव्यमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘जलादौ न प्रतिबिम्ब नाम यस्त्वन्तर सभवति’

तन्निरसनपुरस्सर इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, यतोऽस्य असंभव ग्राहकप्रमाणा-  
प्रतिबिम्बस्य परमा- संभवात्, उत्पादकरणाभावाद्वा स्यात् ? तत्राद्य पक्षोऽनुपपन्नः,  
यतः पुद्गलमन्त्र निरितिलेप्रमाणज्येष्ठस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यैव तत्र तत्सद्भावावेदकस्य संभ-  
वसाधनम्— वात् । ‘निर्मले हि जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्ब पश्यामि’ इति प्रतीति

प्रतिप्राणि प्रसिद्धा । नहि ईय ‘चन्द्र पश्यामि’ इत्येव रूपोपजायते, नापि जलम् । किं  
तर्हि ? चन्द्रादेः प्रतिबिम्बमिति । न चेय प्रतीतिभ्रान्ता, सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एकादृशे-  
नैव रूपेण उपजायमानत्वात् । यत् सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामेकादृशेनैव रूपेण उपजायते न  
तद् भ्रान्तम् यथा घटादिसवेदनम्, तथाभूता चेय प्रतिबिम्बप्रतीति, तस्मान्न भ्रान्ता  
इति । भ्रातसवेदनस्य तथाविधस्वरूपेणोत्पत्त्यनुपपत्तेः । नहि भ्रान्त शुक्तिकादौ  
रजतादिसवेदन सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एकादृशेनैव रूपेण उपजायते, दुष्टेन्द्रिययोगिनामेव  
पुसा तदुत्पत्तिप्रतीते, अदुष्टेन्द्रिययोगिना तेषां तदनुपपत्तेः ।

विद्म, यत्र ज्ञाने समुत्पत्ते बाधकप्रत्ययः कारणदोषज्ञान वा प्रादुर्भवति तद्  
भ्रान्तं भवति, यथा शुक्तिकाया रजतादिज्ञानम् । न च आदर्शादौ प्रतिबिम्बप्रतीतौ  
‘नैतदेवम्’ इत्येवरूपो बाधकप्रत्ययः कदाचिदप्याविर्भवति । न च बाधकाभावेऽप्यस्य  
भ्रान्तत्वं वाच्यम्, अतिप्रसङ्गात् । कारणदोषाऽप्रतीतेश्च न तत्प्रतीतिभ्रान्ता । प्रतिबिम्ब-  
प्रतीते रजत कारणम् आत्ममनश्चक्षुरादिलक्षणम्, न च तत्र दोषा प्रतीयन्ते । नहि  
क्षुदादिरात्मनो दोष निद्रादिर्मनस काचकामलादिश्चक्षुष तैःप्रतीत्युत्पत्तौ प्रतीयते,  
मन्त्रप्रत्यय निद्रागुणुपहृतचेतसो निर्मलनेत्रस्यापि प्रतिपत्तु प्रतिबिम्बप्रतिपत्ते प्रतीयमान-  
त्वात् । तदेव सिद्धमभ्रान्तमिदं प्रत्यक्ष विम्यात् प्रतिबिम्बस्य अर्थान्तरत्वं प्रसाधनम् ।

तथा अनुमानमप्यस्य औश्रय विम्याभ्यामर्थान्तरत्वप्रसाधकमस्त्येव । तथाहि—

(१) जलदण्णादिना । (२) ५० ४५१ ४० २ । (३) तुलना— न हि दृष्टाज्येष्ठ  
गरिष्ठमिष्टम्—अष्टश०, अष्टसह० ५० ८० । न हि दृष्टाद् गरिष्ठ प्रमाणमस्ति—नयव० वृ०  
५० १८ । न च प्रत्यक्षाद् गरिष्ठ प्रमाणमस्ति ।—हेतुबि०टी० ५० ८७ A । (४) जलादौ ।  
(५) प्रतिबिम्बः । (६) प्रतीतिः । (७) पश्यामीत्येव रूपोपजायत इति वाप । (८) एकादृश-भा०  
६० । (९) पुण्याणाम् । (१०) तुलना—‘तस्मान् यस्य च दुष्ट कारणम्, यत्र च मिथ्यति प्रत्यय स  
एवागमीवान् प्रत्ययः नाय इति ।—गारभा० १ । १ । ५ । (११) प्रतिबिम्बज्ञानस्य । (१२)  
आत्ममनश्चक्षुरागुणु । (१३) प्रतिबिम्बप्रतीतिः । (१४) प्रतिबिम्बस्य । (१५) जलादि ।

१ यतो यस्यामभ-य० । २-घण्टो-य० । ३ इति प्रतिप्रा-व० । ४ न तेन तद् व० । ५  
-विपरूपेणो-व० । -विपरूपेणो-व० । ६-दुष्टेन्द्रियेण य० । ७ न हि क्षणुरादि-य०, य० ।  
८-मनमनो व० । ९ प्रतिबिम्बप्रति-व० ।

यद् यतो विलक्षणप्रतीतिप्राह्यं तत् ततो भिन्नम् यथा मुद्रातः प्रतिमुद्रा, जल-चन्द्रादि-  
विम्बाभ्यां विलक्षणप्रतीतिप्राह्यं चन्द्रादिप्रतिविम्बमिति । न चैतदसिद्धम्; विम्बा-  
कारानुकारितया हि विम्बं प्रति आभिमुख्येन यद् वर्त्तते तत् प्रतिविम्बम्, यथा मुद्रा-  
कारानुकारिणी प्रतिमुद्रा । तत्प्रतीतौ च कथं तैतो विलक्षणप्रतीतिप्राह्यत्वमस्यै असिद्धम् ।  
न चैतद् विम्बस्यैव ग्रहणमित्यभिधातव्यम्; जलादौ दृक्पातानन्तरमेव चन्द्रादिविम्बम-  
पश्यतः तत्प्रतीतिदर्शनात् । न चात्र विलक्षणा प्रतीतिः प्रतीयमानापि अस्य तैतो भेदं  
न प्रसाधयतीति घाच्यम्; सर्वत्र भेदवाचोच्छेदप्रसङ्गात्, सर्वत्र अस्यः प्रतीतिभेदं नि-  
बन्धनत्वात् । अतः विम्बात् प्रतिविम्बमन्यदभ्युपगन्तव्यम् । कथमन्यथा यद्वस्तु कदा-  
चिदपि न प्रतीतं तस्मिन् परिदृश्यमाने व्यवहितेऽपि तद्विम्बावारकाभावे<sup>३</sup> तत्प्रतिविम्ब-  
प्रतीतिः स्यात् ? तद्विम्बे दर्शनस्य स्मरणस्य प्रत्यभिज्ञानस्य वा सर्वथाऽसंभवात् । तन्न  
ग्राहकप्रमाणासंभवात् प्रतिविम्बासंभवः ।

नान्युत्पादककारणाभावात्; तदुत्पादककारणस्य उपादानरूपस्य निमित्तभूतस्य  
चात्र संभवात् । प्रतिविम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारणम्, चन्द्रादिकं तु निमित्त-

(१) प्रतिविम्ब जलाद्याध्यात् चन्द्रादिविम्बाच्च भिन्नं तद्विलक्षणप्रतीतिप्राह्यत्वात् । तुलना-  
“तथा यद्यतो विलक्षणप्रतीतिप्राह्यं तत्ततो भिन्नं यथा मुद्रातः प्रतिमुद्रा ”-स्या० २० पृ० ८६३ ।  
(२) विम्बाकारानुकारितया प्रतीतिः च । (३) चन्द्रादिविम्बादाध्यायभूतदपणदिव्यं । (४) प्रतिविम्बस्य ।  
(५) जलादौ चन्द्रादिप्रतिविम्बदर्शनं । (६) पुरुषस्य । (७) प्रतिविम्ब । (८) प्रतिविम्बस्य । (९)  
आश्रयाद् विम्बाच्च । (१०) भेदवार्ताया । (११) प्रतीतिभेदो निबन्धनमस्या इति । (१२) वस्तुनि  
विम्बाभ्ये । (१३) विम्बस्य आवरणं यदि स्यात् तदा प्रतिविम्बस्योत्पत्तिरेव न स्यात् अत आह तद्विम्बा-  
वारकाभावे । (१४) प्रत्यक्षमूलकत्वात् स्मरणप्रत्यभिज्ञानयो, अव्यवहितत्वनिबन्धनत्वाच्च प्रत्यक्षस्य ।  
(१५) स्थावरावर्तनाकरे । (पृ० ८६५) अस्य सौदर्यं खण्डनमित्यम्-“यदपि प्रभाचन्द्रं ग्राह-प्रति-  
विम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारणं चन्द्रादिकं च निमित्तकारणं गगनतलाबलम्बिनं चन्द्रं निमित्ती-  
कृत्य जलादेस्तथा परिणामात् इति, तदस्यात्यन्तार्जवविजृम्भितम्, यथा हि तेजोऽभावमपेक्ष्य ते पत्रादे-  
श्छायापुद्गलाः पृथिव्यादावाश्रये छायाद्रव्यरूपतया परिणमन्ते तथात्रापि यदि वदनादिविम्बस्य छाया-  
पुद्गला दर्पणादिप्रसन्नद्रव्यसामग्रीमपेक्ष्य प्रतिविम्बरूपतया परिणमन्ते तदा विघ्नान् क्षूणं स्यात् अस्यापि  
छायाविशेषस्वभावत्वात् । तथा चागम-सामा उदिया छायाऽभासुरगया निसिम्भि कालाभा । सा च्वेह  
भामुरगया सदेहवन्ना भुण्येयन्ना ॥ आदरिसस्ततो देहानयवा हवेति सकता । तैसि तत्त्वबलद्वी पगासजोगा  
न इयरेसि ॥ प्रवरणचनुर्दशशतीकारोपि धर्मसारप्रकरणे ग्राह-न ह्यङ्गानावदनछायानुसक्रमतिरेकेणा-  
दर्शके तत्प्रतिविम्बसमं इत्यादि । ”-स्या० २० पृ० ८६५ । तच्च चिन्त्यम्-अ० वादिदेवमूरिमतेन हि  
मुखादिविम्बस्य छायापुद्गला मुखाद्विनिर्गच्छन्त दर्पणादौ स्वच्छतादिसमाधोवशात् प्रतिविम्बमारमन्ते  
‘अस्मन्मते तु स्वच्छ एवाददर्शदौ विम्बसन्निधाने तदगतछायापुद्गलसङ्गमात् प्रतिविम्बमुत्पद्यते’ (स्या०  
२० पृ० ८६४) इति स्वयमभिधानात् । तत्रेदं विचारणीयं यत्-मुखादिभ्यः छायापुद्गलविनिर्गमनं  
विनिवृत्त्यनम् ? यदि तेषां स्वभावोयं यत् सदैव विनिर्यान्ति तदा चक्षुषो रश्मिविनिर्गमनं नैयायिकादि-  
भि उक्तं कथं प्रतिक्षिप्यते । यदि हि अभास्वरान्मुखात् घटादेवा छायापुद्गलविनिर्गमनं युक्तिपथप्रस्था-  
पित्यभिमान्यते तदा भास्वररूपशालिचक्षुषो रश्मिविनिर्गमनं तु न्यायानुभवसङ्गतं सुतरामेव स्यात् । अत-



कारणम्, गगनतलावलम्बिन चन्द्रं निमिस्तीकृत्य जलादेस्तथापरिणामात् ।

यद्युक्तम्—‘तत्सन्निधाने गुणरूपम् द्रव्यरूपं वा तदुत्पद्येत’ इत्यादि, तदप्युक्तम्; द्रव्यरूपस्यैवास्यै तत्सन्निधाने तत्रोत्पादाभ्युपगमात् ।

यदपि—‘निरवयवद्रव्यरूपं सावयवद्रव्यरूपं वा तत् स्यात्’ इत्याद्युक्तम्, तदप्यु-

८ क्तिमात्रम्; अस्मदादीन्द्रियग्राह्यद्रव्यस्य निरवयवत्वाऽसिद्धिः ।

यत्पुनरुक्तम्—‘नापि सावयव जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भाऽसम्भवात्’ इति, तदप्यसाम्प्रतम्; यतो जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भस्तदा स्यात् यदा जलादेः तत्प्रतिनिम्नमर्थान्तरभूतं द्रव्यं स्यात्, यदा तु जलादिकमेव तथा परिणमते तदास्य ततोऽर्थान्तरत्वासम्भवात् कथं पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भस्याशङ्काऽपि स्यात् ?

१० एतेन ‘जलादिपरिमाणय प्यास्य आरम्भना अन्ये वा’ इत्यादि प्रत्युक्तम्; जलपरिमाणूनामेव तत्प्रकारेण तद्धारम्भरूपप्रतिज्ञानात् । प्रतिनिम्बे जलरूपाद् विलक्षणरूपप्रतीतेः कथं ते<sup>१</sup> तद्धारम्भना ? इत्यप्यनुपपन्नम्, पुद्गलानां विचित्ररूपादिपरिणामसामग्रीसन्निधाने विचित्ररूपादिपरिणत्युपपत्तेः । दृश्यते हि मुखादिविम्बेऽपि तत्सन्निधाने विचित्रा रूपपरिणतिः, कोपाद् रक्ततया लज्जात कृष्णतया हर्षात् सुकान्तिमत्ताया मुखादेः १५ परिणामप्रतीतेः । अतो मुखचन्द्रादिनिम्नसन्निधाने जलादेर्येचित्रो रूपादिपरिणामो न विरोधमध्यास्ते ।

एतेन इदमपि प्रतिव्यूढम्—‘द्वयो सावयवयोः समानाकाशदेशत्वानुपपत्तिः, आश्रयद्रव्यस्य चादृशादेः परिमाणगौरवयोरुत्कर्षः स्यात्’ इति, द्वयोः सावयवद्रव्ययोर्अत्राऽऽसम्भवात्, एतस्यैव जलादिद्रव्यस्य स्वसामग्रीविशेषयशात् तेषांपरिणामात् । नच २० समानाकाशदेशतः सावयवयोः विरुद्धम्; जलभस्मनो यानातपयोर्वा सावयवयोरपि

एतत्पुनरपि प्रतिनिम्नमन्य प्रतिनिम्नमि मूलादिविम्बान् छायायुद्गन्विनि मूनि स्वीक्रियमाणा स्ववसाय कृत्वा यानमव प्रतिभाति । एताः रत्नाकरस्य ६९८ पृष्ठं तु एभिरेव प्रमयकमन्मानेण्डमनुमरद्भि रप्यनुमन्तु यन- एवठवाविश्यादि जलद्रवणादयो मूलादियादिप्रतिविम्बाकारविकारधारिण मण्य एन इति अत्रैव न वपुगो रमिमनिर्गमनस्य प्रतिपधान् जायते यत्तत्प्रकरणं तु वादिदेवमूरय प्रभाव-द्र- मर्धन गन्तश्च अनुमन्ति अत्र तु तत्प्रण्डनामिलापेण दूर्गारविरोधमपि न पश्यन्तीति चित्रमेतत् ।

(१) प्रतिविम्बाकारतया । (२) पृ० ४५१ प० ४ । (३) प्रतिविम्बस्य । (४) विम्ब । (५) जलादीः । (६) ४०४५१ प० ६ । (७) एतत्पुनराद्यवयव सावयवमव तत्प्रतिविम्बमभ्युपगम्यत । (८) ४० ४५१ प० ७ । (९) प्रतिविम्बस्य । (१०) जगत् । (११) प्रतिविम्बः । (१२) ४० ४५१ प० ९ । (१३) विम्बमभिधानेन जलादीनां प्रतिविम्बाकारतया परिणमनप्रकारेण । (१४) इयमप्य प्रतिविम्बे जलादी मुक्तं मय । (१५) जलादयः । (१६) विविचित्राद्युद्गन्वकामापीन- प्रिधान । (१७) ४० ४५१ प० १४ । (१८) प्रतिविम्बाप्रतिपत्तिः । (१९) प्रतिविम्बाकारतया । (२०) मुखा- मरिः मयान-प्रत्यगमिषोक्तताभ्या व्यतिचारि- एताः १० ४० ८६१ ।

तत्प्रतीतेः । परिमाणगौरवोत्कर्षनियमोपि सावयवयोर्नास्ति; जलकनकादिसंयुक्ताऽनलादौ तदप्रतीतेः ।

यच्चाप्युक्तम्—‘अप्सूर्यदर्शिनां नित्यं द्वेधा चक्षुः प्रवर्तते’ इत्यादि; तदप्य-  
विचारितरमणीयम्; रश्मिरूपस्य चक्षुषः कुतश्चिदपि प्रमाणादप्रसिद्धेः । ततस्तदप्रसिद्धिः  
चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वसिद्धौ प्रपञ्चतः प्ररूपिता ।

ननु प्रतिबिम्बोदयवादिनां मते विम्बानुकारिणा प्रतिबिम्बेन भवितव्यम् तत्कथं  
सव्यदक्षिणविपर्ययेण प्रतिबिम्बस्य प्रतीतिः; इत्यप्यचोद्यम्; स्वसामग्रीतः तस्य सव्य-  
दक्षिणस्वभावतयैव उत्पत्तेः । विम्बाभिमुखेन हि प्रतिबिम्बेन भवितव्यम्, आभि-  
मुख्यञ्च सव्यदक्षिणविपर्यासव्यतिरेकेण अस्य नोपपद्यते इति तथैव अस्योत्पत्तिरुपपन्ना,  
अन्यथा ‘प्रतिबिम्बम्’ इति व्यपदेशोऽस्य अनुपपन्नः स्यात् ।

किञ्च, येनमते प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तस्य सव्यदक्षिणविपर्यासो गुण एव, यत एव

(१) तुलना—“करम्वितवनवपारदाम्यामनैकान्तिवत्वात् ”—स्या० १० पृ० ८६१ । (२)

उष्णजले हि जलान्गो द्वयोः सावयवयोः समानदेशता जाता न च परिमाणगौरवोत्कर्षं, तथा तत्तुल्यवर्णं  
सुवर्णान्गो सावयवयोः सम्बन्धेऽपि न तयोर्हृत्स्वं सन्दृश्यते इति भावः । (३) परिमाणगौरवयोः प्रतीतिः—

आ० टि० । (४) पृ० ४५२ पं० १५ । (५) तुलना—“स्वप्रदेशस्थतया सवितुर्ग्रहणामिदं चाक्षुष  
तेज प्रतिबोधेन प्रवर्तितमिति चातीवासगत प्रमाणाभावात् ।”—प्रमेयक० पृ० ४२५ । चाक्षुष तेज  
प्रतिबोधेन प्रवर्तितमिति चातीवासज्ञतम्, प्रमाणाभावात् । न हि चक्षुस्तैजसि जलेनाभिमम्बन्धेन पुन  
सविनार प्रति प्रवृत्तानि प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रतीयन्ते । यथा च नायनरश्मिना विषय प्रति प्रवृत्ति-  
र्नास्ति तथा चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वप्रसङ्गे प्रतिपादितमित्यलमतिप्रसङ्गेन ।”—स्या० १० पृ० ६९८ । (६)

पृ० ७५-८२ । (७) सव्यदक्षिणविपर्ययेणैव । (८) तुलना—“तदपि प्रतिबिम्बस्य निरूपकत्वेन हृत्तोत्तरम्,  
परं मिथ्याभिनिवेशात् वेतयते भवान् । प्रत्ययविम्ब प्रतिबिम्बमुच्यते । प्रत्ययिषा चास्य सकलतदीया-  
लकनि एक भूभङ्ग भ्रुकुट्यादिविषयेऽस्वीन रणेनाभिमुखतया पुर म्यायित्वम् । तच्च सव्यदक्षिणपार्श्वविपर्या-  
सव्यतिरेकेणास्य नोपपद्यते इति नपेवोत्पत्तिरुपपन्ना, अन्यथा तु प्रतिबिम्बमिति व्यपदेश एवास्यानुपपन्न  
स्यात् ।”—स्या० १० पृ० ८६२ । (९) तुलना—“किञ्च, यन्मते प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तस्य सव्यदक्षिण-

पार्श्वयोर्विपर्यासो गुण एव । यत एव विम्बविपरीतधर्मयोगोऽत्र एवातोऽस्यान्यत्वमिति ।”—स्या० १० पृ०

६८२ । “आदर्शनलादिषु प्रमत्तव्येषु मुखादिच्छाया तद्वर्णादिपरिणतोपलभ्यते इतरत्र प्रतिबिम्बमात्रमेव ।

अनाह—विपरीतग्रहणं कुत प्रादुर्मुखस्य प्रत्यङ्मुखा छाया दृश्यते इति ? प्रमत्तद्रव्यपरिणामविशेषाद  
भवति । अत्र चोद्यते नादर्शनलादिच्छायामदभावः । किं तर्हि ? नयननिर्गतेन रश्मिना घनद्रव्यात् प्रति-  
हेतानिवृत्तेन स्वमुखस्यैव ग्रहणमिति, तदवृत्तम्, विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गात् कुड्यादिषु अतिप्रसङ्गात्  
ग्रहणशक्यत्वाभावाच्च । विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गात्वात् यदि प्रतिनिवृत्तेन नयनरश्मिना स्वशरीरस्यैव  
ग्रहणं प्रादुर्मुखस्य प्रादुर्मुखमेव ग्रहणं स्यात् विपर्यासहेत्वभावात् । कुड्यादिषु वाजतिप्रसङ्गः स्यात्,  
नयनरश्मे प्रतिघातस्य तत्रापि सद्भावान् ।”—राजवा० पृ० २३३ । न्यायवि० वि० पृ० ५६७ B. ।

“कथं पुनर्दपणतलादिषु प्रतिबिम्बं मुखादीनां सम्मुखमेव छायाकारेण परिणमते न परादुर्मुखम् ? कथं  
वा वटिनमादर्शनमण्डलं प्रतिबिम्बं मुखतो विनिर्गता पुद्गला प्रतिबिम्बमाजिहत् इति ? यस्तावदुच्यते  
सम्मुखमेव प्रतिबिम्बमुदेति नान्यतो मुखमिति, तत्र परिणामः स तादृश पुद्गलानाम्, नहि तद्विषय  
पर्यनुयोगः कर्तुं शक्यः”—तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ३६४ । (१०) मय-आ० टि० । जैनस्य ।

१ परिणाम—व० । २ तदप्रतिपत्तेः व० । ३—वसिष्ठश्च चक्षुः—व० । ४—विपर्ययो गुण व० ।

विश्वधर्मविपरीतधर्मयोगोऽत एव अस्य अतोऽन्यत्वम् । यदि च प्रतिविम्बमन्यन्न  
 स्यात्, आदर्शादिना प्रतिहृतैर्नान्यतरश्चिभिर्व्यावृत्त्य देशविपर्यासेन मुद्रादेरेव आदर्शादौ  
 प्रकाशनात्, तदा कुड्यादिनाऽपि प्रतिहृतास्ते व्यावृत्त्य किमिति कुड्यादौ मुखेन प्रका-  
 शयन्ति विशेषाभावात् ? नचार्थे स्वच्छता उपयोगिनी, रश्मिप्रतीघातमात्रस्यैव तत्रो-  
 ५ पयोगात्, तच्च उभयत्राप्यविशिष्टम्, प्रत्युत कुड्यादिनां घनद्रव्येण अतिशयघात  
 प्रतीघातो विधीयते, अतः तत्र अतिशयघाता तत्प्रतिभासेन भाव्यम् । कारणातिशयाद्धि  
 कार्यातिशयो दृष्ट, यथा पित्तातिशयात् शङ्खादिषु पीतत्वावभासातिशयः । अस्मन्मते  
 तु निर्मले स्वच्छ एव आदर्शादौ विम्बसन्निधाने प्रतिविम्बमुत्पद्यते न पुन कुड्यादौ  
 तद्विपरीते, अतस्तत्रैव तत्प्रतिभासाभावः ।

१० किञ्च, आदर्शादिना प्रतिहृता रश्मय व्यावृत्त्य यदि विम्बमेव प्रकाशयन्ति, तर्हि  
 महतो हस्त्यादे स्वरिमाणानतिक्रमेणैव प्रतीतिप्रसङ्गात् लघुत्वप्रतीतिर्न स्यात् । नचै-  
 वम् । अतः प्रतिविम्बमेव तत्रैव तर्थाभूतमुत्पन्न प्रतिभासते इत्यभ्युपगन्तव्यम् । स्वप-  
 रिमाणानुसारितया हि दर्पणादिना प्रतिविम्बमारभ्यते, अतो महतो लघुत्वप्रतिपत्ति-  
 रविरुद्धा । 'यदि च कृपाणादौ कौचादौ चाश्रये प्रतिहृतास्ते व्यावृत्त्य विम्बमेव प्रका-  
 १५ शयन्ति, तदा आयत-श्याममुखप्रतीतिर्न स्यात् । अस्मन्मते तु आश्रयस्य आयतत्वात्  
 श्यामत्वान्च तदारब्धस्य प्रतिविम्बस्यापि आयतत्वं श्यामत्वञ्चोपपन्नम् । जलादेस्तु  
 अतिस्वच्छत्वान् विन्नाकारानुकारेणैव तत्र प्रतिविम्बोत्पत्तिः ।

यदप्युक्तम्—'यदि प्रतिविम्बमर्थान्तरमुत्पन्नम्' इत्यादि; तदप्यचर्चिताभिधानम्,  
 अर्धान्तरस्यास्योत्पत्तात्रपि नियमेन निमित्तैरारणक्रियानुसरितया तैस्त्रियाया नियमेन  
 २० त्रियानुरूपपक्षे प्रदीपप्रकाशनात्, छत्रटायवद्धा । यथैव हि प्रदीपे छत्रे च चलति  
 प्रकाशश्छाया च नियमेन चलति स्थिरे तु स्थिरा भवति, एव त्रिभ्यो चलति नियमेन

(१) प्रतिविम्बस्य । (२) विम्बेन । (३) तुलना—यदि आदर्शादिप्रतिहृता रश्मय मुख

प्रकाशयन्ति तदा त्रियानुरूपप्रतिहृता अपि ते तत्प्रकाशयन्ति विपरीताभावात् —स्या० १० पृ० ८६४ ।

(४) व्यावृत्त्य विम्बप्रकाशनः । (५) प्रतिधानमात्रम् । (६) दर्पणादौ कुड्यादौ च । (७) विम्ब

प्रतिभासनः । (८) जैनमतः । (९) अस्वच्छपारदर्शिनः । (१०) कुड्यादौ । (११) विम्बः ।

(१२) तुलना—तदा महतो हस्त्यादे स्वरिमाणानतिक्रमणवत् प्रतीतिप्रसङ्गात् लघुत्वप्रतीतिर्न स्यात् ।

—स्या० १० पृ० ८६४ । (१३) दर्पणादौ । (१४) लघुतावागतेर्यम् । (१५) तुलना—अपि च

पक्षे आकाशादिना प्रतिहृता व्यावृत्त्य विम्बमेव प्रकाशयन्ति तदा तत्रायनस्याममुखप्रतीतिर्न

स्यात् । —स्या० १० पृ० ८६४ । (१६) श्यामवाचादौ । (१७) रश्मयः । (१८) कृपाणस्य

वाचांश्च । (१९) पृ० ४५३ पं० ५ । (२०) तुलना—अर्धान्तरस्यास्योत्पत्तात्रापि नियमेन परिणामकार

णक्रियानुसारितया तस्मिन्चलति चरन्त्य त्रिभ्यो स्थानस्य च तत्रायनम् । —स्या० १० पृ० ८६२ ।

(२१) मुद्रादिविम्बः । (२२) मुद्रादौ त्रियाया मया ।

१—अनादौ च० । २—यत् पटकुड्या—च० । ३—नारदस्य च० । ४—हस्तादे आ० ।

५—तदुत्पत्ति—च० ।

प्रतिबिम्बं चलति तिष्ठति तु तिष्ठति । न खलु घटे नियमेन निर्मिराकारणक्रिया-  
नुविधानं न दृष्टम् इत्येतावता सर्वत्र तैन्निपेद्बुमुचितम्, प्रदीपप्रकाशादावपि तैन्निपेध-  
प्रसङ्गात् । घटे च तैद्बद् भासुररूपादिकमपि नोपलब्धम् अतः प्रदीपप्रकाशादावपि  
तैन्निपिद्बुतामविशेषात् । प्रतीतिविरोधः अन्यत्राप्यविशिष्टः ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘निमित्तकारणापाये कार्यस्यापायाप्रतीतेः’ इत्यादि; तदप्यनल्प- 5  
तमोविलसितम्; प्रदीपछत्रादेर्निमित्तकारणस्याऽपाये प्रकाशछायायोरुपायप्रतीतेः ।

एतेन ‘प्रतिबिम्बविनाशे पृथक् तदवयवोपलम्भप्रसङ्गः’ इत्यादि प्रत्युक्तम्;  
प्रदीपादेर्विनाशेऽपि तैर्दप्रतीतेः । न खलु प्रदीपविद्युदादिद्रव्याणां विनाशेऽपि पृथक्  
तदवयवाः कश्चित् कदाचित् कस्यचित् प्रतीतिपथप्रस्थायिनो भवन्तीति ।

साम्प्रतम् ‘प्रतीतैर्कैकालानां गतिः नाऽनागतानां व्यभिचारात्’ [प्रमाणवा० 10  
स्व० १।१२] इत्येतन्निराकुर्वन्परमपि कार्यादिभ्योऽर्थान्तरं हेतुमुपदर्शयति—

**भविष्यत् प्रतिपद्येत शैकटं कृत्तिकोदयात् ।**

**अथ आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥ १४ ॥**

(१) दण्डादि-आ० टि० । (२) प्रतिबिम्बेऽपि । (३) निमित्तकारणक्रियानुविधानम् ।  
(४) निमित्तकारणक्रियानुविधान । (५) निमित्तकारणभूतदण्डादिवच्छुक्लरूपादिकमपि । (६)  
निमित्तकारणभूतप्रदीपवत् भासुररूपादिक तत्प्रकाशे निपिद्बुधताम् । (७) पृ० ४५३ प० १० । (८)  
तुलना—“न खलु मृदाद्यपाये कलशादावभायो नोपलब्ध इति ।”—स्या० १० पृ० ८६३ । (९)  
पृ० ४५३ प० ११ । (१०) तुलना—“सीदामिनीप्रदीपादिद्रव्याणां विनाशेऽपि पृथक् तदवयवानामनु-  
पलम्भात् ।”—स्या० १० पृ० ८६३ । (११) अवयवोपलम्भ-आ० टि० । (१२) ‘अनीतानामेककालानाम्’  
—प्रमाणवा० स्व० । व्याख्या—“तत्रापि रमादे रूपाद्यनुमाने अतीतानामेककालानाम्भ गति रसोपावा-  
नसमानकालभाविनोऽस्तीति लिङ्गभूतरससहभाविन एककाला तेषाङ्गनि नानागनानाम् वर्तमानेन  
लिङ्गानुमान व्यभिचारात्, अनागत हि कारणान्तरप्रतिषेधं तत्र प्रतिबिम्बवैकल्पसंभवात् भवेदपि ।  
यच्चाद्योदयात् एव सूर्योदयाद्यनुमानेन तदनुमान नियामकलिङ्गाभावात्, अद्य गर्दभदर्शनात् एव  
सूर्योदयानुमानवत् ।”—प्रमाणवा० स्ववृत्तिटी० १।१२ । उद्धृतमिदम्—सिद्धिबि० टी० पृ० ३११ A ।  
प्रमेप्रक० पृ० ३८१ । स्या० १० पृ० ५९० । (१३) रोहिणीनक्षत्रम् । (१४) “शकट रोहिणी  
धर्मी मुहूर्तान्ते भविष्यदुदेष्यदिति साध्यधर्म, कुत ? कृत्तिकोदयादिति साधनम् । न खलु कृत्तिकोदय  
शकटोदयस्य कार्यं स्वभावो वा, केवलमविनाभावबलाद् गमयत्येव स्वोत्तरगति प्रतिपद्येत अनुमन्येत  
सर्वोऽपि जन इति । तथा एव प्रात आदित्य सूर्यः उदेता उदेष्यति अवादित्योदयादिति प्रतिपद्येत । तथा  
इवो ग्रहण राहुस्पर्शो भवप्यति एवविधफलवाङ्मादिति वा प्रतिपद्येत सर्वत्राप्यव्यभिचारात् ”—लघी०  
ता० पृ० ३३ । तुलना—“कृत्तिकोदयमालय रोहिण्यामत्तिवृत्तिवत् ।”—मी० हलो० पृ० ३५१ ।  
प्रश० व्यो० पृ० ५७१ । प्रमाणप० पृ० ७१ । परीक्षामु० ३।७१ । सम्मति० टी० पृ० ५९१ ।  
प्रमाणनय० ३।८० । प्रमाणमी० पृ० ४१ । जैनतर्कभा० पृ० १६ । “प्रतिबन्धपरिमल्यायाम् उदेष्यति  
शकट कृत्तिकोदयादिति किं प्रमाणम् ?”—सिद्धिबि० पृ० ३१७ B ।

1-क्रियानुमानं ब०, —क्रियाविधानं आ० । 2-प्रदीपादावपि ब० । 3-विशिष्य आ० ।

4-दिबन्धप्रकाशे ब० । 5-सत्प्रतीतेः श्र० । ॥ प्रतीतै-आ० ।

निवृत्तिः—तदेतद् भविष्यद्विषयमविसंवादकं ज्ञानं प्रतिबन्धसंख्यां प्रमाण-  
संख्याञ्च प्रतिरुणद्धि ।

भविष्यद् भावि, प्रतिपद्येन जन । किम् ? शक्यम् । कुतः ?

कारिका —

कृत्तिकोदयात् । तथा इवः प्रात आदित्य उदेता इति  
प्रतिपद्येत अथ आदित्योदयात् इति गम्यते । 'ग्रहण वा भविष्यति'

इति प्रतिपद्येत, कुतश्चित् फलकाद्वादे ।

करिकाया तात्पर्यार्थमुपदर्शयन्नाह—'तद्' इत्यादि । तस्माद् एकलक्षणान्विता-

निवृत्तिव्याख्यानम्—

ज्ञेतो एतद् भविष्यद्विषयं भाविशकटोदयादिगोचरम् अविसंवादकं  
ज्ञानं सिद्धम् । तत् किं करोति ? इत्याह—प्रतिबन्धसंख्यां प्रतिरुणद्धि

तादात्म्यसदुत्पत्त्योरत्रौऽसम्भवात् । अर्थं कृत्तिकोदयादेः शकटोदयादिकार्यत्वाद्यमदोषः,  
तन्न, अतीतकृत्तिकोदयादेः शकटोदयात् प्रतीत्यभासप्रसङ्गात् । अन्योन्यकार्यत्वे अन्यो-  
न्याश्रयप्रसक्तिः । अन्यत्र तत् किं करोति ? इत्याह—प्रमाणसंख्याञ्च प्रतिरुणद्धि परंपरि-  
कल्पितस्य प्रतिबन्धस्य पक्षधर्मत्वादेश्चाऽभावेऽपि कृत्तिकोदयाद्यनुमानस्य भावान् ।

तन्न कार्यस्वभावानुपलब्धिलिङ्गप्रभय त्रिविधमेव अनुमानम् इत्यनुमानप्रमाणसङ्ख्या  
नियमः मौगताना व्यवतिष्ठते प्रांगुललिङ्गप्रभयानुमानानां सौतोऽर्थान्तरत्यप्रसिद्धेः ।

एतेन नैयायिकोपकल्पित पञ्चवैवानुमानमित्यनुमानमहूर्यानियम प्रत्याख्यातः,

पूर्वोक्तानुमानानां पञ्चस्वनुमानेषु अनन्तर्भावात् ।

ननु "अस्येदं कारणं कार्यं सयोगि समनायि विरोधि चेति लैङ्गिकम्" [बंशे० सू० १।२।२]

कारणादय पञ्च हतव्य इति सूत्रोपात्ता एव पञ्च हेतवो लैङ्गिकाज्ञम अविनाभावस्य अत्रैव

एव गमका इति वग परिसमाप्तेः, तद्वदय नैयायिकानामनुमानसंख्यानियमो न व्यव-  
धिकस्य पूर्वपक्ष — 'तिष्ठेत ? अत्र कैरणात् कार्यानुमानम्, यथा जलविन्धनदर्शनात्

(१) फलके घटवत् लडवाद्यगणनाया (मटिकादिनिबिनाङ्गगणनाया) —आ० टि० । (२)  
अविनाभावक । (३) कृत्तिकोदय-शकटोदययो । तुलना— न पूर्वोत्तरवारिणोस्तादात्म्य तदुत्पत्तिर्वा  
कालव्यवधानं तदनुपलब्धम् । 'परोक्षामु० ३६१ । प्रमाणनय० ३।६७ । (४) भाविकारणवादी प्रज्ञा  
करणे प्राह । प्रज्ञाकरणस्य भाविकारणानुपपन्नं मतमित्यग—'भावेन च भावो भाविनाऽपि लक्ष्यत  
एव मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति श्रेष्ठे व्यवहार । यदि मृत्युन भविष्यत भवेदेवममृतमरिष्टमिति  
तस्मादनागतस्यापि कारणत्वमव्यभिचारादिनि युक्तमनत् । —प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १७७ । (५)  
भवत्यवमपि प्रयोग—आग कृत्तिकोदय शकटोदयात्—आ० टि० । (६) कृत्तिकोदयानुमानं सिद्ध  
सति तत शकटोदयानुमानम् तस्मान्च कृत्तिकादयानुमानमिति । (७) मौगत । (८) तादात्म्या  
दिमम्बप्रत्यय । (९) हतो रूपप्रत्ययस्य । (१०) कृत्तिकोदयादिहेतुजन्यानुमानानाम् । (११)  
तादात्म्यननुत्पत्तिमम्बधनित्वं जन्यानुमानानाम् । (१२) कार्यं कारणपूर्ववत्त्वेनोपलम्भादुपलभ्यमानं सद

१—पठेत आ० । २—अप्यवप्रत्यय—व० । ३ प्रतिविम्बस्य व० । ४ पञ्चतत्त्वा—अ० ।

५—तिष्ठेत् आ० ।

भविष्यति भस्म इति । कार्यात् कारणानुमानम् ; यथा नदीपूरोपलम्भात् वृष्टेः । संयोगि-  
दर्शनात् संयोगिनोऽनुमानम् ; यथा धूमदर्शनाद् वह्नेः । समवायिदर्शनात् समवायिनो-  
ऽनुमानम् ; यथा शब्दाद् आकाशस्य । एकार्थसमवायिदर्शनात् एकार्थसमवायिनो-  
ऽनुमानम् ; यथा रूपाद् रसस्य । विरोधिदर्शनाद् विरोध्यन्तरानुमानम् ; यथा विस्फु-  
र्जितनकुलदर्शनात् मग्निहितमर्षज्ञानमिति ।

5

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘सूत्रोपात्ता एव पञ्च हेतवो लैङ्गिकाङ्गम्’ इत्यादि ;

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं तदसमीक्षिताभिधानम् ; तदतिरिक्तानां कृत्तिकोदयादिहेतूनां तदङ्गत्व-  
वृत्तिकोदयादीनां पूर्व- प्रतिपादनात् । अविनाभाववशाद्धि हेतोरनुमानाङ्गत्व न कारणादि-  
चरादिहेतूनामपि पृथक् रूपतामात्रेण अस्य ऽव्यापकत्वादतिप्रसङ्गाच्च । अविनाभावस्य तु सकल-  
रूपेषु गमकत्वप्रदर्श- हेतुकलापव्यापित्वात् तदाभासेभ्यो व्यावृत्तत्वाच्च तद्वशादेव हेतोर्गम- 10  
नम्— कत्वं प्रतिपश्यन्म । नहि तद्व्यतिरेकेण कचिदपि हेतोर्गमकत्व

प्रतीयते ; सर्वत्र गमकत्वस्य अविनाभावे सत्येव उपपत्तेः । कार्यकारणभावस्य च पद-  
पदार्थपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्रतिपिद्धत्वात् परमते कार्यकारणलिङ्गयोरसिद्धिः । संयोगसम-  
वाययोरपि तत्रैव निषेधात् संयोगिसमवायिलिङ्गयोरपि असिद्धिः । विरोधिनोप्यविना-  
भावादेव विरोध्यन्तरानुमापकत्वम्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् ।

15

गमकम्, यथाहि—विशिष्टनदीपूरोपलम्भादुपरिष्ठाद् वृष्टो देव इति । तथा च बहुलस्वरूपेन केनिलपण-  
काष्ठादिवहनविशिष्टस्य नदीपूरस्य वृष्टिवार्यत्वेन पूर्वमुपलम्भात् पुनस्तदुपलम्भे सति युक्तमनुमानम्—  
अथ नदीपूरो वृष्टिकार्यो विशिष्टनदीपूरत्वात् पूर्वोपलब्धनदीपूरवदिनि । पूरस्तु उभयतटव्यापकोदक-  
संयोगः । ॥ पारम्पर्येण वृष्टिकार्यं इति । कारणमिति कार्यजनकत्वेन पूर्वमुपलब्धेः स्पष्टलभ्यमानं तल्लग्न  
यथा च विशिष्टमेघोत्तनिर्वर्णकमण । तथा धूमोऽग्ने सयोगी समवायी च उल्लस्यो वारिभ्य  
तेजो गमयतीति । विरोधी च यथाहि विस्फूर्जनविशिष्टो नकुलादेर्लिङ्गमिति ।—प्रश० ब्यो० पृ० ५७२ ।  
प्रश० किर० पृ० ३०२ ।

(१) पृ० ४६० पृ० १९ । (२) तुलना—‘समुद्रवृद्ध्यादौ यथोदितसम्बन्धाभावेऽप्यनुमानदर्शनात् ।  
संयोगसमवायैर्कार्यसमवायास्तु नानुमानोत्पत्ती कारणम् । नहि कमण्डलुना छात्रानुमानम्, नापि रूपादे  
पृथिव्याद्यनुमानम्, नापि रूपाद्रसानुमानमिति । यच्च विरुद्धस्यानुमानस्योदाहरणं भूत वर्णककर्म  
अभूतस्य वाय्वभूतसंयोगस्यानुमापकं तथाऽभूत वर्णककर्म भूतस्य वाय्वभूतसंयोगस्यानुमापकमिति, तदनु-  
पपन्नम्, भावाभावयोर्हान्त्रं गम्यव्यवहारात्, न च तयोर्विरोधोऽस्ति तस्मात् कार्यकारणभावादय एव  
सम्बन्धा यस्य येन नियता अव्यभिचारिणः स हेतुरिति ”—प्रक० पं० पृ० ६८ । न्यायवा०  
ता० पृ० १६४ । स्या० र० पृ० ५३२ । लघी० ता० पृ० ३४ । (३) कारणानिह्यतामात्रस्य  
कृत्तिकोदयादिहेतुषु अव्याप्तिः, धूमादिसाध्यं प्रति व्यभिचारित्वादत्वाभासभूतेषु अग्न्यादिषु सद्-  
भावाच्चातिप्रसङ्गः । (४) अविनाभावः विना । (५) पृ० २२० । (६) वैशेषिकमते । (७) पद-  
पदार्थपरीक्षायाम् पृ० २९७ ।

यदपि सांख्यैरभिहितम्—मात्रामात्रिक-कार्य-विरोधि-सहचारि-स्वस्वामि-वध्य-  
घातार्थैः सप्तधाऽनुमितिः । तत्र मात्रामात्रिकानुमानम्; यथा चक्षुषो  
साध्यपरिनिपतेभ्यो  
मात्रामात्रिकादिसप्त-  
हेतुभ्योऽपि इति को-  
दयादि पूर्वचरादिहे-  
तूना पृथक्तया गम-  
नत्वप्रमाणम्—  
विज्ञानानुमानम् । कार्यात् कारणानुमानम्; यथा विद्युर्दृशनात् कारण-  
विज्ञानम् । प्रकृतिविरोधिर्दर्शनात् तद्विरोध्यन्तरानुमानम्; यथा न  
वर्षिष्यति बलाहकः प्रत्यनीकपवनयोगित्वात् । सहचराऽनुमानम्; यथा  
चक्रवारुयोरन्यतरदर्शनात् द्वितीयज्ञानम् । स्वदर्शनात् स्वामिनोऽनु-  
मानम्; यथा छत्रविशेषदर्शनात् राज्ञोऽनुमानम् । बध्यघातानुमानम्;  
यथा सहर्षनकुलदर्शनात् 'घातितोऽनेन सर्पः' इति ज्ञानम् । आदिग्रहणात् संयोग्यनु-  
मानम्; यथा समुदायवर्तिनि परिव्राजके 'कः परिव्राजकः' इति संशये त्रिवण्डदर्शनात्  
10 'परिव्राजकोऽयम्' इति ज्ञानमिति । तदप्येतेनैव प्रत्याख्यातम्; कृत्तिकोदयादिहेतूनां  
नेयाधिकोपकल्पितहेतुभ्य इव अतोऽप्यर्थान्तरभावाऽविशेषात् ।

अथेदानीम् 'दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका, नान्या मंशयहेतुत्वात्' इति नियमं  
निराकुर्वन्नाह—

अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः ।

तदाकारविकारादेरन्यथाऽनुपपत्तितः ॥ १५ ॥

विवृतिः—अदृश्यानुपलब्धेः संशयैकान्ते न केवलं परचित्ताभावो न सिद्ध्यति  
अपि तु स्वचित्तमावश्च, तदनंशतस्त्वस्य अदृश्यात्मकत्वात् । तथा च कुतः

(१) आदिशब्दात् सयोग्यनुमान सप्तमम्—आ० ३० । (२) विद्युत् कादाचित्कत्वेन कार्य-  
त्वात् केनापि कारणेन भवितव्यमिति—आ० ३० । (३) तुलना—“एतेन सप्तविध सम्बन्ध इति प्रत्यु-  
क्तम्”—न्यायबा० पृ० ५७ । “एतेनैव—मात्रानिमित्तसयोगिविरोधिमहचारिभिः । स्वस्वामिवध्यघातार्थै  
मान्याना सप्तधानुमा ।”—न्यायबा० ता० पृ० १६५ । नयचक्रवृ० पृ० ४२४ A. । लघी० ता० पृ०  
३४ । (४) साध्यकान्वितहेतोरपि । (५) “प्रतिषेधनिष्ठिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धे, सति  
वस्तुनि तस्या अभवत्, अन्यथा चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु देगकालस्वभावविप्रकृष्टेषु आत्मप्रत्यक्ष-  
निवृत्तेरभावनिश्चयाभावात् । (पृ० ४२) विप्रकृष्टविषयानुपलब्धि प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा सहाय-  
हनु प्रमाणनिवृत्तावपि अर्थाभावासिद्धिरिति ।”—न्यायवि० पृ० ५९ । वात्स्याय पृ० १८ । “अनु-  
पलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धे सहायहेतुनयागमकत्वादिति भाव ।”—आदिव्यायटी० पृ० १९ । हेतुवि०  
टी० पृ० १६२ A. । (६) “विदुर्जानन्ति, के ? लौकिका । अपिचब्दोऽत्र द्रष्टव्य, तेन लौकिका  
योगाल्लयोरपि किं पुन परीक्षका इत्यर्थः । नम् ? अभावम् असत्ताम्, कस्य ? अदृश्यपरचित्तादे  
परेषामानुराणा चित्त चैतन्यमादिर्यस्यामी परचित्तादि, अदृश्यस्वामी परचित्तादिश्च स तथोक्तस्तस्य ।  
आदिशब्देन भूतग्रहव्याधिप्रभृतिर्गुह्येन यस्य सूक्ष्मस्वभावः । कुत ? तदित्यादि, तस्य परचित्तादे  
कार्यभूतोऽविनामावी आकार उष्णम्पञ्चादिलक्षण तस्य विकारोऽन्यथाभाव आदिर्यस्य चवनविशेषा-  
राग्यादे तस्यानुपपत्तिन असम्भवात् ।”—सघी० ता० पृ० ३४ । (७) “अदृश्यानुपलब्धभादभावासिद्धि-  
रित्ययुक्तम्, परचंगन्यनिवृत्तावारेकापते सत्कनूणा पानित्वप्रसङ्गात्, बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगा-  
दविनिवृत्तिनिर्णयान् ।”—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५२ । लघी० ता० पृ० ३५ ।

परमार्थसतः चणभङ्गसिद्धिः ? तद्विपरीतस्य अभेदलक्षणस्यैव स्यात् ।

अदृश्यश्चासौ परचित्तादिश्च, आदिशब्देन भूतग्रहव्याधिपरिग्रह,

वर्तमान — तस्याऽभावं लौकिका विदुः । कुत इत्यत्राह—‘तदाकार’

इत्यादि । तेन अदृश्यपरचित्तादिना सहभावी शरीरगत उष्णस्पर्शा

दिलक्षण आकार तदाकारः तस्य विकारः अन्यथाभाव आदिर्यस्य वचनधि 5  
शेषस्य तस्य अन्यथानुपपत्तिः ।

ननु सर्वत्र अभावपरिच्छेदे अभावप्रमाणस्यैव व्यापार, परचित्ताभावश्च अभाव

अभावपरिच्छेद अभाव  
प्रमाणस्यैव व्यापार  
न भावपाणा प्रत्यक्षा  
दीनामिति अभावस्य  
प्रत्यक्षप्रमाणवत्त्वात्  
मीमांसकस्य पूर्वपक्ष

तस्माद् अभावस्यैव परिच्छेद । तच्च अभावप्रमाणम् प्रत्यक्षादि

भ्यो भिन्नम्, तद्विन्नसामग्रीप्रभवत्वात् भिन्नविषयत्वात् भिन्नफल 10  
साधकत्वाच्च, यद् यतो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वादिविशेषणविशिष्ट

तत् ततो भिन्नम् यथा प्रत्यक्षादनुमानादि, तथाभूतश्चेदम्, तस्मा

त् प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नमिति । न चास्य तद्विन्नसामग्रीप्रभवत्वम

सिद्धम् तथाहि—इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूपाया प्रत्यक्षादिसामग्रीत

तावदभावप्रमाण नोत्पत्तुमर्हति, अभावेन सह इन्द्रियाणा सन्निकर्षभावात् । न हि तत्र

तेषा सयोगलक्षण सन्निकर्ष सम्भवति अभावनस्य अद्रव्यत्वात् । नापि समवायलक्षण, 15

द्रव्य गुण कर्म सामान्य-विशेषेभ्योऽन्यत्वात् । तैयोरभाव च तत्प्रभेद सयुक्तसमजा

यादि दूरादपास्त । सयुक्तविशेषणभाजोप्यसमाख्य ; घटाभावस्य भूषदशविशेषणत्वा

भावात् । विशेषण हि सयुक्त ममवेत वा भवति यथा दण्डो गुणादिश्च, न चाभाव

कचित् संयुक्त समवेतो वा इत्युक्तम् । उक्तञ्च—

“नै तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मति ।

20

भावाशनेन संस्रधो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥” [ मी० श्लो० अभाव० श्लो० १८ ]

(१) अभावोऽपि प्रमाणाभाव नास्तीत्युत्पाद्यते मति—आवरण० १।१।५। (२)

अभावशब्दाच्चत्वात् प्रत्यक्षादेश्च भिद्यते । प्रमाणाभावो हि प्रमेयाणामभाववत् ॥ —मी० श्लो०

अभाव० श्लो० ५४। (३) द्रव्यद्रव्ययोश्च समोगत । (४) द्रव्यगुणकर्मसामान्यविभाषणानेव

च समवायित्वम् । (५) सयोगसमवाययो । (६) चक्षु मयुक्त भूतल तद्विशेषणश्चाभाव इति ।

मा भूत समोगत मयुक्तविशेषणत्वाद् गह्यतामिति चेत् न असति सम्बन्ध विशेषणत्वायोगात् ।

अस्त्येव सम्बन्ध इति चेत् कोऽमी ? न तावत्सयोग अद्रव्यत्वात् । न समवाय तदनभ्युपगमात् ।

अभ्युपगमे वा सयुक्तममवायेव ग्रहणात् तद्विशेषणत्वमवगन्तव्यं स्यात् । तन्न तावत् भवतामस्ति

सन्निकर्ष अस्माकं तु अस्ति मयुक्तसमवाय । तथापि तु न द्वियकत्वमित्यत्र वदयाम । —मी० श्लो०

यावर० ५०४७९ (७) न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मति —मी० श्लो० । (८)

सयोगो—मी० श्लो० । समति० टी० ५० ५८० । प्रमाणमी० ५० ९ । (९) उदधृतोऽयम्—

1-सिद्धिपरी-ज० वि० । 2 भिन्नविषयत्वात् नास्ति व० । 3 प्रत्यक्षस्तत्ताम-व० ।

4-विशेषणीभावो श्र० । 5-भाव्यो यथा घटा-व० ।



यदि नेन्द्रियादिसामग्रीतस्तदुत्पद्यते, कुतस्तर्हि तदुत्पद्येत इति चेन् ? उपलब्धिलक्षणप्राप्तप्रतिषेधार्थानुपलब्धिं भूतलाद्याश्रयोपलब्धि-प्रतिषेध्यघटादिस्मरणलक्षण-सामग्रीविशेषात् ।

“गृहीत्वा वैस्तुसद्भावं स्मृतौ च प्रैतियोगिनम् ।

मानस नास्तिताज्ञान जायतेऽज्ञानपेक्षयौ ॥” [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७]

“प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभावात् उच्यते ।

सौलभ्योऽपरिणामो वा विज्ञान वाऽन्यत्रैतुनि ॥” [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११]

इति तत्त्वलक्षणसामग्रीतस्तदुत्पत्तिश्च तदन्यतमस्याप्यपाये तदनुपपत्तेः सुप्रसिद्धा । यदि हि उपलब्धिलक्षणप्राप्तार्थानुपलब्धिर्न स्यात् तदा भूतलाद्याश्रयोपलब्धायपि अभाव-  
 10 प्रतीतिर्न स्यात् । यदि च भूतलाद्याश्रयप्रतीतिर्न स्यात् तदा भूतलाद्यवच्छेदेन घटागभाव-  
 प्रतीतिर्न स्यात् । नहि अज्ञातस्य विशेषणत्वं युक्तमतिप्रसङ्गात् । न च सामान्येन  
 घटाद्यभावप्रतीतिरुपजायते, किन्तु भूतले । तथा, यदि प्रतियोगिस्मरण न स्यात् तर्हि  
 ‘नास्ति’ इत्येयरूपा प्रतीतिः स्यात् ननु ‘घटो नास्ति’ इति । अतः सिद्धं प्रत्यक्षसामग्री-  
 तो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वमभानप्रमाणस्य ।

15 तथा अनुमानसामग्रीतोऽपि, तस्य हि सामग्री लिङ्गादिलक्षणा, न च अभावेना-

तिङ्गि० गी० पृ० १७९ B । प्रमेय० पृ० १८९ । सम्प्रति० टी० पृ० ५८० । जैनतकवा० पृ० ७८ । न्यायाव० टी० पृ० २२ । स्या० र० पृ० २८० । प्रमाणमी० पृ० ९ ।

(१) भूतलाद्याश्रयलक्षणम् । (२) यस्याभावः ज्ञायते न प्रतियोगी यथा घटाभावे घटः ।  
 (३) उदघृतोऽयम्-प्रश्न० व्यो० पृ० ५९२ । न्यायम० पृ० ५० । बृहदा० वा० पृ० ८८५ ।  
 तिङ्गि० टी० पृ० १७९ B । प्रमेयक० पृ० १८९ । सम्प्रति० टी० पृ० २३, २७६ । न्यायाव० टी०  
 पृ० २२ । न्यायवि० वि० पृ० ४८८ A । स्या० र० पृ० २८० । प्रमेयर० पृ० १९ । रत्नाकराव०  
 २।१ । विद्वत्तत्त्वप्र० पृ० १३ । प्रमाणमी० पृ० ९ । जैनतकवा० पृ० ७८ । प्रभाकरवि० पृ० ५८ ।  
 प्रमेयरत्नको० पृ० ५८ । (४) सात्मनः परिणाम-मी० श्लो० । ‘तामेव द्विधा विभजते सेति ।  
 योऽयमात्मनो घटादिविषयः प्रत्यक्षादिज्ञानस्वरूपः परिणामः तदभावमात्रमेवानुत्पत्तिरभावः इति  
 बोध्यते । तच्च घटाद्यभावविषयः नास्ति बुद्धिजनकतया इन्द्रियादिवत् प्रमाणं नास्ति इति । -मी० श्लो०  
 न्यायर० पृ० ४७५ । सा प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः निषध्याभिमतघटादिपदार्थज्ञानरूपेणापरिणतः सामान्या  
 वस्थमात्मद्रव्यमुच्यते घटादिविविक्तभूतलज्ञानं वा -तत्त्वस० पृ० ४७१ । आत्मनः स्वरूपस्या  
 परिणामः इति प्रसज्य इति प्रतिषेध-आ० टि० । (५) पयुदास-आ० टि० । भूतलादिवस्तुव्या  
 श्रयभूतः । उदघृतोऽयम्-प्रश्न० व्यो० पृ० ५९२ । इष्यते -तत्त्वस० का० १६४९ । प्रमेयक० पृ०  
 १८९ । सम्प्रति० टी० पृ० ५८० । स्या० र० पृ० २७८ । बृहद० बृह० पृ० १२० A । रत्नाक  
 राव० २।१ । बृहत्सव० पृ० १५२ । (६) आभावोत्पत्तिश्च । (७) प्रतिषध्यानुपलब्धि-आश्रयो  
 पलब्धिः प्रतियोगिस्मरणपञ्चन्यतमस्य । (८) इह भूतलं घटाभावः इति प्रतिनियतदशानया । (९)  
 भूतलस्य (१०) न चाप्यनानुमानत्वं लिङ्गाभावात् प्रतीयते । भावागो ननु लिङ्गं स्यात्तदानीं नाजि  
 घृक्षणात् ॥ -मी० श्लो० पृ० ४८४ ।

अविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । अनुपलब्धिरस्तीति चेत् ; नन्वसौ गृहीतव्याप्तिका, अगृहीत-  
व्याप्तिका वा अभावमनुमापयेत् ? न तावदगृहीतव्याप्तिका; अतिप्रसङ्गात् । नापि गृहीत-  
व्याप्तिका; यतो व्याप्तिग्रहणं धूमाग्निवद् उभेयधर्मग्रहणपूर्वकम् । व्याप्तिग्रहणवेलायाञ्च  
कुतः अभावाख्यधर्मग्रहणम्—अत एव अनुमानात्, तदन्तराद्धा ? यदि अत एव; अन्यो-  
न्याश्रयः; तथाहि—अतोऽनुमानादभावसिद्धौ अनुपलब्धेरभावेन अविनाभावित्वसिद्धिः;  
तत्सिद्धौ चाऽतोऽनुमानादभावसिद्धिरिति । अनुमानान्तरात् तत्सिद्धौ चाऽनवस्था ।

किञ्च, अनुपलब्ध्याख्यं लिङ्गमपि उपलब्ध्यभावस्वभावम्, अतः तत्स्वरूपप्रति-  
पत्तावपि उक्तदोषानुपपन्नः । अनुपलब्धेरग्रहणे च अभावाऽनुपलब्ध्योः अविनाभाव-  
प्रतिपत्तिरिति दुर्घटा । अतो नाभावप्रमाणस्य अनुमानसामग्रीप्रभवता ।

नापि अर्थापत्त्युपमानागमसामग्रीसमुत्पत्ता; प्राक् प्रतिपादिताया अभावप्रमाण-  
सामग्र्याः अर्थापत्त्यादिसामग्रीतोऽन्यथानुपपद्यमानार्थ-उपमानोपमेयगतसादृश्यग्रहण-  
शब्दाद्विलक्षणायाः सर्वथा भिन्नत्वात् । तन्न अभावप्रमाणस्य अध्यक्षादिभ्यो भिन्न-  
सामग्रीप्रभवत्वमसिद्धम् ।

नापि भिन्नविषयत्वम्; तथाहि—‘इह भूतले घटो नास्ति’ इति प्रत्ययः न तावद्  
भावविषयः, तद्वैलक्षणेन प्रतिप्राणि संवेद्यमानत्वात् । भावविषयत्वे चास्य घटो विषयः;  
भूतलम्, तत्संसर्गो वा ? प्रथमपक्षे सति घटे घटसत्ताप्रत्ययवत् अभावप्रत्ययोऽपि  
स्याद् ‘आलम्बनस्य विद्यमानत्वात् । द्वितीयपक्षे तु सघटेऽपि भूतले अभावप्रत्ययप्रसङ्गः  
विषयभूतस्य भूतलस्य विद्यमानत्वात् । नापि तत्संसर्गः; घटसंयुक्तेऽपि भूतले  
‘घटो नास्ति’ इति प्रत्ययप्रसङ्गात् । अथ घटविविक्तं भूतलम् अस्य विषयः; ननु तद्वै-  
विकृत्यं किं भूतलस्वरूपमात्रम्, तद्व्यतिरिक्तं वा ? यदि भूतलस्वरूपमात्रम्; तर्हि  
विद्यमानेऽपि घटे तत्प्रत्ययप्रसङ्गः । अथ ‘तद्व्यतिरिक्तम्’; तर्हि नाममात्रं भिद्यते नार्थः;  
विविक्ताशब्देन अभावस्यैव अभिधानात् । अतः सिद्धो भावादर्थान्तरम् अभावप्रमाण-  
स्यैव परिच्छेदोऽभावः, प्रत्यक्षादीनां भावविषयतया अभावगोचरचारित्वाभावात् ।

(१) “प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिर्न तु लिङ्ग भविष्यति । न चानवगतं लिङ्गं गृह्यते वेदसावपि ।  
अभावत्वादभावेन गृह्येतान्येन हेतुना ॥ स धान्येन ग्रहीतव्यो गृहीते हि लिङ्गता । तद्गृहीतिर्हि  
लिङ्गेन स्यादन्येनेत्यनन्तता ॥ लिङ्गाभावे तथैव स्यादनवस्येयमित्यत । क्वाप्यस्य स्यात्प्रमाणत्व  
लिङ्गत्वेन विना ध्रुवम् ॥” —मो० श्लो० पु० ४८६-८८ । शास्त्रदी० पु० ३३५ । (२) साध्य-  
साधनरूपोभयधर्म—आ० टि० । (३) असिद्धम्—आ० टि० । (४) भावप्रत्ययविलक्षणतया । (५)  
विषयभूतस्य घटस्य । (६) “न भूतलम्, सत्यपि घटे प्रसङ्गात्”—शास्त्रदी० पु० ३२५ । (७)  
घटो नास्तीतिप्रत्ययस्य । (८) “कोऽयं घटविवेकः ? यदि भूतलरूपमेव, घटवत्यपि प्रसङ्गः ।  
घटमयोगाभाववद्वेत्, अङ्गीकृतस्तर्हि अभावः ॥”—शास्त्रदी० पु० ३२७ । (९) नास्तीतिप्रत्ययः ।

१—हि अनुमा—आ० । २ वास्तो आ० । ३ वाज्ज—आ० । ४—ह्यलि—आ०, य० । ५ विषयभूतलस्य  
व० । विषयभूतस्य भूतस्य श्र० । एतदन्तर्गतं पाठो नास्ति आ० । ६ विविक्तशब्देन आ० ।

यदि चाभाव प्रत्यक्षपरिच्छेद्य स्यात्, कथमिन्द्रियेणाऽसन्निकृष्ट परिच्छिद्येत ? यदा हि केनचिद् अपवरक स्वरूपेण गृहीत निजामाऽभावाद् 'देवदत्तोऽत्र नास्ति' इति न निश्चितम्, पश्चाद् दूरदेशमसौ गत, यदा केनचित्पृष्ठ 'किं तत्र देवदत्त आसीन्न वा' इति ? प्रतिवेचनश्चासौ तदैव तद्देशमनुस्मृत्य देवत्ताभाव प्रतिपद्य प्रयच्छति । 'नासीन्' इति । नहि तत्र इन्द्रियमन्निकर्षोऽस्ति इति कथं तत्र प्रत्यक्षसमय ? ततो न प्रत्यक्षपरिच्छेद्योऽभावः ।

नाप्यनुमानादिपरिच्छेद्य, तद्विनाभाविनो लिङ्गादेरसंभवात् । अनुपलब्ध्यदेश्च तल्लिङ्गादेरनन्तरमेव कृतोच्चारत्वात् । अतः पारिशेष्याद् अभावप्रमाणगोचर एव अभाव इति नासिद्ध भिन्नविषयत्वम् । उक्तञ्च—

“प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपं न जायते ।

वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणाता ॥” [ मी० श्लो० अभाव० श्लो० १ ]

नापि भिन्नफलसाधकत्वम्, अभावावगतितल्लक्षणफलस्य अभावप्रमाणप्रसादादेव प्रसिद्धे । अतः प्रत्यक्षादिभ्यो विलक्षणस्य प्रतिषेध्याधारग्रहणादिसामग्रीप्रभवस्य नवर्थविषयस्य नवर्थसवित्तिफलस्य अभावप्रमाणस्य प्रमाणान्तरत्वमभ्युपगन्तव्यम् ।

(१) स्वरूपमात्रं घटवाऽपि पञ्चात्मिकचित्स्मरणमपि । तत्रान्यनास्तित्वा पृष्ठस्तदव प्रतिपद्यते ॥ यदा हि कश्चित् प्रातः काले कञ्चिद्दामध्यामीनस्तत्र व्याघादिकमदृष्ट्वा तदस्मरणाच्च तदभावमप्यगृहीत्वा देगमात्रं दृष्ट्वा देगान्तरगतौ मध्यन्दिनपञ्चपते कश्चित्स्मिन्देगं प्रातः काले व्याघातं गच्छति । 'मिह पापिवो वा समागतः ?' इति । स तदा तद् देगमवगतं वात्स्मरणमपि तत्र देगज्यया व्याघादीनामभावं प्राणगृहीतं तदव गच्छति । न च मध्यन्दिनसमये प्रातः कालिकस्याभावस्यानिद्रियसं निष्कृष्टस्य ममवति प्रत्यक्षेण ग्रहणम् तस्य त्रियसन्निकृष्टवतमानविषयत्वात् । —मी० श्लो० 'यावद० पृ० ४८३ । शास्त्रदी० पृ० ३३९ । (२) उत्तरम् । (३) देववत्ताभावे । (४) 'नाप्यनुमेय' अज्ञातेन तेन वस्तुचिन्तितस्य सम्बन्धग्रहणासंभवात् । —शास्त्रदी० पृ० ३४० । (५) मेवोपलब्धभावो हि मानमप्यवमित्यताम् । भावात्मके यथा मय नाभावस्य प्रमाणाता । तथाऽभावप्रमेयस्य न भावस्य प्रमाणाता ॥ अभावो वा प्रमाणनस्त्वनरूपेण मीयते । प्रमेयत्वाद्यभावात्स्मात् भावात्मकात् पृथक् ॥ —मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४५ ४६ ५५ । (६) व्याख्या— ओषध ( उन्म्वक ) त्वेव व्याख्यानवान् यत्र घटास्य वस्तुनि प्रत्यक्षादि सम्भाववाहकं नोपजायते तस्य नास्तित्वा भूषणैर्नाधिकरणाभावप्रमाणस्य प्रमेया'—स्या० १० पृ० २७९ । तत्र सदसद्रूपेणोभयात्मके वस्तुनि व्यवस्थिते यस्मिन् वस्तुरूपं वस्तुनाऽस्मदपास्य प्रमाणपञ्चकमर्थवित्तिपयनं न जायते । किमयम् ? वस्तुन सत्ताभावबोधायम् । तत्र अभावात् प्रमेय अभावस्य प्रमाणाता । —तत्त्वस० पृ० ५० ५४० । उदपृनोऽयम्—प्र० व्यो० पृ० ५९२ । हेतुवि० टी० पृ० १९० । तत्त्वस० का० १६४८ । पञ्चद० श्लो० ७६ । प्रमेयक० पृ० १८९ । समति० टी० पृ० ५८० । नदि० मलय० पृ० २५ । स्या० १० पृ० २७९ । वस्तुसत्तावबोधाय—यद० श्लो० ५० बह० पृ० १२० । प्रमेय० पृ० १३९ । विप्रवतत्त्वप्र० पृ० १३ । वित्तु० पृ० २६८ । बृहत्स० पृ० १६५ । नदि० मलय० पृ० २५ । (७) असिद्धमित्यत्रापि योज्यम्—आ० टि० । (८) प्रतिपद्यो घट तस्याघातो भूतत्वात् । (९) प्रतियोगिस्मरणम् प्रतियोग्यनुपलब्धिवत् ग्राह्यम् ।

१ —च हि तदे —य० । २ —देव सिद्धे य० ।

न च अवस्तुविषयत्वादस्य अप्रामाण्यम्; अभावस्य प्रमाणेन परिच्छिद्यमानतया अवस्तुत्वानुपपत्तेः । यत् प्रमाणेन परिच्छिद्यते न तदवस्तु यथा भावः, प्रमाणेन परिच्छिद्यते च अभाव इति । अवस्तुत्वे चास्य भेदो दुर्घटः, यदवस्तु न तस्य भेदः यथा खपुष्पादेः, अस्ति च प्रागभावादिभेदोऽभावस्य इति । तदवस्तुत्वे च अर्थानां सौकर्यं स्यात्, दध्यादेः क्षीराद्यवस्थायां प्रागभावादेरवस्तुतयाऽसाङ्कर्याहेतुत्वात्, तथा च 5 प्रतिनियतव्यवहारवार्त्तोच्छेदः स्यादिति । तदुक्तम्—

“न च स्याद्व्यवहारोऽयं कौरणादिविभागतः । प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि भिद्यते ॥  
यद्वाऽनुवृत्तिर्व्यावृत्तिबुद्धिप्राप्तो यतस्त्वयम् । तस्माद् गवादिबद्धस्तु प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम् ॥  
ने चावस्तुन एते स्युः भेदाः तेनोस्य वस्तुता । कार्यादीनामभावः को भावो यः कारणादितः (ना) ॥  
वस्त्वैतत्कुरसिद्धिश्च तैत्प्रामाण्यं समाश्रिता । क्षीरे दध्यादि यत्रास्ति प्रागभावः स उच्यते ॥ 10  
नास्तिता पयसो दधि प्रध्वंसाभावलक्षणम् । गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते ॥

(१) अभावस्य । (२) अभावस्य । (३) परस्परतत्त्वम् । (४) व्याख्या—“यत् खलु दधिरूप प्रागभूत्वा भवति तदुपादेय कार्यम्, यच्च प्रागवस्थित क्षीररूप पश्चात्त भवति तदुपादानकारणम्, सोऽयं कार्यकारणविभाग । तथा शोरस्वो न भवति, अश्वो न भवति गौ, विषाणशून्य शय इत्यादि व्यवहारोऽस्त्यभावस्य प्रागभावादिरूपभेदे नोपपद्यत इति ।”—मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७४ । (५) कार्यस्य प्रागभाव कारणम्—आ० टि० । (६) व्याख्या—“अस्ति ह्यभावस्य प्रागभावादिरूपेण व्यावृत्तिरभावरूपेण चानुवृत्तिरिति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह प्रमेयेति”—मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७५ । “अभावो वस्तु इति पक्ष, अनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिप्राप्तत्वात् प्रमेयत्वाच्चेति हेतुद्वयं गवादिबधिति दृष्टान्तः ।”—तत्त्वसं० पृ० ४७३ । (७) अभाव इति—आ० टि० । (८) प्रागभावादि—आ० टि० । (९) व्याख्या—“न ह्यवस्तुनो भेदो युक्त वस्त्वधिष्ठानत्वात्तस्य तस्मादभावो वस्तु । कीदृशं पुनरस्य वस्तुत्वमित्याह—कार्यादीनामिति । क्षीरादे कारणस्य यो भाव स एव दध्यादे कार्यस्याभाव, कार्यस्य दध्यादेर्यो भाव स एव क्षीरादे कारणस्याभाव इत्येतदभाववस्तुत्वम् ।”—तत्त्वसं० पृ० ४७३ । (१०) भेदवत्त्वेन । (११) ‘को योऽभाव कारणादिन’—मी० श्लो० । ‘स यो भाव कारणादिना’—तत्त्वसं० । ‘को भावो यः कारणादिन’—सम्प्रति० टी० । ‘को भावो यः कारणादिन’—स्या० र० । ‘को भावा यः कारणादिना’—यद्दृ० बृह० । (१२) व्याख्या—“प्रत्यक्षादिभि सद्रूपेण प्रमीयमाणमपि घटादिकमसद्रूपेण अभावस्य प्रमेयम्, अमकरोऽसद्रूपमभाव इति यावत् ।”—मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७३ । (१३) ‘तत्प्रामाण्यसमाश्रया’—मी० श्लो० । (१४) व्याख्या—“क्षीरमुदादो कारणे दधिमघादिलक्षण कार्यं नास्तीत्येव यत्प्रतीयते लोके स प्रागभाव उच्यते । यदि तु प्रागभावो न भवेत् क्षीरादौ दध्यादि कार्यं भवेदेव । एव दधि क्षीराद्यस्य यत्रास्तित्वमय प्रध्वंसाभाव, अन्यथा दधि क्षीर भवेदेव । गवादो अशवादेरभावोऽन्योन्याभाव उच्यते । यस्मात्तस्य गवादे पररूपमशवादित्वभावो नास्ति तस्मात्तयोरन्योन्याभाव उच्यते । अन्यथा गवादौ भवेदशवादि यद्यन्योन्याभावो न भवेत् । शशशिरसोऽजयवा निम्ना ( अनुप्रता. ) बुद्धिवाङ्मन्याभ्या रहिता विषाणादिरूपेण अत्यन्तममन्त. अत्यन्ताभाव उच्यते । यदि त्वत्यन्ताभावो न भवेत् शशे शृङ्ग भवेदेव ।”—तत्त्वसं० पृ० ४७२ । उद्धृतोऽयम्—न्यायपं० पृ० ६५ । हेतुबि० टी० पृ० ८१ B. ।

शिरसोऽन्यत्रो निम्ना वृद्धिकाटिन्यवर्जिता । शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ॥  
 क्षीर दधि भवेदेव दधि क्षीर घट पट । शशे शृङ्ग पृथिव्यादौ चैतन्य मूर्तिरात्मनि ॥  
 अधु गन्धो रसश्चाग्नौ वायो रूपेण तौ सह । व्योम्नि सत्पेश (शिं)ता ते च न चेदस्यै प्रमाणाता ॥

[मो० श्लो० अभाव० श्लो० ७, ९, ८, २६।] इति ।

- ४ अत्र प्रतिघीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अभावप्रमाण प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नम्’ इत्यादि,  
 तदसमीक्षिताभिधानम्, तद्विषयस्य प्रत्यक्षादिभि परिच्छिद्यमानतया  
 तत्प्रतिविधानपुरस्स तस्य ततो भेदानुपपत्ते । द्विषो हि अभाव-विप्रकृष्टार्थसम्बन्धी,  
 रस आश्वस् प्रत्य अत्रिप्रकृष्टार्थसम्बन्धी चेति । तत्र यो देशाश्विप्रकृष्टार्थसम्बन्धभाव  
 साधन्यमप्राप्तत्वं स प्रत्यक्षत एव परिच्छिद्यते, इन्द्रियव्यापारादनन्तरम् ‘अघट भूतलम्’  
 १० इत्यादिप्रत्ययप्रतीते । अप्रत्यक्षत्वञ्च अभावस्य इन्द्रियेणाऽसम्बद्धत्वात्, अरूपित्वात्,  
 असद्रूपत्वाद्वा ? न तावदसम्बद्धत्वात्, रूपस्याप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, अप्राप्यकारिणा हि

(१) उक्तं अथ च वृद्धिमन्त कटिना अवयवा विषाणत्वेन व्यपदिश्यन्ते यदा च शशशिर-  
 सो-वयवा निम्ना अनन्यत्रा अथ च वृद्धिकाटिन्यविरहिता तदा त एव शृङ्गाभावरूपेण व्यपदेशार्हा ।  
 (२) रमगधौ । (३) मृगशिशो भाव सस्पृशिता स्पश इत्यर्थः । सस्पृशकास्ते च—तत्त्वसं०,  
 स्या० १० । सस्पृशता ते च—सम्मति० टी० । (४) अपरमगधा—आ० टि० । (५) अभावस्य ।  
 (६) गतेऽप्यपि श्लोका निम्नग्रन्थपु उद्धृता—तत्त्वसं०, तत्त्वसं० ५० पृ० ४७१-४७३ ।  
 प्रमेयक० पृ० १९० । सम्मति० टी० पृ० ५८०-८१ । व३३० बृह० पृ० १२० B । न च स्यादव्य-  
 इति श्लोक विना मप्य श्लोका—स्या० १० पृ० २८१-८३ । (७) पृ० ४६३ प० ८ । अभावोऽप्यनु-  
 मानमेव यथाप्यत्र काय कारणसद्भावे लिङ्गम एवमनुत्पन्न काय कारणानुसद्भावे लिङ्गम ।—प्रश०  
 भा० पृ० ५७७ । (८) तुलना—प्रत्यक्षाग्निवाभावस्य प्रतीते तथा चाक्षग्नापारादिह भूतले घटा  
 नाम्नीनि ज्ञानमपरोक्षमुत्पद्यमान दृष्टम्—प्रश० व्यो० पृ० ५९२ । प्रश० कन्द० पृ० २२६ । शब्द  
 एतिह्यान्तर्गतभाववाद अनुमानार्थापत्तिसम्भावानुमानार्थान्तिग्मावाच्चाप्रतिपक्ष ।—न्यायसू० २।२।२ ।  
 अभावोऽप्यनुमानमेव—वायवा० पृ० २७६ । सत्यमभाव प्रमेयमभ्युपगम्यते प्रत्यक्षाद्यवसीयमान  
 स्वरूपवान् प्रमाणान्तरमात्मपरिच्छिन्नय भूयते । अदूरमेदिनीदेशवर्तिनस्तस्य चक्षुषा । परिच्छेद  
 परोक्षस्य स्वप्तिमानान्तररवि ॥—न्यायसं० पृ० ५१ । अन्यस्य घटादिष्विविक्त्वम्य भूतलस्योपलब्ध्या  
 घटानुपलब्धिरिति प्रत्यक्षसिद्धानुपलब्धि । एतदुक्तमभवति—घटप्राहृक्त्वस्य भूतलप्राहृक्त्वस्य चैकशा  
 नमसगित्वात् यदा भूतलप्राहृक्त्वेन तज्ज्ञान भवति तदा घटप्राहृक्त्वाभाव निश्चाययतीति प्रतीतिप्रत्य-  
 क्षमिद्वैव घटानुपलब्धि ।—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६ । यदि वस्तु प्रमाभाव मेयाभावस्तथैव च ।  
 प्रत्यक्ष-तगतो भाव तथा सति कथं ते ॥—तत्त्वसं० पृ० ४७५ । भावास्तवदितरस्यापि प्रत्यक्ष एव  
 —सिद्धिर्वि० टी० पृ० १७९ A । एवञ्चाभावप्रमाणवयव्यम्य अवदशम्यापि प्रत्यक्षादिसमधिगम्य  
 त्वमिदं ।—तत्त्वव्यश्लो० पृ० १८२ । अभावप्रमाण तु प्रत्यक्षादावेवान्तभवति—स्या० १० पृ०  
 ३१० । न्यायवा० टी० टि० पृ० २१ । (९) अभावस्य—आ० टि० । (१०) प्रत्यक्षादे—आ० टि० ।  
 (११) न चाभावस्यामत्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणव्यवसीयमानत्वात् तथाहि—इह भूतले घटो नाम्नीनि  
 ज्ञानमिन्द्रियभावव्यतिरेकानुविधानादिद्वयजम् ।—प्रश० व्यो० पृ० ४०० ।

१-तामेव न व० । २-वस्तुप्र-व० । ३-विप्रकृष्टोऽर्थसम्बन्धी चेति व० । ४-सम्बन्धाभाव  
 आ० । ५-सम्बन्धत्वात् आ० ।

चक्षुषा यथा रूपस्य असम्बद्धस्य ग्रहणं तथा अभावस्यापि । ननु चासम्बद्धस्याप्यभावस्य चक्षुषा ग्रहणे देशान्तरवर्त्तिनोऽपि ग्रहणप्रसङ्गः अविशेषात्; इत्यपि रूपेण कृतोत्तरम् । नहि तस्य असम्बद्धस्य ग्रहणेऽपि सकलदेशकालवर्त्तिनो ग्रहणं दृष्टम् । अथ रूपे चक्षुषः संयुक्तसमवायसम्बन्धसद्भावादसम्बद्धत्वमसिद्धम्; तन्न; चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वस्य प्रागेव प्रतिपादनात् । तैत्तसम्बन्धात् तैस्य तेन ग्रहणे च रसादेरपि ग्रहणप्रसक्तिः तदविशेषात् । 5 अयोग्यत्वात्तदग्रहणे देशान्तरादिस्थस्य अभावस्याप्यत एवाग्रहणमस्तु अविशेषात् ।

किञ्च, आश्रयग्रहणसापेक्षम् अभावग्रहणम्, आश्रयश्च सन्निहित एव गृह्यते, तत्कथं देशान्तरादिस्थस्य अभावस्य ग्रहणमम्भावनाऽपि ? तन्नेन्द्रियेणासम्बद्धत्वादस्य अप्रत्यक्षता युक्ता ।

नाप्यरूपित्वात्; तैस्य प्रत्यक्षतां प्रत्यनङ्गत्वात्, नहि रूपित्वं प्रत्यक्षतां प्रत्यङ्गम्, 10 परमाणूनां रूपित्वेऽपि अप्रत्यक्षत्वात् । गुण-कर्म-सामान्येन अनेकान्ताच्च; न खलु रूपादिगुणस्य गमनादिकर्मणः गोत्वादिसामान्यस्य च रूपित्वमस्ति, अथ च प्रत्यक्षत्वं तत्र विद्यते ।

असद्रूपत्वमपि न प्रत्यक्षतां प्रतिहन्ति; असद्रूपस्य हि सद्वृत्ततया प्रत्यक्षत्वमनुपपन्नं न पुनरसद्रूपतया, स्वस्वभावेन अर्थानां प्रत्यक्षत्वाऽविरोधात् । नहि घटस्य 15 पटात्मना प्रत्यक्षत्वविरोधे स्वात्मनापि तद्विरोधो युक्तः; सर्वत्र प्रत्यक्षव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । तत्तैत्तिमिच्छता भाषणद् अभावस्यापि स्वस्वभावेन प्रत्यक्षत्वमभ्युपगन्तव्यम् । ननु तथापि अभावस्य कथं प्रत्यक्षता विरोधादिति चेत् ? भावस्य कथम् ? प्रत्यक्षप्राप्तत्वाच्चेत्; ईतरत्र समानम् । तथाहि—उन्मीलिते चक्षुषि भूतलं घटाभावश्च प्रतिभामते, न निमीलिते । अतः समाने तद्भावप्रवित्वे कथं भूतलज्ञानमेव प्रत्यक्षं न घटाभाव- 20 ज्ञानमिति नियमविभागो युक्तः ? प्रयोगः—यच्चक्षुर्भावाऽभावाणुविधायि तत् प्रत्यक्षम् यथा भूतलादिज्ञानम्, तदनुविधायि च घटाद्यभावज्ञानमिति । अप्रत्यक्षत्वे चास्य आलोकापेक्षापि अतिदुर्घटा, आलोको हि चक्षुष एव उपकारकत्वेन प्रसिद्धः । तदुपकृतचक्षुःप्रभवत्वानभ्युपगमे च घटाद्यभावज्ञानस्य, अन्धस्यापि तदुत्पत्तिः स्यात् ।

(१) अभावस्य । (२) असम्बद्धत्वस्य समानत्वात् । (३) ५० ७७ । (४) संयुक्तसमवायसम्बन्धात् । (५) रूपस्य—आ० टि० । (६) इन्द्रियेण—आ० टि० । (७) संयुक्तसमवायविशेषात् 'चक्षुःसंयुक्तमामादिव' तत्र च रसस्य समवायात् । (८) रसस्याग्रहणे । (९) अयोग्यत्वादेव । (१०) तुलना—'नचासम्बद्धत्वाविशेषाद्देशान्तरादिषु सर्वाभावग्रहणमाशङ्कनीयम्, आश्रयग्रहणसापेक्षत्वादभावप्रतीते, आश्रयस्य च सन्निहितस्यैव प्रत्यक्षत्वात् ।'—न्यायम० ५० ५२ । (११) आश्रयो भूतलादि । (१२) अभावस्य । (१३) रूपित्वस्य । (१४) प्रत्यक्षत्वविरोधः । (१५) प्रत्यक्षव्यवहारम् । (१६) प्रत्यक्षत्वे कथमभाव, अभावश्चेत् कथं प्रत्यक्ष इति विरोधः । (१७) अभावेऽपि । (१८) चक्षुः—आ० टि० । (१९) घटाद्यभावज्ञानस्य । (२०) आलोकमहकृतः ।

१ तस्य तत्र प्र-थ० । २ रूपत्वं थ० । ३ घटाभाव-व० । ४ प्रतिनिधित्वः व० ।



स्पर्शसंविन्तिः स्यात् । तस्मादानुमानिकमेव ईदं विज्ञानं 'यद् रूपवत् तत् स्पर्शवत्, यदि वा, यदेवंविधरूपवत् तदेवंविधस्पर्शवत्' इति सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपन्नाऽविनाभावहेतुसामर्थ्येन उत्पत्तेः, यदित्यमुत्पद्यते तदनुमानमेव यथा 'यद् धूमवत् तदग्निमत्, यद्वा यदेवंविधधूमवत् तदेवंविधाग्निमत्' इत्याद्यवगताविनाभावहेतुप्रभवं विज्ञानम्, प्रतिपन्नाविनाभावहेतुसामर्थ्येनोत्पद्यते च रूपोपलम्भानन्तर- 5 भाविस्पर्शविज्ञानमिति । ततः स्थितमेतत्-देशाद्यविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभावः प्रत्यक्षत एव परिच्छिद्यत इति ।

यस्तु देशादिविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभावः सोऽनुमानादेः; तत्र देशविप्रकृष्टस्य फमलाकरफमलादेः सम्बन्धी विकासाद्यभावः दिनकरोदयाद्यभावादवसीयते । कालविप्रकृष्टस्य च शर्कटादेः भुहूर्चान्ते उदयाभावः अश्विन्युदयात् प्रतीयते । स्वभावविप्र- 10 कृष्टस्य च चैतन्यस्य शवशरीरे सत्त्वाभावः व्यापारव्याहाराकारविशेषाभावादनुमीयते । न खलु एवंविधाभावः एवंविधलिङ्गादन्यतः कुतश्चित् प्रतिपत्तुं शक्यः ।

एतेन यदुक्तम्—'यद्यभावः प्रत्यक्षपरिच्छेद्यः स्यात् कथमपवरकादौ इन्द्रियेणाऽसन्निकृष्टो देयदत्ताद्यभावः परिच्छिद्येत' इत्यादि; तदपि प्रतिव्यूढम्; 'नासीदपवरकं देयदत्तः' इत्यादिप्रतीतिः स्मृतिर्वात् 'आसीत् तत्र घटः' इत्यादिप्रतीतिवत् । अपवरक- 15 प्राहिणा हि प्रत्यक्षेण तत्राऽसंनिहितार्थानामभावो युगपत्प्रतिपन्नाः तत्र संनिहितार्थसद्भाववत् । तदुत्तरकालश्च संस्कारप्रबोधवशात् तद्भावाभावविषया प्रतीतिः उदयमासादयन्ती स्मृतित्वन्न जहातीति । न चैतद् वक्तव्यम्—'सकृदनुभूतेषु सकलपदार्थाभावेषु

(१) रूपदर्शनान्तरभावि स्पर्शज्ञानम् अनुमानात्मकम् सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपन्नाविनाभावहेतुसामर्थ्येनोत्पद्यमानत्वात् । (२) इय सामान्येन व्याप्ति । (३) एषा विशेषतो व्याप्ति । (४) सामान्यतो विशेषतश्च । (५) तुलना—'कश्चित्पुनरसन्निकृष्टदेगवृत्तिगुणयोऽपि भवत्यभाव यथा सन्तममे सलिलधाराविमरसिक्लसस्यमूलमभिवर्पति देवे घनपवनसयोगाभावोऽनुमीयते, यथा बाऽर्पापत्ताबुदाहृत गृहभावेन चैत्रस्य बहिरभाववत्पन्नमिति । आयमादप्यभावस्य क्वचिद् भवति निश्चय । चौरादिनास्तिताज्ञानमध्वगानामिवाप्तत ॥"—आयम० पृ० ५४ । (६) रोहिण्यादिनक्षत्रस्य । (७) पृ० ४६६ प० १ । (८) तुलना—'अस्य स्मरणत्वात् । यद्यपि पूर्वं हस्ती नास्तीत्यादि सविकल्पक ज्ञान नोत्पन्न तथापि हस्त्याद्यभावविशिष्टे देवकुले निविकल्पक ज्ञानमुत्पन्नम् । अन्यथा हि यदाह देवकुलमद्राक्ष न तदा त समीपवतिन हस्तिनमिति प्रश्नानन्तर स्मरण न स्यात् । तत्तु दृष्टम् । यस्य वस्तुन पूर्वं नाभाव परिच्छिन्नस्तत्र परप्रश्नानन्तर सत्ते 'न निरोक्षिन मया किं तत्र देवदत्तोत्पत्य हस्ती' इति । न चेदानीमभाव निविकनोति अतः पूर्वमेव हस्त्याद्यभावस्य प्रतीत्येक्यमेतत् स्मरणं 'न मया तत्र हस्ती दृष्ट' इत्यादि ।"—प्रश्न० व्यो० पृ० ५९३ । न्यायम० पृ० ५३ । प्रश्न० कन्द० पृ० २२७ । (९) देवदत्तादीनाम् । (१०) अपवरके । (११) येषामर्थानां मद्भावो तेषां सद्भावतया येषाञ्च देवदत्तादीनामभावस्तेषामभावरूपेण । (१२) तुलना—'ननु मेवकबुद्ध्या सत्त्वाभावग्रहणे महमैव सत्त्वाभावस्मृतिरूप-

१ मूर्तान्ते थ० । २-स्य चै-थ० । ३ परिच्छिद्यते थ०, परिच्छेद्यते आ० । ४-हिणा प्र-आ०, थ० । ५-नामभावो युगपत्प्रतिपत्तेः तत्र थ० ।



सहसैव स्मृतिः स्यात्' इति, अनुभूतत्वमात्रस्य स्मृत्यकारणत्वात्, अनुभूतेऽपि हि भावाभावस्वभावेपु निखिलार्थेषु यस्य यस्य मस्सारोद्बोधनिमित्ता प्ररनादिसामग्री सम्पद्यते तस्य तस्य रूपस्य स्मृतिः प्रादुर्भवति 'इदं तत्रासीत्, इदं नामीत्' इति ।

- यदपि—'अभावप्रमाणोत्पत्तौ भूतलाद्याश्रयग्रहणरूपा मामग्री' इत्याहुर्कम्, तद-  
 ५ प्यसारम्, आश्रयग्रहणस्य प्रत्यक्षेऽप्यविशिष्टत्वात् । न सलु 'भूतले घटोऽस्ति' इति प्रत्यक्षं भूतलग्रहणादृते घटते । न चाश्रयग्रहणपूर्वकमेव अभावग्रहणमिति नियमोऽस्ति, अन्धकारे प्रदीपाभाप्रतिपत्तेराश्रयाऽग्रहणेष्वुत्पत्ते । न चान्धकार एव आश्रय इत्य-  
 मिधातव्यम्, प्रकाशाभावमात्रतया भवता तस्य इष्टे, न एव च प्रदीपाभाव इति नाश्रयस्य तैम्भितिरिक्तस्य कस्यचित्त्रं ग्रहणम् । तथा 'गन्धो नास्ति' इत्यपि प्रतीतिः ।  
 10 आश्रयग्रहणनिरपेक्षैवोत्पद्यते, निमीलिताक्षर्यापि हि घ्राणेन्द्रियव्यापारादनन्तरं गन्धाभावप्रतीति उत्पद्यते । न च तत्र घ्राणेन्द्रियेण आश्रयस्य द्रव्यस्य ग्रहणं सम्भवति, दर्शन-स्पर्शनाभ्यामेव द्रव्यस्य ग्रहणसम्भवात् । तथा 'नास्ति शब्दः' इति श्रोत्रव्यापारादेव आश्रयग्रहणनिरपेक्षाद्भवति अभावप्रतीतिः । न हि श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दस्य आश्रयो ग्रहीतुं शक्यः, तस्य अत्यन्तपरोक्षस्य अनुमानेनैवावसायात् । तत्राश्रयग्रहणमभावप्रमाण-  
 15 सामाध्यामनुप्रविशति ।

- अनुप्रविशतु वा, तथापि आश्रयस्य ग्रहणं किं 'निपेध्याभावसहितस्य, केवलस्य वा ? 'प्रतियोगिनोऽपि स्मरणम्—किम् अभावाकान्तस्य, तद्विपरीतस्य वा ? तत्र अभावविरोधितयो आश्रयप्रतियोगिनो ग्रहणस्मरणपथप्राप्तयो तैत्कारणत्याभ्युपगमे 'अभावज्ञानादेव अभावज्ञानम्' इत्युक्तं स्यात् । न च स्वात्म्याश्रयस्य कस्यचित् सिद्धि-  
 20 र्मुक्ता अतिप्रसङ्गात् । चक्रप्रद्वन्द्व—अभावप्रमाणोत्पत्तौ हि प्रतियोग्यभावप्रतिपत्तिः, तत्प्रतिपत्तौ च तद्विरोधितयो आश्रयप्रतियोगिनो प्रतिपत्तिः, तस्याञ्च सत्याम् अभाव

जायत मवम यनव प्ररनादि स्मरणकारणमस्य भवति तदव स्मरति न सवम अविद्यमानस्मरण निमित्तम् । अयन तु युगपदुपलब्धत्वापि वषणु युगपदन्त्यवगणानुभवसमनन्तरं स्मरणम् । अन्यत्र तु युगपदुपलब्धत्वापि त्रमण स्मरण भविष्यतीति न मेचकबुद्धावय दोष । —वायम० पृ० ५३ ।

(१) पृ० ४६४ प० २ (२) अगपिकेण (३) अघकारस्य । द्व्यगुणकमनिष्प्रतिवधप्रमार्गं भावस्तम् । —वश० सू० ५।२।१९। (४) प्रकाशाभाव एव । (५) प्रदीपाभावविनस्य । (६) प्रदीपाभावप्रतिपत्तौ । (७) आकाशम् । (८) तुलना— तत्र निपेध्यावारो वस्त्वन्तरं प्रतियोगिसमूहं वा प्रतीयते असमष्टं वा ? प्रतियोगिनोऽपि स्मरणं वस्त्वन्तरसमष्टस्य असमष्टस्य वा ? —प्रमेयक० पृ० २०३ । स मति० टी० पृ० २४ । जनतकवा० व० पृ० ९३ । स्या० २० पृ० ३११ । (९) भूतलस्य (१०) घटाभावमहितस्य । (११) घटस्य । (१२) भूतलघटयो (१३) अभावप्रतीतिहर्तुत्वे । (१४) स्वस्य स्वापेक्षया प्रतीतौ स्वात्म्याश्रयत्वम् । (१५) अग्नरेव अग्निमिद्धिप्रमङ्गान । तथा च सव सवस्य सिद्धयत (१६) अभावविनिष्ठयो ।

1—ग्रहणत्वरूपा श्र० । 2—प्युपपत्त श्र० । 3—वि घा—आ०, श्र० । 4—स्त भवतिन श्र० । 5—तौ तद्वि—आ० व० ।



किञ्च, अभीव चिन्ताभायानां विवेकौऽसम्भवे कथमभायानामन्योन्य भावोन्तरान्य-  
विवेक स्यात् ? तत्रापि तद्वेतोरभावान्तरस्याऽभ्युपगमे अनवस्थाप्रसङ्गः । अथ अभा-  
यान्तरमन्तरेणापि अस्य विलक्षणस्य भावत्वादेव अन्यतो विवेकः, तर्हि वैयर्थ्यम् अर्था-  
न्तराभापरिकल्पनाया, घटादेरपि विलक्षणस्य भावतयैव अन्यतो व्यावृत्तिप्रसिद्धे ।  
तथाहि—घटादे अन्यतो व्यावृत्ति विलक्षणस्य भावनिर्गन्धनैव, अन्यतो व्यावृत्तित्वान्,  
या अन्यतो व्यावृत्ति सा विलक्षणस्य भावनिर्गन्धनैव यथा अभावस्य, अन्यतो व्यावृ-  
त्तिश्च घटादेरिति ।

किञ्च, आश्रयभेदेन इतरेतराभाव तावन्न भिन्ने सर्वत्रैव अस्यैव एकत्वेनाऽभ्यु-  
पगमात् । ततश्च घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्नाऽर्थावनिर्गन्धना । तत्र हि इतरेत-  
राभाव, अभावान्तरं वा निरगन्धनं स्यात् ? इतरेतराभावश्चेत्, किं स एव, अन्यो  
वा ? न तावत् स एव, अर्थावनिर्गन्धना घटादेर्यथावर्तमानत्वात् । यत् यतो व्यावृत्तौ न तस्मा  
देव तस्य व्यावृत्तिः यथा घटाद् व्योवर्तमानस्य घटस्य न घटादेव व्यावृत्तिः, व्यावृ-  
त्तौ च इतरेतराभावाद् घट इति । इतरेतराभावात्तराभ्युपगमे च अस्यैव एकत्वमिति  
अनवस्था च स्यात् । अथ अर्थावन्तरमस्यैव ततो<sup>१३</sup> व्यावृत्तेर्निर्गन्धनम्, तन्न,  
इतरेतरव्यावृत्ते अभावान्तरनिरगन्धनत्वानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा अभावचतुष्टयकल्पनाऽ  
नर्थक्यम्, एकस्मादेव अभावात् 'इदमेतं प्राङ् नासीत्, इतरद् इतरत्र नास्ति' इत्यादि  
प्रतीतेरुपपत्तेः । अथ घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिरेव नेष्यते सत्त्वधर्म्यं दोषः ?

(१) सुल्लो— किञ्च भावाभावयोर्भेदे नाभावनिवर्धनोऽनवस्थाप्रसङ्गात् । अथ स्वल्पेण भेद-  
तथा भावानामपि स स्यादिति किमभावेन कल्पितम् । —प्रमाणबा० स्वप्न० टी० १।६ । यदि  
चेत् इतरेतराभाववगात् घट घटादिभ्यो व्यावृत्तौ तर्हि इतरेतराभावोऽपि भावान्भावान्तराच्च प्रागभावाद्  
किं स्वतो व्यावृत्तौ अन्यतो वा ? —प्रमेयक० प्र० २०८ । त्या० २० प्र० ५८१ । (२) अभावभाव ।  
(३) प्रागभाव प्रवृत्तान् भिन्न । (४) प्रागभाव घटाभिन्न इति । (५) अभावेऽपि । (६) भवहेतो  
इतरेतराभावस्य । (७) अभावस्य । (८) भावान् घटादे अभावान्तराच्च प्रागभावादे । (९)  
भिन्नाभाव । (१०) घटादे । (११) घटो भूतलं न भवति भूतलञ्च घटो न भवतीति इतरेतरा  
भावादेव ( विलक्षणस्वभावत्वेन ) घटस्य भूतलाद् व्यावृत्तिः पुनरभावान्ति भाव—आ० टि० ।  
(१२) तस्माद्विलक्षणस्वभावनिवर्धनैव नाभावनिवर्धनव—आ० टि० । (१३) इतरेतराभावस्य ।  
(१४) द्वितीयाभाव । (१५) अभावनिवर्धनत्वे—आ० टि० । (१६) अस्मात् प्रथमादितरेतरा  
भावात् । (१७) घट इतरेतराभावयो व्यावृत्तिं तन्तिरेतराभावनिवर्धना तस्मादेव तस्य व्यावृत्त-  
मानत्वात् (१८) किन्तु त्रिभुवनादेव—आ० टि० । (१९) इतरेतराभावस्य । व्यर्थत्वाभावोऽप्येव च  
गोरभाव इतरेतराभावः स च सर्वत्रैवो नित्य एव पिण्डविभागोऽपि सामान्यवत् पिण्डान्तरे प्रत्यभिज्ञानात् ।  
यथा सामान्यमदष्टवर्गाद्रुपजायमानवत् पिण्डन सह सम्बद्धयत्वं नित्यत्वञ्च स्वभावसिद्धम् तथान्तरेतरा  
भावोऽपि । —प्रज्ञ० क० प्र० २३० । (२०) द्वितीयान्तरेतराभावस्य व्यावृत्त्ययम् तृतीय इतरेतरा  
भाव कल्पनीयः तद्व्यावृत्त्ययञ्च चतुर्थ इति । (२१) इतरेतराभावाद् भिन्नं कश्चित् प्रागभावादिह  
अभाव अभावान्तरम् । (२२) घटस्य । (२३) इतरेतरा—आ० टि० । (२४) प्रागभाव ।

तर्हि इतरेतराभावोऽपि घटः स्यात् । यस्य यतो व्यावृत्तिर्नास्ति न तस्य ततो भेदः यथा घटस्वरूपाद् घटस्य, नास्ति च इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्घटस्य इति ।

यदपि—अभावस्य वस्तुत्वमभिहितम्<sup>१</sup>; तदपि वस्तुधर्मस्यैवोपपन्नं न पुनः सर्वथा तुच्छस्वभावस्य, तथाविधस्यार्थं वस्तुत्वानुपपत्तेः । यत् सर्वथा तुच्छस्वभावं न तद्वस्तु यथा गगनेन्दीवरम्, सर्वथा तुच्छस्वभावश्च परैरभ्युपगतोऽभाव इति । अस्तु वा अस्य ५ वस्तुत्वम्; तथापि तत् केन गृह्यताम्—किमभावात्त्येन प्रमाणेन, प्रमाणान्तरेण वा ? प्रथमपक्षे किं तद्वस्तुत्वं भावः, अभावो वा ? यदि भावः; कथमभावप्राज्ञः तस्य तद्विषयत्वाऽनभ्युपगमात् ? तुच्छस्वभावाभावस्य भावस्वरूपवस्तुत्वाश्रयत्वविरोधाच्च । यत् तुच्छस्वभावं न तद् भावस्वभाववस्तुत्वाश्रयः यथा शशविषाणम्, तुच्छस्वभावश्च परैः परिकल्पितोऽभाव इति । अथ अभावः, तन्न, वस्तुत्वस्य अभावरूपत्वे नीलादावपि 10 तस्य अभावरूपत्वप्रसङ्गाद् भाववार्तोच्छेदः स्यात् । अथ प्रमाणान्तरेण गृह्यते तत्; तन्न, प्रमाणान्तराणामभावप्राज्ञकत्वानभ्युपगमे तद् तद्वस्तुत्वप्राज्ञकत्वाभ्युपगमविरोधात् । तन्न अभावप्रमाणस्य सामग्रीवद् विषयोऽपि विचार्यमाणो व्यवतिष्ठते ।

नापि फलम्; अभावावगतिलक्षणफलस्य प्रत्यक्षान्वितोऽपि सद्भावप्रतिपादनात् । किञ्च, सिद्धे स्वरूपे कारणविषयफलव्यवस्था वक्तुं युक्ता । न च अस्य तस्तिद्वम् । 15 ननु सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिर्लक्षणम् अभावप्रमाणस्वरूपं प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वात् कथमपहोतुं शक्यम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्; यतः केयं तदनुत्पत्तिः—किं निषेधैर्धिर्पयज्ञान-रूपतया आत्मनोऽपरिणामः, अन्यवस्तुविज्ञानं वा ? तत्र अपरिणामस्य अभावस्व-भावात्वाद् कथं तैर्धाविर्धनानजने सामर्थ्यं स्यात् ? कथं वा प्रामाण्यम् ? प्रमेयपरि-च्छेदकस्य हि प्रामाण्यं प्रसिद्धम्, यच्च स्वरूपेण न किञ्चित् तत्कथं कस्यचित्परिच्छे- 20 दकमतिप्रसङ्गात् ? यत् स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपम् न तत् कस्यचित्परिच्छेदकं यथा

(१) इतरेतराभाव घटात्मक तस्मादव्यावर्तमानत्वात् । (२) घृ० ४५७ व० १ । (३) वस्तुत्वम् । (४) अभावस्य । (५) अभावो न वस्तु सर्वथा तुच्छस्वरूपत्वात् । (६) वस्तुत्वम् । (७) भावस्वरूपस्य वस्तुत्वस्य । (८) अभावविषयत्व । (९) अभावो न वस्तुत्वाश्रय तुच्छस्व-भावात्वात् । (१०) वस्तुत्वस्य । (११) वस्तुत्वम् । (१२) अभावगत । (१३) अभावस्य । (१४) प्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिः । (१५) निषेधो घटादि । (१६) भूतलाद्याभयात्मकमन्यवस्तु । (१७) तुलना—“नीरूपस्य हि विज्ञानरूपहानौ प्रमाणात् । न युज्यते प्रमेयस्य सा हि सवितिलक्षणा ॥ यत्प्रमेयाधिगतिरूपं न भवति न तत्प्रमाणं यथा घटादि, प्रमेयाधिगतिसूत्रस्याभाव इति व्यापकानु-पलब्धिः ।”—तत्त्वसं० प० घृ० ४७८ । “यत् प्रमाणपञ्चकमावो निरूपयत्वात् कथं प्रमेयाभाव परिच्छिन्नात् परिच्छित्तेर्ज्ञानधर्मत्वात् ।”—प्रमेयक० घृ० २०५ । सम्मति० टी० घृ० ५७८ । स्या० २० घृ० ३१० । (१८) ‘अत्र घटो नास्ति’ इत्याकारकज्ञानोत्पादने । (१९) खरविषाणादेरपि परिच्छेदव-त्वप्रसक्तिः । (२०) आत्मनोऽपरिणामरूपोऽभाव न प्रमेयपरिच्छेदक स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपत्वात् ।

यन्ध्यास्तनन्वयः, स्वरूपेणाक्रिञ्चिद्रूपश्च परपरिकल्पितमभावप्रमाणमिति । परिच्छेद-  
कत्वं हि ज्ञानधर्मः, सोऽश्वविषाणप्रत्ययस्य अध्यक्षाद्यभावस्यानिदुर्घटः । ततश्च 'प्रमा-  
णाभावः प्रमाणश्च' इति प्रतिज्ञा-पदयोः विरोधः, यथा 'इदञ्च, नास्ति च' इति ।

अन्ययस्तुविज्ञानपक्षेऽपि किमन्यस्मिन् वस्तुमात्रे, घटाभावाश्रये वै ज्ञानमभाव-  
परिच्छेदकं स्यात् ? तत्राप्यपक्षे यत्र कुत्रचिद् धैस्य कस्यचिद् अभावस्य ज्ञानं स्यात् ।  
अथ घटाभावाश्रयस्य; नन्वेतत् घटाभावे सिद्धे सिद्धयेत्, न चामौ भवत्यपक्षे सिद्धः ।

प्रतियोगितापि गतेन प्रत्याख्याता; सिद्धे हि घटाभावे 'अयमस्य आश्रयः, अयञ्च  
प्रतियोगी' इति सिद्धयेत् । ततोऽभायप्रमाणस्य यथाभ्युपगतस्वरूपसामग्रीविषयफलाना-  
मन्ययस्थितेः वस्तुधर्म एवाभावः । प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धश्च भाववदभ्युपगन्तव्य इति ।

अत्र सुगतमतावलम्बिनः प्राहुः— न भावस्वरूपव्यतिरिक्तः कश्चिदभावः

न भावस्वरूपव्यति- प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रतीयते । प्रत्यक्षस्य हि स विषयो भवति यो  
रिक्त कश्चिदभाव जनकत्वे सति आचारसमर्पकः, अभावस्य च जनकत्वमाकारसमर्प-  
प्रत्यक्षानुमानाद्वा, कत्वञ्चातिदुर्घटम् । यैद् अभावरूपं न तत् कस्यचिज्जनक स्वाकार-  
इति बौद्धस्य पूर्वपक्ष समर्पकश्च यथा रघुष्यम्, अभावरूपश्चाभावो भवद्विरिष्ट इति ।

स्वाकारसमर्पयतो ज्ञानजनकत्वे चास्य भावरूपतैव स्यात् । यत् स्वाकारसमर्पयत् ज्ञान

(१) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिरूपतया अभावप्रमाण प्रमाणाभावात्मकम्, अथ च अभावपरिच्छेदकत्वेन  
परिच्छेदकत्वधर्माधारभूत प्रमाणात्मकत्वेन विरोधः । (२) प्रमाणाभावरूपस्वीकरण प्रतिज्ञा, परिच्छे-  
दकत्वेन प्रमाणरूपतोर्वर्णनं पदम् । (३) भूतलादी वा । (४) 'एवमन्यत-अभावो नाम नामपेव  
केवलं मूढस्य भावविषयमेव प्रत्यक्षमन्याभाव व्यवहारयति ।"—प्रमाणवा० स्वप्न० टी० ११६ ।  
'एकज्ञानसमागिवत्स्वन्तरं ननुपलब्धिरेवानुपलब्धिबिबक्षिता उपलब्धेरन्यत्वादभक्ष्याऽस्पर्शनीयवत्, स  
एवाभावः, तदनिर्गिकस्य विग्रहवर्तोभावस्याभावात् ।"—प्रमाणवा० मनोरथ० २१३ । "तस्मादुपल-  
ब्धिबिज्ञानादस्या वस्तुत्वरविषया उपलब्धि ज्ञानात्मिकाऽनुपलब्धि । कथं पुनरुपलब्धिरेवानुपलब्धिरेव्यते  
इत्याह विवक्षितेत्यादि । यथा भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणे विवक्षिताद् भक्ष्यादन्यत्वादभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटो  
भक्ष्योऽपि सन् तदन्यस्योच्यते, यथा च स्पर्शनीयाऽस्पर्शनीयाधिकारे विवक्षितात् स्पर्शनीयादन्यत्वादस्य  
शरीर्यश्चाण्डालादितदन्यस्य स्पर्शनीयोऽपि सन्नोच्यते तद्वदुपलब्धिरेवानुपलब्धिर्मन्यथा तस्मात्  
प्रतिपध्याद् घटाद स्वविषयविज्ञानजननयोग्याद् योज्य उपलम्भजननयोग्य एव न तद्विपरीत स्वभावो  
घटाविविक्तप्रदर्शय स एव चात्र अनुपलब्धिशब्दोच्यते ।"—हेतुबि० टी० पृ० १६३ A ।  
'तस्यान्यस्य प्रदेशस्य केवलस्य यत् तन् केवल्यम् एकावित्वमसहायता तदेवापरस्य प्रतियोगिनो घटादेर्व-  
क्त्यमभाव इति । तस्मादन्यभाव एव भावास एव त्वदभिमतस्तदभाव प्रतियोग्यमावासो न तत्  
पृथग्भूत धर्मान्तरमित्युच्यते सुगतमुत ।"—हेतुबि० टी० पृ० १७९ B । "न ह्यभाव कश्चिद्विग्रहवान्  
य माशान्कतं व्यपि तु व्यवहृतं व्य ।"—क्षणभङ्गसि० पृ० ६५ । (५) अभाव कस्यचिज्जनक  
स्वाकारसमर्पकश्च न भवति अभावरूपत्वात् । (६) अभावस्य ।

१ स्वरूपेणास्वरूपेणा-अ० । २ 'यस्य कस्यचित्' नास्ति आ० । ३ अभावज्ञान अ० ।  
४-हे प-आ० । ५-सिद्धभावव-आ० । ६ न तावत्स्व-व० ।

जनयति तद् भावस्वभावमेव यथा घटादि, स्वाकारमर्पयन् ज्ञानं जनयति च अभाव इति । यत् खलु कुतश्चिदुत्पन्नं केनचिद्वेषेण प्रतिभासमानं काश्चिदर्थक्रियां करोति तद् भावस्वरूपमुच्यते ।

किञ्च, अभावाकारस्यै ज्ञानेऽनुप्रवेशे तस्यापि असत्त्वप्रसङ्गात् कुतः किं प्रतीयताम् ? न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्येवं प्रत्यक्षं तत्सद्भावे प्रमाणमित्यभिधा- 5 तव्यम्; ईदृशसंसर्गेणोपजायमानस्यास्य विकल्परूपतया प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः । विकल्पा-नाञ्च अर्थे प्रामाण्यानुपपत्तिः अर्थाऽसंस्पर्शित्वात्तेषाम् । तन्न प्रत्यक्षतोऽभावसिद्धिः । नाप्यनुमानतः; तद्धि साध्यप्रतिबद्धलिङ्गवत्तादुद्यमासादयति । प्रतिबन्धश्च साध्य-साधनयोः प्रत्यक्षतः, अनुमाननो वा प्रतीयते ? न तावत् प्रत्यक्षतः; अभावस्य उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षाऽगोचरत्वे ततोऽस्य केनचित् लिङ्गेन सह प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । 10 अनुमानतः तत्प्रतीतौ अनवस्था, तत्रापि अनुमानान्तरात् तत्प्रतीतिप्रसङ्गात् । तन्न कुतश्चित् प्रतिबन्धसिद्धिः । नचासिद्धप्रतिबन्धं लिङ्गं साध्यसाधनाय प्रभवति अतिप्रसङ्गादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'न भावस्वरूपव्यतिरिक्तोऽभावः' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्; भावस्वरूपाऽतिरिक्तस्याऽभावस्य प्रतीतिभेदात् 15 तस्मिन्नाकारणपूर्वकम् अभावस्य भावान्तर-रूपस्य वस्तुसत-समर्थनम्—स्वरूपभेदात् सामग्रीभेदात् अर्थक्रियाभेदाच्च भेदसिद्धिः । यैस्य यतः प्रतीत्यादिभेदः तस्य ततो भेदः यथा घटात् पटस्य, प्रतीत्यादि-भेदश्च भावाद्भावस्य इति । न चायमसिद्धः; तथाहि—भौवाऽ-भावयोस्तावत् प्रतीतिभेदः सुप्रसिद्ध एव 'इदमत्रास्ति, इदं नास्ति' इति । नहि 20 प्रतीयमानापीत्थं भेदेन अभावप्रतीतिरपहोतुं युक्ता; भावप्रतीतेरप्यपहवप्रसङ्गात् । ननु निर्धिकल्पकसामर्थ्येन 'इदमिहास्ति, नास्ति' इति विकल्पद्वयमुत्पद्यते, न च तद्वैशादर्थव्यवस्था, विकल्पानामर्थे प्रामाण्याऽभावात्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्; सविकल्प-कसिद्धौ निर्धिकल्पकस्य प्रामाण्यप्रतिषेधतः सविकल्पकस्यैव अन्तर्बहिर्भाष्यव्यव-

- (१) अभावो भावस्वरूप एव स्वाकारार्पकत्वे सति ज्ञानजनकत्वात् । (२) ज्ञानस्यापि । (३) "एकोपलम्भानुभवादिदं नोपलभे इति । बुद्धेरुपलभे वेति कल्पिकाया समुद्भवः ॥"—प्रमाणवा० ५।२७० । (४) प्रत्यक्षस्य—आ० टि० । (५) विकल्पानाम्—आ० टि० । (६) अनुमानं हि । (७) अविनाभावः । (८) प्रत्यक्षात्—आ० टि० । (९) अभावस्य—आ० टि० । (१०) द्वितीयानुमानेऽपि । (११) अविनाभावप्रतीतिः । (१२) ४० ४७६ ५० १० । (१३) अभावो भावस्वरूपातिरिक्त प्रतीतिस्वरूपसामग्र्यर्थक्रियाभेदात् । (१४) तुलना—“इदं तावत्सकलप्राणिप्राणिकं सवेदनद्वयमुपजायमानं दुष्टम् इह घटोऽस्ति इह नास्तीति ॥”—न्यायमं० ४० ५८ । (१५) विकल्पवशात्—आ० टि० । (१६) अन्तर्चेतनात्मनस्य बहिर्वाचेतनस्वरूपस्य वस्तुनः ।

१-स्याज्ञाने व० । २-संसर्गणोप-व० । ३-तीयेत् आ० । ४-प्रतिबन्धलिङ्गं व० । ५-प्रामाण्यादित्यपि य० ।

स्थापकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः प्रतिपादितत्वात् । तस्मादर्थेनोत्पन्नाऽभावविकल्पाद्  
अभावाऽसिद्धौ भावसिद्धिरपि अतोऽतिदुर्लभा । अथ प्रत्यक्षादेव भावसिद्धिः; अभाव-  
सिद्धौ तत् किं कर्कशैकितम् ? प्रथमं हि इन्द्रियादिसामग्रीतः समुत्पन्नं प्रत्यक्षम्  
अनेकैर्भावाभावाधिसंचितमुपाधिमन्तं प्रतिपद्यते, ततः शब्दार्थयोः प्रतिपन्नप्रतिबन्धः  
6 प्रतिपत्ता अर्थदर्शनोत्तरकालं यस्य यस्य विवक्षा भवति तत्तद्वाचकं शब्दं स्मृत्या 'इदमि-  
हास्ति, इदं नास्ति' इति विकल्पव्यापारं दर्शयति । यदि च तेऽभावविशेषाः प्रत्यक्षतो न  
प्रतिपन्नाः तदा प्रतियोगिस्मरणमपि अनुपपन्नमेव स्यात् । नहि अप्रतिपन्ने घटाभावे  
घटस्य प्रतियोगितया स्मृतिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात् । अतः प्रतिनियतप्रतियोगिस्मरणाऽन्यथा-  
नुपपत्त्या प्रतिनियताभावप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षे प्रतिपत्तव्या इति ।

- 10 न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इति विशिष्टायाः प्रतीतेः विशेषणमन्तरेणोपप-  
त्तिर्युक्ता । या विशिष्टा प्रतीतिः नासौ विशेषणमन्तरेण उपपद्यते यथा दण्डीत्यादिप्रतीतिः;  
विशिष्टा च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतिरिति । अथ भाव अभावप्रतीतेर्नि-  
बन्धनम् अतः स एवार्था विशेषणं भविष्यति, एवञ्च भवतो न किञ्चिदिष्टं सिद्धमेत्;  
इत्यन्यसाम्प्रतम्; यतः किं निषिध्यमानो घटादिर्भावः अस्या नियन्धनमभ्युपगम्यते,  
15 तैश्चाश्रयो भूतलादिर्वा ? प्रक्षमपञ्चोऽयुक्तः; भावाऽभावप्रतीत्योर्निर्वाधतया प्रतीयमानयो-  
र्वैलक्षण्यस्य विषयवैलक्षण्यव्यतिरेकेण अनुपपत्तेः । यैर्निर्वाधतया प्रतीयमानयोः  
प्रतीत्योर्वैलक्षण्यं तद् विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् यथा रूपादिप्रतीतिवैलक्षण्यम्, वैलक्षण्यञ्च  
निर्वाधतया प्रतीयमानयोः भावाऽभावप्रतीत्योरिति । न च तत्प्रतीत्योर्निर्वाधता वैलक्ष-  
ण्येन प्रतीयमानत्वञ्चाऽसिद्धम्; तद्वाधकस्य कस्यचिदप्यभावात्, परस्परं चाऽसङ्कीर्णस्व-  
20 भावतयाऽनुभूयमानत्वाच्च । नहि कश्चिद्वालिंशो भावमेव अभावतया प्रतिपद्यते, अन्या  
हि भावप्रतीतिः अन्या चाभावप्रतीतिरिति । यैदि च भाव एव अभावः स्यात्; तर्हि  
तस्मात्तादृशे तदेव चाऽभावप्रतीतिः स्यात् । न चैवम्, नहि स्वदेशकालनियतां भावसत्तामेव

(१) पृ० ४७ । (२) निर्विकल्पक-आ० टि० । गुलना- 'तत्र विकल्पमात्रसंवेदनमनाल-

म्बनमात्रमात्रालम्बनं वेद्यादि यदभिलष्यते तत्प्राप्तिनामान इव अस्तित्वज्ञानेऽपि समानमतो द्वयोरपि  
प्रामाण्यं भवतु द्वयोरपि वा मा भूत् ।'-न्यायसं० पृ० ५८ । (३) भावविकल्पान् । (४) निर्विक-  
ल्पकप्रत्यक्षम्-आ० टि० । (५) अनेके भावा अभावाच्च उपाधय विनोपणानि तं लघितं दलितं  
चित्रितम् उपाधिमन्तं विनोप्यभूतमर्थम् । (६) गृहीतमङ्कनं । (७) यस्याऽभावः स प्रतियोगी ।  
(८) इह भूतले घटो नास्तीति प्रतीतिः विनोपणपट्टणपूर्विका विविष्टप्रतीतिरित्यान् । (९) भाव एव ।  
(१०) अभावप्रतीति-आ० टि० । (११) इह भूतले नास्ति घट इत्यभावप्रतीतिः । (१२) घटा-  
भावाश्रयो । (१३) भावाभावप्रतीत्योर्वैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् निर्वाधप्रतीतिवैलक्षण्यान् ।  
गुलना- 'नहि विषयवैलक्षण्यमन्तरेण विवक्षणाया बुद्धेरस्त्युदयः, नापि व्यवहारभेदस्य समर्थः ।'-प्रा०  
वच० पृ० २२९ । (१४) अन्योन्य भिन्नस्वभावतया । (१५) भावमत्ताश्रणे (१६) भावदेने ।

1-प्राक्काभाव-य० । 2-अभावति-य० । 3-अनेकमभावा-य० । 4-प्रसङ्ग-य० । 5-घटा-  
दिभाव-य० । 6-विषय-य० । 7-शोऽभावमेव भावतया आ०, य० । 8-यदि भाव य० ।

अभावतया कश्चित् प्रतिपत्तुमर्हति ।

अथ निषिध्यमानघटाद्याश्रयतयाऽभिप्रेतः भूतलादिभावः तदभावप्रतीतेर्निबन्धनम्; तत्रापि किं भूतलमात्रं घटाभावप्रतीतेर्निबन्धनम्, विशिष्टं वा ? प्रथमविकल्पे सघटेऽपि भूतले घटाभावव्यवहारः स्यात् तदैव विशेषात् । द्वितीयपक्षेऽपि किङ्कृतमस्य वैशिष्ट्यम्—स्वरूपकृतम्, घटसंसर्गरहितत्वकृतं वा ? न तावत् स्वरूपकृतम्; सघटेऽपि भूतले अभावप्रतीतिप्रसङ्गात् स्वरूपसत्त्वस्य तत्राप्यविशिष्टत्वात् । घटसंसर्गरहितत्वनिबन्धनत्वे तु नास्ति विषादः घटाभावस्य घटसंसर्गरहितत्वशब्देन अभिधानात् ।

नचैतद्वक्तव्यम्—अभिमानमात्रमेवायं 'नास्ति' इति व्ययहारः, सद्व्ययहारानुदय एव तत्संभवादिति; यतः प्रतीयमानस्य आधारहितस्यास्याभिर्मानिकत्वे 'अस्ति' इत्यादिव्ययहारस्याप्याभिमानिकत्वप्रसङ्गः । यदि च सद्व्ययहारानुदय एव नास्तीतिव्ययहारस्य

(१) तुलना—“न इदं प्रष्टव्या नास्तीति सविद किमालम्बनम् ? यदि न किञ्चित्, इत्त स्वहृत्तो निरालम्बन विज्ञानमिच्छता महामानिकानाम् । अथ भूतलमालम्बनम्, कण्टकादिमत्पि भूतले कण्टको नास्तीति सविति नत्पूर्वकश्च निष्क गमनागमनलक्षणो व्यापारो दुर्निवार । केवल-भूतलविषयं नास्तीति सवेदनम्, कण्टनसद्भावे च कैवर्त्यं निवृत्तमिति प्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरभाव इति चेत्, ननु किं कैवल्य भूतलस्य स्वरूपमेव, किमुत धर्मान्तरम् ? तत्स्वरूपं तावत् कण्टकादिवेदेनेऽप्यपरावृत्तमिति स एव प्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरविरामो दोषः । धर्मान्तरपक्षे च तत्त्वान्तरासिद्धिः ।”—प्रश० कण्ड० पृ० २२९ । प्रश० किर० पृ० ३२९ । (२) भूतलमात्रस्य तत्रापि सद्भावात् । (३) भूतलस्य । (४) सघटेऽपि भूतले । (५) प्राभाकरं । “अप्रमीयमाणत्वमेव हि नास्ति न नास्ति न चाप्रमीयमाणतैव प्रमेयम्, यस्मात्सद्व्ययमिष्टानुभवयुक्ततैवात्मन तस्यायंस्याप्रमीयमाणा, सा चावस्था आत्मनः स्वमविदितैव । अतः प्रमेयं नावशिष्यते ।”—बृह० प० पृ० ११९-२० । “तस्माद् भाव-ग्राहकप्रमाणानुवृत्तिरेवाभावावगमं प्रमूते (पृ० ११९) अभावस्य तु स्वरूपावगतिर्नास्ति इति न प्रमाणाभावादप्य प्रमेयाभावः, प्रमाणाभावोऽपि च स्वरूपान्तरानवगमादेव न भावान्तरप्रमितेर्भ्रमे, भावान्तरप्रमितेरेव स्वयंप्रकाशरूपा न प्रमेयतामनुभवतीति प्रमेयभावाव्यस्य प्रमाणस्य नोपपद्यते । प्रमेयासद्भावाच्च न प्रमाणान्तरमवकल्पत इति स्थितम् । (पृ० १२४) नास्तिस्वरूपं प्रमाणानामनुत्पत्त्यैव गम्यते । नास्तिस्वरूपनिपत्तिर्हि ता विना नास्ति कुत्रचित् ॥ योग्यप्रमाणानुत्पत्तेः कारणत्व परिग्रहात् । अतिप्रसङ्गदोषोऽपि नावकाशमुपाश्रुते ॥”—प्रकरणप० पृ० १२९ । नमवि० पृ० १६२ । तन्त्रह० पृ० १७ । प्रभाकरवि० पृ० ५७ । (६) कान्तनिकत्वे । (७) तुलना—“ज्ञानाभावे ज्ञान-भूम व्यवहाराभावे व्यवहारभूम आलोकादर्शने अन्वकारभूमवत्, न, सुषुप्त्याद्यवस्थासु प्रसङ्गात् । अप्रमिते च भूमाऽयोगात् सुषुप्त्यादिवत् ।—अथापि वैद्यात्यादुष्यते न च तत्त्वतो नास्तीति बुद्धिव्यव-हारो स्त, किन्तु चैत्रदशनाभावे चैत्रो नास्तीति ज्ञानं भूम चैत्रोचितव्यवहाराभावे च तदभावे व्यवहारभूमः । अत्रैव निदर्शनमाह—आलोकादर्शनेऽन्वकारभूमवत् तदेतन्निराकरोति—न; सुषुप्त्याद्यव-स्थासु प्रसङ्गात् । यदि हि ज्ञानव्यवहारयोरभावे तद्विभूम सुषुप्त्याद्यवस्थास्वपि तथाप्रसङ्गः । नहि तदा ज्ञानं नापि व्यवहारः, समस्तविज्ञानोपसंहृतिरक्षणत्वात्सुषुप्त्याद्यवस्थायाः । हेत्वन्तरमाह—अप्रमिते च भ्रान्त्ययोगात् सुषुप्त्यादिवत् । प्रमितस्य हि भावस्य प्रमित एव भावे समारोपभ्रान्तिर्न पुनरसतो ज्ञानाकारस्य नाप्यग्रह इत्युपपादित विभ्रमविवेके, अत्रापि सूचयिष्यति । न च ज्ञानव्यवहाराभावे



अङ्गम्, तदा सुपुत्रावस्थायामपि नास्तीतिव्यवहारः स्यात् सञ्चयहारानुत्तर्यस्य तत्राप्यविशेषात् । ततो निर्वाधयोर्भावाऽभावाप्रतीत्योर्वैलक्षण्यमिदं सिद्धो भावाऽभावयोर्वास्तयो भेदः ।

स्वरूपभेदाच्च, अभावस्य हि भावप्रतिषेधकत्व स्वरूपं नेतरस्य । स्वरूपभेदेऽपि अनयोरेभेदे भेदवाचोऽन्तेऽप्रसङ्गः, परस्परतो भेदस्य सर्वत्र घटपटादौ स्वरूपभेदा-

६ द्रव्यतोऽप्रसिद्धे ।

सामग्रीभेदाच्च अनयोर्भेदः, सुप्रसिद्धश्च नद्वेदः । तथाहि—घटादिभावमुत्पादयितुकामः तदुत्पादनात्कालमेव मृत्पिण्डादिसामग्रीमुपादत्ते, विनाशयितुकामस्तु तैद्विलक्षणा मुद्रादिसामग्रीमिति ।

ननु मुद्रादिसामग्री परस्परसंस्पर्शकपालोत्पाद एव व्याप्रियते नाऽभावे, न च तदुत्पादवत् तदभावोर्प्यत एव भविष्यतीत्यभिधातव्यम्, यतः सर्वोऽपि कार्यभेद कारणभेदेन व्याप्तः । न च अभावात्कपाललक्षणकार्यभेदे कारणभेदोऽस्ति, मुद्रालक्षणस्यैकस्यैव कारणस्य प्रतीतिः । न च तस्यैकस्यैव अन्योन्यविरुद्धकार्यद्वयजनकत्व युक्त निरोधात्, इत्यप्यसमीचीनम्, प्रतीतिविरोधानुपपन्नात् । तथाहि—मुद्रारादिन्यापारानन्तरं लौकिकेतरयोः 'अनेन विनाशितो घटः' इति प्रतीतिः, न पुनः 'कपालानि

उपलब्धपूर्वा । तदुपलम्भः वा कृतमत्र भूमीपन्यासेन । तस्मादप्रमिते भान्यनुपपत्तरपुन्यमेतन्त्यस्य ।' -विधिबि०, व्यायकणि० पृ० ७३-७४ ।

(१) तुलना—स्वरूपभेदस्योपपत्तः यथाहि कारणादुत्पन्नमाना रूपादयः परस्परं स्वरूपभेदादभिद्यन्ते तथाऽभावोऽपि भावादिति । अस्ति च द्वय्यादिपङ्कलक्षणा लक्षितत्वं भावपरतत्त्वं गृह्यमाणत्वमभावस्य रूपमिति । -प्रमाणवा० स्व० पृ० ४०० । (२) भावस्य । (३) भावाभावयोः । (४) सामग्रीभः । (५) उत्पन्नसामग्रीभिर्नाम । (६) तस्मात् परस्परतो निवर्तते काष्ठादि न्यायादिभ्यस्तु अङ्गारादिभिरन्यथैव भद्रकम् । -हेतुबि० टी० पृ० ८३ A । तदयमत्र समुदायाय—मुद्रादिव्यापारानन्तरं द्वयं प्रतीयते घटनिवृत्तिः कपालञ्च । तथैव विनाशरूपतया प्रतीयते । तत्र घटनिवृत्तिरूपत्वेनाकायत्वादिति वक्ष्यति । तत्त्वायत्वेन तु तत्प्रतीतिर्भ्रान्तिरेव कायत्वं वास्या न घटनिवृत्तिरूपत्वं स्यात् घटसम्बन्धित्वेन कृतकत्वात् विनाशरूपतया च न प्रतीतिः स्यात् घटस्य सत्त्वात् । निहृतके तु विनाशः स्वरसतो निवर्तमान एव घटो मुद्रारादिसहकारी कपालजनकत्वेन सदशक्षपानारम्भकत्वात् मुद्रादिव्यापारानन्तरं घटनिवृत्तः कपालस्य च सदभावात् तथोविनाशरूपतया विनाशस्य च सहेतुकत्वेन मदमतीनामवसायो युज्यत एव । प्रयोगस्तु यः यदभावः प्रत्यनपेक्षास्तौ तदभावनिपता तदभावाऽसम्भवत्प्रतिषेधा कारणसामग्री कार्योत्पादनं अयानपेक्षश्च कृतको भावो विनाश इति स्वभावहेतुः । -प्रमाणवा० स्व० टी० १।१९६-९७ । प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२६९-७० । तत्त्वसं० पृ० १३२ । (७) घटविनाशोऽपि । (८) मुद्रारादिव्यापारदेव । (९) मुद्रारादिव्यापारस्य । (१०) घटविनाश-कपालोत्पादलक्षणः । (११) तुलना—'तस्मात्कारणकारणयोस्तादविनाशो न सहेतुका हेतुकी सहभावादसम्बन्धितः । मुद्रारादिव्यापारानन्तरं कार्योत्पादवत् कारणविनाशस्यापि प्रतीतिः विनष्टो घट उत्पन्नानि कपालानि इति व्यवहारद्वयसंभावात् । -अष्टसं० अष्टसह० पृ० २०० ।

१-दयस्य च त-व० । २-तत्रानिर्वा-थ० । ३-भवादाऽभा-व० । ४-एतयो-व० ।

५-भेदादाज्ज-व० । ६-इव तथा तदुभय व० । ७-प्रतीति व० ।

उत्पादितानि' इति । नापि घटविनाशकस्य 'कपालान्युत्पादयामि' इत्यनुसन्धानं स्वप्नेऽप्यनुभूयते । न एतलु विषादिना शत्रुवधे वह्न्यादिना च पटदाहे प्रवृत्तस्य शत्रुपट-विनाशादृते 'अन्यत् किञ्चित्तत्र उत्पादयामि' इति हन्तु पटविनाशकस्य वा अनुसन्धानमस्ति । नापि पार्श्वस्थानां 'अन्यत् किञ्चिदनेनोत्पादितम्' इति प्रतीतिः, किन्तु 'तद्विनाश एव अनेन कृत' इत्यग्निलज्जनानां प्रतीतिः । तद्विनाशे एव चासौ परितुष्यति । 5 नहि अवयवनिष्पत्त्या तस्य किञ्चित् प्रयोजनम् । ननु भावानां स्वभागतो विनाशस्वभावनियततया विनाशस्य अहेतुकत्वान्न सुद्धरादे तद्धेतुत्वम्, इत्यप्यपेशत्म्, तेषां स्वभावानियतत्वस्य अक्षणिक्प्रसिद्धो निराकृतत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'कार्यभेद कारणभेदेन ज्ञाय' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, एककारणस्य एककार्योत्पादकत्वेन अविनाशानुभावात्, प्रदीपादेरेकस्यापि अनेककार्योत्पादकत्व- 10 प्रतीतिः । अतः सिद्धं सहेतुको विनाशः । तथा च घटाभातोत्पादकसामग्र्यतो भातोत्पादकसामग्र्या भेदसिद्धे सिद्धो भाताऽभातोर्भेदः ।

अर्थक्रियाभेदाच्च, सुप्रसिद्धो हि भावाऽभावायो प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणोऽर्थक्रियाभेदः, जलाद्यर्थिन तत्सद्भावस्य प्रवृत्तिहेतुत्वात्, तदभावस्य च निवृत्तिहेतुत्वात् । प्रमोदाद्यर्थ-क्रियाकारित्वाच्च अनयोर्भेदः, तथा हि शत्रुविनाशं कृतं शत्रुतो वा परप्रमोदमाधत्ते, तत्स- 15 ज्ञानस्तु विषादम् । न ह्यत्र भावाभावाभ्यामन्यस्य प्रमोदविषादहेतुत्वप्रतीयते ।

यदप्युक्तम्—'अभातोऽपि यदि कुतश्चिदुत्पद्येत काञ्चिदर्थक्रियां कुर्वीत तदा भार्य एव स स्यात्' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, यतो भार्यप्रतीतिविषयत्वमात्रम्, न पुनः अर्थक्रियाकारित्वादि । अभातो हि स्वकारणकलापाद् भावविलक्षणतयोत्पन्न अर्थक्रियाञ्च कुर्वीत पदार्थतया प्रतीयते न पुनर्भावतया ।

यच्चान्यदुक्तम्—'यदि अभावात् स्वाकारं ज्ञाने समर्पयेत् तदा ज्ञानस्याप्यभावरूपं स्यात्' इत्यादि, तदप्यसुन्दरम्, अर्थाकारतया ज्ञानस्य अर्थप्रकाशकत्वप्रतीतिरिति । निराकारमेव हि ज्ञानं योग्यतया योग्यदेशस्थ योग्यञ्चार्थं प्रकाशयति इत्युक्तं प्रत्यक्ष-प्ररूपणप्रस्तावे ।

(१) पुरुषस्य । (२) प्रलज्जनानाम् । (३) विषदायिना पटविनाशकेन वा पुरुषेण । (४) विनाशस्वभावानियतत्वस्य । (५) ५० ३८६ । (६) ५० ४८० पं १० । (७) वतिकामुखदाह-तल-गोप-न-ग-ग्रीतादन-अ-घकारविनाशादिः । (८) मुद्गराद्यभिधातादिरूपायाः । (९) घटोत्पादकमृत्पिण्डादिरूपायाः । (१०) तुङ्गा—'सुखदुःखसमुत्पत्तिरभावे सन्निमित्तयोः । कष्टकाभावमालक्ष्य पदं पथि निधीयते ॥ 'यस्यैवभावो को नाम निह्नुवीत सचेतनः । —न्यायम० ५० ५९ । (११) ५० ४७७ पं २ । (१२) तुलना—'यत्प्रत्ययगम्यो हि भाव इत्यते असत्प्रत्ययगम्यस्त्वभाव इति । —न्यायम० ५० ५९ । (१३) ५० ४७७ पं ४ । (१४) स्वावरणक्षयोपशमलक्षणया । (१५) ५० १७१ ।

१ प्रवृत्तः श-आ० । २-स्य चानुस-थ० । ३ घटादिभावो-व० । ४ कृतं परं व० । ५-दुत्पद्यते आ० । ६ भाव एव स्यात् थ०, व० । ७-या प्रवेशस्य व० ।

न चाऽवस्तुत्वादभावस्य किं प्रसाधनप्रयासेनेत्यभिधातव्यम्; प्रमाणतः प्रतीय-  
मानत्वादिसाधनात् तस्य वस्तुत्वप्रसिद्धेः । तथाहि—अभावो वस्तु, प्रमाणतः प्रतीयमानत्वात्,  
यत् प्रमाणतः प्रतीयमानं तद् वस्तु यथा भावः, प्रमाणतः प्रतीयमानश्चाऽभाव इति ।  
तथा, यत् कारणादुत्पद्यते तद्वस्तु यथा घटादि, कारणादुत्पद्यते चाऽभाव इति । तथा,  
५ यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु तथा प्रदीपः, अर्थक्रियाकारी चाऽभाव इति । तथा, यद् अया-  
न्तरभेदेन भिद्यते तद्वस्तु यथा रूपरसादि, प्रौढमावाद्यवान्तरभेदेन भिद्यते चाऽभाव  
इति । ततः सिद्धो भावश्चद् अभावो वास्तवो वस्तुधर्मः प्रमेय इति । प्रमाणं तु तत्प-  
रिच्छेदकम् अभावाकृत्यं प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं वास्तवं न प्रसिद्धम्, प्रत्यक्षादितोऽपि तत्परि-  
च्छेदसिद्धेः । यैत् प्रमाणान्तरादपि परिच्छिद्यते न तत्र प्रमाणनिर्णयः यथा बह्वयादौ,  
१० प्रमाणान्तरादपि परिच्छिद्यते चाऽभाव इति । यत् पुनः यत्प्रकारप्रमाणान्तरान्न परि-  
च्छिद्यते तत्र तत्प्रकारप्रमाणनियमो यथा रूपरसादाविति ।

ततः सूक्ष्म—‘अदृश्यस्यापि परचित्तविशेषस्य अभावः तदाकार-  
धिकारादेरन्यथानुपपत्तितः’ इति । सर्वत्र हि गमकत्वं अन्यथानुपपत्तिप्रसा-  
दादेव, सा च अदृश्यानुपलब्धायप्यस्ति इति कथं नास्या गमकत्वम् ?

III ‘अदृश्य’ इत्यादिना व्यतिरेकमुखेन कारिकां व्याचष्टे—अदृश्यानुपलब्धेः  
सकाशात् संशयैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे न केवलं परिचित्ताभावो न  
विवृतिरालम्बनम्—सिद्ध्यति सौगतस्य अपि तु स्वचित्तभावश्च न सिद्ध्यति । कुत एतद् ?  
इत्यग्राह—‘तद्’ इत्यादि । तस्य स्वचित्तस्य यद् अनशं तत्त्वं सैजातीयावजातीय-  
व्यावृत्तं मध्यक्षणात्मकत्वात् । ततः किं जातम् ? इत्यग्राह ‘तथा च’  
२० इत्यादि । तथा च तेन च स्वचित्तभावाऽसिद्धिप्रकारेण कुतः न कुतश्चित् परमार्थसंतो  
मानाद् भावस्य क्षणभङ्गसिद्धिः धर्मिहेतुदृष्टान्तादेरसिद्धेः । न रालु बहिरन्तर्वा अन-  
शतत्त्वस्य अदृश्यात्मतर्वाऽसिद्धौ धर्म्यादेः सिद्धिर्युक्ता, तदसिद्धौ च कुतः क्षणभङ्गादेः

(१) अभावस्य । (२) ‘स च द्विविधः प्रागभाव प्रध्वमाभावश्चेति । चतुर्विध इत्यन्ये इतरे-  
तराभाव, अत्यन्ताभावश्च तौ च द्वौ । पटप्रकार इत्यन्ये—अपेक्षाभाव सामर्थ्याभावश्च ते च  
सत्त्वार इति ।’—भ्यायम० पृ० ६३ । ‘अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावमेदत् । प्रागभावस्तथा  
ध्वसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥ एव त्रैविध्यमापन्न संसर्गाभाव इत्यते ।’—मुष्ता० का० १२-१३ ।  
(३) अभावपरिच्छेदक पृथग्भावाख्य प्रमाण नास्ति प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरादपि तस्य परिच्छिद्यमान-  
त्वात् । (४) रसो यथा रूपग्राहिचाक्षुषप्रत्यक्षान्न परिच्छिद्यते अन् तद्ग्रहणाय रासनप्रत्यक्षस्य  
नियमो भवति, न चैवमभावे प्रत्यक्षादिभिः परिच्छिद्यमाने प्रमाणान्तरत्वनियमः । (५) स्वचित्त-  
मद्भावः । (६) अदृश्यात्मकत्वादसिद्धौ सत्याम् ।

१ प्रतीयमान—व० १२ प्रदीपादि अर्थ—व० १३—नियमोऽपि यथा व० १४ तत्तत्प्रका—आ० ।  
॥ तत्प्रमाणनि—आ० १६—सम्भाव्यस्तीति आ० १७ ‘तदित्यादि’ नास्ति आ०, व० १८ सजातीयव्या—व० ।  
९ तेन स्वचि—आ० १०—सतो भावस्य अनुमानात् स—थ० ।

सिद्धिः स्यात् ? कस्य तर्हि क्षणभङ्गसिद्धिः स्यात् ? इत्याह—‘तद्’ इत्यादि । तस्माद् अनंशतत्त्वाद् विपरीतं साशं तत्त्वं तस्य । कथम्भूतस्य ? अभेदलक्षणस्य युगपत् क्रमेण वा अनेकस्वभावात्मकस्य स्याद् भवेत् क्षणभङ्गसिद्धिः नान्यस्य इति एवकारार्थः ।

ननु चाभेदलक्षणतत्त्वस्य सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना प्रतिपन्नत्वात् किं तत्र क्षणभङ्गाद्यनुमानेन ? इत्याशङ्क्यपनोदार्थमाह—

वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यक्षणाभङ्गाद्यवीक्षणम् ।

स्वसंविद्विषयाकारविवेकानुपलम्भवत् ॥ १६ ॥

विवृतिः—स्थूलस्यैकस्य दृश्यात्मन एव पूर्वापरकोट्योरनुपलम्भात् अभाव-  
सिद्धेरनित्यत्वं बुद्धेरिव वेद्यवेदकाकारभेदस्य परमार्थसत्त्वम्, न पुनः परिमण्डलादेः  
विज्ञानानंशतत्त्ववत् । नापि क्षणिकपरिमण्डलादेः अविभागज्ञानतत्त्वस्य वा 10  
जातुचित् स्वयमुपलब्धिः तथैवाप्रतिभासनात् । तत्कथञ्चित् तत्स्वभावप्रतिभासे  
अनेकान्तसिद्धिः ।

वीक्ष्यम्, उपलब्धिलक्षणप्राप्तं स्थूलमेकं ग्राह्यम्, तस्य ये अणवः अतिसूक्ष्मा

भागाः तेषां पारिमाण्डल्यं वर्तुलत्वं यच्च क्षणभङ्गादि आदिशब्देन  
कारिकार्थः— कार्यकारणसामर्थ्यादिरप्रिग्रहः तस्याऽवीक्षणम् अग्रहणम् । अत्र दृष्टा- 16

न्तमाह ‘स्व’ इत्यादि । स्वसंविदो बौद्धैकस्मितनिरंशबुद्धेर्यः विषयाकारस्य  
स्थूलाकारस्य विवेकः निवृत्तिः तस्य अनुपलम्भवत् । नहि तस्यै प्रतिभासमानायां

(१) अनेकपर्यायेषु अनुगताकारतया व्यापिन अभेदलक्षणस्य द्रव्यस्येति यावत्, अथवा  
अनेकावयवेषु कथञ्चित्तादात्म्यतया व्यापिन अभेदलक्षणस्य स्कन्धस्येति । (२) “वीक्ष्यमुपलब्धि-  
लक्षणप्राप्तं स्थूलं तस्याणवः सूक्ष्मा भागा अवयवास्तेषां पारिमाण्डल्यं वर्तुलत्वम् अन्धोन्धविवेकं क्षणे  
क्षणे भङ्गः क्षणभङ्गः समयं प्रति नाश इत्यर्थः । स आदिर्यस्य कार्यकारणसामर्थ्यादिरसौ तथोक्तः,  
वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यं च क्षणभगादिश्च तत्तथोक्तम्, तस्याऽवीक्षणं प्रत्यक्षेणानुपलम्भोऽशक्तिः । न  
खलु साध्यवहारिकप्रत्यक्षेण क्षणभङ्गादिर्वीक्ष्यते तेन स्थिरस्थूलसाधारणाकारस्यैव वीक्षणात्, योगि-  
प्रत्यक्षस्यैव तद्वीक्षणसामर्थ्यादित्यर्थः, सत्त्वात्प्रमेयत्वादर्थक्रियाकारित्वादित्यादिहेतुना कथञ्चिदनेका-  
नित्यादिधर्मव्याप्यत्वात्तदविनाभावप्रसिद्धे । प्रकृतार्थे दृष्टान्तमाह—स्वसंविदित्यादि । स्वसंवि-  
त् स्वसंवेदनं तस्या विषयावरो घटाकाररस्तस्माद्विवेको व्यावृत्तिस्तस्यानुपलम्भः प्रत्यक्षेणाग्रहणं तद्वत् ।  
यथा ज्ञानस्य स्वरूपप्रतिभासेन बहिरर्थाकारनिवृत्तिरिच्छमानेनापि न प्रतिभासते सोपताना तस्य  
तादृक् सामर्थ्याभावात् तथा बहिरन्तश्चाणुपारिमाण्डल्यदि प्रत्यक्षेण न प्रतिभासते तथाप्यस्यभावात् ।  
ततोऽनुमानमनेकान्तमते सफलमित्यर्थः ।—सूची० ता० पृ० ३६ । (३) घटपटादि । (४) “नित्य  
परमाणुमानं नु तत् पारिमाण्डल्यम्, परिमाण्डल्यमिति तस्य नाम, तथाहि—परिमण्डलानि परमाणुमानानि  
तेषां भावः पारिमाण्डल्यं तत्परिमाणमेव ।”—प्रश्न० भा०, व्यो० पृ० ४७३ । “पारिमाण्डल्यमिति  
सर्वविघट्ट परिमाणम् ।”—प्रश्न० कण्ड० पृ० १३३ । “पारिमाण्डल्यं परमाणुपरिमाणम्”—सप्तप० टी०  
पृ० ४९ । मुक्ता० का० १५ । (५) स्वर्गप्रापणादौ—आ० टि० । (६) संविदि—आ० टि० ।

1—स्यादृश्या—ज० वि० । 2—करणसा—व० । 3—द्वपरि—य० ।

विषयाकारविवेकः प्रतिभासते स्थूलाद्याकारभ्रान्तेरभावप्रसङ्गात् । यत्र यदा वास्तवो यदाकारः प्रतीयते न तत्र तदा तद्विपरीताकारस्य प्रतीतिरस्ति यथा नीले प्रतीयमाने न पीतस्य, प्रतीयते च विषयाकारविवेकः सौगतकल्पितायां संधिदि इति ।

- कारिकार्थं विवृण्वन्नाह—‘स्थूलस्य’ इत्यादि । स्थूलस्य महतः एकस्य क्रमाऽ-  
 ५ क्रमानेकविवर्त्तन्यापिर्नः प्रतिपादितप्रकारेण दृश्यात्मन एव उपलभ्य-  
 विवृतिव्याख्यानम्—  
 स्वभावस्यैव अनित्यत्वं सिद्ध्यति ‘नान्येव’ इति सम्वन्धः । कुत  
 एतत् ? अनुपलम्भात् हेतोः तस्यैव पूर्वापराकारकोट्योः अभावसिद्धेः । तथा च  
 यदुक्तं परेण—“यद् यत् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तत् तत्र नारित यथा क्वचित्  
 प्रदेशविशेषे घटः, नोपलभ्यते च उपलब्धिलक्षणप्राप्तो मध्यक्षणः पूर्वापरकोट्योः” [ ]  
 १० इति; तदयुक्तम्, यतः कथञ्चिदत्र तदभावसाधने सिद्धसाधनम् । सर्वथा तत्साधने  
 पक्षस्य प्रत्यक्षसाधनं हेतोश्चाऽसिद्धिः, तथा तत्र तदनुपलम्भाऽसिद्धेरिति । ननु चास्तु  
 स्थूलादिस्वभावस्यार्थस्य अनित्यत्वं न तु परमार्थसत्यम् मरीचिकाजलादिवदसत्त्वात्,  
 इत्यादिष्व्याह—‘बुद्धेः’ इत्यादि । यद्योक्तस्यैवार्थस्य परमार्थसत्त्वं बुद्धेर्वैद्यवेदकाकार-  
 प्रेमेदस्य इव । प्रयोगः—यद् अनेकस्वभावं तदेव परमार्थसत् यथा वैद्यवेदकाद्यनेकस्व-  
 १५ भावा संधित्, अनेकस्वभावश्च अन्तर्वहिर्वा जैनाभ्युपगतं वस्तु इति । तथापि मरी-  
 चिकोत्तोयनिर्दशनेन अस्याऽसत्त्वे बुद्धेर्यतोऽसत्त्वप्रसङ्गः विशेषमाभावात् । ननु नाऽने-  
 कस्वभावस्यार्थस्य अनित्यत्वं परमार्थसत्त्वं वा अपि तु परमाण्वादेः; इत्यत्राह—‘नपुनः’  
 इत्यादि । न पुनः नैव परिमण्डलसम्वन्धात् परिमण्डलः परमाणुः आदिर्यस्य  
 यौगकल्पिताऽवयव्यादेः स तथोक्तः तस्याऽनित्यत्वं परमार्थसत्त्वश्च । निदर्शनमाह—

(१) ग्राह्याकाररहितत्वम् । (२) यदि हि सविदि ग्राह्याद्याकारा प्रतिभासेरन्, तदैव तस्या  
 प्रतिभासमानस्य स्थूलाद्याकारस्य भ्रान्तत्वं शक्येन कल्पयितुम्, यदा च सन्निति ग्राह्याद्याकारस्यून्य-  
 वास्ति तदा न च तत्र भ्रान्तत्वेनापि स्थूलाद्याकारः प्रतिभासेत ? (३) सविदि न भ्रान्ततयाऽपि  
 स्थूलाद्याकारप्रतिभासः, वास्तवस्य ग्राह्याद्याकाररहितत्वस्य तत्र प्रतिभासमानत्वात् । (४)  
 स्वन्धस्य । (५) निरुपपरमाणुरूपस्वलक्षणस्य । (६) सोमतेन । (७) पूर्वापरक्षणयो—आ० टि० ।  
 (८) मध्यक्षणाभाव—आ० टि० । (९) सर्वथा । (१०) पूर्वापरक्षणयो । (११) मध्यक्षण । (१२)  
 बोद्धमते—आ० टि० । (१३) स्थूलादिस्वभाव एवार्थः परमार्थसन् अनेकस्वभावत्वात् । (१४) ‘यद्योक्तम्  
 भार्गवस्तनावयवाम्—मरीचिकोत्तोयमित्येतदिति मत्वा गतोऽयं सन् । यदि नास्तीति ततोयं गृह्णीयान् मूढ एव  
 स ॥ मरीचिप्रतिमं लोकमेवमस्तीति गृह्णत । नास्तीति चापि मोहोऽयं सति मोहे न मुच्यते ॥ अज्ञान-  
 कल्पितं पूर्वं पश्चात्तत्त्वार्थनिर्णये । यदा न लभते भावमेवाभावस्तदा कुहु ॥ इति । तदेव नि स्वभावानां  
 सर्वमाधानां कुतो यद्योक्तप्रकारमिदं । तस्माल्लौकिक विषयासमभ्युपेत्य सावधानां पदार्थानां मरीचिका-  
 जलकल्पानामिदं प्रत्ययनामात्राभ्युपगमेनैव प्रसिद्धिर्नान्येन ।”—माध्यमिकवृ० पृ० १८८ । (१५) स्थूला-  
 द्यनेकस्वभावस्य वस्तुन । (१६) मरीचिकोत्तोयदृष्टान्तात् । (१७) परिमण्डलः घर्तुलाकारः ।

‘विज्ञान’ इत्यादि । विज्ञानस्य यद् अनंशं तत्त्वं स्वरूपं तस्य इव तद्वदिति । ननु बहिरन्तरश्च अनंशत्वेव तत्त्वस्य उपलम्भः अतस्तस्यैव परमार्थसत्त्वम्, अनुपलम्भाच्च पूर्वापरकोट्योरसत्त्वं सिद्धयति इति यौगै-सौगताः; तत्राह—‘नापि’ इत्यादि । नापि नैव क्षणिकाः परिमण्डलाः परमाणवः आदयो यस्य अवयव्यादेः स तथोक्तः तस्य अविभागविज्ञानतत्त्वस्य वा जातुचित् कदाचिदपि स्वयम् आत्मना उपलब्धिः । कुत एतदित्यत्राह—‘तथैव’ इत्यादि । तथैव परपरिकल्पितप्रकारेणैव अप्रतिभासनात् । अथ बहिरन्तस्तत्त्वस्य क्षणिकाऽनंशादिस्वभावतया अप्रतिभासनेऽपि सच्चेतनादिरूपतया प्रतिभासनादयमदोषः; अत्राह—‘तत्कथञ्चित्’ इत्यादि । तस्य बहिरन्तस्तत्त्वस्य कथञ्चित् न सर्वात्मना तत्स्वभावप्रतिभासे सच्चेतनादिस्वरूपप्रतिभासने अङ्गीक्रियमाणे अनेकान्तसिद्धिः एकस्य दृश्येतरस्वभावसिद्धेः ।

एवं परस्य अनुपलब्धिं निराकृत्य अधुना स्वभावादिहेतुं निराकुर्वन्नाह—

अनंशं बहिरन्तश्चाप्रत्यक्षं तदभासनात् ।

कस्तत्स्वभावो हेतुः स्यात् किं तत्कार्यं यतोऽनुमा ॥ १७ ॥

विधृतिः—साक्षात् स्वभावमप्रदर्शयतो निरंशतत्त्वस्यानुमितौ स्वभावहेतोर-संभवः स्वभावविप्रकर्षात् । तत एव कार्यहेतोः; कार्यकारणयोः सर्वत्रानुपलब्धेः । न चात्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः प्रभवः कार्यव्यतिरेकोपलक्षिता वा कारणशक्तिः । तदङ्गीकरणं प्रमाणान्तरमन्तरेणानुपपन्नम् । स्वयमुपलब्धस्य प्रागूर्ध्वानुपलब्धेः कृतकत्वादित्यत्वं सिद्धयेत् नान्यथा ।

यौगसौगतकल्पितं यद् अनंशं तत्त्वम्, क ? बहिरन्तश्च । तत्किम् ?

अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षप्राप्तं न भवति । कुत एतद् ? इत्यत्राह—तदप्र-  
कारिकार्थः—

तिभासनात् तस्य अनंशतत्त्वस्य अप्रतीतेः । ततः किं जातम् ?

इत्यत्राह—‘कस्तद्’ इत्यादि । कः, न कश्चित् तस्य अनंशस्य स्वभावो हेतुः

(१) यीमाना मते अन्तः अनंशस्य निरवयवस्य व्यापिन आत्मन उपलम्भ, बहिरश्च निरवयव-वर्षाभिनः । सौगतमते च स्वरूपस्य पूर्वापरक्षणयोरनुपलम्भात् अभावः, मध्यमक्षणे एव च स्थायिता । (२) “यत् सौगतं परिकल्पितं बहिरचेतनम् अन्तश्चेतनम्, निरक्षम्, अशा द्रव्यक्षेत्रकालभाव-विभागाः तेभ्यो निष्पन्नं निरंशं तदप्रत्यक्षं प्रत्यक्षाविषयः । कुत ? तदभासनात् तस्य निरंशतत्त्वस्या-भासनादननुभवात् । न खलु द्रव्यादिविभागरहितं चिदचिद्वा तत्त्वं प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासते, तत्र नित्या-नित्याद्यनेकाशव्यापित्वेन वस्तुन प्रतीतेः । ततस्तस्य निरंशस्य प्रत्यक्षतोऽप्रसिद्धस्य स्वभावो धर्मो को हेतुलिङ्गः स्यात्, न कोऽपि इत्यर्थः । प्रमाणतोऽप्रसिद्धस्याहेतुत्वात् । तस्य कार्यञ्च किन्तु हेतुः स्यात्, सर्वथा निरंशस्यापरिणामिनः कार्यकरणयोगात् यतोऽनुमा भवेदित्याक्षेपवचनं न कुतोऽपीत्यर्थः । तन्न सौगतमतेऽनुमानं प्रामाण्यमास्कन्दत्यनुपपत्तेः ।”—सूची० ता० पृ० ३७ । (३) “प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः”—हेतुबि० टी० पृ० ७३ । “भावे भाविनि तद्भावः भाव एव च भाविता । प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भतः ॥” (सम्बन्धप०)—प्रमेयक० पृ० ५१० । स्या० २० पृ० ८१८ ।

स्यात् । किं न किञ्चित् तस्य अनशस्य कार्यं हेतु । कार्यग्रहणमुपलक्षणम्, तेन साध्याद् भिन्नानां सयोगिसमवाय्यादीनां निरासः सिद्धो भवति, अतो न परमते किञ्चित् लिङ्गं घटते यतोऽनुमां स्यात् ।

- कारिका विवृण्वन्नाह—‘साक्षात्’ इत्यादि । साक्षात् स्वभावं स्वरूपम् अप्रदर्शयतो भावस्य यत् निरशं तच्च स्वरूपं तस्य अनुमितौ त्रियमा-  
 ५ विवृति-यारयानम-  
 णाया स्वभावहेतोरसम्भवः । कुत इत्याह—‘स्वभाव’ इत्यादि । स्वभावस्य स्वरूपस्य विप्रकर्षाद् अदृश्यत्वात् । तत् एव तद्विप्रकर्षादेव कार्यहेतोर-  
 प्रतिपत्तिः । कुत एतत् ? इत्याह—‘कार्य’ इत्यादि । कार्यकारणयोः सर्वत्र वहिरन्तर्था  
 अनुपलब्धेः अदर्शनात् । किञ्च, सिद्धे कार्यकारणभावे कार्यहेतोः प्रतिपत्तिर्युक्ता, न चात्र  
 १० सोऽस्ति इत्याह—‘नच’ इत्यादि । नच नैव अत्र यौगसौगतकल्पिते एकान्ते प्रत्य-  
 क्षानुपलम्भौ साधनं यस्य स तथोक्तः । क ? प्रभवः, कार्यकारणभावः ‘प्रभवति’  
 ‘प्रभवति अस्मात्’ इति च व्युत्पत्तेः । यथा च तत्कल्पितैकान्ते प्रभवो न घटते तथा  
 विषयपरिच्छेदे प्रपञ्चितम् । ननु न सर्वत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनं प्रभवः, किन्तु कश्चित्  
 इन्द्रियशक्तिवत् कार्यव्यतिरेकसाधनोऽपि, सोऽत्र स्यात्, इत्याशङ्क्य आह—‘कार्य’  
 १५ इत्यादि । कार्यस्य व्यतिरेकः विवक्षितकारणव्यतिरेककारणसाकल्येऽपि अनुत्पाद-  
 तेन उपलक्षितो वा । पक्षान्तरसूचको वाशब्दः । कारणशक्तिः ‘न चात्र’ इति सम्बन्धः ।  
 निरशयो कार्यकारणयोः मूलतोऽप्यदर्शने कारणव्यतिरेकतः कार्यव्यतिरेकोऽसिद्धि-  
 इत्यभिप्रायः । नच प्रमाणान्तरमन्तरेण कारणशक्त्यङ्गीकरणं युक्तम् इत्याह—‘तदङ्गीकर-  
 णम्’ इत्यादि । तस्याः कारणशक्तेः अङ्गीकरणम् कार्यव्यतिरेकतः सद्भावस्वीकरणं  
 २० प्रमाणान्तरमन्तरेण ऊहात्यप्रमाणं विना अनुपपन्नम् । प्रसिद्धे हि कार्यकारणभावे  
 कार्यव्यतिरेकतः कारणशक्तिपरिकल्पना स्यात् । नच प्रत्यक्षानुमानयोः कार्यकारणभा-  
 वादिसम्बन्धप्रतिपत्तौ सामर्थ्यमित्युक्तम्—‘अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित्  
 सम्प्रतीयते’ [ लघी० का० ११ ] इत्यत्र । कुत पुनस्तदङ्गीकरणं तदन्तरेणाऽनुपपन्नम् ?  
 इत्याह—‘स्वयम्’ इत्यादि । स्वयम् आत्मानां उपलब्धस्य मध्यदेशायां दृष्टस्य प्रागू-  
 २५ र्धश्च या तस्यैव अनुपलब्धिः स्वयमेव अदर्शनं तस्या यत् सिद्धं कृतकत्वं कार्यत्व-  
 तस्माद् अनित्यत्वशब्दादेः सिद्धयेत् नान्यथा न प्रकारात्तरेण । नच प्रत्यक्षमनुमान

(१) अनुमानम् । (२) प्रभवति यत्कायमिति कायव्युत्पत्तिः प्रभवति काय यस्मात् कारणात्  
 इति कारणव्युत्पत्तिः—आ० दि० । (३) प० २२० पृ० ३८४ । (४) कारणशक्तिरस्ति कार्योत्प-  
 त्त्ययमानुपपत्तिः । (५) कारणशक्तिस्वीकारः । (६) ऊहप्रमाणमन्तरेण ।

१ कायहेतुः थ० । २-नुमानं स्यात् आ० थ० । ३ स्वरूपं दत्तय-व० । ४ एतद्व्याह-व०  
 एतदित्यत्राह थ० । ५ प्रभवति अस्मात् इति व्यु-व० थ० । ६ प्रपञ्चितं व० । ७-क्षितो  
 वा व० । ८-ञ्च तथा व० ।

वा तथा प्रत्येतुं समर्थमित्यूहस्यैव अत्र व्यापार इति मन्यते । कृतकत्वानित्यत्व-  
ग्रहणमुपलक्षणं सकलहेतुसाध्यानाम् ।

ननु सर्वोऽयं कार्यकारणभावोऽनुमानानुमेयभावो वा कल्पनाशिल्पिकल्पितो न पार-  
मार्थिकः तत्कथं प्रमाणान्तरप्रसक्तिः? इत्यप्यनुपपन्नम्; यतो विकल्पबुद्धौ सिद्धायां तत्कल्पि-  
तोऽसिलोऽयं व्यवहारः स्यात् । न च तैत्तिस्मिन्निः स्वतः परतो वा घटते इत्यावेदयति—

धीर्विकल्पाऽविकल्पात्मा बहिरन्तश्च किं पुनः ।

निश्चयात्मा स्वतः सिद्धयेत् परतोऽप्यनवस्थितेः ॥१८॥

विवृतिः—सर्वविज्ञानानां स्वसंवेदनं प्रत्यक्षमविकल्पं यदि, निश्चयस्यापि  
कस्यचित् स्वत एव अनिश्चयात्, निश्चयान्तरपरिकल्पनागमनवस्थानात्  
कुतस्तत्संव्यवहारसिद्धिः ? ततः स्वार्थेऽपि कथञ्चिदभिलाषसंसर्गयोग्यायोग्य-  
विनिर्भासैकज्ञानं प्रतिपत्तव्यं स्वरूपवत् ।

धीः बुद्धिः, कथम्भूता ? निश्चयात्मा विकल्पबुद्धिः इत्यर्थः । पुनरपि कथ-  
म्भूता ? इत्याह—‘विकल्प’ इत्यादि । विकल्पो व्यवसायः,  
विकल्पो निर्विकल्पकः, तौ आत्मानौ यस्याः सा तथोक्ता ।  
क ? बहिरन्तश्च; बहिर्विकल्पात्मा अन्तश्च अविकल्पात्मा इति । सा किम् ? इत्यत्राह—

(१) “तथा चानुमानानुमेयव्यवहारोऽयं सर्वो हि बुद्धिपरिकल्पितो बुद्ध्याह्वेन धर्मधर्मिभेदेने-  
त्युक्तम् ।—आचार्यदिनागेनाप्येतदुक्तमित्याह तथा चेत्यादि । सर्व एवेति यत्रापि साध्यसाधनयोरभिधू-  
मयोर्वास्तवो भेद तत्रापि स्वलक्षणेन व्यवहारयोगात् । अनुमीयतेऽनेत्यनुमान लिङ्गम् अनुमेय साध्य-  
धर्मौ साध्यधर्मश्च तेषां व्यवहारो नानात्वप्रतिरूप, बुद्ध्याह्वेन धर्मधर्मिणोर्भेदस्तेन बुद्धिप्रतिभासगतेन  
भिन्नेन रूपेण भेदव्यवहार इति यावत् ।”—प्रमाणप्र० स्वबु० टी० १४ । (२) विकल्पसिद्धिः । (३)  
“किं पुन सिद्धयेत् ? न सिद्धयेदित्यर्थः । का ? धी बुद्धिः । किं विशिष्टा ? निश्चयात्मा अनुमानबुद्धि-  
रित्यर्थः । पुनरपि कथम्भूता ? विकल्पाविकल्पात्मा, विकल्पो व्यवसाय अविकल्पोऽव्यवसाय तावा-  
त्मानौ यस्याः सा तथोक्ता । क्व ? बहिरन्तश्च, अत्र यथासत्यमभिसम्बन्ध कर्तव्य, बहिर्घटादिविषये  
विकल्पात्मा, अन्तः स्वरूपे निविकल्पात्मा चेति । कुतो न सिद्धयेत् ? स्वतः स्वमवेदनात्, तस्य निर्वि-  
कल्पकत्वेन विकल्पाविषयत्वात् । सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनमिति वचनात् । न केवलं स्वतः,  
अपि तु परतोऽपि । किं पुन सिद्धयति ? परस्माद्विकल्पान्तरादपि न सिद्धयतीत्यर्थः । कुत ? अनव-  
स्थितेः । तदपि विकल्पान्तरतः, स्वतो न सिद्धयति अगोचरत्वात् तत्रापि तत्सिद्धयर्थं विकल्पान्तरं  
कल्पनीयमिति क्वचिदप्यनुपपन्नात् । ततोऽनुमानस्यामिदं कथं बोद्धव्यं तत्प्रमाणसत्त्वानियमो घटत  
इति भावः ।”—लघी० ता० पृ० ३८ । (४) “सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनम् । चित्तमर्थमात्रग्राहि, चैता  
विशेषावस्मादग्राहिणं मुग्धादयः । सर्वं च ते चित्तचैतानश्च सर्वचित्तचैता । मुग्धादय एव स्फुटानुभवत्वात्  
स्वसंवेदिता नान्या चित्तावस्थेत्येतदाश्चङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वग्रहणं कृतम् । नास्ति सा काचिच्चित्तावस्था  
यस्यामात्मनः संवेदनं न प्रत्यक्षं स्यात् । येन हि रूपेणात्मा वेद्यते तदूपमात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम् ।”—न्यायवि०  
टी० पृ० १९ । (५) तुलना—“स्वत एव विकल्पसंविदा निर्णये स्वलक्षणविषयोऽपि विकल्पः स्यात्,  
परतश्चेदवस्थानादप्रतिपत्तिः ।”—अष्टसह०, अष्टसह० पृ० १७० ।



किं पुनः सिद्धयेत् ? नैव सिद्धयेत् । कुतः ? स्वतः स्वसवेदनात् निर्विकल्पकात् ।  
यत् निर्विकल्पकेन गृह्यते न तत्सिद्धयति यथा धौणक्षयस्वर्गप्रापणसामर्थ्यादि, निर्विकल्पेन  
गृह्यते च विकल्पस्वरूपमिति । तर्हि विकल्पान्तरात् तत् सेत्स्यति; इत्यत्राह—‘परतः’  
इत्यादि । न केवल स्वतः अपि तु परतः विकल्पान्तरादपि किं पुनः सिद्धयेत् इति  
४ “नो सिद्धयेत्” इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्याह—अनवस्थितेः अनवस्थानात्  
विकल्पान्तरस्यापि तदन्तरात् सिद्धिमसद्भात् ।

कारिकां विधृण्वन्नाह—‘सर्व’ इत्यादि । सर्वविज्ञानानां विकल्पेतरज्ञानानां  
स्वसंवेदनम् आत्मग्रहणं प्रत्यक्षम् अविकल्पकं निर्विकल्पकं यदि  
विदुर्निष्कालम्—  
चेत् इष्यते । अत्र दूषणम् ‘निश्चय’ इत्यादि । निश्चयस्यापि न  
१० केवलम् अनिश्चयस्य कस्यचिद् अनुमानानुमेयव्यवहारहेतोः स्वत एव स्वसवेदनादेव  
‘अनिश्चयात्’ निश्चयाभावात् । अथ अन्यतो निश्चयः स्यादत्राह—‘निश्चय’  
इत्यादि । प्रकृतान्निश्चयाद् अन्यो निश्चयः तदन्तरम् तस्य कल्पनायाम् अनवस्थानात् ।  
कुतः, न कुतश्चित्, तस्मात् संन्यवहारस्य कार्यकारणभावादिलक्षणस्य सिद्धिः ।  
तस्यैव असिद्धेः इत्यभिप्रायः । अस्तु तर्हि धीः निश्चयात्मा बहिरिष अन्तरपि  
१५ इत्यत्राह—‘ततः’ इत्यादि । ततः तस्माद् उक्तोपात् स्वार्थेऽपि स्वस्य बुद्धेः अर्थो ग्राह्य  
बहिःस्वलक्षणं तत्रापि न केवलं सामान्ये कथञ्चित् न सर्वात्मना, ‘अभिलप्यते अनेनै’  
‘अभिलप्यते’ इति ध्वं अभिलाषौ शब्दजात्यादी तयोः संसर्गः ‘अस्येदं वाच्यम्,  
अस्येदं वाच्यम्’ इति योजनं तस्य योग्ययोग्यौ निर्भासौ तयोरेकं साधारणं ज्ञानं  
प्रतिपत्तव्यम् सौगतैः । अत्र दृष्टान्तमाह—‘स्वरूपवत्’ इति । स्वरूप इयं तद्वदिति ।  
२० एवं परं प्रति तर्कादिकं प्रमाणान्तरं प्रतिपाद्य इदानीमुपमानस्य प्रमाणान्त-  
रत्वनियमं विधुरयन्नाह—

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।

तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्वतत्संज्ञिप्रतिपादनम् ? ॥१९॥

(१) विकल्पस्वरूपमसिद्ध निर्विकल्पेन गृह्यमाणत्वात् । (२) नीलादी क्षणक्षय, अहिंसाक्षणे  
च स्वर्गप्रापणसामर्थ्यम् । (३) इति अभिलाष शब्द । (४) इति अभिलाष अभिलप्यमानो जात्यादि ।  
(५) “अत्र यदित्येतदध्याह्रियते । प्रसिद्धप्रमाणेन निश्चितोऽर्थो गोरूपस्तेन साध्यर्थात् सादृश्यात् उप-  
जायमान साध्यस्य ज्ञेयस्य तत्सादृश्यविशिष्टस्य गवयलक्षणस्य साधनं गोसदृशो गवय इति ज्ञानं यद्युप-  
मानं प्रमाणान्तरमभ्युपगम्यते तदा तद्वैधर्म्यात् प्रसिद्धार्थवत्सादृश्यानुपजायमान साध्यसाधनं गोविलक्षणे  
महिष इति ज्ञानं किं प्रमाणं स्यात् ? तस्य किन्नामेत्याक्षेपः । नहि तदुपमानमेव तल्लक्षणाभावात् ।  
नापि प्रत्यक्षादि, भिन्नविषयत्वाद् भिन्नसामग्रीप्रभवत्वाच्च । तथा सज्जिनो वाच्यस्य प्रतिपादनं च

१ कुत स्वस-आ०, थ० । २-तत्त्वे-ब० । ३-कल्पस्वरूपमिति थ० । ४ अपि विक-आ० ।  
५ ‘नो सिद्धयेदिति’ नास्ति आ०, थ० । ६-रूपनि-ब० । ७ यदीष्यते ब० । ८-वेदनानिश्च-आ०,  
थ० । ९ ‘यध्वं’ नास्ति आ० । १० अनवस्थाभावात् ब० । ११ अन्तरेऽपि ब० । १२ बाभि-ब० ।  
१३ ‘स्वरूपवदिति’ नास्ति आ०, ब० ।

विवृतिः—प्रसिद्धार्थसाधर्म्यम् अन्यथानुपपन्नत्वेन निर्णीतञ्चेत् लिङ्गमेव ततः प्रतिपत्तिः अन्यथा न युज्यते । प्रत्यक्षेऽर्थे संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वे 'वृक्षोऽयम्' इति ज्ञानं वृक्षदर्शिनः प्रमाणान्तरम्, 'गवयोऽयम्' इति यथा गवयदर्शिनः प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसिद्धेरभावात् । 'गौरिव गवयः' इति श्रुत्वा गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् प्रत्यक्षेषु ईतरेषु तिर्यक्षु तस्यैव पुनरगवयनिश्चयः ५ किन्नाम प्रमाणम् ? हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिफलं नाप्रमाणं भवितुमर्हति ।

प्रसिद्धोऽर्थो गौः तेन साधर्म्यं सादृश्यं यद् गवयस्य तस्मात् साध्यस्य

कारितार्थ —

सादृश्यविशिष्टस्य विशेषस्य तेन वा विशिष्टस्य सादृश्यस्य साधनं

सिद्धिः उपमानं प्रमाणम् । 'यदि'शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । अत्र दूषण-

माह—'तद्' इत्यादि । तेन प्रसिद्धार्थेन वैधर्म्यं वैसदृश्यं यन्महिष्यादेः तस्मात् 10 साध्यसाधनं 'गोविलक्षणा एते महिष्यादयः' इति प्रतीतिः, तत् किं प्रमाणम् किमभिधानं तत्प्रमाणम् ? तस्य किञ्चिन्नाम कर्त्तव्यं यत् प्रत्यक्षादिषु न संभवति । तथा च सप्तम-प्रमाणप्रसङ्गात् 'पदेव प्रमाणानि' इति संख्याव्याघातः ।

ननु उपमानप्रमाणानभ्युपगमे कुतो गवयदर्शनाद् असन्निकृष्टे अर्थे बुद्धेरुत्पत्तिः ?

उपमानं पृथक् प्रमा- येन हि प्रतिपत्ता गौरुपलब्धा न गवयः, न च अतिवैशेषिक्यं श्रुतं 'गौरिव 15 णमिति मीमांसकस्य गवयः' इति, तस्य अरण्ये पर्यटतो गवयदर्शनानन्तरम् 'अनेन सदृशो पूर्वपक्षः— गौः' इत्येवमाकारं परोक्षे गवि यत् सादृश्यज्ञानमुत्पद्यते तदुपमानम् ।

विवक्षितसंज्ञाविषयत्वेन सकलन यथा वृक्षोऽयमिति । तदपि किन्नाम प्रमाणं स्यादित्याक्षिप्यते । न खलु संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमप्रमाणम् आगमप्रामाण्यविलोपापत्तेः, उपमानाप्रामाण्यापत्तेरच ।—लघी० ता० पृ० ३९ । "प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ।"—व्यासमु० १।१।६ । (६) तुलना—'गवयस्योपलब्धे च तुरङ्गादी प्रवर्तते । तद्वैसादृश्यविवक्षितं यत्तद्व्यास प्रमा न किम् ॥"—तत्त्वसं० पृ० ४५० । "साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेव प्रसज्यते ।"—व्यासक्रुमु० ३।९ । "सादृश्यञ्चेत् प्रमेय स्यात् वैलक्षण्यस्य किं तथा ।"—जैनतर्कवा० पृ० ७६ । उद्धृतोऽयम्—स्या० २० पृ० ४९८ । रत्नाकराव० ३।४ । प्रमेयर० ३।५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

(१) "एकत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्ध अतिदेश"—व्युत्पत्तिवा० ग० । "इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगायादेः"—वाचस्पत्यम् । "ताद्वद्विदं न त्वव्यमित्यतिदेश ।"—शास्त्रदी० पृ० २७७ । (२) "उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य ।"—शाबरभा० १।१।५ । "सादृश्यदर्शनोत्पन्नं ज्ञानं सादृश्यविषयकमुपमानम्, दृष्टगो पुरुषस्य गवयं तत्सदृशं पश्यतो यद् गोविषयकं गवयसदृशज्ञानं तदुपमानम् ।"—प्रक० पृ० पृ० ११० । "सादृश्याद् दृश्यमानाद्यत्प्रतियोगिनि जायते । सादृश्यविषयं ज्ञानमुपमानं तदुच्यते ॥"—बृह० पृ० पृ० १०९ । "पूर्वदृष्टे स्मर्यमाणां दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानमुपमानम्, यासावस्माभिर्नगरे दृष्टा गौ साज्जेन सदृशीति ।"—शास्त्रदी० पृ० २५८ । नयवि० पृ० १४६ । तन्त्रह० पृ० १३ ।

१ युज्यते ज० वि० । २ इतरेषु तस्यैव ई० वि० । ३—सि प्रमा—ई० वि० । ४ प्रसिद्धार्थो य० । ५—न किञ्चि—व० । ॥ प्रतिपत्ता आ०, व० । ७ न वातिदे—व० ।

अत्र च विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतौ सन्निकृष्टे सादृश्यं करणम् । उक्तञ्च—

“दृश्यमानाद् यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते ।

सादृश्योपाधितस्तज्जैरुपमानमिति स्मृतम् ॥” [ ]

अस्य च अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रामाण्यम् । यद्यपि गौरनेर्न प्रागेव उपलब्धः,

5 सादृश्यञ्चेदानीं प्रत्यक्षत एव गवये दृश्यते, तथापि ‘गवयसदृशो गोः’ इति प्रागप्रतिपत्तेः  
अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वम् । तर्हि इदानीमेव गोः स्मृत्या सादृश्यस्य च अध्यक्षतोऽधि-  
गमात् अधिकप्रमेयाभावाच्च अधिगतार्थाधिगन्तृत्वमर्थः, इत्यप्युक्तम्; तद्विशिष्टत्वस्य  
तत्रैतत्तार्थ्यमनधिगतेः । यद्यपि प्रत्यक्षेण सादृश्यं प्रतिपन्नं गौश्च स्मृत्या, तथापि

10 सादृश्यविशिष्टस्य गोपिण्डस्य स्मृत्या प्रत्यक्षेण उभाभ्यां याऽप्रतीतेः तद्विषयत्वेन उपमा-  
नस्य अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रामाण्यम् । नहि अनुमानेऽपि अतोऽन्यत् प्रामाण्य-  
निबन्धनम् । प्रत्यक्षेऽपि हि प्रदेशादौ धर्मिणि स्मृत्या चाग्नौ प्रतिपन्नेऽपि अग्निविशिष्ट-  
प्रदेशादिविषयत्वेन अनुमानस्य प्रामाण्यं तद्वदुपमानस्यापि । तदुक्तम्—

“तस्माद्वैतस्मर्यते तत्स्यात् सादृश्येन विशेषितम् । प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तद्वन्वितम् ॥

प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते । “विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणात् ॥

11 प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे स्मर्यमाणे च पावके । विशिष्टविषयत्वेन नानुमानाऽप्रमाणात् ॥”

[ मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३७-३९ ] इति ।

ननु अस्तु उपमानं प्रमाणम्, नतु प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं सदन्यतमस्वभावत्वात्तस्य;  
इत्यप्यनुपपन्नम्; तदन्यतमस्वभावत्वस्य तत्राऽसंभवात् । तथाहि—न तौ चत् प्रत्यक्षरूपं  
तत्, परोक्षे गवि इन्द्रियार्थसम्प्रयोगाभावेऽपि उत्पद्यमानत्वात् । नापि स्मरणमेवेदमि-

(१) विप्रकृष्टो गो । (२) सन्निकृष्ट-गवयनिष्ठ सादृश्यम् । (३) साधकतम करणम्—  
आ० टि० । (४) गवयात् । (५) गवि । (६) उद्भूतोऽयम्—आ० टि० ५३ । प्रमेयक० ५० १८५ ।  
'तत्त्वज्ञ'—सम्मतं टि० ५० ५७५ । (७) उपमानस्य । (८) पुरपेण । (९) स्मृतिवत्—आ० टि० ।  
(१०) उपमानस्य । (११) सादृश्य—आ० टि० । (१२) गवि । (१३) स्मरणप्रत्यक्षाभ्याम् ।  
(१४) विशिष्टविषयत्वेन । (१५) विशिष्टविषयत्वात् । (१६) पर्वतादौ—आ० टि० । (१७) गौ ।  
'तस्माद् दृश्यते'—न्यायाव० टि० ५० १९ । (१८) इति सादृश्यवधारणम्—आ० टि० । (१९) तयो  
गोगवययोरन्वितम् । 'तदाश्रित'—तत्त्वस० । व्याख्या—“यस्मादेव प्रत्यक्षे गवये न किञ्चिदुपमानस्य  
प्रमेयमस्ति तस्मात्समर्थमात्रेण गौर्भवयसादृश्यविशिष्टा तद्विशिष्ट वा सादृश्यमुपमानस्य प्रमेयमिति । ननु  
गवये सादृश्य प्रत्यक्ष गृहीत गौ स्मर्यते किमन्यदुपमेयमत आह—प्रत्यक्षेणेति । तत्रैव दृष्टान्तमाह प्रत्यक्षे  
इति ।”—मी० श्लो० न्यायव० ५० ४४५ । (२०) 'विशिष्टस्यान्यत सिद्धे'—प्रमेयक० ५० ३४५ ।  
(२१) उद्भूता इमे—तत्त्वस० ५० ४४५ । प्रमेयक० ५० ३४५ । सम्मतं टि० ५० ५७६ । आद्यौ  
द्वौ—स्या० २० ५० ४९७ । जैनतर्कमा० ५० १० । (२२) प्रत्यक्षाद्यन्यतम् । (२३) उपमाने । (२४)  
“तद्विदमुपमानं न प्रत्यक्षम्, तिर्योहिते गवि चक्षुः सन्निकर्षातिवर्तिनि जायमानत्वात् । न च स्मृतिः;  
गोदर्शनसमयेऽप्रतीतगवस्य तत्सादृश्यानुभवाभावात् ।”—प्रक० ५० ५० १११ ।

त्यभिधातव्यम्; प्रत्यक्षप्रतिपक्षे एव अर्थे स्मरणस्य आविर्भावात् । न च गोप्रत्यक्षकाले तत्प्रत्यक्षेण गवयाप्रतिपत्तौ तैत्सादृश्यं प्रत्येतुं शक्यम् ।

“भूयोऽवयवसामान्ययोगो यद्यपि मन्यते । सादृश्यं तस्यैव (तु) ज्ञप्तिः गृहीते प्रतियोगिनि” ॥”

[न्यायमं० पु० १४६] इत्यभिधानात् ।

नाप्यनुमानरूपताऽस्य; लिङ्गादनुत्पत्तेः । अत्र हि लिङ्गम्—सादृश्यं परिकल्प्येत, 5  
परिदृश्यमानो गवयो वा? यदि सादृश्यम्; तर्हि गोगतम्, गवयगतं वा लिङ्गं स्यात्? न तावद् गोगतम्; गवयदर्शनात् प्राक् तस्य असिद्धत्वात् । नचाऽसिद्धस्य लिङ्गत्यम्; अतिप्रसङ्गात् । प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्रसङ्गाच्च, गोगतत्वेन हि सादृश्यं प्रमेयम् तदेव च लिङ्गमिति । गवयगतं तर्तर्हि लिङ्गमस्तु उक्तदोषद्वयासंभवादिति चेत्; न; अत्रापि व्यधिकरणासिद्धत्वप्रसङ्गेः । न च व्यधिकरणासिद्धस्य गमकत्वं कौककाप्यर्थादिषु । 10

एतेन गवयस्यापि लिङ्गता प्रत्याख्याता; व्यधिकरणत्वाविशेषात् । उक्तञ्च—

“न चैतस्यानुमानत्वं पक्षधर्माद्यसंभवात् । प्रौक् प्रमेयस्य सादृश्यं धर्मत्वेन न गृह्यते ॥

(१) तुलना—“न च स्मरणमेवेद प्रमेयाधिक्यसम्भवात् । गवयेन हि सादृश्यं न पूर्वमवधारितम् ॥”—न्यायमं० पु० १४६ । (२) गोप्रत्यक्षेण । (३) गवयसादृश्यम् । (४) गवयसादृश्यस्य प्रतियोगी गवयः । (५) “ननु च ज्ञातसम्बन्धिता नुन्या, सा चात्र लक्षणम्, तत्र बान्धव्यं वेति क्वेदमुपयुज्यते? बाधमुपयुज्यते, एकदेशदर्शनादिति हि तत्र लक्षणम्, ज्ञातसम्बन्धस्येति विशेषणम् । अतो न गवयस्य सादृश्यं सदुदाहरणतरेकदेश । किञ्च असकृद् दृष्टसम्बन्धो ह्यनुमानस्य हेतुः असनीतीयव्यावृत्तिसव्यपेक्षश्च, द्वयमत्र नास्तीति प्रमाणान्तरम् ॥”—बृह० पु० १०८ । प्रक० पं० पु० १११ । शास्त्रबी० पु० २८७ । (६) गोसादृश्यस्य । (७) साध्यम् । (८) सादृश्यम् । (९) साध्यं हि गवयगतं सादृश्यं लिङ्गञ्च गवयगतं सादृश्यमिति व्यधिकरणासिद्ध—आ० टि० । (१०) ‘धवलः प्रासादः काकस्य काप्यर्थात्’ इतिवत् । (११) गवयो हि वनवर्ती सादृश्यञ्च गवि साध्यमिति व्यधिकरणासिद्धता । (१२) व्याख्या—“ये तु शाक्याः प्रमाणद्वयवादिनः साख्या वा प्रमाणत्रयवादिनोऽस्यानुमानान्तर्भावं मन्यन्ते तान् प्रत्याह न चेति । असम्भवमेव दर्शयति—प्रागिति । प्रमेयो यो तद्गतं तावत्सादृश्यं न लिङ्गं तस्य प्रागुपमानात्तद्धर्मत्वेनाग्रहणादिति । गवयगतमपि सादृश्यं गवि प्रमेये न पक्षधर्म इत्याह गवये इति । गोगतस्य च प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वादपि न लिङ्गता, तदेव हि गोगतं प्रमेयमित्याह—प्रतिज्ञेति । सादृश्यविशिष्टो गवयोऽपि पक्षधर्मत्वाभावादेव न लिङ्गमित्याह गवये इति । ननु तत्सम्बन्धितामाश्रमेव तद्धर्मत्वं न सयोगसमवायादेव, अस्ति गवयस्य गोसम्बन्धः तस्यासौ सदृशः, तत्र कथमपक्षधर्मत्वमत आह—सादृश्यमिति । भवतु कथञ्चित्पक्षधर्मता, न त्वन्वयोऽस्ति । नहि गवयगतं गोसादृश्यं गोगतेन गवयसादृश्येनान्वितं दृष्टम्, इदानीमेव गवयसादृश्यं गृह्यते । ननु युगपद् गवयं गच्छन् पश्यतोऽन्यद्वाऽन्यद्वयं परस्परसदृशं येन यत्सदृशं तदपि तेन सदृशमिति शक्यमेवान्वयग्रहणं कर्तुम् अत्र उक्तं सर्वेणेति । सत्यं दृष्टं न तु सर्वेण गवयं दृष्ट्वा तत्सादृश्यं गृह्यतवगन्वयो गृहीतो भवतीति । अस्ति चादृष्टसदृशद्वयस्याप्येवमेव गा दृष्ट्वैव वने द्वितीयं गवयं पश्यतस्तदेव सादृश्यविशिष्टे प्रत्यय इत्याह—एकस्मिन्निति ।” —मी० दलो० न्यायर० पु० ४४७ । (१३) गवयदर्शनात् प्राक्—आ० टि० ।

1 तस्य तन्नाम्निः श्र०, व० । 2 प्रत्ययोगिनि व० । 3 परिकल्पत आ० । 4—प्रसंगाद् गोग—व० ।

5 न च तस्यानु—श्र० । 6 गृह्यते व० ।

गमये गृयमाणश्च न गौर्यानुमापकम् । प्रतिज्ञार्थेऽङ्गताद् गोगतस्य न निवृत्ता ॥  
 गमयभाष्यसम्बन्धाच्च गोमिद्वत्त्वमृच्छति । सादृश्यं न च मोग पूर्णदृष्टं तदेवपि ॥  
 एकस्मिन्पि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं परपतो वने । सादृश्येन तेह्योस्मिन्तदोत्पत्तेरिति मतिः ॥”

[ श्री० इतो० उपमान० इतो० ४३-४६ ] इति ।

३ नाप्येतन् जीवदम् ; अधुनाऽनिदेशावयवस्य प्रतिपद्यः सत्यंभयान् । नाप्यधार्मिकः ;  
 अन्यथानुपपद्यमानदृष्ट-धुतार्थानिषेधनात् । नाप्यभावः ; प्रमाणप्रमेयनिवृत्त्यनपेक्षणादिनि ।

अत्र प्रतिविधीयते । यथापदुक्तम्—‘अनेन सदृशो गौः’ इत्यादि, तदसमीक्षि-  
 ताभिधानम् ; तथाविधायाः प्रतीतिरेयाऽसंभयान् । तथाहि—अधुनाति-  
 तस्मिन्पुरस्सरम् तदापि धार्यो नागरवः कानने पर्यटन् अदृष्टपूर्वं गोमदृशं पशुं पश्यन्  
 १० प्रयतिरित् पश्यन्- एवं बुद्धयते मयिनि च—‘गवा सदृश एव कश्चित् पशुः’ इति, ननु  
 भ्रंशप्रदर्शन- ‘अनेन सदृशो गौः’ इत्येवंपिधत्तानमभिधानं वा यस्यचिदादानीम-  
 स्तीति । अतु वा, तथापि अर्थे प्रत्यभिज्ञारूपत्वान्न प्रमाणान्तरत्वम् । ननु अनुभू-  
 तेऽर्थे प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तते दर्शनस्मरणनिवन्धनंत्वात्तत्स्थीः, न च पुरोराज्ञिगवयोपेक्षित-  
 सानुद्वयोपाधितया पूर्वं गोपिण्डोऽनुभूतः, गवयामहणे तदवच्छिन्नप्रमादृश्यविशेषितस्य  
 १५ गोपिण्डस्य प्रहीतुमशक्तेरिति, तदयुक्तम् ; यतः यस्य अनुभवाभावः—गवयावच्छेदस्य,

(१) ‘गवामनुमापकम्—श्री० इतो० । (२) अधिहरणत्वात्, सम्बन्धे हि गमको गम्य गमयति  
 —आ० टि० । (३) न च तदव्ययि गवयगर्भं सादृश्यं पूर्वं दृष्टं तन्तु गवयगर्भनवाज एव सर्वस्यापि  
 प्रमानुसदीयते, अननानधिगताधीगन्तुत्वं प्रामाण्यबोधनपुरमानस्य शान्तिम्—आ० टि० । (४)  
 ‘सहृदस्मिन्’—सत्यम्—टी० पृ० ५७७ । (५) उदुना इम-प्रमेय-पृ० १८७ । सत्यम्—टी० पृ० ५७७ ।  
 तुलना—‘वैद्व्यानुपपत्तं न च तस्यानुमानता । पक्षधर्मादिर्नैवात्र कथञ्चिदवश्यम् ॥ ( प्रागोक्तं  
 हि सादृश्यं न ) धर्मस्त्वं गृह्णते । गवये गृह्यमाणञ्च न गवामनुमापकम् ॥ प्रतिज्ञार्थेऽङ्गताद् गोपतस्य  
 न लिङ्गता । गवयदशाप्यसम्बन्धाच्च गोमिद्वत्त्वमृच्छति ॥—सत्यम्—आ० १५३९-४१ । (६) “धुता-  
 निदशवाक्यत्वत्र चातीवोपयुज्यते । येऽपि ह्यधुतदशवास्तेषामपि भवत्ययम् ॥”—श्री० इतो० उपमान०  
 इतो० १० । (७) तुलना—“अथानुपपद्यमानदृष्टधुतार्थानिषेधात्वाधार्मिकं । प्रमाणप्रमेयनिवृत्त्य-  
 नपक्षणाभावात् ॥—सत्यम्—पृ० पृ० ४५० । (८) पृ० ४८९ पृ० १६ । (९) तुलना—“एवमपिप्रतीत्य-  
 भावात् । प्रसिद्धेन हि सादृश्यमप्रसिद्धस्य गम्यते । गवा गवयपिण्डस्य न तु युक्तो विषयः ॥ तथाहि  
 —अधुनातिदशको नागरवः कानने पर्यटन् अदृष्टपूर्वं गोमदृशं प्राणिनमुपलभमान एव बुद्धयते वृत्तिरिति  
 च, अहो नु गवा सदृश एव वदन् प्रणीति । नत्वेनेन सदृशो गौरिति ज्ञानमभिधानं वा तदानीं कस्यचिद-  
 स्तीति अतः प्रसिद्धेरेवाभावात् किं प्रमाणधिल्लया ।”—न्यायम्—पृ० १४६ । (१०) तुलना—“एवमपिप्रतीत्यो-  
 दुदयप्रतीत्योः सङ्कलनज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानानान्वितमात् ।”—प्रमेयम्—पृ० ३४५ । न्यायाव० टी०  
 पृ० १९ । स्या० २० पृ० ४९७ । प्रमाणम्—पृ० ३५ । जैनकर्ममा० पृ० १० । (११) प्रत्यभिज्ञाया ।  
 (१२) गवयनिष्ठसादृश्यविशेषणविशिष्टतया । (१३) इदं सादृश्यं गवयनिष्ठमित्याकारस्य ।

१ सहृदस्मि—च० । २ शब्दम् च० । ३—सत्यमप्यपत्ते अन्यथानुप—आ० । ४ प्रमाण प्रमेय-  
 व०, य० । ५ नागरिक व० । ६ पश्यन्मव व० । ७—नत्वात् न च व०, आ० ।

सादृश्यस्य वा ? प्रथमपक्षे 'स एवायम्' इत्यादि प्रतीतिरपि प्रत्यभिज्ञानता न स्यात् उत्तरपर्यायावच्छेदस्य पूर्वमननुभवात् । अथार्थं अवच्छेदकस्य उत्तरपर्यायस्य पूर्वमननुभवेऽपि अवच्छेदस्य अन्वितद्रव्यस्य अनुभवात् प्रत्यभिज्ञानता; तदन्यत्रापि समानम्—अवच्छेदकस्य गवयस्य तदानधिगमेऽपि सादृश्यस्य अवच्छेदस्य अधिगमात् । कथमप्रतीतस्य गवयस्य सादृश्यविशेषणतेति चेत् ? कदा तदप्रतीतिः—गोदर्शनसमये, उत्तर-  
कालं वा ? प्रथमविकल्पे उत्तरपर्यायस्यापि द्रव्यविशेषणत्वाभावप्रसङ्गः, पूर्वपर्यायप्रतीति-  
समये तस्याप्यप्रतीतिः । अथ उत्तरप्रत्यक्षेण प्रतीतस्य तस्य तद्विशेषणता; तदेतदन्यत्रापि  
प्यविशिष्टम् । तन्न गवयावच्छेदस्य अनुभवाभावात् ।

नापि सादृश्यस्य; तद्धि असन्निहितत्वान्नानुभूयते, प्रतिबन्धकसद्भावाद्वा ? न साधदसन्निहितत्वात्, सन्निहितपदार्थवृत्तित्वेन असन्निहितत्वाऽसिद्धेः । नापि प्रतिब-  
न्धकसद्भावात् तस्यानुपलम्भः; गोपिण्डोपलम्भवत् सादृश्योपलम्भेऽपि प्रतिबन्धकस्य  
कस्यचिदप्यनुपलम्भात् । ननु उभयवृत्तित्वात् सादृश्यस्य कथमेकपिण्डोपलम्भसमये  
प्रतियोगिग्रहणमन्तरेणोपलम्भः स्यात् ? इत्यप्यसुन्दरम्; एकैकत्र अर्थस्य समाप्ततया प्रति-  
योगिग्रहणमन्तरेणापि उपलम्भोपपत्तेः । कथमन्यथेदं शोभेत—

“सामान्यनञ् सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते । प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि तत्तस्मादुपलभ्यते ॥”

[ श्री० श्लो० उपमान० श्लो० ३५ ] इति ।

‘इदमनेन सदृशम्’ इति सादृश्यव्यवहार एव हि प्रतियोगिग्रहणापेक्षो न पुनः । तत्त्व-

(१) उत्तरपर्यायनिष्ठमिदमेकत्वमित्याकारस्य । (२) एकत्वप्रत्यभिज्ञाने । मीमांसकाभिमतोप-  
मानस्य प्रशस्तपादभाष्यादिषु आगमस्मरणयोरप्यन्तर्भावः प्रादर्शितः, तथाहि—“आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य  
गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव ।”—प्रश्न० भा० पृ० ५७६ । “किञ्च स्मृतिस्वभावत्वाद्वा न  
प्रमाणमुपमानं स्मृत्यन्तरवत् ” एव तु युज्यते तत्र गोरूपावयवै सह । गवयावयवा केचित्तुल्यप्रत्ययहे-  
तव ॥ तत्रास्य गवये दृष्टे स्मृतिः समुपजायते ।—तत्त्वसं० पृ० ४४८ । “भवतु वंवा बुद्धिरनेन सदृशो  
गौ तयापि स्मृतिवन्तः प्रमाणफलम् ।”—न्यायसं० पृ० १४६ । ‘तस्माद् गवयग्रहणे सति असन्निहितगो-  
पिण्डावलम्बनी सादृश्यप्रतीतिः सादृश्यदर्शनाभिव्यक्तसंस्कारजस्या स्मृतिरेव न प्रमाणान्तरम् ।’—प्रश्न०  
कण्ड० पृ० २२१ । ‘सादृश्यज्ञानस्य चोत्पत्तावयवम्—पूर्वं तावत् गोगवययोर्विपाणित्वादिसादृश्यं गवि  
प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, पश्चाद् गवयदर्शनानन्तरं यदेतद् विपाणित्वादिसादृश्यं पिण्डेऽस्मिन्नुपलभ्यते मया  
तद् गव्यप्युपलभ्यम्’ इति स्मरति तदनन्तरं विपाणित्वादिसादृश्यप्रतिसम्मानं जायते ‘अनेन पिण्डेन सदृशो  
गौ’ इति । एवञ्च स्मार्तमेतद् ज्ञानं कथं प्रमाणान्तरं भवेत् ?—सम्प्रति० टी० पृ० ५८२ । (३)  
सादृश्यप्रत्यभिज्ञानेऽपि । (४) स एवायमिति एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्थले । (५) उत्तरपर्यायस्यापि । (६)  
उत्तरपर्यायस्य—आ० टि० । (७) अन्वितद्रव्यस्थानीयमत्र गोगवयगतं सादृश्यं विवक्षितम्, अत्रापि  
गवयप्रत्यक्षेण प्रतीतस्य सादृश्यस्य गोविशेषणत्वोपपत्तेरिति तात्पर्यम्—आ० टि० । (८) सादृश्यस्य ।  
(९) ‘तस्मात्तदुपपद्यते’—श्री० श्लो० । ‘तस्मात्तदुपलभ्यते’—न्यायसं० पृ० १४७ । उद्धृतोऽयम्—  
न्यायसं० पृ० १४७ । प्रमेयक० पृ० ३४६ । प्रश्न० कण्ड० पृ० २२१ । तुलना—“सामान्यवद्धि सादृश्य  
प्रत्येव च समाप्यते । प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि यस्मात्तदुपलभ्यते ॥”—तत्त्वसं० पृ० ४४५ ।

रूपप्रतिपत्तिः । प्रतिपत्ता हि गवयमुपलभ्य पूर्वानुभूतं गोपिण्डसंस्थानविशेषम् अवहि-  
तचेतसा परिभाव्य तयोः सादृश्यव्यवहारं प्रवर्त्तयति सङ्कलयति चैवम्—‘मया पूर्वमेव  
गौः अनेन प्राणिना तुल्यसंस्थानः प्रतिपन्नः, ततस्तां तुल्यसंस्थानतां स्मृत्वा सादृश्यं  
व्यवहरामि’ इति । ततो यैः सङ्कलनात्मकः प्रत्ययः स प्रत्यभिज्ञानमेव यथा ‘स एवा-  
यम्’ इति प्रत्ययः, सङ्कलनात्मकश्च ‘अनेन सदृशो गौः’ इति प्रत्यय इति । सङ्कलनं  
हि पूर्वोत्तरसमयसमाधिगतयोः वस्तुरूपयोः एकधर्मयोगितया सदृशादिधर्मयोगितया  
वा प्रत्यक्षमर्शनम् । तदात्मकत्यञ्च अत्रास्ति, गोगवययोः सदृशधर्मान्वितत्वेन प्रत्यक्ष-  
मर्शसम्भवात् ।

ननु चास्य प्रत्यभिज्ञानत्वे स्मृतिप्रत्यक्षप्रभयत्वप्रसङ्गः तत्सामग्रीत एवास्य आवि-  
र्भावात्, न चात्र सास्ति, गवयप्रत्यक्षादिसामग्रीमात्रात्तदुत्पत्तेः । न च विलक्षणसामग्री-  
प्रभवं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञान युक्तमतिप्रसङ्गात् ; इत्यप्यसाम्प्रतम् ; अत्रापि तत्सामग्र्या  
विद्यमानत्वात् । तथाहि—स्मरणापेक्षं गवयप्रत्यक्षम् एवमपि ज्ञानमुपजनयति, अनपेक्षं  
वा ? तत्र अनपेक्षस्य जनकत्वे अप्रसिद्धगोपिण्डस्यापि एतत् स्यात् । अथ स्मरणापेक्षं  
जनकत्वम् ; तत्रापि किं स्मरणमात्रापेक्षम्, गोपिण्डस्मरणापेक्षं वा सैत्तज्जनयेत् ?  
यदि स्मरणमात्रापेक्षम् ; तदा अश्वादिस्मरणेऽपि तत् तज्जनयेत् । अथ गोपिण्डस्मरणा-  
पेक्षम्, तत्रापि किं गोपिण्डस्मृतिमात्रापेक्षम्, सादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षं वा ?  
प्रथमपक्षे महिष्यादिस्मरणेऽपि तस्य तज्जनकत्वप्रसङ्गः, सादृश्याप्रतिपत्तेः उभयत्राप्य-  
विशेषात् । गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षित्वे तु सिद्धः पूर्वमेव सादृश्यानु-  
भूयः, तदसिद्धौ संस्कारविशेषाभावात् तत्स्मरणस्यैवाऽनुपपत्तेः । पूर्वं तदननुभवे च

(१) अनेन सदृशो गौरिति प्रत्यय प्रत्यभिज्ञानात्मक सङ्कलनात्मकत्वात् । (२) स एवाय-  
मिति प्रत्यभिज्ञाने—आ० टि० । (३) तुलना—‘तत्र किं स्मरणापेक्षमिन्द्रियमेव ज्ञान जनयति अनपेक्ष  
वेति ? अनपेक्षस्य ज्ञानजनकत्वे अप्रसिद्धगोपिण्डस्य स्मरणेऽप्यतत् स्यात् । अथ पिण्डमानस्मरणे,  
अश्वादिपिण्डस्मरणे स्यात् । अथ गवयसादृश्यावच्छिन्नस्मरणापेक्ष जनकम्, तत्रापि यदि स्मरणमात्रम-  
पेक्षेत, गजादिस्मरणेऽपि स्यात् । अथ गोपिण्डस्मरणापेक्षम्, तत्रापि किं गोपिण्डमात्रस्मरणमपेक्षते,  
गवयसादृश्यावच्छिन्न गोपिण्डस्मरणं वेति ? गोपिण्डमात्रस्मरणे अश्वादिपिण्डस्मरणेऽपि स्यात् ।  
गवयादिसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षित्वे पूर्वमेवानुभवो वाच्य, तदन्तरेण संस्कारानुत्पत्ते स्मरण-  
स्यैवाभावात् । अतः सविकल्पज्ञानाभावेऽपि गवयसादृश्यावच्छिन्ने गोपिण्डे पूर्वमनुभवोऽभ्युपगन्तव्य ।  
यन हि संस्कारोत्पत्तौ स्मरणानन्वीयया गवा सदृशोऽयं गवय इति ज्ञानं स्यात् । पूर्वं च गवयसादृश्या-  
वच्छिन्नगोपिण्डेऽनुभवप्रसिद्धौ गवयोपलभ्यात् ‘मदीया गौरन सदृशी’ इति वयमेतत् स्मरणं न स्यात् ?  
तथा पुष्टौ भवीति एतत्सदृशी मयोपलभ्या न तु प्रमाणान्तरं निर्दिशति ।”—प्रश्न० व्यो० पृ० ५८८ ।  
(४) अनेन सदृशो गौरिति—आ० टि० । (५) गवयप्रत्यक्षम् । (६) गवयप्रत्यक्षस्य । (७) यथा  
हि महिष्यादिस्मरणे न गोसादृश्यं प्रतीयते तथा गोपिण्डस्य स्मरणमात्रेऽपि न सादृश्यस्य प्रतिपत्तिः ।  
(८) सादृश्यस्मरणस्यैव ।

१ सत्यप्यनि व० । † एतदन्तर्गतं पाठो नास्ति आ० । ॥ एकधर्मयोगितया वा प्र- व० ।  
३-विषयज्ञान-व०, -विषयज्ञान-य० । ४-नापेक्षत्वे व० ।

गोपिण्डसंस्थानविशेषविषय निपुणनिरूपणमनर्थकमेव स्यात् । पिण्डमात्रस्मरणेऽपि सन्निकृष्टसादृश्यदर्शनबलेन विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतेरुत्पादप्रसङ्गात् । न च पिण्डमात्रामनुस्मरत संस्थानविशेषमनिरूपयत सादृश्यप्रतीतिरुत्पद्यते । अतो मन्यामहे—गवयसादृश्याच्छिन्नगोपिण्डानुभवेभावितेयं स्मृतिरिति । तथाविधस्मृतिसहायश्च गवयप्रत्यक्षम् 'अनेन सदृशो गौ' इति ज्ञानमुत्पादयतीति सिद्धमस्य स्मृतिप्रत्यक्षप्रभवत्वम् । अतः १ नोपमान प्रत्यभिज्ञानाद् भिद्यते, अभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्, यदाभिन्नसामग्रीप्रभव तदाभिन्नम् यथा अविनाभावलक्षणलक्षितहेतुत समुपनायमान कार्यस्वभावाद्यनुमानम्, स्मृतिप्रत्यक्षलक्षणाऽभिन्नसामग्रीप्रभवश्च प्रत्यभिज्ञानोपमानलक्षण ज्ञानद्वयमिति ।

यदप्युक्तम्—विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतौ सन्निकृष्ट सादृश्य करणम्' इत्यादि, तत्र किमिदं सन्निकृष्टसादृश्यस्य करणत्वम्—तदनुमापकरणम्, तत्समाकृत्यम्, तदुपमापकत्वं वा ? प्रथमपक्षे पूर्वापरविरोध—पूर्वं तस्य तदनुमापकत्वप्रतिषेधात् इह चाभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षे तु सन्निकृष्टसादृश्यस्य विप्रकृष्टसादृश्यस्मृतिहेतुत्वात् उपमानहेतुत्वानुपपत्तिः, स्मृते उपमानत्वाऽसंभवात् । तैस्स्मृतिमहाय तु तैत् तैर्देहेत्युक्तं स्यात् न केवलम्, तथा च 'दृश्यमानाद् यदन्यत्र' इत्यादि दुर्घटम् । एतेन तृतीयपक्षोऽपि प्रत्याख्यातः, केवलस्य तत्सादृश्यस्य तदुपमापकत्वासंभवात् । न च सादृश्यस्य ज्ञानजनकत्वं १० संभवति, अर्थे ज्ञानजनकत्वस्य अग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् । अतः सदृशानुपपत्तिविषयाभ्या दर्शनस्मरणाभ्या गो गवययो सादृश्यपरामर्शं प्रत्यभिज्ञानाऽपरपर्यायमुपमान जन्यते इत्यभ्युपगन्तव्यम् । तस्मात् उपमानस्य प्रत्यभिज्ञास्वभावत्वान्न प्रमाणान्तरत्वं युक्तम् ।

अनुमानस्वभावत्वाद्वा । कथमस्यानुमानत्वमिति चेत् ? उच्यते स्मर्यमाणो गोपिण्डो धिक्क्षितगवयावच्छिन्नसारूप्यमानः, तेन अवच्छिद्यमानत्वात्, यद् यदैवम् तत्तत्तथा २०

(१) प्रतीतिः । (२) पृ० ४९० पं० १ । (३) गवयगतसादृश्यस्य । (४) विप्रकृष्ट स्मृति-आ० टि० । (५) सन्निकृष्टसादृश्यम्-आ० टि० । (६) उपमान-आ० टि० । (७) विप्रकृष्टसादृश्यस्मृतिनिरपेक्षस्य । (८) न प्रमाणान्तरत्वं युक्तमिति सम्बन्धः । तुरुना—तेषां तदगोचरत्वमपि भवत्येवानुमेव हि । त्रिरूपलिङ्गजन्यत्वमस्य चैव प्रतीयते ॥ यो गवा सदृशोऽसौ हि गवयश्चुतिगोचरः । सकेतप्रहणावस्थो बुद्धिस्थो गवयो यथा ॥ गोसूक्ष्मत्वं हेतुः, गवयश्चुतिगोचरत्वं साध्यधर्मसंवेतप्रहणवाल विक-पबुद्धिप्रतिभासो बुद्धिस्थो गवयो दृष्टात दृश्यमानो गवयो धर्मी ॥ —तरवस० पृ० ५० ४५३ ५४ । तथाचानुमानजन्यत्वात् प्रमाणांतरमाविर्गतिः । स्मयमाणो गो धर्मी एतत्सदृश इति साध्यो धर्म एतदवयवसामा ययोगित्वात् सन्निकृष्टद्वितीयगवयपिण्डवत् । तदसन्निधाने सामान्यन व्याप्तिदशयितव्या । यत्र यदवयवसामान्ययोगित्वं तत्र तत्सादृश्यं यथा यमयोरिति । —न्यायम० पृ० १४८ । 'यदा च प्रत्यक्षेण प्रतिग्रहप्रति गवाश्ववादी भूयोऽवयवसामा ययोगे तद्विषयो वा ध्यामूढ सदृशासदृशव्यवहारं न प्रवर्तयति तदा विषयदशनेन विषयिणो व्यवहारस्य साधनतः प्रकृत्यसदभावादानुमानप्रमाणता संभवति । तथाहि—गवाश्ववादी विषयाद्यवयवसामा ययोगे तद्विषयो वा प्रागुपलब्ध इदानीं स्मयमाण इति नासिद्धता हेतोः' —संमति० टी० पृ० ५८३ ।



यथा सन्निहितो गवयपिण्डः, तथा चायम्, तस्मात्तथेति । यदि वा, अविलम्बणविपाणा-  
वयवयोगित्वादिति हेतुः, साध्य-दृष्टान्तौ तौ एव ।

ननु माभूत् मीमांसकाभ्युपगतमुपमानं प्रत्यभिज्ञानादेः प्रमाणान्तरम्, नैयायिकै-

रभ्युपगतं तु भविष्यति । ते हि “प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुप-

सजासंज्ञिसम्बन्धज्ञान-  
फलस्य उपमानस्य  
पृथक् प्रामाण्यं दर्श-  
यती नैयायिकस्य  
पूर्वपक्ष -

मानम्” [ न्यायसू० १।१।६ ] इत्युपमानलक्षणं वर्णयन्ति । तत्र

प्रसिद्धश्च तत्साधर्म्यश्च, प्रसिद्धेन वा गया साधर्म्यं गवयस्य, प्रसिद्धं

वा साधर्म्यं यस्य स प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयः तस्मात्, तमाश्रित्य

साध्यस्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य साधनं बोधनम् उपमानम् । श्रुताति-

देशवाक्यस्य हि प्रमातुः अप्रसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानं यद् इन्द्रियजं

संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलं तदुपमानं प्रतिपत्तव्यम् । तद्धि इन्द्रियजनितमपि धूम-

ज्ञानमिव तद्गोचरप्रमेयप्रमितिप्रसाधनात् प्रमाणान्तरम् । श्रुतातिदेशवाक्यो हि नाग-

रकः कानने परिभ्रमन् गोसदृशप्राणिदर्शनानन्तरम् आटविक्रयचः “यादृशो गौस्तादृशो

(१) “प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति । यथा गौरेवं गवय इति । किं

पुनरत्र उपमानेन त्रियते ? यदा कल्पय गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते, तदा प्रत्यक्षतत्त्वमर्थं प्रतिपद्यते इति

समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थं इत्याह । यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थम्

इन्द्रियार्थसन्निर्वाणदुपलभमानोऽस्य गवयस्य सन्नेति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति । यथा मुद्गस्तथा

मुद्गपर्वणी यथा मापस्तथा मापपर्वणी इत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्ता-

मीपर्वणी भेषज्यायाहुरिति ।” न्यायभा० १।१।६ । (२) “प्रसिद्धसाधर्म्यादिति-प्रसिद्ध साधर्म्यं यस्य,

प्रसिद्धेन वा साधर्म्यं यस्य सोऽयं प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयस्तस्मात् साध्यसाधनमिति समाख्यासम्बन्धप्रति-

पत्तिरुपमानार्थं । किमुक्तमभवति ? आगमाहितस्मृतिरूपेण साध्यज्ञानमुपमानम् । यदा ह्यनेन

श्रुतं भवति यथा गौरेवं गवय इति, प्रसिद्धे गोमवयसाधर्म्यं पुनर्गवा साधर्म्यं पश्यतोऽस्य भवति अयं

गवय इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिः ।” न्यायभा० ५० ५७ । “प्रसिद्धसाधर्म्यात् इत्यत्र प्रसिद्धिरनयी

श्रुतिमयी प्रत्यक्षमयी च । श्रुतिमयी यथा गौरेवं गवय इति । प्रत्यक्षमयी च यथा गोसादृश्यविशिष्टोऽ-

यमीदृश पिण्ड इति । तत्र प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धिरागमाहितस्मृत्यपेक्षा समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिहेतुः ।”

तस्मादागमप्रत्यक्षाभ्यामन्यदेवेदमागमस्मृतिरहितं सादृश्यज्ञानमुपमानाख्यं प्रमाणमास्थेयम् ।” न्यायभा०

सा० ५० १९८ । (३) “अद्यतनास्तु व्याचक्षते-श्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रमातुरसिद्धे पिण्डे प्रसिद्ध-

पिण्डसारूप्यज्ञानमिन्द्रियजं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानम् । तद्धिन्द्रियजनितमपि धूमज्ञानमिव

तद्गोचरप्रमेयप्रमितिप्रसाधनात् प्रमाणान्तरम् । श्रुतातिदेशवाक्यो हि नागरकः कानने परिभ्रमन् गोस-

दृश प्राणिमवगच्छति, ततो वनेचरपुच्छकपित यथा गौस्तथा गवय इति वचनमनुस्मरति, स्मृत्या

च प्रतिपद्यते अयं गवयस्यदवाच्य इति । तदेतत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानं तज्जन्यामित्युपमानफलमित्युच्यते ।”

न्यायभा० ५० १४२ । न्यायकति० ५० ३ । “सम्बन्धस्य परिच्छेदं संज्ञाया मज्जिना सह । प्रत्यक्षादेर-

साध्यत्वादुपमानफलं निवृत्तम् ।” न्यायकूट० ३।१० । “यामीषणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम् । सादृ-

श्यधीर्गवादीनां या स्यात्सा करणं मतम् ॥ वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिव्यापार उच्यते । गवयादिपदानां

तु शक्तिधीरपमाफलम् ॥” मुक्ता० का० ७९-८० । तर्कसं० उपमानपरि० । (४) साध्यज्ञानम् ।

(५) इन्द्रियागोचरः ।

गवय' इति स्मृत्या प्रतिपद्यते 'अयं स गवयशब्दवान्य' इति । तदेतत् सज्ञासंज्ञि-  
सम्बन्धज्ञानं प्रत्यक्षाद्यजन्यत्वात् उपमानफलम् । नहि प्रत्यक्षस्य तत्फलम्, वनस्य  
गवयाकारमात्रपरिच्छेदफलत्वात्तस्य । नाप्यनुमानस्य, पक्षधर्म अन्वय व्यतिरेकादि-  
सामग्रीमन्तरेणापि सज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेरुत्पादप्रतीतेः । नाप्यागमस्य तत्फलम्,  
न खलु नागरकं प्रतिपत्ता आरण्यकवाक्यादेव आरण्यस्य प्राणिनं गवयशब्दवान्यतया  
प्रतिपद्यते, किन्तु सारूप्यप्रसिद्धेन गवा तस्य पश्यन् । नहि गवयादर्शने 'अयं स  
गवयशब्दवान्य' इति सज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात् । तदर्थेने तु तदेव  
'श्रुतातिदेशबोध्यस्य हि' इत्याद्युक्तप्रकारेण तत्प्रतीतिफलमुपमानमुच्यते इति ।

पृथगनैयायिकास्तु प्रसिद्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेव उपमानं  
वर्णयन्ति । गवयार्थी हि नागरकं अनवगतगवयस्वरूपं तदभिज्ञमारण्यकं पृच्छति  
'कीदृशो गवयः' इति ? स तं प्रत्याह—'यादृशो गौ तादृशो गवयः' इति । तदेतद्वा-  
क्यम् अप्रसिद्धस्य गवयस्य प्रसिद्धेन गवा सारूप्यमभिदधत् तद्द्वारकम् अप्रसिद्धस्य पशो  
गवयसंज्ञाभिधेयत्वं ज्ञापयति इत्युपमानमुच्यते इति ॥ छ ॥

अत्रोच्यते । यत्तादृशमनवगतनैयायिकैरभिहितम्—'श्रुतातिदेशवाक्यस्य' इत्यादि,  
तत्र किं साक्षात् सज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्त्यङ्गस्य उपमानता उच्येत,  
उपमानस्य सादृश्यं परम्परया वा ? प्रथमपक्षे न मीमांसकोपवर्णितोपमानादस्य कश्चि-  
द्विशेषः, अतस्तत्पक्षोक्तदूषणगणप्रसङ्गोऽप्यनिवारितप्रसरः प्रति-  
पत्तव्यः । न खलु भवत्कल्पितम् अप्रसिद्धपिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्य-  
ज्ञानमिन्द्रियप्रमथं साक्षात् तैस्प्रतिपत्तेरङ्गं भवितुमर्हति । तद्वि केवलं तदङ्गं भवेत्,  
मज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्मृतिसहायं वा ? यदि केवलम्, तदा श्रुतातिदेशवाक्यस्यापि दृष्टगो

(१) प्रत्यक्षं तावदेव द्विष्य न कृतश्रमम् । वनस्य गवयाकारपरिच्छेदफलं हि तत् ॥ अनुमानं  
पुनर्नात्र गङ्गामप्यधिरोहति । क्व लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धं क्व सज्ञासंज्ञितामिति ॥ आगमादपि तत्सिद्धिं  
वनचरमापितात् । तत्कालं सज्जितो नास्ति गवयस्य हि दर्शनम् ॥ —यायम० पृ० १४२ । सेषं न  
तावद्वाक्यमात्रफलम् अनुपलब्धपिण्डस्यापि प्रसङ्गात् । नापि प्रत्यक्षफलम् अभूतवाक्यस्यापि प्रसङ्गात् ।  
नापि समाहारफलम् वाक्यप्रत्यक्षयोर्मि न कालत्वात् । वाक्यतदर्थयोः स्मृतिद्वारोपनीतावापि गवयपिण्ड-  
सम्बन्धनापीन्द्रियेण तद्गतसादृश्यानुपलम्भे समयपरिच्छेदासिद्धः । —यायकुसु० ३।१०। (२)  
गवयस्य । (३) अत्र पृथगनैयायिकास्तावदेवमुपमानस्वरूपमाचक्षते—सज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिफलं प्रसि-  
द्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेवोपमानम् । गवयार्थी हि नागरकोऽनवगतगवयस्वरूपं तदभि-  
ज्ञमारण्यकं पृच्छति कीदृशगवयः इति स तमाह यादृशो गौस्तादृशो गवयः इति । तदेतद्वाक्यमप्रसिद्धस्य  
प्रसिद्धेन गवा सादृश्यमभिदधत् तद्द्वारकमप्रसिद्धस्य गवयसंज्ञाभिधेयत्वं ज्ञापयतीत्युपमानमुच्यते । —  
यायम० पृ० १४१ । (४) पृ० ४९६ पृ० ८ । (५) सज्ञासंज्ञिसम्बन्धः ।

१—तत्फलं व० । २—स्य प्राणिनं व० । ३—वाक्यो हि आ० व० । ४ अतिद्वयं, आ० ।  
५ अत्र प्रतिविधोपपत्तेः व०, थ० । ६ अतिद्वयं—व० । ७ सज्ञासंज्ञिसम्बन्ध—आ० ।



अतिदेशवाक्योच्चारणवैयर्थ्यञ्च । यत् यत्प्रतिपत्त्यर्थिनः तद्विषयां प्रतिपत्तिं मनागपि नोत्पादयति न तत् प्रति प्रेक्षावद्भिः प्रयुज्यते यथा जलप्रतिपत्त्यर्थिनोऽनलवाक्यम्, नोत्पादयति च गवयप्रतिपत्त्यर्थिनः तत्प्रतिपत्तिं मनागपि अतिदेशवाक्यमिति । अथ विशेषतः; तदा आगमप्रमाणाय दत्तो जलाञ्जलिः, तस्य प्रत्यक्षवत् देशकालाकार-विशेषतः कचिदपि विषये विज्ञानजनकत्वासंभवात्, सामान्यत एवागमात् सर्वत्र संवित्तिसंभवात् ।

अथ तत्प्रतीत्युपायस्य अपरस्योपदेशान्नास्य आगमफलत्वम्, यत्र हि शब्दप्रत्ययादेव अर्थतथात्वम् उपायान्तरनिरपेक्षमवधार्यते स आगमः, यत्र तु पुरुषः अर्थ-प्रतीतौ उपायान्तरमपरमुपदिशति तत्र तत् एवोपायात् प्रसिद्धसाधर्म्यादिलक्षणात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धाद्यवधारणम्, उपायमात्रावगम एव तु शब्दव्यापार इति; तदसाम्प्रतम्; शब्दव्यापारप्रभवस्याप्यस्य एतौवता विशेषेण यद्यागमात् प्रमाणान्तरत्वमिष्यते, तदा प्रमाणानामानन्त्यप्रसङ्गात् नैयायिकस्य 'यैतारि प्रमाणानि' इति संख्याव्याघातः स्यात् । तैथाहि—'यः सिंहासनाधिरूढः स राजा, पयोऽम्बुभेदी हंसः, पट्पादैः मधुपः,

(१) गवयप्रतिपत्त्यर्थिनोऽतिदेशवाक्योच्चारण व्यर्थम् तत्प्रतिपत्त्यजनकत्वात् । (२) "ननु शब्दस्वभावत्वादस्याप्तोपदेशः शब्द. इत्यनेन गतार्थत्वात्नेदं प्रमाणान्तर भवेत् . . . . . उच्यते—यत्र शब्दप्रत्ययादेव तत्प्रणेतृपुरुषप्रत्ययादेव वा अर्थतथात्वमुपायान्तरानपेक्षमवगम्यते स आगम एव ततस्तदर्थप्रतीतेः । यत्र तु पुरुषः प्रतीत्युपायमपरमुपदिशति तत्र तत् एवोपायात् तदर्थवधारणम् । उपायमात्रावगमे तु शब्दव्यापार, यथा परार्थानुमाने अग्निमानस्य पर्वतो धूमवत्त्वान्महानसवदिति । अत्र हि न पुरुषोपदेशविश्वासादेव शैलस्य वृक्षानुभूता प्रतिपत्ता निमित्तान्तरनिरपेक्ष प्रतिपद्यते अपि तु तदवबोधकधूममात्मलङ्घ्यसामर्थ्यादेव । तदिह यद्यादिको नागरकाय गवयाधिने तदवगमोपाय प्रसिद्धसाधर्म्यं नाम्न्यास्यत्ताहि तदुपदेश आगम एव अन्तरभविव्यत् । तदुपदेशात् तत् एव तदर्थवगम इति सत्यपि शब्दस्वभावत्वे प्रमाणान्तरमेवेदम् ।"—न्यायमं० पृ० १४२ । (३) उपायान्तरनिर्देशमात्रादेव । (४) "प्रत्यक्षानुमानोपमानाद्या. प्रमाणानि ।"—न्यायसू० १।१।३। (५) तुलना—"अनन्तोपायजन्याश्च समाख्यायोगसविद । साधर्म्यमनपेक्षयापि जायन्ते नरपादिषु । सिततपनपिहितबुध्नपादो नराधिपः । तेषां मध्य इति प्रोक्त उपदेशविशेषतः ॥ कालान्तरेण तद्वृष्टौ तन्मात्मास्पेति मा मति । सा तदाज्या प्रमा प्राप्ता साधर्म्याद्यनपेक्षणात् ॥"—तत्त्वसं० पृ० ४५५ । "ननु चाप्तोपदेशात् प्रतिपाद्यस्य तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरागमफलमेव ततोऽप्रमाणान्तरमिति चेत्; तर्हि आप्तोपदिष्टोपमानवाक्यादपि तत्प्रतिपत्तिरागमज्ञानमेवेति नोपमान श्रुतात्प्रमाणान्तरम् । सिंहासनस्थो राजा, मन्त्रके महादेवी, भुवर्णपीठे सचिव, एतस्मात्पूर्वं एतस्मादुत्तरत एतस्माद्वक्षिणत एतन्माषाणवय ( भ्रामकमिदं ) भ्रामवानक ( भ्रामधानक ) मित्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य पुनस्तथैव दर्शनात् सोऽयं राजेत्यादि संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः, पठाननो गृहश्चतुर्मुखो ब्रह्मा तुङ्गनासो भागवतः क्षीराम्भोविधेचनतुण्डो हंसः सप्तच्छद इत्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य तथाप्रतिपत्तिर्वा यद्यागमज्ञानं तदा तद्वदेवोपमानमवसेय विशेषाभावात् ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४३ । "पयोम्बुभेदी हंसः स्यात् पट्पादैर्भूमरः स्मृतः । सप्तपर्णस्तु तत्त्वज्ञैर्विज्ञेयो विषमच्छद ॥ पञ्चवर्णं भवेद्बलं मेचकाय पुणस्तनी । युवतिर्वर्कसृङ्गोपि गण्डकः परिकीर्तितः ॥ शरभोऽप्यष्टभि पादं सिंहश्चाष्टशटान्वितः । इत्येवमादिशब्दव्यवहाराविधानेव भाराला-

सप्तपणैर्विषमच्छदः' इत्येवमादिवाक्यैर्जनितसंस्कारस्य यथोक्तविशेषणविशिष्टं राजादिकं पश्यतः 'अयमसौ राजा' इत्येवमादिर्था संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुत्पद्यते सा भ्रमन्मते प्रमाणचतुष्टयानन्तर्भूतत्वात् प्रमाणान्तरं स्यात् । न ह्यसौ उपमानम्; प्रसिद्धसाधर्म्यान-  
पेक्षणात् । नाप्यागमः; तत्प्रतीतिः 'सिंहासनाधिरूढत्वादेरुपायान्तरस्योपदेशात् । तथा-  
५ यस्य आगमेऽन्तर्भावो उपमानस्यापि तत्रान्तर्भावोऽस्तु अविशेषात् ।

एतेन 'वाच्यसंविचयपेक्षणात्' इत्यपि प्रतिव्यूढम्; उक्तप्रतीतेस्तदपेक्षणेऽपि आगमे अन्तर्भावाऽभ्युपगमात् । ननु उपायान्तरादर्थप्रतीत्यापि उपमानस्य आगमेऽ-  
न्तर्भावाभ्युपगमे 'अग्निमानयं पर्वतो धूमवत्त्वात् महानसवत्' इत्यादेः परार्थानुमानस्य  
कुतस्तत्रान्तर्भावो न स्यादिति चेत् ? 'अनुमानकारणकार्यत्वात्' इति ब्रूमः । तथाहि—प्रति-  
१० पादकस्वार्थानुमानकार्यत्वात् प्रतिपाद्यस्वार्थानुमानकारणत्वाच्च घचनरूपस्यापि परार्थानु-  
मानस्य अनुमानता न विरुध्यते । नचैतद् भयत्कल्पितोपमाने संभवति । न खलु  
उपदिष्टप्रसिद्धसाधर्म्यलक्षणोपायादर्थप्रतीतिं विहाय अन्यदुपमानं किञ्चिद् भवतः  
प्रसिद्धमस्ति यत्कारणकार्यतया अर्थ उपदेशप्रभवस्याप्युपमानता स्यादिति ।

एतेन वृद्धनैयायिकैर्यदुक्तमुपमानलक्षणम्—'प्रसिद्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकम-  
१५ तिदेशवाक्यमेव उपमानम्' इति; तदपि प्रत्याख्यातम्; अतिदेशवाक्यात्मनोऽस्य आगम-  
स्वभावतया उपमानत्वायोगात् । किञ्चिद्विशेषमादाय अस्य अनागमस्वभावत्वाभ्युपगमे  
प्राक्प्रतिपादिताशेषदोषानुपपन्नः स्यात् । ततो गौगवययोः सारूप्यपरामर्शात्मकं ज्ञानमेव  
प्रत्यभिज्ञाख्यं मुख्यतः उपमानं युक्तं नान्यदिति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्, अत्र उक्तदोषाणां  
लेशतोप्यवकाशासंभवीत् ॥ छ ॥

२० कारिकायामनुक्तमपि दूषणं 'प्रसिद्ध' इत्यादिना दर्शयन्नाह—प्रसिद्धार्थसाधर्म्यम्  
विवृतिरूपस्यानम्— अन्यथानुपपन्नत्वेन साध्याभावप्रकारेण निर्णीतं चेत् यदि तर्हि

दीनबलीकथं तथा सत्यापयति यदा तदा तत्सङ्कलनमपि प्रत्यभिज्ञानमुक्त दर्शनस्मरणकारणत्वाविशेषात् ।  
परेषां तु तत्प्रमाणान्तरमवोपपद्यत उपमानादी तस्यान्तर्भावाभावात् ।—प्रमेय० पृ० ८४ । स्या० २०  
पृ० ४९८ । प्रमाणमी० पृ० ३४ । जैनतर्कमा० पृ० १० ।

(१) नैयायिकमते । (२) तुलना—'वाक्यादेव सङ्केतस्य प्रतीतत्वात् । तथाहि—सादृश्यवाक्य-  
स्यापमर्षो यो गोमदृश स गवय इत्येव व्यवहर्तव्य । स च वाक्यादुपलब्धसङ्केत सादृश्यावच्छिन्न  
पिण्डमुपलभमान पर व्यवहरति अयं गवय इति ।—प्रज्ञा० व्यो० पृ० ५८९ । "उपमान तावत् यथा  
गीतपया गवय इति वाक्यम्, तज्जनिता घीरायम एव ।"—सांख्यतत्त्वको० पृ० ३९ । वंशे० उप० पृ०  
३३७ । (३) अनिदेशवाक्यावगतप्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानात् । (४) आगमे—आ० टि० । (५) "तद-  
चनमपि तद्वदुत्वात्"—परीक्षासु० ३।५६ । (६) संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य—आ० टि० । (७) अतोऽप्याग-  
मेऽन्तर्भावो युक्त इति तात्पर्यम्—आ० टि० । (८) पृ० ४९७ पं० ९ ।

१—विशेषविशि—अ० । २—माविकाया स—ब०,—मादित्यास—अ० । ३—सौ तु उप—अ० ।  
४—सौ हि सिंहा—अ० । ५—त. प्रमाणं युक्तं व० । ६—वादिनि व० ।

लिङ्गमेव तल्लक्षणत्वात् लिङ्गस्य । अथ तथात्वेन तदनिर्णीतं तत्र दूषणमाह—‘ततः’  
 इत्यादि । ततः प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् प्रतिपत्तिः साध्यसंवित्तिः अन्यथा अन्यथा-  
 नुपपन्नत्वनिर्णयाभावप्रकारेण न युज्यते । ‘प्रत्यक्ष’ इत्यादिना प्रथमं कारिकाद्वं  
 व्याचष्टे—प्रत्यक्षे दर्शनेन विपरीकृते अर्थे गवयलक्षणे ‘गवयः’ इति संज्ञा तस्या  
 गवयलक्षणोऽर्थः संज्ञी तयोर्वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः तस्य प्रतिपत्तेः  
 ‘गवयोऽयम्’ इति संवित्तेः प्रमाणान्तरत्वे अङ्गीक्रियमाणे दूषणमाह—‘वृक्ष’ इत्यादि ।  
 अयं दृश्यमानो भावः वृक्षः इति यत्तु ज्ञानं तत् ‘प्रमाणान्तरं स्यात्’ इत्यध्याहारः ।  
 कस्य तज्ज्ञानम् ? इत्याह—वृक्षदर्शिनः । अत्र निदर्शनमाह—‘गवयः’ इत्यादि ।  
 ‘अयं गवयः’ इति ज्ञानं यथा गवयदर्शिनः उपमानाख्यं प्रमाणान्तरं तथा प्रकृतमपि  
 तदन्तः स्यात् । उपमान कस्मात् तन्न भवतीति चेत् ? अत्राह—‘प्रसिद्ध’ इत्यादि ।  
 प्रसिद्धार्थसाधर्म्याद् या साध्यसिद्धिः तस्या अभावात् तत्प्रमाणान्तरम् । कथं तज्ज्ञान-  
 नमुत्पद्यत इति चेत् ? उच्यते वृक्षानभिज्ञो यदा कश्चित् कञ्चित् पृच्छति ‘कीदृशो वृक्षः’ इति ?  
 स तं प्रत्याह—‘शाखादिमान् वृक्षः’ इति । तद्वाक्याच्चाकृतसंस्कारः प्रष्टा पुनः  
 शाखादिमन्तं पदार्थं पश्यन् ‘अयं वृक्षः’ इति प्रतिपद्यते । अनेन च तद्वैधर्म्यात्  
 तत्प्रतिपत्तिवैलक्षण्यात् इत्ययमर्थो व्याख्यातः ।

15

तथाऽपरमपि प्रमाणान्तरं परस्य आपादयितुं ‘गौरिव’ इत्याद्याह । अस्यायमर्थः—  
 यदा कश्चिदाटविकः नगरस्थेन ‘कीदृशो गवयः’ इति पृष्ठः इदमाह—‘गौरिव गवयः’  
 इति । तदा तस्य नागरकस्य ‘गौरिव गवयः’ इत्येवं वाक्यं श्रुत्वा पर्यटतो गवयद-  
 र्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् । तच्छब्देन दृष्टो गवयः परामृश्यते, तस्य ‘गवयः’ इति  
 नाम तस्य प्रतिपत्तिः सेव तद्वदिति । प्रत्यक्षेषु दर्शनविपरीकृतेषु इतरेषु प्रसिद्धार्थ-  
 विसदृशेषु तिर्यक्तु महिष्यादिषु तस्यैव ‘गौरिव गवयः’ इति वाक्यं श्रुतवतः पुनः  
 पश्चाद् ‘अगवयोऽयम्’ इति निश्चयः किन्नाम किमभिधानं प्रमाणं स्यात् ? सामान्येन

20

(१) तुलना—‘वोऽयम् गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचकः’ इति प्रत्यय सोऽप्यनुमानमेव ।  
 यो हि शब्दो यत्र वृद्धं प्रयुज्यते सोऽस्ति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचकः यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चैव  
 गवयशब्दो गोसदृशो इति तस्यैव वाचकः इति तज्ज्ञानमनुमानमेव ।—साहित्यतत्त्वकौ० पृ० ४० । न्यायली०  
 पृ० ५६ । वंशे० उप० पृ० ३३७ । (२) अन्ययानुपपत्तिलक्षणत्वात् । (३) तुलना—‘वृक्षोऽयमित्यादि’—  
 परीक्षामु० ३।१० । प्रमेयक० पृ० ३४७ । (४) प्रमाणान्तरम्—आ० टि० । (५) न पुनरुपमानरूपम्—  
 आ० टि० । (६) महिष्यादिषु वैधर्म्यात् प्रमाणान्तरत्वापात्तं—आ० टि० । (७) ग्रहणवाक्यम्—आ०  
 टि० । (८) यथा तन्नामप्रतिपत्तिर्भवत प्रमाणान्तरं तथा गवये दृष्टेऽर्थप्रतिपत्तिः प्रमाणान्तरं  
 प्राप्नोति इति भावः—आ० टि० ।

1 अयातपरा—आ० । 2 तत्प्रसिद्धा—व० । 3 प्रत्यक्षत इत्या—थ० । 4 वृक्षोऽयमित्या—थ० ।  
 5 गवयोऽयमित्या—थ०, व० । 6 वृक्षातो आ०, वृक्षायतो व० । 7 तेन च आ० । 8 व्याख्यायते व० ।  
 9 गवय इति दर्शिनः थ० ।

निश्चयवचनम् अज्ञादस्य मीमांसकसम्बन्धिनः सादृश्यं च नैयायिकसम्बन्धिनो  
निश्चयस्य सङ्ग्रहार्थम्, तेन मीमांसकं प्रति यद् व्याख्यानं तदपि सङ्गृहीतम्, इतरथा  
'अगवयनामनिश्चयः' इति ब्रूयात् । अथ अगवयज्ञानं प्रमाणं न भवतीत्युच्यते;  
अत्रोत्तरमाह—'हानोपादान' इत्यादि । हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिः फलं यस्य अगव-  
यज्ञानस्य तन्न अप्रमाणं भवितुमर्हति किन्तु प्रमाणमेव तदिति प्रमाणेयत्ताव्याघातः ।

तथाऽपरमपि परस्याऽनिष्टं प्रमाणं दर्शयन्नाह—

प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्यन्धप्रतिपत्त्यतः ।

तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कृतस्तथा ? ॥ २० ॥

विधृतिः—आगमाहितसंस्कारस्य तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः साकल्येन  
प्रमाणमप्रमाणं वा न पुनरुपमानमेव । यथौ एतस्मात् पूर्वं पश्चिममुत्तरं दक्षिणं  
वा ग्रामार्धानकमेतन्नामकमित्याहितसंस्कारस्य पुनस्तद्दर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः ।  
कक्षायं निश्चयः संज्ञासंज्ञिसम्प्रतिपत्तिसाधनमेव समचेऽर्थे प्रमाणान्तरं न पुनः  
संख्यादिप्रतिपत्तिसाधनमिति ?

प्रत्यक्षश्च तदर्थान्तरश्च तस्य अपेक्षा रस्यां सा तथोक्ता । कासौ ? इत्याह—

सम्यन्धप्रतिपत्त्वाच्यवाचकयोः यः सम्यन्धः तस्य प्रतिपत्तिः  
कारिकार्थः—

यतः यस्मात् 'जायते' इत्याद्याहारः, तत्प्रमाणम् । तदनभ्युपगमे  
दूषणमाह—'न चेत्' इत्यादि । न चेत् प्रमाणं सर्वं मीमांसक-नैयायिकफलितम्  
उपमानम् कृतः ? न कृतश्चित् प्रमाणमिति सम्यन्धः तथा तेन तदप्रमाणप्रकारेण ।

(१) मीमांसका हि सादृश्यज्ञानमुपमानवचयन्ति अतस्तेषामुपमानं न शब्दान्मकम् । (२)  
नैयायिकान् सज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमानं वर्णयन्ति अतस्तेषामभिप्रायेण तच्छाब्दबोधात्मकं भवति ।  
(३) सूत्रकार—आ० टि० । अकलङ्कदेव । (४) "यतो यस्माज्ज्ञानाद् भवति । का ? सम्बन्धप्रतिपत्तौ  
सम्बन्धस्य वाच्यवाचकभावस्य प्रतिपत्तौ ज्ञप्तिः । किं विधिपिष्टा ? प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा, प्रवृत्तात् शब्दल-  
क्षणादर्शान्वयोऽर्थाऽर्थान्तरं प्रत्यक्षं च तदर्थान्तरञ्च प्रत्यक्षार्थान्तरं वृक्षादि तत्तथोक्तम्, तस्यापेक्षा यस्या  
सा प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा । तज्ज्ञानं चेद् यदि न प्रमाणं स्यात्तदा तर्हि सर्वं नैयायिकमीमांसकादिकल्पितमुप-  
मानं कुतः प्रमाणं स्यादविशेषात् । न हि सादृश्यसम्बन्धज्ञानं प्रमाणं न पुनर्वाच्यवाचकसम्बन्धज्ञानमिति  
विरोधोऽस्ति । तत् सज्ञासंज्ञिसङ्गुलनमपि प्रमाणान्तरमेव भविष्यतीति कुतः प्रमाणसंख्यानियमः ?"—  
लघो० ता० पृ० ४० । (५) तुलना—"तथा अस्मात्पूर्वमिदं पश्चाद्दीर्घं ह्रस्वमिदं महत् । इत्येवमा-  
दिविज्ञाने प्रमाऽनिष्टा प्रमज्यते ॥"—तत्त्वस० पृ० ४५० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४२ । (६) उप-  
मानम्—आ० टि० ।

१ असादृश्यामीमां—व० । २ सादृश्यं च व० । ३ इतरथा गव—आ०, व० । ४ हानोपेक्षा  
फल आ०, व० । ५ धानकं ये तन्ना—ई० वि० । ६ सज्ञासंज्ञि—ज० वि० । ७ यस्या सा य० ।  
८ स्माज्ज्ञायते य० । ९—लिप्तं कृतं, व०, आ० ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘आगम’ इत्यादि । यो यस्य अविसंवादकः पुरुषः स तस्य  
 आप्तः तस्य वचनम् आगमः तेन आहितः संस्कारो यस्य तदर्थदर्शिन  
 विवृतिन्यायान्— आगमार्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः आगमार्थाभिधानप्रतिपत्तिः साक-  
 ल्येन अनवयवेन या काचित् तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः सा प्रमाणमप्रमाणं वा ?  
 ‘स्यात्’ इत्याध्याहारः । यदि प्रमाणम्; प्रमाणसंख्याव्याघातः । अथ अप्रमाणम्, ■  
 तर्हि उपमानमप्यप्रमाणं स्यादविशेषात्, अतः स एव तत्संख्याव्याघातः । ननु तस्य  
 तत्प्रतिपत्तिरूपमात्रमेव तच्च प्रमाणमिष्टमेव इत्युक्तदोषानवकाश इत्याशङ्क्याह—‘न पुनः’  
 इत्यादि । न पुनः नैव उपमानमेव तत्प्रतिपत्तिरित्यनुवर्तते । किन्तु ततोऽन्यापि विद्यते  
 इत्यभिप्रायः । अत्रोदाहरणमाह—‘यथा’ इत्यादि । ‘यथा’ इत्युदाहरणप्रदर्शने, एतस्मा-  
 न्नगरादेः पूर्वं पश्चिममुत्तरं दक्षिणं वा ग्रामधानकं ग्रामविशेषस्येयं सञ्ज्ञा एतन्ना- 10  
 मकं एतदनिर्दिष्टं नाम यस्य तत्तथोक्तम् इत्येवमाहितसंस्कारस्य पुनः पुनस्तद्दर्शिनो  
 यत् तत् ‘एतस्मात्’ इत्यनेन ‘ग्रामधानकम्’ इत्यनेन चोक्तम् तत्पश्यतीत्येवशीलस्य  
 तन्नामप्रतिपत्तिः ग्रामधानरूपाप्रतिपत्तिः । चरान्दोऽत्र द्रष्टव्यः । ‘एतस्मात्’ इत्यनेन  
 अपेक्षं प्रत्यक्षार्थान्तरमुक्तम् ‘पूर्वम्’ इत्यादिनां तु तदपेक्षं ग्रामधानकम् । अत एवाऽस्य  
 विशेषः । भवतु ईयं प्रमाणं को दोषः इति चेत् ? अत्राह—‘कश्च’ इत्यादि । कश्च ? 15  
 न कश्चिद् अयम् परेणोच्यमानो निश्चयोऽवश्यभावः । कोऽसौ ? इत्याह—संज्ञासंज्ञि-  
 सम्प्रतिपत्तिसाधनमेव समक्षेऽर्थे प्रमाणान्तरं न पुनः संख्यादिप्रतिपत्तिसाधनमिति  
 किन्तु तदपि स्यादिति भावः । एतदेव दर्शयन्नाह—

इदमल्पं महद्दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा ।

व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥ २१ ॥

20

(१) तुलना—“रजस्तमोभ्या निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये । येषां दिवालमलं ज्ञानमव्याहृतं  
 सदा ॥ आप्ता मिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसद्यम् । सत्यं वक्ष्यन्ति ते, कस्मादसत्यं नीरजस्तमा ॥’  
 —चरक० सू० ११।१८-१९ । “आप्तं खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चित्प्रापयिष्या प्रयुक्त उप-  
 देष्टा ।”—न्यायभा० १।१।७। सांख्यका० माठर० का० ५ । युक्तिवी० पृ० ४९ । “आप्तेनोच्छिन्नदोषेण  
 सर्वज्ञेनागमेशिना । भवितव्य ”—रत्नक० श्लो० ५ । ‘यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः ततोऽपरो-  
 ज्ञाप्तः ।”—अष्टश० अष्टसह० पृ० २३६ । (२) आगमार्थदर्शिनः । (३) तन्नामप्रतिपत्तिः । (४)  
 उपमानम् । (५) नगरादि—आ० टि० । (६) प्रसिद्धसाधर्म्यायमावात—आ० टि० । (७) नामप्रति-  
 पत्तिः—आ० टि० । (८) द्वित्वादिसंख्याया अपि अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वात् प्रमाणान्तरत्वं प्रसन्निरिति भावः  
 —आ० टि० । (९) ‘साधनान्तरं प्रमाणान्तरं स्यात् । किम् ? विकल्पो निश्चयः । तस्योल्लेखमाह—  
 इदमस्मादल्पम्, इदमस्मान्महत्, इदमस्मादासन्नम्, इदमस्मात्प्राणं दीर्घञ्च, इदमस्मात् प्राशु इति ।  
 वाच्यं परस्परसमुच्चये । कस्मिन् ? समक्षे प्रत्यक्षे पदार्थे । कुत ? व्यपेक्षातः, विरुद्धस्य प्रतिपक्ष-  
 स्यापेक्षा वयञ्चिदजहद्वृत्तिं तत इति । एवम् अल्पमहत्त्वादिसङ्कलनमपि परप्रमाणसंख्यानियमं विघट-



विद्युतिः—दृष्टेष्वर्थेषु परस्परव्यपेक्षालक्षणम् अल्पमहत्त्वादिज्ञानमधरोत्तरादि-  
ज्ञानं द्वित्वादिसंख्याज्ञानमन्यच्च प्रमाणमविसंवाकत्वादुपमानवत् । अर्थापत्तिः  
'अनुमानात् + प्रमाणान्तरं न वा' इति किन्नरिचिन्तया सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात् ।  
तत्समजसं प्रत्यक्षं परोक्षञ्चेति द्वे एव प्रमाणे अन्यथा तत्संख्यानावस्थानात् ।

विकल्पशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, इदमल्पमिति विकल्पः, इदं  
महदिति विकल्पः, इदं दूरमिति विकल्पः, इदमासन्नमिति  
विकल्पः, इदं प्रांशु इति विकल्पः, तथा अल्पं नेति विकल्पः

महश्चेति, दूरं नेति, आसन्नं नेति, प्रांशु नेति । वाशब्दः पक्षान्तरसूचकः ।  
कुतोऽसौ विकल्पो जायते ? इत्याह—'व्यपेक्षान्तः' इति । आमलकापेक्षया वित्त्यं

महत् देवदत्तसमीपकूपापेक्षया पर्वतादिकं दूरम्, एषमन्यत्रापि योज्यम् । इदमल्प-  
मित्यादिग्रहणमुपलक्षणम्, तेन अधरोत्तरादिविकल्पस्य द्वित्वादिविकल्पस्य च ग्रहणम् ।  
कासौ जायते ? इत्याह—समक्षेऽर्थे । स किम् ? इत्याह—साधनान्तरं प्रमाणान्तरम् ।

कारिकां विद्युण्वन्नाह—'दृष्टेषु' इत्यादि । दृष्टेषु प्रत्यक्षेषु अर्थेषु परस्परम् अन्योन्यं

व्यपेक्षालक्षणं यस्य तत्तथोक्तम् । किं तत् ? अल्पमहत्त्वादिज्ञानम्,  
आदिशब्देन दूरादि गृह्यते । तथा अधरोत्तरादिज्ञानम् अत्रापि

आदिशब्देन मर्यादाज्ञानपरिग्रहः । द्वित्वादिसंख्याज्ञानम्, इहापि आदिशब्देन  
त्रित्वादिसंख्याज्ञानपरिग्रहः । अन्यच्च पूर्वापरादिज्ञानम् । तत्किम् ? इत्याह—प्रमाणम् ।

यतीत्यर्थः ।—लघी० ता० पृ० ४० । तुलना—'एकविपाणी सङ्ग मत्तपणो विपमञ्जव इत्याहित-  
सस्काराणां पुनस्तत्प्रत्यक्षदर्शनामभिज्ञानं किञ्चाम प्रमाणं स्यात् ? तथा स्यादिलक्षणध्वनात् तथादर्शनं  
समभिज्ञानं सख्यादिप्रतिपत्तिश्च पूर्वापरनिरीक्षणान् पश्यताञ्च नामयोजना उपमानवत् सर्वं प्रमाणान्त-  
रम् ।'—सिद्धिचि०, टी० पृ० १५० B । परोक्षामु० ३५-१० । प्रमाणनय० ३५-६ । प्रमाणमी० १ । २ । ४ ।  
उद्घोषोऽयं श्लोकः—'समक्षार्थे'—स्या० २० पृ० ४९८ । प्रमेयर० ३५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

(१) तुलना—'तेषां द्वयादिसंख्याज्ञानं प्रमाणान्तरम्, यथितज्ञसंख्यावाक्याहितसस्कारस्य  
प्रतिपाद्यस्य पुनर्द्वयादिषु सख्याविशिष्टद्रव्यदर्शनादेतानि द्वयादीनि तानेति सङ्गामाज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्ति-  
द्वयादिमर्यादाज्ञानप्रमाणफलमिति प्रतिपत्तव्यम् । तथोत्तराध्वयज्ञानं सोपानादिषु स्थविष्टज्ञानं पर्वादिषु  
महत्त्वज्ञानं स्ववशादिषु, सत्त्वज्ञानं श्रवणादिषु, वक्रज्वादिज्ञानञ्च क्वचित्प्रमाणान्तरमायातम् ।'  
—सत्त्वार्थश्लो० पृ० २४२ । (२) तुलना—'अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसम्भावान्वयि प्रमाणातीति  
केचिन्मन्यन्ते तत्त्वमनेनदिन ? अत्रोच्यते—सर्वाभ्येनानि मतिभ्रुतयोरन्तर्भूतानि इन्द्रियार्थमत्रिकर्पनिमि-  
त्तत्वात् ।'—सत्त्वार्थार्थि० भा० १ । १२ । 'उपमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावात्'—सत्त्वार्थि० १ । १२ ।  
'अर्थापत्त्यादेरनुमानव्यतिरेकेऽपि परोक्षेन्तर्भावात् ।'—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २८१ । (३) तुलना—  
'तत्त्वज्ञानं कृत्वादिमन्दुष्टो एकपादपददर्शनात् । द्वितीयशास्त्रिविज्ञानावाचोसाविति निश्चयः । प्रमाणा-  
न्तरमासन्नं सादृश्याद्यनपेक्षणात् ।'—सत्त्वस० पृ० ४५० ।

१ परस्पर व्य-ई० वि० । २ अल्पमहत्त्वादि-ई० वि० । † एतन्वर्तनः पाठो नास्ति ई०  
वि० । ॥ जात व० । ४ दृष्टेवादि व० । ॥ इत्यत्राह व०, य० ।

कुत ? अविसंवादकत्वात् । किमिव ? इत्याह—उपमानादिति । एव नैयायिकमीमा-  
सकयो प्रमाणान्तरसम्प्लव तदभिमतप्रमाणसख्यानिर्यमनाशक निरूप्य इदानीं मीमांसका-  
भिताऽर्थापत्तिं निचिन्तयन्नाह—‘अर्थापत्तिः’ इत्यादि । याऽमौ—

“प्रमाणपटुविज्ञातो यत्रार्थोऽनन्यव्यामवन् ।

ग्रहणं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृतौ ॥” [मी० श्लो० अर्था० श्लो० १] ६

इत्येतल्लक्षणलक्षिता मीमांसकैः परिकल्पितार्थापत्तिं सा ‘अनुमानात् प्रमाणान्तरं  
नंवा’ इति किञ्चिदचिन्तया ? अयमभिप्रायः—अर्थापत्त्युत्थापकार्थस्य साध्याभावे नियमे-  
नाऽनुपपद्यमानस्य अविनाशान्तरभावलिङ्गलक्षणलक्षितत्वात् लिङ्गत्वमेवोपपन्नम् ।  
तत्प्रभञ्जं ज्ञानमनुमानमेवेति । अतः—

“प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह ।

10

अर्थापत्तिरभावश्च पटुप्रमाणानि जैमिनि ॥” [षष्ठ० समु० श्लो० ७२ (?) ]

इति कुमारिलस्य वदतः प्रमाणमर्थव्याघातः, प्रमाकरस्य च अभावः प्रत्यक्षविशेषं वदतः  
‘पञ्च प्रमाणानि’ इति ।

ननु चार्थापत्तेः स्वरूपादिभेदात् प्रत्यक्षादिभ्यो भेदप्रसिद्धे कथं प्रमाणसख्याव्या-

घातः ? तथा च प्रयोगः—अर्थापत्तिः प्रत्यक्षादिभ्यः प्रमाणान्तरम्, 15  
अर्थापत्तिः अनुमा-  
नादतिरिक्तं प्रमाणमि-  
ति वदता मीमांसक-  
स्य पूर्वपक्षः—  
विभिन्नस्वरूपत्वात्, यद्यतो विभिन्नस्वरूपं तत्तत् प्रमाणान्तरं यथा  
प्रत्यक्षादनुमानम्, प्रत्यक्षादिभ्यो विभिन्नस्वरूपा चार्थापत्तिरिति । न च  
विभिन्नस्वरूपमसिद्धम्, तथाहि—तस्या स्वरूपभेदो दृष्टः श्रुतो वाऽ

(१) एकत्र प्रमेयं बहुधा प्रमाणानां प्रवृत्तिः सम्प्लव । (२) व्याख्या—‘यत्र देशकालादौ प्रत्य-  
क्षानुमानोपमानासाध्यापत्त्यभावलक्षणं षडभिः प्रमाणैः परिच्छिद्यते’—‘अर्थापत्तिरिति’—‘तत्त्वसं-  
५० पृ० ४५६ । (३) उद्धृतोऽयम्—नायथा भवेत्—मी० श्लो० । प्रज्ञा० श्रुत्यो० पृ० ५९० । तत्त्व-  
श्लो० पृ० २१६ । समति० टी० पृ० ५७८ । कल्पयय—तत्त्वसं० पृ० ४५६ । समति० टी०  
पृ० ५७८ । प्रकृतपाठः—प्रमेयकं पृ० १८७ । स्या० २० पृ० २७६ । रत्नाकराव० २।१ । (४)  
पीनत्वस्य—आ० टि० । (५) रात्रिभोजनाभावे—आ० टि० । (६) लिङ्गप्रभवञ्च । (७) तुलना—  
प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च षडते साध्यसाधका ।—तत्त्वसं० पृ०  
५० ४५० । (८) अर्थापत्तिरनुमानान्तर्भावात् पञ्चमस्यापत्ति—आ० टि० । (९) तत्र पञ्चविध-  
मानं प्रत्यक्षमनुमानं तथा । शास्त्रं तथोपमानावपत्तिरिति गुरोमतम् ॥—प्रक० पृ० पृ० १२७ । (१०)  
प्रमाणमख्याव्याघातः इति सम्भवः तस्य चत्वारि [ एव स्युः ]—आ० टि० । (११) अर्थापत्तिरपि  
दृष्टः श्रुतो वाच्यो मया नोपपद्यते इत्ययव्यपना यथा जीवति देवदत्तं गृहमावदन्नेन बहिर्भावि-  
दृष्टस्य कल्पना ।—शाबरभा० १।१।५ । विना कल्पनाऽर्थेन दृष्टेनानुपपत्तात् । नयना दृष्टमर्थं  
सार्थापत्तिस्तु कल्पना ॥ दृष्टनार्थेन दृष्टस्यावस्यार्थान्तरकल्पनायामसत्यामनुपपत्तिमापादयता साध्यान्त

१ इत्यत्राह व० पृ० । २—नियमविना—थ० । ३—सकपरिकल्प—व० । ४ न चेदिति व० न

वेति थ० । ५ प्रत्यक्षादिविशेष व०, थ० ।

थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यदृष्टार्थकल्पना । तत्र दृष्टे प्रत्यक्षादिभिः पञ्चभिः प्रमाणैरुप-  
लब्ध, श्रुत लौकिकाद् वैदिकाद्वा धाम्यान्वगत तस्मादनुपपद्यमानाद् या अर्थान्तर-  
कल्पना सा अर्थापत्तिः । सा च पट्प्रकारा भवति प्रत्यक्षादिनिमित्तभेदात् । तत्र प्रत्य-  
क्षप्रतिपन्नद्वारायकार्यान्यथानुपपत्त्या बहेदादशक्तिरूपना प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्तिः ।  
देशान्तरप्राप्तेर्लिङ्गादनुमिताऽऽदित्यगत्यन्यथानुपपत्त्या आदित्ये गमनशक्तिरूपना अनु-  
मानपूर्विका । तथा उपमानज्ञानावगतगययसौरूप्यविशिष्टगोपिण्डायथानुपपत्त्या तस्यै-  
तज्ज्ञानप्राप्त्यशक्तिरूपना उपमानपूर्विका ।

सा एता अर्थापत्ताय प्रमाणान्तरम् अतीन्द्रियशक्तिविषयत्वात् । न खलु शक्तय-  
प्रत्यक्षपरिच्छेद्या अतीन्द्रियत्वात् । नाप्यनुमानपरिच्छेद्या, प्रत्यक्षाधिपये अनुमान-  
स्याऽप्रवृत्तेर्तत्पूर्वकत्वात्तस्य । प्रत्यक्षेण हि प्रतिपन्ने प्रतिबन्धे अनुमान प्रार्थते । न  
च शक्तेरतीन्द्रियत्वेन अध्यक्षागोचरत्वे तत् केनचिद्विज्ञेन सह अस्या प्रतिबन्धप्रतिप-  
त्तिर्युक्ता । नाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तैः प्रतिपत्तिः, प्रत्यक्षाधिपये तैः प्रवृत्तेरेयाऽसम्भवात् ।  
नाप्यनुमानात् प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः तद्वि इदमेव, अन्यद्वा तत्प्रतिपत्तौ प्रयतेत ? न ताव-  
दिदमेव, चक्ररूपसङ्घात—सति हि प्रतिबन्धग्रहणे अनुमानप्रवृत्तिः, तद्ग्रहणञ्च शक्तिप्रति-

रूपकत्वात् साऽर्थापत्तिः । —प्रक० प० प० ११३ । प्रमितस्यायस्य अर्थान्तरेण विनाऽनुपपत्तिमालोच्य  
तदुपपत्तय याऽर्थान्तरकल्पना साऽर्थापत्तिः । —नास्त्रदी० प० २९० । नयवि० पृ० १५२ । तत्रग्रह०  
पृ० १६ । प्रभाकरवि० पृ० ५६ ।

(१) दृष्ट पञ्चभिरप्यस्माद भवनाक्ता श्रुतोन्मवा । प्रमाणप्राहिणीत्वेन यस्मात्पुत्रविल-  
क्षणा ॥ —मी० श्लो० अर्था० श्लो० २१ । दृष्टग्रहणेन यद्यप्युपलब्धमात्रमभ्यते तथापि श्रुतगणसन्निधानान्  
गोबलीवन्मायन शब्दप्रमितव्यतिरिक्तमभ्यते । —ग्रह० प० पृ० ११७ । मी० श्लो० यावर० पृ० ४५० ।  
(२) स्कोट—आ० टि० । (३) सादस्य । (४) सारूप्यविशिष्टगोपिण्डस्य—आ० टि० । (५) उपमा-  
नज्ञान । (६) शक्तयोऽपि च भावानां कार्यार्थापत्तिकर्तृता । प्रसिद्धा पारमार्थिक्य प्रतिपाद्य व्य-  
स्थिता । —मी० श्लो० ११५० श्लो० २५४ । तनार्थापत्तिपूर्वकमत्र यत्र च कारण । कार्याद्विगतं  
शक्तेरस्तिव सम्प्रतीयते । कायस्य ननु लिङ्गत्व न सम्बन्धानपेक्षणात् । दृष्टत्वा सम्बन्धिता यथा  
शक्तिगम्यत नायथा । तद्दशन तदानीं च प्रत्यक्षान्तरसम्भवात् । अर्थापत्त प्रमाणत्वं त्रलक्षण्याद्विना  
भवेत् । शक्तिरूपनाप्यर्थापत्तिरेवेत्याह यत्रति । बोदयति कायस्यति । कारणवत्तया शक्ति कल्प्यते  
कार्यान्व कारणबुद्धिरनुमानमिति । निराकरोति वेति । कारणमाह सम्बन्धति । बीज सत्यद्विरोत्य  
सिद्धानाद बीजकारणत्वमवगम्यते सत्यपि तस्मिन् मृपिकापाते अङ्कुरानुत्पत्तरकारणत्वं तदिद कारणं  
कारणत्वं यापातपरिग्रहीयया शक्तिरूपनम् सम्बन्धज्ञानानपेक्षत्वाज्ज्ञानानुमानम् इत्येव नानुमान-  
मियाह—दृष्टवेति साद्वेन । सम्बन्धग्रहणपूर्वक हि सम्बन्धग्रहणम् न च शक्ते प्रत्यक्षग्रहण सम्भवति  
अतोऽयस्य सम्बन्धग्रहणवेलाया शक्तिग्रहणमभ्युपगन्तव्यम् । अर्थापत्तिर्हि त्रलक्षण्याविज्ञता शक्नोति ता-  
ग्रहीतुमिति । —मी० श्लो० अर्था० यावर० पृ० ४६२ ६३ । नास्त्रदी० पृ० ३०९ । (७) प्रत्यक्ष-  
पूर्वकत्वात् । (८) अनुमानस्य । (९) अविनाभावे—आ० टि० । (१०) प्रत्यक्षात्—आ० टि० ।  
(११) अविनाभाव । (१२) अवयव्यतिरेक ।

पत्तौ, तत्प्रतिपत्तिश्चानुमानप्रवृत्तौ, तत्प्रतिपत्ति (तत्प्रवृत्ति)श्च प्रतिबन्धग्रहणे इति । अथान्यतोऽनुमानात्तत्प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः; ननु तदपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तौ सत्यां प्रवर्तते, तत्र च प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः प्रथमानुमानात्, तदन्तराद्वा स्यात् ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रय-  
सिद्धे हि द्वितीयानुमाने ततः प्रसिद्धप्रतिबन्धाल्लिङ्गात् प्रथमानुमानसिद्धिः, तत्सिद्धौ च  
अतः प्रसिद्धप्रतिबन्धाल्लिङ्गाद् द्वितीयानुमानसिद्धिरिति । द्वितीयपक्षे त्वनवस्था-अनु- 5  
मानान्तरेऽपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तेः अनुमानान्तरादेव प्रसिद्धेः । नहि तत् प्रतिबन्धप्रतिपत्तिं  
विना स्वसाध्यसिद्धये प्रभवति । शब्दोपमानयोस्तु शक्तिप्रतिपत्तौ संभावनैव नास्ति,  
शब्दसादृश्याभ्यां विनैव तत्प्रतिपत्तिप्रतीतिः । अतः अर्थापत्तेरेव शक्तिविषयत्वं युक्तम् ।

तथा शब्दसाधनार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य वाचकशक्तिमवगम्य तदन्य-  
थानुपपत्त्या तस्यै नित्यत्वकल्पना अर्थापत्तिपूर्विकाऽर्थापत्तिः । 10

'पीनो देवदत्तो दिवा न मुह्यते' इति वाक्यश्रवणात् रात्रौ भोजनकल्पना  
श्रुतार्थापत्तिः । नहीद श्रूयमाणं वाक्यमेव तत्प्रतिपत्तिनिवन्धनम्; पीनादिपदानां  
स्वार्थप्रतिपादनपरत्वात् रात्रिभोजनलक्षणाथप्रतिपादनसामर्थ्यानुपपत्तेः । अथ पदसमु-  
दायात् तत्प्रतिपत्तिः; तन्न; अस्य अन्यार्थप्रतिपादनपरत्वात् । श्रूयमाणेन हि पदसमु-  
दायेन देवदत्तस्य पीनस्य रसायनाद्यभावे दिवाभोजननिषेध एव प्रतिपाद्यते न तु रात्रि- 15

(१) प्रथमानुमानात् । (२) अनुमानान्तरम् । (३) शक्तिप्रतिपत्तेः । (४) वाचकशक्त्यन्य-  
थानुपपत्त्या । (५) शब्दस्य । (६) "वचनस्य श्रुतस्यैव सोऽप्यर्थः वैशिष्ट्यादिति । तदर्थोपप्लुतत्वाच्चैरिष्टो-  
वाक्यान्तरस्य तु । न तावद्व्युत्पत्तयः वचसोऽप्यभिधीयते । न ह्यनेकार्थता युक्ता वाक्ये वाचकता तथा ।  
पदार्थान्वयरूपेण वाक्यार्थो हि प्रतीयते । न रात्र्यादिपदार्थैव दिवावाक्येन गम्यते । न दिवादिपदा-  
र्थानां संसर्गो रात्रिभोजनम् । न भेदो येन तद्वाक्यं तस्य स्यात् प्रतिपादकम् । अन्यायव्यापृतवाच्यं न  
द्वितीयार्थकल्पना । तस्माद्वाक्यान्तरेणैव नुद्धित्वेन प्रतीयते । प्रमाणं तस्य वस्तव्यं प्रत्यक्षादिषु यद्भवति ।  
न ह्यनुच्चारिते वाक्ये प्रत्यक्षं तावद्विध्यते । नानुमानं न चेद हि दृष्टं तेन सह क्वचित् । यदि त्वनुप-  
लब्धेऽपि सम्बन्धे लिङ्गतेष्यते । तदुच्चारणमात्रेण सर्ववाक्यमिति भवेत् । श्रुतस्यैव शब्दस्य तत्प्रतिपाद-  
कत्वं केचित्कल्पयन्ति, अन्ये तु शब्दान्तरमेव तत्प्रतिपादकमिति, तत्रानन्तरपक्षं निराकरोति न तावदिति ।  
कारणमाह-न हीति । किञ्च यदि वाक्यं वाचकं स्यात् स्यादप्यनेकार्थता न तु वाक्यं वाचकमित्याह  
वाचकतेति । कथं तर्हि वाक्यार्थप्रतीतिरित्यह-नवाच्येति । किमिति रात्रिभोजनं दिवावाक्यस्यार्थो न  
भवत्यत आह-न रात्रौति । न हि रात्र्यादिपदार्था दिवावाक्यपदैरभिधीयन्ते, ते कथमग्नितत्त्वतया  
तद्वाक्यार्थमवैय्युरिति । यद्यपदार्थोऽपि रात्रिभोजनं दिवादिपदानां संसर्गो भेदो वा स्यात्ततोऽपि तस्यैव  
वाक्यस्यार्थं स्यात् न तु तदस्तीत्याह न विवेति । यद्यपि चानेकार्थता, तथापि एकस्मिन् प्रयोगे व्यापृ-  
तस्य नार्यान्तरं सम्भवतीत्याह-अन्यार्थेति । तस्माद्वाक्यान्तरस्यैव कल्पितस्यायमर्थो न तु श्रुतस्येत्याह  
तस्मादिति । तस्य वाक्यस्य किं प्रमाणमिति विचारणीयमित्याह-तस्येति । यच्च तदर्थान्तरं तदा  
यद्यपि वाक्यार्थत्वादागमिकं न निष्प्रमाणकं तथापि तदेव वाक्यं किं प्रमाणकमिति चिन्त्यमिति ।  
तत्रार्थापत्तिरेव प्रमाणमिति वक्तुं पूर्वोपातावदसम्भव दर्शयितुमाह न हीति ।"-भो० श्लो० अर्था०,  
न्यायप्र० पृ० ४६४-६५ । (७) दिवा न मुह्यते इति निषेधार्थप्रतिपादनपरत्वात् ।

भोजनविधि, विधिप्रतिषेधयो परस्परपरिहारस्थितिरक्षणविरोधतो मिथ मसर्गा  
भावात् । न चानेनितस्य पदार्थसमुदायस्य वाक्यार्थता इप्रेष्टा वा, प्रतीतिविरोधात् ।  
नापि तथैविधे पदसमुदाये अभिधायी तात्पर्यशक्तिर्वाऽस्तीति । अत अर्थापत्तिर  
एव रात्रिभोजनलक्षणोऽर्थ प्रतीयते इति प्रमाणान्तरं श्रुतार्थापत्तिरिति मिद्धा । तदुक्तम्—  
तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञातादाहाद् दहनशैचिता । बह्वेनुमितात् मूर्धे यानात्तच्छ्रित्योगिता ॥  
गवैयोपमिताया गास्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तिता । अभिधानप्रसिद्धयर्थमर्थावस्थाऽनयोधितात् ॥  
शब्दे वाचकसामर्थ्यात् तन्नित्यत्वप्रमयता । अभिधा नान्यथा सिद्धेरिति वाचनशैचिता ॥  
अर्थापत्त्यावगम्येव तदन्यत्व (दनन्य) गत पुन । अर्थापत्त्य तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चय ॥  
दर्शनस्य परार्थत्वादित्यस्मिन्नेभिधास्यत ।” [ भी० श्लो० अर्था० श्लो० ३-७ ]  
10 “पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवच श्रुतौ । रात्रिभोजनविज्ञान श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥”  
[ भी० श्लो० अर्था० श्लो० ५१ ] इति ।

अभावाधार्थापत्तेस्तु लक्षणम्—

“प्रमाणामावनिर्णीतचैनाभावाविशेषितात् । गेहाद्यैवप्रहिर्भाससिद्धिर्या त्विह दैर्दिशता ॥  
तामभावोरिथतामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत् ।” [ भी० श्लो० अर्था० श्लो० ८-९ ] इति ।

(१) मा भूत्सग को दोष न्याह—आ० टि० । (२) सप्तसरहितस्य । (३) अयायप्रति  
पादनत्परे । (४) साक्षात् गविन । (५) लक्षणा । (६) गमनगविन—आ० टि० । ज्ञानादा  
हादहनशक्तता । बह्वेनुमिता मूर्धे यानात्तच्छ्रित्योगिता ॥ —भी० श्लो० । स्या० १० पृ० २७८ ।  
उद्धनोऽयम—तत्त्वस० पृ० ४५७ । प्रमेयक० पृ० १८८ । समति० टी० पृ० ५७९ । (७) गवयो  
पमिता या गोस्तज्ज्ञानग्राह्यता मता —भी० श्लो० । ग्राह्यशक्तता —स्या० १० पृ० २७८ । उद्धतोऽ  
यम—प्रमेयक० पृ० १८८ । समति० टी० पृ० ५७९ । तुलना— गवयोपमिता या गोस्तज्ज्ञानग्रा  
ह्यशक्तता । उपमाकलमभूतसामर्थ्येन प्रतीयते ॥ —तत्त्वस० पृ० ४५९ । (८) गच्छ बोधकसामर्थ्या  
त्तन्नित्य वप्रकल्पनम् —भी० श्लो० । (९) तस्य गव्यस्य नित्यत्वेन प्रमेयव परिच्छिद्यत्वम्—आ० टि० ।  
उद्धनोऽयम्—प्रमेयक० पृ० १८८ । समति० टी० पृ० ५७९ । स्या० १० पृ० २७८ । (१०)  
अभिधा नायथा सिद्धयदिति वाचकशक्तताम् । अर्थापत्त्यावगम्येव तदनयगते पुन ॥ —भी०  
श्लो० । अर्थापत्त्यावगम्यव —तत्त्वस० पृ० ४५९ । वाचकशक्तता । अर्थापत्त्यावगम्यव  
—स्या० १० पृ० २७८ । प्रकृतपाठ—प्रमेयक० पृ० १८८ । अभिधानमभिधा अप्रतिपादनमिति  
भावत् । सा शब्दस्य अयथा—वाचकशक्त्या विना न सिद्धयन्त्यिव बोधकशक्तताम् अवगम्य बुद्ध्या  
तदनयगते तस्या बोधकशक्तेर्या गतिनास्ति गच्छनित्यत्वमन्तरेणति । पुनरर्थापत्त्यतरेणव शब्दस्य  
नित्यत्वनिश्चय । —तत्त्वस० पृ० ४५९ । (११) एवया अर्थापत्त्या वाचकशक्तमवगम्य अन्यथा  
गव्यस्य नित्यत्व निश्चिनुयात् प्रमाता आ० टि० । (१२) मीमांसासत्र । (१३) शब्दापत्तिरुच्यते  
—स्या० १० पृ० २७८ । उद्धनोऽयम तत्त्वस० पृ० ४५७ । प्रमेयक० पृ० १८८ । समति० टी० पृ०  
५७९ । (१४) वर्णिता—तत्त्वस० पृ० ४६० । उद्धनोऽयम—प्रमेयक० पृ० १८९ । समति० टी०  
पृ० ५७९ । स्या० १० पृ० २७८ । व्याख्या— प्रत्यगाद प्रमाणस्याभावेन निवृत्त्या निर्णीतो निश्चितो  
यश्चत्राभाव तेन विशिषिताद् गेहात् इह गते चत्रो नास्तीयत् चत्रस्य जीवन सति या बहिर्भावसिद्धि

1 तथैविधपद—अ० । 2-शक्तता ब० । 3-त्वाविबोधि—आ० ब० । 4-शक्तता ब०

अ० । ० श्रुते ब० ।

जीवतो हि चैत्रस्य गृहेऽभावमवगम्य तदन्यथानुपपत्त्या बहिर्भावकल्पना अभाव-  
पूर्विका अर्थापत्तिः । अथ दृष्टेन अदृष्टसिद्धेः अनुमानमेवेयमित्युच्यते; तन्न; तत्सा-  
म्यभावात् । पक्षधर्मतादिसामग्र्या हि यद्विज्ञानं जन्यते तदनुमानं प्रसिद्धम्, सां  
चेह नास्ति । तथैहि—बहिर्भावविशिष्टे चैत्रे चैत्रविशिष्टे वा बहिर्भावे अनुमेये कस्य  
हेतुत्वम्—किं गृहाभावविशिष्टस्य चैत्रस्य, चैत्राभावविशिष्टस्य वा गृहस्य, गृहे चैत्रा-  
भावस्य वा, गृहे चैत्रादर्शनस्य वा ? तत्र नैतेषां मध्ये अन्यतमोऽपि हेतुर्घटते, पक्ष-  
धर्मत्वाभावात् । नखेते चैत्रधर्माः तद्वहिर्भावधर्मा वा ।

किञ्च, प्रमेयानुप्रवेशप्रसङ्गात् नेयमनुमानम्; तथाहि—आगमावगतजीवनस्य

बहिर्भावो विद्यते इत्येव निश्चयरूपा, इह भाष्ये वर्णिता शबरस्वामिना, तदन्यासामर्थपत्तीनामुपलक्ष-  
णार्थमुदाहृतेति यावत् । यथा जीवनि देवदत्ते गृहेऽवर्जनं बहिर्भावस्य अदृष्टस्य कल्पनेति ।—  
तत्त्वसं० पृ० पृ० ४६० ।

(१) पक्षधर्मतादिसामग्री । (२) “पक्षधर्मोपपन्नत्वाद् भिन्नैवाप्यनुमानं । बहिर्देशविशि-  
ष्टेऽर्थे देशे वा तद्विशेषिते । प्रमेये यो गृहाभावः पक्षधर्मस्त्वसौ कस्यम् ॥ तदभावविशिष्टं तु गृहं धर्मो न  
कस्यचित् । गृहाभावविशिष्टस्तु तदानीं न प्रतीयते ॥ गम्यते तु गृहं तत्र न च चैत्रं प्रतीयते । न  
चात्रादर्शनं हेतुर्पक्षाऽभावेऽभिधास्यते ॥ तेन चेन्मन्यदृष्टत्वादिति हेतुर्न कस्यते । अदर्शनादभावे च  
प्रमेयस्यावधारिते ॥ बहिर्भावमतिर्नाशो तेनादर्शनहेतुका । चैत्राभावस्य हेतुत्वं गृहेऽभावश्च सस्यते ॥  
पक्षधर्मत्व तावन्निराकरोति बहिर्दिति । गृहगतो ह्यभावो न देवदत्तस्य बहिर्देशस्य वा धर्मः, अभाव-  
विशिष्टं तु गृहं न कस्यचिद्धर्म इत्याह गृहाभावेति । असौ देवदत्तो बहिर्देशो वेति । कयमित्याह गम्यते  
इति । चैत्रग्रहणमुपलक्षणम्, गृहमेव गम्यते न चैत्रो बहिर्देशो वा । न चातवगतस्य धर्मावगतिः सम्भ-  
वीति । यदि तु चैत्रादर्शनं हेतुरित्युच्यते अत आह न वेति । यथा ह्यभावेऽनुमेये लिङ्गत्वमभावस्य न  
सम्भवति तथाऽत्रापि पक्षधर्मत्वाभावादेव । इतश्च नादर्शनस्य हेतुत्वमित्याह—अदर्शनादिति ।  
अदर्शनादभावेऽङ्गते पश्चादुपजायमाना बहिर्भावमतिर्नाशो न निमित्ता भवितुमर्हतीति नाभावस्य लिङ्गत्व  
न च तस्य पक्षधर्मता इत्याह चैत्राभावस्येति ।”—मी० श्लो०, व्याख० पृ० ४५४-५५ । तुलना-  
व्याख० पृ० ३७ । (३) प्रथमहेतुद्वयापेक्षा—आ० टि० । (४) द्वितीयहेतुद्वयापेक्षा—आ० टि०  
(५) प्रमेयस्य साध्यस्य हेतुग्रहणत्वात् एव अनुप्रवेशं ज्ञानम् । ‘जीवतश्च गृहाभावः पक्षधर्मोऽन-  
वगम्यते । तत्सर्वविशिर्बहिर्भावः न चाबुद्ध्युपजायते ॥ अग्निमत्तानपेक्षा तु धूमवत्ता प्रतीयते । न तद्व-  
ह्णवेलायामगम्यधीर्न हि किञ्चन ॥ गृहाभावस्तु यं शुद्धो विद्यमानत्ववर्जितः । स मृतेष्वपि दृष्टत्वाद्-  
हिवृत्तेर्न साधकः ॥ विद्यमानत्वसमृद्धगृहाभावविधायिना । गृहादुत्कलित्रचैत्रो विद्यते बहिरेव हि ॥  
गृहाभावत्वमात्रं तु यत्स्वतन्त्रं प्रतीयते । न तावता बहिर्भावश्चैत्रस्यैवावधार्यते ॥ सिद्धे सद्भावविज्ञाने  
गृहाभावविधायिना तु । गृहादुत्कलिता सत्ता बहिरेवावतिष्ठते ॥ तेनास्य निरपेक्षस्य व्यभिचारी मृतादिना ।  
यस्य त्वव्यभिचारित्वं न ततोऽन्यत्प्रतीयते ॥ तस्मात् प्रत्यक्षतो गृहे चैत्राभावे ह्यभावः । ज्ञाते यत्स-  
त्त्वविज्ञानं तदेवेदं बहिर् स्थितम् ॥ पक्षधर्मात्मलाभाय बहिर्भावः प्रवेशितः । तद्विशिष्टोऽनुमेयः स्यात्  
पक्षधर्मन्वयादिभिः ॥ पक्षधर्मादिविज्ञानं बहिः सन्निधौ यदि । तैश्च तद्विषयोऽवश्यमगम्योऽगम्यश्रयता  
भवेत् । अव्ययानुपपत्तौ तु प्रमेयानुप्रवेशिता । तादृष्येणैव विज्ञानात्तदोषः प्रतिभाति न ॥ येन बहिर्भा-  
वेन विशिष्टश्चैत्रोऽनुमातव्यः, स पक्षीष्टजीवश्चैत्रधर्मतया गृहाभावस्यात्मलाभाय तत्प्रतीतिवैलाया-  
मेवानुप्रवेशित इति । तदेव सत्यपि यच्चनुमानत्वमित्येन तत्स्फुटमिदं रेतःराशयमित्याह—पक्षधर्मविवेति ।

१ जीवतोऽस्य हि श्र० २ चैत्रस्य विशिष्टे बहिर्भावे श्र० ३ ‘गृहे चैत्राभावस्य वा’ तान्नि श्र० ।

चैत्रस्य गृहाभावेन वह्निर्भावः कल्प्यते, अन्यथा मृतेन अनेकान्तः स्यात् । अभावश्च गृहीतः, सन् वह्निर्भावमवगमयति नागृहीतो धूमवत् । अभावग्रहणञ्च सदुपलम्भ-  
कप्रमाणपञ्चकाभावपूर्वकम् । इह च सदुपलम्भकमस्त्येव जीवनप्राज्ञागमाख्यं प्रमाणम्,  
सति तस्मिन् कथमभावग्रहणं प्रवर्त्तते इति ? प्रवर्त्तमानमेव एतत्सदुपलम्भकं प्रमाणं  
५ पृथग्विपर्ययमवस्थापयति । जीवनं हि अस्तित्वम्, आगमात् सामान्यतो यत्तस्य प्रतिपन्नं  
तद् गृहेऽभावं परिच्छिन्दता प्रमाणेन स्वविषयादन्यत्रै सङ्कोच्यते 'वहिरस्य भावः गृहे  
त्वभावः' इति । तेन जीयतो गृहेऽभावलक्षणसाधनप्रतिपत्तेः वह्निर्भावलक्षणसाध्य-  
प्रतिपत्तिपूर्वकत्वसिद्धेः सिद्धः प्रमेयानुप्रवेशः, अतः नेयमनुमानम् । नहि वह्निग्रहणोत्तरकालं तत्प्रति-  
१० पत्तिप्रतीतिः । ननु अर्धापत्तावपि प्रमेयानुप्रवेशो दोषः समान एव; सत्यमेव तत्;  
तथापि प्रमाणद्वयसमर्पितैक्यस्तुविषयभाषाभाष्यसमर्थनार्थं प्रवर्त्तमाना अर्धापत्तिः  
परामृशत्येष प्रमेयद्वयम्, अन्यथा तत्सङ्घटनयोगात् । अतश्च येर्यम् आगमाद-  
नियतदेशतया कचिदस्तीति संवित्तिरभूत् सैवेयं गृहाभावे गृहीते 'वहिरस्ति' इति संवित्  
संबन्धः । तदतो वैलक्षण्यात् नानुमानमर्थापत्तिः ।

१५ सम्बन्धग्रहणाभावाच्च । भावाभावौ हि न युगपद् वह्नि-धूमवद् एकत्रेन्द्रियप्रभ-  
नन्वर्थापत्तावपि तुल्योऽयं दोषः, तत्रापि हि गृहाभावमात्रं मरणेनाप्युपपन्नं न वह्निर्भाव कल्पयति,  
विद्यमानत्वमप्युपलब्धुं कल्पयेत्, स त्वनवगते वह्निर्भावे न शक्यतेऽवगन्तुम्, न चानवगतं कल्पको भवति,  
तदवगमे च प्रमेयाभावः स्यान्न आह-अन्यथेति । अन्यथानुपपत्तिरूपे प्रमाणात्तरे योज्यं विद्यमान-  
त्वसमुपलब्धे गृहाभावबुद्धावेव प्रमेयस्य वह्निर्भावस्यानुप्रवेशः स न दोषः । कस्मात् ? तादृशैर्गैव ज्ञानात् ।  
इदुपपत्तेरपि हि एतत्प्रमाणं यदर्थञ्च यस्यासत्त्वर्थान्तरे मिथ प्रतिघातेनासम्भवमालोच्य अर्थान्तर-  
कल्पनया प्रतिघातं परिहृत्य सम्भवतीत्यत एव विलक्षणसामग्रीत्वेन प्रमाणात्तरत्वं अनुपपत्तिरिति  
चावगतत्वार्यान्तरेण प्रतिघातश्चोच्यते इति ।—मी० श्लो०, व्याख्य० पृ० ४५५-७७ । शास्त्रवी०  
पृ० २९७ । तुलना-न्यायम० पृ० ३७ ।

(१) केवलं गृहाभावेन यदि वह्निर्भावः कल्प्येत । (२) जीवित्वप्राज्ञागमाख्यं प्रमाणम् ।  
(३) न हि निविषयं प्रमाणं भवति, एव च भावो गृहीतो नाभावस्तत्कथं स हेतुः, भाववद्वयापि  
साध्यत्वात्—आ० टि० । (४) चैत्रस्य । (५) अभावप्रमाणेन । (६) गृहलक्षणात् । (७) वह्निः ।  
(८) वह्निः । (९) जीवति चैत्र इति आगमाख्यं प्रमाणम्, गृहे च नास्तीत्यभावप्रमाणम्, तत्समर्थनार्थं  
वहिरस्तीत्यर्थापत्तिः प्रवर्त्तते अन्यथा प्रमाणद्वयस्य प्रवृत्तिर्न स्यात्—आ० टि० । आगमप्रमाणेन हि  
चैत्रस्य भावो विषयीकृतः अभावप्रमाणेन च तस्याभाव इति, अतः चैत्रविषयकसद्भावाभावयोः अविरो-  
धस्यापनार्थम् अर्थापत्तिः प्रवर्त्तते, सा च चैत्रो गृहे नास्ति वहिरस्ति इति प्रमेयद्वयं परामृशति (१०)  
अर्थापत्तिं विना । (११) भावाभावयोः—आ० टि० । भावाभावयोः सङ्घटनस्य अविरोधस्य अयोगात्  
अभावापत्तिः । (१२) नेयमनुमानमिति गतेन सम्बन्धः । (१३) "गृहाभाववह्निर्भावौ न च दुष्टौ नियोगतः ।  
माहित्ये तु प्रमाणञ्च तयोरन्यत्र विद्यते ॥"—मी० श्लो० अर्थाः श्लो० ३१ । तुलना-न्यायम० पृ० ३७ ।

१ सच आ०, व० । २ जीवप्राज्ञा—आ०, व० । ३ यत्तमा—य० । ४ वह्निर्भावलक्षणसाध्य—व० ।  
५ एवासत्यमेतत् व० । ॥ योज्यम् ॥ ७—ग्रहणाभावाभावाच्च अ० ।

वप्रत्यये प्रतिबद्धतया बोद्धुं शक्यौ, गृहाभावस्य हि व्याप्यत्वे बहिः सद्भावो व्यापकः, स च प्रत्यक्षेण अर्वादर्शिमि साक्षात्कर्तुमशक्य अनन्तदेशवृत्तित्वात् । ननु रुश्चिद् द्वारि स्थित कस्यचिद् देवदत्तादे मावाभावौ गृह्णाति—‘यदा एतस्य गृहेऽभावः तदा अन्यत्र सद्भावः’ इत्येव व्याप्तिग्रहणोत्तरकाल चैत्रादेर्निश्चितजीवनस्य गृहेऽभावाद् बहिः सद्भावो निश्चीयते, सत्यम्, तथाप्यनुमानादस्या बहैक्षण्यम्—तत्र हि सामान्येन अनियतदेशेन व्यापकेन सम्बन्धग्रहे सति उत्तरकाल पक्षधर्मतानिश्चयसमये व्यापकस्य नियतदेशतया प्रतिपत्तिः, अत्र तु वैपरीत्यम् । नहि गृहेऽभावात् नियतदेशतया चैत्र प्रतीयते<sup>१</sup> । यादृश एव हि व्याप्तिकाले तादृश एव प्रयोगकालेऽप्यनियतदेशोऽसौ प्रतीयते ।

किञ्च, गृहद्वारवर्तिनो गृहेऽभावस्य बहिः सद्भावेन सम्बन्धग्रहे गृहे चैत्र सद्भावेन बहिस्तदभावसाधने कथं सम्बन्धग्रहः स्यात् ? तदुक्तम्—

“नन्वस्त्येव गृहद्वारवर्तिनः सङ्गतिग्रहः ।

भावेनाभावसिद्धौ तु कैयमपि<sup>२</sup> मविष्यति ॥” [ मायम० पृ० ३८ ]

न खलु गृहे चैत्रस्य सद्भावाऽन्यथानुपपत्त्या देशान्तरेषु तस्मास्तित्वायसाये गृहे त सद्धार्षय<sup>३</sup> देशान्तरे तस्मास्तित्वेन<sup>४</sup> अध्यक्षत सम्बन्धग्रहो घटते, देशान्तराणामानत्यात् । कैयमेव भूमस्य अनग्निव्यतिरेकनिश्चय इति चेत् ? किं तेन गृहीतेन प्रयोजनम् ?<sup>५</sup> भूमज्वलनयोः अन्यग्रहणसंभवे व्यतिरेकग्रहणे तात्पर्याऽसंभवात् । नहि भूयोदर्शनमुल्लभनिर्यमज्ञानसम्पाद्यमानसाध्याधिगमनिर्वृत्तचेतसाम् अनग्निव्यतिरेकनिश्चयेन किञ्चित् प्रयोजनसाध्याधिगमस्य सम्पन्नत्वात् ? इह पुनः अन्ययाधिगमसमय एव गम्यधर्मस्य

(१) गृहद्वारि स्थितो यस्तु बहिर्भावः प्रकल्पयत । यदकस्मिन्त्रय देशे न तद्वान्यत्र विद्यते ॥ तदाप्यविद्यमानत्वं न सर्वत्र प्रतीयत । न चैकदेशे नास्तित्वाद् व्याप्तिर्होत्रमविष्यति । —मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३४-३५ । (२) अनुमाने हि । (३) प्रयोगकात् । (४) अग्नेः । (५) पवनादिस्थितया—आ० टि० । (६) अर्थापत्तौ । (७) अपि तु बहिः यत्र कुत्राप्यस्ति इत्यनियतरूपेण । (८) गृहद्वारवर्तिनः—मायम० । (९) भावेन भावसिद्धौ—मायम० । (१०) सम्बन्धः । (११) व्याप्यभूतस्य । (१२) व्यापकभूतेन । (१३) ननु चाग्न्याद्यभावेऽपि धूमादिव्यतिरेकिणाम् । तद्देशागमनात् स्पष्टो व्यतिरेको न सिद्धयति । यस्य वस्तुस्वरूपाभावः प्रमेयस्तस्य दुष्यति । मम त्वदृष्टमात्रेण गमका सह चारिणः । य खलु वस्तुस्वतन्त्रेषु विपक्षेषु लिङ्गस्याभावावधारणमनुमानाय प्राप्यते तस्यैव दोषः वयं तु द्वित्रिचतुरेषु अवगताग्निसाहचर्याद् धूमाद्विपक्षादशनमात्रेण सहचारिणमग्निमनुमियमाना न सर्वविपक्षेषु धूमाभावावधारणं प्रापयामहे । नापि सर्वधूमवतामग्यं वयमिति । —मी० श्लो० यायव० पृ० ४६० । (१४) अनग्निप्रदगानामानन्त्यात्—आ० टि० । (१५) प्रतिपत्तुणाम् । (१६) अर्थापत्तौ । (१७) बहिः सदभावस्य—आ० टि० ।

१ यत्र तस्य व० । २ गृहे भावाभावात् थ० । ३ द्वारप्रवर्तिनः व० । ४ ग्रहो गृहे चत्र व० । ५ ‘गृहे’ नास्ति आ०, थ० । ६ उक्तञ्च व० । ७ नवस्त्वेव आ० । ८ द्वारवर्तिनः व० । ९ कथमेव थ० । १०—निश्चयमज्ञान—थ० । ११—निवृत्तचे—व० । १२ अवयावगम—व० थ० ।



दुरधिगमत्वमुक्तम् अनन्तदेशमृत्तित्वात् । अथ अनुपलब्ध्या तैन्निश्चयः, तन्न, गृह-  
न्यतिरिक्तसकलदेशवर्तिनः तदभावस्य नियतदेशया अनुपलब्ध्या निश्चेतुमशक्यत्वान् ।  
तेषु तेषु देशान्तरेषु गत्या अनुपलब्ध्या तन्मात्रं, इत्यप्यमुन्तरम्, यत् -

“गत्वा गत्वापि तान् दशान् नास्य ज्ञानासि नास्तिताम् ।

कौशाम्यास्त्वयि निष्क्रान्ते तत्प्रवेशौमिशङ्कया ॥” [ व्यायम० पृ० ३८ ]

तस्माद्भूमिरिष्यमसर्वज्ञानाम् । अतो नियतदेशोपलब्ध्यमानपरिमितपरिमाण-  
पुरुषरातीराऽन्यथानुपपत्त्यैव तदितरसकलदेशानास्तित्वाऽवधारण तस्य इत्यर्थापत्त्यैव तत्र  
तदभावनिश्चय इति ॥४॥

अत्र प्रतिपिधीयते । यत्तावदुक्तम् - ‘दृष्टं श्रुतो वा इत्यादि, तत्र दृष्टं श्रुतो वाऽ

10 क्रमापत्तं अनुमानं  
प्रमाणं क्रान्तभाव  
समयनम्

र्थं स्वसाध्येन सम्प्रद्व, असम्प्रद्वो वा तत्कल्पयति ? यदि असम्प्रद्व,  
कथं तत्कल्पनाकारणम् ? नहि यत्किञ्चिद् दृष्टं यत् कश्चिदर्थं कल्प-  
यितुं शक्यं अतिप्रसङ्गात् । अथ सम्प्रद्व, तर्हि अतो जायमाना

(१) यत्र नोपलभ्यते तत्र नास्ति च - आ० टि० । (२) व्यतिरेकमुखन सम्बन्धनिश्चयः ।

न ववमितरपि सम्बन्धोऽनुपलब्धिनः । चन्नाभावस्य भावेन दृष्टत्वादुपपद्यते ॥ साहित्य मितेन  
त्वात्प्रसिद्धं चाग्निधूमया । व्यतिरेकस्य चादृष्टत्वमकत्व प्रकल्प्यते ॥ इह साहित्यमवेदमेकस्य सह  
भाविनः । जननेदेवनिर्वाणान् तावदुपपद्यते ॥ -मी० श्लो० अर्था० श्लो० १-४३ । (३) न वत्रा

विद्यमानत्व गम्यतऽनुपलब्धितः । सा चाप्रयत्नमाध्यत्वात्कस्यस्यैव सिद्धयति ॥ ननु याऽनुपलब्ध्याऽत्र  
वस्तवभावः प्रतीयते । तद्वाऽऽगमनान् सा हि दूरस्थप्वस्ति सत्त्वपि ॥ गत्वा गत्वा तु तान् देशान्  
मध्यस्थो नोपलभ्यते । ततोऽन्यवारणाभावात्मानित्यवगम्यते ॥ -मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३६-३८ ।

(४) जानामि - व्यायम० । (५) “गदिङ्कया” - व्यायम० । (६) अनुपलब्धिः । (७) चन्नास्य ।  
(८) बहिः । (९) चन्नाभावनिश्चयः । (१०) पृ० ५०५ पृ० १८ । (११) रात्रिभोजनादिना-

आ० टि० । तलना - ‘एषा विचायमाणा तु भिद्यते मानुमानतः ॥ प्रतिबन्धादिना वस्तु न वस्तुत्वर  
बाधकम् । यत्किञ्चित्त्वमालोक्य न च कश्चित्प्रतीयते ॥ प्रतिबन्धोऽपि नाज्ञानं प्रयानि भविहेतुनाम् ।  
न सद्योजातवालादेव भवन्ति तथा विद्य ॥ न विद्यामना यत्र सामान्यज्ञानसम्भवः । तत्राप्यस्त्यव  
सामान्यरूपेण तदुपपद्यते ॥ -व्यायम० पृ० ४१ । अर्थापत्तिरनुमान एवान्तर्भावोऽविनाभाववलेनार्थं

प्रतिपत्तिसाधनं वा । अथवा नोपपद्यते तस्य बोधपद्यते इति लभ्यते । अयमवधिनाभाव इति ।  
-व्यायम० पृ० २२ । अर्थापत्त्युपायः ॥ अर्थो यथानुपपद्यमानत्वेनानवगतं अवगतो वाऽदृष्टावपरिक  
ल्पनानिमित्तं स्यात् ? -प्रमेयक० पृ० १९३ । स्या० पृ० २८३ । (१२) दृष्टात् अतः प्रतीति-

आ० टि० । तुलना - दानार्थान्तरातिपत्तिविरोध्यव श्रवणादनमिनानुमानना प्र० भा० क०  
पृ० २२३ । प्र० श्लो० पृ० ५९० । “गन्तव्यमिति नान्तराभावात्” अनुमानार्थापत्तिसम्भवनान्तर  
भावाच्चाप्रतिपत्तिः । -व्यायम० २।२।२ । प्रत्यक्षणाप्रत्यक्षस्य सम्बन्धस्य प्रतिपत्तिरनुमान तथा

चार्थापत्तिमन्त्रभावाः । वाक्यावसम्प्रययनान्तिहिस्यावस्य प्रत्यन्यीकभावात् ग्रहणमर्थापत्तिरनुमान  
मवः । -व्यायम० २।२।२ । कथमर्थापत्तिरनुमानं सगृह्यत ? द्वयोरेकत्र प्रतिपत्तस्य द्वितीयाभ्यनुना  
विषयवान् । यत्र यत्र द्वयोर्वस्तुनोरेव न दृष्टं प्रतिपिध्यते तत्र तत्र द्वितीयाभ्यनुना दृष्टं यथा दिवा न  
भट् के च्यभिधानान् रात्रौ मुञ्चते इति गम्यते । -व्यायम० पृ० २७६ । व्यायम० पृ० ५७ ।

1 नियतदेशतया व० पृ० । 2 तेषु देशान्त-आ० श्लो० । 3-उमानो पु-श्लो० ।

प्रतीतिः अनुमानमेव, तथाहि—दृष्टात् श्रुताद्वाऽर्थाद् अर्थान्तरे प्रतीतिः अनुमानमेव, अविनाभावबलेन उपजायमानत्वात्, यद् यद् अविनाभावबलेनोपजायते तत्तदनुमानेव यथा धूमाद्भ्रमिविज्ञानम्, अविनाभावबलेनोपजायते चार्थापत्त्यभिमत प्रतीतिरिति ।

किञ्च, असौ तत्सम्बद्धोऽपि तद्रूपतया ज्ञातः, अज्ञातो वा तत्कल्पनानिमित्तं स्यात् ? न तावदज्ञातः; बालादेरपि अतोऽदृष्टार्थकल्पनाप्रसङ्गात् । अथ ज्ञातः; तत्रापि किं साध्यप्रतिपत्तिकाले तत्सम्बद्धतया असौ ज्ञातः, पूर्वं वा ? प्रथमपक्षे किं प्रमाणान्तरात् तत्सम्बद्धतया तदाऽसौ ज्ञातः, सत एव वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; तत्प्रतिपत्तिकाले तत्सम्बन्धग्राहिणः प्रमाणान्तरस्यासंभवात्, संभवे वा साध्यस्यापि अत एव सिद्धेः किमर्थापत्त्या ?

अस्तु वासौ, तथापि—अनुमानान्न भिद्यते; तथाहि—अर्थापत्तिः अनुमानमेव, प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद् हेतोरुपजायमानत्वात्, यद्यत्प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद् हेतोरुपजायते तत्तदनुमानमेव यथा धूमाद् बह्विविज्ञानम्, प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद्धेतोः उपजायते चार्थापत्त्यभिमतं ज्ञानमिति । अथ तत एव साध्यसम्बद्धतया असौ ज्ञातः; तदा अन्योन्याश्रयः—सिद्धायां हि अर्थापत्तौ तर्द्धुत्थापकार्यस्य तत्सम्बद्धतया इतिसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अर्थापत्तिसिद्धिरिति । अथ पूर्वं तत्सम्बद्धतयाऽसौ ज्ञातः किं साध्यधर्मिण्येव, दृष्टान्तधर्मिणि वा ? प्रथमविकल्पे अर्थापत्तेर्वैयर्थ्यम् तत्साध्यस्य प्रागेव प्रसिद्धत्वात् । दृष्टान्तधर्मिण्यप्येनभ्युपगमात्तासौ तत्सम्बद्धतया ज्ञातव्यः ।

किञ्च, तत्रासौ साध्यसम्बद्धतया भूयोदर्शनात्, विपर्ययेऽनुपलम्भात्, अर्थापत्त्य-

“न चार्थापत्तिरनुमानतो भिद्यते, लोके तदसङ्कीर्णोदाहरणाभावात्, प्रकारान्तराभावाच्च ।”—न्यायकुसु० ३।१९। “सिद्ध साध्याविनाभावो ह्यर्थापत्तेः प्रभावक । सभवादेश्च यो हेतु सोऽपि लिङ्गान्न भिद्यते ॥ दृष्टान्तनिरपेक्षत्वं लिङ्गस्यापि निवेदितम् । तन्न मानान्तर लिङ्गादर्थपत्त्यादिवेदनम् ॥”—तत्सार्थ-श्लो० पु० २१७ । प्रमेयक० पु० १९३ । सम्मति० टी० पु० ५८५ । अन्तर्कषा० पु० ७७ । स्या० १० पु० २८३ । रत्नाकराव० २।१ ।

(१) दृष्टं श्रुतो वाऽर्थ—आ० टि० । (२) सम्बद्धरूपतया—आ० टि० । (३) तुलना—“अस्यान्यथानुपपद्यमानत्वागम अर्थापत्तेरेव प्रमाणान्तराद्वा ?”—प्रमेयक० पु० १९३ । स्या० १० पु० २८४ । (४) साध्यप्रतिपत्तिकाले (५) सम्बन्धग्राहिण प्रमाणान्तरादेव । (६) पीनत्वगृहाभावादे—आ० टि० । (७) मीमांसवा हि अर्थापत्तौ सम्बन्धावगम दृष्टान्ते न स्वीकुर्वन्ति अर्थापत्त्यनुमानयोर्मदभावप्रसङ्गात् । “अविनाभावित्वा नात्र तदेव परिकल्प्यते । न प्रायवधृतेत्येव सत्यप्येवा न कारणम्” (मी० श्लो०, अर्था० श्लो० ३०) इत्यभिधानात् । (८) दृष्टान्तधर्मिणि चेद् दृष्टं श्रुतो वार्थं पूर्वं प्रतिपन्न, तदा साध्यधर्मिणि किमायातम्—आ० टि० । (९) दृष्टान्तधर्मिणि । तुलना—“अथ प्रमाणान्तरात्तदवगम, तत्किं भूयोदर्शनं विपर्ययेऽनुपलम्भो वा ?”—प्रमेयक० पु० १९४ । स्या० १० पु० २८४ । (१०) विपक्षा हि अनिन्देयाया अनन्ता एव—आ० टि० ।

१—न्तरप्रतीति—थ० । २—द्विविज्ञानम् व० । ३ वा कल्पना—आ० । ४—सम्बद्धाद् व० । ५—सम्बद्धाद्—आ० । ६ प्रागेव सिद्ध—अ० । ७—सौ सम्बद्ध—व०, —सौ साध्यस्य सम्बद्ध—थ० ।

असत्त्वस्यै वा प्रसङ्गात् । प्रयोगः—रात्रिमुक्तिमान् देवदत्त, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनत्वात्, यो यो रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीन स स रात्रिमुक्तिमान् यथा नक्तञ्चर, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनश्च देवदत्त, तस्माद् रात्रिमुक्तिमानिति । ततो 'नहीद वाक्य-  
 5 मेव तत्प्रतिपत्तिनिवन्धनम्' इत्याद्युक्तमुक्तम्, यैथोक्तविशेषणविशिष्टस्य पीनत्वलक्षण लिङ्गस्यैवातो वाक्यात् प्रतिपत्ते, तैत्प्रतिपन्नाच्च लिङ्गात् रात्रिभोजनप्रतिपत्तिसिद्धिरिति ।

याप्यभावपूर्विकाऽर्थापत्तिः साध्यनुमानमेव, जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावेन लिङ्गेन बहिर्भावावगमात् । तथाहि—जीवतश्चैत्रस्य गृहेऽभावः बहिर्भावेन तद्वान्, जीबन्मनुष्य-  
 गृहाभावत्वात्, पूर्वोपलब्धैवविधगृहाभावत्वात्, यथा धूमोऽग्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्ध-  
 10 धूमवत् । तस्य गृहादीना लिङ्गत्वनिराकरण शब्दाडम्बरमात्रम् अस्मन्मताशाऽस्पर्शित्वात् ।

यत्पुन प्रमेयानुप्रवेशो दूषणमुक्त्यै; तदपि न युक्तम्, र्वैत किं प्रमेयमत्राऽग्निमे-  
 तम्— किं सत्तामात्रम्, बहिर्देशविशेषित वा सत्त्वम् ? सत्र सत्तामात्र तावद् आगमा-  
 देषाऽवगतमिति नै प्रमाणान्तरप्रमेयतामवलम्बते । बहिर्देशविशेषित तु सत्त्व भवति  
 प्रमेयम्, न च तस्य तदानीमनुप्रवेशः । गृहे चैत्राभावमाहक हि प्रमाण तत्रैवै तत्सङ्गा-  
 15 वावेदय प्रमाणमपाकरोति न पुन बहिस्तत्सदसत्त्वचिन्ता करोति ।

“मृतस्य जीवतो दूरे तिष्ठत प्राङ्गण्येऽपि वा ।

गृहामावपरिच्छेदे न विशेषोस्ति कश्चन ॥” [ न्यायम० पृ० ४३ ]

(१) पृ० ५०७ पं० १२ । (२) रसायनाद्युपयोगाभावेत्यादि—आ० टि० । (३) वाक्यप्रतिपत्तात् ।  
 (४) मुक्ता— साध्यनुमानमव व्याप्ते पूर्वमेव ग्रहणात् । तथाहि—देवदत्तो बहिर्देशसम्बन्धी जीवन  
 सम्बन्धित्व मनि गृहेऽनुपलभ्यमानत्वात् विष्णुमित्रवत् । —अग० ध्यो० पृ० ५९१ । तदापि गृहा  
 युक्तत्व दृष्ट्या दृष्टविनिर्दिष्टम् । अनस्तत्र बहिर्भावो लिङ्गादेवावनीयते ॥ सधना यो ह्यनमृष्टो  
 नियत बहिरस्त्यमी । गृहाङ्गणस्थितो दृष्ट पुमान् द्वारिस्थितैरिव ॥ विपक्षोऽपि भवत्यत्र सदनान्तर्गतो  
 नर । अर्थापत्तिरपि तस्मादनुमानात् प्रसिद्धा ॥ —तत्त्वस० पृ० ४७० । प्रमेयक० पृ० २०३ । समति०  
 बी० पृ० ५८६ । स्या० १० पृ० ३०८ । 'चैत्रस्य गृहाभावो धर्मो बहिर्भावेन तद्वानिति माप्यो धर्म  
 जीवमनुष्यगृहाभाववान् पूर्वोपलब्धैवविधगृहाभाववान् । —न्यायम० पृ० ४३ । 'तदप्यनुमानमेव,  
 यदा सत्य सत्यत्र नास्ति तदाऽन्यत्रास्ति, यदा वाऽन्यत्र एकत्रास्ति तदाऽन्यत्र नास्ति, सोऽयं स्वर्गरीर  
 एव व्याप्तिपदं गुणर । तथा च सतो गृहामावत्पाननं लिङ्गन बहिर्भावदर्शनमनुमानम् । —न्यायवा०  
 ता० पृ० ४३८ । तावत्तत्त्वकी० पृ० ४४ । प्रस० ब० द० पृ० २२३ । न्यायकुमु० ३।१९ । प्र०  
 चरणा० पृ० ३२४ । वने० उप० ९।२।५ । (५) पृ० ५०९ पं० ८ । (६) मुक्ता— किं प्रमेयमग्निम  
 तमेव भवता । सत्तामात्रमुच बहिर्देशविशिष्टमस्त्वम् । —न्यायम० पृ० ४३ । स्या० १० पृ० ३०९ ।  
 (७) गृह एव । (८) 'वृत्तस्य—न्यायम० । मृतस्य जावतो वा दूरे प्राङ्गण्येऽपि वा । निष्प्रत्यक्षेण  
 गृहामावपरिच्छेदः विद्यमानत्वात् । —स्या० १० पृ० ३०९ ।

१-तय प्र०-य० । २-व्याप्त्यानि-व० । ३-प्रतिपत्तिरिति आ० । ४ मत्प्रमा—आ० ।  
 ५-मात्रं प्रमे-व० । ६-परिच्छेदवि-य० ।

प्रवर्त्तते इति कथं तदनुप्रवेशः ? तदसमीक्षिताभिधानम्; सदैवसत्त्वज्ञानयोः असमान-  
विषयतया विरोधाऽसिद्धेः । आगमेन हि देशविशेषानवच्छिन्नस्य चैत्रस्य सत्ता प्रतिपाद्यते  
न गृहे वह्निर्वा, प्रत्यक्षेण तु गृहावच्छिन्नस्य चैत्रस्याभाव इति । समानविषयत्वे तु तयोरन-  
न्यथासिद्धाऽध्यक्ष्याध्यत्वेन आगमजज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्येव नाऽर्थान्तरकल्पनाकारणत्वम् ।

अथ मतम्—अनुमाने गमकविशेषणम् अन्यथानुपपन्नत्वं 'वहि विना धूमो नोप-  
पद्यते' इति, अर्थापत्तौ तु विपर्ययः गमकं विना गम्यो नोपपद्यते । गम्यो हि वह्निर्भावः,  
स जीवतो गृहाभावं विना नोपपद्यते, गृहान्निर्गतो जीवन् वह्निरस्तीत्येवं गम्यगमकयो-  
रनुपपद्यमानत्वे विपर्ययात् प्रमाणान्तरमनुमानार्थापत्तिरिति; तैदृष्यसङ्गतम्; 'साध्या-  
विनाभाविनो लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्' इत्यनुमानलक्षणम् । तच्चापत्तौ  
अस्त्येव । न हि तदुत्थापकार्थस्य साध्येन अविनाभावोऽसिद्धः; तर्तः तस्तिष्ठ्यभाव-  
प्रसङ्गात् । स चाविनाभावः अन्यथानुपपन्नत्वापरपर्यायः उभयनिष्ठत्वात् गमकवि-  
शेषण वास्तु गम्यविशेषणं वा नैतावता अर्थापत्त्यनुमानयोः भेदः, अन्यथा 'सूर्यस्य गम-  
नशक्तिरस्ति गतिमत्त्वाऽन्यथानुपपत्तेः' इति पक्षधर्मत्वसहिताया अर्थापत्तेः 'वक्षेर्वाह-

(१) तुलना—'तथाहि—सत्त्वमात्रं वा विरुध्यते चैत्रस्य गेहाभावेन गेहसत्त्व वैकल्यास्य । न तावच्चन  
वचन सत्त्वस्यास्ति विरोध गेहऽसत्तया समानविषयवाभावात्' 'गृहाभावावच्छिन्नाभावेन गृहसत्त्व  
विरुद्धत्वात्प्रतिषिध्यत न तु सत्त्वमात्रम् तन तस्योदासीन्यात्, तस्माद् गृहाभावेन सिद्धेन सतो वह्निर्भावोऽ-  
नुमीयत इति युक्तम् । एतेन विरुद्धयोः प्रमाणयोरविरोधापादनं विषयव्यवस्थया अर्थापत्तिविषय-  
परास्त, अवच्छिन्नाजनवच्छिन्नयोरविरोधात् ।"—न्यायवा० ता० पृ० ४३९ । साध्यतत्त्वकौ० पृ०  
४४ । "अनियम्यस्य नापुक्ति नानियन्तोपपादक । न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ समः ॥"—  
न्यायकुमु० ३।१९ । (२) नियतदेशविषयत्वेनैव सिद्धमध्यक्षम्—आ० डि० । (३) अवलगागमज  
ज्ञानमनियतदशविषयत्वात्—आ० डि० । (४) प्रभाकरस्य । "यदि यद्येन विना नोपपद्यते तदेवाव-  
गमक स्यात्, इह तु यन्नोपपद्यते तदेवावगम्यते । किं चात्र नोपपद्यते ? जीवतो गृहाभावदर्शनात्  
अन्यत्राभावो नोपपद्यते ; तत किम् ? नात्राभावस्य गम्यता । कस्य तर्हि ? भावस्य । न चासौ  
गृहाभावदर्शनोपपद्यते । वाड नोपपद्यते । न हि गृहाभावदर्शनं विना वह्नि भाव उपपद्यते ।"—शाबर-  
भा० बृह० १।१।५ । 'विना कल्पनयाऽर्जनं दृष्टेनानुपपन्नताम् । नयता दृष्टमर्थं या साऽर्थापत्तिस्तु  
कल्पना ॥ अभावेन गृहे भावो वह्निष्कल्पनया विना । नयतानुपपन्नत्व कल्प्यमाना बहिर्यथा ॥  
गम्यस्यानुपपन्नत्वमिह कल्पनया विना । भानान्तरविरोधेन सन्देहापत्तिलक्षणम् ॥ देशेन हि विना  
भावो न नदाचन दृश्यते । विना भावेन सिद्धोऽपि ते सन्देहमाच्छेति ॥ तत्सन्देहव्युदासाय कल्पना या  
प्रवर्त्तत । सन्देहापादाकार्थ्यादर्थापत्तिरस्ती स्मृता ॥ गमकस्यानुमाने तु विपत्तासत्त्वलक्षणम् । गम्यतेऽ-  
नुपपन्नत्व विना गम्यन वस्तुना ॥ उत्सामर्थोविभेदेन भिन्ने एते परस्परम् । अर्थापत्त्यनुमानाभ्यां प्रमाणे  
ऽति निश्चितम् ॥"—प्रक० पृ० ५० १२८ । तुलना—न्यायम० पृ० ४४ । (५) तुलना—"एतदपि  
ननुपपद्यमानत्वं  
४४ । (६) अर्थापत्त्युत्थापकार्थम् । (७) साध्य ।

१ तयोरन्यथा—व० । २-मानविषयत्वात् थ० । ३ तत्त्वार्थापत्तौ व० । ४ पक्षधर्मसङ्गि—आ० ।

अप्रतिनियते चानुमानतोऽभावसिद्धेः कथमुक्तदोषानुपपन्नः ? तच्चानुमानम्—देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चत्राधिष्ठितदेशव्यतिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवत् । न च 'देशान्तराणि चैत्रयुक्तानि तत्समीपदेशव्यतिरिक्तत्वात् चैत्राधिष्ठितदेशवत्' इति प्रत्यनुमानोपहतमेतदित्यभिधातव्यम्; तैत्पक्षस्य प्रत्यक्षादिवाधितत्वात् । तदेवमर्थापत्तेः अनुमानादर्थान्तरत्वाऽसिद्धेः सिद्धः परेषा प्रमाणसख्यान्याघातः ।

ननु भवेतामप्येव प्रमाणसख्यानियमविरोधस्तुत्यः 'उपमानादेः प्रदिपादितप्रमाण-प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यामर्थान्तरत्वाऽविरोधात्' इत्यारेकापनोद्गार्थमाह—'सर्वस्य' इत्यादि । सर्वस्य अनन्तरोक्तस्य उपमानादिप्रमाणप्रपञ्चस्य परोक्षेऽन्तर्भावात् नाऽस्माकं कश्चिदोपः । कस्मात् तस्य तत्रान्तर्भाव इति चेत् ? तल्लक्षणलक्षितत्वात् । यस्य यल्लक्षण-लक्षितत्वं तस्य तत्रान्तर्भावः यथा रूपसुरादिसवेदनस्य प्रत्यक्षे, परोक्षलक्षणलक्षितत्वञ्च उपमानादेरिति । यथैव हि रूपादिसवेदनस्य सुरादिसवेदनस्य च विपर्ययेभेदात् साम्यमी-भेदाच्च अन्योन्यं वैलक्षण्येऽपि वैशद्यस्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षितत्वात् प्रत्यक्षत्वम्, तथा उपमानादेरपि अवेशद्यस्वभावपरोक्षलक्षणलक्षितत्वात् परोक्षत्वमिति ।

नन्वेवमपि परोक्षस्य स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽनुमानागमभेदैः परिगणितत्वात् कथमुपमानादेस्तत्रान्तर्भावः, तदन्तर्भावे वा परिगणनविरोधः ? इत्यसमीचीनम्; उपमानादेः प्रत्यभिज्ञानादिरूपतया तत्परिगणनाऽविरोधकत्वात् । दर्शनस्मरणकारणकं हि सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानमुच्यते, इवमप्युपमानादिज्ञानं दर्शनस्मरणकारणकं सादृश्यादि-

(१) तुलना—देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चैत्राधिष्ठितव्यतिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवदिति।—  
न्यायम० पृ० ३८ । (२) "ननु देशान्तरं शून्यं चैत्रणैव प्रतीयते । तद्व्यतिरिक्तत्वात् समीपस्थित-  
देशवत् । विरुद्धाभ्यभिचारित्वं तद्वदेव हि गम्यते । समीपदेशभिन्नत्वाच्चैत्राधिष्ठितदेशवत् । एतदुक्तं  
भवति—न तावद्देशान्तराणि चैत्रशून्यानि तत्सम्युक्तदेशव्यतिरिक्तदेशत्वादिति हेतुः सम्भवति, सन्दिग्ध-  
त्वात् देशान्तराण्यपि तत्सम्युक्तानि न वेत्येतावदेव विचार्यते । कथं तेषां तत्सम्युक्तदेशाद् व्यति-  
रेकसिद्धिः । यदि परमेवमुच्यते—यमेवाधुना चैत्राधिष्ठितोऽप्रवरकदेशः तद्व्यतिरिक्तत्वादिति, एव  
विधश्चाप्रयोजको हेतुः, इतरथा हि धन्यते—चैत्रयुक्तं देशान्तरं तत्समीपस्थव्यतिरिक्तदेशत्वात् तदधिष्ठी-  
तदेशवदिति । 'मी० श्लो० अर्था०, न्याय० पृ० ४६१-६२ । (३) 'प्रतिपक्षप्रयोगस्तु प्रत्यक्षा-  
दिविरुद्धत्वाद्देवताभास एव ।'—न्यायम० पृ० ४५ । (४) मीमांसकानाम् । (५) जैनानामपि ।  
(६) उपमानादयः परोक्षेऽन्तर्भवन्ति परोक्षलक्षणलक्षितत्वात् । तुलना—'यदेकलक्षणलक्षितं  
तद्व्यतिरिक्तदेशवत् यथा वैशद्यलक्षणलक्षितं चक्षुरादिप्रत्यक्षम्, अवैशद्यलक्षणलक्षितञ्च शब्दा-  
दीति । '—प्रमेयक० पृ० १९२ । सन्मति० टी० पृ० ५९५ । स्या० २० पृ० २८३ । (७) रूपादि-  
मुखादिलक्षणः । (८) चक्षुरादिमानसादिरूपः । (९) लघीयस्त्रयस्य 'ज्ञानमात्रं स्मृति' (का० १०)  
इति कारिकायाम्, परोक्षाम् ३१२ । प्रमाणनय० ३१२ । प्रमाणमी० ११२१२ । इत्यादिषु च । (१०)  
तुलना—प्रमेयक० पृ० १९३ । स्या० २० पृ० २८३ ।

१ अतिनियते आ० । २-न्तरतासिद्धे श्र० । ३ प्रमाणपञ्चकस्य व० । ४ अन्योन्यवैल-आ०,  
व० । १० सकल्पनं श्र० ।

सङ्कलनस्वभावश्च, अतः कथं प्रत्यभिज्ञानात् व्यतिरिच्येत ? यद् दर्शनस्मरणकारणक सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावश्च तत् प्रत्यभिज्ञानमेव यथा प्रसिद्धप्रत्यभिज्ञानम्, तत्कारणकं सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावश्चोपमानमिति ।

‘तद्’ इत्यादिना प्रकृतोपसंहारमाह—यस्माद् उपमानादेः परोक्षेऽन्तर्भावः तत् तस्मात् समञ्जसम् उपपन्नम् ‘प्रत्यक्षं परोक्षञ्च इति एवं द्वे एव प्रमाणे’ इति । कुत एतत् ? इत्याह—‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा अन्येन प्रकारेण तेषां प्रमाणानां सङ्ख्याया अनवस्थानादिति ॥ छ ॥

मिथ्यायुक्तिपलालकूटनिचयं प्रञ्चान्य निःशेषतः,

सम्यग्युक्तिमंहांशुभिः पुनरियं व्याख्या परोक्षे कृता ।

येनासौ निखिलप्रमाणकमलप्राज्यप्रबोधप्रदः,

भास्वानेपं जयत्यचिन्त्यमहिमा शास्ताऽकलङ्को जिनः ॥ छ ॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयल्लयालङ्कारे तृतीयः परिच्छेदः ॥ छ ॥



## प्रमाणप्रवेशे चतुर्थ आगमपरिच्छेदः ।

प्रत्यक्षेतररूपमानमखिलं व्याख्याय साभासताम्,

तस्यै व्यापयितुं कथञ्चिदधुना प्रारभ्यते प्रक्रमः ।

मिथ्यैकान्तमहान्धकूपपतनव्यामुग्धबुद्धेः स्फुटम्,

कः सन्मार्गनिरूपणेऽत्र कुशलः स्याद्वादभानोः परः ॥ १ ॥

अथ प्रमाणाभासत्वेन प्रसिद्धं विज्ञानं कथञ्चिदेव तदाभासं न सर्वयेति प्रदर्शयन्नाह—

प्रत्यक्षानं कथञ्चित् स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम् ।

यैद्यथैवाऽविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ॥ २२ ॥

(१) उपमानं प्रत्यभिज्ञानात्मकमेव दर्शनस्मरणकारणत्वे सति सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावत्वात् । (२) स एवायं जिनदत्त इत्येकत्वप्रत्यभिज्ञानम् । (३) मानस्य (४) “स्याद् भवेत् । किम् ? प्रत्यक्षानं प्रत्यक्षप्रमाणाभासमित्यर्थः । अक्षमिन्द्रियानिन्द्रियं प्रति नियतं प्रत्यक्षं ज्ञानमात्रम् तद्विभातीति व्युत्पत्तेः । किं विशिष्टम् ? तैमिरादिकं तिमिरादागतं तैमिरं तदादिर्यस्य आशुभ्रमणादेः तथोक्तम् । तत् किं स्यात् ? प्रमाणं भवति । कथम् ? कथञ्चित् भावप्रमेयापेक्षया द्रव्यापेक्षया वा, न सर्वथा प्रमाणाभासमेव, वहिरर्थाकारविषय एव ज्ञानस्य विसंवादात् स्वरूपापेक्षया तस्याविसंवादात् । अत्राविनाभावः दर्शयति यदित्यादि । यज्ज्ञानं यथैव यावद्विषयावबोधनप्रकारेण अविसंवादि, विसंवादो गृहीतार्यव्यभिचारः तद्रहितमविसंवादि, तज्ज्ञानं तथा तावद्विषयावबोधन-

विवृतिः—तिमिराद्युपसृप्तज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणं यथा तत्सङ्ख्यादौ विसंवादकत्वादप्रमाणम्, प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात् । नहि ज्ञानं यदप्यनुकरोति तत्र प्रमाणमेव समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षात् । कथमन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिः ? कृतस्य करणयोगात्, तदेकान्तहानेः कथञ्चित्करणानिष्टेः । तदस्य विसंवादोऽपि अवस्तुनिर्भासात्, चन्द्रादिवस्तुनिर्भासानामविसंवादकत्वात् ।

प्रकारेण प्रमाणं मतमिष्टं परीक्षकंरिति । तथाहि—सर्वं सद्ययादिव प्रमाणाभास स्वरूपापेक्षया द्रव्यापेक्षया वा प्रमाणं भवति यत्राविसंवादित्वात्, यत्राविसंवादित्वात् तत्तत्र प्रमाणं यथा रस्ते रसज्ञानम्, अविसंवादि च सद्ययादिक स्वरूपे द्रव्यरूपादौ वा, ततस्तत्र कथञ्चित्प्रमाणमिति । विसंवाद एव तत्त्वप्रामाण्यनिबन्धनम् अविसंवादश्च प्रामाण्यनिबन्धनमिति न्यायस्य सकलवादिसम्मतत्वात् सर्वथा प्रमाणाभासस्य न्याययुक्तत्वात् । 'बहिः प्रमेयापेक्षया प्रमाणं तन्निश्चयं' (भाष्यमी० श्लो० ८३) इति वचनात् । न हि ज्ञानं स्वरूपे विसंवादि तस्याहमप्रत्ययसिद्धत्वात् । प्रसिद्धे च विषये प्रवर्तमानं कथमप्रमाणं स्यादिति ।—लघी० ता० पृ० ४२ । अस्या कारिकाया यदिमानादिना तिमिरादिक प्रत्यक्षाभासमुक्तम्, तस्य कथञ्चिदेव प्रत्यक्षाभासता दर्शयति । दिग्नागादेः प्रत्यक्षाभासस्वरूपप्रदर्शका प्रत्यास्तिवत्त्वम्—“भ्रान्तिस्तद्वृत्तिसंज्ञानमनुमानानुमानिकम् । स्मरणञ्चामिहापदेत्येव प्रत्यक्षाभासं सतिमिरम् ॥ अथ मरीचिकादिषु जलादिकल्पनात् भ्रमज्ञानं प्रत्यक्षाभासम् । संवृत्तिसत्यं हि स्वस्मिन् अर्थान्तरमारोप्य तत्स्वरूपकल्पनात् प्रत्यक्षाभासम् । अनुमानं तत्कलञ्च पूर्वानुभवकल्पनात् प्रत्यक्षम् ।”—प्रमाणमनु०, पृ० ११८ । “त्रिविधं कल्पनाज्ञानमाश्रयोपप्लवोद्भवम् । अविकल्पकमेकञ्च प्रत्यक्षाभासं चतुर्विधम् ॥ त्रिविधं कल्पनाज्ञानं प्रत्यक्षाभासम्—मरीचिकाया जलाभ्यवसायि भ्रान्तिज्ञानम् । संवृत्तौ विसंवादव्यवसायसावृतज्ञानम्, पूर्वदृष्टकत्वकल्पनाप्रवृत्तं लिङ्गानुमेयादिज्ञानम् । अविकल्पकञ्चैव प्रत्यक्षाभासम्, कीदृशम् ? आश्रयस्य इन्द्रियस्य उपप्लवस्तिमिराद्युपधातं तस्माद्भवो यस्य ततथा । एवञ्च चतुर्विधं प्रत्यक्षाभासम् । नन्वविकल्पकं प्रत्यक्षम्, ततस्त्वयमपीव सविकल्पकत्वादेवः प्रत्यक्षाभासः । तत्किम् ? भ्रान्तिज्ञानं मृगतुणिकाया जलावसायि । संवृत्तिमतौ द्रव्यादर्शनम् । अनुमानं लिङ्गज्ञानम्, अनुमानविक लिङ्गज्ञानम् । स्मृतं स्मृतिः । आभिलाषिकञ्च विरलप्रभेद आचार्यादिमार्गेणोक्तः ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० २१२८८ । तुलना—“पीतश्लादिषु विज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थत्रिभ्याम्याप्यन्तरभावान्, सस्यानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावन्त्येव ज्ञानं प्रमाणमनुमानम्, ततोऽनुमानं मर्यादे मर्याद परवेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणञ्च ।”—प्रमाणवार्तिकाल० प्रथमपरि० । (५) तुलना—“यथा यत्र विषयः तथा तत्र प्रत्यक्षम् । यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणा ॥ (पृ० ६५ B) तथा च सर्वं स्वभावे परभावे वा कथञ्चिदेव प्रमाणं न सर्वथा ।”—सिद्धिबि०, टी० पृ० ८६ A. । “यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणा ॥”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७० । सिद्धिबि० टी० पृ० ६९ B. । “यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणतत्त्वकलङ्कदेवंरूप्युक्तत्वात् ।”—अष्टसह० पृ० १९३ । “यथैवाविसंवादि प्रमाणं ततथा मतम् । विमवाचप्रमाणञ्च तदध्यधपरोक्षया ॥”—सम्प्रति० टी० पृ० ५९५ ।

(१) तुलना—“यथाकारेण तत्त्वारिच्छा तदवधया प्रामाण्यमिति । तेन प्रत्यक्षतदाभासयोगेन प्राप्य मृगान्तराप्रामाण्यमिति तदवधया । प्रसिद्धानुग्रहदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु दशप्रत्यासत्याप्यनुमाणाभासमनात् । तथारहताधारणं मर्यादिविमवादिनं चन्द्रादिस्वभावप्रकारलम्बान् । तत्राविसंवादाभासं मर्यादमवस्था कथं द्रव्यादिरन् ।”—अष्टसह०, अष्टसह० पृ० २७७ । “अनुपप्लवदृष्टीना यत्राविसंवादि । तत्त्वम्यादिषु मर्यादा न प्रत्यामप्रत्यादिषु ॥”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७० । उद्देशं ममया विवृति—सम्प्रति० टी० पृ० ५९५ ।

प्रत्यक्षाभम् इत्युपलक्षणम्, तेन परोक्षाभमपि यदेकान्तेन वादिनां लोकानां

कारित्यार्थः—

वा प्रसिद्धं तत्कथञ्चित् स्याद् भवेत् प्रमाणम् नैकान्तेन तदा-

भासम् इत्यभिप्रायः । किं तद् ? इत्यत्राह—तैमिरादिकमिति ।

तिमिरादागतं तैमिरम् आदिर्यस्य आशुभ्रमणादिज्ञानस्य तत्तथोक्तम् । कुत एतद् ? इत्याह—

‘यद्यथा’ इत्यादि । यतो यद्विज्ञानं येनैव प्रकारेण अविसंवादि तद् विज्ञानं तेनैव 5

प्रकारेण प्रमाणमभिप्रेतम् । तथा च “कल्पनापोढमभ्रान्तम्” [न्यायसू० १।४] इत्यत्र,

“इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारि” [न्यायसू० १।४] इत्यत्र, “तत्सम्प्रयोगे”

[जैमिनिषू० १।१।४] इत्यादौ च यदभ्रान्तोदिग्रहणं भ्रान्तनिवृत्त्यर्थं तद् यदि सर्वथा अप्रत्य-

क्षत्वात् तेनापसार्यते तदा प्रमाणविरोधः । अथ कथञ्चित् ; तदा एकान्तहानिरित्युक्तं भवति ।

कारिकां व्याचष्टे ‘तिमिर’ इत्यादिना । तिमिरादीनां कार्यभूतं यद् उपल- 10

वज्ञानं द्विचन्द्रादिविषय तत् चन्द्रादौ आदिशब्देन धावस्यवर्तुलत्वा-  
विबृतिग्याख्यानम्—

दिपरिमहः तत्र प्रमाणम् । कुत एतत् ? अविसंवादकं यतः तत्रांशे ।

अत्र दृष्टान्तमाह—यथा इत्यादि । यथा तत् तिमिराद्युपलवज्ञान संख्यादौ द्वित्वस्थि-

रत्वादौ विसंवादकत्वादप्रमाणम् । यदि नाम तत्तथाविध किमेतावता प्रमाणेतर-

रूपं भविष्यति इत्याशङ्क्य आह—‘प्रमाण’ इत्यादि । प्रमाणञ्च इतरञ्च अप्रमाण तयोः 15

व्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात् सवादविसंवादलक्षणत्वात् । ननु कथं तदेव प्रमाणमि-

तरञ्च युक्तं विरोधादिति चेत् ? अत्राह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न ज्ञान

भवत्कल्पितं निर्विकल्पकवेदनं यदपि इत्यपिशब्दोऽभ्युपगमे, परमार्थतः अर्धा-

कारताया ज्ञानेऽसंभवात्, तदसंभवञ्च प्रपञ्चतः प्रागेवं तत्प्रतिपेधात् सिद्धः । अभ्यु-

(१) “तिमिरमक्षोविप्लव, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम् । आशुभ्रमणमलातादे, मन्द हि  
भ्रम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुपपद्यते, तदर्थमाशुग्रहणेन विक्षप्यते भ्रमणम्, एतच्च विषयगत  
विभ्रमकारणम् । सक्षोभो घातपित्तश्लेष्मणाम्, वातादिषु हि क्षोभ गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्ति-  
रुपपद्यते, एतच्चाध्यात्मगत विभ्रमकारणम् । सर्वत्रैव च विभ्रमकारणं इन्द्रियविषयबाह्याध्यात्मिका-  
श्रयगतैरिन्द्रियमेव विकर्तव्यम् । अविकृत इन्द्रिय इन्द्रियभ्रान्त्ययोगात् । आदिग्रहणेन काचकामलादय  
इन्द्रियस्या गृह्यन्ते । आशुनयनानयनादयो विषयस्था । आशुनयनानयने हि कार्यमाणेऽलातादावग्नि-  
वर्णदण्डाभासा भ्रान्तिर्भवति । हस्तियानादयो बाह्याश्रयस्था गाढमर्मप्रहारादय आध्यात्मिकाश्रयस्था  
विभ्रमहेतवो गृह्यन्ते ।” न्यायसू० टी० पृ १६-१७ । (२) ‘प्रत्यक्षम्’ इति शेष । (३) ‘इन्द्रि-  
यार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यभिचारि इत्यवसायात्मक प्रत्यक्षम् ।” न्यायसू० १।१।४ । (४)  
“तत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिर्ब्रह्म तत्प्रत्यक्षमग्निमिदं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।” जैमिनिषू०  
१।१।४ । (५) आदिशब्देन अव्यभिचारिसत्सम्प्रयोगजयो परिग्रहः । (६) भ्रान्तम्—आ० टि० ।  
(७) अभ्रान्तादिग्रहणेन । (८) अप्रत्यक्षत्वात्तेनापसार्यते इति सम्बन्धः । (९) मवादविमवाद-  
लक्षणत्वात्—आ० टि० । (१०) पृ० १६७ ।

१ यदेकान्तवादिनां श्र० । २ यदि ज्ञानं आ० । ३-तत्तानं आ० । ४ एकांशतः हानि श्र० ।

५ न तदज्ञानं श्र० । ६-कसंवेदनम् श्र० । ७ सिद्ध अतोऽभ्युप-द०, श्र० ।



पगम्याप्युच्यते—यथोक्तं ज्ञानं यदपि वस्त्वनुकरोति यदाकारं भवति तत्र वस्तुनि प्रमाणमेव, 'नहि' इत्यभिसम्बन्धः, किन्तु अप्रमाणमपि इत्येवकारार्थः । कुत एतद् ? इत्याह—'समारोप' इत्यादि । क्षणिकेऽश्रणिकज्ञानं समारोपः तस्य व्यवच्छेदो निरासः तस्य आकाङ्क्षाणात् । तदनभ्युपगमे दूषणमाह—'कथम्' इत्यादि । कथमन्यथा तदा-  
 ५ काङ्क्षाणाभावप्रकारेण हृष्टे दर्शनविषयीकृते क्षणभङ्गादौ प्रमाणान्तरस्य अनुमानस्य वृत्तिः ? न कथमपि इत्यर्थः । नहि समारोपव्यच्छेदात् अन्यत्तस्य फलम् । अथ न समारोपनिषेधार्था तत्रास्य प्रवृत्तिः । किं तर्हि ? ग्रहणार्था, इत्याह—'कृत' इत्यादि । कृतस्य अनुभवेन अनुभूतस्य क्षणभङ्गादेः अनुमानेन कारणस्य ग्रहणस्य अयोगात्, अन्यथा अनवस्था स्यात्, तद्गृहीतेऽप्यस्मिन् अनुमानान्तरेण ग्रहणप्रसङ्गात् ।

१० अथ अर्थदर्शनेन नीलादिकमेव गृहीतं न क्षणभङ्गादिकं तेनायमदोषः, अत्राह—'तद्' इत्यादि । तदेकान्तः कृतैकान्तः "एतस्यार्थस्वाभावस्यै" [ प्रमाणवा० ३।४२ ] इत्यादिवचनात् । यत्कृतं तत्कृतमेव तस्य हानेः हानिप्रसङ्गात् कथं प्रमाणान्तरवृत्तिः ? तद्धानिः कुतः ? इत्याह—'कथञ्चिद्' इत्यादि । कथञ्चित् नीलादिरूपेण न क्षण-  
 १५ भङ्गादिरूपेण यत् कारणं वस्तुनो ग्रहणं तस्याऽनिष्टेः, अन्यथा गृहीतेतररूपता एकस्य स्यात् । उपसहारव्याजेन दूषणान्तरमाह—'तद्' इत्यादि । यत् एव तत् तस्मात् अस्य अर्थकारदर्शनस्य विसंवादोऽपि विप्रलम्भोपि न केवलं कथञ्चित् प्रामाण्यमेव । कुत एतत् ? इत्याह—अवस्तुनिर्भासात् । अवस्तुनो भवन्मते बहिरन्तर्वाऽसत् एव स्थूला-  
 २० कारस्य निर्भासाद् अनुकरणाद् दर्शनं प्रमाणं न स्यादिति भावः । व्यवहारेण प्रामाण्येऽपि न सौगतस्य इष्टतत्त्वसिद्धिः । अथ निरन्ययविनश्वरादिवस्तुस्वरूपानु-  
 २५ वरणेऽपि नीलादिसन्वेतनादिवस्तुस्वरूपानुकरणात् तत्प्रामाण्यम्, इत्याह—'चन्द्रादि' इत्यादि । चन्द्रादि च तद् वस्तु च तस्य निर्मासानाम् उपप्लवज्ञानसम्यग्धिप्रति-  
 ३० भासानां प्रामाण्यं स्यात् 'प्रमाणम्' इत्येतदनुवर्त्तमानं लब्धभावप्रत्ययमिह सम्यङ्कृते । कुत एतद् ? इत्याह—अविसंवादकत्वात् । न सलु चन्द्रादिविप्लवज्ञानं धावत्यवस्तु-  
 ३५ लत्यादौ निमगदनि इति । एवं तावत् यत् परेण प्रत्यक्षभं 'तैमिरिकादीन्द्रियज्ञानमुक्तं तदपि कथञ्चित् प्रत्यक्षमिति व्यवस्थापितम् ।

(१) धाविकादिरूपद्वयादप्रमाणं निविरन्ययम्, यदि हि क्षणभङ्गादि निविरन्ययप्रत्ययस्यैव गृहीतं स्यात्तदा तत्साधनार्थमनुमानं निमगं प्रवृज्यत इति हृदयम्—आ० टि० । (२) अनुमानस्य । (३) निविरन्ययप्रत्ययान् । (४) यदि वस्तु वस्तुवात्मना एव गृहीतं निविरन्यय इत्येवान्तर इति कान्त । (५) 'एतस्यावस्तुभावस्य प्रत्यक्षस्य मनः स्वयम् । कान्तो नावो न दृष्टः स्यात् य प्रमाणं परीक्ष्यत ॥'—प्रमाणवा० । उद्धृतवाक्यम्—न्यायार्थ० पृ० १३ । अमि० आलोक० पृ० १५२ । सिद्धिर्वि० टी० पृ० ७१ । १ । तत्रार्थः लो० पृ० ४०५ । प्रत्ययक० पृ० २३१ । सम्मति० टी० पृ० ५०७ । न्यायवि० वि० पृ० ४९६ । ३ । त्या० र० पृ० ५३४ । शास्त्रवा० यजो० पृ० १५८ । ३ । (६) अवहणमपि—आ० टि० ।

१ तथोक्तं थ० । २ इत्यत्राह थ०, व० । ३ कारणस्यायोगात् व० । ४ लभकान्त व० । ५ न च क्षण—थ० । ६ विप्रलम्भोऽपि तस्मिन् व० । ७ तैमिरिकादीन्द्रिय—थ०, व० ।

साम्प्रतं कल्पनापदेन यत् परेण विकल्पज्ञानं तदाभासमुक्तं तदपि प्रत्यक्षं साध्यब्राह्म-  
स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनम् ।

संहृताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ॥ २३ ॥

विवृतिः—सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं  
संस्थानात्मकं स्थूलात्मकमेकं सूक्ष्मानेकस्वभावं पश्यति न पुनः असाधारणैकान्तं  
स्वलक्षणम्, प्रतिसंहारव्युत्थितचित्तस्य तथैवास्मरणात् । तस्मादविशदमेव अवि-  
कल्पकं प्रत्यक्षाभम् । न च विशदेतरविकल्पयोः विषयभेदैकान्तः प्रत्यासन्नेतरा-  
र्थप्रत्यक्षाणाम् एकार्थविषयतोपपत्तेः ।

स्वसंवेद्यं स्वसंवेदनाध्यक्षग्राह्यम् । केपाम् ? इत्याह—विकल्पानाम् । किं तद् ?

कारिकार्थं — इत्याह—विशदार्थावभासनम् । कुत एतत् ? इत्याह—‘संहृत’ 10

इत्यादि । संहृता अशेषाश्चिन्ता यस्यामवस्थायां तस्यामपि सविकल्पकस्यैव  
ज्ञानस्य अवभासनात् । ततो यदुक्तं परेण—“न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभा-  
सता ।” [ प्रमाणवा० २।२८३ ] इत्यादि, “प्रत्यक्ष कल्पनापोद प्रत्यक्षेणैव सिद्धयति ।”  
[ प्रमाणवा० २।१२३ ] इत्यादि च, तन्निरस्तम् ; प्रत्यक्षबाधितत्वात् ।

(१) द्रष्टव्यम्—पृ० ५२१ हि० ४।(२) “भवति । किम् ? स्वसंवेद्यम् स्वेन तत्त्वज्ञानात्मना संवेद्यं  
ग्राह्यम् स्वसंवेद्यं ज्ञानस्वरूपमित्यर्थः । वेद्यवेदकाकारद्वयाविरोधात् ज्ञानस्य अन्यथा अवस्तुत्वापत्तेः ।  
किं विशिष्टम् ? विशदार्थावभासनम् अर्थस्य परमार्थसतोऽवभासनमवबोधनमार्थावभासनम् विशद स्पष्टं  
तच्च तदर्थविभासनं च तत्तथोक्तम् । केपाम् ? विकल्पानाम्, घटोऽयं गौरयः शुक्लोऽयं गायकोऽयमि-  
त्यादिनिश्चयज्ञानानाम् । कुत ? सविकल्पावभासनात्, विकल्पो जात्याद्याकारावबोध सह विक-  
ल्पेनेति सविकल्पक तस्यावभासनादनुभवात् । कदा ? संहृताशेषचिन्तायाम्, संहृता नष्टा अशेषा  
स्मृत्यादयश्चिन्ता विकल्पा यस्यामवस्थायां सा तथोक्ता तस्याम् । चक्षुरादिवृद्धो जात्याद्याकारविशेषस्य  
अवबोधनस्य अप्रतिहतत्वात्, ततो विकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षाभासत्वमप्युक्तमित्यर्थः ।”—लघी० ता० पृ०  
४३ । (३) धर्मकीर्तिनोक्तं यत्—शान्तचेतस्कृतया चक्षुषा यद्रूपदर्शनं भवति तन्निर्विकल्पकम् । तस्मिन्  
रूपस्वलक्षणं क्षणिक-परमाण्वात्मकं प्रतिभासते । तथाहि—“संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना ।  
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साक्षज्ञा मति ॥”—(प्रमाणवा० २।१२४) ग्रन्थकृता तत्प्रतिविहितम्—  
यत्तदवस्थायामपि सविकल्पकमेव ज्ञानं स्थिरस्थूलाद्यर्थग्राह्यनुभूयते । तुलना—“संहृत्य सर्वतश्चित्तं  
स्तिमितान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं स्वञ्च स्पष्टं व्यवस्यति ।”—सत्त्वार्थश्लो० पृ० १८६ ।  
(४) तुलना—“न हि जानुचिदसहायमाकारं पश्यामो यथा व्यावर्ण्यते तथैवातिनिर्णयात्, नानावयव-  
रूपाद्यात्मनो घटादेः बहिः सम्प्रतिपत्तेः न परमाणुसंचयरूपस्य ।”—सिद्धिबि०, टी० पृ० ३६ B. ।  
(५) “न विकल्पानुबद्धस्यास्ति स्फुटार्थावभासिता । न विकल्पेनानुबद्धस्य संस्तुतस्य ज्ञानस्य स्फुटा-  
र्थावभासिताऽस्ति ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८३ । उद्धृतोऽयम्—तत्त्वोप० पृ० ३४ । सिद्धिबि०  
टी० पृ० २८ B., १५ A. । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२० । सम्मति० टी० पृ० ५०२ । न्यायवि० वि०  
पृ० ७७ A. । “न विकल्पानुबन्धस्य”—शास्त्रवा० यशो० पृ० १५७ B. । “निर्विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थः  
प्रतिभासते”—न्यायवि० टी० टि० पृ० ३५ । (६) “प्रत्यक्षं कल्पनापोद प्रत्यक्षेणैव सिद्धयति ।

इदमपरं व्याख्यानम्—स्वसंवेद्यं स्वसंवेदनप्राप्तं यद्वपम् । केपाम् ? विकल्पा-  
 ल्पानाम् अनुमानादिमानसज्ञानानाम् । तत्किम् ? विशदार्थावभासनम् निर्वि-  
 कल्पकमभ्रान्तम् इत्यर्थः । कदा ? संहृताशेषचिन्तायाम् । केन रूपेण ?  
 'स्वसंवेदेन' इति विभक्तिपरिणामेन सम्यग्बन्धः । किं कृत्वा ? सविकल्पावभास-  
 नात् तदवभासनमाश्रित्य इत्यर्थः । ततस्ते विकल्पाः कथञ्चित् प्रत्यक्षाभा इति भावः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—'सर्वतः' इत्यादि । सर्वतः सजातीयाद् विजातीयाच्च

संहृत्य त्यक्त्वा । काम् ? चिन्ताम् परामर्शवृद्धिम् । स्थितोऽपि

विवृतिव्याख्यानम्—

प्रतिपत्ता । केन रूपेण ? इत्याह—'स्तिमितेन' इत्यादि । स्तिमितः

स्थिरीभूतः अपरिस्पन्दः अन्तरात्मा मनः तेन । स किं करोतीत्याह—'चक्षुषा'

इत्यादि । चक्षुर्महणमुपलक्षणं श्रोत्रादेः, तेन रूपं पश्यति, रूपग्रहणमपि रसादीनामुपल-

क्षणम् । कथम्भूतम् ? संस्थानात्मकं वर्तुलत्वादिधर्मस्वभावम् । पुनरपि कथम्भूतम् ?

स्थूलात्मकं स्थूलस्वभावमेकम् । पुनरपि किंविशिष्टम् ? सूक्ष्मानेकस्वभावम्, सूक्ष्मोऽ-

नेकः स्वभावो यस्य तत्तथोक्तम् । ननु संस्थानादिकं गुणत्वाद् द्रव्यस्य न रूपस्य, अस्य

गुणत्वेन निर्गुणत्वात्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; अनेकान्ते द्रव्यगुणयोरभेदार्पणया

रूपस्यापि द्रव्यधर्माऽपिरोधात् । ननु चक्षुषा रूपं दृश्यमानम् अन्योन्यविलक्षणांके-

नरापरमाणुस्वभावस्वलक्षणरूपमेव दृश्यते ननु स्थूलादिस्वरूपम्, इत्यत्राह—'न पुनः'

इत्यादि । पुनरिति भावनायाम्, न स्वलक्षणं पश्यति, कथम्भूतम् ? असाधारणम्,

असाधारणः सजातीयविजातीयव्यावृत्तः एकोऽसहायः अन्तो धर्मो यस्य तत्तथोक्तम् ।

कुत एतत् ? इत्याह—'प्रतिसंहार' इत्यादि । संहारः अशेषविकल्पाभावः, प्रतिसंहारः

पुनर्विकल्पप्रवृत्तिः, तमाश्रित्य व्युत्थितं प्रतिबुद्धं चित्तं यस्य स तथोक्तः तस्य, तथैव

असाधारणैकान्तप्रकारेण अस्मरणात् स्मरणाभावात् स्वलक्षणस्य, अतो न तस्य कदाचिद्

दर्शनम् स्थूलादिस्वभार्यस्यैव ॥ स्मरणात् सदा दर्शनमिति ।

'तस्मात्' इत्यादिना उपसंहारमाह—यस्माद्विचिकल्पकं ज्ञानं परस्य प्रत्यक्षत्वे-

नाऽभिप्रेतं न कदाचिद् विशदस्वरूपतया प्रतिभाति तस्माद् अविशदमेव अविकल्पकं

प्रत्यक्षाम् । ननु विशदेतरज्ञानानां विभिन्नप्रतिभासतया विभिन्नविषयत्वात् 'स्थूलादि-

प्रत्यात्ममेव सर्वेषां विकल्पो नामसंध्यः ॥ यत्तत्प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धं तत्कल्पनाया अपोहं द्रष्टव्यं कल्प-

नार्यरहितमित्यर्थः । तन्वैतदीदृश प्रत्यक्षेणैव स्वसंवेदेनैव सिद्धयति । कल्पनारहितस्यार्थस्य रूपस्य

संवेदनस्यापरोक्षत्वात् । यदि तु कल्पनास्वभावत्वमस्य स्यात्तथैव प्रकाशेत् विकल्पस्यापरोक्षत्वात् । तथाहि

—प्रत्यात्ममेव सर्वेषां प्राणिना विबल्यो नामसंध्यः अन्तःसर्गवान् । स यदि स्यादुपलभ्य एव भवेत् ।"

—प्रमाणवा० मनोरथ० २।१२३ । उद्धृतोऽयम्—अनेकान्तत्रय० पृ० २०७ । न्यायवा० ता० पृ०

१५४ । सिद्धिचि० टी० पृ० १७ A, ३१ A । प्रमेयक० पृ० ३२ । सम्मति० टी० पृ० ५०३ ।

न्यायवि० वि० पृ० ४५ A, ८३ B, ४९५ A । स्या० २० पृ० ८२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० १५७ B ।

१ तेन किं थ० । २—स्वभावलक्षणस्यमेव थ० । ३ 'असाधारणम्' नास्ति वा०, व० ।

४—व्यावृत्त ए एको—व० । ५—वर्त्यवानुम—व० । ६—मिति यस्मा—व० । ७ अविकल्प प्र—थ० ।

स्वभावं रूपं पश्यति' इत्यादि युक्तम्, 'ययोर्विभिन्नप्रतिभासत्वं तयोर्विभिन्नविषयत्वं यथा रूपरसज्ञानयोः, विभिन्नप्रतिभासत्वं च प्रत्यक्षेतरज्ञानयोरिति । तथा च, विशदस्वभावस्य अध्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वं सिद्धम्, अविशदस्वभावस्य तु विकल्पस्य स्थूलादिविषयत्वम् इत्यादिङ्क्याह—'नच' इत्यादि । नच नैवं विशदेतरविकल्पयोः अवग्रहादिस्मरणाद्योः विषयभेदैकान्तः, 'परमार्थवस्तुनि विशदविकल्पः प्रवर्तते, कल्पिते अविशदविकल्पः' इति, किन्तु विशदविकल्पविषय एव अविशदविकल्पस्य विषयः । यच्च 'विभिन्नप्रतिभासत्वात्' इत्युक्तम्, तदप्यनैकान्तिकमित्युपदर्शयन्नाह—'प्रत्यासन्न' इत्यादि । प्रत्यासन्नश्च इतरश्च अप्रत्यासन्नः अर्थो येषां तानि च तानि प्रत्यक्षाणि तेषां विशदेतररूपप्रतिभासभेदसंभवेऽपि एकार्थविषयतोपपत्तेः । नहि दूरासन्नपुरुषाणां पादपादप्रत्यक्षेषु प्रतिभासभेदोऽसिद्धः । नापि विषयाभेदः, पादपादेरेकस्यैव तद्विषयत्वात् ।

यदप्युच्यते—'प्रत्यक्षे न सन्ति कल्पना उपलब्धिलक्षणप्राप्तानामनुपलब्धेः, यद्यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलब्ध्यते तत्तत्र नास्ति यथा कचित् प्रदेशविशेषे घटः, नोपलब्ध्यन्ते च प्रत्यक्षे तथाविधाः सत्यं कल्पना इति । न च उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं तासामसिद्धम्; 'नैहि इमाः कल्पना अप्रतिसविदिता एव उदयन्ते व्ययन्ते च यतः संत्योऽप्यनुपलक्षिताः स्युः' इति; तदुपपन्नाह—

**प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योऽपि कल्पनाः ।**

**प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरन् तत्स्वलक्षणभेदवत् ॥ २४ ॥**

(१) प्रत्यक्षेतरज्ञाने विभिन्नविषये विभिन्नप्रतिभासत्वात् । (२) [अ] सिद्ध इत्यत्रापि योज्यम्—आ० टि० । (३) 'यदाह—न चेमा कल्पना अप्रतिसंविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते चेति । नापि तत्प्रतिपत्तौ लिङ्गानुसरणेन तदाकारसमारोपमध्यमं शक्यते कल्पयितुम्...'—प्रमाणवा० स्व० टी० १।५० । (४) 'न लक्ष्येरन् विविच्येरन् । का ? कल्पना विकल्पा । कपु ? प्रत्यक्षेषु स्वसंवेदनादिषु । किं विशिष्टा अपि ? सत्योऽपि विद्यमाना अपि । पुन कथम्भूता ? प्रतिमविदितोत्पत्तिव्यया, उत्पत्तिस्वरूपलाभं व्ययोऽभावप्रत्ययः, प्रतिमविदितौ प्रतिप्राणि समुपलब्धौ उत्पत्तिव्ययो यासां तास्तथोक्ता । न खलु सारव विना उत्पादव्ययवस्वमनुभूयते, अन्यथाऽतिप्रमङ्गात् । ननु सता विकल्पानां प्रत्यक्षशुद्धावनुपलक्षणे किं कारणमिति चेत्, प्रतिपत्तुरक्षान्तरप्रणिधानञ्चति द्वयम् । अत्र निदर्शनमाह—तदित्यादि । तेषां विकल्पानां स्वलक्षण स्वरूपं तस्य भेद सजातीयविजातीयव्यावृत्तिः स इव तद्वत् । अयमर्थः—यथा प्रतीतोत्पादव्यया सत्यपि स्वलक्षणव्यावृत्तिः कल्पनासु न लक्ष्यते अनुमानत एव तत्सिद्धे तथा प्रत्यक्षेषु कल्पना अपि न लक्ष्यन्ते इति । तर्हि कथमलक्षितानां तासां सत्तास्तत्त्वसिद्धिरिति चेत् ? न, पुनस्तद्विषयस्मरणान्यथानुपपत्त्या तत्सिद्धे । सहृत्सकलविकल्पावस्था हि अश्वं विकल्पयतो गोदर्शनावस्था, तत्रापि गोदर्शनं निश्चयात्मकमेव पुनस्तद्विषयस्मरणान्यथानुपपत्तेः । '—लघो० ता० पृ० ४४ । गुलना—'न हि सचित्ते बहुबहुविधप्रभृत्याकृतयः स्वयमसंविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते वा यतः सत्योऽप्यनुपलक्षिता स्युः कल्पनावत् ।'—सिद्धिबि०, टी० पृ० ९८ A ।

१ नैव व० । २—विकल्पकस्य आ० । ३ 'प्रत्यासन्नेत्यादि' नास्ति आ०, थ० । ४ प्रत्यक्षेण सन्ति थ०, व० । ५ सतोऽप्यनु—आ० ।

विवृतिः—सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् तद्विशेषादर्शिनोऽनवधारणम् अस-  
मीक्षिताभिधानम्; सर्वथा तत्सादृश्याऽनिष्टेः । प्रतिसंहारैकान्तः संभवति न वेति  
चिन्त्यमेतत् । कथञ्च प्रत्यक्षबुद्धयः सर्वाथाऽविकल्पाः पुनर्विकल्परन् ?

प्रति प्राणि संविदितौ उत्पत्तिव्ययौ यासा ताः तथोक्त्य ता तथाविधाः

कारिकार्थ - सत्योऽपि विद्यमाना अपि न केवलमसत्य , प्रत्यक्षेषु, बहुवचन  
चतुर्विधस्यापि प्रत्यक्षस्य सङ्ग्रहार्थम् । कल्पना न लक्ष्येरन् ।

न च सत प्रतिसंविदिताविर्भावविनाशवतोऽनुपलक्षण विरुद्धम्, इत्यस्यार्थस्य समर्थ-  
नार्थं तत्प्रसिद्धमेव निदर्शनं प्रदर्शयन्नाह—‘तत्स्वलक्षणभेदवत्’ इति । तासा कल्प-  
नाना स्वलक्षणं स्वस्वरूप तस्य भेद संजातीयाद्विजातीयाच्च व्यावृत्तिः स इव तद्वदिति ।  
एतदुक्तं भवति—यथा प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययः सन्नपि कल्पनासु तद्भेदो न लक्ष्यते,  
अन्यथा क्षणक्षयानुमानमनर्थक स्यात्, तथा प्रत्यक्षेषु कल्पनाः सत्योऽपि न लक्ष्यन्त इति ।

तद्भेदानुपलक्षणे परकीया युक्तिं सद्रूपणा ‘सदृश’ इत्यादिना प्रदर्श्य कारिकार्थं

‘प्रतिसंहारैकान्त’ इत्यादिना वर्णयति—सदृशस्य समानस्य अपर-  
विवृत्तिव्याख्यानम्—स्यापरस्य उत्पत्तिः तैसा विप्रलम्भः अलातचक्रवत् चक्षुषो भ्रमः

तस्माच्चद्विशेषादर्शिनः त प्रकृत सजातीयव्यावृत्तिलक्षणविशेषम् अलातचक्रवन्न  
पश्यतीत्येवशीलस्य सौगतस्य अनवधारणं यद् भेदानुपलक्षणम्, तदसमीक्षिता-  
भिधानम्, कुत एतत् ? इत्याह—‘सर्वथा’ इत्यादि । सर्वथा भेदाभेदोभयानुभय-  
प्रकारेण तासां कल्पनाना सादृश्यस्य अनिष्टेः ततः तद्भेदोपलक्षणमेव स्यात् इत्यभिप्रायः ।  
नचैतदस्ति, अतो यथा तद्भेद सन्नपि नोपलक्ष्यते तथा प्रत्यक्षेषु सत्योऽपि कल्पना  
इति । ततः प्रतिसंहारैकान्तः प्रत्यक्षेषु सकलकल्पनाविरहैकान्त ‘संभवति न वा’ इति  
चिन्त्यमेतत् पर्यालोच्यमेतत् ‘न संभवति’ इत्यर्थः । तत्स्वलक्षणभेदवत् तासा  
तत्रानुपलक्षिताना समवात् । ननु यद्यपि तासा तद्भेदो न लक्ष्यते तथापि अभिलाप-  
सर्गयोग्यप्रतिभासो विद्यमानो लक्ष्येत, न च उपलक्ष्यते । अत आस्याऽनुपलक्षणात्  
अभावंसिद्धे सिद्ध प्रतिसंहारैकान्त, इत्याह—‘कथञ्च’ इत्यादि । कथञ्च न कथञ्चिदपि

(१) स्वहेतोरेव तथोक्त्य क्षणस्थितिधर्मता तत्त्वभाव पक्षत्रपि मन्दबुद्धि सत्तोपलम्भन  
मवादा तथाभावस्य शङ्कया सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भो वा न व्यवस्यति ।—प्रमाणवा० स्ववृ०  
१।३४ । ‘ता पुनरनित्यता पश्यन्नपि मन्दबुद्धि नाध्यवस्यति सत्तापलम्भन संवादा तदभावशङ्काविप्र-  
लम्भ मद्वापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भो वा ।’—प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० २३७ । (२) इन्द्रियमन  
स्वसंवेदनयोगिलक्षणस्य । (३) क्षणमङ्गित्वम् स्वरूपभेदश्च । (४) उवाङ्(?)—आ० टि० । (५)  
भेदम् । (६) कल्पनानाम् । (७) कल्पनाया लक्षणमिदम्, तथाहि—‘अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभास  
प्रतीति कल्पना न्यायवि० पृ० १४ । (८) अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासस्य ।

१ सजातीयाच्च व्या०—आ० । २ तदुक्तं व० । ३ तथा आ० । ४ तद् थ० । ५ सचयेत्यादि  
नास्ति थ० । ६ सादृश्यानिष्टे व० । ७ ततस्तदभेदोप—आ० । ८ पर्यालोच्यमेतत् नास्ति जा० ।  
९ तत व० । १०—सिद्ध प्रति—थ० । ११ कथञ्चेदित्यादि व० ।

प्रत्यक्षबुद्धयः, बहुवचनम् अशेषाभ्यक्षबुद्धिसङ्ग्रहार्थम्, सर्वथा स्वरूपवद् बहिरपि अविकल्पाः, पुनरिति वितर्के विकल्पेरन् बहिर्विकल्पात्मिका भवेयुः अनेकान्त-  
प्रसङ्गादिति मन्यते । अथवा तद्बुद्धयः सर्वथाऽविकल्पाः सत्यः कथञ्च न पुनः  
पश्चाद् विकल्पेण विकल्पान् कुर्युः । न हि अविकल्पादनुमवाद् अर्थादिव विकल्पः  
संभवतीत्युक्तं सूत्रविकल्पसिद्धिप्रवृत्तेः । ततः स्थितमर्थमुपदर्शयन्नाह—

अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाभिनिबोधिकैः ।

व्यवहाराऽविसंवादः तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥ २५ ॥

विधृतिः—प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोद्धानुमानादिभिः अविसंवादसिद्धेः अर्थेषु  
तत्प्रामाण्यम्, अन्यथा तदाभासव्यवस्था । तथैव श्रुतज्ञानं तदाभासव्यवस्था ।

अक्षणां चक्षुरादीनां कार्यभूता धीर्बुद्धिः अयमहाद्यात्मिका मतिः सा च 10

कारिकार्यं— स्मृतिश्च संज्ञा च तामि., चिन्तया तर्केण, अभाभिनिबो-  
धिकैः अनुमानेन व्यक्त्यपेक्षं बहुवचनम् तेः समस्तैर्व्यस्तैश्च व्यव-

हाराविसंवादः, अतस्तेषां प्रामाण्यम्, अन्यथा एकान्तवादिपरिकल्पितप्रकारेण  
तदाभासः प्रमाणाभासः । नहि एकान्तवादिपरिकल्पितस्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽप्रामा-  
ण्यप्रकारेण अविकल्पाक्षज्ञान-कार्यादिपरिगणितलिङ्गप्रभवानुमानप्रकारेण च प्रवृत्त्यादि- 15  
व्यवहाराविसंवादो लोके प्रसिद्धः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘प्रत्यक्ष’ इत्यादि । प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोद्धानु-

विवृतिव्याख्यानम्— मानादिभिः अविसंवादसिद्धेः कारणाद् अर्थेषु घटादिषु तेषां प्रत्य-  
क्षानीनां प्रामाण्यम्, अन्यथा एकान्तवादिकल्पितप्रकारेण तदाभास-

व्यवस्था प्रामाण्याभासव्यवस्था । एतदेव शब्दे श्रुतेऽतिदिशन्नाह—‘तथैव’ इत्यादि । 20  
स्मरणादिना अन्यस्य श्रुतस्य उक्तत्वात् शब्द श्रुत श्रुतज्ञानशब्देनेह गृह्यते, तथैव  
व्यवहारसंवाद-विसंवादप्रकारेणैव श्रुतज्ञानं तदाभासश्च तयोर्व्यवस्था ।

ननु श्रुतज्ञानं प्रमाणमेव न भवति तत्कथं तद्व्यवस्था इत्याशङ्क्याह—

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु ।

अनाश्वासं न कुर्वीरन् कचित्तद्व्यभिचारतः ॥ २६ ॥

25

(१) यथाहि अभिलाष-अभिलष्यमानजातिगुणक्रियादिरहितात् क्षणिकार्थात् न शब्दसर्गा

विकल्पो जायते तथैव निर्विकल्पान्भवादपि शब्दगूल्यात् न शब्दात्मको विकल्प समुत्पद्येत । (२) ४०

५१ । (३) ‘प्रमाणमित्यनुवर्तते । तेनाभिसम्बन्धाद् अक्षध्यादीनां प्रथमान्तत्वम् अर्थवशाद्विभक्तिविपरि-

णाम’ इति न्यायात् तत् एव व्याख्यायते—अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाऽभिनिबोधैर्वच व्यवहारे हाना-

पादानरूपे अविसंवादादव्यभिचारः सकलव्यवहाराणां प्रतीतिसिद्धं ततस्तानि प्रमाणानि भवन्तीत्यर्थः ।

—लघो० ता० प० ४५ । (४) परोक्षस्य—आ० टि० । (५) परोक्षम्—आ० टि० । (६) ‘व्यवहाराविसंवाद

1 कथञ्च पुन आ० । 2 विकल्पेनैव विक—प्र० । 3—निबोधकं. व० । 4 अभिनिबोधिकैः

व०, प्र० । 5 यथैव आ० । 6—संवादप्रकारे—ध० ।

विवृतिः—सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् तद्विशेषादर्शिनोऽनवधारणम् अस-  
मीक्षिताभिधानम्; सर्वथा तत्सादृश्याऽनिष्टे । प्रतिसंहारैकान्तः संभवति न वेति  
चिन्त्यमेतत् । कथञ्च प्रत्यक्षबुद्धयः सर्वाथाऽविरूपाः पुनर्विरूपेरन् ?

प्रति प्राणि संविदितौ उत्पत्तिव्ययौ यासा ता तथोक्ता ता तथाविधा.

5 सत्योऽपि विद्यमाना अपि न केवलमसत्य, प्रत्यक्षेषु, गृह्यचन  
कारिकार्थ - चतुर्विधस्यापि प्रत्यक्षस्य सङ्ग्रहार्थम् । कल्पना न लक्ष्येरन् ।

न च सत प्रतिसविदिताविर्भावविनाशगतोऽनुपलक्षण विरुद्धम्, इत्यस्यार्थस्य समर्थ-  
नार्थं तत्प्रसिद्धमेव निदर्शनं प्रदर्शयन्नाह—‘तत्स्वलक्षणभेदवत्’ इति । तासां कल्प-  
नानां स्वलक्षण स्वस्वरूप तस्य भेद संज्ञातीयाद्विजातीयाच्च व्यावृत्तिः स इव तद्वदिति ।  
10 एतदुक्तं भवति—यथा प्रतिसविदितोत्पत्तिव्ययः सन्नपि कल्पनासु तद्भेदो न लक्ष्यते,  
अन्यथा क्षणक्षयानुमानमनर्थकं स्यात्, तथा प्रत्यक्षेषु कल्पनाः सत्योऽपि न लक्ष्यन्ते इति ।

तद्भेदानुपलक्षणे परकीया युक्तिः सदूपणा ‘सदृश’ इत्यादिना प्रदर्श्य कारिकार्थं  
‘प्रतिसंहारैकान्त’ इत्यादिना दर्शयति—सदृशस्य समानस्य अपर-  
विवृतिव्याख्यानम्—  
स्यापरस्य उत्पत्तिः तैसा विप्रलम्भः अलातचक्रवत् चक्षुषो भ्रम

15 तस्मात्तद्विशेषादर्शिनः त प्रकृत संज्ञातीयव्यावृत्तिलक्षणविशेषम् अलातचक्रवन्न  
पश्यतीत्येवशीलस्य सौगतस्य अनवधारणं यद् भेदानुपलक्षणम्, तदसमीक्षिता-  
भिधानम्, कुत एतत् ? इत्याह—‘सर्वथा’ इत्यादि । सर्वथा भेदाभेदोभयानुभय-  
प्रकारेण तासां कल्पनानां सादृश्यस्य अनिष्टेः ततः तद्भेदोपलक्षणमेव स्यात् इत्यभिप्रायः ।  
नचैतदस्ति, अतो यथा तद्भेदः सन्नपि नोपलक्ष्यते तथा प्रत्यक्षेषु सत्योऽपि कल्पना  
20 इति । ततः प्रतिसंहारैकान्तः प्रत्यक्षेषु सकलकल्पनानिरहेकान्त ‘संभवति न वा’ इति  
चिन्त्यमेतत् पर्यालोच्यमेतत् ‘न संभवति’ इत्यर्थः । तत्स्वलक्षणभेदवत् तासां  
तत्रानुपलक्षितानां समवात् । ननु यद्यपि तासां तद्भेदो न लक्ष्यते तथापि अभिलाष-  
ससर्गयोग्यप्रतिभासो विद्यमानो लक्ष्येत, न च उपलक्ष्यते । अतः अस्याऽनुपलक्षणात्  
अभर्धसिद्धे सिद्ध प्रतिसंहारैकान्त, इत्याह—‘कथञ्च’ इत्यादि । कथञ्च न कथञ्चिदपि

(१) स्वहेतवेऽपि तथोत्पत्तः क्षणस्थितिपमता तत्त्वभावः पश्यन्नपि मन्दबुद्धिः सत्तोपलम्भनं  
सर्वदा तथाभावस्य चक्षुष्या सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भो वा न व्यवस्यति । ‘—प्रमाणवा० स्ववृ०  
१।३४ । ता पुनरनित्यता पश्यन्नपि मन्दबुद्धिः नाध्यवस्यति सत्तापलम्भनं सर्वदा तदभावस्य चक्षुष्या विप्र-  
लम्भः सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भो वा ।’—प्रमाणवा० तिकाल० डि० पृ० २३७ । (२) इन्द्रियमन  
स्वमवदनयानि उल्लेखस्य । (३) क्षणभङ्गित्वम स्वस्वरूपमदश्च । (४) उवाच(?)—आ० डि० । (५)  
भदम । (६) कल्पनानाम् । (७) कल्पनाया उल्लेखमिदम् तथाहि—‘अभिलाषससर्गयोग्यप्रतिभास  
प्रगति कल्पना’ न्यायवि० पृ० १४ । (८) अभिलाषससर्गयोग्यप्रतिभासस्य ।

1 सज्ञातीयाच्च व्या—आ० । 2 तदुक्तं व० । 3 तथा आ० । 4 तदर्थं । 5 सचयस्यादि  
नास्ति थ० । 6 सादृश्यानिष्ठ व० । 7 ततस्तदभेदोप—आ० । 8 पर्यालोच्यमेतत् नास्ति आ० ।  
9 तत व० । 10—सिद्ध प्रति—थ० । 11 कथञ्चेदित्यादि व० ।

प्रत्यक्षबुद्धयः, बहुवचनम् अशेषाध्यक्षबुद्धिसङ्ग्रहार्थम्, सर्वथा स्वरूपवद् बहिरपि अविकल्पाः, पुनरिति वितर्के विकल्पेण बहिर्विकल्पात्मिका भवेयुः अनेकान्त-  
प्रसङ्गादिति मन्यते । अथवा तद्बुद्धयः सर्वथाऽविकल्पाः सत्यः कथञ्च न पुनः  
पश्चाद् विकल्पेण विकल्पान् कुर्युः । न हि अविकल्पादनुभवाद् अर्थादिव विकल्पः  
संभवतीत्युक्तं सविकल्पसिद्धिप्रघटके । ततः स्थितमर्थमुपदर्शयन्नाह—

अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाभिनिबोधिकैः ।

व्यवहाराविसंवादः तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥ २५ ॥

विवृतिः—प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानादिभिः अविसंवादसिद्धेः अर्थेषु  
तत्प्रामाण्यम्, अन्यथा तदाभासव्यवस्था । तथैव श्रुतज्ञानं तदाभासव्यवस्था ।

अक्षाणां चक्षुरादीनां कार्यभूता धीर्बुद्धिः अवग्रहाद्यात्मिका मतिः सा च 10

कारिकार्थ —

स्मृतिश्च संज्ञा च तामि, चिन्तया तर्केण, आभिनिबो-  
धिकैः अनुमानैः व्यक्त्यपेक्ष बहुवचनम् तैः समस्तैर्व्यस्तैश्च व्यव-

हाराविसंवादः, अतस्तेषां प्रामाण्यम्, अन्यथा एकान्तवादिपरिकल्पितप्रकारेण  
तदाभासः प्रमाणाभासः । नहि एकान्तवादिपरिकल्पितस्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽप्रामा-  
ण्यप्रकारेण अविकल्पाक्षज्ञान-कार्यादिपरिगणितलिङ्गप्रभवानुमानप्रकारेण च प्रवृत्त्यादि- 15  
व्यवहाराविसंवादो लोके प्रसिद्धः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘प्रत्यक्ष’ इत्यादि । प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानु-

विवृतिव्याख्यानम्—

मानादिभिः अविसंवादसिद्धेः कारणाद् अर्थेषु घटादिषु तेषां प्रत्य-

क्षादीनां प्रामाण्यम्, अन्यथा एकान्तवादिपरिकल्पितप्रकारेण तदाभास- 20

व्यवस्था प्रामाण्याभासव्यवस्था । एतदेव शाब्दे श्रुतेऽतिदिशन्नाह—‘तथैव’ इत्यादि ।

स्मरणादिना अन्यस्य श्रुतस्य उक्तत्वात् शाब्दं श्रुतं श्रुतज्ञानशब्देनेह गृह्यते, तथैव

व्यवहारसंवाद-विसंवादप्रकारेणैव श्रुतज्ञानं तदाभासश्च तयोर्व्यवस्था ।

ननु श्रुतज्ञानं प्रमाणमेव न भवति तत्कथं तद्व्यवस्था इत्याशङ्क्याह—

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु ।

अनाश्वासं न कुर्वीरन् कचित्तद्ध्यभिचारतः ॥ २६ ॥ 20

(१) यथाहि अभिलाष-अभिलष्यमानजातिगुणक्रियादिरहितात् क्षणिकार्थान् न शब्दसमर्गं  
विकल्पा जायते तथैव निविकल्पानुभवादपि शब्दशून्यात् न शब्दात्मको विकल्पः समुत्पद्येत । (२) ४०  
५१ । (३) “प्रमाणमित्यनुवर्तते । तेनाभिसम्बन्धाद् अक्षध्यादीनां प्रथमान्तत्वम् ‘अर्थवशाद्विभक्तिविपरि-  
णाम’ इति न्यायात् तत एव व्याख्यायते—अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाऽऽभिनिबोधैर्वचश्च व्यवहारे हानो-  
पादानरूपे अविसंवादादव्यभिचारः सकलव्यवहारिणा प्रतीतिमिदं ततस्तानि प्रमाणानि भवन्तीत्यर्थः ।”

—लघो० ता० प० ४५ । (४) परोक्षस्य—आ० टि० । (५) परोक्षम्—आ० टि० । (६) “व्यवहाराविसंवाद

१ कथञ्च पुन आ० । २ विकल्पेनैव विक—प्र० । ३—निबोधकं. व० । ४ अभिनिबोधिकैः

व०, प० । ५ पर्यव आ० । ६—संवादप्रकारे—प्र० ।



विवृतिः—श्रुतज्ञानं वक्त्रभिप्रायादर्थान्तरेऽपि प्रमाणम्, कथमन्यथा द्वीप-  
देशनदीपर्वतादिकम् अदृष्टस्वभावकार्यं दिग्विभागेन देशान्तरस्थं प्रतिपत्तुमर्हति  
निरारेकमविसंवादश्च ?

श्रुतं धर्मि, प्रमाणमिति साध्यो धर्मः 'अविसंवादसिद्धेः' इत्येतदनुवर्तमान

साधन तेन 'अविसंवादक श्रुतं प्रमाण न सर्वम्' इत्युक्तं भवति ।  
कारिकायं - तदित्थम्भूत श्रुतं क प्रमाणमित्याह—अर्थेषु, न पुनः अभिप्रायमात्रे ।  
क्रिचिशिष्टेषु तेषु ? इत्याह—द्वीपान्तरादिषु सिद्धं देशान्तरे लोके वा प्रसिद्धम् ।  
ननु अर्थाभावेऽपि शब्दानां प्रयुक्तिप्रतीतेः कथं तैस्तत्र प्रमाणमित्याह—'अनाश्वासम्'  
इत्यादि । अनाश्वासम् आश्वासमायं न कुर्वीरन् कचिद् 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशत-  
मास्ते' इत्यादौ तस्य श्रुतस्य व्यभिचारतो व्यभिचारमाश्रित्य, इन्द्रियज्ञानेपि अत  
एव तद्भावापत्तेरित्यभिप्रायः ।

ननु श्रुतस्य अनुमानाद् व्यतिरेकाऽसिद्धितः तत्त्वामाण्यप्रसाधनादेव प्रमाणप्रसिद्धेः

श्रुतज्ञानमनुमानाद् व्यतिरेक प्रमाणमन्य-  
गच्छताविराधिकवी-  
दया पूर्वपक्ष - 'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु' इत्याद्युक्तम्; तथाहि—ईदृशोऽनुमानान्न व्य-  
तिरिच्यते तदभिन्नविषयत्वात् तदभिन्नसासमीसमन्वितत्वाच्च, यद्  
यत् तथाविध तत्तदनुमानान्न व्यतिरिच्यते यथा कुतश्चिदनुमानाद्  
अनुमानान्तरम्, तथाविधश्चायं शब्द इति । न चास्य तदभिन्न-

इत्यनुवर्तते । आप्तवचनादिनिबन्धन मतिपूर्वमर्थज्ञान श्रुत तच्च प्रमाण सिद्धमेव । केन सिद्धमिति  
चेत् ? व्यवहाराविसंवादादित्युच्यते प्रत्यक्षादिवत् । केयु ? अर्थेषु प्रमयेषु ? कीदृशु ? द्वीपान्तरादिषु,  
प्रकृतो जम्बूद्वीप तस्मादन्ये धातकीषण्डादयो द्वीपान्तराणि शान्यादियेषां कालस्वभावव्यवहितानां त  
तथोक्ता तेषु देशकालाकारविप्रकटोऽप्यित्यर्थः । न हि श्रुतादर्थं परिच्छिन्न प्रवर्तमानो रसायनादि-  
त्रियाया विमवाद्यते ग्रहणादौ वा मलयादिप्राप्ती वा । ततोऽनाश्वासमविश्वास न कुर्वीरन् परीक्षका ।  
कुत ? वक्त्रसद्व्यभिचारत । वक्त्रजदीतीरे मोदकादिप्रतिपादने तस्य श्रुतस्य व्यभिचारो विसंवाद-  
तस्मात् । नहि वक्त्रसद्विसंवादादप्रामाण्ये ज्ञानस्य सर्वनाप्रामाण्यं शङ्कनीयं प्रत्यक्षादिवपि तथारव-  
प्रसङ्गात् सकलव्यवहारविलोपापत्तेः ।—लघी० भा० पृ० ४६ ।

(१) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकादौ, नैयायिक-मीमांसकादिग्रन्थे वा । (२) श्रुतमर्थं । (३) तुलना-  
'एतत्साक्ष्यपक्षो कोऽन्य सलज्जो वक्तुमीहेतु । अदृष्टपूर्वमस्तीति तूष्णाग्रे करिणा शतम् ।'—प्रमाणवा०  
१।१६७ । प्रज्ञ० व्यो० पृ० ५८१ । "अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च"—परीक्षामु० ६।५३ । (४)  
वक्त्रसद्विचित्रादिज्ञाने चाक्षुषप्रत्यक्षस्य व्यभिचारोपलम्भात् एकचन्द्रविज्ञानेऽपि अविवेकासप्रसङ्गात् ।  
(५) अनाश्वासपत्तेः । (६) "शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भाव समानविधित्वात् । यथा प्रसिद्धसमयस्य  
असन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्धयनुस्मरणाभ्यामतोन्द्रियेऽर्थं भवत्यनुमानमेव शब्दादिभ्योऽपीति । श्रुतिस्मृति-  
लक्षणोप्याम्नायो वक्तुप्रामाण्यापेक्षः"—प्रज्ञ० भा० पृ० ५७६ । "अन्तर्भावव्यवहारे च समानवि-  
धित्वात् समानलक्षणयोगित्वादिति हेतूपन्यासः"—प्रज्ञ० व्यो० पृ० ५७७ । "प्रसिद्धः समयोऽविना-

१ 'च' नास्ति ई० वि०, ज० वि० । २-भूतं च आ० । ३ आस्ये लोके थ० । ४ इत्या-  
पारस्य श्रुतस्य थ० । ५ तस्य व्यभि-व० । ६-काप्रति-थ०, व० ।

विषयत्वमसिद्धम्; शब्दानुमानयोरविशेषतः सामान्यगोचरचारित्वात् । सम्बद्धान्तर-  
तिपत्तिहेतुत्वाच्च; न हि शब्दः असम्बद्धमर्थं प्रतिपादयति अतिप्रसङ्गात्, सम्बद्धश्च त  
प्रतिपादयन्नसौ तैल्लिङ्गतां नातिवर्त्तेत् । नापि तदभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वमसिद्धम्,  
धूमादिवत् शब्दस्य अर्थप्रतीतौ सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात् । अन्यैरन्यतिरेकवत्त्वाच्च,  
यो हि शब्दो यत्रार्थे लोके दृश्यते स तस्य वाचकः यत्र तु न दृश्यते न तस्य वाचकः । 5  
पक्षधर्मत्वोपेतत्वाच्च; तथाहि—विवक्षितः शब्दः अर्थवान् शब्दत्वात् पूर्वोपलब्धशब्दवत्,  
यथा अयं धूमोऽग्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत् । यथा च प्रत्यक्षतो धूमं दृष्ट्वा  
बहिः प्रतीयते तथा शब्दं श्रुत्वा तदर्थोऽपि । दृष्टान्तनिरपेक्षत्वञ्च अभ्यस्तविषये द्वयो-  
रप्यनयोरविशिष्टम् ।

किञ्च शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणं न बाह्ये व्यभिचारात् । न हि 'अङ्गुल्यग्रे 10  
हरितयूथशतमास्ते' इत्यादि शब्दानां बाह्येऽर्थे प्रामाण्यमुपपद्यते प्रतीतिविरोधात् । तस्यैवा-  
एतस्य लिङ्गतैवेति ॥६॥

भावो यस्य पुरुषस्य तस्य लिङ्गदर्शनप्रसिद्धधनुस्मरणाभ्यां लिङ्गदर्शनं यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येवम्भूताया  
प्रसिद्धेरनुस्मरणञ्च ताभ्यां यथाऽतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानं तथा शब्दादिभ्योऽपीति । तावद्वि शब्दो नार्थं  
प्रतिपादयति यावदयमस्याव्यभिचारीत्येव नावगम्यते, ज्ञाते त्वव्यभिचारे प्रतिपादयन् धूम इव लिङ्ग  
स्यात् "—प्रश्न० कन्व० पृ० २१४ । "अत्र हेतुमाह—समानविधित्वात् । समानप्रवृत्तिकारणत्वात्  
विजातीयलक्षणानान्तत्वादिति यावत् । अप्रतिबन्धकत्वे अप्रामाण्यमव, साक्षात्प्रतिबन्धकत्वे प्रत्यक्षा-  
न्तर्भाव, परम्पराप्रतिबन्धकत्वे चानुमान एवान्तर्भाव "—प्रश्न० किर० पृ० ३०९ ।

(१) तुलना—"परोक्षविषयत्व हि तुल्यं तावद् द्वयोरपि । सामान्यविषयत्व च सम्बन्धा-  
पेक्षणाद् द्वयोः ॥"—न्यायम० पृ० १५२ । (२) "यद्यप्येते पदार्था मिथः ससर्गवन्तो वाक्यत्वादिति  
व्यधिकरणम्, पदार्थत्वादिति चार्थकान्तिकम्, पदे स्मारितार्थससर्गवन्ति तस्मारकत्वादित्यादौ साध्या-  
भाव, तथापि आकाङ्क्षादिमदर्थं पदे स्मारितत्वात् गामभ्याजेति पदार्थवदिति स्यात् ।"—प्रश्न० किर०  
पृ० ३०९ । वृत्ते० उप० पृ० ३३१ । "पदानि स्मारितार्थविज्ञप्तिपूर्वकाणि योग्यतासत्तिमत्त्वे सति  
समुपदार्थपरत्वात् गामभ्याजेति परत्वात् गामभ्याजेति पदकदम्बवदित्यनुमानादेव साध्यसिद्धे ।"—न्यायम०  
पृ० ५५ । (३) तुलना—"अन्वयव्यतिरेको च भवतोऽत्रापि लिङ्गवत् । यो यत्र दृश्यते सद्यः स तस्या-  
र्थस्य वाचकः ॥"—न्यायम० पृ० १५२ । (४) लिङ्गशब्दयोः । (५) "वचाभ्यो निखिलेभ्योऽपि  
विवक्षणाज्जुमीयते । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां तद्वेतु सा हि निश्चिता ॥१५१५॥ विवक्षायाञ्च गम्याया  
विस्पष्टं च त्रिरूपता । पुंसि धर्मिणि सा साध्या कार्येण वचसा यत् ॥१५२१॥ पादपार्थविवक्षावान्  
पुरुषोऽप्य प्रतीयते । वृक्षशब्दप्रयोक्तृत्वात् पूर्वविस्थास्त्वह यथा ॥१५२२॥"—सत्त्वसं० पृ० ४४१-४३ ।  
"प्रथमं गोशब्दादुच्चारिताद्वक्तुं ककुदादिमदर्थविवक्षा गम्यते स्वसन्ताने गोशब्दोच्चारणस्य तदर्थविवक्षा-  
पूर्वकत्वोपलम्भात्, तदर्थविवक्षया चार्थानुमानम् । अयञ्चात्र प्रयोग—पुरुषो धर्मो ककुदादिमदर्थ-  
विवक्षावान् गोशब्दोच्चारणकर्तृत्वात् अहमिवेति ।"—प्रश्न० कन्व० पृ० २१५ । (६) विवक्षायाम् ।  
"विवक्षाकाशाधिगमे लिङ्गत्वात् । यथाहि आकाशाधिगमे सर्वं शब्दोऽनुमानम्, विवक्षाकार्यस्तु  
विवक्षाधिगमेऽपि इति ।"—प्रश्न० व्यो० पृ० ५७८ ।

१—हेतुत्वात्तद् हि व० । २ तत्र लिङ्गतां वा०, ध० । ३—व्यतिरेकत्वाच्च आ०, व० ।

४ यत्र तत्र ध० ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘शब्दोऽनुमानान्न व्यतिरिच्यते’ इत्यादि,

तद्वत्प्रतिविधानपुरस्सरं तदसमीचीनम्; अभिन्नविषयत्वस्य अनयोरसिद्धेः । अर्थमात्रं हि  
श्रुतज्ञानस्य अनुमाना- शब्दस्य विषयः, अनुमानस्य तु साध्यधर्मविशिष्टो धर्मो इति । किञ्च,  
दिन्याऽतिरेकेण प्रामा- अनैयोर्विषयाभेदः सामान्यमात्रगोचरचारितया, तद्वन्मात्रविषयतया,  
स्यसमर्थनम्— सम्बद्धार्यप्रतिपत्तिहेतुतया वा स्यात् ? प्रथमपक्षे किमिदं सामान्यं

नाम—सकलव्यक्त्यनुस्यूतं नित्यैकत्वादिधर्मोपेतम्, अन्यव्यावृत्तिरूपं वा ? पक्षद्वय-  
मध्येतदनुपपन्नम्; उभयरूपस्यापि सामान्यस्य सामान्यपरीभावसरे प्रतिभिन्नत्वात्,  
अन्यापोहमात्रविषयत्वस्य अनयोः प्रतिपेत्यमानत्वाच्च । नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वे  
चानयोः मीमांसकमतानुप्रवेशः सौगतस्य स्यात्, स चानुपपन्नः, तद्विषयत्वस्याप्यप्रे-  
निराकरिष्यमाणत्वात् । अथ तद्वन्मात्रविषयतया तयोर्विषयाभेदोऽभिप्रेतः; नन्वेवं प्रत्यक्ष-  
स्यापि अनुमानत्वप्रसङ्गः तथा तदभेदस्यात्राप्यविशेषात्, सकलप्रमाणानां सामान्यविशे-  
पात्मकार्यविषयत्वप्रतिपादनात् ।

एतेन सम्बद्धार्यप्रतिपत्तिहेतुतयाप्यनुमानत्वशब्दस्य प्रत्याख्यातम्; प्रत्यक्षस्यापि  
सम्बद्धार्यप्रतिपत्तिहेतुतया अनुमानत्वानुपपन्नात् । तदपि हि स्वविषये सम्बद्धं सत्  
तत्प्रतिपत्तिहेतुः नान्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अथ तत्र सम्बद्धस्यार्थं प्रतिपत्तिहेतुत्वाविशेषेऽपि  
सामग्रीभेदाद् अनुमानाद्भेदः; कथमेवं शब्दस्यापि अतो भेदो न स्यात् तद्विशेषात् ?  
तन्न अभिन्नविषयत्वात् शब्दस्यानुमानत्वं युक्तम् ।

नापि अभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वात्, शब्दे तदसंभवात् । पक्षधर्मत्वादिरूपत्रय-  
रूपा हि अनुमाने सामग्री, सा च शब्दे न संभवति । तथाहि—न तावत् शब्दस्य

(१) पृ० ५३० प० १३ । तुलना—‘विषयोऽप्यादसस्तावद् दृश्यते लिङ्गशब्दयोः । सामान्य-  
विषयत्वञ्च पदस्य स्थापयिष्यति । धर्मी धर्मविशिष्टश्च लिङ्गित्यतश्च साधितम् । न तावदनुमानं हि  
यावत्तद्विषयं न तत् ॥’—मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ५५-५६ । “अर्थमात्रं हि शब्दस्य गोचरोऽनु-  
मानस्य तु साध्यधर्मविशिष्टो धर्मीति ।”—स्या० २० पृ० ६२० । ‘विषयस्तावद्विसदृश एव पदलि-  
ङ्गयोः । तद्वन्मात्रं पदस्यार्थं इति स्थापयिष्यत । अनुमानं तु वाक्यार्थविषयम् अत्राग्निराग्नित्वात् पवेन  
इति प्रतिपत्तं । —स्यायम० पृ० १५३ । (३) अनुमानशब्दयोः । तुलना—“अपि चानयोर्गोचराभेद  
सामान्यमात्रविषयतया तद्वन्मात्रगोचरतया वा भवेत् ? —स्या० २० पृ० ६२० । (४) पृ० २८५, पृ०  
२८९ । (५) शब्दानुमानयोः । (६) मीमांसकमतानुप्रवेशः (७) नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वस्यापि ।  
(८) सामान्यवदवविषयतया । (९) सामान्यवदवविषयत्वेन विषयाभेदस्य । (१०) स्वविषयः । (११)  
प्रत्यक्षस्य । (१२) अनुमानात् । (१३) सामग्रीभेदस्य समानत्वात् । (१४) तुलना—“तस्मादननुमानत्व  
शब्दप्रत्यक्षवद् भवेत् । नैहप्यरहितत्वेन नादुग्विषयवज्जनात् ॥”—मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ९८ ।  
स्या० २० पृ० ६२० । (१५) तुलना—“अथ शब्दोऽयं वत्त्वेन पक्षकस्मात् कल्प्यते । प्रतिज्ञार्थकदेशो हि  
हेतुस्तत्र प्रसज्यत । पक्षो धूमविषयश्च सामान्यहेतुरिष्यत । शब्दत्वगमकज्ञात्रगोशब्दत्वनिपत्त्यते ।  
व्यक्तिरेव विधेप्याज्ज्ञो हेतुश्चैवा प्रसज्यते ॥”—मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ६२-६४ । “ननुक्त

पक्षधर्मत्वं संभवति; धर्मिण पवात्र कस्यचिदसंभवात् । अत्र हि धर्मी शब्दः, अर्थो वा स्यात् ? न तावत् शब्दः; तस्यैव धर्मित्वे तस्यैव च हेतुत्वे हेतोः प्रतिज्ञार्थैकदेश-  
त्वप्रसङ्गात् । अथ शब्दत्वं हेतुरिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वम्; न; शब्दत्वस्य सामान्य-  
स्वभावस्य भवन्मते परमार्थसतोऽसंभवात् । कैल्पितस्य तु सत्त्वेऽपि न गमकत्वम्  
“अर्थो ह्यर्थं गमयति” [ ] इति च मैवद्धिरेव अभ्युपगमात् ।

एतेन ‘शब्दोऽर्थवान्’ इत्याद्यनुमानं प्रत्याख्यातम् । अस्तु वा शब्दत्वं हेतुः;  
तथापि अतः शब्दस्य धर्मिणः किम् अर्थविशिष्टत्वं साध्यते, अर्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वम्,  
अर्थप्रतीतिविशिष्टत्वं वा ? तत्र आद्यपक्षोऽनुपपन्नः; अचलानलयोरिव शब्दार्थयोः  
धर्मिधर्मभावाऽसंभवात्, आश्रितो हि धर्मो भवति, न चार्थः शब्दाश्रितो विभिन्नदेश-  
त्वात् । यद् यतो विभिन्नदेशं न तत्तत्राश्रितं यथा सखे विन्ध्यः, शब्दाद् विभिन्न-  
देशश्चार्थ इति । यत्र च आश्रयाश्रयिभावो नास्ति न तत्र धर्मधर्मिभावः यथा चित्रकूट-  
कश्मीरयोः, आश्रयाश्रयिभावाभावश्च शब्दार्थयोरिति । न चार्थविशिष्ट शब्दं कश्चिद-  
यालिङ्गो मन्यते, शब्दात् पृथगेवार्थस्य आबालं सुप्रसिद्धत्वात् ।

अथ अर्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वमस्य साध्यते; तदप्यसत्; तदर्थतया शब्दप्रयोगाऽ-  
संभवात् । न हि तच्छक्तिसिद्धये शब्दः प्रयुज्यते श्रूयते वा, किन्तु अर्थसिद्धये ।

अथ अर्थप्रतीतिविशिष्टत्वं साध्यते; तदप्ययुक्तम्; सिद्धाऽसिद्धविकल्पानुपपत्तेः ।  
असिद्धया हि अर्थप्रतीत्या तद्वत्त्वं शब्दस्यायुक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । सिद्धायां त्वर्थं  
किमन्यदनुमीयताम् ? स्वसंविदितस्वभावायामस्यां विसंवादाभावात् इत्यस्यानुमानस्य  
वैफल्यम् । न च धूमाद्यनुमानेऽप्ययं दोषस्तुल्य इत्यभिधातव्यम्, तत्र कार्यकारणभावा-

पयानुमाने धर्मविक्षिप्तो धर्मी साध्य एवमिहार्थविक्षिप्त शब्द साध्यो भवतु; मैवम्; शब्दस्य हेतुत्वात् ।  
न च हेतुरेव पक्षो भवितुमर्हति ।—न्यायमं पृ० १५३ । स्या० २० पृ० ६२० ।

(१) सीगतमते । (२) अन्यापोहरूपस्य । (३) तुलना—“अर्थो ह्यर्थं गमयतीति भवद्भिरेव  
स्वीकरणात् ।”—स्या० २० पृ० ६२० । (४) सीगतरेव । (५) तुलना—“शब्दस्य धर्मिण किमर्थवि-  
शिष्टत्व वा साध्यते, प्रत्यायनशक्तिविक्षिप्तत्व वा, अर्थप्रतीतिविक्षिप्तत्व वा ?”—न्यायमं पृ० १५३ ।  
स्या० २० पृ० ६२० । (६) तुलना—“शैलज्वलनयोरिव शब्दार्थयो धर्मधर्मिभावाभावात् ।”—न्यायमं  
पृ० १५३ । “पर्वतपावकयोरिव शब्दार्थयो धर्मधर्मिभावासम्भवात् ।”—स्या० २० पृ० ६२१ । (७)  
शब्दार्थयो धर्मधर्मिभावो नास्ति आश्रयाश्रयिभावाभावात् । (८) अर्थप्रत्यायनशक्तिप्रतीत्यर्थम् ।  
तुलना—“न शक्तिसिद्धये शब्दः कथ्यते श्रूयतेऽपि वा । अर्थगत्यर्थमेवाम् शृण्वन्ति च वदन्ति च ।”—  
न्यायमं पृ० १५४ । स्या० २० पृ० ६२१ । (९) तुलना—“सिद्धयसिद्धिविकल्पानुपपत्तेः । असिद्ध्याऽ-  
पि तद्वत्त्वं शब्दस्यार्थधिया कथम् । सिद्धाया तत्प्रतीतो वा किमन्यदनुमीयते ।”—न्यायमं पृ० १५४ ।  
“नन्वर्थप्रतीतिः शब्दोत्पाज्जात्मा वा भवेत् ।”—स्या० २० पृ० ६२१ । (१०) अर्थप्रतीति । (११) तुलना—  
“न हि तत्र अग्निधूमेन जन्यते अग्नि तु गम्यते । इय त्वर्थप्रतीतिर्जन्यते शब्देनेत्यस्यामेव सिद्धासिद्धत्व-  
विकल्पावसरः ।”—न्यायमं पृ० १५४ ।

१ इति भव-प्र०, ब० । २ अचलानल-आ० । ३ शब्दार्थयोर्धर्मभा-ब० । ४ नैवापः ब० ।  
५ दोष इत्य-आ० ।



शब्द तत्रार्थे "मुखे हि शब्द उपलभ्यत भूमावथ" [ शाबरभा० १।१।५ ] इति भवद्विरेवाभ्युपगमात् । नापि व्यवहारिणा तदन्वयाध्यवसायोऽस्ति, न खलु यत्र यत्र पिण्डखर्जुरादिशब्द शृण्वन्ति तत्र पिण्डखर्जुराद्यर्थस्तित्व व्यवहारिण प्रतिपद्यन्ते । यत्र हि धूम तत्रावश्य वह्निरस्तित्वेन प्रसिद्धोऽन्वेता भवति धूमस्य, नत्वेव दशकृत शब्दस्य अर्थेनाऽन्वयोऽस्ति । नापि कालकृत, न हि यत्र काले शब्द तत्र तदर्थोऽवश्यं सम्भवति, ५ रावणशङ्खचक्रवर्त्यादिशब्दा हि वर्तमाना तदर्थस्तु भूतो भविष्यश्चेति कुतोऽर्थाणां शब्दान्वेतृत्वम् ? अन्वयाभावे च व्यतिरेकस्याप्यभावः तत्पूर्वकत्वात्तस्य ।

यदप्युक्तम्—'यो हि शब्दो यत्रार्थे दृष्ट' इत्यादि, तदप्युक्तम्, एवविधाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तद्वाचकत्वस्य अस्माभिर्ग्रीह्यत्वात् । न चैवविधान्वयव्यतिरेकत्वमात्रेण अस्यानुमानत्व वाच्यम्, प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गात् तन्मात्रस्य तत्रार्थविशेषात् । यत्र हि १० घटसङ्गाधोऽस्ति तत्र तत् प्रत्यक्षं भवति, यत्र तु स नास्ति तत्र तन्न भवतीति ।

यदपि—'सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात्' इत्युक्तम्, तदप्यनुपपन्नम्, अननुमानेऽपि सशयोपमानादौ अस्य सङ्गाधेनाऽनैकान्तिकत्वात्, अननुमानत्वञ्च उपमानादे प्रागेवं प्रसाधितम् ।

यच्चान्यदुक्तम्—'शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणम्' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोऽत्रिल १५ सितम्, तत्र तत्प्रामाण्यस्य 'वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाच्छितान्' [ लघी० का० ६४ ] इत्यत्र प्रपञ्चत प्रतिपेत्यमानत्वात् ।

ततः शब्दो नानुमानं तद्विभिन्नविषयत्वात् तद्विभिन्नसामग्रीसम्बन्धित्वाच्च प्रत्यक्षवत् । इतोऽप्यननुमानमसौ पुनरर्थेऽप्येष्टं नियुज्यमानस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वात्, यत्पुनरनुमानं न तत्तथा यथा कृतकत्वादि, तथा च शब्द, तस्मान्नानुमानमिति । न च २० साधनाऽव्यतिरेकोऽयं दृष्टान्त इत्यभिधातव्यम्, तथा तैर्नियुज्यमानस्यास्यै साध्यप्रतीत्यजनकत्वात् । न हि कृतकत्व नित्यत्वसाध्येच्छया धूमत्वादिकं वा जलादिताप्येच्छया नियुज्यमानं तत्प्रतीतिहेतु, अन्यथा न कश्चिद् विरुद्धो हेतु स्यात् । तथा,

(१) बोद्धादिभिः । (२) व्यतिरेकस्य । (३) पृ० ५३१ प० ५ । (४) जनः । (५) शब्दस्य ।

(६) प्रत्यक्षस्य । तुलना— अव्यव्यतिरेकोपपत्तिः प्रत्यक्षस्य यथा यत्र घटस्तत्र घटज्ञानं यत्र नास्ति तत्र तदभाव इति । न्यायवा० पृ० २६१ । (७) पृ० ५३१ प० ४ । (८) तुलना— यत्तावत्स्मृत्यपेक्षत्वादानुमानं शब्द इति तन्न अनेकान्तात् । अनु (अननु) मानस्य स्मृत्यपेक्षित्वमस्ति यथा सगये यथा तर्कं यथोपमान इति । न्यायवा० पृ० २६० । (९) सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वस्य । (१०) पृ० ४९५ । (११) पृ० ५३२ प० १० । (१२) विवक्षायाम् । (१३) तुलना— एवविधविषयभेदात् सामग्रीभेदाच्च प्रत्यक्षवदानुमानादयं शब्द इति सिद्धम् । न्यायम० पृ० १५५ । (१४) तुलना— सामयिकत्वाच्छब्दायसम्प्रत्ययस्य । जातिविशेष चानियमात् । ऋष्यायम्लेच्छाना यथाकामं शब्दप्रयोगोऽथप्रत्यायनाय प्रवर्तते । न्यायभा० २।१।५५ ५६ । यथष्टदिनियोगेन प्रतीतिर्यापि शब्दतः । न धूमादेरिति । —सी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० १९ । (१५) कृतकत्वादहेतुः ।

१ यत्र पिण्ड—व० । २—ति नापिदे—व० । ३—भावे व्यति—व० । ४ शब्दो दृष्टार्थे शब्द इत्यादि श्र० ।

पुरुषदोषाणामेव महिमा न शब्दानाम्, इत्यप्युक्तम्, दोषवतोऽपि मूकादेः पुरुषस्य अनुधारितशब्दस्य ईदृशाऽस्त्यप्रत्ययोत्पादनसामर्थ्याऽसम्भवात्, असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्ये आप्तप्रयुक्तानि अङ्गुल्यादिवाक्यानि तानुत्पादयत्येव । अतः शब्दानामेवैव स्वभावो न वक्तृदोषाणाम् । नैवाप्ता 'नेहशि वाक्यानि प्रयुज्यन्ते, प्रयुज्याना वा नाप्ता स्युः, इत्यप्यसत्, एवमपि हि वक्तृदोषाणाम् अयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धिः, व्यतिरेकासिद्धेः । यदि हि वक्तृदोषाभावे अमू-यपि वाक्यानि प्रयुज्येरन् न चायथार्थान् प्रत्ययान् कुर्युः, तदा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वक्तृदोषजत्वशब्दज्ञानस्य स्यात् । आप्तेस्तु तेषामप्रयोगे 'किं शब्दाभावाद् अयथार्थज्ञानानुत्पत्तिः, आहोस्विदोषाभावात्' इति सन्दिग्धो व्यतिरेकः, शब्दे तु निश्चितः सत्यपि दोषेषु शब्दानुच्चारणे मिथ्याज्ञानानुत्पत्तेः । न चाप्तत्वम् ईदृग्व्याक्यप्रयोक्तृत्वेन विरुध्यते, तथाविधशब्दोच्चारणे सत्यपि आशयदोषाभावतोऽनाप्तत्वायोगात् । तथाहि—आप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थवाक्यं प्रयोक्तव्यं यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूयशतमास्ते' इति । अतः शब्दस्यैव महिमा न वक्तृदोषाणाम् ।

किञ्च, बाधकप्रत्ययोत्पत्तावपि शब्दो मिथ्याज्ञानजनयत्येव नेन्द्रियषडुदास्ते, अतोऽर्थाऽसस्पर्शिनः शब्दा विकल्पमात्राधीनजन्मान् सिद्धाः । तदुक्तम्—

“विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पा शब्दयोनयः ।

तेषामन्यो यसम्बन्धो नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥” [ ] इति ।

(१) तुलना— इहापि पुरुषदोषाणामेव महिमा न शब्दानामिति चत्तु मवम् दोषवतोऽपि पुरुषस्य मूकादेरनुच्चारितशब्दस्यदृशविप्लवोत्पादनपादवाभावात् । असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्ये यथा प्रयुज्यमानानि अङ्गुल्यादिवाक्यानि विप्लवभावहृत्यवेति शब्दानामेवैव स्वभावो न वक्तृदोषाणाम् । —यायम० पृ० १५७ । स्या० १० पृ० ७०० । (२) बाह्याधशूयान् मिथ्याप्रत्ययान् । (३) तुलना— न चाप्ता नेदुगानि वाक्यानि प्रयुज्यन्ते प्रयुज्याना वा नाप्ता स्युरिति चत्तु एतदध्यसुन्दरम् एवमपि हि वक्तृदोषाणामयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धिः व्यतिरेकासिद्धेः —स्या० १० पृ० ७०१ । (४) अङ्गुल्यग्रे हस्तियूयशतमास्ते इत्यादीनि । (५) तुलना— उक्तञ्चतदुम्बकेन—यदाप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थविषयं वाक्यं प्रयोक्तव्यं यथाऽङ्गुल्यग्रे हस्तियूयशतमास्ते इति तत्राप्यप्यभिचारः स्फुटः इति । —चित्तु० पृ० २५५ । (६) तुलना— अपि च न वक्षरादि बाधकज्ञानोदये सति न विरमति विपरीतवेदनजमनशक्तिकारजतादिबुद्धिषु विभ्रमस्यापायदशनात् । शब्दस्तु गतकृत्योऽपि बाध्यमानो यथोच्चरितः करणास्त्रादिनिखरे करणगतमास्त इति तदवतथाभूतभूयोऽपि विकल्पमयथायमुत्पादयत्यवेति विकल्पाधीनजमत्वाच्छब्दानामेवेदं रूपं यदर्थासर्पशिवत्तामेति । —यायम० पृ० १५८ । (७) तेषामन्योऽयसम्बन्धे—यायम० पृ० १५८ । तेषामन्योऽयसम्बन्धो—नयचक्रद्व० लि० पृ० १६७ A । तेषामन्योऽयसम्बन्धात्—सिद्धिवि० टी० पृ० ३६५ B, ४८४ B । कायकारणता तेषां नाथशब्दाः स्पृशन्त्यपि—यायम० टी० पृ० ४४ । रत्नाकराव० पृ० ९ । स्या० म० पृ० १७५ । प्रकृतपाठः—स्या० १० पृ० ७०१ । पूर्वदिग्—अनेकातजय० पृ० ३७ । अनेकान्तवाद० पृ० ४७ । सिद्धिवि० टी० पृ० २६० B । शास्त्रवा० योगी० पृ० ४०२ A ।

१ इत्ययं—आ० १ प्रतारकावे आ०, थ० १३ नेदृशवा—थ० १ चक्षुदोष—व० १ चासत्यम् थ० १

शब्दो नानुमानम् आप्तोक्तत्वेनैवाऽव्यभिचारिज्ञानजनकत्वात्, यत् पुनरनुमान न तत्तथा तज्जनकम् यथा कृतकत्वादि, तथा तज्जनकश्च शब्द इति । कृतकत्वादिसाधनस्य हि साध्येऽव्यभिचारिज्ञानजनने अविनाभाव एव निमित्त न आप्तोक्तत्वमनाप्तोक्तत्व वा शब्दस्य तु आप्तोक्तत्वमेवेति ।

सत्यम्, अननुमानस्वभाव एवाय शब्द अप्रमाणत्वात्, प्रमाणत्वे हि तस्य अनु-

शब्द विस्मयनास-  
नामात्रजन्यत्वादयाऽ-  
सस्पृशा अत एव च  
न त प्रामाण्यम् इति  
वाद्दस्य पूर्वपक्ष -

मानेऽन्तर्भावप्रयास फलवान् । न चास्यैतदस्ति, वस्तुनि सम्बन्धाऽ  
सम्भवात् । सम्बन्धो हि शब्दार्थयोर्भवन् तादात्म्यलक्षण, तदुत्पत्ति-  
स्वभावो वा भवेत् ? न तावत् तादात्म्यलक्षण, विभिन्नदेशतया  
तयो प्रतीयमानत्वात्, मुखे हि शब्द प्रतीयते भूमावर्थ इति ।  
तैत्तादात्म्ये च क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुग्गस्य पाटनपूरणप्रसङ्ग ।

नापि तदुत्पत्तिसम्भवात्, 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादि शब्दानाम् अर्थाभावेऽ-  
प्युत्पत्तिप्रतीति, स्थानकरणप्रयत्नप्रभवत्वाच्च । अतोऽर्थाऽसस्पृशिन शब्दा न बाह्यार्थे  
प्रतीति जनयितुमल तत्कथं प्रामाण्यमानो भवेयु ? ते हि विकल्पमात्राधीनजन्मान स्व-  
महिम्ना तिरस्कृतवाह्यार्थान् प्रत्ययानुत्पादयन्ति यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इति ।

(१) तुलना- आप्तोपदेगतामर्थाच्छब्दादर्थे सम्प्रत्यय । २।१।५२ । स्वर्ग अप्सरस उत्तरा  
कुरव सप्त द्वीपा समुद्रो ओकसन्निवश इत्यवमादेरप्रत्ययस्यैव न शब्दमात्रात् प्रत्यय । किं हि ?  
आप्तरयमुक्त गब्द इत्यत सम्प्रत्यय विषयवर्ग सम्प्रत्ययाभावात् न त्वेवमनुमानमिति । -न्यायभा०,  
न्यायभा०, २।१।५२ । (२) नातरीयकताभावाच्छब्दानां वस्तुभिस्सह । नायसिद्धिस्ततस्त हि  
वक्त्रभिप्रायमूचका ॥ अधुना नव बाह्यार्थस्य प्रामाण्यमित्याह-अपि चेत्यादि । वस्तुभि स्वलक्षणै  
सह गब्दान्तरीयकताया अविनाभावस्याभावात् तभ्य शब्देभ्यो नायसिद्धिं बाह्यवस्तुनिश्चय यस्मात्  
वक्त्रभिप्रायमूचका । -प्रमाणभा० स्ववृ० टी० ३।२।१२ । वक्त्रा प्रतिबोधो वा को बाह्यव्यपि  
वस्तुषु । प्रतिपादयता तानि यनपा स्यात्प्रमाणना ॥ भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो नवात्म्य न तदुद्भव ।  
व्यभिचारान्न चायस्य युज्यते व्यभिचारिणा ॥ न हि बाह्य वस्तुभि सह कश्चित्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्प  
त्तिलक्षणो वा प्रतिबोधो वक्त्रमास्ति यन तानि वस्तूनि प्रतिपादयतामपा वक्त्रा प्रामाण्य स्यात् । तत्र  
तावन्न तादात्म्यलक्षणप्रतिबोधोऽस्ति भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो हतुभ्य । तत्र भिन्नाक्षग्रहण भिन्ना इयण  
ग्रहणम् । तथाहि-श्रोत्रद्विषण गब्दो गृह्यते जघन्यु चक्षुरादिना । आदिसन्दन बालदेशप्रतिभासकार  
णभदो गृह्यत -न.त्वसं० पृ० ४४० । न्यायप्र० वृ० पृ० ७६ । तुलना- मुख हि शब्दमुपगमामह  
भूमावयमिति । -गारभा० १।१।५ । (३) तुलना- पूरणप्रदाहान्नानुपलब्धस्य सम्बन्धाभाव ।  
-न्यायमू० २।१।५३ । स्वाचन्दर्बेन सम्बन्ध क्षुरमादवगब्दोच्चारण मुग्गस्य पाटनपूरण स्याताम् ।  
-गारभा० १।१।५ । शास्त्रभा० इसो० ६४५ । छनेकान्तवय० पृ० ४२ । -न्यायकु० पृ० १४४  
टि० ३ । (४) विवक्ष्यवासनोद्भूता समारापितपाचरा । जायन्त बुद्धयस्तत्र वक्त्र नाधनाधरा ।  
अनादि गमानजानीयो या विवक्ष्यस्तन् आहिना या वामनागस्तिस्तन् उद्भूता उत्तप्रायपागम समारा  
पिता य आनागायाचरा तथाचरा न त्रिभिर्भाविष एव वक्त्र गता तत्र बाह्यत्वं न ल्पितम् आनागा  
पि नायन्त । न तु ना बुद्धयोऽप्याचरा नाकागास्तिस्त्वन्वयविषया । -प्रमाणभा० स्ववृ० टी० १।२।८८ ।

१ तथा तज्जनकश्च यः । २ नाप्तोक्तत्व वा यः । ३-यूथमास्ते वः ।



पुरुषदोषाणामेव महिमा न शब्दानाम्, इत्यप्युक्तम्, दोषवतोऽपि मूकादेः पुरुषस्य अनुचारितशब्दस्य ईदृशाऽसत्यप्रत्ययोत्पादनसामर्थ्याऽसम्भवात्, असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्ये आप्तप्रयुक्तानि अङ्गुल्यादिवाक्यानि तानुत्पादयन्त्येव । अतः शब्दानामेवैव स्वभावो न वक्तृदोषाणाम् । नैवाप्ता 'नेदृशि वाक्यानि प्रयुज्यन्ते, प्रयुज्यानां वा नाप्ता. स्यु, इत्यप्यसत्, एवमपि हि वक्तृदोषाणाम् अयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धिः, व्यतिरेकासिद्धेः । यदि हि वक्तृदोषाभावे अमून्यपि वाक्यानि प्रयुज्येरन् न चायथार्थान् प्रत्ययान् कुर्युः, तदा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वक्तृदोषजत्वं शब्दज्ञानस्य स्यात् । आप्तैस्तु तेषामप्रयोगे 'किं शब्दाभावाद् अयथार्थज्ञानानुत्पत्तिः, आहोस्विदोषाभावात्' इति सन्दिग्धो व्यतिरेकः, शब्दे तु निश्चित-सत्त्वपि दोषेषु शब्दानुच्चारणे मिथ्याज्ञानानुत्पत्तेः । न चाप्तत्वम् ईदृग्वच्यप्रयोक्तृत्वेन विरुध्यते, तथाविधशब्दोच्चारणे सत्यपि आशयदोषाभावतोऽनाप्तत्वायोगात् । तथाहि—आप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थवाक्यं प्रयोक्तव्यं यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इति । अतः शब्दस्यैव महिमा न वक्तृदोषाणाम् ।

किञ्च, बाधकप्रत्ययोत्पत्तावपि शब्दो मिथ्याज्ञान जनयत्येव नेन्द्रियवदुदास्ते, अतोऽर्थाऽसस्पर्शिनः शब्दा विकल्पमात्राधीनजन्मान् सिद्धाः । तदुक्तम्—

“विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पा शब्दयोनयः ।

तेषामन्योन्यसम्बन्धो नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥” [ ] इति ।

(१) तुलना—‘इहापि पुरुषदोषाणामेव महिमा न शब्दानामिति चत् मैवम्, दोषवतोऽपि पुरुषस्य मूकादेरनुच्चारितशब्दस्येदृशविप्लवोत्पादनपाठवाभावात् । असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्यं यथा प्रयुज्यमानानि अङ्गुल्यग्रादिवाक्यानि विप्लवमावहन्त्येवेति शब्दानामवैव स्वभावो न वक्तृदोषाणाम् । —वायम० पृ० १५७ । स्या० १० पृ० ७०० । (२) बाह्यायनूयानं मिथ्याप्रत्ययान् । (३) तुलना—न चाप्ता नेदृशानि वाक्यानि प्रयुज्यन्ते प्रयुज्यानां वा नाप्ता स्मुरिति चत्, एतदप्यसुन्दरम् एवमपि हि वक्तृदोषाणामयथायथज्ञानोदयकारणत्वासिद्धिः व्यतिरेकासिद्धेः ”—स्या० १० पृ० ७०१ । (४) अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यादीनि । (५) तुलना— उक्तञ्चतदुम्बकेन—यदाप्तोऽपि कस्मैश्चिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थविषयं वाक्यं प्रयोक्तव्यं यथाऽङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति तत्राथव्यभिचारः स्फुटः इति ।—चित्तु० पृ० २६५ । (६) तुलना— अपि च न वक्षरादि बाधकज्ञानोदये सति न विरमति विपरीतवेदनज-मनः शुक्तिकारजतादिबुद्धिषु विभ्रमस्यापायदशनात् । शब्दस्तु शतकृतोऽपि बाध्यमानो ययैवोच्चरति करघासादिशिखरे करेणुशतमास्त इति तदैव तथाभूतं भूयोऽपि विकल्पमयं घायमुत्पादयत्येवेति विकल्पाधीनज-मत्वाच्छब्दानामेवेदं रूपं यदर्थसिर्षाशिवं नामेति । —वायम० पृ० १५८ । (७) तेषामन्योन्यसम्बन्धे —वायम० पृ० १५८ । तेषामत्यन्तसम्बन्धो—नयचक्रवृत्ति० लि० पृ० १६७ A । तेषामन्योन्यसम्बन्धात्—सिद्धिवि० टी० पृ० ३६५ B, ४८४ B । ‘कायकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि’—वायावता० टी० पृ० ४४ । रत्नाकराव० पृ० ९ । स्या० म० पृ० १७५ । प्रकृतपाठ—स्या० १० पृ० ७०१ । पूर्वदिग्म्—अनेकान्तजय० पृ० ३७ । अनेकान्तवाव० पृ० ४७ । सिद्धिवि० टी० पृ० २६० B । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४०२ A ।

१ इत्यपु—आ० १ प्रतारकादे आ०, थ० १ नेदृशवा—थ० १ चक्षुषोप—व० १ वासत्वम् थ० १

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘वस्तुनि सम्बन्धासम्भवात्’ इत्यादि, तदसमी-

क्षितभिधानम् तत्रैव शब्दस्य तन्मावाऽसम्भवात् । तथाहि—शब्द  
अर्थेन सम्प्रद्व एव त प्रकाशयति प्रतिनियततत्त्वत्ययहेतुत्वात् चक्षुर्न ।  
शब्दप्रत्ययो वा सम्प्रद्वद्वाभ्यां शब्दार्थाभ्यां जन्यते प्रतिनियतप्रत्ययत्वात्  
दृण्डीत्यादिप्रत्ययवत् । ननु शब्दार्थयोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्ब-  
न्धस्याऽपास्तत्वात् कथं सम्प्रद्वत्वम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्, तदभावऽ

प्यनयो योग्यतालक्षणसम्बन्धसम्भवात् । तदभावः सौऽपि कथम् ? इत्यप्यवाच्यम्,  
चक्षुरूपयोस्तदभावेऽपि तद्दर्शनात् । न खलु चक्षुषो घटादिरूपेण सह तादात्म्यं तदुत्प-  
त्तिं सयोगो वा सौगतैरभ्युपगम्यते प्रतीतिविरोधानुपपन्नात्, अप्राप्यकारित्वप्रसङ्गाच्च ।

नार्थस्य तदभावे रूपप्रकाशनयोग्यतासम्भवासम्बन्धस्याप्यसम्भवः, श्रोत्रादिवत् तस्यापि  
तदप्रकाशकत्वप्रसङ्गात् ।

ननु योग्यतातः शब्दस्य अर्थवाचकत्वं अर्थस्यापि शब्दवाचकत्वं किन्तु स्यात् ?  
इत्यप्यसम्प्रतम्, प्रतिनियतशक्तित्वाद् भावानाम् । योग्यता हि शब्दार्थयोः प्रतिपाद्य  
प्रतिपादकशक्तिः, ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत् । नच ज्ञानज्ञेययोः कार्यकारणभा-  
वात् तत्प्रतिनियमो न योग्यतातः इत्यभिवातव्यम्, तत्कार्यकारणभावस्य ‘अन्वयव्य-  
तिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं विदः’ [ लघो० का० ५४ ] इत्यत्र विस्तरतो निरा-  
करिष्यमाणत्वात् । कथञ्चैव चक्षुरूपयोः घटप्रदीपयोश्च प्रकाश्यप्रकाशकभावप्रतिनियम-  
स्यात् ? योग्यतातोऽन्यस्य कार्यकारणभावादिप्रतिग्रन्थस्य तत्रैव तत्प्रतिनियमहेतोरसम्भवात् ।

ननु योग्यतावशात् शब्दो यैवार्थं प्रतिपादयति तदा भूभनवद्वितोत्थितस्यापि

(१) पृ० ५३६ प० ६ । (२) वस्तुनि । (३) सम्बन्धभावः । (४) अथ । (५) तादात्म्यतदुत्प-  
त्तिसम्बन्धाभावः—आ० टि० । तुङ्गा— मामयिकत्वाच्छब्दसम्प्रत्ययस्य ।—न्यायमू० २।१।५५ । स  
च वाच्यवाचकत्वम्बन्धेन सङ्गुतनामव ।—प्र० ७० पृ० ५८५ । तादृगा वाचकं गच्छ सकलौ  
यत्र वनते ।—न्यायवि० का० ४३२ । अन्यत्वमित्येव वाच्यवाचकलक्षणं । अस्ति गच्छाप-  
योयोग्यताप्रतीत्यान्तिसत् ॥—पादत्रया० इलो० ६५२ । सहजयोग्यतासङ्गुतनादि गच्छाप्यो-  
वस्तुप्रतिपत्तिहेतव ।—वरीक्षामू० ३।१०० । स्वाभाविकमाम्यममयाभ्यामयवोपनिबधनं गच्छ-  
इति ।—प्रमाणनय० ४।११ । (६) गच्छाप्या । (७) योग्यताशब्दोऽपि । (८) तादात्म्यतदुत्पत्त्य-  
भावेऽपि । तुङ्गा— नयनरूपया कवचित्प्रकाशवि तदुपपन्नात् ।—स्या० १० पृ० ७०२ । (९)  
चक्षुरूपयोः मयागाम्युपगमः । (१०) चक्षुष-आ० टि० । (११) तादात्म्यतत्त्वभावः—आ० टि० ।  
(१२) चक्षुष-आ० टि० । (१३) स्वरस्य-आ० टि० । (१४) तुङ्गा— सहजा स्वाभाविकी वाच्यता  
गच्छाप्या प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्तिं ज्ञानयथावाच्यतापदकविवर्तन ।—प्रमेयक० पृ० ४२८ ।  
स्या० १० पृ० ७०२ । (१५) वाच्यतापदप्रतिनियमः । (१६) ज्ञानयथावत् कार्यकारणभावस्य । (१७)  
चक्षुरूपयोः घटप्रदीपयोश्च । तुङ्गा— इतरथा ज्ञानमव प्रकाशकं नयमव च प्रकाशं नयुतज्ञानमिति  
नियमस्यापत्तनात् ।—स्या० १० पृ० ७०२ । (१८) प्रकाश्यप्रकाशकप्रतिनियमः ।

१ इत्यनु-आ० । चक्षुषा व० य० । ज्ञानता व० । १-स्य तत्प्रति-व० । ७ यथाय व० ।

प्रतिपादयेत् विशेषाभावात्, इत्यप्यपेक्षलम्, सङ्केतसचिवयोग्यतावशात्तस्य तत्प्रतिपाद-  
कत्वाभ्युपगमात्, भूभवनसद्वितोक्तिवत् प्रति चास्य तथाविधत्वाभावात् तत्प्रतिपादकत्व-  
प्रसङ्गः । सङ्केतो हि 'इदमस्य वाच्यम् इदं वाचकम्' इत्येवविधौ वाच्यवाचकयोर्वि-  
नियोगः, स यस्यास्ति तस्यैव शब्दः स्वार्थः प्रतिपादयति नान्यस्य, अन्यथा धूमादिसा-  
धनमप्यस्यैव अग्न्यादिसाध्यः गमयेदविशेषात्, अविनाभावो हि साधनस्य साध्यगम-  
कत्वे अङ्गम्, स च सर्वदा सर्वं प्रत्यस्यास्ति । 'येनैव साध्यसाधनयोरविनाभावो गृहीतः  
त प्रत्येव साधन साध्यस्य गमकमित्यभ्युपगमे येनेव शब्दार्थयोः सङ्केतो गृहीतः त प्रत्येव  
शब्दोऽर्थस्य वाचकः इत्यभ्युपगम्यतामविशेषात् ।

ननु सङ्केतः पुरुषच्छाकृतः, नच तदिच्छया वस्तुव्यवस्था युक्ता अतिप्रसङ्गात्,  
अंतोऽर्थोऽपि वाचकः शब्दस्तु वाच्यः किन्न स्यात् तद्विच्छाया निरङ्कुशत्वात् ? इत्यप्य- 10  
सुन्दरम्, तत्सङ्केतस्य सहजयोग्यतानियन्धनत्वाद् धूमाग्निवत् । यथैव हि धूमाग्न्योर्नै-  
सर्गिक एवाविनाभावः सम्बन्धः, तद्व्युत्पत्तये तु भूयोदर्शनादिनिमित्तमाश्रीयते, तथा  
शब्दार्थयोः स्वभाविक् एव प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्त्यात्मा सम्बन्धः, तद्व्युत्पत्तये तु सङ्केतः  
समाश्रीयते । सासिद्धिकार्थशक्तिव्यतिक्रमे च चक्षुरूपादीनामपि प्रकाश्यप्रकाशशक्ते  
व्यतिक्रमः स्यात् । तथा च चक्षुःप्रदीपादीनां प्रकाश्यत्व घटादीनां तु प्रकाशकत्व 15  
स्यात् । प्रतीतिविरोधोऽन्यथापि न कार्यैर्भक्षितः ।

ननु शब्दस्य स्वाभाविकी शक्तिः किमेकार्थप्रत्यायने, अनेकार्थप्रत्यायने वा ?  
यद्येकार्थप्रत्यायने, तदा सङ्केतशतैरपि ततोऽर्थान्तरे प्रतीतिर्न स्यात् धूमादग्निरप्रतीतिवत् ।

(१) शब्दस्य । (२) अथवाचकत्वस्वीकारात् । (३) तुग्मा- कः पुनरस्य समयः ? अस्य  
गन्तव्यदमपजातमभिधयमित्यभिधानाभिधयनियमनियोगः तस्मिन्पुनयुक्ते गन्दापसप्रत्ययो भवति ।  
—न्यायभा० २।१।५५ । अभिधानाभिधयनियमनियोगः समयः उच्यते । —न्यायम० पृ० २४१ ।  
'जस्याथस्याय वाचक इत्ययकयन समयः —प्रमाणवा० स्वप्न० टी० १।२३० । इव पदममुमर्थं बोध-  
यतु इति अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इति वेच्छा । —तत्त्ववि० शब्द० ११० । स्यात् १० पृ० ७०२ ।  
(४) पुरुषस्य । (५) भूभवनसद्वितोत्थितस्य । (६) पुरुषणः । (७) अतिप्रसङ्गमेव स्पष्टयति ।  
(८) तुलना- सहि पुरुषकृतः सङ्केतः न च पुरुषच्छाया वस्तुनियमोऽवकल्प्यते तद्विच्छाया अध्याहृत-  
प्रसरत्वात् । अर्थोऽपि किमिति वाचको न भवति । न चैवमस्ति न हि दहनमनिच्छन्नपि पुरुषो  
धूमाम्नं तत्प्रत्ययति जलं वा तत्तच्छ्रुतिरपि प्रतिपद्यते । तत्र यथा धूमाग्नयो नसर्गिक एवाविनाभावो  
नाम सम्बन्धः तत्तत्तु भूयोदर्शनादि निमित्तमाश्रीयते एव शब्दार्थयोः सासिद्धिक एव शक्त्यात्मा  
सम्बन्धः तद्व्युत्पत्तये तु बुद्धव्यवहारप्रसिद्धिसमाययणम् । —न्यायम० पृ० २४१ । सङ्केतस्य सहजयो-  
ग्यतानिवन्धनत्वात् । यथैव हि धूमावाचकयोः स्वाभाविक एवाविनाभावः —स्यात् १० पृ० ७०३ ।  
(९) अविनाभावग्रहणाय । (१०) आदिपदेन तर्को ग्राह्यः । (११) शब्दाद्ययोरपि वाच्यवाचकचोदने ।  
(१२) तुलना- गिरामेकाधनियमः न स्यादर्थान्तरे गतिः । अनेकार्थमिसम्बन्धः विरुद्धव्यक्तिमभवः ॥'  
—प्रमाणवा० ३।२२८ ।

१ प्रतिपादयतु व० । २-विधावाच्यवाच-आ० । ३ साध्यसाधन साध्यस्य व० । ४-त्यक्तय-  
स-आ०, व० । ५-क्रमे चक्षु-श्र० । ६-प्रदीपानां आ० । ७ तथा व० ।

अथ अनेकार्थप्रत्यायने, तदा युगपत् ततोऽनेकार्थप्रतीतिप्रसङ्गात् प्रतिनियतेऽर्थे प्रवृत्तिर्न स्यात्, इत्यप्यचर्चितभाषानम्, सर्वशब्दानां सर्वार्थेषु प्रत्यायनशक्तिसमभावात् । कथमन्यथा अनवगतसम्बन्धे शब्दे प्रयुक्ते सन्देहः स्यात्—‘कैमर्थं प्रतिपादयितुमनेन शब्दः प्रयुक्तः’ इति । नचैव सकृत्सर्वार्थप्रतिपत्तिप्रसक्ते प्रतिनियतेऽर्थे ततः प्रवृत्तिर्न स्यादित्यभिधातव्यम्, प्रतिनियतसङ्केतवशात्तेषां प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः । एकस्यापि हि शब्दस्य वेशादिभेदेन प्रतिनियतः सङ्केतोऽनुभूयते, यथा माँत्वकादौ कर्कटिकाशब्दस्य फलविशेषे, गुर्जरादौ तु योन्यामिति । दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्यापि चक्षुषः प्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते, दूरतिमिरवशाच्च सन्निहिते रूपे, विशिष्टाङ्गनादिवशात् अन्धकारान्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचकामलादिवशाच्च त्रिर्वक्षितरूपाभावेऽपीति । तयो यथा अनेकरूपप्रकाशनयोग्यस्यापि चक्षुषो दूरतिमिरादिप्रतिनियतसहकारिवशात् प्रतिनियतदूररूपादिज्ञानजनकत्व तथा अनेकार्थप्रत्यायनयोग्यस्यापि शब्दस्य प्रतिनियतसङ्केतवशात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वमविरुद्धम् ।

अथ मतम्—चक्षुरादिवत् शब्दस्य अर्थे योग्यतालक्षणसम्बन्धसमवे तद्वदेष अतः सङ्केतानपेक्षा अर्थप्रतीति स्यात्, तदप्यसङ्गतम्, तस्य ज्ञापकतया तत्सापेक्षस्यैव अर्थ-

(१) तुलना—‘सर्वकारपरिच्छेदघाक्तेऽर्थे वाचकेऽपि वा । सर्वकारायविज्ञानसमर्थे नियमकृतः ॥ —मी० श्लो० ४० २०२ । सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् क्वचिद्वा केनचिदर्थेन व्यवहारः । अत एव चानभिमतसम्बन्धं श्रुते सति सन्देहो भवति कमर्थं प्रत्याययितुमनेन शब्दः प्रयुक्तः स्यादिति । —न्यायम० ४० २४२ । ‘समयापेक्षया बहु तत्त्वयोरप्यम विना । तत्तत्त्वेन सफल योगिना तु न विद्यते ॥ सर्ववाचकभावत्वाच्छब्दानां चित्रशक्तिः । वाच्यस्य च तथाऽप्यत्र नागोऽस्य समयार्थं हि ॥’ —शास्त्रवा० श्लो० ६६३ ६४ । ‘तथा च सर्वे शब्दाः प्रायः सर्वार्थवाचकशक्तिमन्तः सर्वे चार्थाः सर्वशब्दवाच्यशक्तियुक्ता इति विचित्रक्षयोपपत्तादिसहकारियोगतः’ तथा तथा प्रवर्तन्त इति न क्वचिद्वाधा । —अनेकान्तजय० ४० ३६ १ । मयस्य शब्दस्य सर्वाथप्रतिपादनशक्तिर्विचित्रसिद्धः । पदार्थस्य च मयस्य सर्वशब्दवाच्यत्वशक्तिर्नानात्वात् । —अष्टसह० ४० १४३ । शब्दस्यानेकाथप्रतिपादने न सगिनाः शक्तिरसद्भावेऽपि प्रतिनियतसङ्केतसामर्थ्यात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादनत्वोपपत्तः । —स्या० १० ४० ७०३ । (२) शब्दात् । (३) शब्दानाम् । (४) तुलना—‘तथाहि—यवशब्द आर्यदोषगूणे पदार्थं प्रमुच्यते, ते हि यवगान्ता दीपगूणं पदार्थं प्रतिपद्यन्त म्लच्छास्तु श्रियङ्ग प्रतिपद्यन्त । एव त्रिवृत् गन्धमूषय स्तोत्रोपानयकं प्रमुच्यते आर्यास्तु लताविषयः । —न्यायवा० ता० ४० ४२० । ‘एकस्यापि हि शब्दस्य देशादिभेदेन प्रतिनियतः सङ्केतोऽनुभूयते, यथा गुजरादौ चौरशब्दस्य तस्करे द्राविडादौ पुनरादेन इति । दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्यापि चक्षुषः प्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते दूरतिमिरासन्नतिमिरवशाच्च सन्निहिते रूपे विगिष्टाङ्गनादिवशादन्धकारान्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचकामलादिदूषणबलाच्च विविधितरूपाभावेऽपीति । —स्या० १० ४० ७०३ । (५) ‘एवं कर्कटाशब्दादप्यार्थं तत्तद्वाचकतया यान्तादिवाचका ज्ञयाः । —स्या० व० ४० १७८ । (६) पीनरूपाभावार्थं यत् पीतज्ञानजनकत्वम् । (७) चक्षुषद्वयः । (८) गन्धान् । (९) शब्दस्य । तुलना— वाच्यराचकलक्षणो हि शब्दाप्यर्थः प्रतिपद्यः तथाहि वाच्यत्वभावा अर्था वाचकत्वभावाच्च शब्दा इति तद्वृत्तिवादः । यदर्थ-

प्रतीत्यङ्गतोपपत्तेः । यज्ज्ञापकं तत् ज्ञाप्ये प्रतिपन्नप्रतिबन्धमेव प्रतीतिमुत्पादयति यथा धूमादि, ज्ञापकश्च शब्द इति । चक्षुरादीनां तु कारकत्वात् युक्तं स्वार्थसम्बन्धग्रहणान-  
पेक्षाणां तदुत्पादकत्वम् । स्वयं हि प्रतीयमानम् अप्रतीत्यर्थप्रतीतिहेतुर्ज्ञापकमुच्यते ।  
तद्रूपता च शब्दादेरेवास्ति न चक्षुरादेः, अतः स एव प्रतिपन्नप्रतिबन्ध स्वार्थं गमयति ।  
शक्तिस्तु स्वाभाविकी यथा रूपप्रकाशने चक्षुरादेः तथा अर्थप्रकाशने शब्दस्य ।

यदप्युक्तम्—‘अतोऽर्थासस्पर्शिनः शब्दाः’ इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्,  
यत् किमाप्तप्रणीतस्य शब्दस्य अर्थासस्पर्शित्वं प्रसाध्यते, अनाप्तप्रणीतस्य, शब्दमात्रस्य वा ?  
तत्राद्यपक्षे प्रत्यक्षबाधो, आप्तप्रणीतात् ‘नद्यास्तीरे फलानि सन्ति’ इति वाक्यादतिरस्कृत-  
वाह्यार्थप्रत्ययप्रतीतेः ततः प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्तेः । अथाऽनाप्तप्रणीतस्य, तर्हि तस्यैव अर्था-  
ऽसस्पर्शित्वं युक्तं नान्यस्य, अन्यथा काचादिदोषदुष्टचक्षुः प्रभवप्रत्यक्षस्यैव अर्थासस्पर्-  
शित्वोपलम्भात् गुणवच्चक्षुः प्रभवप्रत्यक्षस्यापि तत्स्यात् ।

एतेन तृतीयविकल्पोऽपि प्रत्याख्यातः, आप्तानाप्तप्रणीतशब्दव्यतिरिक्तस्य शब्दमात्र-  
स्याऽसम्भवात् । नन्वाप्तप्रणीताद् अङ्गुल्यादिवाक्याद् विपर्ययज्ञानोत्पत्तिप्रतीतेः शब्द-  
स्यैव मेहिमा न वक्तृदोषाणाम्, इत्यप्यचर्चिताभिधानम्, आप्तैरेवविधवाक्याऽप्रयोगात् ।

यत्—‘आप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति’ इत्याद्युक्तम्, तत्र निषेधपरत्वेनार्थे यथार्थ-

कथनं सङ्कृतमत्रेणैव ततस्तदवगतिः ? उच्यते—तथाविधक्षयोपसमाभावात् । न हि रूपप्रकाशनस्व-  
भावोऽपि दीपोऽस्ति चक्षुषि तत्प्रकाशयति चक्षुः कल्पश्च क्षयोपशमः, स च सङ्कृततत्पश्चरणभावनादि-  
जयस्तयोपलब्धः ।—अनेकान्तजय० पृ० ३६ A । ‘शब्दस्य ज्ञापकत्वात् । ज्ञापकस्य धूमादरेतद्रूप-  
यत्सम्बन्धग्रहणापेक्षं स्वज्ञाप्यज्ञापकत्वम् । तद्योग्यतादयस्तु प्रत्यक्षसामग्र्यन्तगतत्वात् व्युत्पत्त्यपेक्षा-  
भवति । शक्तिस्तु नैसर्गिकी यथा रूपप्रकाशिनी दीपादेस्तथा शब्दस्याथप्रतिपादने ।—न्यायम० पृ०  
२४१ । (१०) सङ्कृतग्रहणसहितस्य ।

(१) ज्ञापकत्वता । (२) शब्दादि । (३) पृ० ५३६ प० १२ । (४) तुलना— यत्  
किमाप्तनिगदितशब्दस्यार्थासस्पर्शित्वं—स्या० २० पृ० ७०३ । (५) तुलना— भवेदेतदव यदि न  
कदाचिदपि यथार्थं शब्दं प्रत्ययमुपजनयत् । अथसत्पत्तित्वमेवास्य स्वभाव इत्यवगम्यते । भवति तु  
गुणवत्पुरुषभाषिताप्रद्यास्तीरे फलानि सन्तीति वाक्यादतिरस्कृतवाह्यार्थो यथाथप्रत्ययं तत् प्रवृत्तस्य  
तदर्थप्राप्तेः ।—न्यायम० पृ० १५८ । (६) आप्तोक्तशब्दात् । (७) शुक्लं शस्त्रं पीताकारावभा-  
सिनः । (८) शुक्ले शस्त्रे शुक्लत्वावभासकस्यापि । (९) अर्थासस्पर्शित्वमतश्च मिथ्यात्व स्यादिति  
भावः । (१०) अङ्गुल्यग्रे हस्तिग्रहणशतमास्ते इत्यादिवाक्यात् । (११) यत् तिरस्कृतवाह्यार्थप्रत्य-  
योत्पादकत्वम् । (१२) तुलना— गुणवतामेवविधवाक्योच्चारणचापलाभावात् ।—न्यायम० पृ०  
१५८ । आप्तैरेवविधवाक्यस्याप्रयुक्ते—स्या० २० पृ० ७०४ । (१३) पृ० ५३७ प० ११ ।  
(१४) तुलना— यत् आप्तोऽपि कचिदनुशास्ति मा भवानभूताथ वाक्यं वादी अङ्गुलिकोटो करिषटा-  
शतमास्ते इति तत्र इतिकरणावच्छिन्नस्य दुष्टान्ततया शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिपक्षकवाक्यतया  
यथाथत्वम् । अथपरत्वे तु निषेधकवाक्यतव न स्यादिति । तस्मादाप्तवाक्यानामयथाथत्वाभावात्  
स्वतोऽर्थासस्पर्शिनः शब्दाः पुरुषदोषानुपपन्नकृत एवायं विप्लवः ।—न्यायम० पृ० १५८ । स्या० २० पृ०  
७०४ । (१५) अङ्गुल्यादिवाक्यप्रयोगनिषेधकस्य आप्तोपदेशस्य ।

तैव, चाक्यैरुद्देशस्यापि उदाहरणविवक्षायाम् इतिरूपावच्छिन्नस्य शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिषेधैकवाक्यतया यथार्थतैव । अर्थपरत्वे तु निषेधेनैकवाक्यतैव न स्यात् । तस्माद् आत्मप्रणीतशब्दानामयथार्थत्वाभावान्न स्वतोऽर्थासस्पर्शिन शब्दाः, किन्तु पुरुषदोषवशात् ।

नन्याग्नेरेवविधवाक्याप्रयोगेऽपि सन्दिग्धो व्यतिरेक 'किं शब्दाभावादयथार्थ-  
ज्ञानानुत्पत्तिः, वक्तृदोषाभावाद्वा', इत्यप्यविचरितरमणीयम्, अनुच्चारितशब्दस्यापि  
दोषवत् पुरुषस्य हस्तसञ्ज्ञादिना प्रतारक्त्यप्रतीते । न च हस्तसञ्ज्ञादिना शब्दानुमान  
ततो वितथप्रत्यय इत्यभिधातव्यम्, तैवाप्रतीत्यभावात् । नद्यादिवाक्यादुत्पन्ने च  
क्वचिद्विज्ञाने तरङ्गिणीतीरमनुसरन् अनासादितफलं पुरुषं पुरुषमेवाधिक्षिपति  
'दुरात्मनाऽनेन विप्रल-धोऽस्मि' इति, न शब्दम् । ननु पुरुषस्य गुणवतो दोषवतो वा  
शब्दोच्चारणमात्रं एव व्यापारः, अर्थप्रतिपत्तिस्तु शब्दनिबन्धनैवेति नैद्विपर्यये शब्दस्यैव  
व्यापारो न वक्तृदोषाणाम्, इत्यप्ययुक्तम् यैतो गुणवद्वक्तृप्रणीतात् 'तरङ्गिणीतीरे फलानि  
सन्ति' इति वाक्यात् सत्यप्रत्ययोदयेऽप्येष शब्दस्यैव व्यापारः स्यात् तद्वक्तु तदुच्चा-  
रणमात्रे चरितार्थत्वात् । अतः कथमेवान्ततः शब्दस्याऽर्थासस्पर्शित्वमेव स्वरूपं स्यात् ?

निश्च, विपर्ययज्ञानोत्पत्तेर्यावद्वि सह तद्व्यापारभावित्वमवगम्यते तावता तत्र  
व्यापारः, सां चान् शब्दोच्चारणे सत्यपि अनाप्तयोगिता विना न दृष्टेति शब्दवत्तदा  
शयस्यापि तत्रे व्यापारः ।

'किञ्च, चतुरादिष्वर्थप्रकाशकत्वमात्रं शब्दस्य स्वरूपं न पुन यैवार्थप्रकाशक-

(१) अङ्गत्वेन हस्तिपूषातमास्त इति वाक्यस्य एकदेशः अङ्गत्वेन इत्यादिरूपः । (२) तुलना-  
अनुच्चारितशब्दोऽपि पुरुषो विप्रलम्बकः । हस्तमनाद्युपायन जनययव विष्णवम् ॥ -न्यायमं० पृ०  
१५८ । स्या० १० पृ० ७०४ । (३) तुलना- इत्यमप्रतीते । उत्पन्नं च क्वचित्तद्यादिवाक्यादिज्ञाने  
तरङ्गिणीतीरमनुसरन्प्रनासादितफलं प्रवृत्तवाक्यप्रत्यय पुरुषमेवाधिक्षिपति धिग् हा तन दुरात्मना  
विप्रल-धोऽस्मि' इति न शब्दम्, प्राप्तफलश्च पुमानव इत्यथते साधु साधुना तनापदिष्टमित्यतः  
पुरुषदोषाव्यापानुविधानात्तदभावश्च एव आप्तपु तूष्णीमामानपु विप्रमानुत्साद इति न सन्दिग्धो  
व्यतिरेकः । पुरुषदायक एव शब्दाद्विष्णवो न स्वरूपनिबन्धनः । -न्यायमं० पृ० १५८ । स्या० १०  
पृ० ७०४ । (४) अथप्रतीतिविषयः । (५) तुलना- हन्त तर्हि वक्तारि गुणवति सति सतिस्तीरे  
फलानि सन्तीति सम्प्रत्ययवि शब्दस्यैव व्यापारात् पुरुषस्य उच्चारणमात्रं चरितार्थत्वात्प्रशान्त  
शब्दस्यापार्थग्यमित्यमव स्वभावः । -न्यायमं० पृ० १५९ । (६) वाक्यरूपभावः । (७) विषय-  
ज्ञानोत्पत्तिः । (८) अनाप्तविश्रायसः । (९) विषयज्ञानोत्पत्तौ व्यापारः । तुलना-स्या० १० पृ०  
४०७ । (१०) तुलना- मुक्तश्चदव गन् दीरवन् प्रकाशवमात्रमेव शब्दस्य स्वरूपं न यथापत्त्वमय  
वाक्यं वा, विराट्त्वयं दास्य प्रकाशत्वान्नवत् । अन्तु विषय-प्रदत्ते व्युत्पत्तिनिगम्यमय  
प्रकाशस्यैव दास्य तु भूतस्त्वयमिति । प्रकाशमनगु शब्दस्य वक्तृगुणदोषाधीनं यथापत्तरत्वं । अतः  
एव अङ्गिनिगम्योपाधिरूपकत्वं त्वयमिति वाच्यं न पुन पुनस्त्वयमाणं चरति विभ्रम प्रकाशकत्व  
गुणानुमानं न शब्द शब्दस्य दास्य । यथापत्ता तु मन्त्रप्रत्ययमय प्रत्ययः । वक्तुरेव प्रकाशस्य न  
गन्तव्यत्वात् । -न्यायमं० पृ० १५९ । स्या० १० पृ० ७०४ ।

१-मय कर्तृ यः । २ द्विष्टभूता-यः । ३ दास्यत्वकर्तृ यः । ४ यथापत्तरत्वं-यः ।

त्वमयथार्थप्रकाशकत्वात् वा, तस्य गुणदोषनिबन्धनत्वात् । सति हि नैर्मल्यादिगुणे चक्षुर्यथावद्वस्तु प्रकाशयति काचादिदोषे तु सति अयथावत्, एव शब्दोऽपि वस्तुगुण-  
दोषापेक्षः सत्येतरूपं वस्तु प्रकाशयति । अत एव अङ्गुलिशिराधिरूपणरेणुशतवैचसि  
वाध्यमानेऽपि पुन पुनरुच्चार्यमाणे भवति भ्रान्ति प्रकाशकत्वस्य तैत्स्वरूपस्य बाधक-  
शतोपनिपातेऽप्यनपाथात् ।

यच्चान्यर्द्धेक्तम्—‘नेन्द्रियबदुवास्ते’ इति, तदप्युक्तिमात्रम्; बाधप्रत्ययप्रवृत्ता-  
वपीन्द्रियस्य चन्द्रद्वयविषयमिध्याज्ञानजनकत्वप्रतीतेः । न च तैत्प्रवृत्तौ तत् तद्विषय  
विज्ञानं नोत्पादयतीत्यभिधातव्यम्, प्रतीतिविरोधात् ।

यदप्युक्तम्—‘विरूपयोनय शब्दाः’ इत्यादि, तत् सविकल्पकसिद्धौ कृतोत्तर-  
त्वादुपेक्षते । ततः प्रमाण शब्दः अर्थोपलब्धिनिमित्तत्वात् प्रत्यक्षादिषु, स्वपरपक्ष-  
साधनदूषणसमर्थत्वाच्च सम्बन्धानयत्, तथा सकलतत्त्वविप्रतिपत्तिनिवृत्तिनिमित्तत्वात्  
योगिज्ञानयत् । न सलु देशकालस्वभावविप्रकृष्टाऽतिरिक्तार्थानां शब्दादन्यतो विप्रति-  
पत्तिनिवृत्तिः सम्भवति तदुपायान्तराऽसम्भवात् । लिङ्ग तर्दुपायान्तर सम्भवतीति चेत्,  
न; तर्पेतिवद्वलिङ्गस्य कस्यचिदप्यप्रतिपत्तेः । ततो योग्यतालक्षणसम्बन्धात् शब्दस्यैव  
तत्रै प्रमाण्यमभ्युपगन्तव्यमिति ॥ छ ॥

नन्वस्तु शब्दस्यार्थे सम्बन्धः, न तु अनित्यः, नित्यो वा स्यात् ? तत्रापक्षोऽ-  
‘शब्दार्थानित्यसम्ब-  
न्धसम्भवान्नास्ति पुरुष-  
इत सङ्केत’ इति  
मीमांसकस्य पूर्वपक्षः  
नुपपन्नः; अनित्यस्य सम्बन्धस्य कर्तुमशक्यत्वात् । समयो हि क्रिय-  
माणः प्रतिपुरुषम्, प्रतिशब्दम्, प्रत्यर्थं सर्गादौ सकृदेव क्रियते  
प्रकारान्तरासम्भवात् । उक्तञ्च—

“समयः प्रतिमस्य वा प्रत्युच्चारणमेव वा ।

क्रियते जगदादौ या सकृदकेन केनचित् ॥”

[ मी० इती० सम्बन्धा० इलो० १३ ]

प्रथमपक्षे पुरुषेण प्रतिपुरुष सम्बन्धः क्रियमाणः किमेक क्रियते, अनेको वा ?

(१) यथायथाप्रकाशकत्वस्य । (२) अङ्गुल्यग्र हस्तिशतमास्ते इतिवचने । (३) शब्द-  
स्वरूपस्य । (४) पृ० ५३७ पं० १४ । (५) बाधकप्रत्ययप्रवृत्तौ । (६) इन्द्रियम्—आ० टि० । (७)  
चन्द्रविषयम्—आ० टि० । (८) पृ० ५३७ पं० १६ । (९) पृ० ४७ । (१०) मेघवन्तरामरावणा-  
दिपरमाण्वादीनाम् । (११) विप्रकृष्टार्थप्रतिपत्तिसाधनम् । (१२) दशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थ—आ०  
टि० । (१३) विप्रकृष्टार्थे । (१४) एतावताऽत्र भग्या वम उक्त—आ० टि० । (१५) व्याख्या—  
“इयमस्य सज्जति समयः, स प्रत्यर्थं प्रतिपुरुष वा क्रियेत, प्रतिपुरुषमेव प्रत्युच्चारण प्रतिप्रयोग वा ।  
अथवा जगदादौ जगत् सृष्टिकाले केनचित् ईश्वरादिना धाता सकृत् एकैव हेलया क्रियतति त्रयो  
विकल्पा ।”—तत्त्वसं० पृ० ५० ६२२ । उद्धृतेयम्—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३० । तत्त्वसं० पृ०  
६२२ । जनतर्कवा० पृ० ३१ ।

यद्येक, कथं कृतेकं ? पूर्वमप्यस्यैव सद्भावतोऽकृतकत्वप्रसिद्धे । नहि सतो वस्तुन पुरपाञ्जन्म युक्तम्, अभिव्यक्तेरेव तस्तस्योपपत्ते । अथानेक, कथमेकार्थसङ्गतिः ? यथा गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थं कैसरदिमानश्वशब्दस्येति ।

किञ्च, प्रैतिपुरुष सम्बन्धकरणे किमेकस्तत्कर्त्ता, बहवो वा ? यद्येक, तदासौ देशान्तरव्यवस्थितानां कथं समयं विदध्यात् ? तत्र तत्र गत्वाऽसौ करोति चेत्, तर्हि पुरुषायुषेणापि तत्करणानुपपत्तिं तेषामनन्तत्वात् । अथैकं सन्निहितेषु बहुषु समयं करोति, ते च कृतसमया अन्येपार्तं करिष्यन्ति, तेऽप्यन्येषाम्, इत्येवं सर्वत्र व्यवहार उपपत्स्यते, तन्न, तेषां प्रयोजनाभावात् सर्वत्र गमनानुपपत्ते, अतो यत्रैव ते न गच्छन्ति तत्र व्यवहारो न प्राप्नोति । अथ बहवः समयस्य कर्त्तारः, तर्हि सकलदेशकालेषु एकरूपता समयस्य न प्राप्नोति, तस्या निमित्ताभावात् । न च ते सर्वे सभूय पर्यालोच्य वा एकमेव समयं कुर्वन्ती त्वभिधातव्यम्, परस्परानपेक्षाणां स्वातन्त्र्येण समयं कुर्वता तथैव तत्करणानुपपत्ते ।

प्रतिशब्दमपि उच्चार्य समयं क्रियेत, अनुच्चार्य वा ? न तावदनुच्चार्यैर्धैस्य निराश्रयत्वप्रसङ्गात् । न च निराश्रय सम्बन्धो युक्तः अतिप्रसङ्गात् । नापि उच्चार्य, पुरुषायुषेणापि तथैव सम्बन्धस्य कर्तुमशक्यत्वात् ।

किञ्च, प्रतिशब्दमुच्चार्य अभिनव सम्बन्धो विधीयते, प्राक्तन एव वा ? अभिनवस्य विधाने कथमेतस्य अर्थप्रत्यायनसामर्थ्यावगतिः ? तदनवगतौ च सम्बन्धकरणानुपपत्तिः । प्राक्तनस्य तु पूर्वमपि सत्त्वात् करणानुपपत्तिः । एकस्य हि वस्तुनो ज्ञप्तिरेव असंक्रदावर्त्तते न तूत्पत्तिः ।

नापि प्रत्यर्थं सम्बन्धं कर्तुं शक्यः, अर्थानामानन्त्याद् विदूरेत्याच्च । सर्गादि-

(१) प्रत्येकं वागपि सम्बन्धो भिद्यतकोऽप्यवा भवेत् । एकत्वे कृतको न स्यात् भिन्नवचद्वये दधीभवेत् ॥ एकत्वे तावत्कृततैव न स्यात्, न हि एकस्य बहुभिः क्रिया सभवतीत्याह एकत्व इति । —मी० श्लो० न्याय० २० सम्बन्धा० श्लो० १४ । एकत्वपक्षे जानिबहुसकालभदानुयायित्वात्कृतको न स्यात्, नित्य एव स्यादिति यावत् । —नत्त्वसं० पृ० पु० ६२२ । (२) गगनेकपरमाण्वादीनामेकत्वस्य नित्यवाविनाभूतत्वात् एकत्व हाकरूपत्वम् तच्च त्रियमाणत्वे विनश्यति—आ० शि० । (३) सम्बन्धस्य । (४) पुरुषव्यापारात् । (५) यथाऽस्मिन्मदस्य सास्नादिमिति गोशब्द एव सर्वेषु दुग्मद्वयि । बहवः सम्बन्धधारकस्य मगस्यन्ते ? एको न शक्नुयात् । अतो नास्ति सम्बन्धस्य कर्त्ता । —शाबरभा० १।१।५ । (६) सङ्कृतकरणानुपपत्तिः । (७) दशान्तराणाम् । (८) समयम् । (९) अन्यपुरुषाणाम् । (१०) सङ्कृतस्य एकत्वतायां । बहुभिः कृतसम्बन्धेन चको गमको भवति । —मी० श्लो० पु० ६४४ । (११) समुच्चयोरपि ननुपपत्तिः व्यवहारेऽप्यगम्यते । —मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० १७ । (१२) पुरुषाणाम् । (१३) मित्रित्वा सङ्कृतकरणं प्रयोजनाभावात् । (१४) सङ्कृतस्य । (१५) प्रतिशब्दमुच्चार्य उच्चार्य । (१६) नुत्तना— प्रत्युच्चारणं प्राक्तन एव त्रियते नूनो वा ? नवस्य तावत्त्रियमाणस्य कथमथ-प्रत्यायनमामप्यमवगम्यते तदनवगती वा कित्तत्करणं ? पूर्वकृतस्य तददृष्टत्वादव पुनः करणमनुपपन्नम् । एतस्य वस्तुना जपिगमदृष्टवत्तं नोत्पत्तिः । —न्यायसं० पृ० २४२ । 'प्रत्युच्चारणनिवृत्तिर्न युक्ता' एवहात । —नत्त्वसं० का० २२७४ । (१७) नूननमङ्कृतस्य । (१८) अभिनवमङ्कृतस्य अथप्रत्यायनार्थनिरासनाभावात् । (१९) सङ्कृतस्य । (२०) पुनः पुनः । (२१) विप्रत्युद्देशकतत्त्वान् ।

१ इति ५० । २ वृत्तान्—आ० । ३ करोतीति ते च आ० । ४ उच्चार्य निरा—थ० । ५ कारणानुर—आ० ।



वैपि सकृत्सम्बन्धकरणमयुक्तम्; तत्राखिलवाच्यवाकानां संकृतसमवाभावात् । शब्दार्थ-  
व्यवहारविकलस्य कालस्य चाऽसंभवात् । अतो नित्यं एव शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽ-  
भ्युपगन्तव्यः ।

तत्प्रतीतिश्च प्रमाणत्रयसम्पाद्या, तथाहि—यदैकोऽन्यस्मै प्रतिपन्नसङ्केताय प्रतिपाद-  
यति 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इति, तदा पार्श्वस्थोऽन्योऽव्युत्पन्नसङ्केतः  
शब्दार्थौ प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, श्रोतुश्च तद्विषयक्षेपणादिचेष्टोपलम्भादनुमानतो गवादि-  
विषयां प्रतिपत्तिं प्रतिपद्यते, तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुत्पत्त्या च शब्दस्यैव तत्र वाचिकां शक्तिं  
परिकल्पयतीति । उक्तञ्च—

“शब्दवृद्धाभिधेयानि प्रत्यक्षेणान् पश्यति ।

श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमुमानेन चेष्टया ॥

अन्यथानुपपत्त्या तु वेत्ति शक्तिं द्वयाश्रिताम् ।” [मी० इलो० सम्बन्धा० १४०-४१] इति ।

(१) “न हि सम्बन्धव्यतिरिक्त्वा कश्चित्कालोऽस्ति, यस्मिन्न कश्चिदपि शब्द केनचिदर्थेन सम्बद्ध  
आसीत् ।”—शाबरभा० १।१।५ । ‘सर्गादौ हि त्रिया नास्ति तावुक्कालो हि नेष्यते ।’—मी० इलो० सम्ब-  
न्धा० इलो० ४२ । शास्त्रबी० पृ० ४१८ । तत्त्वस० पृ० ६२७ । न्यायम० पृ० २४२ । (२) “ओत्प-  
त्तिकस्तु शब्दस्वार्थेन सम्बन्धः”—जैमिनिपू० १।१।५ । “ओत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूम । उत्पत्तिर्हि भाव  
उच्यते लक्षणया । अविप्लवत शब्दार्थयोर्भाजनं सम्बन्धः ।”—शाबरभा० १।१।५ । “अपीरूपेय शब्दस्वार्थेन  
सम्बन्धः”—शाबरभा० १।१।५ । पृ० ४१ । “अपीरूपेये सम्बन्धे शब्द प्रामाण्यमृच्छति ।”—प्रक० पं०  
पृ० १६१ । “नित्या शब्दार्थसम्बन्धाः”—वाक्यप० १।२३ । (३) प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिरूप प्रमाण-  
त्रयम् । (४) शब्द श्रावणप्रत्यक्षेण अर्थञ्च वाक्षुपाव्यक्षेण प्रतिपद्यते । (५) गवादिविषय । (६)  
देवदत्तस्य श्रोतु देवदत्त गामभ्याजैति वाक्यात् गोक्षेपणविषयिणी प्रतीतिर्जिता तद्वाक्यश्रवणानन्तरमेव  
गोक्षेपणचेष्टाऽन्यथानुपपत्ते । (७) देवदत्त गामभ्याजैति वाक्य गवादिविषयकक्षेपणार्थवाचिका शक्ति-  
रस्ति ततस्तत्प्रतीत्यन्यथानुपपत्ति । (८) गोविषयकक्षेपणार्थः । (९) ‘शब्दवृद्धाभिधेयान्’—मी० इलो०,  
प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२८ । न्यायम० पृ० २४५ । ‘प्रत्यक्षेणैव’—स्या० २० पृ० ६७७ । (१०)  
“अन्यथानुपपत्त्या च बुद्धचेच्छक्तिं द्वयाश्रिताम् । अर्थापत्त्याऽवबुद्धयन्ते सम्बन्ध त्रिप्रमाणकम् ॥”—मी०  
इलो० पृ० ६८० । प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२८ । ‘वेत्ति शक्तिं द्वयात्मिकाम्’—न्यायम० पृ० २४५ ।  
व्याख्या—“शब्दवृद्धाभिधेयानि” सम्बन्धप्रतिपत्तेरस्य न्याय कुमारिलेन वर्णित—यस्मात् प्रथमं तावत्  
प्रत्यक्षेण शब्दं बुद्धं च शब्दस्वात्म्यातायाम् अभिधेयञ्च वाच्यं वस्तुपश्यति, ततः पश्चादनुमानेन चेष्टा-  
लक्षणेन लिङ्गेन श्रोतु प्रतिपन्नत्वं पश्यति अवधारयतीत्यर्थः । करणं कारकं कृत्वा चेष्टाया अनुमानत्व-  
मुक्तम् । ततश्च पश्चादर्थपत्त्या द्वयाश्रिता शब्दार्थाश्रिता शक्तिं वेत्ति । अर्थापत्त्या तु साक्षादवबुद्धयन्त  
इत्यतोऽर्थापत्त्यावबुद्धयन्त इत्युक्तम् ।—तत्त्वस० पृ० ७०६ । “बुद्धानां स्वार्थं सव्यवहरमाणाना-  
मुपगृह्यन्तो बालाः प्रत्यक्षमर्थं प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते ।”—शाबरभा० १।१।५ । पृ० ५६ । “किञ्चा-  
स्त्युपायो बालानाम्, नावश्यं सम्बन्धकथनवाक्येनैव बुद्धभ्यो बालाः सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते किन्तु यदा वृद्धा  
प्रसिद्धसम्बन्धा स्वकार्यार्थेन व्यवहरन्ति तदा तेषामुपगृह्यन्तो बालाः सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते । यदा हि  
केनचित् ‘गामानय’ इत्युक्तं कश्चित् सास्नादिमन्तमानयति तदा समीपस्यो बालोऽवगच्छति—यस्मादय-

१ सकृत्संभवाभावाभावात् आ०, सकृत्संभवात् ब० । २-विकल्पस्य च का-आ० । ३ तद्विषय-  
पक्षेणा-अ० । ४ प्रतिपत्त्युत्पद्यते ब० । ५ नु आ०, ब० ।

अत्र प्रतिविधीयते । यच्चावदुक्तम्—‘अनित्यो नित्यो वा’ इत्यादि, तदसमीक्षिता-

तन्निरसतनपुरस्सरम्  
पुरःपङ्कता-नित्यसङ्क  
तवशादिव शब्दानाम्  
अथप्रतिपादकत्वस  
मथनम्—

मिधानम्, तैत्सम्बन्धस्य नित्यरूपतया विचार्यमाणस्यानुपपत्तितो  
नित्यत्वानुपपत्ते । यद् यद्रूपतया विचार्यमाण नोपपद्यते न तत्  
तद्रूपतयाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा जगदद्वैतरूपतया, नित्यरूपतया विचा  
र्यमाणो नोपपद्यते च शब्दार्थयो सम्बन्ध इति । न चास्य तद्रूपतया  
विचार्यमाणस्यानुपपद्यमानत्वमसिद्धम्, तथाहि—तत्सम्बन्धस्य नित्यत्व

स्वभावात्, सम्बन्धिनित्यत्वाद्वा स्यात् ? यदि स्वभावात्, तर्हि सर्वदा सर्वस्य अर्थमसौ  
प्रकाशयतु स्वरूपतस्तस्य प्रकाशकत्वात् । नहि प्रदीप स्वरूपतो रूपप्रकाशक सन्  
कञ्चित्प्रति तत् प्रकाशयति कञ्चिन्नेति नियमो दृष्ट । अथ सङ्केतव्यक्तौऽसौ तत्प्रकाशक  
तेनायमदोष, कथमेवमर्थस्य नित्यैकरूपता, व्यक्ताव्यक्तरूपतया भेदप्रसङ्गात् ? नित्यैक

मेतस्माद्वाक्यादयमर्थ प्रत्यायित इत्येव सम्मुखरूपेणावगत प्रत्यायकत्वं पञ्चाद्वहुषु प्रयोगेषु अव्ययव्यति  
रेकाभ्या वाक्यभागानां पदानां पदभागानाम्च प्रकृतिप्रत्ययानां वाक्यायभागेषु पदार्थेषु विविच्यते तस्मान्  
पौरुष्य सम्बन्ध —शास्त्रवर्ती० पृ० ४६३ । तु बुद्ध गति -स्या० २० पृ० ६७७ ।

(१) पृ० ५४२ पं० १६ । (२) शब्दायसम्बन्धस्य । तुलना— गन्धवदधवच्च तृतीयस्य तस्य  
प्रत्यक्षादिना प्रमाणनाप्रतीयमानत्वात् । १-न्यायमं० पृ० २४३ । (३) न गन्धायसम्बन्धो नित्य  
नित्यरूपतया विचार्यमाणस्यानुपपद्यमानत्वात् । (४) नित्यरूपतया । (५) सम्बन्धिनो शब्दाययो  
नित्यत्वाद्वा । तुलना— असौ नित्य सन् स्वभावतोऽयं प्रकाशयत सङ्कृताभिव्यक्तेर्वा —स्या० २० पृ०  
७०१ । (६) तुलना— सम्बन्धापीरूपयत्वे स्या प्रतीतिरसिद्धिद । सम्बन्धापीरूपयत्वेपीष्यमाण स्याद  
र्थानां प्रतीतिरसिद्धिर्गोचरविद्यमानसङ्कृतप्रतीते पुनः । न चेच्छब्दाययो साङ्कृतिको वाक्यवाचकता  
सम्बन्ध किन्तु स्वाभाविक तदाऽगृहीतसङ्कृतोऽपि श्रुताच्छब्दादयं प्रतिपद्यतेति । —प्रमाणवा० मनोरथ०  
३।२२७ । यद्यथप्रतिपादने गन्धस्य स्वभावन गति स्यात् एवन्तर्हि सदेहलक्षणमस्याप्रामाण्य  
स्यात् इष्टानिष्ट चायं प्रकाशनाग्नितसम्भाव । यदि चास्य स्वभावत एव सा गति किं सङ्कृतेन ?  
—प्रमाणवा० स्वयं० टी० १।२२९ । अथद्योतनाक्तद्वयं सवदव व्यवस्थिते । तद्वतुरयवोद्योपि सवदा  
सवदा भवेत् ॥ —तत्त्वसं० पृ० ७१० । सासिद्धिके हि तथात्वं भ्रमिवादिप्रमुक्तादित्यतो वा यत्  
कुनश्चिदभितवापि दीपाद्विगन्धस्यप्रतिपादक स्यात् । —स्यामं० पृ० २४३ । (७) गन्धायसम्ब  
न्धस्य । (८) रूपम् । (९) सम्बन्ध । (१०) गन्धायप्रकाशक । तुलना— सङ्कृतासदभिव्यक्तावसदर्थ  
व्यकल्पना । न च सम्बन्धो विद्यमानोऽप्यनभिव्यक्तोऽयंप्रतीतिहेतुः । सङ्कृतं सत्त्वेनमभिव्यक्तितमे (ति)  
तर्हि सिद्धोपस्थायी किमकारणं पोष्यते ? —प्रमाणवा० स्वयं० १।२२९ । यथा दीपस्यायप्रकाशने  
गन्धस्यद्रव्यापेक्षा तथा गन्धस्यद्रव्यापेक्षा तथा गन्धस्यापि सङ्कृतपेक्षति चत न प्रदीपेद्रव्ययो  
प्रत्यक्षमभावेऽप्ययप्रकाशक वामावान् तथा योन्यापक्षत्वं युक्तं न च सम्बन्धितसङ्कृतयो सङ्कृतमात्रेणवा  
यप्रतीतिरूपत तस्मान् स्वभावत गन्धोऽयंप्रतिपादनसमर्थ इत्युत्पात्तिलक्षणमप्रामाण्यम् । —प्रमाणवा०  
स्वयं० टी० १।२२९ । प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२७ । तस्मिन् सङ्कृतसापेक्षा गन्धितश्चेत्परिकल्प्यते ।  
ननुपकापिष्यत नोपकार्या च सा चला ॥ —तत्त्वसं० पृ० ७१० । अथ सङ्कृताभिव्यक्ते कथमस्य नित्य  
रूपं वमुपपन्न व्यक्ताव्यक्तरूपतया भेदप्रसङ्गे । —स्या० २० पृ० ७०९ । (११) गन्धायसम्बन्धस्य ।

रूपं हि वस्तु यदि व्यक्तं तदा सर्वदा व्यक्तमेव अभिन्नस्वभावत्वात्तस्य ।

किञ्च, सङ्केतः पुरुषाश्रयः, स च अतीन्द्रियार्थज्ञानधिकलतया अन्यथापि वेदे सङ्केतं कुर्यात् अतो मिथ्यात्वलक्षणमस्याऽप्रामाण्यं स्यात् ।

किञ्च, नित्यसम्बन्धवशात् शब्दः एकार्थनियतः, अनेकार्थनियतो वा स्यात् ? एकार्थनियतश्चेत्; किमेकदेशेन, सर्वात्मना वा ? सर्वात्मनैकार्थनियमे अर्थान्तरे वेदात् प्रतिपत्तिर्न स्यात्, तैत्तिरीयाज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम् । चौरशब्दो वा नित्यसम्बन्धात् तस्मिन्नेव रुढः कथं दाक्षिण्यैः ओदने प्रयुक्तः तमभिदध्यात् । अर्थैकदेशेनासौ तन्नियतः; स किमेकदेशः अभिमतैकार्थनियतः, अनभिमतैकार्थनियतो वा ? अनभिमतैकार्थनियमे मिथ्यात्वलक्षणं वेदस्याऽप्रामाण्यं स्यात् । अथाऽभिमतैकार्थनियतः, किं पुरुषात्, स्वभावाद्वा ? प्रथमपक्षे अस्यापौरुषेयत्वसमर्थनप्रयासो व्यर्थः । पुरुषो हि रागाद्यन्ध-

(१) नित्यैकरूपस्य सम्बन्धस्य । (२) तुलना—“अर्थज्ञापनहेतुर्हि सङ्केत पुरुषाश्रय । गिराम-  
पौरुषेयत्वेऽप्यतो मिथ्यात्वसम्भव ॥ किं ह्यस्यापौरुषेयतया ? यतो हि समयादर्थप्रतिपत्ति, स पौरुषेय  
वितथोऽपि स्यात्, शील साधन स्वर्गवचनम्, अन्यथा समयेन विपर्ययस्येत् तेनाप्यर्थमपि प्रकाशनसम्-  
वात् ॥”—प्रमाणवा० स्ववृ० १।२२८ । “सङ्केतमन्तरेणापौरुषेयादपि वाक्यादर्थप्रतीतेरभावात् । अर्थज्ञा-  
पनहेतुरिह सङ्केत स्वीकर्तव्य, स च पुरुषकृतत्वात्पुरुषाश्रय । अतः सङ्केतस्य पुरुषाश्रयत्वात् गिराम-  
पौरुषेयत्वेऽपि मिथ्यात्वस्य सम्भवः । सङ्केतवशेन वाचोऽप्य द्रवते । स च दोषाश्रयेण पुरुषेण क्रियत इति  
तासां न विमवादाशङ्कानिरासः पौरुषेयवाक्यवदिति व्यर्थमपौरुषेयत्वकल्पनम् ॥”—प्रमाणवा० मनोरथ०  
३।२२६ । “अर्थज्ञोतनहेतोश्च सङ्केतस्य नराश्रयात् । शक्तावितरजन्यायामपि मिथ्यात्वसम्भवः ॥”—  
तत्त्वसं० पृ० ७१० । प्रमेयक० पृ० ४३० । (३) पुरुष । (४) वेदस्य । (५) तुलना—“किञ्च वाचा  
किमेकेनार्थेन सह वाचवाचकसम्बन्ध, अधानेक ? गिरामेकार्थनियमे न स्यादर्थान्तरे गति । अनेका-  
र्थाभिसम्बन्धे विरुद्धव्यक्तिसम्भवः ॥ गिरामकस्मिन्नर्थे वाचकतया नियमे सति सकेतवशादन्यत्रार्थे न  
स्याद् गति, दृश्यते च विवक्षातोऽनेकार्थाभिधानम् । अनेकैरर्थैर्वाचकत्वाभिसम्बन्धे विरुद्धस्यार्थस्य व्यक्ते  
प्रतीतेः सम्भवः स्यात् । अग्निष्टोम स्वर्गस्य साधनमिति विपर्ययोप्यवसीयत । तत्तत्प्रवृत्तिरेव स्यात्  
स्वर्गादिभिः ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२८ । “वा शक्तिरेकार्थनियता वा भवेत्तानार्थनियता वा ।”—  
तत्त्वसं० पृ० ७१० । प्रमेयक० पृ० ४३० । “यदि पुनः शब्दस्य वस्तुनि स्वत एव योग्यत्व को दोषो  
येन सङ्केतस्तत्रापेक्ष्यते ? इति चेदुच्यते—तत्सर्वविषय नियतविषयं वा ? पूर्वविकल्पे ततो युगपत्सर्वार्थ-  
प्रतीतिप्रसङ्गात् तथा च न ततो नियतविषयप्रवृत्त्यादिरिति व्यवहारविलोपः । तत आह—न संबन्धोऽयं  
साध्वी सङ्केताभिप्रायमो यदि । द्वितीयविकल्पे दोषमाह—सम्बन्धनियमेऽन्यत्र सङ्केतेऽपि न वर्तताम् ॥”—  
न्यायवि० का० ४३१ । (६) वेदस्य । (७) “चौरशब्दो (यथा) लोके भव्यार्थं प्रतिपादयेत् । केवा-  
न्विचोचोरमेवाह तन्नेप्येव पदास्तथा ॥”—ज्ञानसि० पृ० ७५ । “यथा चौरशब्दस्तत्स्वरूपेण ओदने  
दाक्षिणात्यं प्रयुज्यते ॥”—न्यायम० पृ० २४२ । प्रज्ञ० कन्व० पृ० २१५ । (८) एकदेशार्थनियत ।  
तुलना—“य एवार्थो वस्तुस्थित्या स्वर्गसाधनः किन्तु नैव समयकारणेऽभिहितोऽत्रादिशब्दोऽपि व्यक्तः किम्वाऽ-  
न्यस्मिन्नेव स्वर्गसाधनविरुद्धे बुद्धिमन्त्यादिति सन्देह एव ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३० । (१०)  
वेदस्य । तुलना—“स इति शब्दः सर्वस्मिन् वाचकत्वेनानियतः नियमः क्वचिदर्थे पुरुषात् पुरुषसङ्केतात्  
प्रतिपद्यते । स च पुरुषो विरुद्धेऽप्यर्थे सङ्केतं कुर्यात् । तथा च न केवलं विरुद्धव्यक्तिसम्भवः । यापीयमपौ-  
रुषेयता वेदस्येष्टा तस्या व्यर्था स्यात् परिकल्पना ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३० । “अथानेका-

त्वात् प्रतिक्षिप्यते तस्माच्चेद् वेदैकदेशोऽर्थनियमं प्रतिपद्येत किमपौरुषेयत्वेन ?  
स्वभावादभिमतैकार्थनियमे तु भावनाद्यर्थभेदानुपपत्तिः । अनेकार्थनियतत्वे तु वेदस्य  
सकलार्थसाधारणत्वात् कथमिष्टव्यक्तावेव समयकारः समयं कुर्यात् ?

“तेनाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गं मामै इति श्रुता ।

सादेत् श्मासमित्येव नार्थ इत्यत्र न प्रमा ॥” [ प्रमाणवा० ३।३१८ ]

तत्र स्वरूपतः सम्बन्धो नित्यः ।

नैपि सम्बन्धिनित्यत्वात् ; यतः कोऽत्र नित्यः सम्बन्धी-शब्दः, अर्थः, द्वयं वा ?  
न तावच्छब्दः ; तस्यामेऽनित्यत्वप्रसाधनात् । नाप्यर्थः ; घटादेस्तदर्थस्य अनित्यतया  
प्रत्यक्षादितः प्रतीतेः । अथ सामान्यं तदर्थः, तच्च नित्यम्, अतस्तद्विश्रितः सम्बन्धोऽ-  
पि नित्य इत्युच्यते ; तदसत् ; सामान्यस्य तदर्थस्यानुपपत्तेः, तद्विधानेव शब्दार्थः  
इत्यमे समर्थयिष्यमाणत्वात्, परैपरिकल्पितसामान्यस्य निषिद्धत्वाच्च । उभयपक्षोऽपि  
उभयपक्षनिक्षिप्तदोषानुपपन्नादयुक्तः ।

धीभिर्वाप्यपि शब्द पुरुषेण सङ्गुतादभिमतार्थोभिर्भावित्वेन नियम्यते तदा-अपौरुषेयतायाञ्च व्यर्था  
स्यात्परिकल्पना । वाच्यश्च हेतुभिर्ज्ञाता सम्बन्धस्य व्यवस्थिते ॥”-प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२९ ।

(१) तुलना-“असत्कार्यतया पुंभिः सर्वथा स्यान्निरर्थता । सत्कारोपपत्तेः मुख्य गजस्नानमिव  
भवेत् ॥”-प्रमाणवा० ३।२३० । प्रमेयक० पृ० ४३० । (२) तुलना-“प्रकृत्यैव स्वभावेनैव वैदिका  
शब्दा नियता अभिमतेऽर्थे ततो न पुरपमस्काङ्कतो दोष इति चेत्, एव सत्यप्रकाशने नोपदशमपेक्षेरन्,  
जपेक्षन्ते च, स्वतस्तेभ्योऽर्थप्रतीतिरभावात् । यदि च ते स्वभावत एव प्रतिनियताः स्युः तदा यत्र क्वचिदर्थो  
एकदा समिता पुन कथञ्चित् ततोऽन्यथा सङ्गुतेनार्थान्तरं न प्रकाशययुः, प्रकाशयन्ति च ततो न  
प्रकृत्यैकार्थनियता इति । स्वभावतश्चैकार्थनियमे योऽयं वैदिकेषु वाक्येषु व्याख्यातृणां व्याख्याविकल्पश्च  
अपरापरव्याख्याभेदश्च न स्यात् एकार्थप्रतिनियमात्, भवति च, तस्मात् पौरुषेयवाक्यवर्तकार्थनियता  
वैदिका शब्दा इति ॥”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३० । (३) भावनाविधिनियोगरूपेण भाट्टवेदा-  
न्तिप्राभाकाराणां वेदार्थविषये व्याख्याभेदो न स्यादिति भावः । (४) तुलना-“सर्वत्र योग्यस्यैकार्थ-  
द्योतने नियमः कुतः ॥”-प्रमाणवा० ३।३२६ । “नानार्थद्योतने दक्षितार्थवत्येकस्य हि ध्वने । नाग्निहो-  
त्रादयस्त्वर्था सर्वे सर्वोपयोगिनः । तदिष्टविपरीतार्थद्योतनस्यापि सभवात् । नित्यशब्दार्थसम्बन्धकल्पना  
वो निराधिका ॥”-तत्त्वस० पृ० ७११ । (५) “अग्निहोत्रं जुहुयात्”-अभ्यु० ६।३६ । (६) व्याख्या  
‘तेनति अपरिज्ञातार्थत्वेन अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गं काम इति श्रुतौ वेदवाक्ये सादेच्छ्वमासमित्येव नार्थं  
किन्त्वन्योऽभिमतोऽर्थ इत्यत्र का प्रमा ? नैव किञ्चित्प्रमाणम् ॥”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३२० ।  
‘अग्निं हन्तीति अग्निह् इवा तस्योत्र मास जुहुयात् सादेत् । अथवा अगति गच्छतीत्यग्निं इवा ह्यतेऽ-  
द्यत यत्तत् होत्र मासम् अग्नेर्होत्रमित्यग्निहोत्र इवमास तज्जुहुयात् सादेत् स्वर्गं कामं पुमान् द्विजः ॥”  
-प्रमेयरत्नमा० टी० पृ० १३४ । उद्धृतोऽयम्-शास्त्रवा० श्लो० ६०५ । न्यायम० पृ० ४०५ ।  
नन्दिमलय० पृ० १९ । (७) तुलना-“सम्बन्धिनामनित्यत्वात् सम्बन्धेऽस्ति नित्यता ॥”-प्रमाणवा०  
३।२३१ । (८) शब्दस्य (९) सम्बन्धविषयभूतस्य अर्थस्य । (१०) शब्दार्थ-आ० टी० । (११)  
सामान्याश्रितः । (१२) सामान्यवानेव । (१३) भीमामकनैयायिकादि । (१४) पृ० २८५ ।



पक्षात् । ततो नित्यसम्बन्धस्य कुतश्चिदप्रसिद्धे अनित्य एवाऽसौ अभ्युपगन्तव्यः ।

यदपि तदनित्यत्वे 'प्रतिपुरुषम्' इत्यादि दूषणमुक्तम्, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, अनादित्वात् शाब्दव्यवहारस्य । नहि सर्वथा सतो जगतो निर्मूलनाशलक्षणे महाप्रलय असतश्चात्मलक्षणलक्षणा सृष्टिः अस्माकं भवता वा प्रसिद्धा येन अपूर्व-सृष्टिप्रादुर्भावाश्रयणेन 'समय प्रतिफलं वा' इत्याद्युक्तं शोभेत । नित्यत्वेऽपि च तत्सम्बन्धस्य अभिव्यक्तिरनित्याऽभ्युपगन्तव्या, अतस्तत्रापीदं दूषणं तुल्यम् । कथञ्चैवोदिनोऽग्निधूमयोरपि सम्बन्धसिद्धेत् तत्राप्युक्तविकल्पानां समानत्वात् । अधाग्निधूमत्वसामान्ययोर्नित्यस्वरूपयोः सम्बन्धित्वेन तत्सम्बन्धनित्यत्वसमभावात् नोक्तविकल्पानां तत्रापकाश, तदप्यपेशलम्, केवलसामान्ययोः सम्बन्धित्वस्य व्याप्तिविचारप्रघट्टके प्रतिपिद्धत्वात् । नित्यत्यञ्च सामान्यस्य प्रागेव प्रतिपिद्धम् । अतो यथा सादृश्यप्रधानतया सादृश्योपलक्षितानां साध्यसाधनव्यक्तिविशेषाणामनन्तानामपि व्याप्तिज्ञानेन कौडीकरणं तथा वाच्यवाचकव्यक्तिविशेषाणामपि । अतः "सम्बन्धप्रमाणक" [मी० श्लो० ५० ६८०] यदेवोच्यते, तत्र 'शब्दवृद्धाभिधानानि प्रत्यक्षेणात्र पश्यति' इति युक्तम् । 'श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया' इत्यप्युपपन्नम्, 'अन्यथानुपपत्त्या तु वेत्ति शक्तिं द्वयाश्रिताम्' इत्येतच्चनुपपन्नम्, नित्यज्ञेयस्य सम्बन्धाख्यायामन्यथानुपपत्तेरभावात् । बहिर्धूर्मादिशक्तिवत् शब्दार्थाश्रिताया शक्तेरनित्यत्वेऽपि श्रोतुर्थप्रतिपत्त्युपपत्तेः ।

एतेनेदमपि निरस्तम्—

"नित्या शब्दार्थसम्बन्धा तत्राभ्याता महर्षिभिः ।

सूत्राणां संनुतन्त्राणां भाष्याणाञ्च प्रणेतृभिः" ॥" [वाक्यप० १।२३] इति,

(१) ४० ५४३ ५० १३। (२) जनानाम् । (३) मीमांसकानाम्—आ० टि० । तस्मादद्यवद्वान्न सगप्रलयकपना । समस्तक्षयजनभ्या न सिद्धघत्यप्रमाणिका ।—मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० ११३ । (४) अभिव्यक्तावपि । (५) शब्दाद्ययोः नित्यसम्बन्धवादिनः । (६) अग्निधूमसम्बन्ध । (७) नाग्निधूमत्वयोरविनाभावो गृह्यते किं तु अग्निधूमविक्षिप्त्याग्निना सह धूमत्वविक्षिप्तधूमस्याविनाभाव गृह्यते इति भावः । (८) ५० ४२३ । (९) ४० २८५ । (१०) साध्यसाधनव्यक्तीनामानन्त्येऽपि सादृश्याद् व्याप्तिज्ञानेन कौडीकृति एव वाच्यवाचकव्यक्तीनामपि सादृश्यवशात्तत्र कौडीकरणमस्ति ह्यत्रापि सादृश्यम् घटशब्दावाच्याऽयं पृथुबुधोदराद्याकारत्वात् पूर्वोपलब्धघटान्तरवत् ।—आ० टि० । (११) तुलना—'अतएव च सम्बन्धस्त्रिप्रमाणक इति यच्चयोच्यते तदस्माभिर्न मृष्यते । शब्दवृद्धाभिधानाश्च प्रत्यक्षणात्र पश्यतीति सत्यं श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टयत्यतदपि सत्यम् । अन्यथानुपपत्त्या तु वेत्ति शक्तिं द्वयाश्रितामित्यतस्तु न सत्यम् अन्यथाप्युपपत्तिरित्युक्तत्वात् ।—वाक्यप० ४० २४५ । (१२) मीमांसकन कुमारिलभट्टनः । (१३) जायन्नापकसक्ति—आ० टि० । (१४) यथाहि बहिर्धूमयो ज्ञाप्यज्ञापकव्यक्तिरनित्याऽपि अनुमयाप्रतिपत्तिप्रयोजिका तथैव शब्दाद्ययो वाच्यवाचकव्यक्तिरपि । (१५) सवृत्तिकाणां (ना) म—आ० टि० । 'अनुत्तत्र वातिकम्—वाक्यप० ५० ४० । (१६) 'सिद्ध शब्दाशसम्बन्धे । सिद्ध शब्देऽयं सम्बन्ध वेत्ति ।—पा० महाभा० ५० ५५ । 'नित्य

१ भवतो वा श्र० । २—वादिनो धूमान्योरपि श्र० । ३—विद्ध यथा श्र० ।

सम्बन्धस्यानित्यत्वसमर्थनात्, शब्दस्य तदर्थस्य चोपे अनित्यतया समर्थयिष्य-  
माणत्वाच्च, सर्वथा नित्यस्य वस्तुन क्रमयौगपचाभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावप्रतिपाद-  
नाच्च । कथञ्चैवर्वादिन कौटिल्ये चोदनाया प्रामाण्य स्यात् कार्यस्याऽनित्यत्वात् ?  
तत सिद्ध कथञ्चिदनित्ययोग्यतालक्षणसम्बन्धवशात् श्रुतस्यार्थप्रतिपादकत्वम् । अत  
सूक्तम्—‘संवादक श्रुतं प्रमाणम्’ इति ॥ छ ॥

5

ननु श्रुतस्याविसर्वादित्वमसिद्धम्, अर्थाभावेऽपि शब्दानामुपलम्भात् । य एव  
‘शब्दस्यान्यापोहमा हि शब्दा सत्यर्थे दृष्टा ते तैदभावेऽपि दृश्यन्ते, अत शब्दाना  
नाभिधायकत्वम्’ इति विधिद्वारेणाऽर्थाभिधायकत्वानुपपत्ते र्अन्यापोहमात्राभिधायकत्वमेवो-  
वाच्यस्य पूर्वपक्ष- पक्षम् । उक्तञ्च—“अपोह शब्दलिङ्गाभ्या न वस्तु विधिनोध्यत”

शब्द नित्योऽथ नित्य सम्बन्ध इत्येषा शास्त्रव्यवस्था । तत्रास्मात्ता महविभि मूनादीना प्रणतभि ।  
व्याकरण एव य सूत्रादीना प्रणतारस्ते व्यपदिश्यन्ते । तत्र सूत्राणामारम्भादेव शब्दाना नित्यत्वमभि  
मतम् । न ह्यनित्यत्वे शब्दादीना शास्त्रारम्भ किञ्चिदपि प्रयोजनमस्ति । व्यवहारमात्र ह्यतदनर्थक न  
महान्त शिष्टा समनुगन्तुमहन्तीति तस्माद व्यवस्थितसाधुत्वेपु शब्देपु स्मृतिशास्त्र प्रवृत्तिमिति । -  
वाचप० हरि० १।२३ । उद्धृतोऽयम्—सिद्धिबि० टी० पृ० ५०५ । प्रमेयक० प० ४२९ ।

(१) पृ० ३७२ । (२) नित्यसम्बन्धवादिन—आ० टि० । (३) अभ्यायस्य क्रियाधत्वात् -  
जैमिनिपु० १।२। १ । चोदयति क्रियाया प्रवक्त वचनमाहु । -शबरभा० १।१। २ । (४) अग्नि  
ष्टोमादियज्ञरूपकमण । (५) अतीताजातयोर्वाग्नि न च स्यादनुताथता । वाच कस्याश्चिदित्येषा  
बोद्धव्यविषया मता । -प्रमाणवा० ३।२०७ । (६) विकल्पप्रतिबिम्बपु तन्निष्ठपु निबध्यते । ततो-  
‘अपोहननिष्ठत्वादुक्ताऽन्यापोहकृच्छ्रुति ॥ विकल्पाणा प्रतिबिम्बेष्वकारेषु तन्निष्ठपु तदव्यावृत्तिवस्तुत्वेन  
व्यवस्थाविषयतया तद्व्यवहारव्यवस्थितिपु सङ्कतकावे निबद्धयते ततो विकल्पप्रतिबिम्बाना बाह्यव्या  
वृत्तात्मत्वेन व्यवहारविषयत्वात् अयापोहननिष्ठत्वात् कारणात् उक्ता धृतिरयापोहकृत् । अयव्यावृ-  
त्ताकारविकल्पजननात् अयव्यावृत्तपु प्रवतनाच्च शब्दोऽयापोहोदुक्त । ननु शब्दे जान बाह्य बाह्य  
ताकारविकल्पजननात् अयव्यावृत्तपु प्रवतनाच्च शब्दोऽयापोहोदुक्त । ननु शब्दे जान बाह्य बाह्य  
तयव प्रतीयते न ज्ञानाकारतया इत्याह—व्यतिरेकीव यज्ज्ञान भात्यधप्रतिबिम्बकम् । शब्दात्तदपि नार्था-  
त्मा भ्रान्ति सा वासनोदभवा ॥ यथा तमिरिकदृष्टपु कश्चपु बाह्यभ्रम एव विकल्पाकारेऽपि बाह्य  
व्यवहारोऽविद्यावशादित्यथ । -प्रमाणवा० मनोरथ० २।१६४ ६५ । तत्र यत्तदारोपित विकल्पधिया  
व्यवहारोऽविद्यावशादित्यथ । -प्रमाणवा० मनोरथ० २।१६४ ६५ । तत्र यत्तदारोपित विकल्पधिया  
अर्धेष्वभिन्न रूप तदन्यव्यावृत्तपदार्थानुभववलायातत्वात् स्वयञ्च अयव्यावृत्ततया प्रख्यानाव भान्तवचा-  
यव्यावृत्तार्थेन सहैकपदाध्यवसितत्वात् अयापोदपदार्थाधियातिफलत्वाच्चायापोह इत्युच्यते । तेनापोह  
शब्दाय इति प्रसिद्धम् । -तत्त्वस० प० पृ० २७४ । अपोहो बाह्यतया आरोपित आनारोपोह्यतेऽ  
ननति कृत्वा यदा अपोह्यतेऽस्मिन्त्यपोह स्वलक्षणम् तस्मान विकल्पाणा स्वरूपेण बाह्यो ग्राह्योपि  
तु स्वाकारेण सहैकीकृत एव बाह्यो विषय स चासत्योऽपोह्यतेऽयदननति अपोह उच्यते । -प्रमाणवा०  
कृत्वा । -तत्त्वस० मो० प० २६ । (७) उद्धृतोऽयम्—अष्टसह० पृ० १४० । स्याम० पृ० १८० ।  
कृत्वा । -तत्त्वस० मो० प० २६ । (७) उद्धृतोऽयम्—अष्टसह० पृ० १४० । स्याम० पृ० १८० ।  
तुलना—‘कय स एव व्यवच्छेद शब्दलिङ्गाभ्या विधिना प्रतिपाद्यते न वस्तुरूपमिति गम्यते ? -

[ क्षणभङ्गाध्याय (?) ] इति । प्रयोग—यद्यत्र प्रतिभाति तत्तस्य विषय यथा अक्षणे सवेदने परिस्फुटप्रतिभासमानवपुरर्धात्मा नीलादिस्तद्विषय, शब्दलिङ्गप्रभवे च प्रत्यये वहिरर्थतत्त्वरहित स्वरूपमात्रमेव प्रतिभाति अतस्तदेव तस्य विषय इति । न च तत्प्रभवप्रत्यये वहिरर्थाऽसस्पर्शिरूपमात्रावभासित्वमसिद्धम्, शब्दलिङ्गयोर्वहिरर्थ-  
 5 विषयत्वायोगतस्तत्सिद्धे । तथाहि—शब्दस्य वहिरर्थो विषयो भवन् स्वलक्षणस्वभावो भवेत्, सामान्यस्वरूपो वा ? तत्रापक्षोऽनुपपत्तिः, तत्रैव सङ्केताभावतः शब्दानां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । सङ्केतो हि सङ्केतव्यवहारकालानुयायिस्वरूपेऽर्थे विधीयते, न च स्वलक्षणस्य तथाविधं स्वरूपं सम्भवति देशकालाकारसङ्कुचितत्वेन अननुयायिस्वरूपत्वात् । ये सङ्केतव्यवहारकालाननुयायी न तत्र व्यवहारिभिः शब्दं सङ्केल्यते यथा उत्पन्नामात्र-  
 10 प्रवृत्तिरिति कचिदर्थे, नान्वेति च विवक्षितदेशादिभ्यः शाबलेयादिदेशांतरादाविति ।

किञ्च, 'अस्येवमभिधानम्' इति यस्मिन् ज्ञाने सम्बन्धं प्रतिभाति न तत्र ज्ञाने प्रतिनियतेन्द्रियविषययोः शब्दार्थस्वलक्षणयोः प्रतिभासः । न च तत्राप्रतिभासनयोः प्रमाणबा० स्ववृ० १।४४ । अयापोऽविषया आचार्येण प्रोक्ता अपोहः गण्यङ्गाभ्यां प्रतिपाद्यते इति ध्रुवता । —प्रमाणबा० मनोरथ० ३।१३३ ।

(१) क्षणभङ्गप्रभवप्रत्यययोः वहिरर्थरहितं स्वरूपमात्रमेव विषयः तत्र स्वरूपमात्रस्य प्रतिभातत्वात् । उच्यते विषयो मोषा धो-वनीना न कश्चन । अर्थाशानिविष्टं तु बीजमेवा निबध्नन्म । तथाहि—जस्माभिरिष्यत एवपामन्तज्ज्वासनाप्रबोधो निमित्तम् न तु विषयभूतं भान्तत्वेन पूर्वस्य शब्दप्रत्ययस्य निर्विषयत्वात् । अन्तर्मात्राभिविष्टमिति विज्ञानसन्निविष्टं वासवति यावत् । एतदेवागमेन सत्यमस्मात्तद्वा यस्य यस्यत्वादि—यस्य यस्य हि शब्दस्य यो यो विषय उच्यते । स स सविद्यते नव वस्तूनां मा हि धमता ॥ —तत्त्वस० पृ० पृ० २७५ । (२) यत् स्वलक्षणं जातिस्तद्योगी जानिमास्तथा । बद्धाकारो न गण्यः घटादप्यति तत्त्वतः । —तत्त्वस० पृ० २७६ । (३) शब्दाः सङ्कुचितं प्राहुः व्यवहाराय स ममत । तत्र स्वलक्षणं नास्ति सङ्कुचितस्तेन तत्र न ॥ —प्रमाणबा० ३।९१ । तदा व्यवहारकालतत्स्वलक्षणं नास्ति यत्र सङ्कुतं कृतं । एकस्यापि स्वलक्षणस्य क्षणिकत्वात् कालान्तरे तेनैव रूपणानुगमो नास्ति अक्षणिकत्वे वा सङ्कुतज्ञानाभावादव तद्विषयत्वस्य कालान्तरेऽनुगमो नास्ति किमुत देशकालभिनपु स्वलक्षणपु तत्र कारणेन तत्र स्वलक्षणाय मक्तो न क्रियते । —प्रमाणबा० स्ववृ० टी० । तत्र स्वलक्षणं तावत् शब्दं प्रतिपाद्यत । सङ्कुतव्यवहारात्कालव्याप्तिविधेयम् ॥ एतदुक्तं भवति—ममयो हि व्यवहाराय क्रियते न व्यसन्नितया तेन यस्यैव सङ्कुतव्यवहारात्कालव्यापकत्वमस्ति तत्रैव समयो व्यवहृता पूर्वो नायत्र । न च स्वलक्षणस्य सङ्कुतव्यवहारात्कालव्यापकत्वमस्ति । तस्मान्न तत्र समय इति । व्यक्त्यात्मानोनुयुक्त्येन परस्पररूपतः । देशकालक्रियाशक्तिप्रतिभासादिभेदतः ॥ तस्मात्सङ्कुतदृष्टोऽर्थो व्यवहारः न दृश्यते । नचागहीतसङ्कुतो बोद्धव्यतायैव ध्वनः ॥ —तत्त्वस० पृ० पृ० २७७ । (४) एकपरमाप्ताकारतया एकगणस्याप्यितया निरुतया च न देशकालाकारान्तरव्याप्तिस्वलक्षणस्यपि भावः । तस्य देशकालभेदनास्त्वन्नातः तस्यपि सङ्कुतकालदृष्टस्य व्यवहारावस्था नादिषु देशकालभेदय अनास्क्रन्दनातः अनुगमात् । न हि एकत्र दृष्टो भेदोऽन्यत्र सम्भवति । —प्रमाणबा० स्ववृ० टी० १।९४ । (५) स्वलक्षणं नास्ति सङ्कुतं सङ्कुतव्यवहारकालाननुयायित्वात् । (६) यो हि विवक्षितदेशो मोक्ष्य यश्च देशान्तरं याति सोऽन्यः क्षणिकत्वात्—आ० टी० । (७) ओषधक्षुपी ।





नैकैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति येन अस्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शब्दप्रत्यये प्रतिभासेत; एकस्य द्वित्वविरोधात् । प्रयोगैः—यत्कृते प्रत्यये यन्न प्रतिभासेत न तत्तस्य विषयः यथा रूपप्रभवप्रत्यये रसः, न प्रतिभासेत च शब्दप्रत्यये स्वलक्षणमिति । वस्तुविषयत्वे च शब्दानां मतभेदेन अर्थभेदाभिधायित्वानुपपत्तिः । उक्तञ्च—

“परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना ।

न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु सर्वेयान्तरभेदिषु ॥” [ प्रमाणवा० ३।२०६ ] इति ।

तन्न स्वलक्षणस्वभावः शब्दस्य विषयो घटते ।

नापि सामान्यरूपः; बौत्त्वस्य सामान्यस्यैवाऽसंभवात्, तदसंभयश्च अश्व-  
विषाणवदनर्धक्रियाकारित्वात् सुप्रसिद्धः । न खलु नित्यैकस्वभावस्य क्रमयौगपद्याभ्या-

प० पृ० २८० । प्रमेयक० पृ० ४४७ । सन्मति० टी० पृ० १७७, २६० । स्या० १० पृ० ७१० । तुलना—“(उष्णादिप्रतिपत्तिर्या) नामादिष्वनिर्भाविनी । विस्पष्टा (भासेते नैपा) तदर्थेन्द्रियबुद्धिवत् ॥ यथा ह्युष्णाद्यर्थविषयेन्द्रियबुद्धि स्फुटप्रतिभासा वेद्यते न तपोष्णादिशब्दभाविनी । न ह्युपहृतनयन-  
रसनघ्राणादयो मातुलिङ्गादिशब्दश्रवणात्तद्वत्प्रसाधनुभाविनी भवन्ति यथाऽनुकृतनयनादय इन्द्रियवि-  
याऽनुभवन्तः ।”—तत्त्वस०, प० पृ० २८० ।

(१) “न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति स्पष्टास्पष्टम् । येनास्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शब्दरभि-  
धीयते इति स्यात्, एवस्य द्वित्वविरोधात् ।”—तत्त्वस० प० पृ० २८१ । “न हि स्पष्टास्पष्टे द्वे रूपे  
परस्परविरुद्धे एकस्य वस्तुनः स्तः यत एकैरेन्द्रियबुद्धौ प्रतिभासेत अन्येन विकल्पे । तथा मति वस्तुन  
एव भेदप्राप्ते ।”—अथोहसि० पृ० ७ । (२) स्वलक्षणं न शब्दप्रत्ययविषयः शब्दप्रत्ययेऽप्रतिभासमा-  
नत्वात् । “न स तस्य च शब्दस्य युक्तो योगो न तत्कृते । प्रत्यये सति भात्यर्थो रूपबोधे यथा रसः ॥  
प्रयोग—यो हि तत्कृते प्रत्यये न प्रतिभासेत न स तस्यार्थः यथा रूपजनिते प्रत्यये रसः, न प्रतिभासेत च  
शब्दे प्रत्यये स्वलक्षणमिति व्यापकानुपलब्धिः”—तत्त्वस० प० पृ० २८० । (३) व्याख्या—“परमार्थ-  
स्वलक्षणम् तस्मिन् एकस्थानं (एकस्थानं) प्रवृत्तिर्येषा तद्भावस्तत्त्व तस्मिन् सति शब्दानामनिब-  
न्धना परमार्थनिबन्धनरहिता प्रवृत्तिर्न स्यात् दर्शनान्तरभिन्नपक्षेषु सिद्धान्तभेदभिन्नेषु ।”—प्रमाणवा०  
स्ववृ० टी० १।२०९ । ‘परमार्थैकतानत्वे परमार्थैकपरत्वे शब्दानामर्थेषु दर्शनान्तरभेदिषु प्रतिदर्शनं  
भिन्नाभ्युपगमेन नित्यत्वानित्यत्वत्रिगुणीमयत्वादिकल्पितभेदेषु अनिबन्धना परमार्थनिबन्धनरहिता  
प्रवृत्तिर्न स्यात् । न हि परस्परविरुद्धा बहवो धर्मा एकत्र सन्ति ।’—प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२०६ ।  
(४) ‘दर्शनान्तरभेदिषु’—प्रमाणवा० । शास्त्रवा० श्लो० ६४७ । अनेकान्तजय० पृ० ३५ A ।  
प्रकृतपाठ—अष्टसह० पृ० १६८ । सिद्धिबि० टी० पृ० २६८ A । ‘तस्मात्प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तर-  
भेदिषु’—स्या० १० पृ० ७१० । (५) “अपि प्रवर्तते पुमान् विज्ञायात्यक्रियाक्षमान् । तत्साधनायेत्यर्थेषु  
सयोज्यन्तेऽभिधायकाः ॥ तत्रानर्थक्रियायोग्या जातिः ।—न खलु लोकोऽपेक्षेतयन् शब्दानप्रयुज्जानो वा  
■ खितः स्यात् । व्यसनापन्नं अथ किमिति चेत्, सर्वं एवापेक्ष्य आरम्भः पक्षार्थः । निष्फलारम्भस्य  
उपेक्षणीयत्वात् । तदयं क्वचिच्छब्दः नियुज्जानं किञ्चित्कालमेवेदितुं युक्तः । तच्चत् सर्वम् इष्टानि-  
ष्टाप्तित्यागलक्षणम् । तेनायमिष्टानिष्टसाधनासाधनं कृत्वा तत्र प्रवृत्तिः निवृत्तिः वा कुर्या कारयेय वेति  
नियोग आदियेत शब्दान् वा नियुज्जीत अन्यणेपेक्षणीयत्वात् । तत्र जातिरनर्थक्रियायोग्या । नहि जाति-  
र्वाहोद्वाहो क्वचिदपि प्रत्युपस्थिता । न वा तादृशप्रकरणाभावे लोकव्यवहारेषु शब्दप्रयोगः ।”—प्रमाण-  
वा० स्ववृ० १।९५ । (६) सामान्यस्य ।

मर्थक्रियाकारित्वं सभवतीत्युक्तं सामान्यनिषेधावसरे' । तन्नार्थगोचरा शब्दा किन्तु अन्यापोहगोचरा ।

सा चार्थपञ्चमाकार, तथाहि—न जातिव्यक्तयोस्तैर्गोचरत्वं पूर्वोक्तदोषात् । नापि ज्ञानतदाकारयो, तयोरपि स्येन रूपेण स्वलक्षणत्वात्, तस्यै च सङ्केताविषयतया शब्दगोचरतानुपपत्तेः, किन्तु स एव ज्ञानाकारो दृश्यविकल्पावेकीकृत्य वहीरूपतया-ऽध्यस्तोऽर्थपञ्चमाकार अन्यापोहः । बाह्यत्वं हि तस्य अर्धाकारः ।

अपोहश्च निषेधः । सै च द्विविधः—पर्युदासः, प्रसज्यश्च । पर्युदासोऽपि द्विविधः बुद्ध्यात्मा, अर्थात्मा च । तत्र बुद्ध्यात्मा, बुद्धिप्रतिभासोऽनुगतैकरूपत्वेन अर्थेष्वव्यवसितः । अर्थात्मा अर्थस्वभावो विजातीयव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणम् । तत्र बुद्ध्यात्मनो

(१) पृ० २८५ । (२) जातिव्यक्तिज्ञानतदाकारा एते सत्या अधपञ्चमाकार अधत्वं तु दृश्यस्य सत्पत्वात् विकल्पस्यासत्पत्वात्—आ० टि० । (३) छन्दविषयत्वम् । (४) ज्ञानरूपेण । (५) ज्ञानस्वलक्षणस्य । (६) व्याख्यातार एव विवचयन्ति न हि व्यवहर्तारः । ते तु स्वात्मनमेव अधि क्रियायोग्यं मयमाना दृश्यविकल्पाधीनकीकृत्य प्रवर्तन्ते । ते हि यथावस्थितं वस्तु व्यवस्थापयन्त एव विवचयन्ति । अन्यो विकल्पबुद्धिप्रतिभासः अन्यस्वलक्षणमिति, न व्यवहर्तार एव विवेचयन्ति । ते तु व्यवहर्तारः स्वात्मनमेव विकल्पप्रतिभासमेवाधिक्रियायोग्यं बाह्यस्वलक्षणरूपं मन्यमाना । एतदेव स्पष्टयति—दृश्योऽथ स्वलक्षणम् विकल्प्योऽथ सामान्यप्रतिभासः तावकीकृत्य स्वलक्षणमेव विकल्पबुद्ध्या विषयीक्रियते शब्देन चोच्यते इत्यवमधिमुच्यथाक्रियाकारिण्यर्थं प्रवर्तन्ते, तदभिप्रायवशाव व्यवहृतुं नामभिप्रायवशादेवमुच्यते विवकिपु भावपु विकल्पबुद्धिर्भवतीति । दृश्यविकल्पावेकीकृत्य प्रवृत्तिरिति वदता न स्वाकारे बाह्यारोप इत्युक्तं भवति अथवा स्वाकार एव प्रवृत्तिप्रसंगात् मरीचिकाया जलारोपादिव । नापि बाह्य स्वाकारारोप आराध्यमाणफलार्थित्वेनैव प्रवृत्तिप्रसंगात् जलाधिन इव जल भ्रान्ती । अर्थानुभवे सति तत्प्रकारप्रबोधनं तदाकार उत्पद्यमाना विकल्पः स्वाकार बाह्याभिन्नमध्यवस्थिति न त्वभिन्नं करोति । तेन विकल्पविषयस्य दृश्यात्मतयाध्यवसायाद् दृश्यविकल्पयोरकीकरणमुच्यते । —प्रमाणबा० स्ववृ०, टी० १।७२ । (७) तथाहि द्विविधोऽपोहः पर्युदासनिषेधतः । द्विविधः पर्युदासोऽपि बुद्ध्यात्माऽर्थात्मभेदतः ॥ तत्र बुद्ध्यात्मा बुद्धिप्रतिभासः अधपञ्चगताैकरूपत्वेनाध्यवसितः । अर्थात्मा अर्थस्वभावः विजातीयव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणमित्यर्थः । —तत्त्वसं० पृ० ३१६ । तुलना—त्रिविधो हि वोपोहः—एकस्तावद व्यावृत्त स्वलक्षणमेव अन्योऽपोहोऽस्तिस्मिन्निति कृत्वा यदधि कृत्याह—स्वभावपरभावाभ्यां यस्माद् व्यावृत्तिभागिन इति व्यवच्छेदमात्रं द्वितीयः अन्यापोहनमन्यापोह इति कृत्वा, विकल्पबुद्धिप्रतिभासस्तु तृतीयः अपोहोऽस्तिस्मिन्निति कृत्वा अयञ्च गदस्य निबन्धनतयाऽभ्युपगम्यते । —अनेकान्तजय० पृ० ३७A । (८) 'तत्र बुद्ध्यात्मनः स्वरूपं दृश्यं नाह—एकेत्यादि । एकप्रत्ययमशस्य य उक्ता हेतवः पुरः । अभयादिसमा अर्था प्रकृत्यवान्यभेदिनः ॥ तानुपाश्रित्य यज्ज्ञानं भात्ययप्रतिबिम्बकम् । कल्पकेऽर्थात्मताऽभावेऽप्यर्था इत्येव निश्चितम् ॥ यथा हरीतक्यादयो बहुवोऽन्तरणापि सामान्यमेकं चरादिमनलक्षणं कायं कुर्वन्ति तथा साबलयादयोऽप्यर्था सत्यपि भेदे प्रकृत्या एकाकारप्रत्ययवमास्य हेतवा भविष्यन्तीत्यन्तरेणापि वस्तुभूत सामान्यमिति । अभयादिसमा इति—हरीतक्यादितुल्या एकाध्वारितया साम्यम् । तानुपाश्रित्य इति—तानभयादिसमानर्थानाश्रित्य हेतुकृत्य तदनुभवबलेन यदुत्पन्नं विकल्पकं ज्ञानं तत्र यदर्थाकारतयाऽयप्रतिबिम्बकमर्था



कार्यकारणभावान्नान्य, बुद्धिसम्बन्धिनो हि प्रतिबिम्बस्य शब्दजन्यत्वात् तद्वाच्यत्व  
तज्जनकत्वाच्च शब्दस्य वाचकत्वमिति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीये । यत्तावदुक्तम्—‘अपोह शब्दलिङ्गाभ्याम्’ इत्यादि, तदसमी-

चीनम्, यत् प्रमाणतः कुतश्चित्प्रतिबिम्बस्यै तस्यै तद्विषयत्वं युक्तम्,  
न चासौ कुतश्चित् प्रमाणात्प्रसिद्ध, तथाहि—अपोहं प्रत्यक्षतः सिद्ध्येत्, 5  
अनुमानाद्वा ? न तात्पर्यतः, स्वलक्षणविषयत्वात्तस्य । नाप्यनु-  
मानतः, तद्विनाभावलिङ्गाभावात् । नहि असन्नित्वस्य अगोनि-  
वृत्त्या चाविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्ध-

वमायिन्या इत्यादि । यदेव हि शब्दे ज्ञान प्रतिभासते स एव शब्दार्थो युक्तः । न चान्तरप्रसज्यप्रतिपे-  
धाध्यवसायोऽस्ति न चापीदृशज्ञानवत् स्वलक्षणप्रतिभासः । किं तर्हि ? बाह्यार्थाध्यवसायिनी केवल  
गान्धी बुद्धिरपजायते । तेन तदवाप्यप्रतिबिम्बकं शब्दे ज्ञान साक्षात्तादात्म्यया प्रतिभासनाच्छब्दार्थो  
युक्तो नान्य इति भावः । एव तावत्प्रतिबिम्बलक्षणोऽपोहः साक्षाच्छब्दैक्यजन्यमानत्वात् मुख्य शब्दाथ  
इति दक्षितम् । शपयोरप्यपोहयोः गोण शब्दाथत्वमुपवर्ण्यमानमविरुद्धमवेति दक्षयनाह—साक्षादाकार  
एतस्मिन्नवच्च प्रतिपादिते । प्रसज्यप्रतिपधोऽपि सामर्थ्येन प्रतीयते ॥ न नदात्मा परात्मेति सम्बन्ध  
सति वस्तुभिः ॥ व्यावृत्तवत्त्वधिगमोऽप्यथैव भवत्यतः ॥ तेनायमपि शब्दस्य स्वार्थे इत्युपच्यते ।  
ननु साक्षादयं शब्दो द्विविधोऽपोह उच्यते ॥ एवञ्चेति । जन्यत्वेन । कस्यात्पुनः सामर्थ्येन प्रसज्य  
प्रतिपध प्रतीयत इति दक्षयनाह—न तदात्मेति । तस्य गवादिप्रतिबिम्बस्यात्मा य परस्य अश्वादि  
प्रतिबिम्बस्यात्मा स्वभावो न भवतीति कृत्वा । एव प्रसज्यलक्षणपोहस्य नान्तरीयकतया प्रतीतीर्ण  
गन्दादिव प्रतिपाद्य स्वलक्षणस्यापि प्रतिपादयनाह—सम्बन्धे सतीत्यादि । तत्र सम्बन्ध गन्दास्य वस्तुनि  
पारम्पर्येण कायकारणभावलक्षण प्रतिबन्धः । प्रथमं यथावस्थितवस्तुभूतं ततो विवक्षा ततः तात्वा  
दिपरिस्पन्द ततः गन्ध इत्येव परम्परया शब्दस्य वस्तुभिः बाह्यैरन्यादिभिः सम्बन्ध स्यात्तदा तस्मिन्  
सम्बन्धे सति विजातीयव्यावृत्तस्यापि वस्तुनोऽर्थापत्तितोऽधिगमो भवति । अतो द्विविधोऽपि प्रसज्य  
प्रतिपध अयव्यावृत्तवत्त्वात्मा चापोहः शब्दाथ इत्युपच्यते । अयमिति स्वलक्षणत्वात् अपिगन्दात्  
प्रसज्यात्मा च ।—तत्त्वसं० पृ० ५० पृ० ३१८-१९ ।

(१) ननु सांगतस्तादात्म्यतदुत्पत्तिरूप एव सम्बन्ध इत्येते तत्त्वत्र वाच्यवाचकभावोऽपी-  
ष्यते इत्याह—आ० टि० । यद्यपि शब्दस्वार्थेन स वाच्यवाचकभावलक्षण सम्बन्ध प्रसिद्धः नासौ  
कायकारणभावादयोऽवतिष्ठते अपि तु कायकारणभावामक एवेति दणयति—तद्वत्प्रतिबिम्बस्यत्यादि ।  
तद्वत्प्रतिबिम्बस्य धियः शब्दाच्च जमनि । वाच्यवाचकभावोऽप्यजातो हेतुफलरूपकः ॥ शब्द प्रतिवि-  
म्बस्य जनकत्वाद्वाचक उच्यते तच्च प्रतिबिम्ब शब्देन जयमानत्वाद्वाच्यम् ।—तत्त्वसं० पृ० ५० पृ० ३१८-  
१९ । (२) तेन शब्देन तत्प्रतिबिम्बस्य वाच्यत्वम्—आ० टि० । (३) पृ० ५५१ पृ० ९ । (४) अपोह  
स्य । (५) शब्दलिङ्गगोचरत्वम् । (६) तुलना— इन्द्रियैर्नाप्यगोपोहः प्रथमं व्यवसीयते । नायत्र  
शब्दवृत्तिश्च किं दृष्ट्वा स प्रयुज्यताम् ॥७८॥ पूर्वोक्तेन प्रवर्धेन नानुमाप्यत्र विद्यते । सम्बन्धानुभवोऽ-  
प्यस्य तेन नवोपपद्यते ॥७९॥ नागहीतश्च गमकः शब्दापोहः कथञ्चन । प्रत्यक्षं न च तच्छक्तं न च स्तो-  
लिङ्गवाचको ॥१०६॥ यत् स्यादग्रहणं तस्य लिङ्गादीनान्च कल्पने । न व्यवस्थिति वाच्यं विना  
प्रत्यक्षमूलतः ॥१०७॥—मी० श्लो० अपोहो ७८-७९ १०६ ७ । प्रमेयकं पृ० ४३५ । प्रमेयर०  
३१०१ । (७) अपोहविनाभावि ।

प्रकारेण हि भवमते अविनाभावो व्यवस्थित । नचान्यव्यावृत्ते केनचित्सह तादात्म्य-  
तदुत्पत्ती घटते । तथाहि—अकृतकत्वव्यावृत्ति कृतकत्वम्, तत् स्वलक्षणात्मकम्, नित्य-  
व्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वात्मक वा स्यात् ? न तावत्स्वलक्षणात्मकम्, अवस्तुरूपत्वात्, यदे-  
वस्तुरूप न तत् स्वलक्षणात्मक यथा रसरविषाणम्, अवस्तुरूपश्च अकृतकत्वव्यावृत्ति-  
रूपतया कृतकत्वमिति । नापि नित्यव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वात्मकम्, उभयो नीरूपतया  
तादात्म्यसम्बन्धाभावात् । यथो नीरूपत्वं न तयोस्तादात्म्यसम्बन्ध यथा रसपुष्पवन्ध्या-  
मुतयो, नीरूपत्वश्च अन्यव्यावृत्तिरभाषयो कृतकत्वानित्यत्वयोरिति । तन्नानयोस्ता-  
दात्म्य घटते । नापि तदुत्पत्ति, नीरूपत्वादेव । तथाहि—यत्रीरूप तत्र कस्यचिज्जम्ब  
ननक वा यथा रसरविषाणम्, नीरूपश्च साध्यसाधनत्वेनाऽभिप्रेत प्रकृतमन्यापोहद्वयमिति ।

ननु चार्थाभावेऽपि अर्थाकार यत् प्रतिविम्बमुत्पन्न तदेवान्यापोह, स च स्वसवे-  
दनप्रत्यक्षत एव सिद्ध्यति, इत्यनर्थक तत्रानुमानम्, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, ज्ञानेऽ  
र्थाकारधारित्यस्य तन्निराकारत्वसिद्धौ<sup>६</sup> प्रतिषिद्धत्वात् ।

अस्तु वा तत्, तथापि—अत्र कस्य प्रतिनिम्ननम्—स्वलक्षणस्य, सामान्यस्य वा ?  
न तावत्स्वलक्षणस्य, तस्य व्यावृत्ताकारत्वात् । अनुगतैकरूपश्च प्रतिनिम्बम् अन्यापो-  
होऽभिप्रेत, अतः स्वलक्षणेनापि तथाविधेनैव भवितव्यम् । तथाहि—यस्य हि यदाकार  
प्रतिनिम्ब तत् स्वयमपि तदाकारमेव यथा मुपचन्द्रादि, अनुगतैकाकारश्च स्वलक्षणस्य  
ज्ञाने प्रतिविम्बमिति । अथ सामान्यस्य ज्ञाने प्रतिनिम्बनमिष्यते, तदप्यसत्, तस्या-  
ऽसत् प्रतिनिम्ननानुपपत्ते । यदसन्न तत् कचित् प्रतिविम्बयति यथा रसपुष्पम्, असञ्च  
भवंमते सामान्यमिति । तत्रै तर्कतिविम्बाभ्युपगमे वा प्रतिविम्बोदयात्प्रागन्योन्यवि-  
विक्ततद्रूपैर्द्वयोपलम्भप्रसङ्गः । यत्र यत् प्रतिविम्बयति तद्द्वय प्रतिविम्बोदयात्प्रागन्योन्यवि-  
विक्तमुपलभ्यते यथा मुखादर्शादि, प्रतिविम्बयति च ज्ञाने सामान्याकार इति ।

अथ बाह्यदोहाद्येकार्थक्रियाकारितया स्वलक्षणमेवानुवृत्ताकार सत् सामान्यम्,  
अतो नोर्कशेषावकाश, तदयुक्तम्, एकार्थक्रियासङ्घर्षस्तत्कारित्वाभावात् प्रतिविम्बो-

(१) सौगतसिद्धान्ते । (२) अकृतकत्वव्यावृत्तिरूप कृतकत्वं न स्वलक्षणात्मकम् अवस्तुरूप-  
त्वात् । (३) अकृतकत्वव्यावृत्तिरूपकृतकत्वं नित्यत्वव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वयोरेव । (४) अन्यव्यावृत्ति-  
रूपयो कृतकत्वानित्यत्वयो तादात्म्यं न भवति नीरूपत्वात् । (५) कृतकत्वमनित्यत्वञ्च—आ० द्वि० ।  
(६) प्र० १६७ । (७) प्रतिविम्बम् । (८) अनुगतैकरूपेण । (९) स्वलक्षणमनुगतैकाकारम् अनुग-  
तैकाकाररूपेण प्रतिविम्बयित्वात् । (१०) सामान्यस्य अन्यापोहत्वात्कत्वेन अथक्रियाकारित्वाभावेन  
चासत् । (११) न समाय ज्ञान प्रतिविम्बनि असत्त्वात् । (१२) बौद्धमते । (१३) ज्ञान । (१४)  
सामान्य । (१५) प्रतिविम्बाधारस्य ज्ञानस्य प्रतिविम्बस्य च सामान्यस्य विविक्त स्वरूपद्वय प्रति-  
भासेत इति भावः । (१६) ज्ञान सामान्यञ्च विभिन्नतया उपलभ्यताम् तत्र प्रतिविम्बमानत्वात् ।  
(१७) प्रतिविम्बाभावलक्षणो दोषः । (१८) सामान्यस्य ।

१—क तयो अ० । २ ननु चार्थाकार आ० । ३ इत्यसमी—अ० । ४ तस्य नास्ति आ० । ५—तस्य  
मस्य यस्य हि आ०, अ० । ६—विविक्ततद्रूप—अ० । ७—विम्बते अ० । ८—विम्बते च अ० ।



तद्धर्मान् बहुभारोद्धहनादीन् बाहीके निश्चित्य गोत्वमारोपयति 'गौर्वाहीकै.' इति ।  
अधोभयग्रहणे सति आरोप स्यात्, ननु उभयोर्ग्रहण विकल्पेन, निर्विकल्पेन वा  
स्यात् ? न तावन्निर्विकल्पेन, अस्य स्वलक्षणगोचरतया अन्यापोहस्वरूपविकल्पाकारे  
प्रवृत्त्यनुपपत्ते । नापि विकल्पेन, अस्य बाह्यार्थैरोर्मर्शपराङ्मुखत्वात्, अतः कथमसौ  
स्वाकारे बाह्य तर्ज वा स्वाकारमारोपयेत् ?

अस्तु वाऽस्योभयग्रहणम्, तथापि-पूर्वं स्वप्रतिभासमनर्थमनुभूय पश्चादर्थ-  
मारोपयति, युगपदेव वा स्वप्रतिभासश्चानुभवति अर्थश्च समारोपयति, किं वा  
यावदेवोक्तं भवति-स्वाकारमनुभवतीति तावदेवोक्तं भवति अर्थमध्यवस्यतीति ? न  
तावत्स्वरूपानुभवः पूर्वं पश्चादर्थसमारोपः, अणद्वयावस्थानविकलत्वाज्ज्ञानानाम्,  
अन्यथा अणभङ्गभङ्गप्रसङ्गः । अथ युगपदेव स्वप्रतिभासमनुभवति अर्थश्च समारो-  
पयति, तर्हि ब्राह्मणमाहकारात्मके विकल्पस्वरूपे सवेद्यमाने स्वानुभवसमानकाल  
एवार्थं समारोप्यमाणो विकल्पस्वरूपाद् बहिरेवाऽऽतिष्ठते तत्कथमात्मनोऽनमनर्थम् अर्थ-  
मारोपयेदसौ ? अथ स्वाकारानुभव एव अर्थसमारोपः, तदप्यसुन्दरम्, अनुभवितव्य-  
विकल्पयितव्ययोर्भेदात् । शब्दसत्सृष्ट हि स्वरूप विकल्पयितव्यम्, अशब्दसत्सृष्ट तु  
स्वसवेदनेनानुभवितव्यम्, तत्कथमनयोरेकत्वम् ?

एतेन 'दृश्यविकल्प्यावेकीकृत्य बहीरूपतयाऽध्यस्त.' इत्यादि प्रत्युक्तम्, तदेकी-

(१) जतिका नाम बाहीकास्तेषां वृत्तं मुनिन्वितम् ।'-महाभार० कृष्णपर्व अ० २०० ।  
जाट' इति भाषायाम् । 'यथा गोशस्त्रस्य जाड्यादिगुणनिमित्तोऽर्थो बाहीकः ।'-महाभा० प्र० १।१।  
१५ । (२) तुलना- 'कं खलु विकल्पमेव दृश्यमित्यध्यवस्यति । विकल्प एवेति चेत् न तत्र सामा-  
न्यावभासात् अन्यथा विकल्पत्वाद्योगात् । अन्य इति चेत् न आत्मवादापत्तौ तत्तथाध्यवसायनिमित्ता  
भावाच्च । -अनेकान्तमय० पृ० ३५ B । नैकत्वाध्यवसायोऽपि दृश्यं स्पृशति जातुचित । विकल्प  
स्यायथा सिद्धयत दृश्यस्पर्शित्वमञ्जसा । -तत्त्वाध० श्लो० पृ० १०९ । "तदेकत्वं हि दृशनमध्यवस्यति  
तत्पृष्ठजो व्यवसायो नानान्तरं वा ।'-प्रमाणप० पृ० ५३ । प्रमेयक० पृ० ३१ । सगमति० श्लो० पृ०  
५०० । स्वा० १० पृ० ८२ । (३) निर्विकल्पस्य । (४) अवस्तुविषयत्वात्-आ० त्रि० । (५) विकल्पः ।  
(६) बाह्यश्च । (७) तुलना- न च स्वाकारमनर्थमथ आरोपयति । न तावदगृहीतं स्वाकार-  
मर्थं आरोपयितुमिति तदग्रहमेवितव्यम् । तत्किं गृहीत्वा आरोपयति, अथ यदैव गृह्णाति तदवारो-  
पयति । न तावत्पक्षः पक्षः न हि विकल्पज्ञानं क्षणिकं क्रमवती ग्रहणसमारोपोऽस्तुमहति । उत्तरस्मिन्स्तु  
पक्षे विकल्पसवेदनप्रत्यक्षाद्विकल्पाकारादहङ्कारास्पदाद् अनहङ्कारास्पदं समारोप्यमाणो विकल्पो  
नास्वगोचरो न शक्योऽभिन्नं प्रतिपत्तुम् । नापि बाह्यस्वलक्षणकत्वेन शक्यं प्रतिपत्तुं विकल्पज्ञानं  
स्वलक्षणस्य बाह्यस्याप्रतिभासनात् ।'-न्यायवा० ता० पृ० ४८५ । (८) स्वाकारानुभवमेव अर्थाध्य-  
वसाय इति भावः । (९) यदि यदव विकल्पाकारं स्वप्रतिभासमनर्थमनुभवति तदैवाथ समारोपयति,  
तदा विकल्पस्य स्वानुभवव्यापतत्वादर्थोऽप्येकाग्रमलभमानं तत्स्वरूपाद् बहिरेवास्ते विकल्पे न सङ्गतामति,  
तत्कथमात्मनि अनर्थमूते अथ विकल्पाकारं आरोपयतीति तात्पर्यम् ।-आ० टि० । (१०) आत्मनि  
अनर्थं इत्यर्थः । (११) पृ० ५५५ प० ५ ।

१-परामर्शप्राप्तमूलत्वात् श्र० । २-पूर्वं प्रतिभासमानायमन-श्र० । ३-भासं यानम-व० ।

४-भगभगताप्रसंगं व० ।



करणञ्च किं तेनैव ज्ञानेन, ज्ञानान्तरेण वा ? न तावत्तेनैव स्वाकारं दृश्यञ्च पृथक् प्रति-  
पद्यैक्यं प्रतीयते ; तथा प्रतीत्यभावात्, क्षैणिकत्वाच्च । नापि ज्ञानान्तरेण ; तद्वि एकम्,  
अनेकं वा ? यद्यनेकम् ; कथमैक्यं प्रतिपद्येत ? स्वसंवेदनेन हि ज्ञानस्वरूपं प्रतीयते दर्शनेन  
तु दृश्यम् । एकं तु यदि द्वयं प्रत्येति ; कथमैक्यम् ? अथैक्यं प्रत्येति ; कथं द्वयं विरोधात् ?

किञ्च, अयमपोहो भावे भावस्य प्रतीयते, केवलो वा ? प्रथमपक्षे भावयोः 6  
प्रतीतिः किं शब्दादेव, प्रमाणान्तराद्वा ? न तावत् शब्दादेव ; अस्य अपोहादन्यत्र  
प्रयुक्त्यनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा किं भावौ प्रतीत्य अतोऽपोहः प्रतीयते, अपोहं वा  
प्रतीत्य भावाविति ? तत्रायविकल्पे नान्यापोहः शब्दार्थः, मुख्यतो भावयोरेव तदर्थत्वात्,  
प्रतीत्युत्तरकालं सामर्थ्यादेव वा अन्यव्यावृत्तेः प्रतीतेः । नीलञ्च प्रतीत्य अनीलव्यावृत्ति-  
प्रतीत्यभ्युपगमे स्वीक्यन्ती तत्प्रतीतिः स्यात् । अतो नीलस्य अनीलव्यावृत्त्यात्मकरयैव 10  
प्रत्यक्षादिव शब्दात्प्रतीतिरभ्युपगन्तव्या । द्वितीयविकल्पे तु प्रतीतिविरोधः, न तल्लु केव-  
लोऽपोहः प्रथमं शब्दान् प्रतीयते पश्चाद् भावाविति कस्यचित्स्वप्नेऽपि प्रतीतिरस्तीति ।  
एतेन प्रमाणान्तरादपि तत्प्रतीतिः प्रत्याख्याता; ततोऽपि भावयोः प्रतीतौ उक्तदोषानुपपन्ना-  
विशेषात् । अस्तु वा कुतश्चिदर्थं प्रतीतिः ; तथापि—भावाभ्यां भिन्नस्यापोहस्य प्रतीतौ  
कथमस्य भावसम्बन्धिता स्यात्, भावाभावयोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धासम्भवात् ? 15

‘केवलोऽपोहः प्रतीयते’ इत्ययमपि पक्षोऽनेनैव प्रतिव्यूढः ; यदि च केवलोऽपोहः  
शब्दाल्लिङ्गाद्वा प्रतीयेत ; तर्हि सर्वशब्दानां पर्यायता स्याद् अपोहमात्रस्याऽविशिष्टस्या-  
शेषशब्दैः प्रतिपादनात् । एवञ्च विशेषणविशेष्यभेदः अतीतादिकालभेदः ‘स्त्रीपुंनपुंसक-

(१) तुलना—‘नैतद् दृश्यविकल्पावर्त्तकीकरणेन भेदत । एकप्रमात्रभावाच्च तयोस्तस्मात्प्रति-  
द्वितः ।’—शास्त्रवा० ११।१० । “अतीते तदात्मकतया अभावसमारोपानुपपत्ते ।”—प्रज्ञा० कण्ड० पृ०  
३२० । (२) तुलना—“यश्चायमन्यापोहः जगौर्न भवतीति गोप्तव्यस्यार्थं ॥ किं भावोऽयं अभाव  
इति ?”—न्यायवा० पृ० ३२९ । इति प्रसज्य—आ० टि० । (३) शब्दस्य अपोहादतिरिक्ते भावे  
प्रवृत्तौ । (४) शब्दार्थत्वात्—आ० टि० । (५) भावस्य प्रतिनियतमसाधारण स्वरूपं हि अन्यव्यावृत्त्या-  
त्मकं भवत्येव । (६) सापेक्षत्वात्—आ० टि० । (७) अनीलव्यावृत्तिप्रतीतिः । (८) व्यवहारिण  
पुरुषस्य । (९) भावयोः प्रतीतिः । (१०) अपोहस्य । (११) अपोहस्य । (१२) तुलना—“भिन्न-  
सामान्यवचना विशेषवचनाश्च ये । सर्वे भवेयुः पर्याया यत्तपोहस्य वाच्यता ॥”—मी० श्लो० अपोहो  
श्लो० ४२ । न्यायम० पृ० ३०४ । “अपि च यं विभिन्नसामान्यशब्दा गवाद्यो ये च विशेषशब्दा शत्रुलेया-  
द्यस्ते भवदभिप्रायेण पर्यायाः प्राप्नुवन्ति अर्थभेदाभावात् नृसपादपादशब्दवत् ।”—प्रमेयक० पृ० ४३३ ।  
प्रमेयक० ३।१०१ । (१३) तुलना—“अपोहमात्रवाच्यत्वं यदि चाभ्युपगम्यते । नीलोत्पलादिशब्देषु शबला-  
र्थाभिधायिषु ॥ विशेषणविशेष्यत्वसामानाधिकरण्ययो । न सिद्धिर्न ह्यनीलत्वव्युदायेऽनुत्पलच्युति ॥”  
—मी० श्लो० अपोहो श्लो० ११५—१६ । प्रमेयक० पृ० ४३६ । (१४) तुलना—“लिङ्गसस्यादिमन्वन्धो  
न वाऽपोहस्य विद्यते । व्यक्तेरव्यपदेश्यत्वात्तद्द्वारेणापि नास्त्यगौ ॥”—मी० श्लो० अपोहो श्लो० १३५ ।

१ प्रमित्यभा-ब० । २ ‘क्षैणिकत्वाच्च’ नास्ति ब० । ३ मुख्यतया भा-य० । ४ अन्यव्यावृत्तिप्रती-  
—आ० । ५ प्रतीतिरिति ब०, प्रतीतिरस्ति अ० । ६-तिः किं प्रत्या-ब० । ७-नुपपन्नविरोधात् ब० ।  
८ एव विशेषे-ब०, अ० ।

लिङ्गभेद एकद्विवहुवचनादिभेदश्च दुर्लभ । लिङ्गलिङ्गिभेदश्च दूरोत्सारित एव स्यात्,  
यदेव हि लिङ्गशब्दवाच्यमपोहमात्र तदेव लिङ्गिशब्दस्यापि ।

अथापोहस्य भेदाभ्युपगमाच्चाय दोष, तदयुक्तम्, तस्य भेदाऽसिद्धेः । तस्य हि  
भेदः अपोहभेदाद्, वासनाभेदात्, विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्, विभिन्नकार्यकारित्वात्,  
5 आश्रयभेदात्, स्वरूपभेदाद्वा स्यात् ? न तौवदपोहभेदात्; सर्व-प्रमेयादिशब्दानाम-  
पोहभेदाभावात् पर्यायताप्रसङ्गात् । न हि असर्वं सर्वगरोर्न्यतिरिक्तम्, अप्रमेय वा  
किञ्चिदस्ति यदपोहेन सर्वादिक सिद्ध्येत् । कथं वा सत्त्वं कृतकत्वादिहेतोः सिद्धिः ?  
न हि असदकृतकं वा जगति किञ्चिदस्ति यदपोहेन सत्त्वादिसाधनं सिद्ध्येत् । अपो-  
हभेदादपोहभेदे चान्योन्याश्रयं -सिद्धे ह्यपोहभेदे अपोहभेदसिद्धिः, तत्सिद्धौ चापोहभेद-  
10 सिद्धिरिति । तन्नापोहभेदादपोहस्य भेदः । नापि वासनाभेदात्, तद्वेदस्याप्यनुपपत्तेः ।  
अनुभवभेदनिवन्धनो हि वासनाभेदः, अपोहस्य चैकैक्यपरवे अनुभवभेदो दुर्घटः । नापि  
विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वादपोहभेदः, अस्य कल्पितरूपतया सामग्रीविशेषतः प्रादुर्भावस्यै-  
वाऽनुपपत्तेः । यत् कल्पितरूपं तन्न कुतश्चित्प्रादुर्भवति यथा तुरङ्गमोक्षमाज्ञे शृङ्गम्,  
कल्पितरूपश्च भयभीते अपोह इति । ततस्तदुत्पत्तौ वा कल्पितरूपत्वव्याघातः । यत्  
15 कुतश्चिदुत्पद्यते तन्न कल्पितरूपं यथा स्वलक्षणम्, उत्पद्यते च सामग्रीविशेषतोऽपोह इति ।

(१) तुलना- ननु भेदादपोहानां प्रसङ्गोऽप्यत्र न युज्यते । सामान्यापोहकल्प्या चेद्वस्तुमात्रे समं  
तव ॥ भिद्यन्ते मम वस्तुत्वात्सामान्यानि परस्परम् । असङ्कीर्णस्वभावानि न चैकत्वं वितवते ।  
समुप्येकत्वनाताविकल्परहिततमनाम् । अवस्तुत्वादपोहानां तव स्यादभिरता कथम् ॥"-मी० श्लो०  
अपोह० श्लो० ४३-४५ । (२) अपोहस्य । (३) तुलना- 'अन्यापोहश्च शब्दाय इत्ययुक्तम्,  
अव्यापकत्वात् । यत्र द्वैरास्य भवति तत्रतरप्रतिपधादितरं प्रतीयते यथा गौरिति पदे गौ प्रतीयमान  
अगौ प्रतिपिष्यमानः । न पुनः सर्वपद एतदस्ति, न ह्यसर्वं नाम किञ्चिदस्ति यत्सर्वपदेन निवर्त्यते ।"  
-न्यायवा० पृ० ३२९ । ननु चापोहभेदेन भेदोऽपोहस्य सेतस्यति । न विनापि स्वतन्त्रस्य परतन्त्रौ  
पचारिकः ॥ ४७ ॥ प्रमेयज्ञयशब्दादेरपोहः कुत एव तु । -मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४७, १४४ ।  
प्रमेयक० पृ० ४१४ । प्रमेयर० ३।१०१ । (४) तुलना- 'यद्यप्यन्येषु शब्देषु वस्तुन स्यादपोहता ।  
सच्छब्दस्य त्वभावाख्यानापोहः भिन्नमिष्यते ॥"-मी० श्लो० अपोह० श्लो० ९८ । (५) तुलना-  
'अपोहभेदकल्पितश्च नाभावाऽभेदतो भवति । तद्भेदोऽपोहभेदाच्चेत् प्राप्तमन्योन्यसंशयम् ॥ गोसा  
मान्यस्य भिन्नत्वादगौरित्यत्र भिद्यते । अगौरित्यस्य च भेदेन गोसामान्यं च भिद्यते ॥'-मी० श्लो०  
अपोह० श्लो० ६५-६६ । न्यायम० पृ० ३०४ । (६) तुलना- नचापि वासनाभेदाद् भेदः सद्रूप  
तापि वा । अपोहानां प्रकल्प्यत न ह्यवस्तुनि वासना ॥ स्मृतिं मुक्त्वा नचास्त्यस्या शक्तिर्योग  
क्रियान्तरे । तस्मान्नान्यादृशे साध्यं करोत्यन्यादृशी मतिम् ॥ यद्वदभि शब्दभेदोऽपि तन्निमित्तो न  
लभ्यते ।'-मी० श्लो० अपोह० श्लो० १००-२ । प्रमेयक० पृ० ४३९ । (७) वासनाभेदस्य ।  
(८) अभावरूपतया तुच्छकस्वभावत्वे । (९) अपोहस्य । (१०) अपोहो न कुतश्चित्प्रादुर्भवति  
कल्पितरूपत्वात् । (११) सीगतमते । (१२) कारणमाग्रीयते अपोहोत्पत्तौ । (१३) अपोहो न  
कल्पितः कारणादुत्पद्यमानत्वात् ।

1 विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात् नास्ति श्र० । 2-भेदे वायो-व०, श्र० । ३ तद्भेदस्याप्यनुभव  
-आ० । 4-त्वादपोहभेदस्य कल्पि-व० । 5 प्रादुर्भावानुप-श्र० ।

एतेन विभिन्नकार्यकारित्वात्तद्भेद प्रत्याख्यात, अपरमार्थसतो विभिन्नकार्य-  
कारित्वानुपपत्तेरपुष्पवत् । तत्कारित्वे चाऽपरमार्थसत्त्वाऽसम्भवात् स्वलक्षणवत् ।  
कुतरच कार्यकारणयोर्भेद सिद्धो यत तद्भेदादपोहस्य भेदः सिद्ध्येत्—अपोहभेदात्,  
स्वरूपतो वा ? अपोहभेदाच्चेद्, अन्योन्याश्रय—सिद्धे हि कारणभेदे कार्यभेदे च  
तत्त्वमवयवतया तत्कारितया च अपोहभेदसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कार्यकारणयोर्भेदसिद्धि-  
रिति । स्वरूपतस्तद्भेदसिद्धौ च अपोहकल्पनाऽनर्थक्यम् ।

अथाश्रयभेदादपोहभेदः, तन्न, अवस्तरूपस्यास्य कचिदाश्रितत्वा अनुपपत्तेः ।  
यदवस्तरूपं न तत् कचिदाश्रितम् यथा गगननलिनम्, अवस्तरूपश्चापोह इति ।  
आश्रितत्वे वा किमसा<sup>१</sup> प्रतिव्यक्तिभिन्नं, अभिन्नो वा स्यात् ? यदि भिन्नं, तदा  
द्रव्यगुणकर्मणा मध्ये अन्यतरूपतैवार्थ्याभ्युपगता स्यात्, प्रतिव्यक्त्यन्यस्य आश्रि-  
तत्वा अनुपपत्तेः । अथाभिन्नं, तदा सामान्यरूपतैव नामान्तरेणोक्ता स्यात् इत्युभ-  
यथाप्यन्यापोहरूपतानुपपत्तिः ।

अथ स्वरूपभेदादपोहस्य भेदः, तन्न, अपरमार्थसत्त्वेऽस्य स्वरूपभेदानुपपत्तेः ।  
यदपरमार्थसन्न तस्य स्वरूपभेदः यथा रसपुष्पस्वरविपाणादेः, अपरमार्थसश्चापोह  
इति । स्वरूपभेदे चाऽस्य स्वलक्षणवत् परमार्थसस्वप्रसङ्गः ।

किञ्च, पर्युदासैरेव, प्रसज्यरूपो वाऽपोह स्वरूपतो भिन्नः शब्दैरभिधीयेत ?  
यदि पर्युदासरूपः, तदास्य भावान्तररूपताभ्युपगन्तव्या । भावान्तरश्च विशेषः, सामान्यम्,  
तदुपलक्षितो वा विशेषः, तत्समुदायो वा स्यात् इति पक्षचतुष्टयेऽपि विधिरेव शब्दार्थः  
स्यात् नाऽपोहः । अथ प्रसज्यरूपः, तदा<sup>२</sup> निषेधमात्रमेव शब्दैरभिहितं स्यात्, तच्चायुक्तं

(१) अपोहभेदः । (२) अश्रित्यकारित्वे । (३) कायभेदात् । (४) भिन्नकारणप्रभवतया ।  
(५) भिन्नकायकारितया । (६) कार्यकारणयोर्भेदसिद्धौ । (७) तुलना—तेनवाधारभेदेनाप्यस्य  
भेदो न युज्यते । न हि सम्बन्धभेदो भवति वस्तुयपीयते । किमुतावस्त्वसमुष्टमन्यतरत्वा निवर्तितम् ।  
अनवाप्तविशेषात् यत्किमप्यनिरूपितम् । —मी० श्लो० अपोहो० श्लो० ४८-४९ । (८) अपोहो न  
कचिदाश्रितः अवस्तरूपत्वात् । (९) अपोहः । (१०) अपोहरूपस्य सामान्यस्य आश्रयभूतानि  
द्रव्यगुणकर्मण्येव भवितुमर्हन्ति सामान्यस्य द्रव्यादित्रयवृत्तित्वात् । (११) अपोहस्य । (१२)  
अपोहस्य । (१३) नापोहस्य स्वरूपभेदः अपरमाश्रयसत्त्वात् । (१४) अपोहस्य । तुलना—यदा  
भिद्यमानत्वादस्वसाधारणाश्रयत्वं । अवस्तुत्वे त्वनानात्वात् —मी० श्लो० अपोहो० श्लो० ४६ ।  
न्यायमः पृ० ३०४ । (१५) किञ्चापोहास्य सामान्यं वाच्यत्वेनाभिधीयमानं पर्युदासलक्षणञ्चा-  
भिधीयत प्रसज्यलक्षणं वा ? —प्रमेयक० पृ० ४३२ । प्रमेयर० ३।१०१ । (१६) यथा घट पटात्  
स्वरूपतो भिन्नः सन् भावान्तर—आ० टि० । तुलना—अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यत् परिकल्पितम् ।  
गोत्व वस्त्वेव तैस्त्वमगोपोहगिरा स्फुटम् ॥ —मी० श्लो० अपोहो० श्लो० १ । प्रमेयक० पृ० ४३२ ।  
(१७) तुलना—नवयापोहकृच्छन्दो युष्मत्पक्षानुवर्णितः । निषेधमात्रं नवेह प्रतिभासेऽवगम्यते ॥  
किन्तु गोगवयो हस्ती वृक्ष इत्यादिशब्दतः । विधिरूपावसायनमिति शब्दी प्रवर्तते ॥ (पूर्वपक्षः)  
—तत्त्वसं० का० ९१०-९१ । प्रमेयक० पृ० ४३२ ।

तथाप्रतीत्यभावात् । परप्रतिपादनार्थो हि शब्दप्रयोग, परश्च नीलार्थि न अनीलनिषेधमात्र निज्ञासते, अनिज्ञासितञ्च प्रतिपादयत प्रतिपादकस्याऽपेक्षापूर्वकारित्वप्रसङ्गः ।

निषेधमात्राभिव्यक्तित्वे च नीलोत्पलशब्दयो सामानाधिकरण्यत्र प्राप्नोति, नीलशब्दो ह्यनीलव्यवच्छेदमात्रे चरितार्थ, उत्पलशब्दोऽपि अनुत्पलव्यवच्छेदमात्रे । न चैतो व्यवच्छेदौ एकस्मिन् धर्मिणि सम्पन्नौ, भावाभावंयोस्तादात्म्यादिसम्बन्धा-सम्भवात् । नपि तौ शब्दौ एकधर्मिविषयौ, षट्पटशब्दयोरिवाऽनयो एकधर्मिविषयत्वानभ्युपगमात् ।

किञ्च, नमेव पर्युदासवृत्तिः प्रसज्यवृत्तिर्वा भवति, गौरिति च नाथ नम्, अतः कथमगोपर्युदासेन गोशब्दवृत्तिः ? गौरयमिति विधिरूपेणैवास्य प्रवर्तमानत्वात् । ततः सामान्यविशेषणार्थं शब्दस्य विषयोऽभ्युपगन्तव्यः अलः प्रतीत्यलपान । तस्यैव सङ्केतव्यवहारकालानुयायित्वप्रसिद्धे नर्तकभूते स्वलक्षणे सङ्केतकरणवैफल्यम् । भवत्कल्पितस्य तु स्वलक्षणस्य सुगतमतपरीक्षायाः प्रसङ्गतः प्रतिश्लिप्तत्वात् तत्रैवैकरूपेण विफलमेव । अतो यः 'सङ्केतव्यवहारकालानुयायी' इत्यादि" सिद्धसाधनत्वादुपेक्षणीयम् ।

सम्बन्धश्च वाच्यवाचकयोः ऊहाख्यप्रमाणेन प्रतीयते, सर्वत्र सम्बन्धप्रतीतेस्तद्दधीनत्वात् । अतः 'अस्येदमभिधानमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने प्रतिनियतेन्द्रियविषययोः शब्दार्थयोरेव प्रतिभासः' इत्याद्यर्थयुक्तमुक्तम्, सामान्यविशेषात्मनोरेव शब्दार्थयोः प्रतिनियतेन्द्रियविषयतोपपत्तेः, अतः कथं तयोर्लक्षकारिणि ज्ञाने प्रतिभासामात्रे ?

ननु चातीतानागतार्थशब्दानां 'नचास्तीरे मोदकराशयः सन्नि' इत्यादिशब्दानाञ्च अर्थाभावेऽपि प्रवृत्तिप्रतीतेः कथमर्थे प्रतिबन्धसिद्धिस्तेषाम् ? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्,

(१) भिन्ननिमित्तयोः गदयोरेकस्मिन्नधिकरणवत्ति सामानाधिकरण्यम् — प्रमाणवा० स्वबृ० टी० १।६४ । तुलना — यस्य चान्यापोहः गन्धाद्यस्तेनानीलानुत्पलव्युदासी कथं सामानाधिकरणाविति वक्तव्यम् । यस्य पुनर्विधीयमानः गन्धाद्यस्तस्य जातिगुणविशिष्टः नीलोत्पलगन्धाभ्यां द्रव्यमभिधीयते जातिगुणो द्रव्यं वर्तते न पुनरनीलानुत्पलव्युदासी तस्मात् सामानाधिकरण्यार्थो नास्तीति । — न्यायवा० पृ० ३३१ । पापम० पृ० ३०५ । सामानाधिकरण्यञ्च न भिन्नत्वादपोह्यो । अथतश्चतुर्दिव्यत कीदृशाधयता तयोः ॥ न चासाधारणवस्तु गम्यतेऽप्येष नास्ति ते । अगम्यमानमकाप्य गन्धो क्वोपयुज्यते ॥ — मी० श्लो० अपोहोः श्लो० ११८-१९ । अनेकान्तजय० पृ० ४० । प्रमेयक० पृ० ४३६ । (२) धर्मो भावामकः अभावात्मको च अनीलानुत्पलव्यवच्छिन्नी । (३) नीलमुत्पलमिति गदो । (४) सामानाधिकरण्यं हि भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः गन्धो एकवाच्यवत्ति — आ० टी० । (५) सामान्यविभाषात्मनोऽप्यस्य । (६) सामान्यविभाषात्मके । (७) सीगतकल्पितस्य । (८) पृ० ३७९ । (९) क्षणिकस्वलक्षणः । (१०) सङ्कृतकरणम् । (११) पृ० ५५२ पृ० ९ । (१२) ऊहाख्यप्रमाणायत्तवातः । (१३) पृ० ५५३ पृ० ४ । (१४) सङ्कृतकारिणि । (१५) गन्धानाम् ।

१ जिज्ञासति व० । २ विषयो षट्-आ० । ३ शब्दप्रवृत्तिः व० थ० । ४ वाच्यवत्ति-आ० । ५ सकेतवत्ति-प्र० । ६ प्रतिबन्धस्तेषां-थ० ।

यतो न वयं सर्वशब्दानामर्थनान्तरीयकत्वं प्रतिपन्नाः । किं तर्हि ? मुनिश्चितप्रणेतृकाणामेव । न च केचिद्विचित्रशब्दानामर्थव्यभिचारित्वदर्शनात् सर्वेषां तद्व्यभिचारित्वं युक्तम् ; मरीचिकादौ जलाद्यवभासिनोऽध्यक्षस्य अप्रामाण्योपलम्भात् सत्यजलाद्यवभासिनोऽप्यस्याऽप्रामाण्यप्रसङ्गात् । मरीचिकादौ जलाद्यवभासिन एवास्याऽप्रामाण्यवाधकसद्भावान्तेतरस्य इत्यन्यत्रापि समानम् । तन्न प्रत्यक्षशब्दयोः परमार्थविषयत्वे कश्चिद्विशेषः ।

अतो निराकृतमेतत्—‘अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यम्’ इत्यादि । नहि प्रतिभासभेदो विषयभेदं प्रसाधयति, अभिन्नेऽप्यर्थे स्वसामग्रीविशेषार्थभेदस्योपपद्यमानत्वात् दूरासन्तार्थोपनिबद्धदृष्टिप्रेक्षकजनवत् । यथैव हि दूरासन्देशादिसामग्रीविशेषवशात् पादपादेरभिन्नस्यापि विभिन्नप्रतिभासविषयत्वं तथा शब्दप्रत्यक्षप्रत्यक्षयोरभिन्नविषयत्वेऽपि शब्देन्द्रियादिसामग्रीभेदाद् अस्पष्टेतरप्रतिभासभेदो न विरोधमध्यास्ते । अतः अन्धस्य चक्षुष्मतश्च अभिन्नेऽपि विषये सामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदोपपत्तेः अयुक्तमुक्तम्—‘शब्दाः प्रत्येति भिन्नास्तौ नतु प्रत्यक्षमीक्षते ।’ इति ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘वाच्यवाचकभावश्च कार्यकारणभावान्नान्यः’ इत्यादि, तदप्यचारुः यतः सति बुद्धिसम्बन्धिनि प्रतिबिम्बे अंशशब्दजन्यत्वात् तद्वार्थ्यत्वं स्यात् । शब्दस्य च तज्जनकत्वाद् वाचकत्वम्, न च तर्देति, प्रागेवास्य प्रपञ्चतः प्रतिपेधात् । यदि च कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात् ; तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानोऽपि शब्दः

(१) जैना । तुलना—‘न हि वयं सर्वशब्दानां प्रामाण्यं प्रतिपद्येमहि किं तर्हि मुनिश्चितप्रणेतृकाणामेव । तत्र प्रामाण्यं प्रति प्रत्यक्षशब्दयोर्विशेषमुपलभामहे ।’—न्यायावकाशः टी० पृ० ६ । (२) अर्थविनाभावित्वम् । (३) अनाप्तप्रणेतृकाणाम् । (४) अलज्ज्ञानस्य । (५) तुलना—‘न च प्राहुः प्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासभेदात् विषयस्वभावाभेदाभावः, सकृदेकार्थोपनिबद्धदर्शनप्रत्यासन्तेतरपुरुषज्ञानविषयवत् । यथा हि सकृदेकस्मिन्नर्थे पादपादौ उपनिबद्धदर्शनयोः प्रत्यासन्नविप्रकृष्टपुरुषयोर्ज्ञानाभ्यां विषयीकृते स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदान्न स्वभावभेदपादपस्य तत्सर्ववत्त्वाव्यतिरिक्तमात्, तथैव प्राहुः कर्मो, प्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासयोः भवेऽपि स्पष्टमन्दतया न तद्विषयस्य भेदस्वलक्षणस्यैकस्वभाववत्त्वाभ्युपगमात् ।’—अष्टश०, अष्टसह० पृ० १२४ । ‘करणभेदेन प्रतिपत्त्योर्भेदात् । अन्धस्य हि शब्दाद्रूपविषयं विज्ञानमूल्यद्यते न तु चाक्षुषमिति । यस्य चापरोक्षचाक्षुषविज्ञानमस्ति असाधनम् ।’—प्रश० श्रव० पृ० ५८६ । ‘स्पष्टास्पष्टाकारतयाऽर्थप्रतिभासभेदश्च सामग्रीभेदान्न विप्रकृष्टते दूरासन्तार्थोपनिबद्धेन्द्रियप्रतिभासवत् ।’—प्रमेयक० पृ० ४४६ । समति० टी० पृ० २५९ । स्या० र० पृ० ७१५ । (६) प्रतिभासभेदस्य । (७) पृ० ५५३ पृ० १० । (८) पृ० ५५६ पृ० १५ । (९) बुद्धिगतप्रतिबिम्बस्य । (१०) इयता कार्यवाच्यकारणवाचकमिति सिद्धम्—आ० टि० । (११) बुद्धौ प्रतिबिम्बम् । (१२) शब्दनिर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य कारणम्, ‘नाकारणविषय’ इत्यभ्युपगमात् । तुलना—‘यतो यदि कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात्, तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानशब्दस्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणमिति तस्याप्यसौ वाचकः स्यात् । यथा च विकल्पस्य शब्दकारणम् एव परम्परया स्वलक्षणमपि अतस्तदपि वाचकः स्यात् ।’—रत्नाकराव० ४।११ ।

स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणम् अतस्तस्याप्यसौ वाचकं स्यात् । यथा च विकल्पस्य शब्द कारणम् एव पौरुषपर्येण स्वलक्षणमपि, अतस्तदपि वाचकं स्यात् । अतः प्रतिनियतवाच्यवाचकभावन्यवस्थाविलोपः स्यात् । ततो यद्यत्र यथा निर्वाधबोधे प्रतिभासते तत्तत्र तथैवाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा अन्तः सुखमाह्लादनाकारतया, प्रतिभासते च अवाधे शब्दे प्रत्यये सामान्यविशेषात्मकतया वहिर्घटादिकं वस्त्विति ॥ छ ॥

ननु सामान्यविशेषात्मकतया शब्दप्रत्यये वहिर्घटादिनस्तुन प्रतिभासमानत्वं शब्दस्य सामान्यं मसिद्धम्, शब्दानां सामान्यमात्रगोचरचारितया तदर्थभयप्रत्ययस्य मात्रवाचकत्वमिति तस्मात्प्रतिपत्तयताया एवोपपत्तेः । सामान्यमात्रमेव हि शब्दानां मोमासकस्य पूर्वपक्षः - गोचर, तस्यैव क्वचित् प्रतिपन्नस्य एकरूपतया सर्वत्र सङ्केतविषय-

(१) स्वप्रतिभासस्य-आ० टि० । (२) कारणं यतो भवमतन वाचकम् । (३)

शब्दस्वलक्षणाच्छब्दप्राहिनिविकल्पकं तस्माच्च सविकल्पकम् अथवा स्वलक्षणाविकल्पकं तस्माच्च सविकल्पकमिति । (४) स्वलक्षणमपि कारणत्वाद्वाचकं स्यात् । (५) स्वलक्षणस्यावाचकत्वे प्रसक्तं । (६) शब्दे बोधे सामान्यविशेषात्मकतयैव अथ प्रतिभासति तत्र तयैव निर्वाधबोधप्रतीतिविषयत्वात् । (७) तुलना- अनकमेकञ्च पदस्य वाच्यम् - बहुस्त्व० इलो० ४४ । अनकमेकात्मकमेव वाच्यं द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् । -अप्ययो० इलो० १४ । (८) आकृतिस्तु क्रिया धत्वात् - जमिनिषु० १।३।३३- तु शब्द पक्षान्तरं व्यावर्तयति । आकृति शब्दाय - शास्त्रभा० १।३।३३ । आकृतिसम्बन्धेन जातिरेवाभिप्रेता मोमासकं तथाहि- जातमेवाकृतिं प्राहुः व्यक्तिरात्रिमते यथा । सामान्यं तच्च विज्ञानामेकबुद्धिनिबन्धनम् ॥३॥ तन्निमित्तञ्च यत्किञ्चित्सामान्यं शब्द-गोचरम् ॥४॥ सामान्यमाकृतिर्जातिः शक्तिर्वा माग्निधीयताम् ॥१८॥ यद्यक्मेव वस्त्वनकारार्थं तत्तद्दि तादृगव शब्दोऽभिधत्त सामान्यमात्राभिधायी न स्यादत आह-न चेति । न च तत्तादृगं कश्चिच्छब्दं शक्नोति भाषितुम् ॥ ६३ ॥ सामान्याद्यानपोदस्य पदं सर्वं प्रवर्तते । -मी० इलो० आकृति० इलो० ३४, १८, ६३ । 'पूवं सामान्यविज्ञानात् चित्रबुद्धेरनुदभावात् । सामान्ययति वाक्याच्च यथावच्च परिग्रहात् ॥ गोतन्वोच्चारणं हि पूर्वमवागहीतामु व्यक्तिषु सामान्यं प्रतीयते, तदा कारणानात्पत्तेः पश्चाद व्यक्तयः प्रतीयन्ते, अतश्चाकृतिप्रत्ययस्य निमित्तान्तराभावाद व्यक्तिप्रत्ययः च पूर्वप्रतीनसामान्यनिमित्तात्वात् आकृति शब्दाय इति विज्ञायते । यदि च व्यक्तयोऽभिधया भवेयुस्त तस्मात्तं चिद्वस्तुव्युत्पत्तिरिति स्वस्वरूपग्रहणाद्विचित्रा शब्दोच्चारणं बुद्धिः स्यात् । एकाकारं तु उत्पद्यते । तेनाप्याकृति शब्दाय इति निश्चीयते । सामान्ययति चोदिते अथप्रकरणाभावे वा काञ्चित् सामान्ययुक्ता व्यक्तिमानयति न सवा न विधिप्टाम् । यदि च व्यक्तेरभिधयत्वं तत् सर्वासा युगपदं भिहितत्वादसंपादनं स्यात् । या वाग्भिधया सबका आनीयत यतस्त्वविशेषण जातिमात्रयुक्ता आनीयते तनापि सामान्यस्य पदायत्वं विनायते । -तन्त्रभा० १।३।३३ । आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां गत्यनकत्वोपपत्तः । सन्नेहाच्चरमज्ञानान्वित्रबुद्धेरभावात् ॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामकरूपप्रतीतिः । आकृतं प्रथमानानात्स्या एवाभिधयता ॥ व्यक्त्याकृत्योरभेदाच्च व्यवहारोपयोगिता । लिङ्गसत्त्वादिसम्बन्ध सामान्याधिकरण्ययोः ॥ सर्व समञ्जसं ह्यतद्वस्त्वनकान्तवादिनः । -शास्त्रदी० १।३।३५ । सम्बाधनमात्रं भिद्यमाना गवादिषु । जातिरित्युच्यते तस्या सर्वे शब्दा व्यवस्यता ॥ -वाक्यप० ३।३३ । (९) शब्दप्रभव-आ० टि० । (१०) सामान्यस्य-आ० टि० । (११) व्यक्तिविषयः । (१२) यावदनन्तास्वपि व्यक्तिषु ।

१ शब्दप्रत्यय थ०, व० । २-विषयतया व० । ३ तस्य प्रति-आ० । ४-यतोपपद्यते व० ।

तोपपत्ते, न पुनर्विशेषो तेषामानन्त्यतः, कात्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया तद्विषय-  
तानुपपत्ते । अथ यावतामुपलम्भ तावत्त्वेव सङ्केतक्रियोपगम्यते, तर्हि विशेषा-  
न्तरेषु सङ्केताऽसम्भवात् शाब्दव्यवहारानुपपत्तिः । न चाऽयोगिन प्रतिपत्तु प्रत्येक-  
मशेषविशेषोपलम्भ संकृत क्रमेण वा सम्भवति, अयोगित्वविरोधानुपपन्नात् । योगिनस्तु  
त्रिविधापन्नत्वात् तदुपलम्भो दूरोत्सारित एव । न चानुपलब्धेषु तेषु 'इदमस्य  
वाचकम्, इदञ्च वाच्यम्' इत्यभिधानाभिधेयप्रतिपत्तिनियमलक्षण सङ्केतः सम्भवति,  
तदसम्भवे च शब्दश्रवणादर्थप्रतिपत्त्यनुपपत्ते सिद्धः शाब्दव्यवहारोच्छेदः । ततस्तद्व्य-  
वहारमिच्छता सामान्यमात्रे सङ्केतोऽभ्युपगन्तव्यः अतस्तदेव शब्दार्थः सिद्धः ।

किञ्च, जातिमद्विशेषशब्दार्थवादिना किं जातिमभिधाय शब्दो व्यक्तिमभिवचो,  
अनभिधाय वा ? न तावदभिधाय, जातिर्लक्षणविशेषणविशेषप्रतिपत्तावेव उपक्षीण-  
शक्तिरुत्वेनास्य विशेष्याप्रतिपादकत्वप्रसङ्गात् । उक्तञ्च—

“विशेष्य नाभिधायं गच्छत् क्षीणशक्तिर्विशेषणम् ।” [ ] इति ।

नाप्यनभिधाय, विशेषमात्रप्रतिपादकत्वेन जातिमद्वाचकत्वाभावाऽनुपपन्नात् । न  
च सामान्यमात्रस्य अभिधानैरभिधाने विशेषाणामनभिधानात् प्रयोजनार्थिनः शब्दाव्य-  
वृत्तिर्न प्राप्नोति, प्रतिपन्नस्यापि तैतः तन्मात्रस्य प्रयोजनाप्रसाधकत्वादित्यभिधातव्यम्, 15  
तैत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या विशेषाणामपि प्रतिपत्तिसम्भवात् । प्रथमतो हि शब्दास्ता

(१) शब्दविषया इति सम्बन्धः । (२) न ह्यनन्तासु व्यक्तिषु सञ्चित्व शक्यतेऽवगन्तुम् ।—  
शास्त्रदी० १।३।३५ । (३) सङ्कृत-आ० टि० । (४) अशेषव्यक्त्युपलम्भः हि सवशतमेव स्यादिति  
भावः । (५) मीमांसको हि सवश न मनुते-आ० टि० । (६) तस्य व्यक्तीनामुपलम्भः । (७)  
विशेष्य-आ० टि० । (८) अभिधानाभिधेयप्रतिपत्तिनियमलक्षणसङ्कृताभाव-आ० टि० । (९)  
शाब्दव्यवहार-आ० टि० । (१०) सामान्यमव-आ० टि० । (११) उद्धृतोऽयम-प्रश्नः व्यो० पृ०  
१९१ । काव्यप्र० पृ० ४४ । मुक्ता० दिन० पृ० ३७३ । काव्यानु० पृ० २५ । अभिधा पदशक्ति  
विशेष्य न गच्छेत् न प्राप्नोति । कुत इत्यासङ्कयामाह-क्षीणति । क्षीणशक्तिर्विशेषण इत्यनन्तर  
सदिति पूरणीयम् । तथा च यतो विशेषण प्राप्य पदशक्तिः क्षीणशक्तिः क्षीणसामर्थ्या भवत्यतो  
विशेष्य नाभिधा गच्छत् न प्राप्नुयादिति पयसिताया । -राम० पृ० ३७३ । (१२) समुख्योऽ-  
थस्तत्र मुख्यो व्यापारो स्याभिधीयते । -काव्यप्र० पृ० ३९ । (१३) शब्दात्-आ० टि० । (१४)  
सामान्यमात्रस्य-आ० टि० । (१५) सामान्यप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या । 'न ह्यनभिधाय गोत्वमुपलक्षण  
गोव्यक्तावेव प्रयोगव्यवस्था लभ्यते । तच्चेदभिहितं सिद्धमाकृतिसाध्यायत्वमिति । -तत्रवा० १।३।३३।  
' न ह्यनभिधाय जातिः तज्जातीयत्वेन रूपेण व्यक्तिरभिधातुं शक्यते । ततश्च विशिष्टाभिधानमेव  
वाचोमुक्त्यन्तरेणापन्नं न 'गुदाभिधानम् । विशिष्टाभिधानं च पूर्वतरं विशेषणमभिधातव्यम् । तदभिधानं  
च तत एव अत्यन्ताविनाभूतव्यक्तिप्रतिपत्तिसिद्धं न तत्र अभिधानशक्तिकल्पनावसरः ।"-शास्त्रदी०  
१।३।३५ ।

१ सह क्रमेण व० । २-व्यमभिधा-प्र० । ३ शब्दार्थः प्रसिद्धः थ० । ४-लक्षणप्रतिप-व० ।  
-लक्षणविशेषण-प्र०-थ० । ५-रभिधानं वि-व० ।

मान्यमात्र प्रतीयते, पश्चात्तदन्यथानुपपत्त्या पिण्डविशेषो लक्षण्यो प्रतीयते निराधारस्य सामान्यस्य अश्वविषाणवदसमवात् । उक्तञ्च—

“सोमिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षण्योच्यते ।” [ तन्त्रवा० १।४।२३ ] इति ।

तैल्लक्षितगोपिण्डादिविशेषप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या वाहदोहादिप्रयोजनविशेष-  
प्रतीतिः लक्षितलक्षणेति ॥३॥

अत्र प्रतिविधीयते । यथावदुक्तम्—सामान्यमात्रमेव हि शब्दानां गोचर इत्यादि,

तदसमीक्षिताभिधानम् ; सङ्केतानुसारेण शब्दस्य वाचकरोपपत्तेः ।  
तदसमीक्षिताभिधानम् ; सङ्केतानुसारेण शब्दस्य वाचकरोपपत्तेः ।  
गन्धस्य वस्तुभूतता सङ्केतश्चास्य तद्वैत्येव प्रतिपन्नो न पुनः सामान्यमात्रे, प्रवृत्त्याद्यगो-  
मान्यविशेषादस्य वाचकत्वसमर्थनम्— चरतया वाहदोहाद्यर्थक्रियाकारित्वनिश्चिततया च केवलेऽस्मिन् शब्द-  
वाचकत्वसमर्थनम्— व्ययहारासमभवत् सङ्केतप्रतिपत्तेर्निष्फलत्वान् । ‘एयविधाद्धि शब्दा-  
देवविधोऽर्थं त्वया प्रतिपत्तव्यः, एवञ्जातीय के चार्थे शब्दोऽप्येवजातीयक प्रयोक्तव्यः’  
इति सदृशपरिणामापन्नयोरेव वाच्यवाचकयोः सङ्केतयित्रा सङ्केतं प्रतिपाद्यो प्राहित ।

यदपि ‘विशेषाणामभिधेयत्वे आनन्त्यतः कात्स्न्येनोपलब्धमशक्यतया’ इत्या-  
शुक्तम्, तदप्यसाम्प्रतम्, साध्यसाधनव्यक्तियत् सदृशपरिणामापन्नानां वाच्यवाचक-  
व्यक्तीनामानन्त्येऽपि ऊह्यमानेन कात्स्न्यतः प्रतिपत्तुं शक्यतयात् । एतच्च शब्दार्थयो-

(१) आह च—तेन तल्लक्षितव्यक्त क्रियासम्बन्धचोदना । जातिव्यक्त्योरभेदो वा वाक्या-  
र्थेषु विवक्षितः ।—कात्स्न्यवा० १।१।३५ । लक्षणायां स्वरूपम्—मुख्याधवावे तद्योगं रुढितोऽथ  
प्रयोजनात् । अयोऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥—कात्स्न्यप्र० पृ० ४० । सा० व० १।१ ।  
‘वाच्यस्याधस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तिः । तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते ॥’—प्रक०  
वाक्यार्थ० पृ० १३ । (२) अभिधेयाविनाभूत प्रवृत्तिर्लक्षण्यतः—तन्त्रवा० १।४।२३ । उद्धृतोऽस्मिन्—  
‘अभिधेयाविना—कात्स्न्यप्र० पृ० ५० । प्रवृत्तिर्लक्षण्यतः—तीता० पृ० २०४ । पदार्थदी० पृ०  
३१ । (३) सामान्यलक्षितः । (४) ‘यत्र तु शक्याधस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षितल-  
क्षण्युच्यते । यथा द्विरेफादिपदे रफद्वयसम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायते, भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे  
ज्ञायते तत्र लक्षितलक्षणा ।’—मुक्ता० पृ० ३८९ । (५) पृ० ५६६ पृ० ७ । (६) सामान्यवति विधये-  
आ० टि० । (७) जातिमात्रं हि सङ्कृताद व्यक्तेर्भाति सुदुष्करम् ।—शब्दश० का० १९ । (८)  
तुलना—तत्र जातिरनर्थक्रियायोग्या । नहि जातिर्वाहदोहादी नवचिदपि प्रत्युपस्थिता । न वा तादृ-  
शप्रकरणाभावे लोकव्यवहारपुं शब्दप्रयोगः । न जातिर्वाहदोहादिकं कर्तुं समर्था । ततश्च वाहदोहा-  
द्यपि नो जातिचोदना निष्कलेति न तदथ शब्दप्रयोगः । यापि स्वप्रतिपत्तिलक्षणाऽथक्रिया जातेरुप-  
वर्ण्यते न तदवम्पुरुष प्रवर्तते शब्दप्रयोगादेव तस्या सिद्धत्वात् । जातिमात्रप्रतिपत्त्यथ शब्दप्रयोगो  
नविष्यतीति चेदत आह—नवेत्यादि । तादृशमिति वाहदोहादिप्रकरणं निष्कलस्य शब्दप्रयोगस्योपेक्षणी  
यत्वादित्युक्तत्वात् । जातो च वाच्याया सत्या गामानयत्यत्र वाक्ये न वाक्यायप्रतीतिः स्यात् गोत्वस्य  
क्रियात्वेऽचयानावात् ।—प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० १।९५ । न खलु सर्वस्मिन् सामान्यं वाच्यं तत्र  
तिपत्तः अयत्रिया प्रत्यनुपयोगान् । न हि गोत्वं वाहदोहादावुपयुज्यते ।—अष्टसं०, अष्टसह० पृ०  
१३९ । तत्वाय० पृ० १०२ । (९) पृ० ५६७ पृ० १ ।

१ लक्षणायां थ० । २ तदुक्तम् व०, थ० । ३ प्रतिपत्ते न व० ।



नित्यसम्बन्धनिषेधे<sup>१</sup> अपोहप्रतिषेधे<sup>२</sup> च प्रपञ्चितमित्युपरम्यते । तथा च 'न चायोगिन प्रतिपत्तु प्रत्येकमशेषविशेषोपलम्भ. सकृत् क्रमेण वा सम्भवति' इत्यादि<sup>३</sup> प्रत्युक्तम्, अयोगिनोपि अशेषविशेषाणामुक्तविधिनोपलम्भसम्भवप्रतिपादनात् ।

यदप्युक्तम्—'किं जातिमभिधाय शब्दो व्यक्तिसमिधत्ते' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, जातितद्वतोर्युगपदेव एकत्र ज्ञाने प्रतिभाससम्भवात् । नचैकज्ञानविषयत्वे त्रिशेषणविशेष्यभावप्रतिनियमो न स्याद्, विपर्ययो वा स्यात् विशेषणस्यापि विशेष्यरूपतानुपपन्नादित्यभिधातव्यम्, दण्डपुरुषयोर्युगपदेकत्रापि ज्ञाने प्रतिभासमानयो विशेषणविशेष्यभावप्रतिनियमप्रतीते । तत्प्रतिभासाविशेषेऽपि हि येन विशिष्टं यत् प्रतीयते तद्विशेषणम् इतरद् विशेष्यम् । न खलु दण्डादे पुरुषे विशिष्टप्रतीतिजननादभ्यद् विशेषणत्व सम्भवति । यथा च चाक्षुषे ज्ञाने दण्डपुरुषयो विशेषणविशेष्यभावापन्नयोर्युगपत्प्रतिभासमानत्वात् तत्प्रतिनियमाविरोधः । तथा दण्डीतिशब्देऽपि । नैकत्र दण्डमात्र पुरुषमात्र वा प्रतिभासते, विशेषणत्रिशेष्यभावापन्नस्य युगपदुभयस्य प्रतिपादनात् । अतो दण्डिशब्दात् दण्डविशिष्ट पुरुषो यथा प्रतिभासते तथा गोशब्दात् गोत्वविशिष्ट पिण्ड इति प्रतिपत्तव्यम् । अथ गोशब्दश्रवणात् शाबलेयादिविशेषाऽप्रतीतेर्न विशेष शब्दार्थः, तन्न, तद्विशेषाप्रतीतायपि सामान्ययुक्त ककुदादिमान् विशेषो गोशब्दात् प्रतीयत एव शाबलेयादिविशेषास्तु तर्हुक्ता शाबलेयादिसन्देह्य प्रतीयन्ते । नचैतावता सामान्यमेव शब्दार्थो युक्तः, प्रधानोपसर्जनभावेन उभयो प्रतिभासनात् । 'गामानय' इत्यादि-

(१) पृ० ५५० प० ११ । (२) पृ० ५६४ प० १४ (३) पृ० ५६७ प० ३ । (४) उक्तविधिना उक्तप्रमाणन (ऊहाय्यन) —आ० टि० । (५) पृ० ५६७ प० ९ । (६) तुलना— प्रत्यक्ष तावद्वयोरपि विगणविशेष्ययोरिति द्वयविषयत्व सामान्य हि सयुक्तक्षमवायादिद्वय प्रवर्तमान विगणवद्विशेष्यमपि विषयीकरोति । न हि सामान्य प्रत्यक्ष विगणोऽनुमय इति व्यवहारः । एव गुणत्वग्राहिणी द्वये गुणिनोऽनुमेयत्व स्यात् नचवगमिति । तस्माद विगणयन्त प्रत्यक्ष तथा पदमपि तत्तुल्यविषय न तु सामान्यमात्रनिष्ठमिति युक्तम् यथा विध्यन्तपयन्तो वाक्यव्यापार इष्यते । तथैव व्यक्तियन्त पद व्यापार इष्यताम् । —वायम० पृ० ३२४—२५ । (७) दण्ड एव विगण पुरुष एव च विगण्यमिति । (८) एकत्र ज्ञान प्रतिभासमानाऽपि । (९) दण्डयुक्तोऽयमिति । (१०) गाम्बे पाने । (११) तुलना— अथ गोशब्दश्रवणाच्छाब्दयादिविशेषाप्रतिपत्तन विगण शब्दाय सत्यम् किं तर्हि ? सामान्यमुक्तोऽय प्रतीयते न शाबलेयादिविगण मच शाबलेयादिसन्देह्य एव प्रतीयत इति नचैतावता सामान्यमेव शब्दाय प्रधानोपसर्जनभावोभयो प्रतिभासनात् । तथा गामानयत्यादिप्रयोगेषु सामान्यवतोऽयस्य आनयनादिकृत्या सम्भवात् । —प्रश्न० व्यो० प० १९२ । (१२) शाबलेयादिरूपस्य विशेषस्य अप्रतिभासनात् । (१३) गोत्वविगण्टा । (१४) तुलना— व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदस्य । तुलनादो विशेषणाय किं विशिष्यते । प्रधानाङ्गभावस्थानियमन पदाप्यत्वमिति । यदा हि भदविषयता विगोपावगतिश्च तदा यत्किं प्रधानम् अङ्ग तु जात्याकृती यदा तु भदोऽविवक्षित सामान्यगतिश्च तदा जाति प्रधानम् अङ्ग तु व्यक्त्याकृती । तदेतद् बहुल प्रयोगेषु । आकृतेस्तु प्रधानभाव उत्प्रेक्षितव्यः । —वायम० २।२ ६७ । न्यायवा० पृ० ३२९ । वायम० पृ० ३२९ ।

१-मित्युच्यते व० । २ युगपत्तदुभयस्य व० य० । ३ अशाबले-य० ।

प्रयानोर्षु सामान्यवतोऽर्थस्य आनयनादिक्रियाभिसम्बन्धप्रतीतिश्च तद्वानेव शब्दार्थः ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘विशेष्य नाभिधा गच्छत’ इत्यादि, तदप्यपेशलम्, ‘विशेषण प्राक् प्रतिपाद्य पुनर्विशेष्य शब्द प्रतिपादयति’ इति विरम्य व्यापारानभ्युपगमात्, युगपदेवास्य विशेषणविशेष्यप्रतिपादनव्यापारप्रदर्शनात् । क्षीणशक्तित्वञ्चार्थाऽनुपपन्नम्, शक्ते कार्यानुमेयत्वात्, विशेषणविशेष्यप्रतिपत्तिलक्षण हि कार्यमुपलभ्यमानं तैरार्थं अक्तिमनुमापयति । भिन्नज्ञानालम्बनयोश्च विशेषणविशेष्यत्वे इदं चोद्य स्यात्, न त्वेकज्ञानालम्बनयोः । भवतोऽपि चैतच्चोद्य समानम्—उपलब्धस्य हि शब्दस्य अर्थप्रतिपादकत्वं स्यात्, अतः स्वात्मप्रतिपत्तावेरार्थं क्षीणशक्तित्वात् सामान्यलक्षणाऽर्थप्रतिपादकमपि न स्यादिति लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः स्यात् ।

■ अथ सामान्यप्रतिपत्तेर्दृष्टत्वात् तत्रैस्य शक्ते प्रक्षयः तर्हि विशेषणविशेष्यप्रतिपत्तेरप्यतोऽदृष्टत्वात् कथं तत्राप्यस्यै तत्प्रक्षयः स्यात् ।

यत्प्यभिहितम्—‘तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या’ इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, यतो यदि शब्दात्सामान्यमेव प्रतीयते तर्हि व्यक्तं किमायात् येन तैसा लक्षयति ? अथ

(१) तुलना—अथ तु प्रयोगेव वा देहीयेवमादिषु । तद्वतोऽप्यक्रियायोगात्तत्त्वबाहु पन्थताम् ॥ —पाप्यम० प० ३२३ । (२) सामान्यविशेषणान् आ० टि० । (३) पृ० ५६७ प० १२ । (४) तुलना—प्रथमं जातिमात्रमवबोधघापयवसानादनन्तरं विशेषणमवबोधयति किं वाऽन्तर्भावितविशेषणमेव जातिम् ? नाद्यः पदबुद्धयो विरम्य व्यापाराभावात् । चिन्तु० प० २६३ । शब्दबुद्धिकमणा विरम्य व्यापाराभावः इति वादिभिरेव । सा० ६० परि० ५ । (५) शब्दस्य । (६) शब्दस्य । तुलना—ननु तत् क्षीणशक्तित्वविशेषणं विरम्य नाभिधेयात् इति तावच्छक्तेः कायविषयत्वात् । कायञ्च विशेषणप्रतिपत्तिवत् विशेष्यप्रतिपत्तिलक्षणमुपलभ्यमानं शक्तेव्यवस्थापकम् । अथ कायस्य बाभावः स्यात् स चैव स्वभाव स्वसवदनमपि बाधते विशेष्यप्रतिपत्तं सवेदनात् । —प्रश्न० व्यो० प० १९२ । (७) विशेषणविशेष्योभयप्रतिपत्तौ । (८) शब्दस्य । (९) मीमांसकस्यापि । तुलना—समानञ्चतदं उपलभ्यमानस्य शब्दस्य अथप्रतिपादकत्वाभ्युपगमात्, स्वात्मप्रतिपत्तौ च क्षीणत्वात् सामान्यप्रतिपादकत्वं न स्यात् । प्रश्न० व्यो० पृ० १९२ । (१०) शब्दस्य । (११) सामान्यप्रतिपत्तौ शब्दस्य । (१२) शब्दस्य । (१३) शब्दस्य । (१४) शक्तिप्रक्षयः । (१५) पृ० ५६७ प० १६ । (१६) तुलना—व्यक्तेरशब्दचोदनत्वात् लक्षितलक्षणया जातिरुच्यते इति चतः अशब्दचोदिने सम्बन्धः सत्यपि कथं प्रवर्तते ? न हि कश्चित् दण्डं छिद्योक्त्युक्ते दण्डिनं छिनत्ति । लक्षितलक्षणत्यादि परः । सप न सामान्यमर्थक्रियाकारि किन्तु व्यक्तिरेव केवलं व्यक्तेरशब्दचोदनत्वात् कारणात् सामान्यं निवर्तते नन् सामान्यं लक्षयति । तेन सामान्यं न लक्ष्यते न सम्बन्धः व्यक्तेरपि लक्षयति इति न हि गान्धारीचरितं गोव प्रतीयते अपि तं गौरवावसीयते । न नामधेयं तच्चाप्युच्यते । अशब्दचोदि तेषां । यदि नाम जातिवद्वतोस्सम्बन्धः तथापि अशब्दचोदिता व्यक्तिविशेषः कथं प्रवर्तते ? नव । दण्डदण्डनोस्तथापि सम्बन्धः न हि कश्चिन् प्रसाधककारी दण्डं छिद्यति इत्यनेन दण्डिनं छिनत्ति अशब्दचोदितात्वात् । तथा जातिचोदिताया व्यक्तौ प्रवर्तते युक्ततथैव । —प्रमाणबा० स्ववृ० टी० ११५ । लक्षितलक्षणया चरितरादात्म्यं न भवतु सम्बन्धान्तरासिद्धं कामकादिवत् । —अष्टा० अष्टसह० प० १३९ । तत्त्वार्थसूत्रे० पृ० १०२ । किञ्च यदि नाम गन्धाज्जातिं प्रतिपत्ता व्यक्तेः किमायात् यनाधी ता गमयति । प्रमेयक० प० ४१२ । (१७) सामान्यं वा व्यक्तिम् ।

■ शब्दस्य तदप्य—आ० । ■ शब्दसामान्यं—व० ।

व्यक्त्या सह तस्य सम्बन्धसद्भावात् तत्तत्प्रतीयमानं तां लक्षयति; कः पुनस्तस्यै-  
स्तेन सम्बन्धो नाम-संयोगः, समवायः, तदुत्पत्तिः, तादात्म्यं वा ? न तावत्संयोगः,  
अद्वयवत्वात् । नापि समवायः, अपेक्षितान्तप्रसङ्गात् । तदुत्पत्तिरपि अर्त एवानुपपन्ना ।  
तादात्म्याभ्युपगमे तु सामान्यविशेषयोः तादात्म्यापन्नयोः एकस्मादेव गवादिशब्दात्  
विशेषणविशेष्यरूपतया प्रतीयमानयोः कथमेकस्यैव शब्दार्थत्व वक्तुं युक्तम्, अप्रामा-  
णिकत्वप्रसङ्गात् ?

किञ्च, अनयोस्तल्लक्षणः सम्बन्धः शब्दप्रयोगकाल एव प्रतिपन्नः, पूर्वं वा ? न  
तावत्तत्काल एव; व्यक्तेः शब्दोच्चारणकालेऽप्रतीतेः, प्रतीतौ वा किं लक्षणया ? तर्काले  
तत्प्रतीतिश्च किं प्रत्यक्षतः, अनुमानात्, शब्दादेव वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षतः; देशकाल-  
स्वभावविप्रकृष्टायाः व्यक्तेः इन्द्रियसम्बन्धाभावतस्तत्प्रभवप्रत्यक्षेण प्रत्येतुमशक्यत्वात् ।  
नाप्यनुमानतः; तदतिवद्वल्लिङ्गाऽदर्शनात् । शब्दादेव तत्प्रतीतौ तु सिद्ध व्यक्तेरपि  
शब्दार्थत्वम् । अथ पूर्वं जातिव्यक्तयोस्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः प्रतिपन्नः; यदि नाम  
तदौ तयोरसौ दृष्टो नैतावता सर्वत्र सर्वदा तयोस्तेनैव भाव्यम्, अन्यथा पटस्य शुक्लरू-  
पेण केचित् कदाचित्तादात्म्यदर्शनात् सर्वत्र सर्वदा तथैवाभावः स्यात् ।

अथ जातेरिदमेव स्वरूपं यद् व्यक्तिनिष्ठता; ननु किं सर्वसर्वगतायास्तस्यास्तरूप  
स्यात्, व्यक्तिः सर्वगताया वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; व्यक्त्यन्तराले तद्वर्धमानप्रसङ्गात्  
तत्रैव तद्वर्धमानासम्भवात् । व्यक्तिः सर्वगतायास्तु तस्याः तद्वर्धमानगमे व्यक्तिवजातेरप्यनेक-  
त्वप्रसिद्धेः उभयोरविशेषतः शब्दार्थत्वं स्यात्, न वा कस्यचित् । अस्तु वा अविचारित-  
स्वरूपायास्तस्यैव तन्निष्ठस्वभावता; तथाप्यैसौ 'सर्वत्र सर्वदा व्यक्तिनिष्ठा' इति प्रत्यक्षतः  
प्रतीयेत, अनुमानतो वा ? प्रत्यक्षतश्चेत्; किं युगपत्, क्रमेण वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः;

(१) सामान्यस्य । (२) शब्दात् । (३) व्यक्त । (४) द्रव्ययोरेव संयोगात्, संयोगस्य  
गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । (५) न हि मीमांसका समवायं स्वीकुर्वन्ति । (६) अपेक्षितान्तप्रसङ्गादयं,  
नहि शब्दार्थयोः परस्परमुत्पाद्योत्पादकभावः । (७) सामान्यव्यक्तयोः तुलना—“सम्बन्धस्तयोस्तदा  
प्रतीयते पूर्वं वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४१२ । (८) शब्दोच्चारणसमयः । (९) तादात्म्यलक्षण  
सम्बन्धप्रतीतिः । (१०) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पत्तिः । (११) सामान्यव्यक्तयोस्तादात्म्यस्य प्रतीतिः ।  
(१२) न हि व्यक्त्यनभिगतावपि तन्निष्ठ सम्बन्धो ग्रहीतुं शक्य इति । (१३) पूर्वम् । (१४)  
सम्बन्धेन । (१५) शुक्लतादात्म्यम् । (१६) जाते यद् व्यक्तिनिष्ठतास्य स्वरूपमुक्तं तस्य अभाव-  
प्रसङ्गात् । (१७) व्यक्त्यन्तराले । (१८) व्यक्तिनिष्ठतास्य स्वरूपस्य असंभाव्यमानत्वात् । व्यक्त्य-  
भावे हि न व्यक्तिनिष्ठतास्य स्वरूपं सिद्धमिति, अतएव स्वरूपाभावात् स्वरूपवत् सामान्यस्याप्यभावः ।  
(१९) जाते । (२०) व्यक्तिनिष्ठतास्य स्वरूपस्वीकारे । (२१) जाते । (२२) व्यक्तिनिष्ठः ।  
(२३) जाति—आ० टि० । तुलना—“किञ्च, सर्वदा जातिव्यक्तिनिष्ठेति प्रत्यक्षेण प्रतीयते अनुमानेन  
वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४१२ ।

1-विषयोस्ता-आ० । 2-तादात्म्यापन्नविशेषयोः थ० । 3-तावता सर्वदा थ० । 4-वचि-  
त्कतावा-आ० । 5-सर्वदा भावः व० । 6-तदभावप्र-आ०, थ० । 7-स्य सभवात् थ० । 8-सम्बन्ध-आ० ।

निखिलव्यक्तीना युगपदप्रतिपत्तौ जातेस्तन्निष्ठतया युगपत्प्रतिपत्त्यनुपपत्तेः । द्वितीयपक्षे तु निरवधेर्व्यक्तिपरम्पराया युगसहस्रेणापि क्रमेण प्रतिपत्त्यभावतः तस्यास्तन्निष्ठतावसाय-समवोऽतीव दुर्घट । तन्न प्रत्यक्षत तस्यास्तन्निष्ठताविगमो युक्तः । नाप्यनुमानत, प्रत्यक्षपूर्वकत्वेनास्य भवताऽभ्युपगमतस्तदभावे तस्यापि तत्राऽप्रवृत्ते, तस्यास्तन्निष्ठतयाऽविनाभाविलिङ्गासम्भवाच्च । तत शब्दस्य सामान्यवाचकत्वे व्यक्तिवाचकत्वानुपपत्तिरेव ।

किञ्च, सामान्ये सङ्केतित शब्द तदभिधत्ते, असङ्केतितो वा ? न तावद-सङ्केतित, अतिप्रसङ्गात् । अथ सङ्केतित, किं प्रतिपन्ने सामान्ये तत्सङ्केत स्यात्, अप्रतिपन्ने वा ? यद्यप्रतिपन्ने, अतिप्रसङ्गः । अथ प्रतिपन्ने, कुतस्तत्प्रतिपत्तिः ? न तावत् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्, नित्यादिस्वभावसामान्यग्राहकत्वेन अनयो सामान्यपरीक्षावसरे प्रेतिक्षितस्यात् । शब्दैकप्रमाणसमधिगम्यत्वे तु अनयस्थेतरैतराश्रयदोषानुपपन्नः । तथाहि—यदि य एव शब्द सामान्ये सङ्केत्यते तत एव तत्प्रतिपत्तिः, तदा इतरैतराश्रयः—प्रतिपन्ने हि सामान्ये तत्रास्य सङ्केतसिद्धिः, तत्सिद्धौ च ततः सामान्यप्रतिपत्तिरिति । शब्दान्तरात् तत्सिद्धौ अनवस्था, तस्यापि हि शब्दान्तरस्य प्रतिपन्ने सामान्ये सङ्केतो भविष्यति, तत्प्रतिपत्तिश्च अन्यस्मान्छब्दान्वरादिति । यदि च शब्दात्सामान्यमेव प्रतीयते, तदा शब्दमप्रमाणमेव स्याद् गृहीतम्राहित्वात्, शब्दार्थयोः सम्बन्धग्राहिणैव हि प्रमाणेन सामान्यं गृहीतमिति ।

किञ्च, शब्दान्निर्विशिष्ट सामान्यं प्रतीयमानं पुरुषं प्रवर्त्तयति, विशिष्टं वा ? न तावन्निर्विशिष्टम्, अतिप्रसङ्गात् । अथ विशिष्टम्, किङ्कृतमस्य वैशिष्ट्यम्—विशिष्टव्यक्तितादात्म्यकृतम्, तत्रैवं तत्प्रवृत्तिहेतुत्वकृतम्, अस्वेदमिति प्रतीतिकृतं वा ? तत्रापक्षोऽनुपपन्नः, तस्य स्वकीयसकलव्यक्तिभिः सह तादात्म्यसद्भावतो विशिष्टव्यक्तावेव तादात्म्यानुपपत्तेः । अथ स्वकीयाखिलविशिष्टव्यक्तितादात्म्यकृतमेव अस्य वैशिष्ट्यमुच्यते, नन्वेव सर्वत्र तद्व्यक्तौ पुरुषस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात् प्रतिनियतद्व्यक्तौ प्रवृत्त्यभावः स्यात् । न च गोशब्दाद् गोत्वमात्रप्रतीतौ क्वापि व्यक्तौ प्रवृत्तिरुपपद्यते, तस्या सर्वथाऽप्रतिषेधत्वात् । यैस्मिन् प्रतीयमाने यत् सर्वथा न प्रतीयते न तद्व्यतीतस्तत्र प्रवृत्तिः यथा जलप्रती-  
तितोऽनले, गोशब्दाद् गोत्वमात्रप्रतीतौ न प्रतीयते च खण्डादयो व्यक्तिविशेषा इति ।

(१) अनन्ताया । (२) जाते । (३) मीमांसकादिना । (४) प्रत्यक्षाभावे । (५) अनुमानस्यापि । (६) जातव्यक्तिनिष्ठत्वबोधनः । (७) जाते । (८) प्रत्यक्षानुमानयोः । (९) पृ० २८५ । (१०) शब्दस्य । (११) सामान्यमिदो । (१२) भूयोदसनादिना । (१३) यदेव हि शब्दासम्बन्धग्रहणकाले सामान्यं गृहीतं तदेव शब्दोच्चारणकालेऽपि—आ० टि० । (१४) सामान्यस्य । (१५) विनिष्टव्यक्तावतः । (१६) सामान्यस्य । (१७) व्यक्ते—आ० टि० । (१८) गोत्वसामान्यमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात्—आ० टि० । (१९) शब्दाद् गोत्वप्रतीतावपि न तादात्म्यादियु प्रवृत्तिः तत्प्रतीतावपि तेषां स्वभावात्प्रतिपन्नत्वात् ।

अथ गोशब्दाद् गोत्व प्रतीयमान गोव्यक्तिसम्बद्धमेव प्रतीयते, कथमेव सामान्य-  
मेव शब्दार्थ स्यात् ? विशेषणविशेष्यभावापन्नयो सामान्यविशेषयो तत् प्रतीते ।  
ननु गोशब्दात्साक्षाद् गोत्वमेव प्रतीयते, व्यक्तित्वस्तु तदन्यथानुपपत्त्यैव प्रतीयते इति  
तदप्यसुन्दरम्, एव जातेरेव शब्दार्थत्वमायात व्यक्तेस्तु प्रमाणा-तरगम्यता, तथा च  
शब्दस्य लक्ष्णया विशेषप्रतिपादकत्वं दुर्घटम् । अथ शब्दस्यैव अयमा-तरो व्यापार  
यत् सामान्य प्रतिपाद्य तत्रैतिपत्तिसहकारी व्यक्तिमपि गमयति लक्षणयेति, तदसाम्प्रतम्,  
यतो यत्रैव सम्बन्धस्मरणसहकारी शब्द प्रवर्तते स एव तस्यार्थो न पुनस्तदर्थविना  
भावित्वेन यद्यत्रप्रमाण-तरत प्रतीयते तत्तत्सर्वं शब्दोदरे प्रभेदव्यम्, अन्यथा प्रत्यक्ष-  
सिद्धधूमान्यथानुपपत्त्या सिद्धो वह्नि प्रत्यक्षसिद्ध एव स्यात् । तन्न विशिष्टव्यक्तितादा  
त्म्यकृतमस्यै वैशिष्ट्य घटते ।

नापि तत्रैव तत्प्रवृत्तिहेतुत्वकृतम्, अ-यो-याश्रयानुपज्ञात् । तथाहि-सामान्यस्य  
विशिष्टत्वसिद्धो सत्या विशिष्टविशेषेणैव प्रवृत्तिहेतुत्वसिद्धि रस्याञ्च सत्या सामान्यस्य  
विशिष्टत्वसिद्धिरिति ।

तृतीयपक्षे तु चक्रमासज्यते-सिद्धे हि सामान्यस्य वैशिष्ट्ये विशिष्टविशेषेषु प्रतीति  
हेतुत्वसिद्धि, तस्या सत्याम् 'अस्येदम्' इति प्रतीतिसिद्धि, तस्याञ्च सत्या तस्य वैशिष्ट्य  
सिद्धिरिति । तत् प्रमाणतो वस्तुव्यवस्थामिच्छता यद् यथा यत् प्रतिभासते तत् तस्य  
सदृशेतररूपतया विषयोऽभ्युपगन्तव्यम् यथा चक्षुरादिप्रत्ययस्य नीलादिरूपतया प्रति  
भासमान रूपादि, गवादिशब्दात् प्रतिभासते च गवान्नि वस्तु, तस्मात्तदेव तच्छब्दाना  
विषय, न पुन सामान्यमात्रमिति ॥७॥

एतेन विधिरेव वाक्यार्थ इति विधिवादिर्मतमप्यपास्तम् । ते हि ब्रुवते-विधि  
रव वाक्यार्थ अप्रवृत्तप्रवर्तनस्वभावत्वात्तस्य । तदुक्तम्-"विधौ  
विधिवाद विविधपूर्व  
पक्षे  
स्त्रियमेतावदप्रवृत्तप्रवर्तनम् ।" [ ] इति । तल्लक्षणे च विधौ  
वादिना विप्रतिपत्ति, तथाहि-वाक्यरूप शब्द एव प्रवर्तकत्वाद्

(१) शब्दात् । (२) अर्थापत्ति-आ० टि० । (३) गम्यता हि सामान्य गृहीत विषयस्त्वर्था  
पत्त्या कि लक्षणया ?-आ० टि० । (४) सामान्यप्रतिपत्ति । (५) सङ्कृतस्मरण । (६) अर्था  
पत्तेरनुमानाद्वा । (७) सामान्यस्य । (८) अस्येदमिति प्रतीतिकृत वा इति तृतीय विकल्पे । (९)  
विष । (१०) अनुष्ठय हि विषय विधि पुनः प्रवर्तक । -मो० श्लो० वाक्या० श्लो० २७४ ।  
तत्राज्ञातायनापको वदभाषा विधि । -अथस० पृ० २९ । प्रवर्तकचिकीर्षया हेतुधीविषयो विधि ।  
-शब्दश० का० १०१ । यो हि विध्यधन लिङा लोटा कृयर्वाङ्पूर्वोपदेग कियत स विधि । -श्रुक्ति  
वी० पृ० २० । (११) ननु चाह विधिलक्षणमेतावदप्रवृत्तप्रवर्तनम् । अतिप्रसङ्गदोषण नाज्ञातज्ञापन  
विधि । -न्यायम० पृ० ३४० ।

१ प्रतीयत एव व्य-अ० । २-सहकारि व्य-व० अ० । ३ तदप्यसा-अ०, व० । ४ प्रतिक्षप्तव्यम  
व०, अ० । ५ तत्रैव प्रवृ-व० अ० । ६-हेतुत्वसिद्धिरिति तृतीय-व० । ७ तस्याञ्च सत्या तत्रैव तस्य  
प्रवृत्तिहेतुत्वसिद्धिरिति आ० । ८-मतमपास्तम् व० । ९ विधिलक्ष-व० ।

विधिरित्येके । तद्व्यापारो भावनाऽपरपर्यायो विधिरित्यन्ये । नियोगरित्यपरे । प्रेषादय इत्येके । तिरस्कृततदुपाधिप्रवर्त्तनामात्रम् इत्यन्ये । प्रवर्त्तकृत्वात् फलमेव इत्यपरे । फलाभिलाष एव इत्येके । कर्मैव इत्यन्ये । आत्मनोऽप्राप्तक्रियासम्बन्धावगम इत्यपरे । श्रेय साधनत्वाख्यधर्म इत्येके । उपदेश इत्यन्ये । कर्त्तव्यताप्रतिपत्तिरेव इत्यपरे । प्रतिभैर इत्येके । भक्तिरेव इत्यन्ये । इच्छैव इत्यपरे । प्रयत्न एव इत्येके इति ।

तत्र शब्दविधियादिनो ब्रुवते—अन्यन्यतिरेकाभ्यां प्रवर्त्तस्त्वप्रवर्धयते, तौ च अन यथासिद्धौ शब्दस्यैव प्रवर्त्तकत्वमवगमयत, अतः स एव विधि । अर्थस्य विधित्वे “क्रियायां प्रवर्त्तकं वचनम्” [ शाबरभा० १।१।२ ] इति विरुध्यते । प्रवर्त्तकार्थ-प्रतिपादनद्वारेण यचनस्य प्रवर्त्तकत्वे च औपचारिक प्रवर्त्तकत्वमस्य स्यात्, मुख्यश्च वस्तु वृत्त्या तत्रै तद्व्यवस्थितम् इत्यर्थनिरपेक्षमेवास्य तत्प्रतिपत्तयम् । व्यापारातिशयप्रवर्त्तकत्वपक्षेऽपि न शब्दस्य मुख्यप्रवर्त्तकत्ववृत्तिः, व्यापारातिशयसमाश्रयणेनैव सर्वस्य साध्यवस्तुसम्पादकत्वात् । न खलु काष्ठादीनां ज्वालाद्यधान्तरव्यपारावलम्बनेऽपि पाके मुख्य कारकत्वाभिधानं विरुध्यते । प्रवर्त्तकत्वञ्च यद्यपि सामान्येन शब्दस्योच्यते तथापि लिङ्लोटत्वप्रत्ययान्तस्यैव तद् युक्तं शब्दान्तराणां प्रवृत्तिहेतुत्वाऽदृष्टेः ।

अत्रान्ये’ शब्दस्य विधित्त्वमसहमाना ‘प्रमाणत्वात्, अनियमात्प्रवृत्तौ, सविदा श्रयणात्’ इत्यादियुक्तिविरोधं दर्शयन्ति ।

(१) भाट्टा । (२) प्राभाकरा ।

गब्दस्य । (५) शब्दे । (६) प्रवर्त्तकत्वम् । (७) शब्दस्य । (८) प्रवर्त्तकत्वम् । (९) पञ्चमी—आ० टि० । पञ्चमो लकार इत्ययम् । (१०) गेट सप्तमी—आ० टि० । सप्तमो उकार इत्ययम् । (११) मण्डनमिथ्यायम् । (१२) प्रमाणत्वादनियमात्प्रवृत्त सविदाश्रयात् । समभिव्याहृते गब्दा न विधिः कायकल्पनात् ॥—विधिवि० पृ० ५ । तत्र शब्द स्वभावेण धातुवृत्तप्रवर्त्तक । प्रमाणत्वं विहृत्य नियमाच्च प्रवर्त्तयत् ॥—न्यायमु० पृ० २६ । (१३) प्रमाणं हि शब्दं प्रतिज्ञायते, बोधकञ्च प्रमाणम् तत्र प्रवृत्तिहेतु कञ्चनार्थातिशयमवगमयनं शब्दबोधनात्वेन प्रमाणतामश्नुते स्वयमेव तु प्रवृत्त कारकत्वात् प्रमाणतामप्राप्नुयात् । न हि कारको हेतुः प्रमाणमपि तु ज्ञापकः ।—प्रमाणं हि शब्दं प्रतिज्ञायते चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति । बोधकञ्च प्रमाणम् अर्थाधितानाधिगतासन्दिग्धा यप्रमाणजनकम् । स्वयमेव तु प्रवृत्तप्रमायां कारकं ता प्रमाणतामप्राप्नुयात् । न च प्रमाया अपि प्रवर्त्त कारकं कस्मान्न प्रमाणमत आह—न हि कारको हेतुः प्रमाणम् । मामूढ बीजादीनामङ्कुरादिकारकाणां प्रामाण्यम् । किं तर्हि प्रमाणमित्याह—अपि तु ज्ञापक इन्द्रियादी तथा नायात् ।—विधिवि० टी० पृ० ५ । अत एव शब्दोपि न स्वरूपमात्रेण प्रवर्त्तकं वाध्यादितुल्यत्वप्रसङ्गात् । यदि पवन इव पिशाच इव नुनप इव गब्द प्रवर्त्तको भवेत् अनवगतशब्दाश्रयस्य चोर्धि श्रवणपरवशं प्रवर्त्तते न च वमस्ति । तस्मान्न्यप्रतीतिमुपजनयत शब्दस्य प्रवर्त्तकत्वम् । न च नाम लिङादिरेव शब्दं प्रवर्त्तकाभिधानद्वारेण प्रवर्त्तको भवितुमर्हति । गब्दस्य च ज्ञापकत्वाच्चक्षुरादिकारकवलक्षणं सत्यपि प्रतीतिवर्त्तमानं कारणत्वमपरिहायम् । कारणं च कारकम् कारकञ्च न निर्वापार स्वकायनिवृत्तिसममिति व्यापारस्तस्यावश्यमभावी —न्यायमु० पृ० ३४२ ।

१ प्रवर्त्तकत्वम् । २ इत्यपरे व० । ३ इत्येके तत्र ध० व० । ४—वचनपरि तो ध० ।

५ क्रियायां प्र-व० । ६—यस्योपि व० । ७ साध्यवस्तु—आ० । ८ लिङ्लोट त्व—आ० व० ।

कत्व विना स्वतः प्रवृत्तिकारकत्वे अस्य दुर्घट वाय्वादिवत्, कारकहेतोः प्रमाणत्वानु-  
पपत्तेः, बोधकस्यैव तत्सम्भवात् । अथोच्यते—वाय्वादिविज्ञितभूतप्रवृत्तिविलक्षणैवेयम्  
इच्छादिसमानरूपा चिद्रूपात्मप्रवृत्ति विषयावबोधोपेक्षिणी 'लिङादिमि क्रियते, तन्न,  
प्रवृत्तिकारकत्वाशे परिकारकाणामिव प्रामाण्यानुपपत्तेः । बोधकत्वमात्रेणापि प्रामाण्ये  
वर्त्तमानाद्यपदेशकालप्रवर्त्तकलेडौदियुक्तेष्वपि वाक्येषु 'तत्त्वसद्भात् 'तन् प्रवृत्तक वाक्य  
शास्त्रेऽस्मिन्बोधानोच्यते ।" [मी० श्लो० चोदनाश्रु० श्लो० ३ ।] इत्यस्य विरोधः । तस्मात्  
साध्यस्वभाववागादिव्यापारलक्षणविषयावबोधकत्वेनैव लिङाद्यन्तस्य शब्दस्य प्रमाणत्वो-  
पपत्तेः न शब्दस्य स्वरूपेणैव विधित्वम् ।

तथा, अनियमात्प्रवृत्तेः, शब्दस्य हि विषयावबोधनिरपेक्षस्य स्वरूपेणैव विधित्वे  
चेतनात्मकस्यापि पुरुषस्य अभिप्रायतिरस्कारेण मन्त्रादिजन्यविक्षोभस्थेय निवशस्य बला  
कारेण शब्दात्प्रवृत्तिरुद्भवन्ती न वाय्वादिविज्ञितप्रवृत्तिविलक्ष यमश्नुवीत । तथा  
चास्या ईहादेश भवन्त्या पुरुषस्यातन्मयाश्रितविहिताऽकरणापराधनिर्वन्धनप्रायश्चित्ताप्रति  
पादनस्य निर्विषयत्वप्रसक्तेः अयुक्तमुक्तम्—

‘अकुर्वन् विहित कर्म निन्दितञ्च समाचरन् ।

प्रसज्येष्टिद्वयार्थेषु प्रायश्चित्तीयत नर ॥" [मनुस्मृ० ११।४४] इति । 15

(१) प्रवृत्तिकारकाद्यप्रामाण्यम्, बोधकारकाद्य प्रामाण्यमिति—आ० टि० । (२) किन्तु  
विशिष्टबोधकत्वेनैव प्रामाण्यम्—आ० टि० । विषयावबोधनात् दोष इति चेन्न तमात्रस्यायत्रापि  
तुल्यत्वात्, चोदनालक्षणोऽर्थो यम इत्यभ्युपगमानवक्यात् । निराकरोति नेति । कुत ? तमात्रस्य  
अन्यत्रापि वर्तमानापदेशेऽपि चैत्र पञ्चतीत्यादौ तुल्यत्वात् । न हितत्र भावना नावगम्यते । अस्तु तुल्यता  
का नो हानिरित्यत आह—चोदनालक्षणोऽर्थो यम इत्यभ्युपगमानवक्यात् । प्रवृत्तकत्व चोदनात् प्रवृत्ति  
हेतु कञ्चनापि तिष्ठाममवगमयन अनेन रूपेण प्रामाण्यमश्नुते न भावनामात्रवचनत्वेन तस्य अन्यत्रापि  
तुल्यत्वात् । तस्माद्यन रूपेण प्रामाण्यं न तेन चोदना येन चोदना न तेन प्रामाण्यं तस्य प्रवृत्ति प्रति  
कारकत्वात् । —विधिबि० टी० ४० १ । (३) वर्तमान—आ० टि० । (४) चत्र पञ्चतीत्यादिषु ।  
(५) प्रामाण्यप्राप्ते । (६) अभिहोत्र जुहुयादित्यादि । (७) 'शब्दस्वात' इति च निमोगतोऽवश्य  
प्रवृत्ति स्यात् तथा च अकुर्वन् विहित कर्म इति निविषय स्यात् । न हि तदानीं बलवदनिलसलिलौ  
घनद्यमानस्यवेच्छापि तत्र प्रवृत्ति प्रति पुरुषस्य । —विधिबि० ४० १ । (८) शब्दवशादनिच्छा  
पूर्विकाया प्रवृत्तौ । (९) पुरुषस्वात' इत्येव सत्यव विहितस्य स'ध्यादे अकरणात् प्रायश्चित्त भवत यदा  
तु पुरुषस्य प्रवृत्तौ स्वत' इत्येव नास्ति तदा कथं तदकरणं प्रायश्चित्तभाक्त्वम् । (१०) व्याख्या—  
'प्रसज्येष्टिद्वयार्थेषु' इत्ययं यद्विहित स'ध्यापोषसनादि नभित्तकञ्च शवस्पर्शोदी सानादि तदकु  
र्वन् तथा प्रतिषिद्ध हिमाद्यनुनिष्ठन अविहितनिषिद्धव्यवहारास्तस्मिन् बुवधरो मनुष्यजातिमात्र प्रायश्चि  
त्तमहति । —मनुस्मृ० म वय० ११।४४ ।

1 लिङादि—आ०, व० । 2 परिकारका—आ०, थ० । 3 कलिङादि—व० । 4 लिङाद्यत—आ०  
व० । 5 विक्षोभस्थेय व० थ० । 6 हलादिब थ० । 7 भवत्या व० थ० । 8 ब धन प्रा—व० ।  
9 नस्यानि—थ० ।

तथा, 'सविदाश्रयणात्त शब्द प्रवृत्ते कारक । नहि बीजादीना सवेदनसापेक्षणा स्वकार्यकर्तृत्व दृष्टम्, ज्ञापकस्यैव धूमादेस्तदपेक्षामतीते ।

क्रिञ्च, अश्रुतफलेषु विश्वनिर्दादिषु वाक्येषु फलस्य स्वर्गादे अधिकारिणश्च स्वर्ग-  
कामादे अध्याहार, अग्निष्टोमादिषु च स्वर्गकामादौ अन्यपदार्थापसर्जनीभूतस्वर्गादि  
४ पदार्थानां फलत्वाध्यवसाय एवमाद्यर्थाभिसम्बन्धो व्यर्थ, वाय्वादिवत् फलादिस  
म्बन्धानपक्षस्यैव शब्दस्य प्रवृत्तिहेतुत्वप्रसङ्गात् । तत्र शब्दो विधि ॥६॥

शब्दव्यापारविधिवार्दिर्नस्तु द्रुयते—लिङादि( लिङादि )शब्दश्रवणानन्तर वृद्ध-  
व्यवहारे प्रवृत्त्याख्यकार्यदर्शनात् तत्कारणत्वेन कल्पितस्य शब्दव्यापारस्य मन्त्रपर्वनादि-  
वैलक्षणेन प्रवृत्तिहेतोः सभगान्न पूर्वोक्तदोषानुपपन्न । तदुक्तम्—

‘अभिधाभावनामाहुरन्यामत्र लिङादयः ।’ [ तत्रभा० २।१।१ ]

10

(१) ज्ञापकश्च स्वरूपकमसंबन्धविषयज्ञानमपेक्षते लिङादिस्वरूपञ्च प्रवृत्त कारकमित्यनु-  
पयुक्तस्वरूपतत्कर्मसम्बन्धविषयसविदोऽपि पुनः प्रवृत्तिप्रसङ्गः । '—विधिवि० पृ० ७ । (२) स्वसवेदना  
पेक्षा । (३) विश्वजिदादियत्तु स्वर्गादिकल न श्रुतो कण्ठास्तपत तत्र सामा यरूपेण स्वगुरुपस्य फलस्य  
अध्याहार ज्ञियते । तथा चोक्त जमिनि याममा लायाम—(४।३५) नवास्ति विश्वजिज्ञाण फलमस्त्युत  
नाश्रुते । भाव्यापेक्षाद्विषय कल्प्य फल पुनः प्रवृत्तयः । 'दृष्टव्यम्—शाबरभा० गार्हपदी० ४।३।१०—१७ ।  
अपि चाश्रुतफलेषु फलाध्याहार वचितत्रूपकारकल्पना श्रुतानामपि स्वर्गादीनां फलत्वाध्यवसाय  
इति सब एव महिमा विध । स शब्दस्य तदभावेऽनुपपन्न—अपि चाश्रुतफलेषु पिण्डपितयज्ञादिषु  
स्वर्गादिकलाध्याहार वचित ऋतूपकारकल्पना समिदादौ श्रुतानामपि पुरुषविद्यापणतया स्वर्गादीनां  
फलत्वाध्यवसाय इति सब एव महिमा विध । स शब्दस्य तदभाव विधिभावऽनुपपन्न । '—विधिवि०  
टी० पृ० १४ । (४) अत्र हि श्रुतिवाक्यविषय अधिकारी चोक्तो न त फलम् तच्च स्वर्गकामाख्याधि-  
कारिलक्षण पदाय स्वर्गकामोऽस्यपि समाप्त पूर्वपदतया उपसर्जनीभूत स्वयं फलतयाध्यवसीयत—आ०  
टि० । (५) प्रवक्तव्यस्य च त तस्यापि पवनादिवर्तिन इवोपपत्त फलरूप कारक विना । तस्मान्न  
विधि शब्दस्तद्व्यापारो वा । 'कत—प्रवक्तव्यस्य च त लिङादयः खलु पुमा प्रवक्तका न च त  
निष्फल प्रवक्तवित पुरुषमीगत इति तदन्यधानुपपत्त्या फलकल्पनत्यथ । निराकरोति न । तस्यापि  
प्रवक्तव्यस्य पवनादिवर्तिन इवोपपत्त । नहि यो य प्रवक्तव्यति स सब फलमपक्षते पवनादीनां  
प्रवक्तव्यतामपि तदनपेक्षत्वं दर्शनादित्यथ । —विधिवि० टी० पृ० १४ । (६) भट्टकुमारिलादयः ।  
भावनव च वाक्याय सबनारायातवत्तया । अनकगुणजात्याधिकारकार्थानुरिञ्जता ॥ एकयव तु  
बुद्ध्यामी गह्यत चित्ररूपमा । —मी० श्लो० पृ० १३९ । तत्रार्थात्मिकाया भावनाया लिङादि  
शब्दानां य पुरुष प्रति प्रयोजकव्यापार सा द्वितीया शब्दधर्मोऽभिधात्मिका भावना विधिरित्युच्यते ।  
—तत्र भा० २।१।१ । (७) यथा कश्चि मन्त्रेण अभिचारिकादिना पारवश्य नीतोऽनिच्छयापि प्रवक्तव्य  
—आ० टि० । (८) व्याख्या— कत व्युत्पत्त्या करणव्युत्पत्त्या वा अभिधाशब्दस्य शब्दपरत्वमङ्गीकृत्य  
अभिधाया शब्दस्य आत्मनो भावना व्यापार प्रवक्तव्यतासामान्यव्यक्तिभूत लिङादयः प्रवक्तव्यतासामान्य  
मभिधायानां निर्विशेषतासामान्यायोगात् प्रपादौ च लोकदृष्टस्य विषयस्य पुरुषधर्मत्वेन अपौरुषय  
व्येऽसम्भवात् प्रवक्तव्यतासामान्यस्य च प्रपादिप्रवक्तव्यतापरवर्तिवदशनात् लिङाद्रेरेव च वेदे प्रवक्तक

१ बीजानां आ० । २—जिदादिषु फलस्य आ० व० । ३ मन्त्रपर्वनादि—आ० मन्त्रपठनादि-  
व० । ४ वास्तव्यो—आ० ।



अभिधायाः शब्दस्य लिङादेर्यासौ भावना पुरुषप्रवृत्त्युत्पत्तिं प्रति स्वकीयप्रयोजकव्यापारः तस्य अभिवायका लिङादयः । भाव्यनिष्ठश्च भावकव्यापारो भावना । शब्द-

त्वावधारणात् लक्षणया गमयन्तीत्यर्थः ।"-न्यायसु० पृ० ५५९ । जंमिनिन्या० पृ० ७५ । तन्त्ररह० पृ० ४७ । मानमेयो० पृ० २७२ । वैयाकरणभू० २० पृ० १५६ । मुबता० विन० पृ० ५१५ । "अभिधीयत इति अभिधा प्रवर्तना कर्तव्यता वा, सैव च पुरुषप्रवृत्तिं भावयतीति भावना तामाहुरिति । अथवा अभिधाया शब्दस्य भावना अभिधाभावना सैव प्रवर्तना परममेवेतापि शब्देन पुरुष प्रवर्तयता तस्मिन्नेव अभिधीयमाना शब्दव्यापारत्वेनोच्यते तामाहुरिति । अथवा इष्टमाधनताभिधानमभिधा सैव विधानं विधिरिति व्युत्पत्त्या विधिरित्युच्यते । सैव च भक्तिर्कृतृत्वं प्रतिपद्यमानाया पुरुषप्रवृत्ते प्रयोजकस्य शब्दस्य व्यापारो भावना तामाहुः ।"-न्यायरत्नमा० पृ० ५३ । मीमांसाध्याय० पृ० १८१ । उद्धृतोन्म- 'शब्दात्मभावनामाहुः'-अष्टसह० पृ० १९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । विधिवि० पृ० १५ । न्यायम० पृ० ३४३ । बृहदा० भा० वा० टी० पृ० ५९० । 'अभिधा भावना'-न्यायकु० प्र० ५।१३ । मीमांसार्थप्र० पृ० ८ । मीमांसान्याय० पृ० १८१ । शास्त्रदी० २।१।१ । न्यायरत्नमा० पृ० ४७ । मीमांसाबाल० पृ० ७५ ।

(१) 'तेन भूतिपु कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुन । प्रयोजकक्रियामाहु भावना भावनाविद ।"-तन्त्रशा० २।१।१ । "इह हि लिङादियुक्तेषु वाक्येषु द्वे भावने गम्येते । शब्दात्मिका च अर्थात्मिका च । तत्र लिङादीनां प्रयोजककर्तृत्वं पुरुष प्रयोज्य, तेन किमित्यपेक्षाया पुरुषप्रवर्तनमिति सम्बध्यते । अथ तु योग्यतयैव लिङादिविषया क्रियोच्यते प्रवर्तयेदिति ततः किमित्यपेक्षिते पुरुषमित्येव सम्बध्यते । अथ केनेत्यपेक्षिते पूर्वसम्बन्धानुभवापेक्षेण विधिज्ञानेनेति सम्बध्यते । कथमिति प्राशस्त्यज्ञानानुगृहीतेनेति । कुत एतत् ? बुद्धिपूर्वकारिणो हि पुरुषा यावत् प्रशस्तोप्यमिति नावबुध्यन्ते तावन्त प्रवर्तन्ते, तत्र विधिविभक्तिरवसीदति ता प्राशस्त्यज्ञानमुत्तन्नाति । तच्च पुरुषार्थात्मके फलानो सर्वस्य स्वयमेवानुष्ठानं भवतीति प्रसिद्धत्वात् वेदानुसंधमानमपेक्ष्यते । साधनेतिकर्तव्यतोस्तु अप्रवृत्तपुरुषनियोगाच्छास्त्रमेव प्राशस्त्यप्रतिपादनायाकाङ्क्ष्यते ।"-तन्त्रशा० १।२।१ । न्यायसु० पृ० ३२- । "भाव्य-भावनसमर्थो हि व्यापारो भावना ।"-भावनवि० पृ० ६ । "भाव्योत्पादानुकूलस्य व्यापारस्य भावनात्वप्रसिद्धे ।"-न्यायसु० पृ० ३१ । "भावना नाम भवितुर्भवतानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेष ।"-अर्थसं० पृ० ११ । "भवितुर्भवतानुकूलो भावकव्यापारविशेष ।"-मीमांसान्याय० पृ० २ । "तत्र प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारोऽभिधा, फलानुकूलो व्यापारो भावनेति विवेकः ।"-मीमांसार्थप्र० पृ० ८ । "भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना । भाव्य हि स्वर्गादिफल साध्यमानत्वात् तन्निष्ठस्तदुत्पादकश्च पुरुषव्यापारो यस्तु भावना प्यन्तेन भवतिनोच्यते । प्रवृत्त्यर्थस्य भवतेः कर्ता य स्वर्गादि स एव प्यन्तस्य कर्मता प्रतिपद्यते । कर्ता त्वस्य प्रयोजकः पुरुष, नेष्टार्थं जिज्ञास्य प्रयोजकव्यापार, पुरुषो हि भवन्त स्वर्गादिमर्थं स्वव्यापारेण भावयति सम्पादयति, स तत्संपादको व्यापारो भावनेत्युच्यते ।"-न्यायम० पृ० ३३५ । "भावनात्व नाम भवितुः प्रयोजकव्यापारवत्त्वम् । तत्रार्थभावनाया भवितुर्जायमानस्य स्वर्गादि प्रयोजकव्यापारत्वात् लक्षणसंगति, शब्दभावनायामपि पुरुषप्रवृत्तिरूपस्य भवितुः प्रयोजकव्यापारत्वालक्षणसङ्गतिः ।"-मी० परि० पृ० २० । (२) "तस्मादस्ति पुरुषप्रवृत्तिक्रमिका विधिज्ञान-वर्णिका अर्थवादीत्यादितविषयप्राशस्त्यज्ञानतिकर्तव्यतोपेता लिङादिव्यापार प्रेरणात्मिका शब्दभावना अभिधानलक्षणोऽपि च देवदत्तादेरिव व्यापार शब्दभावना ।"-भावनवि० टी० पृ० ९४ । "तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेष शब्दी भावना । सा च लिङ्धवनेष्व सा प्रवर्तयति, मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानिति नियमेन प्रतीतेः । यद्यस्माच्छब्दान्वयमतः प्रतीयते ततस्य वाच्यम् यथा

भाषनायाश्च भाव्या पुरुषप्रवृत्तिः. प्रवृत्तिमान् वा पुरुषः। प्राशस्त्याभिधानश्च विना विधिशक्तिर्निमित्तत्वमुपगतापि प्रवर्त्तनायां न समर्था भवति। न हि 'इमां गां व्रीणीष्व' इति शतकृत्योप्युक्तः रुचिचत् केतु प्रवर्त्तते यावत् 'घटोद्वी सम्पन्नक्षीरा' इत्यादि प्राशस्त्यैज्ञानं न प्रवर्त्तते। अतः अर्थवादोपजनितप्राशस्त्यज्ञानसचिवा शब्द- भावना प्रवर्त्तनाद्गम्। सा च ईयशपरिपूर्णा भवति—'किम्, केन, कथम्' इति। किं भावयेत् ? स्वर्गम्। केन ? दैर्घ्योर्णोमासाभ्याम्। कथम् इति ? इतिकर्त्तव्यता दर्शयति प्रधाजादिब्यापाररूपाम्। सेत्थं त्र्यंशपरिपूर्णा शब्दभावना फैलभाषनायां पुरुष

गामानयेत्यस्मिन् वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्, स च ब्यापारविशयो लौकिकवाक्य पुरुषनिष्ठाभिप्राय- विनोप, वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावात्लिङादिनिष्ठ एव। अत एव शाब्दी भावनति व्यवहियते।"—अर्थ- स० पृ० ११-१३। मीमांसाध्याय० पृ० ३, १७८। मीमांसार्थप्र० पृ० ८।

(१) एतावता अथवादवाक्याना माभूत्प्रामाण्यमिति—आ० टि०। (२) 'प्रवृत्तिहेतु धर्मञ्च प्रवद- न्ति प्रवर्तनाम्"—विधिबि० पृ० २४३। 'प्रवृत्तिहेतुभूत प्रवर्त्तयितुर्धर्मं प्रवर्तनाम्।"—मीमांसाबाल० पृ० ७५। मीमांसाध्याय० पृ० १८०। (३) तुलना—'लौकिकानि वाक्यानि भवन्तो विदाहकुर्वन्तु। तद्यथाय गो नेतव्या देवदत्तीया। एषा हि बहुक्षीरा स्यपत्या अनष्टप्रजा चेति।'—शाबरभा० १।२। २०। (४) "सा च भावनासन्नयमपेक्षते साध्य साधनमितिकर्त्तव्यताञ्च, किं भावयत् केन भावयेत् कथं भावयेदिति। तत्र साध्याकाङ्क्षाया वक्ष्यमाणशययोपेता आर्थाभावना साध्यत्वेनान्वेति एकप्रत्य- यगम्यत्वेन समानाभिधानयुक्ते। सत्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वेऽपि अयोग्यत्वात् साध्यत्वेनान्वयः। साधनाकाङ्क्षाया लिङादिज्ञान करणत्वेनान्वेति, तस्य च करणत्व न भावनोत्पादकत्वेन तत्पूर्वमपि तस्या शब्दे सत्त्वात्, किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन शब्दभावनाभाष्यनिर्बन्तकत्वेन वा। इतिकर्त्तव्यताका- ङ्क्षायाम् अर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्त्तव्यतात्वेन अन्वेति।"—अर्थस० पृ० १६-१८। मीमांसा ध्याय० पृ० ३। 'करणापो विधिज्ञान किमस्य पुरुषवर्तनम्। इतिकर्त्तव्यता चात्र ह्यर्थवादप्रशसनम्।'—बृहद्भा० भा० वा० पृ० ५९०। "प्रवृत्तिप्रलिकायाञ्च अभिधायामपि साध्यमाधनेतिकर्त्तव्यतारूप- मसन्नयमपेक्षितम् अन्यथा तस्य स्वरूपत फलनवचानावावप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। तत्र लिङादिविधिज्ञान करणत्वेनान्वति याग इव अर्थभावनायाम्। प्रवृत्तिरेव च साध्यत्वेन स्वर्ग इव अर्थभावनायाम्। अथवा दादिजन्य प्राशस्त्यज्ञानमितिकर्त्तव्यतात्वेन प्रयाजाद्यङ्गज्ञानमिव अर्थभावनायाम्। तदुक्तम्—लिङाभिधा- र्मेव च दान्दभावना भाव्य च तस्या पुरुषप्रवृत्तिः। सम्बन्धबाध करण तदीय प्ररोचना बाह्वतयो- ल्पुन्यते।"—मीमांसार्थ० पृ० ९९। 'प्ररोच्यन्त्येति प्ररोचना प्रशस्त्यज्ञानं तच्चाङ्गं सत्यकारिप्रमाणं दिश्य'—मीमांसाबाल० पृ० ८१। मीमांसापरि० पृ० १८। "तत्र किं भावयत् केन भावयत्कथं भाव- यदित्याकाङ्क्षाया स्वर्गं भावयत् यागेन भावयन् अन्यन्वाधानप्रयाजावधानादिभिरुपकार मप्याद्य भाव- यदित्यथ नाव्यवरणतिकृत्यन्यामर्थनेन आकाङ्क्षापूरणान् प्रकरणाभ्यात सत्तल दान्दसन्दर्भं भाव- नान्वाधिन आश्रयतस्यैव प्रपञ्चः। भाव्याद्यत्रयवती मयमर्थभावेनेत्युच्यते। सा सर्वापि सद्भावना या नाव्या विधायको लिङादि करणम् अर्थवादसम्पादनं स्तुतिरितिकर्त्तव्यता। सय दान्दभावना लिङादिभिरेव गम्यते। अपेक्षभावना सर्वोपान्यनप्रत्ययैर्गम्यत इत्युक्तम्।"—जैमिनिध्या० पृ० ७६। (५) अभावध्याया त्रियमाणो यज्ञविशयो दर्श, पीथमास्याञ्च विधीयमान यज्ञानुष्ठान पीणमाम इति। (६) यज्ञ वत्तव्यताविनोप—आ० टि०। "आगदुपचारकरणा प्रयाजादि"—न्यायस्तन- मा० पृ० १२०। (७) आर्थाभावनायाम्।

१-प्रवृत्तिमानवा व०। २-मान् पु०-य०। ३-त्वमुपाय-आ०। ४-घटादित-व०,-घटादित-य०। ५ प्रशस्तज्ञान य०। ६ तत्र य०। ७ कथमिति कथमिति यमुपपन्नकत्तव्यता य०।

प्रवर्तयति । यद्यपि चेच्छास्मृत्यादयः पुरुषप्रवृत्तिहेतवः तथापि न तेषां मुख्यः प्रवर्तना-  
व्यपदेशः, शब्दभावनायास्तु साध्यावगतिकारित्वेन मूलभूतत्वात् मुख्यैः । 'शब्दभावना'  
इति शब्दशब्देन शब्दधर्मतया व्यपदेशात्, यथा ग्रामादिदाने राज्ञो दातृत्वव्यपदेशो  
मुख्यः लाकुटिकादीनां तु राजादेशानुसारेण प्रवृत्तानामौपचारिकः एवमत्रापि । तदुक्तम्—

“साध्यत्वे हेतुव्यापारः कथ्यते शब्दभावना ।

शब्दधर्मतयाख्यातः कार्यससूचितस्थितिः ॥” [ ]

तथा च शब्दभावनासद्भावे किं प्रमाणमिति पर्यनुयोगोऽनुपपन्नः; यथैव हि अर्थ-  
प्रतिपत्त्यन्यथालुपपत्त्या शब्दस्य अभिधात्मको व्यापारः परिकल्प्य (कल्प्य) ते तथा प्रवृ-  
त्त्यन्यथालुपपत्त्या लिङादेः प्रवर्तनात्मकोऽपीति । तत्र 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यत्र द्वे भावने  
प्रतीयेते शब्दात्मिका पुरुषप्रेरणारूपा अर्थात्मिका च पुरुषव्यापाररूपा इति । तत्र लँकार- 10  
सामान्यस्यार्थः अर्थभारवना । उक्तञ्च—

“इयं त्वन्यैव सर्वार्थां सर्वाख्यातेषु विद्यते ।” [ तन्त्रया० २।१।१ ] इति ।

पुरुषव्यापारस्य हि सर्वत्रार्थे विद्यमानत्वात् सर्वार्थां अर्थभावना, 'यजते,

- (१) लाकुटिकप्रया—आ० टि० । द्वारपालसदृशा इत्यर्थः । (२) इच्छास्मृत्यादीनाम् ।  
(३) प्रवर्तनाव्यपदेशः । (४) लकुट-दण्डधारिणाम् द्वारपालादीनाम् । (५) पुरुषरूपेण कार्येण तस्या-  
स्तित्वं मूष्यते—आ० टि० । (६) आख्यातविभक्ति—आ० टि० । (७) “प्रयोजनेच्छाजनितत्रिमा-  
त्रिपयव्यापार आर्षीभावना । सा चाख्यातत्वाद्येनोच्यते आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात् । साध्य-  
घनयमपेक्षते साध्य साधनमितिकर्तव्यताञ्च किं भावयेत्केन भावयेत्कथं भावयेदिति । तत्र साध्यावा-  
द्भावाया स्वर्गादिफल साध्यत्वेनान्वेति, इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया प्रयागाद्यङ्गाजानमितिकर्तव्यतात्वे-  
नान्वेति ।”—अर्थसं० पृ० १९-२३ । “प्रवृत्तिश्चार्थभावनैव”—मीमांसासं० पृ० ९ । “स्वर्गोच्छाजनितो  
यागविषयो य प्रयत्नः स भावना । स एव चाख्याताद्येनोच्यते । यजत इत्याख्यातश्रवणे यागे यतेत  
इति प्रतीतेर्जायमानत्वात्” अतश्च प्रयत्न एवार्षी भावना । यथाहु—(न्यायसु० पृ० ५७९) प्रयत्न-  
व्यतिरिक्तार्षीभावना तु न घटयते । यक्तुमाख्यातवाच्येह प्रस्तुतेत्युपरम्यते ॥”—मीमांसास्या० पृ०  
१८५-८७ । (८) आर्षीभावना । “अर्षात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥”—तन्त्रया० २।१।१ ।  
बृहदा० भा० वा० टी० पृ० ५९० । द्वात्रिंशदी० २।१।१ न्यायकु० प्र० ५।१३ । जैमिनिष्या० पृ०  
७५ । मीमांसाबाल० पृ० ७५ । 'सर्वस्वाप्तनस्य गोचरा'—मीमांसासं० पृ० ८ । प्रकृत पाठ—अष्टसह० पृ०  
१९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । “अर्षात्मा भावना त्वन्या सर्वत्राख्यातगोचरा ।”—तन्त्ररह० पृ०  
४७ । मानमेयो० पृ० २७२ । 'सा चाख्यातस्य'—वेद्याकरणभू० २० पृ० १५६ । मुक्ता० दिन०  
पृ० ५१५ । व्याख्या—“विधेयाया भावनाया पुरुषार्थरूपभावन्यनिष्ठत्वमूचनाय इच्छापोनित्वं मूव-  
यितुम् इच्छार्थादर्थयते णिजन्तादर्थयत इति वक्तुं विवक्षायामेरजित्यवृत्त्ययोत्पादनेन अधिनः पुरु-  
षस्य अर्थशब्देन अभिधानाद् भावनायाश्च पुरुषधर्मत्वात् धर्मधर्मिणोश्चात्यन्तं भेदाभावात् तादात्म्य  
विवक्षित्वा अर्षात्मा चासी भावना चेति विग्रहः कार्यः । अन्यामिति अर्थभावनापेक्षित्वं शब्दभावनाया  
मूचितम्” —व्यापसु० पृ० ५६० । (९) अतीतादी—आ० टि० । “यदा हि सर्वाख्यातानुवर्तिनी  
करोतिधातुवाच्या पुरुषव्यापाररूपा भावनाऽवगता भवति, तदा तद्विशेषा सामान्याख्यातव्यतिरिक्त-  
शब्दविशेषवाच्या विधिप्रतिषेधभूतभविष्यद्वर्तमानादयः प्रतीयन्ते । तथा च सर्वत्र सामान्यतः करो-

अयजत, अयष्ट' इत्यादि सर्वाख्यातेषु च विद्यते । न हि तत्र पुरुषप्रेरणारूपा शब्द-  
भाषनाऽनुभूयते सिद्धस्य आत्मव्यापारस्य अर्थभावनापरपर्यायस्य अनुभवात् । लिङादि-  
विषये तु 'यजेत' इत्यादौ द्वयमनुभूयते-स्वार्थं लिप्समानो हि पुरुषः स्वव्यापारे याग-  
विधानलक्षणं प्रवर्तते इति अर्थभावना, तमयं लिङ् प्रवर्तयतीति शब्दभावना चेति ॥४॥

तदेतद्भावनावादिनो मतमयुक्तम्; यतः शब्दस्य भावना, शब्द एव वा भावना  
शब्दभावना स्यात् ? प्रथमपक्षे शब्दस्य भावना प्रेरकत्वम्, तच्च प्रेपणाध्येपणरूपम्,  
तस्य चेतनात्मकपुरुषधर्मत्वात् कथं शब्देऽनुपचरितस्य सभवः ? तद्वर्माध्यासितपुरुष-  
प्रयुक्ताद् वाक्यादेव हि शब्दे तत्समाख्यते न मुख्यतः ।

किञ्च, 'प्रेर्यप्रेरकयोर्न निष्फला प्रवृत्तिः । किञ्चिद्धि स्वात्मनि परत्र वा अर्था-  
नर्थप्राप्तिपरिहारादिप्रयोजनमभिसन्धाय कश्चित् प्रेरकः प्रेर्यश्च प्रसिद्धः । न चाचेतने  
शब्दे तदभिसन्धानं सभवति तत्कथं तस्य प्रेरकत्वम् ? वैलव्यप्रभञ्जनादेरिवार्यै  
अनभिप्रायस्यापि प्रेरकत्वे शब्दविधिपक्षनिक्षिप्ताऽशेषदोषोर्ध्वनिपातः स्यात् ।

त्यर्थोऽजगम्यत । किं करोति ? पचति । किमकार्षीदपाक्षीत् । किं करिष्यति पश्यति । किं कुर्यात्  
पचत् । किं कुर्यात् पचदिति ।"-तन्त्रबा० २।१।१ ।

(१) आख्याते । (२) "सिद्धकर्तृन्यावाचिन्याख्यातप्रत्यये सति । सामानाधिकरूप्येन करोत्य-  
र्थोऽजगम्यत ॥ 'तस्मात्तल्लभ्यात्मककर्तृव्यापारवचनानि करोत्यर्थवन्त्याख्यातानि ।"-तन्त्रबा० २।२।१ ।  
(३) 'नेतस्सारम्, न प्रयोगानिरूप्यत्वात् वैयर्थ्यान् पूर्वदोषत । अप्रवृत्ते फलायोगाद् रूपोक्तेर्व्यापृति  
भूत ॥"-विधिबि० ५० १६ । 'अस्त्वादप्रवृत्तेश्च नाभिधायि गरीयसी । बाधनस्य समानत्वात्  
परितोषोऽपि दुर्लभ ॥"-न्यायकु० ५।१३ । (४) "सत्तापुरस्सरा व्यापारणा प्रेपणम्, निवृष्ट-  
विषया नियाग इत्यर्थः । यत्पुनरभ्यहित व्यापारयति तदध्येपणम्, अभ्यहितविषय प्रबोधनमित्यर्थः ।"  
-वाक्यप० प्र० सू० का० ५० २५७ । "प्रवर्त्यपुष्पापेक्षया ज्यायसा वक्त्रा प्रतिपाद्यमान काय प्रप इति  
व्यपदिश्यत । समनं जाभन्त्रणम् । द्वीनेनाध्येपणमिति ।"-श्रु० व० ५० १८० । (५) "न हि प्रेपणा-  
भ्यनुज्ञालक्षणा शब्दस्य व्यापारो निरूप्यत तस्य पुरुषधर्मत्वात् । न हि प्रेपणाध्येपणाभ्यनुज्ञालक्षण  
शब्दस्य प्रयोगा व्यापारो निरूप्यत । ननु शब्दोच्चारणानन्तरं तदवगमात्तैतोक्तमिति कथं प्रेपणाविलक्षण  
शब्दप्रयोगा न निरूप्यन् इत्याहु-नस्य पुरुषधर्मत्वात् । मयः शब्दविज्ञानानन्तरमुपलभ्यते । न त्वसौ  
शब्दस्य, अर्थाप्रामदत्वात् । प्रपणाद अचतनत्वेन शब्दऽगम्यत्वात् ।"-विधिबि०, टी० ५० १६ । (६)  
शब्दस्य अचतनत्वात् पुर्याभिप्रायस्या प्रपणादय उपचरिता एव सम्भाव्यन्ते न तु मुख्या इति ।  
(७) प्रेपणाध्येपणादिधर्मात्मकपुरुष । (८) प्रपणाध्येपणरूपम् । (९) "न प्रवर्तते पुरुष, प्रवर्तयताऽपि  
शब्दस्यानुराध्यत्वात् । न हि सर्वस्मिन् प्रवर्तयितरि प्रवृत्तिः प्रेक्षावताम् अपि त्वनुविधेये । न चार्था-  
नर्थप्राप्तिपरिहाराद्यनुविधानकारणं स्वाभ्यासादिव शब्दे समस्ति । फलात्प्रवृत्ते तदपेक्ष्यम् ।"-विधिबि०  
५० १८ । (१०) अर्थान्यप्राप्तिपरिहारादिप्रयोजनानुमन्याणम् । (११) शब्दस्य । (१२) "स्यान्मन  
पचनादिरिव लङादि प्ररयति पुरुषम्, तदसन्; अभिधानवैयर्थ्यात्, अप्रतीतव्यापारस्यापि वाक्यादिरिव  
स्वभावनं प्ररतवान्, पूर्वोक्तदापापानाञ्च । न हि प्रवृत्तिं प्रति वारकत्वं शब्दस्य सदपि तद्व्यापारा-  
निधानमत्रम्, अर्थाहितव्यापारस्यापि तस्य वारकत्वात्, वारकस्यानपेक्षितज्ञानत्वात् ।"-विधिबि०  
५० १८ । (१३) शब्दस्य । (१४) प्रापदिचरार्थवैयर्थ्यम्-आ० टि० ।

१ हि शब्दे न तत्त्व-आ०, हि तच्छब्दे सभाव्यत व० । २ न चाचेतनशब्दे आ० ।

किञ्च, अस्याः सद्भावे प्रमाणम् लिङादिश्रवणानन्तरभाविनी प्रवृत्तिः, लिङादि-  
शब्द एव वा ? न तावत्प्रवृत्तिः; तस्यास्तन्निबन्धनत्वेन कचिदन्यत्रादृष्टत्वात् । यन्नि-  
बन्धना हि प्रवृत्तिर्लोके दृष्टा तदेव तां दृष्ट्वाऽनुमातुं युक्तम्, न पुनः अप्रतिपन्नपूर्वः  
शब्दव्यापारविशेषः अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात् । नैपि लिङादिशब्द एव तत्र प्रमा-  
णम्, अगृहीतसम्बन्धस्य शब्दस्य अवाचकत्वात् । तदग्रहश्च तद्व्यापारविशेषलक्षणस्य  
सम्बन्धिनोऽनवधारणात् सिद्धः । नहि अनवधारिते सम्बन्धिनि सम्बन्धबोधः सम्भवति;  
अतिप्रसङ्गात् ।

किञ्च, शब्दः स्वव्यापार विधिज्ञानसव्यपेक्षो जनयति, अनपेक्षो वा ? न  
तावदनपेक्षः, विधिज्ञानस्य पुरुषप्रेरणायां करणत्वाभ्युपगमात् । अर्थ शब्दो विधिज्ञान  
जनयित्वा तत्करणानुगृहीतस्तत्प्रेरणारूप स्वव्यापारमारभते, तदिदमलौकिकम्; न हि  
कस्यचिद्वस्तुनः स्वज्ञानम् उत्पादहेतुः लोके प्रतीयते । यदि च शब्दः स्वव्यापार करोति  
अभिधत्ते च, तदा उत्पाद्य पश्चात्तमभिधत्ते, युगपद्वा उत्पादयति अभिधत्ते च ? तत्र  
प्रथमपक्षोऽनुपपन्नः, न खलु शब्दः स्वव्यापारमुत्पाद्य पश्चात्तमभिधातीति श्राद्धिका-  
दन्यः प्रतिपद्यते । द्वितीयपक्षोऽप्यप्रातीतिकः, नहि 'सकृदुच्चरितः शब्दः स्वव्यापारस्य  
कर्ता वक्ता च भवति' इति प्रामाणिकः प्रतिपद्यते । सिद्धे हि वस्तुनि प्रतिबन्धावगमपूर्विका  
वचनस्य प्रवृत्तिः प्रतीयते ।

ननु लिङादिशब्दश्रवणानन्तर प्रवृत्त्याख्यकार्यस्य प्रवर्तितोऽहमिति प्रतिपत्तितः  
प्रतीतेः कथं तत्र तत्कर्तृत्वाप्रतिपत्तिरिति चेत् ? तदयुक्तम्; यतो द्विविधा प्रवृत्तिः प्रती-

(१) शब्दभावनाया । (२) प्रवृत्ते । "लिङादिशब्दानन्तरभाविनी प्रवृत्तिरेव प्रमाणमिति  
वेत्त, तन्निबन्धनत्वेन प्रवृत्तेरन्यत्रादृष्टत्वात् । त (य) निबन्धना हि प्रवृत्तिर्दृष्टा तदेव तां दृष्ट्वा  
शक्यमनुमातुम्, न पुनरप्रतिपन्नपूर्वकरणभाव शब्दव्यापारविशेष । —शब्दार्थभा० पृ० २७ । (३)  
शब्दभावना—आ० टि० । (४) शब्दभावनास्य—आ० टि० । (५) "लिङादिशब्द एव प्रमाणमिति  
माहस्तम्, अगृहीतसम्बन्धस्य शब्दस्यावाचकत्वात् । अनवधारिते हि सम्बन्धिनि सम्बन्धबोधवैधुर्गत् ।"  
—प्रक० पृ० ५० १७२ । (६) सम्बन्धाग्रहणम् । (७) पुरुषप्रवृत्तिरूपम् । (८) "स्यान्मत शब्दो  
विधिज्ञान जनयित्वा तत्करणानुगृहीत प्रेरणारूप स्वव्यापारमारभत इति न करणत्वाभावः क्रियानि-  
वृत्तावेव करणत्वात्, तदिदमलौकिकम्, न हि कस्यचिद्वस्तुनः स्वज्ञानमुत्पादहेतु प्रतीयते ।"—प्रक०  
पृ० ५० १७३ । (९) विधिज्ञानरूपकरण । (१०) पुरुषप्रेरणा । (११) तुलना—"यश्चासौ व्यापार  
त्रियते चाभिधीयते च, स किं पूर्वमभिधीयते तत् त्रियते, पूर्वं वा त्रियते पश्चादभिधीयते, युगपदेव  
वा अस्य करणाभिधाने इति । न तावत्पूर्वमभिधीयते अनुत्पन्नस्य अभिधानानुपपत्ते, न ह्यजाते पुत्रे  
नामधेयकरणम्, अर्थासम्पत्तिं च शब्दः स्यात् । तत् एव न युगपदुभयम्, अनुत्पन्नत्वानपायात् प्रयत्नगो-  
रवप्रसङ्गाच्च । नापि कृत्वा अभिधानम्, विरम्य व्यापारासंबन्धात् ।"—न्यायम० पृ० ३४५ । (१२)  
वाच्यवाचकसम्बन्ध । (१३) शब्दे । (१४) प्रवृत्ति—आ० टि० ।

१ अस्य सद्भा—व० । २—नुमान यु—व० । ३ पुन प्रतिप—थ० । ४—शब्दस्तत्र व०, —शब्दास्तत्र  
थ० । ५ शब्दो व्यापा—थ० । ६ कारणत्वा—व० । ७ तत्कारणानु—व० । ८—रणरूपं व० । ९ न शब्द  
व० । १०—स्वाप्रतीतिरि—थ० ।

यते—एका परवशस्य, अन्या तु प्रेक्षापूर्वकारिण । तत्रापक्षे हठाद् यागादिकर्मणि  
चौद्वादरपि प्रवृत्ति शब्देन क्रियता पुरुषस्वातन्त्र्याभावात् । न खलु बलवज्जलप्रभञ्जन-  
प्रेरितस्य स्वातन्त्र्याभावे हठात्प्रवृत्तिर्न दृष्टा 'अनिच्छन्नप्यहं प्रभञ्जनादिना प्रेरित प्रवर्त्तौ'  
इति प्रतीते । द्वितीयपक्षे तु 'येनाह शब्देन प्रवर्त्तित स किं प्रवर्त्तनायोग्यो न वा' इति  
यावन्न प्रेक्षापूर्वकारी विमृशति तावन्न प्रवृत्तिं विदधाति । नहि 'शब्देनाह प्रवर्त्तित' इति  
'अवश्य प्रवर्त्तौ' इत्यसौ शब्दमात्रे समाश्रयसिद्धिर्न तत्कारित्वविरोधानुपपन्नात् । अतोऽपौरुषे-  
यात् शक्यासितप्रख्यात् शब्दात् कथं कस्यचित् प्रवृत्तिः स्यात् ? पौरुषेयस्यैव शब्दस्य  
प्रवर्त्तनायोग्यत्वोपपत्तेः । तत्राणेतु, कुतश्चिदात्मवामवसाय प्रेक्षापूर्वकारिण सदैव्यानुपदे-  
शादियं निश्चयं प्रवृत्तिसंभवात् । तस्मादपौरुषेयत्वे शब्दस्य पुरुषप्रवृत्तेरनङ्गत्वान्न  
'शब्दस्य भावना—प्रवर्त्तकत्व शब्दभावना' इति पक्षो घटते ।

अथ शब्द एव भावना, तदप्यसाम्प्रतम्, शब्दस्वरूपमात्रस्य भावनास्वभावत्वे  
घटादिशब्देऽपि भावनाप्रसङ्गात् तन्मात्रस्य अप्राप्यनिशिष्टत्वात् । तथा च 'लिङ्गो-  
द्गतव्यप्रत्ययप्रत्याख्यो विधिः ।' [ ] इति वचो विरुध्यते । तदेव शब्दभावना-  
स्वरूपस्य विचार्यमाणस्याऽव्यवस्थिते, कथं तया अर्थभावना भाव्येत ? यतो 'भाव्य-  
निष्ठो भावकव्यापारो भावना' इति सुव्यवस्थितः स्यात् । द्वैविध्योपवर्णनञ्चास्या  
गुण्युत्पत्तौ रभाव्यावर्णनान्न निशिष्यते । तन्न भावनास्वरूपोऽपि विधिर्घटते ॥ छ ॥

अपरे पुन नियोगे ग्व प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधि इत्याक्षते । तत्र चानेकधा

(१) प्रेक्षापूर्वकारी । (२) अन्यथा—शब्दमात्र समाश्रय प्रेक्षापूर्वकारित्वविरोधात् । (३)  
'अथ मतम्—अभिधेय भावना विधिलिङ्गाद्य इति अत्रोच्यते—प्रवृत्त सवतोऽर्थे वा प्रसङ्गात् कायतो  
गत । अस्मान्नाप्रियतर्हो रभाव्याव्याभिधेय न ॥ विधिरित्यनुपगम्यत । अभिधा चद्विधि सवशब्दाना  
यथास्वमभिधेयवत् तदभाव इति घटादिशब्देभ्योऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गः अस्माद्विपातः । —विधिवि० पू०  
२१ । (४) शब्दस्वरूपमात्रस्य । (५) लिङ्गोद्गतव्यप्रत्ययमलकाराणां विधिर्वाच्यः । —न्यायमु०  
पू० ५६० । लिङ्गोद्गतव्यप्रत्ययमात्रगता 'शब्दभावना'—अभिनिन्या० पू० ७५ । (६) शब्द  
भावना । (७) तुलना— यतावदुक्तं शब्दव्यापार शब्दभावनेति, तत्र 'शब्दात्तद्व्यापारोऽन्यन्तर  
भूतोऽन्यन्तरभूतो वा ?—अष्टसह० पू० ३१ । तत्त्वापत्तौ० पू० २६२ । 'या तु शब्दभावना न लिङ्गाद्य  
इति शीमारितकमुक्ति आ तु प्रतीतिविमवादादिप्रतिहता । न हि विधिवाक्यभ्राविस्वरूपो लिङ्गादि  
व्यव्यापारमनियत अतो मया प्रवर्त्तितव्याभिधेय मन्तव्यः '—न्यायपरि० पू० ३९८ । तत्ररह० पू० ४८ ।  
तस्मात्लिङ्गादिप्रत्ययविधेयप्रतिपादोऽष्टमाश्रयत्वादिना निरपत्ताया प्रवर्त्तकत्वं नियुक्तिरभवत् ।  
—व्याकरणभू० ३० पू० १५७ । (८) प्रवर्त्तकमतानुयायिनः । (९) तुलना—'कोऽर्थे नियोगो नाम ?  
निगन्ता निगन्ताया यागाद्यो मुक्ति निरवगाथा योय निगन्ता । निरवगाथत्वम् अयोगस्य मनागप्य  
भावात्, अवयवकृतस्य हि नियोगः ॥ नियोगप्रामाणिका हि नियोगप्रतिपत्तिमात्रतः प्रवर्त्तत ।  
—प्रमाणार्थनिर्णयः पू० १४ । नियुक्ताऽहमनन वाच्यमिति निरवगाथा योय निगन्ता, तत्र मनागप्य  
यागाद्यवगाथा मन्त्रभावात् । —तत्त्वापत्तौ० पू० २६१ । अष्टसह० पू० ५ । यदपि दर्शनम्—  
प्रमाणानुसारात् शब्दमात्रालम्बना नियुक्ताऽहमिति प्रत्यात्मवदनाय मुखादिवत् अपरगम्यत्वात् त्रया

विप्रतिपत्ति—केचित् लिङादिप्रत्ययार्थो नियोग इत्यातिष्ठन्ते । -

“प्रत्ययार्थो नियोगश्च यत् शुद्ध प्रतीयते ।

कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्ध कार्यमसौ मत ॥” [प्रमाणवातिकाल० पृ० २९ ।]

इत्यभिधानात् । अन्ये तु प्रेरकत्वमेव नियोग इति ब्रुवते ।

“प्रेरणैव नियोगोऽत्र शुद्धा सर्वत्र गम्यते ।

नाप्रेरितो यत् कश्चिन्वियुक्त सैव प्रपद्यते ॥” [प्रमाणवातिकाल० पृ० २९ ।]

प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इति चापरे मन्यन्ते ।

“मैमदं कार्यमित्येव ज्ञातं पूर्वं यदा भवत् ।

स्वसिद्धौ प्रेरक तत्स्यादन्यथा तच्च सिद्ध्यति ॥” [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० ।]

कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इति चान्ये ।

“प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणह विना क्वचित् ।

ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसङ्गता ॥” [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०]

लिङादीनामर्थो विधिरिति । -विधिरिति० पृ० ४८ ।

(१) तुलना—केषाञ्चिन्लिङादिप्रत्ययाद्य गुढोऽयनिरपेक्ष कारुरूपो नियोगः । -अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वाधस्तो० पृ० २६१ । (२) ‘शब्दान्तराणि स्वायपु भ्युत्पद्यन्त यथैव हि । आवापोडा पभवेन तथा काय लिङादयः ॥ लिङादियुक्तवाक्यश्रवणं तद्भावाभाविन्या प्रवक्ष्या विनिष्टकार्यावगतिमनुमाय वाक्यस्य तावदनुतामध्यवस्यति । तत्रापि कोऽयमात्र केन शब्दानाभिहित इति विवचने लिङाद्यावापेन कार्यावगतिदानात् तदुद्धारे चादशनात् त एव कार्यावगतिं कुर्वन्तीति शब्दान्तरवत् लिङादीनां कायवाचकत्वव्युत्पत्तिसिद्धिः कायमेव हि सर्वत्र प्रवृत्तावेकारणम् । प्रवक्ष्यभ्यभिचारित्वाल्लिङाद्यर्थोऽभिधीयते ॥ (पृ० १७९) कायस्यैव प्रधानत्वाद् वाक्यायत्वञ्च युज्यते । वाक्यं तद्वै हि प्राहुर्नियोज्यविषयाविनयम् ॥’—प्रक० पृ० ५० पृ० १८८ । अतः कुत्सो वेद कार्यपरत एव प्रमाणम् । इदमेव काय मानान्तरागोचरत्वादपूर्वमिति स्वात्मनि पुरुष नियुञ्जन् नो नियोग इति गीयते । -तत्र रह० पृ० ६६ । लिङादेरवगम्यमानं कायरूपं प्रेरणाभाच्च वाक्यार्थो नियोगः । -वायम० पृ० ३५५ । (३) नियोग—आ० टि० । तुलना—प्रत्ययार्था नियोगश्च यत् शुद्ध प्रतीयते । कायरूपश्च तेनात्र शुद्ध कायमसौ मतः ॥ विषयश्च तु यत्तस्य किञ्चिदयत्प्रतीयते । प्रत्ययार्थो न तद्युक्त आश्रय स्वगकामवत् ॥ प्रेरकश्च तु यत्तस्य विषयमिहोपपद्यते तस्याप्रत्ययवाक्यत्वात् शुद्ध काय नियोगता ॥’—अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वाधस्तो० पृ० २६१ । प्रमाणवातिकाल० पृ० २९ । (४) परेषां शुद्धा प्रेरणा नियोग इत्यादि । -अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वाधस्तो० पृ० २६१ । तत्र शुद्धा प्रेरणा नियोग इति पक्षः प्रेरणायां नियोज्यतारूपत्वात् यागनिरूपितनियोज्यतावान् स्वगकाम इत्यवमाद्यो बोधः । ततो नियोज्येन नियोजकाक्षपात् यागविषयक स्वगकामीय नियोजकमित्योपादानिकापूर्वविषयो द्वितीय इत्यादि बोध्यम् । -अष्टसह० यशो० पृ० ४९ A । (५) स्व प्रवृद्धयते—अष्टसह०, तत्त्वाधस्तो० । (६) प्रयोक्तु—आ० टि० । (७) आस्ता तावत्त्रया त्रिके गमनागमनादिका । अन्तःस्तनपानादित्स्फुटिका यपि या त्रिया ॥ सा यावत्तत्र काययमिति नवावधारयते । तावत् कदापि न तत्र प्रवृत्तिरभवत् हि ॥’—प्रक० पृ० ५० पृ० १७७ । (८) ज्ञानं पूव स्वसिद्धये—तत्त्वाधस्तो० पृ० २६१ । (९) तुलना—प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० । अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वाधस्तो० पृ० २६१ ।

यते—एका परवशस्य, अन्या तु प्रेक्षापूर्वकारिणः । तत्राद्यपक्षे हठाद् यागादिकर्मणि  
 बौद्धादेरपि प्रवृत्तिः शब्देन क्रियतां पुरुषस्वातन्त्र्याभावात् । न खलु बलवज्जलप्रभञ्जन-  
 प्रेरितस्य स्वातन्त्र्याभावे हठात्प्रवृत्तिर्न दृष्टा ‘अनिच्छन्नप्यहं प्रभञ्जनादिना प्रेरितः प्रवर्त्तते’  
 इति प्रतीतेः । द्वितीयपक्षे तु ‘येनाहं शब्देन प्रवर्त्तितः स किं प्रवर्त्तनायोग्यो न वा’ इति  
 यावन्न प्रेक्षापूर्वकारी विमृशति तावन्न प्रवृत्तिं विदधाति । तर्हि ‘शब्देनाहं प्रवर्त्तितः’ इति  
 ‘अवश्यं प्रवर्त्तते’ इत्यसौ शब्दमात्रे समाप्तिरिति तत्कारित्वविरोधानुपपन्नात् । अतोऽपौरुषे-  
 यात् क्वाकवासितप्रख्यात् शब्दात् कथं कस्यचित् प्रवृत्तिः स्यात् ? पौरुषेयस्यैव शब्दस्य  
 प्रवर्त्तनायोग्यत्वोपपत्तेः । तत्पणेतुः कुतश्चिदाप्ततामवसाय प्रेक्षापूर्वकारिणः सदैवाद्युपदे-  
 शादिय निःशङ्कं प्रवृत्तिसंभवात् । तस्मादपौरुषेयत्वे शब्दस्य पुरुषप्रवृत्तेरनङ्गत्वान्न  
 10 ‘शब्दस्य भावना—प्रवर्त्तकत्वं शब्दभावना’ इति पक्षो घटते ।

अथ शब्द एव भावना; तदप्यसाम्प्रतम्; शब्दस्वरूपमात्रस्य भावनास्वभावत्वे  
 घटादिशब्देष्वपि भावनाप्रसङ्गात् तन्मात्रस्य अत्राप्यविशिष्टत्वात् । तथा च “लिङ्गो-  
 दृतव्यप्रत्ययप्रत्याध्यो विधिः ।” [ ] इति यत्रो विरुध्यते । तदेवं शब्दभावना-  
 स्वरूपस्य विचार्यमाणस्याऽऽव्यवस्थितेः कथं तस्या अर्थभावना भाव्यते ? यतो ‘भाव्य-  
 15 निष्ठो भावकव्यापारो भावना’ इति मुख्यस्थितं स्यात् । द्वैविध्योपवर्णनञ्चास्याः  
 उपपत्तौ सौभव्यावर्णनान्न विशिष्यते । तन्न भावनाल्लपोऽपि विधिर्घटते ॥ छ ॥

अपरे पुनः नियोगे एव प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः इत्याचक्षते । तत्र चानेकधा

(१) प्रेक्षापूर्वकारी । (२) अन्यथा—शब्दमात्रे समास्वावे प्रेक्षापूर्वकारित्वविरोधात् । (३)  
 “अथ मतम्—अभिधैव भावना विधिलिङाद्यर्थ इति, अत्रोच्यते—प्रवृत्ते सर्वतोऽर्थे वा प्रसङ्गात् कार्यतो  
 गते । अस्मान्नाभिधैवतोरभावाच्चाभिधैव न ॥ विधिरित्यनुषज्यते । अभिधा चेद्विधिः सर्वशब्दानां  
 यथास्वमभिधैवेपु तद्भाव इति घटादिशब्देभ्योऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गः अस्याविशेषात् ।” —विधिवि० पृ०  
 २१ । (४) शब्दस्वरूपमात्रस्य । (५) “लिङ्गोदृतव्यप्रत्ययमलकाराणां विधिविधिः ।” —न्यायपु०  
 पृ० ५६० । “लिङ्गोदृतव्यप्रत्ययमात्रगता शब्दभावना” —जैमिनिन्या० पृ० ७५ । (६) शब्द-  
 भावनया । (७) तुलना—“यत्तावदुक्तं शब्दव्यापार शब्दभावनेति; तत्र शब्दात्तादव्यापारोऽन्यन्तर-  
 भूतोऽन्यन्तरभूतो वा ?—अष्टसह० पृ० ३१ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । “या तु शब्दभावनेव लिङाद्यर्थ  
 इति कुमारिलकुसुति मा तु प्रतीतिविमवादादिप्रतिहता । न हि विधिवाक्यत्राधिपुरुषो लिङादि-  
 म्बव्यापारमभिधत्ते अतो मया प्रवर्त्तितव्यमिति मन्यते ” —न्यायपरि० पृ० ३९८ । तत्त्रह० पृ० ४८ ।  
 “तस्माल्लिङादिजन्यबोधविषयाऽभिधाय इष्टसाधनत्वादिज्ञाननिरपेक्षायाः प्रवर्त्तकत्वं नियुक्तिरमेव ।”  
 —वैयाकरणभू० ३० पृ० १५७ । (८) प्रभाकरमतानुयायिन । (९) तुलना—“कोऽयं नियोगो नाम ?  
 निबन्धो निषेधार्थं यागार्थं युक्तिः । निरवशेषो योग नियोगः । निरवशेषत्वम् अयोगस्य मनागप्य-  
 भावान्, अवश्यकर्तव्यता हि नियोगः ॥ नियोगप्रामाणिका हि नियोगप्रतिपत्तिमानत प्रवर्त्तते !”  
 —प्रमाणार्थात्मकं पृ० १४ । “नियुक्तोऽहमेनेन वाक्येनेति निरवशेषो योग नियोगः, तत्र मनागप्य-  
 यागादिकायां सम्भवाभावात् ।” —तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । अष्टसह० पृ० ५ । “यदपि दर्शनम्—  
 प्रमाणान्तरागोचर शब्दमात्रालम्बनो नियुक्तोऽस्मीति प्रत्यात्मवेदनीय गुणादिबन् अपरामृष्टबालप्रयो



चिप्रतिपत्तिः—केचित् लिङादिप्रत्ययार्थो नियोगः इत्यालिङ्गन्ते ।

“प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते ।

कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥” [प्रमाणवातिकाल० पृ० २९ ।]

इत्यभिधानात् । अन्ये तु प्रेरकत्वमेव नियोगः इति ब्रुवते ।

“प्रेरणैव नियोगोऽत्र शुद्धा सर्वत्र गम्यते ।

नाप्रेरितो यतः कश्चिच्चियुक्तं स्वं प्रपद्यते ॥” [प्रमाणवातिकाल० पृ० २९ ।]

प्रेरणासहितं कार्यं नियोगः इति चापरे मन्यन्ते ।

“भेदं कार्यमित्येव ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् ।

स्वसिद्धौ प्रेरक तत्स्यादन्यथा तच्च सिद्ध्यति ॥” [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० ।]

कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इति चान्ये ।

“प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणैव विना क्वचित् ।

ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसङ्गता ॥” [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०]

लिङादीनामर्थो विधिरिति ।—विधिवि० पृ० ४८ ।

(१) तुलना—“केपाञ्चिल्लिङादिप्रत्ययार्थं शुद्धोऽन्यनिरपेक्षं कार्यरूपो नियोगः ।”—अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । (२) “शब्दान्तराणि स्वार्थेषु व्युत्पद्यन्ते यथैव हि । आवापोऽपभेदेन तथा कार्यं लिङादयः ॥ लिङादियुक्तवाक्यध्वनौ तद्भावभाविन्या प्रवृत्त्या विशिष्टवाक्यविगतमनुमाय वाक्यस्य तावदेतुतामध्यवस्यति । तत्रापि कोऽयं भागः केन शब्दाद्येनाभिहित इति विवेचनं लिङाद्यावापेन कार्यावगतिवर्धनात् तदुदारे चादर्शनात् त एव कार्यावगतिं कुर्वन्तीति शब्दान्तरवत् लिङादीनां कार्यावाचकत्वव्युत्पत्तिसिद्धिः कार्यमव हि सर्वत्र प्रवृत्तायेककारणम् । प्रवृत्त्यव्यभिचारि-त्वाल्लिङाद्यर्थोऽभिधीयते ॥ ( पृ० १७९ ) कार्यस्यैव प्रधानत्वाद् वाक्यार्थत्व च युज्यते । वाक्यं तदव हि ग्राह्यं नियोज्यविषयान्वितम् ॥”—प्रक० पृ० ५० पृ० १८८ । “अतः कृत्स्नो वेद कार्यपरत एव प्रमाणम् । इदमेव कार्यं मानान्तरागोचरत्वादपूर्वमिति, स्वात्मनि पुरुषं नियुञ्जानो नियोग इति गीयते ।”—तन्त्र-सह० पृ० ६६ । “लिङादेरवगम्यमानं कार्यरूपं प्रेरणात्मा च वाक्यार्थो नियोगः ।”—न्यायम० पृ० ३५५ । (३) नियोग—आ० टि० । तुलना—“प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते । कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥ विषयणं तु यतस्य किञ्चिदन्यत्प्रतीयते । प्रत्ययार्थो न तद्युक्तं धात्वर्थ-स्वर्गकामवत् ॥ प्रेरकत्वं तु यतस्य विषेयणमिहेष्यते तस्याप्रत्ययवाच्यत्वात् शुद्धे कार्ये नियोगता ॥”—अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । प्रमाणवातिकाल० पृ० २९ । (४) “प्रेरणा शुद्धा प्रेरणा नियोग इत्याशयः ।”—अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । “तत्र शुद्धा प्रेरणा नियोग इति पक्षे प्रेरणायां नियोज्यतारूपत्वात् यागनिरूपितनियोज्यतावान् स्वर्गकाम इत्यवमाद्यो बोधः । ततो नियोज्येन नियोजकाक्षेपात् यागविषयक स्वर्गकामीय नियोजकमित्योपादानिकोऽयं विषयो द्वितीय इत्यादि बोध्यम् ।”—अष्टसह० पृ० ४९ A । (५) ‘स्व प्रवृद्धयते’—अष्टसह०, तत्त्वार्थश्लो० । (६) प्रयोक्तु—आ० टि० । (७) “आस्तां तावत्क्रिया लोके यमनागमनादिका । अन्तः स्तनपानादिस्तु-कार्येण या क्रिया ॥ सा यावन्मम कार्येयमिति नैवावधार्यते । तावत् कदापि न तत्र प्रवृत्तिरभवत् हि ॥”—प्रक० पृ० ५० पृ० १७७ । (८) ‘ज्ञानं पूर्वं’—स्वसिद्धयै—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । (९) तुलना—प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० । अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ ।

कार्यस्यैव उपचारत प्रवर्त्तकत्व नियोग इत्यपरे ।

“प्रेरणाविषय कार्यं नै च तत्प्रेरक स्वत ।

व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमय उपचर्यते ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० ]

कार्यप्रेरणयो सम्बन्धो नियोग इत्यन्ये ।

“प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् ।

कार्यं वा प्रेरणायोगो नियोगैस्तेन सम्मत ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० ]

सत्समुदायो नियोग इत्येके ।

“परस्परविनाभूत द्वयमतत् प्रतीयत ।

नियोग समुदायोऽस्मात् कार्यप्रेरणणयोर्मत ॥” [ प्रमाणवातिकाल पृ० ३० ]

तदुभयस्यभार्षधिर्निमुक्त परमात्मस्वभावो नियोग इति केचित् ।

“सिद्धमक यतो बर्हं गतेषाम्नायत सदा ।

सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्ररक कुत एव तत् ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० ]

र्यन्त्रारूढो नियोग इत्यपरे ।

“कामी यत्रैव य कश्चिन्नियोगे सति तत्र स ।

विषयारूढमात्मान मन्यमान प्रवर्त्तते ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० ]

भोग्यरूपो नियोग इत्यपरे ।

“ममेद् भोग्यमित्येव भोग्यरूप प्रतीयत । ममत्वन च विज्ञान भाक्त्यैव व्यवस्थितम् ॥

स्वामित्वनाभिमानो हि भोक्तुर्यत्र भवदयम् । भोग्य तदव विज्ञय तदव स्व निरुध्यत ॥

साध्यरूपतया येन ममदमिति गम्यत । तत्प्रसाध्यन रूपेण भोग्य स्व व्यपदिश्यत ॥

“सिद्धरूप हि यद् भोग्य न नियोग स तावता । साध्यत्वान्नह भोग्यस्य प्रेरकत्वाभियोगता ॥”

[ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० । ]

पुरुष एव नियोग इति चापरे ।

“ममद् कार्यमित्येव मन्यत पुरुष सदा ।

पुस सार्यविशिष्टत्वं ‘नियोगोऽस्य च वाच्यता ॥’ [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० । ] इति ।

(१) प्रवर्त्तकत्वम-आ० शि० । (२) कार्यप्रेरणयो याव 'तत्त्वाद्यंशलो० । (३) विनियोग-परत्वम-आ० टि० । (४) ज्ञानम-आ० टि० । (५) ज्ञातम्-आ० टि० । (६) यन्त्रारूढो दृष्टा न्ततया यत्र स यन्त्रारूढो विषयारूढत्वाभिमानो नियोग इत्ययं । यत्रत स्वगकाम इत्यतो यागारूढत्वाभिमानवान् स्वगकाम इति बोधः । -अष्टसह० यज्ञो० पृ० ४६ B । (७) स्वस्वामिभावो ज्ञातित-आ० शि० । एवं निरूप्यते-प्रमाणवातिकाल० । (८) नियोग स्यादवाधित-तत्त्वाद्यंशलो० । कायस्य सिद्धौ जाताया तल्लुक्त पुरुष सदा । भवत्साधित इत्येव पुमान् वाक्याय उच्यते ॥ -प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० । अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वाद्यंशलो० पृ० २६२ ।

१ न तावत्प्र-ब० नचंतप्रे-थ० । ३-विनिमुक्तपरभा-आ० । ३ इत्यन्य थ०, व० । ४ तदेवं स्व आ० । ५ निरूप्यते आ० व० । ६-ता इति पुरुष थ० । ७ नियोग्यस्य थ० ।

तदप्यविचारितरमणीयम्; यतो नियोज्यप्रेरणानिरपेक्षस्य कार्यस्य नियोगरूप-  
तोपगम्यते, तत्सापेक्षस्य वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः, तन्निरपेक्षस्य कार्यमात्रस्य  
अप्रवृत्तिहेतुतया नियोगत्वानुपपत्तेः । तत्सापेक्षस्य तु नियोगत्वे कथं कार्यस्यैव नियोग-  
रूपता ? त्रितयस्यापि प्रवृत्तिहेतुतया तद्रूपताप्रसङ्गात् । 'प्रेरणा नियोगः' इत्यप्यनेनापा-  
स्तम्, नियोज्यादिनिरपेक्षायां प्रेरणायाः प्रलापमात्रतया नियोगरूपतानुपपत्तेः । 5  
प्रेरणासहितं कार्यं नियोगः; इत्यप्ययुक्तम्, नियोज्याभावे नियोगस्यैवानुपपत्तेः । कार्य-  
सहिता प्रेरणा नियोगः इत्यप्यनेन निरस्तम् । कार्यस्यैवोपचारात् प्रवर्तकत्वं नियोगः,  
इत्यप्यसारम्, नियोज्यादिनिरपेक्षस्यास्य प्रवर्तकत्वोपचारायोगात् । कार्यप्रेरणयोः  
सम्बन्धोऽपि सम्बन्धिभ्योऽर्थान्तरभूतः सन्, अनर्थान्तरभूतो वा नियोगरूपतां प्रति-  
पद्यते ? न तावदर्थान्तरभूतः ; तर्थाभूतस्य सम्बन्धस्यैवाऽसंभवतो नियोगरूपतानुपपत्तेः । 10  
सम्बन्धात्मनोऽपि सम्बन्धस्य प्रेयमाणपुरुषनिरपेक्षस्य नियोगरूपतानुपपत्तिरेव । समु-  
दायनियोगवादोऽप्यनेनैव प्रतिव्यूढः । कार्यप्रेरणाविनिर्मुक्तस्तु नियोगो ब्रह्माद्वैतमव-  
लम्ब्यते, तच्च प्रागेवं कृतोक्तम् । यत्पुनः 'स्वर्गकामः पुरुषोऽग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे  
सति यागलक्षणं विषयमारूढमात्मानं मन्यमानं प्रवर्तते' इति यन्त्रारूढनियोगाभिधानम्,  
तदप्यचारि; अपौरुषेयवाक्ये नियोक्तव्यस्य निराकृतत्वाभिप्रायिष्यमाणत्वाच्च । 15

(१) नियोज्य प्रेरणाञ्चानपेक्षमाणस्य—आ० टि० । तुलना—“प्रेरणारहितं कार्यं नियोज्येन  
निर्वाजितम् । नियोगो नैव कस्यापि नियोग इति कीर्त्यते ॥ वृत्तिनियोगशब्दस्य श्रुते कार्यं यदा मता ।  
सन्नामात्रानियोगत्वं भवत्केन निवायते ॥ युक्तस्तु पृथक् कार्यं यत्र नैव प्रतीयते ॥ नियोगं स कथ-  
न्नाम सिद्धातीतादिबोधवत् ॥ नियोजकस्य धर्मोऽयं नियोगो लोकसम्मतः । तदेव कार्यमिति चेत्,  
सिद्धत्वात्तस्य साध्यता ॥ साध्यत्वेन नियोगोऽयमिति चेद्वक्ष्यदिस्यते । विषये तस्य तत्त्वेनोपचारात्  
प्रकीर्तनम् । असिद्धस्य च तस्यास्तु कथं प्रेरकरूपता ॥ साध्यत्वेनावबोधोऽस्य प्रेरकत्वं यदीष्यते ।  
अप्रसिद्धस्य साध्यत्वं बोधं सिद्धात्मकस्य च ॥ परस्परविरुद्धत्वमेकस्य कथमिष्यते । साध्यरूपतया तस्य  
प्रतीतिं प्रेरिका यदि । नियोगत्वं प्रतीते स्यात् नियोगस्य तत्त्वतः ॥”—प्रमाणवार्तिककाल० पृ० ३२-  
३३ । 'प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य नियोगस्यासंभवात् । तस्मिन्नियोगकरणे स्वकम्बलस्य कूर्वालिकेति  
नामान्तरकरणमात्रं स्यात् ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६५ । अष्टसह० पृ० ९ । (२) नियोज्यप्रेरणाकार्य-  
रूपस्य—आ० टि० । (३) नियोगरूपता—आ० टि० । (४) 'नियोज्यकण्ठरहिताया प्रेरणायां  
प्रलापमानत्वात् ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६५ । अष्टसह० पृ० १० । (५) “नियोज्यविरहे नियोगवि-  
रोधात् ।”—अष्टसह० पृ० १० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । (६) अत्रापि नियोज्याभावात्—आ० टि० ।  
(७) 'नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य प्रवर्तकत्वोपचारायोगात्, कदाचित् क्वचित् परमार्थतस्तस्य तथा-  
नुपलम्भात् ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । अष्टसह० पृ० १० । (८) 'ततो भिन्नस्य सम्बन्धस्य  
सम्बन्धिनिरपेक्षस्य नियोगत्वापत्त्यात् । सम्बन्ध्यात्मन सम्बन्धस्य निषेधत्वमित्यपि दुरन्वयम्, प्रेय-  
माणपुरुषनिरपेक्षयो सम्बन्धात्मनोरपि कार्यप्रेरणयोर्नियोगत्वानुपपत्तः ।’—अष्टसह० पृ० १० ।  
तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । (९) सम्बन्धिभ्यां भिन्नस्य । (१०) पृ० १५० । (११) तुलना—“यन्त्रा-  
रूढतया भोग्यभोक्तयो सम्बन्ध उच्यते । न सम्बन्धोऽस्ति भोग्यात्मा रूढश्च न नरस्तदा ॥ प्रतीतिकाले

भोग्यरूपस्तु नियोग फलस्वभावविधिनिरासेनैव निरस्त । पुरुषस्वभावत्वे तु नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसङ्ग तस्य शाश्वतिकत्वात् ।

किञ्च, किमयं नियुक्ते इति नियोग, किं वा नियुक्ति, नियुज्यतेऽनेन इति वा ? तत्र प्रथमपक्षोऽनुपपन्न, नियुक्तिक्रियाया कर्तृत्वस्य प्रेशानद्धर्मतया कार्यादिस्वभावे  
 ५ नियोगे सभवाभावात् । नहि 'अमुष्मै प्रयोजनाय अमुमहं नियोक्ष्ये' इति यस्य नास्ति परामर्शं तस्य नियोक्तृत्वोपपन्ना, स्याम्यादौ तत्पराक्षेपत्वेव अस्या प्रतीते ।  
 सलिलसमीरणन्यायेन नियोक्तृत्वे च प्रागुक्तदोषानुपपन्न । नहि नियोक्तृमात्रसद्भावत  
 कश्चित् प्रवर्तते, यावत् तदनुविधेयतामात्मनो न प्रतिपद्येत । 'नियुक्तिर्नियोगं नियु-  
 ज्यतेऽनेनेति' वा' इत्यन्यनुपपन्नम्, भावकरणयोः कर्तृकर्मापेक्षत्वात्, तयोश्चासभवे भाव-  
 १० करणयोरप्यसभवात् । न ह्यत्र कश्चिन्नियोक्ता विद्यते । शब्दस्य च नियोक्तृत्व  
 प्रागेव प्रतिपिद्धम् ।

किञ्च, अयं नियोग शब्दव्यापाररूप, पुरुषव्यापाररूप, उभयरूप, अनु  
 भयरूपो वा ? प्रथमपक्षे शब्दभावनापक्षनिक्षिप्तदोषानुपपन्न, शब्दव्यापारस्य शब्दभाव-  
 नारूपत्वात् । द्वितीयपक्षे तु अर्थभावनापक्षोक्तदूषणप्रसङ्ग पुरुषव्यापारस्य अर्थ-  
 १५ भावनास्वभावत्वात् । उभयपक्षेऽपि उभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुपपन्न ।

अनुभयपक्षेऽप्यसौ विषयस्वभाव, फलस्वभाव, नि स्वभावो वा स्यात् ? यवि  
 विषयस्वभाव, तदाऽसौ यागादिविषय "अग्निष्टोमं यजेत स्वर्गकाम" [ ] इत्यादि  
 नियोक्तृवाक्यकाले अस्ति, न वा ? यदि नास्ति, तर्हि तत्स्वभावो नियोगोऽपि नास्तीति  
 कथमसौ खण्ड्यद्वयार्थं स्यात् ? बुद्धशारूढस्य भोचिनस्तस्य वाक्यार्थत्वे  
 सबस्य साध्यत्वेनास्वरूपता । तदेव तस्य रूपञ्चत् साध्यत्वस्य हानित ॥'-प्रमाणवातिकाल० पृ०  
 १४ । तदपि न परमात्मवादप्रतिबूलम्, पुरुषाभिमानमात्रस्य नियोगत्ववचनास्तस्य च अविद्योदयनि  
 वचनत्वात् ।'-अष्टसह० पृ० १० । तत्वापश्लो० पृ० २६६ ।

(१) नियोक्तृताया । (२) यथाहि समीरण अभिप्रायभूत्योऽपि सलिल समीरयति तथैव  
 अभिप्रायरहितस्यापि नियोक्तृता स्यादित्युक्ते प्राह । (३) प्रायश्चित्तव्यवस्थादि-भा० जि० । (४)  
 तुलना- 'अपि च नियोक्तृव्यापारो नियोगो न नियोक्तृविनाशकत्वयते । न चास्य सभवा अरीत्य  
 यत्वाभ्युपगमात् । -विधिवि० पृ० ६० । (५) तुलना- सत्र च वाक्यार्थे अष्टप्रकारो भव-प्रमाण  
 किं नियोगं स्यात् प्रमेयमयवा पुन । उभयानु विहीनो वा द्वयव्यवस्थावा पुन ॥ शब्दव्यापाररूपो वा  
 व्यापार. पुरुषस्य वा । द्वयव्यापाररूपो वा द्वयव्यापार एव वा । -प्रमाणवातिकाल० पृ० ११ ।  
 तत्वापश्लो० पृ० २६२ । अष्टसह० पृ० १० । (६) तुलना- नियुज्यमानविषयनियोक्तृणा यदीप्यते ।  
 धर्मो नियोग सत्र न शब्दार्थोऽवतिष्ठते ॥ नियोज्यधमभावे हि तस्यानुपपत्तयता कुत । सिद्धोऽपि यद्यनु  
 पपत्तयो नानुपपत्तिरिति भवेत् ॥'-प्रमाणवातिकाल० पृ० १६ । सोऽपि विषयस्वभावो वा स्यात् फलस्व  
 भावो वा, नि स्वभावो वा ? -अष्टसह० पृ० ८ । तत्वापश्लो० पृ० २६२ । (७) तुलना- विषय  
 धमतायामपि विषयस्यापरिनिवृत्त स्वरूपाभावात् कथं शब्दादगो प्रत्यत शक्य ? -प्रमाणवातिकाल०  
 पृ० १७ । अष्टसह० पृ० ८ । (८) विषयस्वभाव । (९) मविष्यतो यागादेर्विषयस्य ।

१ नियोक्तृतानुपपन्ना थ० । २-पञ्चत आ० । ३-तिष्ठेत्य-थ०, -ति इत्य-आ० । ४-दूषणगण  
 प्र-व० । ५ उभयदोषानुपपन्न थ० ।

सौगतमतानुसरणप्रसङ्ग । अथ तत्काले सोऽस्ति, एवमपि न नियोगो वाक्यार्थ, तस्य यागादिनिष्पादनार्थत्वात् । न चानैयोस्तादात्म्ये स्वात्मैव स्वात्मनो निष्पादको युक्तो विरोधात्, निष्पन्नस्य यागादे पुरुषादिवनिष्पादनविरोधाच्च । अथ तस्य किञ्चिदनिष्पन्न रूपमस्ति तन्निष्पादनार्थो नियोग, तर्हि तत्स्वभावो नियोगोऽप्यनिष्पन्न इति कथं वाक्यार्थः ? कल्पनारूढस्य वाक्यार्थत्वे स एव सौगतमतानुप्रवेश । फलस्वभावो नियोग, इत्यप्युक्तम्, नहि स्वर्गादिफल नियोगो घटते फलान्तरपरिक्ल्पनप्रसङ्गात्, निष्फलस्य नियोगस्यानुपपत्तेः । फलान्तरस्य च फलस्वभावनियोगवादिना नियोगत्वापत्तौ तदन्यफलकल्पने अनवस्थाप्रसङ्गः । फलस्य च वाक्यकालेऽसन्निहितत्वात् तत्स्वभावो नियोगोऽप्यसन्निहित एवेति कथं वाक्यार्थः ? बुद्ध्यारूढस्य वाक्यार्थत्वे परमैतप्रवेश-प्रसङ्गः । 'नि स्वभावो नियोग' इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम् नि स्वभावस्यास्य अन्यापोह-त्वानतिक्रमात् ।

किञ्च, अथ नियोग प्रवर्त्तकस्वभाव, अप्रवर्त्तकस्वभावो वा ? प्रथमपक्षे प्रभाकरवत् साध्यागतादीनामपि प्रवर्त्तक स्यात् तस्य सर्वथा प्रवर्त्तकस्वभावत्वात् । तेषां विपर्यासादप्रवर्त्तक इति चेत् न, 'भयंतामपि विपर्यासात् प्रवर्त्तक' इत्यपि यच्छ सुशक्तत्वात् । अथाप्रवर्त्तकस्वभावोऽसौ, तर्हि सिद्धस्तस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभाव, स च वाक्यार्थत्वाभाव साधयति । न च अग्निष्टोमादिवाक्ये विपर्यादिपदार्थवाचकपदव्यतिरेकेण विपर्ययफलयो मध्यवर्त्तिन तदस्यस्य वा नियोगस्य वाचक किञ्चित्पदमस्ति, यत् सोऽपि विपर्यादिवत् पदार्थता प्रतिपद्येत । न चापेक्षार्थो वाक्यार्थो भवितुमर्हति, अन्यो

(१) वाक्यप्रयोगकालः । तुलना— अथ तद्वाक्यकाले विद्यमानोऽसौ तर्हि न नियोगो वाक्य स्यात् तस्य यागादिनिष्पादनार्थत्वात् निष्पन्नस्य च यागादे पुननिष्पादनयोगात् । —अष्टसह० पृ० ८ । (२) नियोगस्य । (३) विपर्ययनियोगयो आ० द्वि० । (४) यागादे । (५) तुलना— द्वितीय पक्षेऽपि नासौ नियोग फलस्य भाव (भावि) त्वेन नियोगत्वाघटनात् तदा असन्निधानाच्च । तस्य वाक्या र्थत्वे निरालम्बनशब्दवादाश्रयणात् कुत प्रभाकरमतसिद्धिः ? —तत्त्वावशतो० पृ० २६२ । अष्टसह० पृ० ८ । (६) सुगतमतः । (७) स हि प्रवर्त्तकस्वभावो वा स्यादतत्स्वभावो वा ? —तत्त्वावशतो० पृ० २६४ । अष्टसह० पृ० ८ । (८) तुलना— निमुक्तेन निवृत्तिश्चेत् (?) सवस्यात् प्रसज्यते । तत्स्वभाववत्या काशमनाकाश न कस्यचित् ॥ स्वभावोऽपि विपर्यासादयथा यदि गम्यते । विपर्यासा विपर्ययस्यवस्था क करिष्यति ॥ —प्रमाणवातिकाल० पृ० १५ । (९) नियोगस्य । (१०) सौगतादीनाम् । तुलना— तेषां विपर्यासादप्रवर्त्तक इति च त परेषामपि विपर्यासात् प्रवर्त्तकोऽस्तु । सत्य हि वक्तुम्—प्राभाकरा विपर्ययस्तत्वात् शब्दनियोगात् प्रवर्त्तन्ते नतरे, तेषामविपर्ययस्तत्वादिति । सौगतादयो विपर्ययस्ता तमतस्य प्रमाणवाधितत्वात् न पुन प्राभाकरा इयपि पक्षपातमात्रम् तमतस्यापि प्रमाणवाधितत्वाविशेषात् । —अष्टसह० पृ० ९ । तत्त्वावशतो० पृ० २६४ । (११) प्राभाकराणामपि । (१२) तुलना— पदार्थ एव वाक्यार्थो न च सोऽन्यगोचर । तत्र पदार्थस्यैव पदार्थान्तरोपकल्पित विपर्ययस्य वाक्यावत्त्वादपदार्थत्वे तदनुपपत्तिः । —विधिवि० पृ० ४९ ।

१—तानुसारेण प्र—आ० ब० । २—अथ किं प्र० । ३ इत्यप्यनेन ब० श्र० । ४ तथागता—श्र० । ५—स्वभावात् आ० । ६ इति वक्तुं आ०, श्र० ।

न्यसापेक्षपदान्तरनिरपेक्षपदार्थसमुदायलक्षणत्वाद् वाक्यार्थस्य । तन्न नियोगोऽपि वाक्यार्थो घटते ॥ छ ॥

येऽपि प्रेपणोध्येपणाभ्यनुज्ञालक्षणः प्रयोक्तृधर्मः प्रवृत्तिहेतुत्वेन प्रसिद्धो विधिः इत्यौमनन्ति, तेप्यतत्त्वज्ञाः; पुरुषसम्बन्धशून्येषु वेदवाक्येषु पुरुषधर्मतया प्रसिद्धानां प्रेपणादीनाम् अत्यन्तासंभवतो विधित्वकल्पनानुपपत्तेः । तत्र तेषां कल्पने वा पौरुषेयत्वानुपपन्ना अपौरुषेयत्वकल्पनानुपपत्तिरिति एकं सन्धित्सोरन्यत्रच्यवते । असत्कारपूर्विका हि व्यापारणा प्रेपणा उच्यते, सत्कारपूर्विका तु अध्येपणा, परेष्टस्य अप्रतिकूलवृत्तिरभ्यनुज्ञेति सर्वे एते प्रेपणादयः पुरुषगताशयविशेषस्त्वभावत्वाद् अपौरुषेयेषु वेदवाक्येषु न मनागपि सङ्गच्छन्ते इति ॥ छ ॥

अन्ये तु प्रेपादीनां प्रत्येक व्यभिचारात् अनेकशक्तिकल्पनादोपाच्च सर्वत्राऽव्यभिचारिणः प्रवर्तनामात्रस्यैकस्य विधित्वमिति प्रतिपन्नाः, तेप्यसमीक्षिततत्त्वाः; निर्विशो-

(१) "तत्र विधि प्ररूपम् भूत्यादनिष्कृत्य प्रवर्तनम् । निमग्नं नियोगकरणम्, आवश्यकं

वा । यथा अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादि ।"—न्यायभा० २।१।६३ । "यद्वाक्यं विद्यते इव कुर्यादिति स नियोगः । अनुज्ञा तु यत्कर्तारमनुजानाति तदनुज्ञावाक्यम् ।"—न्यायभा० ४० २६९ । "विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः । अभिधेयोजुमेया तु क्त्वरिष्टाभ्युपयता ॥ प्रवृत्त्यादौ इत्यादिपदानिवृत्तिः, विषयसप्तमीयम्, तेन प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयः आत्माभिप्रायो लिङर्थं इत्यर्थः । प्रवर्तकमिदसाधनताज्ञानमेव लिङर्थस्तवाप्ताभिप्रायो लाघवादिति भावः ।"—न्यायकुसु०, प्रका० ५।१५ । (३) "अपौरुषेये प्रेपादिनृधर्मो नावकल्पते । लोके हि प्रतीतः प्रेपणाध्येपणाभ्यनुज्ञालक्षणोऽभिप्रायातिशयप्रयोजनधर्मो लिङर्थः, तस्यापौरुषेयेषु वेदवाक्येष्वसंभवः । प्रतीते संभव इति चेत्, न; पौरुषेयत्वापत्तेः ।"—विधिवि० ५० २३ । "आज्ञादिस्तु न वेदार्थं पृथग्वत्त्वेन युज्यते ।"—न्यायकुसु० ४० ३७ । (४) वेदे । (५) पुरुषाभिप्रायरूपाणां प्रेपादीनाम् । (६) द्रष्टव्यम्—५० ५८० टि० ४ । (७) मीमांसकव्याकरणादयः । 'एतच्चतुष्टयानुमतप्रवर्तनात्वेन वाच्यता लाघवात् । उक्तञ्च—अस्ति प्रवर्तनारूपमनुस्यूतचतुर्वर्षि । तत्रैव लिङ् विधातव्यं किं भेदस्य विवक्षया ॥ न्यायव्युत्पादनाय वा प्रपञ्चायमप्यापि वा । विध्यादीनामुपादानं चतुर्णामादितः कृतमिति । प्रवर्तनात्त्वञ्च प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदकत्वम् । तच्चेष्टसाधनत्वस्यास्ति इति तदेव विध्यर्थः ।"—व्याकरणभू० ५० १४५ । "तत्र च प्रेपादीनां विशेषाणां व्यभिचारित्वेन अव्यावृत्त्यात् सर्वानुयायिनः प्रवर्तनासामान्यस्य वाच्यत्वेऽवगते ।"—न्यायकुसु० ४० ३० । "तत्र चावापोद्वापाम्या प्रवर्तनाया विधिशक्तिसमवधारयति । प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारः प्रवर्तनासंज्ञः च व्यापारः प्रेपादिरूपो विविध इति प्रत्येक व्यभिचारित्वाद्विधिशब्दवाच्यत्वानुपपत्तेः प्रवर्तनासामान्यमेव विधिशब्दवाच्यमिति कल्पयति ।"—मीमांसान्याय० ४० १८० । (८) 'न च प्रवर्तनामात्रमपि शपमकर्तृकम्' यदपि मतम्—अनेकसामर्थ्यपरिकल्पनादोपाद् व्यभिचाराच्च प्रेपादीनामव्यावृत्त्यादव्यभिचारात्प्रवर्तनामात्रं लोके लिङार्थं तस्य वेदेष्वुपपत्तिरिति; इदमप्यचतुरस्रम्, निर्विशेषसामान्यायोगात्, अकर्तृकत्वे व्यापारानुपपत्तश्च । न तावत् प्रेपादयो विशेषा सम्भविनः । नाप्यन्यो विशेषः कश्चिदुपदर्शयते । तदुपदर्शने वा सामान्यस्याभिधानमस्मिन्नवसरे व्यर्थम् । तदेतदपास्तसकलभेदः प्रवर्तनासामान्यं ब्राह्मणमिव समुज्जितकटादिभेदः स्यात् । प्रवर्तना च प्रवर्तयितुर्व्यापारः, स तमन्तरेण नातिविराजते, पुरुषस्याभावात् शब्दस्य च प्रवर्तकत्वनिषेधात् प्रवर्तयितुरभावः ।"—विधिवि० ५० २५-२६ ।

१-लक्षणप्रयो-आ० । २-प्रेपणादीनां अ० ।

पस्य सामान्यस्यैवाऽसंभवात् । यथैव हि खण्डादिविशेषशून्य गोत्वादि न संभवति, एवं परित्यक्तप्रेषादिविशेषं प्रवर्तनामात्रमपि । वेदस्य चाऽपौरुषेयत्वाभ्युपगमे पुरुषग-  
ताशयविशेषस्वभावानां प्रेषादिविशेषाणामसंभवात् का प्रवर्तनामात्रस्य संभावनापि ?

यच्चोक्तम्—‘प्रेषादीनां व्यभिचारात्’ इत्यादि; तदयुक्तम्; यथासंभवं यथास्व-  
रूपश्च प्रवर्तकत्वाभ्युपगमात् । यदा हि प्रेषणातः प्रवर्तते तदा तस्याः प्रवर्तकत्वम्, यदा  
तु अध्येषणातस्तदा तस्या इति । नहि ‘कदाचिदीर्घाः शुक्लादिस्वरूपास्तन्तव’ पदस्य  
जनकाः कदाचित्तु ह्रस्वा रक्तादिस्वभावा वा’ इत्येतावता तन्तुव्यतिरिक्तस्यान्यस्यैव  
कस्यचित्स्फोटोत्पत्तिं प्रति उपादानकारणत्वं युक्तं प्रतीतिविरोधात् ॥ छ ॥

अन्ये त्वाहुः—फलं प्रवर्तकम्, तद्व्यापारः प्रवर्तना । सर्वोऽपि हि प्रेक्षापूर्वकारी  
फलोद्देशेन प्रवर्तते, अतः फलस्य प्रवर्तकत्वम् । प्रीत्यात्मकता तस्य प्रवृत्तौ व्यापारः  
स एव च प्रवर्तना विधिरिति; तदप्यसङ्गतम्, फलस्य प्रवृत्तिहेतुत्वानुपपत्तेः । नहि  
अयगतमपि फलम् अर्थिता विना प्रवृत्तिहेतुः । सर्वस्य सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्गात् ।  
अर्थिता च न फलस्य व्यापारः, किन्तु प्रैतिपत्तुरिच्छारूपतया तर्द्धर्मत्वात् । अर्थ  
फलस्य प्रीत्यात्मकत्वमन्तरेण इच्छाया एथानुत्पत्तेः तर्द्धत्वादनद्वारेण फलधर्मस्य प्रीत्या-  
त्मकत्वस्य प्रवृत्तिहेतुत्वम्; नन्वेवमपि प्रीत्यात्मकत्वस्य फले एवाऽवस्थानात् तत्रैव  
आत्मनः प्रवृत्तिः स्यात् न कर्मणि । अतोऽर्थान्तरत्वात्तस्य । नह्यर्थैवमिलपितम् अन्यत्र

(१) पृ० ५८८ पं० १० । (२) प्रेषणाया विधित्वे अध्येषणाया विधित्वं न स्यात् अध्येषणाया  
विधित्वे च प्रेषणाया विधित्वमात्रं इति परस्परव्यभिचारः । प्रेषणादिषु प्रत्येकं शक्तिक्लपने गौरवमिति  
भावः । (३) जयन्तभट्टप्रभृतयः । ‘फलसर्वेष्टव्यमाणस्य पश्यन् प्रेरकता मतः’ । तस्मात्पुंस प्रवृत्तौ प्रभवति  
न विधिर्नापि शब्दो लिङादि । व्यापारोपेतदीयो न हि पटुरभिधा भावनानामधेया ॥ न श्रेय साधनत्वं  
विधिविषयगतं नापि रागादिरेव । तेनास्त्यत्काम्यमानं फलममलमिति प्रेरकं सूत्रकारः ॥ क्वचित्ता-  
क्षात्पदोपात्तं कचित्प्रकरणगतम् । क्वचिदालोचनालभ्यं फलं सर्वत्र मन्वते ॥ तस्मात्फलस्य साध्यत्वात्  
सर्वत्र तदवर्जनात् । क्रियादीनाञ्च तादर्थ्यात् तस्य वाक्यार्थित्वे ॥ प्राधान्ययोगादथवा फलस्य  
वाक्यार्थता तत्र सता हि यत्नः । प्रयोजनं सूत्रकृता तदेव प्रवर्तकत्वेन किलोपदिष्टम् ॥—‘न्यायम०  
पृ० ३६२-६५ । (४) “यदि मन्येत फलं प्रवर्तकं तद्व्यापारं प्रवर्तना, फलाधिनं पुरुषस्य तत्साधने  
प्रवृत्ते अन्यथाऽभावात् । न कश्चिद्व्यापारविशेषं प्रवर्तना अपि तु प्रवृत्तिसमर्थं व्यापारमात्रं च प्रयोज-  
कव्यापारः, भिक्षा वासयति कारीपोग्रिनरध्यापयतीति दर्शनात्, तदसत्, अर्थिता व्यापृतिं पुनो नियम  
किञ्चिद्व्ययन । फलसाधनता कर्मनिर्देशेया साध्यता कदा ॥”—विधिवि० पृ० २६ । (५) आत्मन-  
आ० टि० । (६) पुरुषमन्त्वात् । “फलाशिता चेत् प्रवृत्तिहेतुः, सेच्छा तद्योगो वा इच्छासमवायो  
वा ‘कृतद्वितसमासेषु सम्बन्धाभिधानं त्वत्त्वम्याम्’ इति वचनात् पुरुषधर्म इति न फलं व्यापृति ।”  
—विधिवि० पृ० २७ । (७) ‘अथ तदिच्छोपहारमुखेन फलस्य प्रवृत्तिहेतुधर्मं प्रीत्यात्मता फलव्यापार  
प्रवर्तना, सापि तत्रैव न कर्मणि । फलव्यापाराच्च प्रवर्तमानं सर्वत्र प्रवर्तते नियमनिमित्ताभावात् ।”  
—विधिवि० पृ० २७ । (८) इच्छोत्पादनमुखेन । (९) सूरि—आ० टि० । (१०) फले एव । (११)  
पलात्—आ० टि० । (१२) कर्मण—आ० टि० (१३) फलम् । (१४) कर्मणि यागादौ ।

प्रवृत्तिः अतिप्रसङ्गात् । अथाऽभिप्रेतफलसाधनत्वात् कर्मण्येव प्रवृत्तेर्नातिप्रसङ्गः, न खलु प्रेक्षापूर्वकारिणः उपायं परित्यज्य अनुपायेऽसाधने वा साध्ये प्रवर्तन्ते; कथमेवं फलस्य प्रवर्तकता तत्साधनस्यैव तत्प्रसङ्गात् ।

ननु निर्यतकर्मसौध्यतायाः फलसमवेतायाः प्रवृत्तिहेतुत्वात् फलस्य प्रवर्तकत्वम्,

नियते च उपायभूते कर्मणि प्रवृत्तिरविरुद्धा, ननु केयं तत्साध्यता-फलस्य स्वरूपम्, शक्तिभेदो वा ? यदि स्वरूपम्; तदा तस्य सर्वत्राविशेषात् निर्यतकर्मणीव अर्थान्तरेऽपि प्रवृत्तिः स्यात् । नहि वृत्तिः भुज्यपेक्षयैव वृत्तिर्भवति नाग्न्यपेक्षया इति, वृत्त्यर्थिना अत्रापि प्रवर्तितव्यम् । शक्तिभेदोऽपि फलस्य स्वसत्त्वकाले, अभावकाले वा स्यात् ? तत्राद्यधिकल्पोऽयुक्तः, यतः प्रतिनियतादेव कर्मणः प्रतिनियतस्य फलस्योत्पत्त्यर्थं तच्छक्ति-  
भेदः परिकल्प्यते । न चोत्पन्नस्य सम्बन्धिनी शक्तिः उत्पादनियमे समुपयुज्यते । न खलु  
उत्पन्नं शक्तिवशादुत्पद्यते विरोधात् । द्वितीयधिकल्पोऽप्यसुन्दरः; नहि फलमविद्यमानं  
उपपन्नप्रत्ययं सौध्यताख्यशक्तिभेदाश्रयो भवितुमर्हति । तदौश्रयत्वे वा तस्योऽसत्त्व-  
विरोधः; असतः सकलशक्तिविरहलक्षणत्वात् ।

किञ्च, इदं फलं विद्यमानं सत् पुरुषं प्रेरयति, अविद्यमानं वा ? यदि विद्य-

(१) 'तत्साधनत्वात् कर्मण्येव प्रवर्तते न सर्वत्र, तत एव तर्हि तत्साधनत्वं प्रवृत्तिहेतु कर्मणि न फलरूपम् तच्च कर्मसमवायीति कर्म प्रवर्तकं स्यात् । चोदयति-तत्साधनत्वात् कर्मण्येव प्रवर्तते सर्वत्र सर्वेषां फलसाधनत्वाभावात् । परिहरति-तत एव तत्साधनत्वे सति प्रवृत्तिभावादेव । भवतु तर्हि तत्साधनत्वं प्रवृत्तिहेतु कर्मणि, न फलरूपम् । भवतु को दोषः ? इत्यत आह-ततश्च कर्मसम-  
वायि न फलसमवायीति कर्मैव प्रवर्तकं स्यात् ।'-विधि०, टी० पृ० २७-२८ । (२) फलसाधन-  
भूतस्य यागस्यैव प्रवर्तकत्वं स्यात्, यागस्य तत्साधनत्वे निश्चिते सत्येव प्रवृत्तिदर्शनात् । (३) 'एव  
तर्हि तत्साध्यता प्रवृत्तिहेतु, सा च फलसमवायिनीति न दोषः, तथाहि समभिलषितस्य तुल्यत्वाद् कर्म-  
विशेषण साध्यत्वात्तत्रैव प्रवृत्तिः, का पुनरिय साध्यता ? यदि रूप फलस्य; सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्गः ।  
एतदुक्तं भवति-फलसमवायिन्यपि साध्यता साधनाधीननिरूपणतया साधनमपि गोचरयति न पुनर-  
साधनमपि तेनैव तस्माद्विशेषात् साधन एव प्रवर्तयति न तु सर्वत्रेति । तदेतद् दूषयति-का पुनरिय  
साध्यता ? यदि रूप फलस्य, ततस्तस्य साधनाधीननिरूपणत्वाभावात् साधने प्रवर्तयेत् प्रवर्तयेद्वा  
सर्वत्रैव अन्यत्वाविशेषात् ।'-विधि०, टी० पृ० २८ । (४) ज्योतिष्टोमादिमागत्रयता हि स्वर्गा-  
दिपञ्चमवायिनी अतः वस्तुन यागसाध्यताया प्रवृत्तिहेतुत्वे फलस्यैव प्रवर्तकत्वं पक्षितमिति भावः ।  
(५) नियतवर्गसाध्यता । (६) फलभूतस्वर्गस्वरूपस्य । (७) ज्योतिष्टोमादिवत् (८) गोवधादो-  
धा० टी० । (९) शक्तिविशेषः । (१०) 'यदा पुनरयं शक्तिभेद साध्यताविधानं ? फलस्य भाव-  
ममय न तान्, वैयर्थ्यादप्रवृत्तिहेतुत्वान्च । न सत्त्वप्रत्ययात्पाद यजोमिनी शक्तिरर्थवती । नापि  
सिद्धे फले तत्साधनं वदितप्रवर्तते ।'-विधि० पृ० २९ । (११) उत्पन्नस्य उत्पत्तिविशेषात्,  
अन्यत्प्रत्ययं हि समुत्पादो दुष्यते । (१२) 'अभावकालेऽप्यसत् कथं शक्तिमत् उपपन्नम्'-  
विधि० पृ० २९ । (१३) साध्यत्वरूपशक्तिविशेषात्पादः । (१४) फलस्य । (१५) पतत्यापारत्वे  
गर्भमयत्वादिति भावः ।

१-साध्यतया प्रवृत्ति-थ० । २-तच्छक्ति-थ० । ३-नहि भु-थ० । ४-स्वसत्ताकानं थ०, व० ।

५-साध्यताप्रति-थ०, व० । ६-तत्साधनत्वे वा व० । ७-तत् थ० ।



मानम्; किमर्थं प्रेरयति ? फलार्थी हि पुरुषः प्रवर्त्तते, तच्चेद् विद्यते; अलं प्रवृत्त्या । नहि लोके यस्य यदस्ति स तदर्थं पुनः प्रवर्त्तते इति प्रतीतम् प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात् । सतोऽपि फलस्य आत्मसम्बन्धितां कर्तुं प्रवर्त्तते; इत्यप्ययुक्तम् ; यतः फलं सुखम्, दुःखाभावश्च, तदुभयमप्युपजायमानम् आत्मसम्बद्धमेवोपजायते । अथ स्वर्गकामः पुरुषः स्वर्गादेः फलस्य विद्यमानस्यैव आत्मसम्बद्धतां कर्तुं प्रवर्त्तते; नन्वेवं पुत्रैकामादौ का वार्त्ता ? नहि पुत्रादिफलस्य तदा विद्यमानता संभवति प्रतीतिविरोधात् ।

किञ्च, इदं फलं सत्तामात्रेण प्रवृत्तिहेतुः, साध्यताविशिष्टं वा ? प्रथमपक्षे सिद्धेऽपि फले पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वं स्यात्, सत्तामात्रस्य तत्राप्यविशेषात् । न च सिद्धस्य सिद्धये प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्युक्ता तदनुपरमप्रसङ्गात् । अथ साध्यतावच्छिन्नं फलं प्रवृत्तिहेतुर्न केवलम् ; तदप्यनुपपन्नम् ; अनर्थिनोऽप्यर्थः प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । फलं हि साध्यतया विशिष्टं प्रतीयमानं यदि प्रतिपत्तारं प्रवर्त्तयति तदा अनर्थिनमपि प्रवर्त्तयेत्तदविशेषात् । तन्न विद्यमानस्यास्य प्रेरकत्वं युक्तम् । नाप्यविद्यमानस्य; अस्याऽसंतः कारकत्वानुपपत्तेः, 'असञ्च प्रेरकञ्च' इति विप्रतिपेधात् ॥ छ ॥

येऽपि 'फलाभिलाष एव' प्रेर्यगत्तः प्रेरकत्वाद् विधिः, अनर्थिनः प्रवृत्त्यप्रतीतिः, स हि शब्दमन्तरेणापि कचिदभिलषिते वस्तुनि अर्थिनं पुरुषं प्रवर्त्तयति इत्याचक्षते; तेऽप्यसमीक्षितवाचः; अभिलाषस्य अव्यापकतया प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेः । तदव्यापकता च बालकप्रवृत्तौ तदसंभवात्सुप्रसिद्धा । तथाहि—कश्चिदाचार्यप्रेरितो बालकः कार्यं किमपि कुर्वन् केनचित् प्रयोजनं पृष्ठः सञ्जुत्तरमाह—'न वेद्मि करणे अस्य किमपि प्रयोजनम्, केवलमाचार्यप्रेरितः करोमि' इति । ततः फलाभिलाषमन्तरेणापि पुरुषप्रवृत्तिप्रतीतिः अव्यापकः सर्वप्रवर्त्तनानां फलाभिलाषः ॥ छ ॥

अन्ये तु 'कर्मैव अभिप्रेतार्थप्रसाधकत्वाद् विधिः' इति प्रतिपन्नाः, तन्मतमप्यसङ्गतम्; कर्मणो विधिविषयतया विधिस्वभावत्वानुपपत्तेः । 'विधेर्यप्यो हि कर्म

(१) फल स्वर्गादि । (२) निष्पन्नैऽपि फले प्रवृत्ती प्रवृत्त्यनुपरमः स्यात् । (३) पुत्रकामनया क्रियमाने पुत्रेष्टियज्ञे न हि पुत्र स्वर्गादिवत् विद्यमानोऽस्ति । (४) प्रवृत्त्यविरामप्रसङ्गात् । (५) अर्थितारहितम्—आ० टि० । (६) साध्यतावच्छिन्नात् फलात् । (७) अविद्यमानफलस्य । (८) असत्त्वात् । (९) प्रेरकत्वे मत्त्वमेव स्यादिति भावः । (१०) पुरुषनिष्ठः । (११) 'अस्तु तर्हि कर्म प्रवर्त्तकम्, अभिमतसाधनता तस्य प्रवर्त्तना, प्रवृत्तिहेतुरूपत्वात्; न, विषयत्वात् । तदेतद् दूषयति 'न' तस्य विषयत्वात्, प्रवृत्तिकर्तुं प्रयोजक प्रवर्त्तकः । सिद्धश्च स भवति । तदिह सिद्ध चेत् कर्म प्रवृत्ते प्राक् प्रवृत्ते भावनाया विषयो न भाव्यम् । न जानु गगनमस्या भाव्यं भविष्यतीति । विषयश्चेत् कर्म, असिद्धत्वात् कथं प्रवर्त्तकमित्यर्थः ।"—विधिवि०, टी० पृ० ३५ । (१२) न हि घटस्य ज्ञानविषयत्वे ज्ञानस्वभावता युक्ता—आ० टि० ।

१ अविनोऽ—आ० । २ अर्थिनमपि आ० । ३ येदविशे—श्र०, व० । ४ मानस्य प्रेर—आ० । ५ विधिविषय—श्र०, विधिविषय—व० ।

लोके प्रसिद्धं न तत्सर्वभावम्, अतोऽन्येनात्र प्रवर्त्तकेन हि भवितव्यम् । नहि स्वस्यैव स्वात्मसिद्ध्यर्थं प्रवर्त्तकत्वं युक्तं विरोधात् ।

किञ्च, उत्पन्नं कर्म आत्मसिद्ध्यर्थं पुरुषं प्रवर्त्तयति, अनुत्पन्नं वा ? तत्र उत्पन्नस्य स्वरूपसिद्धेर्जातत्वात् पुरुषप्रेरणा न्यर्था । अनुत्पन्नस्य तु प्रेरकत्वानुपपत्तिः । सदेव हि किञ्चित् कस्यचित्प्रेरकं नासत् ररविपाणादिकम्, तर्थाविधस्य कारकत्वायोगात् । असत्ता चानेन सह अपौरुषेयवचसः सम्बन्धासंभवात् कथं तद् वेदवाक्यैः प्रतिपाद्येत यतः पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वात् तद् वाक्यार्थः स्यात् । अथ सामान्यौकारेण सत् कर्म विशेषोकारसम्पादनाय पुरुषं प्रेरयति; तन्न; येनांशेन तत् सन्न तेनांशेन पुरुषसाध्यम्, येन चांशेन साध्यं न तेन तदभिधेयं सम्बन्धासंभवात् । नहि सम्बन्धाभिधेयाभिधानानां नित्यत्याभ्युपगमे अनित्ये कर्मविशेषे नित्यस्य सम्बन्धस्य संभावनापि संभवति । लक्षणया तैत्तिप्रतिपत्तिः; इत्यप्ययुक्तम्; तैस्वास्तैर्द्वैतशब्दार्थनिरूपणावसरे निरस्तत्वात् ॥ छ ॥

अथ आत्मनोऽप्राप्तक्रियासम्बन्धप्रतिपत्तिः प्रवर्त्तकत्वाद् विधिः, 'तदेव कर्म' इत्युक्ते हि क्रियासम्बन्धमात्मन्यवगम्य प्रवर्त्तमानाः प्रतीयन्ते लौकिका इति; तदप्ययुक्तम्; नहि क्रियासम्बन्धप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिलोके प्रतीयते, अपि तु तदनुरोधितया, अन्यथा सर्वस्यैव 'तदेव कर्म' इति कर्मसम्बन्धप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिः प्रसज्येत,

(१) विधित्वभावम् । (२) कर्मणि यागादौ । (३) असत् प्रवृत्तिक्रियाया कर्तृस्वरूपस्य प्रवर्त्तकत्वस्य असम्भवात् । (४) कर्मणा । (५) याग इति—आ० टि० । (६) कारीपादि—आ० टि० । (७) सामान्येन—आ० टि० । (८) विशेषरूपेण—आ० टि० । (९) वेदवाक्येनाभिधेयम् । (१०) सङ्केत-अर्थ शब्दानाम् । (११) "ननु विधेर्लिङ्गादिवाक्यताभ्युपगमात् तदुच्चारणात् प्रागसिद्धत्वे सति अगृहीतसम्बन्धत्वेन भाष्यत्वायोगाल्लिङ्गादुच्चारणात् प्रागेव सिद्धे तत्परत्वे न युक्तमित्याशङ्क्य द्वाध्वनानन्तरभाविप्रवृत्तिहेतुप्रेषणाध्येयतादिव्यापारानुवृत्तप्रवर्त्तनामान्याभिधानेन तद्विशेषापेक्षायामपेक्षये वेदे पुरुषधर्मस्य प्रेषणादेरसम्भवात् तद्व्यतिरिक्तविध्याभ्यस्य विशेषस्य परितोष्याल्लक्षणाया गम्यमानस्य सम्बन्धप्रवृत्तिलोके प्रतीयते प्राक् सिद्धयन्तरेषणादिकच्छादयत्वात् इति"—मध्यखण्ड० पृ० ५५९, सूर्य पृ० ३० । मीमांसान्याय० पृ० १८० । (१२) विधिः । (१३) लक्षणाया । (१४) सम्बन्धवत् । (१५) पृ० ५७० । (१६) "यदपि समर्थनम्—अप्राप्तसम्बन्धया क्रियाया आत्मन सम्बन्धस्य प्रतीत्या प्रवृत्तिर्यथाच तदेव कर्मेति लोके । अतएव अज्ञातज्ञापनप्रवृत्तप्रवर्त्तनमुभयविधप्राप्तिप्रतिषेधेन अप्राप्तक्रियाकर्तृसम्बन्धो विधिरिति विधिविदामुद्गारा ।"—विधिबि० पृ० ४० । (१७) "नतत्सारम्, यस्मात्—न प्रवृत्तियोमाधियो लोके अभिप्रायवेदनात् । मृषा भवेत्तया काम किं मुधैव प्रयस्यति ॥ प्रतिपद्यता नामापमात्मन क्रियायोग शब्दान्, तं च तथाभावे तथेति निदिधनोतु विपर्यये नतदवमिति । प्रवर्त्तते तु यस्मात् ? लोके त्वद्य तदेव कर्मेति वचनादधिगतवक्त्रभिप्रायो यो यदभिप्रायानुरोधो स प्रवर्त्तितुमर्हति अन्यथा सर्वस्य प्रवृत्ते ।"—विधिबि० पृ० ४१-४२ । (१८) वाक्यप्रयोक्तृपुरुषस्य अभिप्रायानुरोधात् प्रवर्त्तितमिति अत्र अभिप्रायानुरोध एव विध्यर्थः स्यादिति भावः ।

१-तदेव भवि—थ०, व० । २ सह पौष्ट—थ० । ३ तदेव कर्म थ० । ४ तदविरोधितया व० ।

५ तदेव कर्म थ० ।

अतस्तदनुरोधितापि प्रवर्तकत्वाद् विधिः प्रसज्येत । सापि वा न प्राप्नोति, स्वामि-  
याक्यवद् वेदवाक्ये तस्याः सत्त्वाऽसंभवात् । 'इदं कुरु' इति वाक्याद्वि स्वामिनोऽभि-  
प्रायं विदित्वा तदिच्छानतिक्रमेण तदनुरोधितया प्रवर्तते । न चैतद् वेदवाक्ये संभ-  
वति यत्नुरसत्त्वात् ॥ छ ॥

'येऽपि स्वर्गादिफलसाधनत्वेन धातुर्थं प्रतीत्य पुरुषार्थसाधनत्वादसिद्धेः ५  
प्रवर्त्तामहे इति श्रेयःसाधनत्वाख्यधर्मावगमः प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः' इत्याचक्षते,  
तेऽप्यशब्दार्थविदः, श्रेयःसाधनातायाः विधित्वेन लोकेऽप्रसिद्धेः, प्रैपादीनामेव तत्र  
तत्त्वेन प्रसिद्धेः । लिङादिशब्दवाच्यो हि विधिः । न च श्रेयःसाधनता तच्छब्द-  
वाच्यतया लोके प्रसिद्धा, येनार्था विधित्वं स्यात्, लोकानुसारेण च पदार्थव्यवस्था ।  
'य एव लौकिकाः शब्दाः त एव वेदिकाः' [ शाबरभा० १।३।३० ] इत्यादिचचनात् । ॥

किञ्च, कस्येय श्रेयःसाधनता-भावनायाः, धातुर्थस्य वा ? न तावद् भाव-  
नायाः, तस्याः प्रागुक्तप्रकारेण असिद्धस्वरूपत्वात् । नापि धातुर्थस्य, यागादेः पशुव-  
धप्रधानस्य श्रेयःसाधनत्वानुपपत्तेः । न यत्तु हिंसा श्रेयःसाधनम्, ब्राह्मणवधा-  
देरपि तत्प्रसङ्गात् । 'विहितानुष्ठानत्वात्तत्साधनत्वे 'सधन ब्राह्मणं हन्यात्' इत्यादेरपि

(१) प्रयोक्तृपुरुषाभावात् अभिप्रायानुरोधिताया अभावात् । (२) मण्डनमिश्रादयः । मण्ड-  
नमिश्रा हि 'इदं मच्छ्रय साधनम्' इत्यवगमस्यैव प्रवृत्तिहेतुता स्वीकुर्वन्ति, तथा चोक्तं तै - 'पुंसां नेष्टा-  
भ्युपायत्वात् क्रियास्वयं प्रवर्त्तक । प्रवृत्तिहेतु धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्त्तनाम् ॥ प्रवृत्तिसमर्थो हि कश्चिद्  
भावातिशयो व्यापाराभिधानं प्रवर्त्तना । सा च क्रियाणामपेक्षितोपायतैव । न हि तत्पातवमप्रतिपद्य तत्र  
प्रवर्त्तते वदित् । दाय्याज्ञादिभ्यः प्रवृत्तिः साऽपि कथमिदोपेक्षितनिबन्धनत्वमुपाश्रित्यैव अन्यथाऽभा-  
वात् ।"-विधिधि० पृ० २४३ । "तथा चोक्तम् तथा धातुर्थकार्यत्वे पद श्रुत्योपदर्शिते । भावनाया  
विधिभ्रुत्या पुषार्थासिद्धयेति ॥ श्रेय साधनता ह्यापि नित्य वेदात् प्रतीयते (मी० झ्लो० पृ० ४९ ।)  
इति च । तस्मादिष्टसाधनतैव विधि लिङावभिधयेति तद्युक्ताया भावनाया कृत्वेव भास्य धातुर्थस्तु  
करणमिति (पृ० ४६) तेनाभिधाव्यापारप्रवर्त्तनाभिधानवत् प्रवर्त्तनात्पेण इष्टसाधनता शब्दोऽभिवर्त्ते  
न स्वरूपेणेति न प्रतीतिविरोधः । इदमेव भगवतो मण्डनमिश्रस्यापि 'पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वयं  
प्रवर्त्तक । प्रवृत्तिहेतु धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्त्तनाम् । एव ह्यारञ्च प्रवर्त्तनात्पेण इत्यादि वदतोऽभिमतम् ।  
तदेव शब्दकर्तृक प्रवर्त्तनारूपेष्टसाधनत्वाभिधानमेव शब्दभावनेति गीयते ।"-न्यापररत्ना० पृ० ४७,  
५३-५४ । "इष्टसाधनत्वमेव विधितत्त्वम्" तन्त्ररह० पृ० ४५ । "तथा च प्रवर्त्तनत्वानुरोधात् विधेरपि  
इष्टसाधनत्वादिकमवार्थ"-मुक्ता० पृ० ५१९ । (३) ज्योतिष्टोमादियगो । (४) लोके । (५)  
विधित्वेन । (६) श्रेय साधनतापरनाम्न्या इष्टसाधनताया । (७) उद्धृतमिदम्-सोताति० पृ० १३४ ।  
(८) तुलना- 'किञ्च, भावनागत श्रेय साधनत्व प्रवर्त्तकमिष्यते तै, तच्च न पृथगभिधानं युक्तम् ।  
भावनाया व्यगत्वेन तत्स्वरूपावगमसमये एतदक्षयो स्वर्गयागयो साध्यसाधनभावावगतिरसिद्धे ।"-  
न्यायम० पृ० ३६१ । (९) श्रेय साधनत्वप्रसङ्गात् । (१०) यत्र हि वेदे विहितोक्तः ॥ श्रेय साध-  
नमित्युक्ते सत्याह । तुलना- 'विधिपूर्वकस्य पशवादिवधस्य विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वाभावात्  
असिद्धो हेतुरिति चेत्, तर्हि विधिपूर्वकस्य सधनवधस्य सारपटिकानां विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्व  
मा भूदिति सधनवधात् स्वर्गो भवतीति वचनं प्रमाणमस्तु "-तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२ ।

१ विहितानुष्ठानस्य तत्सा-व० ।

‘विहितानुष्ठानत्वात् श्रेय साधनत्वानुपपन्नः । अप्रामाण्यञ्च ठकशास्त्रम् वेदेऽप्यविशिष्टम् ।

अन्ये तु ‘उपदेशो विधिः’ इत्यामनन्ति । उपदेशशब्देनैव विषयो लिङादिः अभिधा चोच्यते । तत्र उपदिश्यते प्रत्याप्यते इत्युपदेशो विषयो यागादिः, उपदिश्यतेऽनेन इत्युपदेशो लिङादिः, उपदेशनमुपदेशः अभिधा उच्चारणमुच्यते, तदप्यसङ्गतम्, ठनोपदेशस्यापि विधित्वप्रसङ्गात् । भवत्परिकल्पितप्रक्रियायाः “अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम” [ ] इत्यादिवत् ‘साधन ब्राह्मण हन्याद्भूतिकामः’ इत्यादिवत् तुल्यत्वात् ।

किञ्च, परानुग्रहप्रवृत्तस्य आप्तस्य वचनम् उपदेशः प्रसिद्धः । न च वेदे तयो-  
विधिः कश्चित् पुरुषोऽस्ति अपौरुषेयत्वाभावप्रसङ्गात्, तत्कथमस्यैव उपदेशतापि ?  
न तल्लु उपदेष्टव्यविवेकेण उपदेशः कदाचित्प्रतिपन्नः । गुरुवैद्यामुपदेष्टृसद्भावे

(१) चौराणां विहितत्वात् । (२) उपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणम् - शाबरभा० १।१।५ । ननु चोदनायाः प्रामाण्यं प्रतिज्ञातं कथमुपदेशस्य साध्यते ? अत आह-‘चोदना चोपदेशश्च विधिद्वैवापवाचिनः । -मी० श्लो० सू० ५ श्लो० ११ । ‘उपदेशो नियोज्यायकमप्रस्थितचोदना । प्रथितो गुरुवैद्यादी नित्यसिद्धि न न कल्प्यते ॥ यद्यप्याज्ञाभ्ययना वेदेऽनुपपन्ना उपदेशस्तु युज्यते । सोऽपि तद्वदव प्रेरणात्मकश्चतुर्थो ऋके प्रतीयते । तथाहि-आज्ञाभ्ययनं हि नियोज्ययननाहितनियोज्यफलं कम गोचरयत । नियोज्यायकं तूपदेशः । अनुज्ञा तु यद्यप्येव कश्चित् तथापि प्रवृत्तपुरुषविषयत्वान्नोपदेशः । नियोज्यायकमगोचरमप्रवृत्तप्रवर्तनमुपदेशमाचक्षते धीरा । न हि गामभ्याजं माणवकमध्यापय कुह यथाभितममित्युपदेशप्रतीतिः । नापि भैक्ष्यं चत् (चर) उच्यते पथ्यमश्नीयाविति प्रतीतिः, भूपसा चप पीडययु वामाचक्षास्त्रादिप्राज्ञादिभिरनारूपितो ऋके प्रतीयते गोपालादिवच मु च मार्गास्थान परेषु अनन यमा गच्छति । प्रदक्षनाचञ्चदम् अतोऽयं शब्दाभिधेयोच्चारणादिप्राप्तञ्च नमकनृकरणभाव साधनम् उपदेशाच्चन उच्यते । प्रपणादिवत् तैरपि हि यथाविबक्षितमर्थदयो निर्दिश्यन्त सिद्धान्त-मुपक्रमते-उच्यते-उपदेशो नियो उपदेशस्तु युज्यते तस्य अपौरुषेयसिद्धिः भवत्वात् । न ह्यसौ नियोज्या-यकमिति वक्ष्यति, यत् चतनवन्तु स्यात् न चामो न ऋक्च अन्नप्राणात्मको वा यनाविधिः स्यादित्याह-मोऽपि तद्वदव जानावदव प्रेरणात्मकश्चतुर्थो ऋके प्रतीयते । एतदुक्तं भवति-आज्ञाभ्ययनापदेशा कमपि प्रवृत्तिजननं तद्गोचरयन्तो नवन्ति प्रेरणात्मनया ममाना । तयामानाभ्ययनाभ्या गोचरी त्रिदशान कम अनादुपनियोज्यप्रयोजनमापयितुरभ्यर्थयमानस्य वा प्रयोजनायावकल्प्यत । उपदेशा चरस्तु कम अनादुपदेशकप्रवर्तनमुपदेष्टव्यायमवेत्ययम् आनाभ्ययनाभ्यामुपदेशस्य भव प्रेरणात्मकत्वं प्रति निपात्याय कम यस्यापदेशस्य ननु नियोज्यस्य स तथाका इत्यक्षरयोचना । अप्रतिष्ठनस्य अप्रवृत्तस्य तु प्रस्थापना चादना ननुपदेशो विधिः स चायमभिधायकः, शब्दः इति कश्चित्त्वचिदु-च्चारणमाह ‘उच्यते’ उच्चारणमिति । कश्चिदयं विष्णुद्वान्नवकाव्यत्वादिति । कश्चिद्वचनम् चोदनमिति यायाः प्रवृत्तं वचनमिति । कश्चित् पानं दातुं ‘उच्यते’ विधानमिति, वाचि-कास्तव अनिया भावनामादुरित्यानिधायमिति । अत आह-प्रदक्षनाय चर्तं विधिः शब्दो विधिरिति । अतोऽप्यन्यानिपात्यादिप्राप्तं च कमकनृकरणभावसाधननोपदेशाच्चन यथायथमुच्यते -विधिदि०, टी० १० २३८-२४१ । (३) कमकनृकरणभावसाधननोपदेशाच्चन यथायथमुच्यते -विधिदि०, टी० १० २३८-२४१ । (४) टवगास्तववाचयव्यति (५) गगनवद्वद्वत् । (६) अमिच्छामि यत् त्वमकाम १-यादि विधिविषयस्य ।

सत्येव 'भेक्षं चर, ध्यानाध्ययने कुरु, ज्वरितं औषधं पिबेत्, पथ्यमश्नीयात्' इत्याद्युपदेशस्य प्रतीतिः । न च शब्द एव उपदेश इत्यभिधातव्यम्; अन्युत्पन्नस्याप्यतोऽर्थ-प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । अथ शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तिसव्यपेक्ष एवासौ तस्यैवमुपदिशति; ननु कुतस्तद्व्युत्पत्तिः ? विशिष्टपुरुषाच्चेत्, स एव उपदेशाऽस्तु किमनया परम्परया ? प्रतिपेत्यते च अपौरुषेयत्वमस्य अग्रे इत्यलमितिप्रसङ्गेन ॥ छ ॥

येपि विषयस्य यासौ कर्तव्यताप्रतीतिः सैव प्रवर्त्तकत्वाद्विधिः इति प्रतिजानते, नहि 'इदं मे कर्तव्यम्' इत्यप्रतिपद्यमानः कश्चित्प्रवर्त्तते इति, तेऽप्यसमीक्षितवचसः, यतः किं कर्तव्यताप्रतिपत्तिः निर्विशिष्टा प्रवृत्तिहेतुः, श्रेयःसाधनताविशिष्टा वा ? तत्रार्थपक्षोऽयुक्तः, सर्वस्य सर्वत्र कर्तव्यताप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिप्रसङ्गात्, तथा च ब्राह्मणादिवधकर्तव्यताप्रतिपत्तिमात्रेण भवतस्तद्बधादावपि प्रवृत्तिः स्यात् । अथ श्रेयः-साधनताविशिष्टा सा प्रवृत्तिहेतुः, तर्हि श्रेयःसाधनतेव प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः स्यान्न कर्तव्यता तस्यास्तामन्तरेणाऽप्रवर्त्तकत्वात् । नचैतदप्युपपन्नम्, श्रेयःसाधनतायां विधित्वस्य प्रागेव प्रत्याख्यातत्वात् ॥ छ ॥

अपरेषां मतं प्रतिभैव प्रवर्त्तकत्वाद् विधिः । नहि प्रतिभाष्यतिरेकेण लिङा-

(१) "ननुक्तमुपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणम्, यद्येवमव्युत्पन्नस्यापि प्रवृत्तिप्रसङ्गः । उच्यते-विशिष्ट पुरुषार्थस्य शुद्धस्योपायमाह य । पुरुषार्थो यदा यन यो नरेणाभिकाङ्क्ष्यते ॥ पुरुषार्थस्योपायमनवगतमवगमयन्नुत्कर्षाद्विशिष्ट शब्द उक्तः, अन्यथा सर्व एव शब्द शब्दान्तराद् भिन्न इत्यविशेषणमेव स्यात् । अतो नाऽविदितार्थस्य प्रवृत्तिः ।"-विधिवि० पु० २४० । (२) पुरुषार्थोपायताम् । (३) वेदस्य । (४) तुलना-"ननु कर्तव्यमिति प्रतिपत्ते प्रवृत्तिः । अत्र केचिदाम्नाय प्रति श्राद्धमातिन प्राहु-ननु कर्तव्यमिति प्रतिपत्तः प्रवृत्तिः । इदमाकृतम्-कार्यदर्शनोत्पन्नप्रवृत्तयः खल्वमी तिडादयः । कार्यञ्च प्रवृत्तिलक्षणं वृद्धानां लिङादिश्रवणसमनन्तरमुपलभ्यते । तच्च बुद्धिपूर्वकं स्वतन्त्रप्रवृत्तित्वात् अस्मत्प्रवृत्तित्वम् । अनुमिता च बुद्धिः अस्मत्प्रवृत्तिहेतुबुद्धिगोचरव्यवहारिणी प्रवृत्तिहेतुबुद्धित्वात् अस्मत्प्रवृत्तिहेतुबुद्धित्वम् । तस्याश्च विषय स्वयमेव चक्षुस्मील्य पिण्डिकरोग (डिण्डिकरोग) परित्यज्य पर्यालोचयन्त शब्दव्यापारपुरुषास्यतत्समीहिततत्साधनताव्युदात्तेन कर्तव्यतामेव प्रतिपद्या महे । तथाहि-स्तनपानादावपि न जातु समीहितोपाय इत्येव प्रवृत्ता स्म, किन्तु कर्तव्यमेतदिति लिङादिश्रवणानन्तरा प्रवृत्तिः कर्तव्यताभिधानमेव लिङादीनामापादयति । तथा च विदितसङ्गतितया लिङादयो वेदेषु तमेवाभिदधते ।"-विधिवि० टी० पु० २४४ । (५) तुलना-"नन्वनेक्षितोपायतामन्तरेण कर्तव्यमिति शतशोऽप्यभिधीयमानं न प्रवृत्तये कल्प्यत इत्यत आह-कथं हि तथा प्रतिपद्यमानो न प्रवर्त्तते ? शब्दस्तावत्कर्तव्यताया विदितसङ्गतिः सामवगमयति । तथा नैमित्तिकनिषेधाधिकारयो-रसौ प्रतीयमाना न शक्या नेति वक्तुम् ।"-विधिवि० टी० पु० २४५ । (६) ब्राह्मणवधादिनिषिद्धे कर्मणि । (७) कर्तव्यताप्रतिपत्तिः । (८) कर्तव्यताप्रतीतिः । (९) श्रेयसाधनताम् । (१०) श्रेयसाधनताविशिष्टकर्तव्यताप्रतीतिविधित्वम् । (११) वैयाकरणानाम् । "अभ्यासात्प्रतिभाहेतुः शब्दसर्वोत्तरं स्मृतः । बालानां च तिरस्काच ययार्थप्रतिपादने ॥११९॥ विच्छेदग्रहणार्थानां प्रतिभाऽयं व जायते । वाक्यार्थ इति तागाह पदार्थरूपपादितम् ॥१४५॥ इदं तदिति साऽप्यवगमनाख्येया कथञ्चन ।

१-त औषधं आ० । २-उपदेशप्रतीति आ० । ३-छ प-अ०, व० । ४-वत सबत्र आ० ।

५-नाया विधि-ब०, थ० ।

दिव्यापारोऽपि बलवत्सलिलसमीरणन्यायेन पुरुषं प्रवर्तयति सर्वस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । नापि विषयप्रतिपत्तिमात्रम्; अत एव । अतो या काचित् प्रवृत्तिः सा सर्वा प्रतिभासमानाकारनिर्णयैरूपप्रतिभापूर्विकैव । नहि प्रतिभातेऽप्यर्थे यावत् सुखसाधनमिदमिति प्रतिभा नोत्पद्यते तावत् कश्चित् प्रवर्तते । अतः साधनविशेषे<sup>१</sup> पुरस्कृते<sup>२</sup> क्रियाविशेषपरिस्फुरणं प्रतिभा । उक्तञ्च—“ विशिष्टसाधनाव्यवच्छिन्नक्रियाप्रतीत्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा ” [ विधिवि० पृ० २४६ ] इति; तदप्यसारम्; यतः “सिद्धे प्रतिभास्वरूपे विधिरूपता स्यात् । न च भवत्प्रतिपादितं प्रतिभायाः स्वरूपं युक्तम् । इन्द्रियादिव्याप्तसामग्रीनिरपेक्षं हि मनोमात्रसामग्रीप्रभवम् अर्थतथाभावप्रकाशं ज्ञानं प्रतिभेति प्रसिद्धम्—‘श्रो मे भ्राता आगन्ता’ इत्यादिवत्, न पुनः प्रतिभासमानाकारनिर्णयरूपतामात्रम्, निर्विकल्पकं<sup>३</sup> अक्षोत्तरकालभाविनः सविकल्पकप्रत्यक्षस्यापि तद्रूपतया प्रतिभात्वानुपपत्ता, तथा च सविकल्पकप्रत्यक्षवार्त्तोच्छेदः स्यात् ।

यदपि साधनविशेषे क्रियाविशेषपरिस्फुरणम्; तर्हि पूर्वाहितसंस्कारवशात्, प्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारानुसारतः, चोदनातः, श्रो मे भ्रातेत्यादिवत् मनोमात्रतो वा स्यात् ? तत्राऽन्यविकल्पोऽयुक्तः; अश्रुतचोदनां वाक्यस्य यागादिसाधने क्रियाविशे-

प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते ॥१४६॥ उपरलेपमिवार्यानां सा करोत्यविचारिता । सार्व-  
रूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते ॥१४७॥ साक्षाच्छब्देन जनिता भावनानुगमेन वा । इतिवर्त्तव्यताया  
ता न वरिचदतिवर्त्तते ॥१४८॥ प्रमाणत्वेन ता लोक सर्वः समनुपश्यति । समारम्भा प्रतीयन्ते तिर-  
क्ष्यामपि तद्वान् ॥१४९॥—भाष्यपृ० २।११९, १४५-४९ ।

(१) सर्वस्य श्रोतु प्रवृत्तिप्रसङ्गादेव । (२) प्रतिभासमानाकारो यो निर्णयः तद्रूपा प्रतिभा—आ० टि० । (३) तुलना—“न ह्रीदमिरपमनेन वर्त्तव्यमित्यनुपजातप्रतिभाभेदः प्रवर्तते प्रत्यक्षाद्यव-  
गतेऽप्यर्थः । तत्र हि प्रमाणवार्त्तसमाप्तिः । प्रतिभातेनो हि लोक इतिवर्त्तव्यतामु समीहते ।”—विधिवि०  
पृ० २४७-४८ । (४) यागादी—आ० टि० । (५) साधनविशेषमुद्दिश्य कर्तुमध्यवसिते—आ० टि० ।  
(६) व्याख्या—“न हि ते प्रतिभाविदः ये सर्वेदमनिदृश्यात्मक प्रतिभामाचक्षुः । सद्यो हि स ।  
यय तु साध्यसाधनेतिवर्त्तव्यतावच्छिन्नायाः क्रियायाः प्रतिपत्तावनुकूला तत्प्रतिपत्त्या कार्योऽनुष्ठान-  
लक्षणं वर्त्तव्ये सहकारिणी वर्त्तव्यमिति प्रज्ञा प्रतिभामध्यगीप्सहि ।”—विधिवि० टी० पृ० २४७ ।  
“नियतसाधनावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्त्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा”—तत्त्वसं० पृ० पृ० २८६ । (७) तुलना—  
“आम्नायविधानामुपीषामतीतानामनवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिनिबद्धेषु ग्रन्थोपनिबद्धेषु च  
आत्ममनसो सयोगाद् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभ यथार्थनिवेदन ज्ञानमुपचते तदार्थमित्याचक्षते । तनु  
प्रस्तारेण देवर्षिणाम् । उदाचिदेव लोकिना गद्या नन्यवा ब्रवीति श्वो मे भ्राताऽगन्तेति हृदय मे  
वपयतीति ।”—प्रज्ञ० भा० पृ० २५८ । “प्रमाण प्रतिभ श्वो मे भ्राताऽगन्तेति दृश्यते ।”—न्यायमं० पृ०  
१०६ । “प्रतिभा ऊह तद्वत् प्रातिभम्”—योग० तत्त्वसं० ३।३३ । “प्रातिभ स्वप्रतिनोत्पन्नोपदेशिक  
ज्ञानम् ।”—योगवा० ३।३३ । “तत्र दृष्टवारण विनैव अकस्माद् व्यवहितविप्रवृष्टतीतानागनमूढमाद्यर्थ-  
गुरूपे सामर्थ्यं प्रतिभा ।”—योगसं० पृ० ५५ । “इन्द्रियविज्ञाधनावे यद्वर्त्तप्रतिभान सा प्रतिभा”—प्रज्ञ०  
कन्द० पृ० २५८ । “प्रज्ञा नवनबोलेयसालिनी प्रिनाऽत्रय पी ।”—अतं० चि० पृ० २ । (८) आलोचना-  
ज्ञान—आ० टि० । (९) निर्णयकतया । (१०) अग्निहोत्र जुहुवान् इत्यादि प्रवर्त्तकं हि याय चोदना ।

१ क्रियाविशेषे न पुरुष प्रवर्त्तयति सर्वस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात् परिस्फुरणं व० । २ सिद्धे प्र—य० ।

पस्य स्वप्नेऽप्यस्फुरणात् । प्राक्तनविकल्पत्रये तु प्रतिभात्व विरुद्धेय, अन्यथा सस्कारादिभ्यः समुत्पन्नानां स्मृत्यादीनामपि प्रतिभात्वानुपपन्नात् तदैवैक प्रमाण स्यात् ॥४॥

“केचिद् भक्तिरेव प्रवर्तकत्वाद् विधिः इत्याचक्षते । न खलु श्रद्धापरपर्याया भक्तिं विना परमात्मश्रवणानुमननध्यानादौ यागादौ वा प्रवृत्तिः संभवति । तदुक्तम्—  
“अनवच्छिन्नपूर्णत्वस्पर्शो नो भक्तितो विना ।” [ ]

भक्त्यशानुप्रेवेशेनेव च शास्त्रस्यापि राजशासनाद्भेदः । वैद्वि अन्तर्भक्तिश्च राजभयादीनामेव अन्तःपरिस्फुरणात् । उक्तञ्च—

“तथा शून्य भवत् पुसा शास्त्र शासनमावहत् ।

भक्त्यशन च तद्भिन्न लोके राजानुशासनात् ॥” [ ] इति ।

तदप्यसम्यक्, यस्मादुपपन्ना सती भक्तिः प्रवृत्तिनिमित्त स्यात्, उत्पत्तिश्चास्याः शब्दान्, निग्रहानुग्रहसमर्थपुरुषविशेषाद्वा ? न तावच्छब्दादेव, “द्रष्टव्योरेयमात्मा” [बृहदा० ४।५।६] इत्यादिशब्दश्राविणोऽशेषस्यापि प्रतिपत्तु आत्मादौ भक्त्युत्पत्तिप्रसङ्गात् तददर्शनादौ प्रवृत्तिः स्यात् । तच्छब्दश्रवणाविशेषेऽपि अशेषस्य तदनुत्पत्तौ नोसौ तन्मात्रहेतुका । यद्विशेषेऽपि यत्रोत्पद्यते न तत् तन्मात्रहेतुकम् यथा अवशिष्टेऽपि बीजे अनुत्पद्यमानोऽङ्कुरः, नोत्पद्यते च अवशिष्टेऽपि शब्दे तच्छब्दश्राविणोऽशेषस्य आत्मादौ भक्तिरिति । अथ निग्रहानुग्रहसमर्थान् पुरुषाविशेषादभिमतं फलवाञ्छता सोत्पद्यते, युक्तमेतत्, तस्यैव एव भक्तिशब्दवाच्यत्वप्रसिद्धेः । अपौरुषेयत्व तु वेदस्याऽयुक्तम्, तस्येव “पौरुषेयत्वप्रसिद्धेः । अनवच्छिन्नपूर्णत्वधर्मोपेतस्य चात्मनः प्रज्ञाद्वैतप्रवृत्तये प्रत्याख्यातत्वात्कथं कस्यचित्त्वेन तर्थाविधपुरुषादन्यतो” वा स्वरविपाणादिषु भक्तिः स्यात् ॥ छ ॥

(१) आदिपदेन प्रत्यक्षव्यापारगन्दी ग्राह्यी । (२) यथा [ जम ] स्मृत्यनुमानशब्दानाम-आ० टि० । (३) प्रतिभास्यम् । (४) एव च सति लिङ्गाद कोऽयमेष परिगृहीत इति चेत् यज् देवपूजायामिति देवताराधनभूतयागादे प्रकृत्यधस्य कतु व्यापारसाध्यता व्युत्पत्तिसिद्धा लिङ्गादयोऽभिदधतीति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।—वेदाध० पू० २२५ । (५) “भक्तिस्तु निरतिशयानन्दप्रियाय प्रयोजनसकृत्तरेवतृष्ण्यवज्ञानविषय एव ।”—सब० पू० ३४४ । वेदाध० पू० १५२ । (६) राज्यशासनम् । (७) श्रद्धया । (८) शास्त्रम् । (९) आत्मा वा जरे द्रष्टव्यं बोधव्यो मन्त्रव्यो निदिध्यासितव्यो मन्त्रव्यात्मनि सत्त्वे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इव सर्व विदितम् ।—बृहदा० २।४।५, ४।५।६ । (१०) आत्मदन्निग्रहणमनननिदिध्यासनेषु । (११) भक्तिः । (१२) शब्दश्रवणमात्रनिबधना । (१३) भक्ति न शब्दश्रवणमात्रहेतुका शब्दश्रवणमपि अनुत्पद्यमानत्वात् । (१४) समर्थस्वराराधनाया । (१५) यदि वेद ईश्वराराधनरूपा भक्ति विदधीत तदा धर्मोऽपि ईश्वरस्यैव प्रामाण्य स्यात् तथा च वेदस्य अपोष्यत्वव्याघात, ईश्वरस्य निग्रहानुग्रहकरणवत् वेदकृतृत्वमपि स्यादिति भावः । (१६) निरुपाधिपूर्वत्वविशिष्टस्य ब्रह्मणः । (१७) पू० १५०— । (१८) ब्रह्मणि । (१९) ईश्वरात् । (२०) वेदवाक्यादेर्वा ।

१—व्यप्रस्फुरणात् ब० । २—केचित्तु भ—ब० । ३—भक्ति संव न त—ब० । ४—प्रवृत्तिनिमित्त—थ० । ५—तत्तच्छब्द—थ० । ६—सत्फल थ० । ७—तस्यै एव ब० । ८—त्वप्रतिसिद्ध आ० । ९—आदिवद्भक्ति थ० ।





स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण तथैव अदृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानं ज्ञानमविसंवादकम् । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । क्वचिद्व्यभिचारात् साकल्येनानाश्वासे वक्त्रभिप्रायेऽपि वाचः कथमनाश्वासो न भ्यात् तत्रापि व्यभिचारसंभवात् ? तथानिच्छतः श्रुतिकल्पनादुदादेः उच्चारणात् ।

प्रायो बाहुल्येन श्रुतेः शब्दस्य तज्ज्ञानस्य वा विसंवादात् सर्वत्र सत्य-  
श्रुतावपि चेद् यदि अनाश्वासः । केयम् ? अपश्यतां  
कारिकाव्याख्यानम्- सौगतानाम् । किम् ? इत्याह-प्रतिबन्धम्, सम्बन्धं सन्तमपि  
योग्यतारूपमविनाभावम्, [सः] सर्वत्रानाश्वासः अक्षलिङ्गधियां समः तासामपि  
प्रायो विसंवाददर्शनादित्यभिप्रायः ।

व्यतिरेकमुखेन कारिका व्याचष्टे 'नहि' इत्यादिना । नहि नैव इन्द्रियज्ञान  
प्रमाणम् । केन विनेत्याह-अभ्रान्तमव्यभिचारीति वा विशेषण-  
विवृतिव्याख्यानम्- मन्तरेण, तद्विशेषणे सत्येव तत्प्रमाणमिति । कुत एतदित्याह-अति-  
प्रसङ्गात्, द्विचन्द्रादिज्ञानस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गात् । नहि निर्विशेषणस्य ज्ञानमात्रस्य  
प्रामाण्याभ्युपमे द्विचन्द्रादिज्ञानस्य प्रामाण्यव्यवच्छेदः कर्तुं शक्यः । अथ तद्विशेषणे  
सत्येव तत्प्रमाणं तेनायमदोषः, अत्राह-'तथा' इत्यादि । तथा अभ्रान्ताऽव्यभिचारि-  
प्रकारेण विशेषणे इन्द्रियज्ञानस्य अङ्गीक्रियमाणे श्रुतज्ञाने कोऽपरितोषः ? तस्यापि  
तद्विशेषणविशिष्टस्यैव प्रामाण्यमस्तु । ननु इन्द्रियज्ञानस्य अर्थकार्यत्वात् युक्तम्  
अभ्रान्तत्वमव्यभिचारित्वं वा न पुनः श्रुतज्ञानस्य विपर्ययात्, इत्याह-'यथा'  
इत्यादि । यथा येन योग्यताप्रकारेण कृत्तिकादेः सकाशात् यत् शकटादिज्ञाने तत्  
स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण, स्वभावप्रतिबन्धशब्देन तादात्म्यप्रतिबन्धस्तदुत्पत्तिसम्ब-  
न्धश्च गृह्यते 'स्यो भावः कारणम्' इति व्युत्पत्तेः, तमन्तरेण अविसंवादकं तथैव तेनैव  
प्रकारेण अदृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानज्ञानम् अदृष्टः तादात्म्यादिप्रतिबन्धो यस्मिन् अर्था-

(१) तुलना-"स्वभावेऽप्यक्षतः सिद्धे परे पयन्युज्यते । तत्रोत्तरमिदं वाच्यं न दृष्टेऽनुपपन्नता ।"

-प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ६८ । "न हि दृष्टेऽनुपपन्नता ।"-धवला० टी० पृ० ३२० । (२) तुलना-  
'विवक्षाप्रभवः वाक्यं स्वार्थं न प्रतिबध्यते । यतः कथं तत्सूचितेन लिङ्गेन तत्त्वव्यवस्थिति । वक्त्रभि-  
प्रायमानं वाक्यं सूचयन्तीत्यविशेषेणाक्षिपन् न पारम्पर्येणापि तत्त्वं प्रतिपद्यते । न च वक्त्रभिप्रायमेका-  
न्तेन सूचयन्ति श्रुतिदुष्टादेरन्यत एव प्रसिद्धे ।"-सिद्धिवि० पृ० २६४ । (३) अभ्रान्तादिविशेषण-  
सहितत्वे । (४) इन्द्रियज्ञानादिकम् । (५) अभ्रान्तादिविशेषणयुक्तस्यैव । (६) अथमन्तरेणापि  
अतीतानागतौ शब्दप्रयोगदर्शनात् । (७) तुलना-"स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यार्थोऽर्थं गमयेत् । तदप्र-  
तिबन्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात् ।"-न्यायवि० पृ० ४० ।

१-धमि-ज० वि० । २-धानमवि-ई० वि० । ३-श्रुतकल्प-ई० वि० । ४-स्य ज्ञानस्य थ० ।

५-प्रतिबन्ध आ० । ६-इवासे तासामपि थ० । ७-रोल्लिभिः-आ० । ८-इन्द्रियस्य थ० । ९-ज्ञात्  
शक-आ० । १०-रिप्रतिबन्ध-व० । ११-वाचकत्वं त-थ० ।

- भिधानज्ञाने तत्तथोक्तम्, तदित्थम्भूत ज्ञानमविसंवादकम् । कुत एतदित्याह—‘नहि  
इत्यादि । हिर्यस्मात् न दृष्टे ग्रहोपरागादो श्रुताविसवादकत्वे अनुपपन्न नाम । इन्द्रिय  
ज्ञानाविसवादकत्वेऽपि अनुपपन्नत्वप्रसङ्गात् । वहिर्ये अस्य प्रायो व्यभिचारदर्शना  
सर्वज्ञानाश्वासे च वक्त्रभिप्रायेऽपि प्रामाण्यज्ञ स्यादिति दर्शयन्नाह—‘क्वचिद्’ इत्यादि  
5 क्वचित् नियते विषये व्यभिचारात् साकल्येनाऽनाश्वासे श्रुतेरङ्गीक्रियमाणे वक्त्रभि  
प्रायेऽपि न केवल वहिर्ये वाचः कथमनाश्वासः साकल्येन न स्यात् ? अपि तु  
स्यादेव । कुत एतदित्याह—‘तत्रापि’ इत्यादि । तत्रापि वक्त्रभिप्रायेऽपि व्यभिचार  
सम्भवात् । एतदेव दर्शयन्नाह—‘तथा’ इत्यादि । येन हि ‘यौ भवतः प्रिया’ इत्यादि  
प्रकारेण ‘पर प्रहृत्य मिश्रान्तः पुरुषो वीर्यवान्’ इत्यादिप्रकारेण च श्रुतिद्वेष्ट कल्पनादुष्ट  
10 श्रुत तथा तेन प्रकारेण अनिच्छतः तथाभिप्रायरहितस्यापि श्रुतिकल्पनादुष्टादे  
आदिशब्देन गोत्रस्मरणनिर्दिष्टग्रह. उच्चारणात् भाषणात् । किञ्च—

आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च वहिर्यविनिश्चये ।

सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः ॥ २८ ॥

- विवृतिः—नहि पुरुषार्थाभिसन्धयः सर्वेऽर्थान् व्यभिचरन्ति, अन्यथा वागर्थव्य-  
15 भिचारैकान्तसम्भवात् । गचोऽभिप्रायविसवादे कुतस्तदनुमानम् ? सुगतेतरयोः आप्ते  
तरव्यवस्था कुतश्चित् साधनासाधनाङ्गव्यवस्थां वा स्वयमुपजीवन् “वक्तुरभिप्रेत  
तु गचः सूचयन्ति अभिप्रेतेण नार्थतत्त्वमपि” [ ] इति कथमविवक्ष्य ?

(१) श्रुतस्य । तुलना— अपि चायविवक्षायामयशब्ददशनात् विवक्षायामपि वचनविद्वषमि  
चारात् मवक्षानाश्वासान् कथं विवक्षाविशेषसूचका अपि ते स्युः । ‘स’मिति० टी० पृ० २६६ ।  
(२) अयविवक्षायामयशब्दोच्चारणमपि प्रतीयते यथा दवदत्तविवक्षाया मयदत्तोच्चारण गोत्रस्तत्त्वने  
ज्ञभूयत । (३) श्रुतिकुट्ट श्रुतिकटु । श्रुतिकटु पक्षवणरूपम् दुष्टम् । ‘काव्यप्र० पृ० २६७ । या नवत  
प्रिया इत्यत्र गृह्णारमवणनावसरे निषिद्धस्य रेफस्य प्रयोगादेव श्रुतिकटुत्व ज्ञेयम् । प्रिया इत्यत्र  
रफमयोग स्पष्ट एव । (४) कल्पनादुष्टञ्च विरदकल्पनायुक्तत्वात् अनुचितकल्पनाग्राहित्वाद्वा  
बाध्यम् । ‘पर प्रहृत्य इत्यत्र हि यथा वीर्यवान् पुरुष पर प्रहृत्य प्रहृष्टानन्तर विश्रान्त विषय  
धान् कण्ठस्तथा तस्य वीर्यवत्त्वं वणनमनुचितमेव । यदि हि प्रहृष्टानन्तर क्लान्त कथं वीर्य  
यान् ? क्लान्तववीर्यवत्त्वविरोधात् । (५) अयमर्थ—आप्तोक्तवहिर्यविनिश्चये सुगतेतरवच  
नया मत्यतरव्यवस्था वा अथाविषयत्वाविसृष्ट्या । हेतुवादाच्च वहिर्यविनिश्चये साधनेतरता कुत  
वहिर्यपुनरुत्पादविधानिनि । —सूची० ता० पृ० ४८ । सत्येतरव्यवस्था हि बाह्याप्रपञ्चप्राप्तिनिबधनव  
नया चास्मिन्—आप्तमीमांसायाम् (का० ८७) बुद्धिसिद्धप्रमाणत्वं बाह्यार्थं सति नास्ति । सत्या  
ननव्यवस्थेन युज्यते ‘याप्यनानिपु’ । तुलना— ‘वाक्यानामविसृष्टेण वक्त्रभिप्रेतवाचिनाम् । सत्यानृज  
व्यवस्था न तत्त्वमिथ्यात्वदर्शनात् ॥ मिथ्यादाननानात् मिथ्यायत्वं गिरा मतम् । —सिद्धिवि० पृ०  
५०२ । (६) तुलना— नानागीरवतान्वावाच्छब्दानां वस्तुभि सह नायगिद्धिस्तत्तत् हि वक्त्रभिप्रेत  
मूवता ॥ ३।२१२ ॥ वस्तुव्यापारविषया योर्वर्षो बुद्धौ प्रकाशते । प्रामाण्यं तत्र गृह्यस्य नायनव

१—त तत्त्वान्—२०, थ० । —प्राय प्राप्ता—जा०, थ० । ३—प्राह यन हि जा० । ४ स्वभाव  
२० । ६—य पु—२० । ६ धुनविकल्पना—जा०, थ० । ७—विषयपरिग्रह—थ० । ८ सवर्णान् ज० वि० ।

यो यस्याऽव्यञ्जकः स तस्य आप्तः तदुक्तेः तद्वचनात् हेतुवादाच्च लिङ्गादि-  
वचनाच्च बहिरर्थाविनिश्चये अङ्गीक्रियमाणे सत्यं सुगतवचनम्  
कारिना यात्यानम्-  
इतरदसत्यं कपिलादिवचनम् तयोः व्यवस्था का ? न काचित्,  
सर्वमसत्यमेव स्यात् । अतः सुगतवचनादपि न कचित्प्रवृत्तिः स्यात् । तथा साधनेतरता  
कुतः ? पक्षादिवचनानि साधनम्, इतरत् तद्दूषणवचनं तयोर्भावस्तरा सापि कुतः ?  
नैव स्यात् । तथा च 'यन् सत्तन् सर्वं क्षणिकम्' इत्यादेरसाधनाद्गतया निग्रहस्थानता  
स्यादित्यभिप्रायः ।

व्यतिरेकद्वारेण कारिकार्थमाह—'नहि' इत्यादिना । न खलु पुरुषाभिसन्धयः  
पुरुषाभिप्रायाः सर्वे अर्थान् व्यभिचरन्ति । कुत एतदित्याह—'अन्यथा'  
विवृतिव्याख्यानम्-  
इत्यादि । अन्यथा तेषां तद्व्यभिचारप्रकारेण वागर्थव्यभिचारैका-  
न्तसम्भवात्, वाचामर्थस्य वाह्यस्य अन्यस्य वा यो व्यभिचारैकान्तः तस्य संभवात् ।  
वाचोऽभिप्रायविसंवादे सति कुतः न कुनश्चित् तस्य अभिप्रायस्य अनुमानम् । अथे-  
दानीं परस्योन्मत्तचेष्टितं 'सुगत' इत्यादिना दर्शयन्माह—सुगतस्य हि आर्तत्वव्यवस्था

निबन्धनम् ॥ १।४ ॥ यद्यथा वाचकत्वेन वक्तुर्भविनियम्यते । अनपेक्षितवाह्यार्थं तत्तथा वाचकं मतम्  
॥ १।१६७॥—प्रमाणवा० । "साक्षाच्छब्दा न वाह्यार्थप्रतिबन्धविवेकतः । गमयन्तीति च प्रोक्तं विवक्षामूच-  
कास्त्यमी ॥"—तत्त्वस० पृ० ७०२ । "यथोक्तम्—वक्तुरभिप्रायं मूचयेयु इत्यादि ।"—तर्कभा० मो० पृ० ४ ।

(१) "आप्तं खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यायंस्य चिरुपायपिपया प्रयुक्त उपदेष्टा ।  
साक्षात्करणमर्थस्य आप्तिं तथा प्रवर्तते इत्याप्त ।"—न्यायभा० १।७। "आप्तिं साक्षादर्थप्राप्तिं यथार्था-  
पलम्भं तथा वर्तते इत्याप्तं साक्षात्कृतधर्मा यथार्थप्राप्त्या श्रुतार्थग्राही । आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोष-  
याडिदु । क्षीणदोषोऽनृत वाक्यं न ब्रूयाद्वैतवसंभवात् । स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविबजितः । पूजितस्त-  
द्विधेनित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः ।"—साध्यका० माठर० पृ० १३ । "यो यत्राविसवादकः स तत्राप्त  
परोऽज्ञानं तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादं तदर्थज्ञानात् ।"—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३६ । (२) "तत्र  
पक्षादिवचनानि साधनम्"—न्यायप्र० पृ० १ । (३) 'साधनदोषोद्भावानानि रूपानि"—न्यायप्र० पृ०  
८ । (४) "तद्वत् प्रमाणं भगवान् यथाभिहितस्य सत्यचतुष्टयस्याविसंवादानात्तत्त्वेन परैरज्ञातस्य प्रकाश-  
नाच्च ।"—प्रमाणवा०, मनोरथ० १।१९ । "तायित्वाच्च भगवतः सुगतस्य प्रामाण्यं तथाहि—"तायं स्वदृष्ट-  
मार्गोऽस्ति वैकल्याण्यं नानृतम् । दयालुत्वात् परार्थञ्च सर्वार्थभाषिणो गतः । तस्मात्प्रमाणं तायां वा  
चतुः सत्यप्रकाशनम् ॥—दुःखहेतुनिवर्तकत्वेन स्वयं दृष्टस्य मार्गस्योन्निरुद्धेन तायां करणे कार्योपचारात् ।  
तथा हि सत्त्वान् तायेतत्तद्योगात्तायित्वम् । स च वैकल्याण्यं नानृतम् । आत्ममुखाद्यभिलाषादिना कश्चि-  
दगम्यं वदति अज्ञानात् । प्रहीणस्मदर्शनस्य साक्षात्कृततत्त्वस्य तदुभयं नास्ति । विशेषतः सत्याभिधान-  
हेतुरेव दृष्टास्तीत्याह—दयालुत्वाच्च परार्थञ्च सर्वस्य मार्गाभ्यासादेरारम्भेऽभियोगतः परार्थमेवोद्दिश्य भग-  
वानभिसम्बुद्धं कथन्तस्य मिथ्याभिधानेन सत्त्ववचनानां शङ्काऽपि । तस्मात्तायित्वात् प्रमाणं भगवान् ।  
यथादृष्टार्थप्रवक्तृत्वं हि सदादित्यमेवेति प्रथमप्रमाणलक्षणयोगात् प्रामाण्यमनेनोक्तम् । द्वितीयलक्षण-  
योगमप्याह—तायां वा चतुः सत्यप्रकाशनम् । परैरज्ञातस्य सत्यचतुष्टयस्य प्रकाशनं वा तायां तद्योगात्  
तायां प्रमाणं भगवानुक्त ।"—प्रमाणवा०, मनोरथ० १।१४७ ४८ । "तत्र सुगतमेवादु सर्वज्ञं मतिशालि-  
नम् । प्रधानपुरुषार्थज्ञं च चैवाहुर्भिषगवरम् ॥"—तत्त्वस० पृ० ८७८ ।

कुतश्चिद् अनुपदेशाऽल्लिङ्गाविसंवादिचैतुरार्यसत्योपदेशात् कपिलादेस्तु अनाप्तव्यवस्थां  
विसंवादिप्रधानादितत्त्वोपदेशात् स्वयम् आत्मना उपजीवन्, साधनासाधनाङ्गव्य-  
वस्थां वा, त्रिरूपहेतुवचनस्य हि स्वसाध्यसिद्ध्यङ्गव्यवस्था पक्षादिचनस्य तु तद-  
सिद्ध्यङ्गव्यवस्था तां वा उपजीवन् “वक्तुरभिप्रेतं तु वाचः सूचयन्ति अविशेषण  
नार्थतत्त्वमपि” [ ] इति एवं ब्रुवाणो धर्मक्रीत्यादिः कथमविक्रवः स्वस्थः ?

अत्राह सौगतः—वक्त्रभिप्रायेऽपि यदि वचनस्य प्रामाण्यमस्ति, मा भूत्; किन्नष्टं प्रमाण-  
द्वयवादिनः ? व्यवहारिजनानुरोधादेव तत्र तस्य प्रामाण्याभ्युपगमादित्याशङ्क्याह—

“पुंसश्चित्राभिसन्धेश्चेद् वागर्थव्यभिचारिणी ।

कार्यं दृष्टं विजातीयाच्छक्यं कारणभेदि किम् ? ॥२९॥

विवृतिः—श्रुतेर्यहुलं बहिरर्थाविसंवादेऽपि तदर्थप्रतिबन्धासिद्धेः वक्त्रभिप्रा-  
यानुविधायिन्याः सर्वत्र तदर्थानाश्वासः इति चेदुक्तमत्र—‘तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां  
विनापि परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविसंवादः’ इति । अपि च वृक्षोऽयं शिशपात्वात् अग्निरत्र  
धूमादिति वा कथमाश्वासः ? कचिल्लताचूतदेरुपलब्धेः शिशपायाः स्वयमवृक्षत्वेऽ-  
प्यविरोधात्, काष्ठजन्मनो मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य अशनिजन्मनः तदर्धान्तर-  
जन्मनश्च साकल्येन अग्निस्वभावाविरोधे पुनः अग्निजन्मैव धूमः नार्थान्तरजन्मा  
इति कुतोऽयं नियमः ? यतः कार्यहेतोरव्यभिचारात् ‘धूमादग्निरत्र’ इत्याश्वासः ।  
कस्माच्चिदन्यथानुपपत्त्या परोक्षार्थप्रतिपत्तौ श्रुतज्ञानस्य स्वयमदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तेः

(१) “वक्तव्यव्यक्त्यानि, तद्यथा दुःख समुदयो निरोधो मार्गश्चेति ।”—धर्मसं० पृ० ५ ।

“सत्यानुक्तानि चत्वारि दुःख समुदयस्तथा । निरोधो मार्ग एतेषा यथाभिसमय नम ॥”—अभिष

मंको० ६।२ । (२) “अथवा साध्यते येन परेषामप्रतीतोऽर्थ इति साधन त्रिरूपहेतुवचनसमुदायः,

तस्याङ्ग पक्षधर्मादिवचनं अथवा तस्यैव साधनस्य यत्राङ्ग प्रतिज्ञोपपत्तिनिगमनादि ।”—बाह्याय०

पृ० ६१ । (३) वक्त्रभिप्राये । (४) शब्दस्य । (५) तुलना—“विचित्राभिसन्धितया व्यापारव्याहारादि-

साक्षर्येण वचिदप्यतिशयानिर्णये नैमर्थक्याद्विशेष्यं ज्ञानवतोऽपि विसंवादात् न पुनराश्वास लभे-

महि ।”—अष्टा०, अष्टसह० पृ० ७१ । “वचदि, वागाप्तवचनम्, अर्थव्यभिचारिणी बाह्यार्थाविसं-

वादिनी स्यात् । कस्मात् ? विद्याभिमन्वे चित्र सत्यासत्यादिरूपो नानाभिसन्धिरभिप्रायो विवक्षा

तस्मात् । कस्य ? पुत्रो वक्तु ‘सरामा अपि वीतरागवञ्चेष्टन्ते’ इति वचनात् । तर्हि विजातीयादपि

कारणात् कार्यं दृष्टमविच्छेद्यं स्यात् । नतस्तत् कारणभेदि कारण प्रतिवियत् स्वात्मलभनिबन्धन

भिनति विजातीयादिसिन्धोत्वेव शील किं शक्य स्यात् ? न स्यादवेत्यर्थः । तस्य यत् कुनश्चिदुत्पत्ते-

रविरोधात् । न सत्यनियतकारणत्रयं कार्यं कारणभेदं नमयत्युक्तं ।”—तथो० ला० पृ० ४९ । (६)

तुलना—“न चैव वादिन किञ्चिदनुमान नाम, निरभिमानोनामपि बहुल कार्यस्वभावानियमोप-

लम्भात् । मति काष्टादिमामग्रीविषय वचिदुपलब्धस्य तदभावे प्रायसांशुपलब्धस्य मण्यादिकारण-

कृत्वापि नमवान् । यत्रानुपीयो यत् यत्रेतिनस्तज्जानीयात्तादृमिति दुर्लभनिबन्धताया धूमधूमकेत्वा-

दीनामपि व्याप्यापन्नभाव कथमिव निर्णयेन वृक्ष निशपा वादिनि लताचूतादर्य वचिदेव दशनात्

प्रेषावता किमिव नि गंक चेनः स्यात्”—अष्टा०, अष्टसह० पृ० ७२ । सन्धति० टी० पृ० २६६ ।

१ अनुपदेशात् सिमादि-२० । २ च २० । ३-वत्यां वा ४० । ४ कार्यदृष्ट ६० वि० ।

क्वचिदविसंवादस्य अन्यथानुपपत्तेः सिद्धं प्रामाण्यमिति ।

पुंसो यः चित्रोऽभिसन्धिः “सरागा अपि बीतरागवच्चेत्ते” [ ]

कारिकाव्याख्यानम्—

इत्यभिधानात्, तस्मात् वाक् चेद् यदि अर्थव्यभिचारिणी  
कार्यं दृष्टं विजातीयाद् अभिमतकारणजातिपरिहारेण जात्य-

न्तरादपि । ततः किं जातमित्यत्राह—‘शक्यम्’ इत्यादि । शक्यं शक्त कारण-  
भेदि कारणविशेष गमयितुं किम् ? नैव शक्यमित्यर्थः । कार्यग्रहणमुपलक्षणं स्वभा-  
वस्य, अतोऽनुमानस्याप्यभावः इत्यभिप्रायः ।

कारिका विवृण्वन्नाह—‘श्रुतेः’ इत्यादि । श्रुतेः शब्दस्य बहुलं प्राचुर्येण बहिरर्थावि-  
संवादेऽपि न केवलं तदभावे, तदर्थेनैव बहिरर्थेन प्रतिबन्धस्य तादात्म्य-  
तदुत्पत्तिरक्षणस्य असिद्धेः कारणात् । कथंभूतायाः श्रुतेः इत्याह— 10

यत्रभिप्रायानुविधायिन्याः । किं किमित्याह—सर्वत्र तदर्थानाश्वासः बहिरर्थाना-  
श्वास इति एव चेत् अत्राह—‘उक्तम्’ इत्यादि । अत्र पूर्वपक्षे उक्तमुत्तरम् । किं तदि-  
त्याह—तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनापि परोक्षार्थप्रतिपत्तेः कारणात् अविसंवादः  
श्रुतेः इति एतत् । ‘अपि च’ इत्यादिना परपक्षेपि तदूपायं योजयति । अपि च किञ्च  
‘अयं दृश्यमानो भावः वृक्षः शिशपात्वात्’, ‘अत्र पर्वते अग्निः धूमात्’ इति वा 15  
यदनुमानं तत्र कथं नैव आश्वासः ? कुत एतदित्याह—‘क्वचिद्’ इत्यादि । क्वचिद्  
देशविशेषे लताचूतादेः, आदिशब्देन लतावदर्यादिपरिग्रहः । तस्या उपलब्धेः कार-

(१) तुलना— चतसेभ्यः सम्यक्किमिध्याप्रवृत्तयस्ते चातीन्द्रियस्वप्नप्रभवकायवाग्ध्यवहारानुमेया

स्य व्यवहाराश्च प्रायशो बुद्धिपूर्वमपि क्तुं शक्यते पुरपञ्चावृत्तिवत्तत्त्वात् न च चित्राभिसन्धित्वात् ।  
तदयं लिङ्गसंकरात् कथमनिश्चिन्वनं प्रतिपद्यत ? दुर्बोधत्वात् नुप्राप्यत्वाद्ययुगदोषनिश्चायकानां  
प्रमाणानाम् चैतसेभ्यः इत्यादिना व्याघट्टः । चेतसि भवा चैतसा गुणदोषा । चतसेभ्यः गुणैभ्यः  
कृपावैराग्यबोधविहेतुभ्यः सम्यक्प्रवृत्तयः यथाप्रवृत्तयः चैतसेभ्यो दोषभ्यः रागादिभ्यो मिथ्याप्रवृत्तयो  
विपरीतप्रवृत्तयो भवन्ति । ते चेति परेषां चैतसा गुणदोषा चेतोभमत्वेनातीन्द्रिया ततो न प्रत्यक्षगम्या ।  
किन्तु स्वस्माद् गुणदोषरूपात् प्रभव उत्पादो यस्य कायवाककमणः तेन कायलिङ्गनानुमेया । तच्च  
नास्ति । यस्माद् व्यवहाराश्च कायवाककमलक्षणा प्रायशो बाहुल्येन बुद्धिपूर्वमिति कृत्वा प्रतिसंख्यानं  
अन्यथापि क्तुं शक्यन्त । तथाहि सरागा अपि बीतरागवत् आत्मानं दृश्यन्ति बीतरागाश्च सरागवत् ।  
किं कारणम् ? पुरुषपञ्चावृत्तित्वात् व्यवहाराणां तेषां चेति पुनः चित्राभिसन्धित्वात् चित्राभिप्रायत्वात्  
ततो यद्यपि व्यवहाराः प्रवृत्तन्ते इति नास्ति गुणदोषप्रभवाणां व्यवहाराणां विवेकनिश्चयः । तदिति  
तस्मादयमनुमाता पुमान् लिङ्गसंकरात् लिङ्गव्यभिचारानिश्चिन्वनं क्षीणदोष कथमागमस्य कर्तारं  
प्रतिपद्यत नैवेति निगमनीयम् । ‘प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० १।२२२ । यथा रक्तो जीवति तथा विर-  
क्तोऽपि । एव न वचनमात्रात्, नापि विद्यापातं प्रतिपत्तिं अभिप्रायस्य दुर्बोधत्वात् व्यवहारसंकरेण  
सर्वेषां व्यभिचारात् । विरक्तो हि रक्तवच्चेष्टते रक्तोऽपि विरक्तवदित्यभिप्रायो दुर्बोधः —प्रमा-  
णवा० स्ववृ०, टी० १।१४ । ‘क्षीणावरणं समधिगतलक्षणोऽपि सन् विचित्राभिसन्धिपरम्यथा देशय-  
दिति विप्रलम्भशक्ती —प्रमाणसं० पृ० ११९ । अष्टसह० पृ० ७१ । तत्त्वावलोक० पृ० ९ । सूत्रक-  
तांगटी० पृ० ३८४ । लघी० ता० पृ० ४९ । (२) पृ० ४३५ ।

१—भावे तेन बहि—आ०, व० । ३—न प्रति—थ० । ३ क्वचित्किमि—थ० ।

णात् । तथा च शिंशपायाः स्वयम् आत्मना अवृक्षत्वेऽप्यविरोधात् कथमाश्वासः ?  
 काष्ठजन्मनः पात्रस्य मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य तथाऽशनिजन्मनः तस्मादशनि-  
 भावात् पाष्टाद्यर्थः तदन्तरं तज्जन्मनश्च साफल्येन अनवयवेन अग्रिस्वभावाविरोधे पुनः  
 अङ्गीक्रियमाणे अग्रिजन्मैव धूमो नार्थान्तरजन्मा' इति कुतोऽयं नियमः यतो  
 5 नियमान् कार्यहेतोरव्यभिचारात् 'धूमादग्रित्र' इत्यादौ आश्वासः स्यात् । अथ  
 "सुविवेचित कार्य कारणञ्च व्यभिचरति" [ ] इत्युच्यते । अत्राह—'कस्यचिद्'  
 इत्यादि । कस्यचित् स्वभावकार्यविशेषस्य वा अन्यथा साध्याभावप्रकारेण अनु-  
 पपत्तिः तथा परोक्षार्थप्रतिपत्तौ अङ्गीक्रियमाणाया श्रुतस्य स्वयम् आत्मना अदृष्टता-  
 दात्म्यतदुत्पत्तेः 'भादौ चोक्तपुरस्क पुवत्' [ जनेन्द्रव्या० ५।१।५३ ] इत्यतो नपुंसकत्वा-  
 10 भावः । क्वचिद् द्वीपादौ यः तस्य अविशंवदः तस्य अन्यथानुपपत्तेः सिद्धं  
 प्रामाण्यमिति ॥ छ ॥

प्रमाणं साभासं निपयफलसंख्यावित् इहै,

प्रसन्नगर्भभीरैः कतिपयपदैर्येनै गदितम् ।

स जीयाद् दुस्तर्कः प्रतिभिररविः न्यायजलधिः,

15 जगज्जन्तुस्यान्तप्रवरकुमुदेन्दुर्जिनेपतिः ॥ छ ॥

इत्वं समस्तमतयादिकरीन्द्रर्पमुन्मूलयन्नमलमानन्दप्रहारः ।

स्याद्वादवेसरसटाशततीत्रमूर्तिः पञ्चाननो मुचि जयत्यक्लङ्कदेवः ॥ छ ॥

इति प्रभावचन्द्रधिरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयलयालङ्कारे चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः ।



एयमन्तर्भूतप्रत्यक्षादिपरिच्छेदचतुष्टयः प्रमाणप्रवेशः परिच्छेदः समाप्तः ॥ छ ॥

20

ग्रन्थप्रमाणं ११३० ॥ छ ॥



(१) आदिपदेन तृण-अरणिनिर्मयनादयो याह्या । (२) तुलना—'यत्नत परोक्षित कार्यं  
 कारणं नातिवर्तते इति चेत् स्तुतम् प्रस्तुतम्'—अष्टा०, अष्टम० पृ० ७२ । प्रमेयरत्नमा० ३।१०१ ।  
 लघी० ता० पृ० ४९ । "अथ सुविवेचित कार्यं कारणं न व्यभिचरतीति न्यायाद् ।"—सम्प्रति० टी० पृ०  
 २६६ । (३) अदृष्टं तादात्म्यतदुत्पत्तौ यस्य तत् अदृष्टतादात्म्यनदुत्पत्तिं तस्य अगृहीतस्वभाववायादिरूपस्य  
 ध्युन्नानस्य इत्ययम् । जत्र अदृष्टतादात्म्यनदुत्पत्तिमन्द ध्युत्स्य विनाशयत्नान् नपुंसकलिङ्गोऽपि भादौ  
 इत्यादि मुत्तानुकारण भादौ जवादौ मुचि उक्तपुस्कमिगन्त नप् (नपुंसक) वा पुवद् भवति इति पुल्लिङ्ग  
 प्रयुक्तं नपुंसकलिङ्गं नु नुमागम मति 'अदृष्टतादात्म्यनदुत्पत्तिन' इति प्रयोगः स्यात् इति नाव । (४)  
 ध्युत्स्य । (५) अस्मिन् सन्धे । (६) प्रभावचन्द्रज सच्युता । (७) न्यायकुमुदचन्द्र तत्तर्ता  
 प्रभावचन्द्रज अनन विनाशयन मूर्तिन । (८) जिन पतिपत्य ।

१ भव्यसन्धे-आ० । २ भादौ चोक्त-ब०, भादौ चोक्त-प्र० । ३ अनुपपरि-आ० । ४-यत्रमा-  
 थ० । ५-तत्र प्रथम परिच्छेद-ब० ।

# द्वितीये नयप्रवेशे

पञ्चमः नयपरिच्छेदः ।



त्रैलोक्योद्भूतवर्तित्वस्तुविषयज्ञानप्रभावोदय ,

दुष्प्रापोऽप्यकलङ्कदेवसरणिं प्राप्नोऽन पुण्योदयार ।

स्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च शतशः सोऽनन्तवीर्योक्तिव ,

भूयान्मे नयनीतिदत्तमनस तद्वोधसिद्धिप्र ॥ छ ॥

अथ प्रमाण परीक्ष्येदानीं नयपरीत्यार्थमुपक्रमते—

भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः ।

ये तेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः ॥ ३० ॥

विवृति.—द्रव्यपर्यायात्मकमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् प्रमेय वस्तु तत्त्वम्, तत्रैव

(१) अकलङ्कदेवसरणिं । (२) प्रभाव इत्य । (३) उदयतेयम्— तथा चाहाकलङ्क भदा भदा यतोऽपेक्षानये —आख० नि० मलय० प० ३७० B । गुह्यतत्त्ववि० पृ० १६ B । उक्तं त निश्चीयन्ते । के ? नयदुर्नया । नयाश्च दुर्नयाश्च नयाभासाश्च नयदुर्नया । काभ्याम् ? अपेक्षान पेक्षाभ्याम् अपेक्षा प्रतिपक्षधर्माकाङ्क्षा अनपेक्षा ततोऽया सवधका त ताभ्याम् । किंविनिष्ठा ? ते य भदाभदाभिस धय भदो विनाप पर्याय व्यतिरेकश्च अभद सामा यमेकश्च सादश्यञ्च भदा द्वाभदश्च भदाभदौ तयो भदाभदयोरभिस धयाऽभिप्राया ध्रुतज्ञानिनो विकल्पा इत्यय । वस्मिन् ? जय प्रमेय जीवादी । किंविशिष्ट ? भदाभदात्मके भदाभदावात्मानो स्वभावो यस्य तत्तथोक्तत तस्मिन् । —लघी० ता० प० ५० । (४) निरपेक्षत्व प्रत्यनीकधमस्य निराकृति सापेक्षत्वमुपेक्षा । —अष्टश० अष्टसह० पृ० २९० । (५) तम्हा सत्त्व वि नया मिच्छादिटी सपक्वपडिबद्धा । अणो णिस्तिआ उण हवति सम्मतसम्भावा । —स मति० ११२१ । निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽयकृत । —आप्तमी० १०८ । नया मापेक्षा दुर्नया निरपेक्षा लोकतोऽपि सिद्धा —सिद्धिबि० टी० पृ० ५३७ B । तथा चोक्तम्—अथस्यानकरूपस्य धी प्रमाण तदवधी । नयो धर्मातरापेक्षी दुर्नय स्तन्निराकृति ॥ —अष्टश० अष्टसह० प० २९० । धर्मातरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदु णयाना प्रकारान्तरामभवाच्च प्रमाणात्तदत्त स्वभावप्रतिपत्त त प्रतिपत्त तदन्यनिराकृतेश्च । —अष्ट १० अष्टसह० पृ० २९० । सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिघाथो मीयत दुर्नोतिनयप्रमाणे । —अययोग्य० इली० २८ । (६) तुलना—पात० महाभा० ११११ । योगभा० ३१३३ । यायकु० पृ० ४०१ टि० ६ । (७) तुलना— उपपन्न वा विणए वा ध्रुवे वा स्थानभा० स्था० १० । सह्य वा —ध्या० प्र० १० ८ । ३०९ सत्पदद्वार । दव्य स लव्यविषय उपादव्ययध्रुवत्तसजुत् । गुणपञ्चयासय वा ज त भण्णति स वण्ण ॥ —पञ्चा० गा० १० । अपरिचत्तसहावेनुपादव्ययध्रुवत्तसजुत् । गुणव च सप जाय ज त दव्य ति वुच्चति ॥ प्रवचन० २१३ । सदद्रव्यलक्षणम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् —तत्त्वावसू०

१ प्राप्ताऽत्र आ० थ० । २ एते मु० लघी० । ३ तेषानपेक्षा—४० ।

कथञ्चित् प्रमाणतदाभासयोर्भेदात् । नयो ज्ञातुरभिप्रायः । सै द्रव्यार्थिकः पर्याया-

५। २९, ३० । दब्ब पज्जवविउय दब्बविउत्ता य पज्जवा णयि । उप्पायद्विभगा हदि दविय उक्खण एय ॥ -सप्तमि० गा० १। १२ । नोत्पादस्थितिभङ्गानामभाव स्यामिति त्रयम् । मो० इलो० ५० ६१९ । उत्पादस्थितिभङ्गाना स्वभावादनुविधिता । तद्वतूनामसामर्थ्यादतस्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥ -सिद्धिचि० ५० १६७ ।

(१) तुलना- नया प्रापका कारका साधका निवतका निर्भासिका उपलम्भका व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम् । जीवादीन पदार्थानि नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निवतयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्तीति नया । -तत्त्वार्थाधि० भा० १। ३५ । स्याद्वादप्रविभक्तायविशेष व्यञ्जको नय ॥ -आप्तमौ० का० १०६ । 'वस्तुन्यनकान्तात्मनि अविरोधन हेत्वपणात् साध्यविपश्य यापात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नय ।' -सर्वार्थसि० १ । ३३ । 'नातूनामभिप्रायः खलु नयास्ते द्रव्यपयायन । नयो नातुमत मत । सिद्धिचि० टी० ५० ५१७ A, ५१८ A । प्रमाणप्रवर्गाणि साधविपश्यप्रवणप्रवण नया । -राजवा० १। ३३ । एषण वस्तुनोऽप्यन्यधम्मणो जमवधारणणव । नयण धम्मण तओ होई नओ सत्ताहा सो य ॥ -विणया० गा० २६७६ । नयदि ति नओ भणियो बहूहि गुणपज्जए हि ज दब्ब । परिणामखत्तकाल-तरेणु अवियदुसम्भाव ॥ -यवला टी० ५० ११ । प्रमाणपरिगृही तार्थिकव्यवस्थव्यवभायो नय -यवला टी० ५० ८३ । 'सारसप्रहेष्युक्त पूज्यपाद -अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽप्यतमपर्यायाधिगम कतव्य जात्यहेत्वपेक्षो निरवयवप्रयोगो नय । प्रभाव द्रव्यट्टारकैरप्य भाणि-प्रमाण यपाध्यपरिणामविकल्पवगोक्तानां विपश्यप्रवणप्रवण प्रणिधिय स नय इति । -यवला टी० वेवनाज० । नयन्ते अर्थानि प्रापयन्ति गमयन्तीति नया वस्तुनो नवार्थकस्य अन्यतमकात्मकान्तरपरिग्रहामका नया इति । -नयचक्र० ५० ५२६ A । यथोक्तम्-द्रव्यस्यानकारमनोऽप्यतमकात्मकधारणम् एकान्नयनाप्रया । -नयचक्र० ५० ६ B । नयन्तीति नया अनवयवार्थक वस्तु एकधर्मेण नित्यमेकधर्मानित्यमवति वा निरूपयति । -तत्त्वार्थहरि० १। ६ । तत्त्वार्थसिद्ध० १। ६ । स्वार्थवर्गनिर्णीतिः क्षणो हि नय स्मृत । (५० ११८) नीयत गम्यते यन धुतायांशो नया हि स । -तत्त्वार्थसिद्ध० ५० २६८ । नयविव० इलो० ४ । अनिरादृतप्रतिपक्षो वस्त्वप्राप्ति नानुरभिप्रायो नय । -प्रमेयक० ५० ६७६ । ज णाणीण विवप्य मुयभय वत्थुसमयहर्ण । त इह नय पउत्ता णाणी पुण तहि णाणहि ॥ -नयचक्र गा० २ । नुतविकल्पो वा नातुरभिप्रायो वा नय । नानास्वभावम्यो व्यावृत्त एवमिन् स्वभाव वस्तु नयति प्राप्नोतीति वा नय । -आशयप० । तदद्वारायान पुनरनवयवमनिष्टा धममपनप्रवण परामश उपममस्वीकारनिरस्कारपरिहृरद्वारण वत्तमानो नय । -यायावता० टी० ५० ८२ । वस्तुनोऽप्यतमस्य प्रमाण (ज) व्यञ्जितमन । एवमस्य नता य स नयोऽनवयव स्मृत ॥ -तत्त्वार्थसार ५० १०६ । नीयत यन धुतास्यप्रमाणविपरीततत्त्वार्थस्याग तदितरायांशो मान्यत स प्रतिरत्तुरनिप्रायविपरी नय । -प्रमाणनय० ७। १ । स्या० म० ५० ३१० । प्रमाणपरि उद्वेगस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एवमप्राप्ति तत्तिरायाप्रतिपक्षिण अध्यवसायविपरी नया । -अनन्तकभा० ५० २१ । प्रवृत्तवस्त्वप्राप्ति तत्तिरायाप्रतिपक्षिण अध्यवसायविपरी नय । -नयचक्र ५० ७९ । नयचक्र ५० ९७ II । मय्यविवाचायमनन सर्वेपि नया मिथ्या एव, तथाहि- अनवयवार्थक वस्त्वधारणपूर्वकमेव निवर्तयान्यतम धमण प्रतिपाद्यस्य बुद्धि नीयत प्राप्यत यनानिप्रायविपरी नय ज्ञानुरनिप्रायविपरी नय । इह हि यो नया नयान्तरमापधत्तया स्यात् प्राप्ति-उत्तरं वस्तु प्रतिपक्षो स परमापध परिपूण वस्तु भूलाति इति प्रमाण एवान्तर्भवति वस्तु नयवा दाग्निरिदेततया स्वाभिप्रायवध धमण अवधारणपूर्वक वस्तु परिच्छिन्नमभिप्राय स नय वस्त्वप्राप्ति परिग्राह्यतान् । -प्राव० नि० मत्त० ५० ३६९ १ । (२) उक्त्व मन्वन्तुविषयम्-नयया द्रव्यास्तिकं मातृशरणात्मिकम् उपप्राप्तिरूपं पयायात्मिकमिति । -तत्त्वार्थाधि० भा० ५। ३१ । इत्थं द्रव्या



र्थिकश्च, द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवदिति वा द्रव्यम्, तदेव अर्थोऽस्ति यस्य सः  
द्रव्यार्थिकः सोऽभेदाश्रयः ।

भेदो विशेष, अभेद सामान्यम्, तो आत्मानौ यस्य तस्मिन् तदात्मके  
कथञ्चित्तत्त्वभावे वस्तुनि, न नैयायिकादिपरिकल्पिते, तस्य प्रागेष्टा-  
कारिका यस्यानम्  
पास्तत्वान् । कथम्भूते तस्मिन्नित्याह—ज्ञेये प्रमाणपरिच्छेदे । एतच्च  
विशेषणमपि साधन प्रत्येयम् । तत् 'सर्वं वस्तु भेदाभेदात्मकं ज्ञेयत्वान्' इति गम्यते,  
यथा 'सदनित्यम्' इत्युक्ते सत्त्वादिति । नचायमनैकान्तिको हेतुविरुद्धो वा सर्वथा  
भेदे अभेदे वा प्रमाणपरिच्छेद्यस्य विषयपरिच्छेदे प्रतिक्षिप्तत्वान् । तत्र भेदाभेदा-  
भिसन्धयः सामान्यविशेषविषया पुरुषाभिप्राया ये ते लक्ष्यन्ते निश्चीयन्ते  
नया, दुर्नयाश्च । काभ्यामित्याह—अपेक्षाऽनपेक्षाभ्याम्, अपेक्षया नया  
इतरया दुर्नया इति ।

स्तिक मातृकापदास्तिक च द्रव्यनय । उत्पत्तास्तिक पर्यायास्तिक च पर्यायनय । —तत्त्वाथहरि० ५ ।  
३१ । तत्त्वाथसिद्ध० ५१३१ । द्रव्यद्वितीयं पञ्चवर्ण्यो यः सेसा विषयप्राप्तिः । —समति० ११३ ।  
नयो द्विविधः द्रव्याधिक पर्यायाधिकश्च । —सर्वाथसि० ११६ । द्वौ मूलभेदौ द्रव्यास्तिक  
पर्यायास्तिक इति । अथवा द्रव्याधिक पर्यायाधिक । —राजवा० १३३ । तत्र मूलनयो द्रव्यपर्याया  
धगोचरी । मिथ्यात्व निरपेक्षत्वं सम्यक्त्वं तद्विषयम् ॥ सिद्धिवि० टी० प० ५२१ A । द्रव्यद्वि-  
यस्स द्रव्यं वस्तु पञ्चवर्ण्यस्य पञ्चाशो । विज्ञाया० गा० ४३३१ । तेषां वा शपणासनाराणां द्रव्या  
धपर्यायाधनयो द्वौ समासतो मूलभेदौ तत्र प्रभेदाः सप्तहादयः । —नयचक्रव० पृ० ५२६ A । धवला टी०  
प० ८३ । प्रमाणनय० ७ । ५ ।

(१) पर्यायोऽयं प्रयोजनमस्यति पर्यायाधिक । —सर्वाथसि० ११६ । परि भदमति  
गच्छतीति पर्याय । पर्याय एवायं प्रयोजनमस्यति पर्यायाधिक । —धवलाटी० पृ० ८४ । (२)  
तुलना— अथवा यस्य गुणान्तरैष्वपि प्रादुर्भवत्सु तत्त्वं न विहृतं तद् द्रव्यम् । किं पुनस्तत्त्वम् ?  
तदभावेस्तत्त्वम् तद्यथा आमलकादीनां फलानां रक्तादयः पीताम्बुश्च गुणा प्रादुर्भवन्ति आमलक  
वदरमित्येव भवति । अथ खल्वपि निवचनं गुणसद्भावो द्रव्यमिति । —पात० महाभा० ५।१।११९।  
द्रव्येति गच्छति ताड्यताड्यसंभावपञ्चयाह ज । द्रव्यं त भण्यते ऽण्णभूदनुसत्तादो ॥ —पञ्चास्ति०  
गा० ९ । यथास्व पर्यायद्रव्येते द्रवन्ति वा तानि द्रव्याणि । —सर्वाथसि० ५।२। अत्रैव द्रवति द्रोष्य  
त्यकानक स्वपययम् । —यामवि० का० ११४ । द्रव्ये दुष्ये दोरवयवो विगारो गुणान् सदावो । द्रव्य  
भव्य भावस्स भूभभावश्च ज जोग ॥ —विज्ञाया० गा० २८ । द्रवति द्रोष्यति दुद्रवति (अदुद्रवत्) द्रु  
द्रोविकारोऽवयवो वा द्रव्यम् । —नयचक्रव० पृ० ९९ B । द्रोविकारो द्रव्यम् दोरवयवो वा द्रव्यम्  
द्रव्यं च भव्य भवतीति भव्यम् द्रव्यम् द्रवतीति द्रव्यम् द्रव्येते वा द्रवणात् गुणानां गुणसद्भावो द्रव्यम् ।  
—नयचक्रव० पृ० ४४१ B । द्रोष्यत्यदुद्रवतास्तान् पर्यायमिति द्रव्यम् । —धवलाटी० पृ० ८३ । द्रवति  
गच्छति तास्तान् पर्यायान् द्रव्येते गम्यते वा त पर्यायिरिति वा द्रव्यम् । —जयध० ज० पृ० २६ ।  
आलापय० । (३) द्रव्यमयं प्रयोजनमस्यत्यसौ द्रव्याधिक । —सर्वाथसि० ११६ । पञ्चवर्ण्यस्सामण  
वयणं द्रव्यद्विषयस्स अत्यति । अवमेसो वयणविही पञ्चवर्ण्यया सपञ्चवर्ण्यो । —समति० गा० १।७ ।  
धवलाटी० प० ८३ । द्रव्यणाथ द्रव्याथ द्रव्यमर्थो यस्यति वा अथवा द्रव्याधिक द्रव्यमेवार्थो यस्य  
सोऽयं द्रव्याथ । —नयचक्रव० प० ४ B । (४) द्वितीय विषयपरिच्छेदे ।

१ अद्रवत् ज० वि० । २—द्वौ सव-य० । ३ ते निदची-व० । ४—द्वौ आभ्यामि-व० ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘द्रव्य’ इत्यादि । अत्र वस्तुतत्त्वं धर्मि द्रव्यत्वादिविशेष-

विशिष्टमिति साध्यम् । तत्त्वग्रहणं किमर्थमिति चेत् ? आश्रयासिद्धि-

विवृतिविवरणम्—

निषेधार्थम् ; तथाहि—न जीवादि भ्रान्तं नापि शून्यं कल्पितं वा किन्तु

तत्त्वं परमार्थसत् । प्रसाधितञ्च जीवादिवस्तुनः परमार्थसत्त्वं प्रागेव इत्यलमतिप्रस-

ङ्गेन । अस्त्येवम् ; तथापि एकान्तरूपं तद् भविष्यतीत्याह—‘द्रव्य’ इत्यादि । वक्ष्यमाण-

लक्षणा द्रव्यपर्याया आत्मानो यस्य तत्तथोक्तम् । कुत एतदित्याह—उत्पादव्यय-

ध्रौव्ययुक्तम् । उत्पादाद्यात्मकं यतः ततस्तथाविधं सत् । एवंविधमपि कुत इत्याह—

‘सत्’ इति । सद् अर्थक्रियाकारि यतः । तत्कारित्वं कथं तस्येत्याह—‘प्रमेयम्’ इति ।

प्रमेयं यतो जीवादिवस्तु ततोऽर्थक्रियाकारि । नहि सांख्यपरिकल्पितस्य आत्मनः काञ्चि-

दर्थक्रियामकुर्वतः प्रमेयत्वं घटते इत्युक्तं प्रागेव । नन्वेकस्मिन् वस्तुतत्त्वे प्रतीयमाने

प्रतिभासभेदासंभवात् कथं प्रतिपन्नभिप्रायाणां नयरूपतोपपन्नते इत्याशङ्क्याह—‘तत्रैव’

इत्यादि । तत्रैव अनन्तरोक्तस्वरूपे चन्द्रादिवस्तुनि कथञ्चित् सत्त्वधावस्यादिप्रकारेण

यत् प्रमाणं यच्च कथञ्चिद् द्वित्यादिप्रकारेण तदाभासः तयोर्भेदात् भेदप्रतीतिः ।

एतच्च प्रागेव समर्थितत्वात् दृष्टान्ततयोपात्तम् । तस्मादेकस्मिन्नपि वस्तुनि प्रतिपत्ति-

भेदसंभवात् युक्तो विकलादेशविशेषमाश्रित्य ज्ञातुरभिप्रायो नयः । तस्य भेदमाह—

‘स’ इत्यादिना । स नयो द्रव्यार्थिकः, पर्यायार्थिकश्च । तत्र प्रथमं व्याचष्टे—

‘द्रव्य’ इति । ‘द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवत्’ इति वा द्रव्यम्, तदेवार्थः सोऽस्ति

यस्य स द्रव्यार्थिकः । कुतः स इत्थम्भूत इत्याह—सोऽभेदाश्रयो यतः ।

ननु सकलभावानां देशकालाकारैरत्यन्तभेदान्न अभेदो नाम, अतः कथसौ अभे-

दाश्रयः स्यात् ? इत्यारेकापनोदार्थमाह—

**जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनाः तदस्ति सत् ।**

**एकं यथा स्वनिर्भासिज्ञानम् जीवः स्वपर्ययैः ॥३१॥**

(१) विषयपरिच्छेदे । (२) परमार्थसत् । (३) ५० १९१ । (४) “अस्ति विद्यते प्रतीयते ।

तत्किम् ? सत् सत्तासामान्यम् । किविनिष्टम् ? यदित्यादि, यस्मिन्नन्तर्लीना अन्तर्भूता । के ?

जीवाजीवप्रभेदा, जीवश्चतुर्नालक्षण अजीव पुनस्तद्विपर्यय पुद्गलादि प्रभेदाश्च प्रसत्यावराजवान्त-

रविशेषा, जीवाजीवौ च प्रभेदाश्च ते तथोक्ता । न खलु द्रव्य पर्यायो वा सत्त्वव्यतिरिक्तमस्तीति

नीलाद्याकांग विद्यन्ते अस्यति स्वनिर्भासि । यथा चैको जीव आत्मा स्वपर्ययै, स्वे विद्रूपा पर्यया-  
रगादय परिणामा तैराकान्त प्रतीतिपदारूढो न विरुध्यते तथा सत्त्वमपि जीवाद्यनेकभेदाकान्त न  
विरुध्यते इत्यर्थः ।” —लघी० ता० ५० ५२ ।

१ आत्मा यस्य आ०, व० । २ तत्र श्र० । ३-ष्टे द्रवति आ०, व० । ४-भेदाश्रितो  
यत आ० ।

विवृतिः—यथैव ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदा नैकत्वं बाधन्ते जीवस्याजीवस्य वा कस्यचित् स्वगुणपर्यायाः तथैव सत्त्वस्य भेदाः जीवाजीवादयः । तदेवम्—

जीवश्च अजीवश्च तयोः प्रभेदा अवान्तरविशेषा यदन्तर्लीना यस्य अन्तः

प्रविष्टाः तदस्ति विद्यते । किं तदित्याह—‘सत्’ इति । सत्तासामान्यम् । केन प्रकारेण ‘एकम्’ इत्यादि । स्वे आत्मीया न ह्यनान्त-

रगता निर्भासा नीलाद्याकाराः ते यस्य सन्ति तद् स्वनिर्भासिज्ञानम् एकं ‘चित्-कज्ञानम्’ इत्यर्थः । यथा येन प्रतिभासादिप्रकारेण अस्ति तथा प्रकृतमपि, सौगतापेक्षया इदमुक्तम् । इतरापेक्षया तु ‘जीवः स्वपर्ययैः’ इत्याह । जीवप्रहणमुपलक्षणम् सकलाजीवतत्त्वस्य, तेन जीवादिः स्वपर्ययैर्युक्तो यथा एकोऽस्ति तथा सदेकमिति सिद्धम् ।

कारिका विवृण्वन्नाह—‘यथैव’ इत्यादि । यथैव येनैव अशक्यविवेचनाऽभिन्न-

योगक्षेमप्रकारेण ज्ञानस्य आत्मनः स्वरूपस्य ये निर्भासभेदा विवृतिविवरणम्—

प्राज्ञादिनीलाद्याकाराः ते नैकत्वं बाधन्ते, जीवस्य आत्मनः

अजीवस्य वा घटादेः कस्यचित् सकलजनप्रसिद्धस्य न नैयायिकादिकल्पितस्य तस्य पूर्वं निरस्तत्वात् । स्वगुणपर्याया ‘यथैव नैकत्वं बाधन्ते’ इति सम्बन्धः । तथैव तेनैव प्रकारेण सत्त्वस्य सत्तासामान्यस्य भेदाः । के इत्याह—जीवाजीवादयः, नैकत्व बाधन्ते । तस्मिन् सति किंजातमित्याह—‘तदेवम्’ इति । तस्मिन् सत्त्वे एवम् उक्त-प्रकारेण जीवाजीवात्मके स्थिते सति—

शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहः तदभेदतः ।

भेदानां नासदात्मैकोप्यस्ति भेदो विरोधतः ॥३२॥

(१) अशक्यविवेचनं हि एकचिन्तज्ञानस्य नीलाद्याकाराणां ज्ञानान्तरे ननुमसक्यत्वम् । (२) अलब्धमनुवृत्तिर्मात्रं । लब्धमनुवृत्तिरक्षमम् ।—प्रमाणवा० स्वप्० टी० १ । २४ । ‘योग अप्राप्तविषयस्य परिच्छेदलक्षणा प्राप्तिः, क्षमं तदधकियानुष्ठानलक्षणं परिपालनम् ।’—हेतुभि० टी० पृ० ४५ ।

(३) अभिप्रैति विषयीकरोति । क ? संग्रहं संग्रहनयम् । किम् ? शुद्धं द्रव्यं सत्सामान्यं तस्यान्योपाधिरहितत्वेन शुद्धिसंभवात्, तद्विषयो हि नयः संग्रहः । सत्तात्वविरोधेन पर्यायानां कान्तभेदानेकभ्यमुपनीय समस्तप्रहणं संग्रह इति निवचनात् । कुत ? तदभेदतः तस्य सत्तासामान्यलक्षणस्य शुद्धद्रव्यस्य अभेदात् सर्वेषु जीवाजीवेषु अव्यतिरेकात् । ननु प्रागभावादेः सर्वव्यतिरेकात् कथं तदभेद इत्याशङ्क्याह—भेदानां जीवादीनां सद्विशेषाणां मध्य एकोऽपि भेदो जीवस्तत्पर्यायोऽन्यो वाऽसदात्मा असत्स्वरूपो नास्ति न विद्यते । विरोधतः—यद्यमदात्मा कथमस्ति ? यद्यस्ति कथमसदस्तेति ? स्ववचनविरोधादस्य असिद्धं । तत् प्रागभावादिरन्यो वा कथञ्चित्तदात्मक एवाभ्युपगन्तव्यं प्रतीतिबलात् ।—सूची० ता० पृ० ५२ । (४) तुलना—संग्रहियं पिडित्य संग्रहवर्ण समासञ्चो विंति ।—अनुषोपपन्ना० ४ टी० । आ० नि० गा० ७५६ । विज्ञप्ता० गा० २६९९ । अर्थात् सर्वैकदेशसंग्रहणं संग्रहः । आह च यत्संग्रहीतवचनं सामान्ये देशतोऽप्यत्र च विशेषः । तत्संग्रहनयनियतं ज्ञानं विद्यात्रयविधिना ॥—तत्त्वार्था-

१ जीवादय ज० वि० । २—ज्ञानमित्यर्थं थ० । ३ आस्ते ब०, थ० । ४—या जीव आ० । ५ अनेन थ० ।

विवृतिः—सर्वमेकं सदविशेषात् इति संग्रहः । सताञ्च स्वभावानां भावैकत्वाऽ-  
वाधनात् । नहि कश्चिद् असदात्मा भेदोऽस्ति विप्रतिषेधात् । नहि किञ्चिज्ज्ञानं  
सद्रूपं द्रव्यमनवबुद्ध्य भेदं गृह्णाति नाम ।

शुद्धं द्रव्यं मत्तालक्षणम् अभिप्रैति विपयीकरोति न सतोऽपि आत्मादि-  
विशेषान् । कोऽसौ इत्याह—संग्रहः संग्रहनयः । कुत एतदित्याह—  
तदभेदतः तस्य सत्त्वस्य सर्वविशेषेषु अविशेषतः । एतदपि कुतः  
इत्याह—‘भेदानाम्’ इत्यादि । भेदानां जीवादिविशेषाणां मध्ये असदात्मा  
असत्त्वभावः एकोऽपि न केवलम् अनेको नास्ति भेदो विशेषः, किन्तु सदात्मैव  
‘अस्ति’ इति सम्यग्बन्धः । कुतो नास्तीत्याह—विरोधतः । तथाहि—‘यदि असन्  
कथमस्ति, अस्ति चेत् कथमसन्’ इति । एतेन अभावचतुष्टयं चर्चितम्; तथाहि—  
यदि तत् अस्तीतिप्रत्ययवेद्यम् कथसदात्मकम् ? स्वरूपेण तस्यापि सदात्मकत्वात् ।  
अथाऽसदात्मकम्, न तर्हि तैत्प्रत्ययवेद्यमिति कथं तदस्तित्वसिद्धिः ?

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘सर्वम्’ इत्यादि । सर्वं चेतनाचेतनस्वभावं यस्तु एकम्

अभिन्नं सदविशेषात् सत्ताऽविशेषमाश्रित्य इति एषं संग्रहः । सदवि-

विवृतिविवरणम्—

शेषेऽपि सत्त्वात् तद्वतां भेदप्रसिद्धेः सर्वमेकम् इत्याद्युक्तमित्याह—

क्याह—‘सताञ्च’ इत्यादि । सताञ्च विद्यमानानां पुनः स्वभावानां भावधर्माणाम्

भावैकत्वावाधनात् सत्त्वैक्यानिराकरणात् । एतदेव समर्थयमानः प्राह—‘नहि’

इत्यादि । हिरेस्मात् न असदात्मा असत्तास्यभावः कश्चित् द्रव्यादीनामन्यतनो

भेदः विशेष. अस्ति । कुत इत्याह—विप्रतिषेधात्, विरोधात् । इतश्च असदात्मा भेदो

नास्तीति दशयन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । किञ्चित् प्रत्यक्षमनुमानं वा ज्ञानं सद्रूपं सत्त्व-

स्वरूपम् अनवबुद्ध्य अगृहीत्वा भेदं विशेषे द्रव्यं द्रव्यरूपम्, द्रव्यग्रहणमुपलक्षणं गुणादेः,

तत्किमित्याह—‘नहि गृह्णाति नाम’ इति । ततो निराकृतमेतत् “न द्रव्यादि स्वत. सत्

धि० भा० १।३५ । तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५ । “स्वजात्यविरोधेनैकध्वमुपनीय पर्यायाना-

नान्तभदानविशेषण समस्तग्रहणात् संग्रहः ।”—सर्वार्थसि० १।३३ । राजवा० १।३३ । “विधिब्यतिरि-

कप्रतिषेधानुपलम्भाद्भिन्नात्रमेव तत्त्वमित्यध्यवसाय समस्तस्य ग्रहणात् संग्रहः । द्रव्यब्यतिरिक्त-

पर्यायानुपलम्भात् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायो वा संग्रहः ।”—अवकाटी० पृ० ८४ । “शुद्ध द्रव्यमभिप्रैति

मन्मात्र संग्रहः पर । स चाशयविशेषेषु मदीदामीत्यभागीह ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ७० । नयविव० श्लो० ६७।

प्रमेयक० पृ० ६७७ । “युद्ध द्रव्य सप्ताधित्य संग्रहस्तदनुद्धित”—सम्प्रति० टी० पृ० २७२, ३११ । नयचक्र

गा० ३४ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।१३ । स्या० भ० पृ० ३११ । ज्ञेयतर्कभा० पृ० २२ ।

(१) तुलना—“यथा सर्वमेकं सदविशेषात् ।”—तत्त्वार्थभा० १।३५ । “अहं महासामग्रं संग्रहिय

निडित्यमिपर ति । सर्वविशेषान्न सामग्रं सर्वहा भणिय ।”—विशेषा० या० २७०१ । “विश्वमेक

सदविशेषात् इति यथा ।”—प्रमाणनय० ७।१६ । (२) अभावचतुष्टयस्यापि । (३) अस्तीतिप्रत्य-

नाप्यसत् सत्तामभ्यन्धात्सत्" [ ] इति, सद्रूपरहितस्य हि द्रव्यादेः तत्त्व-  
भावशून्यस्य च सद्रूपस्य ग्रहणे सति एतत् स्यात्, न च तद्ग्रहणमस्ति, सर्वदा उभयोः  
उभयात्मनो वेदनादिति भावः । पूर्व्वेण परपक्षे विरोधोद्भावनम्, अनेन तु प्रतीतितो  
भेदस्य सदात्मकत्वसाधनमिति विभागः ।

अत्राह सौगतः—'यदुक्तम्—यथैव ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदाः नैकत्वं बाधन्ते'  
इति; तदप्युक्तम्, निरंशैकज्ञानोपगमात्, सर्वोऽप्ययं विरुद्धधर्माध्यासी स्तम्भादिप्रति-  
भासो विभ्रमो मरीचिकाचक्रेजलवदिति कथं तन्निदर्शनेन अभिमततत्त्वसिद्धिः स्यात् ?  
पुरुषाद्वैतवाद्यपि आह—निस्तरङ्ग पुरुषमात्रं तत्त्वम्, जीवाजीवप्रभेदः पुनः उपप्लवः,  
ततो 'जीवस्य अजीवस्य वा' इत्याद्यप्युक्तम्; इत्याशङ्क्याह—

प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च भेदाज्ञानं सदात्मना ।

द्रव्यं स्वलक्षणं शंसेद्भेदात् सामान्यलक्षणात् ॥३३॥

विवृतिः—स्वार्थभेदानवबोधेऽपि भ्रान्तं ज्ञानं सर्वं सद्रूपेण प्रत्यक्षं द्रव्यं  
स्वलक्षणं विधात्, अन्यथा भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात् ।

प्रत्यक्षमुक्तलक्षणम्, कथम्भूततदित्याह—भेदाज्ञानम्, भेदस्य निरंशक्षणि-  
विभ्रमविविक्तविशेषस्य अज्ञानम् अग्रहणम् येन यस्मिन् वा तत्त-  
कारकाव्याख्यानम्—  
योक्तम् । क्वेत्याह—'बहिरन्तश्च' इति, बहिर्घटादौ अन्तः ज्ञान-  
पुरुषस्वरूपे । नहि तत्तत्र निरंशक्षणिर्नादिरूप परपरिकल्पितं विशेष जातु प्रतिपद्यते  
विभ्रमाभावानुपज्ञात् । यदि तत्तत्र भेदाज्ञानम्, केन तर्हि प्रकारेण प्रत्यक्षमित्याह—  
'सदात्मना' इति । सद्रूपमुपलक्षणं तेन 'सच्चेतननीलाद्यात्मना' इति गृह्यते ।  
तत्किं कुर्यादित्याह—'द्रव्यम्' इत्यादि । द्रव्यमनन्तरोक्तं स्वलक्षणं वस्तु शंसेत्  
स्तुयात् न परपरिकल्पितं परमाण्वादि । एवमपि पुरुषादिद्रव्यं स्वलक्षणं शंसेदित्याह—

(१) द्रव्यादिस्वरूपरहितस्य । (२) सत्त्व द्रव्ययोः । (३) सत्त्वस्य द्रव्यादिविशेषसा-  
पेक्षतया, द्रव्यस्य च सत्त्वविशेषणापेक्षतया । (४) 'नहि असदात्मा' इत्यादि विवृतिवाक्येन । (५)  
'नहि किञ्चिज्ज्ञानम्' इत्याद्यद्येन । (६) चित्तज्ञानदृष्टान्तेन । (७) 'शंसेत् स्तुयात्' कथयदित्यर्थः ।  
किम् ? प्रत्यक्षं विशदयामिन्द्रियानिन्द्रियज्ञानम् । किञ्चिद्विष्टम् ? भेदाज्ञानम्, भेदान् परपरिकल्पितान्  
निरंशक्षणात् जानाति न गृह्णातीति भेदाज्ञानम् । किं शंसेत् ? द्रव्यं शुद्धमशुद्धं वा स्वलक्षणं वस्तुभूतं  
न कल्पितमित्यर्थः । क्व ? बहिरन्तश्चेतने घटादौ, अन्तश्चेतने । केन ? सदात्मना सद्रूपेण, न खलु सद्रूपेण  
भेदः पदार्थेषु प्रत्यक्षतो ज्ञायते येन प्रत्यक्षं द्रव्यं न शंसेत् । कस्मात् ? भेदात् भेदमाश्रित्य । किं  
विशिष्टात् ? सामान्यलक्षणात्, सामान्यमन्वयो लक्षणं लिङ्गं यस्यायो सामान्यलक्षणस्तस्मात् । न हि  
भेदनिरपेक्षमभेदं प्रत्यक्षमन्वयाद्वा प्रमाणं साधयति तस्यानुपलब्धे । तत् प्रत्यक्षमपि द्रव्यसिद्धिनिबन्ध-  
नमेवेति कुत संग्रहनयो मिथ्या स्यात् ?—लघी० ता० पृ० ५३ । (८) प्रत्यक्षम् (९) बहिरन्तः ।  
(१०) प्रत्यक्षम् । (११) बहिरन्तश्च ।

१—जीवभेदप्रभेदः थ० । २—विभ्रमविशेष—थ० । ३ ज्ञाने पुरु- व० । ४—तत् ॥ छ ॥ यदि  
थ० । ५—तद् द्रव्यमन-आ०, थ० । ६—ह भेदात् विशेष-आ० ।

‘भेदात्’ इत्यादि । भेदात् विशेषात् सामान्यलक्षणं स्वरूपं यस्य, सामान्येन वा लक्ष्यते यः स तथोक्तः तस्मात् तमाश्रित्य इत्यर्थः । यथा च क्षणिकनिरंशपरमाण्वादिरूपं पुरुषाद्वैतरूपं वा तत्त्व न व्यवतिष्ठते तथा प्रागेव प्रपञ्चतः प्रतिपादितम् ।

‘भेदान् सामान्यलक्षणान्’ इति वा पाठः । तत्रे तान् प्रत्यक्षं शंसेत् इत्यर्थः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘स्वार्थ’ इत्यादि । भ्रान्तं विंलुतं ज्ञानं सर्वं निरवशेषं विवृतिविवरणम्—  
लौकिकं शास्त्रीयञ्च, यदि वा सौगतकल्पितं पुरुषाद्यद्वैतवादिक्लिप्तञ्च । कथम्भूतं प्रत्यक्षं विशदमभ्रान्तम् । केन रूपेणेत्याह—

सद्रूपेण सदादिस्वभावेन । कस्मिन् सत्यपीत्याह—‘स्वार्थ’ इत्यादि । स्वञ्च अर्थश्च तयोर्भेदो विवेकः अर्थस्य परमाणुलक्षणस्य परस्परम् । स्वज्ञानस्य विलसाकारा[इ] भेदो नावबुध्यते सर्वं हि ज्ञानं नात्मानं विमुक्तं जानाति स्वस्य विप्लुताकारात् तस्य अनवबोधोऽपि । तत्किं कुर्यादित्याह—द्रव्यं स्वलक्षणं विधात् । ननु स्यादेतत् यदि तद्वेदानवबोधः स्यात् यावता स्वार्थयोः सद्रूपेणेव भेदरूपेणाप्यवबोधोऽस्तीत्याशङ्क्याह—‘अन्यथा’ इत्यादि । उक्तप्रकाराद् अन्येन प्रकारेण अन्यथा भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात् ‘तैर् तैर्लुप्योत्’ इति सम्बन्धः । तथाहि—यथा तैत् प्रत्यक्षं सद्रूपेण तथा यदि स्वार्थभेद-  
रूपेणापि; तर्हि स्थूलाकारो भ्रान्तिः कुतः ? आद्यानिचेतनेतरादिभ्रान्तिर्वा ? नहि यथा-  
सद्रूपेण यस्तुनः प्रतिभासे सं युक्ता ; कदाचिदपि तदनुपरतिप्रसङ्गात् । तथा तद्वेदानव-  
बोधवत् सद्रूपेणापि यदि तदैप्रत्यक्षम् ; तदा कस्यचिदपि प्रतिभासाभावात् कुतो भ्रान्तिः ?

नैतु प्रतिक्षेपविलक्षणज्ञानादिक्षेपव्यतिरिक्तस्य जीवादिद्रव्यस्यासम्भवात् कथं ‘द्रव्यं शंसेत्’ इत्युक्तं शोभेत इत्याशङ्क्याह—

संदसत्स्वार्थनिर्भासैः सहक्रमविवर्तिभिः ।

हृत्पादहृदयैर्विभात्येकं भेदैः स्वयमभेदकैः ॥ ३४ ॥

(१) पू० ३७५, १५० । (२) बहिरन्त । (३) भदान् । (४) ‘स्वज्ञानस्य’ इत्यादि ३ एतच्चिह्नान्तर्गतं पाठं ४०, ४० प्रत्यो ऋतिताया पू० प्रती च नास्ति । अर्थांनुतोपात्तुं ‘स्वस्य विप्लु-  
ताकारात्’ इत्यस्य टिप्पण्यात्मक एव भाति । (५) स्वार्थभेदानवबोधः । (६) प्रत्यक्षम् । (७) स्वलक्षणं द्रव्यं जानत् । (८) द्रव्यम् । (९) स्थूलाकारा प्रतीतिं यथं भ्रान्तिरूपा स्यात् ? (१०) भ्रान्तिः । (११) यथावदनुपरतिभास एव हि भ्रान्तिनिवृत्तिवारणम् । यदि च यथावदनुपरतिभास भ्रान्ति न निवर्तेत तदा न यथापि तस्याः निवृत्तिः सम्भाव्येति भावः । (१२) स्वार्थभेदान्नानवत् । (१३) द्रव्यम् । (१४) कस्यचिदपि पुण्यस्य सामान्यतो विशेषतो वा प्रतिभासाभावात् न भ्रान्तिः स्यात्, भ्रान्तं सामान्यप्रतिभासनिबन्धनत्वादिनि भावः । (१५) जीवत । (१६) “अयमर्थ—यथा मद्भिः  
ज्ञानगताकारे अमद्भिःरक्षाकारे नीलादिनि मह्यं ज्ञानं विभाति त्वं न विदध्यत, तथा अयं व्यञ्जन-  
पदार्थं मह्यमविवर्तिभिः व्यञ्जनपदार्थैः सहैकं द्रव्यमपि विभाति न विदध्यत इति । इदं स्थूला  
व्यञ्जनपदार्था अदृश्याग्रभा केवलागमगम्या अर्थार्था ।”—सूयो० ता० पू० ५५ ।

१ परमाण्विह कथं ४० । २ भेदान् ४० । ३ च य० । ४ विप्लव जा-जा० । ५-पित  
कथ-४० । ६ एतदन्तर्गतं पाठो नास्ति ४०, ४० । ७ द्रव्यस्वत-जा० । ८ विप्लवेतद्वि जा०, ४० ।  
९ तादृ-४० । १० यथा जा० । ११-अज्ञाना जा० । १२-विप्लव-य० ।

विवृतिः—यथैक क्षणिक ज्ञान सद्भिरसद्भिर्वा प्रतिभासभेदैः स्वयमभेदकैरिष्टं तथा एकं द्रव्य सहक्रमभाविभिः स्वयमभेदकैः भेदैः दृश्यैरदृश्यैश्चानादिनिधनमवगन्तव्यम् । वहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चये पुनः अन्योन्यानात्मकत्वे सर्वथाऽसङ्क्रमव्यवस्थायाम् एकस्थूलनिर्भासविरोधात् ।

सन्तश्च असन्तश्च ते च ते स्वस्य अर्थनिर्भासाश्च नीलस्थूलादिमति भासास्तैः, कथम्भूतैः ? स्वयम् आत्मना अभेदकैः, यथा एकं ज्ञान विशेषेण देशकालनरातरावाधितरूपेण भाति भासते । कदा ? सह एकस्मिन् काले तथा क्रमविवर्तिभिः तैः एकं विभाति । कथम्भूतै इत्याह—दृश्यादृश्यैः । वर्तमानकालापेक्षया दृश्ये अतीतकालापेक्षया चाऽदृश्ये । यदि वा सद्भिः स्वनिर्भासैः सदादिभिः असद्भिः अर्थनिर्भासैः एक यथा, तथा क्रमविवर्तिभिः सुरादिभिः एक विभातीति ग्राह्यम् ।

कारिका व्याख्यातुमाह—‘यथैकम्’ इत्यादि । यथा येन प्रकारेण एक क्षणिक ज्ञानम्, उपलक्षणमेतत् तेन पुरुषस्यापि ग्रहणम् । सद्भिः विषयमानैः असद्भिर्वाऽपियमानैर्वा । कैः ? प्रतिभासभेदैः । कथम्भूतैः ? स्वयमभेदकैः इष्टम् अङ्गीकृतम्, तथा एक द्रव्यमभ्युपगन्तव्यम् । कैः ? भेदैः विशेषैः । कथम्भूतैः ? सहक्रमभाविभिः सहभाविभिः गुणैः क्रमभाविभिः पर्यायैः । पुनरपि किंविशिष्टैः ? दृश्यैरदृश्यैश्च । अनेन एकत्वे प्रमाणान्तरवृत्तिं दर्शयति । कथम्भूतं तद्रव्यमित्याह—अनादिनिधनम् । प्रसाधितञ्च अनादिनिधनत्वं प्रागेवास्य इत्यल पुनस्तत्प्रसाधनप्रयासेन । ननु ज्ञानमपि तेरेक नेष्यते ‘किं स्यात्ता चित्रतैस्स्या न स्यात्तत्तस्या मतावैषि’ [ प्रमाणवा० २।२१० ] इत्यभिधानात् । अत्राह—‘वहिरिव’ इत्यादि । यथा वहि परस्परससृष्टनिरस्रक्षणिकपरमाणुसञ्चय तथा तद्वाहिणा मन्येया वा ज्ञानपरमाणूनां सञ्चये अङ्गीक्रियमाणे, ‘पुनः’ इति पक्षात्तरसूचकः ।

(१) योगाचारः । (२) द्रष्टव्यम्—वायुकुमु० पृ० १३० दि० ६ । शास्त्रवा० पृ० ५० ४९ । व्याख्या—ननु यदि सा चित्रता बृद्धौ एकस्या स्यात् तथा च चित्रमेक द्रव्यं व्यवस्थाप्यत तदा किं दूषणं स्यात् ? आह—न स्यात्तस्या मतावैषि । न केवलं द्रव्यं तस्या मतावैषि एकस्या न स्याच्चित्रता आकारनानावत्क्षणत्वाद् भेदस्य, नानात्वेऽपि चित्रता कथमनकपुरुषप्रतीतिवत् । कथन्तहि प्रतीतिरि स्याह—यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् । यदीदम् अतादूर्प्यऽपि तादृश्यप्रधानम् अर्थानां भासमानानां नीलादीनां स्वयम् अपरप्ररणया रोचते तत्र तथाप्रतिभास के वयमसहमाना अपि निपद्रुम अवस्तु च प्रतिभासते चेति व्यक्तमालोक्यम् । —प्रमाणवा० मनोरथ० २।२१० । (३) सीतल । तस्मान्नाथपु न ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः । एकत्र प्रतिपिद्धत्वात् बहुष्वपि न सम्भवः ॥ तस्मान्नाथपु वाह्यपु न ज्ञाने तदप्राहृके स्थूलाभास स्थूल आकार सङ्गच्छते । तदात्मनः स्थूलस्वरूपस्य कत्रावयवे परमाणो वा प्रनिपिद्धत्वात् । बहुष्वपि तेषु सभवो नास्ति मिलिता अपि हित एव । ते च प्रत्येक स्थोत्यविकांशा १ भाति प्रतिभासते व० थ० । २ वादु—व० । ३—स एकं—थ० । ४ क्षणिकं क्षणिक ज्ञानम् आ० । ५ एकवचनमा—थ० । ६ पुनस्तत्प्रतिपादन—थ० ।

साम्प्रतं तेषां तत्साधनं तद्भावमभ्युपगम्य तत्र दूषणमाह—‘यस्मिन्’ इत्यादि ।  
 यस्मिन् वस्तुनि सत्येव विद्यमान एव यद्भावो यस्य वस्तुनः भाव आत्मलाभः  
 तद्वस्तु तस्य पूर्वस्य कार्यम् । ‘यस्मिन् सत्येव’ इत्यनेन यन्निर्दिष्टम् तद्, इतरत्  
 कारणम् इति एवं लक्षणं कार्यकारणयोः क्षणभङ्गे न संभवत्येव । कुत एतत् ? इत्याह—  
 5 ‘कार्य’ इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः—कारणसत्ताकाल एव कार्यस्य भावे ‘यस्मिन् सत्येव’  
 इति घटते, परन्तु कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः सन्त्वानोच्छेदः स्यादिति । ननु स्यादयं  
 दोषः यदि यदैव कारणमुत्पद्यते तदैव स्वकार्यं कुर्यात्, यावता पूर्वमुत्पद्य पुनः कार्यकाले  
 सत् कार्यमुत्पादयति; इत्याह—‘अन्यथा’ इत्यादि । उक्तप्रकारादन्येन प्रकारेण  
 क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् । क्षणभङ्गे कार्यकारणयोः ‘लक्षणं न संभवत्येव’ इति सम्बन्धः ।  
 10 ननु ‘यस्मिन्’ इति सप्तमी कारणभावे कार्यभावं सूचयति, स च पूर्वमेव  
 स्वसत्ताक्षणे कारणे सति उत्तरक्षणे कार्यभावो न विरुध्यते, यथा गोपु दुह्यमानासु गतः  
 दुग्धासु आगतः इति । समसमयभावित्वे चार्थयोः कार्यकारणभावविरोधात् सन्ध्येतर-  
 गोपिपाणधत् इत्यारेकापनोदार्थमाह—

कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा चेत् स्वयं कारणसत्तया ।

15 युज्येत क्षणिकेऽर्थेऽर्थक्रियाऽसंभवसाधनम् ॥ ३६ ॥

विश्रुतिः—नहि कार्योत्पत्तिः कारणस्याभावं प्रतीक्षते यतः तदर्थक्रिया अक्षणिके  
 विरुध्यते । निष्कारणस्य अन्यानपेक्षया देशकालस्वभावनियमायोगात् सर्वत्र  
 सर्वदा सर्वथैव भावानुपपन्नात् । तदयं भावाऽभावयोः कार्यकारणतां लक्षयेत्  
 सर्वथा भावस्यैव वा । स्वलक्षणस्य क्वचित् प्रत्यक्षानुपलम्भासिद्धेः कुतः कार्यव्य-  
 20 तिरैकोपलक्षणं कारणशक्तेः ?

(१) क्षणिकानाम् । (२) प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनम् । (३) कार्यकारणभावम् । (४) तुलना—  
 ‘क्षणस्यापि कारण स्वसत्ताया कार्यं कुर्वदभ्युपगच्छन् क्रमोत्पत्तिमुपरिदृष्टिं सकलजगदेकक्षणवृत्तित्वप्रस-  
 ङ्गान्”—अष्टसं०अष्टसह०पृ०११। ‘सत्येव कारणे यदि कार्यं त्रैलोक्येन च क्षणवर्ति स्यात्, कारणक्षणात्  
 एव सर्वस्य उत्तरातिरक्षणसम्भानस्य भावात् तत्र सन्त्वानाभावात्”—अष्टसं०अष्टसह०पृ०१८७। (५)  
 न हि गादोहनकाल गमनकालदेवैव सम्भवति । (६) कारणकार्ययोः । (७) चेद् यदि विरुद्धा विप्रति-  
 पिद्धा स्यान्, वा ? कार्योत्पत्तिः, कार्यस्यातत्परिणामस्योत्पत्तिः स्वकारणलाभः । कया ? स्वयं कारण-  
 मत्तया, स्वयं कारणं विवक्षितकार्यजनकं द्रव्यस्वरूपमुपादानं तस्य मत्तया भावेन । तद्धि युज्येत,  
 युज्ये स्यात् । किम् ? अर्थक्रियासंभवसाधनम्, अर्थस्य अभिमतप्रयोजनस्य क्रिया निष्पत्तिः तत्संभव-  
 साधनम् नित्ये क्रमयोग्यत्वाविरुद्धादित्यनुमानम् । क्व ? अर्थे । विविशिष्टे ? क्षणिकेतिरन्वयक्षणात्तत्परे ।  
 द्रमनिर्वातित्वचनम् । न च सा विरुद्धा कार्यकारणे सन् एव कारणत्वात्, अन्यथा कार्यस्य आकस्मिकत्व-  
 प्रसङ्गान् ।—सथी० तल० पृ० ५६ । तुलना—‘कार्योत्पत्तिर्विरुध्यते न च कारणमत्तया । यस्मिन्  
 मन्त्रे यद्भावं तत्तस्य कार्यमिदं तत्कारणमिति क्षणिकत्वे न सम्भवत्येव महोत्पत्तिप्रसङ्गान् कुतः  
 मन्त्रानवृत्तिः ।’—सिद्धिदिवि० पृ० १६०, ३२६ ।

१ सत्भावो आ० । २ इत्येव लक्षणं आ० । ३ सभावोच्छेदं व० । ४-जलक्षण-थ० । ५-सत्येनेति  
 आ० । ६ स्वतो सराज-थ० । ७-क्षणकार्य-आ० । ८ कार्यस्योत्प-६० वि० । ९ कारणमिदं-६० वि० ।



कार्यस्य उत्पत्तिः आत्मलाभः विरुद्धा चेत् यदि स्वयम् आत्मना,  
 कया ? कारणसत्तया । एतदुक्तं भवति—यदि कारणसत्तया  
 कारिकाख्यानम्—कार्योत्पत्तिर्विरुध्यते तदा युक्तमेतत् पूर्वमेव तद्भावे तद्भाव इति ।  
 तथा चेदत्र दूषणमाह—‘युज्येत’ इत्यादि । युज्येत उपपद्येत अर्थक्रियाऽसंभव-  
 साधनम् । क ? अर्थे । कथम्भूते ? क्षणिके ‘विनष्टे कारणे तदसंभवात्’ इति  
 मन्यते । यदि वा, तथा तदुत्पत्तिर्विरुद्धा यदि तदा युज्येत अर्थे क्षणिके  
 अर्थक्रियाऽसंभवसाधनम्, न च तर्था सा विरुद्धेति प्रतिपादयिष्यते ।

व्यतिरेकमुखेन कारिकां विवृण्वन्माह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न कार्यस्य  
 उत्पत्तिः कारणस्य अभाव प्रतीक्षते यावत् कारणं निर्मूलज्ञ नश्यति  
 विवृतिव्याख्यानम्—तावत् स्वयं नोपपद्यते इति । यतः तदपेक्षणात् तदर्थक्रिया क्रमयौ-  
 गपथार्थक्रिया अक्षणिकत्वे अपि विरुध्यते । ‘यतः’ इति च आक्षेपे, नैव विरुध्यते ।  
 कुत एतदित्याह—‘निष्कारणस्य’ इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्—विनष्टे कारणे यदा कार्यं  
 जायते तदा तन्निष्कारणं भवति, तस्य च अन्यस्य देशादेः अनपेक्षा अपेक्षाऽभावः  
 तथा देशकालस्वभावनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वथैव भावानुपपन्नात् कार-  
 णात् ‘नहि तद्भाव सा प्रतीक्षते’ इति सम्बन्धः । तथा तस्यास्तदपेक्षणे दूषणान्तर-  
 माह—‘तदयम्’ इत्यादि । तत् तस्मात् तदपेक्षणात् अयं सौगतः कार्यस्य यो भावः  
 आत्मलाभः यश्च कारणस्य अभावः तयोः यथासंख्येन कार्यकारणतां लक्षयेत् ।  
 यदि कार्यम् आत्मलाभे अपेक्षते तत् कारणम्, अपेक्ष्यते च तेन तज्ज्ञाभे तदभावः  
 इति मन्यते ।

इदमपरं व्याख्यानम्—यदा कारणान्न कार्यं किन्तु कारणात् तदभावः, ततश्च  
 कार्यं तत्राह—‘तत्’ इत्यादि । तत् तस्मान्मयायात् अयं भावाभावयोः कारणतन्निवृत्त्योः  
 कार्यकारणतां भावस्य कारणताम् अभावस्य कार्यतां लक्षयेत् । कार्यशब्दस्य पर-  
 प्रयोगप्रसङ्गेऽपि अल्पाच्यतरत्वात् पूर्वनिपातः । अथ मतम्—न अभावः प्रेक्षेयोपाख्या-  
 विहीनत्वात् कस्यचित् कारण कार्यञ्च, इत्यत्राह—सर्वथा भावस्यैव वा सत एव वा

(१) कारणसद्भावे । (२) कार्यसद्भावे । (३) अर्थक्रियाऽभावात् । (४) कार्योत्पत्तिकाले  
 उपादानकारणसत्तया । (५) कार्योत्पत्तेः । (६) कारणभावापेक्षणे । (७) कर्म । (८) कर्तुं ।  
 (९) कार्येण । (१०) आत्मलाभे । (११) कारणभावः । (१२) कार्येण आत्मलाभे अपेक्ष्यमा-  
 णत्वात् कारणभाव एव कारणं स्यादिति भावः । (१३) कारणभावः । (१४) ‘अल्पाच्यतरम्’—जैनेन्द्र-  
 व्या० १।३।१००।—‘द्वन्द्वे ते (समास) अल्पाच्यतरमेकं पूर्वं प्रयुज्यते’—शब्दार्णव० १।३।११४। (१५)  
 प्रख्यायते इति प्रख्या विकल्पः, उपाख्यायते इति उपाख्या श्रुतिं ताभ्या विकल्पशब्दाभ्या रहित्वात् ।

१—सहाया थ० । २—पिप्पति आ० । ३—कत्वे विरुद्धते आ० । ४—अन्यदेशादे व०, थ० ।  
 ५ यदि का—थ० । ६ अल्पान्तरत्वात् आ०, अल्पस्वरत्वात् व० । ७ एव कार्य—आ० ।

अन्योन्यं परस्परम् अनात्मकत्वम् अस्वरूपत्वं तस्मिन् सति, सर्वथा सर्वेण साक्षात्करणप्रकारेण स्वरूपमिश्रणप्रकारेण वा असङ्क्रमेण असङ्करेण या व्यवस्था अवस्थितिः तस्यां सत्याम् एकस्थूलनिर्भासविरोधात् कारणात् एकं द्रव्यमभ्युपगन्तव्यम् ।  
 ५ ऐतदुक्तं भवति—स्थूलैकप्रतिभासविरुद्धा ज्ञानेतरपरमाणवः, तत्प्रतिभासोपगमे तद्विरोधः नीले पीतविरोधवत् । तथाभ्युपगच्छतश्च अर्धक्षविरोधः निरंशादिरूपतया ज्ञेयथा तत्त्वं विचारयतोऽपि स्थूलादिप्रतिभासानिवृत्तेः ।

एवं प्रतिभासचलेन स्वपरमतविधिप्रतिषेधौ अभिधाय साम्प्रतम् अर्धक्रियाकारित्वचलेन तौ प्रतिपादयितुमः प्रथमं क्षणिकैकान्ते अर्धक्रियां निराकुर्वन्नाह—

लक्षणं क्षणिकैकान्ते नार्थस्याऽर्धक्रिया सति ।

कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणलक्षणम् ॥ ३५ ॥

विधृतिः—सह क्रमेण वा अर्धक्रियाम् अचणिकस्य निराचिकीर्षुः कथञ्चित् क्षणिके अर्धक्रियां साधयेत् अन्यथा तल्लक्षणं सत्त्वं ततो व्यावर्तेत । न च क्षणिकानामनिश्चयात्मनां भावानां प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः सिद्धयेत् विप्रकृष्टाऽर्थान्तरवत् । 'येस्मिन् सत्येव यद्भावः तत् तस्य कार्यम्' इति लक्षणं  
 १५ क्षणभङ्गे न संभवत्येव कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः, अन्यथा क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् ।

लक्षणम् अर्थस्य परमार्थसतो वस्तुनः नार्थक्रिया अर्थस्य कार्यस्य क्रिया

करणम् । क ? क्षणिकैकान्ते । कुत इत्याह—'सति' इत्यादि ।

सति विद्यमाने कारणे हेतो कार्यभावः कार्योत्पत्तिः चेद् यदि

२० न कार्यकारणलक्षणं कार्यस्य कारणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं यल्लक्षणम् कारण-  
 र्थं च तज्जनकत्वं यल्लक्षणं तन्न । पूर्वाद्गतयेन 'न' इत्यनेन सम्बन्धः । क्षणिकैकान्त-  
 वादिना कारणभाव एव कार्योत्पत्त्यभ्युपगमात् । इदमपरं व्याख्यानम्—स्वोत्पत्तिकालवत्

इति समुदिता अपि तथैव स्युः । तथा नीलाद्याकारेषु प्रत्येक चित्रस्य स्वोत्पत्त्याभावात् समुदायेऽप्य-  
 भावः—प्रमाणवा० मनोरथ० २।२११ ।

(१) स्थूलैकप्रतिभासविरोधः । (२) स्थूलैकप्रतिभासस्य अस्तत्त्व ध्रान्तत्व वा स्वीकुर्वन्त । (३) स्वमतविधिपरमतप्रतिषेधौ । (४) तुलना—“कार्यकारणता नास्ति बहिरन्तः सन्तति कुत । निरन्वयात् कुतस्तेषां सारूप्यमिनरार्थवत् ॥ सति क्षणिके कारणे यदि कार्यं स्यात् क्षणिकमक्रमं जगति सन्तति स्यात् । तस्मिन्नसति भवत कुत, पुन कारणान्तरोत्पत्तिनियमः ? सदेव कारण स्वसत्ताकालमेव कार्यं प्रसह्य जनयेत् । स्वरमत एव कार्योत्पत्तिकालनियमे स्वतन्त्रस्य कुत एव कार्यत्वम् ? नैरन्तर्यमात्रा-  
 त्प्रभवनियमे सर्वत्र सर्वेषामविशेषे कुत प्रभवनियमः ? द्रव्यस्य प्रभवनियमे न किञ्चिदतिप्रसज्यते ।”  
 —सिद्धिवि० पृ० ३६३—६४ । (५) “किं पुनरसौ कार्यकारणभाव अनुपलम्भसहायप्रत्यक्षनिबन्धनः ?  
 इत्याह—तद्भावे भाव तदभावेऽभावश्चेति ?”—हेतुवि० टी० पृ० ६९ । (६) कार्यजनकत्वम् ।

१ व्यवस्थिति श्र० । २ ॥ दुर्कत श्र०, व० । ३ शतपात्रव आ० । ४ कारिकेय मुद्रितलघीयस्त्रये नास्ति । ५ लक्षणभये न ज० वि० । ६ कारणम् आ० । ७ स्य तज्ज-आ० । ८ कारणभाव आ० ।

कार्योत्पत्तिकालेऽपि सति कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणयोः यल्लक्षणं स्वरूपं ग्रहणं वा अत्र प्रमाणभावात् 'घटते' इत्याध्याहारः, किन्तु क्षणभङ्गाय दत्तो जलाञ्जलिः' स्यात् ।

येस्वाह—'नार्थक्रिया अर्थलक्षण विचारतस्तदयोगात् । सा हि सती, असती वा तल्लक्षणम् ? न तावदसती, सरविषाणवत् तथाविधायार्थस्याः तल्लक्षणत्वा-योगात् । अथ सती; किं स्वतः, परतो वा ? यदि स्वतः; अर्थेन किमपराद्धं येनार्थं स्वतः सत्त्वं नेष्येते ? अथ परतः, तदा अनवस्था' इति ।

तं 'सह' इत्यादिना नित्यादिना समान व्यवस्थाप्य 'यस्मिन्' इत्यादिना कारिकार्थं प्रकटयति—सह युगपत् क्रमेण वा परिपाठ्या वा अर्थ-विवृतिविवरणम्—  
क्रिया अक्षणिकस्य नित्यस्य सम्बन्धिनी या तां निराचिकीर्षुः  
सौगतः कथञ्चित् यौगपद्यप्रकारेण क्रमप्रकारेण वा प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण वा क्षणि-  
केऽर्थे अर्थक्रियां साधयेत्, अन्यथा तदसाधनप्रकारेण तल्लक्षणम् अर्थक्रियालक्षणं  
सत्त्वं ततः क्षणिकात् नित्यादि च व्यावर्त्तेत् । साध्यत एव तत्र सां इति चेत्; अत्राह—  
'नच' इत्यादि । नच नैव भावानां कार्यकारणभावः सिद्ध्येत् । कथम्भूतानाम् ?  
क्षणिकानाम् । पुनरपि कथम्भूतानाम् ? अनिश्चयात्मनाम् न विद्यते निश्चयो निर्णयो  
यस्य स तथाविध आत्मा स्वभावो येषाम् । तद्भावः कथम्भूतः इत्याह—'प्रत्यक्ष' इत्यादि ।  
प्रत्यक्षानुपलम्भौ साधनं यस्य, प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनत्वादेव च अनिश्च-  
यात्मनां 'तेषां तद्भावो न युक्तः । अत्र परप्रसिद्धं निदर्शनमाह—'विप्रकृष्ट' इत्यादि ।  
पूर्वोत्तरकोटिविच्छिन्नादर्थाद् अन्यः त्रिकालानुयायी अर्थः तदन्तरम् तस्यै च ग्रहणो-  
पायमात्राद् विप्रकृष्टत्वम्, विप्रकृष्टञ्च तद् अर्थान्तरञ्च तस्यैव तद्वत् । एतदुक्तं भवति-  
यथैकस्य कालत्रयानुयायिनः कुतश्चित्प्रतिपत्तुमशक्तेः न तत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः  
कार्यकारणभावः सिद्धयति तथा प्रतिपरमाणुनियतेन ज्ञानेन क्षणिकभावानामप्रतिपत्तेः  
न तत्साधनस्तद्भावः सिद्ध्येत् ।

(१) कार्योत्पत्तिकालेऽपि कारणसद्भावे तस्य द्विषणावस्थायित्वं स्यादिति भावः । (२) यौग । तुलना—'अर्थक्रियाकारित्वेन सत्ताभ्युपगम समानञ्चेत्तद् दूषणम्—किं सत्तामर्थक्रियाका-  
रित्वमयासत्तामिति ? सत्तामर्थक्रियाकारित्वे सत्ताभ्युपगमे तथा दुरुत्तरमितरेतराभ्यत्वम् । तथा हि  
अर्थक्रियाजनवत्त्वे सत्त्वम्, सत्त्वार्थक्रियाजनकत्वमित्येकाप्रसिद्धावितराप्रसिद्धिः । अथ अर्थक्रिया-  
मन्तरेण सत्तोऽर्थक्रियाजनवत्त्वम्, तत्राप्यय विकल्प इत्यनवस्था । असत् एवार्थक्रियाजनकत्वे सरविषा-  
णादिषु तथाभावः स्यात् । अर्थक्रियायाश्चार्थक्रियान्तरेण सत्त्वेऽनवस्था । अथ स्वरूपेणेति चेत्; पदार्थेषु  
तथाभावप्रसङ्गः ।—प्रश्न० श्रु० पृ० १२७ । प्रश्न० कन्ध० पृ० १२ । (३) असद्भूताया । (४)  
अर्थक्रियाया । (५) जयलक्षणत्वविरोधात् । (६) अर्थस्य । (७) प्रकृतार्थक्रियाया सत्त्वव्यव-  
स्थापिका अपराऽर्थक्रिया तस्या अप्यपरा इत्यनवस्था । (८) क्षणिकेऽर्थे । (९) अर्थक्रिया । (१०)  
कार्यकारणभावः । (११) क्षणिकार्थानाम् । (१२) कार्यकारणभावः । (१३) त्रिकालानुयायिनोऽर्थस्य ।  
(१४) नित्यार्थे । (१५) प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः । (१६) कार्यकारणभावः ।

१—मोल्ल-श्र०, श्र० । २—अनवस्थितिरिति श्र० । ३ व्यावर्त्तते श्र० । ४ इत्यादि आ० ।  
५—धनसद्भावः श्र० ।

‘कार्यकारणता लक्षयेत्’ इति सम्बन्धः । कारणवत् कार्यस्याप्यसत्त्वाऽऽसम्भवात् अतः साख्यमतप्रसङ्गः सौगतस्य इत्यभिप्रायः । ननु मा भूत् क्षणिके प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनं कार्यकारणभावः, कार्यव्यतिरेकसाधनस्तु इन्द्रियशक्तिरित्याह, इत्यत्राह—‘स्वलक्षणस्य’ इत्यादि । स्वलक्षणस्य परपरिकल्पितपरमाणुलक्षणस्य क्वचिद् अतर्वहिर्ज्ञां प्रत्यक्षाऽनुपलम्भासिद्धेः, प्रत्यक्षपूर्वकोऽनुपलम्भः प्रत्यक्षानुपलम्भः तस्य असिद्धे कारणात् कुतः कार्यस्य व्यतिरेकेणोपलक्षणं कारणशक्तेः ? न कुतश्चित् । एतदुक्तं भवति—यदा तस्य तद्रूपं कार्यं कुतश्चित् प्रत्यक्षं सन् पुनः इतरकारणसद्भावेऽपि नोपलभ्यते तदा युक्तं तेनोपलक्षणं तैच्छकं, न चैवमस्तीति ।

ननु यदुक्तम्—‘यहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चय’ इत्यादि, ‘नहि कार्योत्पत्तिः’ इत्यादि च, तदयुक्तम्, यथाप्रतिभासः चित्रैरुद्धानोपगमात् । ‘चित्रप्रतिभासाप्यकैव बुद्धिः’ [ प्रमाणवातिकाल० लि० पृ० ३९५ । ] इत्यादिवचनात् । तथा कार्यस्य देशवत् कालेऽपि असत् एव कारणादेव उदयोपगमात् कथमन्यथा ज्ञानद्विज्ञानात् प्रबोधः भाविमरणादेर्वा अरिष्टादिकम् इत्याशङ्क्य आह—

यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा सकृत् ।

तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा क्रमात् ॥३७॥

(१) कायव्यतिरेकेण कारणव्यतिरेको नायते क्षणिके च न कायव्यतिरेकः अतः क्षणिकेऽर्थे कायकारणभावः साधनीयः यथा हि—रूपज्ञानोत्पत्त्यभावेन रूपज्ञानजननशक्त्यभावः व्याप्तः चक्षुषि अविकले सति न रूपज्ञानोत्पत्त्यभावः अतस्तत्र रूपज्ञानजननशक्तिः व्यवस्थाप्यते । नहि चक्षुषि रूपज्ञानजननशक्तिव्यवस्थापने प्रत्यक्षानुपलम्भो प्रभवत्, ‘अक्षरेतीन्द्रियत्वात्’ प्रत्यक्षानुपलम्भाङ्गोचरत्वात् । तथैव क्षणिकेऽर्थे प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कायकारणभावो मासत्स्यतः कायव्यतिरेकेणानुमीयमानस्तु निद्वयत्वेन इत्यभिप्रायः । (२) क्षणिकस्य । (३) कायव्यतिरेकेण । (४) अनुमानम् । (५) कार्योत्पादनशक्तेः । (६) प्रज्ञाकरगुणः । (७) पृ० ६१३ ६१६ । (८) चित्रप्रतिभासापि बुद्धिरेकवद्वाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । ‘अवयविवेचनं चित्रमनकम्’ अत्रयविवेचनाश्च युद्धनीलादयः । —प्रमाणवातिकाल० पृ० ३९५ । उद्धतमिदम् प्रमेयक० पृ० ९५ । न्यायकुमुद० पृ० १३० । समिति० टी० पृ० २४१ । ‘यामि० वि० पृ० १०१ A । प्रज्ञाकरगुणेनाप्यक्तम्—चित्रप्रतिभासा—सिद्धि० टी० पृ० ५५५ A । (९) यथाहि कायस्य देशऽविद्यमानमपि कारणं कार्योत्पादकम् तथा कायकालेऽविद्यमानमपि कार्योत्पादकं भवतु । (१०) यच्च कायकालऽविद्यमानादपि कारणात् कार्योत्पत्तिः न स्वीक्रियते तदा । (११) प्रज्ञाकरगुणो हि प्रमाणवातिकालद्वाराकारः स च भाविनः भूतञ्चायः कारणमाचक्षते तथाहि—अविद्यमानस्य करणमिति कोऽयं ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता तदेतदानन्तरमुभयापेक्षयापि समानम् । यदवः भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि । न ज्ञानान्त्यमेव निबन्धनम् व्यवहितस्यापि कारणत्वात् । गाढमुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधः पूववेदनात् । जायते व्यवधानं कालनति विनिश्चितम् ॥ तस्मादव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम् । कायकारणभावस्य तदं भाविन्यपि विद्यते ॥ मृत्युन भविष्यन् भवेदेवमभूतपरिणामिति । —प्रमाणवातिकाल० पृ० १७६ । (१२) यथा येनाविरोधः

१—घनवस्तु आ० । २—ब्राह्म स्वलक्षणस्य पर—आ० । ३—रेकोणोप—आ० । ४ नदुक्तम् आ० ।

५ प्रबोधोदयो भा—व० । ६ तथैव आ० ।

विवृतिः—यथा चणिकं स्वलक्षणं नानादिदेशभावीनि कार्याणि स्थानसङ्कर-  
व्यतिकरव्यतिरेकेण करोति तत्करणैकस्वभावत्वात् । नहि सामग्रीभेदात् कार्यभेदेऽपि  
तत्कारणस्वभावभेदः, तथैकमध्वणिकं यद्यदा उत्पित्सु कार्यं तत्तदैव करोति तत्करणै-  
कस्वभावत्वात् । सर्वदा कार्यकालानतिक्रमेण करणसामर्थ्यात् तदात्मकमेकमेव  
इत्यविरुद्धम् । यथा विज्ञानं स्वनिर्भासभेदान् गुणी गुणान् अवयवी अवयवान्  
व्याप्नोति सकृदपि तदात्मकत्वात्, तथैव द्रव्यं स्वपर्यायभेदान् स्वयमभेदकत्वात्तेषां  
स्वभावानामिति । एवम्—

यथा येन योग्यताप्रकारेण तेन निरसं धनिकं वस्तु भिन्नो देशो येषाम-

धनानाम्, देशप्रदणमुपलक्षणं तेन प्रज्ञाकरगुमापेक्षया भिन्नकाल-

कारिभावस्याह्वानम्—  
प्रदणम्, तान् कुर्यात् सकृद् एकदैव । तथाहि—प्रदापक्षणः प्रमा-  
तरि स्वज्ञान स्थान्यां तैलशोष दशोननदाहञ्च उपरि कञ्चलम् इत्यादि भिन्नदेशं सकृदेवाऽ-  
नेकं कार्यं कुर्याद् एवमन्यदपि चिन्त्यम् । तथा यदैव जाग्रद्विज्ञानं स्वापानन्तरं व्यापा-  
रादिकार्यं कुर्यात् तदैव कालान्तरभाविष्यकालनियतं प्रबोधम्, यदैव च भाविराज्यादिक  
स्वकालनियतं दर्शनं कुर्यात् तदैव चिरातीतकाल हस्तेरेषादिकम्, तथैकं निरर्थं  
भिन्नकालार्थम् । कुतः ? क्रमात्, क्रममाश्रित्य । एकदैकं कृत्वा पुनरन्यं  
कुर्यात् तत्कालेऽपि तेज्जावात् । तथा चेदमयुक्तम्—“धीऽऽक्रमात् क्रमिणो भावाः”

प्रकरणैक मोगताभिमत क्षणिकस्वलक्षण सकृदवधाने भिन्नदगार्थान् भिन्नो विप्रवृष्टो रगो येषां ते  
भिन्नदेशा ते च तेऽर्गव्य कार्याणि तान्, स्वसन्तानवर्तिनमुपादानत्वेन सन्तानान्तरवर्तिनञ्च निर्मित-  
त्वेन जनयेदित्यर्थः । यथा वा एक ज्ञान भिन्नदगार्थान् विप्रवृष्टनीनाधारारान् व्याप्नोति न विरुध्यते  
तथा एकमभिन्नद्वय प्रमात् कालभेदेन भिन्नकालार्थान् भिन्न पूर्वपरभूतः कालो येषां त च तेऽर्गव्य  
कार्याणि तान् कुर्यात्, पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिरूपेण परिणमन् इत्यर्थः । तानेव व्याप्नोति  
वा तादात्म्यमनुभवति वा, न विरुध्यते ।—सूची० टी० पृ० ५६ । “तथैवाका भट्टाकलङ्कदेव—  
यथैकं भिन्नदेशाः ‘‘’—सत्यज्ञासनप० पृ० १५ B ।

(१) सर्वेषां मुगपत्प्राप्ति मकर । (२) परस्परविषयगमनं व्यतिकर । (३) प्रदीप-  
विषयक ज्ञानम् । (४) तैलपात्रे । (५) दशा वर्तिका तस्या आननं मुखम् अग्रभाग तस्य दाहम् ।  
(६) न हि स्वापानन्तरभाविष्यापारादीनां प्रबोधस्य च जाग्रद्विज्ञानं विभिन्नकालवर्ति सन् समुत्पादकं  
घटते तस्य एकक्षणमात्रवृत्तित्वादित्यामयेनाह—यदैवेति । (७) स्वावयवकं दर्शनं प्रत्यक्षम् । (८)  
अन्यपदार्थादकालेऽपि । (९) नित्यस्य सद्भावात् । (१०) “नात्रमात्रविशो भावो नाप्यपक्ष-  
विशेषिण । क्रमाद् भवन्ती धीः कथान् क्रमं तस्यापि ज्ञसति ॥ नाऽक्रमात् त्रयिण बाधस्य भावः,  
क्रमरहितत्वात् कारणस्य तद्विषयाद्यानि कार्याणि सकृन्नायेरन् । क्रमरत सकृत्कारिणाग्नेश्च प्रमाज्जनि-  
ष्यतीति चेत्; नाप्यविशेषिण स्विरेकरूपस्य परैरनाधवविशेषस्य परेषां सकृत्कारिणामपक्षान्ति । तस्मान्  
क्रमाद् भवन्ती धीः वावान् क्रमन्तस्सापि कावस्य ज्ञसति ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० १।५५ । उद्धृता-  
व्यम्—आक्रमान् त्रयिणो भावाः—धीरचेयं क्रमः—सिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A., १९७ A. ।  
‘धीर्ज्ञानात्’—सम्मतं टी० पृ० ३३६ । प्रहृतापठ—प्रमेयक० पृ० ३२५ ।

१ कारण—त्र०वि० । २ स्वात् स्वभा—इ०वि० । ३ एव आ० । ४ यथा थ० । ५ नियतदर्शनं थ० ।

[ प्रमाणवा० १।४५ ] इत्यादि । यथा चैकं ज्ञान क्षणिक भिन्नदेशार्थान् नानादेश-  
नीलाद्याकारान् व्याप्नोति तदात्मकं भवति । वाशब्द. पक्षान्तरसूचक, सकृद्  
एकदा तथा एकमात्मतत्त्व भिन्नकालार्थान् सुखादीन् व्याप्नोति चाक्रमात् ।

कारिका विवृण्वन्नाह—‘यथा’ इत्यादि । यथा चेन प्रसारेण स्वलक्षणम्,  
विवृतिविवरणम्— कथम्भूतम् ? क्षणिकम्, करोति कार्याणि । कथम्भूतानि ? नाना-  
दिग्देशभावीनि, दिग्ग्रहणमुपलक्षण तेन नानाकालभावीन्यपि गृह्यन्ते ।  
कथं करोति ? स्थानसङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण । कुत एतदित्याह—तत्करणैकस्वभा-  
वत्वात् । तदेव समर्थयते ‘नहि’ इत्यादिना । हिर्द्यस्मात् न सामग्रीभेदात् कार्य-  
भेदेऽपि कारणस्वभावभेद, तथा एकमक्षणिक कारण यद् यदा उत्पित्सु कार्यं तत्  
तदैव करोति । कुत एतदित्याह—तत्करणैकस्वभावत्वात् । ननु उभभावीन्यनेक-  
कार्याणि कुर्वन् कथं तदेकम् तावद्वा भेदप्रसङ्गात् ? इति चेदत्राह—‘सर्वदा’ इत्यादि ।  
सर्वदा सर्वकालं कार्यकालानतिक्रमेण करणसामर्थ्यात् कारणात् तदात्मकं तत्करण-  
सामर्थ्यात्मकम् एकमेवेत्यविरुद्धम् । अस्यैव समर्थनार्थमाह—‘यथा’ इत्यादि । यथा  
सौगतस्य विज्ञानं स्वनिर्भासभेदान् आत्मनीलाद्याकारविशेषान् नैयायिकस्य गुणी  
गुणान्, अवयवी अवयवान् व्याप्नोति कथञ्चित्वात्मको भवति । कदा ? सकृदपि,  
न केवलमसकृत् । ननु ज्ञानतन्निर्भासयो गुणगुणिनो अवयवावयविनोश्च अत्यन्तभेदान्  
युक्तमेतदित्याह—तदात्मकत्वात्, ज्ञानादे स्वनिर्भासभेद गुण-अवयवात्मकत्वात् ।  
अन्यथा घटपटवत् तज्ज्ञानवच्च गुणगुण्यादिभाव चित्रज्ञानरूपता च न स्यादित्युक्तं  
विस्तरतः प्रागेव । तथैव द्रव्य जीवादि स्वपर्यायभेदान् व्याप्नोति । स्वग्रहणात्—

‘तैर्वस्योभयरूपत्वं तद्विशपनिराकृत ।

चोदितो दधि सादति किमुष्टं नाभिधावति ? ॥” [ प्रमाणवा० ३।१८१ ]

(१) प्रतिनियतदेशस्थमेव । (२) चित्रज्ञानम् । (३) आदिपदेन गुणी अवयवी च ग्राह्यौ ।  
(४) घटपटज्ञानवत् । (५) व्याख्या— सवस्योभयरूपत्वम्—उभयग्रहणमनेकत्वोपलक्षणाद्यम् तस्मिन्  
सति, तद्विशपस्य उष्ट्रं उष्ट्रं एव न दधि, दधि दध्यव नोष्ट्र इत्येव लक्षणस्य निराकृते, ‘दधि  
साद इति चोदितं पुष्पं किमुष्टं सादिनु नाभिधावति ? उष्ट्रोऽपि दध्यभिन्नात् द्रव्यत्वादव्यतिरेकात्  
स्यादधि, नापि स एवेति उष्ट्रं उष्ट्रं एव’ इत्यकान्तवाद, यनान्योपि दध्यादिकं (त) स्यादुष्ट्रं ।  
तथा दध्यपि स्यादुष्ट्रं उष्ट्राभिन्नं द्रव्यत्वेन दध्नस्तादात्म्यनाभिसम्बन्धान् । नापि तदेवेति दध्यव  
दधि, यनान्यदपि उष्ट्रादिकं (त) स्यादधि । एतेन सवस्योभयरूपत्व व्याख्यातम् । —प्रमाणवा०  
स्ववृ० टी० १।१८३ । मनोरथ० १।१८३ । उद्धृतोऽयम्—अनेकान्तजय० पृ० १८ । नोदितो  
—अनेका० प्र० पृ० ७ । अष्टसह० पृ० ९२ । सन्मति० टी० पृ० २४२ । न्यायवि० वि० पृ० ९२  
A । निराकृत । प्रितो दधि —स्या० २० पृ० ८३७ ।

१ ज्ञानक्षणिक आ० । २ सकरव्यतिरेकेण थ० । ३ तावद्वा आ० । ४ कायकार—आ० ।

५—स्वमेवेत्य—आ०, व० ।

इत्येतन्निरस्तम्, दध्यादे उष्ट्रादिस्वरूपभूतपर्यायत्वासम्भवात् । कुतस्तत् तान् व्याप्नोतीति चेदत्राह—‘स्वयम्’ इत्यादि । स्य स्वरूपेण अभेदकत्वात्तेषाम् । इतिशब्द द्रव्यसिद्धिप्रघट्टकपरिसमाप्तौ । तदेवं सिद्धे परापरद्रव्ये परापरसमहः प्रवर्तते । तत्र परसमह प्रदर्शयितुमाह—

**संग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना ।**

**ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः ॥३८॥**

विवृतिः—नहि कश्चिदसदात्मा भेदोऽस्ति विरोधात् । यद् यदात्मकं तत् तदेव, यथा स्वनिर्भासभेदात्मक ज्ञानम्, तस्मात् सदात्मनो भेदाः सन्मात्रमेव नान्यदिति संग्रहः । तत्प्रोधान्यात् न तु भेदप्रतिज्ञेपात् । स्वपर्यायभेदानपेक्षया तत्प्रतिरूपकत्वं ब्रह्मवादवत् ।

**संग्रहः समग्रहनय सर्वेषां भेदानां जीवादिविशेषाणाम् ऐक्यमभिप्रैति**

**केन रूपेण ? इत्याह—सदात्मना ।**

**ब्रह्मवादेऽपि सदात्मना तेषां समग्र सभवति इति सोऽपि समग्रहनयः स्यादित्याशङ्कापनोदार्थमाह—**

**ब्रह्मवादस्तदाभास इति । कुत एतत् ? इत्याह—‘स्वार्थ’ इत्यादि । स्वार्थः**

**सन्मात्र तस्य भेदो जीवादिः तस्य निराकृतेः असौ तदाभास समग्रभासः, 15**

**तन्निराकृतौ सन्मात्रस्यापि निराकृतिसिद्धेः । न खलु निराश्रय सामान्य नाम अश्ववि-  
पाणादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात् ।**

**व्यतिरेकद्वारेण कारिका विवृण्वन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न कश्चित्**

**चेतन इतरो वा भेदो विशेष असदात्मा अस्ति, कुत एतत् इत्याह—**

**विरोधात् । असदात्मनोऽस्तित्वविरोधश्च प्रागेव समर्थितः । ननु-**

विवृतिविवरणम्—

16

(१) तुलना— सुगतोऽपि मृगो जात मृगोऽपि सुगत स्मृतः । तथापि सुगतो वचो मृग

व्याघ्रो यदप्यते ॥ तथा वस्तुबलादेव भदाभदव्यवस्थिते । बोधितो वधि खादेति किमुष्टमभिधावति ॥

—न्यायवि० का० ३७३-७४ । अनेकान्तजय० पृ० २८१ । न ह्यस्माभिदध्युद्योरेक तियकसामान्य

वस्तुत्वादिक व्यवस्थितभेदेन व्यवस्थित तथाभूतप्रतिभासाभावादभ्युपगम्यते । यादृग्भूत तु प्रतिव्यवित

भिन्न समाना इति प्रत्ययविषयभूतमभ्युपगम्यते तथाभूतस्य तस्य शब्देनाभिधाने किमित्यत्र प्ररितो

ऽयत्र खादनाय धावेत् यद्युक्तो न स्यात् । —सन्मति० टी० पृ० २४२ । (२) पर्यायणाम् । (३)

तुलना—‘निराकृतविषयस्तु सत्ताद्वैतपरायण । तदाभास समारयात् सदभिदृष्टबाधनात् ॥ -

तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७० A । नयविव० श्लो० ६८ । प्रमेयक० पृ० ६७७ । न्यायावता० टी० पृ० ८५ ।

प्रमाणनय० ७११५ २१ । जनतर्कभा० पृ० २४ । (४) स्वस्य ब्रह्मवादस्य अर्थो विषय सन्मात्र तस्य

भेदा जीवादिविशेषा तेषां निराकृते प्रतिपधात् । न खलु सवया सत्त्वे भेदानामवकाशोऽस्ति ।

भदरहितं च तत्त्वं सामान्य नाम निराश्रयत्वात् अश्वत्रियाविरहान्च । —सूक्ष्म० ता० पृ० ५८ । (५)

सत्त्वप्राधान्यात् । (६) समग्रभासत्वम् । (७) सामान्यत्वप्रसङ्गात् ।

भवत्वेवम्; तथापि भेदेभ्यो भिन्नं सत्त्वम् इत्यत्राह—यद् यदेत्यादि । यद् द्रव्यादि यदात्मकं यत् सत्त्वमात्मा यस्य तद् यदात्मकम् तद् द्रव्यादि तदेव भवति सद्रूपमेव भवति, यथा स्यनिर्भासभेदात्मकं संशयेतरविपर्यासेतरविशेषात्मकं ज्ञानं संशयादिरूपमेव भवति । यत् एवं तस्मात् संदात्मनो भेदाः सन्मात्रमेव नान्यत् भामाद्विभ्रं प्रागभावादि इति एवं संग्रहः । कुतः स इत्याह—तत्प्राधान्यात्, सन्मात्रप्राधान्यात् नतु न पुनः भेदप्रतिच्छेपात् । कुत एतदित्याह—स्वपर्यायभेदानपेक्षया, यतः तत्प्रतिरूपकत्वं संप्रहाभासत्वम् । किंवदित्याह—ब्रह्मवादवत् इति ।

अधुना नैगमतदाभासप्ररूपणार्थमाह—

अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात् ।

10

नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमभास इष्यते ॥३०॥

विवृतिः—स्वलक्षणभेदाभेदयोः अन्यतरस्य प्ररूपणायाम् इतरो गुणः स्यात् इति नैगमः ।

(१) "इष्यते

इति । कुत ? अन्योन्यत्वादि । गुणभावः अप्रधानभूत एकश्च प्रधानभूत, अन्योन्य परस्पर गुणभूतकौ तौ च तौ भेदाभेदौ च तयोः प्ररूपणात् ब्रह्मणात् । तथाहि गुणगुणिनामवयवावयविना क्रियाकारकाणां जातितद्गताञ्च कथञ्चिद् भेदं गुणीकृत्य अभेदं प्ररूपयति, अभेदं वा गुणीकृत्य भेदं प्ररूपयति । नैगमनयस्यैवविधत्वात्, प्रमाणे भेदाभेदयोरनेकान्तब्रह्मणात् । ननु गुणगुण्यादीनामत्यन्तभेद एवेति चेदत्राह—अर्थेत्यादि । अर्थान्तरस्य गुणगुण्यादीनामत्यन्तभेदः । तस्योक्तौ प्ररूपणाय नैगमाभास इष्यते तस्य प्रमाणवाधितत्वात् । "लघी० ता० पृ० ५७ । तुलना—'जेगेहि भाणेहि मिणइति जेगमस्स य निरुत्ती । सेसाणपि नयाण लक्खणमिणमो मुणह वोच्छ ॥"—अनुयोगद्वार० ४ द्वा० । आब० नि० गा० ७७५ । बिशेषा० गा० २६८२ । "निगमपु येऽभिहिता शब्दास्तेषामर्थे शब्दावैपरिज्ञानं च दशसमग्राही नैगमः । 'आह च नैगमशब्दार्थानामेकान्तैवार्थनयगमापेक्ष । दशसमग्राही व्यवहारी नैगमो ज्ञेयः ।"—तत्त्वार्थसिद्धि० भा० १।३५ । तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्धि० १।३५ । "अभिनिर्युत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः ।"—महार्थसिद्धि० १।३३ । राजवा० १।३३ । "यदास्ति न तद् द्वयमतिलङ्घ्यं वर्तते इति नैक गमो नयः संप्रहासग्रहस्वरूपद्रव्याधिक्या नैगम इति यावत् ।"—रत्नाटी० पृ० ८४ । जयध० अ० पृ० २७ । "तत्र सकल्पमात्रस्य ग्राहका नैगमो नयः । यद्वा नैक गमो योऽन स सना नैगमो मतः । धर्मयोः धर्मिणोः वापि विवक्षा धर्मधर्मिणा । पर्यायनैगमादिभेदेन नवविधो नैगमः ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६९ । नवविध० ३३, ३७ । प्रमेयक० पृ० ६७६ । सम्मति० टी० पृ० ३१० । नयचक्र गा० ३३ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । "नैकंमार्तं, महासत्तासामान्यविधपविशपविज्ञानं मिमीत मिनोति वा नैकम् । निवर्तयेषु वा अर्थबोधेषु कुशलो भवो वा नैगमः । अथवा नैके गमा पन्थाना यस्य स नैकगमः ।"—स्थानाङ्गसू० टी० पृ० ३७१ । "धर्मयो धर्मिणो धर्मधर्मिणाश्च प्रधानोपसर्जनभावना यद्विवक्ष्य स नैवगमो नैगमः"—प्रमाणनय० ७।७ । स्या० पृ० ३११ । जैनतर्कभा० पृ० २१ । (२) तुलना—'ज सामत्रविसेमे परोप्पर वत्थुओ य सो भिन्नो । मनइ अच्चन्तमओ मिच्छइट्टी वणादाव ॥"—बिशेषा० गा० २६९० । "तयारत्तवन्तभेदोक्तिरन्योन्य वाधयादपि । ज्यो व्यजनपर्यायनैगमाभो विक्षपत ॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७० । नवविध० ६३ । प्रमेयक० पृ० ६७७ । न्यायावता० पृ० ८२ । प्रमाणनय० ७।११ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

1—क द्रव्या—आ० । 2 तदेवमेव य० । 3 एव आ० । 4 सदात्मानो आ०, व० । 5—न्तरतोक्ती ज० वि०,—न्तरत्वोक्तौ आ० ।



च आत्मा । तदर्थान्तरताभिसन्धिः नैगमाभासः । कथम् ? गुणगुणिनाम् अवयवा-  
वयविनाम् क्रियाकारकाणां जातितद्गतां च मिथोऽर्थान्तरत्वे सर्वथ । वृत्तिविरो-  
धात् । एकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्येकं सर्वात्मना यदि स्यात् तद् एकमित्येव न  
स्यात् । यदि पुनः एकदेशेन वर्तेत तदेकदेशेष्वपि तथैव प्रसंगात् क्व किं वर्तेत ?

**नैगमः** नैगमनय इष्यते । कुत इत्याह—‘अन्योन्य’ इत्यादि । प्रमाण-

कारिकाव्यवस्थानम्—

तो हि द्रव्यपर्यायाणां क्वचिद्भेदे अभेदे च व्यवस्थिते सति अन्योन्यं

परस्परं गुणभूतं अप्रधानभूतं भेदस्य अभेदः, तस्य च भेदः

एकः प्रधानभूतो भेदस्य अभेदः तस्य च भेदः तयोः प्ररूपणात् । अर्था-  
न्तरत्वोक्तौ भेदाभेदयोः एकान्तेन नानात्वोक्तौ सत्या नैगमाभास इष्यते ।

कारिका विवृण्वन्नाह—‘स्वलक्षण’ इत्यादि । स्वलक्षणं पर्यायात्मकं द्रव्यं

तदात्मका पर्यायाश्च, तस्य यो भेदाभेदौ तयोर्मध्ये अन्यतरस्य

विवृतिविवरणम्—

भेदस्य अभेदस्य वा प्ररूपणायां क्रियमाणायां इतरः भेदप्ररूपणा-

याम् अभेदः तत्प्ररूपणायां वा भेदः गुणः स्यात् इति ण्वविधौ नैगमो नयः ।

अत्रार्थे सुरूपप्रतीत्यर्थं ‘यथा’ इत्याद्युदाहरणमाह—यथा येन अनादिनिधनचैतन्य

प्रकारेण जीवस्य यत् स्वरूपं गुणपर्यायव्यापकत्वं तस्य निरूपणायां क्रियमाणाया

गुणा अप्रधानभूताः, के ? सुखदुःखादयः । ननु ‘सुखादयः’ इत्येवास्तु किं दुःखप्र-

हणेन ? इति चेत्, न, अन्योन्य जीवाश्च भेदप्रतिपत्त्यर्थत्वात् तैदुभयग्रहणस्य ।

तत्प्ररूपणायाश्च सुखदुःखादिप्ररूपणायाश्च आत्मा जीवस्वभावा ‘गुणः’ इति सम्ब-

न्ध । नन्वेव व्याख्यानं कस्मान्न भवति—जीवस्वरूपस्य जीवसत्तायां निरूपणायां गुणा

सुखदुःखादयः, तेषां सत्तैव गुण इति, तत्प्ररूपणायाश्च सुखादिसत्ताप्ररूपणायाश्च

आत्मा जीवो गुण इति चेत् ? सम्यक्श्रुतसूत्राभ्यामस्य भेदाभावप्रसङ्गादिति ब्रूमः ।

जीवसुखादीनामन्योन्यमत्यन्तभेदप्ररूपणायां तु तदाभास इत्याह—‘तत्’ इत्यादि ।

तेषां जीवसुखादीनां प्रकमाद् एकान्तेन अर्थान्तरताभिसन्धिः नैगमाभासः । ‘कथम्’

(१) तुलना—‘वृत्तिश्च कृत्स्नावधिकल्पतो न ।—युक्त्यनूशा० इत्ये० ५५ । ‘एकस्मानेकवृत्तिर्न

भागाभावाद्गूढनिधा । भागित्वाद्भास्यं नैवत्वं दापो वृत्तिरेनाहृतः ॥’—आत्मसौ० का० ६२ । अष्टश०,

अष्टसह० पृ० २१४ । तस्य तेषु सर्वात्मनाऽयथा वा व्युत्पद्योर्वा बाधक प्रमाणम् ।—बाधन्यायटी०

पृ० ३० । ‘यद्वा सर्वात्मना वृत्तावनेकत्वं प्रसज्यते । एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न क्वचिच्च स ॥’

—तत्त्वम० पृ० २०३ । यदि सर्वेषु कायोऽयमकदन्तन वतते । अशा अ जेषु वल्लने स च कुत्र स्वयं

स्थितः ॥ सर्वात्मना चेत् सर्वत्र स्थितः कायः करादिषु । कायास्तावन्त एव स्थित्वन्तिस्ते करादयः ॥

—बोधिचर्याव० पृ० ४९५ । (२) अभेदस्य । (३) अभेदस्य । (४) अभेदनिर्वाणे । (५) अप्रधानभूतः ।

(६) सुखदुःखोभयः । (७) नैगमस्य । (८) सत्ताप्राया उपलब्धे सम्यक्—तर्भावप्रसङ्गं सुखादिपर्यायप्राधान्यं

तु श्रुतसूत्रेऽन्तर्भावप्रसङ्ग इति ।

१—पञ्चवयवक्रि—६० वि० । २—भूतो भेदस्य आ० । ३—णायामितर जा० । ४—जीवस्य स्वभावो व०, थ० । ५—जीवतो गुण थ० । ६—रूपणात्तदा—थ०, व० । ७—यां जीवानां प्र—आ० ।

प्रकारेण द्रव्यगुणकर्मण्येव न ररविपाणादीनि स्वतः सन्तु किं तत्र तेषु द्रव्यादिषु सत्तासमवायेन ? कुत एतदित्याह—‘स्वतः’ इत्यादि । स्वतो हि सतां द्रव्यादीनां सत्तासमवायात् सत्त्वं स्यात्, असतां वा ? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः, स्वतः सतां तद्वै-  
 यर्थ्यात् सत्तासमवायवैयर्थ्यात् । स्वतोऽसताश्च अतिप्रसङ्गात् रपुष्पादौ तत्समवा-  
 यात्सत्त्वप्रसङ्गात् । एतदेव दूषणमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह—‘तदेवम्’ इत्यादि । तद्  
 अनन्तरोक्त दूषणम् एवम् उक्तविधिना योज्यम् । क ? अवान्तरजातिष्वपि द्रव्य-  
 त्वादिसामान्येष्वपि । तथाहि—यथा सद्रव्यं सन् गुणः सन् कर्म स्वतः तथा स्वतो  
 द्रव्यं द्रव्यं गुणो गुणः कर्म कर्म रण्डादिर्गोः कर्कादिरश्वः, किं तत्र द्रव्यत्वादिसमवाये-  
 न ? स्वतो द्रव्यगुणकर्मणां तद्वैयर्थ्यात्, अद्रव्यगुणकर्मणाश्चातिप्रसङ्गात् । नहि तेषा-  
 परिणतमन्यसम्बन्धात् तथा भवति आकाशकुशेशस्यपि तथात्वप्रसङ्गात् । अत्र  
 दूषणान्तरं दर्शयन्नाह—‘गोत्वादेः’ इत्यादि । अत्र आदिशब्देन अश्वत्वादिपरिग्रहः,  
 सर्वगतत्वे अङ्गीक्रियमाणे तत्प्रत्ययसाङ्कर्यम् गोत्वादिप्रत्ययसाङ्कर्यम् रण्डादिषु  
 कर्कादावपि गोप्रत्ययः स्यात् । उपलक्षणमेतत् तेन अभिधानव्यवहारसाङ्कर्यं गृह्यते ।  
 तत्साङ्कर्यं च अवान्तरजातित्वं तस्य अतिदुर्न्वयम् । निराकृता च विशेषतो नित्या  
 सर्वगता जातिः सामान्यपरीक्षावसरे इत्यलमिह विस्तरेण । अथ असर्वगतत्वपक्षे  
 जातेर्दूषणमुपदर्शयन्नाह—‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा अन्येन असर्वगतत्वप्रकारेण  
 ‘निष्क्रियस्य गोत्वादेः, अर्थः उत्पित्सुः यस्मिन् देशे तमव्याप्नुवतः ‘इच्छातो पिशे-  
 पणविशेष्यभावः’ इति अर्थस्य विशेषणत्वमिति न उत्पित्सुशब्दस्य पूर्वनिपातः ।  
 अनंशस्य निरवयवस्य अनेकत्र रगाधारे कादाचित्कं वर्तनमयुक्तम् । स्वमते दोषाभाव  
 दर्शयितुमाह—गुणगुण्यादीनामन्योन्यात्मकत्वे न किञ्चिद्विरुद्धमिति । एतच्च  
 अनेकान्तं

प्रसङ्गात् ।

समवायसि सत्ताभ्युपगमं तद्वैयर्थ्यं समवायाभ्युपगमादनिष्ठापत्तिरेव दूषणम् —‘प्रश्न० भा०, कण्ड०  
 ५० १९ । ‘मुख्यं हि अनवस्थादिवाधकोषपत्तं’—प्रश्न० व्यो० ५० १५२ । व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽ-  
 धानवस्थिति । रूपहानिरसम्बन्धो जातिवाधकसङ्ग्रहः ॥’—प्रश्न० किर० ५० ३३ ।

(१) सत्तासमवायात् । (२) द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वसमवायवैयर्थ्यात् । (३) ‘न हि स्वतोऽतथा  
 भूतस्तथात्वसमवायभाक् ।’—भास्तप० का० ७२ । (४) सत्तासमवायात्सत्त्वप्रसङ्गात् । (५) कर्कादा-  
 वपि गोर्गोरिति शब्दप्रयोगे गोरिति ज्ञानं वा स्यात् । (६) गोत्वस्य । (७) दुर्ज्ञेयम्, यतो हि गोत्व  
 गोवन् सर्वत्र अस्वादी स्यात् तथा च तत् महासामान्यमेव स्यात् त्ववान्तरसामान्यमिति भावः । (८) ५०  
 २५८- । (९) तुलना—‘तत्र दत्तान्तरे वस्तुप्रादुर्भावे कथ्यते । दृश्यन्ते वृत्तिभाजो वा तस्मिन्निति न  
 गम्यते ॥ ॥ हि तेन सहोत्पन्ना नित्यत्वानाप्यवस्थिता । तत्र प्राग्विभुत्वेन नचायात्यन्यतोऽक्रिया ॥’  
 —तत्त्वस का० ८०६-७ ।

१—ह स्वतो हि आ० । २—जातिदि—आ०, थ० । ३—द्रव्यादि—ब० । ४—जातिरिति—थ० ।

५ गोत्वप्रत्यय थ० । ६—न असर्व—ब०, थ० । ७ नि क्रियस्य ब०, आ० । ८—व्यस्यभाव थ० ।

९—चित्त्ववर्तन—ब० ।

अपरमपि नैगमाभास दर्शयितुमाह—‘गुणानाम्’ इत्यादि । गुणानां सत्त्वरज-  
स्तमसां वृत्त वर्तुन चलम् अविर्भावतिरोभाववत् । एतदेव ‘सुख’ इत्यादिना व्याचष्टे-  
सत्त्वस्य हि सुखादिलक्षणं वृत्तम्, रजसो दुःखादिलक्षणम्, तमसोऽज्ञानादिवमिति ।  
पुरुषस्य किं स्वरूपमित्याह—‘चैतन्यम्’ इत्यादि । चैतन्यं दर्शनं पुरुषस्य स्वम् आत्मी-  
यमसाधारण रूपम् । “न प्रवृत्तिर्न विकृतिः पुरुषः” [साख्यका० ३] इत्यभिधानात् । 5  
कथम्भूतम् ? अचलम्, आविर्भावतिरोभावविकलम् । इतिसिद्धेः परपक्षसमाप्त्यर्थः ।  
अत्र दूषणमाह—‘एतदपि’ इत्यादि । एतदपि साख्यमतमपि न केवलं वैशेषिकमतं  
तादृशेन नैगमाभास एव । कुत एतदित्याह—‘तद्’ इत्यादि । तयोः सुखादिवृत्त-  
पुरुषयोः अर्थान्तरतां य ( ताव ) स्वन्तरत्वं तस्य असिद्धेः अनिश्चयात् । अत्रैव  
दोषान्तरमाह—अतिप्रसङ्गश्चैवमिति । सुखादिवृत्तपुरुषयोः परमार्थतोऽभेदेऽपि प्रतीय- 10  
माने एवं परैः स्वमतदुरामहाभिनिवेशप्रकारेण भेदे अभ्युपगम्यमाने अतिप्रसङ्गः स्यात्  
‘एकमेव न किञ्चित् स्यात्’ इति भावः । च शब्दः पूर्वदोषसमुच्चये । ननु तदभेदवि-  
रोधात् सिद्धेव तदर्थान्तरता इत्याह—‘तदभेद’ इत्यादि । तयोः पुरुषवृत्तयोरभेदे  
एकत्वे सति विरोधाभावात् सहानवस्थानलक्षणस्य परस्परपरिहारस्थितित्वरूपस्य  
प्रमाणबाधारूपस्य वा विरोधस्याभावात् इति भावः । अथ मतम् अचलपुरुषस्वरूपे 15  
चलवृत्तानुप्रवेशे द्वयोश्चलत्वमचलत्वं वा रूपं स्यात् अतो विरोधः इत्यत्राह—‘गुणानाम्’  
इत्यादि । गुणानां सत्त्वरजस्तमोलक्षणाणां दृश्यादृश्यात्मकत्वे व्यक्तापेक्षया  
दृश्यात्मकत्वे प्रधानापेक्षया अदृश्यात्मकत्वे अङ्गीक्रियमाणे पुंसामेव तदात्मकत्वं  
दृश्यादृश्यात्मकत्वं युक्तम् उपपन्नम् । प्रसाधितञ्च सुखादिनिवर्त्तित्वमात्मनः प्रागेव  
प्रबन्धेन इत्यलमतिप्रसङ्गेन । ततः किं जातम् ? इत्याह—‘कृतम्’ इत्यादि । कृतं 20

( १ ) “प्रीत्यप्रीतिविपादात्मका, अत्राय समास प्रीतिश्चाप्रीतिश्च विपादश्च ते आत्मा स्वरूप  
येषां गुणानां ते भवन्ति प्रीत्यप्रीतिविपादात्मका । तेषां लक्षणमुच्यते तत्र प्रीत्यात्मकं सत्त्वम् । आत्म-  
शब्दः स्वभावे वर्तते । कस्मात् ? मुख्यशब्दात् । यो हि कश्चित् क्वचित् प्रीतिं लभते तत्र आर्जव  
मादवसत्यशीघ्रहृद्दिक्षमानुकम्पाशानादि च, तत्तत्प्रत्येतव्यम् । अप्रीत्यात्मकं रजः । कस्मात् ?  
दुःखलक्षणत्वात् । यो हि कश्चित् कदाचित् कदाचिदप्रीतिमुपलभते तत्र द्वयद्वोद्वेगसंनि-वात्प्रभोक्त्य-  
निकृतिवञ्चनाबन्धच्छदानां च, तद्वज्र प्रत्येतव्यम् । विपादात्मकं तमः । कस्मात् ? मोहलक्षणत्वात् ।  
यो हि कश्चित् कदाचित् क्वचित् प्रीतिमुपलभते तत्र अज्ञानमदालस्यभयदे-याकर्मेण्यतानास्तिव्यविपादस्व-  
प्नादि च, तत्तत्प्रत्येतव्यम् । ”—साख्यका० भाठर०, जयम०, का० १२। साख्यसूत्रवि० पृ० १०६ । ( २ )  
कापिले । ( ३ ) सुखादि-पुरुषयोः । ( ४ ) सुखादि । ( ५ ) द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः, अविकलकार-  
णस्य भवतोऽन्यभावेऽभावविरोधगति शीतोष्णस्पर्शवत् । परस्परपरिहारस्थितिलक्षणतया वा भाववत् । ”  
—न्यायवि० पृ० ९७-९८ । ( ६ ) पृ० १९१ ।

1—चष्ट सत्त्वस्य दर्शनं पुरुषस्य आ० । 2—दि वृत्तपुरुषयोः पर—आ० । 3—तामचलस्त्वन्त—व० ।

4 तदभेदविरो—य०, व० । 5—प्रवेशद्वयो—आ० । 6—त्राह बुद्ध्याद्—य० । 7—कत्वव्यवृत्ता—आ० ।

8—त्मकं युक्त आ० ।

इति प्रश्ने उत्तरमाह—गुणगुणिनाम् अयमाययिना क्रियाकारकाणा जातितद्व-  
ताञ्च मिथः परस्परमर्थान्तरत्वे अङ्गीक्रियमाणे, किम् इत्याह—‘सर्वथा’ इत्यादि । सर्वण  
वक्ष्यमाणप्रकारेण सर्वथा वृत्ते गुणादीना गुण्यादौ वर्चनस्य निरोधात् ‘नैगमाभासः’  
इति सम्बन्धः । तद्विरोध दर्शयितुमाह—‘एकम्’ इत्यादि । एकम् अवयव्यादिकम् ।  
अनेकम् देशकालाकारभिन्ने अवयवादौ वर्चमान एकमेक प्रति प्रत्येक सर्वात्मना  
साकल्येन यदि स्याद् भवेत् वर्चमान तदवयव्यादिकम् ‘एकम्’ इत्येवं न स्यात्,  
अपि तु यावन्तोऽवयवाद्य तावन्त एव अवयव्याद्य स्युः । नहि एकस्य निरस्य  
क्रियातो भिन्नस्य परमाणुवद् युगपद् देशादिभिन्नेष्वाधारेषु वर्चन युक्तम् । परस्य  
पश्चान्तरमाशङ्क्य दूषयन्नाह—‘यदि पुनः’ इत्यादि । पुनरिति पश्चान्तरसूचकः,  
एकमनेकम् प्रत्येकं यद्येकदेशेन वर्त्तत तर्हि तस्य अनेकदेशा कल्पनीया तेषु चास्य  
वृत्ति कल्पनीया, अन्यथा कथं ते ‘तस्यै’ इति व्यपदिश्यन्ते ? तत्कल्पने च दूषणमाह—  
‘तद्’ इत्यादि । ‘ते च ते एकदेशाश्च तेऽपि तथैव सर्वात्मनैकदेशप्रकारणैव प्रसङ्गात्  
दोषादनवस्था स्यात् इत्यभिप्रायः । तथाच क्व अयमादौ किम् अयव्यादि वर्त्तत ?  
निराकृता च अवयवादौ अवयव्यादेर्वृत्ति निषयपरिच्छेदे प्रपञ्चत इत्यलमतिविस्तरेण ।

एव गुणगुण्यादीना भेदैकान्त निराकृत्य सत्तातद्वता तै निराकर्तुमाह—

स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत् सत्तया किं सदात्मनाम् ।

असदात्मसु नैषा स्यात् सर्वथातिप्रसङ्गतः ॥ ४० ॥

विधृतिः—यथा सदर्थान्तराणि स्वतः सन्ति तथैव द्रव्यगुणकर्माण्येव सन्तु किं  
तत्र सत्तासमवायेन ? स्वतः सता तद्वैयर्थ्यात् असता चाऽतिप्रसङ्गात् । तदेवम् अवा-

(१) अवयविनिष्ठा क्रिया एका निरक्षयिणी सती भिन्नदशाषु अवयवेषु वर्तनापि, न तु क्रियातो  
भिन्नोऽन्य कश्चिन्निरासोऽव भिन्नदशाधारषु वर्तते इति भावः । (२) अनेकदेशेषु । (३) अनेकदशा ।  
(४) अवयविनः । (५) पं० २२४ । (६) भेदकान्तम् । (७) योगमते भावानां स्वतः सदात्मना सत्ता  
समवायः असत्तात्मना वेति विकल्पद्वयं मनसिकृत्य प्रथमपक्षं दूषणमाह—स्वतः स्वरूपेण अर्था पदार्था  
सन्तु । किंवत् ? सत्तावत् यथा सत्तान्तराद्विनाऽपि सत्ता परसामान्य स्वतः एवास्ति तथा द्रव्या  
दीनापि स्वतः एव सन्तु विद्यन्ताम् । तथा च स्वतः सदात्मना सत्तया किं साध्यं न किमपीत्यर्थः । विनापि  
तथा तेषां सत्तावत् । द्वितीयविकल्पं दूषयति सत्तयाऽसदात्मसु द्रव्यादिषु परा सत्ता न स्यात् न वर्तत  
अतिप्रसङ्गान् सरविषाणादावपि सत्तयाऽस्ति सत्तासमवायप्रसङ्गात् । —लघी० ता० पृ० ५९ । तुलना—  
सत्ताजोमादसञ्चो सञ्चो व सत्त हवेज्ज दन्वस्स । असञ्चो न सपुप्फस्स व सञ्चो व किं सत्तया कज्ज ॥’  
—विशया० गा० २६९४ । स्वरूपेणासत्त सत्त्वममवाय च सप्तम्बुज । स स्यात्किं विनायस्याभावात्तस्य  
ततोऽञ्जसा ॥ स्वरूपेण सत्त सत्त्वममवायसि सवदा । सामायादौ भवत्सत्त्वमवायोऽविनायत ॥ —  
आप्तप० का० ६९ ७० । उद्धृतेय कारिका—सूत्रकृताय शो० पृ० २२७ १

१ गुणादीना गुणादौ आ० ब० । - यदि पुनरित्यादि इति पाठ आदयः लिखित्वापि निष्का-  
सित । ३ कथं तस्य श्र० । ४ ते च ते तदेकदेशे-१० ब० । ५ इत्यलमिति-ब० । ६ निराकृत्यमाह-४० ।

पर्याप्त गुणकल्पनया प्रधानरूपनया, तस्य तदात्मकत्वादित्यभिप्रायः । निरस्तश्च प्रधानं प्रपञ्चतः प्रकृतिपरीक्षाप्रकटके<sup>३</sup> इत्युपरम्भते ।

अधुना प्रमाणाभावात् तदाभासतां नैवोद्देशयितुमाह—

प्रोमाप्यं व्यवहाराद्धि स न स्यात् तत्त्वतस्तयोः ।

मिथ्यैकान्ते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः ॥ ४१ ॥

विवृतिः—शुद्धमशुद्धं वा द्रव्यं पर्याप्तं समस्तं व्यस्तं वा व्यवस्थापयता तत्साधनं प्रमाणं मृग्यम् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । तत्प्रामाण्यश्च व्यवहारैरेव । स च संग्रहे भेदाश्रयो मिथ्यैव । ततः सप्र (सःप्र) त्रिपक्षं कथमतिशयीत सत्येतरस्वरूपवत् ? मिथ्यैकान्ताविशेषेऽपि तद्व्यवस्थापनमयुक्तम् ; तदुभयोपलब्धेरवितथात्मकत्वात् । अन्यथा स्वप्नान्तरम् तद्विसंवादान्न किञ्चित् प्रमाणम् । नैगमेऽपि 'चलं गुणप्रकृतं नित्यं चैतन्यम्' इति व्यवहारासिद्धेः स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । नहि

"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।

यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव (येव) सुतुच्छकम् ॥" [ ]

(१) पुष्पस्य । (२) सुखाशान्तमकरात् । (३) पृ० ३५४ । (४) मग्नहाभामनैगमाभामयो । (५) व्याख्या—'प्रमाणं स्वेष्टानिष्टसाधनरूपणनिबन्धनं प्रत्यक्षमन्यद्वा सर्वैरभ्युपगन्तव्यमन्यमासति-प्रसङ्गात् । तच्च व्यवहारात् । विधिपूर्वकमवहरणं विमर्जनं भेदकल्पनं व्यवहारस्तस्मात् तमाधिरत्येत्यर्थः । स च तत्त्वतः परमार्थतो न स्यात् । क्व ? तयो मग्नहाभामनैगमाभामयो । न खलु निरपेक्षे भावकान्ते प्रमाणाभिदेव्यवहारोस्ति निराकृतत्वात् भेदेकान्तं वा प्रमाणफलव्यवहारोस्ति सम्बन्धाभावात् । औपचारिकं प्रमाणफलव्यवहारस्तनास्तीति चेदत्राह—मिथ्यैकान्ते । मिथ्यैकान्ते प्रमाणफलव्यवहारस्यावास्तवैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे विषय भेदोऽपि क ? न वापीत्यर्थः । कयो ? स्वपक्षविपक्षयोः, स्वपक्षो ब्रह्मवादी भववादी वा, विपक्षः क्षणिकवादीऽद्वैतवादी वा तयो सकरप्रसंगादित्यर्थः । ततः कथञ्चिद्व्यवहारोपि दास्तवोऽङ्गीकृतं स्य । '—लघी० ता० पृ० ६० । तुलना—'प्रामाण्यं व्यवहारेण' ।'—प्रमाणवा० १।७ । (६) "उक्तार्थे शास्त्रं प्रमाणमिति—नया चेति । परमं पारमाधिकं नित्यमिति यावत् । मायेव लौकिकमायावत् धानभङ्गरम्, अतः सुतुच्छकम् अत्यन्ततुच्छमल्पसारं स्थिरादाभावादिनि । अत्र मुद्यन्देन परिणामितया गुणानामपि तुच्छत्वं सूचितं गुणा एव परिणामितया कूटस्थवित्यापेक्षया तुच्छा, गुणकार्यं तु दृश्यमानं गुणपेक्षयापि तुच्छम्, अतः सुतुच्छमिति ।" —योगवा० पृ० ४१४ । "परमं रूपं मूलरूपमव्यक्तावस्था न दृष्टिपथमृच्छति गच्छति, अस्तु दृष्टिपथं प्राप्तं यद् गुणरूपं तद् मायैव सुतुच्छकं मायया प्रदर्शितं प्रपञ्चं यथा तुच्छं तथैव ॥" —योगसू० भास्व० पृ० ४१४ । कारिकेयं निम्नग्रन्थेषु समुद्भूतास्ति—'तथा च शास्त्रानुशासनमगुणानां' । —योगवा० ४।१३ । 'पठितनञ्जशास्त्रस्यानुशिष्टि—गुणानां' । —योगभा० तत्त्वव० ४।१३ । योग० भास्वतो, पात० रह० ४।१३ । 'अगवान् वाप्येग्य—गुणानां' । —ज्ञा० भा० भासतो पृ० ३५२ । नयचक्रवृ० पृ० ४३ A । तत्त्वोपलव० पृ० ८० । साख्यतत्त्वा० पृ० ६ । गुणानां मुमहद्वृत्तम् ।' —प्रमाणवा-तिकाल० परि० ४, पृ० ३३ । सिद्धिवि० टी० पृ० ७४ B । अष्टसह० पृ० १४४ । 'दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायावस्तु तुच्छकम्'—जयम० पृ० ६३ ।

१ नयपरिक-पं० । २-भासपता पं० । ३ प्रमाणं व० । ४-व्य व्य-ई० वि० । ५-नय मा-न० वि० । ६ बल ई० वि० ।

इति प्रमाणमस्ति समवायेन स्वावयवेषु अवयवी वर्तेत । 'भृङ्गे गौः शाखायां वृक्षः' इति लोक्व्यवहारमतिवर्तेत विपर्ययात् । स्वयमज्ञस्वभावात्मा ज्ञानसमवाये कथमिव ज्ञः स्यात् ? नहि तथाऽपरिणतस्य तत्त्वम्, समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात् । न वै ज्ञानसमवायोऽस्ति समवायस्येति चेत् ; कथं स्वस्वभावारहितः सोऽस्ति वर्तेत वा समवायान्तराभावात् तदनवस्थानुपङ्गात् ।

प्रमाण्यं व्यवहारात् व्यवहारमाश्रित्य, हिः अवधारणार्थः । व्यवहारादेव न ज्ञानायद्वैताद्याश्रित्येत्यर्थः । तत एव तदस्तु को दोषः इति कारिकाव्याख्यानम्—  
चेदत्राह—'स' इत्यादि । स व्यवहारो न स्यात् तत्त्वतः परमार्थतः तयोः संग्रहणैगमाभासयोः । ननु यदि तयोर्व्यवहारो वास्तवो नास्ति, मा भूत् अवास्तवस्तु भविष्यति इत्याह—'मिथ्यैकान्त' इत्यादि । अयमभिप्रायः—यत्र व्यवहारो मिथ्या तत्र तदाश्रित प्रमाणमप्येकान्तेन मिथ्या, तस्मिन् मिथ्यैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे विशेषो भेदः कः न कश्चित् । कयोः ? स्वपक्षविपक्षयोः । ततः उभयोः सिद्धिरसिद्धिर्वा स्यादिति भावः । वाच्येन अपिशब्दार्थे ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—'शुद्धम्' इत्यादि । शुद्धं द्रव्यं पर्यायरहितं ब्रह्मादि, शुद्धं पर्यायं द्रव्यरहितं क्षणिकनिरंशपरमाणुरूपम् । अशुद्धं द्रव्यं सपर्य-  
वृत्तिव्याख्यानम्—  
यम् । अशुद्धं पर्यायं सद्रव्यम् । अस्यानन्तरस्य विशेषणमाह—  
'व्यस्तम्' इत्यादि । व्यस्तम् अन्योन्यनिरपेक्षम्, अनेन नैयायिकमतं दर्शितम् । समस्तम् अन्योन्यात्मकम्, अनेनापि सांख्यदर्शनं प्रकाशितम्, विकारविकारिणोः सांख्यैस्तादात्म्याभ्युपगमनात् । 'व्यवस्थापयता' इत्येतत् प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तस्मा-  
धनं तयोः शुद्धाशुद्धव्यस्तसमस्तद्रव्यपर्याययोः साधनं मृग्यम् अन्वेध्यम् । तच्च नय-  
त्किञ्चिद् भवितुमर्हति किन्तु प्रमाणम्, प्रत्यक्षादिवस्तुव्यवस्थायामन्यस्याऽनधिकारान् । अन्यथा प्रमाणान्वेषणाभावप्रकारेण तद्व्यवस्थापने अतिप्रसङ्गात् सर्वतः सर्वस्य सर्वा-  
र्थसिद्धिप्रसङ्गात् । ननु संग्रहणैगमाभासप्ररूपणप्रस्तावे किमर्थमप्रस्तुतं 'शुद्धं पर्यायम्' इत्येतत् प्रस्तूयते इति च न वाच्यम् ; दृष्टान्तार्थत्वात् । यथैव शुद्धं पर्यायं व्यवस्था-  
पयता सौगतेन प्रमाणं मृग्यम् तथा अन्येदपि अन्येन व्यवस्थापयता तन्मृग्यमिति ।  
यदिवा, उत्तरत्र ऋजुसूत्राभासे इदमवश्यं वक्तव्यम्, तदिहैवोक्तम् । मृग्यत एव तर्हि

(१) तुलना—'पटस्तन्तुष्विवेत्यादिशब्दाश्चेमे स्वयं कृता । धृजं गवीति लोके स्यात् धृजं गोरित्यलौकिकम् । प्रमाणवा० ३।१५० । 'वृक्षे शाखा शिलाश्चाय इत्यपि लौकिका मतिः । शिला-  
ख्यपरिशिष्टाङ्गनैस्तयोपलम्भनात् ॥ तौ पुनस्तास्विति ज्ञान लोकातिश्रान्तमुच्यते ।'—तत्त्वस० पृ० २६७ । (२) शुद्धद्रव्यादि । (३) ब्रह्मादेतादिवादिना । (४) प्रमाणम् ।

१—त वर्तेत ई० वि० । २ प्रमाणं व०, थ० । ३—वेदज्ञाना—आ० । ४ ज्ञानादेता—व० । ५ तत् थ० । ॥ यथा तयोः व० । ७ अथास्तवस्तु आ०, अवास्तवस्तु थ० । ८ प्रमाणमिधिका—आ० । ९ द्रव्यपर्याय—थ० । १० अनेन आ० । ११ तदिह चोक्तम् व० ।

प्रमाणमिति चेदत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तस्य तद्व्यवस्थापकस्य प्रामाण्यश्च व्यवहारेणैव न परपरिकल्पितपरमार्थप्रकारेण तत्र तदसिद्धे । स च व्यवहारः संग्रहे मिथ्यैव लेखतोऽपि सत्यो न भवति इति एवकारार्थः । कुत एतदित्याह—भेदाश्रयो यतः । भवत्वेवम्, को दोषः ? इति चेदत्राह—‘ततः’ इत्यादि । तस्मात् मिथ्यारूपात् प्रमाणादिव्यवहारात् संग्रहः प्रतिपक्ष भेदेकान्त कथमतिशयीत ? न कश्चित् । तत्रापि मिथ्याप्रमाणादिव्यवहारभावात् “प्रामाण्य व्यवहारेण” [ प्रमाणवा० ११७ ] इत्यादि-यचनात् । ननु अभेदात्मक संग्रहः भेदात्मकञ्च प्रतिपक्ष, तत्कथं स त नातिशेते ? इत्यत्राह—‘सत्य’ इत्यादि । सत्यम् अवितथम् इतरद् वितथम् ते च ते स्वरूपे च ते यस्य स्त तत् तद्वत् । क्रियाविशेषणमेतत्—सत्यरूपवद् यथा भवति तथा संग्रहोऽतिशयीत, इतरस्यरूपवत् यथा भवति तथा प्रतिपक्षमिति, प्रतिपक्षवत् संग्रहोऽपि मिथ्यैव स्यात् इत्यर्थः । ततः को दोषः इत्यत्राह—‘मिथ्या’ इत्यादि । मिथ्यैकान्तस्य संग्रहप्रतिपक्षयो योऽविशेषः तस्मिन्नपि न केवलं विशेषे तस्य संग्रहस्य व्यवस्थापनमयुक्तम् । उपसंहारमाह—‘तद्’ इत्यादि । यत एव तत् तस्मात् उभयोपलब्धे संग्रहेतरयो उपलब्धेः अवितथतात्मकत्वात् सत्यस्य भावत्वात् ‘स कथं प्रतिपक्षमतिशयीत’ इति सन्वन्व । तस्यावितथतात्मकत्वे दूषणमाह—‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा अवितथतात्मकत्वाभावाप्रकारेण स्वमान्तरवत् स्वप्रभेदवत् तस्याः विमतादानं किञ्चित् प्रमाणम् ।

एव संग्रहाभासे प्रमाणाभावः प्रदर्श्य इदानीं नैगमाभासे त दर्शयन्नाह—‘नैगमेऽपि’ इत्यादि । न केवलं संग्रहे अपि तु नैगमेऽपि न किञ्चित् प्रमाणम् । एतदेवाह—‘चलम्’ इत्यादि । चलम् आविर्भावतिरोभाववत् । किं तदित्याह—‘गुण’ इत्यादि । गुणानां सत्त्वादीनां वृत्तं महदादिरूपेण परिणमनं निरूप्यं चैतन्यम् इति एव स्वरूपवि-रचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । कुत ? व्यवहारासिद्धेः । एतदेव दर्शयन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । हि यस्य न गुणानां सत्त्वरजस्तमसां परमं प्रधानलक्षणं रूपं न दृष्टि-भ्रमच्छति, यस्तु रूपं महदादि दृष्टिपथप्राप्तं तन्मात्रेण सुतुच्छकम् इति एव प्रमाणमस्ति प्रत्यक्षादेराऽनवतारादिति ।

साख्यनैगमाभासे प्रमाणाभावः प्रदर्श्य अधुना नैयायिकतैदाभासे त दर्शयन्नाह—

(१) व्यवहारो हि भदमाश्रित्य प्रवर्तते अतः भदमाश्रित्यसंग्रहणमदृष्ट्या मिथ्यम् । (२) उद्धृतो ग्रन्थः नत्वापडलो० पृ० १७३ । सिद्धिर्वि० टी० पृ० १८ A २३२ B, २९४ B ३०५ B ३२४ ५२० B । प्रमेयक० पृ० २१७ ३८३ । सम्मति० टी० पृ० १११ ४९७ । वायवि० वि० पृ० ३८ B । शास्त्रवा० पृ० १५८ B । (३) नैगमाभासे । (४) प्रमाणाभावम् ।

१-मायव्यव-आ० । २-तद् तद्विषयं । ३ यो वि-व० । ४ तस्य व्यव-आ० ।

५ संग्रहेतरोपल-व० । ६ सत्त्वस्व-य० । ७ नित्यवृत्त-य० । ८ विषयचेतना-व० । ९ त मायव-व० । १० इत्यल-प्र-व० ।

‘समवायेन’ इत्यादि । समवायेन सम्बन्धेन स्वावयवेषु अवयवी वर्त्तन्ते [ ति ]  
 ‘नहि प्रमाणमस्ति’ इति सम्बन्धः । ननु ‘शृङ्गे गौः शाखाया वृक्षः’ इति प्रतीतिः तत्र  
 प्रमाणमस्तीति चेदत्राह—‘शृङ्गे’ इत्यादि । शृङ्गे गौः शाखायां वृक्ष इति एव यत् प्रमाणं  
 तत् लोकव्यवहारमतिवर्त्तत तत्र तथाप्रतीतेरभावात् । कुत एतदित्याह—विपर्ययात्,  
 ‘गवि शृङ्गं वृक्षे शाखा’ इति लोकव्यवहारे प्रतीतिसद्भावात् । अत्रैव दूषणान्तरमाह—  
 ‘स्वयम्’ इत्यादि । स्वयम् आत्मना अज्ञस्वभावाः अचेतनः सून आत्मा ज्ञान-  
 समवाये सति कथमिदं ज्ञः स्यात् चेतनो भवेत् ? नहि तथा ज्ञत्वप्रकारेण अपरि-  
 णतस्य तत्र ज्ञत्वं युक्तम् । कुन एतत् ? समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात् । ‘नवै’  
 इत्यादिना परमतमाशङ्कते—नवै नैव ज्ञानेन समवायस्य समवायोऽस्ति तत्कथमस्यै  
 ज्ञत्वप्रसङ्गः इति चेत् तत्राह—‘कथम्’ इत्यादि । कथं केन प्रकारेण समवायोऽस्ति ?  
 न केनचिद्, व्यवस्थापकप्रमाणानां समवायपरीक्षाया प्रपञ्चतः प्रतिपिद्धत्वात् । इतश्च  
 नास्त्यसौ स्वभ्यभागरहितो यतः । तस्य हि स्वभावोऽयुतसिद्धसम्बन्धत्वम्, तच्च तत्रैव  
 विस्तरतो निपिद्धम् । कथं च समवायिष्यवर्त्तमानस्य अश्वविपाणस्येव अर्थं अयुतसिद्ध-  
 सम्बन्धत्व युक्तम् ? अथ वर्त्तत एवासौ तत्र, अत्राह—‘वर्त्तत वा’ इत्यादि । अत्रार्थं  
 ज्ञत्वलक्षणं दूषणमुक्तमिति मत्वा दूषणान्तरमाह—वर्त्तत वा कथं समवायान्तराभावात्  
 ऐकत्वात्तस्य । विशेषणीभावाद् वर्त्तते इति चेदत्राह ‘तद्’ इत्यादि । समवायस्य  
 तदन्तरकल्पने या अनवस्था तस्य अनुपङ्गात् कथमसौ कापि वर्त्तत ? अयमभिप्रायः—  
 अनवस्थाभयात् समवायस्य समवायान्तर परेण न कल्प्यते, सा च विशेषणीभावक-  
 ल्पनेऽप्यविशिष्टा सम्बन्धान्तरकल्पनस्य अत्राप्यविशेषात् । नहि असम्बद्धो  
 विशेषणीभावः समवायस्य समवायिषु वृत्तिहेतुः इत्युक्तं समवायनिषेधप्रघट्टके ।

\*इदानीं व्यवहारनय दर्शयितुमाह—

व्यवहारीविसंवादी नयः स्याद् दुर्नयोऽन्यथा ।

यहिरर्थोस्ति विज्ञप्तिमात्रं शून्यमितीदृशः ॥४२॥

(१) लोकव्यवहारे । (२) समवायस्य । (३) पृ० २९७ । (४) ‘अयुतसिद्धानामाधायिषा-  
 रभूतानां य सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतु स समवायः ।’ (प्रश० भा० पृ० १४) इत्यभिधानात् । (५)  
 समवायपरीक्षायाम् (पृ० २९७) । (६) समवायस्य । (७) समवायिषु । (८) समवायस्य । (९)  
 तत्त्वं भावेन—वैशेष० सू० ७ । २ । २५ । ‘तस्माद् भाववत्सर्वत्रक समवायः’—प्रश० भा० पृ०  
 ३२६ । (१०) पृ० ३०३ । (११) व्याख्या— स्याद् भवेत् । क ? नय मप्रहादि । किमितिष्ट ,  
 यहिरर्थोस्तीतिदृश । इतिशब्दात् प्रमाणमस्ति साध्यसाधनभावोऽस्तीत्यादि । कथम्भूत सन ? व्यवहा-  
 राविसंवादी हेतुफलभावादिव्यवस्था व्यवहार तस्याविसंवादोऽव्यभिचार सोऽस्यास्तीति तथोक्त ।

१ वर्त्तत नहि व०, वर्त्तति नहि थ० । २-हारप्रतीति-व०, थ० । ३ न चंतावर्त्तय ज्ञानेन व० ।  
 ४ चेदत्राह थ० । ५-नयवर्त्त तत्रैव आ० । ६-वासी युक्त तत्र व० । ७ दूषणमाह व० । ८ वा  
 समवायान्तरात् एकत्वाभावात् एकत्वात्तस्य थ० । ९ असम्बन्धो वा० । १०-हारोऽविस-मु० लघी० ।  
 ११-मात्रशून्य-मु० लघी० ।



विवृतिः—प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं व्यवहारापेक्षम् । न पुनः अर्थाभिधानप्रत्ययाः  
त्मकः । कथम् ? उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं सत्, गुणपर्ययवद्द्रव्यम् जीवश्चैतन्य-  
स्वभावः इति । श्रुतेः प्रमाणान्तरावाधानं पूर्वापराविरोधश्च अविसंवादः ।  
तदपेक्षोऽयं नयः, ततोऽन्यथा दुर्नयः । कथम् ? बहिरपि स्वैलक्षणमर्थक्रिया-  
समर्थं सद् अंगीकृत्य तत्रतिक्षेपेण विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तत्त्वम् इति प्रत्यवस्थाप्य  
तदपि सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यमाणं न परीक्षाक्षममिति स्वभावनैरात्म्यमुसाध्य-  
साधनमाकुलं प्रलपन्न कचिद् व्यवतिष्ठेत स्वपरविसंवादव्यसनीयेन प्रत्यक्षादिवि-  
रोधात् । तदन्यतमस्याभिमतत्वात् पुनरलं शेषप्रलापेन ।

हेतुकलभावादिव्यवस्था व्यवहारः तदविसंवादी नयः स्यात् ।

अन्यथा तद्विसंवादप्रकारेण दुर्नयः नयाभासः स्यात् । अत्रो-  
कारिकायाख्यानम्—  
वाहरणमाह—‘बहिः’ इत्यादि । ‘बहिरर्थोऽस्ति’ इति नयस्य  
उदाहरणम्, शेषं दुर्नयस्य । बहिरर्थग्रहणमुपलक्षणं तेन प्रमाणमस्ति कार्यकारणभा-

व्यवहारस्य हि सुनयत्वे तदाश्रया हेतुकलभावादिसिद्धिः स्यात् अन्यथा व्यवहारविसंवादी दुर्नयः स्यात् ।  
कीदृशः ? विज्ञप्तिमात्रम्, विज्ञप्तिविज्ञानमेव तत्त्वं नान्यत् । भूतम्, समस्तज्ञानज्ञेयोपप्लव एव तत्त्वं  
मितीदृश । इतिशब्द प्रकारवाची, सम्प्राप्तमेव तत्त्वं विभ्रम एव तत्त्वमित्यादिप्रकारान् सूचयति । “  
—लघी० ता० पृ० ६१ । तुलना—“वच्चद्वि विणिच्छिन्नार्थं व्यवहारो सम्बद्धमेव ।”—अनुयोगद्वारा० ४ द्वा० ।  
आव० नि० गा० ७५६ । विशेषा० गा० २७०८ । “लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतायां व्यवहार ।  
“आह च—लोकोपचारनियत व्यवहार विस्तृत विद्यात् ।”—तत्त्वार्थशि० भा० १।३५ । तत्त्वार्थ० ह० १०,  
तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५ । “सग्रहनयाक्षितानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरण व्यवहार ।”—सर्वार्थसि० १।३३ ।  
राजवा० १।३३ । “व्यवहारपरतन्त्रो व्यवहारनय इत्यर्थः ।”—धवलाटी० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१ ।  
नयविब० ७४ । प्रमेयक० पृ० ६७७ । सन्मति० टी० पृ० ३१० । नयवच गा० ३५ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ ।  
प्रमाणनय० ७।२३ । स्या० म० पृ० ३११ । जैनतर्कभा० पृ० २२ । (१२) “कल्पनारोपितद्रव्यपर्याय-  
प्रविभागभाक् । प्रमाणवाचितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवमीयताम् ॥”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१ । नयविब०  
७६ । प्रमेयक० पृ० ६७८ । न्यायावता० टी० पृ० ८६ । प्रमाणनय० ७।२५, २६ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

(१) तुलना—“त्रय पदार्था अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्”—राजवा० पृ० १७ । (२) द्रष्टव्यम्—  
पृ० ६०५ टि० ७ । (३) तुलना—“गुणाणामासओ दन्व एकदन्वस्त्विया गुणा । लक्षणे पञ्जबाण तु उभओ  
बस्त्विया भवे ॥”—उत्तरा० २८।६ । “दन्व सत्त्वस्त्वणिव उण्यादन्वयधुवत्तसजुत् । गुणपञ्जयासय वा  
जं क भणति सव्वणू ॥”—अञ्जाति० गा० १० । “गुणपर्ययवद् द्रव्यम्”—तत्त्वार्थसू० ५।३८ । “त  
परियाणहु दन्व तुहुं ज गुणपञ्जयजुत् । सहभुव जाणहि ताह गुण कमभुव पञ्जउ वुत्त ॥”—परमात्मप्र०  
गा० ५७ । न्यायवि० श्लो० १११ । (४) तुलना—“उवओगल्लक्षणे जीवे ।”—भगवतोसू० २।१० ।  
उत्तरा० २८।१० । “उपयोगो लक्षणम्”—तत्त्वार्थसू० २।८ । (५) “अर्थत्रिमासमर्थं यत्तदत्र परमा-  
र्थम् ।”—प्रमाणवा० २।३ । (६) “विज्ञाप्तिमात्रमेवेदमसदर्थवभासनम् । यथा तैमिरिकस्यासत्के-  
शचन्द्रादिसंनम् ॥”—विज्ञाप्तिकाविज्ञप्ति० श्लो० १ । (७) तुलना—“अपि च बाह्यार्थविज्ञानभूयवा-  
दनवमितरेतरविरुद्धमुपदिशना मुक्तेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वे प्रवेपो वा प्रजासु विरुद्धार्थ-  
प्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमा प्रजा इति ।”—शा० भा० २।२।३२ ।

१ पूर्वापराविरोधश्च विसंवादः ई० वि० । २ तदविसंवादी नयः । ३-रत्नं प्र-ई० वि० ।

वादिरस्ति इत्यादिः सर्वो नयः संगृहीतः । 'विज्ञप्तिमात्रं तत्त्वम्, शून्यं तत्त्वम्' इतीदृशो दुर्नयः स्यात् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—'प्रत्यक्षस्यापि' इत्यादि । न केवलमनुमानादेः अपि तु

प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं व्यवहारापेक्षम् । अतः 'प्रमाणम्-  
निवृत्तिव्याख्यानम्—

विसंवादिज्ञानम् इत्यादि व्यवहारेण, आज्ञातार्थप्रकाशो वा इत्यतस्तु

'परमार्थेन प्रमाणम्' [ ] इत्ययुक्तम्, व्यवहारव्यतिरिक्तस्य परमार्थ-

स्याऽसंभवात् । कुत, एतदित्याह—'स' इत्यादि । योऽसौ प्रामाण्येन अपेक्ष्यते

स पुनः व्यवहारः अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकः, तद्व्यतिरिक्तस्तु अन्यो न कश्चि-

त्संभवति यः परमार्थः स्यादित्यभिप्रायः । अर्थाभिधानयोरर्थत्वेऽपि अत्र अर्थ-

शब्देन विचक्षातः तद्विषयो गृह्यते तदन्यतमापाये व्यवहारानुपपत्तेः । स्वप्नेनाऽवि-

शेषचोदनाया कुतो नानाविज्ञानसन्तानव्यवस्था विभ्रमव्यवस्था अन्या वा स्यात्

इत्युक्तं बाह्यार्थसिद्धिप्रस्तावे । 'कथम्' इति परप्रश्नः । कथं केन प्रकारेण अर्था-

त्मनो व्यवहारस्य स्वरूपं स्थितमिति ? उत्तरमाह—'उत्पाद' इत्यादि । उत्पादवि-

गमध्रौव्याणि लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तम् । किं तदित्याह—'सद्व' विद्यमान

घटादि प्रमेयम् । प्रसाधितञ्च उत्पादविनाशात्मकत्वमर्थानां सांख्यं प्रति प्रकृतिपरीक्षा-

याम् । कथं बौद्धं प्रति ध्रौव्यं सिद्धमित्याह—'गुण' इत्यादि । संहर्षुषो गुणाः

सुखज्ञानवीर्यादयः, क्रमभुवः पर्यायाः सुखदुःखादयः, तद्वद्वद्रूपम् । इदञ्च प्रसङ्ग-

साधनं सौगतं प्रत्येवं व्याख्येयम्—सहभाविनानाधर्मात्मकं चित्तमन्यद्वा चेदङ्गीक्रियते,

क्रमभाव्यनेकधर्मात्मकमप्यङ्गीकर्तव्यम् । नो चेत्, युगपदपि तर्त्तथा नाङ्गीकर्तव्यम-

विशेषात् । नैयायिकं प्रति पुनरेषम्—इच्छादिगुणसमवायित्वं चेत् कैस्यचिदिर्घ्यतेऽप-

(१) तुलना—'ततो यदुक्तं प्रमाणमविमवादिज्ञानमिष्यादि व्यवहारेण प्रमाणलक्षणमुक्तम्,

अज्ञातार्थप्रकाशो वा इति परमार्थेन, प्रमाणान्तरेणाज्ञातस्य अद्वयप्रतिभासार्यस्य आत्मवेदनस्य एवमभि-

धानात् ।"—सिद्धिचि० टी० पृ० १ B । "साध्यव्यवहारिकस्येदं प्रमाणस्य लक्षणं प्रमाणमविसर्वादिज्ञा-

नमिति ।"—तत्त्वसं० पृ० ७७४ । (२) प्रमाणविषयः, अभिधानप्रत्ययविषयो वा । (३)

अर्थाभिधानप्रत्ययेषु एकस्याप्यभावे । (४) योगाचारा माध्यमिकारव अर्थं स्वप्नवत् मिथ्यारूपं वासना-

कल्पितं मन्यन्ते तथा चोक्तम्—'केनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुदुबुदोपमा । मरोचितसदृशं सत्ता मस्कारो

कदलीनिभा । मायोपमञ्चं विज्ञानमुक्त्वा मादित्यबन्धुना ।"—मा० पृ० ४१ । "मायास्वप्नेन्द्रजा-

लसदृशा द्रष्टव्या"—नैरात्म्यप० पृ० १८ । न्यायकुमु० पृ० १३२ टि० ४ । तान् प्रत्याह—स्वप्नेनावि-

शेषेत्यादि । (५) पृ० ११९ । (६) पृ० ३५४ । (७) तुलना—'अन्वयिनो गुणा, व्यतिरेकिण पर्याया"—

सर्वार्थसि० पृ० ५३८ । गुणपर्ययवद्द्रव्यं ते सहकमवृत्तयः ।"—न्यायवि० श्लो० १११, टि० पृ० १६१ ।

'सहभूवो हि गुणा"—धवलाटी० पृ० १७४ । (८) चित्तं नानाधर्मात्मकम् । (९) आत्मनः ।

1—दि सर्वो जा०, थ० । 2 स हि इ—थ० । 3—हाराधीभि—आ० । 4 तद्विशेषयो गृ० थ० ।

5 स्वप्नेऽविशेषचोद—थ०, स्वप्नेनाविशेषनोद—आ० । 6 कुतो ज्ञानाविज्ञा—आ० । 7—वस्थामव्यवस्था

अन्या थ० । 8 सहमुखो गु—ब० । 9 प्रसाधनं थ० । 10—व्यते परा—ब० ।

रापरपर्यायात्मकत्वमेष्टव्यम् । नो चेत् ; तत्सामवायित्वत्र स्यात् । ततो यत् एव गुण-  
पर्यायवद्भवं तैत एव उत्पादविगमप्रौढ्यलक्षणं सन्निति । केस्तत्प्रतिपद्यते ? इति  
चेदत्राह—‘जीव’ इति । जीव आत्मा उत्पादादिरूपं सन् घटादिप्रमेयं ‘प्रतिपद्यते’  
इत्यध्याहारः । तस्य अनादिनिधनस्वभावतया तत्प्रतिपत्तौ सामर्थ्यसंभवात् । प्रसा-

- 5 धिआत्मा तत्त्वान्तरम् अनादिनिधनस्वभावश्च चार्थकमतपरीक्षायां सन्ताननिषेधाव-  
सरे च । ननु यदि सत्तामात्रेण असौ तत्प्रतिपद्यते तदाऽतिप्रसङ्गः । अथ प्रत्य-  
क्षादिना; तदा[ऽ]शक्तिरिति चेदत्राह—‘चैतन्यस्वभाव’ इति<sup>१</sup> । चैतन्यस्वभावः स्वपर-  
ग्रहणस्वरूपः इति हेतोः प्रत्यक्षादिपर्यायपरिणतः सन् तत्प्रतिपद्यते । तथा च उत्पा-  
दाद्यात्मकार्थलक्षणोऽर्थात्मको व्यवहारः सिद्धः, तत्प्रतिपत्तिलक्षणः प्रत्ययात्मकः, तत्प्र-  
10 रूपकशब्दलक्षणः शब्दात्मक इति ।

- अथ शब्दात्मके व्यवहारे को विसंवादः ? इत्याह—‘श्रुतेः’ इत्यादि । श्रुतेः  
अभिधानस्य प्रमाणान्तरेण प्रत्यक्षादिनाऽबाधनम् अविशंवादः । कथमत्यन्तपरोक्षेऽर्थे  
तद्विसंवादः प्रमाणान्तराबाधनस्य अन्यस्य वा ग्रहीतुमशक्यत्वादित्यत्राह—‘पूर्व’  
इत्यादि । पूर्वं यद्वाक्यं यच्च अपरं तयोरतिरोधश्च अविशंवादः, न केवलं प्रमाणान्त-  
15 राबाधनमेव, अस्ति चायं स्याद्वाद्वाञ्छितागमस्य । अतो “न हि स्यात् सर्वं (सर्वा) भूतानि”  
[ ] “यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवी” [ मनुस्म० ५।३९ ] इत्यागमस्य

“गगाद्वारे कुशावचे वित्तके नीलपर्वते ।

स्नात्वा कनकले तीर्थे सम्भवेन पुनर्मेव ॥” [ ]

“दुष्टमन्तर्गतं चित्तं तीर्थस्नानाच्च शुद्धयति ।

- 20 शतशोऽपि जलैर्धत्ति सुरभाण्डमिवाशुचि” ॥” [ जाबाल० ४।५४ । ]

इत्याद्यागमस्य च नाविशंवादः पूर्वापरविरोधैः सद्भावात् इत्युक्तं भवति ।

एवं व्यवहारं प्रदर्श्य तदाश्रयं नयं प्रदर्शयन्नाह—‘तदपेक्ष’ इत्यादि । तस्मिन्

- (१) पृ० ३४३ । (२) पृ० ९ । (३) आत्मा । (४) उत्पादादिस्वरूपं प्रमेयम् । (५)  
सुपुष्पाद्यवस्थास्वपि प्रमेयबोधप्रसङ्गः । (६) यदि प्रत्यक्षादिद्वारेण जानाति तदा स्वयमात्मन प्रमेय-  
बोधेऽशक्तिं प्राप्ता अत आह चैतन्यस्वभाव इति । वृट्तिर्यास्य पृ० प्रतावपि ‘तदाऽशक्ति’ इत्येव पाठः ।  
(७) आत्मा । (८) प्रमेयम् । (९) श्रुतेरविशंवादः । (१०) अर्थक्रियास्थितिरूपस्य बाधविशंवा-  
दस्य । (११) ‘यज्ञस्य (इव) भूत्वं सर्वस्य तस्माद्यज्ञे बधोऽप्ययः ।’ इत्युत्तरार्धम् । उद्धृतोऽयम्-  
यज्ञ० उ० पृ० ९१, ३५७ । (१२) उद्धृताविमो-प्रमाणवार्तिककाल० परि० ४ पृ० १४० । ‘चित्तमन्तर्गतं  
दुष्टं तीर्थस्नानेन’-जाबाल० । (१३) ‘न हि स्यात्’ इत्यहिंसाविधानं यज्ञे पशुवधेन विरुध्यते गगाद्वा-  
रादितीर्थस्नानविधानञ्च ‘तीर्थस्नानाच्च शुद्धयति’ इति तीर्थस्नानस्य निरर्थकत्वप्रतिपादनेन विरुध्यते ।

- 1-वायित्वं स्यात् अ०, वायित्वं तत्स्यात् व० । 2-पर्याय-अ० । 3-अत एव अ०, व० । 4-कस्त-  
त्र प्र-आ० । 5-स घटा-आ० । 6-यन्ते आ० । 7-भावश्चार्वा-आ० । 8-ननु च यदि अ० । 9-सन्तान-  
मात्रेण अ० । 10-‘चैतन्य स्वभाव इति’ नास्ति आ० । 11-‘तत् चैतन्यस्य स्वभाव इति चैतन्यस्वभावः स्वपर-  
-अ० । 12-सत्तत्त्व-आ०, अ० । 13-यद्वाक्यं आ० । 14-वित्त अ० । 15-प्रदर्शयितुमाह व०, अ० ।

व्यवहारे अपेक्षा यस्यासौ तदपेक्षोऽयं लोकासिद्धो व्यवहारारूपो नयः । ततोऽन्यथा तदपेक्षाभावप्रकारेण दुर्नयः । ननु तदपेक्षं एव दुर्नयः अप्रमाणमूलस्य व्यवहारस्यावलम्बनात्, न ततोऽन्यो<sup>१</sup> निरशक्षणीकपरमार्थाश्रयणात् । एतदेवाह—‘कथम्’ इति । न कथञ्चित् ‘ततोऽन्यथा दुर्नयः’ इति सम्बन्धः । अत्रोत्तरमाह—‘वहिरपि’ इत्यादि । न केवलमन्तः किन्तु वहिरपि स्वलक्षणं क्षणिकनिराशपरमाणुलक्षणम् अर्थक्रियासमर्थं यतः ततः सद् विद्यमानम् अङ्गीकृत्य पुनः तस्य स्वलक्षणस्य प्रतिज्ञेयेण निरासेन ‘विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तत्त्वं नात्मादिकम्’ इति एवं प्रत्यवस्थाप्य पुनरवस्थाप्य तदपि विज्ञप्तिमात्रमपि सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यमाणं पर्यालोच्यमानं नित्यादिवन्न परीक्षां क्षमते इति एवं स्वभावनैरात्म्यं निःस्वभावत्वम्, कथम्भूतम् ? असाध्यसाधनं साध्यसाधनविकलम् आकुलं यथा भयति तथा प्रलपन् सौगतो न क्वचिद् अन्तर्यहिः सकलशून्यताया वा व्यवतिष्ठेत् यतः ‘तदपेक्ष एव दुर्नयः’ इत्युक्तं शोभेत । ननु किमुच्यते स्वभावनैरात्म्यमसाध्यसाधनम् यावत्तत्र साधन विचार एव इति चेदत्राह—‘स्वपर’ इत्यादि । स्वः सौगतः परो नैयायिकादिः तयोः विसंवादः तत्त्वाप्रतिपत्तिः व्यसनं संसारसरित्पातार्त्तिः ते<sup>२</sup> अधिकृत्य कृतेन पुनः पश्चाद् अलं पर्याप्तं शेषप्रलापेन असम्बद्धाभिधानेन । कुत एतदित्यत्राह प्रत्यक्षादिविरोधात्, प्रत्यक्षमादिर्यस्य अनुमान-लोकप्रसिद्धादेः तत्तथोक्तं तेन तस्य वा विरोधात् । अथ प्रत्यक्षादेरनभ्युपगमात्त दोषोऽयमत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तेषां प्रत्यक्षादीनां मध्ये अन्यतमस्य अभिमतत्वाद् अङ्गीकृतत्वात् सौगतैः, कुतोऽन्यैथा तेषां स्वपराभिमतसाधनदूषणमित्यभिप्रायः ?

एवं व्यवहारनयं साभासं प्रतिपाद्य इदानीं ऋजुसूत्रनयं साभासं दर्शयन्नाह—

**ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः ।**

**चेतनाणुसमुहत्वात् स्याद्भेदानुपलक्षणम् ॥ ४३ ॥**

(१)सौगत । (२)प्रमाणाप्रसिद्धवर्त्येत लोकव्यवहारापेक्षी । (३)अस्मदभिमत प्रमाणसिद्धक्षणीकार्यापेक्षी । (४) विसंवादव्यसन । (५)प्रत्यक्षाद्यस्वीकारे । (६)सौगतानाम् । (७) व्याख्या—‘ऋजुवर्तमानपर्यायलक्षण प्रगुण मूत्रयति निरूपयतीति ऋजुमूत्रस्य प्रधान विषय स्याद् भवेत् । क ? पर्यायवर्तमानविबर्त । अतीतस्य विनष्टत्वेन भविष्यतश्चासिद्धत्वेन व्यवहारानुपयोगात् व्यवहाराविसवादी नय इति वचनात् । ननु चित्रज्ञानमेकमनकाकार व्यवहारोपयोगि स्यादिति चेदत्राह—चित्रेत्यादि, चित्रा सवित् ज्ञान तस्या चतनाणुसमूहत्वात्, चेतना ज्ञान तस्याणव अथा अविभागप्रतिच्छेदास्तेषा समूहसमुदाय तत्त्वात्, न चित्रसंविद् ऋजुमूत्रनयस्य विषय । न खलु समुदाय नीलपीतादिनानारूप प्रतिनियतव्यवहारोपयोगीति । नन्वेव तत्र भद किमिति नोपलक्ष्यत इति चेदत्राह—भेदानुपलक्षणादिति । सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भादित्यध्याहार । ततो भदस्य नानात्वस्यानुपलक्षणमदर्शन सदृशापराप-

१ मय तदपे-थ० । ॥ तदपेक्षण च दु-ब०, तदपेक्ष एव दु-आ० । ३-मध्यत थ० । ४ स वि-आ० । ५-क्षमां क्षम-ब० । ६-मसिद्धसाधन ब० । ७ यावत्तातत्र ब०, थ० । ८-तार्त्ति ते आ० । ९ तस्य चाविरो-ब०, तस्य विरो-आ० । १० प्रतिपाद्येदानीं ऋजुसूत्रस्य नयस्य तदभि-आ०, व० ।

विवृति.—यथा वहिः परमाणवः सन्निविष्टाः स्थवीयासमेवैकमाकारमभूतं दर्शयन्ति तथैव सन्निप्तरमाणवोऽपि । तन्नैकमनेकरूप तत्त्वमक्रमम्, यत् सक्रम साधयेत् भेदस्य अभेदविरोधात् । कचिद्धानात्वमेव अन्यथा न स्यात् । सापक्षो नयः । निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्युत्स्थापयन् तदभेदादभेदं प्रतिचुमर्हत्येव विशेषाभावात् । तदन्यतराभावे अर्थस्यानुपलब्धेः ।

ऋजुसूत्रस्य नयस्य तदभिप्रायवतो वा पर्यायः प्रभेद प्रधानम्, प्रधान-  
कारिकाय - शब्दस्य सम्बन्धिशङ्कत्वात् द्रव्य तस्य अप्रधानम् । ननु तस्यापि चित्रैका सन्निदस्ति तत्कथं पर्याय प्रधानमित्याह—चित्रसंविदः

चेतनाणुसमूहत्वात् 'नैका चित्रा सन्निस्ति' इति भावः । अथ मतम्—पर्यायत्व-  
१० ऽस्योक्तैर्द्वयोपलक्षणं स्यादतः प्रतिसमय भेदानुमानमनर्थकमित्याह—'स्यात्' इत्यादि । स्याद् भवेद् भेदस्य नानात्वस्य अनुपलक्षणम् अनिश्चयन सङ्शापरापरो-  
त्यस्य विप्रलम्भात् मायागोलन्यदिति ।

कारिका विवृण्व्याह—'यथा' इत्यादि । यथा येन दूरस्थितविरलकेशनिदर्शनप्र-

१० विवृति यात्यलम्—  
र्शनप्रकारणं धृतिः परमाणवः नडपरमाणवः सन्निविष्टाः रचनाविशेषेण व्यवस्थिता स्थवीयासमेन न सूक्ष्मम्, एकमेव नानेकम् आकारम्

रोत्पत्या विप्रलम्भवृद्धिः स्यादिति व्याख्यायत । अयमप्य—यथाज्योत्सोलादी यथायभदो विद्यमानोऽपि विप्रलम्भवृद्धिना न निश्चीयते तथा चित्रमविवरिषि तदङ्गमनो वसन्त्रपि नोपलक्ष्यते इति । अथवा स्यात् कथञ्चिद् द्रव्याविनाभावपर्यायं ऋजुसूत्रस्य प्रधानम् सवया द्रव्यनिरपेक्षस्य पर्यायस्यावस्तुत्वात् । निरवयवश्च क्षणिककान्तं ऋजुसूत्राभावं इति व्याख्ययम् । —छठी० ता० पृ० ६२ । तुलना पञ्चुप्यत्र ग्राही उज्जुमुन्यो ज्यविही मुणज्ज्यो । —अनुयोगद्वार० ४ द्वा० । आब० नि० पा० ७५७ । विद्यापा० पा० २७१८ । सता साम्प्रतानामर्वाणामर्वाभधानपरिज्ञानमृजुसूत्रम् । —आह्व-साम्प्रतविषयमाहकमृजुसूत्रमय समासता विद्यात् । —तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५ । तत्त्वायहृरि० तत्त्वायसिद्ध० १।३५ । ऋजु प्रगुण सूत्रयति तत्रयत इति ऋजुसूत्र । सर्वाथसि० १।३३ । घबलाटी० पृ० ८६ । सूत्रपातवद ऋजुसूत्रम् । —राजवा० १।३३ । ऋजु प्रगुण सूत्रयति नयत इति ऋजुसूत्र । सूत्रपातवद ऋजुसूत्र इति । —नयचक्रव० पृ० ३५४ B । ऋजुसूत्र क्षणध्वसि वस्तुमत्सूत्रपदगु । प्राधान्यन गुणीभावाद द्रव्यस्यानपघात सतः । —तत्त्वायश्लो० पृ० २७१ । नयवि० ७७ । प्रमेयक० पृ० ६७८ । ॥ मति० टी० पृ० ३११ । नयचक्रवा० ८ । तत्त्वायस्यार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।२८ । स्या० म० पृ० ३१२ । जनतकभा० पृ० २२ ।

(१) परिभेदेति गच्छतीति पर्यायः । —घबलाटी० पृ० ८४ । (२) चित्रसंविदः । (३) भद्ररूपणवः । (४) तुलना—समानज्वालासमूहयथा दीपेन विभ्रमः । नरन्तयस्थितानेकमूक्षमवितो तयकथा ॥ यथा हि दीपादौ नरन्तयण सदापरापरज्वालापदायसम्भवात् स यपि भेदे एकत्वविभ्रमो भवति तथा नरन्तयणानेकमूक्षमपरपदायमवेदनतोऽयमेकत्वविभ्रमः । —तत्त्वसं० पृ० पृ० १९७ । यत्तुनरन्तोक्त प्रकाकरगुप्तेन—अतयाविषयोस्तथाविधविषयसिद्धिं दूरस्थितविरलकेशाणु अतदात्मगु तथाविधायामस्तस्या दग्नात् । —सिद्धिबि० टी० पृ० १०० B ।

१ मित्यत्राह व० थ० । ३ सेवेन ४० । ३—गोलव—आ०—गोलसणव—थ० । ४—निदर्शन प्रकारे दग्गनपरमाणव आ० । ५ स्थवीयासमेव व० ४० ।

अभूतम् असन्तं दर्शयन्ति, तथैव तेनैव प्रकारेण संवित्परमाणवोऽपि, वहिःपरमाणुवत् संवित्परमाणूनामपि स्वरूपेणाप्रतिभासनादिति भावः । उपसंहारमाह—‘तद्’ इत्यादि । यत् एवं तत् तस्मात् नैकम् अभिन्नं तत्त्वम् अनेकरूपम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? अक्रमम् अक्षणिकम् ‘युक्तम्’ इत्याद्याहारः । यत् तथाविधं तत्त्वं सक्रमं साधयेत् जैनः । कुत एतदित्याह—‘भेदस्य’ इत्यादि । भेदस्य अनेकत्वस्य अभेदविरोधात् एकत्वविरोधात् । क्वचिद् अन्तर्वहिर्वा नानात्वमेव अनेकत्वमेव, अन्यथा भेदस्य अभेदविरोधाभाव-प्रकारेण न स्यात् । एवं ऋजुसूत्रस्य सामान्येन स्वरूपं प्रदर्श्य अधुना तद्वेदं प्रदर्शयन्नाह—‘सापेक्ष’ इत्यादि । स्वविषयादन्यत्र या अपेक्षा तया सह वर्तमानः ऋजुसूत्र-नयः, निरपेक्षो दुर्नयः । कुत एतदित्यत्राह—‘प्रतिभासभेद’ इत्यादि । प्रतिभास-भेदात् स्वभावभेदं वस्तुस्वरूपनानात्वं व्यवस्थापयन् नयो बावी वा तदभेदाद् तस्य प्रतिभासस्य अभेदात् अभेदं भावैकत्वं प्रतिपत्तुमर्हत्येव । ननु तत्प्रतिभासयोः सत्ये-तरत्वकृतो विशेषोऽस्ति ततो न भेदप्रतिभासादिव अभेदप्रतिभासादपि तत्त्वसिद्धिरि-त्यत्राह—‘विशेषाभावात्’ इति । द्वयोरपि प्रतिभासयोः सत्येतरलक्षणविशेषस्य भेदस्य अभावात्, ‘उभयोरपि सत्यत्वात्’ इत्यर्थः । तदन्यतरप्रतिभासप्रतीत्यपह्नवे दूषणमाह—‘तद्’ इत्यादि । तयोः भेदाभेदप्रतिभासयोर्मध्ये अन्यतरस्य अपाये अङ्गीक्रियमाणे<sup>१</sup> अर्थस्य वस्तुनोऽन्यतरप्रतिभासविकल्पस्य अनुपलब्धेः उपलम्भाभावात् सर्वदा उभया-त्मकस्य बोधलब्धेः तं प्रतिपत्तुमर्हत्येव ।

अधुना शब्दसमभिरूढस्थम्भूतान्नयान् कथयन्नाह—

**कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत् ।**

**अभिरूढस्तु पर्यायैः इत्थम्भूतः क्रियाश्रयः ॥४४॥**

(१) भेदाभेदप्रतिभासयोः । (२) ‘शब्दो नाम नय स्यात् । किं विशिष्टं ? अर्थभेदकृत् अर्थस्य प्रमेयस्य भेद नानात्वं करोत्यभिप्रेतीत्यर्थभेदकृत् । वस्माद् ? भेदाद् विशेषात् । केयम् ? कालकारकलि-ङ्गानाम्, उपलक्षणमेतत्, तेन सख्यासाधनोपग्रहादपीत्यर्थः । \* तु पुन अभिरूढो नाम नय पर्यायै पर्यायशब्दे । अर्थभेदकृत् यथा इन्द्रादिशब्दं शकनात् शकं पूदीरणात् पुरन्दर इति । न हि इन्द्रादि-धर्मभेदाभावे इन्द्रादिशब्दं प्रयोक्तुं शक्यं अन्यथाप्रतिप्रसङ्गात् । अभि स्वार्थाभिमुख्येन रूढं प्रतिष्ठोऽभिरूढ इति निश्चते । पुनरित्यम्भूतो नाम नय क्रियाश्रय विवक्षितक्रियाप्रधान सप्तम्यभेदकृत् यथा यद्वेन्दति तद्वेन्द्रे नाभिपेक्षको न पूजक इति, अन्यथापि तद्भावे क्रियाशब्दप्रयोगनियमो न स्यात् ।” —लघी० ता० पृ० ६३ । तुलना—“शब्दो लिङ्गादिभेदेन वस्तुभेदं समुद्दिशत् । अभिरूढस्तु पर्यायैरि-त्थम्भूत क्रियाश्रयः ॥” —प्रमाणसं० पृ० १२६ । (३) तुलना—“इच्छां विशेषितयतर पञ्चुप्पण णओ सदो ।” अनुयोगद्वार० ४ द्वा० । आब० वि० या० ७५७ । विशेषा० या० २७१८ । “यथार्था-भिधानं शब्दः । आहूच-विद्यायथार्थशब्दं विशेषितपदं तु शब्दनयम् ।” —तत्त्वार्थशिखि० भा० १ । ३५ । तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १ । ३५ । “लिङ्गसख्यासाधनादित्यभिचारनिवृत्तिपरं शब्दः ।” —

१ ‘एकत्वविरोधात्’ नास्ति आ० । ३ नानात्वमेव अन्यथा थ० । ३-यन् यो बावी वा ब० ।

४-णे अन्यतरस्य अर्थस्य थ० । ५-नोनन्तरप्रतिभासविकल्पस्य आ० । ६-रूढ स्वप्-मु० लघी० ।

विवृतिः—कालभेदाच्चावद् अभूत भवति भविष्यति इति । कारकभेदात् करोति क्रियते इत्यादि । लिङ्गभेदात् देवदत्तो देवदत्ता इति । तथा पर्यायभेदात् इन्द्र शक्रः पुरन्दर इति । तथैतौ शब्दसमभिरूढौ । क्रियाश्रयः एवम्भूतः । कुर्वत एव कारकत्वम् । यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्यायोगात् । तत्कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तं वस्तु प्रत्येति ? कथं च न ? तदप्रतिबन्धात् ; 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येतत् प्रतिव्यूढं विज्ञानस्य अनागतविषयत्वनिर्णयेन ।

सर्वार्थसि० १।३३। "सप्तत्यर्थमाह्वयति प्रत्यायतीति शब्द ।"—राजवा० १।३३। "शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहण-प्रवणं शब्दनय, लिङ्गसंख्यकारकपुरुषापग्रहस्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात् ।"—धवलाटी० पृ० ८६। "कालादिभेदतोऽर्थस्य भेद यः प्रतिपादयेत् । साऽत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृत ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७२। नयविष० ८४। प्रमेयक० पृ० ६७८। सम्मति० टी० पृ० ३१२। नयचक्र गा० ४०। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। "कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदः प्रतिपद्यमानः शब्दः । यथा बभूव भवति भविष्यति मुमेशरित्यादि ।"—प्रमाणनय० ७।३२, ३३। स्या० म० पृ० ३१३। जैनतर्कभा० पृ० २२।

(१) तुलना—'वधूत्तमो सकमल होइ अवस्थूनए समभिरूढे ।"—अनुयोगद्वार० ४ द्वा०। आव० नि० गा० ७५८। "सत्त्ववर्णेष्वसङ्गम समभिरूढ ।"—तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। "ज ज सण्ण भासइ त त चिय समभिरूहए जम्हा । सण्णतरत्थविमुहो तओ तओ समभिरूढोति ॥"—विशेषा० गा० २७२७। "नानार्थसमभिरूहणात् समभिरूढः । अथवा यो यत्राभिरूढः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात् समभिरूढः ।"—राजवा० १।३३। धवलाटी० पृ० ८९। "समभिरूढ एव मत्वेकीभावेन आभिमुख्ये एक एव रूपादिरर्थ एवेति या ज्ञानाना (?) समभिरूढः ।" नयचक्रद्व० पृ० ४८३। B "पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात् । नय समभिरूढ स्यात् पूर्ववत्त्वात् नित्यम् ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७३। नयविष० ९२। प्रमेयक० पृ० ६८०। सम्मति० टी० पृ० ३१३। नयचक्रगा० ४१। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।३६। स्या० म० पृ० ३१४। जैनतर्कभा० पृ० २२। (२) तुलना—'वज्रज अत्यतदुभय एवभूओ विमसेइ ।"—अनुयोगद्वार० ४ द्वा०। आव० नि० गा० ७५८। "व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूतः ।"—तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। "येनात्मनो भूतस्तेनैवाध्यवसाययति इत्येवम्भूतः । अथवा येनात्मना यत्र ज्ञानं भूतं परिणतं तेनैवाध्यवसाययति ।"—सर्वार्थसि० १।३३। राजवा० १।३३। "वज्रजमत्येणेत्य च वज्रणेणोभय विमसेइ । जह पटसह चेट्ठावया तहा त पि तेणैव ।"—विशेषा० गा० २७४३। "एव भेदे भवनादेवम्भूतः । न पदानां समासोऽस्ति भिन्नकालवर्तिना भिन्नार्थवर्तिनाऽन्यैकत्वविरोधात् । न परस्परव्यपेक्षाप्यस्ति वर्णार्थसंख्याकालादिभिर्भिन्नानां पदानां भिन्नपदापेक्षायोगात् ततो न नाकयमप्यस्तीति सिद्धम् । ततः पदमेकमेकार्थस्य वाचकमित्यध्यवसाय एवम्भूतनयः ।"—धवलाटी० पृ० ९०। "एव भवनादेवम्भूत अस्मिन्नय न पदानां समासोऽस्ति स्वरूपतः कालभेदेन च भिन्नानामेकत्वविरोधात् । न पदानामेककालवृत्तिः समासः क्रमोत्पन्नानां क्षणक्षयिणा तदनुपपत्तः । नैकार्थं वृत्तिः समासः भिन्नपदानामेकार्थं वृत्त्यनुपपत्तः । न वर्णसमासाप्यस्ति तत्रापि पदसमासान्तदोषप्रसङ्गात् । ततः एक एव वर्ण एकार्थवाचक इति पदगतवर्णमात्रार्थ एकार्थ इत्येवभूताभिप्रायवान् एवम्भूतनयः ।"—जयप० पृ० २९। "तत्क्रियापरिणामोऽर्थस्तथैवेति विनिश्चयात् । एवम्भूतेन नीयतः क्रियान्तरपरारम्भः ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७४। नयविष० ९४। प्रमेयक० पृ० ६८०। सम्मति० टी० पृ० ३१४। नयचक्र गा० ४३। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।४०। स्या० म० पृ० ३१५। जैनतर्कभा० पृ० २३।

कालादीनां भेदात् शब्दः शब्दनयः अर्थस्य जीवादेः भेदं करोति प्रतिपा-

दयति इति तद्भेदकृत् । अभिरूढनयः पुनः पर्यायैः पर्यायशब्दैः  
कारिकार्थ - अर्थभेदकृत् । इत्थम्भूतः क्रियाशब्दभेदात् अर्थभेदकृत् इति ।

कारिका विवृण्वन्नाह 'काल' इत्यादि । तावच्छब्दः क्रमवाची, कालभेदात्

कालविशेषाद् अर्थभेदस्तावदुदाह्रियते-अभूत् अतीतकालसम्बन्धनु- 8  
विवृतिव्याख्यानम्-

भगदिपर्यायात्मना जीवादिः, भवति वर्तमानकालसम्बन्धिस्मरणादि-  
पर्यायरूपेण जायते । हेतुहेतुमद्भावश्चात्र द्रष्टव्यः-यस्माद् भवति तस्माद् अभूत्, परि-  
णाम्युपादानकारणमन्तरेण 'भवति' इत्यस्यायोगात् । भविष्यति अनागतपर्यायस्वभा-  
वेन उत्पत्त्यते, अत्रापि यस्माद् भवति तस्माद् भविष्यति अन्यथाभयतोऽभावः कार्या-  
भावादिति मन्यते । इतिशब्दः कालभेदाद् भावभेदपक्षसमाप्सर्यः । कारकभेदादर्थ- 10  
मुदाहर्तुमाह-'कारक' इत्यादि । कारकाणां कर्मोदीना भेदात् 'शब्दोऽर्थभेदकृत्' इति  
सम्बन्धः । अत्रोदाहरणम् 'करोति' इत्यादि । यदा हि देवदत्तः स्वतन्त्रो विवक्षितो  
घटादिकार्ये तदा 'करोति घट देवदत्तः' इति भवति । यदा तु स एव अन्योपकार्य-  
त्वेन विवक्ष्यते तदा 'क्रियते देवदत्तः' इति । आदिशब्दात् 'देवदत्ते निधेहि, देवद-  
त्तादपरः' इत्यादि पट्टारफीपरिग्रहः । तथा लिङ्गभेदात् शब्दोऽर्थभेदकृत् यथा 15  
'देवदत्तो देवदत्ता' इति ।

यथा शब्दः कालादिभेदाद् अर्थभेदकृत् तथा अभिरूढः पर्यायभेदात् 'इन्द्रः,  
शक्रः, पुरन्दरः' इति । तथा प्राशुक्तप्रकारेणैवं एतौ अनन्तरोक्तौ शब्दसमभिरूढौ कथितौ ।

इत्थम्भूतः कीदृशः ? इत्याह क्रियाश्रयः एवम्भूत इति । ननु च इत्थम्भूत-  
स्वरूपप्ररूपेण प्रस्तुते एवम्भूताभिधाने किं केन सङ्गतम् ? इत्यसन्, यस्मात् इत्थम्भू- 20  
तस्यैव इदम् 'एवम्भूत' इति नामान्तरम् । कस्मादसौ क्रियाश्रय इत्याह कुर्यत एव कार-  
कत्वयतः इति । एतदपि कुत इत्याह 'यदा' इत्यादि । यदा यस्मिन् काले न करोति  
कार्यम् इन्दनादि शचीपतिः तदा कर्मृत्वायोगात् न इन्द्रादिव्यपदेशः स्यात् । अत्राह  
सोगतः-त्रयोऽप्येते नयाः शब्दतोऽर्थ प्रतिपद्यन्ते अतः कालादिभेदादर्थभेद प्रतिपद्य-  
मान तत् शब्दज्ञानम् कथं पुनर्विवक्षाव्यतिरिक्तं वस्तु स्वलक्षण प्रत्येति ? तमाचार्यः 25  
पृच्छति, कथञ्च न 'प्रत्येति' इति सम्बन्धः । स उत्तरमाह तदप्रतिबन्धात् तेन  
वस्तुनाऽप्रतिबन्धात्, तदात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धाभावात् शब्दज्ञानस्य इति सम्बन्धः ।  
तदभावेऽपि' तत् तत्प्रत्येति इति चेदत्राह-'नहि' इत्यादि । नहि नैव बुद्धेः शब्दज-

(१) सोगत । (२) तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धाभावेऽपि । (३) शब्दज्ञानम् ।

1 क्रमवाची का-व० । 2-सम्बन्धानुभ-आ० । 3-वि भव-आ० । 4-वतो भाव व०, थ० ।

5 इति यथा च आदिशब्दात् आ० व० । 6-संज्ञानन्तरो-थ० । 7-अथ इत्येवम्भू-आ० । 8-पणप्रस्तु-  
थ० । 9-माह तेन वस्तुना आ० । 10 तच्छब्द-थ० । 11-पि तत्प्र-आ० ।



नितायाः यदकारणं स्वलक्षणरूपं वस्तु तत्तस्या विषयः ‘नाननुकृतान्यव्यतिरेकं नैर-  
यम्, नाकारण विषयः’ [ ] इत्यभिधानात् । इति शब्दः पूर्वपक्षपरि-  
समाप्तौ । अत्र दूषणमाह- ‘एतद्’ इत्यादि । एतत् परेणोक्तं प्रतिव्यूढम् निरस्तम् ।  
केन इत्याह-विज्ञानं स्य अनागतविषयत्वनिर्णयेन, प्रतिपादितश्चास्य अनागतविषय-  
5 त्वनिर्णयः ‘अविष्यत् प्रतिपद्येत’ [ लघी० का० १४ ] इत्यादिना ।

ननु शब्दाः सङ्केतितमेवार्थं प्राहुः नान्यम् अतिप्रसङ्गात् । सङ्केतश्च न अवि-  
षयीकृतानां शब्दार्थानां युक्तः, तन्निर्विषयताप्राप्तेः । तद्विषयीकरणश्च नाध्यक्षेण, शब्दा-  
ध्यक्षस्य अभिषेचे तदध्यक्षस्य चाऽभिधाने अप्रवृत्तेः । नापि स्मृत्या, तस्याः निर्विषय-  
यत्यात् इत्याशङ्क्याह-

10

अक्षयुद्धिरतीतार्थं वेत्ति चेन्न कुतः स्मृतिः ।

प्रतिभासभिदैकार्यं दूरासन्नाक्षयुद्धिवत् ॥ ४५ ॥

विश्रुतिः-क्षणिकाक्षज्ञानज्ञेयोः कार्यकारणत्वनियमे निर्विषयं प्रत्यक्षम् तत्का-  
रणस्य अतीतस्य तदनात्मकत्वात् । प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः समनन्तरेतरविनाश-  
योश्च अभावाऽविशेषात्, तदुत्पत्तिसारूप्ययोः असंभवात् व्यभिचाराच्च किं कस्य  
10 ज्ञानमित्युक्तम् । यदि पुनः अतीतमर्थं प्रत्यक्षं कथंचिद्वेत्ति; स्मृतिः कथं न  
संविद्यात् ? साक्षादतदुत्पत्तेरतादृश्याच्च इति वैयात्यम्; व्यवहितोत्पत्तावपि तदूपा-  
नुकृतेर्दर्शनात् दृष्टार्थस्वप्नवत् । प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रतिभासभेदात् नैकार्थत्वमनैका-  
न्तिकम्; दूरासन्नैकार्थप्रत्यक्षयोः भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेकार्थविषयत्वात् ।

(१) बुद्ध । (२) उदघृतमिदम्-आप्तम् ० पृ० ४२ । सिद्धिबि० टी० पृ० ३०६ A ।  
सम्पत्ति० टी० पृ० ५१० । स्वा० २० पृ० १०८८ । यद्व० बृह० पृ० ३७ । प्रमाणमी० पृ० ३४ ।  
शास्त्रभा० दशो० पृ० १५१ A । ‘नाकारण विषय’-अनेकान्तज्ञप० पृ० २०७ । घमस० पृ० १७६  
B । बोधिवर्ण० पृ० ३९८ । तत्त्वार्थस्तो० पृ० २१९ । प्रमेयक० पृ० ३५५, ५०२ । स्या० २०  
पृ० ७६९ । न्यायवि० बि० पृ० १९ B । स्या० स० पृ० २०६ । (३) धावनप्रत्यक्षस्य । (४)  
अभिधायार्थप्राहिंक्षाक्षुपादिप्रत्यक्षस्य । (५) “अर्थजनिता बुद्धिर्ज्ञानमतीतार्थं स्वकारणभूत शब्द  
वाच्यञ्च, वेत्ति, वेत्ति जानाति । मीगते मते हि विषयस्य ज्ञानकारणत्वात्, कारणञ्च कायक्षणात्  
पूर्वक्षणवर्तीत्युच्यते । तदा कुत कारणात् स्मृतिरपि अतीतार्थं न वेत्ति अपि तु वेत्त्यवेत्ययम् । नन्वव  
स्मृते कथं प्रामाण्यं गृहीतग्राहित्वादित्याशङ्क्याह-प्रतीत्यादि । एकोऽभिज्ञोऽतीतत्वाविशेषात् साधारणोऽर्थो  
विषय शब्दापलक्षणस्तस्मिन्नपि स्मृतिः प्रमाज्जमिति श्रपः । कुत ? प्रतिभासभिदा प्रतिभासस्य  
अतीताकारपरामर्शस्य भिद् भदस्तया । प्रत्यक्षेण हि इदमिति यदनुसूयते तदेव कालान्तरे पुनस्तदित्य-  
तीताकाग्रतया स्मृत्या विषयीक्रियत इति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह-हूरेत्यादि । दूरवचासावासश्च  
दूरासन्नस्तस्मिन्नर्थे पादापादी अक्षबुद्धिवत् । यथा प्रत्यक्षज्ञानानां स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदात् प्रामाण्यं  
तथा स्मृतरपीत्यर्थः । -सधो० ता० पृ० ६५ । (६) तुलना-वागवसविदामकाथगोचरत्वेऽपि युज्यते ।  
प्रतिभासभिदा दूरासन्नैकार्थोपलम्भवन् -सिद्धिबि०, टी० पृ० ४७० A ।

दूराक्षार्थज्ञानं भ्रान्तेरप्रत्यक्षम्; प्रमाणान्तरं स्यात् । नहि ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ 'विसंवादैकान्तः तदप्रमाणं यतः स्यात् । तदयं शब्दार्थो स्मृत्या संकल्य सङ्केते पुनः शब्दप्रतिपत्तौ तदर्थं प्रत्येति स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादेरपि परमार्थ-विषयत्वात् । तदर्थभावेऽपि प्रत्यक्षवत् शब्दार्थज्ञानं वस्तुन्यपि सङ्केतसंभवात् ।

अक्षाणां चक्षुरादीनां कार्यभूता बुद्धिः अतीतार्थं वेत्ति विषयीकरोति 5

कारिकाख्यातम्— चेद् यदि न कुतः कारणात् स्मृतिः अतीतार्थं वेत्ति ? किन्तु वेत्ति एव । अथैवं सति अक्षबुद्धिस्मृत्योरभिन्नः प्रतिभासः स्यात् अभिन्नविषयत्वात् 'नीलाक्षबुद्धिद्वयवद् इत्युच्यते, तत्राह—'प्रतिभास' इत्यादि । अक्षबुद्धिस्मृत्योः एकार्थं एकार्थत्वे सत्यपि भावप्रधानोऽयं निर्देशः । स्मृतिः प्रतिभा-सभिदा अस्पष्टप्रतिभासात् इतरप्रतिभासविशेषे (पे) णार्थं 'वेत्ति' इति सम्बन्धः । अत्र 10 दृष्टान्तमाह—'दूरासन्न' इत्यादि । सुप्रसिद्धो हि दूरासन्नाक्षबुद्धीनां विषयाभेदेऽपि स्पष्टतररूपः प्रतिभासभेदः पादपस्यैकस्यैव तथैव प्रतिभासनात् ।

कारिका व्याख्यातुमाह—'क्षणिक' इत्यादि । क्षणिकौ च तौ अक्षज्ञानज्ञेयौ

च तयोर्थयाक्रमं कार्यकारणत्वनियमे अभ्युपगम्यमाने निर्विषयं निरालम्बनं प्रत्यक्षं स्यात् । कुत एतदित्याह—'तद्' इत्यादि । तस्य 15 प्रत्यक्षस्य कारणं यद्वस्तु तस्य । कथम्भूतस्य ? अतीतस्य, तदनात्मकत्वात् । स प्रत्यक्ष-विषयोऽनात्मा स्व (त्माऽस्व) भावो यस्य तत्तथोक्तं तस्य भावात् । प्रत्यक्षकाले हि सर्वा-त्मना अर्थं विनष्टस्य स्वरूपाभावतो न तद्विषयत्वं घटते । स्वकाले सत्त्वात् तद्विषयत्वम् ; कुतः स्मृतेर्निर्विषयत्वम् ? तदर्थस्यापि स्वकाले सत्त्वाविशेषात् । एतच्च अक्षज्ञानं प्रति अतीतस्य कारणत्वमभ्युपगम्य दूषणमुक्तम् । इदानीं त्वनभ्युपगम्य तद्दर्शयन्नाह— 20 'प्रागभाव' इत्यादि । तस्माद् विषयाभिमतद् उत्पत्तिसारूप्ये तदुत्पत्तिसारूप्ये, 'का भीर्तिः ( भीमिः )' [ जनेन्द्रव्या० १।१।३२ ] इत्यत्र 'क' इति योगेविभागात् संविधिः । अथवा, तदिति निपातः 'तस्माद्' इत्यस्यार्थं वर्त्तते । तयोरसंभवात्

(१) प्रत्यक्षबुद्धिर्लो भिन्नरूपेण । (२) पादपलक्षणविषयस्य एकत्वेऽपि । (३) स्वष्टाऽस्पष्टरूपेण । (४) अर्थस्य । (५) प्रत्यक्षविषयत्वम् । (६) प्रत्यक्षबुद्धिविषयत्वम् । (७) स्मृतिविषयभूतस्य अतीतार्थस्यापि । (८) त्रुटिताया पू० प्रती 'भीमि' इति पाठ प्रतिभाति । "का भीमि ॥१।३।३२॥ कान्तस्य (पञ्चम्यन्तस्य) मुक्तस्य भीवाचिभि मुबन्तै सह पस (तत्पुरुषसमास) भवति । वृकेभ्यो भी वृकभी, वृकभयम्, वृकभीत । केति विभागेन परेभ्यस्त्रायन्ते परत्रा इत्यपि ।"—जनेन्द्रप्र० । (९) योगविभाग सति 'का भीमि' इति सूत्रस्य अयमर्थः स्यात्—यथा कान्तस्य भयवाचिभिः शब्दै समासो भवति, तथा कान्तस्य अन्यैरपि शब्दैः समासः स्यात् । (१०) तत्पुरुषसमास । 'स' इति समासस्य सज्ञा जनेन्द्रव्याकरणे ।

१ विसंवाद्यते सदप्र-ज० वि० । ॥ सकल्पय्य ई० वि० । ३-प्रवृत्तौ ई० वि० । ४ नीलाक्षबु-आ० । ५-स्थोरेकार्यत्वे थ० । ६-यस्यैव थ० । ७-यो नात्मा थ०, व० । ८ एतच्चाक्ष-थ० । ९ प्रतीतस्य थ० ।

कारणात्, किं प्रत्यक्षमन्यद्वा कस्य प्रत्यक्षाभिमतस्य अन्यस्य वा विषयस्य ज्ञानं 'प्राह-  
कम्' इत्यध्याहारः, 'सम्बन्धिवा' । कुत एतदित्यप्राह—'प्राग्' इत्यादि । उत्पत्तेः पूर्वम-  
भावः प्रागभावः, लब्धात्मलाभस्य स्वरूपप्रच्युतिः प्रध्वंसाभावः, तयोरभावाविशे-  
पात् अभावत्वाऽभेदात् । अयमभिप्रायः—यदा सति कारणे कार्यं न भवति असति च  
भवति तदा तद् औत्सनः कारणाभिमतस्याऽभावं कारणं सूचयति । तथा चाऽनादि-  
भूततैत्प्रागभावकालेऽपि तद्भावस्याविशेषात् कार्योत्पत्तिः स्यात् । अथ कारणप्रध्वंसा-  
भाव एव कार्योत्पादको न तैत्प्रागभावः, अत्राह—'समनन्तर' इत्यादि । कार्योत्पत्तेः  
प्रागनन्तरं जातः कारणप्रध्वंसः समनन्तरः, इतरः अनाद्यतीतकाले चिरंजातः तयोः  
विनाशयोश्चोविशेषात् । अयमभिप्रायः—यदि अभावत्वाविशेषेऽपि प्रध्वंसाभाव एव  
कार्योत्पादको न प्रागभावः तर्हि अनाद्यनन्तातीतानागताः प्रध्वंसाभावाः कार्योत्पादकाः  
स्युः तथा च कार्यस्य अनाद्यनन्तताप्रसक्तिः । अथ कारणप्रध्वंस एव कार्योत्पादको  
नेतारः, न प्रध्वंसस्यैव कारणत्वाभ्युपगमे अस्य परिहारस्याऽनुपपत्तेः । न च प्रागनन्तर  
एव प्रध्वंसः तर्जनीको नान्य इत्यभिधातव्यम्; देशकालयोरनभ्युपगमे अस्यापि परिहा-  
रस्य दुर्घटत्वात् । आनन्तर्यं हि देशकालकृता प्रत्यासत्तिरिति । इतश्च किं कस्य ज्ञान-  
मिति दर्शयन्नाह—'व्यभिचाराच्च कारणात् किं कस्य ज्ञानमिति ? एतच्च ज्ञानस्य  
निराकारत्वसिद्धौ<sup>१३</sup> प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते ।

ननु नैव प्रत्यक्षस्य अन्यस्य वा अतीतोऽन्यो वा भवतो विषयोऽस्ति भिन्नो यस्तू-  
च्यते स व्यवहारेण इत्याशङ्क्याह—'यदि पुनः' इत्यादि । यदि पुनः अतीतमर्थं  
प्रत्यक्षं कथञ्चिद् व्यवहारेण अन्येन वा प्रकारेण वेत्ति विषयीकरोति तदा स्मृतिः  
कथं न संविद्यात् 'अतीतमर्थम्' इति सम्बन्धः । परैः प्राह—'साक्षात्' इत्यादि ।  
साक्षात् अव्यवधानेन अतदुत्पत्तेः अतीतार्थादुत्पत्तरेभावात् स्मृतेः अताद्रूपत्वाच्च  
अतीतार्थेन सारूप्यासंभवाच्च नासौ<sup>१४</sup> 'त'<sup>१०</sup> संविद्यात् इति सम्बन्धः । अत्रोत्तरम्  
'इति' आदि । इति एवं वैयास्यं वियातस्य दुर्विदग्धस्य भाषो वैयास्यं परस्य । कुत

(१) इत्यध्याहार इति योज्यम् । (२) कार्यम् । (३) स्वस्य । (४) कारणरूपेण । (५)  
कारणप्रागभावकाले, कारणसन्निधानावस्थावामित्यर्थः । (६) कारणाभावस्य । (७) कारणप्रा-  
गभाव । (८) अव्यवहितपूर्वक्षणे जातः । (९) अभावरूपेण भेदाभावात् । (१०) अनाद्यनन्ताती-  
तानागतप्रध्वंसः । (११) कार्योत्पादकः । (१२) बौद्धमते हि कारणकार्याभिमतक्षणयो एकदशा-  
भावात् एककालाभावाच्च न देशकालकृतमानन्तर्यं समवातः । तन्मते हि कारणाभिमतस्य अन्यो देश  
कालश्च कार्याभिमतस्य चान्य, देशकालयोरपि क्षणिकत्वात् । न च तौ आकाश कालो वा वस्तुभूत  
स्वीक्रियते, छिद्रस्य आकाशत्वात्, पूर्वापरादिबुद्धेरेव च कालव्यपदेशार्हत्वात् । (१३) पृ० १६९ ।  
(१४) परमार्थतः । (१५) बोद्धः । (१६) स्मृतिः । (१७) अतीतार्थम् । (१८) बोद्धस्य ।

१-प्रत्यक्षस्याभि-अ० । २-सम्बन्धि-अ० । ३-भावसंज्ञा-आ० । ४-अभावत्वाविशेषात्  
आ० । ५-तथावानादिभूत-आ० । ६-चिरान्जात-अ० । ७-अनाद्यनन्तानामस-आ० । ८-सवते ।  
९-भवतो आ० । १०-तत्सवि-व० ।

एतदित्याह—‘व्यवहित’ इत्यादि । व्यवहितोऽन्तरितो योऽर्थोऽनुभवेन तस्मात् परम्परयोत्पत्ति स्मृतेः तस्यामपि तस्य व्यवहितस्य यद्गुणं तस्य अनुकृतेर्दर्शनात् । अत्र दृष्टान्तमाह—‘दृष्टार्थ’ इत्यादि । जामदग्राया यो दृष्टोऽर्थः स दृष्टः, तस्य स्वप्नः तत्रैव तद्वदिति ।

स्यान्मतम्—प्रत्यक्षस्मरणे नैकार्थे भिन्नप्रतिभासत्वात् रूपादिज्ञानवदित्यत्राह—‘प्रत्यक्ष’ इत्यादि । प्रत्यक्षशब्दस्य अभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः । प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रतिभासभेदात् हेतोः एकार्थत्वञ्च इति यत् परस्याभिमत तदनेकान्तिकम्—अनेकान्तिकहेतुविषयत्वादुपचारेण अनेकान्तिकम् । एतदेव ‘दूरासन्न’ इत्यादिना समर्थयते—दूरासन्ने च ते एकार्थप्रत्यक्षे च तयोः । कथम्भूतयो ? भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेकार्थविषयत्वात् दूरासन्नैकार्थविषयत्वात् । ननु दूराणामक्षाणाम् अर्थज्ञानमप्रत्यक्षप्रत्यक्षन्न भवति । कुतः ? भ्रान्तेः अस्पष्टस्य दर्शने स्पष्टस्य प्राप्तेः इति परैः । अत्रोत्तरमाह ‘प्रमाण’ इत्यादि । प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अन्यत् प्रमाणं तैज्ज्ञान स्यात् अस्पष्टत्वाऽल्लिङ्गजत्वाभ्या प्रमाणद्वयानन्तर्भूतत्वात् । ननु विसवादात्तत् प्रमाणमेव न भवति तत्कथं तदन्तेरम् ? इति चेदत्राह ‘नहि’ इत्यादि । नहि नैव तेन दूराक्षार्थज्ञानेन अर्थवृक्षादि परिच्छिद्य प्रवृत्तौ क्रियमाणाया विसवादेकान्तः, अस्पष्टाकारतया विसवादेऽपि वृक्षाद्याकारनया तर्कभावात् तदप्रमाण तदूराक्षज्ञानम् एकान्तेनाप्रमाण यतः स्यात् ।

प्रकृतार्थोपसंहारमाह—‘तद्’ इत्यादि । यस्माद् उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षयत् स्मृतेर्वस्तुविषयत्वं सिद्धम् तत् तस्माद् अयं सौगतो व्यवहारी वा शब्दार्थौ पूर्वदर्शनेन विषयीकृतौ स्मृत्या करणभूतया सङ्कलय प्रत्यभिज्ञाय सङ्केते ‘एवविधोऽर्थः एवविधशब्दवाच्यः’ इति समये सति पुनः पश्चाद् व्यवहारफाले शब्दप्रतिपत्तौ सत्याम् अर्थं सम्प्रत्येति विषयीकरोति । ‘स्मृत्या सङ्कलय’ इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम् । ननु स्मृत्या वैरवस्तुविषयत्वाद् अयस्तुनि सङ्केतः तत्प्रतिपत्तिश्च, इत्याह—‘स्मृति’ इत्यादि । आदिशब्देन तर्कोदिपरिग्रहः, तस्यापि न केवल प्रत्यक्षस्य परमार्थनिषयत्वात् । ननु परमार्थविषयत्वे शब्दानां न कश्चित् तर्कभावे तैज्ज्ञान स्यादित्यत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तस्य शब्दस्य अर्थः तदर्थः तस्य अभावेऽपि न केवल भाव एव शब्दार्थज्ञानं शब्दस्य कार्यभूतमर्थज्ञानं ‘जगत्प्रपञ्चस्य प्रकृतिः कारणम्, ईश्वरः कारणं, ब्रह्म कारणम्’ इत्यादि । अत्र दृष्टान्तमाह—‘प्रत्यक्षवत्’ इति । यथा प्रत्यक्ष द्विचन्द्राद्यर्थाभावेऽपि भवति तथा तद्वैपीति । कुत एतदिति चेदत्राह—‘वस्तुन्यपि’ इत्यादि । अपि शब्दाद् अयस्तुन्यपि सङ्केतसम्भवात् ।

(१) बोद्धव्यं । (२) बोद्ध । (३) दूराक्षार्थज्ञानम् । (४) प्रत्यक्षानुमानलक्षणम् । (५) प्रमाणा तरम् । (६) विसवादाभावात् । (७) अर्थाभावे, अतीतानागतकालवर्तिपर्यं । (८) शब्दज्ञानम् । (९) शब्दज्ञानमपि ।

ननु यदि अर्थाभावेऽपि तज्ज्ञान स्यात् तर्हि सर्वमेव शब्दज्ञानमप्रमाण स्यात् ।

प्रयोग—विद्यादास्पतीभूत शब्दार्थज्ञानमप्रमाण तर्त्वात् प्रकृतज्ञानवत् इत्याशङ्क्याह—

**अक्षशब्दार्थविज्ञानमविसंवादतः समम् ।**

**अस्पष्टं शब्दविज्ञान प्रमाणमनुमानवत् ॥ ४६ ॥**

विवृति—तदुत्पत्तिसारूप्यदिलक्षणव्यभिचारेपि आत्मना यदर्थपरिच्छेदलक्षण ज्ञान तत्तस्येति सम्बन्धात् । वागर्थज्ञानस्यापि स्वयमविसवादात् प्रमाणत्व समक्षवत् । विवक्षाव्यतिरेकेण वाग् अर्थज्ञान वस्तुतत्त्व प्रत्याययति अनुमानवत् सम्बन्धनियमाभावात् । वाग्यवाचकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धेः ।

अक्षाणि च शब्दाश्च तेषाम् अर्थज्ञान समम् । केन इत्याह अविसं-  
वादतः, अविसवादन यथा अक्षज्ञानमविसवादेक तथा शब्दार्थज्ञान-  
मपि । अयमभिप्राय—यथा अक्षज्ञानस्य कस्यचिद्विसवादिनो दर्शने-  
ऽपि न 'सर्वमक्षज्ञानमप्रमाण तन्धात् द्विचन्द्राग्निज्ञानवत् इत्यभिधातु शक्यम्, तथा  
शब्दार्थज्ञानमपि । तर्हि प्रत्यक्षात् कोऽस्य विशेष ? इति चेदत्राह—अस्पष्टमवि-  
शद शब्दविज्ञानम्, अक्षज्ञान तु स्पष्टम् इत्यनयोर्विशेष । तर्हि तत्रमाण किमि-  
वेति चेदत्राह—प्रमाण शब्दज्ञानम् अनुमानवत् । अत्रापि 'अविसंवादतः' इति  
सम्बन्धनीयम् ।

ननु चाक्षज्ञानस्य अर्थोत्पत्तिसारूप्यसमभावात् युक्तमविसवादकस्य न शब्दज्ञा-  
नस्य तद्विपर्ययात् अत 'अक्ष' इत्याद्युक्तम्, इत्यारेकादूपणपुर-  
निरवृत्तिप्रत्ययानम्  
सर कारिका विवृण्वन्नाह—'तदुत्पत्ति' इत्यादि । तस्माद् अर्थाद्  
उत्पत्तिश्च सारूप्यञ्च आदिर्यस्य तदध्यवसायस्य स तथोक्त, स एव लक्षण प्रामा-  
ण्यस्य अविसवादस्य वा तस्य व्यभिचारऽपि तदुत्पत्ते चक्षुरादिना, सारूप्यस्य

(१) शब्दज्ञानम् । (२) शब्दज्ञानत्वात् । (३) सरविषाणादिसंज्ञज्ञानवत् । (४)

सम ममान प्रमाण भवति । किम् ? अत्र शब्दार्थविज्ञानम् अक्षमिन्द्रिय शब्दा वणपदवाक्यात्मको  
ध्वनि ताभ्यां जनितमयस्य भामान्यविगतात्मकवस्तुनो विक्षिप्त सग्यादितिकल पानमवबोधनम् ।  
कुत ? अविसवादत अयत्रियायामव्यभिचारात् । यथाऽत्रजनितमयज्ञानमविसवादात् प्रमाण तथा  
शब्दजनितमपि । नन्वक्षज्ञान प्रमाण स्पष्ट वात न शब्दमस्पष्टत्वादित्याशङ्क्याह—अस्पष्टमिति ।  
अस्पष्टमविगदमपि शब्दजनित ज्ञान प्रमाणमभ्युपगम्यमविसवादादेव । न हि स्पष्टममस्पष्टं वा  
प्रामाण्यतरनिबन्धन समो मवान्तरनिबन्धनत्वात् । किमत ? अनुमानवत्—तथो० ता० पृ० ६६ ।

(५) मुक्ता—तत्सारूप्यतदुत्पत्ति यदि मवयत्सणम् । सवेद्य स्यात्समानाद्य विज्ञान समनन्तरम् ॥ —  
प्रमाणवा० ३।३२३। अष्टसह० पृ० २४० । प्रमाणनय० ४।४७ । (६) चक्षुरादिभ्यः घटनानमुत्पद्यते  
न च तत् चक्षुरादिग्राहक भवति ।

१—ज्ञान न प्र-जा० । २—प्रकृतज्ञानवत् व० । ३—अक्षात् शब्दा—ई० वि० । ४—न व्य-  
ई० वि० । ५—तथापि ज० वि० । ६—पुरस्तर का—व०—पुरस्तर का आ० । ७—एतन्तगत  
पाठो नास्ति आ० ।

समानार्थसमनन्तरज्ञानेन, तदध्यवसायस्य मरीचिकाचक्रे जलदर्शनेन तत्र जलाध्यवसाय-  
हेतुना, तत्रितयस्यै शुद्धे शब्दे पीतज्ञानप्रभवोत्तरपीतज्ञानेन, न केवलमव्यभिचारे । किं  
जातमित्याह—‘यदर्थ’ इत्यादि । उत्तरत्र तच्छब्दद्वयप्रयोगाद् अत्रापि द्वितीयो यच्छब्दो  
द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थो जातः—यज्ज्ञानं यदर्थपरिच्छेदलक्षणं यदर्थग्रहणस्वरूपं तत्  
ज्ञानं तस्य अर्थस्य । एतदुक्तं भवति—तत्र यथा प्रत्यासत्त्या सत्त्वाविशेषेऽपि १ किञ्चित् 5  
कस्यचित् कारणं न सर्वं सर्वस्य, कारणत्वाविशेषेऽपि च कस्यचित् किञ्चिदाकारमा-  
त्मसात्करोति, तद्विशेषेऽपि च १ किञ्चिद्व्यवस्यति तथा तदुत्पत्त्यादिरहितमपि तत्परि-  
च्छेदवत् इति । एवं तद्व्यभिचारेऽपि ज्ञानार्थयोः सम्बन्धात् वागर्थज्ञानस्यापि न  
केवलमन्यस्य स्ययम् आत्मना अविस्मृतात् प्रमाणत्वं समक्षवत् प्रत्यक्षवत् । ननु  
भवतु तत्प्रमाणं किन्तु विवक्षायामेव, इत्यत्राह—‘विवक्षा’ इत्यादि । विवक्षान्यतिरेकेण 10  
यद्वाङ्मयस्तुतश्चम् अर्थस्वरूपं तत् प्रत्याययति गमयति । किं तदित्याह—वागर्थज्ञानम्,  
वचः कार्यभूतमर्थज्ञानम् । किमिदं ? इत्याह—अनुमानवत् । यथा अनुमानं विवक्षा-  
व्यतिरिक्तमर्थं गमयति तथा वागर्थज्ञानमपि । कुत एतत् ? इत्याह—सम्बन्धनियमा-  
भावात् । विवक्षायामेव न बहिरर्थे तस्य सम्बन्धः इति यो नियमः तस्याऽसंभवात् ।  
अथवा, तादात्म्यतदुत्पत्तिरूप एव सम्बन्धः नापरः इति यः सम्बन्धनियमः तस्याः 15  
ऽभावात् । कुत एतदित्यत्राह—‘वाच्य’ इत्यादि । न केवलमन्यस्य अपि तु वाच्यवा-  
चकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धेः । अयमभिप्रायः—अन्योऽपि  
सम्बन्धस्तत्प्रतीतिं कुर्वन् उपलभ्यमान एव ‘अस्ति’ इत्युच्यते नान्यथाऽतिप्रसङ्गात्, तथा  
प्रकृतस्याप्युपलभ्यमानत्वे अस्तित्वमस्तु इति । समर्थितश्चास्तित्वं ‘प्रमाणं श्रुत-  
मर्थेषु’ [ लघी० का० २६ ] इत्यत्र प्रपञ्चतः इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन । 20

ननु कालादीनां ग्राहकप्रमाणाभावतोऽभावात्, सतामप्यभेदात् । अन्यतः कालभे-  
दाच्चाद्वेदे अनवस्था स्यात् । अर्थभेदात्तद्वेदे अन्योन्याश्रयः । ततोऽयुक्तमुक्तम्—‘काल-  
कारक’ इत्यादि; इत्याशङ्क्याह—

(१) समानार्थे एकस्मिन्नर्थे तिलादी यत्प्रथमं ज्ञानं जातं तस्मान्जातं यदनन्तरं द्वितीयं तिल-  
ज्ञानं तस्य प्रथमतिलज्ञानेन सह सारूप्यमस्ति, न च द्वितीयज्ञानं प्रथमं गृह्णति, ज्ञानं ज्ञानस्य न निया-  
मवमिति तत्सिद्धान्तात् । (२) अनुकूलविकल्पोत्पत्तिरध्यवसायः । मरीचिवक्त्रे जायमानं जलदर्शनम-  
नुकूलं जलमिदमित्याकारकं विकल्पमुत्पादयति न च तत्प्रमाणम् । (३) तदुत्पत्तिसारूप्यतदध्यवसाय-  
त्रयम् । शुक्लं शब्दे जायमानपीतज्ञानात् उत्पन्नस्य अनन्तरपीतज्ञानस्य शब्दज्ञानादुत्पन्नस्य तदाकारानु-  
कारिणः तदनुबूलशब्दोऽयमित्याकारकविकल्पोत्पादकस्य पूर्वज्ञानं प्रामाण्यप्रसङ्गात् । न च तदस्ति ज्ञानं  
ज्ञानस्य न नियामकमिति नियमभङ्गप्रसङ्गात् । (४) अकारानुकारणाऽविशेषेऽपि । (५) तदुत्पत्त्यादि ।  
(६) वाच्यवाचकसम्बन्धस्य । (७) वाच्यवाचकभावस्य । (८) भेदाभावात् । (९) तिष्ठे हि अव्य-  
तीतादिभेदे तस्मात् कालस्य अतीतादित्वम्, तस्मान्चार्थानामतीतादिनेति ।

१ यत्र आ० : ३ सत्त्वाविशेष-प्र० । १ एतदन्तर्गतं. पाठो नास्ति आ० । ३ इत्याह व०,  
थ० । ४ तस्यासंभवात् व०, थ० । ५-स्याप्रति-आ० । ६-हेतुत्वोप-व०, थ० । ७-मस्तोति थ० ।

कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितम् ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थनिष्ठितम् ॥४७॥

विवृतिः—नह्येकान्ते वर्तमानलक्षणं कालस्य संभवति, भूतभविष्यद्वर्तमान-  
प्रमेदो यतः स्यात्, तदर्थक्रियानुपपत्तेः । न च द्रव्यं शक्तिः तदुभयं वेति  
कारकलक्षणं शक्तिशक्तिमतोर्व्यतिरेकैकान्ते सम्बन्धासिद्धिः अनवस्थानुपपत्तात् ।  
तदव्यतिरेकैकान्ते 'शक्तिःशक्तिमत' इति रिक्ता वाचोयुक्तिः । तन्नैकान्ते पट्टा-  
रकी व्यवतिष्ठते । कुतः पुनः स्तेयायत्यस्यां गर्भ इति स्त्री, प्रसूते स्थान् पर्यायान्  
इति पुमान् तदुभयात्यये नपुंसकम् इति शब्दार्थप्रत्ययानामन्यतमस्यापि लिङ्ग-  
व्यवस्था ? तथा एकस्यार्थस्य 'इन्दनादिन्द्रः, शकनात् शक्रः, पुरंदारयतीति  
पुरन्दरः' इति पर्यायभेदाद् भिन्नार्थता तद्वाचिनां शब्दानां न संभवत्येव व्यति-  
रेकेतरैकान्तयोः तत्र विरोधात् । तत एव क्रियाकारकयोः तत्रासंभवो विज्ञेयः ।  
तदनेकान्तसिद्धिः विधिप्रतिषेधाम्यां तदर्थाभिधानात् । नाभावेकान्तः, कुतः  
तदभिधानलिङ्गाद्यसंभवोपालम्भः स्याद्वादमनुवर्त्तत ?

काल आदिर्यस्य कारकादेः स तथोक्तः तस्य लक्षणं स्वरूपं प्रमाणं वा

अन्यत्र तत्त्वार्थभाष्यादौ परीक्षितं विचारितम् ईक्ष्यम् अन्वे-  
ष्यम् न्यक्षेण आत्मना, 'निश्चितः पूर्वं प्रमाणेन व्यवस्थापितोऽक्षो

(१) 'ईक्ष्यमवलोकनीयम् । किम् ? कालादिलक्षणम्, काल आदिर्यस्य कारकलिङ्गसत्त्वासाधनो-  
पग्रहादीनां ते कालावय तेषां लक्षणमसाधारणं स्वरूपम् । किं विधिष्यम् ? परीक्षितं विचारितं स्वामि-  
मन्तभद्राद्यं मूर्तिभिः । कथम् ? न्यक्षेण विस्तरेण । क्व ? अन्यत्र तत्त्वार्थमहाभाष्यादौ । विधिष्यम् ?  
द्रव्येत्यादि । द्रव्यं पूर्वापरपरिणामव्यापकमूर्ध्वतासामान्यम्, पर्याया एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविन परि-  
णामा, सामान्यं सदृशपरिणामलक्षणं तिर्यक् सामान्यम्, विशेषोऽर्थान्तरपतो व्यतिरेक, द्रव्यं च पर्याया-  
श्च सामान्यञ्च विशेषश्च द्रव्यपर्यायिसामान्यविशेषा ते आत्मा स्वभावो यस्यासौ तथोक्त । स चासा-  
वर्गश्च तस्मिन्निष्ठित नियत तदात्मकमिति यावत् । एवविद्यस्यैव अक्षक्रियासंभवात् निरपेक्षकान्त  
तद्विरोधात् । —सधी० ता० पु० ६७ । (२) 'वर्तनालक्षणे कालो' —उत्तरा० २८।१० । 'काल-  
स्य वदृष्टा स —प्रवचनसा० २।४२ । 'ववगदपणवण्णरमा ववगददोगधजट्टपासो य । अगुहलहुणो  
अमुत्तो वदृष्टगलक्का य कालोति ।'—पञ्चा० गा० २४ । द्रव्यस० गा० २१ । 'वर्तनापरिणामक्रि-  
यापरत्वापरत्वं च कालस्य ।'—तत्त्वार्थसू० ५।२२ । (३) धन्विनारकवादिन भर्तृहरिप्रभृतयः ; तपाहि-  
"स्वाधये समवेतानां तद्वदवाध्यान्तरे । क्रियाणामभिनिष्पत्तो सामर्थ्यं साधनं विदुः ॥ क्रियानिवृत्तो  
द्रव्यस्य शक्तिः साधनं साध्यतन्त्रेण क्रियति भाष्यवारप्रभृतयो विदुः ।"—वाचस्प० तु० का० पु० १७३ ।  
(४) तुलना—'न च द्रव्यमार्थं कारकं न च क्रियामात्रम्, कारकशब्दो हि क्रियामात्रेण क्रियाविशेषयुक्त  
प्रवृत्तः ।'—न्यायवा० पु० ६ । 'धात्वर्थाश्च प्रकारो य मुच्यं सोऽत्र कारकम्'—दावद० का० ६७ ।  
(५) 'वस्थानप्रसवो लियमास्थयो स्वहनान्त । अधिकरणसाधना लोक स्त्री स्तेयायत्यस्या गर्भ  
इति । कसुमापनश्च पुमान् मूत पुमानिति । मस्त्यानविवक्षायां स्त्री, प्रसवविवक्षायां पुमान्,  
उभयविवक्षायां नपुंसकमिति ।'—पात० महा० ४।१।३ ।

१-निश्चितम् २० वि० । २ चेति ६० वि० । ३ क्षतिशक्ति-६० वि० । ४ तदुभयाभावे  
नपु-६० वि० । ५-कान्तरयोः २० वि० । ६ अन्वेक्ष्यम् वा० ।

न्यक्षः' इति व्युत्पत्तेः । न्यक्षेण विस्तरेण इति वा । कथम्भूतं तत् तेनेक्ष्यम् इत्याह—  
 'द्रव्य' इत्यादि । द्रव्यम् ऊर्ध्वतासामान्यं तस्य सहस्रमभुवो विवर्त्ताः पर्यायाः,  
 सदृशपरिणामः सामान्यम्, विसदृशपरिणामो विशेषः ते एव आत्मा यस्या-  
 र्थस्य तत्र निष्ठितम् तदात्मकमिति यावत् । ततो निराकृतमेतत्—“कालादेः स्वयम-  
 मेदात् कथं तद्वेदात् कश्चिदर्थमदेकत्” [ ] इति । सहकार्युपादानसन्तानवद् अन्योन्यं 8  
 कालादीनाम् अन्यथाभावविवर्त्ताविरोधात् । यदि चा (वा), अन्यार्थपरिणतिः कालापेक्षा  
 कालपरिणतिस्तु स्वरूपापेक्षा, यथा घटादिप्रकाशः प्रदीपनिवन्धनः प्रदीपप्रकाशस्तु  
 स्यनिवन्धन इति, अतः अनवस्थाऽन्योन्याश्रयासंभवः । अथवा, तदर्थेन लिङ्गभूतेन निष्ठा  
 स्वरूपव्यवस्थितिरिज्ञाता अस्तेति तन्निष्ठितं तल्लक्षणम् तत्प्रमाणकम् इत्यर्थः । तथाहि—अयं  
 तदर्थः अस्मात् पूर्वं पश्चात् अनेन सह वा भवतीति प्रतीतिः तदर्थव्यतिरिक्तार्थपूर्विका, 10  
 पूर्वापरादिप्रतीतित्वात्, अयं तदर्थोऽस्मात्पूर्वदेशः अयमपरो देश इत्यादिप्रतीतिवत् ।  
 यश्चासौ तत्कारण स काल इति । एवं कारकादावपि योज्यम् । तथाहि—‘करोति क्रियते’  
 इत्यादिप्रतीतिः विभिन्नशक्तिकार्थनिवन्धना, विलक्षणप्रतीतित्वात्, जलानलप्रतीतिवत् ।  
 तथा, ‘देवदत्तो देवदत्ता’ इत्यादिप्रतीतिः विभिन्नस्वरूपार्थनिवन्धना, विशिष्टप्रतीतित्वात्,  
 घटपटप्रतीतिवत् । 16

कारिकां व्यतिरेकमुखेन व्याचष्टे—‘नक्षेकान्ते’ इत्यादिना । द्विर्वस्मात् न  
 क्षणिकाद्येकान्ते वर्त्तनां स्वयं त्रिकालगोचरैः पर्यायैः वर्त्तमानान्  
 विवृतिन्याख्यानम्—  
 भावान् प्रति प्रयोजकत्वं लक्षणं कालस्य संभवति यतो लक्षणात्  
 भूतभविष्यद्वर्त्तमानप्रभेदः कालादेः स्यात् । ‘यतः’ इति आक्षेपे वा, यतः तत्प्रभेदः  
 स्यात्, नैव स्यात् । कुत एतदित्याह—‘तदर्थ’ इत्यादि । या भूताद्यर्थस्य क्रिया 20  
 निष्पत्तिः तस्या अनुपपत्तेः ‘एकान्ते’ इति सम्यन्धः । यथा च एकान्ते कालस्य  
 अतीताद्यर्थक्रियानुपपत्तिः तथा कालपरीक्षावसरे<sup>२</sup> विशेषतश्चिन्तितम् ।

एवं कालस्य एकान्ते लक्षणं वर्त्तमानान् भावान् प्रति प्रयोजकत्वं निराकृत्य  
 कारकस्य तन्निराकुर्वन्नाह—‘नच’ इत्यादि । नच नापि कारकलक्षणम् । फितदित्याह—  
 ‘द्रव्यं शक्तिः तदुभयं वा’ इत्येतत्, ‘एकान्ते तदर्थक्रियानुपपत्तेः’ इत्येतदप्रापि 25

(१) पूर्वापरादिप्रतीतिकारणम् । (२) “सर्वभावानां वर्तना कालाश्रया वृत्तिः । वर्तना उत्पत्ति  
 स्थितिरप्य गतिः प्रथमसमयाद्येत्यर्थः ।”—तत्त्वार्थभा० ५।२२ । “वृत्तेर्गिजन्तात्कर्मणि भावे वा युटि  
 स्त्रीलिङ्गे वर्तनेति । वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तनेति । । धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिवृत्तिं प्रति स्वात्म-  
 नैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहादिना तद्वृत्त्यभावात् तत्प्रवर्तनोपलक्षितं काल इति वृत्त्वा वर्तना कालस्यो-  
 पकारः ।”—सर्वार्थसि० ५।२२ । “प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतिकसमया स्वसत्तानुभूतिवर्तना ।”—राजवा०  
 ५।२२ । (३) पु० २२५ ।

1—न्य इति आ० । 2—तिर्ज्ञाता आ०, व० । 3 भवतीति विभिन्नस्वरूपार्थव्यतिरिक्तार्थपूर्विका  
 4—कार्यनि—आ० । 5 इत्यादिन हि आ० । ॥ लक्षणं निराकृत्य व०, थ० । 7 च थ० ।



सम्बन्धनीयम् । दूषणान्तरमाह—‘शक्ति’ इत्यादि । शक्तिशक्तिमतोः व्यतिरेकैकान्ते  
 अङ्गीक्रियमाणे सम्बन्धासिद्धिः सह्यविन्ध्यवत् । अथ तदेकान्तेऽपि राजपुरुषवद्  
 उपकार्योपकारकभावात् सम्बन्धसिद्धिरिष्यते, अत्राह—अननस्थानुपज्ञात् इति । अत्रा  
 यमभिप्राय—यथा राजपुरुषयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभाव तथा चेत् शक्तितद्वतो  
 5 स्तद्भाव तदा तत्र प्रत्येकम् अपरा शक्ति कल्पनीया तत्राप्येव चोद्यमित्यनवस्था । एतेन  
 अनयो समवाय विशेषणीभाव अन्यो वा भिन्न सम्बन्ध चिन्तित । तयोरभेदै  
 कान्त दूषयत्राह—‘तदव्यतिरेकैकान्ते’ इत्यादि । तयो, शक्तिशक्तिमतो अव्यतिरेकै  
 कान्ते अभेदैकाते अङ्गीक्रियमाणे ‘शक्ति, शक्तिमत’ इति एव या परस्य वाचोयुक्ति  
 वचनोपपत्ति सा रिक्ता निरर्थिका । तस्मिन् सति शक्तिरेव स्यात्, न च सा परस्य  
 10 निराधारा युक्ता द्रव्यादिकल्पनावेफल्यप्रसङ्गात् । शक्तिमदेव वा स्यात्, तदपि शक्त्य  
 भावेऽनुपपन्नम् । न च द्रव्यादिकमेव शक्तिरित्यभिधातव्यम् शक्तिपरीक्षायां तस्या  
 ततो व्यतिरिक्ताया प्रसाधितत्वात् ।

प्रकृतमुपसहरत्राह—‘तद्’ इत्यादि । यतो भेदाभेदैकान्ते शक्तिशक्तिमद्भावो नोपप  
 यते ‘तत्’ तस्मात् नैकान्ते पद्वारङ्गी कर्त्रादीना पण्णा कारकाणा समाहारो व्यवतिष्ठेत,  
 15 कारकाभावे तत्तमाहाराभावात् इत्यभिप्राय । तथा अन्यच्च यत्प्राप्त तद्वाह—‘कुतः’ इत्या  
 दिना । कुतः ? न कुतश्चित् । पुनः इति दूषणान्तरसूचनार्थ । लिङ्गव्यवस्था लिङ्गाना  
 म्नीत्वादीना स्थिति । कस्य सा न ? इत्यत्राह—अन्यतमस्यापि । केयामन्यतमस्य ?  
 इत्याह—शब्दार्थप्रत्ययानाम् । वेयाकरणैर्यथासंभव तेषामेव त्रयाणा लिङ्गव्यवस्थोप-  
 गमात् । ननु यदि कारकव्यवस्था नास्ति किमायात् लिङ्गव्यवस्थाया येन सापि  
 20 न स्यात् ? इत्याह—‘स्त्यायति’ इत्यादि । स्त्यायति सङ्घातीभवति अस्या गर्भ  
 इति स्त्री । प्रतूते जनयति स्वान् आत्मीयान् पर्यायान् इति पुमान् । तदुभया  
 त्यये स्त्यानप्रसयनोभवाभावे नपुंसकमिति । एव या व्यवस्था, सा कुतः ?  
 लिङ्गव्यवस्थाया कारकनिबन्धनत्वेन तदभावेऽभारादिति मन्यते । अत्रैव एकान्ते

(१) उपकार्योपकारकभाव । (२) शक्तितद्वतो । (३) शक्ति । (४) मीमांसकादे । (५)  
 शक्तिमत्पि । (६) पु० १६० । (७) शक्ते । (८) द्रव्यात् । (९) नित्या पदगततयोप्यया भगव  
 दसमिभवा । त्रिमाससिद्धयऽवपु जातिवत्समवस्थिता ॥ —वाचस्प० साधनसमु० द्रव्यो ३५ । (१०)  
 गुणना— संस्त्यानप्रसयो लिङ्गमास्थयो इति परिभाषित नाप्य लिङ्गमुक्त तथा चाह—सस्त्यान सत्याय  
 तद्वद् स्त्री मूलमध्यमक पुमानिति । स्त्यान महान प्रभव उपचयो रूपादीना सत्त्वान्निगुणानाम् ।  
 स्यापि महानमागच्छतस्यां गभ इत्यधिकरणं स्त्री । मूलघातोऽपि प्रभव उपचये दुष्मुन प्रत्यय  
 परतस्तकारस्य पकारात् नृत्त पुमानिति । यत्राह—मदिति मनारस्य पकारात् इत्यथ । अनन च  
 प्रकाशविषय मूल्यवर्ति मूल्यवति । उभयममाम्यव्यवस्थातिनपुंसकमर्थादुक्तं भवति । —वाचस्प०  
 लिङ्गसमु० पु० ४३१ ।

१—लिङ्गे आ० । —लिङ्गिनि इत्य-ब० । पुत्र-उपपत्त पाठो नास्ति आ० । ३ कारकाणां थ० ।

दूषणान्तरमाह—‘तथा’ इत्यादिना । तथा तेन कारकाभावप्रकारेण एकस्य अभिन्नस्य  
अर्थस्य सुरपतिलक्षणस्य ‘इन्दनाद् इन्द्रः’ ‘शक्रनात् शक्रः’ ‘पुरन्दारयति इति पुर  
न्दरः’ इत्येव पर्यायभेदात् इन्दनादिपरिणामभेदात् । अथवा, इन्द्रादिशब्दपर्यायभेदात्  
सकारात् तद्वेदञ्चाश्रित्य यासौ परेणाभ्युपगता । का ? इत्याह—भिन्नार्थता नानार्थता ।  
केषाम् ? इत्याह—तद्वाचिनाम् एकार्थवाचिना शब्दानाम् इन्द्राद्यभिधानानाम् । सा  
क्रिम् ? इत्याह—न संभ्रमत्येव, मनागपि तत्सम्भो नास्ति इत्येवकारार्थ । कुत एतदि-  
त्याह—‘व्यतिरेक’ इत्यादि । य सुरपतिलक्षण एकार्थं यश्च शक्रनादि तयो पर  
स्पर व्यतिरेकैकान्तः भेदैकान्तं यश्च इतरैकान्तः अभेदैकान्तं तयो तत्रैकान्ते  
विरोधात् । व्यतिरेकैकान्ते हि सम्प्रन्धासिद्धेरनवस्थानुपपत्त्या विरोध सिद्धः । इत  
रैकान्ते च इन्दनादे एकत्वसिद्धे सं सिद्ध इति । ननु न द्रव्यं नापि शक्तिस्तदुभय वा  
कारकलक्षणम्, किन्तु ‘क्रियाविष्ट द्रव्य कारकम्, इति चेदत्राह—‘तत् एव’ इत्यादि ।  
‘तत् एव’ अनन्तरोक्तविरोधादेव क्रियाकारकयोः क्रिया अधिश्रयणादिलक्षणा, कारक  
कर्त्रादि, तयो तत्र मिथ्यैकान्ते असम्भो विज्ञेयः ।

उपसंहारमाह—‘तद्’ इत्यादि । यस्माद् एकान्ते कालकारकलक्षण नोपपद्यते  
तत् तस्माद् अनेकान्तसिद्धिः तत्रैव अस्योपपत्तेः । काभ्या तत्सिद्धिः ? इत्याह—विधि-  
प्रतिषेधाभ्याम्, स्वरूपपादित्युपपत्त्यपेक्षसदसत्त्वाभ्याम् । समर्थितश्च तद् अनेका-  
सिद्धयवसरे’ इत्यलमतिप्रसङ्गेन । ननु एकान्तव्यतिरेकस्य शब्दार्थस्यासम्भवात् सर्वत्र  
लिङ्गाद्यसम्भवो भवत स्यादिति चेदत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तस्य अनेका-तरूपस्य अर्थस्य  
अभिधानात् प्रतिपादनात् । अत्रापि “‘विधिप्रतिषेधाभ्याम्’ इति सम्प्र धनीयम् ।  
कुत ? न कुतश्चित् तदभिधानलिङ्गाद्यसम्भवोपालम्भः, तस्य अनेका-तार्थस्य अभि-  
धान प्रतिपादक वचन तस्य लिङ्गादि, आदिसञ्ज्ञात् वचनादिपरिग्रह तस्याऽसम्भवः,  
स एव उपालम्भः कुतः न कुतश्चित् स्याद्वादम् अनेका-तवादम् अनुत्तेन यायात् ।  
ननु सर्वथा भावानामभावात् तदर्थोभिधानमसिद्धम् इत्याह—नाभावैकान्तः शून्यतै-  
कान्तः । यथा चासौ नास्ति तथा विषयपरिच्छेदे व्यासतश्चिन्तितम् ।

यतश्च अनेकान्ते तदुपालम्भाभाव ईत —

(१) अनदकाते । (२) विरोधः । (३) क्रियाविष्ट द्रव्य कारकमिति प्रसिद्धः । —युक्त्यनु-  
टी० पृ० २८ । (४) पृ० ३६६ । (५) पृ० ११९ ।

१ तदभेद वाश्रित्य थ० व० । २-गता केषाम् आ०, -गता केषाह भिन्नायता केषाम् व० ।  
३ सम्भव मनाग-आ० । ४-इत्याह थ० । ५-स्पर व्यति-थ० । ६ विरोधसिद्ध आ० विरोधसिद्धि  
थ० । ७-इ-सि-थ० । ८ क्रियाविष्टिथ० । ९ ध्वजा-व० । १० एकांते कारक-आ० ।  
११-रिवतशब्दा-आ० । १२ तस्याकात-आ० । १३ तत्रापि आ० । १४ विधिनियमा-आ० ।  
१५-सम्प्रत्ययेका-थ० । १६-काते न तद्-आ० । १७ अह नास्ति थ० ।

एकस्यानेकसामग्रीसन्निपातात् प्रतिक्षणम् ।

पट्टकारकी प्रकल्पेत तथा कालादिभेदतः ॥ ४८ ॥

विवृतिः—प्रतिक्षणं प्रत्यर्थं च नानासामग्रीसन्निपातात् पट्टकारकीसंभवेऽपि यथैकं स्वलक्षणं स्वभावकार्यभेदानां तदभेदकत्वात् तथा कालादिभेदेऽपि । तत्प्रतिक्षेपो दुर्नयः तदपेक्षो नयः, स्वार्थप्राधान्येऽपि तद्गुणत्वात् । तदुभयात्मार्थज्ञानं प्रमाणम् ।

एकस्य वस्तुनः, अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः ततोऽनेकस्यापि प्रकल्पेत । का ?

इत्याह—पट्टकारकी । कुत इत्याह—अनेकसामग्रीसन्निपातात्

कारिकायाख्यानम्—

अनेका नाना या सामग्री अनेककार्योत्पादककारणसमप्रता तस्याः

सन्निपातात् । कथं प्रकल्पेत इत्याह—प्रतिक्षणं, क्षणं क्षणं प्रति प्रतिक्षणं यथा-

भयति तथा प्रकल्पेत । तथाहि—यदैव चक्रादिसन्निधानात् घटस्य करणाद् देवदत्तः

(१) “प्रकल्पेत घटेत । का ? पट्टकारकी, पण्णा वारकाणां समाहार पट्टकारकी । कस्य ?

एकस्यापि जीवादिवस्तुनः अपिशब्दस्याध्याहारात् । कथम् ? प्रतिक्षणम्, क्षणं समयं क्षणं क्षणं प्रति प्रतिक्षणम् । कस्मात् ? अनेकसामग्रीसन्निपातात्, अनेका बहिरङ्गाऽन्तरङ्गा सामग्री कारणकलाप तस्या सन्निपातः सन्निधितस्मात् । तथाहि—यदैव चक्रादिसन्निधानात् घटस्य कर्ता देवदत्तः तदैव स्वप्रेक्षकजनसन्निधानात् स एव दश्यते इति कर्म, प्रयोजनपेक्षया देवदत्तेन कार्यतीति करणम्, दीपमानद्रव्यापेक्षया देवदत्ताय ददातीति सम्प्रदानम्, अपायापेक्षया देवदत्तादपैतीति अपादानम्, तत्र स्पन्दद्रव्यापेक्षया देवदत्ते कुण्डलमित्यधिकरणमित्यविरोधात्तथाप्रतीतेः । न हि प्रतीयमान विरोधो नाम । तथा युगपदिव कालादिभेदतः कालदेहाकाराणां भेदः क्रमः तेनापि पट्टकारकी प्रकल्पेत । तथाहि अकरोद्देवदत्तः करोति करिष्यतीति प्रतीतिवलायात्तत्वात् । अथवा तथा एकस्य पट्टकारकीप्रकल्पनवत् कालाद्यपि प्रवल्पेत । कुत ? भेदतः कथञ्चिदर्थस्य भेदात् । सर्वप्राशङ्गिके सकलकारकादिभेदानुपपत्तः ।”—लघी०

ता० पृ० ६८ । (२) तुलना—“एवमेतः शब्दसमभिरुद्भवम्भूता नया परस्वरापेक्षा सम्यक् अन्त्यान्यमनपेक्षास्तु मिष्येति प्रतिपत्तव्यम् ।”—प्रमेयक० पृ० ६८० । “अर्थभेद विना शब्दानामव नानात्वैकान्तस्तदाभासः ।”—प्रमेय० ६।७।४ । “एव शब्दादयोऽपि सर्वथा शब्दाव्यतिरिक्तमर्थं समर्थयन्तो दुर्नयाः ।”—

न्यायावता० टी० पृ० ९० । “तदभेदः तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः । यथा बभूव भवति भविष्यति मुमेरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दाः भिन्नमेवार्थमभिदधति भिन्नकालशब्दत्वात्तत्वात्कृत्स्नित्वान्धवदित्यादिरिति ।”—प्रमाणनय० ७।३४, ३५ । जैनतर्कभा० पृ० २४ । “यथायिनात्वात्मन्तरेणापि इन्द्रादिभेद-  
धनं तदाभासः ।”—प्रमेय० ६ । ७।४ । “यथायिध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव बक्षीकुर्वाणस्तदाभासः  
इति । ययन्तः एक पुरन्दर इत्यादयः शब्दाः भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात् करिकुरङ्गपुरङ्गमशब्द-  
वदित्यादिरिति ।”—प्रमाणनय० ७।३८, ३९ । जैनतर्कभा० पृ० २४ । “त्रियानिरपेक्षत्वेन त्रियावाचकेषु  
वाल्पनिको व्यवहारस्तदाभासः इति ।”—प्रमेय० ६।७।४ । “त्रियानाधिष्ट वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिनि-  
पत्तुः तदाभासः । यथा विनिष्टचेष्टाभूतं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतत्रि-  
याभून्वत्वात् पटादिवाचित्यादिरिति ।”—प्रमाणनय० ७।४२, ४३ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

१ प्रकल्पेत थ०, व० । २ यथैकत्व—व० वि० । ३—यं ज्ञानं ज० वि० । ४ प्रकल्पेत थ०,

व० । ५ प्रकल्पेत व०, थ० । ६ प्रतिक्षणं क्षणं प्रति वा०, व० । ७ प्रतिक्षणं नास्ति वा० ।

८ प्रकल्पेत थ० व० ।

कर्त्ता तदैव प्रत्यक्षदेशादिसामग्रीसन्निधानात् स एव कर्म, अन्यकर्मापेक्षया करणम्, तस्मै दीयमानद्रव्याद्यपेक्षया सम्प्रदानम्, तस्माद् आकृष्यमाणमावापेक्षया अपादानम्, तत्र स्थाप्यमानार्थापेक्षया अधिकरणमिति । तथा तेन प्रकारेण कालादिभेदतः काल आदिर्यस्य देशादे स तथोक्त तद्भेदत 'एकस्य पट्टकारकी प्रकल्पेत' इति सम्बन्धः । तद्यथा आसीद् देवदत्त तत्रादिस्वभावो भवति भविष्यति वा । एवमन्यत्रापि योज्यम् ।

कारिकार्थं दर्शयन् अत्र सुनयदुर्नयभेदं दर्शयति—'प्रतिक्षणम्' इत्यादिना ।

विवृतिव्याख्यानम्—  
क्षणं क्षणं प्रति प्रतिक्षणम्, अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थञ्च नानासामग्रीसन्निधातात् पट्टकारकीसम्भवेऽपि तत्प्रतिक्षेपे तस्या, पट्टकारक्या प्रतिक्षेपो निरासः दुर्नयः । कथं तत्सम्भवः ? इत्याह—यथैकं स्वल्पक्षणम्, यथा एकं स्वल्पक्षणं व्यवस्थितं तथा यथा भवति तथा तत्सम्भवेऽपि इति । नन्वेकस्य स्वल्पक्षणस्य अनेकस्य स्वभावस्य कार्यस्य च सम्भवे तद्वदन्यत्रापि तत्सम्भवः स्यात्, नचा सायस्ति, तत्सम्भवे तस्यावश्यं भेदात् इत्याह—'स्वभाव' इत्यादि । स्वभावभेदानां कार्यभेदानाञ्च तदभेदकत्वात् स्वल्पक्षणाभेदकत्वात् । न खलु सजातीयेतरकार्यभेदे तत्कारणस्वभावभेदे वा स्वल्पक्षणस्य भेदोऽस्ति । एष कालादिभेदे पट्टकारकीसम्भवेऽपि तन्निरासो दुर्नयः इति दर्शयन्नाह—'तया' इत्यादि । यथा सामग्रीभेदे एकस्य पट्टकारकीसम्भवेऽपि तन्निरासो दुर्नयः, तथा कालादिभेदेऽपि 'पट्टकारकीसम्भवेऽपि' इति सम्बन्धः । अत्रापि 'स्वभाव' इत्यादि अपेक्ष्यम् । कस्तर्हि नयः ? इत्याह—'तदपेक्षो नयः' इति । तस्या पट्टकारक्या अपेक्षा यस्य असौ नयः । कुत स नयः ? इत्याह—'स्वार्थ' इत्यादि । स्व, विपरीत्यक्रियमाणो योऽर्थः तस्य प्राधान्येऽपि तद्गुणत्वाद् अविवक्षितधर्माणामप्रतिक्षेपेण गुणीभूतत्वात् । यदि एवविधो नयो भवति, प्रमाणं तर्हि कीदृशम् ? इत्याह—'तद्' इत्यादि । तद् अगुणीभूतविवक्षिताविवक्षितधर्मोभयम् आत्मा यस्य ऐर्ष्यस्य तस्य ज्ञानं प्रमाणम् । अनेन "प्रमाणन्येदधिगमः" [ तत्त्वावतू० १।६ ] इत्येतत् सङ्गृहीतम् ।

ननु नयः सर्वोऽपि मानसो विकल्पः, विकल्पश्च निर्विषय एव तत्रात् प्रधानदिविकल्पवत्, तत्कथं तेन कस्यचिदधिगमः स्यात् ? इत्याह—'विकल्पत्वात्' इत्यस्य हेतोः तर्कादिना अनैकान्तिकत्वं दर्शयन्नाह—

(१) शब्दादिषु । (२) एकम् । (३) यत्र प्रकारेण । (४) कालादिभूतसम्भवेऽप्येकमेवेत्यर्थः । (५) अनेकस्वभावकार्यसम्भवः । (६) अनेकस्वभावकार्यसम्भवः । (७) अस्य । (८) पट्टकारकीप्रतिक्षेपः । (९) विकल्पत्वात् । (१०) नयः ।

१—व्यापकता यः० । २—तदभेदत आ० । ३—प्रकल्प्यत व० यः० । ४—क्षणं प्रतिक्षणम् व० ।

५—तस्या निरा—यः० । ६—यथा तथा भवति यः० । ७—अनेक स्वभा—आ० व० । ८—तत्कारण—आ० ।

९—तद्विधा यः० । १०—तद्गुणी—यः० । ११—अस्य ज्ञानं यः० । १२—ननु न नयः यः० ।

व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः,  
सकल्पेनैव तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थरुदेशे ।

प्रामाण्ये चानुमायाः स्मरणमधिगतार्थाचिसंवादि सर्वम्,  
संज्ञानञ्च प्रमाणं समधिगतिरतः सप्तधार्यैर्नयोऽर्थैः ॥४०॥

व्याप्तिम् अविनाभावं हेतोः लिङ्गस्य साध्येन लिङ्गिना मह स्फुटयति

प्रशस्यति न, काऽमौ ? दृष्टिः दर्शनम् एकत्र एकस्मिन् देशे,  
रतिरित्यास्यानम्- उपलक्षणमेतत् तेन 'एकदा च या दृष्टिः' इति गृह्यते । सरलदृष्टिरेव

स्फुटयति, तत्र च अनुमानमनर्थकमित्यभिप्रायः । केन विना इत्याह-विना चिन्तया,

तथा सहिता तु स्फुटयति । अतः सौ प्रमाणान्तर स्यादिति भावः । कथं तथा विना सौ

र्था न स्फुटयति इत्याह-साकल्येन सामत्येन । देशतस्तु यदि स्फुटयति तदा

स्फुटयतु, किन्तु तैधाऽनुमानानुदयः । कस्तर्हि साकल्येन तौ स्फुटयति ? इत्याह-'एवम्'

इत्यादि । एवम् प्रतिप्राणिस्वसवेदन-प्रत्यक्षप्रसिद्ध तर्कः मानसोऽस्पष्टचिरल्पः । कथ-

म्भूतः ? इत्याह-अनधिगतविषयः अनधिगतः प्रमाणान्तरेणाऽपरिच्छिन्नः विषयो

यस्य स तयोक्तः । स किम् ? इत्याह-संज्ञानमेव, च शब्दः एवकारार्थः, अत

एव प्रमाणम् । यथा चासौ सानत्येन व्याप्तिप्रशसकः अनधिगतविषयः संज्ञानञ्च

(१) 'न स्फुटयति न प्रमाणमिति । का ? एतत्र दृष्टिः एकस्मिन् महानसादी साध्यसाधनयो

दृष्टिर्दर्शन प्रत्यक्षमित्यर्थः । राम ? व्याप्तिमविनाभावम् । कस्य ? ह्यो साधनस्य भूमादः । केन

सह ? साध्यन जग्यादिना सह । केन ? सावत्येन सवगना दशाशान्तरितसाध्यसाधनव्यक्तीना

भाव सावत्ये तेन । कथम् ? चिन्तया विना ऊहप्रमाणाभाव इत्यर्थः । न हि दृष्टान्तधर्मिणि साध्य

साधनसम्बन्धदानं सावत्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ समधमनुमानानपत्यप्रमत्तात् तद्दृष्टुरभिज्ञत्वापसरच ।

तर्हि किं प्रमाणं ता स्फुटयतीति चदुष्यत ? एव तर्क यः साकल्येन साध्यसाधनयो व्याप्ति स्फुटयति

ज्ञानं स एव च सकलानुमानविप्रसिद्धस्तर्क इत्युच्यत । ननु गृहीतवाहित्वादस्याश्रमाभ्यमित्यागत्याह-

अनधिगतविषयः । किंविशिष्टम् ? संज्ञानं सम्यक्ज्ञानमर्थं प्रमाणं भवतीति । तथा स्मरणं स्मृतिश्च

प्रमाणम् । किं विशिष्टम् ? अधिगतार्थाचिसंवादि, अधिगतः प्रत्यक्षपानुभूतोऽर्थो विषयस्तत्र अविज्ञवादि

विज्ञवादरहितमिति । एतच्च संज्ञानमिति । कस्मिन् सति ? प्रामाण्ये प्रमाणत्वे सति । कस्या ?

अनुमाया अनुमानस्य । क्व ? तत्कृतार्थैकदेश, तत्र तर्केण कृतो निश्चित अर्थोऽविनाभावस्तत्स्वैकदेशः ।

साध्यं तत्रानुमानप्रामाण्यस्य स्मृतितत्कप्रामाण्यविनाभावित्वादित्यथ । अथवा संज्ञानञ्च प्रत्यभिज्ञा-

नञ्च प्रमाणमविज्ञवादाविशपात् । न केवलमेतत् परोक्षमेव विकल्पात्मक प्रमाणमपि तु सर्वं प्रत्यक्षमपि

विकल्पात्मक प्रमाणं तस्यैव व्यवहारोपयोगित्वात्, निविकल्पकस्य क्वचिदप्यनुपयोगान् । अतः कारण-

तर्कादिवत् विवल्पात्मकैरेव नयोऽर्थं समधिगति सम्यग्धिगमो जीवादितत्तन्निपयो भवति । किं भूतं ?

सप्तधार्यं सप्तधा नैगमादिसप्तप्रकारा आख्या येषां तैरिति । -लघो० ता० पु० ७० । (२) सकलदृष्टौ सवज्ञतायाम् । (३) दृष्टिः । (४) चिन्तया । (५) दृष्टिः । (६) व्याप्तिम् । (७) एकदेशेन व्याप्तिग्रहणं सति । (८) व्याप्तिम् । (९) तर्कः ।

१ चानुमा-ज० वि० । २-व्याप्ति-मु० लघी० । ३-यो यं जा० । ४ च दृष्टि-आ० ।

५ विना तासा न आ० ।

भवति तथा व्यभिज्ञानपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्ररूपितमित्यलमतिप्रसङ्गेन । ततः सिद्धम् नयस्य निर्विषयत्वे साध्ये 'विकल्पत्वात्' इत्यस्य हेतोः तर्केण अनैकान्तिकत्वम् । तस्मरणेन च, इत्याह—'स्मरणम्' इत्यादि । स्मरणं सर्वं संज्ञानं 'प्रमाणम्' इति सम्बन्धः । कथम्भूतम् ? इत्याह—अधिगतार्थाविसंवादि, स्वयं स्मरणे अधिगतो योऽर्थः तदविसवादि, यदि वा, प्रमाणान्तरेण अधिगतार्थाविसंवादि कस्मिन् सति ? इत्याह—प्रामाण्ये सति । कस्याः ? अनुमायाः । क ? इत्याह 'तत्कृत' इत्यादि । तेन तर्केण कृतो निश्चितोऽर्थः अविनाभावलक्षणः तस्य आवाप् भूते एकदेशेऽपि साध्यस्वरूपे, च शब्दो भिन्नप्रक्रमः अपिशब्दार्थः । ततः किं जातम् इत्याह—'समधिगतिः' इत्यादि । अतः अस्मात् नयानां निर्विषयत्वप्रसाधकहेतोर् तर्कस्मृत्यनुमानज्ञानैः व्यभिचारित्वलक्षणात् न्यायात् समधिगतिः जीवाद्यर्थानां सप्तधाख्यैः नयौघैः ।

तैश्च तेषां समधिगतौ सत्यां यज्जातं तद्दर्शयति—  
सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नमः—  
स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक् ।

तत्त्वं शक्यपरीक्षणं सकलविनैकान्तवादी ततः,  
प्रेक्षावानकलङ्क याति शरणं त्वामेव वीरं जिनम् ॥ ५० ॥

(१) पृ० ४२३ । (२) अनैकान्तिकत्वम् । (३) नयः । (४) जीवाद्यर्थानाम् । (५) 'न स्यात् मकलवित् त्रिबालमोचरात्रेपद्रव्यपर्यायवेदी न भवेत् । क ? एकान्तवादी मुगतादि । किं कुर्वन् ? अलक्षयन् अजानन् । किम् ? तत्त्वम् किं विशिष्टम् ? अनेकान्तभाक् अनेकान्त द्रव्यपर्यायात्मता भजत्यात्मसात्करोति इत्यनेकान्तभाक् । पुन कथम्भूतम् ? शक्यपरीक्षणं शक्यपरीक्षणं सदायादिव्य-  
चच्छेदेन विवेचनं यस्य तथोक्तं लौकिकगोचरमपीत्यर्थः । कथम् ? प्रत्यक्षम्, किं कृत्वा ? अभ्यस्य भाव-  
यित्वा । किम् ? स्वमतम् सर्ववैकान्तदर्शनं निरन्वयविनाशादिभावनाबाधितचेतसोऽनेकान्ततत्त्वमधिगन्तु-  
मनलमिति कथं सर्ववैदित्वं तेषामित्यर्थः । ततः कारणान्, भो अकलक ज्ञानावरणादिकलङ्करहित,  
नमस्करवाणि । कस्मै ? तुभ्यम् । कथम्भूताय ? सर्वज्ञाय 'पुन किं विशिष्टाय ? निरस्तमनेका-  
न्ततत्त्वभावनाबलाद्विश्लेषित बाधक दोषावरणद्वयं यस्याः सा निरस्तबाधका तादृशी धीर्यस्य  
तथोक्तस्तस्मै । भूय किम्भूताय ? स्याद्वादिने । न केवलमहमेव ते नमस्कारोमि किन्तु प्रेक्षावान्  
परीक्षक सर्वोपि त्वामेव शरणं याति प्रतिपद्यते, नित्यप्रवृत्तमानविवक्षया एव वचनात् । किन्ना-  
मानम् ? वीर पश्चिमतीर्थंकर वर्धमानम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? जिनम् बहुविधविषयगहनभ्र-  
मणकारणं दुष्कृतं जयतीति जिनस्तम् "सद्यो ता० पृ० ७२ । (६) पालीभाषायां तु जिनातेर्घातो  
'जिनातीति जिन' इति निश्चयः । (७) एतच्छ्लोकानन्तरं परिच्छेदसमाप्तिं विधाय ज० वि०  
प्रती निम्नश्लोकः समुल्लिखितः, परञ्च सः तात्पर्यवृत्तिकृता अभयचन्द्रेण न्यामकुमुदकृता चाऽन्या-  
ख्यातत्वात् अर्थप्रकरणदृष्टवाऽऽङ्गतत्वाच्च प्रक्षिप्त एव भाति—' मोहेनैव (नाह नैव) परोऽपि कर्मभिरिह  
प्रेत्याभिबन्धं पुनः । भोक्ता कर्मफलस्य जातुचिदिति प्रध्वष्टवृष्टिर्जनः । कस्माच्चिनतपोभिरुद्यतम-  
नाश्चैत्यादिकं वन्दत । किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमिमे धूर्तजं वा वञ्चिता ॥" (अथ श्लोकः यशस्तिल-  
कचम्पूत्तरभागेऽपि पृ० २५७) प्रयुतिरूपेण निष्कृष्टम् ।

ततः तस्या समधिगते सकाशात् एकान्तवादी सुगतादि सकलचित्  
 सज्ञो नेति 'ज्ञायते' इत्यध्याहार । किं कुर्वन् ? अलक्षयन्,  
 अनिश्चिन्वन् । किम् इत्याह—तत्त्वं जीवादि । कथम्भूतम् ? इत्याह—  
 अनेकान्तभाक् अनेकान्तात्मकम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्याह—शङ्क्यपरी-  
 क्षणम्, अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्य । शङ्क्यं परीक्षणं सशवादिव्यवच्छेदेन स्वरूप-  
 विवेचन यस्य तत् तथोक्तम् । तदपि पृथग्वचनलक्ष्यमपि इत्यर्थः । पुनरपि कथम्भूतम् ?  
 प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षप्राप्तमपि, अत्रापि अपिशब्दो द्रष्टव्य । किं कृत्वाऽलक्षयन् ? इत्याह—  
 अभ्यस्य, किम् इत्याह—स्यमतम्, एकान्तम्, अथवा सुष्ठु अमतमज्ञान क्षणिक-  
 निरशतत्तम् । अनेन जीवादितत्त्वालक्षणे कारणमुक्तम् । ननु तल्लक्षणे किं प्रयोजनम् ?  
 इति चेदत्राह—प्रेक्षावान् इत्यादि । अत्रापि 'ततः' इत्येतदपेक्ष्यम्, ततोऽयमर्थः  
 सिद्ध—ततः तज्ज्ञानात् प्रेक्षावान् परीक्षको लोकः अकलङ्कः निर्दोषः अतत्त्वा-  
 भ्यासरहितः । स्वामेव याति शरणम् । किं विशिष्टत्वात् ? वीरम्, वीरनामानम्  
 अन्तिमं तीर्थकरदेवम् । यदि वा, विशिष्टम् अन्यजनासाधारणम् ईम् अन्तरङ्गबहि-  
 रङ्गलक्षणा श्रियं रातीति वीरः तीर्थकरसमुद्भूतः तम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? जिनम्,  
 ससारसमुद्रावर्तपरिभ्रामककर्मचक्रान्मूलकम् । न केवलं त्वामुक्तविशेषणं शरणमेव  
 यात्ययं प्रेक्षावान् नन, किन्तु नमस्करोति च । केन विशेषणेन ? इत्याह—सर्वज्ञाय  
 सकलविदे । कथम्भूताय ? इत्याह—निरस्तबाधकधिषे, निरस्ता बाधकानाम्  
 पणान्तवादिना धीर्येन । यदि वा, निरस्त बाधकं यस्या सा तथाविधा धीर्यस्य,  
 निरस्ता वा बाधिका धीर्यस्य तस्मै । पुनरपि कथम्भूताय ? स्याद्वादिने ते  
 तुभ्य नमः स्तात् नमस्कारोऽस्तु इति । 'अकलङ्काय वीराय पिनाय' इति विभक्ति-  
 परिणामेन 'उत्तर पदत्रयं योज्यमिति ।

स्याद्वादोपरवेरशेषविषयप्रस्योतिनो देशतः ,

तद्रूपप्रतिरूपणाय गदिता संज्ञेय ते सन्नया ।

किं भास्वान्निमित्तप्रकाशनपदुर्वालाग्रमप्युषकै ,

शक्तो द्योतयितुं विनोन्नतकैर्निर्मूल्य बाढ तमः ? ॥ छ ॥

'इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयसयालङ्कारे पञ्चमः परिच्छेदः' ॥ छ ॥



एव प्रका तप्रत्यक्षादिपरिच्छेदपञ्चमो नयप्रवेशो द्वितीयपरिच्छेदः समाप्तः ।



1-च्छेदे स्व-आ० । 2-वेक्ष्य आ० । 3-ततोऽप्य आ० । 4-तत् ज्ञानात् आ० । 5-कोऽकल-  
 थ० । 6-त्वा वीरनामानं आ० । 7-मतीत्य-थ०, व० । 8-मुदाय थ० । 9-दिने तुभ्य आ० ।  
 10-उत्तरपदत्रय आ० । 11-इति श्रीमत्प्रभाचन्द्रदेववि-व० । 12-इ-समाप्त व० । 13-एकान्त-व० ।

# तृतीये प्रवचनप्रवेशे

पष्ठः प्रवचनपरिच्छेदः ।



सत्यस्वच्छजल सुरन्ननिचयः सञ्ज्ञानवीचीचय ,  
युक्त्यावर्त्तहतस्वरूपकुमतप्रौढोप्रनैकक्रम ।  
स्फारागाधगभीरमूर्तिरसमध्वानो जनानन्दन ,  
स्याद्वादोदधिरेप वाञ्छितफल दद्यात् सैमासेवित ॥ १ ॥

अथ प्रमाणनयस्वरूप निरूप्य इदानीं प्रमाणविशेषस्य आगमस्य स्वरूप पृथक्  
निरूपयितुमुपक्रमते, तत्र अनेकधा विप्रतिपत्तिसद्भावात् । तद्वादौ च शास्त्रस्य मध्य-  
मङ्गलभूतम् इष्टदेवताविशेषगुणस्तोत्रमाह—

प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादक्षेणसप्तकम् ।

प्रमाणनयनिक्षेपानभिधास्ये यथागमम् ॥ ५१ ॥

प्रणिपत्य नत्वा । कम् ? वीरम् अन्तिमतीर्थकर तीर्थकरसमुदाय वा । 10

कारिकार्यं — किंविशिष्टम् ? स्याद्वादक्षेणसप्तकं । स्यादस्तीत्यादिसप्तभग्नमयो

वाद स्याद्वादः ईक्षणसप्तकं यस्य स तथोक्तं तम् । ननु  
स्याद्वादस्य ईक्षणव्यपदेश मुख्यतः, उपचारतो वा स्यात् ? न तावत् प्रथमं पक्षं,  
चक्षुष्येव मुख्यतः तैद्व्यपदेशप्रसिद्धे । द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः, यतो रूपादिप्रतिपत्ते  
हेतुभूतं चक्षु ईक्षण लोके प्रसिद्धम् । न च भगवतः तैत्प्रतिपत्तौ स्याद्वादो हेतुभूतः, 15  
तत्कर्मस्य उपचारतोऽपि ईक्षणव्यपदेशः ? अथ अपरमनेनोक्तं बोधयतीति तत्प्रति-  
पत्तेर्हेतुभूतत्वात् तैद्व्यपदेशः, तर्हि परस्यैव तैद्वीक्षणसप्तकं न भगवतः, अन्यदीयात्ततो  
अन्यस्य प्रतिपत्तोरयोगात्, तदसमीचीनम्, अन्यथा व्याख्यानात् । स्याद्वाद एव  
ईक्षणसप्तकं यस्माद् भव्यानां स तथोक्तस्तम् । यदि वा, ईक्षणसप्तकमिव ईक्षण-

(१) स्यादस्तीत्यादिसप्तभग्नमयो वाद स्याद्वाद ईक्षणानां सप्तकम् ईक्षणसप्तकम् स्याद्वाद  
एवेक्षणसप्तकं यस्माद्विनेयानां भवत्यसौ तथोक्तस्तम् । न खलु निरूपकारः प्रभावता प्रणामार्होऽग्निप्र-  
सङ्गातः । — लघी० ता० पृ० ७४ । (२) ईक्षणव्यपदेशः । (३) रूपादिप्रतीतो । (४) स्याद्वादस्य ।  
(५) स्याद्वादेन । (६) भगवान् । (७) ईक्षणव्यपदेशः । (८) स्याद्वादः ।

1-चक्रकम् थ० । 2 तदा सेवितं व०, थ० । 3 क वीर आ० । 4 अन्तिमतीर्थकरसमुदाय  
वा आ० । 5-अथ रमनेना-आ० अथ परमतेना-व० ।



सप्तकं स्याद्वादः तत् सप्तकं यस्यासौ स तथोक्तः तमिति । किं पुनः तैस्तप्तकेन  
स्याद्वादस्य साधर्म्यं येनैवमुच्यते इति चेत्; उपदेशाद्यनपेक्षाऽर्थज्ञानजनकत्वम् । यथैव  
हि ईक्षणात् परोपदेशलिङ्गान्वयव्यतिरेकनिरपेक्षं रूपादिज्ञानं जायते तथा स्याद्वादो  
भगवतः केवलज्ञानमिति । तमित्यम्भूतम् इष्टदेवताविशेषे प्रणिपत्य वक्ष्यमाणलक्षण-  
लक्षितान् प्रमाणनयनिक्षेपान् अभिधास्ये । कथम् ? यथागमम्, आगमा-  
नतिक्रमेण । अनेन तत्र आत्मनः स्वातन्त्र्य परिहृतम् ।

तत्र प्रमाणादीनां समासतो लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः उपायो न्यास इष्यते ।

नचो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥ ५२ ॥

विवृतिः—ज्ञानं प्रमाणं कारणस्याप्यचेतनस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् असन्निकृष्टे-  
न्द्रियार्थवत् । विषमोऽयमुपन्यासः अन्निकृष्टस्य तदकारणत्वादिति; नैतत्सारम् ;  
अर्थस्य तदकारणत्वात् तस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् अर्थस्य विषयत्वात् । न हि  
तत्परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतामात्मसात्कुर्यात् प्रदीपस्येव घटादिः ।

ज्ञानमेव प्रमाणमेव इत्याद्यवधारण सर्वत्र द्रष्टव्यम् । कस्य तत् ।

इत्याह—आत्मादेः । आदिशब्देन पुत्रलादिपरिग्रहः । ननु ज्ञाना-  
र्थयोः तादात्म्यादिसम्बन्धासम्भवात् कथं तच्चरस्य इत्युच्यते इति  
चेत्, न, तदभावेऽपि विषयविषयिभावलक्षणसम्बन्धसम्भवात् । तदभावे 'सोऽपि

(१) ईक्षणसप्तकेन । (२) ग्रन्थकर्तुः । (३) "इष्यते अभ्युपगम्यते सकलविप्रतिपत्तीनां  
प्रायेव निरस्तत्वात् । किम् ? प्रमाणम् । किञ्चिदपि ? ज्ञानं जानाति ज्ञापतेऽनेन ज्ञप्तिमात्र  
वा ज्ञानमित्युच्यते, द्रव्यपर्याययो भेदाभेदविशेषाया कर्त्रादिसाधनोपपत्तेः । कस्य ? आत्मादेः  
आत्मा स्वरूपमादिर्यस्य बाह्यार्थस्य स आत्मादि तस्य स्वार्थस्य ग्राहकमित्यर्थः । अथवा आत्मा  
चिदद्रव्यमादिशब्देन आवरणानां क्षयोपशम क्षयवान्तरङ्ग बहिरङ्ग पुनरिन्द्रियानिन्द्रिय गृह्यन्,  
तस्मादुपजायमानमित्यध्याहारः । तथा इष्यते । क ? नयः । किं रूपः ? अभिप्राय विवक्षा । कस्य ?  
ज्ञानं ध्रुवस्थितिः । तथा इष्यते । क ? न्यायो निक्षेपः । किञ्चिदपि ? उपाय अधिगममहत्तुः नामा-  
दिरूपः । अर्थस्य स्वतः सिद्धत्वात् किमेतं प्रमाणादिभिरित्याद्यङ्गाह—युक्तीत्यादि । युक्तिर्न प्रमाणन  
यनिर्वाच्यैवार्थस्य जीवाद् परिग्रह इति तिनं स्वतः इति ।"—लघो० ता० पृ० ७५ । तुलना—"ज्ञानं प्रमा-  
णमित्यादौ नो ज्ञानोपपत्तिः ।"—सिद्धिबि०, टो० पृ० ५१८ । प्रमाणसं० पृ० १२७ । उद्धृत्यम्—  
'ज्ञानं प्रमाणमित्याह' ।—धवलाटी० पृ० १७ । (४) तुलना—"ज्ञातृणामभिमुख्यं तन् नयास्ते द्रव्य-  
पर्यायन, तत्र द्रव्यमननपचपद भेदात्मका पयया ।"—सिद्धिबि०, टो० ५१७ । (५) तुलना—  
'ज्ञानं प्रमाणं नाज्ञानमिन्द्रियार्थस्य निरूपार्थं' ।—प्रमाणवा० मनोरथ० पृ० ३ । लघो० टो० पृ० १३२ ।  
"ज्ञानमवस्थापयारणान् सन्निकृष्टादिगुणविद्वानात्मनो व्युदासः ।"—सिद्धिबि०, टो० पृ० ५१८ । (६)  
तुलना—"नापात्रादौ वारणं परिच्छिद्यत्वानमावन् ।—परोक्षामु० २१६ । प्रमाणमी० १११२५ । (७)  
ज्ञानम् । (८) अर्थस्य । (९) तादात्म्यादिसम्बन्धाभावात् । (१०) विषयविषयिभावोऽर्थः ।

१—स्मितिः व० । २—ज्ञेन स्यात्ता—ज्ञा० । ३ अनेन अग्रम—ग्र० । ४ उच्यते व० वि० ।

५—स्मृतेर्न व० ।

कथम् ? इत्यपि चार्त्तम्, तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावेऽपि प्रदीपार्थयो प्रकाश्यप्रकाशक-  
भाववत् ज्ञानार्थयो विषयविषयिभावस्य समर्थितत्वात् । ननु च आत्मादेरभावात्  
किञ्चित्तस्य ज्ञानम् ? इत्यपि श्रद्धामात्रम्, तस्य विषयपरिच्छेदे<sup>१</sup> प्रवन्देन प्रसाधि-  
तत्वात् । यदि वा, आत्मा स्वरूपम्, आदिशब्देन अर्थपरिग्रह, तेन स्वार्थयो  
इत्ययमर्थ सिद्धो भवति । प्रसाधितञ्च स्वपरन्वयसायात्मकत्वं ज्ञानस्य प्रपञ्चत स्वस- ५  
वेदनसिद्धौ<sup>३</sup> इत्यल पुनस्तत्त्वसाधनप्रयासेन । अथ को निक्षेप ? इत्याह—‘उपाय’  
इत्यादि । उपायः कारणम् आत्मादिज्ञानस्य नामादि न्यासो निक्षेप इष्यते ।  
नयो ज्ञातुरभिप्रायः, प्रमाणविषयीकृतेऽर्थे एकाग्रविषयो ज्ञातुः प्रमातुरभि-  
प्रायः । किं फलमेतेषा स्वरूपव्यावर्णने ? इत्याह—‘युक्तिः’ प्रमाणादिलक्षणाया  
अर्थस्य परिग्रहः स्वीकार । उपलक्षणमेतत् तेन अन्तर्यपरिहारोऽपि गृह्यते । 10

कारिका चितृष्यन्नाह—‘ज्ञान प्रमाणम्’ इत्यादि । प्रमाण धर्मि ज्ञानमिति साध्यम्,  
‘प्रमाणत्वान्यथानुपपत्ते’ इति हेतुरत्र द्रष्टव्य । ननु सन्निकर्षादिना अय  
विवृत्तिरन्यायानम्—  
हेतुर्व्यभिचारी, तस्याऽज्ञानरूपस्यापि अव्यपदेश्याव्यभिचारिव्यवसा-  
यात्मकज्ञानजनकत्वेन प्रमाणत्वसम्भवात् इत्याह—‘कारणस्यापि’ इत्यादि । कारण-  
स्यापि यथोक्तज्ञानजनकस्यापि सन्निकर्षादेरचेतनस्य सत् प्रामाण्यमनुपपन्नम् । अत्र 10  
दृष्टान्तमाह—असन्निकृष्टेन्द्रियार्थान्त । सन्निकर्ष सन्निकृष्ट तच्च इन्द्रियञ्च अर्थञ्च  
सन्निकृष्टेन्द्रियार्था, विवक्षितेभ्यस्तेभ्य अन्ये असन्निकृष्टेन्द्रियार्थाः तेषामिव तद्वत् ।  
यद्वा, असन्निकृष्टौ च तो इन्द्रियार्था च तयोरेव तद्वत् । यद्वा, प्रयोग—विवादगोचरा-  
पन्न सन्निकर्षादि अप्रमाणम् अचेतनत्वात् अविनक्षितसन्निकर्षादिवत् । यथा च अचेत  
नस्य सन्निकर्षादे प्रामाण्यनोपपद्यते तथा प्रत्यक्षपरिच्छेदे<sup>२</sup> प्रपञ्चत प्रतिपादितम् । 0

अत्राह पर—‘विषयः’ इत्यादि । नियमः दार्ष्टान्तिकेन समानो न भवति  
उपन्यासो दृष्टान्तरूप । तदेव वैषम्य दर्शयति—‘असन्निकृष्टस्य’ इत्यादिना ।  
असन्निकृष्टस्य इन्द्रियार्थलक्षणस्य वस्तुन तदकारणत्वात् विवक्षितज्ञानाहेतुत्वात् ।  
एतदुक्तं भवति—यदि नैयायिकादि चेतनत्वेन कश्चित् प्रामाण्यमभ्युपगच्छति तर्हि दृष्टान्ते  
चेतन्याभावे यथा प्रामाण्याभाव तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि स्यात्, यावता ज्ञानकारणत्वेन 25  
तदभ्युपगतम् । तत्कारणत्वञ्च दृष्टान्ते यद्यपि नास्ति तथापि दार्ष्टान्तिके अस्ति इति

(१) आत्मादे । (२) पु० ३४३ । (३) पु० १७६ । (४) तुलना— एव किमटठ णवपरूवण  
मिदि ? प्रमाणनयनिलक्षणार्थो नाभिसमीक्ष्यते । युक्तञ्चायुक्तवद भाति तस्यायुक्तञ्च युक्तवत् ॥ ‘-  
घवलाटो० पु० १६ । (५) तुलना— सम्यग्ज्ञान प्रमाण प्रमाणत्वा यथानुपपत्त । —प्रमाणप० पु० ५१ ।  
प्रमेयक० पु० ७ । स्वा० २० पु० ४१ । प्रमेयर० १।१ । प्रमाणमो० पु० २ । (६) तुलना— न ह्यचेत  
नोऽयं स्वप्रमितो करण घटादिवत् । —प्रमाणप० पु० ५१ । (७) पु० २९ । (८) प्रामाण्य स्वीकृत  
न चेतनत्वेन नाप्यचेतनत्वेनति भाव ।

१-बोनामर्ष व० । २-ज्ञानकस्यापि आ० ।

सिद्धमेतस्य प्रामाण्यमिति । अत्र दूषणमाह—‘नैतत्सारम्’ इत्यादि । एतत् ज्ञानकारणत्वेन प्रमाणत्वं न सारम् । कुत एतदित्याह—‘अर्थस्य’ इत्यादि । अर्थस्य ज्ञानविषयस्य घटादेः तदकारणत्वात् स्वभाविह्यज्ञानाजनकत्वात् । एतदपि कुतः इत्याह—‘तस्य’ इत्यादि । तस्य घटादिज्ञानस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् । अर्थनिमित्तत्वं कुतो नेति चेदत्राह—अर्थस्य विषयत्वात् परिच्छेद्यत्वात् । ननु ‘विषयश्च स्यात् कारणञ्च’ इति कोऽनयोर्विरोधः ? इत्याह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न तस्य ज्ञानस्य परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतां ज्ञानहेतुताम् आत्मसात्कुर्यात् । अत्र परप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—प्रदीपस्येव घटादिरिति । अत्रायमभिप्रायः—यथा प्रदीपप्रकाशो घटादिः न प्रदीपकारणतामात्मसात्करोति तथापि प्रदीपेन प्रकाश्यते तथा ज्ञानप्रकारयोऽप्यसौ तत्कारणतामात्मसात्कुर्वन्नपि तत्प्रकाश्य इति । अनेन परैपरिकल्पितः “नाकारणं विषयः” [ ] इति नियमो निरस्तः; प्रदीपं प्रत्यकारणस्यापि घटादेः तत्प्रकाशनविषयतोपलब्धेः ।

किञ्च, ‘नाकारणं विषयः’ इत्यभ्युपगच्छता किं कारणमेव विषय इत्यभिप्रेतम्, कारणं विषय एव इति वा ? प्रथमपक्षे विज्ञानस्वरूपसंवेदनानुपपत्तिः । नहि स्वरूपं स्वस्यैव कारणम् ; स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । द्वितीयपक्षे तु चक्षुरादेरपि विषयत्व-  
प्रसक्तिः कारणत्वाविशेषात् । किञ्च, अर्थस्य ज्ञानं प्रति कारणत्वे सिद्धे अयं नियमः परिकल्प्येत, असिद्धे वा ? न तावदसिद्धे; अतिप्रसङ्गात् । अथ सिद्धे; कुतस्तत्सिद्धिः—  
तत एव ज्ञानात्, अन्यतो वा ? न तावत् तत एव; यतः—

अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः ।

अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिघट ॥ ५३ ॥

(१) सन्निकर्षस्य । (२) घटाद्यर्थः । (३) ज्ञानं प्रति हेतुताम् । (४) ज्ञानेन प्रकाश्यो भवतु । (५) सौगत । (६) “कारणीभावाद् हि विषयीभाव उच्यतेऽप्रमाणिनं सम्बन्धः । तथाहि—रूपादिविषयश्च ध्रुवो विज्ञानोत्पत्तौ सहकारिता प्रतिपद्यमानो विषयीभवतीत्युच्यते । द्विविधश्च महत्कारणः परस्परकारको वा यथा—‘एवार्थक्रिया वा ययोर्मिपितमायेण रूपं गृह्यते । उभयस्यापि विज्ञानस्य कारणविशेष एव विषय उच्यते ।”—तत्त्वसं पं० पृ० ६८३ । (७) तुलना—“तथाहि—किं कारणं विषय एव, उत कारणमेव विषय ? प्रथमपक्षे रूपादिसविदा चक्षुरादपि विषयो भवेत्” द्वितीयपक्षे-पि भविष्यति रोहिण्युदय” उचितकोदयादतीतसपायामिव इत्यस्यानुमानस्य भावो रोहिण्युदयोऽकारणत्वादिपयो न स्यात्”—सम्प्रति० टी० पृ० ५१० । (८) विज्ञानस्वरूपसंवेदनं हि तदा स्याद् यदा विज्ञानस्य स्वरूपं स्वसंवेदनं प्रति कारणं स्यात् । न चेतदस्ति । (९) “विद्यात् जानीयात् । किम् ? ज्ञानम् । कथम् ? अयमर्थ इति । पुनर्न विद्यात्, काम् ? उत्पत्तिम् बहमस्मादुत्पन्नमिति स्वजन्म । नस्मान् ? अर्थतः घटादेः मयाज्ञात् । इदञ्च प्रमेयं प्रतीतिसिद्धमेव, अन्यथा यद्यर्थात् स्वोत्पत्तिं ज्ञान विद्यात् तदा वादिप्रतिवादिनोर्विवादो ज्ञानमयादुत्पन्नं न वेति विप्रतिपत्तिः; किन् ? कुलालादिघटादिवत्, यथा कुलालादेः मयाघाद् घटादेर्न्यमि प्रतीतिसिद्धे कस्यापि न विवादोऽस्ति तथाऽप्यां ज्ञानजन्यमपि विवादो मा भूत्, अस्मि चाप्य विवादः स्यादादिनां ज्ञानजन्यमतीति ।”—सूचो० ता० पृ० ७६ ।

१-स्यान्नामा-थ० । २-न दोष-आ०, थ० । ३-कारणहेतुत्व विषय थ० । ४-परिकल्पेत आ०, व० ।

विवृतिः-अर्थं परिच्छिन्दद्विज्ञानम् आत्मनः कारणान्तरमपर सूचयत्येव । नहि ततः स्वभावलाभं प्रति व्याप्रियमाणस्य तत्परिच्छित्तिः अनुत्पन्नात्वात् । उत्पन्नास्यापि न कारणे व्यापारः करणादिवत् । यदि कारणकार्यभावम् आत्मार्थयोर्वि . . . . .

यनेनोल्लेखेन ६

कारिकाय -

अर्थमेव विद्यात्, न उत्पत्तिम् आत्मलाभमर्थतो विद्यात् । अथ तत् तत् तौ वेत्ति इत्युच्यते, अत्राह-‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा अन्येन तत्परिज्ञानप्रकारेण न विवादः स्यात् । यस्य यस्मादुत्पत्तिः प्रत्यक्षत प्रतीयते न तस्य तदुत्पत्तौ कस्यचिद् विवादः यथा कुलालाद् घटस्य, विवादश्च ज्ञानस्य अर्थादुत्पत्तौ, तस्मात् सां तस्यै प्रत्यक्षतो न प्रतीयते इति ।

10

अर्थं प्रमाणान्तरात्तस्य अर्थकार्यता प्रतीयते-ननु तर्किक प्रत्यक्षरूपम्, अनुमानरूप वा स्यात् ? यदि प्रत्यक्षरूपम्, तर्किक ज्ञानविषयम्, अर्थविषयम्, उभयविषय वा स्यात् ? तत्राद्यधिकल्पद्वये तयोः कार्यकारणभावप्रतीतिरनुपपन्ना, एकैकविषयज्ञानप्राप्तत्वात्, ययो एकैकविषयज्ञानप्राप्तत्वं न तयोः कार्यकारणभावप्रतीतिः यथा रूपरसयोः धूमपेयकयोर्वा, एकैकविषयज्ञानप्राप्तत्वाच्च अर्थज्ञानयोरिति । अथ उभयविषयप्रत्यक्षाद् तन्प्रतीतिः, तन्न, त्रिधाविधप्रत्यक्षस्य अस्मादृशमैसम्भवात् ।

18

किञ्च, तदुभयविषय प्रत्यक्षं नाभ्यामुत्पन्नं सत् तयोः कार्यकारणभाव प्रत्येति, अनुत्पन्नं वा ? न तावदनुत्पन्नम्, आद्यज्ञानस्यापि अर्थादनुत्पन्नस्य अर्थप्राप्तकत्वप्रसङ्गात् । अथ उत्पन्नम्, तर्हि तस्यापि तदुत्पत्तिः अपरस्मात् तत् उत्पन्नाज्ज्ञानात् प्रत्येतव्या तस्याप्यन्यस्मादित्यनवस्था । आद्यात् द्वितीयस्य, द्वितीयाच्चाद्यस्य तैप्रतीतौ अन्योन्याश्रयः । तन्न प्रत्यक्षरूपाव्यमाना-न्तरात् ज्ञानस्य अर्थकार्यतासिद्धिः । नापि अर्थाश्रयव्यतिरेकानुविभाजित्वलक्षणानुमानरूपात्, तस्य अनन्तरकारिकाया निराकरिष्यमाणत्वात् ।

20

कारिका विवृण्वन्नाह-‘अर्थम्’ इत्यादि । अर्थं घटादिक परिच्छिन्दद् विज्ञानम् आत्मनः स्वस्य कारणान्तरमपर परपरिकल्पितादर्थलक्षणकारणाद् अपरमेव चक्षुरादिलक्षण कारणान्तर सूचयति । कुत एतदित्याह-

विवृतिव्याख्यानम्-

26

(१) ज्ञानम् । (२) अर्थात् । (३) उत्पत्तिम् । (४) उत्पत्तिः । (५) ज्ञानस्य । (६) तुलना- किञ्चायकायतया ज्ञान प्रत्यक्षत प्रतीयते प्रमाणान्तराद्वा ? प्रत्यक्षतश्चेत्, किं तत एव प्रत्यक्षान्तराद्वा ? अथ प्रमाणान्तरात्तस्यायकायता प्रतीयते, तर्किक ज्ञानविषयमथविषयमुभयविषय वा स्यात् ? -प्रमेयक० पृ० २३२ । (७) ज्ञानाश्रयो । (८) ज्ञानार्थोभयप्राहि । (९) उभयाभ्या ज्ञानार्थाभ्याम् । (१०) ताभ्यामथज्ञानाभ्यामुत्पत्तिः । (११) उभयात् । (१२) तदुत्पत्तिप्रतीतिः ।

1 विद्यात् अथ श० । 2-स्मात्तस्य श० । 3-प्राप्तकयोर्वा ज्ञा० । 4-मभावात् श० । 5-वात्तदुभय-द० । 6-ज्ञातस्यापि श० ।



सत्येव ज्ञानस्योत्पत्तेः तदभावे चाऽनुत्पत्तेः । प्रयोगः—यद् यस्यान्वयव्यतिरेकावनुकरोति तत्तस्य कार्यम् यथा अग्नेर्धूमः, अन्वयव्यतिरेकावनुरोति च ज्ञानमर्थस्य' इत्याशङ्क्याह—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं विदः ।

संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यताम् ॥ ५४ ॥

विवृतिः—बुद्धेरेव व्यभिचारो नार्थस्य कथमव्यभिचारिणोऽर्थस्य अन्वय- ८  
व्यतिरेकावनुकुर्यती व्यभिचरेद्याम् ? ततः संशयादिज्ञानमहेतुकं स्यात् । तिमि-  
राशुभ्रमणनौयानसंक्षोभादिहेतुत्वे कैमर्थमर्थः पुष्पाति इति मृग्यम् । सत्यज्ञानेऽपि  
तिमिराद्यभावस्य इन्द्रियमनोगतस्य कारणत्वात् । ततः सुभाषितम्—'इन्द्रियमनसी  
कारणं विज्ञानस्य अर्थो विषयः' इति ।

अर्थसद्भावे भावोऽन्वयः तदभावेऽभावो व्यतिरेकः ताभ्यामर्थश्चेद् यदि 10

कारिणो—

कारणं विदो ज्ञानस्य । अत्र दूषणमाह—'संशय' इत्यादि । संशयः

आदिर्यस्याः सा चासौ चित् च तस्य उत्पाद आत्मलाभः कौत-  
स्कुत इत्येवमीक्ष्यतां पर्यालोच्यताम् ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—'बुद्धेः' इत्यादि । बुद्धेरेव व्यभिचारः अन्यदेशादि-

विशिष्टस्यार्थस्य अन्यदेशादिना ग्रहणलक्षणो नार्थस्य, 'व्यभिचारः' 15

इति सम्वन्धः । स हि यथार्थमयथार्था वा अन्वयव्यतिरेकावनु-

(१) ज्ञानमर्थकार्यम् अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । (२) 'चेदपि कारणं कथ्यते । क ?

अर्थो विषय । कस्याः ? विदो ज्ञानस्य । काभ्याम् ? अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्, सति भवनमन्वय  
अन्त्यभवन व्यतिरेक ताभ्याम् । तथाहि—ज्ञानमर्थकारणक तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादिति । तदा  
कौतस्कुत स्यात्, युतस्कुत आगतः कौतस्कुत । क ? संशयादिविदुत्पाद संशयविपर्ययज्ञानोत्पत्ति ।  
इत्येवमीक्ष्यता तद्वादिभि स्वमनसि पर्यालोच्यताम् अर्थाभावस्य स संशयानुत्पत्ते । न हि स्थानुपसृतात्मक  
केशोण्डुकस्वभावो वार्यस्तज्ज्ञानोत्पत्ती व्याप्रियते, ततो भागासिद्धमर्थान्वयव्यतिरेकानुविधानं ज्ञानस्येति ।"

—सूची० ता० पृ० ७६ । (३) अत्राय पूर्वपक्ष—'अर्थस्य च ज्ञानजनकत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामवग-  
म्यते । यदा हि देवदत्तार्थी कश्चिद् व्रजति तद्गृहम् । तत्रासन्निहितं चैनं गत्वापि न स पश्यति ॥

क्षणान्तरे स आयान्तं देवदत्तं निरीक्षते । तत्र तत्सदसत्त्वेन तथात्वमेति तद्विषयः ॥ अनागते देवदत्ते न  
देवदत्तज्ञानमुदपाति तस्मिन्नागते तदुत्पन्नमिति तद्भावमावित्वात्तज्जन्यत्व तदवसीयते ।"—न्यायम० पृ०

५४४ । (४) "तिमिरमक्षोर्विप्लवः, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम् । आशुभ्रमणमलातादेः, मन्दं हि  
भ्राम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम् । एतच्च विषयगत  
विभ्रमकारणम् । नावा यमन नौयानम् । गच्छन्त्या नावि स्थितस्य गच्छदुक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यते इति

यानग्रहणम् । एतच्च बाह्याश्रयस्थित विभ्रमकारणम् । सक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम् । वातादिषु हि  
क्षोभ गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते । एतच्चाध्यात्मगत विभ्रमकारणम् ।"—न्यायवि० टी०

पृ० १६ । (५) उद्धृतमिदम्—'इन्द्रियमनसी विज्ञानकारणमिति वचनात् ।"—न्यायवि० वि० पृ० ३२  
A । "तस्मादिन्द्रियमनसी विज्ञानस्य कारणं नार्थोऽपीत्यकलकैरपि"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३३० ।

1—विचिदुत्पा—आ० । 2 किमर्थमर्थं ज० वि० । 3 चित् आ० । 4—शिष्टस्यान्यदे—व० ।

कार्यं बुद्धिं जनयत्येव । “सर्वं सालम्बनं ज्ञानम्” [ ] इत्यभ्युपगमात् ।  
 केशोण्डुकादिज्ञानस्यापि अक्षिपक्षमादिनिबन्धनत्वादिति । पूर्वार्द्धं व्याख्यातम् । उत्तर-  
 मुत्तरार्द्धं व्याचक्षाण प्राह—“कथम्” इत्यादि । कथं केन प्रकारेण अव्यभिचारिणोऽर्थस्य  
 अन्यव्यतिरेकावनुवर्तते बुद्धिः अर्थं व्यभिचरेन्नम ? नैव व्यभिचरेत् । ययैव हि  
 5 व्यवस्थितोऽर्थः । तथैव गृहीयात्, तत आत्मलाभलक्षणत्वादव्यभिचारस्य । व्यभिचरति  
 च । अतो यथा अन्यदेशादिसंज्ञाद्वयस्य धर्मस्यासन्न एव ग्रहणं तथा धर्मिणोऽव्यसन्न एव  
 ग्रहणसम्भवात् विपरीतस्यात्यैकान्तः श्रेयान्, असत्त्व्यातेरपि प्रसङ्गात् इत्यभिप्रायः ।  
 एतदेव दर्शयन्नाह—“ततः” इत्यादि । ततः तस्माद् बुद्धेर्व्यभिचारात् संशयादिज्ञानमहे-  
 10 तुकम्, अर्थलक्षणकारणशून्यं स्यात् धर्मवत् धर्मिणोऽपि असन्न एव प्रतिभाससंभवात् ।  
 ईदृश्यते हि तावद् अक्षिपक्षमाद्यपायेऽपि तैमिरिकस्य केशोण्डुकादिज्ञानम् ।

ननु केशोण्डुकादिज्ञान भ्रान्तत्वाद् अर्थापायेऽपि उत्पद्यते, नान्यद् विपर्ययात् ।  
 नचान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचार अतिप्रसङ्गात्, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्,  
 परानिरपेक्षतया हि स्वपरप्रकाशात्मकत्वं ज्ञानस्य स्वरूपं न पुनः सत्यत्वमसत्यत्वं वा ।  
 तत्र च यथा सत्याभिमतं ज्ञानं स्वपरप्रकाशात्मकं तथा केशोण्डुकादिज्ञानमपि । एतावास्तु  
 15 विरोधः—किञ्चित् सत्परं प्रकाशयति सदादसमभावात्, “किञ्चित्तु असद्” विसवादात् ।  
 न चैतावता जात्यन्तरत्वेन अनर्थोऽन्यस्य व्यभिचाराभावो वा, अन्यथा ‘प्रयत्नान्तरी-  
 यक’ शब्दः कृतकत्वाद् घटादिवत् इत्यादेरपि अप्रयत्नान्तरीयकैः विशुद्धनकुसुमा-

(१) यथा चिरकालीनाध्ययनादिशिक्षणस्योत्थितस्य नीलमेहितादिमुष्णविशिष्टं केशोण्डुकाख्यं  
 वक्षिणमनाम परिस्पृणति, अथवा करसमुदितलोचनरश्मिषु येयं केशपिण्डावस्था स केशोण्डुकः ।—  
 शास्त्रदी० युक्ति० पृ० ११ । केशोण्डुका नाम पक्षिणं ये केशमूला युताटयन्ति—‘शिक्षासमु० पृ० ७० ।  
 “तैमिरिकाणामिव केशोण्डुकाद्याभासविनाप्यथसत्वादिति ।—मध्यान्तवि० पृ० १५ । ‘केशोण्डुकं यथा  
 मिथ्या गृह्यन्ते तैमिरज्वरं’—सञ्ज्ञावृत्तार० पृ० २७४ । (२) तुलना—कामलाद्युपहतचक्षुषो हि न  
 केशोण्डुकज्ञानेऽप्यकारणत्वेन व्याप्रियते—तत्र हि केशोण्डुकस्य व्यापारो नयनपक्षमादेर्वां कामलादेर्वां  
 गत्यन्तराभावात् ? न तावदाद्यविकल्पः, न खलु तज्ज्ञानं केशोण्डुकलक्षणं सत्यं भवति भ्रमाभावः  
 प्रसङ्गात् । नयनपक्षमादेस्त्वरकारणत्वे तस्यैव प्रतिभासप्रसङ्गात् गगनतलावलम्बितया पुर स्थतया केशो-  
 ण्डुकाकारतया च प्रतिभासो न स्यात् । न ह्यन्यदन्यत्रान्यथा प्रत्येतुं शक्यम् । अथ नयनकेशा एव तत्र  
 तथाऽस्त्योऽपि प्रतिभासन्ते तर्हि तद्वह्नितस्य कामलिनीऽपि तत्प्रतिभासाभावः ।—प्रमेयक० पृ० २३३ ।  
 (३) ‘स्वपरग्रहणलक्षणं हि ज्ञानम्’ तत्र च यथा सत्याभिमतज्ञानं स्वपरग्राहकं तथा केशोण्डुकादि-  
 ज्ञानमपि । एतावास्तु विरोधः किञ्चित्सत्परं गृह्णाति सदादसमभावात्, किञ्चिदसद्विसवादात् ।—  
 प्रमेयक० पृ० २३५ । (४) सत्यज्ञानम् । (५) असत्यज्ञानम् । (६) सत्यत्वं-असत्यत्वंग्रहणमात्रेण ।  
 (७) सत्यास्त्यज्ञानयोः ।

1—यत् व० । ३ ‘ज्ञानम्’ नास्ति श्र० । ३ इत्युप-व० । 4—यथादि-श्र० । 5—सम्बन्धस्य श्र० ।

६ दृश्यते हि लोचनपक्षमाद्यपायेऽपि श्र० । 7 नचान्यस्यस्य व्यभिचारोऽस्ति-व० । 8 स्वरूपपरप्रका-  
 शः । 9 विसवादासमभावात् श्र० ।

दिभिर्व्यभिचारो न स्यात्, तात्वादिदण्डादिजनितात् शब्दघटादेः तद्विपरीतस्य विद्युदादे-  
रन्यत्वात् । न चान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात् । तथाप्यत्र व्यभिचारे  
प्रकृतेऽपि सोऽस्तु विशेषाभावात् ।

‘तिमिर’ इत्यादिना परमतमाशङ्कते—तिमिरादीना द्वन्द्व, पुन’ आदिशब्देन  
बहुव्रीहिः । आदिशब्दश्च प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तेन एकत्र आदिशब्देन कामलादि-  
सकलेन्द्रियदोषपरिग्रहः, अन्यत्र दृढप्रहारादिस्वीकारः, इतरेत्र अश्चयानाद्युपादानम्,  
अपरेत्र कोद्रचाद्युपयोगग्रहणम् । तद्वेतुत्वे अङ्गीक्रियमाणे कमर्थं किं प्रयोजनम् अर्थः  
पुष्पाति इति एवं मृग्यं न कञ्चिदित्यर्थः । कुत एतदित्यत्राह—‘सत्यज्ञानेऽपि’ इत्यादि ।  
न केवलमसत्यज्ञाने अपि तु सत्यज्ञानेऽपि तिमिराद्यभावस्य, कथम्भूतस्य ? इन्द्रिय-  
मनोगतस्य । इन्द्रियगतस्य तिमिराद्यभावस्य, मनोगतस्य सङ्क्षोभाद्यभावस्य, इन्द्रि-  
यमनोगतस्य आद्युभ्रमणाद्यभावस्य कारणत्वात् इन्द्रियादिकमेव च तद्विविक्तं तद्वैभाव  
इति मन्यते, भाषान्तरस्य भावत्वादभावस्य । यथा च अन्यत एवोत्पन्न सशयाविज्ञानम्  
असतोऽकारणस्य अर्थस्य ग्राहक तथा सतः सत्यज्ञानमिति सुरेरभिप्रायः । उपसहार-  
माह—‘तत्’ इत्यादि । यस्मादुक्तप्रकारेण अर्थस्य विज्ञानं प्रति कारणत्वं नोपपद्यते ततः  
सुभाषितम्—इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य अर्थो घटादिविषयः परिच्छेद्य इति ।

ननु च इन्द्रियार्थयोः सतोरपि सन्निकर्षव्यतिरेकेण बुद्धेरनुत्पत्ते तस्मिन्  
सत्येव उत्पत्ते तैरेव तैत्र साधकनमत्वोपपत्तेः नेन्द्रियमनसी तत्कारणम् इत्याशङ्का-  
पनोदार्थमाह—

संनिधेरिन्द्रियार्थानामन्वयव्यतिरेकयोः ।

कार्यकारणयोश्चापि बुद्धिरध्यवसायिनी ॥ ५५ ॥

विवृतिः—सन्निकर्षादयः कारणान्तरादुत्पन्नया बुद्ध्याऽध्यवसाययन्ते न च तैर्बुद्धिः  
प्रागनध्यवसायात्, अन्यथा कैमर्थक्याद् बुद्धेरन्वेपणम् ? आत्ममनइन्द्रियार्थानां

(१) तिमिरे । (२) आद्युभ्रमण । (३) नोयाने । (४) सक्षोभे । (५) तिमिरादिरहितम् ।  
(६) तिमिराद्यभाव । (७) इन्द्रियादिदोषात् । (८) तुलना—‘अनेन (केशोण्डुकज्ञानेन) व्यभिचा-  
रात् सशयज्ञानेन च । न हि तदर्थं सत्येव भवति अत्रान्तत्वानुपज्ञात्, तद्विषयभूतस्य स्थानुपुरुषलक्ष-  
णार्थद्वयस्यैकत्र सद्भावसम्भवाच्च ।”—प्रमेयक० पृ० २३४ । (९) अकलकूदेवस्य । (१०) सन्निक-  
र्षस्यैव । (११) बुद्धौ । (१२) ‘अध्यवसायिनी निश्चायिका । का ? बुद्धिर्ज्ञानमेव । कस्य ? सन्निधेरपि  
सन्निकर्षस्यापि न केवलमर्थस्योत्पत्तिश्चार्थः । केयाम् ? इन्द्रियार्थानाम्, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि  
अर्थाश्च रूपादय तेयाम् । न केवलं सन्निधेरपि तु अन्वयव्यतिरेकयोश्च सन्निकर्षस्य भावाभावयोश्च ।  
तथा कार्यकारणयोश्च । कार्यं सन्निकर्षः कारणमिन्द्रियादि । तयोश्च बुद्धिरेवाव्यवसायिनी । तत्  
संव प्रमाणं न सन्निकर्षादि तस्य प्रमेयत्वात् ।”—संघी० ता० पृ० ७७ ।

1 न किञ्चिदि-आ०, य० । 2 सद्भूतलोपाद्यभा-य० । 3 अर्थग्राह-य० । 1-कया बुद्धे-ज० वि० ।  
5 आत्मनो मनसा करणानामतीन्द्रियाणाम् ई० वि० ।



कारणानामतीन्द्रियाणां सन्निकर्षो दुस्वबोधः । कथं तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति चिन्त्यम् ? प्राग्विज्ञानोत्पत्तेः अर्थमनवबुद्ध्यमानाः कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः ? उत्पन्नं हि विज्ञानमर्थस्य परिच्छेदकं न तत्कारणतायाः । आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ।

कार्यकारणयोश्चापि इत्यपिशब्दः सन्निधेः इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, ततोऽयमर्थो जायते—न केवलमर्थस्य किन्तु सन्निवेरपि सन्निकर्षस्यापि बुद्धिर-

कारिकार्यः—

ध्यवसायिनी । केषां तस्यै इत्याह—इन्द्रियार्थानाम् । तथा अन्वयव्यतिरेकयोः सन्निधेर्भावाभावयोः बुद्धिः अध्यवसायिनी । न केवलमनयोः अपितु कार्यकारणयोश्च, कार्यं सन्निकर्षः कारणम् इन्द्रियादि । यदि वा, कार्यं ज्ञानम्, कारणं सन्निकर्षः तयोश्च बुद्धिरध्यवसायिनी । एतदुक्तं भवति—सन्निकर्षाविसङ्गावेऽपि यावद् बुद्धिर्नोत्पद्यते तावत्तस्य तद्व्यवसायव्यतिरेकयोः तत्कार्यकारणभावस्य अन्यस्य वा न व्यवस्था, बुद्धिरुत्पन्नावैफल्यप्रसङ्गात् । उत्पन्नायां तु तस्याम् अन्यापेक्षामन्तरेणैव तत्त्वव्यवस्थेति, अतः सर्वै साधकतमत्वात् प्रमाणं न सन्निकर्षादि ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘सन्निकर्ष’ इत्यादि । सन्निकर्ष आदिर्येषाम् अन्वयव्यतिरेकादीनां ते तथोक्ताः, कारणान्तरात् इन्द्रियमनोलक्षणाद् उत्पन्न-

विवृतिव्याख्यानम्—

या बुद्ध्या अध्यवसायन्ते । न च नैव तैः सन्निकर्षादिभिर्बुद्धिः अध्यवसायते । कुत एतदित्याह—‘प्राग्’ इत्यादि । प्राक् बुद्ध्युत्पादात् पूर्वम् अनध्यवसायात् सन्निकर्षादीनां बुद्धिविषयव्यवसायरहितत्वात् । तदनभ्युपगमे दूषणमाह—‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा अन्वेन प्रागध्यवसायप्रकारेण कैमर्थक्याद् बुद्धेः अन्वेपणम् । बुद्धेरिय अन्यस्यापि सन्निकर्षादिभ्यः एव सिद्धेः । न चैवम्, अतो बुद्धेरेव सर्वत्र साधकतमत्वात्प्रामाण्यमित्यभिप्रायः । यत्तुनरेतत्—“यात्मा मनसा युज्यते,

(१) तुलना—“आलाकेनापि जगत्त्वे नालम्बनतया भिद (विद) । किन्तिवन्द्रियबलाच्चानमानस्वेनानुमन्यते ॥”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१८। “नार्थालोकी कारण परिच्छेदवत्तात्तमेवत् । तदव्यव्यतिरेकानुविधानाभावात्केयोश्चकृज्ज्ञानवत्कञ्चरज्ञानवच्च ।”—परीक्षासू० २।१६,७ । “नार्थालोकी कारणमव्यतिरेकात् ।”—प्रमाणसू० १।१।२५ । (२) सन्निकर्षस्य । (३) सन्निकर्षस्य । (४) सन्निकर्षबुद्धधोरन्वयव्यतिरेकयोः । (५) इन्द्रियसन्निकर्षयोः सन्निकर्षज्ञानयोर्वा कार्यकारणभावस्य । (६) बुद्धौ । (७) बुद्धि । (८) यदि बुद्ध्युत्पादमन्तरेणापि सन्निकर्षादि अर्थपरिच्छेदकं स्यात्तदा । (९) “तच्चेदप्रत्यक्ष चतुष्टयत्रयद्वयसन्निकर्षात्प्रवर्तते । तत्र बाह्ये रूपादौ विषये चतुष्टयसन्निकर्षाज्ञानमूल्ययते आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति । सुखादौ तु त्रयसन्निकर्षाज्ञानमूल्ययते तत्र चक्षुरादिव्यापाराभावात् । आत्मनि तु योगिनो द्वयोरात्मनगोरेव संयोगाज्ञानमुपजायते तृतीयस्य

तमिदम्—प्रमाणबा० स्ववृ० टी० पृ० १४० ।

कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः । कथं तस्य उत्पन्नं ज० वि० । ३ तत्कारणतया ६० वि० । ३-रव्यवसा-थ० । ३ अध्यव-थ० । ५ कार्यं आ०, थ० । तावन्न तस्य थ० । १७ अन्यपि आ० ।



विवृतिः—नहि तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकं तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात् । अन्यत्र विज्ञानाभावहेतुरिति चेत् ; आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावहेतुत्वात् तमोवदभावहेतुः स्यात् । अर्वाभागादर्शिनः परभागपरिच्छेदाभावात् तस्यापि ज्ञाननिरोधित्वं स्यात्तमोवत् । प्रत्यर्थावरणविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् । नावरणं  
5 तिमिरादि परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ।

तमः अन्धकार वीक्षन्ते विशेषेण अवाध्यमानतया प्रसुप्तरूपतया वा

विकार्यं— ईक्षन्ते पश्यन्ति जनाः । कथम्भूतं तत् ? इत्याह—निरोधि प्रच्छादकम् । तथा च आलोकाभावेऽप्युपजायमानं तज्ज्ञानं कथं

तत्कार्यं स्यात् ? यैदभावेऽपि यदुपजायते न तत् तत्कार्यम् यथा चक्षुषोऽभावेऽप्युपजायमानं रसज्ञानं न तत्कार्यम्, आलोकाभावेऽप्युपजायते च अन्धकाररूपादिज्ञानमिति ।  
10 अथ मतम्—आलोकस्य तज्ज्ञानहेतुत्वे तमसि स्थितानां घटादीनां ग्रहणं स्यात्, तदयुक्तम्, तस्य तन्निरोधित्वात् । एतदेवाह—‘तमसा’ इत्यादि । तमसा अन्धकारेण आधृतं प्रच्छादितं परं घटादिकं न ईक्षन्ते । अत्र दृष्टान्तमाह—‘कुड्यादिकम्’ इत्यादि । इह शब्दः यथाऽर्थः । यथा कुड्यादिकं नेक्षन्ते ईक्षकाः । कथम्भूतम् ?

15 कुड्यादितिरोहितं परेण कुड्यादिना व्यवहितं तथा प्रकृतमिति ।

नैतु ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण अपरस्य तमसोऽसंभवात् कस्य तन्निरोधित्वं ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकं स्यात् ? नहि असत् कस्यचिन्निरोधकत्नाम् अश्वधिपाणादेरपि तत्प्रसक्तं नास्ति तमाऽथा ज्ञात् ? न च तदनुत्पत्तिव्यतिरेकेण अन्यस्यास्य असंभवोऽसिद्धः, न्तमिति शालिकनायस्य, तजाऽभावः सालोकेऽपि गर्भगृहादिप्रदेशे बहिर्वैशादागतस्य प्रतिपत्तुः असत्य-  
20 रूप एव तम इति प्यन्धकारे ज्ञानानुत्पत्तौ तमःप्रतीत्युपलब्धेः । द्रव्यान्तरत्वे त्वस्य योगस्य च पूर्वपक्ष— चक्षुषः तत्प्रकाशने आलोकानपेक्षा न स्यात् । आलोकेनेव हि

(१) तमोज्ञानम् । (२) आलोककार्यम् । (३) तमोज्ञानं आलोककार्यम् आलोकाभावेऽप्युपजायमानत्वात् । (४) तमसः । (५) शालिकनायः । (६) “य पुनर्निधि नीलिमेवाव लोचयते नासौ नभसः । कस्य तर्हि ? न कस्यचित् । कय पुनर्गुणो न कस्यचित् ? सत्यम्, गुण एवायमप्रसिद्धः । ननु प्रतीतिबलेन सिद्ध एव । सिद्धयेद्यदि प्रतिदिरेव सिद्धयन्, सा तु कारणाभावान्न सिद्धा । ननु चक्षुरेव कारणम्, न, आलोकोपकारानपेक्षस्य चक्षुषोऽप्रकाशकत्वात्, तेन अप्रतीतावेवायं प्रतीतिभ्रमो मन्दानाम् । अत एव दिवानुपलम्भ, अन्यथा मीरीभि भाभिरनुगृहीत चक्षुः स्फुटतर व्योम्नि नीलिमानं प्रकाशयत् । तमसो निष्पत्त्यनवकृते, रूपवत्त्वेन हि तमो द्रव्यं स्यात्, तज्ज्ञानकद्रव्यारव्यं सज्ज्ञाद्युप भवेत् । न च द्रव्याणि सन्ति, सन्ति चेद्दिवाप्यारभन् । अन्धानामिव नीलिमाभिमानो नभस एवेत्युक्तम् ।”—प्रक० पृ० १४३ । “तमो नाम द्रव्यान्तरं न भवति, अन्धानामिव केवलं नीलिमाभिमानः ।”—तन्त्ररह० पृ० २१ । (७) घटादितिरोधायकत्वम् । (८) ज्ञानानुत्पत्तिः । (९) तमसः । (१०) तमसः । (११) तमः प्रकाशने ।

१—ज्ञाने प्रति—ज० वि० । २ ज्ञानविरो—ई० वि० । ३ विज्ञापावाच्य—थ० । ४ न तत्का—व० ।

५—ते कुड्यादि—थ० । ६—तिपरेण व० ।

चक्षुः आलोकनिरपेक्षं प्रकाशयति न द्रव्यान्तरम् । ननु तमसो [ऽ]द्रव्यान्तरत्वे छायाद्यादृष्टादेरर्थान्तरभूतायाः प्रतीतिर्न स्यात् । अस्ति चास्याः तर्थाभूतायाः प्रतीतिः ततो बीजादङ्कुरवत् ततोऽसौ<sup>१</sup> द्रव्यान्तरं सिद्धा । तथाभूता चासौ<sup>२</sup> सिद्ध्यन्ती तमसो द्रव्यान्तरत्वं साधयतीति; तदसमीचीनम्; आलोकभावरूपतया अस्या द्रव्यान्तरत्वासंभवेऽपि विभ्रमवशात् तत्र तत्प्रतीतिरूपपक्षेः । तथाहि<sup>३</sup>—येन येन प्रदेशान्तरेण छायाद्यावारकद्रव्यप्रतिबद्धं तेजो न संयुज्यते तत्र तत्र छाया प्रतीयते, प्रतिबन्धकस्य आतपत्रादेरपाये तु स्वरूपेण आलोकः प्रतीयते, इत्यालोकाभाव एव छाया । द्रव्यान्तरत्वे तु तस्यास्तर्थापायेऽपि आलोकेन सहावस्थितायाः प्रतीतिः स्यात् । न हि जातु किञ्चिद्द्रव्यं द्रव्यान्तरेण सहानवस्थायि प्रतीतम् ।

एतेन 'छाया द्रव्यान्तरं देशादेशान्तरप्राप्तिमत्त्वेन क्रियावत्त्वात्' इत्येतत् प्रत्याख्यातम्, तथाहि—यत्र यत्र आतपत्राद्यावारकद्रव्येण तेजसः सन्निकर्षः प्रतिपिध्यते

(१) वृदिताया पू० प्रती 'तमोऽद्रव्या-' अयमेव पाठो भाति । (२) छायाया । (३) छाया मित्राया । (४) छायात् । (५) छाया । (६) छाया । (७) "यच्चेदमुच्यते छायेव तम सा चलत्वा-चलत्वमहत्त्वमहत्त्वद्वारत्वासत्त्वादिगुणयोगिनी वस्तुभूतेति; तदिदमप्यसारम्, अनवबल्लोतेरेव । यच्च-लाचलत्वादिकमुपन्यस्त तदपि स्थूलदशितया । तथाहि—आलोकेऽप्यवारिते छायाप्यपेयते । ततोऽप्यवारिता-लोकभूभागादिभावव्यतिरेकिणी न रूपावन्तरवच्छाया दृश्यते । तेन मन्यामह व्यपवारितालोकभूभागा-दिकमेव छायेति ।"—प्रक० प० पू० १४४ । "अप्यवारितालोक केवल भूभागादिकमेव छाया ।"—तन्त्ररह० पू० २१ । "आलोकज्ञानाभाव इति प्राभाकरकदेधिनः ।"—सर्वब० पू० २२९ । (८) छायायाम् । (९) छायादर्धान्तरत्वप्रतीति । (१०) "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादिभावस्तम ।"—बैश० सू० ५।२।१९ । "उद्भूतरूपवद्यावत्तेजससर्गाभावस्तम ।"—बैश० उप० ५।२।२० । (११) छायाद्यप्येव । (१२) "तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ।"—बैश० सू० ५।२।२० । 'द्रव्य छाया गतिमत्त्वादिनि ह्यु-साध्यना-विशिष्ट 'साध्य तावदतत्—किं पुरःपञ्चायापि गच्छति, आहोस्वित् आवारकव्य ससर्पति आवरण-सन्तानादसन्निधिसन्तानोऽयं तेजसो गृह्यते इति ? सर्पता खलु द्रव्येण यस्तेजोभाग आश्रित्य तस्य तस्या-सन्निधरेवावच्छिन्नो गृह्यते इति ।"—न्यायभा० १।२।८ । "आवारके द्रव्ये प्रसर्पति तेजसोऽसन्निधिवि-शिष्ट द्रव्यं यदुपलभ्यते तत् छायेत्युच्यते ।"—न्यायभा० १।२।८ । "भासान्तरावच्छायाया ।"—प्रश० व्यो० पू० ४६ । "न तावच्छाया सामान्यविशेषमवायान्तर्भूता; अविस्मृतास्तस्या । नापि कर्म, समयविभागसमवायिकारणत्वाभावात् । न गुणो द्रव्यासमवायात् । न मनोदिककालगुण, तद्गुणा-नामप्रत्यक्षत्वात् । नाप्यात्मगुण, बालेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् । नापि नभोनभस्वतो, तद्गुणानामचाक्षुष-त्वात् । नापि तेजसः, तद्विरोधित्वात् तत्सहचरितगुणान्तरानुपलब्धेऽच । अत एव न पृथिवीपायसोरपि । अपि च तद्गुणश्चाक्षुषो नालोकमन्तरेण शक्यग्रह, छाया तु तमन्तरेण गृह्यते तस्मिन्सु सति न गृह्यत इति दुर्घटम् । नापि द्रव्यम्; तद्वि पृथिव्यादीनामन्यतममेव भवेदव्यद्धा दशमम् । न तावदन्यतमम्, तद्गुणानामनुपलब्धे । नाप्यन्यद्रूपवदिति युज्यते । तस्याद्रव्यस्य प्रत्यक्षत्वादानुपपत्ते, अस्पर्शवत्त्वादनात्म-वत्त्वेनानेकद्रव्यत्वाभावात् । तस्मादभाव एव छाया न तु सतीति सिद्धम् ।"—न्यायभा० ता० पू० ३४५ । प्रश० किर० पू० १९ । श्रीधरस्तु आरोपितरूपविशेषात्मक तम स्वीकरोति । "तस्माद्रूपविशेषोऽयमत्यन्त तेजोभावे सति सर्वतः समारोपितस्तम इति प्रतीयते । दिवा चोर्ध्वं नयनमालकस्य नीलिमावभास इति

तत्र तत्र अन्याऽन्या छायोपलभ्यते, न पुनः पूर्वदेशोपलब्धा अन्यत्र देशे, इति आचारकद्रव्यगत कर्म तत्राध्यारोप्य प्रतिपत्ता 'छाया गच्छति' इति प्रतिपद्यते, यथा अश्वाचारूढ. स्वगत कर्म वृक्षेऽध्यारोप्य 'वृक्षः आगच्छति' इति<sup>१</sup>. देशान्तरप्राप्ति-  
 ५ त्वसिद्धौ हि सयोगसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तद्रव्यत्वसिद्धिरिति । अथ समवायः, तद-  
 प्यनुपपन्नम्, एकत्र समवेतस्य द्रव्यस्य अन्यत्र समवायाऽसम्भवादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'ज्ञानानुत्पत्तिरन्यतिरेकेण नापरतम.' इत्यादि,

तमश्रद्धायामा पुद्गल  
 द्रव्यवसिद्धिः —

तदसमीक्षिताभिधानम्, प्रतीतिविरोधान् । सुप्रसिद्धा हि आलोक-  
 तमसो ह्यस्वरूपेण अन्योन्यनिरक्षणयोः प्रतिप्राणि प्रत्यक्षतो बिल-  
 १० क्षणा प्रतीतिः । न च विषयवैलक्षण्यव्यतिरेकेण प्रतीतेरैलक्षण्य युक्तम्,

पुरैपाद्यैतत्सिद्धिप्रसङ्गतो भेदवादोच्छेदप्रसङ्गे । तमनिच्छता प्रतीतिवैलक्षण्य विषय-  
 वैलक्षण्यपूर्वक प्रतिपत्तव्यम् । प्रयोगः—तत्प्रतीतिवैलक्षण्य विषयवैलक्षण्यपूर्वकं तत्त्वात्  
 घटपटादिप्रतीतिवैलक्षण्यवत् । भावाभावरूपविषयवैलक्षण्यपूर्वकत्वेन आलोकतम -  
 प्रतीतेरिष्टत्वात् सिद्धसाध्यता, इत्यप्यविचारितरमणीयम्, तमसो रूपादिमत्त्वेन आलो-  
 १५ कवद् अभावरूपत्वानुपपत्तेः । तद्रूपत्वे वा रूपादिमत्त्वविरोधान् । 'योऽभावो नासौ  
 रूपादिमान् यथा घटाद्यभावः, आलोकाभावरूपतयेष्टश्च तम इति । न चास्य रूपादि-  
 मत्त्वमसिद्धम्, आलोकवत् तत्रापि तत्सद्भावाप्रतीतेः । यथैव हि आलोके भासुर रूपम्

वक्ष्याम । यदा तु नियतदशाधिकरणो भासापभावस्तदा तद्दशसमारोपिते नीलिम्नि छायात्यवगमः । अत एव दीर्घां ह्रस्वा महती अल्पीयसी छायात्मभिमान तद्दशव्यापिन नालिम्न प्रतीते । —प्रश्न० कव० पृ० ९ । तथाहि—यत्र यत्र वारकद्रव्येण तेजसः सन्निधिनिविध्यते तत्र तत्र छायाति व्यवहारः । वारकद्रव्यगत ताञ्च क्रियाम् आतपाभाव समारोप्य प्रतिपद्यते छाया गच्छतीति अयथा वारकद्रव्यगत क्रियापेक्षित्वं न स्यात् । —प्रश्न० व्यो० पृ० ४७ । यत्तु तेज प्रतिरोधि द्रव्य तद्यथा यथा सञ्चरति तथा तयाऽनौक प्रतिमुच्यते प्रतिपद्यते चेति चलतीव छाया प्रतिभाति अ यथा शरीरेऽपि चलति किमिति छायाऽपि चलत ह्येवभावात् । —प्रश्न० पृ० पृ० १४४ ।

(१) तेजोऽभावे । (२) प्रतिपद्यते इति शेषः । (३) छायायाः । (४) यच्चैव देशान्तरप्राप्तिमत्त्वं तत्किं देशान्तरेण सयोगः तस्यापि माध्यव्यतात् । तथाहि—द्रव्यत्वसिद्धौ सयोगः सिद्धमिति सयोगात् द्रव्यत्वमिति इतरेतराश्रयत्व स्यात् । —प्रश्न० व्यो० पृ० ४७ । (५) 'अथ देशान्तरप्राप्तिममवायः सोऽप्यसिद्धः । न ह्येकत्र समवेतः अन्यत्र समवति । छाया त्वेकत्र सम्बन्धोपलब्धा पुनर्देशान्तरैष्पुलभ्यते । न च क्रियावत्त्वं देशान्तरसमवायात् सिद्धमिति तस्याप्ययुतसिद्धयेव भावादिति । —प्रश्न० व्यो० पृ० ४७ । (६) पृ० ६६६ पृ० १६६ । (७) तुलना— अत एव नालोकज्ञानाभावः, अभावस्य प्रतियोगिग्राहके द्रव्यग्राह्यत्वनियमेन मानसत्वं प्रसङ्गात् । —सब० पृ० २३० । न चाप्रतीतावेव प्रतीतिभ्रमः तदव्यवहारस्य तत्प्रतीतिमन्तरेणानुपपत्तः । —चित्तु० पृ० २९ । (८) आगौतमसो प्रतिभासभेदः । (९) नैयायिकवैशेषिकादयः । (१०) कृष्णरूपातिस्पर्शचरनादिक्रियागालित्वेन । (११) अभावरूपत्वे वा । (१२) तमो न रूपादिमत्त्व अभावरूपत्वात् । (१३) तमस्यपि ।

उष्णस्पर्शश्च लोके प्रसिद्धः तथा छायादितमसि कृष्णं रूपं शीतस्पर्श इति । ततो द्रव्यं तमः गुणयत्तान्, यद् यद् गुणवत् तत्तद् द्रव्यम् यथा आलोकादि, गुणवच्च तम इति । न केवलं छायादेर्लोक एव गुणवत्त्वं प्रसिद्धम्, अपि तु वैद्यकशास्त्रेऽपि । तदुक्तम्—

“आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला ।

कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहरं (करं) तमः ॥” [ राजनि० ]

(१) जैना हि तमः पुद्गलद्रव्यात्मक स्वीकुर्वन्ति, तथाहि—“गोयमा दिय मुभा पोगला मुभे पोगलपरिणामे, रानि अमुभा पोगला असुभ पोगलपरिणामे ।”—भगवतीसू० ५।९। २२४। “सद्व्य-  
यारउज्जोओ पहा छायातवे इ वा । वण्णरसगघफासा पुगलान तु लक्खणम् ॥”—उत्तरा० २८।१२ ।  
नवतद्व० गा० ९। “शब्दवन्पसीदम्यस्यौत्थसस्यानभेदतमस्यछायातपोद्योतवन्तश्च ।”—तद्वार्थसू० ५।२४।  
“सद्वो बन्धो मुहुमो धूलो सठाण भेद तम छाया । उज्जोदादवसहिया पुगलदव्वस्स पज्जाया ।”—द्रव्यसं०  
गा० १६। वैयाकरणास्तम अणुरूप स्वीकुर्वन्ति—“अणवः सर्वव्यक्तित्वाद् भेदससर्गवृत्तयः । छायातपतम-  
शब्दभावेन परिणामिनः ।”—भाष्यव० १।१११। अन्यान्यपि तमसो द्रव्यरूपतामुररीकुर्वन्ति मतान्त-  
राणि—“तमोदर्शनं तु भूच्छायादर्शनम् । कतमत्पुनर्द्रव्यादीना तमः ? ननु द्रव्यमेव कालिमगुणशालित्वात्  
स्पन्दवत्त्वाच्च । तथाहि—कालिमैवास्य रूपमुपलभ्यते अप्येजसोरिव श्वेतिमा । एव सध्याप्येवत्वादिका,  
परिमाण तच्चतुर्विध पृथिव्याद्यनूनामिव तमोऽणूनामप्यनुमानात्, पृथक्त्वसंयोगविभागरत्वापरत्वस-  
स्कारादपि । पञ्चविधमपि कर्म अध्यक्षमीक्षते । यथाहान भवान्वातिककार—ननु नाभावमात्रस्य तमस्त्वं  
बुद्धसम्मतम् । छायाया काष्ण्यमित्येव पुराणे भूगुणधुते ॥ भूगुणस्य काष्ण्यस्य छायाया द्रव्यान्तर्भूते-  
रित्यर्थः । दूरसद्वरीपादिदेहेत्वेत्पानुसारिणी । आसद्वरदीपादिसहस्रवलाज्जला । दहानुर्वतिनी  
छाया न वस्तुत्वादिना भवेत् ॥ इति । न च पृथिव्यादीमनान्यतमम् \* तस्मात्प्रत्यक्षसिद्धममति बाधके  
द्रव्यान्तरमेकादश तमो नवगुण चेति सिद्धम् । नादृष्टो दर्शनं छाया नवाभावाऽस्मृती गते । ह्यादुपा-  
यसद्भावान् द्रव्यं द्रव्यान्तरानुगम् ।”—विधिबि० टी० पृ० ७६-७९। “किमिदं तमो नाम ?  
द्रव्यगुणकर्मनिपत्तिर्बन्धम्याद् भाभावस्तम इति काश्यपीया ; तथा तु नीलबुद्धिनिमित्ता स्यात् अभा-  
वस्य नीलिमाभावात् । न चासतो नीलिम्न किञ्चिद् ग्राहक स्मारक वास्ति । आलोकादर्शनमात्रेण  
तु तद्ब्रह्मो भवस्तच्छून्यभागेऽपि स्यात्, अतो द्रव्यान्तरमिदं वायुवशीलमगुणम्, वायुस्वरूप स्पर्शवान्  
इदञ्चाऽस्पर्श रूपवदित्येनावान्विशेषः । अथवा, य एते पार्थिवारसरेणवो वातायनविचरेषु दृश्यमाना  
सर्वतो भ्रमन्ति तेषां ये नीलगुणका तद्गतमिदं नीलरूपं गृह्यमाण गुणान्तराणां द्रव्यान्तराणाञ्च  
तदन्तरालस्य च अग्रहणाद् व्याप्ताखिलग्रह्याण्डवच्चकारितं । नीलरूपग्रहणे चालोकापेक्षा नास्तीति  
दर्शनवलादभ्युपगम्यते ।”—मी० इलो० ग्याधर० पृ० ७४०। “तमालस्यामलज्ञाने निर्वधिं आप्रति स्फुटे ।  
द्रव्यान्तरं तमः कस्मादकस्मादपलप्यते ॥”—चित्तु० पृ० २८। “अस्पर्शवत्त्वे सति रूपवत्तमः । गच्च  
नेत्रेन्द्रियमात्रग्राह्यमालोकाभावप्रकाश्य कृष्णरूपम् । कलामकोमलच्छाय दर्शनीय भूगं दक्षाम् । तमः  
कृष्ण विजानीयादागमप्रतिपादितम् ॥ गुणकर्मदिसद्भावादस्तीति प्रतिभासतः । प्रतियोग्यस्मृतेस्त्वेव  
भावरूपं ध्रुव तमः ।”—मानमेयो० पृ० १५९। (२) “आतपः कटुको रूक्षः स्वेदमूर्च्छातृपावह । दाहवैषण्य-  
जननो नेत्ररोगप्रकोपन ॥ छाया दाहधूमस्वेदहारा मधुरशीतला । ज्योत्स्ना कषायमधुरा दाहामृक्पित्त-  
नाशिनी । तमो भयावह निरत दुष्टितेजोविरोधनम् ।”—राजव० ५।२२। “आतपः त्रिदोषघननी  
ज्योत्स्ना सर्वव्याधिकर तमः”—राजनि० । उद्धृताम्—“आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला ।”—  
प्रज्ञा० व्यो० पृ० ४६ । स्या० २० पृ० ८५५। “छाया मधुरशीतला”—सन्नति० टी० पृ० ६७२।

अथ गतेषु-ओषधिरित्येतत् माधुर्वादिगुणो नु ये पाथकमज्ञात्वा । तथाहि-  
रमनेन्द्रियव्यापाराद् यथा धीरतद्विषु माधुर्वादिगुणः न तथा ज्ञातव्यम् । तस्मात्  
'माधुर्वादिद्वन्द्वनिषेचनाद् यो गुणशोभी रष्टौ छायाविषेणादौ मयेव' इति वैयर्थ्यात्-  
नात्यर्थम्, अतोऽपि गुणपर्ययं छायादौ, इत्यन्यत्रान्यमोक्षितमित्युक्तम्, तेषाम् अथाप-  
५ योपाधिरुद्धप्रतिभासकत्वात् ओषधिरित्याहुः । 'तत्र अथापयोपाधिरुद्धात्  
प्रतिभासते न तत्र ओषधिरित्यम् यथा तेऽपि भागुरादौ, अथापयोपाधिरुद्धात्  
प्रतिभासते च छायाद्यन्तरं शीघ्रं सादृश्यात् इति । योऽपि रस्यात् अयो-  
षधिरित्यत्र अयोऽन्तरं योऽपि नुत्यतो गुणमिति नो नृ, कटुक्यादिगुणानां  
तत्रापोषधिरित्यत्र प्रमत्ता, माधुर्वादिगुणमन्यप्रक्रियायां तत्रापि कस्यापि गुणकत्वात् ।  
१० ततः प्रतीतिप्रमाणतया अयोऽन्तरं छायाद्यन्तरं अपुष्पपरिगुणमज्ञापयित्वा-  
रन्युपगन्तव्या, इति मिथुमस्य गुणपर्ययाद् देवतासम् ।

यदप्युक्तम्- 'अमरस्य अन्धकारं गर्भगृहादौ ज्ञानात् पूर्णं ततः प्रतीयते'  
इत्यादि, तत्रापि सर्वथा ज्ञानात्पूर्वमिति प्रतीतिहेतुः, तदन्तर्गतेष्वप्यर्थेषु वा ? प्रथमपक्षे  
सैष्यचनविरोधः, 'भाता मे कन्या' इत्यादिषु । न ननु सर्वथा ज्ञानात्पूर्वमिति यदतः  
१५ ततः प्रतीतिरित्युक्ता, 'तैः प्रतीतो वा सर्वथा ज्ञानात्पूर्वमिति' । द्वितीयपक्षे तु प्रचुरात्-  
लोकोपहतदृष्टिः प्रतिपत्ता तत्रार्थोन्निधानं यथाप्यप्रतिपत्तुममर्थः उल्लेखतया मरीचिका-  
चक्रमित आलोचनेन तमोरूपतया प्रतिपद्यते । न च मिथ्यातमप्रतिभासेन अमि-  
थ्यातमप्रतिभासस्य माध्यापादनप्रमत्ततो यरुज्वरस्थाभासप्रमत्ता ।

(१) यच्चमागमात् माधुर्वादिषु वा छायायां, तदप्युपपादात् । य हि मधुरद्वन्द्वस्य द्वीप-  
द्वन्द्वस्य वा गुणा न छायागमपराद् भवतांति तत्रावकाशश्च न तथा । -प्र० ५० ५७ ।  
(२) छायादौ । (३) छायादौ माधुर्वादि । तुटना- छायाविषेणिरस्यन्त्यावकाशश्च न तथा ।  
-हरिश्चन्द्रः ५० ५७ । ५८ । ५९ । ६० । ६१ । ६२ । ६३ । ६४ । ६५ । ६६ । ६७ । ६८ । ६९ । ७० । ७१ । ७२ । ७३ । ७४ । ७५ । ७६ । ७७ । ७८ । ७९ । ८० । ८१ । ८२ । ८३ । ८४ । ८५ । ८६ । ८७ । ८८ । ८९ । ९० । ९१ । ९२ । ९३ । ९४ । ९५ । ९६ । ९७ । ९८ । ९९ । १०० ।  
(४) छायादौ माधुर्वादि नोषधिरित्यम् अथापयोपाधिरुद्धप्रतिभासकत्वात् । (५) अथापिनप्रतिभास-  
विषयत्वे हि । (६) माधुर्वादि । (७) छायादौ । (८) तुटना- ततश्चरस्य गमानम् । -सामन्ति-  
टी० ५० ६७ । स्था० १० ५० ८५ । (९) तुटना- त च तमस्योदगतिरवस्यमिति, चाधुपत्वाद्यप्यनुपपत्तेः प्रतीतिरित्युक्तम् । रूपरस्याच्च रस्यवस्यमपि प्रतीतिरिति तत्तत्पर्यप्रत्यय-  
नस्तत्वात् । -स्था० ५० ५० ५१ । 'तम रसावत् रूपवत्वात् पृथिव्युक्तम् । न च रूपरस्यमिति, अथनार-  
वृष्णोऽप्यमिति दृष्टान्तादप्रतिभासकत्वात् । -रत्नाकराव० ५० ६९ । (१०) ततः प्रतीतिर-  
रामम् । (११) तुटना- वि गुरुरप्यवकाशस्यापि नाना नास्ति ? तथा चत्, यद्यमन्धकारप्रतीति-  
तदन्तरेणापि प्रतीतिरित्यन्यत्रापि ज्ञानरत्नानामप्युक्तम् । प्रतीयते ज्ञानं नास्तीति च स्ववचनविरोध-  
प्रतीतिरेव नान्तर्वात् । -प्रमेयक० ५० २३८ । (१२) ततः प्रतीतिः । (१३) अविद्यता इति छप ।  
(१४) अथकान्तवत्तिपटाद्यर्थम् ।

किञ्च, ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण अपरस्य तमसोऽनभ्युपगमे विशदज्ञानोत्पत्ति-  
व्यतिरेकेण अन्यस्य आलोकस्यापि अभ्युपगमो मा भूत् । असत्यपि हि आलोकं वहल-  
न्धकारनिशीथिनीसमये नक्तञ्चराणाम् अञ्जनामिसस्कृतचक्षुपाश्चं प्रस्फुटज्ञानोत्पत्तौ सप्र-  
काश सैकलं वस्तु प्रकाशते । लोकप्रतीतिवाधा उभयत्र तुल्या । यथैव हि 'मध्याह्ने अति-  
तीत्रालोके वहिर्गन्तुमसमर्थाः' इति लौकिकी प्रतीतिः । तथा 'वहलान्धकाराया रात्रौ वहिर्गन्तु  
प्रस्ता.' इत्यपि । ततो निर्वाधबोधाधिरूढप्रतिभासत्वेन आलोकद्रव्यस्य वास्तवत्वाभ्युपगमे  
तथोद्भवस्यापि तदभ्युपगन्तव्य विशेषाभावात् ।

तथा, द्रव्य छायाचन्धकारं घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटादिवत् । गतिमत्त्वा-  
च्चासौ वाणादिवत् द्रव्यम् । न च गतिमत्त्वमसिद्धम् ; 'वेगेन छाया गच्छति' 'शनै-  
श्छाया गच्छति' इति प्रतिप्राणि प्रसिद्धप्रतीतिः । तस्या तैत्त्वसिद्धेः । अनुमानाच्च ;  
तथाहि—गतिमती छाया देशदेशान्तरप्राप्तिमत्त्वात् वाणादिवत् ।

यदप्यभिहितम्—'देशान्तरप्राप्ति देशान्तरेण सयोग समवायो वा' इत्यादि; तत्र  
देशान्तरेण अस्या प्राप्तिः सम्बन्धोऽभिप्रेतः, स च सयोग एव पर्यवस्यति । न चैवम-  
न्योन्याश्रयम्, अतश्छायाया द्रव्यस्याऽप्रसाधनात् । देशान्तरप्राप्तितो हि तस्या गति-  
मत्त्व प्रसाध्यते, तस्माच्च द्रव्यत्वमिति । न चैव चक्रप्रसक्तिरित्यभिधातव्यम्, तत्प्राप्तेः  
प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धस्वरूपत्वात् । यदि हि द्रव्यत्वसिद्ध्या तैत्त्वप्राप्तिः प्रसाध्येत ततश्च  
गतिमत्त्वं तदा स्याच्चक्रम् । कथमन्वधा 'गतिमान् आदित्यो देशान्तरप्राप्तिमत्त्वात्'  
इत्यादावपि इतरेतराश्रयादिदोषानुपपन्नो न स्यात् ?

(१) 'यद्यवमालोकस्याप्यभावः स्यात् विशदज्ञानव्यतिरेकेणान्यस्य अस्याप्यप्रतीतिः । तद्व-  
वहारस्तु लोके विनादज्ञानोत्पत्तिमात्र ।'—प्रमेयक० पृ० २३८ । (२) पुरुषाणाम् । (३) कुलना-  
'तमस्तावत्पुद्गलपरिणाम दृष्टिप्रतिबन्धकारित्वात् कुड्यादिवत्, आवारकत्वात् पटादिवत् ।'—तत्त्वार्थ-  
भा० व्या० पृ० ३६३ । 'तमो भावरूप घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटादिवत् । न चास्य घटाद्यावारकत्व-  
मसिद्धम्, किंप्राप्तिमुखप्रवर्तमाननयनोपापारगिरोधित्वात्तद्वेवत्यतस्तत्सिद्धे ।'—स्या० २० पृ० ८५, ९५ ।  
(४) 'छाया द्रव्य क्रियावत्त्वात् कुम्भवत् ।'—स्या० २० पृ० ८५३ । (५) छायायाः । (६) गतिमत्त्व ।  
(७) 'अनुमानावसयमपि, तथाहि—गतिमती छाया देशदेशान्तरप्राप्तिमत्त्वान्नैवदिति ।'—स्या०  
२० पृ० ८५३ । (८) पृ० ९६८ पृ० ३ । (९) 'यतोऽत्र छायाया देशान्तरेण प्राप्तिः सयोगोऽभि-  
धीयते । यत्र वास्तवतरेतराश्रयोद्भावनं तदनुसन्धानगून्यतावसात् । न हि देशान्तरप्राप्तिमत्त्वाद् द्रव्यत्व  
प्रसाधयितुमुच्यते स्म, किन्तु गतिमत्त्व तस्मात् द्रव्यत्वमिति ।'—स्या० २० पृ० ८५४ । (१०)  
सम्बन्ध । (११) देशान्तरप्राप्तिरूपसयोगात् । (१२) गतिमत्त्वान्च । (१३) 'नन्वेवमपि महतरे  
चक्रवत्कटे यम पतिता । तथाहि—देशान्तरसयोगात् क्रियावत्त्वम्, क्रियावत्त्वात् द्रव्यत्वम्, द्रव्यत्वात्  
देशान्तरसयोगवत्त्वमिति, उत्स्वप्नायितमतत्, देशान्तरप्राप्ते प्रत्यक्ष एव छायाया प्रसिद्धस्वरूप-  
त्वात् । यदि हि द्रव्यत्वसिद्ध्या देशान्तरप्राप्तिः प्रसाध्येत तदा स्यान्तद्वृथम् । प्रत्यक्षप्राप्ति सिद्धेन  
देशान्तरप्राप्तिमत्त्वेन सिद्धात् क्रियावत्त्वासिद्ध्या छायाया द्रव्यत्वम् ।'—स्या० २० पृ० ८५५ ।  
(१४) देशान्तरप्राप्ति ।



यच्चान्यदुक्तम्—‘आवारकद्रव्यगतं कर्म छायायामध्यारोप्य ‘छाया गच्छति’ इति प्रतिपद्यते’ इत्यादि; तदप्यपेक्षलम्; छायाया अंसत्वे तत्र आवारकद्रव्यगताया गतेरा-  
रोपानुपपत्तेः । सत्येव हि वृक्षादौ अश्वाचारूढः पुरुषः स्वगतं कर्म तत्र अध्यारोपयति  
नासति इति, अतः तदध्यारोपान्यथानुपपत्तेः छायाया वास्तव सत्त्व सिद्धम् । प्रयोगः—  
छाया परमार्थसती अध्यारोप्यमाणगतिस्त्वात्, यद् अध्यारोप्यमाणगति तत् परमार्थसत्  
यथा वृक्षादि, अध्यारोप्यमाणगतिश्च छाया इति । तन्न ज्ञानानुत्पत्तिमात्र तमः ।

ननु सिद्धस्यापि द्रव्यान्तरभूतस्य तमसः चक्षुर्ज्ञानप्रतिबन्धकत्वादयुक्तमुक्तम्—

‘तमो निरोधि वीक्षन्ते’ इत्यादि; तदसाप्रतम्; यतः तैत्ति-  
विब्रुतिन्यायस्यालम्— स्वात्मनि तत्प्रतिबन्धकम्, अन्यत्र या ? तत्राद्यपक्षे—‘नहि’ इत्यादिना  
दूषणमाह—नहि नैव तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिपेधकं ‘स्वात्मनि’ इत्यध्याहारः । कुत एतदि-  
त्याह । तमोविज्ञानाभावाप्रसङ्गात्, अस्ति च तज्ज्ञानम्, अतो न तत् तत्प्रतिपेधकम् ।  
प्रयोगः—यद् यज्ज्ञानस्य विषयो न तत् स्वात्मनि तज्ज्ञानस्य प्रतिपेधकम् यथा काण्डप-  
टादि, चक्षुर्ज्ञानस्य विषयश्च तम इति । अथ अन्यत्र घटादौ न स्वात्मनि, तत्  
तद्विज्ञानाभावहेतुरिति चेत्; तर्हि आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावहेतुत्वात् तमो-  
दभावहेतुः स्यात् । चक्षुर्ज्ञानस्य अभावः अनुत्पत्तिः उत्पन्नस्य वा प्रध्वंसः, तस्य  
हेतुः कारणं स्याद् भवेत् । तर्हि च ‘तज्ज्ञानं चक्षु रूपादीना मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वाद्  
‘आलोकवत्’ इत्यत्र प्रयोगे सौधनविकलो दृष्टान्तः । अथ आलोकः तमोविज्ञानाभावहेतुः  
स्वरूप-घटादिविषयज्ञानहेतुश्चेत्येते, तर्हि तमोऽपि घटादिविषयज्ञानाऽहेतुः स्वरूपविषय-  
विज्ञानहेतुद्वयेष्वप्येवमविशेषात् । अथ आलोके सत्येव केपाञ्चिद् रूपज्ञानोत्पत्तेः तदभावे  
चानुत्पत्तेः असौ तद्वेतुः, तर्हि तमसोऽप्यभावे केपाञ्चिज्ज्ञानानुत्पत्तेः तस्मिन् सत्येव

(१) पु० ६६८ व० २ । (२) छायायाम् । (३) वृक्षादौ । (४) आवारकद्रव्यगतत्यारोपा-  
न्यथानुपपत्तेः । (५) ‘भावरूपा छाया अध्यारोप्यमाणगतिस्त्वात् वृक्षवत् ।’—स्या० १० पु० ८५४ ।  
(६) ‘तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारण प्रकाशविरोधि ।’—सर्वापसि०, राजबा०, तद्व्याख्येभा० व्या० ५।२४ ।  
(७) तम । (८) ज्ञानप्रतिबन्धकम् । (९) स्वात्मनि ज्ञानप्रतिपेधकम् । (१०) तमो न स्वचाक्षुष-  
ज्ञानप्रतिरोधकम् चाक्षुषज्ञानविषयत्वात् । (११) तमः । (१२) तुलना—‘प्रदीपस्य च घटरूपव्यवधाय-  
कतमोऽनेनेतुत्वे ‘तज्ज्ञानं चक्षु रूपादीना मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवदिति साधनविकलत्वात्  
दृष्टान्तस्य निरस्त द्रष्टव्यम् ।’—चम्पति० टी० पु० ५४४ । (१३) न्यायकु० पु० ७६ टि० २ ।  
(१४) आलोको हि न तमसो रूपस्य प्रकाशक अतः स ‘रूपादीना मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्’  
इति साधननूय । (१५) स्वस्य आलोकस्य रूपम् भानुराख्यम् । (१६) तमोविषयक । (१७)  
अस्मदादीनाम् । (१८) आलोक । (१९) रूपज्ञानहेतु । (२०) तमोज्ञान । (२१) तमसि ।

१ असत्येव व० । २-य कर्म आ०, व० । ३-ज्ञानाप्रति-य० । ४ आलोकेऽपि य० ।  
५ तमोज्ञाना-आ० । ६ घटादिविज्ञानहेतु आ०, व० । ७ केपाञ्चिज्ज्ञाना-आ०, व० ।

उत्पत्तेः तदपि तद्वेत्तुः स्यात् । तथा च 'रूपादीना मध्ये रूपादीना प्रकाशकत्वात्' इत्ययं हेतुः तमसाऽनैकान्तिकः, तस्याऽतैजसत्वेऽपि रूपप्रकाशकत्वात् ।

पुनरपि तमसैः तज्ज्ञानप्रतिषेधकत्वे दूषणमाह—'अर्वागभागदर्शिनः' इत्यादि । अर्वागभागां पश्यतीत्येव शीलस्य तदर्शिनः परभागपरिच्छेदाभावात् तस्यापि अर्वागभागस्यापि न केवलं तमस एव ज्ञाननिरोधितं स्यात्, प्रक्रमात् 'चक्षुर्ज्ञाननिरोधित्वं स्यात्' इति मन्यते । अत्र दृष्टान्तमाह—तमोऽयम् । तमस इव तद्वदिति । तथा च तद्वद् अर्वागभागस्याप्यदर्शनप्रसङ्गाद् असर्वदर्शिनोऽन्धतैव स्यात् । यच्चक्षुर्ज्ञाननिरोधि न तत् तज्ज्ञानप्राप्त्यम् यथा तमः, चक्षुर्ज्ञाननिरोधी च अर्वागभाग इति ।

ननु मा भूत् तम आवरणं तिमिरादि तु भविष्यति इत्याह—'प्रत्यर्थम्' इत्यादि । अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्, आवरणस्य ज्ञानावरणीयकर्मणो यो विच्छेदः 10 अभावः तदपेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् अर्थमाहकत्वात् कारणान् नावरणं ज्ञानस्य प्रच्छादकम् । किम् ? इत्याह—तिमिरादि । आदिशब्देन कामलादिपरिमहः । ज्ञानावरणीय कर्मैव हि नियमेन तत्प्रच्छादकम्, तस्मिन् सति ज्ञानस्य अर्थपरिच्छेदकत्वाभावात्, न तिमिरादि तस्मिन् सत्यपि सत्यत्वप्ने रूपदर्शनसद्भावात् । इतश्च न तदावरणमित्याह—परिच्छेद्यत्वात् । अत्र निदर्शनमाह—'अर्थवत्' इति । प्रयोगः— 15 यत्परिच्छेद्यं न तद् आवरणम् यथा अर्थः, परिच्छेद्यश्च तिमिरादि इति । ननु तिमिरादीनामनावरणत्वे "यद्विज्ञानं स्वविषये विपर्यस्तं तत्सावरणम् यथा चक्षुर्विज्ञानं द्विचन्द्रादिगोचरम्, तथाविधश्च मिथ्यादृशा ज्ञानम्" [ ] इत्याचार्यीयं वचः स्वाभ्युपगमविरुद्धं स्यादिति चेत्, न, अन्यथाभिप्रायात् । तमस्तिमिरादि वा अदृष्टकारणनिरपेक्षमावरणं न भवति, तत्सापेक्षं तु भवत्येव इत्ययमाचार्यस्याभिप्रायः । 20

ननु च आत्मनो ज्ञानस्वभावतया सर्वत्र सर्वदा सर्वथा सर्वार्थप्रहणस्वभावत्वेन अशेषज्ञत्वप्रसङ्गाच्च किञ्चिदावरणकल्पनया इत्याशङ्क्यापनोदार्थमाह—

**मूलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः ।**

**कर्मविद्धात्मविज्ञसिस्तथाऽनेकप्रकारतः ॥ ५७ ॥**

(१) तमोऽयम् । (२) रूपज्ञानहेतुः । (३) स्वगतकृष्णरूपः । (४) चक्षुर्ज्ञानं । (५) परमाण्वत्, तमोवद्वा । (६) अर्वागभागो न चक्षुरिन्द्रियग्राह्यं चक्षुर्ज्ञाननिरोधित्वात् । (७) ज्ञानप्रच्छादकम् । (८) ज्ञानावरणकर्मोदय सत्येव । (९) तिमिरादि नावरणं परिच्छेद्यत्वात् । (१०) ज्ञानावरणकर्मोदय अदृष्टपदेन ग्राह्यः । (११) 'यथा स्यात् । का ? मूलविद्धमणिव्यक्तिः मूलं कालिमरेखादिभिः विद्धं स चासौ मणिवत्पद्मरागादि तस्य व्यक्तिः तेजः प्रादुर्भावः । कथम् ? अनेकप्रकारतः अनेके बहवः प्रकाराः विज्ञादविज्ञाददूराद्वरप्रकाशप्रकाशनविशेषाः जानातिथ्यः । तथा स्यात् । का ?

१ तथा रूपा-अ० । २-तं स्वज्ञान-ब० । ३ अवागभागा-अ० । ४ एव विज्ञान-अ० । ५-निरो-अ० । ॥ तदर्शनप्राह्यं ब० । ७ चक्षुर्ज्ञानं ब०, अ० । ८ सवदा सर्वार्थ-अ० । ॥ सर्वथा प्रहणस्व-ब० ।

विवृतिः—यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः । “नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः” [ ] इति बालिशगीतम् ; तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनम् आवरण-विच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके सत्यपि संशयादिज्ञानसंभवात् । काचाद्युप-  
 5 हतेन्द्रियाणां शंखादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः । मुमूर्षूणां यथासंभवम् अर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्य इति स्थितम् ।

मलैर्विद्धः सम्यद्धो यो मणिः तस्य व्यक्तिः आविर्भावो यथा येन

विश्रंसोपयोगप्रकारेण अनेकप्रकारतः विवेकद्वयप्रकारम् एकदेश-  
 कारिकार्यः—

साकल्यप्रकारं निकटदूरदेशवर्तिस्वप्रकाशप्रकाशनप्रकारम् । अन्यं

10 वा विषयापहारादिलक्षणमाश्रित्य, तथा तेन प्रकारेण कर्मभिः ज्ञानावरणीयादिभिः विद्वत्स्य प्रच्छादितस्य आत्मनो जीवस्य विज्ञप्तिः अर्थप्रकाशकत्वलक्षणा अनेक-प्रकारतः इन्द्रियाऽनिन्द्रियाऽतीन्द्रियप्रकारम् सकलविकलसन्निकृष्टविप्रकृष्टार्थप्रकाशन-प्रकारम् स्वपररूपोद्योतनप्रकारम् प्रत्यक्षेतरत्वप्रकारं वा आश्रित्य भवति । नेनु पूर्वोत्तरज्ञानक्षणव्यतिरिक्तः, कायाकारपरिणतभूतचतुष्टयव्यतिरिक्तो वा न कश्चिदात्मा-  
 15 ऽस्ति तत्कस्य अनेकप्रकारतो विज्ञप्तिः स्यादिति सौगत-चार्वाकौ, तौ च प्रतिपादित-विस्मरणशीलौ; सन्ताननिषेधावसरे हि पूर्वोत्तरज्ञानक्षणव्यतिरिक्तः अनादिनिधनः प्रतिपादितः प्रमाता, चार्वाकमतपरीक्षायाञ्च कायाकारपरिणतभूतचतुष्टयव्यतिरिक्तः इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—“यथास्वम्” इत्यादि । यस्य ज्ञानस्य यद् आधारकं

20 विवृतिव्याख्यानम्—  
 स्वम् आत्मीयं कर्म तस्यानतिक्रमेण यथास्वम् । कर्मक्षयोपशमा-

वपेक्षेते इत्येवं शीले तदपेक्षिणी करणमनसी इन्द्रियानिन्द्रिये निमित्तं विज्ञानस्य, न बहिरर्थादयः, एतच्चानन्तरमेव प्रपञ्चितम् । दृष्टे च करण-मनसी स्वापरणरजोनीहारादिक्षयोपशमापेक्षिणी पादपादिविज्ञानस्य निमित्तम् ।

कर्मविद्धारमविज्ञप्ति कर्माणि ज्ञानावरणादीनि तैराविद्ध सम्बद्धः स चासाधारमा ज तस्य विज्ञप्ति-रथोपलब्धि । कथम् ? अनेकप्रकारत अनेके नानारूपाः प्रत्यक्षेतरदूरसन्नार्थप्रतिभासनविशेषा-क्षयोपशमविशेषाश्च तानाश्रित्येत्यर्थः । तदावरणविशेषनिरासे तु सकलार्थविज्ञप्तिरात्मन उपपद्यते एव ज्ञानस्वभावत्वात्तस्येति ।—लघी० ता० पृ० ७८ । उद्धृतोऽयम्—सिद्धिबि० टी० १९३ A । आब० नि० मलय० पृ० १७ । नन्दि० मलय० पृ० ६६ । इष्टोप० टी० पृ० ३० । कसंप्र० टी० पृ० ८ । तुलना—“मलावृतमणेर्यन्तिर्यथाऽनेकविधेयते । कर्मावृत्तात्मनस्तद्वयोग्यता विविधा न विम् ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९१ ।

(१) द्रष्टव्यम्—पृ० ६४० टि० २ । (२) सौगतचार्वाकी । (३) पृ० ९ । (४) पृ० ३४३ ।

1—स्वकर्म—ज० वि० । 2 विषमोपयोग—व०, विश्लेषोपयोग—थ० । 3 विरुद्धस्य आ० ।

4—गिदपायप्रका—थ० । 5 यथावारकं आ० । 6—यः तन्वा—आ० ।

दृष्टेन च अदृष्टेसिद्धि । 'नाननुकृत' इत्यादिना परमतमाशङ्कते—कार्येण अननुकृता  
 वन्वयव्यतिरेकौ यस्य तत् तथाविध न कारणम् अपि तु अनुकृतान्वयव्यतिरेकमेव  
 कारणम् । यच्च अकारण तत्र विषयो<sup>१</sup> ज्ञानस्य, इति शब्द परमतपरिसमाप्तो । अत्र  
 दूषणमाह—'बालिशगीतम्' इत्यादि । बालिशस्य अविवेकिनो गीत भाषितम् । कुत  
 एतदित्याह—तामसस्वगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनम् आवरणविच्छेदात्, नालोकात्<sup>२</sup>  
 इत्यभिप्राय । तथा तदविच्छेदात् तस्य आवरणस्य विच्छेदाभावात् हेतो आलोके  
 सत्यपि सशयादिज्ञानसम्भवात् । इतश्च नालोकात् तद्दर्शनम् इत्याह—'काच' इत्यादि ।  
 काचः चक्षुषो व्याधिविशेष आदिर्यस्य तिमिरादे स तथोक्त तेन उपहतानि इन्द्रियाणि  
 येषां तेषां शुद्धे शङ्कादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः 'सत्यपि आलोके बालिशगीतम्'  
 इति सम्बन्ध । तथा मुमूर्षूणां प्राणिनां यथासम्भव सभयानतिक्रमेण अर्थे सत्यपि विपरी<sup>३</sup>  
 तप्रतिपत्तिसद्भावात् कारणात् न अर्थादयः आदिशब्दन आलोकादिपरिमह, कारण  
 विज्ञानस्य इति स्थितम् । पूर्वं नेयाधिकमपक्ष्योक्तम्, इदं सौगतमिति प्रविभाग ।

अत्रैव दूषणान्तरमाह—

न तज्जन्म न तद्रूप्यं न तद्व्यवसिति सह ।

प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥५८॥

15

(१) सौगतमतम् । (२) पु० ६६३ । (३) इहज्ञान । प्रामाण्यं प्रति प्रमाणत्वमुद्दिश्य । हेतुता  
 निमित्तभाव न भजति । किं त इत्याह—तज्जन्म तस्मादर्थज्जन्म उत्पत्ति तस्य कारणप्राप्तेन व्यभिचा  
 रात् । न च तद्रूप्यं तस्यायस्य रूपमिव रूपमाकारो यस्य तत्तद्रूप तस्य भावस्ताद्रूप्यं तस्य समानाद्य  
 समनन्तरानानं व्यभिचारात् । नापि तद्व्यवसिति तत्रार्थं व्यवसितिव्यवसायो निश्चय तस्य द्विव द्वा  
 दिव्यवसायनं व्यभिचारात् । कथम् ? प्रत्येकम् एकमेकं प्रतिनियतमेककमित्यर्थः । सह मिलित्वा वा  
 तानि प्रामाण्यहेतुता न भजति । तत्प्रतिपत्तयस्यापि शुक्ले क्षम् पीताकारज्ञानजनकेन समनन्तरप्रत्ययन  
 व्यभिचारात् । —लघो० ता० पु० ७९ । तज्जन्मादित्रयस्य प्रामाण्यहेतुतानिरूपका बोद्धव्या — विषया  
 कार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते । प्रमाणसमु० १।१० । तस्माच्चक्षुष्य रूपञ्च प्रतीत्योदेति न तन्वी ।  
 ३।१९० । भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेत् ग्राह्यता विदुः । हेतुत्वमेव युक्तिस्तस्तदाकारापक्षमम् ॥  
 कायं ह्यनकहेतुत्वेऽप्यनुकुर्वदुदेति यत् । तत्तना यत्र तद्रूपं गृहीतमिति चोच्यते ॥ ( ३।२४।४८ । )  
 अथ न घटयत्यना न हि मुक्त्यारूपताम् । तस्मात्प्रमेयाधिगते साधनं मेयरूपता ॥ —प्रमाणवा०  
 ३।३०५ । तदाकरं हि सवेदनमथ व्यवस्थापयति नीलमिति पीतञ्चति । —प्रमाणवार्तिककाल० पु०  
 २ । किमयं तर्हि सारूप्यमिष्यते प्रमाणम् ? क्रियाकर्म व्यवस्थायास्तत्तत्रोक्ते स्यातिवर्धनम् सारू  
 प्यतोऽप्ययथा न भवति नीलस्य नमणं सविति पीतस्य वेति क्रियाकर्मप्रतिनियमाद्यमिष्यते । —प्रमाण  
 वार्तिककाल० पु० १।१९ । अनुकूलविकल्पोत्पात्तरेव अध्यवसायं तथाहि— अविकल्पमपि प्रत्यक्षं विव  
 पोत्पत्तिर्नास्तिमत् । नि शपव्यवहाराङ्गं तदद्वारेण भवत्यतः । —तत्त्वसं० का० १३०६ ।

1—सिद्धं थ० । २—यो विज्ञानस्य थ० व० । 3 सत्यालोके थ० । 4 मुमुक्षूणां व० । 5 प्रति

भाग आ० ।

विवृतिः—नार्थः कारण विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्तेः अतीततमवत् । न ज्ञान तत्कार्यं तदभाव एव भावात् तद्भावे चाभावात् भविष्यत्तमवत् । नार्थसारूप्यभृत् विज्ञानम् अमूर्त्तत्वात् । मूर्त्ता एव हि दर्पणादयः मूर्त्तमुखादिप्रतिविम्बधारिणो दृष्टाः, नार्मूर्त्तं मूर्त्तप्रतिविम्बभृत्, अमूर्त्तं च ज्ञानं मूर्त्तिधर्माभावात् । नहि ज्ञाने अर्थोऽस्ति तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेन शब्दवत् । ततः तदध्यवसायो न स्यात् । कथमेतदविद्यमान त्रितय ज्ञानप्रामाण्यं प्रति उपकारक स्यात् लक्षणत्वेन ?

तस्माद् अर्थात् जन्म तज्जन्म न ज्ञानस्य प्रामाण्यं प्रति हेतुतां भजन्ती(ती)ह लोके, न ताद्रूप्यं तस्य अर्थस्य रूपमिव रूप यस्य तस्य भाव ताद्रूप्यं न त्वत्यति ता 'भजति' इति सम्बन्ध । न तद्व्यवसितिः तस्य अर्थस्य व्यवसिति निर्णीति न त्वत्यति ता भजतीति, सह युगपत् प्रत्येकं वा एकमेक वा एकमेकप्रति प्रत्येकम्, 'वा' इति समुच्चये । तत्र न तावत् प्रत्येकम्,

(१) तुलना— कार्यकालमप्राप्तवत् कारणत्वानुपपत्तिचरतरातीतवत् । —अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८९ । (२) तुलना— यथवाक्षविषयऽभिधान नास्ति तथाऽज्ञान विषयोऽपि नवास्ति ततस्तत्र प्रतिभासमानऽपि न प्रतिभासेत । —अष्टश० अष्टसह० पृ० ११८ । (३) द्रु० पृ० प्रती भजतीह इत्यव पाठ । तज्जन्म इति कन्नुरोधात् भजतीति पाठ एव समुचित । (४) प्रामाण्य प्रति । (५) हेतुताम् । (६) तज्जन्मादयः प्रत्येक प्रामाण्य प्रति हेतुता न भजन्ति । तुलना— तदववेदन केन ? ताद्रूप्यात् व्यभिचारि ततः । तदवसाख्य व्यभिचारि द्विच द्वेगाण्डुकज्ञानाद्याकारस्य अधमन्तरेणापि भावात् । यन्वायसाख्यमनुभवनिबध्नमुक्तं तदप्यसम्भवि इति दण्ड्याह—सरूपयति तत्कन स्पृष्टा भासञ्च तेणव ॥३२१॥ तत्रायरूपता तस्य सत्यार्थाव्यभिचारिणी । तत्प्रवेदनभावस्य न समर्था प्रमा घन ॥३२२॥ तस्मात्तत्त्वज्ञानस्य नायरूपताऽस्ति । सत्या वाऽथरूपताया व्यभिचारिणी सा द्विच द्रज्ञानादिषु । तदवच तत्प्रवेदनभावस्य अधसवेदात्मकस्य प्रसाधनपु साऽथरूपता न समर्था । न केवलादयमाख्यादयसवेदनत्व यन् व्यभिचार स्यात् । किं तर्हि ? सारूप्यतदुत्पत्तिभ्यां ते च द्विच द्रज्ञानादीनां न स्त च द्रद्वयस्याभावात् तदुत्पत्तरयोमात् । एतदेवाह—तत्सारूप्यतदुत्पत्तिरिति यदि सवेद्यलक्षणम् । सवेद्य स्यात् समानाद्य विज्ञान समन्तरम् ॥३२३॥ तेन याज्ञान सारूप्य तत्सारूप्यत्ति स्वरूपवेद्यस्य द्रक्षण, यदि सम्म, तम् तदापि समन्तरं तानमुत्तरज्ञानं समानाद्य समानग्राह्य सवेद्य स्यात् तत्सारूप्यतदुत्पत्त्यो सभवात् । —प्रमाणवा० मनोरथ० २।३२०—२३ । किञ्च यदाकार यतश्च सवेदनमुत्पद्यते यदि तदालम्बनं तर्हि धारावाहिकविज्ञानानां पूर्वपूर्वमाग्ध्वनमुत्तरोत्तरस्य स्यात् उपादनत्वात् सरूपत्वाच्च —बृहतीप० पृ० ७९ । तत्पुन तज्जन्मसारूप्यादिलक्षण समानाद्यनानवसन्तानपु सभवात् व्यभिचरति तदध्यवसायहतु त्वञ्च । —सिद्धिवि० टी० पृ० ५६६ । न केवल विषयबलाद् दृष्टरूपतिरपि तु चक्षुरादिशक्तेश्च । विषयाकारानुकरणाद्शनस्य तत्र विषय प्रतिभासते न पुन करणम् तदाकारानुकरणादिति चेत्तर्हि तदवयत्करणमनुक्तुमर्हति न चाय विग्याभावात् दणनस्य तज्जन्मरूपाविग्यापि तदध्यवसायनि यमाद् वहिरव्यवसायत्वमित्यसारम् वर्णाविव उपानानप्यव्यवसायप्रसङ्गात् । —अष्टश० अष्टसह० पृ० ११८ । प्रमेयक० पृ० १०८ । समति० टी० पृ० ५१० । प्रमेयर० २।९ । अपि च व्यन्ते

१-कारिणी ई० वि० । २-मूत्तमूत्त-प्र० वि० । ३ अथस्य नास्ति जा० । ४ भजतीति थ० । ५ भजन्तीति थ० । ६ एकमेक वा नास्ति व० थ० ।

तज्जमन करणप्राप्तेन व्यभिचारात्, तादृष्यस्य समानार्थसमनन्तरज्ञानेन, तद्व्यवसिते द्विचन्द्राध्यवसायेन । नापि सहै, शुक्ले शङ्खे पीतभ्रान्तिकारणेन पीतज्ञानेन अनेका तात् ।

एतत्त्रितयमसमप्रदोषेण दूषयन् कारिका व्याचष्टे 'नार्थः' इत्यादिना । सोगतस्य

विवृतिव्याख्यानम्

नार्थः कारण विज्ञानस्य । कुत इत्याह—'कार्यकालम्' इत्यादि ।

कार्यस्य स्वज्ञानस्य कालमप्राप्य निवृत्तेः विनाशात् । अत्र दृष्टा त- 5  
माह—'अतीततमम्' इति । प्रयोग—अनन्तरातीतोऽर्थ न ज्ञानकारणम्, तत्काले सर्वथा-  
ऽविद्यमानत्वात्, यस्य तत्काले सर्वथाऽविद्यमानत्व नासौ तत्कारणम् यथा अतीतत-  
मोऽर्थ, तत्काले सर्वथाऽविद्यमानश्च अनन्तरातीतोऽर्थ इति । एतेन भाविनोऽप्यर्थस्य  
तत्कारणत्व प्रत्याख्यातम् । यथा च अर्थो न तज्ज्ञानकारण तथा न तज्ज्ञान तत्कार्यम् ।  
कुत एतदित्याह—'तद्' इत्यादि । तस्य परपरिकल्पितस्य अर्थस्य अभावे एव भावात् 10  
उत्पत्ते तज्ज्ञानस्य तद्भावे च अभावाद् अनुत्पत्ते, अन्यथा सन्तानोच्छेद स्यात् ।  
अत्र दृष्टान्तमाह—'भविष्यत्तमवत्' इति । निषिद्धा च अर्थकार्यता ज्ञानस्य प्रपञ्चत  
प्राग् इत्यल पुन प्रसङ्गेन ।

सारूप्यनिषेधार्थमाह—'नार्थः' इत्यादि । विज्ञान न अर्थसारूप्यभृत् । कुत ?  
अमूर्त्तत्वात् । ननु अमूर्त्तश्च स्यात् तद्वृत्त, को विरोध ? इति चेदत्राह—'मूर्त्ता एव' 15  
इत्यादि । मूर्त्ता एव हिर्यस्मात् दर्पणादयो मूर्त्तमुखादिप्रतिबिम्बधारिणो दृष्टाः ।  
अमूर्त्तमपि त्रिष्वित् दृष्टम् इति चेदत्राह—'नाऽमूर्त्तं मूर्त्तप्रतिबिम्बभृद् दृष्टमिति ।  
प्रयोग—ज्ञान नार्थप्रतिनिम्नभृत्, अमूर्त्तत्वात्, यत् पुनरर्थप्रतिबिम्बभृत् तन्नामूर्त्तम् यथा  
दर्पणादि, अमूर्त्तश्च ज्ञानमिति । कुतोऽस्य अमूर्त्तत्व सिद्धमिति चेत् ? मूर्त्तिधर्मा  
भावात् । तद्वर्मा हि रूपरसगन्धस्पर्शवस्वे सति अचेतनत्वम्, नच ज्ञाने तदस्ति । 20  
निराकृतज्ञास्य व्यासत सारूप्य तन्निराकारत्वसिद्धिप्रघटके इति कुत प्रयासेन ।

समस्ते बते ग्रहणकारण स्याताम् ? यदि न्वस्त, तदा कपालाद्यक्षणे घटान्त्यक्षणस्य जलचन्द्रो वा नभ  
श्चन्द्रस्य ग्राहक प्राप्नोति तदुत्पत्तस्तदाकारत्वाच्च । अथ समस्ते तद्दि घटोत्तरक्षण पूर्वघटक्षणस्य  
ग्राहक प्रसजति । ज्ञानरूपत्वे सत्यते ग्रहणकारणमिति चेत् तद्दि समानजातीयानस्य समन्तरपूर्व  
ज्ञानग्राहकत्वं प्रसज्यत । —प्रमाणमो० पृ० २० । प्रमाणनय० ४।४७ । रत्नाकरा० ४।४७ ।

(१) तज्जमादय सह मिलित्वाऽपि प्रामाण्यं प्रति हेतुता न भजति । (२) तज्जमादित्रयम् ।

(३) यदि कारणभूतस्य ज्ञानस्य काठ एव वायुभूत ज्ञान समुत्पद्यत तदा कार्यकारणयो समकालत्वापत्त्या  
कारणभूतस्यायस्यापि स्वकारणकाठता तस्यापि स्वकारणकालोत्पत्त्यव सत्त्वोत्तरक्षणानामाद्यक्षणवृत्तितता  
द्वितीय च क्षण नाग इति सक्तमन्तानोच्छदप्रसङ्ग इति भाव । तुलना— सत्यव कारण यदि वायु  
त्रलोकवमेकक्षणवर्ति स्यात् कारणक्षणकाल एव सवस्य उत्तरोत्तरक्षणसत्त्वानस्य भावात् तत् सन्ताना  
भावात् । —अष्टश०, अष्टसह० पृ० १८७ । (४) मूर्तिधर्मो हि । (५) पृ० १६७ ।

तद्व्यवसिति निराकुर्वन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न ज्ञाने अधिकरणभूते अर्थो घटादिः अस्ति, किन्तु बहिः सोऽस्ति, तदात्मको वा ज्ञानस्वभावो वा ‘अर्थः’ इति सम्बन्धः, सारूप्यनिषेधात्, अन्यत्र तद्व्यतिभासनात् इति मन्यते । येन तत्र सत्त्वेन तदात्मकत्वेन वा तस्मिन् विज्ञाने प्रतिभासमाने प्रतिभासेत, ‘अर्थः’ इति घटना । क इव स तत्र नास्ति तदात्मको वा न इति चेदत्राह—शब्दवत्, शब्द इव तद्वदिति । ततः किं जातम् ? इत्याह—‘तत्’ इत्यादि । यतो ज्ञानस्वरूपे प्रतिभासमानेऽपि तदाद्येय-तदात्मकतया शब्दार्थयोः प्रतिभासो नास्ति ततः तस्यार्थस्य अध्यवसायो<sup>१</sup> न स्यात् । अध्यवसायो हि अभिलाषवती प्रतीतिः, न चासौ<sup>२</sup> तद्योरननुभवे घटते अतिप्रसङ्गात् । विस्तरतश्च अविकल्पकात् तदध्यवसायप्रतिषेधः सविकल्पक-सिद्धौ<sup>३</sup> प्ररूपित इत्युपरम्यते । अतः सिद्धं फलं ‘कथम्’ इत्यादिना दर्शयन्नाह—एतत् परेणोक्तमविद्यमानं त्रितयं तदुत्पत्तिसारूप्याध्यवसायलक्षणं ज्ञानप्रामाण्यं प्रति-कथमुपकारकम् ? न कथञ्चित् । केन रूपेण उपकारकं नैतत् स्यात् ? इत्याह—लक्षणत्वेन । असंभविलक्षणमेतत् इत्यभिप्रायः ।

ननु ज्ञानस्य तदुत्पत्तित्रितयासंभवे कथमर्थग्राहकत्वमतिप्रसङ्गादित्यारेकायामाह—  
स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा ।

तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥५९॥

विवृतिः—अर्थज्ञानयोः स्वकारणादात्मलाभमासादयतोरेव परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावः नाऽलब्धात्मनोः कर्तृकर्मस्वभाववत् । ततः तदुत्पत्तिमन्तरेणापि ग्राह्य-ग्राहकभावसिद्धिः स्वभावतः स्यात्, अन्यथा व्यवस्थाभावप्रसङ्गात् ।

स्वेन आत्मीयेन हेतुना जनितोऽप्यर्थः घटार्थः परिच्छेद्यः स्वतः  
स्वरूपेण तत्स्वभावतयैवार्थं स्वहेतोरुत्पत्तेः । नहि ज्ञानेन अर्थस्त-  
त्स्वभावो जन्यते; अन्योन्याश्रयानुपङ्गात्—सिद्धे हि ज्ञाने तथाविधाधि-

(१) बहिर्देशो भूतलादौ अर्थस्य प्रतिभासनात् । (२) ज्ञाने । (३) ज्ञानात्मकत्वेन वा हेतुना । (४) अर्थः । (५) ज्ञाने । (६) ज्ञानात्मकः । (७) विकल्पः । (८) तुलना—पृ० ४९ टि० २ । (९) शब्दो प्रतीतिः । (१०) शब्दार्थयोः । (११) पृ० ४८ । (१२) “यथा स्यात् । कः ? घटादि । किं विशिष्टं स्यात् ? परिच्छेद्यो ज्ञेयः । कथम् ? स्वतः स्वभावादेव न ज्ञानादुत्पत्त्यादे । किम्भूतोऽपि स्वहेतुजनितोऽपि स्वस्य हेतुर्मादिसामग्री तेन जनितोऽपि निष्पादितोऽपि । तथा ज्ञान परिच्छेदात्मकमर्थग्रहणात्मकं स्यात् । कुत ? स्वभावादेव नार्थादुत्पत्त्यादे । किंविशिष्टमपि ? स्वहेतूत्थमपि, स्वस्य हेतुरन्तरङ्ग आवरणशयोपपन्नलक्षणं बहिरङ्गं पुनरिन्द्रियानिन्द्रियरूपं तस्मादुत्था उत्पत्तिर्यस्य तत्तद्योक्तं तादृशमपीत्यर्थः ।”—लघी० ता० पृ० ८० । उद्धृतेयं कारिका निम्नग्रन्थेषु—सिद्धि० टी० पृ० १० B. । न्यायवि० वि० पृ० ३३ A. । (१३) परिच्छेद्यस्वभावेन । (१४) अर्थस्य ।

१—दिनादर्शयतो ज्ञान—य० । २—यो हि न जा० । ३ योपि अभिलाषवतीति न जा० । ४—लाप-प्रतीति व० । ५ अत्रति—य० । ६ असंभवति लक्ष—य० । ७—हेतुत्व ज० वि० । ८—स्वात्माकर्तृ-ई० वि० । ९ जनितोपि घटा—व० । १० अर्थस्वभावो जा०, अर्थ स्वतः स्वभावो व० ।

सिद्धिः, तत्सिद्धौ च ज्ञानसिद्धिरिति । यथा येन योग्यताप्रकारेण तथा ज्ञानं स्वेहेतूत्थं करणमनोलक्षणस्वकारणप्रभव परिच्छेदात्मकम् अर्थग्रहणस्वभावं स्वतो न अर्थोत्पत्त्यादेः ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—‘अर्थज्ञानयो’ इत्यादि । स्वकारणात् न परस्परतः आत्मलाभमासादयतोरेव यथासङ्ख्येन परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावः, विवृतिव्याख्यानम्— न अलब्धात्मनोः सर्वथा नित्ययोः क्षणिकयोर्वा । अत्र दृष्टान्तमाह— ‘कर्तृकर्मस्वभाववत्’ इति । यथा स्वकारणाद् आत्मलाभमासादयतोरेव अनयोः कर्तृकर्मस्वभावः नैकान्तेन सतोः नाप्यसतोः, तथा प्रकृतोऽपि ईति । उपसहारार्थमाह— ‘ततः’ इत्यादि । यतः स्वकारणादुत्पन्नयोः तैयोः तैधाभावः सिद्धः ततः तस्मात् अर्थाद् उत्पत्तिमन्तरेणापि अर्थज्ञानयोः ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिः स्यात् । कुतः ? स्वभावतः स्वयोग्यतायाः । अन्यथा अन्येन प्रकारेण व्यवस्थाभावप्रसङ्गात् ।

ननु सिद्धेऽपि स्वरूपतस्तैर्ज्ञावे तत्फल वक्तव्यम्, तच्च ‘अधिगतिमात्रम्’ इत्येके, ‘स्वरूपस्यैव अधिगतिः’ इत्यन्ये, ‘अर्थस्यैव’ इत्यपरे इत्याशङ्क्याह—

व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम् ।

ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥ ६० ॥

विवृतिः—अनिर्णीतिफलस्य नाधिगमोऽस्ति विचार्यमाणायोगात् । अवि- संवादकत्वञ्च निर्णयायत्तं तदभावेऽभावात्तद्भावे च भावात् । व्यवसायफलं ज्ञानं मुख्यं प्रमाणमिति व्यवस्थितम् । स्वतोऽव्यवसायस्य विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्ग- त्वात् । तदुत्पत्तिं प्रत्यङ्गत्वे अभिलापसंसर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या, अन्यथा

(१) ज्ञानार्थयो । ‘ज्ञानं घटं जानाति’ इत्यत्र ज्ञानस्य कर्तृता घटस्य च कर्मत्वमिति । (२) ग्राह्यग्राहकभावोऽपि । (३) ज्ञानार्थयो । (४) कर्तृकर्मभाव । (५) ग्राह्यग्राहकभावे । (६) बोद्धाचार्या । “उभयत्र तदेव ज्ञानं फलमधिगममरूपत्वात् ।”—भ्यामप्र० पृ० ७ । “तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात् ।”—भ्यामप्र० पृ० २५ । तत्त्वसं० का० १३४३ । (७) “स्वतन्त्रमिति फलञ्चास्य ।”—प्रमाणसं० १।१० । “फलं स्ववित् ।”—प्रमाणवा० ३।३६६ । (८) नैयायिकादयः । “प्रमितिर्द्रव्यादिविषयं ज्ञानम् ।”—प्रज्ञ० भा० पृ० १८७ । (९) ‘मतमिष्टं ज्ञातञ्च । किम् ? ज्ञानम् । किं स्वरूपम् व्यवसायात्मकं विशेषस्य जात्याचारकारस्य अवसायो निर्विवेकः स एवात्मा स्वरूपं यस्य तत्- शोक्तम् । अनेन प्रत्यक्षं कल्पनापोढमित्येतदधिरस्तम् । पुनः किंविशिष्टम् ? आत्मार्थग्राहकम्, आत्मस्व- रूपमर्थो बाह्यो घटादिस्ती गृह्णाति निर्णयतीत्यात्मार्थग्राहकम् अनेन ज्ञानगर्भग्राहकमेव न स्वरूपग्राहकम् स्वग्राहकमेव नार्थग्राहकमित्येकान्तद्वयं निराकृतम् । तेन कारणेन अश्नुते भवति किम् ? ग्रहणं ज्ञानं कर्तुं । किं रूपम् ? निर्णयं स्वार्थव्यवसायस्तद्वृत्तमित्यर्थः । किं कर्मतापत्रम् ? प्रामाण्यम् प्रमाणभावम् । किंविशि- ष्टम् ? मुख्यमनुमचरितम् ज्ञानकारणत्वादुपचारेणैव इन्द्रियलिङ्गादेः प्रमाणत्वात् ।”—संघी० ता० पृ० ८१ ।

१ स्वरूपं हेतूत्थं य० । २ ‘इति’ नास्ति य० । ३ मुख्यप्रामा-ज० वि० । ४-फलत्याधिग- ६० वि० । ५ स्वतोऽव्यवसा-६० वि० ।



विकल्पोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात् । सति मुख्ये निर्णयात्मके ज्ञाने सकलव्यग्रहार-  
नियामके कथमसंवेद्यमकिञ्चित्करमनुपायमनुपेयं श्रुवाणः स्पृश्यः ?

व्यवसायः स्वार्थनिश्चय आत्मा स्वभावो यस्य तत् तदात्मकम् व्यवसा-

कारिकाय -

यफलात्मकमित्यर्थ । अनेन 'निर्विकल्पक विभिन्नाऽधिगतिमात्रकै-  
लप्रसाधक प्रमाणम्' इति प्रत्याख्यातम् । तथाविधफलात्मकञ्च प्रमाण

किम् ? इत्याह-ज्ञानम् । अनेनापि 'चक्षुरादिकमज्ञान प्रमाणम्' इति प्रतिव्यूढम्,  
तस्य तदात्मकत्वविरोधात् । प्रसाधितञ्च प्रपञ्चत प्रमाणात् स्वपरव्यवसायात्मक फल  
कथञ्चिदभिन्नम् 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्व फलं स्यादुत्तरोत्तरम्' [ लघी० का० ७ ]  
इत्यत्र । पुनरपि कथमभूत तत् ? इत्याह-आत्मार्यग्राहकम्, स्वरूपवेदकम् ।

10 मत्तम् स्वसवेदनाभ्यक्षेण ज्ञातम् । समर्थितञ्च व्यासतो ज्ञानस्य आत्मग्राहकत्व स्वसवे-  
दनसिद्धौ, अर्थग्राहकत्वञ्च बाह्यार्थसिद्धौ इत्यलमतिविस्तरेण । तत् किं सिद्धम् ?  
इत्याह-'ग्रहणम्' इत्यादि । येन कारणेन व्यवसायात्मकं ज्ञानम् आत्मा-  
र्थग्राहकं तेन कारणेन ग्रहणं स्वार्थाधिगति निर्णयो मुख्यमनुपचरित प्रामा-  
ण्यमश्नुते, न निर्विकल्पक चक्षुरादि वा ।

15 कारिका व्यवतिरेकमुत्प्रेन व्याख्यातुमाह-'अनिर्णीतिफलस्य' इत्यादि । अनि-

विबृति-बाल्यालम्-

र्णीतिफलस्य निश्चयफलरहितस्य अविकल्पकस्य इत्यर्थ । नाधि-  
गमोऽस्ति नानुभवोस्ति, कुत एतदित्याह-विचार्यमाणायोगात्,

यस्य विचार्यमाणस्यायोगो न तस्यानुभवो यथा अद्वैतशून्यादितत्त्वस्य, विचार्यमाण-  
स्यायोगश्च निर्विकल्पकदर्शनस्य इति । यथा चास्य विचार्यमाणस्याऽयोग तथा सवि-

20 कल्पकसिद्धौ प्रपञ्चत प्रतिपादितम् । अथ अविकल्पकस्य अविशवादकत्वात् प्रामाण्य-  
प्रार्थ्यते, अत्राह-'अविसवाद' इत्यादि । अविसवादकत्वं गृहीतार्थतथाभावात् तदायत्त  
निर्णयायत्तम् । कुत एतदित्याह-'तद्' इत्यादि । तस्य निर्णयस्य अभावे क्षणक्षया-  
दिदर्शने मरीचिकादिदर्शने वा सशयकारिणि अभावाद अविशवादकत्वस्य, तद्भावे  
च निर्णयसद्भावे च भावाद् अविशवादकत्वस्य इति । व्यवसायफल ज्ञानं मुख्य

20 प्रमाणम् इति एव व्यवस्थितमित्युपसहार ।

माभून्निर्विकल्पक स्वयमव्यवसायात्मकत्वात् तत्फल तद्वचनकृत्यानु स्यात् इति

(१) चक्षुरादे । (२) व्यवसायफलात्मकत्व । (३) पृ० २०९ । (४) पृ० १७६- । (५) पृ०  
१९९- । (६) पृ० ४७ । (७) प्रमाणफलम् । (८) व्यवसायात्मककिञ्चित्पादकत्वात् । पूर्वपक्ष-  
तस्मादध्यवसाय कुक्पेव प्रत्यक्ष प्रमाण भवति अकृते त्वध्यवसाय नीलवोचरूपत्वेनाव्यवस्थापित भवति  
विज्ञानम् । -वायवि० टी० पृ० २७ । तत्त्वस० का० १३०६ । तुलना- अदोपोऽय प्रत्यक्षस्याध्यव-  
सायहेतुत्वान्तिनिरूपिताभिधान सौमनस्य उपाभिरुपाभावात् । -अष्टादश० अष्टसह० पृ० ११८ ।

1-निर्णय व० । 2-फलसाध-व० ध० । 3-कत्वावि-व० । 4-अन यद्ग्रहण व० ।

5-क्षपादिकाने वा साय-व० । 6 'निर्णयसवभावे च' नास्ति व० ।

चेदत्राह—‘स्वतः’ इत्यादि । स्वतोऽव्यवसायस्य स्वयं निर्विकल्पकस्य विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्गत्वात् । एतच्च सविकल्पकसिद्धौ सप्रपञ्च प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते । तदङ्गत्वे वा दूषणमाह—‘तत्’ इत्यादि । तस्य विकल्पस्य उत्पत्तिं प्रत्यङ्गत्वे स्वतोऽव्यवसायस्य अभिलापसंसर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या । अभिलष्यतेऽनेन अभिलष्यत इति वा अभिलापः शब्दजात्यादी तयोः संसर्गो वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः तस्मै योग्यः तस्य भागस्तत्रा न प्रतिषेध्या । यथैवं हि विकल्पस्य अर्थाकारलेशदर्शनाद् दर्शनस्य तर्थाकारताऽनुमीयते तथा तस्य अभिलापसंसर्गयोग्यतादर्शनात् दर्शनस्यापि साऽनुमीयतामविशेषात् । दर्शनेऽसंभविनी तस्य तद्योग्यता भवति नाथार्कार इति किञ्चित्तोऽयं विभक्तिः ? तन्निषेधे ‘अन्यथा’ इत्यादिना दूषणमाह । अन्यथा तद्योग्यतानिषेधप्रकारेण विकल्पोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात्, सा ‘न निषेध्या’ इति सम्बन्धः । ननु विकल्पवासनात एव विकल्पोत्पत्तिः, दर्शनं तु केवलं तत्प्रबोधकम् ततोऽयमदोषः ; इत्यत्राह—‘सति’ इत्यादि । सति विद्यमाने मुख्ये स्वरव्यवस्थायाम् अन्यनिरपेक्षे निर्णयात्मके ज्ञाने । पुनरपि कथम्भूते इत्याह—‘सकल’ इत्यादि । अर्थाभिव्यक्त्यसंस्कारतत्प्रबोधस्मरणप्रत्यभिज्ञानतत्कार्त्तुमानप्रवृत्तिलक्षणः सकलो व्यवहारः तन्निषायके ब्रुवाणः सौगतः कथं स्वस्थः ? किं ब्रुवाण इत्याह—ज्ञानम् । कथम्भूतम् ? अकिञ्चित्कर निर्विकल्पक असंवेद्य ‘न सवेद्ये’ इत्यसंवेद्यम्, न विद्यते वा सवेद्यं प्राह्यं यस्य, अत एव अनुपायमनुपेयमिति ।

(१) पृ० ४७ । (२) वीदा हि प्रत्यक्ष निर्विकल्पकात्मकमुररीकुर्वन्ति अतस्तैः शब्दसमर्गयोग्यता प्रत्यक्षस्य निषिध्यते । तथा चोक्तम्—‘अभिलापसमर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना, तथा रहितम् ।’—न्यायबि० पृ० १३ । (३) नीलमिदमित्याकारकविकल्पस्य । (४) नीलाकारतादर्शनात् । (५) निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य । (६) नीलाकारता । (७) निर्विकल्पक नीलाकार तत् उत्पत्तेः विकल्पे नीलाकारत्वाऽन्यथानुपपत्तेः । (८) विकल्पस्य । (९) अभिलापसंसर्गयोग्यता । निर्विकल्पके अभिलापसंसर्गयोग्यताऽस्ति तत् उत्पत्तेः विकल्पे अभिलापसंसर्गयोग्यताऽन्यथानुपपत्तेः । (१०) विकल्पस्य । (११) अभिलापसंसर्गयोग्यता । (१२) यदि दर्शनेऽसंभविनी अभिलापसंसर्गयोग्यता विकल्पे षटेत तर्हि दर्शनेऽसंभवमपि नीलाकार विकल्पस्यात् तथा च नीलविकल्पस्य साक्षाद्गोलस्वलक्षणविषयताप्राप्ते ‘विकल्पोऽवस्तुनिर्भास’ इति सिद्धान्तविरोध इति भावः । (१३) तुलना—‘यथैवं हि वषादावभिलापाभावः तथा प्रत्यक्षेऽपि तस्य अभिलापकल्पनातोऽदोषत्वात् अनभिलापात्मकार्यसामर्थ्येनोत्पत्तेः । प्रत्यक्षस्य तदभावेऽप्यव्यवसायकल्पनायाः प्रत्यक्ष किं त्राध्यवस्येत् स्वलक्षणं स्वयमभिलापशून्यमपि । प्रत्यक्षमव्यवसायस्य हेतुर्न पुनरुपायस्य कथं मुनिरुपितामिषातम् ? यदि पुनरविरत्यकादपि प्रत्यक्षाद्विकल्पात्मनोऽव्यवसायस्योत्पत्तिः प्रदीपादेः कञ्जलादिवन् विजातीयादपि वारणात् कार्यस्योत्पत्तिदर्शनादिति मतम्, तदा तादृशोऽर्थाद्विकल्पात्मनः प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरस्तु तत् एव तद्वदिति । जातिद्वयमूषापरिभाषाकल्पनारहितत्वादात् कथं जात्यादिकल्पनात्मक प्रत्यक्षस्यादिति चेत् ; प्रत्यक्षात्तद्विज्ञातविकल्पः कथं जात्यादिकल्पनात्मकस्यादिति समं पर्यनुयोगः ।’—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११८ । (१४) विकल्पवासना ।

१ तच्च थ० । २-त्यादि तयो थ० । ३-व विक-थ० । ४-नादर्शनस्य थ० । ५ तथा सत्यभि-थ० । ६ विकलोत्प-थ० । ७ अनुपेयमिति =० ।

एव सामान्येन व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं व्यवस्थाप्य, अधुना तद्वेदं दर्शयन्नाह—

तत्प्रत्यक्षं परोक्षञ्च द्विधैवात्रान्यसंविदाम् ।

अन्तर्भावात् युज्यन्ते नियमाः परकल्पिताः ॥६१॥

विवृतिः—इन्द्रियार्थज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम्

अवग्रहेहावायधारणात्मकम् । अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिवोधात्मकम् ।

अतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मकं स्फुटतरमवितथमतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोत्तर-  
मात्मार्थविषयम् । तदस्ति सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । श्रुतं

परोक्षं सकलप्रमाणप्रमेयेयत्तास्वरूपाभिधायि वाधारहितं प्रमाणम् । अत्र अर्थाप-  
त्त्यनुमानोपमानादीन्यन्तर्भवन्ति । परपरिकल्पितप्रमाणान्तर्भावनिराकरणमन्यत्रो-

क्तमिति नेहोच्यते ।

यद्व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं प्रतिपादितं तत् द्विधैव, नैकविधं नापि त्रयादि-

विधम् इत्येवकारार्थः । कथं तद्द्विधैव ? इत्याह—प्रत्यक्षं परोक्षञ्च ।

इतिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, इति एवम्, न प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण । ननु  
अनुमानोपमानादेः ततोऽर्थान्तरत्वात् कथं 'द्विधैव' इति नियमः स्यात् ? इत्याह—

'अत्र' इत्यादि । अत्र प्रत्यक्षपरोक्षयोः अन्यासां समीचीनसंविदाम् अन्त-  
र्भावात् द्विधैव इति । अन्तर्भावश्च परोक्षपरिच्छेदे चिन्तितः । अतश्च न युज्य-

न्ते नियमाः परैः सौगतादिभिः कल्पिताः ।

कारिका विवृण्वन्नाह—'इन्द्रिय' इत्यादि । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां कार्यभूतम्

विवृतिव्याख्यानम्— अर्थस्य घटादेः ग्राहकं न मरीचिकातोयादेः, ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

(१) यत्सम्प्रज्ञानात्मकं प्रमाणं तत् द्विधैव द्विप्रकारमेव । तावेव प्रकारावह—प्रत्यक्षं परोक्षं चेति ।

नन्वनुमानादिप्रमाणभेदमव्यापि सभाव्यत इत्याह—अत्रेत्यादि । न युज्यन्ते न सभवन्ति । के ? नियमा  
द्विभ्यादिसंख्याप्रतिज्ञा । किञ्चिद्विष्टा ? परपरिकल्पिता परैः सौगतादिभिः कल्पिता रचिता ।

कुतो न युज्यन्ते ? अन्तर्भावात् सप्रहात् । कासाम् ? अन्यसंविदाम् अनुमानादिज्ञानानाम् । क्व ?  
अत्रैव प्रत्यक्षपरोक्षसंग्रह एव ।—लघो० ता० पृ० ८१ । (२) तुलना—'ज्ञाननिबन्धना तु सिद्धिर-  
नुष्ठानम्, हेयस्य हानमनुष्ठानमुपादेयस्य चोपादानम् । ततो हेयोपादेययोः हानोपादानलक्षणा न सिद्धि-  
रित्युच्येत ।'—न्यायवि० टी० पृ० ८ । 'हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमव तत् ।'—

परीक्षा० १।२ । प्रमाणनय० १।३ । (३) साव्यवहारिकं प्रत्यक्षम् । तुलना—लघो० टि० पृ० १३२  
पृ० १० । (४) 'लक्षणं सममेतावान् विज्ञपोऽपेक्षावरम् । अत्रमं करणातीतमकलङ्कं महोदयसाम् ॥'  
—न्यायवि० का० १६८ । प्रमाणसं० का० ९ । तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६२ पृ० २५ । न्याय  
कृ० पृ० २५ टि० २ । (५) तुलना—'अस्ति सर्वज्ञं गुणिश्रितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् ।'—

सिद्धिनि०, टी० पृ० ४२१ B । अष्टादश०, अष्टसह० पृ० ४४ । आप्तप० पृ० ५६ । तत्त्वार्थश्लो०  
पृ० १८५ । प्रमाणनि० पृ० २९ । प्रमाणमी० पृ० १४ । षट्त्वं गृहं पृ० ५३ ।

किंविशिष्टम् ? स्पष्टम् विशदम् । निर्विकल्पकं परोक्षं ज्ञानान्तरप्रत्यक्षं वा तर्था-  
 स्यात् इत्याह—‘हितं’ इत्यादि । हितं सुख तत्साधनञ्च अहितं दुःख तत्कारणञ्च  
 तयोः प्राप्तिपरिहारौ तत्र समर्थं योग्यम् । नच निर्विकल्पकादे तत्रैव सामर्थ्यम्  
 अर्थमात्रग्रहणेऽप्यस्यैव सामर्थ्यासम्भवात् इत्युक्तम् सविकल्पकादिसिद्धिप्रघटके । ननु  
 सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना अर्थस्य गृहीतत्वात् तत्र प्रमाणान्तराप्रवृत्तिः स्यात् इत्य-  
 त्नाह—प्रादेशिकम् । सर्वमस्मदादिप्रत्यक्षं प्रदेश एव नियतम् । द्विचन्द्रादिदर्शनेऽपि  
 तैमिरिकज्ञानेन एकत्वाद्यदर्शनवत्, नीलादिदर्शनेऽपि क्षणपरिणामादर्शनवद्वा । साम्प्र-  
 तमिन्द्रियज्ञानस्य स्वसवेदनप्रत्यक्षं दर्शयन्नाह—‘इन्द्रिय’ इत्यादि । इन्द्रियाणां कार्यम्  
 आत्मनः सन्निधा स्वरूपस्य ज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्य-  
 क्षम् इति । तदुभयमपि किं भेदम् ? इत्याह—अवग्रहेहाणायधारणात्मकम् । व्याख्याता  
 अवग्रहादयः प्रत्यक्षपरिच्छेदे, ते आत्मा यस्य तत् तदात्मकम् ।

इदानीम् ‘अनिन्द्रिय’ इत्यादिनाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षं दर्शयति—अनिन्द्रियस्य मनस-  
 कार्यं ज्ञानम् अनिन्द्रियप्रत्यक्षम् । ननु च इन्द्रियज्ञानमपि अनिन्द्रियस्य भवत्येव  
 कार्यं तत्कथमयं प्रविभाग इति चेत् ? प्रधानेतरभावात् । ‘इन्द्रियज्ञाने हि इन्द्रियाणां  
 प्रधानभावः, अत्र तु अनिन्द्रियस्यैव इति युक्तः प्रविभागः । किं रूपं तद् ? इत्याह—  
 स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम् । ननु स्मृत्यादीनां परोक्षतया पूर्वैः प्रतिपादित-  
 त्वात् कथमत्र प्रत्यक्षतया प्रतिपादनं युक्तं पूर्वापरविरोधप्रसङ्गात्, इत्यप्यचर्चिताभिधा-  
 नम्, यत्राशे तेषां स्पष्टत्वं तत्रैव प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात् । स्वरूपे एव हि ‘तेषां स्पष्ट-  
 त्वम् अतस्तत्रैव प्रत्यक्षत्वम् ‘आत्मज्ञानम्’ इत्यभिगम्यन्वात् । बहिरर्थे त्वर्ये अस्प-  
 ष्टत्वात् परोक्षता इति न कश्चिदोप- । अत्रापि ‘हितं’ इत्यादि, ‘प्रादेशिकम्’ इति च  
 सम्प्रभ्यते । स्मृत्यादिग्रहणमुपलक्षणं तेन ‘मुखाद्यात्मकम्’ इत्यपि गृह्यते ।

अधुना अतीन्द्रियप्रत्यक्षप्ररूपणार्थम् ‘अतीन्द्रिय’ इत्याद्याह । इन्द्रियेभ्योऽति-  
 क्रान्तम् अतीन्द्रियं प्रत्यक्षम्, कथम्भूतम् ? व्यवसायात्मकम्, अनेन साख्यसौत्रा-  
 न्तिककल्पितं निर्विकल्पकं तन्निरस्तम् । स्फुटतरम्, अस्मदादिप्रत्यक्षात् समस्ते  
 स्वगोचरे अतिशयेन विशदम् । अत्रितथम्, अत्रातम् । अनेन “भिष्वोऽहमपि मायो-

(१) सौगताभिमतम् । (२) मीमांसाकायभिमतम् । (३) नैयायिकाभिमतम् । (४)  
 प्रत्यक्षम् अग्रग्राहकं वा । (५) हितप्राप्तौ अहितपरिहारे वा । (६) निर्विकल्पादे । (७) पृ० ४७ ।  
 (८) अर्थे । (९) पृ० ११६ । (१०) तुलना—इन्द्रियप्राप्ता यादनिन्द्रियवत्तत्त्वानादुपजातमिन्द्रिय-  
 प्रत्यक्षम् अनिन्द्रियादेव विगुह्यस्यपेक्षादुपजायमानमनिन्द्रियप्रत्यक्षम् । —प्रमेय० २।४ । प्रमाणमी०  
 पृ० १६ । (११) अनिन्द्रियप्रत्यक्षः । (१२) अनिन्द्रियस्यैव इत्यवधारणं द्रष्टव्यम् । (१३) पृ० ४०३ ।  
 (१४) स्मृत्यादीनाम् । (१५) स्वरूप एव । (१६) स्मृत्यादेः ।

१—वाचस्पतिप्रमाणम् । २—ज्ञानं स्व—आ० । ३—अवग्रहेहाणाय व० । ४—इदानीमनिन्द्रियप्रत्यक्ष-  
 दर्श—व० । ५—प्रतिभाष—य० । ६—प्राचारायतर—य० । ७—प्रत्यक्षप्रति—आ० । ८—परोक्षत्वमिति य० ।

पमः स्वप्नोपमैः” [ ] इति प्रत्याख्यातम् । तस्य इन्द्रियातिक्रान्तत्वं समर्थ-  
यमानः ‘अतीन्द्रियम्’ इत्याद्याह । अतीन्द्रियम् इन्द्रियव्यापाराजन्यम्, कुतः ?  
अव्यवधानम् देशादिव्यवधानरहितं यतः, यत् स्वगोचरे देशादिव्यवधानरहितं न  
तद् इन्द्रियव्यापारजन्यम् यथा सत्यस्वप्नज्ञानम्, स्वगोचरे देशादिव्यवधानरहितञ्च  
अतीन्द्रियप्रत्यक्षमिति । तथा च “ईश्वरज्ञानम् इन्द्रियार्थसन्निर्भरं प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञान-  
त्वात् इतरज्ञानवत्” [ ] इति निरस्तम् । तज्ज्ञानस्य इन्द्रियप्रभवत्वे प्रत्यक्ष-  
परिच्छेदे असर्वविषयत्वप्रतिपादनात् । लोकोत्तरं सकललोकोत्कृष्टमात्मार्थविषयम्,  
‘आत्मविषयम्’ इत्यनेन अस्वसंविदितमीश्वराप्यक्ष निराकृतम् । तस्य आत्माऽगोच-  
रत्वे अर्थगोचरत्वानुपपत्तिप्रतिपादनात् । ‘अर्थविषयम्’ इत्यनेन तु “नान्योऽनुभाव्यो

(१) तुलना—“मायास्वप्नोपम जगत्” “मायास्वप्नोपम लोके” —“लङ्कावतार० पृ० ३२९, ३३४।  
“मायास्वप्नोपम सर्वं मस्त्वार सर्वदेहिनाम् ।” —नैरात्म्य० पृ० २१ । ‘न हि तथागता कदाचिदप्यात्मन  
स्कन्धाना वाऽस्तित्वं प्रज्ञपयन्ति । यथोक्तं भगवत्याम्—बुद्धोऽप्यायुष्मान् भूभूत मायोपम स्वप्नोपम, बुद्ध-  
धर्मा अध्यायुष्मन् भूभूते मायोपमा स्वप्नोपमा इति । तथा—धर्मस्वभाव तु शून्यविविक्तो बाधस्वभाव तु  
शून्यविविक्तो । यो हि चरेत्स पि शून्यस्वभावो ज्ञानवतो न तु बालजनस्य इति । यथोक्तं भगवता—  
शून्या सर्वधर्मा नि स्वभावयोगेन । निर्निमित्ता सर्वधर्मा निर्निमित्ततामुपादाय ‘यथोक्तं सूत्र—मायोपम  
जगदिदं भवता नटरङ्गस्वप्नसदृशं विहितं । नात्मा न सत्त्वं न च जीवगतो धर्मा मरोचिदकचन्द्रसमा ।’  
—माध्यमिकबृ० पृ० ४४२ ४५ । ‘तस्मान्मायास्वप्नादिस्वभावा सर्वधर्मा इति निश्चितमेतत् । स्या-  
देतत्—यदि सर्वव्यापिनी मायोपमस्वभावता बुद्धोऽपि तर्हि मायोपम स्वप्नोपम स्यात् । उक्तञ्चैतत्  
भगवत्याम्—एवमुक्तं सुभूतिस्तान् देवपुत्रानेतदबोधत—मायोपमास्तं देवपुत्रा सत्त्वा स्वप्नोपमास्तं  
देवपुत्रा सत्त्वा इति हि माया च सत्त्वाश्चाद्वयमेतदद्वैतीकारम् । सर्वधर्मा अपि देवपुत्रा मायोपमा  
स्वप्नोपमा । शून्य आपन्नोऽपि मायोपम स्वप्नोपम शून्य आपत्तिफलमपि मायोपम स्वप्नोपमम् ।  
एव सहबागाम्यपि, सकृदागामिफलमपि । अनागाम्यपि ज्ञानागामिफलमपि । अहंनपि अहंत्वमपि मायो-  
पम स्वप्नोपमम्, सम्यक्संबुद्धोऽपि मायोपम स्वप्नोपम । सम्यक्संबुद्धत्वमपि मायोपम स्वप्नोपम याव  
त्रिर्वागमपि मायोपम स्वप्नोपमम्, स चत्रिर्वागदपि कश्चिदधर्मो विधिष्टतरः स्यात्तमप्यहं मायोपम  
स्वप्नोपम वदामि ।”—बौधिसर्ग० पृ० ३७९ । “आर्यललितविस्तरेषुक्तम् (पृ० २०९-११) मस्त्वार  
प्रदीप अर्धवत् क्षिप्रमुत्पत्तिनिरोधधर्मका । अनवस्थितमास्तोपमा फेनपिण्डेव असारदुर्बला ॥ मस्त्वार  
निरीहशून्यका, कदलीस्कन्धसमा निरीक्षते । मायोपमचित्तमोहना बाल उत्लापनरिक्तमुष्टिवत् ॥”  
—बौधिसर्ग० पृ० ५३२ । ‘मायास्वप्नमरीचिविम्बसदृशा प्रोदभासभ्रुत्कीपमा । विज्ञेयोदकचन्द्रविम्ब  
सदृशा निर्माणतुल्या पुन ।’ —महायानसू० पृ० ६२ । उद्धृतमिदम्—सम्मतं टी० पृ० ३७१, ३७३ ।  
शास्त्रवा० यशो० पृ० २१५ A । (२) तुलना—“स्वयम्भुरलङ्घनार्हं स्वार्थालोकपरिरिक्तमवभासते  
सत्यस्वप्नवत् ।’ —प्रमाणसू० पृ० ९९ । प्रमाणसू० टि० पृ० १७२ पृ० २३ । (३) ईश्वरज्ञानस्य ।  
(४) पृ० १०८ । (५) “नान्योऽनुभाव्यस्तनास्ति तस्य नानुभवोऽयम् । तस्यापि तुल्यबोधत्वात् स्वय  
सैव प्रकाशते ॥ यथा च स्वरूपादन्या बुद्ध्या अनुभाव्यो नास्ति तथा तस्य ज्ञानस्य चाऽगरोऽनुभवो  
नास्ति । तस्य ज्ञानग्रहणस्यापि तुल्यार्थबोधत्वात्, स ह्यन्यत्विगन्धर्वो ग्राह्यग्राहकभावः, तच्चानुपप-  
न्नमित्युक्तम् । तस्मात्तज्ज्ञानमपराधतया उत्पन्न स्वयं प्रकाशत नान्येन प्रकाशयत ।”—प्रमाणवा०

बुद्ध्यास्ति” [प्रमाणवा० २।३२७] इत्येतन्निरस्तम् । तद्विषयत्वे बुद्धेः बुद्धिरूपत्वस्यैवानुपपत्तेः स्वपरव्यवसायस्वभावत्वात्तस्यैः । प्रसाधितश्च बाह्योऽर्थः प्रपञ्चतो बाह्यार्थसिद्ध्यवसरे<sup>३</sup> । ननु वन्व्यासुतसौभाग्यव्यावर्णनप्रसूयमेतत् अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य सद्भावावेदकप्रमाणाभावात् सपुष्पवदसस्वात् इत्याशङ्क्याह—‘तदस्ति’ इत्यादि । तद् अतीन्द्रियप्रत्यक्षम् अस्ति सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् इति । समर्थितञ्चास्य सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वं प्रवन्धेन सर्वज्ञसिद्धिप्रघट्टके<sup>४</sup> इत्यलं पुनस्तत्समर्थनप्रयासेन ।

परोक्षमिदानीं व्याचष्टे ‘श्रुतम्’ इत्यादिना । श्रुतम् भविष्यत्तर्कणम् तत्प्रमाणम् । किं सर्वम् ? न, बाधाराहितम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्याह—‘सकल’ इत्यादि । सकलं यत् प्रमाणं यच्च प्रमेयं तयोः इयत्तास्वरूपाभिधायि, अनेन च प्रत्यक्षाऽनुमेयाऽन्यन्तपरोक्षलक्षणे स्थानत्रयेऽप्यस्यै प्रामाण्यं दर्शयति । तथा च निराकृतमेतत्—“तृतीयैस्थानसङ्क्रान्तौ न्येयः (न्यायः) शास्त्रपरिग्रहः ।” [प्रमाणवा० ४।५१] इति । नहि प्रमाणानां सौपत्न्यन्यायोऽस्ति येन एकविषये द्वितीयस्याप्रवृत्तिः स्यात् । अथ मतम्—अर्थापत्त्यादेः प्रमाणान्तरत्वप्रसिद्धेः कथं प्रत्यक्षपरोक्षरूपतया प्रमाणद्वित्वसिद्धिः, यतो ‘द्विषैव’ इति नियमः सुचटः स्यात् ? इत्याह—‘अत्र’ इत्यादि । अत्र परोक्षे अर्थापत्त्यनुमानोपमानादीनि, आदिशब्देन अविशदमर्थ्यदपि प्रमाणं गृह्यते, अन्तर्भवन्ति । तेन तदन्तर्भावश्च परोक्षपरिच्छेदे प्रपञ्चितः । नन्वेवं सौगतादीनामपि स्वोपकल्पितप्रमाणसंख्यायाम् इतरप्रमाणानामन्तर्भावो भविष्यति, इत्याह—‘पर’ इत्यदि । परैः सौगतादिभिः परिकल्पितस्य प्रमाणान्तर्भावस्य निराकरणम् अन्यत्र परोक्षपरिच्छेदे उक्तमिति नेह प्रघट्टके पुनरुच्यते ।

मनोरथ० २।३२७ । उद्धृतीज्यम्—प्रज्ञ० व्यो० पृ० ५२५ । अष्टसह० पृ० ११० । सिद्धिबि० डी० पृ० १६६ A । शास्त्रबि० पृ० १९५ । स्था० १० पृ० १५० । शास्त्रवा० वक्षो० पृ० १७४ B, २१५ B. । न्यायकुमु० पृ० १३३ टि० ४ ।

(१) अर्थापत्त्यत्वे । (२) बुद्धे । (३) पृ० ११९ । (४) पृ० ८९ । (५) श्रुतस्य । तुलना—“स्थानत्रयाऽविवक्षादि श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते । तेनाधिगम्यमानत्वं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ॥ १० ॥”—तत्त्वार्थ० इलो० पृ० १३ । (६) “तद्विरोधेन चिन्तायाः तत्सिद्धार्थेष्वप्योगतः । तृतीयस्थानसङ्क्रान्तौ न्यायः शास्त्रपरिग्रहः ॥ तस्य शास्त्रस्य विरोधेन तत्सिद्धेष्वर्थेषु लिङ्गादिष्वसिद्धकल्पेषु गमकचिन्ताया अप्योगतः । यस्मात् प्रत्यक्षपरोक्षार्थयोर्नागमाधिकारः तस्मात् तृतीयस्थाने अतीन्द्रिये विषये विचारसङ्क्रान्ते शास्त्रपरिग्रहो न्यायः प्रकारान्तरासम्भावात् ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० ४।५१ । (७) यथा यदेका सपत्नी पतिस्त्रीपे समुपतिष्ठति तदा द्वितीया ईर्ष्यावलिप्ता अनवकाशतया पत्युपकण्ठनोपसंपत्तिं न तथा प्रमाणानां सापत्न्यभावो ईर्ष्यावलिप्तता अनवकाशता वा समास्ति इति भावः । (८) समवेतिहादिकम् । (९) परोक्षे ।

श्रुतस्य भेदं दर्शयन्नाह—

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।

स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा ॥६२॥

विवृतिः—अनेकान्तात्मकार्यकथनं स्याद्वादः, यथा जीवः पुद्गलः धर्मोऽधर्मः आकाशे काल इति । तत्र जीवो ज्ञानदर्शनवीर्यसुखैः असाधारणैः अमूर्त्तत्वाऽ-संख्यातप्रदेशत्वसूक्ष्मत्वैः साधारणासाधारणैः सच्चप्रमेयत्वागुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादिभिः साधारणैः अनेकान्तः । तस्य जीवस्यादेशात् प्रमाणं स्याद्वादः । तथा इतरे परमागमतो योज्याः । ज्ञो जीवः सुखदुखादिवेदनात् इत्यादि विकलादेशो नयः । साकर्त्तव्यम् अनन्तधर्मात्मकता । वैकल्यम् एकान्तः धर्मान्तराविवक्षातः ।

(१) “भवत । की ? उपयोगी व्यापारी । कस्य ? श्रुतस्य, श्रूयते इति श्रुतमाप्तवचन धर्णपदवाक्यात्मकं द्रव्यरूप तस्य, भावश्रुतस्य वा श्रवण श्रुतमिति निरुक्ते । कति ? द्वौ । जित्तामात्रौ ? स्याद्वादनयमज्ञितौ, स्यात्कथञ्चित् प्रतिपक्षापक्षया वचन स्याद्वाद, नयन वस्तुनो विवक्षितधर्मप्रापण नय, स्याद्वादवच नयश्च स्याद्वादनयो, इत्य मन्ते व्यपदेशो ययोस्ती तयोस्ती । तौ लक्षणतो निर्दिष्टति—स्याद्वाद उच्यते । क ? सकलादेश सकलस्य अनेकपक्षेणो वस्तुन आदय कथनम्, यथा जीवपुद्गल-धर्माधर्माङ्गनामाला पड्या । “पुनर्नयो भवति । का ? विकलसंकथा, विकलस्य विवक्षितधर्मस्य सम्बन्ध प्रतिपक्षापक्षया कथा प्रतिपादन यथा जीवो ज्ञातव्य द्रष्टव्य इत्यादि ।”—लघो० ता० पृ० ८३ । तुक्ता—“तदुक्तम्—उपायो श्रुतस्य द्वौ प्रमाणनयनदत्तः ।”—सिद्धिबि० टी० पृ० ४ A. । (२) “निर्दिष्टमानधर्मव्यतिरिक्ताऽप्यधर्मान्तरममूचयेन स्याता युक्तो वादोऽत्रिभेदधर्मवचन स्याद्वाद ।”—न्यायब० ता० टी० पृ० ९३ । न्यायकु० पृ० ३ टि० १० । (३) तुक्ता—“स्यात्प्रत्ययोगात् ये ज्ञानदर्शनमुगादिरूपा जगाधारणा य धामूर्त्तत्वामस्यानप्रदगमूधत्ववक्षणा धर्माधर्माधर्मगगनास्ति-वायपुद्गलै माधारणा येऽपि च मत्त्वप्रमयत्वधर्मित्वगुणित्वादय मवंपदार्थ साधारणास्तर्हि च प्रतीयन्त ।”—आश० नि० मल्ल० पृ० १७० A. । (४) सकलादेशविकलादेशयो स्वरूपे प्राय सर्वेषामेकमत्यर्थाव वैचित्र्यलक्षणाचार्या सप्तमु भगपु सर्वानपि भङ्गान् एतधर्ममुखन अयपधर्मात्मकव-स्तुप्रतिपादनवाने मन्त्रादशरूपान् एतधर्म प्रपातनया अन्यधर्मादिव गोचनयाऽभिधानममये विकलादेशा-त्मवान् स्वीकुर्वन्ति । नचिच्च सिद्धप्रमयगतिप्रभृतय सदसदवस्तुव्यक्त्य भङ्गनय सकलादेशत्वेन सिद्धादय चतुरा भगान् विवन्नादशरूपण मन्यन्त । अक्षरलङ्कारोक्तौ पठ्या—“तथा बोधम्—मन्त्रादश प्रमाणाधानो विवन्नादशा नयाधीन इति ।”—सर्वाधिक० ११६ । “यत्र यदा योगवत् तदा सकलादेशः । एकगुणमुगतागमवस्तुसमग्रहान् सकलादेशः । तथादशवगान् सप्तमगो प्रतिपदम् । यदा तु यम तदा विकलादेश (पृ० १८०)”—निरासत्यापि गुणवदादशरूपनया विवन्नादन । “तथापि तथा मन्त्रमगो ।”—रात्रा० पृ० १८१ । नयचक्र० पृ० ३४८ B. । “सकलादेशा द्वि योग्ययनायपधर्मत्वव-स्तु कान्तार्तिनरभेदकुत्वा प्रतिपादयति जमशास्त्रारण या, तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विवन्नादशस्तु यमन नदाशारण भेदप्राप्त्यन्त न ।”—तत्त्वार्थसंज्ञा० पृ० १३६ । प्रमेयचक्र० पृ० ९८२ । सत्यभगित० पृ० १२ । प्रपातनय० ६१६६, ४५ । ज्ञेयचक्रभा० पृ० २० । “इय सप्तमज्ञी प्रतिनज्ञ सकलादेशरभारा विवन्नादशरभारा च ।”—प्रपातनय० ४१४३ । गुह्यत्ववि० पृ० १५ A. । प्रादशभा० टी० पृ० २५४ A. । “यदा मध्यमव्यवस्थापितरयान् विविधमं प्रतिपादयितुं ययपमस्वीकरणनिराकरणप्रमुखया पिता पाथ प्रवृत्त्यत तदा तत्त्वचित्तका अवि लोडकवत् सम्मुत्पादरतयावधत—यदुत जीवाऽपि





स्वेष्टसिद्धिः । नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तः । 'स्याज्जीव एव' इत्युक्तेऽनेकान्त-  
विषयः स्याच्छब्दः, 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः ।

उपयोगौ व्यापारौ, कैतिसंख्यौ ? द्वौ । कस्य ? श्रुतस्य श्रुताख्य-  
प्रमाणस्य । किमार्यौ ? स्याद्वादनयसंज्ञितौ, स्याद्वादसंज्ञितः

सारित्वं -

नयसंज्ञितश्च । कोऽसौ स्याद्वादः कश्च नयः इत्याह—'स्याद्वादः'

इत्यादि । स्याद्वादो भवति, कोऽसौ ? सकलादेशः सकलस्य सम्पूर्णस्य वस्तुनः  
अदेशः कथनम् । नयस्तु विकलसंकथा वस्त्वेकदेशकथनम् ।

(१) मलयगिरिवाच्यार्थः स्यात्प्रयोगे प्रमाणवाक्य एव उररीतुर्वन्ति । एतन्मतानुसारेण  
सर्वेषां नयना मिथ्यात्वत्वात् । अतस्ते 'स्यात्प्रदलान्छितो नयः सम्पत्' इत्यवलङ्कृतस्य समालोचना  
कृता । प्रत्यालोचिता च सा उ० यथोक्तिर्निरति । तदेवं समन्तभद्रसिद्धमेतद्विचारविमर्शतातम्  
अवलङ्कृतं विवृतमतं मतं हेमचन्द्रादयः समर्थयन्ति । मलयगिरिकृता समालोचना इत्यम्—'नयवि-  
न्तायामपि च ते दिग्मन्त्रा स्यात्प्रयोगमिच्छन्ति तथा चावलङ्कृतं एव प्राह—'नयोऽपि तथैव सम्यगेका-  
न्तविषयः स्यात्' इति । अत्र टीकान्तरेण व्याख्या कृता—नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं  
प्रमाणवाक्यमित्यपि सन्दर्भः, तथैव स्यात्प्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्येव  
जीव इति । स्यात्प्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया तु नैव एव स्यादिति ।' तदन्तर्द्वयम्, प्रमाण-  
नयविभागाभावप्रसङ्गः, तथाहि—'स्याज्जीव एव' इति किल प्रमाणवाक्यम् 'स्यादस्त्येव जीव' इति  
नयवाक्यम् । एतच्च द्वयमपि लघीयसयालङ्कारे साक्षादवलङ्कृतं नोदाहृतम्, अत्र बोधयन्त्राप्यविशेषः,  
तथाहि—स्याज्जीव एवेत्यत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिग्रहना जीवशब्दवाच्यताप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनो-  
द्भूतान्तरशब्दप्रयोगादजीवशब्दवाच्यतानिषेधः, स्याच्छब्दप्रयोगतोऽसाधारणसाधारणधर्माक्षेपः ।  
'स्यादस्त्येव जीव' इत्यत्र जीवशब्देन जीवशब्दवाच्यताप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनोद्भूतविधिक्षितास्तित्वाव-  
गतिः, एवमन्तरप्रयोगात् सदाश्रितं सङ्गतेऽपि जगति जीवस्य नास्तित्वं तद्व्यवच्छेदः, स्यात्प्रयोगात्  
साधारणसाधारणप्रतिपत्तिरित्युभयनाप्यविशेषः एव ।—आव० नि० मलय० पृ० ३७१ A. । उ०  
यथोक्तिर्नयः एतन्मलयगिरिकृतम् आसलङ्कृतमालोचनं पूर्वपक्षीरुत्य इत्यं समाहितम्—'अत्रेदमवधयम्—  
यो नाम नयो नयान्तराशयः तस्य प्रमाणान्तभावः व्यवहारनयः प्रमाणं स्यात् तस्य तपःशयमप्रवचन-  
प्राहृत्यनः शयमप्राहिर्निदेषविषयकत्वेन तत्साधकत्वात् । शब्देनयान्तरं निक्षेपचतुष्टयाभ्युपगन्तुं  
भावाभ्युपगन्तुं शब्देनयविषयविषयत्वेन तत्साधकत्वात्प्रमाणत्वापत्तिः । नयान्तरवाक्यमप्युपगन्तुं मापेक्षत्वे  
च प्राहो स्यात्प्रयोगेण मन्त्रनिषेधनयद्वयविषयव्यवच्छेदवस्यैव लाभात् तेनाऽन्तर्धर्मात्मकत्वापराधं ।  
न च तदर्थं तदाऽनन्तरं सम्यगेकान्तप्रवेशानुपपत्तिः अवच्छेदकभेदविना मन्त्रप्रतिपक्षविषयमभावेनस्य दुर्व-  
चत्वान्, इत्यत्र चाप्यम् । 'स्यात्प्रमवच्छेदकभेदप्रदेशं तथैव विवृतम् । अत एव स्यादित्यव्ययमनेका-  
न्तवाक्यमव तादृक् दृश्यते । सम्पन्नकान्तमाधकस्य अनकान्तक्षेपरत्वात् न त्वन्तर्धमपराधमर्थम्,  
अत्र न स्यात्प्रयोगमात्राधीनमादलक्षकस्य यत्र प्रमाणनयवास्योभेदो न स्यात्, किन्तु स्वावर्गवि-  
त्यन्तरमपराधमभेदोपस्थापनविषयपदवृत्त्यधीनम् । या च विज्ञाधीनेत्यादलक्षणस्यमपि तदपि  
नयप्रमाणसाधकमित्यत्र भेद एव । मलयगिरिगादवचनं तु अप्रतिपक्षधर्माभिधानस्यैव अवच्छेदकभेदा  
भिधानानुपपन्नं स्यात्प्रम माध्यादनन्तधर्मात्मपरत्वाभिधानात्, तत्र प्रमाणनयभेदानभ्युपगन्तुं विदग्ध-  
दिग्मन्त्रनिषाधरणाभिप्रायः यावन्तीयम् ।'—मुक्तत्ववि० पृ० १७ B ।

तत्र स्याद्वादपदं व्याचष्टे 'अनेकान्त' इत्यादिना । अनेकान्तात्मकस्य अने-  
 कधर्मस्वभावस्य अर्थस्य जीवादेः कथनं स्याद्वादः । अत्रोदाहरणमाह—  
 विवृतिव्याख्यानम्—  
 'यथा' इत्यादि । यथा इत्युदाहरणप्रदर्शने, जीवः पुद्गलः धर्मोऽ-  
 धर्म आकाशं काल इति पट्टद्रव्यरूपोऽर्थः, तस्य अनेकान्तात्मकत्वनिरूपणं स्याद्वादः ।  
 तत्र जीवे तावदनेकान्तात्मकत्वं 'तत्र' इत्यादिना निरूपयति । तत्र तेषु जीवादिपट्ट-  
 दार्थेषु मध्ये जीव आत्मा 'अनेकान्तः' इति सम्बन्धः । कैर्धर्मैः इत्याह—ज्ञानदर्शन-  
 वीर्यसुखैः । ननु दर्शनमेव पुरुषस्य स्वरूपं न ज्ञानादयः, तेषां प्रकृतिधर्मत्वात् तत्कथं  
 तैरसौ<sup>१</sup> अनेकान्तः ? इत्यप्युक्तम् ; प्रकृतिधर्मतां निराकृत्य तेषां तद्धर्मतायाः प्रत्यक्षप-  
 रिच्छेदे<sup>२</sup> प्रतिपादितत्वात् । ततः सूक्तम्—'ज्ञानादिभिः जीवोऽनेकान्तः' इति ।  
 कथम्भूतैस्तैः इत्याह—असाधारणैः पुद्गलाद्यसंभविभिः । ननु बुद्ध्यादयो नव आत्म-  
 नोऽसाधारणा गुणाः सन्ति तत्किमर्थमेते चेत्यार एव दर्शिताः इति चेत् ? तेषामेव  
 सहभुवां तद्गुणत्वप्रतिपादनार्थम् । इच्छादयो हि कमभाविनः पर्यायाः न गुणाः,  
 अन्यथा भयहर्षशोककरुणामर्षादासीन्यादीनामपि तद्गुणत्वप्रसक्तेः 'नयेव' इति संख्या-  
 नियमो दुर्घटः स्यात् । परैरपि तदनेकान्तं दर्शयितुमाह—'अमूर्त्तत्वं' इत्यादि । रूपा-  
 विरहितत्वम् अमूर्त्तत्वम्, न पुनः असर्वगतद्रव्यपरिमाणाभावः, जीवस्य मूर्त्तत्वप्रसङ्गात् ।  
 तस्यै<sup>३</sup> असर्वगतत्वेन विषयपरिच्छेदे प्रसाधितत्वात् । असङ्ख्यातप्रदेशत्वम् असंख्याता-  
 वयवोपेतत्वम्, सूक्ष्मत्वं शुद्धस्य तस्यै केवलज्ञानादन्यतोऽसाक्षात्करणम्, तैः अनेकान्तो  
 'जीवः' इति सम्बन्धः । किं विशिष्टेः साधारणासाधारणैः, साधारणैः गगनादावपि  
 भावात्, असाधारणैः पुद्गलेष्वभावात् । पुनरन्यैस्तदनेकान्तं दर्शयन्नाह—'सर्व' इत्यादि ।  
 सुप्रसिद्धाः सत्त्वप्रमेयत्वाऽगुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादयो धर्माः तैः । कथ-  
 न्भूतैः ? साधारणैः पट्टस्त्वपि द्रव्येषु भावात् । तस्य एवंविधस्य जीवस्य आदेशात्  
 कथनात् प्रमाणं स्याद्वादः तत्र तदविसंवादात् इति भावः । तथा तेन असाधारणोभय-

(१) साख्य । "द्रष्टा दृक्षिमात्रं बुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य ।"—योगसू० २।२०। (२) "प्रकृते-  
 र्महानुत्पद्यते । महान् बुद्धिर्धृतिर्ब्रह्मा पूर्तिं स्यातिरोश्वरो विलस इति पर्यायाः" आह—उक्तं प्रधाना-  
 द्बुद्धिरुत्पद्यते इति ? तत्र वक्तव्यं किं लक्षणा पुनर्बुद्धिरित्युच्यते—अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञान विराग  
 ऐश्वर्यम् । सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥"—सांख्यका० युक्तिबी० पृ० १०८। (३) जीव ।  
 (४) अनेकधर्मात्मक । (५) ज्ञानादीनाम् । (६) जीवधर्मताया । (७) पृ० १९१। (८) वंगेयिका ।  
 'नवानामात्मगुणानां बद्धिभुक्तुं खेच्छाप्रयत्नमधिर्मतस्काराणाम्'—न्यायम० पृ० ५०८। (९)  
 ज्ञानदर्शनवीर्यमुखाख्या । (१०) आत्मगुणत्व । (११) जीवस्य अनेकधर्मात्मकत्वम् । (१२) "इयत्ता-  
 वच्छिन्नपरिमाणयोगित्वं मूर्त्तत्वं तदभावोऽमूर्त्तत्वम् ।"—सप्तप० पृ० ७२ । "असर्वगतद्रव्यपरिमाण  
 मूर्तिरिति हि पदार्थाविद ।"—तत्त्ववि० पृ० १५८। (१३) जीवस्य । (१४) पृ० २६१। (१५) आत्मन ।

१ इत्याद्युवा-ब०, थ० । २-धारणगुणा ब० । ३-यान् गुणा ब० । ४-तवैश-प्र० । ५-वि भवात्  
 ब० । ६ पुनरप्यन्ये थ० । ७-ह सुप्रसि-थ० । ८ छट्स्त्वपि द्रव्येषु जा० । ९ तथा तथा तेन थ० ।

साधारणधर्माधिकरणत्वेन अनेकान्तप्रकारेण इतरे पुद्गलादय पदार्था परमागमतः परमागममाश्रित्य योज्याः ।

इदानीं नय दर्शयन्नाह—‘ज्ञः’ इत्यादि । जीम इति धर्मिणो निर्देश , ज्ञः चेतना-  
स्वभावा इति साध्यस्य, सुसुप्तदुःखादिवेदनादिति हेतोः , इति एव प्रयोग आदिर्यस्य  
५ अनित्यशब्दादेः स तथोक्तः , स चासौ विकलस्य धर्मान्तरनिरपेक्षस्य धर्मस्य आदेशश्च  
नयः । ननु किमिदं साकल्यं वैकल्यञ्च आदेशस्य यत् ‘स्याद्वादः सकलादेशो  
नयो विकलसंकथा’ इति स्यात् ? इत्याह—‘साकल्यम्’ इत्यादि । सकलस्य  
अनन्तधर्मात्मकस्य यस्तु नो भावः साकल्यम् अनन्तधर्मात्मकता । तत्प्रतिपादक  
वचनम् ऐवमुक्तम्, पिपर्यस्य विपर्ययिण्युपचारात् । विकलस्य एकदेशस्य भावो वैक-  
१० ल्यम्—एकान्तः, तदादेशः तथोक्तः । कुत ? इत्याह—‘धर्मान्तर’ इत्यादि । विवक्षित-  
धर्माद् अन्यो धर्मः तदन्तरं तस्य अविबक्षितं, नान्यथा दुर्नयत्वप्रसङ्गात् । नैव  
शब्दस्य अर्थे सम्यग्धाभावतः प्रवृत्तेरेवाऽसम्भवात् न सकलविकलादेशप्ररूपेण युक्तम्,  
इत्याह—‘तत्र’ इत्यादि । तत्र अनन्तात्मके तत्त्वे स्थिते सति, यदि वा तत्र एव  
स्याद्वादनयस्वरूपे निरूपिते सति ‘जीम’ इत्युक्ते जीमशब्दः अवाप्तरविशेषरहित  
१५ जीममात्रमेव अभिदध्यात् । कथम्भूतम् ? इत्याह—‘योग्यता’ इत्यादि । योग्यतायाम्  
अपेक्षा यस्य योग्यता वा अपेक्षते इति योग्यतापेक्षः, अनादिः सङ्केतो यस्य स  
तथोक्तः । ‘योग्यता’ इत्यनेन तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धविरहः नित्यैकरूपसम्ब-  
न्धाऽऽसत्त्वेऽपि च शब्दार्थयोः वाच्यवाचकभावः दर्शयति, योग्यतास्वभावसम्बन्धसम्भ-  
वात् । एतच्च सप्रपञ्चं प्राक् प्रपञ्चितम् ।

२० ननु योग्यतातोऽपि शब्दस्य अर्थप्रतिपादकत्वे एकस्माच्छब्दात् युगपदनेकार्थ-  
प्रतिपत्तिः स्यात्, सर्वस्य शब्दस्य सर्वत्रार्थे प्रतिपादनयोग्यतासम्भवात्, तदनुपपन्नमिति  
‘सङ्केत’ इत्यनेन दर्शयति—सत्यामपि अनेकार्थप्रतिपादनयोग्यतायां विनियतसङ्केत-  
वशाद् विनियतार्थप्रतीत्युपपत्तेः । एतच्च ‘प्रमाणं श्रुतम्’ [ लघी० का० २६ ]  
इत्यत्र प्ररूपितम् । ननु यदा जीवशब्दोऽर्थमभिधत्ते न तदा पूर्वसङ्केतोऽस्ति तत्कथं  
२५ तदपेक्षायां नियताधप्रतीतिहेतुत्वमिति चेत्, न, ‘अस्यैव वाच्यम् इदं वाचकम्’ इति  
विनाशस्य सङ्केतत्वात्, तस्य च तदापि भावात् । न चेदमवान्तरकल्पितम् इति अनादि-  
पदा दर्शयति । ननु जीवमात्रमभिदध्यात् इत्ययुक्तम्, अन्यापोहस्यैव तातेरय-

(१) गार्हपत्यगन्तव्यं । (२) अनन्तधर्मात्मकस्वरूपमात्रस्य वाच्यस्य । (३) वाचकं स्या  
ज्ञः सत्त्वान्ते । (४) न तु घटान्तरस्य प्रति । (५) सौम्यतः । (६) गवाक्षस्य गवाक्ष  
प्रतीतिरनन्तरप्रमत् । (७) अनादिमिदृतागस्य जीवगन्तव्यस्य । (८) पितृस्य । (९) बोद्धा ।  
(१०) श्रीमानका ।

१—कामान्तरं प्रका-२० । - इतरेषु पु ५० । ३—कस्य वादेन—५० । । अनन्तरमन्तरत्वे तत्त्वे  
४० । - यो नियत—५० । ६ पूष सङ्केतो—२० ५० । ७ वेदास्य सङ्केतस्यात् ५० ।

अन्योन्यविभिन्नतद्द्वयस्यैव वा शब्दार्थत्वात्; इत्यत्राह—‘स्वभाव’ इत्यादि। स्वभावभूतः अन्यतः सर्वतोऽपोहः पररूपेण असत्त्वं यस्य स तथोक्त स चासौ स्वार्थश्च स्वाभिधेयः तस्य प्रतिपादनः जीवशब्दः तन्मात्रमभिदध्यात्। किं कृत्वा ? निरस्य। कम् ? प्रतिपक्षम्, प्रत्यनीकं मतम् अपोहादिमात्राभिधायित्वलक्षणम्। कथम् ? न्यक्षेण सामस्त्येन। यथा च अपोहादेः शब्दार्थता न घटते तथा ‘प्रमाणं श्रुतमर्थेषु’ [ लघो० का० २६ ] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्रतिपादितम्। ततः तस्मात् न्यायात् स्यात्पदप्रयोगात् सर्वथैकान्तस्य ‘सन्नेव जीवः, असन्नेव, द्रव्यरूप एव, पर्यायरूप एव वा’ इत्येवं-रूपस्य त्यागात् निरासात्, स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्टः स्वद्रव्यक्षेत्रादिविशेषण-विशिष्टः जीवः जीवशब्देन अभिधीयते इति स्वेष्टस्य अनेकान्तात्मनो जीवस्य सिद्धिः।

एवं प्रमाणवाक्यमुपदर्श्य साम्प्रतं नयवाक्यं दर्शयन्नाह—‘नयोऽपि’ इत्यादि। नयोऽपि नयवाक्यमपि न केवलं प्रमाणवाक्यम्, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तः सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, अन्यथा मिथ्यैकान्तगोचरः स्यादिति। अधुना एवकारप्रयोगोपयोगं दर्शयन्नाह—‘स्यात्’ इत्यादि। ‘अनेकान्तः’ इत्येतदनुवर्त्तमानमिह सम्बध्यते। ततोऽयमर्थः सिद्धः—स्यात् कथञ्चित् जीव एव ज्ञानवर्धनसुखवीर्यैः धर्मैः अनेकान्तः नान्यः इति एवकारार्थः। इत्येवमुक्ते एवं वाक्ये प्रयुक्ते सति नैकान्त-विषयः किन्तु अनेकान्तविषयः स्याद् भवेत् शब्दः ‘स्याज्जीव एव’ इतिवाक्यम् अनेकान्तरूपस्य तस्यै अभिधानात्। ‘स्यादस्त्येव जीवः’ इत्युक्ते सति एकान्त-विषयः सम्यगेकान्तगोचरः स्याद् भवेत् शब्दः ‘स्यादस्त्येव’ इति वाक्यम्, प्रधानतः तदस्तिनैकान्तप्रतिपादनात्। एयमुत्तरभङ्गेष्वपि वक्तव्यम्।

ननु न सर्वत्र वाक्ये लौकिकाः स्यात्कारमेवकारश्च प्रयुज्यते, अन्यथैव तत्प्रयोग-दर्शनात्, अतो न युक्तमेतदित्यारेकापनोदार्थमाह—

अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते।

विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः ॥ ६३ ॥

(१) मीमा । (२) स्यात्पदप्रयोगाभावे । (३) जीवस्य । (४) स्यात्पदप्रयोगेत्यादिपु । (५) स्यात्पदप्रयोगनियमः । (६) “प्रतीयतेऽभिगम्यते । क ? स्यात्कारः स्यादिति पदमभ्यवम्, नव ? सर्वत्र शास्त्रे लोके वा । कस्मिन् विषये ? विधौ सत्त्वादी साध्ये । न केवल विधी किन्तु निषेधेऽपि असत्त्वादावपि साध्ये । अन्यत्रापि अन्यस्मिन् अनुवादादिदेशादावपि । किञ्चिदिष्टोऽपि अप्रयुक्तोऽपि स्यादस्ति जीव इत्यनुक्तोऽपि । तर्हि कुत प्रतीयते इति चेदत्राह—अर्थात् सामर्थ्यात् । “चेद्यदि कुशल स्यात् व्यवहारे प्रबुद्ध स्यात् । क ? प्रयोजक प्रतिपादक । “—लघो० ता० पू० ८६ । उद्धृतोऽयम्—‘विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र’—आब० नि० मलय पू० ३६९ B. । गुरुतरवधि० पू० १६ A. । तुलना—‘विधक्षातोऽप्रयोगेऽपि सर्वोऽर्थात् प्रतीयते ॥ व्यवच्छेदकं वाक्य यथा चैत्रो धनुर्धर । पार्थो धनुर्धरो

१—द्रव्य-आ०, थ० । २ तथो स आ० । ३ ‘नयोऽपि’ नास्ति व० । ४ ‘नयवाक्यमपि’ नास्ति आ० । ५—पदयोग-श्र० । ६ प्रयुज्यते आ० । ७—युक्तेऽपि म० लघो० ।

विवृतिः—कचित्स्यात्कारमनिच्छद्भिः सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात् । अवधारणाभावेऽपि अनेकान्तनिराकरणस्य अवश्यंभावित्वात् अन्यथा प्रमाणनययोरभेदप्रसङ्गः । किं बहुना विधिनिषेधानुवादातिदेशादिवाक्येषु कारकेषु कर्त्रादिषु स्वार्थादिषु प्रातिपदिकार्थेषु साधनदूषणतदाभासवाक्येषु स्याद्वादमन्तरेण प्रस्तुताऽप्रसिद्धिः इत्यावालप्रसिद्धम् ।

अप्रयुक्तोऽपि न केवलं प्रयुक्तः सर्वत्र वाक्ये स्यात्कारः, उपलक्षणमेतत्

कारिकार्थं—तेन एवकारोऽपि प्रतीयते । कुत इत्याह—अर्थात् सामर्थ्यात् । तथाहि—‘पानीयमानय’ इत्युक्ते यदि पानीयस्य अन्यस्य क्षानयनं

लौकिकानामभिप्रेतं स्यात्तदा पानीयपदोपादानमनर्थकं स्यात् । अथाप्यनानयनमभिप्रेतम्, आनयनग्रहणं व्यर्थम् । अस्ति च तदुभयग्रहणम्, अतः एवकारप्रतीतिः इति । क ?

विधौ निषेधेऽपि, भिन्नप्रक्रमः अपिशब्दः ‘अन्यत्र’ इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । अन्यत्रापि अनुवाद-अतिदेशादावपि । अथ यदि सर्वत्र सः प्रतीयते ‘अङ्गुल्यमे हस्ति-यूधशतमास्ते’ [ ] इत्यादावपि प्रतीयेत । तथा च “सर्वस्योभयरूपत्वे” [प्रमाणवा० ३।१८१] इत्यादिदोषानुपपन्नः स्यात् इत्यत्राह—‘कुशलः’ इत्यादि । यथा योऽर्थः प्रमाणतः प्रतिपन्नः तथैव तस्य प्रतिपादकः प्रयोजकः कुशलो भवेत् नान्यथा, स चेत् यदि प्रयोजकः शब्दानामिति ।

व्यतिरेकमुखेन कारिका विवृण्वन्नाह—‘कचिद्’ इत्यादि । कचिद् विध्यादिवाक्ये

स्यात्कारमनिच्छद्भिः एकान्तयादिभिः सर्वथा धर्मापेक्षया इयं विवृतिव्याख्यानम्—धर्म्यपेक्षयाऽपि, यद्वा यथा धर्म्यपेक्षया तथा धर्मापेक्षयापि एकान्तः

सर्वथैकान्तः सोऽभ्युपगतः स्यात् तत्र च प्रमाणविरोधः इत्यभिप्रायः । अतस्तद्विरोधं परिहर्तुमिच्छता सर्वत्र स्यात्कारोऽभ्युपगन्तव्यः । एव व्यतिरेकमुखेन सर्वत्र स्यात्कारप्रसाध्य इदानीं तथैव एवकारप्रसाधयन्नाह—‘अवधारण’ इत्यादि । अवधारणस्य एवकारस्य अभावेऽपि न केवलं स्यात्काराभावे ‘सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्’ इति सम्वन्धः । कुत एतदित्यत्राह—अनेकान्तनिराकरणस्य अवश्यंभावित्वादिति ।

नीलसरोजमिति वा यथा । —प्रमाणवा० ४।१९१ ९२। सामर्थ्याच्चाप्रयोगेऽर्थो गम्य स्यादेवकारयो । —सिद्धिबि० टी० पृ० ५०७ B । न्यायबि० का० ४५३। ‘सोऽप्रयुक्तोपि वा तज्ज्ञेयं सवत्रार्थात् प्रतीयते । यथवसारोऽप्योगादिबन्धच्छेदप्रयोजनः । —तत्त्ववाचसो० पृ० १३७। स्या० रत्ना० पृ० ७१८। रत्नाकरावता० पृ० ६१ । सप्तमर्गतं पृ० ३१ । स्या० म० पृ० २७९ । नयप्रदीप० पृ० ९६ A ।

(१) तुङ्गना—‘अत्रान्यत्रापि इति—अनुवादातिदेशादिवाक्येषु । —आद्य० नि० मलय० पृ० ३९९ B । (२) पृ० ५३० टि० ३ । (३) पृ० ६२० टि० ५ ।

1—निराकाराभ्युपगमस्यावश्यं—इ० वि० । 2—युक्तो न व० । 3—यमेतेन एव—व० । 4—क्षानयनं व०, थ० । 5—इष्टम्यम् व० । 6—पेक्षया तथा धर्मापेक्षयाप्येकान्तं थ० । 7—मुख्यं आ० । 8—अभावे न के—व० । 9—इत्याह व० ।

तथाहि—‘ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव एव’ इति अन्ययोगव्यवच्छेदेन जीवस्यैव ऐतत्त्व-  
क्षणलक्षितस्य अनेकान्तानभ्युपगमे अजीवोऽपि तैत्त्वक्षणः स्यादिति वहिर्यव्यवस्था-  
विलोपः, तद्विलोपे च सकलप्रमाणप्रमेयादिव्यवहारापहारः । ‘तत्त्वक्षण एव सः’ इति  
अयोगव्यवच्छेदानभ्युपगमे च रूपादिरप्येतत्त्वक्षणं स्यात् इति जीवेतरविभागाभावः  
स्यात् । ‘भयत्येव’ इत्यवधारणाभावे अत्यन्तायोगव्यवच्छेदः स्यात् ।

ननु साक्षात्प्रयुक्तस्य सामर्थ्यगम्यस्य वा एवकारस्यैव प्रतीतिर्युक्ता तैत्त्वस्थस्य  
अयोगादिव्यवच्छेदफलस्य सर्वत्र वाक्ये संभवात् पुनः स्यात्कारस्य निष्फलत्वान् । उक्तञ्च—  
‘अयोगमपरैर्यागमत्यन्तायोगमेव च ।

व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेकः ॥” [ प्रमाणवा० ४।१९० ]

(१) “विशेषसङ्गतवकारोऽयमयोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा पार्थ एव धनुर्धर । अन्ययोगव्य-  
वच्छेदो नाम विशेष्यभिप्रतादात्म्यादिव्यवच्छेदः । तत्र एवकारेण पार्थान्यतादात्म्याभावो धनुर्धरे  
बोध्यते । तथा च पार्थान्यतादात्म्याभाववद्धनुर्धराभिन्न पार्थ इति बोधः ।”—सप्तभिग० पृ० २६ ।  
“तत्र विशेष्यतैवस्थले पार्थ एव धनुर्धर इत्यादौ अन्यतादात्म्यव्यवच्छेदोऽर्थः । अन्यत्वञ्च समभिव्या-  
हृतपदार्थपेक्षिकम् । तथा च पार्थान्यतादात्म्याभाववद्धनुर्धराभिन्न पार्थ इति बोधः ।”—वैयाकरणभू०  
२० पृ० ३७० । “यद्वा पार्थान्यस्मिन् प्रसक्तधनुर्धरत्व व्यवच्छिद्यते ।”—वाच० । न्यायको० पृ०  
१९१ । (२) ज्ञानदर्शनोपयोगः । (३) एवकाराभावे अजीवोऽपि ज्ञानादिमान् स्यात्तथा च सर्वस्य  
चेतनात्मकत्वप्राप्त्या बाह्यद्रव्यस्य अचेतनस्य सर्वथाऽभावः स्यादिति भावः । (४) बाह्यार्थापलापे हि  
प्रमाणादिव्यवस्थाऽभावः, बाह्यार्थापलापे हि ज्ञाने प्रमाणतदाभास व्यवहारो भवति “वहिः प्रमेया-  
पेक्षायाः प्रमाणं तन्निभञ्च ते” (आप्तमी० का० ८३) इत्याभिधानात् । (५) तानि ज्ञानदर्शनादीनि  
लक्षणानि यस्य जीवस्य असी तत्त्वक्षणः । (६) ‘विशेषसङ्गतवकारोऽयमयोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा  
शङ्ख पाण्डुर एवेति । अयोगव्यवच्छेदो नाम उद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावात्प्रतिभोगित्वम् ।”—  
सप्तभिग० पृ० २५ । ‘विशेषसङ्गतवस्थल अयोगव्यवच्छेदः शङ्ख पाण्डुर एव’ इत्यादौ शङ्खत्वा-  
वच्छेदेन पाण्डुरत्वत्वसमवायाभावव्यवच्छेदबोधनात् ।”—वैयाकरणभू० २० पृ० ३७० । “अत्र शङ्खत्वा-  
वच्छेदेन पाण्डुरत्वायोगव्यवच्छेदो बुध्यते । अथवा विशेष्ये शङ्खे पाण्डुरत्वायोगव्यवच्छेदो बोध्यते ।”—  
(भ० प्र० १ पृ० ७)”—न्यायको० पृ० १९१ । (७) एतस्य जीवस्य लक्षणं स्यात् । (८) जीव-  
ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो भवत्येव । (९) त्रियासङ्गतवकारोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधकः यथा नीलं सरोजं  
भवत्येव ।”—सप्तभिग० पृ० २६ । वैयाकरणभू० २० पृ० ३७० । “सरोजे नीलत्वात्यन्तायोगो  
व्यवच्छिद्यते ।”—वाच० । न्यायको० पृ० १९२ । (१०) एवकारसाध्यस्य । (११) ‘अयोग योगम-  
परैरत्यन्तायोगमेव च । निपात एवकारो व्यतिरेकः नियामकः क्वचिद् धर्मस्य विशेषणस्य अयोग व्यवच्छिनत्ति ।  
क्वचिदपरं विद्याप्यादर्थं योऽर्थं व्यवच्छिनत्ति क्वचिदत्यन्तायोग व्यवच्छिनत्ति । ननु निपातो न स्वयं  
वाचकः किन्तु द्योतकः तदस्य कथमयमर्थप्रभेद इत्याहुः—विशेषणविशेष्याभ्यां त्रियया च सहोदितः ।  
द्योतकत्वादेव निपातो विशेषणेन सहोदितोऽयोगस्य व्यवच्छेदकः । विशेष्येण सहोक्तोऽयमयोगस्य, त्रियया  
च सहोक्तोऽत्यन्तायोगस्यति विशेषणादिपदवाच्य एव अयोगव्यवच्छेदादि तत्सहोक्तनिपातद्योत्य  
इत्यर्थः ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९० । तुलना—सिद्धिबि०, टी० पृ० ५०७।१ । “यद्विनिश्चय-  
—अयोग योगमपरं”—पट्ट० बृह० पृ० १४ । न्यायवा० टी० टि० पृ० १७ । “यदुक्तम्—अयोगमन्य-  
योगञ्च अत्यन्तायोगमेव च । व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः ॥”—काम्यप्र० टी० पृ० ८८ ।

निपात एवकारः व्यतिरेकः निवर्तकः । तत्र 'चैत्रो धनुर्धर एव' इत्यत्र अयो-  
गव्यवच्छेदः, तथाहि-परप्रतिपत्तये वाक्यं प्रयुज्यमानं यदेव परेण व्यामोहादाशङ्कितम्  
तदेव व्यवच्छिन्नमिति, चैत्रश्च लोके धनुर्धरो न प्रतीयते, तत्रचैत्रस्य अधनुर्धरत्वशङ्काव्यव-  
च्छेदेन धनुर्धरत्वविधानार्थं 'चैत्रो धनुर्धर एव' इति वाक्यं प्रयुज्यते । 'पार्थ एव धनु-  
र्धरः' इत्यत्र अन्ययोगव्यवच्छेदः । नहि पार्थे अधनुर्धरत्वाशङ्का कस्यचिदस्ति धनु-  
र्धरत्वेन अत्रिलज्जनप्रसिद्धत्वात्तस्य । तस्मात् यदतिशयबद्धधनुर्धरत्व तत् पुरुषान्तर-  
साधारणमाशङ्कितमिति तद्व्यवच्छेदाय 'पार्थ एव धनुर्धरः' इति वाक्यं प्रयुज्यते ।  
'नील सरोज भवत्येव' इत्यत्र तु अत्यन्तायोगव्यवच्छेदः, यदा हि सरोज नीलवर्णवि-  
चिक्तं प्रसिद्धमिति नीलत्वमस्य नास्तीति आशङ्कितं भवति तदा तद्व्यवच्छेदाय 'नील  
सरोज भवत्येव' इति वाक्यं प्रयुज्यते इति ।

तैदसमीक्षिताभिधानम्, स्यात्कारमन्तरेण इष्टानिष्टयोर्विधिनिषेधानुपपत्तेः,  
तथाहि- 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्युक्ते सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामन्यपुरुषाणां धानुर्धर्याभावः  
प्रतीयते, तत्र च प्रत्यक्षादिविरोधः । अथ विशिष्टं तदन्यपुरुषेषु प्रतिनियतदेशकाला-  
पेक्षया प्रतिषेद्धुमिष्टं न धनुर्धरत्वमात्रं ततोऽयमदोषः, ननु अयमर्थः स्यात्कारप्रसा-  
दादेव प्रत्येत्तु शक्य इति, एतत्प्रयोजनत्वात् कथं सौ निष्फलं यतः साक्षात्प्रयुक्तस्य  
मामर्शगम्यस्य वा अस्य सर्वत्र वाक्ये प्रतीतिर्न स्यात् ? तथा 'चैत्रो धनुर्धर एव'

(१) 'यत्र यमिणि धमसद्भावः सन्निह्यते सत्राप्रयोगव्यवच्छेदस्य न्यायप्राप्तत्वात् । अत्र  
दृष्टान्तो यथा चैत्रो धनुर्धर इति । चैत्रं हि धनुर्धरत्वं सन्निह्यते किमस्ति नास्तीति । ततश्चैत्रो  
धनुर्धर इत्युक्तं पक्षान्तरमधनुर्धरत्वं ध्योतयताऽश्लेषस्यापि निराकरोति अयोगव्यवच्छेदोऽत्र न्यायः  
प्राप्तः । -प्रमाणवा० स्वर्ग० टी० पृ० १५ । चैत्रं धनुर्धरत्वसन्देहात् विग्रहणं अयागमानं व्यव-  
च्छिद्यत । -प्रमाणवा० मनोरम० ४।१९२ । (२) यथा पार्थो धनुर्धर इति सामान्यशब्दोऽन्यत्र  
धनुर्धरत्वम् । अत्र एव सामान्योक्तिना प्रकृत्युक्तवृत्तिरिह पार्थे हि धनुर्धरत्वं सिद्धमिति नाभ्योगाशङ्का ।  
तादृशं तादृशं किमन्यत्राप्यस्ति नास्ति इत्यन्ययोगशङ्कायां ध्योतयतां पार्थो धनुर्धर इत्युक्तं तदा  
सतिप्रायं पार्थ एव धनुर्धरा नाय इति प्रतीयते । तत्रात्र अयोगव्यवच्छेदो न्यायप्राप्तः । -प्रमाणवा०  
स्वर्ग० टी० पृ० १५ । 'पार्थो धनुर्धरत्वं प्रसिद्धमेव किन्तु तादृशमयस्यापि किमस्तीति सन्देहः अन्ययो-  
गव्यवच्छेदश्च विग्रहणम् । -प्रमाणवा० मनोरम० ४।१९२ । (३) अनुते । (४) 'न सत्तु स्वमव-  
नीर्त्तं सरोजं यनायागव्यवच्छेदः स्यात्, नापि सरोजमव नीलं यत्र अयोगव्यवच्छेदो भवत् । किन्तु  
'नात् सरोजं मन्वति न वा' इत्यन्तायागशब्दहं विग्रहणं स एव व्यर्थश्चिद्यत । -प्रमाणवा०  
मनोरम० ४।१९२ । (५) यादृशं धनुर्धरत्वं पार्थे न नाट्यमय इति । (६) मुक्ता- यत्रापि अन्ययो-  
गव्यवच्छेदोऽत्रिभ्यस्तत्रात्रां पार्थविशेषो व्यर्थश्चिद्यत न यागमात्राय च, यादृशं पार्थे धनुर्धरता तादृशमयत्र  
नास्तीति । -तत्त्वार्थवा० व्या० पृ० ४०९ । (७) स्यात्कारः ।

‘नीलं सरोजं भवत्येव’ इत्यत्र अयोगाऽत्यन्तायोगयोः सर्वथा व्यर्थच्छेदे चैत्र-धनुर्धर्ययोः नीलसरोजयोश्च अन्यतरदेव स्यात् । अथ स्वस्वरूपापरित्यागेनैव अनयोः अयोगाऽत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेदः ननु अन्योन्यस्वरूपस्वीकारेण अतोऽयमदोषः; तत्र; स्यात्कार-मन्तरेण अस्यार्थस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् ।

किञ्च, ‘चैत्रो धनुर्धरः’ इत्यादिवाक्येषु धनुर्धरत्वादिभिः अयोगादिव्यवच्छेद-कुर्वता एवकारेण अधनुर्धरत्वादीनामशब्दवाच्यानामपि तैतोऽन्यत्वाभिगृह्णतिर्यदि “विधी-यते; तर्हि शूरत्वोदारत्वादिधर्माणामपि “विधीयतां शब्दवाच्येभ्यो धनुर्धरत्वादिभ्योऽन्यत्वाविशेषात् । अथ यो धर्मो यत्र निर्यम्यते तद्विरोधिन एव तत्र निवृत्तिः चैत्रे च धनुर्धरत्वनियमे अधनुर्धरत्वं विरुद्धम्, पार्थे च असाधारणधनुर्धरत्वविधौ सकलजगत्सा-धारण तैव विरुद्धम्, सरोजे च नीलत्वसंभवविधौ तदसंभवमात्रं विरुद्धम्, अतः तस्यै-वाऽतो निवृत्तिः ननु शूरत्वादिधर्माणाम् तेषां तदन्यत्वेऽप्यविरुद्धत्वात् इति; तदेतदन्ध-सर्पविलप्रवेशन्यायमनुसरति, एवंविधप्रविभागस्य स्याद्वादानभ्युपगमे अनुपपत्तेः । ननु नदभ्युपगमेऽपि शब्दानभिधेयत्वाविशेषे कथं विरोधिन एव निवृत्तिः ननु सर्वस्य इति चेत्; तथा सामर्थ्यात् । स्वार्थप्रतिपादनाय हि शब्दप्रयोगो न व्यसन्नितया । स्वार्थश्च भावाभावात्मकः प्रत्यक्षवत् शब्देऽपि प्रतिमासते । भावाभावव्यवहारश्च स्वरूपप्रतियो-ग्यपेक्षानिवन्धनः । नच अविरुद्धस्य प्रतियोगित्वं युक्तम्, अतः कथं सर्वस्य निवृत्तेः शङ्कापि इति ? ततः स्थितम् ‘अवधारण’ इत्यादि ।

(१) तुलना-“अयोगव्यवच्छेदेन हि अस्तित्वा योग इष्यते । स च योग किं सामान्यरूपेण अस्तित्वा प्रत्याव्यतेऽयं विशेषरूपेण उतोभयरूपेणति सर्वथा प्राक्तनदोषप्रसङ्गः । व्यवच्छेदोऽपि अस्तित्वसामान्यायोगस्य वा अस्तित्वविशेषायोगस्य वा उभयायोगस्य वा ?”-तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ४०९ । “चैत्रस्य धनुषा अयोगे व्यवच्छिन्ने योग प्रतिपादितो भवेत् इतरथा चैत्रो धनुर्धर एवेति प्रयोगानुपपत्तिः । सैव सर्वथा कथञ्चिद्वा स्यात् ? आद्ये पक्षे चैत्रस्य धनुषाभ्यामे व्यवच्छिन्ने सति न चैत्रता सिद्धयेत् धनुर्भावः सिद्धयेत् । केपामित्याहु-स्याद्वादविद्विषाम् एकान्तवादिनामित्यर्थः ।”-सिद्धिवि० टी० पृ० ५०८ B । (२) “अत्यन्तायोगव्यवच्छेदेऽपि अत्यन्तमयोगो नास्ति योग एव सर्वथा, अथवा कदाचिदस्ति कदाचिन्ना-स्तीत्येव च विकल्पद्वयेऽपि प्राच्य एव प्रसङ्गो योग्यः ।”-तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ४०९ । “यच्चान्यदुक्त-क्रियया सहोदितोऽत्यन्तायोगमेव च व्यच्छिनति निपातो व्यतिरेक इति, तत्र दूषणमाहु-प्राप्तमि-त्यादि । नीलं सरोजं भवत्येवेति चेत् यदि तर्हि समन्तात् नित्यं सर्वदा नीलं सरोजेकरूपं व्यक्तं यथा भवति तथैवं जगत् प्राप्तम् । अयमभिप्राय-सर्वथा कथञ्चिद्वा नीलं सरोजं भवत्येव ? प्रथमपक्षेऽपि दोषः, अन्यत्र अनेकान्त इति ।”-सिद्धिवि० टी० पृ० ५१० A । (३) धनुर्धरत्वात् । (४) निवृत्ति-विधीयताम् । (५) धनुर्धरत्वम् । (६) नीलत्वासंभवमात्रम् । (७) एवकारात् । (८) धनुर्धरत्वा-द्भिन्नत्वेऽपि । (९) धनुर्धरोऽपि स्यात् शूरश्च उदारश्च इति न कोऽपि विरोधः । (१०) स्वरूपस्य प्रतियोगिनश्चापेक्षा, स्वरूपापेक्षो भावव्यवहारः प्रतियोग्यपेक्षो भावव्यवहार-आ० टि० ।

१ व्यवच्छेदान्तर-व० । २ अथ स्वरूपा-व० । ३ विधीयेत य० । ४-यस्यते आ० । ५-युक्ते-य० । ६ ननु आ० । ७ स्वार्थत्वभावात्मक व० । ८-त्मक प्र-य० । ९ निवृत्ते शकापि आ० ।



ननु 'जीवोऽस्ति' इत्युक्ते तत्र अस्तित्वम्, 'नास्ति' इत्युक्ते नास्तित्वम्, उभय-  
वचनेन उभयं प्रतीयते अतो न युक्तम् 'अवधारण' इत्यादि; इत्यत्राह—'अन्यथा' इत्यादि ।  
अनेकान्तनिरासस्य अवश्यंभावित्वाभावप्रकारेण अन्यथा प्रमाणनययोरभेदप्रसङ्गात्  
कारणात् 'सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्' इति सम्बन्धः । अवधारणाभावे धर्मिवत्  
५ धर्मेऽपि अनेकान्तप्रसङ्गात् । अपरमपि स्याद्वादमन्तरेण नश्यति इति दर्शयन्नाह—'किं  
बहुना' इत्यादि । किम् ? न किञ्चित् बहुना 'उक्तेन' इत्याद्याहारः । विधिनिषेधा-  
नुवादातिदेशादिवाक्येषु, आदिशब्देन नियमादिवाक्यपरिग्रहः, कारकेषु कर्त्रादिषु,  
स्वार्थादिषु आदिशब्देन लिङ्गादिपरिग्रहः, प्रातिपदिकार्थेषु साधनदूषणतदाभास-  
वाक्येषु, चशब्दः अत्र समुच्चायार्थो द्रष्टव्यः । स्याद्वादमन्तरेण 'प्रस्तुताऽप्रसिद्धिः'  
१० इति सम्बन्धः । इति एवम् आबालप्रसिद्धम् न स्वेच्छया कल्पितमिति यावत् ।

ननु शब्दः सर्वोऽपि विवक्षाप्रतिबद्धत्वात् तामेव गमयति नार्थम्, अतोऽयुक्त-  
मुक्तम्—'तत्र जीव इत्युक्ते' इत्याद्याशङ्क्याह—

वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान् ।

वाञ्छितांश्च कचिन्नेति प्रसिद्धिरियमीदृशी ॥६४॥

स्वेच्छया तामतिक्रम्य वदतामेव युज्यते ।

वैकत्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्विति ॥६५॥

विवृतिः—वर्णपदवाक्यानां वाचकत्वं यथास्वम् आगमात् प्रतिपत्तव्यम् ।  
वैकत्रभिप्रायाद् भिन्नस्वार्थस्य वाचकाः शब्दाः सत्यानृतव्यवस्थाऽन्यथानुपपत्तेः ।  
अयं च प्रसङ्गोऽन्यत्र विस्तरेणोक्तः इति नेह प्रतन्यते । शब्दानामर्थव्यभिचारित्वे

(१) अनेकान्तनिरासोऽयस्य भवतीति न—आ० टि० । (२) स्याज्जीव सन्नेवेति हि नपवाक्यम्,  
अत्र चेदवधारण न श्रियते तदा यथा धर्मिणि जीवे अवधारणरहिते अनेकान्तोऽस्ति तथा धर्मेऽपि  
अस्तित्वाभ्ये स प्राप्नोति, नयरूपञ्चेदम्, धर्मिण्यनेकान्तं धर्मे एकान्तं—आ० टि० । (३) बोद्ध ।  
(४) "प्राहुरनिदधति । के ? वर्णा अथराणि गवारादीनि । तथा पदानि गवादीनि तथा वाक्यानि  
च गामानपेत्वादीनि । वान् ? व्यर्थान् अभिप्रेयान् । किं विधिष्टान् ? अवाञ्छितान्, अविवक्षितान्  
भूम्यादीन्, वाञ्छितामश्च विपक्षितानपि सास्नादिमदादीन् । क्वचित् मन्दर्वादिषु प्रतिपाद्येषु न प्राहुः तेषां  
ततोऽप्यापिगमाभावात् इत्यत्र प्रचार सर्वजनप्रतीता प्रसिद्धि रूढि । ईदृशी विविधा व्यवहारिभिरभ्यु-  
पगन्तव्या तर्पणार्थक्रियोग्रसते । ता प्रसिद्धिमतित्रयैव उत्लब्धैव । स्वेच्छया स्वरभावेन वदता  
वचयतां शीघ्रताना युज्यत मुक्तं भवतीति, अधिधेयवचनम् । वचम् ? शब्द सूचक वाचकम् । वच्य ?  
वक्तृभिप्रेतमात्रस्य वस्तु प्रयोजनवस्थानिप्रेतमभिप्रायो विवक्षा तावन्मात्रस्यैव न बहिरर्थस्यति । नु  
अहं आदत्तपक्षित्वाधेनो गम्यते, सामान्याविद्यापत्यना बहिरर्थस्य शब्दप्रयोगात्प्रतीतस्तत्त्वं तदर्थत्वान्  
अभिप्रायस्य तत्र शब्दव्यवहारीति ।—सूची० ता० पृ ८७ । (५) तुलना—'तदुक्तम्—विवक्षाप्रनवा हि  
यस्यान्तामव संयुक्तम् ।'—तत्त्वोप० पृ० १२० ।

अभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतोऽपनीयते सुपुत्तादौ वाग्वृत्तेर्दर्शनात् । अनिच्छतामपि अपशब्दादिभाषणसद्भावात् वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीनां शास्त्रवक्तृत्वाभावात् । उभयत्र व्यभिचारान्न कस्यचिद्वाचकाः शब्दा इति अलौकिकप्रतिभानम् । लोको हि अर्थस्याप्त्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्थामातिष्ठेत् शब्दस्य नाभिप्रायमात्रे तत्र शब्दव्यवहारबाहुल्याभावात् । अवाधितां तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रमाणप्रमेय-  
स्वरूपमातिष्ठमानानां युक्तम्-अभिप्रेतमात्रसूचकत्वं शब्दानाम् ।

वर्णपदवाक्यानि प्राहुः, काव ? अर्थान् घटादीन् । किंविशिष्टान् ?

कारिकार्य -

अवाञ्छितान् वाञ्छयाऽविषयीकृतान् वाञ्छितांश्च तद्विषयी-

कृतांश्च शास्त्रव्याख्यानाद्यर्थान् क्वचित् मन्दबुद्धिप्राणिषु न प्राहुः

इति एवं प्रसिद्धिः लोकप्रतीतिरियं सकलजनसाक्षिकी । ईदृशी विचित्रा । तदन-  
भ्युपगमे दूषणमाह-‘स्वेच्छया’ इत्यादि । स्वेच्छया स्वाभिप्रेतप्रक्रियामात्रेण तां  
प्रसिद्धिमतिक्रम्यैव वदतां सौगतानां युज्यते । किं तद् ? इत्याह-वक्त्रभि-  
प्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्विति ।

ननु वर्णादयोऽर्थानयाञ्छितान् किमनित्याः सन्तः प्रतिपादयन्ति, नित्या वा ?

तत्रायः पक्षोऽनुपपन्नः; अनित्यत्वे तेषाम् उत्पन्नमात्रप्रभ्यसित्वेन 18

शब्दनित्यत्ववादिना

मीमांसकानां पूर्वपक्ष -

सङ्केतव्यवहारकालाननुयायित्वत् तत्प्रतिपादकत्वानुपपत्तेः । द्वितीय-

पक्षस्तु उपपन्नः, नित्यानां तेषां तदनुयायित्वेन तत्प्रतिपादकत्वोपपत्तेः ।

प्रमाणतः तन्नित्यत्वस्यैव प्रसिद्धेश्च । तथाहि-‘स एवाऽय गकारः’ इत्यादि प्रत्यभिज्ञा-

(१) तुलना-‘विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते । वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥’-न्यायमि० का० ३५४ । ‘विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता । वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥’-प्रमाणत० का० १६ । प्रमाणत० टि० पृ० १७३ प० २३ ।

(२) तुलना-‘बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थं सति नासति । सत्यानृतव्यवस्थैव युज्यतेऽर्थाप्यनाप्तिषु ॥’-अर्थसमी० का० ८७ । (३) अर्थप्रतिपादकत्वाऽनुपपत्तेः । ‘यदा हि क्षणिकं शब्दो न शक्तोऽर्थावधारणे । न हि क्षणिकस्य सम्बन्धग्रहणं संभवति ॥’-मी० श्लो० शब्दान० श्लो० ३, न्याय० । (४) कुमारिलमते हि शब्दो नित्यः द्रव्यरूपश्च । ‘श्रोत्रमात्रनिर्ग्रवात् शब्दः शब्दत्वजातिमान् । द्रव्यं सर्वगतो नित्यः कुमारिलमते मतः ॥’-मानमेयो० पृ० २१८ । प्रभाकरमते च शब्दो नित्योऽपि आकाशस्य गुणो न तु स्वतन्त्रं द्रव्यम् । द्रष्टव्यम्-‘आकाशश्च शब्दवानिति, स एव श्रोत्र तद्गुणश्च शब्दः’-प्रक० प० न्यायशुद्धिकरणम् । (५) सङ्केतव्यवहारकालव्यापकतया । (६) ‘वयं तावत्प्रत्यभिज्ञानीमो न न करणदीर्घत्वम्, एवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति, स एवायमिति प्रत्यभिजानानां प्रत्यभिजानन्ति चेद्वयमिवान्येऽपि नान्य इति वक्तुमर्हन्ति ।’-शाबरभा० १।१।२० । ‘प्रत्यभिज्ञयैव कालान्तरावस्थायिता सिद्धयति, कालान्तरावस्थितिश्च सप्रत्यभिज्ञप्रत्यक्षगम्येत्युक्तम् ।’-बृहती० १।१।१८ । ‘शब्दोऽपि

१ कुतोऽपनीयते ज० वि० । २ अर्थस्यानाप्ति-ज० वि० । ३ तत्र शब्दव्यवहारस्थितिम-  
प्रतिक्रम्य स्वेच्छ-इ० वि० । ४ अवाधितमतिक्रम्य ज० वि० । ५-न सिद्धि-थ० । ६ त्विति आ० ।

७-स्या प्रति-व० । ८ ‘वा’ नाति- - -

रूपप्रत्यक्षत एव तावच्छब्दानां नित्यत्वं प्रतीयते । न चास्य अज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम् ; प्रतिप्राणि संवेद्यमानत्वात् । नापि संशयरूपम् ; एकांशावलम्बित्वात् । उभयांशावलम्बी हि प्रत्ययः संशयः, न चेदं तथा । नापि मिथ्यास्व(त्व) रूपम् ; अवाध्यमानत्वात् । यदेव हि ज्ञानं वाध्यते तदेव मिथ्या प्रसिद्धं यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानम् ; न चेद् देशकालनरान्तरेष्वपि बाध्यते । न च दुष्टकारणप्रभवत्वादस्याप्रामाण्यम् ; तर्कारणानां दुष्टत्वानिश्चयात् । नापि अधिगताधिगन्तृत्वात्, स्मर्यमाणानुभूयमानविशेषणावच्छिन्नस्य गकारादेः पूर्वसवेदनाविषयत्वात् । तदुक्तम्—

“यैः पूर्वावगतोऽंशोऽत्र स न नाम प्रतीयते ।

इदानीन्तनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम् ॥”

[ मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३३-३४ ] इति ।

10

प्रत्यक्षत्वश्चास्य श्रोत्रेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् सुप्रसिद्धम् । न च स्मृतिपूर्वकत्वादस्य अप्रत्यक्षत्व युक्तम् ; तत्पूर्वकत्वेऽप्यस्य संसंश्रयोगजत्वेन प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः । उक्तञ्च—

प्रत्यभिज्ञानात् प्रागस्तीत्यवगम्यते ।”-मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३३ । भाट्टचि० पृ० २९ । “एतदुक्तं भवति—प्रत्यभिज्ञास्यविशेषप्रत्ययवलेन ह्यस्तनाद्यतनगकारयोरेकत्वावगमाभित्यत्वमाश्रीयते .. अतो गत्वादिसामान्यनिवन्धनेन प्रत्यभिज्ञा सिद्धपति । एव सति व्यक्तिभेदे सामान्यं तदभावात् नास्ति सामान्यमित्येव वक्तव्यम्, अतः सिद्धं प्रत्यभिज्ञया शब्दस्य नित्यत्वम् ।”-शास्त्रही० पृ० ५४०, ५६८ । तत्प्रवरु० पृ० २६ ।

(१) प्रत्यभिज्ञानस्य । (२) प्रत्यभिज्ञानस्य मिथ्यास्वरूपमप्रामाण्यम् । (३) प्रत्यभिज्ञानम् । (४) प्रत्यभिज्ञानकारणानामिन्द्रियादीनाम् । “प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानं द्वेन्द्रियतयोरप्यते ।”-मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३७२ । (५) स एवायम्-आ० टि० । (६) पूर्वप्रत्यक्षः । (७) “ननु गृहीतमपि गृह्यते इति यत् प्रामाण्यमत आह य इति । तस्मिन्नेव मा भूत्प्रामाण्यम् अगृहीतकालान्तरसम्बन्धापेक्षमेव तु प्रामाण्यमिति ।”-साधार० । “ननु न केवलमधिकं गम्यते किन्तु प्रागवगतमपि इति यत् प्रामाण्यमत आह य पूर्वमिति । सविकल्पके हि सत्कार्यस्वरूपसम्बन्धबालसम्बन्धाः प्रवृत्ते तत्र शब्दादिरतोऽस्मृतिविषय इति मा नाम प्रमाणविषयो भवतु इदानीन्तनी तु वस्तुसत्ता न पूर्वमवधृतेत्यस्ति तत्र प्रमाणापमर इति स्थितं प्रामाण्यम् । इन्द्रियव्यापारानुविधानाच्च प्रत्यक्षत्वमिति । एकञ्चेद पूर्वविज्ञानजनितसंस्कारप्रत्युत्प्रेन्द्रियादिकारणकं वेदितव्यम् ।”-काशिका । ‘पूर्वमवगताऽत्र स न नाम’-प्रमेयक० पृ० ३३९ । ‘पूर्वमवगतो नात्र स च नाम’-सम्प्रति० टो० ३१९ । ‘यः पूर्वावगतोऽंशोऽत्र स नो नाम’-स्या० र० पृ० ६७५ । उत्तरार्थम्-तत्त्वोप० पृ० २७ । प्रमाणवा० स्व० टो० पृ० ७७ । तत्त्वस० पृ० १५९ । (८) स एवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्य । (९) प्रत्यभिज्ञानस्य । “तत्र शब्दार्थसम्बन्धं प्रमाणं स्मरतोऽपि या । वृद्धिं पूर्वगृहीतार्थसंघनानुपपन्नान् ॥ चक्षुषा सति दृष्टेऽर्थे नाप्यत्यप्रमयो भवेत् ॥”-मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २२९-३० । (१०) संवत्सरी सम्प्रयोगदत्तेन कर्मधारयः तथा च इन्द्रियाणामर्थेन साकं सम्बन्धे विद्यमानं सतीत्यर्थः । तुलना-“नि पुनरिदं प्रत्यभिज्ञाप्यं प्रमाणम् ? प्रत्यक्षमिति वृत्तम् । पूर्वानुवचननिवृत्तिसंस्कारमाश्रीयीन्द्रियजन्यत्वान् ग्रहणस्मरणरूपमिदमकं ज्ञानम् ।”-शास्त्रही० पृ० ५६८ ।

“नेहि स्मरणातो यत् प्राकृतत्पत्यैज्ञमितीदृशम् । वचम राजकीय वा लौकिक वापि विद्यते ॥१॥  
न चापि स्मरणात् पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्चनम् । वार्यते केनचिन्नापि तत्तदानीं प्रदुष्यति ॥२॥  
तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात् प्रागूर्ध्वञ्चापि यत्स्मृते । विज्ञान जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम् ॥३॥”

[ मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३४-३७ ] इति ।

एवमर्तः शब्दस्य नित्यत्वे सिद्धे इदानीमिव अन्यदापि यच्छब्दस्योच्चारण न तत्तस्यै जनकं किन्तु अभिव्यञ्जकम् । अत इदमुच्यते-अन्यदापि यत् शब्दस्य उच्चारणं तदस्याभिव्यञ्जकम् उच्चारणत्वात्, यद् यद् उच्चारणं तत्तदभिव्यञ्जकम् यथा एतत्कालोपलक्षितमुच्चारणम्, तथा च प्रेरकम्, तस्मादिदमपि तथा ।

तथा, विद्याध्यासितो वा कालः गादिसम्बद्धः कालत्वात् प्रतिपादितशब्द-सम्बद्धकालवत् । अतः सिद्धमस्य अनुमानतोऽपि नित्यत्वम् । इतोऽप्यनुमानात् तत्सिद्धम्-नित्यः शब्दः, श्रावणत्वात्, यद् यदेव तत्तथा यथा शब्दत्वम्, तथा चाऽ-यम्, तस्मादयमपि तथा । तथा, देशकालादिभिन्ना गोशब्दव्यक्तियुद्धयः एकगोशब्दविषया

(१) 'नन्विद भवत्यधिकविषय स्मरणोत्तरकाल भवत कथं प्रत्यक्षम् ? न हि निर्विकल्पकस्य प्रत्यक्षस्यैव धर्मो दृष्ट अत आह-नहीति । न हि स्मरणात् प्राग्भाविता प्रत्यक्षलक्षणम्, अपि तर्हि इन्द्रियजत्वम् तच्चानाप्यविशिष्टमिति भावः । यदि स्मरणनिद्रियप्रवृत्तिरेव वायते तदा दूष्यते ततस्तदुत्तरकाल जायमान सविकल्पक प्रत्यक्ष भवेदपि, न त्वेतदस्ति इत्याह न चेति । यत स्मृत्या तन्निद्रिय विरुध्यते न वा दूष्यते तेन प्रागूर्ध्वं वा स्मृतेर्यदि द्वयार्थसम्बन्धात् ज्ञान जायते सव तत्प्रत्यक्षमभ्युप गन्तव्यमित्याह-नेनति ।'-काशिका । (२) अर्थात् यच्च स्मरणादूच्यते तदप्रत्यक्षम्-आ० टि० । (३) 'राजकीय वा वैदिक वापि-मी० श्लो० । 'राजकीय वा लौकिक वापि-सम्प्रति० टी० पृ० ३१९ । उद्धृता इमं-प्रमेयक० पृ० ३३९ । सम्प्रति० टी० पृ० ३१९ । स्या० र० ४९९ । (४) प्रत्यभिज्ञानात् । (५) शब्दस्य । (६) 'यदि विस्पष्टन हेतुना शब्दस्य नित्यत्व वक्तुं शक्यम् ततो नित्यप्रत्ययसामर्थ्यात् प्रयत्ननाभिव्यज्यत इति भविष्यतीति ।'-शास्त्रभा० १।१।१२ । "शब्दस्य प्रयत्न एव कारणतया सभाविता । स च प्रत्यभिज्ञाबलेन द्वितीयादिदशनज्जन्मिभ्यश्चकृतामापादित इति प्रथमदशानुपपत्तौ अभिव्यञ्जक एव अतः कारणरहितत्वेन सत्त्वानित्य शब्द गगनादखि नास्याऽनित्यतेति ।"-प्रक० पृ० १७७ । भाट्टनि० पृ० २६ । 'एकवचोच्चारण, शब्दस्य न, कारण, किन्तु अभिव्यञ्जकमिति सिद्धम् । न चोच्चारणादन्यत्कारणं सभावतीत्युक्तव्यम् अत एवाविनाशान्नित्यत्वसिद्धिः । -शास्त्रदी० पृ० ५९० । 'शब्द प्रयत्नाभिव्यङ्ग्य यथा तदनुत्पाद्यत्वे सति तदनन्तरमुपपद्ये, यो यदनुत्पाद्यत्वे सति यदनन्तरमुपलभ्यते स तदभिव्यङ्ग्य यथा प्रदीपानन्तरमुपलभ्यमानो घट ।'-सम्प्रतह० पृ० २६ । मानमेयो० पृ० २२१ । (७) श्रौतता चेयं हेतु शब्दत्ववत्कृत । यदा श्रोत्रात्य-शब्दमत्र हेतु, तदिदं शब्दत्वदुष्टा तेन शक्नोति नित्यत्व साधयितुमित्याह श्रौतति । -मी० श्लो०, वाचर० शब्दनि० श्लो० ३९३ । 'प्रयोगश्चैव भवति नित्य शब्द श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत् । -शब्ददी० पृ० ५८५ । (८) 'दशकालादिभिन्ना वा गमस्ता गोत्वबुद्धयः । एकगोशब्दजन्या स्युर्गोतीत्वादेकबुद्धिवत् ॥ गोशब्दबुद्धयोऽप्येवमेकगोशब्दगोचरा ॥ गोशब्दविषयत्वेन कल्प्यतामेकबुद्धिवत् ॥ "गोशब्दबुद्ध्या ह्यस्तन्या गोशब्दोऽयं प्रकाशितः । गोशब्दविषयत्वेन यथैवाद्यप्रसूतया ॥ इयं वा त विज्ञानाति तद्वतो पूर्वबुद्धिवत् । उभे वाप्यधिकविषय भवेतामेकबुद्धिवत् ।'-मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४१८-२१ ।

न चानेकार्थगोचरा गौरित्युत्पद्यमानत्वात् सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्धिवत् । 'गोशब्दव्य-  
क्तिबुद्धयः' इत्युन्यमाने सिद्धसाध्यता स्यात्, एकगोशब्दव्यक्तिबुद्धेः एकविषयत्वाभ्यु-  
पगमात्, तत्रिवृत्त्यर्थं बहुवचनम् । तथा 'सामान्ये गोशब्दनिबन्धनाः समाना एव  
धियः प्रभवन्ति' इति तन्निरासार्थं व्यक्तिग्रहणम् । एकस्मिन् देशे काले वा बहूनां  
प्रमातृणां गोशब्दज्ञानानि एकगोशब्दव्यक्तिगोचराणि इति सिद्धसाध्यताप्रसङ्गव्यव-  
च्छेदार्थं 'देशसालादिभिन्नाः' इत्युक्तम् । ह्यस्तनो वा गोशब्दः अद्याप्यनुवर्तते गौरिति  
ज्ञायमानत्वात् अद्योच्चारितगोशब्दवत् । अद्यतनो वा गोशब्दः ह्योऽपि आसीत् गौरि-  
ति ज्ञायमानत्वात् ह्य उच्चारितगोशब्दवत् । 'शब्दो वा वाचकः दीर्घकालावस्थायी  
सम्बन्धनलेन अर्थमतिजनकत्वात् धूमसामान्यवत् । यस्तु अस्मिन् स सम्बन्धनलेन  
नार्थं बोधयति तदातिरिक्तनिमित्तत्वात् प्रदीपविद्युत्प्रकाशवत् । तदेवम्—

तुङ्गा—'दशसालादिभिन्नाश्च गोशब्दव्यक्तिबुद्धयः । सामान्यविषया सर्वा न वा नानार्थगोचरा ॥ गौरि-  
त्युत्पद्यमानत्वात् सम्प्रत्युत्पन्नबुद्धिवत् । गोशब्दव्यक्तिषु या बुद्धयो देशकालद्वयमध्यविलम्बितादिप्रति-  
नदभामभिन्नास्ता एवाधिविषया नानार्थविषया न वा भवन्ति गौरित्याकारोपग्रहोत्पद्यमानत्वात्  
सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दवत् । अथवा या या गोशब्दविषया बुद्धिः साऽद्यतनगोशब्दविषया गोशब्द-  
विषयत्वान् अद्यप्रभूतगोशब्दबुद्धिवत् । गोशब्दविषया च ह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिरिति स्वभावहेतुः ।  
अथवा अह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिर्धमिणी ह्यस्तनगोशब्दविषयत्व साध्यधर्मः गोशब्दविषयत्वादिति हेतुः  
ह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिर्दृष्टान्तः । अथवा, उभय ह्यस्तन्यद्यतन्यो बुद्धौ एवविषय गोशब्दविषयत्वादवगो-  
म्यबुद्धिवत् । अथवा, समस्ता गौरबुद्धयः दशादिभिन्ना एवगोशब्दजन्या माधीत्यादवगम्यबुद्धिवत् ।  
पूर्वं गोशब्दविषया बुद्धयः धमिष्य एवविषयत्वं साध्यम्, इदानीञ्च गोत्वजातिविषया बुद्धयो  
धमिष्य एवगोशब्दवत्स्य साध्यमिति विचारः ।"—तत्त्वसं० पृ० ५९२ । स्वा० १० पृ० ६७६ ।

(१) 'नित्यं तु सति गोशब्दं बहुतरङ्गं उच्यते श्रुतपूर्वदशाग्यानु गोव्यक्तिषु अन्यव्यतिरे-  
काभ्यामाहोऽवचनमवगमविधिति, तस्मादिति नित्यं ।"—शाबरभा० १।१।१९। "ह्यस्तनाच्चारितस्तरमा-  
दृशाग्यान्धारि विद्यतः । गोशब्दज्ञानगम्यत्वाद्यथास्ताऽद्यैव गौरिति ॥"—मी० इतो० शब्दनि० इतो० ४१६ ।  
(२) "ह्यो वाऽग्यान्ध गोशब्दः पुर्वाननेन हनुना । यदा गोव्यानिपायितव वाच्यो हनुर्वापि ॥"—  
मी० इतो० शब्दनि० इतो० ४१७ । तुङ्गा—"गौरिति धूमगोशब्दोऽद्य ह्योऽपि यद्यो मया श्रुतः ।  
इति पुर्वोदगात् ह्य उच्चारितगोशब्दवत् ॥"—तत्त्वसं० पृ० ५९२ । स्वा० १० पृ० ६७६ । (३)  
'अत्रापि । स्थिरं यदा धूमगोशब्दोऽद्योऽपि । सम्बन्धानुभवाधक्षमाभ्यापार्यवचोपनात् ॥"  
—मी० इतो० शब्दनि० इतो० ३११ । तुङ्गा—"यदा वा वाचकः यावान् स्थिराग्यो दीर्घकालमात्रः ।  
सम्बन्धानुभवाधक्षमाभ्यापार्यवचोपनात् । २ ईदृशं य स्थिरा दृष्टं धूमगोशब्दमात्रवत् ॥"—तत्त्वसं० पृ०  
५९२ । स्वा० १० पृ० ६७६ । (४) वाच्यवचनमात्रेण—आ० इ० । (५) तुङ्गा—"अस्थिरात्  
न सम्बन्धानुभवाधक्षमाभ्यापार्यवचोपनात् । आश्रितकनिमित्तत्वात् दीर्घविद्युत्प्रकाशवत् ॥"—तत्त्वसं० पृ०  
५९२ । स्वा० १० पृ० ६७६ । (६) न हि प्रकाशविद्युत्प्रकाशस्य निवृत्तं यदादिना सम्बन्धानुभवा-  
धक्षमाभ्यापार्यवचोपनात्, यत्र यत्र यति तत्र तत्र प्रकाशवति । सम्बन्धं हि स्मृत्युत्पत्त्या भवति, न  
च यदादिना यदा—आ० इ० । "आश्रितकं गौराश्रितकं यदादिना यदापि निमित्तं सम्बन्धा-  
यत्र न यदादिना यदा—आ० इ० ।"—तत्त्वसं० पृ० ५९३ । स्वा० १० पृ० ६७६ ।

१. ह्योऽपि २. ३. यदाग्यान्ध वा ४. ५. यदापि ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९. ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६. ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००.

“कश्चित् कालं स्थिरः शब्दः सर्वकालमपि स्थिरः ।

विनाशहेतुशून्यत्वात् सामान्याकाशकालवत् ॥” [ ]

तथा, विवादाध्यासितः कालः गादिशब्दशून्यो न भवति कालत्वात् इदानीन्तनकालवत् ।

तथा, अर्थपत्तिदोषस्य नित्यत्वं सिद्धम्; तथाहि—नित्यः शब्दः ततोऽर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेः । न चेयम् अन्यथापि अन्यथैव वा उपपद्यते; शब्दस्यानित्यत्वे सर्वथानुपपद्यमानत्वात् । प्रतिपन्नप्रतिबन्धाद्धि शब्दादर्थप्रतिपत्तिः स्यात्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । न चाऽनित्यत्वे शब्दस्य प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य उत्तरकालमनुवृत्तिः संभवति; तस्यै तदैव विनाशात् । तदुक्तम्—

“अर्थपत्तिरियं चोक्ता पक्षधर्मादिवर्जिता । यदि नाशिनित्ये वा विनाशिन्येव वा भवेत् ॥१॥

(१) “अनपेक्षत्वात् १ । १।२१ । येषामनवगतोत्पत्तीना इव्याणां भाव एव लक्ष्यते तेषामपि केषाञ्चिदनित्यता गम्यते येषां विनाशकारणमुपलभ्यते, यथा अभिनव पट दृष्ट्वा । न चैनं क्रियमाणमुपलब्धवान् अथ चानित्यत्वमवगच्छति रूपमेव दृष्ट्वा । तन्तुव्यतिपन्नजनितोऽप्य तन्तुव्यतिपन्नविनाशात्तन्तुविनाशाद्वा विनश्यतीत्यवगच्छति । नैव शब्दस्य किञ्चित्कारणमवगम्यते यद्विनाशाद्विनश्यति इत्यवगम्यते ।”—जैमिनिः, शाबरभा० १।१।२१ । “एव स्थितस्य शब्दस्य धृति-कालाक्षणात्तरे । सभाव्यते विनाशित्वं न भूयोऽप्येन हेतुना ॥ यथा घासनादिभिर्भेदाज्जराया वा पटादयः । नष्टक्ष्यतीत्यवगम्यन्ते नैव शब्देऽस्ति कारणम् ॥”—मी० इलो० शब्दनि० इलो० ४४२-४३ । उद्धृतोऽयम्—स्या० २० पु० ६७६ । “अस्यार्थ—शब्दः सर्वकालं स्थिरः विनाशहेतुशून्यत्वात् । विनाशहेतुशून्यत्वञ्च किञ्चित्कालं स्थिरत्वात्सिद्धम् । स हि सम्बन्धकरणकालं यावदनुपपन्न पञ्चादपि केनापनीयतामिति ।”—स्या० २० पु० ६७६ । (२) तुलना—स्या० २० पु० ६७६ । (३) “नित्यस्तु स्यादर्शनस्य परार्थत्वात् । नित्यः शब्दो भवितुमर्हति । कुत ? दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनमुच्चारणं तत्परार्थं परमर्थं प्रत्याययितुम् । उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे नचाऽन्योऽन्यानर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात्, अतो न परार्थमुच्चार्येत । अथ न विनष्टस्ततो बहून् उपलब्धत्वादपार्थक्यमिति युक्तम् ।”—जैमिनिः, शाबरभा० १।१।१८ । “अर्थप्रतिपत्त्यन्यानुपपत्त्या तु नित्यत्वमेव युक्तम् । न हि प्रत्युच्चारणमन्यस्यान्यस्य क्रियमाणस्यार्थप्रत्यायनत्वं संभवति सम्बन्धग्रहणात्मभावात्, अगृहीतसम्बन्धस्य चाऽप्रत्यायनत्वात् । न चान्यस्मिन् गृहीतसम्बन्धेऽन्यस्य प्रत्यायनत्वं संभवति । न हि गोशब्दे गृहीतसम्बन्धेऽवशब्दः प्रत्याययति ।”—शास्त्रदी० पु० ५५९ । “शब्दो नित्यः परार्थदर्शनसम्बन्धितत्वात् घूमादिवदिति ।”—नयवि० पु० २४२ । (४) अर्थप्रतिपत्तिः । (५) नित्ये च अनित्ये [च]—आ० टि० । (६) अनित्ये एव—आ० टि० । (७) अनित्यशब्दस्य । (८) शब्दो नित्यः दर्शनस्य परार्थत्वाऽन्यानुपपत्तेः, परार्थवाक्योच्चारणान्यानुपपत्तेः, अर्थप्रतीत्यन्यानुपपत्तेर्वा । (९) अनुमानत्वाद्यभाव—आ० टि० । (१०) “अर्थपत्तिं हि द्वावेव दोषौ अन्यथाप्युपपत्तिरन्यथोपपत्तिश्च । तदिहापि यशनित्यत्वेऽन्यथप्रत्यायनत्वमुपपद्येत अनित्यत्व एव वा ततो दूषणं स्यात् ननु तदस्तीत्याह यदीति ।”—न्यायप्र० पु० ७९० । “यदि शब्दे नाशिनित्ये वा वाचकसामर्थ्यमित्यनेन सशय उक्तः विनाशिन्येव वा शब्दे वाचकसामर्थ्यमित्यनेन तु विपर्यय उपदर्शितः तदा दूषणमुच्यतामिति । यदैव शब्दे वाचकसामर्थ्यं सन्दिग्धं विपर्यस्तञ्च स्यात्तदा दूषणावसर्ग एतच्चात्रोभयमपि नास्तीति भावः ।”—स्या० २० पु० ६७८ । (११) नाशिनित्ये वेति निरवधारणत्वात् मिश्रितमेव ‘अन्यथापि’ इत्यस्य व्याख्यानम्, विनाशिन्येव इति तु ‘अन्यथैव’ इत्यस्य—आ० टि० ।

शब्दे वाचकतामर्थ्यं तदा दूषणमुच्यताम् । फलवद्भवहारङ्गभूतार्थप्रत्ययाङ्गता ॥२॥  
 निर्फलत्वेन शब्दस्य योग्यत्वादवैगम्यते । परीक्ष्यमाणस्तेनास्यै युक्त्या नित्य-विनाशयोः ॥३॥  
 स धर्मोभ्युपगन्तव्यो यः प्रधानं न बाधते । नहि र्यङ्गाङ्गधनैरोधेन प्रधानफलबाधनम् ॥४॥  
 युज्यते, नाशिपक्षे च तदेकान्तात् प्रसज्यते । नहि अष्टष्टार्थसम्बन्धः शब्दो भवति वाचकः ॥५॥  
 तथा च स्यादपूर्वोऽपि सर्वः सर्वं प्रकाशयेत् । सम्बन्धदर्शनञ्चास्य नाऽनित्यस्योपपद्यते ॥६॥  
 सम्बन्धज्ञानसिद्धिश्चेद्भ्रवं कालान्तरस्थितिः । अर्थ्यभिन्नज्ञातसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत् ॥७॥  
 गोशब्दे ज्ञातसम्बन्धे नाश्वशब्दो हि वाचकः ।” [मी० श्लो० इत्यनि० श्लो० २३७-४४] इति<sup>१</sup> ।

अथ सदृशतया शब्दस्य अर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वोपपत्तेः नार्थापत्तितोऽस्य नित्यत्व-  
 सिद्धिः; तदयुक्तम्; तत्सादृश्यस्य विचार्यमाणस्यानुपपत्तितः तैश्च तस्यै तद्वैतुल्या-  
 नुपपत्तेः । उक्तञ्च—

(१) “ननु मामुदयप्रत्यायन तथापि किमित्यनित्यता न भवति ? अत आह—फलवदिति । फल-  
 वतो गवानयनादिव्यापारस्य अङ्गभूतोऽर्थप्रत्यय सत्फलत्वेनैव फलवान्, शब्दस्योच्चारणसंस्कारमात्र  
 स्वयमपश्यत्य फलवत्प्रत्ययाङ्गताऽवगम्यत इति । तत किमित्याह—परीक्षमाण इति । अर्थप्रत्ययाङ्गस्य  
 शब्दस्य स एव धर्मः स्याङ्गत्वेन गृहीतव्यो यच्च प्रधानमर्थप्रत्यय न बाधते इति । कारणाह—तहीति ।  
 अर्थप्रत्ययाङ्गभूतस्य शब्दस्य यदङ्गमनित्यत्वं तदनुरोधेन यत्तत्प्रधान शब्द सत्फलस्य अर्थप्रत्ययस्य  
 बाधनमयुक्तमिति । तथापि कथं नानित्यत्वमत्राह—नाशीति । कथमित्याह—तहीति । किमित्य-  
 वाचकः ? अत आह—तथा चेदिति । सम्बन्धज्ञानञ्च न क्षणिकस्य सभवतीत्याह—सम्बन्धेति ।”  
 —न्यायर० पृ० ७९० । (२) अर्थप्रत्ययाङ्गत्वे—आ० टि० । (३) ‘दवधार्यत’—मी० श्लो० ।  
 (४) शब्दस्य । (५) प्रधान व्यवहारास्य फलम्—आ० टि० । (६) ‘अङ्गाङ्गानुरोधेन’—मी०  
 श्लो० । अर्थप्रत्यय—आ० टि० । (७) शब्द—आ० टि० । (८) व्यवहार—आ० टि० । (९)  
 “ननु विपत्तिं चिरकालमवनिच्छन्ता घट्टा, यावत्सम्बन्धदर्शनं तस्य व्यवहारश्च स भवति, नैवावता  
 नित्यत्वसिद्धिरत आह—सम्बन्धेति । नन्वन्यस्यैव गोशब्दस्य सम्बन्धं गृहीत्वा अन्यस्मादर्थं प्रत्येप्यामो  
 नावश्यमेकस्यैव स्थापित्वमत आह—अन्यस्मिन्निति, एव ह्यव्यवस्था स्यादिति ।” —न्यायर० पृ० ७९१ ।  
 (१०) यस्य हि सम्बन्धो ज्ञात मोक्ष्यः यच्च वाचकः सोऽप्य विनाशित्वात्—आ० टि० । (११)  
 उद्धृता इमे—प्रमेयक० पृ० ४०५-६ । द्वितीयवृत्तीयवचतुर्विंश्लोकान् विना—स्थायी २०७० ६७८ । पञ्चम-  
 पट्टसप्तमश्लोका विञ्चित्पाठभेदेन—तत्त्वसं० पृ० ६१७ । (१२) “अर्थत्वसादृश्यादर्थविगम इति चेत्,  
 न कश्चिदर्थवान् सर्वेषां नक्तत्वात् । नस्यक्तित्वस्य कृत्रिमसम्बन्धो भविष्यतीति चेत्, तदुक्तम्, सदृश  
 इति चावगते व्यामोहप्रत्ययो व्यावर्तते शालाशब्दान्मालाप्रत्यय इव ।” —आवरभा० १।१।१८ । “ननु  
 तत्तुन्योपादानमभेदमुपादाय सिध्यति पारार्थ्यं दर्शनस्य; सत्यम्; सिध्यति, विन्तु नेत्यभूतत्वे प्रमाण-  
 मस्ति । ॥ नस्यचिदप्याससार जन्तोः पूर्वोक्तसदृशमन्वचारयामि तत्सदृश एवायमिमिति ज्ञानोत्पादो  
 दूष्टः । अत एव चाविपरीतं प्रतिपद्यते । अन्यथा मालाशब्दप्रत्ययस्यैव शालाशब्दस्येवेनादविपर्यय  
 स्यात् ।” —बृहती० १।१।१८ । शास्त्रदी० पृ० ५६० । नयति० पृ० २४ । (१३) सादृश्यद्वारेण ।  
 (१४) शब्दस्य । (१५) अर्थापत्ति (अर्थप्रतीति) हेतुत्वानुपपत्ति—आ० टि० ।

१ ततो दू-ब० । २ नि.कल-ध०, ब० । ३ असदृशतया ध० । ४-त्वोपपत्तिर्वाच्य-ध० ।  
 ५-पत्तेस्तथा य० ।

“सदृशत्वात्प्रतीतिश्चेत् तद्द्वारेणाप्यवाचकः । कस्य चैकस्य सादृश्यात् कल्प्यता वाचकोऽपरः ॥

अदृष्टसङ्गतित्वेन सर्वेषां तुल्यता यदा । अर्थवान् पूर्वदृष्टश्चेत् तस्य तावैन् क्षणः कुतः ॥

द्विस्तावानुपलब्धो हि अर्थवान् सम्प्रतीयते ।” [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४८-५०]

“तथा भिन्नमभिन्नं वा सादृश्यं व्यक्तिो भवेत् । एवमेकमनेकं वा नित्यं वाऽनित्यमेव वा ॥

भिन्ने चैकत्वनित्यत्वे जातिरेव प्रकल्पिता । व्येचयनन्यदर्थैकं च सादृश्यं नित्यमिष्यते ॥

व्यक्तिनित्यत्वमापन्नं तथा सत्यस्मदीहितम् ।” [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७१-७३] इति ॥ छ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘स एवायं गकारः’ इत्यादि, तदसमीक्षिता

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं भिधानम्, अर्थे प्रत्यभिज्ञानस्य सादृश्यनिवन्धनतया एकत्वाऽप्रसा-

शब्दस्य अनित्यत्वं धकस्यात् प्रदीपादिप्रत्यभिज्ञानवत् । न सल्लु ‘स एवायं प्रदीपः,

प्रसाधनम्— अङ्गहारः, लूनपुनर्जातनसकेशादिर्घा’ इत्यादि प्रत्यभिज्ञानं प्रदीपादी-

नामेकत्वं प्रसाधयति । अथाऽत्रैकत्वाभावात्तस्यैकत्वं तदप्रसाधकत्वं तदन्यत्रापि समानम् ।

(१) “शब्दस्तु न तथा बालानामपि प्रतीतिप्रसङ्गादित्यथवत्सादृश्यादर्थवगम इति भाष्यम्, तस्यार्थमाह—सदृशत्वादिति । शब्दान्तरे गृहीतसम्बन्धेऽथवति शब्दान्तरं तत्सादृश्यात् तत्त्वेन भ्रान्त्यवगतं तदर्थं प्रत्याययतीति । परिहरति तद्द्वारेणति । कारणमाह—कस्येति । च शब्दो हेतो । इदञ्च न हि कश्चिदर्थवानित्यनेन भाष्यणीकृतमिति एतदेवोपपादयति—अदुष्टति । सङ्कृते—अर्थवानिति । निराकरोति तस्यति । अवसराभावमेव दर्शयति—द्विस्तिरिति । —न्याय० पृ० ७९३ । (२) सादृश्यन-भा० टि० । (३) किन्तु वैसदृश्यम्—आ० टि० ६ । (४) वाचक—आ० टि० । (५) बाध्योपलम्भ-कालं यावत्—आ० टि० । ‘तावान् कुतः क्षण—मी० श्लो० । (६) ‘द्विस्तिरर्वाणुपलब्धो हि नार्थवान् सम्प्रतीयते ।’—मी० श्लो० । तत्त्वसं० पृ० ६१९ । (७) उदता इमे—प्रमेयक० पृ० ४१० । तत्त्वसं० पृ० ६१९ । (८) ‘भिन्नतैवैकत्वनित्यत्वे जातिरेव प्रकल्प्यते । अभेदाऽनित्यनानात्वे पूर्वोक्तेनैव तुल्यता ।’—मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७२ । (९) ‘व्यक्त्यनन्यतथैकञ्च’—मी० श्लो० । (१०) उद्धृता इमे—प्रमेयक० पृ० ४११ । (११) पृ० ६९७ पृ० १८ । (१२) तुलना—‘किमिदं प्रत्यभिज्ञानम् ? तत्प्रत्ययविषयत्वम् ? तत्प्रत्ययविषयत्वमन्यत्वेपीत्यनकान्तं ।’—न्यायशा० २।२।३३ । ‘अनित्यत्वेऽपि सादृश्यशास्त्रप्रत्यभिज्ञानमुत्पद्यते एवेति । विवादयोग्यरापन्नं शब्दोऽभिव्यक्तं प्रत्यभिज्ञानकालं यावत्—नावतिष्ठते शब्दप्रत्ययविषयत्वात् पूर्वानुभूतशब्दवत् ।’—प्रश्न० ध्यो० पृ० ६४७ । ‘नृत्ताभिन्नयचेष्टादिप्रत्यभिज्ञानतो वयम् । विशेषेण प्रत्यभिज्ञाने न पश्यामो मनामपि ॥ उच्यते प्रत्यभिज्ञानमन्यथाप्युपपद्यते । यत्वादिजातिविषयं यद्वा सादृश्यहेतुकम् ॥’—न्यायम० पृ० २२३-२४ । ‘तथा ह्यनित्येऽपि प्रदीपादौ प्रत्यभिज्ञानं दृष्टं तस्मादनैकान्तिरुमेतत्, यथा क्षणिकेऽपि कमणि प्रयोगे दृश्यते’—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३७९ । ‘सादृश्यात्कल्पत्वात्स एवायमिति स्थितिः ॥ यदि चैवविधो नित्यो नित्यास्ते विद्युदादयः । प्रत्यभिज्ञाऽप्रमाणं स्याद् युगपद् भिन्नदेसयो ।’—न्यायवि० का० ४२५ २६ । ‘सादृशापरग्रहणेनापि तत्त्वसमवात् क्षणिकेष्वपि करणाङ्गहारादिषु प्रत्यभिज्ञानादिरुद्धो हतुः । तत्किमेकत्वेपि किमिदानीमनेकं स्यात् ।’—अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०६ । तत्त्वाथश्लो० पृ० ५ । ‘गाद्यकत्वग्राहिकाया लूनपुनर्जातकेशनखादिष्विव तस्या भ्रान्तत्वात् ।’—नन्मति० टी० पृ० ३४ । स्या० २० पृ० ६८० । रत्नाकराव० ४।९ । शास्त्रशा० टी० पृ० ३७६ A. । (१३) नृत्यक्रियाविगण, वृश्चिक-गमनादिभेदेन द्वाविसतिविधः । (१४) प्रदीपादौ । (१५) प्रत्यभिज्ञानस्य । (१६) एकत्वाप्रसाधकत्वम् ।



ननु तैलादिकारणस्य उत्तरत्र क्षयोपलम्भतः प्रदीपादेः प्रतिक्षणमन्यत्वप्रसिद्धेः युक्तमेकत्वा-  
सत्त्वं न शब्दस्य विपर्ययात्, इत्यप्यनुपपन्नम्, अस्यापि तात्वादिसयोगविभागलक्षण-  
कारणस्य उत्तरत्र प्रक्षयप्रतीतितः प्रतिसमयमन्यत्वप्रसिद्धेः एकत्वासत्त्वोपपत्तेः । तत्सं-  
योगविभागयोः तैदभिव्यञ्जकग्रायूत्पादे कारणत्वं न शब्दे इत्यभ्युपगमे वर्तिकासुप्तै-  
लानलसंयोगादेरपि प्रदीपाद्यभिव्यञ्जकग्रायूत्पादे कारणत्व न तदुत्पादे इत्यप्यभ्युपगम्य-  
तामविशेषात् । प्रतीतिविरोधः अन्यत्रापि न कारकैर्भक्षितः ।

यदपि प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमुक्तम्, तदप्ययुक्तम्, प्रत्यक्षपरिच्छेदे विशदस्व-  
भावस्यैव ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात् । न चेद् तत्त्वभावम्, अतः कथमस्य प्रत्यक्ष-  
ताशङ्कापि ? अक्षान्यव्यतिरेकानुविधावित्वात्तत्स्य तद्रूपता, इत्यप्यसत्, तस्य तदन्यव्य-  
तिरेकानुविधावित्वाभावात्, दर्शनस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधावित्वा तस्य प्रत्यभिज्ञा-  
परीक्षाप्रपञ्चे प्ररूपितत्वात् । प्रत्यक्षत्वे चास्य अतीतकालपरिगतत्वेन शब्दग्राहकत्वानुप-  
पत्तिः, सन्वद्धवर्तमानार्थगोचरधारित्वात्तत्स्य । तद्ग्राहकत्वे वा कथं योगिप्रत्यक्षस्य  
प्रतिषेधः प्रत्यक्षत्वेऽप्यस्य तद्वद् अतीताद्यर्थग्राहकत्वाविरोधात् ?

अस्तु वा यथाकथञ्चित् तत्प्रत्यक्षम्, तथापि न तत् शब्दस्यैकत्वप्रसाधकम्, तदु-  
त्पादविनाशग्राहिणा प्रमाणान्तरेण बाध्यमानत्वात्, यत् प्रमाणान्तरेण बाध्यते न तत्  
स्वनिर्णयव्यवस्थापकम् यथा शुक्तिशकले रजतग्राहिप्रत्यक्ष शुक्तिस्वरूपग्राहिप्रत्यक्षान्तरेण,  
बाध्यते च तदुत्पादविनाशग्राहिणा तेन तदेकत्वग्राहिप्रत्यक्षभिज्ञानमिति । न चेदमसिद्धम्,  
प्रत्यक्षस्यैव तावत् तदुत्पादविनाशग्राहकत्वेन तद्व्याधकत्वसंभवात् । तथाहि—‘उत्पन्नः  
शब्दः चित्तप्रः’ इति प्रतीतिः इन्द्रियव्यापारानन्तरं प्रतिप्राणि संवेद्यमानोपजायते । न

(१) तुलना—“शब्दस्य तात्वादिसयोगविभागलक्षणकदम्बकस्य उत्तरत्र क्षयप्रतीतितः प्रति  
क्षणमन्यत्वप्रसिद्धेरेकत्वासत्त्वोपपत्तिः ।”—स्या० २० पु० ६८१ । (२) तात्वादिस—आ० टि० । (३) शब्दा-  
भिव्यञ्जक । (४) प्रदीप—आ० टि० । (५) पु० ६९८ प० ११ । (६) प्रत्यभिज्ञानम् । तुलना—“एवमन्यते  
—प्रथमे क्षणे शब्दग्रहणं द्वितीयक्षणे पूर्वगृहीतशब्दाहितसंस्कारप्रबोधः ततोऽन्यस्मिन् क्षणे शब्दस्मरणम्,  
तत्रचतुर्थे क्षणे निरोहितं तस्मिन् स एवायं शब्दशब्द इति प्रत्यभिज्ञानं कथं प्रत्यक्षं स्यादसन्निहितावि-  
पक्षत्वात् ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पु० ३७८ । (७) प्रत्यभिज्ञानस्य । (८) प्रत्यभिज्ञानस्य (९)  
पु० ४१५ । (१०) प्रत्यभिज्ञानस्य । (११) ‘स’ इति—आ० टि० । (१२) प्रत्यक्षस्य । तुलना—  
‘पूर्वकालमन्त्रपितृस्यदानोपममिहितत्वेनाऽग्रहणात् । ग्रहणे वा योवज्ञानवत् स्पष्टप्रतिभास  
स्यात् ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पु० ३५२ । (१३) अतीतग्राहकत्व—आ० टि० । (१४) प्रति-  
तिप्राणि हि मामासकः सवज्रम्—आ० टि० । (१५) योगिप्रत्यक्षस्य । (१६) प्रत्यभिज्ञानवत्—आ०  
टि० । (१७) प्रत्यभिज्ञानम् । (१८) तुलना—‘शब्दः विनाशविनाशान् न सा नित्यत्वसाधिका ।’—  
न्यायम० पु० २२४ । (१९) प्रत्यक्ष—आ० टि० । (२०) गन्धोत्पादविनाश । (२१) स एवायं  
शब्द इति प्रत्यभिज्ञानवाचकत्वमभवान् ।

चेयं मिथ्या; देशकालनरान्तरेषु अवाप्यमानत्वात् 'उत्पन्नो घटः विनष्टो घटः' इति प्रतीतिवत् । अथ प्रत्यभिज्ञानेनैव ईयं कस्मान्न बाध्यते ? तन्न; अस्य सादृश्यनिबन्धनतया तन्नित्यत्वाप्रसाधकत्वात् ।

ननु एकज्ञानसंसर्गिण्यदौर्धान्तरोपलम्भात् कैचिद् घटाद्यभावप्रतीतिर्युक्ता, नतु शब्दाभावप्रतीतिः, तत्रैकज्ञानसंसर्गिणः कस्यचिदप्यसंभवात्, इत्यप्यचोद्यम्; विवक्षित- ६  
शब्दाभावप्रतीतौ शब्दान्तरस्यैव एकज्ञानसंसर्गिणः संभवात् । निःशब्दप्रदेशे सर्वश-  
ब्दाभावप्रतीतौ तर्हि तदसंभव इति चेत्; न; तत्रापि आत्मस्वरूपसंवेदनस्य तदेकज्ञान-  
संसर्गिणः संभवात् । यथैव हि घटभूदेशादीनाम् एकरुत ज्ञाने संसर्गः तथा स्वपररूपयो-  
रपि, अखिलज्ञानानां स्वपररूपावभासिष्यभावत्वात् । न चैवं शब्दाभाववत् रूपाद्यभा-  
वोऽपि अतोऽनुपपद्यते, तेषां प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यतया तदभावस्यापि प्रतिनियतादेव इन्द्रि- 10  
यात् प्रसिद्धेः । यो हि यदिन्द्रियग्राह्यः तदभावोऽपि तदिन्द्रियादेव व्यवस्थाप्यते ।  
यदिन्द्रियोपयुक्तो ह्यात्मा यत्र यदा यद्विषयमुपलब्धिबलक्षणप्राप्तं नोपलभते तत्र तदा  
तस्याभावमधिगच्छतीति ।

नित्यत्वे च शब्दस्य प्रागुच्चारणादनुपलम्भः कुतः स्यात्—इन्द्रियाभावात्, शब्द-  
स्यासन्निहितत्वात्, आधृतत्वाद्वा ? न तावदिन्द्रियाभावात्; उच्चारणानन्तरं शब्दो- 15

(१) उत्पन्न शब्द विनष्ट शब्द इति प्रतीतिः । तुलना—“प्रत्यभिज्ञा हि सापेक्षा निरपेक्षा  
त्वभावधी । तेनैवमादौ विषये प्रत्यभिज्ञैव बाध्यते ॥ शब्दाभावस्य ग्रहणात् प्रत्यभिज्ञायाश्च पूर्वा-  
नुसन्धानादिसम्प्रेक्ष्यतात् । अपि च प्रत्यभिज्ञा व्यभिचरति कर्मादिषु गृह्यते । तेनास्या शब्देऽप्यभाव-  
प्रत्ययोपहतवपुषि क समाश्वास ? न चैवं प्रत्यक्षेऽप्यनैकान्तिकत्वोद्भावनमपि तु विनाशप्रत्ययप्रतिहत-  
प्रभावा प्रत्यभिज्ञा नित्यत्व कर्मादिविव शब्देऽपि न साधयितुं प्रभवति ।”-म्यायम० पृ० २२४ ।  
स्या० २० पृ० ६८१ । (२) भान्तिवशादभवत् स एवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्य । (३) भूतल-  
भा० टि० । (४) भूतलादौ । (५) शब्दाभावप्रत्यये । (६) तुलना—“विवक्षितशब्दाभावप्रतीतौ शब्दान्त-  
रस्यैकज्ञानसंसर्गिणः संभवात् ।”-स्या० २० पृ० ६८२ । (७) तुलना—“तत्राप्यात्मस्वरूपस्य तदेकज्ञान-  
संसर्गिणः संभवात् । स्वपररूपावभासकत्वभावस्य ह्यारम्भन परस्मिन् योग्यदेशावस्थिते वस्तुनि न  
केवलमात्मस्वरूपसंवेदनं भवेत् यावन्ति खलु वस्तूनि प्रतिषेध्यत्वसम्भवस्तुना साकं योग्यदेशावस्थितानि  
सन्त्यवश्य प्रतिभासन्ते, तानि सर्वाण्येकज्ञानसंसर्गिणि । तत्र कुम्भादौ प्रतिषेध्यो भूतलादि आत्मस्वरूप-  
ञ्चैकज्ञानसंसर्गिणि । शब्दे तु प्रतिषेध्ये सशब्दके प्रदेशे शब्दान्तरमात्मस्वरूपञ्च, नि शब्दके तु केवलमा-  
त्मस्वरूपम् । अथवा मा भवत्वेकज्ञानसंसर्गिण्यदौर्धान्तर प्रमाणान्तरगृहीतं तु भविष्यति । यथा स्मृति-  
मोचरे चैत्यकुलादौ क्वचिदभावप्रमाणेन भवतामभावग्रहणे चैत्यकुलादि ।”-स्या० २० पृ० ६८२ ।  
(८) परत्वाविशेषात् यथा शब्दाभावो ज्ञातः तथा रूपाभावोऽपि ज्ञायतामित्यर्थः—आ० टि० । स्वपररूप-  
ग्राहिणः कस्माच्चिदपि ज्ञानात् । (९) रूपादीनाम् । (१०) यद्वद्दे यदपेक्ष चक्षुः तदभावग्रहेऽपि  
तदपेक्षते इति किरणावलीवचनात् यद्भावो यावत्या सामग्रा गृह्यते तदभावोऽपि तावत्येव—आ०  
टि० । (११) येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेन तन्निष्ठो जातिस्तदभावश्च गृह्यते इति नियमात् ।

पलम्भात् । न च प्रागसतः तदैव इन्द्रियस्य प्रादुर्भावः, प्रतीतिविरोधात् । नापि शब्द-  
स्यासन्निहितत्वात्, नित्येव्यापितया सर्वत्र सर्वदा तस्यै सन्निहितत्वात् । नाप्यावृतत्वात्;  
नित्यैकस्वभावेत्वेन तस्य आवृतत्वानुपपत्तेः । न सलु दृश्यस्वभावपरित्यागेन अदृश्यस्वरू-  
पाऽस्वीकारे शब्दस्य आवृतत्वं घटते अतिप्रसङ्गात् । यद् यदा यत्स्वरूपं न परित्यजति  
न तस्य तदा तत्प्रत्यनीकस्वरूपसंभवः यथा अनावृतावस्थाया दृश्यस्वरूपमपरित्यजतो  
नादृश्यस्वरूपसंभवः, न परित्यजति च आवृतावस्थायां दृश्यस्वरूपं शब्द इति । तदा  
तत्स्वरूपपरित्यागे वा सिद्धमस्य अनित्यत्वम्, स्वरूपभेदस्वभावत्वात्तस्यै । ननु घटादीनां  
स्वरूपभेदेऽपि अन्धकारादिना आवृतत्वं दृश्यते, इत्यप्ययुक्तम्; तत्रापि स्वरूपभेदे सत्येव  
आवृतत्वोपपत्तेः । स्वरूपमरण्डयतः कस्यचिदावरणत्वानुपपत्तेः ।

(१) उच्चारणात् प्राक् तदग्राहक ओत्रमिन्द्रिय नासीत् उच्चारणकाल एव शब्देन सहोत्पद्यते  
इत्युक्ते सत्याह न चेति । (२) नित्यतया व्यापितया च-आ० टि० । (३) शब्दस्य । (४) शब्दस्य  
आवृतावस्थाया न अदृश्यस्वरूपमभव अपरित्यक्तपूर्वस्वरूपत्वात् । तुलना-“यद्यदा यत्स्वरूपं न परित्य-  
जति 'स्या० २० पृ० ६८२ । (५) आवृतावस्थाया दृश्यस्वरूप यागे । तुलना-‘तदय तात्वा-  
दिव्यापारजनितश्रावणस्वभाव परित्यज्य विपरीतस्वभावमासादयत्रपि नित्यत्वेन किञ्चिदनित्यम् ।”  
-अष्टश०, अष्टशह० पृ० १०७ । (६) अनित्यत्वस्य । (७) स्वरूपभेदाभावेऽपि । तुलना-  
“स्यान्मतं यथा घटादेरात्मानमखण्डयत्तमस्तस्यावरणं तथा शब्दस्यापीति, तदसत्; तस्यापि  
तेन आत्मखण्डनोपगमान्, दृश्यस्वभावस्य खण्डनात् तमसस्तदावरणत्वसिद्धे सर्वस्य परिणामित्व-  
साधनात् । तमसाऽपि घटादेरखण्डने पूर्ववदुपलब्धिं किञ्च भवितुमर्हति, तस्य तत्र उपलभ्यतयाऽप्य-  
खण्डनात् । -अष्टश०, अष्टशह० पृ० १०५ । प्रमेयक० पृ० ४२१ । स्या० २० पृ० ६८२ । “स्ति  
मितेन धातुनावरणान्नित्यं नीलम्यत इति चेदाह-नापीत्यादि । तस्य बाह्यस्य उपलभ्यात्मनो  
दृश्यस्य किञ्चिदुपलम्भावरण सम्भवति । तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात् । सतोऽपि वा विद्यमानस्यापि  
आवरणस्य तदात्मानमखण्डयतो नित्यशब्दात्मानमप्रच्यवयन सामर्थ्यतिरस्कारायोगात् ज्ञान-  
जननशक्त्यभिभवायोगात् । यस्मात्त हि तत्र शब्दात्मन्यतिशयमनुत्पादयन्नावरणमिमत किञ्चित्करो  
नाम । अकिञ्चित्करश्चार्थः कः कस्यावरणं ज्ञानविवन्धकमन्यद्वति प्रकारान्तरेणोपपातक नैवति  
यावत् । .. अकिञ्चित्करस्य आवरणत्वं दृष्टमिति वचनग्राह पर-कुह्यादय इत्यादि । कुह्यादयो  
घटादीनां कर्मतिगमनुत्पादयन्ति कम्बा सामर्थ्यातिशयं खण्डयन्ति यनावरणमिष्यन्ते । तस्माद् यथा  
तेजतिशयमनुत्पादयन्तो घटादीनामावरणमिष्यन्ते तथा नित्यस्यापि शब्दस्य किञ्चिदावरणं भविष्यती-  
त्यभिप्रायः । न द्रुम इत्यादिना परिहरति । ते कुह्यादयः किञ्चिद् घटादिकमणिपादयन्ति विनिष्ट-  
स्वभावं कुर्वन्तीति न द्रुम । वयन्तस्त्रावरणमुच्यन्ते इत्याह-अपि तु न सर्वं इत्यादि । न सर्वपटशणा  
सर्वस्य पुपपस्य इन्द्रियज्ञानहेतवः विन्तिहि परस्परसहितास्तु विषयन्द्रियाभेदाः परस्परतो विशिष्ट-  
धनान्तरादात् कारणाद् विज्ञानहेतवः - हे च विषयन्द्रियादयः तत्र प्रतिधातिना कुह्यादिनाऽन्यव-  
हिता यदा भवन्ति तदाऽन्योन्यस्वावधारिण मति च व्यवधायकं कुह्ये अन्यस्योनित्यो ममयस्य  
धातस्य यथोक्तकारणानावर्तनानुत्पत्तान्नवारणवैक्यमभत कारणवैक्यत्वान् घटादिषु कुह्यादिव्यवहितेषु  
ज्ञानानुत्पत्तिरिति कृत्वा कुह्यादयः आवरणमुच्यन्ते न पुनः प्राग्विज्ञानजननयोग्यस्य घटादः प्रति-  
रुपात् । -प्रमाणा० १४५० टी० पृ० ३६१-६२ । (८) उपलम्भानुपलम्भरूपेण ।

1-शब्दे तस्य व० । 2 आवृतावस्थायां आ०, व० । 3 इत्यय-य०, व० ।

किञ्च, व्यञ्जकव्यापारात् पूर्वं शब्दस्य कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धे सद्भावे आवरणं सिद्धयेत्, स्पर्शनप्रत्यक्षप्रतिपन्ने घटे अन्धकारादिवत्, न चासौ सिद्धः । 'प्रत्यभिज्ञानात्-रिसिद्धिः' इत्यपि मनोरथमात्रम्; तस्य एकत्वाप्रसाधकत्वप्रतिपादनात् ।

अस्तु वा यथाकथञ्चित्तेषामावरणम्; तथापि तत् दृश्यम्, अदृश्यम्, नित्यम्, अनित्यम्, व्यापकम्, अव्यापकम्-एकम्, अनेकं वा स्यात् ? न तावद् दृश्यम्, प्रत्यक्ष-प्रमाणतः तैत्प्रतीत्यैभावात् । तैतस्तत्प्रतीतौ वा विप्रतिपत्त्यभावः । नहि नीले नीलतया प्रतीयमाने कश्चिद्विप्रतिपद्यते । अथादृश्यम्, कथं तदस्ति अतिप्रसङ्गात् ? ननु नित्यस्य सतः शब्दस्य उच्चारणात् प्रागनुपलब्धौ निमित्तान्तरासंभवात् तन्निमित्तमदृश्यमप्यावरणं कल्प्यते, इत्यप्यसाधीयः, अन्योन्याश्रयानुपपन्नात्-सिद्धे हि शब्दस्य आवरणे नित्यस्य सतोऽस्य उच्चारणात् प्रागनुपलब्धिसिद्धिः, तस्याश्च सत्यां तदावरणसिद्धिरिति । ननु प्रत्यभिज्ञानात् शब्दस्य नित्यत्वसिद्धेः उच्चारणात् प्राक् तदनुपलब्धौ नावरणादन्यन्निमित्तम्, इत्यपि श्रद्धामात्रम्, प्रत्यभिज्ञानस्य तन्नित्यत्वप्रसाधकत्वप्रतिपेधात् ।

नित्यत्वे च आवरणस्य सदा शब्दस्यानुपलब्धिः स्यात् । अनित्यत्वे त्वर्थं प्रध्वस्तस्य पुनरुत्पादे कारणाभावात् सर्वदा सर्वस्य उपलम्भप्रसङ्गः । नहि प्रतिनियतावरणोत्पादे प्रतिनियतं किञ्चित्कारणमुपलभ्यते ।

व्यापकत्वञ्चास्य अतीव दुर्घटम्, बाधकप्रमार्णसद्भावात् । तथाहि-आवरणत्वेनाभिमतो धातुरव्यापकः स्पर्शवद्द्रव्यत्वात् लोष्टवत् । व्यापकत्वे चार्थै उभयोरपि आध्याहारकयोः सर्वगतस्यात् किं कस्य आवारकं स्यात् ? न हि आकाशमात्मैवादी-

(१) तुलना-“स्वज्ञानेनान्यधीहेतु सिद्धर्थे व्यञ्जको मत । यथा दीपोऽन्यथा वापि को विशेषोऽस्य कारकात् ॥ स्वप्रतिपत्तिद्वारेण अन्यप्रतिपत्तिहेतुर्लोकं व्यञ्जक सिद्धो दीपादिवत्, स चेत्प्राक्सिद्ध स्यात् । समानजातीयोपादानलक्षणसिद्धेन तस्यैवातिशयस्य ज्ञानहेतो तस्य तत्सामग्रीत्वात् । ये पुन असिद्धोपलम्भना कारका एव कुलालादिवद् घटादी । स्वज्ञानेन कारणेन अन्यधीहेतुरर्थो व्यञ्जको मत । कदा ? सिद्धेऽर्थे । यद्यसौ व्यङ्ग्य प्रागसिद्ध स्यात्तदा को विशेषोऽस्य व्यञ्जकस्य कारकाद्धेतो ।”-प्रमाणवा० स्व० टी० १।२६४ । “यत् प्रमाणात्तरेण शब्दसद्भावे सिद्धे तस्यावरण सिद्धयेत् स्पर्शनप्रत्यक्षप्रतिपन्ने घटेऽन्धकारादिवत् ।”-प्रमेयक० पृ० ४२१ । (२) सद्भाव-आ० टि० । (३) शब्दानाम्-आ० टि० । (४) तुलना-“तथापि तदावरण दृश्यदृश्य वा नित्यमनित्य वा व्यापकमव्यापक वा एकमनेक वेत्यष्टौ विकल्पा ।”-स्या० २० पृ० ६८३ । (५) आवरणप्रतीत्यभावात् । (६) प्रत्यक्षतः । (७) आवरणम् । (८) अनुपलब्धि-आ० टि० । (९) शब्दस्य । (१०) आवरणस्य । (११) एकैकवर्णस्य एकैकमावरणम्-आ० टि० । (१२) तुलना-“आवरणत्वेनाभिमत प्रभञ्जन न व्यापक स्पर्शवद्द्रव्यत्वात्पुलकलवत् ।”-स्या० २० पृ० ६८३ । (१३) आवरणस्य । तुलना-“तद्वत्सदावारकमपि सर्वगतमिति चेत्, न तर्ह्यवारकम्, न ह्याकाशमात्मादीनामावारकम् ।”-प्रमेयक० पृ० ४२१ । स्या० २० पृ० ६८३ । (१४) शब्दस्तिमितवाच्यो । (१५) पराभिसन्धिना-आ० टि० ।

१ वा कर्थाञ्च-अ० । २-स्यसंभवात् अ० । ३ नीलतया. प्र-अ० । ४ शब्दनित्य-आ०, अ० । ५-दा शब्दस्य न०, अ० । ६-गभावात् आ० । ७ स्पर्शनद्रव्य-अ० ।

नामावारक प्रतीतम् । अव्यापकत्वे त्वस्य नितरा तेन शब्दस्य आचार्यत्वानुपपत्तिः, तन्मध्ये तद्देशे पार्श्वे च विद्यमानत्वात्, प्रत्युत शब्द एवास्य आवारकः स्यात्, अन्यथा सर्पपोऽपि घटस्य आवारको भवेत् । ननु भूम्यादिना आकाशस्य तथाविधस्यापि आत्रियमाणत्वोपलम्भाददोषोऽयम्, इत्यप्यसत्, तत्रदेशस्यैव तेन आत्रियमाणत्वाभ्युपगमात् ।

शब्दप्रदेशस्यापि वायुना आत्रियमाणत्वाभ्युपगमे शब्दस्य सावयवत्वमनित्यत्वञ्च स्यात् ।

तथा निखिलशब्दानां यदि एवमेवावरणं कल्प्यते, तदा एकोपलम्भे सर्वेषां सुपलम्भप्रसङ्गः, तदावरणापगमे तद्वत् सर्वेषामनावृत्त्यात् । तदनुपलम्भे वा विवक्षितशब्दस्यापि तद्वदनुपलम्भः स्यादविशेषात् । अथ विभिन्नम्, तत्र, सर्वशब्दानां व्यापितया

(१) वायो-आ० टि० । (२) वायुना-आ० टि० । (३) आवरणात्मकवायुमध्ये । (४)

व्यापित्वेन-आ० टि० । (५) वायो-आ० टि० । (६) यद्यल्पपरिमाणमपि वस्तु महत् आवारकः स्यात् तदा । (७) व्यापिनोऽपि-आ० टि० । (८) आकाशप्रदेशस्यैव । (९) भूमिना । (१०) जन आकाशस्य अनन्तप्रदेशित्वप्रतिज्ञानात् । (११) आवरणापाय कस्यचिदेकस्य शब्दस्य उपलब्धिं वाचे । तुलना- यथा ज्वनिकापायप्राप्तप्रसरणोक्षणम् । रज्जुभूमिषु तद्दृष्टमक्षयं वस्तु पश्यति ॥ तथा प्रसरणरोधिसमीरोत्सारणं सति । श्रोत्रं तद्दृष्टानि क्षयशब्दग्राहि भविष्यति । -न्यायम० पृ० २२१ ।

विवक्षितशब्दस्याभिव्यक्तौ तस्य व्यापकतया सर्वदेशावस्थितपुरुषाणामुपलम्भः स्यात् निरावरणस्य व्यापकत्वाविशयात् । -प्रश्न० व्यो० पृ० ६८४ । (१२) शब्दानाम् । (१३) विवक्षितशब्दस्य आवरणस्य विनाशः । (१४) एकशब्दवत्-आ० टि० । (१५) सर्वशब्दानुपलम्भः । (१६) सर्वशब्दवत् । (१७) अनावृत्त्याविशयात् । (१८) तुलना- नियमश्च न स्यात्, यदि चानके शब्दा युगपदाकाशं वृत्तं इति, एवञ्च यत्किञ्चिद व्यञ्जकमुपात्तं समानदेशान् सर्वानभिव्यनक्तीति यदा कीणा वाचते तदा रासभञ्जनिरपि श्रूयते । न हि समानाद्रियग्राह्याणां समानदेशानां व्यञ्जकेषु नियमो दृष्टः । यद्यस्य व्यञ्जकं तेन तस्य व्यक्तिरिति चेत्, तत्र अदृष्टत्वात् । अथ मनसि अनकशब्दसन्निपते सति व्यञ्जकानि भिद्यन्ते व्यञ्जकभदानुविधायिभ्यो व्यक्तयः प्रतिशब्दमुपजायते इति, तत्र अदृष्टत्वात् । न हि प्रदीप एकैर्द्रवग्राह्यमनकमर्थं युगपत्सन्निपतितं न प्रकाशयति । -न्यायम० पृ० २८८ । न्यायम० ता० पृ० ४४६ । न च गोग्राह्याभिव्यक्तयश्च प्रतिशब्दवाच्यशब्दं व्यनक्तीति वाच्यम् व्यञ्जकेषु नियमानुपलम्भः । यथा घटाभिव्यक्तयश्चमुत्पादितं प्रदीपः समानाद्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितपदाप्यञ्जक इति । तथाहि-न श्रोत्रं प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कारसमानाद्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितवस्तुप्रकाशं कृत्वात् वक्षुवत् । गृहा वा विद्याविषया प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्या न भवन्ति समानाद्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितत्वात् घटादिवत् । -प्रश्न० व्यो० पृ० ६४८ । न च समानकरणानां समानाद्रियग्राह्याणाञ्च भावानां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमुपलम्भम् । गृहे दधिघटी द्रष्टुमानोतो गृहमेधिना । अपूपानि तद्देशान् प्रकाशयति दीपकः ॥ -न्यायम० पृ० २१२ । श्रोत्रं तावत्समानाद्रियग्राह्यसमानदेशसमानधर्मापरायानां ग्रहाण प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कारं न भवति इन्द्रियत्वाच्चगुणवत् । शब्दा वा प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्या न भवन्ति समानाद्रियग्राह्यसमानधर्मान्तरत्वं सति युगपदिन्द्रियसम्बद्धत्वात् घटादिवत् । -न्यायम० पृ० ३० । ननु नियतव्यञ्जकत्वात् निमित्तश्रुतिरित्यत्राह-नहीत्यादि । न हि यस्मात् समानदेशानाम् समानाधिविषयाणामतत नियतव्यञ्जकं न न्याय्यम् । -सिद्धिचि०, टी० पृ० ५५४B । समानकरणानां तादृशमभिव्यक्तिनियमायोगात् सन्न सर्वदा सर्वेषां सक्त्या भूतिः स्यात् । -अष्टा०, अष्टसह० पृ० १०५ । प्रमेयक० पृ० ४२३ । समति० टी० पृ० ३६ । स्या० १० पृ० ६८३ । प्रमेय० ३।१०० । शास्त्रवा टी० पृ० ३७८A ।

समानदेशत्वे समानेन्द्रियग्राह्यत्वे च आवरणभेदस्य व्यञ्जकभेदस्य चानुपपत्तेः । तथाहि—  
शब्दाः प्रतिनियतावरणाधार्याः प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्या वा न भवन्ति, अभिन्नदेशत्वे  
सति एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्, यदित्थं तत्तथा यथा एकघटवृत्तिसामान्य-संख्या-रूप-परिमाण-  
कर्मादि, तथा चैते शब्दाः, तस्मात्तथेति । 'अभिन्नदेशत्वात्' इत्युच्यमाने रूपरसादिभि-  
र्व्यभिचारः, तेषामेकद्रव्यवृत्तित्वेऽपि प्रतिनियतव्यञ्जकप्रतीतेः, अतः 'एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्'  
इत्युक्तम् । तस्मिन्श्चोच्यमाने भिन्नदेशव्यवस्थितघटादिनिष्ठैः सामान्यादिभिः अनेकान्तः,  
तन्निवृत्त्यर्थम् 'अभिन्नदेशत्वात्' इत्यभिहितम् । तदतोऽनुमानात् शब्दानां प्रतिनियत-  
व्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वाऽव्यवस्थितेः अयुक्तमुक्तम्—

“अन्यार्थं प्रेरितो वायुः यथान्यं न करोति वैः । तथान्यवर्णसंस्कारशक्तो नान्यं करिष्यति ॥१॥”

[ भो० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८० । ] इत्यादि ।

यदि च तात्त्वादयो ध्वनयो वा शब्दानां व्यञ्जकाः; तर्हि तद्व्यापारे नियमेन  
उपलब्धिर्न स्यात् । कारकव्यापारो ह्येव—स्वसन्निधाने नियमेन कार्यसन्निधापनं नाम,  
न व्यञ्जकव्यापारः । न खलु यत्र यत्र व्यञ्जकः प्रदीपादिः तत्र तत्र व्यङ्ग्यस्य घटादेः  
सन्निधानमुपलब्धिर्वा नियमतोऽस्ति कारक-व्यञ्जकयोरविशेषप्रसङ्गात्, चक्रादिव्यापार-  
वैयर्थ्यानुपपत्त्या च । अथ घटादेरसर्वगतत्वाच्च व्यञ्जकसन्निधाने नियमतः सन्निधान-

(१) “अन्यार्थमिति अन्यवर्णनिष्पत्यर्थम् । अन्यवर्णसंस्कारशक्त इति अन्यवर्णप्रतीत्यर्थः  
संस्कारो यः श्रोत्रस्य सोऽन्यवर्णसंस्कारशब्देनोक्तः न तु वर्णसंस्कार एव श्रोत्रसंस्कारस्य प्रकृतत्वात् ।  
नान्यं करिष्यति इति नान्यं वर्णं श्रोत्रसंस्कारद्वारेण संस्कारिष्यतीत्यर्थः ।”—तत्त्वसं० पृ० पु० ६०८ ।  
(२) 'करोति च'—स्वा० २० पृ० ६८४ । 'करोति स'—तत्त्वसं० पु० ६०८ । प्रकृतपाठ—प्रमेयक०  
पृ० ४२३ । सम्मति० टी० पु० ३६ । (३) भो जैना—आ० टि० । (४) 'एकोपलम्भे सर्वेषामुपलम्भ-  
प्रसङ्गः' इत्युपलम्भस्य समाधानमिदं मीमांसकेन प्रोक्तम्—आ० टि० । (५) तुलना—'कारणानां  
समग्राणां व्यापारादुपलब्धतः । नियमेन च कार्यत्व व्यञ्जके तदसम्भवात् । नहि कदाचिद् व्यापू-  
तेषु कारणेषु शब्दानुपलब्धिः, न चावश्यं व्यञ्जकव्यापारोऽर्थमुपलम्भयति क्वचित् प्रकाशोऽपि घटानु-  
पलब्धे । सेयं नियमेनोपलब्धिः तद्व्यापाराच्छब्दस्य तदुद्भवे स्यात् । अकर्तुर्व्यापारेऽपि तत्सिद्धययो-  
गात् । किञ्च कारणानां समग्राणां व्यापारात् परस्परव्यापारविशेषात् नियमेन शब्दस्य उपलब्धतः  
कारणात् कार्यत्वं प्राप्तम् । किं कारणम् ? व्यञ्जके हेतो तदसम्भवात् नियमेन व्यङ्ग्यस्योपलम्भा-  
सम्भवात् ।”—प्रमाणश० स्व० टी० १।२६५ । “व्यञ्जकव्यापुतो न स्याद् व्यङ्ग्यस्य नियमाद् गति-  
नावश्यम्भावनिमित्तम् स्याच्छ्रुतेरुच्चारणात्तत् ।”—सिद्धिवि०, टी० पु० ५५५A । “न कश्चिद्विशेष-  
हेतुः तात्त्वादयो व्यञ्जका न पुनश्चक्रादयोऽपि इति । ते वा घटादेः कारकाः न पुन शब्दस्य तात्त्वा-  
दयोऽप्येति । न हि व्यञ्जकव्यापुतिनियमेन व्यङ्ग्यं सन्निधापयति । सन्निधापयति च तात्त्वादिव्यापुति-  
नियमेन शब्द ततो नास्ति तात्त्वादीनां व्यङ्ग्यः चक्रादीनां घटादिवत् ।”—अष्टश०, अष्टसह० पृ०  
१०३ । “यदि च तात्त्वादयो ध्वनयो वास्य”—प्रमेयक० पृ० ४१५ । स्वा० २० पृ० ६८४ । (६)  
वायव—आ० टि० । (७) “प्राक् सतः स्वरूपसंस्कारकं हि व्यञ्जकम्, असतः स्वरूपनिर्वर्तकं कार-  
कम् ।”—प्रमेयक० पृ० ११६ । (८) घटाद्युत्पादने । (९) प्रदीपादिनैव साध्यसिद्धे—आ० टि० ।

मुपलम्भो वा, शब्दस्य तु भवति विपर्ययात्, तदप्यचर्चिताभिधानम्, तत्सर्वगतत्वा सिद्धे । तथाहि—शब्दः सर्वगतो न भवति सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत् । ततो घटादिभ्यः शब्दस्य विशेषामावाद् उभयो वाच्यत्वं व्यङ्ग्यत्वं वाऽविशेषतोऽभ्युपगन्तव्यम् ।

किञ्च, एते ध्वनयः कुत प्रतिपन्ना येन तदधीना शब्दश्रुतिः स्यात् प्रत्यक्षेण, अनुमानेन, अर्थापत्त्या वा ? प्रत्यक्षेण चेत्, किं श्रौत्रेण, स्पर्शनेन वा ? न तावत् श्रोत्रेण, तथा प्रतीत्यभावात् । नहि शब्दवत् श्रोत्रे ध्वनयः प्रतिभासन्ते विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । तत्र तत्प्रतिभासाभ्युपगमे च अपरशब्दस्वरूपनावैयर्थ्यम्, ध्वनीनामेव श्रावणस्यभावात्तथा शब्दत्वप्रसङ्गात् । अथ स्पर्शनेन प्रत्यक्षेण ध्वनयः प्रतीयन्ते, स्वकरपिहितवदनो हि वदन् स्वरसस्पर्शनेन तान् प्रतिपद्यते, इत्यप्यसाम्प्रतम्, वायुवत् ताल्वादिव्यापारानन्तरं विप्रुषामुपलम्भतः शब्दाभिव्यञ्जकत्वप्रसङ्गात् । वक्तृमुखप्रदेश एव तासां प्रक्षयतः श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे गमनाभावात्तर्हि इत्यन्यत्रापि समानम् । न खलु वायवोऽपि तत्र गच्छन्तः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते । शब्दप्रतिपत्त्यन्यधानुपपत्त्या तु प्रतीतिः उभयत्र तुल्या । यथा च स्तिमितभाषिणो न विप्रुषामुपलम्भः तथा वायूपलम्भोपि नास्ति ।

(१) तुलना— व्यापिनः शब्दा नित्याश्च ततो व्यापिनित्यत्वाच्छब्दानां व्यञ्जकस्य करणस्य व्यापारात् सवश्रोपलम्बि घटादयस्तु न व्यापिनः नापि नित्याः तेन ते व्यञ्जकव्यापारेण नावश्यमुपलभ्यन्ते इति यद्यपि क इदानीं घटादिषु समादवास निश्चयः यथा त न नित्याः नापि व्यापिनः इति यावता तेषां नित्या व्यापिनश्च भवन्तु । —प्रमाणवा० स्वबु० टी० पृ० ३८५ । नप दोषः सवगतत्वाङ्गनामित्यपि वातम् प्रमाणबलायात्तत्वाभावात् अन्यथापि तथाभावानुपपन्नतः । —अष्टा०, अष्ट सह० पृ० १०३ । स्या० १० पृ० ६८४ । (२) सामान्यनिरासाय विगणनमुक्तम्—आ० टि० । तुलना— तदुक्तं न च सवगताः भूतानि यत्रात्मा न युज्यते । वर्णो बाह्यद्वयग्राह्यस्वभावत्वाद् घटादिवत् ॥ —पदप० पृ० ११ । न सवगतः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत् । —प्रमेयक० पृ० ४१५ । सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यद्वयप्रत्यक्षत्वात् । —स्या० १० पृ० ६८४ । (३) तुलना—प्रमेयक० पृ० ४१८ । स्या० १० पृ० ६८४ । (४) ध्वनिः । (५) तुलना— ध्वनय एव हि विगण्यता यस्या वाचका । तन्मो भिन्नाऽर्थात्तरं वाचकं स्वरूपमस्तीत्यतस्तत्ताप्राहकप्रमाणाभावात् अतिबह्विधं ननुपम् । किं कारणम् ? यतो न वयमवाचकं ध्वनिः शब्दश्च वाचकं पृथग्रूपमिति ध्वनिभ्यां भिन्नस्वभावमुपगमामः तस्मात् ध्वनिविशेष एवाकारान्तररूपस्थितः वर्णवत् । —प्रमाणवा० स्वबु० टी० पृ० ३९८ । यतो ध्वनिविशेष एव वक्ष्यते । तत्र दृष्टान्त्वारितो ध्वनिविशेष इति गव्यन्तिरुच्यते, मध्याह्नवारिता मध्यगव्यन्तिः विह्वलितोऽवारिता ध्वनिविशेषो विह्वलिता गव्यन्तिः न तु व्यञ्जकयो ध्वनिभ्यामप्यङ्गनाम् । प्रतिभासतः —प्रमाणवा० स्वबु० टी० पृ० ३८२ । (६) ध्वनीन् । (७) तुलना— वायुरतात्तात्त्यापारानन्तरं वक्ष्यमाणामुपलम्भनं शब्दाभिव्यञ्जकत्ववत्तद्वात् । —प्रमेयक० पृ० ४१८ । स्या० १० पृ० ६८४ । (८) यद्यपि वाऽव्यापारानन्तरमुपलम्भतः तत्तच्छब्दाभिव्यञ्जकत्वात् तथा वायुः तथा च विद्युः इति —आ० टि० । (९) विद्युषाम् वक्ष्यमाणानाम् । (१०) गगभिष्यञ्जकत्वम् । (११) ध्वनावतिः । (१२) ध्वनिगव्यन्तिः । (१३) वायुवत् वक्ष्यणवति समाना । १ घटादिवत् नाम्नि भा० । २ श्रोत्रप्रत्यक्षेण । ३ अनुमानेन । ४ गद्यवत्तत्र ध्वनयः । ५ विप्रुषाणाम्—आ० । ६ तथा भा० । ७ प्रत्यक्षतः प्रत्यक्षतः । ८ विप्रुषाणाम्—आ० ।

स्तिमितस्य कल्पनमुभयत्र तुल्यम् । एतेन वदतो मुखाग्रस्थिततूलादेः प्रेरणोपलम्भात् अनुमानतो ध्वनीन् प्रतिपद्यते, इत्यपि प्रत्युक्तम्, तद्वद् विप्रुपामपि अतः प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ।

अथ अर्थपत्त्या ध्वनयः प्रतीयन्ते, तथाहि—शब्दस्तावत् नित्यत्वात् नोत्पद्यते, सस्कृतिरेव कृतिर्यते, सा च विशिष्टा नोपपद्यते यदि ध्वनयो न स्युः । उक्तञ्च—

“शब्दोत्पत्तेर्निषिद्धत्वात् अन्यथानुपपत्तिः । विशिष्टसस्तुतेर्जन्म ध्वनिभ्योऽध्यवसीयते ॥” 5

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १२६ २७ । ] इति ।

तदप्यचारु, यतः केच विशिष्टा संस्कृतिर्नाम—शब्दसंस्कार, श्रोत्रसंस्कारः, उभयसंस्कारो वा ? त्रिविधो हि संस्कारो मीमांसकैरिष्टः ।

“स्याच्छब्दस्य हि संस्कारादिन्द्रियस्योभयस्य वा ।”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ५२ । ] 10

“स्थिरवाय्वपनीत्या च संस्कारोऽस्य भवन् भवेत् ।”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६२ । ] इत्यभिधानात् ।

तत्रापक्षे कोऽयं शब्दसंस्कारो नाम—शब्दस्योपलब्धिः, आत्मभूतः कश्चिच्च-

(१) वायून्-आ० टि० । (२) ‘मुखाद्विप्रुपो नि सरन्ति मुखाग्रस्थितवस्त्रे आर्द्रतादर्शनात्’ इत्यनुमानात् । (३) विप्रुपो हि मुखाग्रस्थवस्त्रादौ दृश्यन्ते-आ० टि० । (४) ध्वनयः सन्ति विशिष्ट-संस्कृत्यन्यथानुपत्तेः । “तथा हि सन्ति शब्दव्यञ्जका ध्वनयः शब्दप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तः ।”-स्या० १० पृ० ६०५ । (५) “नन्वेवमविशेषे किमिति संस्कारविशेषोत्पत्तिरेवाङ्गीक्रियते न शब्दविशेषोत्पत्तिरत आह-शब्दति । प्रागनुपजातपश्चादुपजातशब्दोपलम्भानुपपत्त्याऽवश्यं कल्पनीय कस्मिंश्चित् प्रत्यक्षतया शब्दोत्पत्तिनिषधत् सस्कारकल्पनैव युवतेति ।”-न्याय० । ‘ध्वनिभ्यो व्यवसीयते’-प्रमेयक० पृ० ४१८ । प्रकृतपाठ-सत्त्वस० पृ० ६११ । (६) इन्द्रियस्यैव संस्कार शब्दस्यैवोभयस्य वा । क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिध्व्यक्तिवादिनाम् ॥”-वाक्य० १।७९ । (७) ‘सा हि स्याच्छब्द’-मी० श्लो० । सत्त्वस० पृ० ५९८ । अननैव रूपेण उद्धृतोऽयम्-प्रमेयक० पृ० ४१९ । “साऽभिध्व्यक्ति शब्दस्य भवन्ती वायव्यं मयोगविभागैः शब्दसंस्काराद्वा भवेत् इन्द्रियसंस्काराद्वा उभयस्य वा शब्दस्यन्द्रियस्य च संस्कारात् ।”-सत्त्वस० पृ० ५९९ । (८) ‘द्विविधो हि वायुः स्थिरोऽस्थिरश्च । तत्र यः स्थिरः सघनान्धकारवत् शब्दभावतूत्यास्ते तस्य च वक्तृप्रयत्नसमुत्प्रेन वायुना सयोगविभागा उत्पद्यन्ते । तैश्च सयोगविभागैः तस्य स्थिरस्य वायोरपनयः क्रियते स एव च शब्दस्य संस्कारो नान्यः स्वलक्षणपुष्ट्यादि तस्य नित्यत्वेनैकरूपत्वात् ।”-सत्त्वस० पृ० ६०१ । (९) तुलना-“भवन्ती वा कारणभ्योऽतिशयवत्ता वा शब्दस्य व्यक्ति आवरणविगमो विज्ञानं वा गत्यन्तराभावात् । यत एवन्तस्मान् न व्यक्ति शब्दस्य कारणभ्यः किन्तूत्पत्तिरेव । भवन्ती वा कारणेभ्यः सकाशाद् व्यक्तिसिद्धा भवेत्-पूर्वावस्थापरित्यागेन अतिशयवत्ता वा शब्दस्य व्यक्तित्वेत् उपलम्भावरणविगमो वा, शब्दालम्बन विज्ञानं वा व्यक्ति, प्रकारनयव्यतिरेकेण गत्यन्तराभावात् ।”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३८६ । इमे सर्वे विकल्पा-प्रमेयक० पृ० ४१९ । क एष शब्दसंस्कार-किमतिशयाधानमननिशयव्यावर्तनमावरणपगमो वा”-स्या० १० पृ० ६८५ । रत्नाकराव० ४।९।

1 स्तिमितकल्प-आ० । 2 विप्रुपाणामपि आ० । 3-भ्योऽवसी-थ० । 4 एतदप्य-आ० ।

■ संस्कार इन्द्रि-थ० ।



तिशय , अनतिशयव्यावृत्ति , स्वरूपपरिपोष , व्यक्तिसमवाय , तद्ग्रहणापेक्षग्रहणता , व्यञ्जकसन्निधिमात्रम् , आवरणविगमो वा ? यदि शब्दस्य उपलब्धि , कथमसौ ध्वनीना गमिका शब्दश्रोत्रमात्रभाषित्वात्तस्या ? तथाप्यन्यनिमित्तकल्पने हेतूनामनवस्थिति । आत्मभूत कश्चिदतिशय अनतिशयव्यावृत्तिर्वा , इत्यत्रापि अतिशय — दृश्यैस्वभाव एव , अनतिशयव्यावृत्तिश्च अदृश्यस्वभावगण्डनमेव । 'ते' च ततो भिन्ने, अभिन्ने वा विधीयेते ? यदि भिन्ने, तदा तत्करणे शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्था अस्य अश्रुति स्यात् । अथ अभिन्ने, तर्हि शब्दस्यापि तद्वत् कार्यतानुप-  
 ४ द्धानित्यत्वप्रसक्ति । 'यो हि यस्मादभिन्नस्वभाव तत्करणे तस्यापि करणम् यथा अतिशयानतिशयव्यावृत्तिस्वरूपस्य, ताभ्यामभिन्नस्वभावश्च शब्द इति ।

किञ्च, श्रोत्रप्रदेश एव अस्य ध्वनिभि सस्कार 'क्रियेत, सर्वत्रापि वा ? प्रथम-  
 पक्षे तावन्मात्रक एव शब्द स्यात् न सर्वगत । तस्यैव अन्वये तद्विपर्ययरूपतया अव-  
 स्थाने दृश्यादृश्यत्वप्रसङ्गान्निराशताव्याघात । दृश्येतररूपता चेकस्य ब्रह्मवाद समर्थयते,  
 चेतनेतररूपतयापि एकस्य तद्वदवस्थित्यविरोधात् । घटादेरपि चैव सर्वगतत्वानुपपन्न ,  
 सोऽपि हि दृश्यप्रदेशे दृश्य अन्यत्र चादृश्य इति वदतो न वक्त्र वक्त्रीभवेत् । सर्वत्र  
 चार्थ सस्कारे सर्वत्र सर्वदा उपलब्धि स्यात्, न वा कश्चित् कदाचिद् विशेषात् ।

स्वरूपपरिपोषोऽप्यनुपपन्न , नित्यस्य स्वभावाऽन्यथाकरणासम्भवात् । करणे वा

(१) शब्दपलम्भे । (२) शब्दश्रोत्रव्यतिरिक्त-आ० दि० । (३) तुलना- तत्र नातिशय  
 योत्पत्ति अनित्यताप्रसङ्गात् तस्या पूर्वापररूपहान्युपजननलक्षणत्वात् । -प्रमाणवा० स्वदू० १।२६५।  
 विशेषाधानमप्यस्य नाभिव्यक्तिविभाव्यत । नित्यस्यातिशयोत्पत्तिविरोधात्स्वात्मनाश्रवत ॥ -तत्त्वा  
 धल० पृ० २३८ । (४) अतिशयो दृश्यस्वभाव एव अनतिशयव्यावृत्तिस्वदृश्यस्वभावगण्डनमेव ते  
 चतस्रोऽय तत्करणस्य शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्थाऽस्याश्रुति । अद्यानय, तदा शब्द  
 स्यापि कायतया अनित्यत्वानुपपन्न । -प्रमेयक० पृ० ४१९ । स्या० २० पृ० १/५। (५) अदृश्य सन  
 अतिशय जात दृश्यो जात-आ० दि० । (६) अनित्य अनतिशयव्यावृत्ती । (७) गण्डन  
 -आ० दि० । तुलना- दिशिष्टमस्कृति सा हि न शब्दव्यतिरेकिणी । शब्दस्याज्ञयताप्राप्ते तत्  
 गण्डोपि जायत ॥ -तत्त्वत० का० २५७० । (८) अतिशयोत्पादन अनतिशयव्यावृत्ती वा ।  
 (९) शब्दस्य-आ० दि० । (१०) अतिशय अनतिशयव्यावृत्तिवत् । (११) शब्द काय कायरूपा  
 भ्यामनित्य-अनतिशयव्यावृत्तिभ्यामभिन्नस्वभावत्वात् । (१२) शब्दस्य । (१३) श्रोत्रप्रदेश एव  
 चास्य सस्कारे तावन्मात्रक एव शब्द न सर्वगत स्यात् । -प्रमेयक० पृ० ४१९ । (१४) शब्दस्य ।  
 (१५) श्रोत्रदातृत्वम् (१६) अदृश्यरूपतया अगद्वरूपतया वा । (१७) गण्डस्य दृश्यादृश्यत्ववत् ।  
 (१८) शब्दस्य । (१९) तुलना- सर्वेषामुपलम्भ स्याद् युगपद्व्यापिता यदि ॥ सस्कृतस्योपलम्भ च  
 क सस्कर्ता विकारिण । -प्रमाणवा० ३।१५३ ५४ ।

१-चित्तस्तु व० भ० । २-तो च ततो भिन्नो अभिन्नो वा जा० । ॥ भिन्नो आ० ।  
 ३ अभिन्नो आ० । ४-कत भ० । ५ तत्कारणे भ० । ६ एवम्-भ० । ७ प्रियते आ० । ८-त  
 स्यात् दृ-भ० । ९ दृष्ट-भ० । १०-चित् स्वरूप-भ० ।

अतिशयपक्षभाविदोषानुपह्नः । नापि व्यक्तिममर्चायः; अनभ्युपगमात्, अन्यथा शब्दस्य सामान्यादिरूपताप्रसङ्गः । अत एव न तर्द्दहणापेक्षग्रहणता । नापि व्यञ्जकसन्निधि-  
मात्रम् ; सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रतिपत्तुभिः सर्वशब्दानां ग्रहणप्रसङ्गात् । आवरणविगमरूपे  
तु तत्संस्कारे युगपन्निखिलशब्दानामुपलब्धिः स्यात् । प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वादय-  
मदोषः, इत्यपि मनोरथमात्रम् ; तेषां तद्व्यङ्ग्यत्वस्यापास्तत्वात् ।

मा भूतर्हि शब्दसंस्कारोऽभिव्यक्तिः, इन्द्रियसंस्कारस्तु भविष्यति । तदुक्तम्—  
“अर्थापीन्द्रियसंस्कारः सोऽप्यधिष्ठानदेशतः । शब्दं न श्रोष्यति श्रोत्र तेनासकृतशङ्कुलि ॥१॥  
श्रौतासकृदेऽशत्वात् ध्वनेर्न श्रोत्रसंस्क्रिया । अतोऽधिष्ठानभेदेन संस्कारनियमः स्थितः ॥२॥”

[ मी० श्लो० तत्त्ववि० श्लो० ६९-७१ ] इति;

तदप्यधिचारितरमणीयम्, इन्द्रियसंस्कारपक्षेऽपि सकृत् संस्कृतस्य श्रोत्रस्य युगपन्निखिल-  
शब्दप्रकाशकत्वप्रसङ्गात् । नहि अञ्जनादिना संस्कृतं चक्षुः सन्निहितं स्वविषय नीलधबला-  
दिकं कञ्चित् पश्यति कश्चिन्नेति, बलैतलादिना संस्कृतं श्रोत्रं वा काञ्चिदेव गकारादिव-  
र्णान् शृणोति काश्चिन्नेति नियमो दृष्टः, येनात्रापि तथा कल्पना स्यात् । ततोऽयुक्तमेतत्—

(१) शब्दोऽपि व्यक्तिषु समवैति—आ० टि० । (२) यदि शब्द व्यक्तिषु समवेयात् तदा । (३)  
सामान्यं हि व्यक्तिषु समवैति—आ० टि० । (४) आदिपदेन सयोगादयोऽनेकस्था पदार्था ग्राह्या । (५)  
सामान्यरूपाधिप्रसङ्गादेव—आ० टि० । (६) व्यक्तिग्रहणापेक्षया स्वज्ञानजनकता । (७) शब्दसंस्कारे ।  
तुलना—“तद्रूपावरणानाञ्च व्यक्तिस्ते विगमो यदि । अभावे करणग्रामसामर्थ्यं किञ्च तद्भवेत् ॥”—प्रमा-  
णवा० १।२६६ । (८) “अधिष्ठानम्—कर्णशङ्कुली । तत्संस्कारद्वारेण श्रोत्रस्य संस्कारो न केवलस्य ।  
तेनासकृताधिष्ठानत्वाच्च विदूरस्यान्यचित्तसुप्तमूर्च्छितानां श्रोत्रं न शृणोति । असकृता कर्णशङ्कुली  
यस्य तत्तथोक्तम् । अधिष्ठानदेशत इति सप्तम्यर्थे तसि । यद्यप्यधिष्ठानसंस्कारकारिणो नावा  
स्तद्देशान्द्रियसंस्कारका वा, तथापि प्राप्ता एव सन्त संस्कारभावि पदार्थे संस्कार कुर्वन्ति नाप्राप्ता  
इत्यतो न सर्वपुत्राधिष्ठानादिसंस्कार ”—तत्त्वस० पृ० ५० ६०६ । (९) सप्तमी—आ० टि० ।  
सप्तम्यर्थे पञ्चमीविभक्तिरित्यर्थः । (१०) ‘अतो न श्रोष्यति’—स्या० १० पृ० ६८५ । (११) यत्सर्वं  
कर्णदेश ध्वनिं प्राप्य तत्सर्वं श्रोत्रसंस्कार—आ० टि० । ‘अप्राप्तकर्णदेशत्वात् ध्वनिना श्रोत्रसंस्क्रिया’  
—स्या० १० पृ० ६८६ । (१२) ‘संस्कारनियमस्थिति’—मी० श्लो० । प्रमेयक० पृ० ४२४ ।  
संस्कारनियम स्थित—तत्त्वस० पृ० ६०६ । स्या० १० पृ० ६८६ । (१३) तुलना—“इन्द्रियस्य  
स्यात्संस्कारः शृणुयान्निखिलञ्च तत् । संस्कारभेदभिन्नत्वादेकार्थनियमो यदि ॥ अनेकशब्दसंघाते  
श्रुति बलकले कथम् ।”—प्रमाणवा० ३ । २५५ ५६ । ‘तेषामपि श्रोत्रस्यावारकापनयन संस्कार  
शब्दग्रहणयोग्यतोत्पत्तिर्वा ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५ । “इन्द्रियसंस्कारस्योन्मीलनालोकादे सकृदिन्द्रि-  
यसम्बन्धयोग्यसर्वार्थोपलब्ध्यनुकूलसंस्कारजनकत्वं दृष्टं तद्वायुरपि सकृदेव सर्वशब्दोपलब्ध्यनुकूल  
श्रोत्रे संस्कारमादध्यात तथा च सर्वशब्दोपलब्धि स्यात् ।”—तत्त्ववि० शब्द० पृ० ४०५ । ‘नन्वेवमपि  
अदोषग्रन्थोपलम्भप्रसङ्गः, संस्कृते हि श्रोत्रे सर्वेषां सान्निध्यात् ।”—प्रज्ञ० व्यो० पृ० ६४८ । (१४)  
“बलातलादिना संस्कृतं श्रोत्रं वा काञ्चिदेव गकारादीन् शृणोति काश्चिन्नन्ति नियमो दृष्टः ।”—  
प्रमेयक० पृ० ४२४ । सन्मति० टी० पृ० ३६ । स्या० १० पृ० ६८६ । शास्त्रवा० टी० पृ० ३७७B ।

१—रो भक्ति. थ० । ■ शृणोतीति नियमो आ०, व० ।

“यथा घटादेदीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते । चक्षुषोऽनुग्रहादेवं ध्वनिः स्यात् श्रोत्रसंस्कृतेः ॥  
न च पर्यनुयोगोऽत्र केनाकारेण सस्फुटितः । उत्पत्तावपि तुल्यत्वात् शक्तिस्तत्राप्यतीन्द्रिया ॥”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४२-४३ ] इति;

प्रदीपाद्यनुगृहीतचक्षुषा युगपद् घटाद्यनेकार्थग्रहणवत् ध्वन्यनुगृहीतश्रोत्रेण एकदा अनेक-  
शब्दग्रहणप्रसङ्गात् । प्रयोगैः—श्रोत्रसू एकेन्द्रियग्राह्याऽभिन्नेदेशस्थितार्थग्रहणाय प्रतिनियत-  
संस्कारकसंस्कार्यं न भवति इन्द्रियत्वात् चक्षुर्वत् । तन्न श्रोत्रसंस्कारोऽप्यभिव्यक्तिर्घटते ।

अस्तु तर्हि उभयसंस्कारोऽभिव्यक्तिः, तत्र उक्तदोषासंभवात् । तदुक्तम्—

“द्वयसंस्कारपक्षे तु वैधा दोषद्वये वचः । येनान्यतरवैकल्यात् सर्वेः सर्वे न गृह्यते ॥”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८६-८७ । ] इति;

तदप्युक्तम्; उक्तदोषानुपपन्नादेव; तथाहि—यदा एकवर्णग्राहकत्वेन सस्कृतं श्रोत्रं संस्कृतं  
वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णानपि प्रतिपद्यते, संस्कृतञ्च वर्णं सर्वत्र सर्वदा स्थित-  
त्वेन, अन्यथा तत्प्रतीतिरेव न स्यात् तदात्मकत्वात्तस्य ।

ततो निरर्थैकरूपत्वे शब्दस्य आचार्यवारकभावस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य  
वाऽनुपपत्तेः नावरणकृता प्रागुच्चारणादस्याऽनुपलब्धिः । अतः तात्वादिव्यापारान-

(१) “कीदृश पुनर्ध्वनीनामभिव्यञ्जकत्वम् ? तद्वर्णयति यथेति । तेजसवाक्षुषस्य आप्याय-  
नानुग्रह कुर्वन् प्रदीपो यथा चाक्षुषाणां घटादीनां व्यञ्जको भवति तथा ध्वनयोऽपि श्रोत्रसंस्कार कुर्वन्तः  
शब्दस्याभिव्यञ्जका भविष्यन्तीति ।”—न्यायर० । उद्धृताविमी—प्रमेयक० पृ० ४२४ । तत्त्वसं० पृ०  
६०२ । (२) श्रोत्रसंस्कृतरनुग्रहाद् ध्वनिः शब्दस्य व्यञ्जक—आ० टि० । (३) द्रष्टव्यम्—पृ० ७०८  
टि० १८ । (४) “श्रोत्रसंस्कारवैकल्यात् सर्वे पुरुषे ध्रुयते, शब्दसंस्कारवैकल्याच्च न सर्वे शब्द,  
समुच्चिताद्वयो वारणत्वात् । प्रत्येककारणत्वे हि दोषद्वय स्यादिति ।”—न्यायर० । “संस्कारद्वयपक्षे  
तु मूषा दोषद्वयं हि तत् । येनान्यतरवैकल्यात् सर्वे शब्दो न गम्यते ।” अन्यतरस्य श्रोत्रसंस्कारस्य  
अर्थसंस्कारस्य वा वैकल्यात् न शब्दो गम्यते । तथाहि—सत्यपि शब्दसंस्कारे वधिरस्य श्रोत्रसंस्कारवै-  
कल्यात् शब्दग्रहणम्, अवधिरस्याप्यनभिव्यक्ते शब्दस्याग्रहणम् । क्वचित्पाठो मूषा दोषद्वये वच  
इति ।—तत्त्वसं० पृ० ५० ६१२ । (५) ‘मूषा दोषद्वये वच’—मी० श्लो० । स्या० २० पृ० ६८७ ।  
प्रकृतपाठ—तत्त्वसं० पृ० ६११ । प्रमेयक० पृ० ४२४ । (६) शब्दसंस्कार श्रोत्रसंस्कार—आ० टि० ।  
(७) तुलना—“तथाहि संस्कृता श्रोत्रवर्णायद्वयव्यञ्जकं पुरा । न नष्टास्ते च्युतिप्राप्ते सर्वे सर्वधृतिस्ततः ।”  
—तत्त्वसं० का० २५७३ । “यदेकवर्णग्राहकत्वेन संस्कृतं श्रोत्रं संस्कृतं वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णान्  
प्रतिपद्यते ।”—प्रमेयक० पृ० ४२५ । स्या० २० पृ० ६८७ । (८) तदाकाशदत्ते सर्वेषामपि वर्णानां व्यापितया  
नित्यतया च विद्यमानत्वात् । (९) यदि संस्कृतं वर्णं सर्वत्र सर्वदाऽवस्थितत्वेन न जानाति तदा ।  
(१०) नित्यव्यापिरूपत्वात् । (११) तुलना—“प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥ प्रागु-  
च्चारणाग्रास्ति शब्द । कस्मात् ? अनुपलब्धे । सतोऽनुपलब्धिरावरणादिभ्यः । एतदोपपद्यते,  
कस्माद् ? आवरणादीनामनुपलब्धिकारणानामग्रहणात् । अनेन आवृतं शब्दो नोपलभ्यते असन्नि-  
कृष्टेन्द्रियव्यवधानादित्येवमादि अनुपलब्धिरावरणं न गृह्यते इति सोऽप्यमनुच्चारितो नास्तीति ।  
तस्मान् व्यञ्जकाभावादग्रहणमपि त्वभावादेवेति । सोऽप्यमनुच्चार्यमाणं ध्रुयते ध्रुयमाणश्चाऽभूत्वा

न्तरमस्योपलम्भात् तदभावे चानुपलम्भात् तत्कार्यत्वमेव अभ्युपगतव्यम् । ननु-  
खननाद्यनन्तर व्योम उपलभ्यते तदभावे च नोपलभ्यते, नैव तत्तत्कार्यम्, अतोऽ-  
नेकान्तिकत्वमस्य । उक्तञ्च—

"अनैकान्तिकता तावादेतूनामिह कथ्यते । प्रयत्नानन्तर ईष्टिर्नित्येऽपि न विरुद्ध्यते ॥"

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९ ] ७

"आकाशमपि नित्यं सत् यदा भूमिजलावृतम् । व्यज्यते तदपोहन राननोत्सेचनादिभिः ॥

प्रयत्नानन्तर ज्ञानं तदा तत्रापि विद्यते । तेनाऽनैकान्तिको हेतुर्यदुक्तं तत्र दर्शनम् ॥

अथ स्थगितमप्येतदस्येवेत्यनुमीयते । शब्दोऽपि प्रत्यभिज्ञानात् श्रीगस्तीत्यवगम्यत ॥"

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३०-३३ ] इति<sup>३</sup>,

तदप्यसुन्दरम्, एकैकभावत्वस्य आकाशेऽप्यसिद्धत्वात् । तद्धि तत्त्वभावः सत् स्ववि- 10  
पयज्ञानजननैकरूपम्, तद्विपरीतं वा स्यात् ? यदि तज्जननैकस्वरूपम्, तदा तस्य  
न खननाद्यनन्तरमेव उपलब्धिः, किन्तु पूर्वमपि स्यात् । तद्विपरीतस्वरूपत्वे तु न  
कदाचनाप्युपलब्धिः स्याद्विशेषाभावात् । विशेषे वा तदेकरूपताव्याघातः । प्रत्यभि-  
ज्ञानाच्छब्दे प्राक्सत्त्वसिद्धिश्च लूनपुनर्जातनस्यैकशेषावपि सामानाः । कथञ्चैव ध्वनीना-  
मपि प्राक्सत्त्वसिद्धिर्न स्यात् ? य एव पूर्वमकारस्य व्यञ्जको ध्वनिः स एव पश्चादपि 15  
इति प्रतीतेः । तथा च व्यङ्ग्यवद् व्यञ्जकस्यापि सर्वत्र सद्भावसिद्धेः तात्वादिव्यापारवै-  
यर्थ्यम्, सर्वत्र सर्वदा व्यङ्ग्यप्रतीतिश्च स्यात् ।

एतेनेदमपि प्रत्युक्तम्—'अन्यदापि यत् शब्दस्योच्चारणं तदस्याभिव्यञ्जकम् उच्चा-

भवतीत्यनुमीयते । ऊर्ध्वञ्चोच्चारणात् श्रूयते स भूत्वा न भवति अभावान् श्रूयते इति । कथम् ?  
आवरणाद्यनुपलब्धिरित्युक्तम् । तस्मादुत्पत्तिरिति रोभावधमकः शब्द इति । न्यायभा० २।२।१८ ।

(१) तात्वादिव्यापाररूपोच्चारणकायत्वम् । शब्दः अनित्यः तात्वादिव्यापाररूपप्रयत्नान्त-  
रीयकत्वादिति । (२) व्योम । (३) जननकायम् । (४) प्रयत्नानन्तररीयकत्वादित्यस्य हेतोः । (५)  
'तावच्छब्देनासिद्धतापि वक्ष्यते इति प्रयत्नानन्तरदर्शनादित्यस्य तावदनैकान्तिकत्वं दण्यति—प्रयत्नेति ।  
दणनं हि तत्र सत्ता गमयति न कालान्तरे निषेधति तेन विपक्षोऽपि कालान्तरे सत्त्वसंभवात्तत्र दणनम्  
नैकान्तिकमिति । न्यायप्र० । (६) प्रयत्नानन्तरा द्रष्टि—मी० श्लो० । (७) उपलब्धि—आ०  
दि० । (८) व्योमज्ञानम्—आ० दि० । (९) दृश्यते—मी० श्लो० । (१०) दणनम्—प्रयत्नानन्त-  
रज्ञानम्—तत्त्वसं० पृ० ५० ६४० । दणनात्—मी० श्लो० तत्त्वसं० । (११) भूम्याद्यावृतमपि  
आकाशम् । (१२) उच्चारणात् प्राक् । (१३) उद्धृता इमे श्लोका—प्रमेयकं पृ० ४२२ । स्या० २०  
पृ० ६८९ । द्वितीयतृतीयो—तत्त्वसं० पृ० ६४० । (१४) तुलना—एकरूपता चाकशस्याप्यसिद्धा—  
प्रमेयकं पृ० ४०२ । स्या० २० पृ० ६८९ । (१५) आकाशः नित्यकस्वभावम् । (१६) खननात्  
प्रागनुपलब्धिसमयः स्वविषयज्ञानजननस्वभावत्वे खननान्तरञ्च स्वविषयज्ञानजननात्मकत्वे । (१७)  
आकाशस्य नित्यकस्वभावः न स्यादिति भावः । (१८) शब्दवत् । (१९) ध्वन्युत्पत्तावेव तात्वादीनां  
मुपयोगः ते च सर्वदा सन्तीति ।

रणत्वात् ईत्यादि; ध्वनावप्यस्य समानत्वात् । तथाहि—अन्यदापि यद् ध्वनेरुच्चारणं तत्तस्याभिध्यञ्जकम् उच्चारणत्वात् इदानीं तदुच्चारणवत् ।

एतेन “तावत्कालं स्थिरश्चैनं कः पश्चाद्वाशयिष्येति ।” [मो० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३६६]  
इत्येतदपि प्रत्युक्तम्; ध्वनेरपि प्रत्यभिज्ञानात् पूर्वोत्तरकालद्वयावस्थायिनः प्रसिद्धस्य

५ पश्चात् केनचिन्नाशानुपपत्तेः ।

यदप्यभिहितम्—‘विवादाध्यासितः कालो गादिसम्बद्धः कालत्वात्’ इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; गादेः उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य कालान्तरेऽनुपलम्भतोऽभावसिद्धेः; तत्र तत्सद्भावावेदकानुमानस्य बाधितपक्षतया कालावस्थापदिष्टेतुतया च अगमकत्वात् ।

विद्युदादेरपि चैवं नित्यत्वं स्यात्; तथाहि—विवादाध्यासितः कालो विद्युदादिसम्बद्धः

१० कालत्वात् विद्युदादिसम्बद्धकालवत् । प्रतीतिविरोधोऽन्यप्राप्यविशिष्टः । अत एव

‘नित्यः शब्दः श्रावणत्वात्’ इत्याद्यप्युक्तम्; उदात्तादिभिर्ध्वनिधर्मैः अनैकान्तिकत्वाच्च,

तेहि श्रावणत्वेऽपि अनित्या भवद्भिः प्रतिज्ञाताः । ‘तेषामश्रावणत्वे श्रोत्रेण शब्दगत-

धर्मतया उपलम्भो न स्यात्, यदश्रावणस्वरूपं न तस्य शब्दधर्मतया श्रोत्रेणोपलम्भः

यथा नीलत्वादेः, अश्रावणस्वरूपाश्च उदात्तादयो ध्वनिधर्मा इति । तथा वीणादिशब्दैश्च

१५ अनैकान्तिकत्वम्; तेषामप्यनित्यत्वेऽपि श्रावणत्वात् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘देशकालादिभिन्ना गोशब्दव्यक्तियुद्धयः’ इत्यादि; तदपि न

साधीयः; गोशब्दलिपियुद्ध्या हेतोरनैकान्तिकत्वात्, सा हि ‘गौः’ इत्युत्पद्यते न च सम्प्र-

त्युत्पन्नगोशब्दयुद्धैर्कविपया इति । नचैवं विषयभेदः क्वापि प्रसिद्ध्यति; सैकलयुद्धीनाम-

भिन्नविषयत्वप्रसङ्गात् । तथाहि—देशकालभिन्नवस्तुयुद्धयः एकविषया नैवाऽनेकविषया

(१) पृ० ६९९ प० ५ । (२) ध्वनेरभिध्यञ्जकम् । (३) उद्गतोऽयम्—स्यात्वा० ता० पृ० २५४ । (४) तुलना—तत्त्वतः पृ० ९५५ । तत्त्वत्वा० पृ० ३७९ । (५) पृ० ६९९ प० ९ । (६)

तुलना—“गादिसम्बद्धादनुपलम्भं विनाशस्य प्रत्यक्षप्रतिपक्षत्वेन प्रतिपादनात्”—स्या० १० पृ० ६८९ ।

(७) कालान्तरे उच्चारणानन्तरम् । (८) शब्देऽपि । (९) पृ० ६९९ प० ११ । (१०) तुलना—“उदात्ता-

दिनिधर्मैरनैकान्तिकत्वात् । ते हि श्रवणप्राप्तत्वेऽपि न नित्या भवद्भिरङ्गीकृता । तेषामश्रावणत्वे तु

नीलादीनामिव श्रोत्रेणोपलम्भो न भवत् । वीणादिशब्दैश्चानैकान्तिकत्वम्, तथा श्रावणत्वेऽप्यनित्यत्वात्”

—स्या० १० पृ० ६९० । (११) चयश्चन प्रतीतिविरोधं समुच्चरीयत । (१२) उदात्तादीनाम् ।

(१३) भवत्त्वत्वे—आ० टि० । (१४) पृ० ६९९ प० १२ । (१५) तुलना—“गोशब्दलिपियुद्ध्या हेतो-

रनैकान्तिकत्वात् । सा हि गोशब्दलिपिनामप्युत्पद्यते न चैकगोशब्दविषया दसकालादिभिन्नत्वाद् गोशब्दलि-

पीनाम् ।”—स्या० १० पृ० ६९० । (१६) नित्या हि निषिद्धा नित्या हि गोशब्दवृद्धिः—आ० टि० ।

(१७) तुलना—“अन्यथा सर्ववृद्धीनामप्यनुपलम्भना भवत् । क्रमभावविरोधश्च श्रवणकारणप्रतिषेधे ॥”—

तत्त्वत्वा० का० २४६६ । स्या० १० पृ० ६९० ।

१ तदनुष्ठा—य० । २ तयो व्यावर्ण्य—य०, तयोपलम्भो जा० । ३ गोशब्द—य० । ४—भिन्ना

वायु—य० । ५ महादेव—य० ।

वस्तुबुद्धित्वात् सम्प्रत्युत्पन्नघटबुद्धिवत् । ततश्च अखिलवस्तुबुद्धीनाम् एकघटलक्षण-  
वस्तुविषयत्वे घटबुद्धित्वमेव स्यात् न गोशब्दबुद्धित्वम् । अतः कथं देशादिभिन्नगोश-  
ब्दव्यक्तियुद्धीना धर्मित्वम्, कथं वा गोशब्दबुद्धित्वं हेतुः, सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्धि-  
यदिति दृष्टान्तो वा सिद्धेत् यतोऽनुमानः स्यात् ? अथ गवाश्वादिवस्तुभेदस्य प्रत्यक्ष-  
सिद्धत्वात् तद्वस्तुबुद्धीनामेकघटविषयत्वे साध्ये 'वस्तुबुद्धित्वात्' इत्यस्य कालात्ययापदिष्ट-  
त्वम् अग्रेरनुष्णत्वे द्रव्यत्ववदित्युच्यते, यद्येवम्, उदात्तादिधर्मभेदेन गोशब्दव्यक्तिभे-  
दस्यापि प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तद्वस्तुबुद्धीनामपि एकविषयत्वे साध्ये 'गोरित्युत्पद्यमानत्वात्'  
इत्यस्यापि कालात्ययापदिष्टत्वः स्यात् ।

यदप्यभिहितम्—'ह्यस्तनो गोशब्दोऽद्याप्यनुवर्त्तते' इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्,  
ह्यस्तनाऽद्यतनगोशब्दयोर्भेदस्य प्रत्यक्षप्रसिद्धत्वेन तदभेदप्रसाधनस्य कालात्ययापदिष्ट-  
त्वात् । कथमयथा ह्यस्तनाऽद्यतनविद्युत्प्रकाशयोरपि एकत्वञ्च स्यात् । शक्यं हि वक्तुं  
ह्यस्तनो विद्युत्प्रकाशोऽद्याप्यनुवर्त्तते विद्युत्प्रकाशत्वात् अद्यतनविद्युत्प्रकाशवदिति । अथ  
तीव्रा 'विद्युत्' तीव्रतरा तीव्रतमेति प्रत्यक्षतः तीव्रादिधर्मात्मकतया विद्युत्प्रकाशस्य विभि-  
न्नस्यभावस्य प्रतीतेः न तदैक्यप्रसाधकमनुमानः गमकम्, तदयत्रापि समानम्—गोश-  
ब्दस्यापि तीव्रादिधर्मोपेतस्य श्रोत्रप्रत्यक्षे प्रतिभासनात् । तद्धर्मस्य औत्रौपाधिकत्वे  
विद्युत्यपि अस्यैव तदस्तु विशेषाभावात् । अथ शुद्धाया विद्युतः कदाचिदप्यसत्त्वेदनात्  
न तत्रास्यौपाधिकत्वम्, तदेतत् शब्देऽप्यविशिष्टम्, नहि तद्धर्मशून्यं 'सोपि स्वप्नेऽपि  
प्रतिभासते । एतेन 'अद्यतनो वा गोशब्दः ह्योऽप्यासीत्' इत्यादि' प्रतिव्यूढम्, न्यायस्य  
समानत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'शब्दो वाचको दीर्घकालावस्थायी' इत्यादि, तदपि चेष्टया अनैका-  
न्तिकम्, तस्या सम्यग्ध्वलेन अर्थमतिहेतुत्वेऽपि दीर्घकालावस्थायित्वाभावात् ।

एतेन 'यस्त्वस्थिरः स सम्यग्ध्वलेन नार्थं बोधयति' इत्यादि' प्रत्याख्यातम्,

(१) पृ० ७०० पं० ६ । (२) तुलना— ह्यस्तनाद्यतना सर्वे गोशब्दप्रत्यया इमे । नकार्या  
जमसम्भूते रूपगन्धादिबुद्धिवत् ॥ —तत्त्वसं० का० २४६५ । स्या० १० पृ० ६९० । (३) तुलना—  
स्वाभाविकत्वावधारणयास्य यत्र तत्र प्रसिद्धस्य अत्रापि तुल्यत्वात् । न हि पयसि शत्यद्रवत्वे तेजसि  
वा भास्वरत्वोष्णत्वे स्वाभाविके इत्यत्रा यत्प्रमाणं प्रत्यक्षात् —स्या० १० पृ० ६९० । (४) उदात्ता-  
दिधर्मस्य । (५) शब्दे । (६) तीव्रतीव्रतरादिधर्मस्य । (७) तीव्रतीव्रतरादिसवधमशून्याया । (८)  
विद्युति । (९) उदात्तानुदात्तादिधर्मरहितं शुद्धं । (१०) शब्दोऽपि । (११) पृ० ७०० पं० ७ ।  
(१२) पृ० ७०० पं० ८ । (१३) आह्वानादौ अहंशून्यादिकृतया—आ० हि० । तुलना— चण्ड्याज-  
कान्तिकत्वात् —स्या० १० पृ० ६९२ । (१४) पृ० ७०० पं० ९ ।

१ यदेवम् थ० । २ क्षसि थ०, व० । ३ विद्युत्तीव्रतमेति थ० । ४ श्रोत्रप्रत्यक्षप्र—थ०  
श्रोत्रप्रत्यक्षेण प्र—व० । ५ न्य—स्वाप्ने स्वप्नेऽपि थ० । ६ बोधयति व० ।

चेष्टाया. सम्बन्धवलेन अर्थबोधकत्वेऽपि तादात्विकनिमित्तत्वसमवात् । ततोऽयुक्तमेतत्—

“कञ्चित्काल स्थिरः शब्दः सर्वकालमपि स्थिरः ।

विनाशहेतुशून्यत्वात् सामान्याकाशकालवत् ॥” [ ] इति,

यत्, कञ्चित्कालावस्थायित्वं किम् उपलम्भकालावस्थायित्वमभिप्रेतम्, अतीतवर्त्तमान-  
 5 कालावस्थायित्वं वा ? प्रथमपक्षे चेष्टाया विशुदादेश्च सर्वकालमपि स्थायित्वप्रसङ्गः,  
 तथाविधकियत्कालस्थिरत्वस्य तत्राप्यविशेषात् । अतीतवर्त्तमानकालावस्थायित्वञ्चास्यै  
 न कुतश्चित् सिद्ध्यति इत्युक्तं प्रागेव । हेतुश्चात्रासिद्धः, शब्दस्य कादाचित्कतया विनाश-  
 हेतुशून्यत्वानुपपत्तेः । यत् कादाचित्कं न तत् विनाशहेतुशून्यम् यथा विशुदादि, कादा-  
 चित्कञ्च शब्द इति ।

10 यदपि—‘विवादाध्यासितः कालो गादिसब्दश्च यो न भवति’ इत्याद्युक्तम्; तदपि  
 त्रिगुदादौ समानत्वादयुक्तम् । तथाहि—विवादाध्यासितः कालो विशुदादिशून्यो न  
 भवति कालस्यात् तत्सर्वोपेतकालवत् । प्रत्यक्षबाधनम् उभयत्र तुल्यम् ।

यदप्युक्तम्—‘नित्यः शब्दः ततोऽर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेः’ इत्यादि, तदप्यधिचा-  
 रितरमणीयम्, धूमादिषदनित्यस्याप्यस्य सादृश्यतोऽर्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः । न लुप्त  
 15 ‘य एव सङ्केतकाले दृष्टः तेनैव अर्थप्रतीतिः कर्त्तव्या’ इति नियमोऽस्ति, महानसदृष्ट-  
 धूमसदृशादपि पर्वतधूमाद् यद्विप्रतिपत्तिप्रतीतिः । न च पर्वतमहानसप्रदेशवर्तिन्योः  
 धूमव्यस्त्योरेकं सभवति, प्रतीतिविरोधात्, सर्वस्य सर्वगतत्वानुपपन्नञ्च । अथ धूम-  
 सामान्यस्य अत्र गमनत्वम्, शब्दसामान्यस्य अन्यत्र वाचकत्वं किञ्च स्यात् ? ननु  
 शब्दसामान्यस्य वाचकत्वे शब्दस्य विमायातम् ? तर्हि धूमसामान्यस्याप्यनुमापकत्वे  
 20 धूमस्य विमायातम् ? अथ धूमात्तस्योऽभेदात् तदनुमापकत्वे धूमस्याप्यनुमापकत्वम्,  
 तर्हि शब्दान् तत्सामान्यस्याप्यभेदात् तद्वचकत्वे तस्यापि वाचकत्वमस्तु अविशेषात् ।  
 अथ शब्दं सामान्यमेव नास्ति तत्कथमस्य वाचकत्वमुच्यते, धूमेऽपि तर्हि तज्जास्ति तत्त्वस्य

(१) उच्चारणानन्तरं यदुपलभ्यत स उपलम्भकाल—आ० हि० । (२) शब्दस्य । (३) तुलना—  
 ‘कादाचित्कं शब्दः शब्दः तदसिद्धम्’—स्या० १० पु० ६९२ । (४) पु० ७० १४० ३ । (५) तुलना—  
 तदपि विशुदादौ तुल्यत्वादयुक्तम्—स्या० १० पु० ६९२ । (६) शब्दं विशुदादौ च । (७) पु०  
 ७० १४० ४ । (८) तुलना—‘अनिर्वाच्येति सादृश्यापादाने सत्यथप्रतिपत्तेर्भावात् । तत्र यत्र गवारो  
 वारिगिरनीपानामित्यभ्युपगमपूर्वमुपलभ्यत तत्र तत्र गोप्यविशिष्टाज्यं प्रतिपत्तव्यं प्रतिपादयितव्य-  
 इति मनुजबहु मति तयोर्गर्थः शब्दमुपलभमानः तमर्थं प्रतिपत्तव्यं प्रतिपादयति चेति ।’—प्रद० प्यो०  
 पु० ६४९ । ‘धूमादिवदनित्यस्यापि शब्दस्य अवगतसम्बन्धस्य सादृश्यताज्यप्रतिपादनत्वमभावात् ।’—  
 प्रमेय० पु० ४०९ । सम्प्रति० दो० पु० ३३ । स्या० १० पु० ६९२ । प्रमेय० ३११०० । (९) यदि महान-  
 गानज्यं धूममस्ति एवमर्थं स्यात्तदा । (१०) धूमसामान्यस्य । (११) शब्दसामान्यस्य शब्दत्वस्य ।

गमकत्वमुच्येत ? अथ तद्भेदस्य प्रमाणसिद्धत्वात् 'धूमो धूमः' इत्यसन्दिग्धाऽवाध्यमा-  
नाऽनुगतप्रतीतिदर्शनात् अस्ति तत्र तत् ; तदेतदन्यत्रापि समानम् । ननु शब्दव्यक्तीनां  
प्रत्यक्षतो भेदप्रसिद्धेः तत्र इष्टमेव शब्दत्वसामान्यम्, गादीनां तु एकैकव्यक्तिर्कैवेन  
भेदाभावात् तत्र गत्वादिसामान्यं संभवतीति तत्र तस्य वाचकत्वाभावः ; तदप्यसाम्प्र-  
तम् ; तेषामपि उदात्तादिभेदतो नानाव्यक्तिकत्वसंभवाद् गत्वादिसामान्यसद्भावोपपत्तेः ।  
'ध्वनिधर्मा एव उदात्तादयः' इति च मनोरथमात्रम् ; तेषां तद्धर्मत्वस्य प्रागेव कृतोत्त-  
रत्वात् । ततोऽनित्यपक्षेऽपि इत्थं शब्दादर्थप्रतिपत्तेरुपपत्तेः नार्थापत्तितोऽपि तन्नित्य-  
त्वसिद्धिः । अतोऽयुक्तमुक्तम्—“अर्थापत्तिरियं चोक्ता” [ मी० श्लो० ] इत्यादि । प्रसा-  
धितश्च नित्यसम्बन्धपरीक्षावसरे अनित्यत्व एव शब्दस्य वाचकत्वमित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘सादृश्यस्य विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः’ इत्यादि ; तदप्यनल्पतमो-  
विलसितम् ; तस्य आबालमबाधप्रतीतिगोचरचारितया अपह्नोतुमशक्यत्वात् । एकस्य हि  
स्वसामग्रीतो यादृशः परिणामः तादृश एवापरस्य सादृश्यं यमलकयत् । तच्च व्यक्तिभ्यो  
भिन्नमभिन्नञ्च सामान्यपरीक्षाप्रपञ्चे सप्रपञ्चं प्रपञ्चिर्तमिति कृतं पुनः प्रसङ्गेन ।  
ततो यद् यद्रूपतया कुतश्चिदपि प्रमाणान्न प्रतीयते न तत्तद्रूपतयाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा  
जगद् अद्वैतरूपतया, सर्वथा नित्यस्वभावतया न प्रतीयते च कुतश्चित्प्रमाणात् शब्द-  
इति । तदनित्यस्वभावतायां तु प्रमाणसद्भावात् तद्रूपतयाऽसौ अभ्युपगन्तव्यः ।

तच्च प्रमाणम्—अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटः,  
कृतकश्चायमिति । न चेदमसिद्धम् ; तथाहि—कृतकः शब्दः, कारणान्वयव्यतिरेकानु-

(१) महानसीयपर्वतीयादिभेदेन धूमव्यक्तीनामनेकत्वादस्ति तत्रानुगत धूमत्वाख्य सामान्यम्,  
गादिशब्दस्तु एकः अतः कथं तत्र शब्दत्वम् व्यक्तेरभेदस्य जातिबाधकत्वादित्याशयेन शङ्कते अयेति ।  
(२) धूमत्वाख्य सामान्यम् । (३) गत्वादी । (४) गादीव्यक्तीनामपि । (५) उदात्तादीनाम् । (६) ५०  
७०२ प ९ । (७) तुलना—“स्वहेतोरेकस्य हि यादृश परिणामः तादृश एवापरस्य सादृश्यं न तु स एव ।  
स च व्यक्तिभ्यो भिन्नोऽभिन्नश्च ।”—प्रमेयक० ५० ४११ । (८) ५० २८९ । (९) तुलना—‘नित्यत्वेऽपि  
शब्दानां सर्वेषां स्यात् सकृच्छ्रुति । समाक्षग्रहयोग्यत्वात् व्यापिना समवस्थिते ॥ तत्कृतमुपकारमात्म-  
सात्कुर्वन् तद्देशवृत्तिनियमात् कूटस्थस्य न समवति । सर्वगतत्वेऽपि विवक्षितं कण्ठश्रुतिर्न स्यात् ।”—  
सिद्धिबि० ५० ५५४ । “स्वतन्त्रत्वे तु शब्दानां प्रयासोऽनर्थको भवेत् । व्यक्तधावरणविच्छेदसत्कारादि-  
विरोधतः ॥ वशादित्स्वरधारया सकुल प्रतिपत्ति । क्रमेणासुग्रहेऽप्युक्त सकृद्ग्रहणविभूम । तात्वा-  
दिसन्निधानेन शब्दोऽयं यदि जायते । को दोषो येन नित्यत्वं कुतश्चिदवकल्प्यते ॥”—न्यायवि० का० ४२२-  
२४ । (१०) तुलना—‘अनित्यः शब्दः इत्युत्तरम् । कथम् ? ‘आदिभत्त्वादन्ध्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च ॥  
आदिर्योनिः कारणम् आदीयते अस्मादिति । कारणवदनित्यं दूष्टम् । सयोगविभागजश्च शब्दः कारणव-  
त्त्वादनित्य इति । का पुनरियमर्थदेसना कारणवत्त्वादिति ? उत्पत्तिधर्मकत्वादनित्य शब्दः इति, भूत्वा  
न भवति विनाशपर्यन्त इति । साधयिकमेतत्—किमुत्पत्तिकारणं सयोगविभागो शब्दस्य आहोस्विदभिव्य-

१ भेदसिद्धेः श्र० । २-कत्वे भेदा-आ० । ३ यथा च जगद् श्र० । ४ नित्यत्वत्व-श्र० ।  
५ कुतश्चेतिप्रमा-श्र० । ६-स्वं यथा व० ।



विधायित्वात्, यदित्य तदित्थं यथा घट, तथा च शब्द, तस्मात्तथेति । नचेदमध्य-  
सिद्धम्, तात्त्यादिकारणव्यापारे सत्येव अस्यात्मलाभापोलम्भात् तदभावे चानुपलम्भात्  
मृदण्डादिकारणव्यापारभावाभावयो घटस्य आत्मलाभाऽलाभोपलम्भवत् । न च तस्या  
पारे तदभिव्यक्तेरेव आत्मलाभो न शब्दस्य इत्यभिधातव्यम्, तस्या प्रागेव प्रपञ्चतोऽ  
पास्तत्वादिति ॥३॥

तदेव वर्णानां पोरुपेयत्वप्रसिद्धौ पदवाक्यानामनायासत तत्प्रसिद्ध्यति तदौ  
त्मकत्वात्तेषाम् । नन्यस्तु लाङ्किकानां तेषां तैस्तिद्धि न वैदिकानामिति चेत्, न, तदत्य-  
न्तवैलक्षण्यप्रतीति । “य एव हि लौकिका शब्दा त एव वैदिका” [ शाबरभा० १।३।३० ]  
इत्यभ्युपगमन्यापातप्रसङ्गाच्च । तदपौरुपेयत्वप्रसाधकप्रमाणाभावाच्च, न च तदभावो-  
सिद्ध, यत तत्प्रसाधक प्रमाण प्रत्यक्षम्, अन्यद्वा भवेत् ? न तावत्प्रत्यक्षम्, तस्य  
शब्दस्वरूपमात्रग्रहणे चरितार्थत्वेन तत्पौरुपेयत्वाऽपौरुपेयत्वग्राहकत्वाऽसम्भवात् ।

कृतिकारणमित्यत आह एद्रियकत्वात् इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्य एद्रियकः । किमयं व्यञ्जकेन समानदेशोऽ  
भिभ्यस्यत रूपादिवत् अयं सयोगजाच्छब्दोऽन्तःसन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नो गृह्यत इति ? सयोगनि-  
वृत्तौ गन्ग्रहणात् व्यञ्जकेन समानदेशस्य ग्रहणम् । दारुप्रवचने दारुपरगुणयोगनिवृत्तौ दूरस्थेन शब्दो  
गृह्यते न च व्यञ्जकाभावे व्यङ्ग्यग्रहणं भवति तस्मान्न व्यञ्जक सयोग इत्येव गन् उल्लेखे  
नाभिभ्यस्यते कृतकवदुपचारात् । तीव्र मन्दमिति कृतकमुपचयते तीव्रं सुखं मन्दं सुखं तीव्रं दुःखं  
मन्दं दुःखमिति उपचयते च तीव्रं गन्धो मन्दं गन्ध इति । —न्यायसू०, भा० २।२।१३। अनित्य  
गन्धं तीव्रमन्धविषयत्वात् दुःखवदिति कृतकवदुपचारादित्यनेन सत्रयं सर्वानित्यत्वसाधनवगमग्रह-  
कृतकवदग्रहणस्य उदाहरणार्थात् । यथा सामान्यविपरीतत्वोऽस्मदादिवाङ्मयकरणप्रत्यक्षत्वात्, उपल-  
भ्यस्य अनुपलब्धिकारणाभावे सत्यनपलब्धं गणस्य सतोऽस्मदादिवाङ्मयकरणप्रत्यक्षत्वात् इत्यव-  
भाधि । —न्यायबा० पृ० २९० । तदेवन्तीवादिभदभिन्नत्वात्मुखादिवदनित्यत्व गन्धानाम् । व्यञ्ज-  
कानुपलब्धौ चाभूत्वा भवनस्योपलब्धं कायत्वादित्यत्व घटादिवत् । तथा परमाणुगुणान्वत्वे सति  
व्यापकविशेषगुणत्वात् मुखादिवत् । —प्रज्ञ० व्यो० पृ० ६४९ । अतो यत्तद्वर्णितवर्णाद्यात्मा श्रवण-  
मध्यस्वभावः प्राक् पश्चादपि पुद्गलानां नास्तीति तावान्न ध्वनिपरिणामः । —अष्टा० अष्टसह०  
पृ० १०८ । परिणामी गन्धं वस्तुत्वान्यथानुपपत्तः । —तत्त्ववाक्यश्लो० पृ० ६ । अनित्य शब्द-  
तीव्रमन्धतादिभेदेपितत्वात् सुखदुःखादिवत् —रत्नाकराव० ४।९ । तस्माद्दर्शो न नित्योऽनित्यो वा  
सन्ध सत्युत्पत्तिमत्त्वात् अस्मदादिबहिर्निर्द्रव्याहृत्य सति जातिमत्त्वात् अस्मदादिप्रत्यक्षगुणत्वाद्वा  
आत्मकवप्रत्यक्षवपक्षं प्रत्यक्षविपरीतगुणत्वात् व्यापकतमवेतप्रत्यक्षविपरीतगुणत्वात् अनात्मप्रत्यक्ष-  
गणत्वात् अव्याप्यवसित्वात् बहिर्निर्द्रव्यवस्याहेतुगुणत्वात् भूतप्रत्यक्षगुणत्वात् उत्कर्षापिकपगन्ध-  
प्रवृत्तिनिमित्तजातिमत्त्वादित्यादि । —तत्त्वचि० गन्ध० पृ० ४६० ।

(१) गन्धस्य । (२) तात्त्यादिव्यापारे । (३) वर्णमकत्वात्पदवाक्यानाम् । तुलना— यदा  
च वर्णा एव न नियामन्त क्व कथा पुष्टविषयाधीनानुपूर्व्यान्निर्गच्छवणसमूहरूपाणां पदानां  
कुतस्तत्त्वाच्च तत्समूहस्य वाक्यस्य कुतस्तत्त्वाच्च तत्समूहस्य वेदस्यति —तत्त्वचि० शब्द० पृ० ४६४ ।  
(४) पदवाक्यानाम् । (५) पौरुपेयवसिद्धिः । (६) तयो लौकिकवदिकपदवाक्ययो । (७)  
उद्धतमिन्द्रिय-संमति० टी० पृ० ३९ । सीतातित० पृ० १३४ । भाट्टचि० पृ० ४१ ।

किञ्च, अनादिसत्त्वस्वरूपमपौरुषेयत्वम्, तत्कथम् अक्षप्रभवप्रत्यक्षपरिच्छेदम् ? अक्षाणां प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया अनादिकालेनाऽसम्बन्धात् तत्कालसम्बद्ध-सत्त्वेनाप्यसम्बन्धतः तज्ज्ञानाऽहेतुत्वात् ।

ननु मा भूत् प्रत्यक्षतस्तदपौरुषेयत्वसिद्धिः, अनुमानात्तु सा भविष्यति । तच्चा-  
वेदस्य अपौरुषेयत्व- तुमानम्—अपौरुषेयो वेदः कर्तुः स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्धमाण-  
मुरीकुर्वता मीमास कर्तृकत्वाद् व्योमवत् । न चायमसिद्धः; वेदकर्तुः कदाचित् केनचित्  
काना पूर्वपक्ष- स्मरणाभावात् । सतश्चास्यै तदर्थानुष्ठानसमये अनुष्ठातृणामनिश्चित-  
प्रामाण्यानां तत्प्रामाण्यप्रसिद्धये स्मरण स्यात् । ये हि यदर्थानुष्ठाने प्रवर्तन्ते ते अवश्य

(१) तुलना—“अनादिसत्त्वरूपञ्च अपौरुषेयत्व कथमक्षप्रभवप्रत्यक्षपरिच्छेदम्” —प्रमेयक०  
पृ० ३९१। (२) अनादिकाल । (३) अनादिसत्त्वरूपाऽपौरुषेयत्वज्ञानाकारणत्वात् । (४) “अपौरुषेय-  
त्वात् सम्बन्धस्य सिद्धमिति । कथं पुनरिदमवगम्यत अपौरुषेय एव सम्बन्ध इति ? पुरुषस्य सम्बन्धुर-  
भावात् । कथं सम्बन्धा नास्ति ? प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्याभावात् तत्पूर्वकत्वाच्चेतरेषाम् । ननु चिरवृत्त-  
त्वात्प्रत्यक्षस्याविषयो भवेदिदानीन्तनानाम् । न हि चिरवृत्तं सन्न स्मर्यते । न च हिमवदादिषु कूपारा-  
मादिबद्धस्मरणं भवितुमर्हति, पुरुषविधोगो हि तेषु भवति देशोत्सादेन कुलोत्सादेन वा । न च शब्दार्थ-  
वियोगं पुरुषाणामस्ति । स्यादेतत्—सम्बन्धमात्रव्यवहारिणो निष्प्रयोजनं कर्तृस्मरणमनाद्रियमाणा  
विस्मरयुरिति, तत्र, यदि हि पुरुषं कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारयेत् व्यवहारकाले अवश्यं स्मर्तव्यो  
भवति । सप्रतिपत्ती हि कर्तृव्यवहर्त्रार्थं मिदपि न विप्रतिपत्ती । न हि वृद्धिश्च्येन अपाणिनेर्व्य-  
वहरत आदौच प्रतीयन् पाणिनिः कृतिमननुमन्यमानस्य वा । तथा मकारेण अपिङ्गलस्य न सर्वगुह-  
स्त्रिकं प्रतीयेत पिङ्गलकृतिमननुमन्यमानस्य वा । तेन कर्तृव्यवहर्त्रां सम्प्रतिपद्यते । तेन वेदे  
व्यवहर्द्भिरवश्यं स्मरणीयं सम्बन्धस्य कर्ता स्यात् व्यवहारस्य च । तस्मात् कारणादवगच्छामो  
न कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारार्थं केनचिद्वेदा प्रणीता इति । तस्मादपौरुषेयं शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः ।”  
—शाबरभा० १।१।५। पृ० ५३ । बृहती० पृ० १७७ । ‘यदा चाप्तप्रणीतत्वाच्छब्दोऽर्थं प्रतिपादयेत् ।  
न स्वशक्त्या तत्वाप्तत्वं मितौ न स्मर्यते कथम् ॥ यदा हि कश्चित् पदपदार्थसम्बन्धं कृत्वा धर्माधर्म-  
प्रतिपादनाय वेदवाक्यानि कृतवान् तदाऽवश्यमसौ सम्बन्धस्य कर्ता, स एव च तं पदैः वेदवाक्यरच-  
नात्मकं व्यवहारं करोतीति समयव्यवहारयोरेककर्तृत्वं प्रतिपत्तिं स्मर्तव्यम्, तथा च वाक्यादयः  
प्रतिपद्यमानानामवश्यं वाक्यकर्तृत्वात्प्रत्यक्षं प्रतिपत्तिं स्मर्तव्यम्, तदधीनत्वादर्थनिश्चयस्य, न वेदार्थं  
प्रतिपद्यमाना समयकर्तारं तेन सह वेदकर्तृकत्वं तस्य चाप्तत्वं स्मरन्तो दुष्यन्त इति । ‘दुष्टे भवतु  
मा बाभूत् कर्तृसप्रतिपन्नता । वैदिको व्यवहारस्तु न कर्तृस्मरणादृते ॥ एव गामानयेत्येवमादिषु मा  
नाम समयकर्तृ व्यवहारकर्तृश्च सप्रतिपत्तिर्भूतः, वेदेऽपि प्रतिपत्तिमात्रं विनाऽपि सप्रतिपत्त्या सिद्धयतु  
नाम । व्यवहारस्तु योऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानात्मकं सोऽनुष्ठार्थं वाक्यं कप्रमाणको नाऽसति वाक्यकारा-  
प्तस्मरणे सिद्धयेत्, तदवश्यं स्मर्तव्यस्य वेदानां सम्बन्धानाञ्च कर्तृस्मरणात् योग्यानुपलम्भना-  
दभावऽवधारिते सिद्धं वेदानां सम्बन्धानाञ्च नित्यत्वमित्याह—दुष्ट इति ।’—मी० श्लो० न्यायर०,  
सम्बन्धा० श्लो० १२३, १३० । “कथं पुनरपौरुषेयत्वं वेदानाम् ? पुरुषस्य कर्तृस्मरणात् ।”—प्रक०  
पृ० पृ० १४० । “कर्तृस्मरणाच्चापौरुषेयत्वम्”—आट्टी० पृ० ३३ । नयवि० पृ० २७९ । “स्मर्तव्यत्वे  
सत्यस्मरणाद् योग्यानुपलब्धिनिरस्तस्य कर्तृरनुमानाभावात् समाख्यायाश्च प्रवचननिमित्तत्वादपौरुषेय-  
वेदा इति ।”—शास्त्रदी० पृ० ६९, ६९६ । (५) वेदकर्तुः । (६) अग्निष्टोमादियज्ञानुष्ठानकाले ।

तच्छास्त्रकर्तारमनुस्मरन्ति यथा अष्टकाद्यर्थानुष्ठानार्थिन तत्प्रणेतार मनुम्, वेदविहिता-  
र्थानुष्ठाने बहुवित्तव्ययायाससाध्याऽग्निप्रोमादिवर्मलक्षणे प्रवर्तन्ते च प्रेक्षापूर्वकारिणः,  
अतस्तेषा महती तत्कर्तृस्मरणापेक्षा । तेहि अदृष्टफलेषु कर्मसु एव नि सशयाः प्रवर्त-  
न् यदि तेषा तद्विषय सत्यतानिश्चय स्यात् । न चासौ तदुपदेष्टु स्मरणाभावे घटते  
पित्रानुपदेशवत् । यथैव हि पित्रादिकमुपदेष्टार स्मृत्वा स्वयमदृष्टफलेष्वपि कर्मसु तदुप-  
देशात् 'पित्रादिभिरेतदुपदिष्ट तेनाऽनुष्ठीयते' इति, एव वैदिकेष्वपि कर्मसु अनुष्ठीय-  
मानेषु कर्तुं स्मरण स्यात् । न चाभियुक्तानामपि वेदार्थानुष्ठानाणां त्रैवर्णिकानां तत्स्म-  
रणमस्ति, अतोऽसौ तत्र नास्तीति निश्चीयते ।

छिन्नमूलत्वाच्च तत्र कर्तृस्मरणाभावः । स्मरणस्य हि अनुभवो मूलम्, न चासौ  
वेदे कर्तृविषयत्वेन विद्यते तत्कथं तत्स्मरणसमाधयनाशङ्काऽपि ? न च रचनावत्त्वेन  
अत्र भारतादिवत् कर्तृसद्भावप्रसिद्धेर्नस्य छिन्नमूलत्वमित्यभिधातव्यम्, वेदरचनाया  
कर्तृपूर्वकरचनानिलक्षणत्वात् । न च रचनामात्रस्यात्रोपलम्भात् कर्तृनुमान युक्तम्,  
जगतो बुद्धिमद्वेतुक्तत्वानुमानानुपपन्नतोऽनिष्टसिद्धिप्रसङ्गात् । अतो यादृशी रचना कर्तृव-  
यव्यतिरेकानुविधायिनी प्रतिपत्ता तादृश्येव परिदृश्यमाना कर्तारमनुमापयति इत्यभ्यु-  
पगन्तव्यम् । तत्कथं वेदे तत्र कर्तृनुमानशङ्काऽपि सभाव्यते ? अतो वेदिकी रचना  
अपौरुषेयी दृष्टकर्तृकरचनाधिलक्षणत्वात् आकाशवदिति । तथा—

“वेदाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।

वदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाऽध्ययनं यथा ॥” [ भी० श्लो० वाचपाधि० श्लो० ३१६ ]

(१) कर्तार । आग्रहायण्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टमीपु तिमूपु त्रियमाण पितृभ्राद्विज्ञाप । तथा च  
मनुवचनम्— पितृर्षवाष्टकावर्चते 'मनुस्मृति० ४।१५० । (२) अनुभव । (३) 'विप्लवते खल्वपि  
कश्चित्पुरुषकृताश्चिनात्प्रत्यय, न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति । ननु सामान्यतो दृष्ट  
पौरुष वचन वितथमुपलभ्य वचनसाम्यादिदमपि वितथमवगम्यते न, अन्यत्वात् । न ह्यन्यस्य वितथभावे  
अन्यस्य वैतथ्यं भवितुमर्हति अन्यत्वादेव । न हि देवदत्तस्य स्यामत्वे यज्ञदत्तस्यापि स्यामत्वं भवितुमर्हति ।  
—शाबरभा० १।१।२ । वाक्यत्वात् पौरुषयत्वं दृष्ट्यादसान्नाधितम् । प्रतिहेतुविषयश्च हेतु तस्मादकं  
प्रिमा ॥ '—शास्त्रदी० पृ० ६१५ । प्रकृष्टं हि वचनं कस्यचिदेव कुत्रचिदेव तावत्संघातमकत्वं न पौरुषय  
तामनुमापयितुमलभं वदाधविषयवाच्यरचनासाम्यान्नुपपत्तं य एव हि पदसंघाता पौरुषय विरचयितु  
शक्यन्ते तत्रैव पौरुषयत्वं दृष्टमित्यशक्यविरचनं पौरुषयत्वानुमानं न क्रमते । न च पौरुषयत्वं विना  
पदसंघातात्मकत्वं नोपपद्यते उच्चारणवचनं हि पदानि सहततामापद्यन्ते । '—प्रक० पृ० पृ० ९८—९९ ।  
तत्ररह० पृ० ४३ । (४) रचनामात्रात् । (५) उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् । उक्तमस्माभिः शब्दपूर्वत्वमध्य-  
तृणाम् । '—जमिनिश्रु० शाबरभा० १।१।३० । वेदस्य कर्तृस्मरणम् वेदाधस्यातीर्तं द्रव्यत्वमित्यवमादिहे-  
तुभिरध्यतृणामनादिप्रवृत्तानां शब्दपूर्व उच्चारणान्तरपूर्वो वेदो न केनचिन्विन्त्यित्वा प्रवर्तित इति अकं  
तत्त्वहेतोरुक्तत्वात् '—मीमांसाभा० पृ० पृ० ७८ । सप्रतिसाधनश्च वाक्यत्वात् इति । त्रिवादाध्यासितं  
वेदाध्ययनं गवध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनत्वात् श्रवणाध्ययनवदिनि । तदिदमाह सूत्रकार — उक्तं तु 'शब्दपव

“अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ ।

कालत्वात्तद्यथा कालो वर्तमानः समीक्ष्य (त्य) ते ॥” [ ]

इत्यतोऽप्यस्य अपौरुषेयत्वं सिद्धिः । नन्वाप्तप्रणीतत्वाभावे कथमस्य प्रामाण्यं स्यादिति चेत् ? ‘अपौरुषेयत्वादेव’ इति ब्रूमः । वैचनस्य पुरुषदोषानुप्रवेशेनैव अप्रामाण्य-प्रसिद्धेः । तदुक्तम्—

“शब्दे दोषोऽवस्तावद् वक्रधीन इति स्थितम् । तदभावः कश्चित्तावद् गुणवद्वर्तकत्वतः ॥ तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसंभवात् । यद्वा वक्तुरभावेन न स्तुदोषा निराश्रयाः ॥”

[ मी० श्लो० चोदना० श्लो० २६, ६३ ]

न च आप्तगुणसंक्रान्त्यैव शब्दस्य प्रामाण्यम्, वेदे च आप्तप्रणीतत्वाभावतः तत्संक्रान्त्यसंभवाच्च प्रामाण्यमित्यभिधातव्यम्; यतो नात्र आप्तगुणसंक्रान्त्या प्रामाण्यम् शब्दोच्चारणमात्रे तस्य व्यापारात्, शब्दस्तु स्वमहिम्नैव अधितथामर्थप्रतिपत्तिं कुर्वाणः प्रमाणम् । न चैवमनाप्तस्यापि तदुच्चारणमात्रे व्यापारात् शब्दः स्वमहिम्नैवासत्यप्रतीतिं कुर्वाणः अप्रमाणमित्यभिधातव्यम्; अनाप्तप्रणीतत्वादिदोषाणाम् अप्रामाण्योत्पादना-द्वन्यप्रयोजनाभावान्, आप्तप्रणीतत्वादिगुणानां तु दोषापसारणे व्यापारात् स्वतः प्रामाण्यं

त्वम्’ इति । शब्दशब्देनात्र शब्दजन्यमध्ययनम् । तदयमर्थः—सर्वपुंसामध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकम्, सर्वे हि यथैव गुणाऽधीत तथैवाधिगिगासन्ते न पुनः स्वातन्त्र्येण कश्चिदपि प्रयमोऽध्येता वेदानामस्ति य कर्ता स्यात् तस्मादपौरुषेया वेदाः ।—शास्त्रदी० पृ० ६१७ । “विमत वेदाध्ययन परतन्त्राध्येतुर्के वेदाध्ययनत्वात् सम्प्रतिपन्नाध्ययनवत्, आत्मत्वे वेदकर्तृव्यक्तिसमवेत न भवति जातित्वात् गोत्व-यदिति प्रतिहेतुविरुद्धञ्च वाक्यत्वम् ।”—मानमेयो० पृ० १७३ । उद्धृतोऽयम्—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३३८ । न्यायम० पृ० २३३ । ‘तदध्ययनपूर्वकम्’—अष्टसह० पृ० २३७ । तत्त्वस० पृ० ६४३ । प्रमेयक० पृ० ३९६ । सम्मति० टी० पृ० १३७ । स्या० र० पृ० ६२७ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० ३३ । ‘तदध्ययनपूर्वकम्’—प्रमेयर० ३१९९ । रत्नाकराव० ४१९ ।

(१) ‘वेदकारविवर्जितौ’—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३३८ । तत्त्वस० पृ० ६४३ । ‘वेदकारविवर्जितौ’—प्रमेयर० पृ० ३९८ । सम्मति० टी० पृ० ३१ । स्या० र० पृ० ६२७ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० ३४ । प्रमेयर० ३१९९ । रत्नाकराव० ४१९ । (२) वेदस्य । (३) ‘विप्लवते हि खल्वपि कश्चित्पुरुषकृताद्वचनात् प्रत्ययः, न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति ।”—शाबरभा० पृ० १७ । (४) ‘इति स्थितिः’—मी० श्लो० । स्या० र० पृ० ६२७ । रत्नाकराव० ४१९ । प्रकृतपाठः—न्यायम० पृ० १६७ । प्रमाणप० पृ० ७८ । सिद्धिवि० टी० पृ० ४०६A । प्रमेयर० पृ० ३९७ । सम्मति० टी० पृ० १९ । प्रमेयर० ३१९९ । (५) शब्द प्रत्यये । (६) आप्तस्य । (७) “तस्माद् गुणैर्म्यो दोषाणामभावस्तदभावतः । अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः ॥ “तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी । वेदे तेनाप्रमाणत्व नाशङ्कामपि गच्छति । अतो वक्त्रन-धीनत्वात्प्रामाण्ये तदुपासनम् । न युक्तम्, अप्रमाणत्वे कल्पे तत्प्रार्थना भवेत् । उत्तराचष्टाऽप्रणीतत्वं न दोषायात्र जायते ।”—मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६५-७० ।

1-स्वा यथा आ०, थ० । 2-स्वमिति नन्वा-व० । 3-एतदन्तर्गतं. पाठो नास्ति आ० । 4 न चाप्त-प्रणीतत्वात्कालाभावे-व० । 5-शब्दो आ० । 6-वक्तुतत्त्वतः. थ० । 7 शब्दसंक्रा-थ० । 8 नाप्तगुण-व० ।

वेदे आप्तानामप्रणीतत्वाभावात् प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा; इत्यप्यसुन्दरम्; यत्र हि पुरुष-  
कृता पदानुपूर्वी तत्र तदपेक्ष प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा स्यात्, वेदानुपूर्व्यास्तु नित्यत्वात्  
स्वसामर्थ्येनैवार्थवबोधकत्वात् तन्निरपेक्ष प्रामाण्यम् । नहि तादृशीमानुपूर्वी कश्चित्  
कर्तुं क्षमः अन्यत्रोऽभिव्यक्ते । पूर्वसिद्धानुपूर्वीतोऽपूर्वानुपूर्वीकरणे च कस्यचित् स्वात-  
न्यासभवात् । कुर्वाणो वा तां तदध्येतुभिः अन्यैर्वा निवार्येत । उक्तञ्च—

“अन्यथाकरणे चास्य वैहुभ्यः स्याच्चित्तारेणा ।” [मी० श्लो० चोदना० श्लो० १५०] इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘कर्तुः स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्’

वेदाऽपौरुषेयत्वस्य इत्यादि, तदसमीचीनम्, यत्त. किमिदम् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वनाम—  
प्रतिविधानम्—

किं कर्तृस्मरणाभावः, अकर्तृकत्व वा ? प्रथमपक्षे र्व्यधिकरणासिद्धौ

हेतुः कर्तृस्मरणाभासो हि आत्मनि वर्तते अपोरुपेयत्व तु वेदे इति । अज्ञातासिद्धञ्च,  
तद्ग्राहकप्रमाणावात् । नहि प्रत्यक्ष तद्ग्राहकम्, प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया  
अभावे तस्य प्रवृत्तयसभवात् । संभवे वा अभावप्रमाणकल्पनाऽनर्थक्यम् तस्मादध्यस्य  
अध्यक्षादित एव प्रसिद्धे । अभावप्रमाणात्तत्सिद्धौ तु तत्र तदुत्पत्तौ कारण बाध्यम्,  
‘निष्कारणस्य कार्यस्योदयानुपपत्तेः ।

“गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियागिनम् ।

मानसं नास्तितान्नान् जायतेऽज्ञानपेक्षया ॥” [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७]

इति तत्कारणमस्तीति चेत्, ननु अतः प्रादुर्भूतमभावप्रमाणं तदभाव निराश्रयम्, साश्रय  
वा प्रसाधयेत् ? न तावन्निराश्रयम्, ‘गृहीत्वा वस्तुसद्भावम्’ इत्यभिधानात् । अनेन हि  
निषेधधारवस्तुग्रहणमभिदधता भट्टेन ‘निषेधभावाश्रयः सूचित एव, अन्यथा प्रति-  
नियतवृत्तितया कर्तृस्मरणाभावसिद्धिं ततोऽतिदुर्लभा । यन्निराश्रयं न तत् प्रतिनियतवृत्ति  
यथा आकाशम्, निराश्रयश्च भवद्भिरभिप्रेतोऽभावप्रमाणात्प्रसिद्धत्वं कर्तृस्मरणाभाव इति ।

(१) ‘पौरुषम् तु वचनं प्रमाणान्तरमूलता । तदभावे हि तद् दृष्यदितरन्तं कदाचन ॥’—मी०  
श्लो० चोदना० श्लो० ७१ । (२) पुरुषगुणनिरपेक्षम् । (३) पूर्वानुपूर्वीतो विलक्षणा आनुपूर्वी । (४)  
विलक्षणा शब्दानुपूर्वीम् । (५) निवारणम्—मी० श्लो० । प्रकृतपाठ—स्या० १० पृ० ६२८ । (६)  
पृ० ७२१ पृ० ५५ । (७) तुलना— किमिदं कर्तृस्मरणं नाम कर्तृस्मरणाभाव अस्मर्यमाणकर्तृकत्व वा ?  
—प्रमेयक० पृ० ३९२ । (८) ‘अपौरुषयो वद कर्तृस्मरणात् इत्यत्र प्रयोगे हेतोर्व्यधिकरणत्वदोषात् ।’  
—सन्मति० टी० पृ० ४१ । (९) ‘तत्रास्मर्यमाणकर्तृकत्वमसिद्धम्, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् ।’—  
स्या० १० पृ० ६२९ । (१०) अभावप्रमाणनं त्रियमाणस्य अभावज्ञानस्य । (११) कर्तृस्मरणाभा-  
वसिद्धौ । (१२) अभावप्रमाणोत्पत्तौ । (१३) द्रष्टव्यम्—पृ० ४६४ टि० १ । (१४) कर्तृस्मरणाभावम् ।  
“न तत्र प्रादुर्भूतमभावप्रमाणं तदभाव साश्रयमेव प्रसाधयत् गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यभिधानात् ।”—  
स्या० १० पृ० ६२९ । (१५) गृहीत्वा वस्तुसद्भावमिति श्लोकाश्रयः । (१६) निषेधस्य य अभाव  
तस्य आश्रयः । (१७) अभावप्रमाणात् ।

१—नैवावबोध—ब० । २—स्वातिरपे—ब० । ३—त्रापि व्यक्ते जा० । ४ पूर्व सि—ब० । ५ अन्य-  
निवा—आ० । ॥ बहुभि श्र० । ७ नि का—आ० । ॥ निषेध्याश्रय ब० ।

अथ साश्रयोऽसौ प्रसाध्यते; ननु कोऽस्य आश्रयः—स्वात्मा, सर्वप्रमातारो वा ? यदि स्वात्मा 'अमुष्मिन्मदीय आत्मनि वेदकर्तृस्मरणं नास्ति' इति; किमेतावता सिद्धम् ? पदार्थाजातस्य अनेकस्य अत्र स्मरणं नास्ति, न चैतावता तस्याभावः सिद्ध्यति । ममानुष्ठातुरवश्यं स्मर्त्तव्योऽसौ, यदा स्मृतिपथप्रस्थायी न भवति तदाऽसन्; इत्यप्यसारम्; भवत्स्मरणाभावमात्रेण अर्थाभावाऽसिद्धेः । तस्य स्वयं निहितेऽवश्यं स्मर्त्तव्ये कचिद् द्रव्यादौ विद्यमानेऽपि सद्भावेन अनेकान्तात् । तथा व्याधितेन उपयुज्यमानमौपधं स्वयं धृत महत्यामप्यर्थितायां न स्मर्यते, नचैतावता तस्याऽभावः इत्यनेन चाऽनेकान्तः । अथ सर्वप्रमातारः; ननु 'त्रैलोक्योदरवर्त्तिनः प्रमातारो वेदकर्त्तारं न स्मरन्ति' इत्यसर्वविदो वेदनानुपपत्तिः । उपपत्तो वा सर्ववेदित्वप्रसङ्गः ।

किञ्च, सर्वप्रमातृदेशान् गत्वा तत्रैव पृष्ठा तत्र स्मरणाभावः प्रतीयेत, अन्यथा वा ? न तावदन्यथा; "गत्वा गत्वा तु तान् देशान्" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३८] इत्यस्य विरोधानुपपत्तात् । गत्वा चेत्, ननु तत्रैव तेषु पृष्ठेषु 'न स्मरामः' इति प्रतिवचनञ्च त्रुवाणेष्वपि कः समाश्वासः पुरुषवचसामप्रामाण्येन अर्थतथाभावानुपपत्तोः ? न च सर्वेषामाप्तताप्रतिपत्तिरस्ति, यतः तद्गुणसक्रान्त्या तत्रैव प्रामाण्यं स्यात्; तत्प्रतिपत्तौरेव असर्वविदो युगपत्क्रमेण चाऽसंभवात् ।

किञ्च, अभावप्रमाणस्य तत्र प्रवृत्तिः यत्र वस्तुसत्तावबोधकं प्रमाणपञ्चकं न प्रवर्त्तते ।

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।

वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणाती ॥" [ मी० श्लो० अभाव० श्लो० १ ]

(१) कर्तृस्मरणाभावस्य । "अपि च किमशपजनस्मरणनिवृत्तिरिह हेतुत्वेन विवक्षिता, आहो-स्वित् कतिपयपुरुषस्मरणविनिवृत्ति । तदादि सकलजनस्मरणविनिवृत्ति, तदाऽसिद्धा, अवधारयितुम-शक्यत्वाच्चावगमाविद्भि । अवधारणे वा त एव सर्वज्ञा स्मृ अर्वाभाविदो न भवेयु । अथ कतिपयपुरुषापेक्षया; तदाऽनैकान्तिको हेतुः, विद्यमानकर्तृकेष्वपि कर्ता न स्मर्यते कश्चित् ।"—तत्त्वोप० पृ० ११७ । "आश्रयश्चास्य स्वात्मा सर्वप्रमातारो वा"—स्या० १० पृ० ६२९ । (२) मदीय आत्मनि । (३) "ममानुष्ठाने स्मर्त्तव्योऽसौ"—स्या० १० पृ० ६२९ । (४) वेदकर्ता । (५) "एव तहि पिताम-हस्य पितर मांतामहीमातरम्, तन्मातापितरो च न स्मरति तत्तेषामभावो भवेत् ।"—स्या० १० पृ० ६२९ । (६) भवत्स्मरणाभावस्य (७) स्वयं धृतोपवादिद्वयस्य । (८) ननु इति निश्चयार्थः । तुलना— "सर्वे पुमांस कर्तार वेदस्य न स्मरन्ति इति कथं जानाति भवान् । न हि तव सकललोकहृदयानि प्रत्यक्षाणि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । न च यत् त्वं न जानाति तदन्योऽपि न जानातीति युक्तमतिप्रसङ्गात् ।"—न्यायम० पृ० २३७ । स्या० १० पृ० ६३० । (९) तुलना—"अपि च सर्वप्रमातृदेशान् गत्वा तादृच पृष्ट्वा तत्र कर्तृस्मरणाभावं प्रतीयेतान्यथा वा ?"—स्या० १० पृ० ६३० । (१०) सर्वप्रमातृन् । (११) "गत्वा गत्वा तु तान्देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते । ततोऽन्यकारणाभावादसन्निवृत्त्यवगम्यते ॥"—मी० श्लो० । उद्धृतोऽयम्—प्रमेयक० पृ० २२ । सन्मति० टी० पृ० २३, ३२१ । (१२) देशान्तरे । (१३) सर्वप्रमातृषु । (१४) तैस्ते 'न स्मरामः' इति प्रतिवचने । (१५) द्रष्टव्यम्—पृ० ४६४ टि० ४ ।

१ जाने—आ० । २ सर्वत्रप्रमा—प्र० । ३ तत्र स्मर न स्मरन्तीत्यसर्वविदो वेदवान् गत्वा गत्वा आ० । ४ प्रतीयते न० । ५ सद्भाव—य० ।

इत्यभिधानात् । वेदे च आत्मनः कर्तृसद्भावावेदके सति कथं तत्प्रवृत्तिः ?

‘स हि रुद्र वदकर्तारम् ।’ [ ]

‘‘यो ब्रह्माण्य विदधाति पूर्वं वदाद्य प्रहिणोति ।’’ [ श्वेताश्व० ६।१८ ]

‘तथा प्रजापति सोम रात्रानमन्वसृजत, ततः प्रथा वदा अन्वसृजत ।’ [ ]

इत्यादिको वेद कर्तृसद्भावावेदक अनेकधा श्रूयते । स्वरूपासिद्धश्चायं हेतुः, पौराणिका हि वेदस्य ब्रह्मकर्तृत्व स्मरन्ति—

‘प्रैतिमन्वतरश्चैन श्रुतिरन्या विधायत ।’ [ मत्स्यपु० १४५।५८ ]

‘‘अनंतरं तु वज्रमेवो वदास्तस्य विनि सृता ।’’ [ ]

इत्यभिधानात् । योगा रुद्रकर्तृकत्वम्, जैना कालासुरकर्तृकत्वम् ।

10

स्मृतिपुराणादिष्व ऋषिनामाङ्किता काण्व-माध्यन्दिन-तैत्तिरीयादयः शाखाभेदाः कथमस्मर्यमाणकर्तृकाः ? तथाहि—एतां तत्कृतत्वात् तन्नामभिरङ्किता, तद्वद्वृत्त्यात्, तत्प्रकाशितत्वाद्वा ? तत्राप्यपक्षे कथमासामपौरुषेयत्वम् अस्मर्यमाणकर्तृकत्व वा स्यात् ? उत्तरपक्षद्वये यदि तावेदुर्त्सन्ना शाखा कण्वादिना दृष्टा प्रकाशिता वा तदा कथमस्यां सम्प्रदायाविच्छेदः अतीन्द्रियार्थदर्शिनः प्रतिक्षेपश्च स्यात् ? अथ अनवच्छिन्नैव सा

(१) स्वयमेव वदस्य । (२) अभावप्रमाणप्रवृत्तिः । (३) उद्धतोऽयम—स्या० १० पृ० ६३० । रत्नाकराव० ४।९ । (४) अपौरुषेयतापीड्य कर्तृणामस्मृते किं । सत्यस्याप्यनुवक्तार इति धिग व्यापकं तम् ॥ यस्मादिदं साधनमसिद्धमनकान्तिकञ्च तत्रासिद्धमधिकृत्याह—तथाहीत्यादि । स्मरन्ति सौगता वदस्य कर्तृण्युत्पादीन आदिगण्डाद् वामकवापदेवविश्वामित्रप्रभृतीन् । हिरण्यगर्भ ब्रह्माण वदस्य कर्तारं स्मरन्ति काणादा वपिका ततश्चासिद्ध कर्तुरस्मरणम् । —प्रमाणदा० स्वप्न० टी० १।२६९ । मनोरथ० ३।२६९ । असिद्धोप्ययं हेतुः यस्मात्स्मरन्ति एव कर्तारं काणादा । तथा नैकिका अपि बहुल वक्तारो भवन्ति ब्रह्मणा वदा प्रणीता इति । —तत्त्वोप० पृ० १।७ । नव सवनृणां कर्तुः स्मृतेरप्रसिद्धिः । तत्कारणं हि काणादा स्मरन्ति चतुराननम् । जना कालासुर बौद्धा स्ववष्टकान सकला सदा ॥ —तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३८ । अष्टसह० पृ० २३७ । प्रमेयक० पृ० ३९३ । स मति० टी० पृ० ४० । स्या० १० पृ० ६३० । यच्चेदमस्मर्यमाणकृतत्वादिति तदसिद्धम् प्रजापतिर्वा इदमेक आमीनाहंरासीत्र रात्रिरासीत् स तपोऽप्यतः तस्मात्तपसश्चत्वारो वदा अजामन्त एवाम्नायनव कृतस्मरणात्, जीणकूपादिभिव्यभिचाराच्च । प्रश्न० कव० पृ० २।६ । ‘कपिल ऋणादौतमतच्छिष्यश्चासपयन्तं वदे सकतकवस्मरणस्थं प्रतीयमानत्वात् । —तत्त्वचि० शब्द० पृ० ३७१ । (५) उद्धतोऽयम्—न्यायम० पृ० २३६ । प्रमेयक० पृ० ३९२ । स्या० १० पृ० ६३० । यावपरि० पृ० ३८३ । तत्त्वचि० शब्द० पृ० ३७३ । (६) तुलना— सजममरणपिणोत्रचरणादिनामश्रुतेरनकपद सहतिप्रतिनियमसदृशनात् । फलाधिपुरुषप्रवृत्तिविनिवृत्तिहेत्वात्मनाम श्रुतेश्च मनुमूत्रवत्पुरुषकतकव श्रुतिः ॥ —वाचक० श्लो० १४ । प्रमेयक० पृ० ३९२ । स्या० १० पृ० ६३० । प्रमेय० ३।९९ । (७) काण्वमाध्यन्दिनतैत्तिरीयादयः शाखाः । तुलना— एतास्तत्कृतत्वात्तन्नामभिरङ्कितास्तदद्वष्टत्वात् तत्र वाधितत्वाद्वा । —प्रमेयक० पृ० ३९२ । स्या० १० पृ० ६३० । रत्नाकराव० ४।९ । (८) विनोर्णा विस्मृता वा । (९) गात्रायाः ।

सम्प्रदायेन दृष्टा प्रकाशिता वा, तर्हि यावद्भिरुपाध्यायै सा दृष्टा प्रकाशिता वा तावता नामभि तस्या किन्नाङ्कितत्व स्यादविशेषात् ?

अथोच्यते—अस्ति योगादीनां वेदे कर्तृस्मरण किन्तु सैविगान तत्कर्तृविशेषे<sup>१</sup> विप्रतिपत्ते अतोऽप्रमाणमिति, तदप्युक्तिमात्रम्, यैत कर्तृविशेषे विप्रतिपत्ते तद्विशेष-स्मरणमेवाप्रमाण स्यान्न कर्तृमात्रस्मरणम्, अन्यथा कादम्बर्यादीनामपि कर्तृविशेषे विप्रतिपत्ते ऽकर्तृमात्रस्मरणस्याप्रमाणत्वेन अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य तदापि (तत्रापि) गतत्वाद्नेकान्त । अर्थे वेदे कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्ते तन्मात्र स्मरणमप्यप्रमाण कादम्बर्यादीनां तु कर्तृविशेषे एव विप्रतिपत्ते, तत्रप्रमाणमित्यतो नानेकान्त, ननु वेदे सौगतादय कर्तार स्मरन्ति न भीमासका इत्येव कर्तृमात्रे विप्रतिपत्ते ऽयदि तदप्रमाणम्, तर्हि तद्वत् तदेस्मरणमप्यप्रमाण किन्न स्यात् विप्रतिपत्तोरविशेषात् । 10 तथा चार्थमसिद्धो हेतु ।

विरुद्धश्च, स्मर्यमाणकर्तृकत्वाऽऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वयोः कार्यधर्मतया विपक्ष एव वर्तमानत्वात् । कार्यमेव हि किञ्चित् स्मर्यमाणकर्तृक इष्ट घटादि, किञ्चिदस्मर्यमाणकर्तृक जीर्णकृपादि । ततश्च कृतको वेदः अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् जीर्णकृपादिवत् । नहि नित्य

(१) समाख्यापि च शालानां नाद्यप्रवचनादुते । काठक काठापकमित्यादयो हि समाख्याविशेषा शालाविशेषाणामनुस्मर्यते । ते च न प्रवचनमात्रनिबधना प्रवक्तृणामनतत्वात् । नापि प्रकृष्टवचननिमित्ता उपाध्यायभ्योपि प्रकर्षे प्रयुक्ता यथाकरणदोषात् तत्पाठानुकरणे च प्रकर्षाभावात् । कति चानादौ ससारे प्रकृष्टा प्रवक्तार इति को नियामक इति । —न्यायकुसु० ५।१७ । (२) यदपि हि पौरुषयता मन्यन्ते तेऽपि नैव परम्परया तत्र कर्तृविशेषस्मरणं शक्नुवन्ति वदितुम् मामागतोद्घटन कर्तारमनुमाय स्वाभिमत कर्तारं तत्र निक्षिपति—केचिदोश्वरम अन्य हिरण्यगभम अपरे प्रजापतिम् । न चाय नानाविधो विवाद परम्परया कर्तार मवादिबत स्मर्यमाण कथञ्चिदवकाशते । नहि मानव भारते शाक्यग्रथ वा कर्तृविशेष प्रति कश्चिद्विदते । तस्मात् समतव्यत्वे सत्यस्मरणाद् दृश्यादत्तनबाधित सामान्यतोद्घट न शक्नोति कर्तारमवसाययितुम् । —शास्त्रदी० पृ० ६१७ । (३) सविवादम् । (४) रुद्र—आ० टि० । (५) तुलना— नच कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तस्तद्विशेषस्मरणमेवाप्रमाणं स्यात् न कर्तृमात्रस्मरणम् । —प्रमेयक० पृ० ३९३ । सम्मति० टी० पृ० ४२ । स्या० २० पृ० ६३० । शास्त्रवत् यशो० पृ० ३८८ । (६) कादम्बर्यादावपि । (७) तुलना— अथ वेद कर्तृविशेष विप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तस्तत्स्मरणमप्यप्रमाणम् —प्रमेयक० पृ० ३९३ । सम्मति० टी० पृ० ४२ । स्या० २० पृ० ६३० । (८) कर्तृमात्रस्मरणम् । (९) तुलना— ननु वेदे सौगतादय कर्तृमात्र स्मरन्ति न भीमासका इत्येव कर्तृमात्रे पि विप्रतिपत्त यदि कतस्मरण मिध्या तदा कर्तृस्मरणत अस्मर्यमाणकर्तृकत्वमपि असत्य स्याद्विप्रतिपत्तेरविशेषात् तथा च पुनरप्यसिद्धो हेतु । —स मति० टी० पृ० ४२ । प्रमेयक० पृ० ३९३ । स्या० २० पृ० ६३१ । (१०) कर्तृमात्रस्मरणम् । (११) कतस्मरणवत् । (१२) कतस्मरणम् । (१३) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् । (१४) पौरुषय अनित्य । (१५) तुलना— नित्य हि वस्तु न स्मर्यमाणकर्तृक नाप्यस्मर्यमाणकर्तृक प्रतिपन्न किन्त्वकर्तृकमेव । —प्रमेयक० पृ० ३९२ ।

1—नार्कत—ब० । २—यपि विप्र—अ० । ३—एतदन्तगत पाठो नास्ति अ० । ४—एतदन्तगत पाठो नास्ति आ० । ५—अथ कर्तृविशेष विप्रतिपत्ति कर्तृमात्रमपि विप्रतिपत्ते ब० । ६—यमतो ब० ।



वस्तु स्मर्यमाणकर्तृकमस्मर्यमाणकर्तृकं वा प्रतिपन्नम्, किन्तु अकर्तृकमेव । कालात्यया-  
पदिष्टश्च, श्रुतिस्मृतिवाधितपश्चनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात् । तन्न कर्तृस्मरणाभायलक्ष-  
णमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं घटते ।

नापि अकर्तृकत्वलक्षणम्; अशब्दार्थत्वात् । नहि अस्मर्यमाणकर्तृकत्वशब्दस्य  
५ अकर्तृकत्वमर्थो लोके शास्त्रे वा प्रसिद्धः । प्रसिद्धौ वा साध्याविशिष्टत्वम् । अस्तु वाऽवि-  
चारितमणीयमस्मर्यमाणकर्तृकत्वम्; तथापि तद् वादिनः, प्रतिवादिनः, सर्वस्य वा सम्ब-  
न्धि हेतुः स्यात् ? यदि वादिनः; तदनेकान्तिकम्, “वटे वटे वैश्रवणः” [ ]  
इत्यादिषु विद्यमानकर्तृकेष्वपि प्रयोजनाभावात् मीमांसकैरस्मर्यमाणकर्तृकेषु अस्य सद्भा-  
वात् । ननु वेदे कर्त्रभाजपूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं हेतुः, तच्चार्थे नास्ति कर्त्रनुपलम्भमात्र-  
१० पूर्वकत्वात्तत्र तस्य तत्कथमनैकान्तिकत्वम् ? इत्यपि मनोरथमात्रम्; यतः कुतोऽत्र कर्त्रभाव-  
सिद्धिः—प्रमाणान्तरात्, अत एव वा ? यदि प्रमाणान्तरात्; तदाऽस्य आनर्थक्यम् ।  
अत एव चेत्; अन्योन्याश्रयः—अतो हि अनुमानात् तदभावसिद्धौ तत्पूर्वकमस्मर्यमाण-  
कर्तृकत्वं सिद्ध्यति, तत्सिद्धौ च अतोऽनुमानात्तदभावसिद्धिरिति । अथ प्रतिवादिनः  
सम्बन्धि तत् हेतुत्वेन विवक्षितम्, तदसिद्धम्; तत्र हि प्रतिवादी स्मरत्येव कर्तारम् ।  
१५ एतेन सर्वस्याऽस्मरणं प्रत्याख्यातम्, सर्वात्मज्ञानविज्ञानरहितो वा कथं सर्वस्य तत्र कर्त्र-  
स्मरणमवैति ? अतोऽस्य अज्ञातासिद्धत्वम्, सतोऽस्यस्य असर्वविदा ज्ञातुमशक्यत्वात् ।

(१) साध्य हि अपोक्षयत्व तदेव च अकर्तृकत्वमिति, साध्याविशिष्टत्वाद् असिद्धो हेत्वा-  
भानो लक्ष्यते माध्यस्य असिद्धत्वाविति । (२) तुलना—‘किञ्च अस्मर्यमाणकर्तृकत्व वादिनः प्रतिवा-  
दिनः सर्वस्य वा स्यात् ।’—प्रमेयक० पृ० ३९५ । सम्प्रति० टी० पृ० ३० । स्या० १० पृ० ६३१ ।  
प्रमेय० ३।९९ । “अपि च किमप्येवमस्मरणविनिवृत्तिरिह हेतुत्वेन विवक्षिता, आहोस्वित् कतिपय-  
पुरुषस्मरणविनिवृत्ति ।”—तत्त्वोप० पृ० ११७ । (३) तुलना—“अनैकान्तिकत्वमप्याह—दृश्यन्ते चेत्यादि ।  
उपदेशपारम्पर्य सम्प्रदाय, विछिन्न क्रियासम्प्रदायः पुरुषकृतत्वसम्प्रदायो येषां वटे वटे वैश्रवणादि-  
शब्दानां ते तथा । अनेन अस्मर्यमाणकर्तृत्वमगह । कृतकाश्च पोक्षयेयाश्च । तत् पोक्षयेयेष्वपि धाव्ये  
कर्तृस्मरणं वर्तत इत्यनैकान्तिको हेतुः ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२४२ । स्या० १० पृ० ६३१ ।  
“वादिनश्चेतदनैकान्तिकम्, सा ते भवतु मुप्रीतेत्यादौ विद्यमानकर्तृकेष्वस्य भावात् ।”—प्रमेयक०  
पृ० ३९५ । (४) ‘वट वटे वैश्रवणः’ इत्यादिवाक्येषु । (५) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य । (६) वेद ।  
तुलना—“यत् कुतोऽत्र कर्त्रभावसिद्धिः प्रमाणान्तरादत एव वा ?”—स्या० १० पृ० ६३१ । (७)  
अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य हेतुः । (८) नदे कर्त्रभावसिद्धौ । (९) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वसिद्धौ च । (१०)  
अस्मर्यमाणकर्तृकत्वम् । (११) तुलना—“तद्यदि सकलजनस्मरणविनिवृत्तिः तदाऽसिद्धा अवधारयितुम-  
शक्यत्वाच्च अर्वाभाजविद्भिः । अवधारणे वा त एव सर्वज्ञा स्युः अर्वाभाजविदो न भवेयुः ।”  
—तत्त्वोप० पृ० ११७ । न्यायम० पृ० २३७ । प्रमेयक० पृ० ३९५ । स्या० १० पृ० ६३१ । (१२)  
वदविषये । (१३) सर्वसम्बन्धिकर्त्रस्मरणस्य ।

१—णकर्तृकत्व शब्दस्य व०,—णकर्तृकत्व शब्दस्य वा० । २—कर्तृकत्वाव—अ० । ३—स्वारास्य  
व० । ४ अज्ञानासि—अ० ।

यदप्युक्तम्—‘ये हि यदर्थानुष्ठाने प्रवर्तन्ते तेऽवश्यं तच्छास्त्रकर्तारमनुस्मरन्ति’  
इत्यादि, तदप्यनल्पतमो विलसितम्, निर्यमाभावात् । न हि यो धर्मशीलः [ ]  
इत्यादिकाभ्यः तदर्थानुष्ठाने प्रवर्तमानानामनुष्ठानतृणा तत्कर्तृस्मरणमस्ति, तदन्तरेणापि  
धर्मशीलतायर्थानुष्ठाने महापुरुषार्थोपयोगिन्यैहिकपारत्रिकभयाऽभावहेतोः प्रवृत्तिप्रतीतेः ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘छिन्नमूलत्वाच्च’ इत्यादि, तदप्यसुन्दरम्, यतः अध्यक्षेणानु- ५  
भावाभावात् तत्रै तच्छिन्नमूलम्, प्रमाणान्तरेण वा ? अध्यक्षेण चेत्, किं भवत्सम्ब-  
न्धिना, सूर्यसम्बन्धिना वा ? यदि भवत्सम्बन्धिना, तर्हि आगमान्तरेऽपि कर्तृसद्भा-  
वमाहकत्वेन भवत्प्रत्यक्षस्याऽप्रवृत्ते तत्कर्तृस्मरणस्य छिन्नमूलत्वेन अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य  
भावाद् व्यभिचारी हेतुः । अर्थं तत्रै तद्वाहकत्वेन अस्मत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तावपि परैः  
कर्तृसद्भावाभ्युपगमात् व्यभिचारः, तन्न, परकीयाभ्युपगमस्य भवतोऽप्रमाणत्वात्, 10  
अन्यथा वेदेऽपि ‘परैस्तैः सद्भावाभ्युपगमात् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्यसिद्धो हेतुः स्यात् ।  
सर्वसम्बन्धिना चेत्, सोऽसिद्धः, अर्थादृष्टा तस्यावसातुमशक्यत्वात् । अथ प्रमाणान्तरेण  
अनुभवाभावः, तन्न, आगमस्य तत्र कर्तृसद्भावावेदकस्य प्रतिपादितत्वात् । रचनावत्त्वाद्यनु-  
मानस्य च तत्प्रसाधकस्य सद्भावात् । तथाहि पौरुषेयो वेदः रचनावत्त्वात् भारतादि-  
यत्, पदवाक्यात्मकत्वाद्वा तद्वत् । तथा प्रमाणान्तरविषयभाञ्छि वैदिकानि वाक्यानि 15

(१) प० ७२१ प० ८ । (२) न चायं नियमोऽनुष्ठानसमयं तत्कर्तारमनुस्मृत्यैव प्रवर्तन्त —  
प्रमेयक० प० ३९५ । सम्मति० टी० प० ४३ । शास्त्रवा० यशो० प० २८४ B । ‘न हि यो धर्मशीलः  
इत्यादिवाक्यभ्यस्तदर्थानुष्ठानं प्रवर्तमानानामनुष्ठानतृणा तत्कर्तृस्मरणमस्ति । तदन्तरेणापि धर्मशीलता  
यर्थानुष्ठानं महापुरुषार्थोपयोगिन्यैहिकपारत्रिकभयाभावहेतोः प्रवृत्तिप्रतीतेः । —स्या० २० प० ६३१ ।  
(३) प० ७२२ प० ९ । (४) ‘यतोऽध्यक्षेण तदनुभवाभावात्तत्र तच्छिन्नमूलं प्रमाणान्तरेण वा ।  
—प्रमेयक० प० ३९३ । सम्मति० टी० प० ४२ । स्या० २० प० ६३१ । (५) वेदे । (६)  
कर्तृस्मरणम् । (७) तुलना— सर्वादृष्टिश्च सदृग्वा स्वादृष्टिव्यभिचारिणी । विध्याद्विरुद्धत्वादि  
रदृष्टावपि सत्त्वतः ॥ —तत्त्वसं० प० ६५ । न्यायवि० टी० प० १६७ प० ३ । ‘यावली० प० २२ ।  
(८) आगमान्तरकर्तृस्मरणस्य । (९) आगमान्तरे । (१०) मीमांसकस्य । (११) जनादिभिः । (१२)  
कर्तृसद्भावः । (१३) वेदस्मृतिरूपस्य । (१४) तुलना— बुद्धिपूर्वो वाक्यकृतित्वेदे—वाक्यकृतित्वोपर्यन्तरचना  
सा बुद्धिपूर्वा वक्तव्ययाववाक्यायज्ञानपूर्वा वाक्यरचनात्वात् नदीतीरे पञ्च पत्राणि सन्तीत्यस्मदादिवाक्य  
रचनावत् । —यश० सु०, उप० ६१।११ । बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतित्वोपर्यन्तरचना वेद तद्वचनत्वात् उभया  
भिमतवाक्यरचनावत् । —प्रश्न० व्यो० प० ५८१ । प्रश्न० कद० प० ३१७ । ‘तथा च वैदिकयो रचना  
कर्तृपूर्विका रचनात्वात् लौकिकरचनावत् । —याम्य० प० २३२ । स्या० २० प० ६३२ । ‘ततो य नर  
रचितवचनरचनाऽविनिष्टास्त पौरुषया यथाऽभिन्नवक्त्रप्रासादादिरचनाऽविनिष्टा जीवकूपप्रासादादयः,  
नररचितवचनरचनाऽविनिष्टाश्च बह्विधं वचनमिति । —प्रमेयक० प० ४०२ । सम्मति० टी० प० ३९ ।  
(१५) तुलना— इतश्च वचनवत्त्वात्, वचनानि लौकिकवाक्यानि अनित्यानि तथा च वेदवाक्यानि  
तस्मात्तावन्पित्यानि । इतश्च सामान्यविशेषवत्त्वे सति श्रौतस्मृत्यत्वात् लौकिकवाक्यवत् । इतश्च

1—जमिति व० । 2—त्रिक्रमयाद्वारहेतो व० । 3—त्रिकृतयाभावहेतो आ० । 3 तत्रकृत—व० ।

४ अथतद्भा—व० ।

आप्तोक्तानि, वाक्यत्वे सति प्रमाणत्वात्, यदित्थं तत्तथा यथा पित्रादिवान्यम्, तथा चामूनि, तस्मात्तथेति ।

यदप्यभिहितम्—‘वेदरचनायाः कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वात्’ इत्यादि; तत्र किमिदं तस्याः तद्वैलक्षण्यं नाम—‘दुर्भणत्वम्, दुःश्रवणत्वम्, लोकाव्याकरणप्रसिद्धशब्दवैलक्षण्येन शब्दविनिवेशः, अपूर्वछन्दोनिबद्धत्वम्, अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकत्वम्, महाप्रभावोपेत-  
मन्त्रयुक्तत्वं वा ? सर्वमेतत् पुरुषाणां न दुष्करम्, विज्ञानरूपपाटवाधीनत्वाद् वाचोवृत्तेः । मन्त्राणाञ्च महाप्रभावोपेतत्वं पुरुषप्रणीतत्वेनैवोपपन्नम्, निरतिशयप्रभावयता हि पुरुषेण पदवत्त्वात् लौकिकवाक्यवत् ।”—न्यायवा० पृ० २७२ । “अनित्यानि वेदवाक्यानि वाक्यत्वादुभया-  
भिमतावाक्यवत् ।”—प्रमाणवा० पृ० ५८१ । “न चाक्षरराशेरूपेयत्वं येन स्वतः प्रमाणं वेद स्यात्, शास्त्रान्तरस्यापि तदनुपङ्गात् विरोधाभावाच्च ।”—सिद्धिवि०, टी० पृ० ४०६ B. । “वेदपदवा-  
क्यानि पौरुषेयाणि पदवाक्यत्वाद् भारतादिपदवाक्यवत् ।”—प्रमेयक० पृ० ३९१ । “श्रुतिः पौरुषेयो वर्णाद्यात्मकत्वात् कुमारसंभवादिवत् ।”—रत्नाकराव० ४।९।

(१) पृ० ७२२ पं० ११। (२) तुलना—“दुर्भणत्वानुदात्तत्वविलिप्तत्वाऽभ्युपगमात् । वेदधर्मा हि दुश्यन्ते नास्तिकादिवचस्त्वपि ॥ विषापगमभूत्यादि यच्च किञ्चित्समीक्ष्यते । सत्यं तद्वैतयेयादि-  
मन्त्रवादोऽपि दुश्यते । दुर्भणत्वं दुरभिधानम्, अनुदात्तत्वमनोज्ञत्वम् क्लिष्टं व्यवहितम्, .....  
अभ्युपगमात् श्रुतिदुर्भणता । आदिशब्देन पदविच्छेदोदात्तादिपरिग्रहः । विषापगमे भूतिः सामर्थ्यं प्रभाव इति यावत् । अथवा विषापगमत्वं भूतिश्चेति समासः, भूतिर्भूतिरैश्वर्यमिति यावत् । आदिशब्देन भूतप्रहाद्यावेशशरीकरणाभिचारादयो गृह्यन्ते । सत्यमिति अविसर्वादि । वैनतेयादीत्या-  
दिशब्देन बौद्धादिमन्त्रवादपरिग्रहः ।”—तन्त्रसं० पृ० ७३९ । “सर्वेषां दुर्भणत्वादीनां मन्त्रादि-  
सामर्थ्यानाञ्च साधारणत्वात् ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२४३ । “दुर्भणनदुःश्रवणादीनामस्मदाद्युप-  
लभ्यानां तदतिशयान्तराणां सक्यक्रियत्वादितरत्रापि ।”—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३७ । स्या० १० पृ० ६३२ । रत्नाकराव० ४।९। (३) तुलना—“अपि वेदं मन्त्रा अपौरुषेयास्तेति व्याहृतं पश्याम । तथा हि  
—“समयत्वे हि मन्त्राणां कस्यचित् कार्यसाधनम् । युक्तं यद्येते मन्त्राः कस्यचित्समयो यथा मत्प्रणी-  
तमेतदभिमतार्थोपनिबन्धनं वाक्यमेव नियुञ्जानमनेनार्थेन योजयामीति, परार्थपरतानुरोधेन अन्यतो  
वा कुतश्चिदेतो स्यात् तदा मन्त्रप्रयोगात् कदाचिदर्थनिष्पत्तिर्युक्ता कविसमयादिव पाठकानाम् ।”—  
प्रमाणवा० स्ववृ० १।२९४ । “अपि च न मन्त्रो नामान्यदेव किञ्चित् । किं तर्हि ? सत्येत्यादि ।  
यथाभूतास्थानं सत्यम्, इन्द्रियमनबोद्धमनं तपः तयोः प्रभावो विषस्तम्भनादिसामर्थ्यं स विद्यते येषां  
पुनः ते तथा तेषां सत्यतः प्रभाववता पुनः समीहितार्थस्य साधनं तदेव मन्त्रः । तद्वचनं मन्त्रलक्षण-  
मद्यत्वेऽपि पुरुषेषु दुश्यत एव । किं कारणम् ? यथास्व मत्याधिष्ठानबलाद् विपदहनादे स्तम्भनस्य  
सामर्थ्योपपातस्य दर्शनात् । तथा शबरणां केषाञ्चित् स्वनियमस्यानामद्यपि विषापनयनशक्ति-  
युक्तस्य कारणान् शक्नुवन्त्येव पुरुषा मन्त्रान् कर्तुम् । अवैदिकानाञ्च—वेदादित्येषां बौद्धादीनामिति,  
आदिशब्दाद् आर्हतगारुडमाहेववरादीनां मन्त्रकल्पानां मन्त्राणां मन्त्रकल्पानाञ्च दर्शनात् । विद्याक्षराणि  
मन्त्राः, तत्साधनविधानोपदेशा मन्त्रकल्पा तेषाञ्च बौद्धादीनामन्त्रकल्पानां पुरुषकृते पुरुषं करणात् ।”—  
प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३४२ । “येऽपि मन्त्रविदः केचिन्मन्त्रान् कारयन् कुर्वन्ते । प्रभो प्रभाव  
स्तेषां स तदुक्तन्यायवृत्तिः ॥ कृतका पौरुषेयाश्च मन्त्रा वाच्या फलेप्सुना । अशक्तिसाधनं पुनः  
नेनैव निराकृतम् ।”—प्रमाणवा० ३।३०९-१०। “परोक्षाया मन्त्रशक्तेरपि दर्शनात् । न ह्याधर्वाणा-  
नामेव मन्त्राणां शक्तिफलमभ्यते न पुनः सौगतादिमन्त्राणामिति शक्यं वक्तुं प्रमाणवाधनात् ।”—  
अष्टश० अष्टसह० पृ० २३७। स्या० १० पृ० ६३३ । “मन्त्रादीनाञ्च सामर्थ्यं शबरणामपि स्फुटम् ।

‘अमुष्मान्मन्त्रादस्येदं फलं भवतु’ इत्यनुसन्धाय यदा यया कयाचित् भाषया प्रयुज्यन्ते मन्त्राः तदा तेषां तत्कर्तृप्रभावादेव तथाविधार्थक्रियाकरणसामर्थ्यं संभाव्यते । दृश्यते हि साम्प्रतमपि महाप्रभाववतो मन्त्रवादिन आज्ञाप्रदानात् ज्वरायुचाटनं निर्विपीकरणादि च ।

किञ्च, अत्र विशिष्टा रचना दृश्यमाना तत्करणासमर्थमेव कर्तारं प्रतिक्षिपति ननु कर्तृमात्रम् । न हि जीर्णकूपप्रासादादौ विशिष्टा रचनोपलभ्यमाना तन्मात्रं प्रतिक्षिपन्ती प्रतीता, तत्करणासमर्थस्यैव शिल्पिनः तया प्रतिक्षेपात् । नहि कर्त्रेण्यव्यतिरेकानुविधायिनो धर्माः कर्तारमन्तरेण उपपद्यन्ते । अतः ‘वैदिकी रचनाऽपौरुषेयी’ इत्याद्यनुमानमनुपपन्नम् ; दृष्टकर्तृकरचनाविलक्षणत्वस्य उक्तप्रकारेण तत्रोत्संभवात् । संभवे वा कर्तृमात्रानिषेधकत्वात् । ततोऽयुक्तमुक्तम्—‘रचनामात्रात्कर्तृनुमाने जगतो बुद्धिमद्धेतुकत्यानुमानानुपपन्नः’ इत्यादि, वेदरचनायाः कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वव्यवस्थितेः, जगद्रचनायास्तु तत्स्थितेः । तत्स्थितिश्च ईश्वरनिराकरणप्रघटके सप्रपञ्चं प्रपञ्चिता ।

यदयुक्तम्—‘वेदाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्’ इत्यादि, तत्र निर्विशेषणमध्ययनशब्दाच्च्यत्वम् अपौरुषेयत्वं प्रतिपादयेत्, सविशेषणं वा ? तत्र आद्यधिकल्पेऽनैकान्तिकत्वं, निश्चितकर्तृकेषु भारतादिष्वप्यस्य भावात् । द्वितीयपक्षे तु किं तस्य विशेषणम् ? वेदश्चेत् ; ननु वेदविशिष्टमध्ययनं किं तावन्मात्रेण हेतुः, अपरविशेषणवि-

प्रतीतं सर्वलोकेऽपि न चाप्यभ्यभिचारि तत् ॥”-शास्त्रवा० १०।४४।

(१) सङ्कतरूपया प्राकृतस्वरूपया पालिरूपया वा भाषया । (२) वेदे । तुलना—“अपि च यद्विलक्षणं रचना तद्विलक्षण एव कर्ता अनुमीयता न पुनस्तत्पलापो युक्त इत्यप्युक्तम् ।”-न्यायम० पृ० २३६ । “अपि चान विशिष्टा रचना दृश्यमाना तत्करणासमर्थमेव कर्तार निराकृते न पुन कर्तृमानमपि ।”-स्या० १० पृ० ६३४। (३) कर्तृमात्रम् । (४) विशिष्ट रचनवा । (५) वेदे । (६) पृ० ७२२ पृ० १२ । (७) कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वस्थिते, यतो हि विद्यमानकर्तृकेषु अक्रियादिनोऽपि कृतबुद्धिरुपजायते ननु कित्यादौ । (८) पृ० १०२ । (९) पृ० ७२२ पृ० १७ । (१०) तुलना—“किञ्चात्र निर्विशेषणमध्ययनशब्दाच्च्यत्वमपौरुषेयत्व प्रतिपादयेत् कर्त्रस्मरणविशिष्टं वा ?”-प्रमेयक० पृ० ३६९। सम्प्रति० टी० पृ० ४१। स्या० १० पृ० ६३४। (११) तुलना—“यत एवन्तस्मादध्ययनमध्ययनान्तरवद् अध्ययनान्तर्गुर्वकमिति साध्ये अध्ययनादिति लिङ्गं व्यभिचारि, भारताद्यध्ययने पौरुषेयत्वाध्ययनत्वस्य भावात् ।”-प्रमाणवा० स्वप्न० टी० पृ० ३४५ । “न हि तच्छब्दाच्च्यत्वकृतमनादित्वमुपपद्यते । अनैकान्तिकश्चाय हेतु, भारतेष्वेवमभिधातु शक्यत्वात् । भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं भारताध्ययनवाच्यत्वादिदानीन्तनभारताध्ययनवदिति ।”-न्यायम० पृ० २३३ । प्रमेयक० पृ० ३६९ । सम्प्रति० टी० पृ० ४१ । स्या० १० पृ० ६३४ । “पितृव्रथादावपि तत एव वक्त्रभावप्रसङ्गात् । वेदाध्ययनवदितरस्यापि सर्ववेदाध्ययनपूर्वाध्ययनत्वप्रकल्पो न वक्त्र वक्त्रीभवति, यतो विद्यमानवक्तृकेऽपि भावादध्ययनवाच्यत्वस्यानैकान्तिकत्वं न स्यात् ।”-अष्टश० अष्टसह० पृ० २३७ । “भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । तदध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥”-प्रमेय० ३।९९। (१२) अध्ययनशब्दाच्च्यत्वादिति हेतोः ।

1 भवति व० । 2 ‘तदा’ नास्ति जा० । 3-मानतत्करण-अ० । 4 ननु आ० । 5 तथा आ० । 6-हेतुत्वानु-आ० । 7 भारतेष्वप्यस्य व० । 8 तद्भावात् व०, य० । 9 वेदश्चेन्नतु य० ।

शिष्टत्वेन वा ? यदि तावन्मात्रेण, तदाऽनैकान्तिकम्, विपक्षेऽप्यस्यैव विरुद्धतया सद्भाव-  
सम्भवात् । विपक्षेण विरुद्ध हि विशेषण ततो हेतु व्यावर्त्तयति नान्यद् अतिप्रसङ्गात् ।  
नच वेदविशेषण कर्त्तृपूर्वकत्वैलक्षणविपक्षेण विरुद्धम् भारताध्ययनवद् वेदाध्ययनस्यापि  
सकर्त्तृकत्वेऽप्यविरोधात् ।

किञ्च, यथाभूतानां पुरुषाणामध्ययनम् अध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेव तत्तर्था  
साध्यते, अन्यथाभूतानां वा ? यदि तर्थाभूतानाम्, तदा सिद्धसाधनम् । अथ अन्य-  
थाभूतानाम्, तर्हि जगतो बुद्धिमद्वेतुकत्वे सन्निवेशादिवदप्रयोजको हेतु । अथ तर्थाभूता-  
नामेव तत्तर्था साध्यते, नच सिद्धसाधनम्, सर्वपुरुषाणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तियैकल्येन  
अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकप्रेरणाप्रणेतृत्वाऽसामर्थ्येन ईदृशत्वात्, तदप्यसुन्दरम्, प्रेरणार्थाः

(१) तुलना- वेदान् विशपणाददोष अध्ययनमात्रस्य हि व्यभिचारो न वेदेन विशिष्टस्या  
ध्ययनस्यैवभिप्रायः । क पुनरित्यादि सिद्धान्तवादी । कोऽतिशयो वेदाध्ययनस्य यत् तद्वाध्ययनमप्य  
यति स्वयं कृत्वाध्ययत् न शक्यते । नैव कश्चिदतिशयः । ततो वेदाध्ययनञ्च स्यान्न च अध्ययन  
पूर्वकमिति विरोधाभावात् स एव व्यभिचारः । यस्मात्तर्हि विशपणं वेदत्वम् अविरुद्धं विपक्षेण अनध्य-  
यनान्तरपूर्वकत्वेन सह अस्माद् विपक्षाद् हेतुं निवर्त्तयति । किं कारणम् ? अविरुद्धयो वेदत्व अध्यय-  
नान्तरपूर्वकत्वयोरेकत्र वेदवाक्य सम्भवात् । को ह्यन विरोधो यद् वेदाध्ययनञ्च स्यात् च अध्ययना-  
न्तरपूर्वकमिति । तस्माद्भेदत्र विशपणमध्ययनस्य हेतोरतिशयभाग् न भवति विशपाधायकत्र भवति  
विपक्षविरोधाभावेन विपक्षादव्यावर्तनात् उपात्तमपि विशपणमनुपात्तसमम् । '—प्रमाणवा० स्ववृ० टी०  
पृ० ३४५। प्रमेयक० पृ० ३९७। स्वा० पृ० ६३४। (२) अनध्ययनपूर्वकाध्ययनं सकर्त्तृके (३) वेदविशप-  
णस्य अध्ययनान्दवाप्यत्वस्य । (४) विपक्षात् । (५) अस्मदादीनाम् अर्वाग्वृत्ताम् । तुलना- किञ्च  
यथाभूतानां पुरुषाणामध्ययनमध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेव अध्ययनशब्दवाच्यत्वमध्ययनपूर्वकत्वं  
साधयत्यन्यथाभूतानां वा ? —प्रमेयक० पृ० ३९८। सम्मति० टी० पृ० ४१। स्वा० पृ० ६३४। (६)  
गुवध्ययनपूर्वकम् । (७) वदाध्ययनम् । (८) वदाध्ययनपूर्वकम् । (९) अतीन्द्रियाथदर्शनशालिना  
पुरुषाणां वा । (१०) अस्मदादीनाम् । तुलना- यादृग्वत्त्वमध्ययनं स्वयञ्चतुमशक्तस्य तन्निमित्तम्  
अध्ययनान्तरनिमित्तं दृष्टं तत्तथैव अध्ययनान्तरपूर्वकमत्रति स्यात् तन्निमित्ततया शक्तिनिमित्ततया  
दृष्टं भगते विपक्ष स्वयं कृत्वाध्ययनलक्षणं तस्याग्नं तस्य विपक्षस्य त्यागनं वदाध्ययनत्वसामान्यस्य  
ग्रहणं शक्त्याशक्त्यस्य वा सर्वं वदाध्ययनमध्ययनांतरपूर्वकं वदाध्ययनत्वसामान्यादिति त्र्यमात्र  
व्यभिचापव । किमिव ? हुताशनसिद्धौ अग्निसिद्धौ पाण्डुरव्यत्ववत् '—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ०  
३४६। (११) यादृग्वत् सजिवशादि घटादिषु यदक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धचतुष्टयादकं दृष्टं तादृगमेव जीणकू-  
पादौ बुद्धिमद्वेतुत्वमनुमापयति ननु तद्विलक्षणम्—अक्रियादर्शिनं कृतबुद्धचतुष्टयादकमिति स्थितिः, तथापि  
सन्निवेशासामान्यात् पृथिव्यादावपि बुद्धिमद्वेतुत्वानुमाने मृद्विकारस्त्वहनुना बल्मीकस्यापि कुम्भकार-  
कृतत्वं स्यात्, ततो यथा जगतो बुद्धिमद्वेतुकत्वे सजिवगादिसामान्यमकिञ्चित्करं तथैव यादृगानाम्  
स्मदादिपुरुषाणामध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकं दृष्टं तादृगानामेव दगांतरादौ अव्ययनपूर्वकत्वं साधयितुमुचितं  
न तु अयादृगानामतीन्द्रियाथदर्शनाम् तत्र अध्ययनशब्दवाच्यत्वस्य अप्रयोजकत्वादिति भावः ।  
(१२) अस्मदादीनाम् अर्वाग्वृत्ताम् । (१३) अध्ययनम् । (१४) अध्ययनपूर्वकम् । (१५) अन्यथा  
भूतातीन्द्रियपुरुषाणामभावनया । (१६) अस्मदादिवदव अर्वाग्वृत्तत्वात् । (१७) वदस्य ।

तथाभूतार्थप्रतिपादने प्रामाण्याप्रसिद्धेः । तदप्रसिद्धिश्च गुणवतो वस्तुभावे तद्गुणै-  
रनिराकृतैर्दोषैः तस्यैवोहितत्वात् सुप्रसिद्धा । तैश्चाभूताश्च प्रेरणामतीन्द्रियार्थदर्शन-  
शक्तिविरहिणोऽपि कर्तुं समर्था इति कुतः तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वाऽसामर्थ्येन अशेषपुरु-  
पाणामीदृशत्वसिद्धिर्यतः सिद्धसाधनं न स्यात् । अथ न गुणवद्वक्तृकत्वेनैव शब्देऽ-  
प्रामाण्यनिवृत्तिः अपौरुषेयत्वेनाप्यस्याः संभवात् ततोऽयमदोषः; तदप्यसाम्प्रतम्, यतोऽ- 5  
पौरुषेयत्वमस्याः किमन्यतः प्रमाणात् प्रसिद्धम्, अत एव वा ? यदि अन्यतः; तदा  
अस्य वैयर्थ्यम् । अत एव चेत्; अन्योन्याश्रयः—अतो हि अनुमानादपौरुषेयत्वसिद्धौ  
प्रेरणायाः प्रामाण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येन सर्वपुरुपाणामी-  
दृशत्वसिद्धिरिति । तत्र वेदाध्ययनमात्रं हेतुः ।

अथ अपरविशेषणविशिष्टम्, किं पुनस्तत्र विशेषणम्—कर्त्रस्मरणम्, सम्प्रदाया- 10  
व्यवच्छेदो वा ? न तावत् कर्त्रस्मरणम्; तस्य असिद्धाद्यनेकदोषदुष्टत्वप्रतिपादनात् ।  
सम्प्रदायाव्यवच्छेदोऽपि आत्मगतः, सर्वलोकगतो वा ? न तावदात्मगतः; भारतादिवत्  
पौरुषेयत्वेऽप्यस्य सम्भवात् । नापि सर्वलोकगतः, असर्वविदा तस्य सतोऽपि ज्ञातुम-  
शक्यत्वात्, 'वटे वटे वैश्रवणः' [ ] इत्यादिवत् पौरुषेयत्वेऽप्यस्याऽविरोधाच्च ।

किञ्च, प्रमाणादर्थव्यवस्था भवति । सम्प्रदायाव्यवच्छेदश्च किं स्वतन्त्रं प्रमाणम्, 15  
प्रत्यक्षान्यतमत्, तदन्तर्भूतं वा ? न तावत् स्वतन्त्रम्, पदप्रमाणसंख्याव्याघात-  
प्रसङ्गात् । नापि प्रत्यक्षान्यतमत्, तस्यै तत्सामग्रीवो विलक्षणसामग्रीप्रभवत्वात्,  
आज्ञापारम्पर्यवत् । अत एव न तदन्तर्भूतम् । तेतो वटे यक्षपारम्पर्यवत् संशयजनक-  
मेवैतत् नार्थतत्त्वव्यवस्थापनप्रवणम् । अव्यवच्छेदश्चास्यै श्रद्धासात्रगम्यः, नैपथ्यव्यव-

(१) अतीन्द्रियार्थः । (२) तुलना—'मिरा सत्यत्वहेतूनां गुणानां पुरुषाश्रयात् । अपौरुषेय  
मिथ्यायै किन्नेत्यन्ये प्रचक्षते ॥'—प्रमाणवा० ३।२३५। 'यावता गुणवद्वक्तृभावे तद्गुणैरनिरा-  
कृतैर्दोषैरपोहितत्वात् तत्र सापवाद प्रामाण्यम् ।'—प्रमेयक० पृ० ३९७। सन्मति० टी० पृ० ४१। स्या०  
२० पृ० ६३४। (३) वस्तुगुणैः । (४) प्रामाण्यस्य निराकृतत्वात् । (५) अप्रमाणभूताम् ।  
(६) अप्रामाण्यनिवृत्ते । (७) चोदनाया । 'यतोऽपौरुषेयत्वमस्या किमन्यत प्रमाणात् प्रति-  
पन्नमत एव वा ?'—प्रमेयक० पृ० ३९७। सन्मति० टी० पृ० ४१। स्या० २० पृ० ६३५। (८)  
अस्मदादिवदवगम्यशित्तसिद्धिः । (९) वेदाध्ययनवाच्यत्वाख्ये हेतौ । 'किं तत्र विशेषणम्—कर्त्रस्मरण  
सम्प्रदायाव्यवच्छेदो वा ?'—स्या० २० पृ० ६३५। (१०) 'सम्प्रदायाव्यवच्छेदोऽपि आत्मगतः,  
सर्वलोकगतो वा ?'—स्या० २० पृ० ६३५। (११) सम्प्रदायाव्यवच्छेदस्य । (१२) सम्प्रदायाव्यव-  
च्छेदस्य । (१३) विलक्षणसामग्रीप्रभवत्वादेव । (१४) प्रत्यक्षान्यतमत् । (१५) सम्प्रदायाव्यवच्छे-  
दात्मक प्रमाणम् । (१६) वेदस्य । तुलना—'अपि च आदिमतोऽपि शास्त्रप्रामाण्यं सम्प्रदायाव्यवच्छे-  
दोऽस्ति वेदस्य पुनरनादेरसौ नास्तीति कश्चादिको भवतोऽपरः प्रतिपद्यते ।'—स्या० २० पृ० ६३५ ।

१—मोदित—आ० । २—यादित—थ० । ३ सर्वगतो व०, थ० । ४ ततो दृष्टयक्षपारम्पर्यवत्  
सप्तपञ्चवस्तुमेतदर्थव्यवस्था भवति सम्प्रदायाध्ययनप्रवणम् व० । ५—जननमेव तत्रार्थ—आ० ।

हारवालक्रीडादीनाम् ओदिमतामपि निर्मूलोच्छेदोपलम्भेन अनादौ वेदे अव्यवच्छेदस्य  
श्रद्धामात्रादन्यतः संभावयितुमशक्यत्वात् ।

यदप्युक्तम्—‘अतीतानागतौ कालौ’ इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; आगमा-  
न्तरेऽप्यस्याविशेषात् । किञ्च, इदानीं यथाभूतो वेदकरणाऽसमर्थपुरुषयुक्तः तत्कर्तृ-  
पुरुषरहितो वा कालः प्रतीतः अतीतोऽनागतो वा तथाभूतः कालत्वात् साध्येत, अन्य-  
थाभूतो वा ? यदि तथाभूतः; तदा सिद्धसाधनम् । अथ अन्यथाभूतः; तदा सन्निपे-  
शादिषदप्रयोजको हेतुः । अथ तथाभूतस्यैव तस्यै तद्रहितत्वं साध्यते, नच सिद्धसाधनम्  
अन्यथाभूतस्य कालस्यैवाऽसंभवात्; ननु ‘अन्यथाभूतः कालो नास्ति’ इत्येतत् कुतः  
प्रमाणात् प्रतिपन्नम्—अत एव, अन्यतो वा ? यदि अत एव; इतरेतराश्रयः—अन्यथाभूतका-  
लाभावसिद्धौ हि अतोऽनुमानात्तद्रहितत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेऽथ अन्यथाभूतकालाभावसिद्धि-  
रिति । अन्यतः तत्सिद्धौ चास्त्येनार्थक्यम् अपौरुषेयत्वस्यापि तत एव प्रसिद्धेः । ततो वेदे  
अपौरुषेयत्वप्रसाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्यासंभवात् कथमसौ अपौरुषेयः स्यात् ।

अस्तु वा, तथाप्यसौ व्याख्यातः, अव्याख्यातो वा स्वार्थे प्रतीतिं कुर्यात् ?  
न तावदव्याख्यातः; अतिप्रसङ्गात् । अथ व्याख्यातः; कुतस्तद्व्याख्यानम्—स्वतः, पुरुषाद्वा  
न तावत् स्वेत एव, ‘अयमेव मदीयपदवाक्यानामर्थः नायम्’ इति स्वयं वेदेनाऽप्रतिपा-

(१) पु० ७२३ प० १ । (२) तुलना—‘कालत्वपुरुषत्वादौ सन्दिग्धव्यतिरेकिता । पूर्ववत्करणा-  
पक्षे नराणामप्रसाधनात् ॥’—तत्त्वसं० का० २७९९ । (३) तुलना—‘किञ्चेदानीं यथाभूतो वेदाकरण-  
समर्थपुरुषयुक्तः तत्कर्तृपुरुषरहितो वा कालः प्रतीतः, अतीतानागतो वा तथाभूतः कालत्वात्साध्येत  
अन्यथाभूतो वा ?’—प्रमेयक० पु० ३९९ । सन्मति० टी० पु० ३१ । स्या० २० पु० ६३५ । (४)  
वेदकर्तृपुरुषरहितः । (५) हेतो वेदकारविजित इति शेषः । (६) वेदकर्तृपुरुषसहितः । (७)  
वेदकर्तृपुरुषरहितकालस्य वेदकारविजितत्वमिष्टमेव । (८) वेदकरणसमर्थपुरुषयुक्तः तत्कर्तृपुरुष-  
सहितो वा । (९) वेदकर्तृपुरुषरहितस्यैव । (१०) कालस्य । (११) वेदकाररहितत्वम् । (१२)  
वेदकर्तृपुरुषसहितकालसम्भावनायाः । (१३) वेदकर्तृपुरुषसहितस्य । (१४) तुलना—‘नन्वन्यथाभूत  
कालो नास्तीत्येतत्कुतः प्रमाणात् प्रतिपन्नम् ?’—प्रमेयक० पु० ३९९ । सन्मति० टी० पु० ३१ । स्या० २०  
पु० ६३५ । (१५) कालत्वात् हेतोः । (१६) वेदकर्तृसहितः । (१७) वेदकारविजितत्वम् ।  
(१८) अन्यथाभूतकालाभावसिद्धौ । (१९) कालत्वादिति हेतोः । (२०) तुलना—‘सहि वेद  
केनचिद् व्याख्यात धर्मस्य प्रतिपादक स्यादव्याख्यातो वा ?’—आप्तप० का० ११० । प्रमेयक०  
पु० ४०० । स्प० २० पु० ६३६ । प्रमेय० ३९९ । (२१) तुलना—‘न हि तावत्स्थितोऽप्येव ज्ञान वेद  
करोति न । यावन्न पुरुषैरेव दोषभूतं प्रवाणित ॥ ततश्चापौरुषेयत्व भूतार्थज्ञानकारणम् । न कल्प्यं  
ज्ञानमतदि पुन्यास्यानात्प्रवर्तते ॥ सत्यप्येषा निरर्थाऽतो वेदस्यापौरुषेयता । यदिष्ट फलमस्या हि ज्ञान  
वस्तुप्राप्तितम् ॥ स्वतन्त्रा पुरुषास्त्वेह वेदे व्याख्या यथाक्षि । कुर्वाणा प्रतिबद्धे ते सन्नयन्ते नैव  
केनचिन् ॥ मोहमानादिभिर्दोषैरतोऽप्यो विष्णुता श्रुतः । विपरीतामपि व्याख्या कुपूरित्यभिप्राद्यते ॥’  
—तत्त्वसं० का० २३६६—७१ । (२२) तुलना—‘जयोऽत्र नायमर्थ इति शब्दा वदन्ति न । वत्प्यो-

\* १ अधिमता—अ० । २ वेदाकरणसमर्थ—अ० । ३ तददृष्टपुरुष—अ० । ‘तत्कर्तृपुरुषरहितो’  
इति नास्ति आ० ।

दनात्, अन्यथा व्याख्याभेदो न स्यात् । पुरुषाच्चेत्, कथं तद्व्याख्यानात् पौरुषेया-  
 दर्शप्रतिपत्तो दोषाशङ्कानिवृत्तिः स्यात् ? पुरुषा हि रागादिमन्तो विपरीतमप्यर्थं व्याच-  
 क्षाणा दृश्यन्ते । सवादेन प्रामाण्याभ्युपगमे च अपौरुषेयत्वकल्पनानर्थक्यम्, पौरुषेयत्वेऽपि  
 वेदस्य सवादादेव प्रामाण्योपपत्तेः । नच व्याख्यानानां सवादोऽस्ति, परस्परविरुद्ध  
 भावनानियोगादिव्याख्यानानामन्योन्य विसवादोपलम्भात् ।

किञ्चै, असौ तद्व्याख्याता अतीन्द्रियार्थद्रष्टा, तद्विपरीतो वा ? प्रथमपक्षे अतीन्द्रि-  
 यार्थदर्शिनः प्रतिषेधविरोधः । धर्मादौ च अर्थं प्रामाण्योपपत्तेः “ धर्मे चोदनैव  
 प्रमाणम् ” [ ] इत्यवधारणानुपपत्तिश्च । अथ तद्विपरीतः, कथं तर्हि तद्व्या-  
 ख्यानाद् यथार्थप्रतिपत्तिः, अथयार्थाभिधानाशङ्कया तर्दनुपपत्तेः ?

अथ पुरुष ते च रागादिसंयुता ॥ —प्रमाणवा० ३।३१२ । वेदो नर निरागसो ब्रतेऽथ न सदा  
 स्वतः । अघातयष्टितुल्या तु पय्याभ्यां समपेक्षते ॥ स तथा कृप्यमाणश्च कुर्वन्मयि सम्पतेत् । ततो  
 नाशो कवद्वदक्षभूतवच युज्यते । —तत्त्वसं० का० २३७४-७५ । प्रमेयक० पृ० ४०० । त्या० १०  
 पृ० ६३६ । प्रमेयर० ३ । ९९ । अथवा न तावदप्येव स्वस्थां स्वपमाचष्ट सवपामपि तदवगम  
 प्रसङ्गात् । धवलाढी० पृ० १९५ ।

(१) तुलना व्याख्याप्यपौरुष्यस्य मानाभावात् सङ्गता । मिथो विरुद्धभावाच्च तत्साधुत्वा  
 दनिश्चिते । —शास्त्रवा० १०।३१ । (२) तुलना— अथाय व्याचक्षते तेषां तदर्थविषयपरिज्ञान  
 मस्ति वा न वा । प्रथमविकल्पेऽसौ सवज्ञो वा स्यादसवज्ञो वा ? धवलाढी० पृ० १५९ । व्याख्याता  
 रागादिमान् विरागो वा ? —आप्तप० का० ११० । तत्त्वावच्छेदो० पृ० ८ । प्रमेयक० पृ० ४०१ ।  
 त्या० १० पृ० ६३६ । प्रमेयर० ३ । ९९ । (३) तुलना— यद्यत्यन्तपरोक्षस्य ज्ञानगमनसंभवः ।  
 अतीन्द्रियावधितः कश्चिदस्तीत्यभिमतं भवेत् ॥ यद्यत्यन्तपरोक्षस्य स्वपसम्बन्धादौ जमिपादेरनागमस्य  
 आगमनिरपेक्षस्य ज्ञानस्य संभवः तदा अतीन्द्रियावधितः कश्चिदस्तीत्यभिमतं भवेत् ततस्तत्प्रतिक्षयो न  
 युक्तः । यदि तु न कश्चिदस्तीन्द्रियावधितः तदा—स्वयं रागादिमानाद्यं वेत्ति वेदस्य नान्यत् । न वेदयति  
 वदोऽपि वेदावस्थं कुतो गतिः ॥ —प्रमाणवा० मनोरथ० ३।३१६ १७ । (४) अतीन्द्रियावधितः ।  
 (५) चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः । —जमिनिसू० १।१।२ । चोदनव प्रमाणञ्चेत्यतद् धर्मव्यधारितम् ।  
 —मो० श्लो० चोदना० श्लो० ४ । यो धर्मः स चोदनालक्षणः चोदनव तस्य लक्षणम् । —शास्त्रवा०  
 १।१।२ । उद्धतमिदम्—आप्तप० पृ० ५७ । तत्त्वावच्छेदो० पृ० १२ । प्रमेयक० पृ० ४०१ । त्या० १०  
 पृ० ६३६ । (६) यथायप्रतीत्यनुपपत्तिः । तुलना— अपि च वेदस्तद्व्याख्यानं वा पुरुषण पुरुषाद्योपदि-  
 श्यमानमनष्टसम्प्रदायमेवानुवर्तते इत्यत्रापि शेषः शरणम् । आगमभ्रंकारिणामाहोपुरुषिकया तद्वक्ष-  
 विद्वपणं वा तत्प्रतिपन्नश्लोकरणात् धृतव्यसनेन अन्यतो वा कुतश्चित् कारणादन्यधारयनासंभवात् ।  
 अपि चान भवान् स्वमेव मुखवण स्ववादानुरागा नूनं विस्मयवान् पुरुषो रागादिभिरुपकुतोऽनतमपि  
 त्रयादिति नास्य वचनं प्रमाणम् इति । तदिहापि किञ्च प्रत्यवेक्ष्यते संभवति न वेति । स एवोपदि-  
 त्पुण्यत्वात् वेदवेदाद्यं वाऽयथायुपदिशेदिति । श्रूयते हि कश्चित् पुरुषश्च सज्जोऽतानि शास्त्रान्तराणि  
 इदानीमपि कानिचिद् विरलाध्यतकाणि । तद्वत् प्रचुराध्यतकाणामपि कस्मिंश्चित्काले कथञ्चित्संहार  
 संभवात् । पुनः संभावितपुरुषप्रत्ययात् प्रचुरतोपगमनसंभावनासंभवाच्च । तेषाञ्च पुनः प्रतानयितृणां  
 पुरुषाणां कदाचिदधीतविसृताध्ययनानिमन्यया संभावनाभ्रंभयादिनाऽयथोपदेशसंभवात् । तत्प्रत्युयाच्च



नच मन्वादीना सातिशयप्रज्ञत्वात् तद्व्याख्यानाद् यथार्थप्रतिपत्तिः; तेषां सातिश-  
यप्रज्ञत्वासिद्धेः । तेषां हि प्रज्ञातिशयः स्वतः, वेदार्थाभ्यासात्, अदृष्टात्, ब्रह्मणो वा  
स्यात् ? स्वतश्चेत्; सर्वस्य स्यादविशेषात् । वेदार्थाभ्यासाच्चेत्; ननु वेदार्थस्य ज्ञातस्य,  
अज्ञातस्य वा अभ्यासः स्यात् ? न तावदज्ञातस्य; अतिप्रसङ्गात् । अथ ज्ञातस्य; कुतस्त-  
ज्ज्ञेतिः—स्वतः, अन्यतो वा ? स्वतश्चेत्; अन्योन्याश्रयः—सति हि वेदार्थाभ्यासे स्वतस्तत्प-  
रिज्ञानम्, तस्मिन् सति तदर्थभ्यास इति । अथ अन्यतः; तर्हि तस्यापि तत्परि-  
ज्ञानमन्यतः इति अतोन्निवृत्त्यर्थदर्शिनोऽनभ्युपगमे अन्धपरम्परातो यथार्थनिर्णयानुप-  
पत्तिः । अदृष्टमपि न प्रज्ञातिशयप्रसाधकम्, तस्य आत्मान्तरेऽपि सद्भावात् । न  
तथाविधमदृष्टमन्यत्र मन्वादादेव अस्य संभवादिति चेत्; कुतस्तत्रैवास्य संभवः ?  
वेदार्थानुष्ठानविशेषाच्चेत्; सै तर्हि ज्ञातस्य अज्ञातस्य वा वेदार्थस्य अनुष्ठानात् स्यात् ?  
अज्ञातस्य चेद्, अतिप्रसङ्गः । ज्ञातस्य चेत्; चक्रप्रसङ्गः—सिद्धे हि वेदार्थज्ञानातिशये  
तदर्थानुष्ठानविशेषसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अदृष्टविशेषसिद्धिः, ततस्तज्ज्ञानातिशयसिद्धि-  
रिति । ब्रह्मणोऽपि वेदार्थज्ञाने सिद्धे सति अतो मन्वादेस्तदर्थपरिज्ञानातिशयः सिद्धेत् ।  
तच्चास्य कुतः सिद्धम् ? धर्मविशेषाच्चेत्; स एव चक्रप्रसङ्गः—सिद्धे हि वेदार्थपरि-  
ज्ञानातिशये तत्पूर्वकानुष्ठानविशेषः सिद्धेत्, ततः तज्जनितधर्मविशेषः सिद्धेत्,  
तत्सिद्धौ च वेदार्थपरिज्ञानातिशयः सिद्धेदिति । ततोऽतीन्निवृत्त्यर्थदर्शिनोऽनभ्युपगमे  
वेदार्थप्रतिपत्तेरनुपपत्तिरेव ।

ननु व्याकरणाद्यभ्यासात् लौकिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तौ तद्विशिष्टवैदिकपदवा-

तद्वक्तृत्वानामविचारेण प्रतिपत्त बहुष्वप्यप्येतेषु सभावितान् पुरुषाद् बहुल प्रतिपत्तिदर्शनात् । ततोऽपि  
वचञ्चिद् विप्रलम्भसंभवात् । विञ्च, परिमितव्याख्यातुपुरुषपरम्परामेव चात्र भवतामपि क्षणम् ।  
तत्र वचिच् द्विष्टानभूतानामन्यतम स्यादपीति अनादवास । १—प्रमाणवा० स्व० १।३२२ ।

(१) तु०—“कुतस्तस्य तादृश प्रज्ञातिशय ? धृत्यर्थस्मृत्यतिशयादिति चेत्, सोऽपि कुत ?  
पूर्वजमपि धृत्यभ्यासादिति चेत्, स तस्य स्वतोऽन्यतो वा ? स्वतश्चेत्, सर्वस्य स्यात् । तस्यादृष्ट-  
वगाद् वदाभ्यास स्वता मुक्तो न सर्वस्य तदभावादिति चेत्, कुतस्तस्यैव अदृष्टविशेष तादृश ?  
वदार्थानुष्ठानाच्चेत्, तर्हि ॥ वदार्थस्य स्वय ज्ञानस्यानुष्ठानात् स्यादज्ञातस्य वापि ? न तावदुत्तर पद,  
अतिप्रज्ञात् । स्वय ज्ञानस्य चेत्, परस्परश्रयः । मन्वादेर्वेदाभ्यासोऽन्यत एवमिति चेत्, स कोऽन्य ?  
ग्रहानि चत, तस्य नुतो वेदाश्रयज्ञानम् ? धर्मविशेषादिति चेत्, स एवान्योन्याश्रयः । तत्त्वार्थश्लो०  
पृ० ९ । प्रमेयक० पृ० ४०१ । स्या० २० पृ० ६३६ । (२) तुलना—“यस्मादज्ञोऽपि तन्मध्ये नैवातीति द्र-  
व्यदृक्मतः । अनादि बलिजायया तस्मादन्तरपरम्परा ॥ अन्धनान्ध समाकृष्ट मय्यगवन् प्रपद्यत ।  
भूव नैव तयाप्यस्या रिशत्रान्नादिवत्पना ।”—तत्त्वस० का० २३७९-८० । “अविरोधेति नित्यस्य  
भवदपरम्परा । तदर्थदर्शिनोऽभावात् मन्वादादिव्यवहारवत् ।”—न्यायवि० का० ४१७ । अष्टा०  
अष्टाह० पृ० २३९ । प्रमेयक० पृ० ४०१ । स्या० २० पृ० ६३७ । तत्त्ववि० शब्द० पृ० ३६९ ।  
(३), प्रमाणावयवश्रयस्य अनुपपत्तिः । (४) मन्वादिः । (५) ब्रह्मणः । (६) ग्रहणः । (७)  
पमविशेषादिति ।

१. अदृष्टत्वात् ध० । २. सति स्वतश्चेदन्यो—आ० ।

क्यार्थप्रतिपत्तेरपि प्रसिद्धिः अश्रुतकाव्यादिवत्, अतो न वेदार्थप्रतिपत्तौ अतीन्द्रियार्थ-  
दर्शिना किञ्चित् प्रयोजनम्; इत्यप्यपेशलम्; 'लौकिकवैदिकपदानामेकत्वेऽपि अनेकार्थ-  
त्वव्यवस्थितेः अन्यपरिहारेण व्याचिख्यासितार्थस्य नियमयितुमशक्तेः। न च प्रकरणौ-  
दिभ्यस्तैन्नियमः; तेषामन्यनेकधा प्रवृत्तेः त्रिसन्धानादिवत्। यदि च लौकिकेन अग्न्या-  
दिशब्देन अविशिष्टत्वाद् वैदिकस्य अग्न्यादिशब्दस्य अर्थप्रतिपत्तिः; तर्हि 'पौरुषेयेणापि 5  
तेन अविशिष्टत्वात् पौरुषेयोऽप्यसौ' कथन्न स्यात्? लौकिकस्य हि अग्न्यादिशब्दस्य अर्थ-  
वत्त्वं पौरुषेयत्वेन व्याप्तम्, तत्र अयं वैदिकोऽग्न्यादिशब्दः कथं पौरुषेयत्वं परित्यज्य  
तदर्थमेव ग्रहीतुं शक्नोति? उभयमपि गृहीयात् जह्याद्वा। न च लौकिकवैदिकश-  
ब्दयोः स्वरूपाऽवशेषे सङ्केतग्रहणसव्यपेक्षत्वेन अर्थप्रतिपादकत्वे अनुच्चार्यमाणयोश्च  
पुरुषेणाश्रवणे समाने अन्यो विशेषोऽस्ति, यतो वैदिका अपौरुषेयाः शब्दा लौकिकास्तु 10  
पौरुषेयाः स्युः। ततो ये नररचितरचनाऽविशिष्टाः ते पौरुषेयाः यथा अभिनवकूपप्रा-  
सादादिरचनाऽविशिष्टाः जीर्णकूपप्रासादादयः, नररचितवचनरचनाऽविशिष्टश्च वैदिकं  
पदवाक्यादिकमिति ॥ छ ॥

किं पुनः पदं वाक्यञ्च इति चेत्? उच्यते—वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षः  
पदवाक्ययोर्लक्षणम्—समुदायः पदम्। पदानां तु परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो 15

(१) तुलना—“उत्पादिता प्रसिद्धयैव शङ्का शब्दार्थनिरुचये। यस्माच्चानार्थवृत्तित्वे शब्दानां  
तत्र दृश्यते ॥ अन्यथामभवाभावाज्ञानाशक्ते स्वयं ध्वने। अवश्यं शङ्कया भाव्यं निग्रामकमप-  
श्यताम् ॥ सर्वत्र योग्यस्यैकार्थ्यद्योतने नियमः कुतः। ज्ञाता वाञ्छीन्द्रिया केन विवक्षावचनादुते ॥”—  
प्रमाणवा० ३। ३२३, २४, २६। प्रमेयक० पृ० ४०२। स्या० २० पृ० ६३७। (२) आदिपदेन  
संसर्गादयो गाह्या। तथा चोक्तम्—“संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थं प्रकरणं लिङ्गं  
शब्दस्यान्यस्य सतिभि ॥ सामर्थ्यमीजिती देस कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे  
विशेषमूतिहेतवः।”—वाचस्प० २। ३१७-१८। (३) इष्टार्थनियमः। (४) प्रकरणादीनामपि।  
तुलना—“तेषामप्यनेकधा प्रवृत्तेः त्रिसन्धानादिवत्।”—प्रमेयक० पृ० ४०२। “तेषामप्यनेकताप्रवृत्तेरिन-  
रान्धानादिवत्।”—स्या० २० पृ० ६३७। (५) पौरुषेयत्वदृष्ट्यापि। (६) लौकिकशब्देन। (७)  
वैदिकशब्देन। (८) तात्पर्यम् पौरुषेयत्वञ्च। (९) “अथ स्यादस्त्येव तयो स्वभावभेद इत्याह—न  
चात्रेत्यादि। अत्र जगति लौकिकवैदिकयोर्व्याप्ययोः स्वभावनातात् [नच] पर्यायः। असति तस्मिन्  
स्वरूपभेदे तयो लौकिकवैदिकवाक्ययो सामान्यस्यैव तुल्यरूपस्यैव वर्णानुक्रमलक्षणस्य दर्शनाद् एकस्य  
लौकिकवैदिकस्य कचिद् धर्मं विवेचयन् पौरुषेयत्वमपौरुषेयत्व वा विभागेन व्यवस्थापयन् पुरुष आदा-  
व्यव्यभिचारवादं क्रियते।”—प्रमाणवा० स्वयं ० टी० पृ० ३४१। “नच लौकिकवैदिकशब्दयोः शब्दह-  
पाविशेषे संकेतग्रहणसव्यपेक्षत्वेनार्थप्रतिपादकत्वे अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुषेणाश्रवणे समाने अन्यो विशेषो  
विद्यते यतो वैदिका अपौरुषेयाः स्युः।”—प्रमेयक० पृ० ४०२। सन्मति० टी० पृ० ३९। स्या०  
२० पृ० ६३७। (१०) दृष्टव्यम्—पृ० ७२९ टि० १४। (११) तुलना—“सुप्तिडन्त पदम्”—पारिजि-  
व्या० १। ४। १४। “ते विभक्त्यन्ता पदम्”—न्यायसू० २। २। ५९। नाट्यशा० १। ४। ३९। “पद पुनर्वर्ण-

1—ते आ०। २ पौरुषेयत्वस्यापि ततोऽवशि-व०। ३ न लौकि-आ०, व०। 4—काश्च  
पौरु-व०। 5—तरचना-आ०, व०।

वाक्यमिति । नैत्रेवं कथमिदं साधनवाक्यं घटते—‘यत् सत् तत्सर्वं परिणामि यथा घटः संञ्च शब्दः’ इति, ‘तस्मात्परिणामि’ इत्याकाङ्क्षणात्, साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेः ? इत्युच्यते ; कैस्यचित् प्रतिपत्तुः तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्तेः । यस्य हि प्रतिपत्तुः ‘तस्मात् परिणामि’ इत्यत्र आकाङ्क्षाक्षयः तदपेक्षया तद् वाक्यं भवति उक्तवाक्यलक्षणसद्भावात् । नान्यौपेक्षया । निराकाङ्क्षत्वं हि प्रतिपत्तुधर्मः वाक्येष्वध्यारोप्यते, न पुनः शब्दधर्मः तस्याऽचेतनत्वात् । स चेत् प्रतिपत्ता तावता अर्थं प्रत्येति किमित्यपरमाकाङ्क्षेत् ? पक्षधर्मो-  
पसंहारपर्यन्तसाधनवाक्यार्थप्रतिपत्तावपि निगमनवचनापेक्षायां निगमनान्तपञ्चावयव-  
वाक्यादप्यर्थप्रतिपत्तौ परापेक्षाप्रसङ्गात् न कचिन्निराकाङ्क्षत्वसिद्धिः स्यात् । तर्था च वाक्याभावात् न कचिद् वाक्यार्थप्रतिपत्तिः कस्यचित् स्यात् । तामिच्छता यस्य

समूह”-न्यायवा० पृ० १ । न्यायम० पृ० ३६७ । “शक्त पदम् ।”-मुक्ता० का० ८१ । “वर्णा पदं प्रयोगार्हानन्वितैर्कार्यबोधका”-सा० ४० २१५ । “व्याकरणस्मृतिनिर्णीत शब्द निरुक्तनिघण्ट्वा-  
दिभि निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थः तौ पदम् ।”-काव्यमो० पृ० २१ । “वर्णानां परस्परपेक्षाणां निरपेक्ष-  
समुदाय पदम् ।”-प्रमेयक० पृ० ४५८ । “वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षा सहितः पदम्, पदानां तु वाक्यमिति ।”-प्रमाणनय० ४११० ।

(१) तुलना—‘आख्यातं साव्यय सकारक सकारकविशेषण वाक्यसत्त भवतीति वक्तव्यम्—अपर आह—आख्यातं सविशेषणमित्येव । सर्वाणि ह्येतानि विशेषणानि । “एकतिङ्, एकतिङ् वाक्यसत्त भवतीति वक्तव्यम् ।”-पात० महाभा० २१११ । “तिवसुवन्तचयो वाक्यम् क्रिया वा कारका-  
न्विता”-अमरको० । “पूर्वपदस्मृत्यपेक्ष अन्त्यपदप्रत्यय. स्मृत्यनुग्रहेण प्रतिसन्धीयमान विशेष-  
प्रतिपत्तिहेतुर्वाक्यम् ।”-न्यायवा० पृ० १६ । “वाक्द्वि पदैर्यपरिसमाप्ति तदेक वाक्यम् ।”-वाङ्मत्याय पृ० १०८ । “पदसमूहो वाक्यमिति ।”-न्यायम० पृ० ६३७ । न्यायवा० ता० पृ० ४३४ । “अथात्र प्रसङ्गान्नीमासववाक्यलक्षणमर्थद्वारेण प्रदर्शयितुमाह—साकाङ्क्षाक्षयव भेदे पराना-  
काङ्क्षाशब्दकम् । कर्मप्रधान गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते ॥”-वाक्यप० २१४ । “पदानां परस्परपे-  
क्षाणां निरपेक्ष समुदायो वाक्यम् ।”-अष्टश०, अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४५८ । प्रमाण-  
नय० ४११० । “मिम साकाङ्क्षशब्दस्य व्युहो वाक्यं चतुर्विधम् । मुष्टिः सन्तचयो नैवमनिव्याप्या-  
दिदोषन ॥ यादुससब्दानां यादुशाषविषयताकान्वयबोध प्रत्यनुकूला परस्परसाकाङ्क्षा तादृशगण्यरतोम  
एव तपाविषाये वाक्यम् ।”-शब्दश० श्लो० १३ । “वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तिपुक्त पदोच्चय ।  
-सा० ४० २११ । “पदानामभिधितसत्ताग्रन्थनाकार सन्दर्भा वाक्यम् ।”-काव्यमो० पृ० २२ । “वाक्य  
वित्तिष्टपदसमुदाय । यदाह—पदानां महनिर्वाक्य मानेयाणां परस्परम् । साम्याता कल्पनास्तत्र  
पदचात्सल्यु यथायम् ।”-न्यायवा० टी० ६० पृ० ८ । (२) “ननु यदि निराकाङ्क्ष परस्पर-  
पेक्षारक्ष्यसमुदायो वाक्यं न तर्हि तदानीमिदं भवति, यथा यत्सत्तत्सर्वं परिणामि यथा घट सञ्च शब्द  
इति गायनवाक्यम्, तस्मात्परिणामोत्पादवाङ्क्षणात्, साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेरिति न शङ्कनीयम् ;  
वस्तुविरतिरित्युल्लङ्घनाङ्क्षत्वोपरते, निराकाङ्क्षत्व हि नाम प्रतिपत्तुर्धर्मोऽर्थं वाक्येष्वध्यारोप्यते  
न पुन घन्दस्य परं तस्याचेतनत्वात् । न चेत्प्रतिपत्ता तावता अर्थं प्रत्येति किमिति शयमाकाङ्क्षानि ?”  
-अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८५ । प्रमेयक० पृ० ४५८ । स्या० २० पृ० ६४१ । (३) मीगताश्रया ।  
(४) मीगताश्रया । (५) पञ्चावयववादिन्यायिवापेक्षया । (६) उपनय । (७) पञ्चावयववादा ।  
(८) कचिदसाकाङ्क्षापरिसमाप्सभावे न वाक्यविरतिर्निश्चितः ।

प्रतिपतुर्यावत्सु परस्परापेक्षेषु पदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिः प्रतिपत्तव्या । एतेन प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपदवत् वाक्यत्वं प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम् ।

एतेन यत्कैश्चित् वाक्यस्य लक्षणान्तरमुक्तम्—

“आख्यातशब्दः सङ्घातो जातिः सङ्घातवर्तिनी । एकोऽनवयव शब्दः क्रमो बुद्धयनुसहती (ति) ॥”

पदैमाद्य पदञ्चान्त्य पद सापेक्षमित्यपि । वाक्य प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम् ॥”

[ वाक्यप० २।१-२ ] इति,

तत्प्रत्याख्यातम्, यस्मादाख्यातशब्दः पदान्तरनिरपेक्षः, सापेक्षो वा वाक्यं स्यात् ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, पदान्तरनिरपेक्षस्यास्य पदत्वेन वाक्यत्वानुपपत्तेः, अन्यथा आख्यातपदाभावः स्यात् । द्वितीयपक्षेऽपि क्वचित् निरपेक्षोऽसौ, न वा ? प्रथमपक्षे अस्मन्मतसिद्धिः, अस्मदुक्तस्यैव वाक्यलक्षणस्य इत्थमभ्युपगात् । द्वितीयपक्षस्त्यक्तः, पदान्तरसापेक्षस्याप्यस्य कचिन्निरपेक्षत्वाभाये प्रकृतार्थापरिसमाप्त्या वाक्यत्वायोगाद् अर्द्धवाक्यवत् ।

(१) “प्रकरणादिना वाक्यकल्पेनाप्यर्थप्रतिपत्तौ न वा प्राथमिकल्पिकवाक्यलक्षणपरिहारः, प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपद वाक्यत्वसिद्धेः ।”—अष्टसह० अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४५८ । स्या० १० पृ० ६४० । (२) वैयाकरणे भर्तृहरिप्रभृतिभिः । (३) व्याख्या—“एतेऽष्टौ वाक्यविकल्पा आचार्याणाम् । तत्राखण्डपक्षे जाति सघातवतित्यकोऽनवयव शब्दो बुद्धयनुसहतिरिति त्रीणि लक्षणानि । खण्डपक्षे तु आख्यातशब्द क्रम सघात पदैमाद्य पृथक् सर्वपद साकाङ्क्षमिति पञ्च लक्षणानि । अत्रापि सघात क्रम इत्याभिहितान्वयपक्षे लक्षणद्वयम् । आख्यातशब्द पदैमाद्य पृथक्सर्वपद साकाङ्क्षमित्यन्वताभिधानपक्षे लक्षणत्रयम् इति विभाग इत्यमर्यादेव वाक्यविकल्पा । मतभेदेन सम्पद्यन्ते इति बोद्धव्यम् ।”—वाक्यप० टी० २।१-२ । ‘आख्यात शब्दसघातो’—मी० श्लो० न्यायर० पृ० ८६० । (४) ‘बुद्धयनुसहति’—वाक्यप०, मी० श्लो० न्यायर० पृ० ८६० । स्या० १० पृ० ६४७ । प्रकृतपाठ—अष्टसह० पृ० २८४ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४७७ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । सत्य० पृ० ४५९ । (५) प्रमेयक० पृ० ४५९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४७७ । (६) ‘वैयाक्यादिनाम्’—वाक्यप० । ‘पदैमाद्य पृथक्सर्वपद सापेक्षमित्यपि’—मी० श्लो० न्यायर० पृ० ८६० । स्या० १० पृ० ६४७ । प्रकृतपाठ—अष्टसह० पृ० २८४ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४७७ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । (७) ‘न्यायवादिनाम्’—वाक्यप० । ‘न्यायवेदिनाम्’—मी० श्लो० न्यायर०, स्या० १० । ‘न्यायवेदिनाम्’—अष्टसह०, तत्त्वार्थश्लो०, प्रमेयक० । (८) आख्यातात्मकवाक्यस्य स्वरूपम्—“आख्यातशब्दे नियतं साधनं यत्र गम्यते । तदप्येकं समासार्थं वाक्यमित्यभिधीयते ॥—यथा वपेतीत्युक्ते देवो जलमिति कर्तृकर्मक्षेपात् परिपूर्णार्थत्वे वपेति देवो जलमिति यथा वाक्यमेव तदप्येकं पदं समासार्थं परिपूर्णार्थं वाक्यमेवाभिधीयते ।”—वाक्यप० टी० २।३१७ । ‘तस्य पदान्तरनिरपेक्षस्य पदत्वाद् अन्यथा आख्यातपदाभावप्रसङ्गात् । पदान्तरसापेक्षस्यापि कचिन्निरपेक्षत्वाभावे वाक्यत्वविरोधात् प्रकृतार्थापरिसमाप्ते । निराकाङ्क्षस्य तु वाक्यलक्षणयोगादुपपन्नं वाक्यत्वम् ।”—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । (९) जैनमतः । (१०) आख्यातपदस्य ।

‘सङ्घातो वाक्यम्’ इत्यत्रापि वर्णानाम्, पदानां वा सङ्घातो वाक्यं स्यात् ? प्रथमपक्षे पदाय दत्तो जलाञ्जलिः । द्वितीयपक्षे तु देशकृतः, कालकृतो वा पदानां सङ्घातः स्यात् ? तत्रायः पक्षोऽयुक्तः; क्रमोत्पन्नप्रध्वंसिनां तेषामेकस्मिन् देशे सकृदवस्थित्यभावतो देश-कृतसंघा[ता]संभवात् । द्वितीयपक्षे तु पदेभ्योऽसौ भिन्नः, अभिन्नो वा ? न तावदभिन्नोऽ-  
नंशः; तथाविधस्यास्याप्रतीतेः, वर्णान्तरवत् सङ्घातविरोधाच्च । अथ तेभ्योऽभिन्नोऽसौ; किं सर्वथा, कथञ्चिद्वा ? यदि सर्वथा; कथमसौ सङ्घातः सङ्घातिस्वरूपवत् ? अन्यथा प्रतिपदं सङ्घातप्रसङ्गः । न चैकं पदं सङ्घातो नाम अतिप्रसङ्गात् । अथ कथञ्चित् ; तदा जैनमतप्रसङ्गः, परस्परापेक्षाऽनाकाङ्क्षपदसमूहरूपतामापन्नवर्णानां कालप्रत्यासत्तिरूप-सङ्घातस्य कथञ्चिद्वर्णभ्यो भिन्नस्य जैनोक्तवाक्यलक्षणानतिक्रमात् । साकाङ्क्षाऽन्योन्या-  
पेक्षाणां तु तेषां वाक्यत्वे प्राक्प्रतिपादितदोषानुपपन्नः ।

एतेन ‘जातिः सङ्घातवर्तिनी वाक्यम्’ इत्यपि नोत्सृष्टम्; निरोक्ताङ्क्षाऽन्योन्या-

(१) सघातस्य स्वरूपम्—“केवलेन पदेनार्यो यावानेवाभिधीयते । वाक्यस्य तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम् ॥ सम्बन्धे सति यत्कन्यदाधिक्यमुपजायत । वाक्यार्थमेव त प्राहुरनेकपदसमूहम् ॥ केवल पद यस्यैकार्यस्य वाचकम् वाक्यस्यमपि तमेवाभिदधाति । तत समुदये पदाना परस्परान्वये पदार्थदग्नाद् यदाधिक्य समं स वाक्यार्थः । उक्तञ्च—यदत्राधिक्य वाक्यार्थं स इति । अनेकपद-समूहमित्यनेन सघातो वाक्यमिति दर्शितम् ।”—वाक्यप० टी० २।४२ । “यथा सावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित् । अयं वन्त समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते ॥”—वाक्यप० २।५५ । (२) तुलना—“सघातो वाक्यमित्यत्रापि परस्परापेक्षाणा पदानामनपेक्षाणा वा ? प्रथमपक्षे निराकाङ्क्षत्वे अस्म-त्पक्षसिद्धि साकाङ्क्षत्वे वाक्यत्वविरोधः । द्वितीयविकल्पे अतिप्रसङ्गः ।”—अष्टसह० पृ० २८५ । स्वा० १० पृ० ६४४ । (३) “दिगद्वय कालकृतो वा वर्णाना सघात स्यात् ।”—प्रमेयक० पृ० ८५९ । (४) पदानाम् । (५) “न वर्णभ्यो भिन्न सघातोऽनस्य प्रतीतिमार्गवितारी सघातविरोधाद् वर्णान्तरवत् । नापि ततोऽन्यान्तरमव सघातः, प्रतिवर्णसघातप्रसङ्गान् । न चैको वर्णं सघातो नवेत्—तत्रैकार्यलो० पृ० ४२६ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । (६) पदानाम् । (७) पदान्तरसाकाङ्क्षत्वे वाक्यागारिसमाप्ति, अन्योऽज्ञानपक्षत्वे तु पदत्वमव स्यात् वाक्यत्वमिति । (८) “अयं जाति सघातवर्तिनीत्युद्दिष्टस्य जातिस्फोटस्यापि दृष्टान्तप्रदर्शनद्वारेण स्फुटीकरणावाह—यथा ‘क्षेपविशेषेऽपि कर्मभेदो न गृह्यत । आवृत्ती ध्वज्यत जाति कर्मभिर्भ्रमणादिभि ॥ वर्णवाक्यपदध्वेव तुल्योपध्वज्जना धृति । अत्यन्तभेदे तत्त्वस्य संरूपव प्रतीयत ॥ इह भ्रमणलक्षणा कर्मजातिर्वया विविष्टप्रत्ययत्नजनितव क्षपविशेषणानिव्यक्ता प्रत्येकपरिसमाप्तत्वान् । न च पादवत्त्वेन सा विज्ञायत । भ्रमणानामावृत्ती तु भ्रमण भ्रमण प्रति प्रतिपत्ता सा गृह्यत । एव वर्णपदवाक्येषु धृतिरनिव्यञ्जनो ध्वनिरत्यन्तभेदे तत्त्वस्य वर्णपदवाक्यस्फोटलक्षणस्य सारनिव्यञ्जिका संरूपेव प्रतीयत, परमाण्वतो भिन्नापि सती । कोदुर्ग ? तुल्यनिव्यञ्जनमिति । तुल्य सदृश उन्व्यञ्जन स्थानकरणाभिधातलक्षणो यस्या सा तयेति । तेन निम्नप्रत्ययसिद्धिर्ध्वन्यनिव्यञ्जकोऽयं जातिस्फोटो विवक्ष्य एववि बोद्धव्यम् । युक्तञ्चेत् । यथा निरागत्यास्य स्फोटस्य पूर्वपरमाव उगाधित्वो न स्वतो नित्यत्वादिति ।”—वाक्यप०, टी० २।२०, २१ । (९) तुलना—‘निराकाङ्क्षपरस्परापेक्षपदसघातवर्तिन्या सदृशपरिणामलक्षणाया जानवार्थ-त्वपटना ।”—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० ।

१-इतकमात्म-आ०, व० । २-यस्याप्रतो-आ० । ३ कथञ्चिद्वर्णभ्यो व० ।

पेक्षपदसङ्घातवर्तिन्याः सदृशपरिणामलक्षणायाः कथञ्चित्ततोऽभिन्नायाः जातेर्वाक्यत्व-  
घटनान्, अन्यथा सङ्घातवाक्यपक्षोक्तोऽशेषदोषानुपपन्नः ।

‘एकोऽनैवयवः शब्दो वाक्यम्’ इत्यपि मनोरथमात्रम्; तस्य अप्रमाणकत्वात् ।  
तदप्रमाणकत्वञ्च शब्दस्फोटप्राहुरप्रमाणानां निषेत्स्यमानत्वात् सुप्रसिद्धम् ।

‘क्रमो वाक्यम्’ इत्येतत्तु सङ्घातवाक्यपक्षान्नातिशेते इति तदोपेणैव दुष्टं द्रष्टव्यम् ।

‘बुद्धिर्वाक्यम्’ इत्यत्रापि भाववाक्यम्, द्रव्यवाक्यं वा सा स्यात् ? प्रथमकल्पनायां

(१) सघातात् । (२) “स्फोटश्च द्विविध—बाह्य आभ्यन्तरश्चेति । बाह्योऽपि जातिव्यक्तिभेदेन  
द्विविधः । तत्र जातिलक्षणस्य जाति सघातवर्तिनीति, व्यक्तिलक्षणस्यैकोऽनवयव शब्द इति । आभ्य-  
न्तरस्य तु बुद्धयनुसंहृतिरित्यनेनोद्देशः ।”—वाक्यप० टी० २।२ । “टीकाकारश्चामुमेव पक्षं सूत्रकारा-  
भिप्रायसमाश्रयणेन युक्तियुक्तं मन्यमानो बहुरूप आन्तरो वा निविभाग शब्दार्थमयो बोधस्वभाव शब्दः  
स्फोटलक्षण एव वाक्यमिति प्रमेण व्याजिहीर्षुं चित्रज्ञानचित्ररूपदृष्टान्तप्रदर्शनं पूर्वगुपक्रमते । तत्र चित्र-  
बुद्धिदृष्टान्तप्रदर्शनार्थमह—यथैक एव सर्वार्थप्रत्यय प्रविभज्यते । दृश्यभेदानुकारेण वाक्यार्थानुगमस्तथा ॥  
चित्रम्यैकस्वरूपस्य यथा भेदनिदर्शने । नीलोदभि समाख्यान क्रियते भिन्नलक्षणे ॥ तथैवैकस्य वाक्यस्य  
निराकाङ्क्षस्य सर्वतः । शब्दान्तरैः समाख्यान साकाङ्क्षंरनुगम्यते ॥ शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽ  
र्थस्य भविष्यति । विभागं प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते ॥”—वाक्यप० २।७-९, १३ । “नित्यत्वे समुदा-  
यानां जातेर्वा परिकल्पने । एकस्यैवार्थतामाह वाक्यस्याव्यभिचारिणीम् ॥”—वाक्यप० २।५७ । (३)  
‘श्रोनबुद्धौ तदप्रतिभासनात् तदप्रतिबद्धलिगाभावात्’—अष्टसह० पृ० २८५ । (४) “क्रमपक्ष व्याख्यातु-  
माह—सन्त एव विशेषा ये पदार्थेषु व्यवस्थिता । ते क्रमादनुगम्यते न वाक्यमभिधायकम् ॥ त्रमव्यतिरे-  
केण न शब्दात्मकं न वाक्यमभिधायकमस्तीत्युच्यते । शब्दानां क्रममात्रे च नान्यं शब्दोऽस्ति वाचकः । क्रमो  
हि धर्मं कालस्य तेन वाक्यं न विद्यते ॥ वर्णानां च पदानाञ्च क्रममात्रनिवेशिनी । पदाख्या वाक्यसमा च  
शब्दत्व नेष्यते तयोः ॥ अनर्थकान्युपायत्वात्पदार्थेनार्थवन्ति वा । त्रमेणोच्चारितास्त्याहुर्वावयार्थं भिन्नलक्ष-  
णम् ॥”—वाक्यप० २।५०-५२, ५६ । (५) तुलना—‘वार्थं पदक्रमो वाक्यं यथा वर्णक्रम पदम् ।’—मी०  
इलो० वाक्या० श्लो० ५३ । ‘वर्णमात्रक्रमस्य वाक्यत्वप्रसङ्गात् पदरूपतामापन्नानां वर्णविशेषाणां त्रमो  
वाक्यमिति चेत्, स यदि परस्परपेक्षाणां निराकाङ्क्षस्तदा समुदाय एव, त्रममुवा कालप्रत्यासत्तेरेव  
समुदायत्वात्, सहभुवामेव देशप्रत्यासत्ते समुदायत्वव्यवस्थिते । अथ साकाङ्क्षः ; तदा न वाक्यमर्थवा-  
क्यवत् । परस्परनिपेक्षाणां तु क्रमस्य वाक्यत्वेऽतिप्रसङ्ग एव ।’—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ०  
४६० । ह्या० १० पृ० ६४४ । (६) “इदानीमन्तरे वाऽनवयव बोधस्वभाव शब्दार्थमय निविभाग  
शब्दतत्त्वमिति यद्गीतं तदेव नादैवंहि प्रकाशितं वाक्यमाहुर्वाचार्थं इत्यन्तरं बुद्धयनुसंहृतिरितिमुद्दिष्ट  
व्याख्यातुमाह—यदन्तं शब्दतत्त्व तु नादेरेक प्रकाशितम् । तदाहुरपरे शब्द तस्य वाक्ये तथैकता ॥  
अर्थभानैस्तथा तेषामान्तरोर्ध्वं प्रकाशयते । एकस्यैवात्मनो भेदो शब्दार्थवृषयकस्थितो ॥ प्रकाशकप्र-  
काशयत्व कार्यकारणरूपता । अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा ॥”—वाक्यप० २।३०-३२ ।  
(७) तुलना—“बुद्ध्या न चोपसर्तुं क्रमो निष्कृष्य क्षयते । पदान्येव हि तद्वन्ति वर्तन्ते श्रोनबुद्धिवत् ।  
तावत्स्वेव पदेऽन्यं क्रमोऽन्यश्च प्रतीयते । तत्र मावत्क्रमं भेदो वाक्यार्थस्य प्रसज्यते । किञ्च,  
वर्णक्रमस्य पदत्व युज्येतापि, स ह्यर्थप्रतीत्यौपयिकं त्रमान्तरे अर्थप्रतीत्यभावात् । पदक्रमस्य तु वाक्या-  
र्थप्रत्ययानौपयिकस्य कथं वाक्यत्वम् ? औपयिकत्वे वा क्रमभेदे वाक्यार्थभेद स्यादित्याह तावत्सु इति ।”  
—मी० इलो० न्यायर० वाक्या० श्लो० ५३-५५ । “बुद्धिर्वाक्यमित्यत्रापि भाववाक्यं द्रव्यवाक्यं वा ?”  
—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० ।

सिद्धसाध्यता, पूर्वपूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनो वाक्यार्थग्रहणपरिणतस्य अन्यवर्ण-  
श्रवणानन्तरं वाक्यार्थावबोधहेतुर्वृद्ध्यात्मनो भाववाक्यस्य अस्माभिरपीष्टत्वात् । द्रव्य-  
वाक्यरूपतां तु बुद्धेः कः सुवीः श्रद्धधीत प्रतीतिविरोधात् ?

एतेन 'अनुसंहतिर्वाक्यम्' इत्यपि चिन्तितम्; यथोक्तपदानुसंहतिरूपस्य 'चेतसि  
परिस्फुरतो भाववाक्यस्य परामर्शात्मनोऽभीष्टत्वात् ।

'आद्यं पदमन्त्यमन्यद्वा पदान्तरापेक्षं वाक्यम्' इत्यपि नोक्तवाक्याद् भिद्यते;  
परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा पदस्य वार्ताप्युच्छिद्येत ।

"येऽपि मन्यन्ते-पदान्येव पदार्थप्रतिपादनपूर्वकं वाक्यार्थावबोधं विदधानानि  
वाक्यव्यपदेशं प्रतिपद्यन्ते-

- (१) "सहृतसकलकर्मस्यैकस्यादेशप्रदेशत्वेऽन्यन्तरास्माज्जन्तयामित्येवमाख्यायमानस्य प्रतिप्रा-  
णिकृते पदतत्त्वस्यास्तरचिह्नादिभिरिवाऽनयाभूतः कर्मवद्भिर्भगैर्व्योऽय बुद्धेरनुसहार कर्मदाः  
पूर्वपूर्वभागग्राहिणीभि बुद्धिभिर्जनितो य संस्कारस्त उपरतस्य स्मरणस्य बलादन्त्यवर्णभागग्रहण-  
तुल्यकाल स वाक्यमिति ।"-स्या० २० पृ० ६४६ । (२) तुलना-"भाववाक्यस्य यथोक्तपदानु-  
संहतिरूपस्य चेतसि परिस्फुरतोऽभीष्टत्वात् ।"-अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० ।  
(३) "नियत साधने साध्य क्रिया नियतसाधना । स सन्निधानमानेन नियम सन् प्रकाशते ॥-साधन  
साध्यञ्च परस्पर नियतमेव, केवलमाकाङ्क्षादिबशादितरपदार्थसन्निधाने सति नियमः सन्नेव प्रकाशते  
इत्याक्षिप्त्पदान्तराणि पदान्येव वाक्यम्, पदार्थाश्च वाक्यार्थ इति व्यपतिरिक्त सभातपक्षोऽयम् । "  
गुणभावेन साकारं तत्र नाम प्रवर्तत । साध्यत्वेन निमित्तानि क्रियापदमपेक्षते ॥"-वाक्यप० २।४८-  
४९ । (४) तुलना-"एवमाद्यन्तसर्वेषां पृथक् सभातकल्पने । अन्योऽन्यानुग्रहाभावात् पदाना नास्ति  
वाक्यता ॥ अथ यदि पद सर्वे सदृश्येत विहाय । ततस्तदेव वाक्य स्यादस्यैव चोत्तमो गुण ॥ एव-  
मन्येषु सर्वेषु पदग्रभूतेष्वस्मिन् । स्वतन्त्रेषु हि वाक्यत्व कथञ्चिन्नोपलक्षितम् ॥"-मी० श्लो० वाक्या०  
श्लो० ४९-५१ । "इत्यपि नाकलङ्कोक्तवाक्याद् भिद्यते, तथा परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराका-  
ङ्क्षस्य वाक्यत्वनिर्दे ।"-अष्टसह० पृ० ३८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० । स्या० २० पृ० ६४६ ।  
(५) मीमांसका । "तानपह्य पदार्थान् पार्थगर्थेन वाक्यमर्थान्तरप्रसिद्धम् । कुत ? प्रमाणाभावात् ।  
न च किंचन प्रमाणमस्ति येन प्रमिमोमेहे । न ह्यनपेक्षितपदार्थस्य वाक्यान्त्यवर्णस्य पूर्ववर्णजनितसंस्का-  
रहितस्य शक्तिरस्ति पदार्थेभ्योऽन्तरे वतिनुमिति । पदानि हि स्व स्व पदार्थमभिधाय निवृत्तध्या-  
पाराणि । अवेशानां पदार्था अवगता सन्त वाक्यार्थं गमयन्ति । कथम् ? यत्र हि शुकल इति वा वृष्ण  
इति गुण प्रतीतो भवति, भवति सत्त्वसावलं गुणवति प्रत्ययमाधातुम् । तेन गुणवति प्रत्ययमिच्छन्त  
केवलं गुणवचनमुच्चारयन्ति । सम्प्रत्यत एषा यथा सकल्पितोऽभिप्रायः, भवत्यति विधिप्राप्त्यर्थप्रत्ययः ।  
विधिप्राप्त्यर्थप्रत्ययश्च वाक्यार्थः ।"-शाबरभा० १।१।२५ । "सासाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् ।  
यमास्तवापि नैतस्मिन् पदवस्यन्ति निष्पत्ते । वाक्यार्थमित्ये तेषां प्रवृत्तो नान्तरीयवम् । पाके  
ज्वा उव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥"-मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ३४२-४३ । "उस्मात्पदमिहितं  
पदार्थं लक्षणया वाक्यार्थं प्रतिपादयति ।"-शाबरदी० पृ० ६०४ । "उस्मात्त वाक्य न पदानि साक्षात्  
वाक्यार्थवृद्धिं जनयन्ति किन्तु । पदस्वरूपानिहितं पदार्थं सल्लक्ष्यतथाविधि सिद्धमेतत् ॥"-  
श्याय० भा० पृ० १०२ ।

“पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं तद्भावभावतः ।” [ मो० श्लो० वाक्या० श्लो० १११ ]

“पदार्थपूर्वकस्तस्माद् वाक्यार्थोऽयमस्तिथः ।” [ मो० श्लो० वाक्या० श्लो० ३३६ ]

इत्यभिधानात्; तैरपि विवक्षितपदानामन्योन्यापेक्षाणां पदान्तरानाकाङ्क्षाणां वाक्यार्थ-  
प्रतिपत्तिहेतुत्वमुच्यते, तद्विपरीतानां वा ? तत्र उत्तरपक्षे अतिप्रसङ्गः । प्रथमपक्षे तु  
अन्धसर्पविलप्रवेशन्यायेन अस्मदुक्तवाक्यलक्षणानुसरणमेव ।

किञ्च, वाक्यार्थः पदार्थादन्यः, अनन्यो वा ? यदि अनन्यः, तदा पदार्थ एवाप्तौ  
न वाक्यार्थः । तत्रैव ‘वाक्यार्थः’ इति नामकरणे स्वैकम्बलस्य ‘कूर्दालिका’ इति नामकृतं  
स्यात् । अथान्योऽसौ क्रियाकारकसंसर्गरूपः; ननु तथाभूतोऽसौ किं नित्यः, अनित्यो  
वा ? यद्यनित्यः, किं विवक्षितपदार्थैर्जन्यते, पदार्थान्तरैर्वा ? पदार्थान्तरोत्पाद्यत्वे स्वसि-  
द्धान्तविरोधः । विवक्षितपदार्थोत्पाद्यत्वे त एव उत्पादकाः त एव ज्ञापकाः स्युः,  
तत्र च किं पूर्वं ज्ञापयन्ति पश्चादुत्पादयन्ति, किं वा पूर्वमुत्पादयन्ति तदनु ज्ञापयन्ति ?  
प्रथमकल्पनायाम् असति वाक्यार्थे मेये कं ते ज्ञानमुत्पादयेयुः ? उत्पादयता वा, तेषां  
न तज्ज्ञानं प्रमाणम् अविद्यमानविषयत्वात् केशोष्णुकादिज्ञानवत् । अथ असन्त-  
मपि “तं कर्तव्यतया ते प्रतिपादयन्ति तेनायमदोषः, ननु “किंस्वरूपेयं तत्कर्तव्यतया  
नामै-भावरूपा, अभावरूपा, उभयरूपा, अनुभयरूपा च ? यदि भावरूपा, तर्हि विव-

(१) “सिद्धान्तमाह-अत्राभिधीयते यद्यप्यस्ति मूलान्तरं न न । पदार्थानां तु मूलत्व इष्टं  
तद्भावभावतः । सत्यं न वाचकं वाक्यं वाक्यार्थस्योपपद्यते ॥ यद्यपि प्रत्येकं पदं सहस्रानि वा साक्षात्  
मूलं तथा जातिं सम्बन्धज्ञानं सावयवविनिर्वायवाक्यानि तत्रापि पदार्थां पदैः प्रत्याभिता प्रत्यासत्त्यपेक्षया  
योग्यत्वसनाया मूलं भविष्यति, तद्भावे वाक्यार्थप्रत्ययस्य भवादिति ।”-मो० श्लो० न्याय० वाक्या०  
श्लो० ११०-१११ । उद्भूतोऽयम्-सम्पत्ति० टी० पृ० ७४३ । ‘तद्भावभावतः’-प्रमेयक० पृ० ४६१ ।  
(२) अन्योन्यापेक्षत्वे पदत्वमेव स्थानं वाक्यत्वम्, पदान्तराकाङ्क्षत्वे वाक्याऽपरिसमाप्तिः । (३)  
“तेष्वन्धसर्पविलप्रवेश”-प्रमेयक० पृ० ४६१ । (४) तुलना-“यद्यसौ पदार्थाभिन्नं तदा पदार्थ एव  
स्यात् वाक्यार्थं तथा च कुत पदार्थगम्यता ? अथ क्रियाकारकसंसर्गरूपं पदार्थादियन्तरं वाक्यार्थं,  
नन्वसावपि यद्यनित्यं तदा कारकसंयोग, पदार्थसंयोगो वा ?”-सम्पत्ति० टी० पृ० ७४२ । (५)  
“स्वैकम्बलस्य कूर्दालिकेति नामान्तरकरणमात्रं स्यात् ।”-अष्टसह० पृ० ९ । (६) ‘पदार्थोत्पाद्यत्वेऽ-  
पि य एव पदार्थास्तस्योत्पादकास्त एव यदि ज्ञापकाः, तदा पूर्वं किं ज्ञापका उत उत्पादका इति वक्त-  
व्यम् ।”-सम्पत्ति० टी० पृ० ७४२ । (७) विवक्षितपदार्थाः । (८) क्रियाकारकसंसर्गम् । “भावनं  
हि वाक्यार्थं सर्वत्राख्यातवतया । अनेकगुणजात्यादिकारकाद्यनुरिञ्जितम् । पदार्थाहितसंस्कारचित्रपिण्ड-  
प्रसूतया । पदार्थपदबुद्धिना संसर्गस्तदपेक्षया ॥”-मी० श्लो० वाक्य० श्लो० ३३०-३३१ । (९)  
“कर्तव्यतया ते तं ज्ञापयन्तीति चेत्, तस्यापि भावाभावोभयानुभयविकल्पानन्तरमात्रम् ।”-सम्पत्ति०  
टी० पृ० ७४२ । (१०) ‘आद्यविकल्पे तत्कर्तव्यतायां भावस्वभावतया विद्यमानवाक्यार्थविषया चोदना  
स्यात्, तेषां च विद्यनोपलम्भनत्वं तत्सम्प्रयोगजत्वोपपत्तौ अद्यतवत् भावना अर्थविषया स्यात् ।”-  
सम्पत्ति० टी० पृ० ७४२ ।

१ तद्भावतः य० । २ कृते य० । ३-किरूपेयं य०, य० । ४ तदा विद्यमानार्थ-य०,  
तथा विद्यमानार्थ-य० ।



युगपदुत्पन्नानां तेषां समुदायकल्पना युक्ता; एकपुरुषापेक्षया युगपत्तदुत्पत्तेरेवाऽसंभवात्, प्रतिनियतस्थानकरणप्रयत्नप्रभवत्वात्तेषाम् । न च विभिन्नपुरुषप्रयुक्तगकारौकारविसर्जनीयानां समुदायेऽपि अर्थप्रतिपादकत्वं प्रतीयते; प्रतिनियतवर्णक्रमप्रतिपत्त्युत्तरकालभावित्वेन शब्दप्रतिपत्तेः प्रतिभासनात् ।

- 5 न च अन्त्यो वर्णः पूर्ववर्णानुगृहीतो वर्णानां क्रमोत्पादे सति अर्थप्रतिपादकः; पूर्ववर्णानाम् अन्त्यवर्णं प्रति अनुग्राहकत्वानुपपत्तेः । तद्वि अन्त्यवर्णं प्रति जनकत्वं तेषां स्यात्, अर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं वा ? न तावज्जनकत्वम्; वर्णाद् वर्णोत्पत्तेरभावात् प्रतिनियतस्थानकरणादिसाध्यत्वात्तस्याः, वर्णाभावेऽपि आद्यवर्णोत्पत्तिप्रतीतिश्च । नापि अर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं तेषामन्त्यवर्णानुग्राहकत्वम्; असतां सहकारित्वस्यैवासंभ-  
10 वात् । यथा च अन्त्यवर्णं प्रति पूर्ववर्णाः सहकारित्वं न प्रतिपद्यन्ते तथा तैज्जनित-

स्फुटीभवत्यस्मादर्थं इति स्फोटोऽर्थप्रत्यायक इति स्फोटशब्दार्थमुभयया निराहु ।—सर्वद० पृ० ३०० । “वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षं तिष्ठतीति मतस्त्विति । यद्यपि वर्णस्फोट पदस्फोट वाक्यस्फोटः अक्षण्ड-पदवाक्यस्फोटौ वर्णपदवाक्यभेदेन त्रयो जातिस्फोटाः इत्यप्यौ पक्षा सिद्धान्तसिद्धा इति वाक्यग्रहणम-नर्पक दुरर्थकञ्च, तथापि वाक्यस्फोटोतिरिक्तानामन्येषामप्यवास्तवबोधनाय तदुपादनमत एवाह-अतिनिष्कर्षं इति ।”—वैयाकरणभू० पृ० २९४ । परमलघु० पृ० २ । “तावदुत्पद्यमानादव्यङ्ग्य शब्द स्फोटोऽस्मिन्नेव ग्रह्यरूपः निरपदश्च ।”—परमलघु० पृ० २८ । (१०) “प्रत्येकमप्रत्यायकत्वात् साहित्याभावात् नियतक्रमवर्तिनामयोगपद्येन सम्भूयकारित्वानुपपत्तेः, नानावक्तृप्रयुक्तव्यस्य प्रत्याय-दशनात् त्रयविपर्यये योगपद्ये च । तस्माद् वर्णव्यतिरेको वर्णम्योऽसम्भवन्नर्थप्रत्यय स्वनिमित्तमुपकल्प-यति ।”—स्फोटसि० पृ० २८ । “ते सत्वमी वर्णा प्रत्येक वाच्यविषया धियमादधीरन् नागदन्तका इव शिषयावलम्बनम्, महता वा प्रावाण इव पिठधारणम् ? न तावत्प्रथम कल्प, एकस्मादर्थप्रतीते-रनुसरते उत्पत्ती वा द्वितीयादीनामनुच्चारणप्रसङ्गः । वर्णानां तु योगपद्याभावोऽज्ञ, परस्परमनुग्रा-हानुपाहृत्वायोगात् समुदायि नार्थविषयमादधते ।”—योगभा० तत्त्वब० १।१७ । “वर्णानां प्रत्यक वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात् । आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे योगपद्येनोत्पत्त्य-भावात् । अनिव्यक्तिपक्षे तु त्रयणीवाभिव्यक्त्या समुदायाभावात् एकस्मृत्पुषाङ्गानां वाचकत्वे सरो रस इत्यादौ अर्थप्रतिपत्त्यविद्यप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्ता स्फोटो नादाभिध्यङ्ग्यो वाचकः ।”—महाभा० प्र० पृ० १६ । “अत्र तावद् गकारादरेरकस्मात्त्र वाच्यधी । उदति यदि बदलि प्रथमनैव गादिना ॥ वर्णोन्मत्तिरेनेह गवाद्ययानिधानत । उच्चारणं द्वितीयादिवर्णानां स्वाधिरर्थकम् ॥ तदुच्चारण-सामर्थ्यं नैकस्मात्ततोऽर्थधी । समुदायोऽपि वर्णेषु क्रमज्ञानेष्वसम्भवो । नानावक्तृप्रयुक्तैर्म्यो न च सा दृश्यन्त्यधी । योगपद्यपि वर्णम्यो नापि क्रमविपर्ययः ।”—स्फोट० न्या० पृ० २ । सर्वद० पृ० २९९ । (१) वर्णानाम् । (२) अनुग्राहकत्वम् । (३) पूर्ववर्णानाम् । (४) वर्णोत्पत्त । (५) पूर्ववर्णा-नाम् । (६) “एव पुनरित्यं सहायता, यदा न विसर्जनीयसमय वर्णान्तरापलम्भिरस्ति ? कार्यं खलु व्यापा-रतः सहायता, न चास्तनदानीं व्यापुनिरस्ति । स्वहान्त्रि च व्यापारस्तदानीमव प्रथमाग्नेदानीन्त-नरासोऽन्यतननिमित्तम् ।”—स्फोटसि० पृ० ३३ । “अमता पूर्ववर्णानां तदानीं व्यापुति वयम् । अमता-मपि साहाय्यं वर्णानां यदि रिद्यत ॥ केवन्मन्यप्रवाणमपि न वेदवानिषयो । —स्फोट० न्या० पृ० ४ । (७) पूर्ववर्णानिद्विज्ञापानि ।

संवेदनान्यपि तत्प्रभवसंस्काराश्च; 'तेषामपि तैत्कालेऽसत्त्वाऽविशेषात् ।

किञ्च, संवेदनप्रभवसंस्काराः स्योत्पादकसंवेदनविषये स्मृतिहेतवः न तु अर्धा-  
न्तरे ज्ञानमुत्पादयितुं समर्थाः । न खलु घटज्ञानप्रभवः संस्कारः पटे स्मृतिं विदधत्  
दृष्टः । न च तत्संस्कारप्रभवस्मृतीनां तत्सहायता युक्ता; तौसां युगपदुत्पत्त्यभावात्,  
अयुगपदुत्पन्नानाञ्च अयस्थित्यसंभवात् । न च अखिलसंस्कारप्रभवैका स्मृतिः संभवति; 5  
अन्योन्यविरुद्धानेकार्थानुभवप्रभवसंस्काराणामपि एकस्मृतिजनकत्वप्रसङ्गात् । न च  
अन्यवर्णानपेक्ष एव 'गौः' इत्यत्र अन्त्यो वर्णः अर्थप्रतिपादकः; पूर्ववर्णोच्चारणवैय-  
र्थ्यानुपङ्गात्, घटशब्दान्त्यव्यवस्थितस्याप्यस्य ककुदादिमर्थप्रतिपादकत्वप्रसङ्गाच्च ।  
तत्र वर्णाः समस्ता व्यस्ता वा अर्थप्रतिपादकाः संभवन्ति । अस्ति च गवादिशब्दे-  
भ्योऽर्थप्रतीतिः, अतस्तदन्यथानुपपत्त्या वर्णव्यतिरिक्तः अर्थप्रतीतिहेतुः स्फोटोऽभ्युप- 10

(१) पूर्ववर्णजनितसंवेदनप्रभवसंस्कारा । "अर्थधीकृत् सस्कारो न तच्छक्तिर्न तज्जधी । न  
तस्यापूर्वकपस्य कपक जनक फलम् ॥"—स्फोटसि० भा० पृ० १८ । (२) पूर्ववर्णजनितज्ञानानां  
तत्प्रभवसंस्काराणाञ्च । (३) अन्यवर्णकाले । (४) "संस्कारा खलु यदस्तूपलम्भसमावितास्मान् तत्रैव नियतनि-  
मित्तलब्धप्रतिबोधा धियमाविर्भावयन्ति नार्थान्तरे । न हि जानु गवावग्रहप्रत्ययप्रभावित संस्कारोऽव-  
स्मरणमुपकल्पयति ।"—स्फोटसि० पृ० ४४ । "स्मृतिफलप्रसवानुमितस्तु संस्कार इवकारणानुभववि-  
षयनिपतो न विषयान्तरे प्रत्ययमाधातुमुत्सहते, अन्यथा यस्किञ्चिदेवैकमनुभूय सर्वं सर्वं जानीया-  
दिति ।"—योगसू० तत्त्वबै० ३।१७ । "पूर्ववर्णग्रहणजसंस्कारसहितादन्यवर्णासदर्थधीरिति चेत्, तदपि  
न, वस्त्वन्तरग्रहणजस्य संस्कारस्य वस्त्वन्तरज्ञानजनकत्वादर्शनात् ।"—स्फोटसि० भा० पृ० १६ । (५)  
"नचैकस्मृत्युपादोहात् समुदायस्य सभव । वर्णेषु क्रमबद्धेषु युगपत्स्मृत्यसंभवात् । समवेदपि च तेष्वेव  
विपरीतक्रमेष्वपि गकारादिषु विज्ञान गौरित्येक प्रसज्यते ।"—स्फोट० न्या० पृ० १ । "अन्येस्तु सकल-  
वर्णोपलब्धिनिबन्धननिखिलभावनावीजजन्मा युगपदखिलवर्णरूपपरामर्शं चरमवर्णप्रत्यक्षोपलब्धिसम-  
नन्तर स्मरणैकरूपं सङ्गीर्यते, तमसमाधिगतात्मसु न युगपदनुस्मरणमित्यपि मिथ्या ।"—स्फोटसि० पृ०  
६१ । (६) "न च प्रत्येकवर्णानुभवजनितसंस्कारपिण्डलव्यजन्मस्मृतिदर्पणसमारोहिणो वर्णा समधिगत-  
सहभावा वाचका इति साम्प्रतम्, तमात्रमविपरीतरूपानुभूतानां तत्राविशेषणार्थधीजननप्रसङ्गात् ।"—  
योगसू० तत्त्वबै० पृ० ३२२ । "पूर्वोपलब्धिभेदेषु भवेदर्थस्य दर्शनम् । एकोपलब्धौ नैतेषां भेद कश्चन  
लभ्यते ॥ पूर्वोपलब्धयो हि क्रमविशेषकस्य परिगृहीताभिमतविपरीतानुपूर्व्या अक्रमादर्चकवस्तुप्रयुक्त-  
वर्णविषया विपरीताश्च न पश्चाद् भाविन्या समस्तवर्णविभासिन्यामुपलब्ध्वावन्विपरिवर्तमानान् वर्णा-  
त्मनो भिद्यन्ति ।"—स्फोटसि० पृ० ६५ । "एव तर्हि सर्वसंस्कारजा सकलवर्णाग्राहिण्येका स्मृतिरर्थ-  
धीहेतु, तदपि न, क्रमप्रत्यस्तमयेन जरापज्येत्यादावर्षाविशेषप्रसङ्गात् ।"—स्फोटसि० भा० पृ० १८ ।  
"तुल्यत्वाद् योगपक्षस्य तदा नार्थविधौ भिदा । सरोरसनदीदीनजरापज्यादिषु स्फुरेत् ॥"—स्फोट०  
न्या० पृ० १० । (७) "न चान्यवर्णमात्रस्य पुत्र सम्बन्धवेदनम् । अक्षवर्मातिवृत्तत्वाद् संस्कारस्य न  
तद्वत् ॥ विदितसङ्गतयो हि शब्दा यथास्वमर्थान् प्रकाशयन्ति । न चान्यवर्णमात्रमर्थसम्बन्धितया प्रति-  
पद्यन्ते पुरस्तात् ।"—स्फोटसि० पृ० १०५ । (८) "गौरव इति वा केवलोच्चारणे वा को विसर्जनी-  
यस्य भेद यत्कृतोऽर्थभेद प्रत्ययभावाभावी च ।"—स्फोटसि० पृ० ३३ । (९) विसर्जनीयस्य ।

मानरूपार्थगोचरा चोदना प्राप्ता । न च तत्रास्मात् प्रामाण्यमिष्टम्, अनिष्टसिद्धि-  
प्रसङ्गात् । विप्रपानस्य कर्त्तव्यता च स्ववचनरिद्धा । अभावरूपतायामपि तदेव  
दूषणम्, अस्यापि स्वरूपेणाभिद्यमानत्वात् । तद्वृत्तस्य सरविषाणप्रत् कर्त्तव्यताविरोधात् ।  
अभावे चोदनाया प्रामाण्यानभ्युपगमाच्च । उभयरूपतापि अनेनेन प्रत्युक्ता । अनुभ-  
यरूपताया तु चोदनाया निर्विपर्यत्यादप्रामाण्यमेव स्यात् । न च अनुभयरूपता एकस्थे-  
कदोषपन्ना, विधिप्रतिषेधधर्मयोरेकतरप्रतिषेधे अन्यतरविधेरवश्यभाविष्यात् । अथ पूर्व-  
मुत्पादयन्ति तदनु ज्ञापयन्ति, तर्हि विद्यमानविषयत्वात् तत्रास्या प्रामाण्यानुपपत्तिः ।  
एतेन निर्ययाकार्यपक्षः प्रत्युक्तः, विद्यमानार्थविषयतया अप्रामाण्यानुपपन्नाविशेषात् ।

किञ्च, प्रसिद्धे पदे धाक्ये वा पदार्थैवाक्यार्थाभिव्यक्तिरुक्तु युक्ता, नच तत्  
प्रभिद्वम् । तद्वि वर्णम्यो भिन्नम्, अभिन्नं वा स्यात् ? यद्यभिन्नम्, तदा वर्णा एव,  
पदधाक्यद्वयमेव वा । भेदऽपि तद् दृश्यम्, अदृश्यं वा ? अदृश्यत्वे ततोऽर्थप्रतीतिर्न  
स्यात् । अज्ञाताना ( ताञ्ज्ञा ) पदार्थप्रतीतायतिप्रसङ्गात्, प्रतीत्यनुपरमानुपपन्नाच्च ।  
नापि दृश्यम्, वर्णव्यतिरिक्तस्य तस्यानुपलम्भात् । नहि देवदत्तादिवर्णेषु तद्व्यतिरिक्त  
निरक्षमेक पद धाक्यं धोपलभामहे ।

किञ्च, तत् पद धाक्यं वा स्वातन्त्र्येण प्रतीयते, वर्णद्वारेण वा ? न तावत् स्वातन्त्र्येण,  
वर्णाऽश्रावितोऽपि पदधाक्यप्रतीतिप्रसङ्गात् । वर्णद्वारेणापि साधयवस्यास्य प्रतीति  
स्यात्, निरवयवस्य वा ? साधयवत्वे प्रागुक्तमेव पदधाक्यलक्षणमङ्गीकृतं स्यात्, अन्यो-  
न्यापेक्षाणा धन-पदान्तरानपेक्षणा कालप्रत्यासत्तिलक्षणस्य समूहस्यैव साधयवपद-  
धान्यरूपतोपपत्तेः । अथ निरवयवम्, तत्किं समस्तेभ्यो वर्णपदेभ्यः प्रतीयते, व्यस्ते  
भ्यो वा ? न तावत्समस्तेभ्यः, उच्चरितप्रध्वसिना "तेषां सामस्त्यासभवात् । नापि  
व्यस्तेभ्यः, प्रथमवर्णपदश्रवणकालेपि सकलपदवाक्यप्रतीतिप्रसङ्गतं शेषवर्णपदोच्चा-

(१) विद्यमानार्थः । (२) चोदनाया । (३) विद्यमानोपलम्भनत्वेन सत्प्रत्ययोगजत्वात्पत्त्या  
प्रत्यक्षमेव स्यात् । (४) अभावस्य तुच्छतया कतुमगते "तुच्छं वेऽपि स्वेन रूपेण विद्यमानत्वात्  
कन्यता"मभवात् । नचाभावविषय चोदनाया पर प्रामाण्यमभ्युपगम्यते अभावप्रमाणविषयत्वाच्च  
अभावस्य तद्विषयत्वे चोदनाया अनुवादकत्वात् अप्रामाण्यप्रसङ्गश्च । समति० टी० पृ० ७४२ । (५)  
अभावस्यापि । (६) अविद्यमानस्य । (७) विद्यमानाविषयत्वेन चोदनाया प्रत्यक्षाद्यवगतायगोचर-  
त्वात् अप्रामाण्यप्रसङ्गे । -समति० टी० पृ० ७४२ । (८) अथ नियो धाक्याय पदार्थं प्रतिपाद्यते  
नन्वेव विद्यमानाविषयगोचरत्वं चोदनाया स्यात् तथा च विकालान्यकायस्याविषयविज्ञानोत्पादिका  
चोदनं यन्मुपगमव्यापातः । -समति० टी० पृ० ७४२ । (९) प्रत्यक्षाद्यन्तगतत्वात् अपूर्वाद्यदोषकत्वा  
भावात् प्रामाण्यानुपपत्तिरिति भावः । (१०) पदम् । (११) अज्ञातपदस्य मुक्तमूर्च्छितादेश्चायप्रतीति  
स्यात् । (१२) अज्ञातनापदान्तरप्रतीतिरिति हि स्यामपि एकपदान्यप्रतीतिरिति नयस्यादानानपदात् पुनरथ  
प्रतीतिप्रसङ्ग इति प्रतीत्यनुपरम् । (१३) पदस्य । (१४) पदस्य वाक्यस्य वा । (१५) वर्णानाम् ।

१ अतायातान ज्ञापका-आ० अज्ञातापका-प्र० । २-वर्णप्र-व० । ३-तावत्प्रतिप्र-व० थ० ।

४ पदधाक्य थ० । ५ धोपलभा-व० धोपलभा-थ० । ६-तीत्य व० ।

रणवैयर्थ्यप्रसक्तेः । अथ सकलवर्णसंस्कारवत्या अन्त्यवर्णबुद्ध्या वाक्यावधारणमिष्यते; नन्वसौ बुद्धिः किं स्मरणम्, उत अध्यक्षम् ? न तावत् स्मरणम्; अंगृहीताऽन्त्यवर्णग्राहकत्वात् । नापि प्रत्यक्षम्; अविद्यमानपूर्ववर्णविषयत्वात् । अथ पूर्ववर्णस्मरण-अन्त्यवर्णग्रहणाभ्यामेकं विकल्पज्ञानं जन्यते, तेनैवधारणम्; नन्वेतत् प्रमाणम्, न वा ? प्रमाणञ्चेत्; किं प्रत्यक्षाद्यन्यतमम्, प्रमाणान्तरं वा ? न तावत् तदन्तरम्; प्रमाणसंख्या-व्याधातप्रसङ्गात् । नापि प्रत्यक्षाद्यन्यतमम्; तत्रै तर्ह्यन्यतरूपतायाः प्रत्यभिज्ञान-विचारावसरे प्रतिव्यूढत्वात् । अथ कल्पनाज्ञानमेवेदं न प्रमाणम्; कथमतस्तत्त्व-सिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ? वाक्यस्य वा काल्पनिकत्वानुपपन्नाद् वास्तवत्वानुपपत्तिः । ततो यथोक्तलक्षणमेव पदं वाक्यं वा अभ्युपगन्तव्यम् तस्यैव प्रसाधितप्रामाण्ये प्रत्यभिज्ञाने प्रतिभासनादिति ।

ननु वर्णपदवाक्यानामर्थप्रतिपादकत्वाभावात् तल्लक्षणप्रणयनमनुपपन्नम्; स्फोट एष हि अर्थप्रतिपादको न वर्णाः । 'ते हि समस्ताः, व्यस्ता वा स्फोट एवार्थप्रतिपाद- को न तु वर्णाः इति तत्प्रतिपादकाः स्युः ? यदि व्यस्ताः; तदा एकेनापि वर्णेन गवाद्यर्थ-वैमाकरणादीना पूर्व- प्रतिपत्तेः उत्पादितत्वात् द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यम् । अथ पदा- समस्ताः, तन्न, ऋमोत्पन्नप्रध्वंसिनां तेषां सामस्यासंभवात् । न च

(१) पूर्ववर्णबुद्धपगृहीतस्य अन्त्यवर्णस्य ग्राहकत्वान्नास्य स्मृतिरूपता, पूर्वाभुवनानुसारित्वा-त्स्मृते । (२) प्रत्यक्षस्य च विद्यमानार्थग्राहकत्वात् । (३) प्रत्यक्ष । (४) विकल्पज्ञानेन । (५) प्रत्यक्षस्मरणजनितविकल्पज्ञाने प्रत्यभिज्ञानरूपे । (६) प्रत्यक्षाद्यन्यतरूपताया । (७) पृ० ४१६ । (८) पूर्ववर्णस्मरण अन्त्यवर्णप्रत्यक्षजनिते । (९) "पद पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति, वर्णा एकसमयासभित्वात्परस्परनिरनुग्रहात्मान् । ते पदमसस्पृश्यानवस्थाप्य आविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते । वर्ण पुनरकैक पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचिता सङ्कारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद् वैद्वह्यमिवापन्न पूर्ववृत्तरेण उत्तरवृत्त पूर्ववर्ण विशेषेऽवस्थापित इत्येव बहवो वर्णा क्रमानुरोधिनोऽर्थसङ्केतनावाच्छिता इत्यन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृत्ता गकारोगारविसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति, नयेतेषामर्थसङ्केतेनावच्छिन्नानामुपसहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भरः तत्पद वाचक वाक्यस्य सकेत्यते । तदेक पदमेकबुद्धिविषय एकप्रमत्ताक्षिप्तमभागमक्रममवर्णद्वैतमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापित परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णरेवाभिधीयमाने श्रूयमाणेऽव द्योतुमि-रनादिवाग्व्यवहारवासनानुचिदया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्सप्रतिपत्त्या प्रतीयते ।"—योगभा० ३।१७ । तत्त्वच०, भास्वती, योगवा० ३।१७ । "नानेकावयव वाक्य पदं वा स्फोटवादिनाम् । निरस्तमेव पदत-त्त्वमेतत् ।"—स्फोटसि० का० २९, ३६ । "एकाकारविषया तावद्वर्णोऽप्यधिक पदम् ।"—स्फोट० भा० पृ० १ । गौरित्वादिपु विज्ञानमेक पदमिति स्फुटम् ।"—स्फोट० न्या० पृ० १ । "तत्त्वतस्तु वाक्यमे-वासपुण्ड्रमपराण्डकलवदविभाग मित्रार्थप्रतीतिहेतुभूत स्फोटाख्यमभ्युपगन्तव्यम् ।"—स्फोटप्र० । "इत्यन-वयव-प्रत्यस्तमितवर्णपदविभागो वाक्यस्फोट एव ध्येयान् ।"—स्फोटतत्त्वम् । "तस्मादेकवर्णात्मकोऽखण्ड-वाक्यस्फोटो वाचक इति सिद्धम् ।"—स्फोटच० । "वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्यः शब्द स्फोट इति तद्विदो वदन्ति । अत एव स्फुटयते व्यज्यते वर्णरिति स्फोटो वर्णाभिव्यङ्ग्यः, स्फुटति

गन्तव्यः, प्रत्यक्षतः तस्यैव अवभासमानत्वात् । विभिन्नतनुषु हि वर्णेषु अभिन्नाकारं श्रोत्रान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यध्यक्ष स्फोटसद्भावमेव अवभासयति । नहि तद् वर्णविपयम्; वर्णानामन्योन्यव्यावृत्तरूपतया अभिन्नाकारावभासिप्रत्यक्षोत्पादनसामर्थ्यासंभवात् । नापि सामान्यविपयम्; गकारौकारविसर्जनीयेषु वर्णत्वव्यतिरेकेण अपरसामान्यस्याऽसंभवात् । वर्णत्वस्य च प्रतिनियतककुदादिमदर्थप्रतिपादकत्वानुपपत्तेः । न चेदं भ्रान्तम्; अवाध्यमानत्वात् । न चावाध्यमानप्रत्ययगोचरस्यापि स्फोटस्य असत्त्वं युक्तम्; अययविद्रव्यादेरपि असत्त्वप्रसङ्गात् ।

नित्यभ्रासौ अभ्युपगन्तव्यः । अनित्यत्वे सङ्केतकालानुभूतस्य तदैव ध्वस्तत्वात् कालान्तरे देशान्तरे च गोशब्दभ्रवणात् ककुदादिमदर्थप्रतीतिर्न स्यात् । असङ्के-  
१० तिताच्छब्दात् अर्थप्रतीतरेसंभवात् । समवे वा द्वीपान्तरादागतस्य गोशब्दाद् गगार्थ-  
प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् सङ्केतकरणवैयर्थ्यं स्यात् । ननु 'देवदत्त गामभ्याज' इत्यादि वाक्य-  
स्फोट अन्तरालेष्वपि शब्दप्रतिपत्तयः संवेद्यन्ते अतस्तत्रापि तावदा (द्वा) स्फोटः कल्पनीयः तथा च स्वमतव्याघातः, तस्याऽऽरण्यस्यैकस्य तत्र प्रसिद्धेः; इत्यप्यचोदम्; अन्तरालप्रत्ययानां स्फोटाभिव्यक्तिहेतुतया विभिन्नस्फोटायोग्यत्वात् । यथैव हि पुनः पुनः

(१) "तत्र प्रत्यक्ष तावत्प्रसिद्धमेव, गौरित्युच्चारणे सत्येकमेवेदं पदमित्येकाकारविज्ञानोदयात् । न चेदं वर्णमात्रविषय भवितुमर्हति, तेषां भिन्नानामभ्रान्तैकाकारज्ञानविषयत्वायोगात् । न चेदं भ्रान्तम्, भ्रान्तिनिमित्ताभावात् ।"—स्फोटसि० भा० पृ० १ । "प्रत्यक्षज्ञाननियता व्यक्ताव्यक्तावभासिता । मानान्तरेषु ग्रहणमथवा नैव हि ग्रह ॥ इन्द्रिय हि व्यक्तावभासितोऽव्यक्तावभासिनश्च प्रत्ययस्य हेतु यथा दूराद् ग्रहणे मूढमार्थनिरूपणावाञ्च । लिङ्गशब्दादयस्तु निश्चितात्मानं प्रत्ययमुपजनयन्त्येकत्वं नैव वा तत्र व्यक्ताव्यक्तग्रहणद्विभेद । अर्थश्च शाब्दप्रत्ययावसेय, स्फोटात्मा तु प्रत्यक्षवेदनीय इति निरवयवम् ।"—स्फोटसि० पृ० १६९ । (२) "न च समुच्चयज्ञानोपापरोहिर्वर्णनिबन्धनार्थबोधाभिप्राय 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इति, नापि शब्दजात्यभिप्रायम् । तथाहि—नक्षिता जातिशब्दानां समुदायानुपातिता । जातिमाचक्षते ते हि व्यक्तिर्वा जातिसङ्गता ॥ न तावदिदं शब्दजात्यभिप्रायम् । न शब्दजातितोऽर्थप्रतीति, गवादवादिपदेषु तदविवक्षयाभिधेयाविशेषप्रसङ्गात् । नापि शब्दव्यक्त्यभिप्रायम्, तद्भेदात् गोशब्दादित्येकवचनानुपपत्तेः ।"—स्फोटसि० पृ० ७३ । (३) "अनादिनिधन शब्दब्रह्मतत्त्व यदक्षरम् ।"—वाक्यप० १।१ । (४) "यतः प्रत्येकमपि तेष्विक्ल स्फोटात्मानमभिव्यञ्जयन्ति । न चेतस्मादवैयर्थ्यम्, अभिव्यक्तिर्भेदात् । तथाहि—पूर्वं ध्वनय अनुपजातभावनाविशेषमनसः प्रतिपत्तु अव्यक्तरूपोपग्राहिणी उत्तरव्यक्तपरिच्छेदोत्पादानुगुणभावनाबीजवापिनी प्रख्या प्रादुर्भावयन्ति, पश्चिमस्तु पुरस्तन्ध्वनिनिबन्धनाव्यक्तपरिच्छेदप्रभावितसकलभावनाबीजसहकारि स्फुटतरविनिविष्टस्फोटविम्बमिव प्रत्ययमतिव्यक्ततरभूद्भावयन्ति । यथा रत्नपरीक्षिण परीक्षमाणस्य प्रथमसमयाधिगमानुपाख्यातमनुपाख्ययरूपप्रत्ययोपाहितसंस्काररूपाहितविशयाया बुद्धौ वक्ष्ये चरमे चेत्तसि चकास्ति रत्नतत्त्वम् ।"—स्फोटसि० पृ० १२९ । स्फोट० न्या० पृ० २० । स्फोटसि० भा० पृ० २१ । "अभिव्यञ्जकोऽपि प्रथमो ध्वनि स्फोटमस्फुटमभिव्यनक्ति, उत्तरोत्तराभिव्यञ्जकक्रमेण स्फुट स्फुटतर स्फुटतमम् । यथा स्वाध्याय सट्ट पठ्यमानो नावधार्यते, अम्यासनं तु स्फुटावसाय, यथा वा रत्नतत्त्व प्रथमप्रतीतो स्फुट न चकास्ति चरमे चेत्तसि यथावदभिव्यज्यते ।"—सर्वद० पृ० ३०३ ।

१-यप्यञ्च स्यात् ४० । २ तावद्वास्फो-य०, तावत्स्फो-आ० ।

रुच्चार्यमाणोऽनुवाकग्रन्थः श्लोको वा आवृत्या सुखेनैव अवधारयितुं शक्यते न तु सकृदुच्चरितः प्रतिगताऽऽवृत्तिः, तथैवायं स्फोटलक्षणः शब्दः अन्तरालप्रत्ययैः सत्य-प्रतिभासकल्पैः तद्ग्रहणानुगुणोपायभूतैः अभिव्यज्यते । अन्त्येन हि ध्वनिना सह पूर्वभाविभिर्नादैः आहितसंस्कारायां बुद्धौ अयं स्फुरन्नेव अवधार्यते । उक्तञ्च—

“यैथाऽनुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति । आवृत्या नैतु स ग्रन्थः प्रेत्यावृत्तिर्निरूप्यते ॥ ४

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्हेतूनानुगुणैस्तथा । ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

नादैर्नाहितवीजायामन्त्येन ध्वनिना सह । यैवृत्ति(त्)परिपाकाया बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥”

[ वाक्यप० १।८३-८५ ] इति ॥ छ ॥

(१) ऋषयजु सामसमूह-इत्यमरः । “वेदविशेष इति सूभूतिः”—शब्दकल्पद्रुमः । (२) व्याख्या—“सोढत्वमेकबुद्धिविषयत्वम्, एवं वर्णपदवाक्यविषया प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वर्ण-पदवाक्याख्यान् स्फोटान् पुन पुनराभिभावयन्तो बुद्धिष्वध्यारोपयन्ति नत्वेतावता आनन्त्य स्फोटानाम्, यथावृत्ती न श्लोकाद्यानन्त्यम् । तदेवाह—न तु प्रत्यावृत्या स ग्रन्थः श्लोकसमुदायात्मको भेदेन निरूप्यत इत्यर्थः । तत्रान्त्यया ध्वनिना सम्यग्बुद्धौ निवेशः । यच्चानुपगृहीतविशेषे बुद्धावसन्निविष्टं तावदनुपलब्धमेव । नहि तेन कश्चिदपि व्यवहारः प्रकल्प्यते ।”—वाक्यप० पु० टी० । वाक्यप० वृ० । “अनुवाक इति वैदिक वाक्यम्, सोढत्वमिति सोढुं शक्यत्वं बुद्ध्याक्रमणीयता स्वीकार्यत्वम्, येन स्वेच्छयाऽपि पठनीयो भवति । आवृत्येति जातावेकवचनम्, आवृत्तिरेकंकापि उपयुज्यते उत्तरीतरविशेषाधानाय, अन्यथा एकावृत्यैव सोढता स्यादिति । यथा ह्यनुवाकः श्लोको वा पुन पुनरावृत्या मुखेनावधारयितुं शक्यते । न च प्रत्यावृत्तिस्तन ईदृशी बुद्धिरुपजायते ययेद गृहीतमिदं नेति । अथ चानेकावृत्ती श्लोकाद्यवभासः स्पष्टः सवेद्यते तर्थायामपि शब्दात्मा पुन पुनरभिव्यक्तस्फोटरूपोऽवधार्यते, न च प्रत्यभिव्यक्तिस्तत्रेदृशी बुद्धिरुपजायते इदं गृहीतमिदं नेति । अथवाऽनेकाभिव्यक्तौ स्फोटावभासः स्पष्टः सवेद्यते ।”—स्या० १० पृ० ६५० । “अनुवाको वैदिक श्लोकस्तु लौकिकः, सोढत्व जितत्वं वशतामिति यावत्”—स्फोटसि० टी० पृ० १३२ । (३) “प्रत्यावृत्या”—वाक्यप०, “प्रत्यावृत्तिर्नि-वाक्यप० वृ०, स्फोटसि० । प्रकृतपाठ—स्या० १० । न्यायवि० वि० पृ० ५७६ B. । “प्रत्यावृत्ति-निरूप्यते”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३५९ । (४) “यथा श्लोक एकदा प्रकाशितोऽवधारितोऽन्यदा प्रकाशने स्ववधारणसहो भवति पुन पुन प्रकाशने स्ववधार्यते । तथा वाक्य पूर्वध्वनिभावानभिव्यक्तमपि नावधारितम्, तेन पूर्वपूर्ववाक्याभिव्यक्त्याहितैस्तु संस्कारैर्वाक्यावधारणं प्रति प्रत्ययभूतैरन्त्यवर्ण-श्रवणकाले तदवधार्यते, तस्माद्वर्णानुक्रमवताऽक्रमस्य वाक्यव्यक्तियुज्यत एव ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३५९ । “व्यक्तरूपग्रहणानुगुणा अनुपाख्येयाकारा (इदं तदिति तस्य बुद्ध्यारूढस्याख्यातुम-शक्यत्वात्) बहवः उपायभूता प्रत्यया ध्वनिभिः प्रकाशयमाने खण्डे समुत्पद्यमाना शब्दस्वरूपावग्रहहेतवो भवन्ति ।”—वाक्यप० वृ० । (५) “ग्रहणानुग्रहं”—ध्वन्या० टी० १।१६ । प्रकृतपाठ—स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्ववृ० टी०, स्या० १०, न्यायवि० वि० । (६) “नादैः शब्दात्मानमवधोतयद्भि यथोत्तरोत्कर्ष-णाधोयन्ते व्यक्तपरिच्छेदानुगुणमस्कारभावनावीजानि, ततश्चान्त्यो ध्वनिविशेष परिच्छेदसंस्कारभाव-नावीजवृत्तिलाभप्राप्तयोग्यतापरिपाकाया बुद्धौ उपग्रहेण शब्दस्वरूपाकार सन्निवेशयति ।”—वाक्यप० वृ० । वाक्यप० पु० टी० । “नादैर्द्राहितं”—वाक्यप०, स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्ववृ० टी०, स्या० १०, न्यायवि० वि०, सर्वद० । प्रकृतपाठ—तत्त्वसं० पृ० ७२२, प० पृ० ६३६ । प्रमेयक० पृ० ४५६ । (७) “आवृत्तः

१-वादकप्र-आ० । २-सक्योच्यते थ० । ३-अन्येन व०, थ० । ४-स्फोटत्व-जा०, व०, थ० ।

५-ननु आ०, व० । ६-इति साहित-थ० ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘स्फोट एव’ इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्;

स्फोटनिरसनपुरस्सर पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टाद् अन्त्यवर्णादर्थप्रतिपत्तेरुपपत्तिः स्फोटस्य अर्थ-  
वर्णानामेव अर्थप्रति- प्रतिपादकत्वानुपपत्तेः । न च अभावस्य सहकारित्वं न दृष्टम्;  
पादन्तप्रतिपादनम्— वृन्तफलसंयोगाभावस्य अप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजनने तद्वै-  
र्शनात्, तथा प्राक्तनसंयोगाभावविशिष्ट कर्म उत्तरसंयोगं कुर्वत् प्रतीतम्, परमाण्व-  
ग्निसंयोगश्च परमाणौ तद्वत्पूर्वरूपप्रध्वंससहकृतो रक्तामुत्पादयन् दृष्टः । यद्वा पूर्ववर्ण-  
विज्ञानाभावविशिष्टः तज्ज्ञानजनितसंस्कारसंयमेष्वो वा अन्त्यो वर्णः अर्थप्रतीत्युत्पादकः ।

परिपाको यस्या इति, परिपाक कार्योत्पादन प्रति विशिष्ट आत्मलाभ” —वाक्यप० वृ० टी० ।  
‘आवृत्तोऽभ्यस्त परिपाको यस्या सा तपोक्ता, प्रथमेन ध्वनिना किञ्चिद्भावनाबीजमाहितम्,  
तेन च कश्चित्परिपाक कार्यजननशक्तिविशेषः एव द्वितीयेनेति । यद्यपि परिपाका मित्रा, तथापि  
जानिमाश्रित्यावृत्तवाचोयुक्ति अष्टकृत्वो ब्राह्मणा भुक्तवन्त इतिवत् । आवृत्तेरस्यान्या  
व्याख्या—आवृत्तेन वावृत्त्या कपायपरिपाको यस्यामिति । क्वचित्तु आवृत्तीति पाठः । बुद्धावन्त करणे  
शब्दोऽवधार्यते अन्त्येन ध्वनिना सह, यदा अन्त्यो ध्वनिरवधार्यते तदा गौरित्येव शब्दोऽवधार्यत  
इत्यर्थः ।” —स्फोटसि० टी० पृ० १३२ । ‘आवृत्तपरि’ —वाक्यप०, स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्ववृ० टी०,  
तत्त्वसं० पृ० ७२२ । सन्मति० टी० पृ० ४१५ । स्फोटसं० पृ० ९ । ‘आवृत्तिपरि’ —तत्त्वसं० पृ०  
पृ० ६३६ । प्रमेयक० पृ० ४५६ । स्या० १० पृ० ६५० । ग्यायवि० वि० पृ० ५७६ B. । (८)  
‘शब्दोऽवधार्यते’ —वाक्यप० । स्फोटसि० । प्रमाणवा० स्ववृ० टी० । तत्त्वसं० पृ० । स्या० १० ।  
सर्वद० । प्रकृतपाठ —तत्त्वसं० पृ० ७२२ । प्रमेयक० । सन्मति० टी० । ग्यायवि० वि० ।

(१) पृ० ७४५ प० ११ । (२) तुलना—“अन्ये तु पूर्ववर्णानां तज्ज्ञानानाञ्च अतीतानामप्य-  
न्यवर्णसहकारित्वमन्वयव्यतिरेकोपपत्तेः । तथाहि—वर्तमानस्य कारणत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां विज्ञातम्  
एवमतीतस्यापि । यदि वा पूर्ववर्णविनाशास्तज्ज्ञानप्रध्वंसाच्च समीपवर्तिनोऽन्यवर्णसहकारिणः ।” —प्रज्ञ०  
व्यो० पृ० ५९५ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । “तत्र पूर्वं वर्णा अतीता अप्युपकरित्यन्ति, चरमवर्णस्तु वर्तमान  
हनीदृश एवायं काल्पनिक क्रियाक्षणसमूह इव वर्णसमूहोऽर्थप्रत्यायकः ।” —न्यायभा० पृ० ३७६ । “अर्थप्र-  
तिपत्तिस्तु उपलभ्यमानात् पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टादन्त्यवर्णात् । न चाभावस्य सहकारित्वं विवक्ष्यम्;  
वृन्तफलसंयोगाभावस्यैवाप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजनने, दृष्टञ्चोत्तरसंयोग विवक्ष्यत् प्राक्तनसं-  
योगाभावाविशष्ट कर्म, परमाण्वीनसंयोगश्च परमाणौ तद्वत्पूर्वरूपप्रध्वंसाविशिष्टो रततामुत्पादयन् ।”  
—सन्मति० टी० पृ० ४३३ । (३) सहकारित्वः । (४) परमाण्वुत्पत्तिसामरूपः । (५) “यद्वा  
उपलभ्यमानोऽन्यवर्ण पूर्ववर्णविज्ञानाभावविशिष्ट पदरूपतामासादयन् पदार्थं प्रतिपत्तिं जनयति ।” —  
सन्मति० टी० पृ० ४३३ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । (६) “पूर्ववर्णजनितमस्वारसहितोऽन्यो वर्ण  
प्रत्यायकः ।” —शाबरभा० १११।५ । “वाक्यस्यैषु खलु वर्णेष्वेव प्रत्ययान्ति । पदव्यवसायन स्मृत्या पदार्थं  
प्रतिपद्यत, पदसमूहप्रतिगम्यानाञ्च वाक्यं व्यवस्थिति, सम्बन्धाच्च पदार्थान् गृहीत्वा वाक्यार्थं प्रति-  
पद्यत ।” —न्यायभा० ३६२।९० । “अन्त्यवर्णप्रत्ययान् पूर्ववर्णप्रतिगम्यानाप्रत्ययान्पदार्थप्रत्ययः ।” —  
न्यायभा० पृ० ३१०—१६ । “पूर्ववर्णानुगृहीतस्यान्त्यवर्णस्य स्वरानुवचनहारिणोऽर्थप्रतिपादकत्वात् ।” —  
प्रज्ञ० व्यो० पृ० ५९५ । “यद्वा पूर्ववर्णसंस्कारस्मरणान्तरस्थापधान्त्यो वर्णं प्रत्यायकः ।” —प्रज्ञ०  
व्यो० पृ० २७० । प्रमेयक० पृ० ४५३ । “प्राक्तनवर्णसहितप्रत्ययसंस्कारसंयमेष्वो वा” —सन्मति० टी० पृ०  
४३३ । “ततश्च संस्कारसहितप्रत्ययसंस्कारसंयमेष्वो वा” —मुक्ता० तत्त्वसं० ।

ननु संस्कारस्य कथं विपर्ययान्तरे ज्ञानजनकत्वम् ? इत्यप्युच्यते ; इत्यमेव वाक्यार्थ-  
प्रतीतिरुपलब्धेः । पूर्ववर्णविज्ञानप्रभवसंस्कारश्च प्रैणालिकया अन्त्यवर्णसहायतां प्रति-  
पद्यते, तथाहि—प्रथमवर्णे तावद्विज्ञानम्, तेन च संस्कारो जन्यते, ततो द्वितीयवर्ण-  
विज्ञानम्, तेन च पूर्ववर्णज्ञानाद्विज्ञानसंस्कारसहितेन विशिष्टः संस्कारो जन्यते, एवं  
तृतीयादावपि योजनीयम्, यावदन्त्यः संस्कारः अर्थप्रतीतिजनकान्त्यवर्णसहायः । ४  
अथवा, ईन्द्रार्थोपलब्धिनिमित्तादृष्टप्रतिनियमाद् अविनष्टा एव पूर्वसंविदः तत्संस्का-  
राश्च अन्त्यवर्णसंस्कारं विदधति । तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसंन्यपेक्षो वा अन्त्यो

(१) अर्थप्रतीतो । यद्विषयको हि संस्कार तद्विषयमेव स्मृतिं विदधातीति नियमात् । शब्द-  
विषयकश्च संस्कार शब्दस्मृतिमेव विदधीत ननु अर्थप्रतीतिमिति भावः । तुलना—“यद्यपि स्मृतिहेतुत्वं  
संस्कारस्य व्यवस्थितम् । कार्यान्तरेषु सामर्थ्यं न तस्य प्रतिपिष्यते ॥ ननु हेतो कथं कार्यान्तरे सामर्थ्य-  
मत आह—यद्यपि इति । सम्भवति ह्येकस्याप्यनेकं सामर्थ्यं कर्मवत्सयोगविभागयोरिति ।”—मी० श्लो०  
व्याख्य० पृ० ५३६ । “यत् पदार्थं प्रतीत्यनुगुणतया प्रत्येकमनुभवंराधोयमाना वर्णविषया संस्कारा  
स्मृतिहेतुसंस्कारविलक्षणशक्तय एवाधीयन्ते, तथाभूतानामेव तेषां कार्याधिगमात् ”—प्रश्न० कण्ड० पृ०  
२७१ । (२) तुलना—“तथा चैनस्मिन् वर्णे ज्ञाते तेन क्रियते संस्कारः, पुनर्द्वितीयवर्णं ज्ञानम्, तेनापि  
पूर्ववर्णसंस्कारसहकारिणा संस्कार इति क्रमेणान्त्यवर्णज्ञानम्, तस्मात् पूर्वसंस्काराभिर्व्यवतावसोपवर्णा-  
नुस्मरणे सत्यन्त्यवर्णविषयप्रतिपत्तिः ।”—प्रश्न० व्यो० पृ० ५९५ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । सन्मति० टी०  
पृ० ४३३ । “स्मृतास्वरूपाण्येव सर्वपदानि वाक्यार्थमवगमयिष्यन्ति । तत्र चेयं कल्पना वर्णक्रमेण  
तावत् प्रथमपदज्ञानं तत् सकृत्स्मरणं संस्कारश्च युगपद् भवति । ज्ञानयोर्हि योगपक्षे शास्त्रे प्रतिपिद्धं  
न संस्कारज्ञानयोः । तत् पदार्थज्ञानं तेनापि संस्कारः, पुनर्वर्णक्रमेण द्वितीयपदज्ञानं तत् सकृत्स्मरणं  
पूर्वसंस्कारसहितं च तेन पटुतरं संस्कारं पुनः पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञानं सकृत्स्मरणं पूर्वसंस्कारा-  
पेक्षं पटुतरं संस्कारः, पुनः पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञानं सकृत्स्मरणं पूर्वसंस्कारापेक्षं पटुतरं संस्कारः  
इत्येव पदज्ञानजनिते पीचरे संस्कारे पदार्थज्ञानजनिते च तादृशि संस्कारे स्थिते अन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं  
पदसंस्कारात् सर्वपदविषयस्मृतिः, पदार्थसंस्काराच्च पदार्थविषया स्मृतिरिति संस्कारक्रमात् क्रमेण द्वे  
स्मृती भवतः । तत्रैकस्या स्मृतावुपाकृष्टं पदसमूहो वाक्यमितरस्यामुपाकृष्टं पदार्थसमूहो वाक्यार्थः ।  
अथवा कृतं स्मरणकल्पनया अन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं सकलपदपदार्थविषयो मानसोऽनुभवसायं शतादि-  
प्रत्ययस्थानीयो भविष्यति । तदुपाकृष्टानि पदानि वाक्यं तदुपाकृष्टञ्च पदार्थो वाक्यार्थः ।”—न्यायम० पृ०  
३९४-९५ । (३) तुलना—“अन्ये तु शब्दार्थोपभोगप्रापकादृष्टप्रतिनियमिता पूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारा  
पूर्ववर्णपेक्षे स्मरणमारभन्ते तत्सहकारी चान्त्यो वर्णं पदम् । यदि वा संस्कारमेकं विशिष्टमारभन्ते  
तस्माच्च पूर्ववर्णपेक्षे स्मरणमिति ।”—प्रश्न० व्यो० पृ० ५९५ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । सन्मति० टी०  
पृ० ४३३ । (४) तुलना—“यद्वा प्रत्यक्षतः पूर्वं नमज्ज्ञातेषु यत्परम् । समस्तवर्णविज्ञानं तदर्थज्ञानका-  
रणम् ॥ अन्त्यवर्णोऽपि विज्ञाते पूर्वसंस्कारकारितम् । स्मरणं योगपक्षेन सर्वेष्वन्ये प्रचक्षते । सर्वेषु  
चैवमर्थेषु मानसं सर्ववादिनाम् । इष्टं समुच्चयज्ञानं क्रमज्ञानेषु तत्स्ववि । न चेत्तदाऽभ्युपेयते रुमदृष्टेषु  
नैव हि । शतादिहप जायेत तत्समुच्चयवदर्थनम् ॥ तेन श्रोत्रमनोभ्यां स्यात् रुमाद्वर्णेषु यद्यपि । पूर्व-  
ज्ञानं परस्तात् युगपत्स्मरणं भवेत् ॥ तदाकृष्टास्ततो वर्णा न दूरेऽर्थावबोधनात् । शब्दादर्थमतस्तेन  
लौकिकैरभिधीयते ।”—मी० श्लो० स्फो० श्लो० १०९, ११२-११६ । तत्त्वसं० का० २७२-२५ ।

१-अन्ते ज्ञानाद्विज्ञानसंस्कारश्च आ० । २-वर्णनं ता-आ० । ३-तेन च पूर्ववर्णविज्ञानं तेन  
विशिष्टं संस्कारो व० । ४-यावदन्त्यसंस्कार-आ० ।



णापनयनम्, तदा एकत्रैकदा आवरणापगमे सर्वदेशावस्थितैः सर्वदोषलभ्येत नित्यत्व-  
व्यापित्वाभ्यामपगतावरणस्यास्य सर्वत्र सर्वदोषलभ्यस्वभावत्वात् । अनुपलभ्यस्वभावत्वे  
वा न कचित् केदाचित् केनचिदुपलभ्येत । अथ एकदेशेन आवरणापगमः क्रियते;  
नन्वेवम् आवृतानावृतत्वेनास्य सायवत्वसंभवात् कार्यत्वाऽनित्यत्वे स्याताम् । अथ  
अविनिर्भागत्वेन एकत्राऽनावृतोऽसौ सर्वत्राऽनावृतोऽभ्युपगम्यते; तर्हि तदवस्थः  
अशेषदेशावस्थितैरुपलब्धिप्रसङ्गः । यथा च निरवयवत्वात् एकत्राऽनावृतः सर्वत्राऽ-  
नावृतः, तथा एकत्र आवृतः सर्वत्राप्यावृत इति मनानपि नोपलभ्येत । अथ स्फोट-  
विषयसवेदनोत्पादस्वत्सत्कारः; सोऽप्ययुक्तः; वर्णानामर्थप्रतिपत्तिजननवत् स्फोटप्रतिपत्ति-  
जननेऽपि सामर्थ्यासंभवात्, स्थायस्य समानत्वात् ।

अथ मतम्—पूर्ववर्णश्रवणज्ञानाहितसंस्कारस्य आत्मनः अन्यवर्णश्रवणज्ञानानन्तर  
पदादिस्फोटस्य अभिव्यक्तेरयमदोषः, तदव्यपेक्षलम्; पदार्थप्रतिपत्तेरप्येव प्रसिद्धेः स्फोट-  
कल्पनानर्थक्यात् । चिदात्मन्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्यास्य अर्थप्रकाशनसामर्थ्यासंभवाच्च ।  
स एव हि चिदात्मा विशिष्टशक्तिः स्फोटोऽस्तु, स्फुटति<sup>१</sup> प्रकटीभवति अर्थोऽस्मिन्निति  
स्फोटः चिदात्मा । पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टः पदस्फोटः, वाक्यार्थ-  
ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टस्तु वाक्यस्फोटः, इति भावतः श्रुतज्ञानपरिणतस्य  
आत्मनस्तर्थाभिधानाविरोधात् ।

‘वायनः स्फोटाभिव्यञ्जकाः’ इत्यप्यसुन्दरम्, शब्दाभिव्यक्तिवत् स्फोटाभिव्यक्तेः  
तेभ्योऽनुपपत्तेः । तेषां तद्व्यञ्जकत्वे च वर्णकल्पनावैफल्यम्, स्फोटाभिव्यक्तौ अर्थप्रति-  
पत्तौ च र्थमीषामनुपयोगात् ।

एतेन ‘नादेनाहितवीजायाम्’ इत्यादि<sup>२</sup> प्रत्याख्यातम्, नित्यत्वमन्तरेणापि च

(१) स्फोटस्य । (२) स्फोट । (३) “तथैव पदार्थप्रतिपत्तिसिद्धे स्फोटपरिकल्पनानर्थक्यात् ।  
चिदात्मन्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्य स्फोटस्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यानुपपत्तेः । स एव चिदात्मा विशिष्टशक्तिः  
स्फोटोऽस्तु । स्फोटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन्निति स्फोटश्चिदात्मा । पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोप-  
शमविशिष्टः पदस्फोटः, वाक्यार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टो वाक्यस्फोट इति । प्रकरणा-  
द्विवाच्यापगतास्त्रादिरङ्गप्रविष्टाद्वाहासवित्त्वा स्फोटः प्रसिद्धो भवति, भावश्रुतज्ञानपरिणतस्मात्मन-  
स्तर्थाभिधानाविरोधात् ।”—मुक्तयनु० टी० पृ० ९७ । तत्त्वार्थसंक्षेपे पृ० ४२७ । प्रमेयक० पृ० ४५६ ।  
(४) तुलना—“स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टवत्पत्त्या च । वर्णादिभेदे क्रमेण गृह्यमाणा स्फोटं व्यञ्ज-  
यन्ति, स स्फोटोऽयं ध्वनिकीति गरीयसो न्ययना स्यात् ।”—ब्रह्म० शां० भा० १।३।२८ । (५) “स्फुट-  
त्यर्थोऽस्मिन् प्रकाश इति स्फोटः”—तत्त्वार्थसंक्षेपे पृ० ४२६ । (६) पदवाक्यादिस्फोटरूपेण । (७) ‘वाय-  
नाञ्च व्यञ्जकत्वपरित्यागे वर्णवैफल्यप्रसङ्गः ।”—सम्मति० टी० पृ० ४३४ । प्रमेयक० पृ० ४४६ । ‘न च  
स्फोटमभिव्यञ्जनि ध्वनय अवाद्युपप्रत्यक्षत्वान् गन्धवन् ।”—तत्त्वार्थभा० व्या० ५।२४ । (८) वर्णानाम् ।  
(९) पृ० ७६९ वं० ७ । (१०) तुलना—‘समस्तवर्णवैस्कारवत्यान्त्या वृद्धया वाक्यावधारणमित्यपि

१ ‘कदाचित्’ नास्ति ना०, थ० । २ नत्वर्थ ना०, व० । ३ अन्यवर्ण—थ० । ४ स्फोटति थ० ।

५ एतदन्तर्गतं पादं नास्ति ना० ।

अर्थप्रतिपत्तिर्यथा भवति तथा प्रतिपादितमेव ।

किञ्च, सिद्धे वर्णोत्पादात् वायूत्पादाद्वा पूर्वं स्फोटसद्भावे वर्णानां वायूनां वा तद्व्यञ्जकत्वं युक्तम्, न चास्य सद्भावः कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धः ।

यदप्युक्तम्—‘प्रत्यक्षतः तस्यैवावभासमानत्वात्’ इत्यादि; तदपि श्रद्धामात्रम्; घंटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तकालप्रत्यासत्तिविशिष्टवर्णव्यतिरेकेण स्फोटात्मनोऽर्थप्रकाशकस्य अध्यक्षगोचरचारितया [S] प्रतीतेः । न चाभिन्नप्रतिभासमात्रादर्थव्यवस्था युक्ता; अन्यथा दूरान्विडितरुनिकरे अभेदप्रतिभासादेकत्वव्यवस्था स्यात् । अथास्यैवाध्यमानत्वान्नैकत्वव्यवस्थापकत्वम्; तदन्यत्रापि समानम्, स्फोटप्रतिभासेऽपि अनेकधा बाधकप्रदर्शनात् ।

यद्यान्यदुक्तम्—‘यथानुवाकः श्लोको वा’ इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; दृष्टान्तदाष्टी-  
नित्कयोः वैषम्यात् । अनुवाक् (क) ग्रन्थादौ हि प्रत्यक्षतः प्रतीतिः, पुनः पुनरुच्चार्यमाणे चास्मिन् आवृत्त्या अत्रासेनेषाऽवधारणमनुभूयते, अतस्तत्र तैथौ तत्कल्पनं युक्तम्, स्फोटस्तु स्वप्नेऽपि न प्रतीयते, अतः कथं तस्य अन्तरालप्रत्ययैर्व्यञ्ज्यत्वकल्पना ज्ञायसी ।

मिथ्या, तस्यावर्णरूपसंस्पर्शिन कस्यचित्कदाचिदप्रतिपत्तेः । वर्णानुच्चारणोऽप्रतिपत्तेः कुतोऽ-  
कमेकबुद्धिप्राप्त्युक्तं नाम । नचान्त्यवर्णप्रतिपत्तेरुर्ध्वमन्यमशकल शब्दात्मानमुपलक्षयाम ।”-  
प्रमाणवा० स्व० १।२५३ ।

(१) “स्थितं च स्फोटस्य वर्णोच्चारणात् प्राक् सद्भावे वर्णानां वायूनां वा व्यञ्जकत्व  
परिकल्प्यते । नच तत्सद्भावः कुतश्चित्प्रमाणादवगतः ।”-सम्प्रति० टी० पृ० ४३४ । प्रमेयक० पृ०  
४५६ । (२) पृ० ७४८ पृ० १ । (३) “घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तानेकवर्णव्यतिरेकतस्तस्य स्फोटा-  
त्मनोऽर्थप्रत्यायकत्वं कस्य अध्यक्षप्रतिपत्तिविषयत्वेनाप्रतिभासनात् ”-सम्प्रति० टी० पृ० ४३५ ।  
प्रमेयक० पृ० ४५७ । (४) तुलना—“दूरदेशावस्थितस्य हि विरलपदार्थस्य घनरूपताप्रतीति उत्तर-  
कालभाविबलिष्ठविरलरूपताप्रत्ययेन बाध्यत इति तत्र घनत्वप्रतीतिविक्षाद् व्यवस्थाप्यमान घनत्व-  
मस्तववास्तव कः किमहम् । वर्णाद्यवयवाभासस्य तु नोत्तरकालिक बाधक किञ्चित्चेतयाम ।” ह्यो०  
१० पृ० ६५८ । (५) पृ० ७४९ पृ० ५ । (६) तुलना—“यतोऽनुवाकश्लोकी सावयवी वा स्याता  
निरवयवी वा ? प्रथमपक्षे वैषम्यम् । अनुवाकादौ हि सावयवत्वात् स्फुटोऽस्फुटश्चावभासो युज्यते स्फोटे  
तु निरवयवत्वात् तौ सन्नत इति । अपसिद्धान्तप्रसङ्गश्चास्मिन् पक्षे वैषम्यम्-श्लोकानुवाकयोरपि  
स्फोटरूपत्वेनाभ्युपगतयोर्भेदश्चास्त्रे निरवयवत्वेनाभ्युपगतत्वात् । द्वितीयविकले तु देवदत्त गामभ्याजंति  
वाक्यस्फोटवत् एतावपि पूर्वपूर्वध्वनिजनिताभिव्यक्तिरुत्तरसंस्कारविशेषावन्त्यध्वनिबुद्धौ प्रथमावृत्तावपि  
स्फुटर प्रतिभासेयाताम् ।”-स्थो० १० पृ० ६६० । “योऽपि द्वितीयो दृष्टान्त उदाहारि-  
यथानुवाक श्लोको वा प्रथमसंस्थया गृहीतोऽपि सस्यानन्तराभ्यासं स्फुटरपरिच्छिन्नो भवति तथा स्फोटोऽपि प्रथम-  
वर्णव्यक्तो वर्णान्तरैरतिशयिताभिव्यक्तिर्भविष्यतीति, सोऽपि न सदृशो दृष्टान्तः श्लोकानुवाकयोर-  
नशत्वानुपपत्तेः । केचिदवयवा वर्णरूपान् पदात्मानो वा प्रथमाया बद्धावपरिस्फुरन्त सस्याभ्यास-  
लभ्यातिशयाया तस्या प्रकटीभवन्ति, स्फोटस्तु एकवर्ण इव निरक्ष इति तत्र को बद्धेरतिशययोग तस्मा-  
दयमपि न सङ्गतो दृष्टान्तः ।”-न्यायमं० पृ० ३०९ । (७) स्फुटरतमादिरूपेणाभिव्यक्तिकल्पनम् ।

१ पूर्वस्फोट-आ०, व० । २ ‘पुन’ नास्ति आ० । ३ तथावत्कल्प-आ०, तदात्मनत्कल्प-श्र० ।

४ प्रतीतोऽतः व०, श्र० ।

वर्णः पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः । वाक्यार्थप्रतिपत्तावपि अयमेव न्यायो द्रष्टव्यः । वर्णाद्  
वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनञ्च सिद्धसाधनमेव । तदेवं यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षा-  
दन्त्यवर्णाद् अर्थप्रतिपत्तोः अन्यव्यतिरेकाभ्यां निश्चयात् स्फोटपरिकल्पनाऽनर्थिकैव,  
तदभावेऽपि अर्थप्रतिपत्तोः उक्तप्रकारेण संभवे अन्यथानुपपत्तोः प्रक्षयात् । न खलु  
३ दृष्टादेव कारणात् कार्योत्पत्तौ अदृष्टतदन्तरपरिकल्पना युक्तिसङ्गता अतिप्रसङ्गात् ।

किञ्च, यदि उपलभ्यमाना वर्णा व्यस्ताः समस्ता वा नार्थप्रतिपत्तिजननसमर्थाः,  
तदा स्फोटाभिव्यक्तावपि न समर्थाः स्युः । तथाहि—न समस्तास्ते स्फोटमभिव्यञ्जयन्ति  
उक्तप्रकारेण तेषां सामस्यासंभवात् । नापि व्यस्ताः; वणान्तरोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्,  
एकेनैव वर्णेन स्फोटाभिव्यक्तेः कृतत्वात् । न च पदार्थान्तरप्रतिपत्तिव्यवच्छेदार्थं  
१० तदुच्चारणम् इत्यभिधातव्यम्; तदुच्चारणेऽपि तत्प्रतिपत्तिप्रसक्तेरवश्यम्भावित्वात् ।

“तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिस्वपेक्षो वाऽन्यो वर्णः पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः ।”—प्रमेयक० पृ० ४५४ ।  
“तस्मात्पूर्ववर्णेषु स्मृतिरूपजाता अन्त्यवर्णनोपलभ्यमानेन सहार्थप्रतिपत्तिमुत्पादयति ।”—सम्मति० टी०  
पृ० ४३३ । द्रष्टव्यम्—पृ० ७५० टि० ६ ।

(१) “ऋमोपलब्धेऽपि वर्णेषु मानसमनुभूयवसायरूपमखिलवर्णविषय सङ्कलनाज्ञान यदु-  
जायते तदर्थप्रत्ययनाङ्ग भविष्यति ।”—न्यायम० पृ० ३७६ । “सत्यपि समस्तवर्णप्रत्ययमर्थं यथा ऋमा-  
नुरोधिष्य एव पिपीलिका, पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति एव क्रमानुरोधिष्य एव वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति ।  
तत्र वर्णानामविशेषेऽपि ऋमविशेषकृता पदविशेषप्रतिपत्तिर्न विरह्यते । बृहद्व्यवहारे चेमे वर्णाः क्रमाद्य-  
नुगृहीता गृहीतार्थविशेषसम्बन्धा, सन्त, स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्णग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्ययमर्थिण्या बुद्धौ  
तादृशा एव प्रत्ययवभासमानास्त तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीति वर्णवादिनो लघीयसौ कल्पना ।”—  
ब्रह्म० शां० भा० १।३।२८ । “ते हि पूर्वमनुभूता, प्रत्येकमनुभूतताक्रमोपमृष्टाः एकबुद्धिसमारोहिणः  
शक्तुवन्मर्थयिष्यमाधातुम् ।”—भाष्यवा० ता० पृ० ४७०। (२) तुलना—“वर्णाद्वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनञ्च  
सिद्धसाधनमेव । तदेव यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षादन्त्याद्वर्णवर्णप्रतिपत्तिः अन्यव्यतिरेकाभ्यामुप-  
जायमानत्वेन निर्वचीयमाना स्फोटपरिकल्पना निरस्यति तदभावेऽप्यर्थप्रतिपत्तेरुक्तप्रकारेण सभवेऽन्यथा-  
नुपपत्तेः प्रक्षयात् । नहि दृष्टादेव कारणात् कार्योत्पत्तावदृष्टतदन्तरपरिकल्पना युक्तिसङ्गता अति-  
प्रसङ्गान् ।”—सम्मति० टी० पृ० ४३३ । प्रमेयक० पृ० ४५४ । (३) “अस्यानवयव, स्फोटो व्यज्यते  
वर्णबुद्धिभिः । सोऽपि पर्यनुयोगेन नैवैतेन विमुच्यते ॥ तत्रापि प्रतिवर्णं पदस्फोटो न गम्यते । नचा-  
वयवस्यो व्यतिरेकतदभावान्न चान्न धी ॥ प्रत्येकञ्चाप्यसक्तानां समुदायेऽप्यसक्तता ।”—मी० श्लो०  
स्फो० श्लो० ९१—९३ । “न समस्तैरभिव्यज्यते; समुदायान्म्युपगमात् । न व्यस्ते; एकेनैवाभिव्यक्तौ  
नेपोच्चारणव्यर्थप्रमङ्गात् ।”—प्रश्न० व्यो० पृ० ५९५ । “पदस्फोटो नित्यो निरसः सर्वगतोऽमूर्तः  
किमनभिव्यक्त एवार्थप्रतिपत्तिहेतुरभिव्यक्तो वा ? प्रथमपक्षे वर्णोच्चारणानर्थक्यम् । द्वितीयपक्षे  
तु पदस्फोटोऽभिव्यज्यमान प्रत्येकं वर्णैराभिव्यज्यते वर्णसमूहेन वा ?”—युक्त्यनु० टी० पृ० ९६ ।  
तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२६ । प्रमेयक० पृ० ४५४ । सम्मति० टी० पृ० ४३३ । (४) वर्णानाम् । (५)  
“वर्णान्तरोच्चारणादपि पदार्थान्तरप्रतिपत्तेरवानुपगमात् । यथाहि गौरिति पदस्यार्थो गकारोच्चारणात्  
प्रतीयेत तथा ओकारोच्चारणाद् ओशनस इति पदस्यार्थं प्रतिपद्येत । आद्येन गकारेण गौरिति पदस्येव  
प्रथमीकारेण ओशनस इति पदस्य स्फोटस्य अभिव्यक्तेः । तथा च गौरिति पदादेव गौरौशनस इति  
वाक्यार्थप्रतिपत्तिः प्रमज्येत । सजयो वा स्यात्”—युक्त्यनु० टी० पृ० ९६ । प्रमेयक० पृ० ४५४ ।

१ बुद्धिः संगता बा०, युक्तिः संगता बा० । २ तथा बा०, न ।

येथाहि गौरिति पदस्यार्थो गकारोच्चारणात् प्रतीयते तथा औकारोच्चारणाद् औशनस इति पदार्थोऽपि, तथा च गौरिति पदादेव 'गोः' 'औशनसः' इत्यर्थद्वयं प्रतीयेत । सशयो वा स्यात्—'किं पदान्तरस्फोटव्यवच्छेदेन एकपदस्फोटाभिव्यक्तये गत्रायनेकवर्णो-  
च्चारणम्, किंवा अनेकपदस्फोटाभिव्यक्तये अनेकाद्यवर्णोच्चारणम्' इति । नच पूर्व-  
वर्णः स्फोटस्य संस्कारे अन्त्यो वर्णस्तस्य व्यञ्जकः इति न वर्णान्तरोच्चारणवेयमर्थमिव-  
भिधातव्यम्; अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तस्य संस्कारस्यैव तत्रानुपपत्तेः । न खलु वेगाख्यः  
तत्र तैः संस्कारो विधीयते; मूर्त्तंष्वेव अस्य सभवात् । नापि वासनारूपः; अचेतनत्वात् ।  
स्फोटस्य तत्त्वैतस्याभ्युपगमे वा स्वशास्त्रविरोधः । नापि स्थितस्थापकरूपः; अस्यापि  
मूर्त्तद्वयवृत्तित्वात्, स्फोटस्य च अमूर्त्तत्वाभ्युपगमात् ।

किञ्च, असौ संस्कारः स्फोट एव, तद्धर्मो वा ? तत्र आद्यविकल्पोऽयुक्तः; स्फोटस्य  
वर्णोत्पाद्यत्वानुपपन्नात् । द्वितीयविकल्पोऽप्यसंभाव्यः; व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पा-  
नुपपत्तेः । स्फोटाद्धि तस्य अव्यतिरेके तत्करणे स्फोट एव कृतो भवेत्, तथा चार्थ-  
अनित्यत्वानुपपन्नात् स्वाभ्युपगमक्षतिः । व्यतिरेके तु सर्व्वन्धानुपपत्तिः अनुपकारकत्वात्,  
तस्य तदुपकारकत्वे वा तदुपकारस्यापि ततो व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्पप्रसङ्गः, तत्रापि  
पूर्वोक्तदोषोऽनवस्थाकारी प्रसज्येत । नच व्यतिरिक्तधर्मसद्भावेऽपि स्फोटस्य अनभिव्यक्त-  
स्वरूपापरित्यागे पूर्व्ववदर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं घटते अतिप्रसङ्गात्, तस्याग्रे वाऽनित्यत्वप्रसक्तिः ।

किञ्च, वर्णः संस्कारः स्फोटस्य क्रियमाणः किमेकदेशेन क्रियेत, सर्वात्मना वा ?  
यदि एकदेशेन; तदा तद्देशानामपि अतोऽर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयोः पूर्वोक्तदोषानुपपन्नः ।  
सर्वात्मना संस्कारे तु सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां ततोऽर्थप्रतीतिः स्यात् ।

किञ्च, स्फोटसंस्कारः स्फोटविषयसंवेदनम्, आवरणापनयनं वा ? यदि आवर-

(१) तुलना—“अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तसंस्कारस्वरूपानधारणात् । तथाहि न तावत्तत्र तैर्वेगाख्य  
संस्कारो निर्वर्त्यते तस्य मूर्त्तंष्वेव भावात् । नापि वासनारूपः, अचेतनत्वात् ”—सम्मतं० टी०  
पृ० ४३३ । प्रमेयक० पृ० ४५४ । (२) स्फोटे । (३) वर्णः । (४) स्फोटस्य अचेतनत्वात् ।  
(५) “किञ्चासी संस्कारः स्फोटस्वरूपस्तद्धर्मो वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४५५ । सम्मतं० टी० पृ०  
४३४ । (६) संस्कारस्य । तुलना—“अपि च साऽभिव्यक्ति स्फोटादव्यतिरिक्ता व्यतिरिक्ता वा  
ध्वनिभिः क्रियेत ?”—श्या० १० पृ० ६६२ । (७) स्फोटस्य । (८) स्फोटस्यापि संस्कार इति ।  
(९) संस्कारस्य । (१०) स्फोटोपकारकत्वे । (११) संस्कारकृतोपकारस्यापि । (१२) स्फोटात् ।  
(१३) अनभिव्यक्तस्वरूपपरित्यागे । (१४) तुलना—“किञ्च, आद्यो वर्णध्वनि शब्दात्मा सकलस्य  
वा व्यञ्जकः स्यादेकदेशस्य वा ? यदि सकलस्य, इतरेषां ध्वनीनामानर्थक्यं स्यात् । अर्थकदेशस्य;  
निरवयवत्वमस्य हीयते ।”—राजवा० पृ० ४२४ । प्रमेयक० पृ० ४५५ । सम्मतं० टी० पृ० ४३४ ।  
(१५) स्फोटात् । (१६) “किञ्च, स्फोटसंस्कारः स्फोटविषयसंवेदनोत्पादनम्, आवरणापनयनं  
वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४५५ । सम्मतं० टी० पृ० ४३४ ।

१ यथा गो-थ० । २ तथा थ० । ३ प्रतीयते आ० । ४ एतदन्तर्गतं पाठो नास्ति आ० ।  
५ धर्मो वा थ० । ६ स्फोटार्थतस्य व० । ७ बोधानवस्था-थ० । ८ वानि-व० ।

किञ्च, वर्णैः तद्वुद्धिभिर्वा व्यङ्ग्यो यदि शब्दस्फोटोऽभ्युपगम्यते; तदा प्रदीपादिना तद्वुद्ध्या वा व्यङ्ग्यः प्रदीपादिस्फोटोऽप्यभ्युपगम्यतामविशेषात् । प्रत्यक्षादिविरोधात् तदनभ्युपगमे शब्दस्फोटोऽप्यत एव नाभ्युपगन्तव्यः । बाधकानुमानसद्भावाच्च, तथाहि—नै वर्णाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति व्यञ्जकत्वात् । अर्थवुद्धिर्वा वर्णपदवाक्यप्रभवा तद्भावभावित्वात् धूमादेर्धूमव्यञ्जवुद्धिवत् ।

यदि च अर्थप्रतीत्यर्थो वर्णादिव्यतिरिक्तः शब्दस्फोटोऽभ्युपगम्यते तर्हि गन्धादिस्फोटोऽप्यभ्युपगन्तव्यः । यथैव हि शब्दः कृतसङ्केतस्य कचिदर्थं प्रतिपत्तिहेतुः तथा गन्धादिरपि, 'एवंविधं गन्धमाग्राय स्पर्शञ्च संस्पृश्य रसञ्चास्वाद्य रूपञ्चावलोक्य त्वया एवंविधोऽर्थः प्रतिपत्तव्यः' इति समयग्राहिणां पुनः कचित्तादृशगन्धाद्युपलम्भात् तथाविधार्थप्रतिपत्तिप्रसिद्धेः गन्धादिविशेषव्यङ्ग्यः गन्धादिस्फोटोऽस्तु वर्णविशेषव्यङ्ग्यपदादिस्फोटवत् ।

एतेन हस्त-पाद-करण-मात्रि(वृत्ता)-अङ्गहारस्फोटोऽपि आपादितो द्रष्टव्यः । नच पदादिस्फोट एव, नतु स्थाययपक्रियाविशेषव्यङ्ग्यो हंसपक्ष्मादिः हस्तस्फोटः, विकुट्टितादिलक्षणः पादस्फोटः, हस्तपादसमायोगलक्षणः करणस्फोटः, करणद्वयरूपः मात्रि(वृत्ता)कास्फोटः, मात्रि(वृत्ता)कासमूहलक्षणः अङ्गहारस्फोटो वा इति वक्तुं युक्तम्; तस्यापि

(१) 'वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोट न पदवाचकयो । व्यञ्जन्ति व्यञ्जकत्वेन यथा दीपप्रभादय ॥ सत्त्वात् घटादिवच्चेति साधनानि यथावच्च । लौकिकव्यतिरेकेण कल्पितेऽर्थे भवन्ति हि ॥ नार्थस्य वाचक स्फोट वर्णभ्यो व्यतिरेकतः । घटादिवत्, न दृष्टन विरोधो धर्मसिद्धितः ॥'—मी० इलो० स्फो० इलो० १३१-३३ । (२) 'वर्णत्वा वाऽर्थधीरेषा तज्ज्ञानानन्तरोद्भवा । येदृशी सा तदुत्था हि धूमादेरिव वङ्गिधी ॥'—मी० इलो० स्फो० इलो० १३५ । तत्त्वसं० का० २७३१ । (३) 'गन्धादिस्फोटस्य तपाम्युपगमार्हत्वात् । यथैव शब्द वक्तृसंकेतस्य कचिदर्थप्रतिपत्तिहेतुः तथा गन्धादिरपि विशेषाभावात् । एवंविधमेव गन्ध समाग्राय इत्यमेवविधोऽर्थं प्रतिपत्तव्यं स्पर्शं स्पृश्य रस वास्वाद्य रूपं बालोकेत्यन्मूतमीदृशो भावः प्रत्यतव्य इति समयग्राहिणा पुनः कचित्तादृशगन्धाद्युपलम्भात् तथाविधार्थनिर्णयप्रसिद्धेः गन्धादिज्ञानाहितमस्कारस्यात्मन तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतो गन्धादिपदस्फोटतोपपत्तेः पूर्वगन्धादिविशेषज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनः अन्त्यगन्धादिविशेषोपलम्भानन्तरं गन्धादिविशेषसमुदायगम्यार्थप्रतिपत्तिहेतोर्गन्धादिवाक्यस्फोटत्ववधत्तानात् ।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७ । प्रमेयक० पृ० ४५७ । (४) हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत् ।'—नाट्यशा० ४।३० । (५) 'द्वे नृत्यकरणे चैव भवतो नृत्यमातृका । नृत्यस्य अङ्गहारस्यात्मनो मातृका उत्पत्तिकारणम् ।'—नाट्यशा० ४।३१ । (६) 'अङ्गना देशान्तरे समुचिते प्रापणप्रकारोऽङ्गहार हरस्य चायं हार प्रयोगः, अङ्गनिर्वर्त्यो हार अङ्गहार । स्थिरहस्तादिभेदेन द्वान्निशद्विष । द्वान्म्या त्रिभिश्चतुर्भिर्वाप्यङ्गहारस्तु मातृभिः ॥ त्रिभिः कलापकं चैव चतुर्भिर्मण्डकं भवेत् ॥ पञ्चैव करणानि स्युः सङ्घातक इति स्मृतः ॥ पङ्क्तिर्वा सन्निभवापि अष्टभिः नवभिस्तथा । करणैरिह मयुस्ता अङ्गहारा प्रकीर्तिता ॥'—नाट्यशा० ४।३१-३३ । (७) 'पदादिस्फोट एव घटते न पुनः स्वाधयवक्रियाविशेषाभिव्यङ्ग्यस्य हसपदमादिहस्तस्फोटः स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तिहेतुरिति स्वल्पमतिस्मर्येणमानम् । एतेन विकुट्टितादि पादस्फोटः हस्तपादसमायोगलक्षणः करणस्फोटः, करणद्वयरूपमात्रिकासहस्रलक्षणः अङ्गहारस्फोटश्च न घटते इति वदन्ननभिधेयवचनं प्रतिपादितो बोद्धव्यः, तस्यापि स्वस्वाधयवाभिव्यङ्ग्यस्य स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तिहेतोरखणयनिराकरणात् ।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७ ।

स्वस्यावयवाभिव्यक्त्यस्य स्वाभिनेयार्थप्रतीतिहेतोरशक्यनिराकरणत्वात् । तन्निराकरणे  
या शब्दस्फोटोदाग्रहाभिनिवेशो दूरतः परित्याज्यः, आक्षेपसमाधानानामुभयत्र समानत्वात् ।  
ततः स्फोटस्वरूपस्य विचार्यमाणस्य अनुपपद्यमानत्वात् नासौ पदार्थप्रतिपत्तिनिवन्धनं  
प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यः, किन्तु गवादिशब्दास्तन्निवन्धनं प्रतिपत्तव्या इति ।

नन्यस्तु तेषां तन्निवन्धनत्वम्; किन्तु संस्कृतानामेव न प्राकृतानाम्, तेषामसा-

सङ्गतशब्दा एव ध्रुवात् । व्याकरणसिद्धा एव हि गवादयः शब्दाः साधव्यैः, अत-  
साधवोऽर्थवाचकाश्च स्तेषामेव अर्थवाचकत्वमुपपन्नं न पुनः गन्यादीनाम्, तेषां तदभावात् ।  
न तु अप्रमंशादय इति मीमांसक-वेद्या-  
रणादीनां पूर्वपक्षे - धृद्धव्यवहारे हि अनन्यथासिद्धाभ्यामन्यव्यतिरेकाभ्यां वाच्यता-  
चकभावोऽप्यर्थयते, तौ च यदि एकस्य गोशब्दस्य एकत्र गोत्वलक्ष-

(१) "अथ पुनरेकमेवानवयव वाक्यम्; तत्र-एवत्वेऽपि ह्यभिप्रस्तम् त्रयसो गत्यसम्भवात् ।  
कालभेदे एव न युज्यते । न ह्येकस्य त्रयेण प्रतिपत्तिर्युक्ता, गृहीतागृहीतयोरभेदात् । त्रयेण च  
वाक्यप्रतिपत्तिर्युक्ता, सर्ववाक्याध्याहारश्रवणस्मरणकालस्यानेकक्षणनिमेषानुक्रमपरिसमाप्ते वर्णरूपास-  
स्पृशिनश्चैकबुद्धिप्रतिभासित शब्दात्मनोऽप्रतिभासनात् वर्णानुक्रमप्रतीते । तदविशेषेऽप्यनुक्रमवृत्तत्वा-  
द्वाक्यस्य अनुक्रमवती वाक्यप्रतीतिः, वर्णानुक्रमोपकारानपेक्षणे त्र्यंशवाक्यञ्चित्प्रत्ययैरपि यत्किञ्चि-  
द्वाक्य प्रतीयेत विनार्थं वा वर्णैः । तैरनुक्रमवद्भिरक्रमस्योपकारयोगात् । अक्रमेण च व्यवहर्तुमश-  
क्यत्वात् । गत्यन्तराभावाच्च ।"-प्रमाणवा० स्वब० ११२५३ । (२) "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञात  
शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति ।"-पात० महाभा० ६।१।८४ । "तस्माद् ब्राह्मणेन  
न म्लोच्छित्तवै नापभाषितवै, म्लोच्छो ह वा एष अपशब्दः ।"-पात० महाभा० ५स्पृशा० । (३)  
"यदि तावच्छब्दोपदेशः नियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद् गाव्यादयोऽपशब्दा इति ।"-पात०  
महा० ५स्पृशा० । "तस्माद् यमभिषुक्ता उपदिष्टान्येष एव साधुरिति साधुरित्यवगन्तव्यः ।"-शाब-  
रभा० १।३।२७ । "शिष्टेऽप्य आगमात्सिद्धा साधवो धर्मसाधनम् । अर्थप्रत्यायनभेदे विपरीतास्त्व-  
साधवः ।"-वाक्यप० १।२७ । "शब्दस्य तत्त्वमवैकल्यमनपगतसंस्कार साधुस्वरूपम् । अन्ये तु तत्प्रयु-  
यक्षया प्रयुज्यमाना विकला स्वरूपभ्रशा ।"-वाक्यप० स्वब० १।१३ । "स साधुर्यस्य व्याकरणावगत  
संस्कारोऽविकलः । तादृक्कलास्त्वपभ्रशा इति ।"-वाक्यप० पु० ६।१३ । "तस्मात् लोकवेदाभ्या  
कश्चिद् व्याकरणादुते । वाककाननपभ्रष्टान् यथावज्ज्ञातुमर्हति ।"-तन्त्रवा० पु० २७८ । "तथा  
व्याकरणाख्येन साधुरूप नियम्यते । अविशेषेण सिद्धिः स्याद्विना व्याकरणस्मृते ।"-तन्त्रवा० पु०  
२८७ । "व्याकरणलक्षणानुगमविशेषितव वाचकव साधुत्वम् ।"-न्यायप० पु० ४२३ । "अभिषुक्तत-  
मैरिन्द्राणानिप्रभृतिभिः साधुत्वेनाविगानतः स्मर्यते स साधुरितोऽसाधुरिति निश्चीयते ।"-न्यायवा०  
पु० ७।१४ । "साधुत्व नाम वचिदर्थविशेषे स्वाभाविकप्रतिपादनशक्तियोगिनः शब्दस्य विलक्षण  
रूपम् । तच्च प्रकृतिप्रत्ययादिद्वारेण व्याकरणस्मृत्या यस्य प्रतिपाद्यते तस्यैव व्याकरणस्मृतिसहकृतेन  
श्रोत्रप्रत्येक्षण असाधुशब्दव्यावृत्त साधुत्वरूप स्फुटरमध्यतनस्तावत्प्रतीयत एव ।"-तीता० पु० १२८ ।  
"गवादय एव साधवो न गाव्यादय इति साधुस्वरूपनियमः ।"-शास्त्रवा० १।३।२७ । "साधूनेव  
प्रयुज्यते गवाद्या एव साधवः । इत्यस्मिन् नियमः पूर्वपूर्वव्यावृत्तिमूलतः ॥"-जैमिनि-पा० १।३।२७ ।  
"इत्यञ्च संस्कृते एव शक्तिसिद्धौ शक्यसम्बन्धरूपवृत्तेरपि तत्रैव भावात्तत्त्व साधुत्वम् । यस्तुतो  
वृत्तिमत्त्व न साधुत्वम्" किन्तु व्याकरणनिष्पाद्यत्वम् । यत्र यः शब्दो व्याकरणे व्युत्पादितः स तत्र  
साधु ।"-वैयाकरणभू० पु० ७४९ । "अनपभ्रष्टानादिविशिष्टाऽभ्युदययोग्यता । व्याख्या व्यञ्जनीया

णेऽर्थे शक्तिं कल्पयित्वा उपपन्नौ तदा न द्वितीयस्य गावीशब्दस्य तत्रार्थे तौ शक्तिं कल्पयतः । अनुपपत्त्या हि तयोः कल्पकत्वम्; यश्च येन विना आत्मानं न लभते स तेन विनाऽनुपपन्नः स्योपपत्तये तं कल्पयति, यत्पुनः येन विनाप्युपपद्यते न तत् तं कल्पयति अनुपपत्तेः कल्पिकायाः क्षीणत्वात् ।

न च गावीशब्दादपि अवयव्यतिरेकाभ्यामर्थप्रतीतिसंभवात् कथन्न वाचकत्वमित्यभिधातव्यम्; अवयव्यतिरेकयोस्तैत्र अन्यथासिद्धत्वात् । अवाचकस्यापि हि गावीशब्दस्य वाचकगोशब्दस्मृतिद्वारेण अर्थप्रतिपत्तौ अवयव्यतिरेकौ घटेते । दृश्यते च असाधुशब्दप्रयोगे साधुशब्दस्मरणादर्थप्रतिपत्तिः, यथा आमन्त्रणे 'अम्ब'

वा जातिं वापीह साधुतेति ।"-शब्दको० पृ० २५। (४) "गौरित्यस्य शब्दस्य गावीगोपीगोतागोपोतलिकेत्येवमादय अपभ्रंशाः ।"-पात० महा० पस्पशा० ।

(१) "सामर्थ्यं सर्वभावानामर्थापत्त्यावगम्यते । एकसामर्थ्यसिद्धेऽर्थे नानेकं तच्च लभ्यते ॥ नाम च व्यवहारार्थमर्थस्याभ्युपगम्यते । तेनैकेनैव सिद्धेऽर्थे द्वितीयादि च निष्फलम् ॥"-तन्त्रशा० पृ० १।३।२६ । 'किंच, वाचकशक्तिर्नाम सूक्ष्मा परमार्थापत्तिमात्रस्वरणावगमा न तन्मन्दायामन्यत कुतश्चिदवगन्तुं पार्यते । सा चैयमन्यथाप्युपपद्यमाना गवादिभ्योऽर्थप्रत्ययादिव्यवहारे मन्दीभवति तेषु शक्तिंकल्पनायामर्थापत्तिं एवं गवादय एव वाचकशक्तेराश्रयः न गाव्यादय ।"-न्यायम० पृ० ४२१ । 'अत्र च संस्कृतस्य सर्वदेशे एकत्वात्तत्रैव शक्तिः, भाषाणाञ्च प्रतिदेश भिन्नत्वात् संस्कृतैः सह पर्यायतापत्तश्च न शक्तिः ।"-शब्दाकरणभू० पृ० २४८ । "एकत्र शक्त्याप्यन्यत्र तदारोपात्तदर्थप्रतीत्युपपत्तावेकत्रैव शक्तिर्लाभवात्, अनन्यलभ्यस्त्वैव शब्दार्थत्वात् । सा च शक्तिः संस्कृत एव सर्वदेशे तस्यैकत्वात् ।"-तत्त्वचि० शब्द० पृ० ६४१ । (२) अवयव्यतिरेको । (३) गावीशब्दे । (४) "अथ यदुक्तम्-अर्थोऽवगम्यते गाव्यादिभ्यः, अत एवामप्यनाविरर्धेन सम्बन्ध इति । तदशक्तिरेषा गम्यते । गोशब्दमुच्चारयितुकामेन केनचिदशक्त्या गावीत्युच्चारितम्, अपरेण ज्ञात सास्नादिमानस्य विवक्षितस्तद्वय गौरित्युच्चारयितुकामो गावीत्युच्चारयति । तत् विक्षित्वाऽपरेऽपि सास्नादिमति विवक्षिते गावीत्युच्चारयन्ति । तेन गाव्यादिभ्यः सास्नादिमानवगम्यते । अनुरूपो हि गाव्यादिर्गोशब्दस्य । एव गाव्यादिदर्थमादु गोशब्दस्मरणं तत् सास्नादिमानवगम्यते ।"-शाबरभा० १।३।२८-२९ । "यथा गौरित्यस्य पदस्यार्थे गावीति प्रयुज्यमानं पदं ककुदादिमन्तर्धं प्रतिपादयतीति । न च शब्दान्वाक्यान्यर्थम्, अनेन शब्देन गोशब्दमेवादी प्रतिपद्यते गोशब्दात् ककुदादिमन्तमर्थम् ।"-शब्दशा० पृ० ५५६ । "ते तु दर्शसारूप्यच्छायया गवादिशब्दस्मृतिमादधानाः तदर्थप्रतिपत्तिहेतुतामुपगच्छन्ति ।"-न्यायम० पृ० ४२१ । न्यायवा० ता० पृ० ७१४ । तत्त्वचि० शब्द० पृ० ६४३ । "न चापभ्रजानामवाचकतया कथमर्थवबोध इति वाच्यम्, शक्तिभ्रमवता वाचकाभावात् । विशेषदर्शिनस्तु द्विविधा-तत्तद्वाचकसंस्कृतविशेषज्ञानवन्त तद्विकलाश्च । तत्र आद्यानां साधुस्मरणद्वारा अर्थबोधः । द्वितीयानां तु बोध्यार्थसम्बन्धावन्तत्वाचकस्य स्मृतौ सत्या ततो लक्षणया बोधः । सर्वनामस्मृतेर्वा, तदर्थज्ञापकत्वेन रूपेण साधुस्मृतेर्वा, अर्थाध्याहारपक्षाश्रयणाद्वा यथायथ बोध्यम् ।"-शब्दको० पृ० ३२ । (५) "जस्वगोष्पादय शब्दा साधवो विप्रमान्तरे । निमित्तभेदात्सर्वत्र साधुत्वञ्च व्यवस्थितम् ॥ ते साधुत्वनूमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः । तादात्म्यमुपगम्येव शब्दाधस्य प्रकाशकः ॥ न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः । ते यत् स्मृतिशास्त्रेण तस्मात्साक्षादवाचकः ॥ अन्वयान्वेति यथा बाल शिक्षमाणः प्रश्नापते । अव्यक्तं तद्विधा तेन व्यक्ते भवति निश्चयः ॥ एव साधो प्रयोजनव्यये योऽपभ्रंश प्रयुज्यते । तेन साधुव्यवहितं कश्चिदर्थोऽभिधीयते ॥"-

इति विवक्षायां स्थानकरणप्रयत्नवेकल्यात् प्रमादाद्वा तमुच्चारयितुमसमर्थः अन्विति  
 वालोऽपभाषते । अम्वा च तच्छब्दश्रवणानन्तरं प्रवर्त्तमाना एवं मन्यते—अनेन वालेन  
 'अम्' इति शब्दविवक्षायाम् अन्विति तत्स्थाने समुच्चारितमिति अन्वितिशब्दादसा-  
 धुभूताद् 'अम्' इति मूलशब्दं साधुभूतं स्मृत्वा प्रवर्त्तते । तथा, एण्ड (पण्ड) शब्दे समु-  
 च्चारयितव्ये विवक्षिते प्राच्यानां संदशब्दोच्चारणं दृश्यते । व्यवहर्त्ता तद्वाक्यश्रव-  
 णानन्तरं प्रवर्त्तमानः अनेन मूलशब्दोच्चिचारयिष्या अशस्त्या प्रमादेन वा अयं संद-  
 शब्दः समुच्चारितः इति सदशब्दात् पदशब्दं स्मृत्वा ततोऽर्थं प्रतिपद्य प्रवर्त्तते ।  
 एवं गावीशब्दादसाधुरूपात् मूलभूतं साधुरूपं गोशब्दं स्मृत्वा व्यवहर्त्ता ततोऽर्थं प्रति-  
 पद्यते इति, अव्ययव्यतिरेकयोरत्र अन्यथासिद्धत्वात् न वाचकत्वावधारणक्षमत्वम् ।  
 यत्रैव हि निश्चितौ तौ तत्रैव वाचकत्वनियममवबोधयतः । न च गावीशब्दस्य उक्त-  
 प्रकारेण तौ निश्चितौ, अतो न तन्नियममवबोधयतः । गोशब्दस्य तु उभयवादि-  
 सम्प्रतिपन्नत्वेन तौ निश्चितौ, अतोऽस्यैव गोत्वप्रतिपत्तौ वाचकत्वनियमोऽप्यवर्त्तते ।  
 सर्वदेशकालपुरुषपुराणवेदादिषु गोशब्दस्य एकरूपतया व्यवहारकारकत्वेन प्रतीयमान-  
 त्वाच्च अस्यैव व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य वाचकत्वनियमो युक्तः न तु गावीशब्दस्य,  
 अस्य नियतदेशादावेव व्यवहारहेतुतया प्रतीयमानत्वात् । न खलु ये देशान्तरादिप्रभवा  
 गाव्यादिशब्देऽप्यनुगृहीतसम्यग्वा तेषां ते व्यवहारं प्रसाधयन्ति । अतः अवगतप्रमाण-  
 भावेन व्याकरणेन ये अनुशिष्टा गवादयः शब्दाः त एव साधवः सिद्धा न तु गाव्यादयः ।

तत्रैव वाचकत्वनियमावगतेश्च गवादिशब्दानामेव साधुत्वम्, तथाहि—  
 'गामानय' इत्युक्ते सास्नादिमत्त्वविशिष्टार्थनयनप्रतिपत्तिर्भवति । तत्र च यथा  
 'गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थो वाच्यः' इत्यवधार्यते, तथा 'गोशब्दस्यैव अयमर्थः' इति  
 नियमोऽप्यवधार्यते । अवगतश्च नियमः अन्यस्य वाचकत्वं बाधते ।

अस्तु या नाम गवादीनामेव वाचकत्वावधारणम्, तथापि वृद्धव्यवहारादेव  
 तेषां तद् भविष्यति, अतस्तत्साधुत्वसमर्थनाय व्याकरणारम्भो व्यर्थः; इत्यसमीचीनम्;  
 व्याकरणनिरपेक्षाद् वृद्धव्यवहारादेव सकलशब्दानां वाचकत्वस्य अवधारयितुमशक्य-  
 त्वाद् । अनन्तो हि शब्दराशिः, तस्य अनन्तेनापि कालेन प्रतिपदं वृद्धव्यवहाराद्

वाच्यप० १।१४९-५३ । 'गाव्यादिशब्दानां पुनश्चावधारणसामर्थ्यतो मूलशब्दादप्यवधारणा विवक्षितेषु  
 मूलशब्दानुसारेणार्थप्रतिपादकत्वम्, अविवक्षितेषु तु वाचकभ्रान्त्येवेति ।'—तोता० पृ० १३० । भाट्टचि०  
 पृ० ९५ ।

(१) सर्वे देशान्तरे । 'सर्वे खलु एते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते ।'—पात० महा० पक्षशा० ।

(२) पुरुषाणाम् । (३) गाव्यादयः शब्दा । (४) वाचकत्वावधारणम् ।

१ अन्विति ला० । २ तत्र स्थाने व० । ३ गोशब्दत्वप्रति-श्र० । ४-स्पष्टे आ०, व० । ५ ना  
 तु आ० । ६ गव्या-व० । ७-तीति तत्र य० । ८ अस्तु नाम व०, य० । ९-निरपेक्षे वृ-श्र० ।



वाचकत्वं गृहीतुमशक्यम् । व्याकरणेन तु सामान्यविशेषवता लक्षणेन उपलक्षितानां  
 स्वरूपप्रत्ययेन सर्वेषामपि शब्दानां वाचकत्वमवबोधुं शक्यमेव । अतो व्याकरणादेव  
 तेषां साधुत्वावगमः । तथाहि—“कर्मण्यण्” [ पाणिनि० ३।२।१ ] इत्येकेनैव सूत्रेण  
 कुम्भकार-काण्डलाव-वेदाध्यायादयः शब्दाः बहवः साधुत्वेन लक्ष्यन्ते । अतो व्या-  
 5 करणानुगृहीतलोकव्यवहारात् सुखेनैव साधुत्वमवधारयितुं शक्यते इत्यस्ति व्याकरण-  
 स्थोपयोगः । ननु चास्त्यैप्रमाणत्वात् कथं ततः केषाञ्चिच्छब्दानां साधुत्वमवधार-  
 यितुमुचितम् ; इत्यस्य साम्प्रतम् ; तदप्रामाण्ये कर्मकर्त्रादिकारकाणां सम्प्रत्ययप्रसङ्गात् ।  
 न खलु व्याकरणमन्तरेण प्रकृति-प्रत्ययविभागद्वारेण कर्मकर्त्रादिकारकाणां नैयत्येन प्रति-  
 पत्तिर्घटते, तन्नैयत्यहेतोरन्यस्याऽसंभवात् । अतस्तन्नैयत्यमुपलभ्यमानं स्वरूपवस्थानि-  
 10 मित्तं व्याकरणमेव व्यवस्थापयति ।

तथा व्याकरणप्रामाण्ये लोकशास्त्रविरोधः । तत्र लोकविरोधस्तावत्—सैकलं-  
 शिष्टानां तत्प्रामाण्यस्य अभीष्टत्वात् । शास्त्रविरोधोऽपि तदप्रामाण्ये सकलशास्त्रोच्छेद-  
 प्रसङ्गात् । सकलान्यपि हि शास्त्राणि नियतभाषात्मकानि, नियमस्य च व्याकरणाधीन-  
 त्वात् कथं तदप्रामाण्ये तदुपपत्तिः ? शास्त्रप्रामाण्यमनभ्युपगच्छताऽपि परप्रत्यायनाय  
 15 साधनदूषणप्रयोगः तत्प्रामाण्यप्रसाधनोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः । तदनभ्युपगमे स्वरूप-  
 पक्षसाधनदूषणप्रपञ्चप्रत्यस्तमयप्रसङ्गात्, केवलैर्मनोविकल्पैः अङ्गसंज्ञाभिर्वा परप्रत्या-  
 यनानुपपत्तेः । तस्मादुक्तदोष परिजिहीर्षता न व्याकरणप्रामाण्यमपह्नवनीयम्, इति  
 सिद्धं तत्साधुत्वप्रसाधनायास्य प्रामाण्यम् ।

ननु साधुत्वस्य शब्दानां कुत्रचित् प्रमाणादप्रसिद्धेः कथं तत्प्रसाधनाय व्याक-

(१) “रक्षोहागमलध्वसन्देहा प्रयोजनम्” लघ्वर्थे चाध्येय व्याकरणम् ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा  
 ज्ञया इति । न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दा शक्या ज्ञातुम् । किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं  
 प्रवर्त्यम्, यनात्मेन प्रयत्नेन महतो महत शब्दोषान् प्रतिपद्येत् । किं पुनस्तत् ? उत्सर्गापवादो । कश्चि-  
 दुत्सर्गे कतेष्य कश्चिदपवादः । “सामान्यनोत्सर्गः कर्तव्यं तद्यथा कर्मण्यण्” । तस्य विशेषेणापवादो,  
 तद्यथा आनोऽनुपपत्तौ क ।—पाठ० महा० पृथग्ज्ञा० । “प्रकृत्यादिविभागकल्पनया सामान्यविशेषवता  
 लक्षणेन ॥”—वाचस्पति० पृ० १ । “तत्र सामान्यवता लक्षणेन प्रकृत्यादिविभागपरिकल्पनया कुम्भकार-  
 काण्डलाव शरलाव इत्येवमादिकं महान् शब्दोप प्रतिपद्यते । विशेषवता तु पाणिनिं गोद कम्बलद  
 इत्येवमादिकम् ।”—न्यास० पृ० ६ । सर्वद० पाणिनि० । (२) “लोकव्याकरणाभ्यां हि मिथ्याभ्याम-  
 बिप्लुनवाचकसिद्धिरिति ।”—तन्त्रवा० १।३।२७ । (३) व्याकरणस्य । (४) “न चान्तरेण व्याकरणं  
 कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञानुम् ।”—पाठ० महा० पृथग्ज्ञा० । “तत्त्वावबोधे शब्दानां नास्ति व्याकर-  
 णादृते ।”—वाचस्पति० १।१३ । (५) “सर्वपापं दत्त्वाच्च शब्दानुशासनस्य ।”—हंस० बृह० पृ० २ ।  
 (६) “मावृत्तज्ञानविषया गैरा व्याकरणस्मृतिः । अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम् ॥”—  
 वाचस्पति० १।१४३ ।

रणस्य प्रामाण्यम् ? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम् ; प्रत्यक्षत एव तत्साधुत्वप्रसिद्धेः ।  
तथाहि—व्याकरणसंस्कृतमतेः 'श्रोत्रप्रत्यक्षे वर्णस्वरूपवत् तत्साधुत्वमवभासते, व्याकर-  
णानुशिष्टेषु शब्देषु उच्चार्यमाणेषु 'साधुभिरयं भाषते' इति प्रतीतिसद्भावात्, अन्यथा  
चोच्चार्यमाणेषु 'असाधुभिरयं भाषते पापः अपशब्दान् करोति' इति प्रत्ययप्रतीतेः  
प्रत्यक्षत एव साधुत्वासाधुत्वविभागोऽवसीयते । अथोन्यदे—यदि वर्णस्वरूपातिरिक्तं  
साधुत्वं स्यात् तर्हि व्याकरणसंस्कारात्पूर्वं वर्णस्वरूपवत् तदपि प्रतिभासेत, तत्रति-  
भासकारणस्य श्रोत्रसम्बन्धस्य प्रागपि सद्भावात् ; तदप्युक्तिमात्रम् ; व्याकरणसंस्कारा-  
पेक्षस्य श्रोत्रस्य पूर्वमभावात्, कारणाभावे च कार्याभावस्य उपपन्नत्वात् । वर्णस्वरूप-  
ग्रहणे हि श्रोत्रस्य केवलस्यापि सामर्थ्यम्, साधुत्वग्रहणे तु व्याकरणसहकृतस्यैव । यथा  
रत्नादिभेदानां तच्छास्त्रसंस्कारसहायं चक्षुः ग्रहणे समर्थम् न तद्रहितम् ।

ननु शब्दराशेरपर्यन्ततया प्रत्यक्षागोचरत्वात् कथं ततः तत्साधुत्वप्रसिद्धिः ?  
इत्यप्यसुन्दरम्, तदगोचरस्यास्य अनुमानात् साधुत्वप्रसिद्धेः, तथाहि—अदृश्यमानप्रयोगाः  
शब्दाः साधवः व्याकरणानुशिष्टत्वात् परिदृश्यमानगयादिशब्दवत् । तथा "साधुभि-  
र्भाषितव्यम्" [ ] तस्मादेया संस्कृता वागुचते" [ तन्त्रि० ६।४।७ (?) ] इत्येवमा-  
दिना आगमेनापि साधुत्वं प्रसाध्यते । तथा उपमानेनापि साधुत्वमवगम्यते; तथाहि-  
सूत्रकार-भाष्यकार-वार्तिककारादिभिः प्रयुक्ता यथा साधवः शब्दाः तथा तत्प्राचैरन्यैरपि  
प्रयुक्ताः साधव एवेति । तथा अर्थापत्त्यापि; अनाद्यनन्ताऽनन्यथासिद्धान्वयव्यति-  
रेकतोऽर्थप्रतीतिसाधनत्वान्यथानुपपत्तिलक्षणया शब्दानां साधुत्वमवसीयते इति ॥छ॥

(१) "साधुत्वमिन्द्रियग्राह्य लिङ्गमस्य च विद्यते । शास्त्रस्य विषयोऽप्येव प्रयोगोऽप्यस्य-  
सकर ॥ "वैयाकरणोपदेशसाहाय्यकोपकृतश्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वाभ्युपगमात् । यथा ब्राह्मणत्वादिजाति-  
रूपदेशसम्बन्धेऽक्षधुरिन्द्रियग्राह्यापि न प्रत्यक्षगम्यतामपीकुरुति । "व्याकरणकोविदोपदेशसचिवध्वज-  
न्द्रियग्राह्य अपि साधुत्वासाधुत्वे न प्रत्यक्षतामतिवर्तेत ।"—न्यायम० पृ० ४२२ । तीता० पृ० १२८ ।  
(२) "यथा च पद्मरागादीन् काचद्वकलिकभिः प्रसृजतः । पक्षिणः पितृवन्ति सन्तुष्टमदरे तथा ॥  
यथा रत्नपरीक्षामां साधवसाधुत्वलक्षणम् । तथा व्याकरणातिष्ठ साधुत्वमनिरूपणम् ॥"—तन्त्रवा०  
१।३।२७। (३) प्रत्यक्षागोचरस्यापि शब्दराशे । (४) "विशिष्टशब्दध्वजोत्तरकालप्रवृत्तव्यवहारा-  
वगतार्थप्रतिपत्तिसहित शब्दानुशासनशास्त्रोपदिष्टप्रवृत्तिप्रत्ययविकरणवर्णलोपायमादेशादिलिङ्गमव्य-  
भिचारि तत्स्वरूपावधारणे कारणं भविष्यति ।"—न्यायम० पृ० ४२३ । तन्त्रवा० १।३।२७। (५)  
उद्धृतोऽयम्—न्यायम० पृ० ४२३ । न्यायवा० ता० पृ० ७१४ । वैयाकरणम० पृ० २५२ । तत्त्वचि० शब्द०  
पृ० ६४० । 'साधूना साधुभिस्तस्माद्वान्यमभ्युदयायिभिः ।'—वाक्यप० १।१४।१ । (६) 'तस्मादेया  
व्याकृता'—तन्त्रवा० १।३।२७। भाट्टचि० पृ० ९८ । (७) "तथा लौकिकार्थप्रत्ययोत्थापितवाचकत्वाया-  
पत्तिलभ्यस्तावदेक साधुत्वनिश्चय ।"—तन्त्रवा० १।३।२७।

१ श्रोत्रप्र-आ०, व० । २-वत्साधु-व०, आ० । ३-शिष्टेषु उच्चार्य-आ०, -शिष्टेषु शब्दोच्चार्य-  
-व० । ४-वानुक्रोति आ० । ५ पूर्व भावा-आ०, पूर्वसद्भा-व० । ६-रस्यानु-आ० । ७-त्वसिद्धे-  
आ० । ■ सूत्रकारवार्तिक-ध० ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘गवादय शब्दा एव साधन , तेषामेव वाचक-

अपभ्रंशप्राप्तादि त्वोपपत्ते' इत्यादि, तद्विचारितरमणीयम्, यतो लोकव्यवहार-

भाषारन्दाना साधु समधिगम्यो हि वाच्यवाचकभाव । लोकश्च गान्धादिशब्दैरेव

त्वसमर्थनन वाच व्यवहरन् प्रतीयते । सस्कृतवेदिनो हि सस्कृतान् शब्दान् परित्यज्य

व्यवहारकाले गाव्यादिश्चेरेव व्यवहरन्तः प्रतीयन्ते । अतः

ससृतेतरयेदिना व्यवहारस्य गान्यादिशब्देरेव दृष्टत्वात्तेपमिव अन्ययव्यति-

रैकाभ्या वाचकत्वपथधार्यते । नच गान्धादिशब्दानां गवादिस्मृतिसापेक्षमथावबोधकत्व

स्वप्नसिं प्रतीतयेन अयेप्रतिपत्तेरन्यथाप्युपपद्यमानत्वात् तेषामवाचकत्वं स्यात् ।

न सलु प्राकृतशब्देभ्यः 'प्रथम सस्कृतशब्दस्मरणं कर्त्ताऽर्थप्रतीतिः' इति व्यवधानं

अथप्रत्ययाऽनुभूयत, सक्तुतशन्दवत् तभ्याऽपि साक्षादिव अथप्रत्ययप्रतात, अन्यथा

यत्र संस्कृतज्ञा न सन्ति तत्र मापिशब्दव्याप्यप्रत्यया न स्यात्। तत्रा गवादिशब्दवत्

ययैव हि मावाविमन्त्रस्य अन्वयान्त्यतिरेकाभ्यां मात्स्याविमन्त्रस्य निमित्तेऽयं गोन्वावाधार्ता-

मिधायकत्वं प्रतीयते तथा गवादिशब्दस्मृतिनिर्णयेऽपि साहचर्यादीनामपि । एवञ्च अन्वय-

व्यतिरेकाभ्यां तस्येऽर्धप्रतिपादकत्वे यद्वेकमयैव वाचकत्वं कल्पयते तद्वर गान्धर्वि-

शब्दस्यैव फल्यताम्, निरपि लज्जानां व्यवहारस्य तदुद्घारेणैव प्रतीतेः ।

किञ्च, स्मरण मूलानुभवे सति प्रमाणं भवति अनुभवानुसारित्वात्तस्य । न च

गवादिशब्दानां गोव्यवहारे प्रथमत एव स्थिरसङ्ख्या वाचकत्वमनुभूतम्, गाव्यादि-

सञ्चानामेव तदा तदनुभवात् । अतो येषां वाचकत्वमनुभूतपूर्वतन्निवन्धने व्यवहारे

अननुभूतयाचकत्वा सम्यन्ते इति महान्यायकौशलम् ।

(१) पृ० ७५७ पं० ६। (२) 'वृद्धि (द्वि) प्रसिद्धितत्त्वव्यं' ग्रन्थकार प्रयत्नः। सन्तुष्टैरिति सभावि  
 ग्रन्थः भाषास्वरुचि। - न. भाषा इत्येव। पृ० ३३०। (३) सन्तुष्टैरिति सभावि। (४) सन्तुष्टैरिति

भ्यामि । तुमुना व्युत्क्रमादपनिर्णानिरुपगन्नादित्यपि । वक्तुं दावस्तस्या दष्टं सवषाम्यविपत् ॥'

—तावार्थलो० पृ० २९० । प्रमयक० पृ० ६६८। (५) तुम्हा- स्वीगृहाणामुभयप्रतीतरभावात् ।

[illegible]

पृ० १०३ । मन्त्रादीनां मायुसन्निधिरित्यानाभावान्नय तद्विषया स्मृतिः । तदभाव न पा०यप्रतिपत्तिः ।

मरिचिपनाना अगन्तरेव तान् स्वरसमाप्तान् आह वक्तव्ये इति स्यात् मन्त्रप्रमाणम् । तथाहि

शुभोऽभिष्टानमिदमुक्तं श्रद्धाप्रपिबो वाग प्रनारक्यं सन्निष्ठन्त काश्यं कृत्वा इत्यादिना । त

एव वाचका न माधव मन्त्रार्थ इति विग्रहः । तद्वत्तु ।

बाबदशानुमत्तान् (८) गाम्याशानान् । (९) गवाक्ष्य गन्तान् ।

१ प्रमत्त-भा० । २ वाचस्पत्य-व० । ३ अथर्वसंस्कृत-भा० । ४ ब्रह्मसंहिता-व० । ५ मुद्रारक्षित-  
प्रति-व० । ६ अथर्वसंहिता भाष्ये उक्तम् ।

१. अथवा ३० दिनों के भीतर न मिले तो वापस देना पड़ेगा।

यदप्युक्तम्—‘गोशब्दे समुच्चारयितव्ये अशक्त्या प्रमादेन वा बालेन गावीशब्दः समुच्चारितः’<sup>१</sup> इति; तदप्यसाम्प्रतम्; यतो यदि गोशब्दसमुच्चिचारयिष्या बालः अशक्ति-  
प्रमादाभ्यां गावीशब्दं समुच्चारयेत्, तर्हि परित्यक्तबालभावः प्रबुद्धः सन् ‘मया  
अशक्त्या प्रमादेन वाऽयं प्रयुक्तः’ इति ज्ञात्वा तं परित्यज्य गोशब्देनैव व्यवहारं कुर्यात् ।  
न च पटुकरणोऽपि गावीशब्दं परित्यज्य गोशब्देनैव व्यवहरति । ननु च असंस्कृत-  
मतिभिः सह संस्कृतशब्देन गवादिना व्यवहारः कर्तुं न शक्यते, लक्ष्णेपरिज्ञानाभाव-  
तस्तेषां संस्कृतशब्दपरिज्ञानानुपपत्तेः, अतः बहुत्वादसंस्कृतमतीनाम् अशक्तिप्रमाद-  
प्रभवोऽपि अपभ्रष्टव्यवहारः परां रूढिमागतः, येन शक्तो विज्ञातशब्दस्वरूपोऽपि जनः  
तेनैव व्यवहरति; इत्यप्येतेनैव प्रत्याख्यातम्; प्रमादाऽशक्तिप्रभवत्वे गाव्यादिशब्द-  
व्यवहारस्य उक्तदोषानुपपन्नात् ।

अपभ्रष्टवज्ज्ञास्य पुरुषार्थोऽप्रसाधकत्वात्, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्वत्र  
सर्वदाऽनैवच्छिन्नस्य एकत्वेन प्रतीत्यभावात्, सङ्केतेन अर्थाभिधायित्वाद्वा स्यात् ?  
तत्र आद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; सकलस्य धर्मार्थावैः पुरुषार्थस्य प्राकृतशब्दव्यवहारादेव  
प्रसिद्धेः । नहि कश्चित्तादृशः पुरुषार्थोऽस्ति यत्र साक्षात् परम्परया वा तैर्ज्ञैर्वहारी  
न स्यात् । तत्रातिविषादयिषया प्रयुक्तानामपि संस्कृतशब्दानामर्थः सुस्पष्टः प्राकृत-  
शब्दैरेव प्रदर्श्यते इति कथं तद्व्यवहारस्य पुरुषार्थोऽप्रसाधकत्वं यतोऽपभ्रष्टत्वं स्यात् ?  
द्वितीयपक्षे तु ठाकागमस्य “सधनं वासिणं हन्याद् भूतिकामः” [ ]  
इत्यादेः साधुत्वप्रसङ्गः, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्वत्र सर्वदा नैवच्छिन्नस्यैकत्वेन  
अस्यापि प्रतीत्यविशेषात् । शिष्टैरस्वीकृतत्वात् तत्रास्य विच्छेदः पशुवधाद्यागमेऽपि  
समानः । नहि “श्वेतमज्जमालमेत” [ ] इत्यागमः परीक्षाप्रधानैः कृपा-  
र्त्तकृतचेतोवृत्तिभिः आद्रियते । तृतीयपक्षोऽप्युक्तः, प्राकृतशब्दवत् संस्कृतशब्दाना-  
मपि सङ्केतसहायानामेव अर्थप्रतिपादनसामर्थ्यसंभवात् । असङ्केतिताऽनभि(वाभि)धाने  
अतिप्रसङ्गात् । तदेवं संस्कृतेतरशब्दानां विशेषासंभवात् उभयेषां साधुत्वमसाधुत्वं वा  
अविशेषतः प्रतिपद्यम् ।

किञ्च, स्वरूपतः प्रसिद्धे साधुत्वे कचिद् विधानं निषेधो वा युक्तः । न च  
स्वरूपतः तत् प्रसिद्धम् । तत्स्वरूपं हि वाचकत्वम्, अनादिप्रयोगिता, धर्मसाधन-  
त्वम्, विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वम्, विशिष्टार्थाभिधायित्वम्, वाधारहितत्वम्, प्रमाणा-  
न्तरानुगृहीतत्वम्, अनुपहृतेन्द्रियग्राह्यत्वम्, अनावृतत्वम्, व्याकरणसिद्धस्वरूपत्वम्

(१) पृ० ७५९ प० ६ । (२) व्याकरणसूत्र । (३) असंस्कृतमतीनाम् । (४) प्राकृतादि-  
भाषाशब्दव्यवहारः । (५) पुरुषार्थबोधनाय । (६) जैनबौद्धवैष्णवादिभिः । (७) साधुत्वम् ।

१ इत्यादि तद-अ०, व० । २ चार्थं अ० । ३-नवस्थितस्य व० । ४ तद्व्यापारव्यवहारो न आ०,  
अ० । ५-एतद्व्यवहारः अ० । ६-ननुगृहीतमनु-आ०, व० । ७-रूपं वा व० ।

वा स्यात् ? यदि वाचकत्वम्; तद् गवादिशब्दवत् गाव्यादिशब्दानामस्त्येव, अन्य-  
व्यतिरेकाभ्यां तद्वत् तेषामप्यर्थप्रतिपादकत्वप्रतिपादनात् ।

अनादिप्रयोगितापि प्रवाहापेक्षया, नित्यत्वापेक्षया वा उच्येत ? प्रथमपक्षे  
गोगावीशब्दयोरविशेषः, द्वयोरपि अनादिप्रयोगितायाः तथा संभवाद् उभयोरपि साधु-  
त्वमसाधुत्वं वाऽविशेषतः स्यात् । अनादिप्रयोगितया च साधुत्वे प्राकृतस्यैव गाव्यादेः  
साधुत्वं स्यात्, तस्यैव तत्संभवात् । प्रकृतिरेव हि प्राकृतम्, प्रकृतिश्च स्वभावः, अतः  
प्रकृतिभूतस्य अर्थस्वरूपावेदकस्य अनादिप्रयोगार्हस्य गाव्यादेरेव साधुत्वं युक्तं न तु  
संस्कृतस्य गवादेः, तस्य अनादिप्रयोगितानुपपत्तेः । सतो हि वस्तुनो गुणान्तरारोपः  
संस्कारः, स च आदिमानेव, अतः संस्कृतव्यपदेशादेव संस्कारात् पूर्वं विद्यमानं  
0 प्रकृतिभूतमन्यत्किञ्चिदस्तीत्यनसीयते । तच्च प्राकृतमेव, इत्यस्यैव अनादिप्रयोगितया  
साधुत्वमायातम् ।

अधोच्यते—न प्रकृतिरेव प्राकृतम्, किं तर्हि ? प्रकृतेर्भवम् । ननु केयं प्रकृति-  
र्नाम—यतो भव प्राकृतम् इत्युच्येत ? किं स्वभावः, धातुगणः, संस्कृतशब्दस्वरूपं वा ?  
15 प्रथमविकल्पे 'प्रकृतिरेव प्राकृतम्' इत्ययमेव पक्षोऽङ्गीकृतः स्यात्, प्रकृतेः स्वभावाद्  
लब्धात्मलाभैर्गाव्यादिशब्दैः निखिललोकानां व्यवहारप्रसिद्धेः । द्वितीयविकल्पे तु गवादि-  
शब्दानामपि प्राकृतत्वप्रसङ्गः, धातुगणात् तत्स्वरूपसिद्धेरविशेषात्, इति संस्कृतव्यव-  
हाराय दत्तो जलाञ्जलिः स्यात् । संस्कृतशब्दस्वरूपस्य तु प्रकृतित्वमनुपपन्नम्, विकारत्वात् ।  
सतो हि वस्तुनो गुणान्तराधानं संस्कारः स विकाररूपतया कथं प्रकृतित्वं प्रतिपद्येत ?

किञ्च, पूर्वापरकालभावित्वे सति प्रकृति-विकृतिभावो दृष्टः । न चात्रै तदस्ति,

20 वैपरीत्यप्रतीतिः—'आदिमद्वि संस्कृतम् अनादिमच्च प्राकृतम्' इति ।

(१) "अथ गावीशब्दस्य वाचकत्वं नोपपद्यते; तदयुक्तम्, गावीशब्देन बहुल व्याहरन्ति प्रमा-  
तार ।"—सर्वो० पृ० १२४ । (२) अनादिप्रयोगितासंभवात् । (३) "प्राकृतेति—सकलजगज्जन्तूना  
व्याकरणादिभिर्नाहितसंस्कार सहजो वचनव्यापार प्रकृति, तत्र भव संव वा प्राकृतम् । 'आरिसवयने  
सिद्ध दवाण अडमग्गहा वाणी' इत्यादि वचनाद्वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राकृतं बालमहिलादिसकलभाषानि-  
बन्धनभूत वचनमुच्यते । मधनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूप तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादि-  
तविशेषे सन् संस्कृताद्युत्तरविभेदानात्नोति । अत एव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निदिष्ट तदनु संस्कृतादीनि ।  
पाणिन्यादिभ्यामरणादितशब्दरक्षणं संस्कारणात् संस्कृतमुच्यते ।"—काव्या० रुद्र० नमि० २।१२ । (४)  
मुलना—“प्रकृति संस्कृतं तत्र भव तत आगतं वा प्राकृतम् ।”—हेम० प्राकृ०, प्राकृतसर्वं, प्राकृतच०,  
बामदृष्टा० टी० २।२ । “एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् । विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नातावस्थान्त-  
रात्मकम् ॥”—नाट्यशा० १७।२ । “प्रकृतं संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता ।”—यद्भा० । “प्राकृ-  
तस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः ।”—प्राकृतस० । “प्रकृतं संस्कृतान् साध्यमानातिशयान्च पदभवेत् ।  
प्राकृतस्यास्य लक्ष्यानुसोधि लक्ष्यं प्रथमम् ॥”—त्रि० प्रा० पृ० १ । (५) संस्कृतप्राकृतयोः ।

1—तया साधु—अ० । 2 न च थ० । 3 प्रकृतो भवम् आ० । 4 इत्युच्यते व० । 5 धातु-  
पक्षोऽन्यत्पत्तिर्दे० व० । 6 विकारित्वमात्रं थ० ।

अथ मतम्—न गुणान्तराधान सस्कार, किं तर्हि ? अभिन्नस्वरूपस्य शब्दस्य सम्यगनधिगतार्थस्य प्रकृति प्रत्ययादिविभागद्वारेण तदन्तर्गतोऽर्थः प्रकाश्यते इत्येव रूपः शब्दस्य सस्कार इति, तदप्यसङ्गतम्, प्रकृतिप्रत्ययादिविभागद्वारेण अर्थकथनस्य व्याख्यानरूपतया संस्कारत्वानुपपत्तेः । नहि यस्मादो तथाविधः सस्कार कदाचिद् दृष्टः । किं तर्हि ? गुणान्तराधानलक्षण । तथाप्यस्य सस्कारत्वाभिधाने स्वकम्वलस्य 'कूर्दालिका' इति नाम कृतं स्यात् ।

एतेन 'यद्यहर्तृशक्तिद्वारेण अपभ्रद्यत शब्दस्य रक्षाद्वारेण अविचलितस्वरूपस्यैवावस्थापन सस्कारः' इति मतान्तरमपि अपास्तम्, अविचलितरूपतयावस्थापनस्यापि सस्कारत्वेन कचिदप्यप्रतीते । अविचलितरूपतया अवस्थापनञ्च शब्दानां सादृश्यापेक्षया, नित्यैकरूपापेक्षया वा स्यात् ? यदि सादृश्यापेक्षया, तर्हि गाढ्यादि- शब्दस्यापि सस्कृतत्वप्रसङ्गः तदविशेषात् । अथ नित्यैकरूपापेक्षया, तदयुक्तम्, शब्दानां नित्यैकरूपतायाः प्राक् प्रयत्नेन प्रतिपेक्षात् । तत्र प्रवाहापेक्षया अनादिप्रयोगितातः शब्दानां साधुत्व सिद्ध्यति । तया तत्साधुत्वाभ्युपगमे च 'पितरि स्वर्गं गते ज्येष्ठेन पुत्रेण माता योढव्या' इत्यादिश्लेषैश्चैव व्यवहाराणामपि साधुत्वप्रसक्तिः, प्रवाहेण अनादिप्रयोगितायाः तत्राप्यविशेषात् । अथ नित्यत्वापेक्षया अनादिप्रयोगितातः तत्साधुत्वसिद्धिः, इत्युच्यते, तदप्युक्तिमात्रम्, शब्दानां नित्यत्वस्य प्रमाणानुपपत्त्यात् । तदनुपपन्नत्वञ्चैवा शब्दानित्यत्वसिद्धौ प्रपञ्चतः प्ररूपितमित्यलमतिप्रसङ्गेन । तत्र अनादिप्रयोगितापि तत्साधुत्वलक्षणम् ।

नापि धर्मसाधनत्वम्, तद्धि तेषां साक्षान्, परम्परया वा स्यात् ? न तावत् साक्षान्, त्रैतानुष्ठानादेः तदर्थस्य आनर्थक्यानुपपत्त्यात् । परम्परया तत्साधनत्व तु सस्कृत-

(१) न केव वयं गुणान्तराधानमपश्यन्तः सस्कार केपाञ्चिच्छब्दानामनुमयामहे '—वाङ्मया० पृ० १०७ । (२) 'रक्षाय वेदानामध्येमंशकरणम् । गोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यगवेदानं परिपालयिष्यतीति ।'—वात० महा० पृष्ठपञ्चा० । (३) पृ० ७०३ । (४) अनादिप्रयोगितायाः । (५) तुलना— श्लेषव्यवहारा अपि केचित् मातृविवाहादयो मदनोरसवाद्यपेक्षानादयः नास्ति क्वचिदपि च अपुवपरलोकाद्यपवादीनि ।—प्रमाणवा० स्व० ११२४७ । (६) 'नैवतोऽप्ययुक्ते शब्दप्रयोगः शास्त्रेण धर्मानियमः । शब्देन वार्थोऽभिधायो नापशब्देनेति । एव क्रियमाणमभ्युदयस्तत्तुल्य वेदशब्देन ।—वात० महा० पृष्ठपञ्चा० । साधवो धर्मसाधनम्—वाङ्मया० ११२७ । (७) तुलना— 'न धर्मसाधनता मित्यावृत्तिचोदनभ्योप्यधर्मोत्पत्तिः अन्यभ्योऽपि विषयधर्मोत्पत्तिः । शब्दस्य मुप्रयोगादेव स्वगमोदनपोषणा वचनमाश्रयम् । न च वविधानागमानाद्रियन्ते युक्तिज्ञाः । न च दानादि धर्मसाधनचोदनासूयकेवलशब्दमुप्रयोगान्नगणान् इति बुवाणस्य कस्याचिन्मुखं वजीभवति ।'—वाङ्मया० पृ० १०६ । 'तथा च सरङ्गान्छब्दास्तस्याद् धर्मस्तथाज्यत । स्यादस्तस्य यदा (सत्याशदाऽ) धर्मक नियम पुण्यपापयो ।—तत्त्वापरलो० पृ० २९० । प्रमेयक० पृ० ६६८ । (८) 'गन्दादनुष्ठयाथ

१-चिद्दृष्टम् ध० । २-व्यवहारात्तज-ध० । ३-चित्स्वरूप-व०, ध० । ४-रूपतापेक्षया व०, ध० । ५-प्रसगतस्तद-व० । ६-पण्येपि च ध० । ७-पेक्षस्थनादि-व० ।

शब्दवत् प्राकृतशब्दानामप्यविशिष्टम् ।

विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वं विशिष्टार्थाभिधायित्वं बाधरहितत्वं प्रमाणान्तरानुगृही-  
तत्वम् अनुपहतेन्द्रियग्राह्यत्वञ्च उभयत्राप्यविशिष्टमेव । अनावृतत्वमपि आवृतत्वपूर्वकं  
न शब्दे संगच्छते; स्थायित्वाभावात् । स्थायिन एव हि पदार्थस्य आवृतत्वानावृतत्वे  
घटेते । शब्दे च स्थायित्वं प्रागेव प्रतिपिद्धम् ।

व्याकरणासिद्धस्वरूपत्वञ्च संस्कृतशब्दवत् प्राकृतशब्दानामप्यस्त्येव । यथैव हि  
संस्कृतव्याकरणेन प्रकृतिप्रलयविभागेन शब्दा व्युत्पाद्यन्ते तथा प्राकृतेनापि । अस्याऽ-  
व्याकरणत्वे अन्यत्र कः सामान्वासः ?

यच्चान्यदुक्तम्—‘संस्कृता धागुघते’ इत्यादि; तत्राप्यसौ कदा वक्तव्या—कर्मकाले,  
अध्ययनकाले वा ? अध्ययनकाले चेत्; कस्य अध्ययनकाले प्राकृतस्य, संस्कृतस्य वा ?  
न तावत् प्राकृतस्य; तर्हि संस्कृतवाचोऽनभिधानात्, अन्यथा तदध्ययनानुपपत्तिः । अथ  
संस्कृतस्य; कथं तदध्ययनकाले अनधीयमानत्वात् प्राकृतवाचोऽसाधुत्वम् ? अन्यस्या-  
ध्ययनकाले अन्यस्याऽप्रयोगादसाधुत्वे तु पुराणाध्ययनकाले वेदवाचामप्यप्रयोगादसाधुत्वं  
स्यात् । अथ कर्मकाले; कुतस्तदा प्राकृता न वक्तव्याः—अर्थाप्रतिपादकत्वात्, अपशब्द-  
त्वात्, अधर्मेहेतुत्वाद्वा ? तत्राप्यपक्षोऽयुक्तः; गाव्यादिशब्देभ्यः संस्कृतेतरवेदिनां सुस्पष्टा-  
र्थप्रतिपत्तिप्रतीतिः ।

अपशब्दत्वञ्च गाव्यादिशब्दानां स्वरूपमात्रात्, व्याकरणादनिष्पत्तेर्वा ? यदि  
स्वरूपमात्रात्; तर्हि गोशब्दस्यापि अपशब्दत्वप्रसङ्गः तद्विशेषात् । व्याकरणादनि-  
ष्पत्तिरपि संस्कृतात्, प्राकृताद्वा स्यात् ? न तावत् प्राकृतात्; तत्रैतेषां स्वरूपनिष्प-  
त्तिप्रतीतिः । संस्कृतव्याकरणतोऽपि गावीशब्दस्य स्वरूपमात्रेणाऽनिष्पत्तिः, अर्थविशेषे  
या ? न तावत् स्वरूपमात्रेण; “र्थेयं तदादि गुः” [जैनेन्द्र० १।२।११४] इति गुंसङ्गायां सत्यां  
गोरियं गापी प्रक्रिया इति स्वरूपमात्रेण तन्निष्पत्तिप्रसिद्धेः । अथ अर्थविशेषे गोत्व-  
लक्षणे गावीशब्दस्य अतोऽनिष्पत्तेः अपशब्दत्वमुच्यते; तदप्यसुन्दरम्; तत्रैतस्याऽव्यु-  
त्पादकत्वात् । प्राकृतव्याकरणमेव हि गोत्वलक्षणेऽर्थे गावीशब्दं व्युत्पादयति नान्यत् ।  
वापस्ततोऽनुष्ठानं ततो धर्मात्प्रतिरिति ।

(१) गुणना—“न ह्येषा प्रज्ञावाद्गुणव्यादिक संस्कार पश्यामो नाप्येषामेकान्तेन श्रव्यता । नाप्य-  
प्यप्रत्ययनं कश्चिद्विषयः ।” चिष्टप्रयोग संस्कार इति चेत्; के शिष्टा ? ये वेद्यतादिगुणयुक्ता ।  
क गुणस्या गुणोऽनर्पणशोऽनर्पणवर्णो यतोऽमूर्तं च घटान् प्रयुञ्जते नापरात्” —वाचन्या० पृ०  
१०७। (२) प्राकृतव्याकरणस्य । (३) पृ० ७६१ पं० १४ । (४) प्राकृतव्याकरणस्य । (५) प्राकृतव्या-  
करणे । (६) “यस्य त्वं यस्य तस्मिन् परत तदादि शब्दस्य गुणं भवति ।”—दाधार्ण० । (७)  
‘गु’ इति यज्ञा ‘अंग’ यज्ञास्थानीया । (८) गोत्वलक्षणेऽर्थे । (९) संस्कृतव्याकरणस्य ।

१—व्याभिप्रा—ब० । २—नावृत्तार्थं घटेते ब० । ३—यस्त्येव ब० । ४—वागुत्पद्यते वा० ।

५—से वा मध्य— । ६—अवभिषोय—य० । ७—स्वे प्राह—आ० । ८—प्राकृताः सो न थ० । ९—तस्य पदार्थ

—य० । १०—प्रतिपत्तिः वा०, ब० । ११—एतेषां—य० ।

अव्युत्पादकादनिष्पत्तेः आस्य अपशब्दत्वे गोशब्दस्याप्यपशब्दत्वप्रसङ्गः, प्राकृतव्याकरणा-  
त्तस्याप्यनिष्पत्तेरविशेषात् । अतः संस्कृतेतरव्याकरणप्रसिद्धयोः गोगावीशब्दयोः गोत्व-  
लक्षणार्थाभिधायित्वेन प्रवृत्तेः कुतोऽयं नियमः 'गोशब्द एव गोत्वस्य वाचको न गावी-  
शब्दः शब्दः तथा' । यथैवं हि तुल्यप्रमाणावधारितवाचकत्वां वृक्षतरुपादपादयः पर्यायश-  
ब्दाः तथा गोगाव्यादयोऽपि । तथैहि—गो-गावी-गौणी-गोपोतलिकेत्यादयः शब्दाः गोत्वस्य 5  
वाचकाः वृद्धैस्तत्र अविगानेन प्रयुज्यमानत्वात् गौः उश्ना(स्ना)इत्यादिबन्त । तथा, गाव्यादयः  
शब्दाः गोत्वे अनादिप्रयोगाः अनवगम्यमानाऽवधित्वात् 'गौरुश्ना(स्ना)इत्यादिबन्त ।

अथ अधर्महेतुत्वादसाधुत्वमस्याः, ननु कदा तस्या अधर्महेतुत्वम्—सर्वदा, यागा-  
दिकर्मकाले वा ? यदि सर्वदा, न कदाचिद् धर्मस्यावसरः स्यात्, नित्य-नैमित्तिका-  
नुष्ठानसमयेऽपि प्राकृतशब्दानां घृतसमिदाद्यभिधायिना गोभूम्यादिदानाभिधायिनाश्च 10  
प्रयुक्तानामधर्मस्यैव हेतुत्वप्रसङ्गात् । अथ यागादिकर्मकाले, महत् तत्कर्मणो माहात्म्य  
येनान्यदा अधर्मस्याजनकमपि आत्मसत्ताकाले[ऽ]धर्मजनकं करोति इति ।

किञ्च, प्राकृतवचसामधर्महेतुत्वनियमः तदा सिद्ध्येत् यदा संस्कृतानां तेषां  
धर्महेतुत्वनियमः स्यात् । तन्नियमाभ्युपगमे च नटभटवरुट्चर्मकारादीनां संस्कृतवे-  
दवचोऽभिधायिनां प्राकृतवचसामसोपवासिन्यादिभ्यः अतीवाधिकधर्मोत्पत्तिः स्यात् । 15  
अथ ब्राह्मणस्यैव तदभिधायिनो धर्मः नान्यस्येति चेत्, न, ब्राह्मणस्य कुतश्चिदपि  
प्रमाणवत्प्रतीतिः ॥७॥

ननु प्रत्यक्षेणैव ब्राह्मण्यं प्रतीयते, विस्फारिताक्षस्य पुरोव्यवस्थितेषु क्षत्रियादिस-  
नित्यनिरौकत्वादिव हेतु तद्वैलक्षण्येन 'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगतैकाकारप्रत्यय-  
मोपेता यानिनिबन्धना विषयतया ब्राह्मणसङ्गे मनुष्यत्वाद्यतिरिक्तस्य अनुगतैकाकारस्य ब्राह्मण- 20  
प्राह्मण्यप्रतीतिरिति मीमा- (प्य)स्य प्रतिभासप्रतीतिः । न चोयं प्रत्ययः सन्दिग्धः, उभयको-  
सकादीनां पूर्वपक्ष - दिसंस्पर्शित्वाभावात् । नापि विपर्यस्तः, दोषरहितैः कारणैरारब्धत्वात्  
बाधरूपप्रत्ययरहितत्वाच्च । यदि च ब्राह्मण्यं प्रत्यक्षं न स्यात् तदा 'ब्राह्मणोऽयं पुरुषः' इति  
विशिष्टप्रतिभासो न स्यात् । अत्र हि ब्राह्मणत्वानुरागविशिष्टः पुरुषः प्रतिभासते, न पुनः

(१) गावीशब्दस्य । (२) तुलना—'तस्मात्पर्यायशब्दत्वात् गाव्यादेस्तद्वृक्षवत् । आचारेण  
प्रयोज्यत्वं न शास्त्रस्यैवनिवारितम् ॥'—तन्त्रवा० १।३।२४ । (३) तुलना—'गावीगोप्यादयं शब्दा सर्वे  
गोत्वस्य वाचका । वृद्धैस्तत्र प्रयुक्तत्वाद् गोस्त्वैवेकमादिवत् ॥'—तन्त्रवा० १।३।२४ । (४) म्लेच्छजा-  
तिविशेष । "पुलिन्दा नाहला निष्ठया श्वरा वरुटा भटा । माला भिल्ला किराताश्च सर्वेऽपि  
म्लेच्छजातयः ॥"—हंम । (५) ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयमित्यनुगतप्रत्ययः ।

१-भिषागकृत्वेन व०, थ० । २-स्वात् वृक्ष-व० । ३-गोणातलि-थ० । ४-गोहपस्वेत्या-  
व०, गोहक्षेत्या-थ० । ५-गोहपस्वेत्या-व० । ६-चरुट्-आ०, व० । ७-यदि ब्राह्म-आ० । ८-एतदन्तर्गत  
पाठो नास्ति आ० । ९-न पुनः पुरुषमार्थं थ० ।



प्रतिभासते तच्छून्यं पुरुषमात्रम् । तत्प्रतिभासे हि 'पुरुषोऽयम्' इति प्रतिभासः स्यात्  
 नतु 'ब्राह्मणोऽयम्' § इति, पुरुषातिरेकित्याद् ब्राह्मण्यस्य । न च अप्रतिपन्ने विशेषणे  
 विशिष्टः प्रत्ययो युक्तः, अतिप्रसङ्गात् । न च तथाभूतस्य ब्राह्मण्यस्य अर्थेषु संभवे प्रथ-  
 मदर्शनेऽपि प्रतिभासप्रसङ्गः, यतः स्वविशेषण्यङ्ग्या जातिः, विशेषाश्च इतरजातिपरिहा-  
 रेण अवभासमाना जात्यन्तरपरिहारेण स्वजातीर्व्यञ्जयन्ति यथा गवाश्वादयः, अतः तत्रै-  
 प्रतिभाताऽपि जातिः व्यञ्जकभेदाग्रहणान्नोत्पत्तिरिति । व्यञ्जकभेदाग्रहणञ्च अत्यन्तसुसह-  
 शावयवत्याहुषपन्नम् अत्यन्तसुसहशोगवयवत् । दृश्यते च द्रव्यपरीक्षाणा कूटाकूटवि-  
 वेके मणिपरीक्षाणाञ्च मणिकाचादिविवेके अवधानवता नैसर्गिकाभ्यासिकप्रतिभास-  
 सामग्रीसद्भावे एव कूटाकूटविवेको मणिकाचादिविवेकश्च, एवमत्रापि 'अविप्लुतेन ब्राह्म-  
 णेन अविप्लुताया ब्राह्मण्यामुत्पन्नः ब्राह्मणः' इत्याद्यौपदेशिकमातापितृब्राह्मण्यज्ञानलक्षण-  
 सामग्रीसद्भावे एव 'ब्राह्मणोऽयम्' इति विवेकेन प्रतिभासाविर्भावो भवति । यदि धा,  
 तैद्ब्राह्मण्यज्ञाननिरपेक्षः 'ब्राह्मणोऽयम्' इत्युपदेशसहकृतेन इन्द्रियेण 'ब्राह्मणोऽयम्' इति  
 ब्राह्मण्यजातिप्राप्तिं प्रत्ययो जन्यते । न च सामर्थ्यभावात् यत्र प्रतिभासते तन्नास्तीति वक्तुं  
 युक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । अविप्लुतत्तज्ज्ञ मातापित्रोः प्रवादाभावाज्जिहीयते । व्यभिचारे

(१) ब्राह्मणत्वरहितम् । (२) ब्राह्मणत्वान्यपुरुषमानप्रतिभासे । (३) पुरुषपु । (४)

'ब्राह्मणा ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मणः स्यात् सप्तमः । क्षत्रियाया तथैव स्याद् वैश्यायामपि धैव हि ॥  
 -महाभा० अनु० ७७।२८। 'मुषण व्यज्यते रूपात्तामृत्वादेरसप्तमम् । तंलाद धृत विलीनञ्च  
 गन्धन च रसन च ॥ भस्मप्रच्छादितो वह्निः स्यान्ननोपलभ्यते । अवस्थादौ च दूरस्थ निश्चयो  
 जायते स्वेतं । सप्तानन घटत्वादि ब्राह्मणत्वादि योनिर्न । स्वचिदाचारतदधापि सम्यग्ज्ञानानुपालि-  
 तात् ॥'-मी० ह्यो० वन० ह्यो० ७७-२९ । 'कथं पुनरिदं लोकस्य प्रसिद्धम् ? प्रत्यक्षेणति तूम ।  
 तस्मात्पुन मातापितृसम्बन्धानभिज्ञा चक्षुःसन्निकृष्टपु मनुष्यज्वालाख्यात न प्रतिपद्यते ? शक्यत्वभावात्  
 यथा वृषात् प्रागभिधानव्युत्पत्तिः । तत्र यथैवालाकेन्द्रियानवविण्णानुस्यूतिसद्वस्मरणव्यक्तिमहत्त्वस-  
 भिषर्षाचारविशेषान्योऽन्यजातिग्रहण कारण तथैवात्र उत्पादकजातिस्मरणम् । अयञ्चोत्पादोत्पादकस-  
 म्वन्धो मानुरव प्रत्यगोऽयथा नु अनुमानाधोपदेशावगत कारणम् । न च तत्र आदीना समुदायो ब्राह्मण्यम्,  
 न तज्जनित मत्कार, न तदभिध्यक्त्या जातिः । किं तर्हि ? मातापितृजातिज्ञानाभिध्यक्त्या प्रत्यक्षस-  
 मधिगम्या । -तत्रवा० १।२।२। तस्मात्समानाकारेष्वापि विष्टपु विलक्षणब्राह्मणप्रत्ययवधबाह्य-  
 दिजातिनिर्वाङ्मो नु गच्छति । 'तत्रवा० -वापसु० पु० १०-१५। 'यथा ब्राह्मणत्वादिजातिरप्यदशसव्य-  
 ग्वाचार्गुर्दिग्दशह्यापि न प्रत्यगगम्यतामपोज्ञमिति यथा च ब्राह्मणत्वादिजातिप्रतीतो कारणान्तरमुक्त  
 वचिदाचारतदधापि सम्यग्ज्ञानानुपालितादिनि मवादिदिज्ञानवचवत्त्वानुमरणनिपुणनरपरिपात्य  
 मानवर्णार्थमाणा गच्छितव्यत्वात्तथावत्पुनरुदव्यभिचारे दसो विनिष्टाचारगम्यापि ब्राह्मणत्वादिजा-  
 तिर्भवति ।'-ग्यापम० पु० ४२२। (५) मातापितृब्राह्मण्यज्ञान । (६) स्व्यराधात् दुर्ज्ञानोऽयं सम्बन्ध  
 इति स्वयमवधारयति । न च तावन्मात्रं प्रयत्ना हायत । न हि यन्मिदं तन्माहस्य गृह्यत तदप्रत्य-  
 धम् । न च यथावा वचिद्व्यभिचारान्मानानुभववत्त्वानुमुक्ता । अवविद्वदनुमानासम्भवान् । विनि-  
 ष्टन हि प्रयत्न मशानुतीत परिधत्तव्याप्तमानम्, अनन्व ह्यनुना राजनिब्राह्मण्यस्य स्वतृप्तितामहा-

१ ब्राह्मणत्व व० ध० । २ ब्राह्मणत्व व० ध० । ३ इतरजाति-आ० । ४ प्रतिभातापि  
 आ०, ध० । ५-सामान्यासद्भा-व० । ६ इत्योपदेश-व०, इत्यापदे-ध० ।

हि प्रवादेन व्याप्तः, अतः प्रवादो निवर्त्तमानः व्यभिचारं निवर्त्तयति, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्याऽनिवृत्तिविरोधात् ।

यदि च ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मण्यजातिरर्थो न स्यात् तदाऽयमनर्थकः स्यात्, न चैतद् युक्तम्, एतदुच्चारणानन्तरभाविनोऽयं प्रत्ययस्य उपलभ्यमानत्वात् । तन्निवन्धनव्यवहारस्य च 'ब्राह्मणं भोजय' इत्यादिरूपस्य असन्दिग्धाबाधितस्य सुप्रतीतत्वात् । पांशुपतादिलिङ्गिनामपि ब्राह्मणत्वादजात्यनुरूपो नामचिह्नाचारोपदेशादिव्यवहारो दृश्यते, अतः सुदृढव्यवहारदर्शनाद् व्यक्तिभ्योऽर्थान्तरभूता प्रत्यक्षतः प्रसिद्धा ब्राह्मण्यजातिः ।

तथा अनुमानतोऽपि; तथाहि—असति प्रतिबन्धके यो यदाकारः प्रत्ययः स तदाकारविषयनिमित्तकः यथा नीलादिप्रत्ययः, असति प्रतिबन्धके भवति च 'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगतैकाकारः प्रत्ययः, तस्मात् पिण्डव्यतिरिक्त-अनुगतेकाकारब्राह्मण्यनिमित्तक इति । यदाकारो हि प्रत्ययः विषयेणापि तदाकारेणैव भवितव्यम्, अन्यथा नीलादिप्रत्ययस्य अनीलादिविषयत्वप्रसङ्गात् प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थायिलोपानुपपन्नः ।

तथा, ब्राह्मणपदं व्यक्तिव्यतिरिक्तेरुनिमित्ताऽभिधेयसम्बद्धम् पदत्वात् पटादिपदवत् । न चायमसिद्धो हेतुः, धर्मिणि विद्यमानत्वात् । नापि विरुद्धः; विपक्ष एवाऽवृत्तेः । नाप्यनैकान्तिकः, पक्षसपक्षवद् विपक्षेऽप्यप्रवृत्तेः । नापि साधनविकलो दृष्टान्तः; पटादिपदेषु पदत्वस्य विद्यमानत्वात् । नापि साध्यविकलः; तेषु व्यैक्तिव्यतिरिक्तेरुनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वाभावे व्यक्तीनामानन्त्येन अनन्तेनापि कालेन सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः ।

तथा वर्णविशेषाध्ययनाचारयन्त्रोपवीतादिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनं 'ब्राह्मण' इति ज्ञानं तन्निमित्तबुद्धिविलक्षणत्वात् गवाश्वादिज्ञानमिति ।

द्विपरम्पर्याविस्मरणार्थं समूहलक्ष्यानि प्रवर्तितानि । तथा च प्रतिकूलगुणदोषस्मरणान्तदनुष्णाप्रवृत्तिनिवृत्तयो दृश्यन्ते । "तत्रवा० १।२।२। "स्त्रीत्वस्य व्यभिचाराप्रयोजकत्वमूचनार्थोऽनुमाने कल्पनाशब्दः । न च निर्मूलनत्वेन लोकस्याप्रामाण्यम्, प्रयत्नन रक्षणे योग्यानुपलब्धेर्नृत्वसम्भवादिनिर्दोषयुक्ताह-विशिष्टेन हीति । महाकुलीनानां पुरुषाणां स्त्रीरक्षणमेव आत्मरक्षणम्, जायाया रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षित इति स्मरणात् । यदा दुष्कुलप्रभूतत्वं व्यभिचारशीलत्वे प्रयोजकं न स्त्रीत्वमिति निर्दोषयुक्ताह-कुलीनत्वं स्त्रीणामुक्तम् । व्यभिचाराभावनिश्चयमेव अभियुक्तवृद्धव्यवहारेण द्रव्यमिदं अनेनैवाति । व्यभिचाराभावनिश्चये हि निर्मूलत्वात् पितृपितामहाद्विपरम्परालेखनात्मकसमूहलक्ष्यं व्यर्थं स्यादिति भावः । कुलपरोक्षापूर्ववेदान्तिनपुरुषगतविवाहादिव्यवहारेणापि तमेव द्रव्यमिति तथा चेति । "तत्रवा० न्यायसु० ५०।१२। "यत्र यावदुपलब्धिसामर्थ्यं तावत्वा सत्यामपि यासा व्यभिचारो न दृश्यते तासां नास्त्येवं व्यभिचार इति लोकप्रमाणकमेतत् । अपि च अग्रमत् स्त्रियो रक्षणीया, तासु नास्त्येवं व्यभिचारसम्भावनावकाशो यामु त्वस्ति मा भूत् तदपत्येषु तत्सन्ततिप्रभवत्वनिश्चयः । न चैतावता यत्रापि निश्चयः शक्यस्तत्रापि अनिश्चय इति युक्तमिति । "प्रक० ५० प० ३१ ।

(१) ब्राह्मणशब्दप्रयोगः । (२) शैवादिभेदानाम् । (३) ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्यय पिण्डव्यतिरिक्तब्राह्मण्यनिबन्धन असति प्रतिबन्धके ब्राह्मणोऽयमित्याकरतया समुत्पद्यमानत्वात् । (४) पटादिपदेषु । (५) पटव्यक्तितो व्यतिरिक्तमेकं निमित्तं पटत्वात्सम् ।

१-चारं विनि-ब० । २-तस्य प्रती-ब० । ३ सुबुद्ध व्यर्थ-थ० ।

तथा 'ब्राह्मणेन यएव्य ब्राह्मणो भोजयितव्यः' [ ] इत्याशागमादपि ब्राह्म-  
ण्यजातिः प्रसिद्धा । तथा 'वेदेतिहासपुराणप्रसिद्धा चासौ "आदौ ब्रह्मा मुसतो ब्राह्मणं  
सत्सर्ज, बाहुभ्या चत्रियम्, ऊरुभ्या वैश्यम् पद्भ्यां शूद्रम्" [ ] इत्यादि वैचसां  
भूयसां तत्र तत्प्रतिपादकानां श्रवणादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'प्रत्यक्षेणैव ब्राह्मण्यं प्रतीते' इत्यादि; तदसमी-  
चीनम्, यतः किं केवलेन्द्रियजनितेन तेन तत्प्रतीयेत, अन्यसहकृतेन्द्रिय-  
जनितेन वा ? प्रथमपक्षे किं निर्विकल्पकेन, सविकल्पकेन वा तज्जनि-  
तेन तेन तत्प्रतीयेत ? न तावन्निर्विकल्पकेन, तत्र जात्यादिप्रतिभासा-  
भावात्, भावे वा निर्विकल्पकत्वविरोधः कथमन्यथेदं शोभेत—

“अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥  
ततः परं पुनरिस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यथा । बुद्ध्यावसायते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥”  
[मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ११२, १२०] इति ।

नापि सविकल्पकेन, अस्य निर्विकल्पकाविषये प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । उपपत्तौ वाऽति-  
प्रसङ्गे । न च विस्फारिताक्षस्य पुरोवर्त्तिरण्डमुण्डकर्मादिव्यक्तिषु गवाश्वादिजातिष्व

(१) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यं कृत । ऊरू तदस्य यद्वैश्यं पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥”—  
श्रृगु० पुरुष० १२ । “अस्य प्रजापते ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टं पुरुषं मुखमासीनं मुखादुत्पन्न इत्यर्थः ।  
योऽयं राजन्यं क्षत्रियत्वजातिविशिष्टं स बाहू कृतो बाहुत्वेन निष्पादितो बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः ।  
तत्तदानीमस्य प्रजापतेर्यच्चावूरू तद्भूयो वैश्यं सम्पन्नं ऊरुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः । तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां  
शूद्रं शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत । इयञ्च मुखदिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्बहुं संहिताया (३१।११)  
सप्तमराण्डे 'स मुखतस्त्रिभुव निरमिमीत' इत्यादौ विस्पष्टमान्नाता ।—सायणभा० । (२) पृ० ७९८  
पृ० १८ । (३) तुलना—“तत्र किं निर्विकल्पात् विवक्ष्यकादा ततस्तत्प्रतिपत्तिः स्यात् ।”—प्रमेयक० पृ०  
४८२ । स्या० २० पृ० ९५८ । (४) इन्द्रियजनितेन प्रत्यक्षेण । (५) निर्विकल्पके । (६) व्याख्या—  
'यत्त्वविशदमसहमानं सर्वमेव ज्ञानं यद्वानुविदत्वात् सविकल्पकमव न विञ्चिन्नविकल्पकमस्तीति  
मन्यत तं प्रत्याह—अस्तीति । बालानामिव अव्युत्पन्नानामस्माकमपि चक्षुःसन्निपातानन्तरं सविकल्पकात्  
प्रथममस्ति निर्विकल्पकं प्रतीतिमिदमालोचनविज्ञानं शुद्धवस्तुविषयम्, तदभावे हि निनिमित्तं शब्दस्मरणं  
भ्यान् । अस्मृतशब्दस्य च (न) यद्वानुविदो विवक्ष्यं सन्नवतीति । शुद्धवस्तुजमित्येतद्विष्णोति— न  
विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयत । तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावधीयत ॥ महाशामान्यमन्यस्तु  
द्रव्यं मदिधि चाप्यन ।—मी० श्लो० न्यायर० । उद्धृतोऽयम्—“ज्ञानमात्रं चरित्रविकल्पकम्”—तत्त्वतः० पृ०  
३८५ । प्रमेयक० पृ० ४८२ । प्रमेयर० पृ० ७४ । स्या० २० पृ० ९५८ । स्या० मं० श्लो० १३ ।  
'ह्यालोचनं ज्ञानं'—पञ्चद० बृह० पृ० ११ । (७) तथा निर्विकल्पादुत्तरत्वात् जात्यादिभिर्विकल्प्य  
वस्तु यथा बुद्ध्या गृह्यते गार्हपत्यं प्रत्यक्षमवति ।—मी० श्लो० न्यायर० । उद्धृतोऽयम्—तत्त्वतः० पृ०  
३८५ । प्रमेयक० पृ० ४८२ । स्या० २० पृ० ९५८ । (८) मनाराज्यादिविकल्पादपि वस्तुनिष्ठिप्रवृत्तात् ।  
(९) तुलना—'विराजितनागस्य पुरावर्त्तिरण्डमुण्डकर्मादिव्यक्तिषु गवाश्वादिजातिष्वनु मनुष्यव्यक्तिषु  
मनुष्यवस्तुगणितेतिहासब्रह्मण्यस्य कस्यचिदप्रतिभागात् ।—स्या० २० पृ० ९५८ ।

शुक्लत्वादिगुणवद्वा मनुष्यव्यक्तिपु मनुष्यत्वपुंस्त्वौचितिरिक्तस्य ब्राह्मण्यस्यैकस्य अरिल-  
स्वव्यक्तिप्वनुगतस्य प्रतिभासोऽस्ति । कथमेव कचिद् ब्राह्मणत्वानुरक्तोऽनुगतप्रत्ययः  
स्यादिति चेत् ? सङ्केतयशात्, यथैव हि परस्परविलक्षणेपु गोवज्रादिपु एकगोत्वरूपसामा-  
न्याभावेऽपि 'गौः गोः' इत्यनुगताकारैकप्रत्ययः तथा अन्योन्यविलक्षणेप्वपि मनुष्यव्य-  
क्तिविशेषेपु 'ब्राह्मणोऽय ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगताकारैकप्रत्ययो भविष्यति । वस्तुसामर्थ्य-  
प्रभवत्वे तु अगृहीतसङ्केतास्वपि व्यक्तिपु तन्मात्रोपलम्भेनैव अव्यभिचारिगोप्रत्ययवत्  
सं स्यात्, न चैवम् । न रल्लु यथा महिषादिसङ्गे गवा गोजातिः वैलक्षणेन प्रतिभासते  
स्वसङ्गे च गुणः क्रिया वा, तथा ब्राह्मण्यमपि । नहि हस्तपादाद्याकारव्यङ्ग्यमनुष्य-  
त्वाद् व्यतिरिच्यमानपुस्त्वादिसामान्यवत् ब्राह्मण्यत्व वैचित्त्येन जातु प्रतिभासते ।  
अन्यसहकृतेन्द्रियजनितेनापि तेन निर्विकल्पकेन, सविकल्पकेन वा तत् प्रतीयते ? 10  
उभयत्र उक्तदोषानुपपन्नः ।

किञ्च, इन्द्रियाणां तद्विषय प्रत्यक्षमुपजनयता किं तदव्यक्तं सहकारित्वेन अभिप्रे-  
तम्-ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वम्, पित्रोरविच्छ्रुतत्वोपदेशः, आचारविशेषः, सस्कारविशेषः,  
वेदाध्ययनम्, यज्ञोपवीतादिकम्, ब्रह्मप्रभवत्वं वा ? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः, यतः  
पित्रोर्ब्राह्मण्ये सिद्धे तज्जन्यत्वेन पुत्रस्य ब्राह्मण्यं सिद्धेत्, तच्चानयोः ब्राह्मणभूतपितृ-  
जन्यत्वात् सिद्धेत्, तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा ? प्रथमपक्षे अनवस्था । वीजाङ्कुरवदना-  
दित्वात् तत्कार्यकारणप्रवाहस्य अतो नानवस्था दोषाय, इत्यप्युक्तम्, यतो वीजाङ्कुरयोः  
कार्यकारणभावः पूर्ववीजाङ्कुरकार्यकारणभावग्रहणनिरपेक्षः प्रमाणतः प्रतीयते, अत्र तु  
पूर्वपूर्वब्राह्मण्यप्रतिपत्त्यभावे परापरब्राह्मण्यप्रतिपत्तेः कर्तुमशक्यत्वात् दृष्टान्त-वादी-  
न्तिकयो मनागपि साम्यम् । द्वितीयपक्षे तु अन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि पितृब्राह्मण्ये ब्राह्मण-  
भूतपितृजन्यत्वेन पुत्रब्राह्मण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ च ब्राह्मणभूतपुत्रजनकत्वात् पितृब्राह्म-  
ण्यसिद्धिरिति । 20

(१) वस्तुमात्रोपलम्भनैव । (२) ब्राह्मणोऽय ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्ययः । (३) मनुष्यत्व हि  
स्त्रीपु पुरुषपु च व्याप्तम्, पुरुषत्व तु पुरुषमात्र एव । (४) प्रत्ययश्च । (५) ब्राह्मण्यम् । (६)  
'ननु किमिदमिन्द्रियसहकारित्वेनानुपपन्नम्-ब्राह्मणभूतत्वपितृजन्यत्वम्, पितृयोषरो'दिव्युतत्वोपदेशः,  
आचारविशेषः, सस्कारविशेषः, वेदाध्ययनम्, यज्ञोपवीतादिकम्, ब्रह्मप्रभवत्वं वा ?'-स्या० २० पृ०  
९५८ । (७) तुलना- यत पित्रादिब्राह्मण्यज्ञान प्रमाणमप्रमाण वा ?'-प्रमेयक० पृ० ४८३ । (८)  
'तच्चानयो ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वात् सिद्धयत् तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा ?'-स्या० २० पृ० ९५९ ।

1 मनुष्यपुस्त्वा-आ०, व० । 2-स्त्वाव व्यति-श्र० । 3 ब्राह्मण्यस्य-आ०, श्र० । 4-गत  
प्रत्य-व० । 5-सद्विषय मनुष्यत्वपुस्त्वादिव्यतिरिक्तस्य ब्राह्मणोऽय श्र० । 6-जारी गोप्रत्य-आ०, व० ।  
7 महिष्यादि-श्र० । 8 स्वस्वसङ्गे व० । 9-स्वाद्यतिरि-व०, आ० । 10 जाति प्रति-श्र० ।  
11-जन्मतव व० । 12 तत्राद्य-व० । 13 ब्राह्मण्यभूत-श्र० । 14-ह्यण्यभावेपरा-श्र० । 15 पुत्र-  
ब्राह्मण्यसिद्धिः तत्सिद्धौ च ब्राह्मण्यसिद्धिः तत्सिद्धौ च ब्राह्मण-आ० ।

‘अविप्लुतेन ब्राह्मणेन अविप्लुताया ब्राह्मण्यामुत्पन्नो ब्राह्मणः’ इत्यविप्लुतमातापित्रु-  
पदेशस्तत्सहकारी, इत्यपि श्रद्धामार्गम्, प्रमाणतोऽप्रतिपन्नेऽर्थे वास्तवोपदेशासम्भवात् ।  
यत्र कुतश्चित् प्रमाणात् प्रतीयते न तत्रोपदेशो वास्तवः यथा सकलशून्यतायाम्, कुतश्चि-  
दपि प्रमाणात् प्रतीयते च भवत्कल्पित ब्राह्मण्यमिति । अथ प्रत्यक्षत एव ब्राह्मण्य प्रतीय-  
यथोक्तोपदेशो विधीयते, तदसत्, परस्परश्रयप्रसङ्गात्—सिद्धे हि ब्राह्मण्यप्रत्यक्षत्वे  
प्रमाणभूतयथोक्तोपदेशसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तथाभूतोपदेशसहकृतेन इन्द्रियेण ब्राह्मण्य-  
प्रत्यक्षतासिद्धिरिति ।

अविप्लुतत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया, अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया वा अभिप्रेतम् ?  
यदि विवक्षितपित्रपेक्षया, तत्रापि अनयोः तज्जन्मनि अविप्लुतत्वमभिप्रेतम्, अनादि-  
काले वा ? तज्जन्मनि चेत्, केन तत्र तयोः प्रतीयेत—पुत्रेण, अन्यैर्वा ? न तावत्  
पुत्रेण, स्वजन्मकालेऽपि तस्य तद्विवेचनासामर्थ्यात् । नाप्यन्यैः, तद्वि तैः प्रत्यक्षतः  
प्रतीयेत, अनुमानात्, आगमाद्वा ? न तावत् प्रत्यक्षतः, ‘अयमेतस्मादेव एतस्यामुत्पन्नः’  
इत्येयरूपस्यार्थस्य अर्थादृशा प्रत्यक्षीकर्तुमशक्यत्वात् । नाप्यनुमानात्, प्रत्यक्षाविषये  
भवता अनुमानाऽनभ्युपगमात् । लिङ्गाच्च अनुमानमुदयमासादयति । न च पित्रविप्लु-  
तत्वे किञ्चिद्विज्ञमस्ति । तत्र हि लिङ्गम्-पित्रोः सञ्चुताकारादिविशेषः, अपत्येष्वविल-  
क्षणता वा ? तत्रापक्षोऽयुक्तः, दुश्चारिणाम् अतीव सञ्चुताकारदर्शनात् । द्वितीयपक्षोऽ-  
प्यपेशलः, यतो यदि विप्लुतेतरपितृप्रभवाऽपत्येषु विलक्षणकारता सिद्ध्येत् तदा अवि-

(१) तुम्हा—न खलु द्विजादिभावः प्रमाणगोचरकारी । स हि जातियोगरक्षणं गोत्ररक्षणं  
प्रियासामर्थ्यातिशययोगो वा ? परोपदेशप्रामाण्यं प्रत्यक्षार्थं न युक्तिमत् । उपदेशो हि शोबानाम्  
भाषि प्रवर्तत ।—प्रमाणवाक्यिका० पृ० २२ । नचोपदेशसहाय्याप्यक्षमस्य तत् अत्यक्षविषये उपदे-  
शापेक्षायोगात् । तद्योगो वा उपदेशस्यैव नववत्स्य व्यापार इति उपदेशमात्रव्यवहृत्यैव ।—सप्तमि०  
टी० पृ० १९७ । (२) गृहमस्य नोपदेशो वास्तवः प्रमाणतोऽप्रतीयमानत्वात् । (३) ‘किञ्च, गृहम-  
स्यजातेः प्रत्यक्षतासिद्धौ यथोक्तोपदेशस्य प्रत्यक्षहस्तुतासिद्धिः, तत्सिद्धौ च तत्प्रत्यक्षतासिद्धिरित्यन्यो-  
पाश्रयः ।—प्रमेयक० पृ० ४८३ । स्या० २० पृ० १५९ । (४) तुलना—‘तृदिवशद्वितीयोऽपि पित्रो-  
वित्रोपदेशः । तदानन्तरं त्रयोपाददोषा जातिरस्ति वा । वाभिनीवगससर्गं क सञ्चान्तपातव’ ।  
—नयप० १७। ४०—६१ । ‘अविप्लुतत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया वा-  
भिप्रेतम् ? यदि विवक्षितपित्रपेक्षया, तत्राप्यनयोस्तज्जन्मन्यविप्लुतत्वमभिप्रेतमनादिकालं वा ?  
तज्जन्मनि चेत्, तर्हि केन तत्र तयोः प्रतीयेत पुत्रेण अन्यैर्वा ?—स्या० २० पृ० १५९ । (५)  
विवक्षितपित्रपेक्षया तज्जन्मन्यविप्लुतत्वम् । (६) ‘नच पित्रोरविप्लुतत्वं विञ्चितलिङ्गमस्ति, तद्वि  
(७) सञ्चुताकारादिविशेषः अपत्येष्वविलक्षणता वा ?—स्या० २० पृ० १५९ । (७) तुम्हा—  
नच विप्लुतपित्रप्रत्यक्षं विलक्षणं उच्यते । न खलु वदवाया गदभादवप्रमवापत्यप्यिव  
गृहमस्य गृहमस्यवापत्यप्यिव वदवाया उच्यते ।—प्रमेयक० पृ० ४८३ । स्या० २० पृ०  
१५९ । ‘न च जात्यन्तरस्य पुत्रेण स्त्रियोऽप्यपि । त्रियत्तं गमयभूतिविप्रादीनां तु जायते ॥  
अदरात्तं रामभनास्ति सन्नवात्स्यपि चन्म स । निजान्तमयजातिस्वः यद्यस्ति नृगाम्यत् ॥ यदि वा

लक्षणाकाराऽपत्योपलम्भात् पित्रोरविप्लुतत्वं निश्चीयते, न चासौ' सिद्धा । न खलु बह-  
वायां गर्दभाश्चप्रभवाऽपत्येष्विव ब्राह्मण्यां ब्राह्मणशूद्रप्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्यं स्वप्नेऽपि  
प्रतीयते । आगमतोऽपि अपौरुषेयात्, पौरुषेयाद्वा तयोरविप्लुतत्वप्रतिपत्तिः स्यात् ? न  
तावदपौरुषेयात्; तत्प्रतिपादकस्य अपौरुषेयस्य आगमस्यैवाऽसंभवात् । पौरुषेयो-  
प्यागमः तैत्प्रणेत्रा प्रमाणान्तरेणानयोरविप्लुतत्वे प्रतिपन्ने सति प्रवर्त्तमानः प्रमाणां  
भजते, 'न तैत्प्रतिपत्तिः कुतश्चिदस्ति' इत्युक्तम् । तन्न तज्जन्मनि अनयोरविप्लुतत्वं  
कुतश्चित् प्रत्येतुं शक्यम् ।

एतेन अनादिकाले तैयोस्तत्प्रतिपत्तिः प्रत्याख्याता, ययोर्हि तज्जन्मन्यप्यधिप्लुतत्वं  
प्रत्येतुं न शक्यते तयोः अनादिकाले तत् प्रतीयते इति महच्चित्रम् !

एतेन अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया अधिप्लुतत्वप्रतिज्ञा प्रतिव्यूढा ।

किञ्च, सैवैव अवलानां कामातुरतया इह जन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भात्  
अनादौ काले ताः कदा किं कुर्वन्तीति ब्रह्मणापि ज्ञातुमशक्यम् । तथा च 'व्यभिचारो हि  
प्रवादेन व्याप्तः' इत्याद्युक्तम्; अत्यन्तप्रेच्छन्नकामुकानां प्रवादाभावेऽपि व्यभिचारसंभ-  
वतः तस्य तेन व्याप्यनुपपत्तेः । अतः पित्रोरविप्लुतत्वस्य कुतश्चिदप्रसिद्धेः न तदुपदेशो  
ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताप्रादुर्भावे चक्षुषः सहकारित्वं प्रतिपद्यते ।

नापि आचारविज्ञेयः; स हि ब्राह्मणस्याऽसाधारणो याजनाऽध्यापनप्रतिग्रह-

तद्वदेव स्याद् इयोरविसृष्टा सुत । नात्र दृष्टं तथा तस्मादगुणैर्वर्णव्यवस्थिति ॥"-पद्मपु० ११।१९६-९८।  
"वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेस्मिन्न च दर्शनात् ॥ ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥ नास्ति जातिवृत्तो  
भेदो मनुष्याणां गवाश्ववन् । आकृतिग्रहणात्समादन्यथा परिवर्त्यते ॥"-उत्तरपु० ७४।४९१-९२ ।

(१) विप्लुतेतरप्रभवापदेषु विलक्षणाकारता । (२) तुलना-"न च वेदवच विञ्चित्  
द्विजातित्वप्रसाधकम् । व्यक्ते सामान्यवचनमनुक्तसममेव तत् ॥"-प्रमाणवार्तिककाल० पृ० २५। (३)  
आगमप्रतिपादकेन । (४) अविप्लुतत्वप्रतिपत्तिः । (५) पित्रोरविप्लुतत्वप्रतीतिः । (६) तुलना-  
"यदाहु-अनादाविह ससारे दुर्वरि मकरध्वजे । कुले च वामिनीमूले का जातिपरिवर्त्यना ॥"-नैषध०  
टी० १७।४०। "अनादिगोत्रपद्धत्यामस्या न स्खलन स्त्रिया । इति ज्ञान कथनाम कामार्ता हि सदा  
स्त्रिय ॥ ब्राह्मणत्वे स्थिते पूर्वं तद्गोत्रत्वस्य सभवं । तदाऽस्थिते कथं गोत्र सेयमन्धपरम्परा ॥"  
-प्रमाणवार्तिककाल० पृ० २५ । "अतीतवच महान् कालो योपिताश्चातिचापलम् । तद् भवत्यपि  
निश्चेतु ब्राह्मणत्व न शक्यते ॥ अतीन्द्रियपदार्थतो न हि कश्चित् समस्ति व । स्वदन्यवविशुद्धिश्च  
नित्यो वेदोऽपि नोक्तवान् ॥"-तत्त्वस० का० ३५७९-८० । "प्रायेण प्रमादना कामातुरतया  
इहजन्मन्यपि व्यभिचारेपलम्भात्तुतो योनिनिबन्धनो वाह्मण्यनिश्चयः ।"-प्रमेयक० पृ० ४८२ । "अना-  
दिगोत्रपद्धतो च कामार्तत्वात् सर्वदा प्रमदाना कस्याश्चिद् व्यभिचारसंभवात् कुतो योनिनिबन्धन-  
ब्राह्मण्यनिश्चयात् सस्कारस्य अध्ययनादेश्च अविपर्यस्तत्वनिश्चयः ॥"-सम्मत० टी० पृ० ६९८ ।  
स्या० २० पृ० ९६० । "न विप्राविप्रयोरस्ति सर्वदा शुद्धशीलता । कालेनानादिना गोत्रे स्खलनं वद  
न जायते ॥"-धर्मप० १७।२८। (७) "अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहञ्चैव  
ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥"-मनुस्मृ० १।८८।

ग्रहादिः, स च तत्प्रत्यक्षतानिमित्तं न भवति अव्याप्तेरतिव्याप्तेश्चानुपपन्नात्, याजनादि-  
रहितेषु हि ब्राह्मणेष्वपि तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गादव्याप्तिः, शूद्रेष्वपि अखिलस्य याजना-  
द्याचारस्योपलब्धितो ब्राह्मणानुपपन्नाच्चातिव्याप्तिः । अथ मिथ्याऽसौ आचारविशेष-  
स्तत्र, अन्यत्र कुतः सत्यः ? ब्राह्मण्यसिद्धेश्चेत्, अन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि आचारसत्यत्वे  
5 ब्राह्मण्यसिद्धिः, तस्मिद्धौ च आचारसत्यत्वसिद्धिरिति ।

किञ्च, आचाराद् ब्राह्मण्यसिद्ध्याभ्युपगमे व्रतबन्धात् पूर्वमब्राह्मण्यप्रसङ्गः ।  
तत्र आचारोऽपि तैत्प्रत्यक्षतां प्रत्यङ्गम् ।

एतेन संस्कारविशेषस्यापि तदङ्गता प्रत्याख्याता, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योरव्याप्य-  
विशेषात् । तत्र अव्याप्तिः—संस्कारविशेषात् पूर्वं ब्राह्मणस्यापि अब्राह्मण्यप्रसक्तैः  
10 स्यात् । अतिव्याप्तिः पुनः अब्राह्मणस्यापि तथाविधसंस्कृतस्य ब्राह्मणत्वापत्तेः स्यादिति ।  
एतेन वेदाध्ययनस्य यज्ञोपवीतादेश्च तदङ्गता प्रतिव्यूढा । ब्राह्मप्रभवंत्वस्य च तदङ्गत्वे  
अतिप्रसङ्ग एव, सकलप्राणिनां तत्प्रभवतया ब्राह्मण्यप्रसङ्गात् ।

किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति, न वा ? यदि नास्ति; कथंमतो ब्राह्मणोत्पत्तिः ?  
न हि अमनुष्यात् मनुष्योत्पत्तिः प्रतीता । अथ अस्ति, किं सर्वत्र, मुखप्रदेशे एव  
15 वा ? यदि सर्वत्र, स एव प्राणिना भेदाभावानुपपन्नः । अथ मुखप्रदेश एव, तदाऽ-  
न्यत्रार्थे शूद्रत्वानुपपन्नात् न पिप्राणां तत्पादादयो यन्धाः स्युः ।

(१) तुलना—'अथाध्ययनादिना त्रियाविशेषेण ज्ञायते नोपदेशमात्रात्; तदध्यस्तु; द्विजा-  
तित्वे त्रिया साध्या न त्रियातो द्विजातिता । वचनादपि नैवास्या प्रतीतिरविरोधनी ॥"—प्रमा-  
णवातिकाल० पृ० २३ । "जातकर्मदयो ये च प्रसिदास्ते तदयवत् । आचारा सावृतास्ते हि इन्द्रि-  
मन्वपि भाविन ॥"—तत्त्वसं० का० ३५७८ । "अथ एवाध्ययन त्रियाविशेषो वा तत्सहायता न  
प्रतिपद्यत । दृश्यते हि मूढोऽपि स्वजातिविलोपाह्वान्तरे ब्राह्मणो भूत्वा वेदाध्ययनं तत्प्रणीतान्व-  
त्रिया कुर्वन् ॥"—प्रमेयक० पृ० ४८५ । "अव्याप्तेरतिव्याप्तेश्चानुपपन्नात्"—स्या० १० पृ० ९६० ।  
(२) गूढादिषु । (३) ग्राह्मण्यप्रत्यक्षताम् । (४) तुलना—"एतेन संस्कारविशेषस्य वेदाध्ययनस्य  
यज्ञोपवीतादेश्च चक्षुःसहकारिता प्रत्युक्ता, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योरव्याप्यविशेषात् ॥"—स्या० १० पृ०  
९६१ । (५) ग्राह्मण्यप्रत्यक्षतानिबन्धनत्वे । (६) तुलना—"ब्रह्मणोऽत्ययतामात्रात् ब्राह्मण्येति प्रसज्यते ।  
न कश्चिदग्रहस्तनोस्तत्र क्वचिद्विष्यत ॥ अन्तरा जातिभेदवर्तिनमित्तं कथं भवेत् । अन्तराले  
त्रियाभ्रान् गोत्रणार्थो न कस्यचित् ॥ अथ द्विजादिगोत्राणामनादिर्भेद इष्यते । ज्ञायता स कथमत्र  
प्रमाणस्याप्रवृत्तिः ॥ त्रिया तदपरिज्ञानादत्रिमेव प्रसज्यते । अविच्छदश्च गोनस्य प्रत्येतुं शक्यते न  
च ॥ मूलमागधचाण्डालः कथं सुभविनोऽप्यथा । ज्ञायन्त एव ते तज्ज्ञैरिति चेन्नियमो न हि ॥"—  
प्रमाणवातिकाल० पृ० २४ । (७) ब्रह्मप्रभवतया । (८) तुलना—"किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति वा न  
वा ? नास्ति चन्, कथमतो ब्राह्मणोत्पत्तिः ? अस्ति चेत्; किं सर्वत्र मुखप्रदेश एव वा ?"—प्रमे-  
यक० पृ० ४८४ । स्या० १० ९६१ । (९) अब्राह्मणाद् ब्रह्मण । (१०) सर्वत्र शरीरावयवेषु मुखा-  
दिपादान्तषु । (११) पादादिषु । (१२) ब्रह्मण ।

१ आचारस्तत्र व०, आ० । २ व्याप्योस्तत्रा—थ० । ३ त्वानुपपत्ते थ० । ४ वरयसाधनत्व  
न व व० । ५ —सिः प्रतीयते व०,—तित्ता प्रतीता थ० ।

किञ्च, ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते, तन्मुखादेवं वासौ जायते ? विकल्पद्वयेऽपि अन्यो-  
न्याश्रयः—सिद्धे हि ब्राह्मणत्वे तस्यैवं तन्मुखाज्जन्मसिद्धिः, तत्सिद्धौ च ब्राह्मणत्वसिद्धिरिति।  
न च ब्रह्मप्रभवत्वं विशेषणं ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताकाले केनचित् प्रतीयते। न च अप्रतिपन्नं विशेष-  
णं विशेष्ये प्रतिपत्तिमाधातुं समर्थमतिप्रसङ्गात्। यद् विशेषणं तत् प्रतिपन्नमेव विशेष्ये  
प्रतिपत्तिमाधत्ते यथा दण्डादि, विशेषणञ्च ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ ब्रह्मप्रभवत्वमिति।

एतेन 'असति प्रतिबन्धके यो यदाकारः प्रत्ययः' इत्याद्यनुमानं ब्राह्मण्यसद्भाव-  
प्रसाधकं प्रत्याख्यातम्, अनेकधा प्रतिबन्धकसद्भावप्रतिपादनात्।

यदपि—'ब्राह्मणपदम्' इत्याद्यनुमानमुक्तम्, तदप्युक्तम्, पैक्षस्य अध्यक्षवाधि-  
तत्वात्, कठकलापादिब्राह्मणव्यक्तिषु हि ब्राह्मणपदं व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेय-  
सम्बन्धशून्यमेव अध्यक्षतः प्रतीयते अश्रावणत्वविविक्तजडवत्। अप्रसिद्धविशेषणञ्च  
पक्षः, न खलु व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वं भीमांसकस्य अस्माकं वा कापि  
प्रसिद्धम् व्यतिरिक्तव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योभार्भ्यामभ्युपगमात्। हेतुश्चानैकान्तिकः,  
सत्ताऽऽकाशकालपदे अद्वैतादिपदे वा व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वाभावेऽ-  
पि पदस्य भावात्। अत्रापि तत्सम्बद्धत्वरूपनाया सामान्यस्य निःसामान्यत्वमनेक-  
व्यक्तिवृत्तित्वञ्च व्याह्रियेत। अद्वैतारिलशून्यत्वादेश्च सामान्यवत्त्वेन परमार्थसत्त्वानु-  
पपन्नान् कुतोऽप्रतिपक्षा पक्षसिद्धिश्च स्यात् ? दृष्टान्तोऽपि साध्यविकलः; पदादिपदे  
व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्तत्वासिद्धेः। नित्यैकरूपसामान्यमन्तरेणापि अनन्ताना वाच्य-  
वाचकव्यक्तीनां सम्बन्धो यथा सिद्ध्यति तथा नित्यसम्बन्धनिषेधावसरे प्ररूपितम्।

एतेन वर्णविशेषेत्याद्यनुमानं<sup>१</sup> प्रत्युक्तम्, उक्तदोषाणामत्राप्यविशेषात्। नगैरा-

(१) तुलना—'किञ्च, ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते तन्मुखादेवासौ जायेत ?'—प्रमेयक०  
पृ० ४८४। (२) ब्राह्मणस्यैव। (३) पृ० ७६९ पृ० ८। (४) पृ० ७६९ पृ० १३। (५) तुलना—'यतो  
यदि व्यक्त्यादिभ्यो व्यतिरिक्त निमित्तमात्रमस्य ज्ञानस्य विषयत्वेन साध्यते तदा सिद्धसाध्यता,  
तत्समुदायस्य समुदायिभ्यः कश्चिदव्यतिरिक्तस्य तद्विषयत्वेन स्वीकारात्। अथ प्रतिव्यक्ति परि-  
समाप्तमेकान्तव्यतिरिक्तमभिधीयते, तदा पक्षस्य प्रतिपक्षबाधितत्वम्, कठकलापादिब्राह्मणव्यक्तिषु  
हि ब्राह्मणज्ञान व्यक्त्यादिव्यतिरिक्तसामान्यनिमित्तरहितमेवाध्यक्षतः प्रतीयते अश्रावणत्वविविक्तजड-  
वत्।'—स्वा० र० पृ० ९६१। प्रमेयक० पृ० ४८५। (६) जनानाम्। (७) व्यक्तिभ्यो कश्चिद्  
भिन्नाभिन्नस्य। (८) भीमांसकजनानाम्। (९) व्यक्तिभ्यो भिन्नानां सत्तात्त्व-आकाशत्व कालत्व-  
अद्वैतवादीनां सम्बन्धस्वीकारे। (१०) अद्वैतस्य सकलशून्यतायाश्च सिद्धिप्रसङ्गात्। (११) पृ०  
५४६। (१२) पृ० ७६९ पृ० १८। (१३) तुलना—'नगरादिज्ञानवत् व्यतिरिक्तनिबन्धनाभावः  
तथाभूतज्ञानस्य कश्चिदुपपत्तेः। न हि नगरादिज्ञानेऽपि व्यतिरिक्तद्रव्यान्तरमस्ति यदेवाकारज्ञान-  
निबन्धन भवेत्, काष्ठादीनामेव प्रत्यासत्त्या कयाचित् प्रासादादिव्यवहारनिबन्धनानां नगरादिव्यवहार-  
निबन्धनत्वोपपत्तेः, अन्यथा घण्टादीत्यादिव्यवहारवस्तुन्तरवत्त्वनाप्रसक्ते।'—सन्मति० टी० पृ० ६९७।

प्रमेयक० पृ० ४८५। स्वा० र० पृ० ९६१।

१—देव चासौ आ०, ब०। २—सिद्धे श्र०। ३ अथप्रसिद्ध—श्र०। ४ व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्यो-  
भामभ्यु—आ०। ५—आभ्यामुप—श्र०। ६ सामान्यनि सा—आ०।



दिज्ञानेन अनेकान्ताच्च, तत्र व्यक्तिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनत्वाभावेऽपि वर्णविशेषादिनिमित्तबुद्धिविलक्षणत्वस्योपलम्भात् । न खलु 'नगर सेना वनम्' इत्यादिज्ञाने व्यक्तिव्यतिरिक्तम् अनुवृत्तप्रत्ययनिबन्धन किञ्चिदस्ति । तद्धि द्रव्यम्, सत्ता, प्रत्यासत्तिविशेषो वा स्यात् ? प्रथमपक्षे नगरादिकमेव तत्र द्रव्यम्, अन्यद्वा ? न तावत् नगरादिकमेव, तस्य द्रव्यत्वाऽसम्भवात् । नहि नगरं सेनादिकं वा द्रव्यं सम्भवति, गृहादिभिरसयुक्तैर्विजातीयैश्च तस्य आरम्भाऽसम्भवात् । कतिपयगृहाणामस्ति सयोग इति चेत्, न, तेषां स्वयं सयोगरूपतया सयोगानाश्रयत्वात् । गुणरूपतया च तेषां द्रव्यानामभक्तत्वं, गुणैर्द्रव्यारम्भाऽसम्भवात् ।

‘सत्ता नगरादिकम्’ इत्यापि असौ गृहादिविशेषिता, केवला वा तत्प्रत्ययमुत्पादयेत् ? न तावत् केवला, गृहादिविविक्तेऽपि प्रदेशे ततः तत्प्रत्ययप्रसङ्गात् । अथ गृहादिनिशेषिता, न, कूटस्थनित्यार्था विशेष्यत्वासम्भवात्, अकिञ्चित्करस्य अविशेषणत्वाच्च । किञ्चित्करत्वे वा तत्कूटस्थताक्षति । कश्चेन्न ‘पण्णगरी’ इत्यत्र समुदायोपपत्तिं सत्ताया एकरूपतया समुदायतानुपपत्तेः ?

प्रत्यासत्तिविशेषोऽपि कस्य केन सह नगरादिद्रव्यपदेशमर्हेत् ? गृहादीनां गृहाद्यन्तरै इति चेत्, कः पुनरसौ—तेषां तैः सह समवायः, सयोगो वा ? न तावत्समवायः, तेषां युनसिद्धतया अनाधाराधारभूततया च तदसम्भवात् । नापि सयोगः, गृहादीनां सयोगरूपतया सयोगानाश्रयत्वात् । न च नगरादिशब्दात् ‘संयुक्तसयोगाल्पीयस्त्वलक्षणे प्रत्यासत्तिविशेषे एकस्मिन् कैस्यचित् प्रतिपत्ति-प्रवृत्तिं प्राप्तयोऽनुभूयन्ते, किंतु गृहादावनेकत्र । नगरशब्दाद्धि गृहादौ, सेनाशब्दाद् अश्वादौ, वनशब्दाच्च धवादावनेकत्रार्थे तौ प्रतीयन्ते इति । यत्र हि शब्दादुच्चरितान् प्रतिपत्त्यादयः प्रतीयन्ते स शब्दस्यार्थः तथा बृहद्व्यवहारात् । ‘देशादिप्रत्यासत्तिविशिष्टा गृहादयो नगरादिद्रव्यपदेशाभावाद् इत्यप्यनेनाऽपास्तम्, देशादौ हि प्रत्यासत्ति—तेषां समवायः, सयोगो वा ? तत्र च

(१) गृहाणाम् । (२) गयोमस्य गुणत्वेन द्रव्याभिनत्वात् । (३) गृहाणाम् । (४) द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणान् च गुणान्तरम् ( वस० सू० १।१।१० ) इति नियमात् । (५) सत्ता । (६) नगरमिति प्रत्ययम् । (७) सत्तात् । (८) सत्ताया । (९) गृहादे । (१०) यदि गृहादयः मनाया वञ्चिदन्ति तस्यमुत्पादयन्ति तदा । (११) सत्ताया नित्यैकरूपनाम्न्यापात् । (१२) गृहादीनाम् । (१३) एतन् गृहण मयुक्तमपरगृहं तन् आपरमिति मयुक्तमयोगाद् यदस्तीयस्त्वम् अल्पदेसावगाहित्वं यत् । (१४) पुरुषस्य । (१५) प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तयः । (१६) तुक्ता—‘सेनाशब्दादनेकत्र हस्त्यादयः प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तिमिदं वनशब्दाच्च धवलादिरपशूनावनेकत्रार्थे । यत्र हि शब्दान् प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयः समर्थमप्यन्तं स गृहत्वाच्च प्रसिद्धस्तथा बृहद्व्यवहारात् । न च मनावनादिशब्दान् प्रत्यासत्तिविशेषं प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयोऽनुभूयन्तं यत् स तस्यायं स्यात् । —आप्तप० का० ४ ।

१—निष्पन्नाभावादि भा०, य० । २—रवात् कि—व० । ३—प्रत्यासत्ति—व० । ४—तास-प्रतिपत्त्या—आ० ।

उक्तदोषोऽविशिष्टः । भवतामपि कथमेवं नगरादिव्यपदेशः स्यात् ? इत्यप्यचोद्यम् ; देशप्रत्यासत्तिविशिष्टे प्रासादादौ तद्व्यपदेशस्य अस्माभिरभ्युपगमात् । देशप्रत्यासत्ति-  
आत्र संयोगलक्षणा प्रतिपत्तव्या, प्रासादादेरवयवित्वेन अस्माकमिष्टत्वात् । विजातीयैः  
काष्ठेष्टिकादिभिः तस्यै आरम्भासंभवात् कथमवयवित्वम् ? इत्यप्यनुपपन्नम् ; विजाती-  
येरपि पृथिव्यादिभिः शरीराद्यवयविनः आरम्भोऽलम्भात् । सजातीयानाम् आरम्भ-  
नियमस्य पदपदार्थपरीक्षायां पृथिव्यादीनां तत्त्वान्तरत्वनियेधावसरे निषिद्धत्वात् ।  
ततो भ्रमन्ते नगरादिज्ञाने व्यक्तिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनत्वाभावात्, सिद्धमनेना-  
नैकान्तिकत्वम् । न चान्यत् किञ्चिद् ब्राह्मण्ये लिङ्गमस्ति यतः तत्सिद्धिः स्यात् ।

अस्तु वा किञ्चित्तत्र लिङ्गम्, तथापि अगृहीतप्रतिबन्धं तर्त् न तत्प्रतिपत्तेरङ्गम्,  
अतिप्रसङ्गात् । प्रतिबन्धग्रहश्च अप्रतिपन्ने ब्राह्मण्ये न संभवति, अतिप्रसङ्गात् । तैः प्रतिप-  
त्तिश्च प्रत्यक्षतः प्रतिपिद्धा । अनुमानतः तत्प्रतिपत्तौ चक्रप्रसङ्गः—सिद्धे हि अनुमा-  
नतो ब्राह्मण्ये तेन लिङ्गस्य प्रतिबन्धसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अनुमानसिद्धिः, ततश्च  
ब्राह्मण्यसिद्धिरिति ।

आगमतोपि अपौरुषेयात्, पौरुषेयाद्वा तत्प्रतिपत्तिः स्यात् ? न तावदपौरु-  
षेयात् ; तस्य कार्ये एवार्थे प्रामाण्यात्, ब्राह्मणत्वस्य च नित्यतयेष्टितोऽकार्यत्वात् ।  
नापि पौरुषेयात् तैः तत्प्रतिपत्तिः, तस्य प्रमाणान्तरसापेक्षत्वात्, तस्य चात्राऽसंभवात् ।

नाप्युपमानात् तत्प्रतिपत्तिः, तस्य सादृश्यालम्बनत्वात् । अप्रतिपन्ने च प्रमाणा-  
न्तरेण ब्राह्मण्ये कथं तेन सादृश्यं कस्यचित्प्रतीयेत यतः तद्दर्शनाद् ब्राह्मण्यं प्रतीयेत ?

नाप्यर्थपि तेस्तत्प्रतिपत्तिः, ब्राह्मण्यजातिव्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणपद-  
विज्ञातस्य कस्यचिदप्यर्थस्य अप्रतीयमानत्वात् । अतः सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चक-  
गोचरातिक्रान्ततया अभावप्रमाणरुचलीकृतत्वात् नभोऽन्भोजयत् नास्ति ब्राह्मण्यम् ।  
अतो ब्राह्मण्यजातेः सर्वस्यैवाऽसंभवात् 'प्रथमदर्शने प्रतिभातापि जातिः व्यञ्जकभेदा-  
ग्रहणाग्नोल्लिखति' इत्यादि<sup>१</sup> प्रत्याख्यातम् ।

(१) जैनानाम् । (२) नगरादिव्यपदेशस्य । "प्रासादतोरणपुरुषादीनां समुदायो नगरम् ।"  
—प्रमाणवाच्यम् ७० टी० पृ० १२७ । (३) जैनानाम् । (४) अवयविविध्यस्य । (५) पृ० २३९ । (६)  
नैयायिकादिमते । (७) ब्राह्मण्ये । (८) लिङ्गम् । (९) ब्राह्मण्यप्रतीतिः । (१०) 'नाप्यागमन,  
यतोऽज्ञो पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेय'—स्वा० २० पृ० ९६२ । सन्मति० टी० पृ० ६९८ । (११)  
'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्—त्रिया कथमनुष्ठेयं तां वदितुं समाम्नातातो वाक्यानि समामनन्ति ।"  
—जैमिनिपू०, शाबरभा० ११२।१ । (१२) आगमात् । (१३) वस्तु प्रतिपाद्यविषयज्ञानस्य प्रमाणत्वे  
सिद्ध एव तत्प्रतीतागमस्य प्रामाण्यम् । (१४) ब्राह्मण्यसदृशवस्तुदर्शनात् । (१५) पृ० ७६८ पृ० ६ ।

यदप्युक्तम्—‘द्रव्यपरीक्षकाणाम्’ इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम् ; यतो न पीततामात्रं सुवर्णम्, विचित्ररेखारचितपरिणतिमात्रं वा द्रव्यम्; वृत्तसंस्थानमात्रं वा मणिः; अतिप्रसङ्गात् । किं तर्हि ? तद्विशेषः । स च न प्रत्यक्षः, दाहच्छेदादेः तुंपाम्बुसंप्रक्षालनादेः परंप्रादेश्च वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्यापि तत्प्रतिपत्तौ सहायत्वे तज्ज्ञातौ  
 5 किञ्चित्त्वाविधं सहायं वाच्यम् । तच्च ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वादिकम्, आकारविशेषो वा स्यात् ? सत्यमेतत् प्रागेव कृतोत्तरत्वान्न तत्प्रतिपत्तौ सहायतां प्रतिपद्यते । अतोऽ-  
 युक्तमुक्तम्—‘न च सामर्थ्यभावाद् यन्न प्रतिभासते तन्नास्ति’ इत्यादि; तत्प्रतिभास-  
 सामर्थ्याः प्रागेव अंशेषविशेषतो निरस्तत्वात् ।

ननु ब्राह्मणत्वदिसामान्यानभ्युपगमे कथं भवतां वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो  
 10 वा तपोदानादिव्यवहारः स्यात् ? इत्यप्युच्यते; किंवाविशेषपञ्चोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते  
 व्यक्तिविशेषे तद्रूपवस्थायाः तद्रूपव्यवहारस्य च उपपत्तेः । तन्न भवत्कल्पितं नित्यादि-  
 स्वभावं ब्राह्मण्यं कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्धतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवायं ब्राह्म-

(१) पृ० ७६८ पं० ७ । (२) तुलना—“काञ्चनाद्युपदेशस्य हि यदाऽसत्यतायाङ्का तदा प्रत्यक्षदर्शनादमी निवर्तते नैव जात्याद्युपदेशस्यासत्यतायकाया प्रत्यक्षात् सत्यता जातिस्वरूपग्रह-  
 णाकारात् । सुवर्णादी हि रूपविशेषसद्भावात् एवम्भूतमेव सुवर्णं भवतीति व्यवहारस्य परिसमाप्ते-  
 र्दृष्टस्य न काचित्कतिः, अत्र तु पुनरेवविधमेव ब्राह्मण्यमिति न पादप्रसारणमात्रं त्राणम् ।”—प्रमाणवा-  
 तिकालं० पृ० २२ । ‘यतो न पीततामात्रं सुवर्णम्’—प्रमेयक० पृ० ४८४ । (३) दाहच्छेदतुंपा-  
 म्बुप्रक्षालनादेः । (४) सुवर्णादिप्रतिपत्तौ । (५) “तत्त्वाकारविशेषो वा स्यादप्यनादिक वा ?”—  
 प्रमेयक० पृ० ४८५ । (६) ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ । (७) पृ० ७६८ पं० १३ । (८) ज्ञानानाम् । (९)  
 तुलना—“न जटाहि न गोतेहि न जन्वा होति ब्राह्मणो । यस्मि सत्त्वञ्च धम्मो स सो मुची सो च  
 ब्राह्मणो ॥ न बाह् ब्राह्मण ब्रूमि योनिज मत्तिसभव । ‘भो कवि’ नाम सो होति स वे होति सकि-  
 ञ्चनो । अकिञ्चन अनादान तमह ब्रूमि ब्राह्मण ॥”—धम्मप० गा० ३९३, ३९६ । “कम्मुणा बभणो  
 होइ कम्मुणा होइ सत्तिओ । वडिओ कम्मुणा होइ मुहो हवइ कम्मुणा ॥”—उत्तरा० २५।३३ । “तस्माद्  
 गुणवर्णव्यवस्थितिः ।” ऋषिपुत्रादिकानां च मानवानां प्रकीर्त्यते । ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तु तद्योनिस-  
 भवात् ॥ “चानुर्वर्णं यथान्यच्च शास्त्रालादिविशेषणम् । सर्वमाचारभेदेन प्रतिष्ठं भुवने गतम् ॥  
 —पद्मपु० ११।१९८—२०५ । “मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा । वृत्तिभेदाहिताद् भेदाङ्कानुवि-  
 धमिहादनुते ॥ ब्राह्मणा श्रमसंस्कारात् क्षत्रियाः सत्यधारणात् । वणिजोऽर्थाजिनाध्याव्यात् शूद्रा  
 न्यगृत्तिसमथ्यात् ॥”—आदिपु० ३८।४५—४६ । “जाचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम् । न जातिर्वा-  
 त्त्वोपास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥ ब्राह्मणक्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः । एकैव मानुषी  
 जातिराचारेण विभिन्यते ।—गुणैः सप्रचये जातिगुणध्वसाद्विपद्यते ।”—धम्मप० १७।२४—३२ ।  
 महामाप्तेऽत्र ‘गुणकाचिनः ब्राह्मणादिसंस्थाः’ इति पक्षोऽप्युपन्यस्तः । तथाहि—“अथवा सर्व एते दम्भाः  
 गुणसमूहादेर्यु वरन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वेदय. शूद्र इति ।”—पात० महाभा० २।२।६ । “क्रियाविशेष-  
 शोर्वातादिविज्ञानलक्षणे व्यक्तविशेषे तद्रूपवस्थायास्तद्रूपव्यवहारस्य योगपत्तेः ।—ततः क्रियाविशेषा-  
 र्तिनिरूपण एवम् ब्राह्मणादिस्मवहारः ।”—प्रमेयक० पृ० ४८६ । स्या० १० पृ० ९९२ ।

१ सुवर्णप्रसङ्गा-आ०, सुवर्णप्रसङ्गा-थ० । २ परपक्षादेर्यव० । ३ अतोऽप्यतो व० ।  
 ४ भवतीति थ० । ५ तन्न तत्कल्पितं-व० । ६ क्रियानिबन्धन व० ।

णादिव्यवहारो युक्तः । कथमन्यथा वेश्यापाटकादिप्रविष्टानां ब्राह्मणीनां ब्राह्मण्याभावो निन्दा च स्यात्, जातिर्यतः पवित्रता हेतुः ? सा च भवन्मतेन नित्यैकरूपतया तदवस्थैव, अन्यथा गोत्वजातेरपि ब्राह्मण्यं निकृष्टं स्यात् । गवादीनां हि चाण्डालादिगृहे चिरोपितानामपि इष्ट शिष्टैरादानं न तु ब्राह्मणीनाम् । अथ क्रियाभ्रशार्त्तासां निन्दया अनादानश्चेत्यते, तर्हि किमनेन अन्तर्गडुना ब्राह्मण्येन कल्पितेन ? कल्पयित्वापि तत् क्रियाविशेषवशादेव घन्यतायां ब्राह्मण्यव्यवहारस्य चाभ्युपगमनीयत्वात् ।

किञ्च, क्रियानिवृत्तौ ब्राह्मण्यजातेर्निवृत्तिः स्यात्, यदि सां तस्याः कारणं व्यापकं वा स्यात्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । न चास्याः कारणं व्यापकं वा किञ्चिद्विष्टम् । नापि क्रियाभ्रशात् तस्यां विकारोऽस्ति “भिन्नेष्वभिन्ना नित्या निरवयवा च जातिः” [ ] इत्यभिधानात् । न चाऽविकृतायाः निवृत्तिः सम्भवति अतिप्रसङ्गादिति । तदेव भयत्कल्पितब्राह्मण्यस्य आकाशकुशेशयवदप्रसिद्धस्वरूपत्वान्न ब्राह्मण्यस्यैव सस्कृतशब्दप्रयोगात् धर्मो युक्तः, किन्तु सर्वेषामविशेषेणैव अतोऽसौ स्यात्, न वैषम्यम् । अतोऽवितथार्थाभिधायित्वमेव शब्दस्य साधुत्वमभ्युपगन्तव्यम् नान्यत्, उक्तदोषानुपङ्गात् । तथाविधञ्च तत् सस्कृतशब्दस्यैव प्राकृतशब्दस्याप्यविशिष्टम्, अतो द्वयोरप्यनयोः साधुत्वम् । तत्र साधूकम्-‘वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्’ इत्यादि ।

कारिकाद्वयं विवृण्वन्नाह-‘वर्ण’ इत्यादि । वर्णपदवाक्यानां वाचकत्वम् अर्थ-प्रतिपादकत्वम्, यथास्वं स्वस्यार्थस्य अनतिक्रमेण आगमात् प्रतिविबुधित्व्याख्यानम्-पक्षव्यम् । तत्रास्य प्रत्येकं प्रपञ्चत प्ररूपितत्वात् । कुत पुन विवक्षातोऽन्यस्य वाचकाः शब्दाः ? इत्याह-‘वक्त्रभिप्रायात्’ इत्यादि । वक्त्रभिप्रायाद् भिन्नस्य बहिर्भूतस्य अर्थस्य घटादे वाचकाः शब्दाः । कुत एतत् ? इत्याह-सत्त्वानुत्तव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः । यत्र सत्त्वानुत्तव्यवस्था तद् वक्त्रभिप्रायाद् भिन्नार्थ-विषयं यथा प्रत्यक्षादि, सत्त्वानुत्तव्यवस्था च शब्देऽपि ति । अयञ्च प्रसङ्गः बहिरर्थ-

(१) तुलना- तत्र सव्यवहारमात्रप्रसिद्धं ब्राह्मण्यम् । -प्रमाणवार्तिककाल ५०२६ । (२) यदि नित्याविशेषनिबन्धनो ब्राह्मण्यादिव्यवहारो न स्यात्तदा । तुलना- ‘कथमन्यथा वेश्यापाटकादिप्रविष्टानां ब्राह्मणीनां ब्राह्मण्याभावो भवेत् -स्या० २० ५० ९६२ । प्रमेयक० ५० ४८६ । (३) जातिः । (४) मीमांसकनैयायिकमतेन । (५) ‘अथवा गोत्वादपि ब्राह्मण्यं निकृष्टं स्यात् । -प्रमेयक० ५० ४८६ । (६) ब्राह्मणीनाम् । (७) ‘घटामस्तकयोरन्तरालवर्ती भासपिषडोऽन्तर्गटु -प्रमाणवा० स्व० ८० ५० १६८ । (८) ब्राह्मण्यम् । (९) तुलना- किञ्च क्रियानिवृत्तौ -प्रमेयक० ५० ४८७ । (१०) क्रिया । (११) ब्राह्मण्यजाते । (१२) ब्राह्मण्यजाते । (१३) उद्धृतमिदम्-प्रमेयक० ५० ४८७ । (१४) सस्कृतशब्दोच्चारणात् । (१५) घट । (१६) अवितथार्थाभिधायित्वलक्षणं साधुत्वम् ।

१ ब्राह्मणानां व० । २ चाण्डालादीनां गृहे य० । ३ ब्राह्मण्य-जा०, य० । ४ इति जा० ।

५ ‘शब्दा’ नास्ति वा० ।

विषयतामन्तरेण सत्यानृतव्यवस्थानुपपत्तिलक्षणः अन्यत्र 'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु'  
[ लघी० का० २६ ] इत्यादौ विस्तरेणोक्तः इति नेह प्रघट्टके पुनः प्रतन्यते । नन्वर्था-  
भावेपि शब्दानां प्रवृत्तिदर्शनात् कथं तद्वाचकत्वम् इत्यत्राह—'शब्दानाम्' इत्यादि ।  
शब्दानाम् अर्थव्यभिचारित्वेऽभ्युपगम्यमाने अभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतः प्रमाणात्  
न कुतश्चित् अपनीयते निराक्रियते । कुत एतत् ? इत्यत्राह—'सुपुंसादौ' इत्यादि,  
आदिशब्देन मत्तादिपरिमहः वाग्वृत्तेर्दर्शनात् ।

ननु विषयप्रभवाच्छब्दादन्य एव शब्दः, यः तदभावे तत्र जायते । न  
चान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात् । 'सुविवेचितं हि कार्यं कारणं  
न व्यभिचरति' इति, तदेतदत् अर्थविशेषसद्भावात्सद्भावप्रतिबद्धात्मलाभेऽपि शब्देऽपि  
समानम् । साम्येऽपि तेषां विवचेतरप्रभवाः शब्दाः वैलक्षणेनानुवसीयन्ते ननु अर्थ-  
विशेषसद्भावात्सद्भावप्रतिबद्धात्मलाभा इति स्वदर्शनानुरागमात्रम् । विषयप्रभवा-  
चरत्वे च अमीषां बहिरर्थे प्रवृत्त्यादिहेतुत्वानुपपत्तिः, तद्विषयत्वाद्, यद् यद्विषय न  
भवति न तत् तत्र प्रवृत्त्यादिहेतुः यथा रूपज्ञानं रसाविषयं न रसे, न भवन्ति च  
बहिरर्थविषया भवन्मते शब्दा इति । नचैतद् युक्तम् प्रतीतिविरोधात् । सुप्रसिद्धा हि  
शब्देभ्यो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिप्रतीतिः आबालं प्रत्यक्षवत् । अतः तद्विषयत्वमेव  
अमीषां युक्तम् । यद् यत्र प्रवृत्त्यादिहेतुः तत्तद्विषयम् यथा रसज्ञानं रसे प्रवृत्त्यादिहेतु  
रसविषयम्, बहिरर्थे प्रवृत्त्यादिहेतुः शब्दा इति । नचायमसिद्धो हेतुः, प्रत्यक्षवत्  
शब्देभ्यः तत्र प्रवृत्त्यादिप्रतीतिः । यथैव हि प्रत्यक्षात् प्रतिपत्तुप्रणिधानादिसामग्री-  
सापेक्षात् प्रत्यक्षार्थे प्रतिपत्त्यादिप्रतीतिः सकलजनप्रसिद्धा, तथा सङ्केतादिसामग्रीसा-  
पेक्षात् शब्दात् शब्दार्थेऽपि इति । न च अर्थे अर्थिनोऽर्थित्वादेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्तक  
इत्यभिधातव्यम्; प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्तकत्वप्रसङ्गात्, तदर्थेऽपि अर्थित्वादेव प्रवृत्ति-  
प्रतीतिः । परम्परयाऽत्र प्रवर्तकत्वं शब्देऽपि तथा तदस्तु अविशेषात् ।

कौ चैयं विवक्षा नाम—शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्, अनेन शब्देन अनुमर्थं प्रति-

(१) विवक्षाभावे । (२) बहिरर्थविषयत्वात् । (३) शब्दा बहिरर्थविषय बहिरर्थे प्रवृत्त्या-  
दिहेतुत्वात् । (४) तुलना—“प्रत्यक्षादिव शब्दाद् बहिरर्थप्रतीतिविदे । यथैव हि प्रत्यक्षात्  
प्रतिपत्तुप्रणिधानसामग्रीसम्पेक्षात् प्रत्यक्षार्थप्रतिपत्तिः तथा सद्गुणसामग्रीसापेक्षादिव शब्दाच्छब्दार्थ-  
प्रतिपत्तिः सकलजनप्रसिद्धा, अन्यथा ततो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्त्ययोग्यात् । न चार्थवेदनादेव अर्थ  
पुष्ट्यास्वादिन स्वयमेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्तक इत्येव वस्तु युक्तम्, प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्तकत्वप्रसङ्गात्,  
तदर्थेऽपि सर्वस्याभिलाषादेव प्रवृत्तेः ।”—अष्टसह० पृ० २१ । प्रमेयक० पृ० ४४९ । (५) प्रत्यक्ष-  
विषयीभूतव्यर्थे । (६) प्रत्यक्षे । (७) प्रवर्तकत्वव्यपदेशे । (८) परम्परया प्रवर्तकत्वम् । (९)  
“कौ चैयं विवक्षा नाम—वि शब्दोच्चारणेच्छामात्रम् ..”—प्रमेयक० पृ० ४५० ।

१ तद्वाचकमि-अ० । २ इत्याह व० । ३ सुपुंसादीनामि-अ०, सुपुंसादौ इ-व० । ४ अपरस्य  
व० । ५-स्मत्ताम इति आ०, व० । ६-नुस्तद्वि-आ० ।

पादयामि इत्यभिप्रायो वा ? प्रथमपक्षे वक्तृश्रोत्रोः शास्त्रश्रवणप्रणयनादौ प्रवृत्तिर्न प्राप्नोति । न खलु कश्चिदनुन्मत्तः शब्दनिमित्तोच्छ्रामात्रप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्र वाक्यान्तर वा प्रणेतुं श्रोतु वा प्रवर्त्तते । दशदाडिमादिवाक्यै सह सर्वशाक्यानामविशेषप्रसङ्गश्च, सर्वेषां स्वप्रभवेच्छामात्रानुमापकत्वाऽविशेषात् । अथ अनेन शब्देनामुमर्थं प्रतिपादयामीत्यभिप्रायो विवक्षा, तत्सूचकत्वेन अखिलशब्दानां विवक्षानुमापकत्वम्, तदप्यनुपपन्नम्, व्यभिचारात् । नहि शुक्रशारिको-मन्त्रादय तथाभिप्रायेण वाक्यमुच्चारयन्ति ।

किञ्च, समयानपेक्ष शब्द तादृशमभिप्रायं गमयेत्, तत्सापेक्षो वा ? आद्यविकल्पे न कश्चित् कचिद्भाषानभिज्ञ स्यात्, सर्वेषामविशेषतः शब्दार्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । समयापेक्षस्तु शब्द अर्थमेव किञ्च गमयेत् ? नह्ययम् अर्थाद् विभेति येन तत्र साक्षात् वर्त्तते । अशक्यसमयत्वाच्च शब्दोऽर्थं गमयति, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, अभिप्रायेऽपि तदगमकत्वानुपपन्नात्, तत्रापि तस्य अशक्यसमयत्वाविशेषात् । असिद्धास्यास्य अशक्यसमयत्वम्, 'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु' [ लघो० का० २६ ] इत्यत्र तच्छक्यसमयत्वस्य प्रपञ्चत, प्रतिपादितत्वात् ।

न केवलं सुपुसादौ वागृत्तेर्दर्शनादभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतोऽपेनीयते इति, अपि तु इतश्च । कुतस्तदपनीयते इत्याह—'अनिच्छताम्' इत्यादि । अनिच्छतामपि अपशब्दाद्युच्चारणविवक्षाधिकलानामपि अपशब्दादिभाषणसङ्गायात्, आदिशब्देन श्रुतिदुष्टादिपरिग्रह । तथा वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीनां शास्त्रवक्तृत्वाभावात् तत्कुतोऽपनीयते ? अत्राह पर—'उभयत्र' इत्यादि । उभयत्र अर्थेऽभिप्राये च व्यभिचारात् शब्दानाम् न कस्यचिदर्थस्य अभिप्रायस्य वा वाचकाः शब्दाः, इतिशब्दः परमतसमाप्यर्थः । अत्र दूषणमाह—'अलौकिकं प्रतिभानमिति' प्रतिभोत्तरप्रतीति इत्यर्थः, अलौकिकश्च तत् प्रतिभानश्च, लोकवाधितम् इत्यर्थः । कुत एतत् ? इत्यत्राह—'लोको हि' इत्यादि । हिर्यस्मात् लोकः अर्थाप्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्थाम् आतिष्ठेत् । कस्य ? शब्दस्य । यदि हि न कस्यचिद्वाचका शब्दास्तु तर्हि तेभ्यो घटाद्यर्थस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीते न तत्प्राप्त्या केपास्त्रिच्छब्दानां सत्यत्वम् अन्येषां तु अनृतत्वविपर्ययात् इत्येव लोको वचसा तद्व्यवस्थामातिष्ठेत् इत्यभिप्रायः । ननु अभिप्रायमात्रप्रतिपादनेऽपि तद्व्यवस्थामास्थास्यत इत्यत्राह—'न' इत्यादि । अभिप्रायमात्रे शब्दार्थे 'न लोकः तद्व्यवस्थामातिष्ठेत्' इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह—'तत्र' इत्यादि । 'तत्र' तन्मात्रे शब्दव्यवहारबाहुल्याभावात्, कचित् तत्र तद्व्यव-

(१) तुलना— किञ्च, समयानपेक्ष वाक्य तादृशमभिप्रायं गमयत् तत्सापेक्ष वा ?  
—प्रमेयक० पृ० ४५० । (२) अभिप्रायमात्र ।

१—श्रवणयनादौ आ० । २ सुपुप्यादौ व० । ३—पनीत व० । ४ अपशब्दाद्युच्चा—थ० । ५ न तु अभि—आ०, व० । ६ इत्याह तत्र तन्मात्रे व०, इत्यत्राह तत्र तन्मात्र आ० । ७ चित्ततत्र थ० ।

हारेपि बहुलं बहिः तद्व्यवहारोपलम्भात् इति भावः ।

ननु प्रतीयते शब्दार्थः स तु विचार्यमाणो न सङ्गच्छते; तत्र तस्य सम्बन्धाभावतः प्रत्यायकत्वायोगात्; इत्यत्राह—‘अवाधिताम्’ इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः—यादृशोऽर्थे सङ्केतितः यादृशः शब्दः देशान्तरे कालान्तरे च योग्यतालक्षणसम्बन्धवशात् तादृशस्य तादृशो वाचकः, न तत्र किञ्चिद्वाधकम् इत्युक्तम्—‘योग्यतापेक्षानादिसङ्केतः’ [ लघी० स्ववृ० का० ६२ ] इत्यत्र । अतः अवाधितां शब्दादुपजायमानां सामान्यविशेषात्मकार्थविषयां तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रतीयनाश्रयणेन प्रमाणस्वरूपम्—‘प्रत्यक्षानुमानलक्षणमेव प्रमाणं नागमादि’ इति, प्रमेयस्वरूपम् प्रत्यक्षस्य पूर्वापरकोटिविच्छिन्नं स्वलक्षणमेव प्रमेयम् अनुमानस्य तु अन्यव्यावृत्तिमात्रम्’ इत्यादिप्रमाणानां सौगतानां युक्तम् उपपन्नम् किं तत् ? अभिप्रेतमात्रसूचकत्वम् । केयम् ? शब्दानाम् इति ।

व्याख्यातं मूलकारिकायाम् ‘ज्ञानं प्रमाणमात्मदेः’ इत्येतत् । साम्प्रतं ‘नयो ज्ञातुरभिप्रायः’ इत्येतद्व्याख्यातुकाम आह—

श्रुतभेदा नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः ।

द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगम् ॥ ६६ ॥

निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकेष्वप्युक्तत्वगः ।

निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ ॥ ६७ ॥

(१) बहिरर्थः । (२) शब्दस्य । (३) व्याख्या—‘ते प्रागुक्तलक्षणा नया भवन्ति । के ? ते । भूतस्य सत्त्वादिशस्य आगमस्य भेदा विकल्पा विकल्पादेशा । कति ? सप्त । कुत नैगमादिप्रभेदतः ? किं विशिष्टा ? द्रव्यपर्यायमूला । तत्र द्रव्यस्य स्वरूपमाह—द्रव्य सामान्य भवति । किं विशिष्टम् ? एवान्वयानुगम्, एकान्वयान्वयश्च एकान्वयी तावदनुगच्छति व्याप्नोतीत्येकान्वयानुगम् । तत्रैकानुगम् अर्था ( ऊर्ध्वता ) सामान्य पूर्वापरव्यापकम्, सद्व्यतिरेकपरिणामलक्षण तिर्यक्-सामान्यमन्वयानुगम् । पुनः किं विशिष्टम् ? निश्चयात्मकम्, निर्गतश्चयः पर्यायान्तरसंकरो यस्मादसौ निश्चयः पर्यायः स आत्मा यस्य तत्तत्तत्तत्तम् । अपि पुनरन्य पर्यायो विशेषो भवति । किं विशिष्टः ? व्यतिरेकपुनरन्वयः, व्यतिरेकश्च पुनरन्वयश्च ते गच्छति तादात्म्येन परिणमतीति स तपोक्तः । तत्र व्यतिरेक एवस्मिन् द्रव्ये नमभाविपर्यायः । पुनरन्वयः पुनरर्थान्तरगतो विसृष्टपरिणामः । पुनर्निश्चयव्यवहारौ मूलनयो आश्रितौ आलम्बितवन्तौ । किम् ? द्रव्यपर्यायम् । द्रव्य धितो निश्चयनमद्रव्याधिक इत्यर्थः । पर्यायाश्रितौ व्यवहारतय पर्यायाधिक इत्यर्थः ।—लघी० ता० पु० ८८ । (४) तुलना—‘सप्त मूलगया पञ्चता । स जहा नेगम, सगह, व्यवहारे, उज्जुमुए, मह, समभिरुदे, एवभूए ।’—स्या० ७।१९ । अनुयोग० १३६ । नैगममग्रहव्यवहारर्जुमूत्रगन्दसमभिरुदेवभूता नया ।—तत्त्वार्थ० १।३४ । ‘नैगममग्रहव्यवहारर्जुमूत्रगन्दमुए होइ बोधव्हे । सहे य समभिरुदे एवभूए य मूलनया ।’—आव० नि० गा० ७५४ । ‘नैगममग्रहव्यवहारर्जुमूत्रगन्दा नया । आद्यगन्दी द्विविधेरी ।’—तत्त्वार्थाधि० १।३४, ३५ । निश्चयेनदिवावास्तासु पङ् नयान् स्वीकुर्यन्ति, तन्मनानुसारण नैगमस्य सगहव्यवहारव्यतिरेक-नयान् । इष्टव्यम्—सम्प्रति० १।४, ५ ।

१ बहिरुपपत्त्यर्थ—न० । २ यावन्तोऽर्थे सङ्केतितः तादृशः शब्द आ० । ३ ‘कालान्तरे च’ नान्ति न०, य० । ४-छोऽत्रादि—न० । ५-रेकाप्य—मु० लघी० ।

विश्रुतिः—नहि मतिभेदा नयाः त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषयत्वात्, मतेः साम्प्रतिकार्थग्राहित्वात् । मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिवोधात्मिकायाः कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात् । तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ । द्रव्यम् एका न्वयात्मकम् । एकत्वं तदतत्परिणामित्वात्, सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वाद् अन्यपि । पुरुषत्वादेरपेक्षातः सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानेकसन्तानात्मना तथाभावसंकरव्यतिकरव्यतिरेकाद् अन्वयिनोरस्पृष्टतत्समानैकप्रत्ययविषयत्व मनुमिमीमहे । तथाहि—स्कन्धः स्वगुणपर्यायाणामेकत्वं न समानपरिणामः पुरुषश्च । समानपरिणामोऽपि सकल्पदार्थगोऽनेकत्वम् । निश्चयनयादेको जीव कर्मनिर्मुक्तः व्यवहारनयात् सकर्मकः । पर्याय पृथक्त्वम् व्यतिरेकश्च । पृथक्त्वम् एकत्र द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम् । व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशपरिणामः । व्यवहारपर्यायाः क्रोधादयः जीवस्य ससारिणः, निश्चयपर्यायाः शुद्धस्य ज्ञानादयः प्रतिक्षणम् आत्मसात्कृतानन्तभेदाः । निश्चयनयात् पुद्गलद्रव्यमेकम्, पृथिव्यादिभेदेऽपि रूपरसगन्धस्पर्शवचम् आविर्भूतानाविर्भूतस्वरूपमजहत् स्कन्धपरमाणुपर्यायभेदेऽपि रूपादिमन्त्रमपरिजहत् । नहि अवस्थादशकालसरकाराः मूर्ततन्मत्यन्तं भिन्दन्ति अमूर्तभेदप्रसङ्गात्, सत्ताभेदाश्च जीवादयः सत्ताम् इत्युक्तप्रायं नेहोच्यते । भेदवादिनोऽपि ज्ञानमेकम् एकस्मिन् क्षणे स्वयमनेकाकारमात्मसात्कुर्वत् कथं निराकुर्युः ? तैतः तीर्थकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तावमूलव्याकारिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ । नहि तृतीय प्रकारान्तरमस्ति; तस्य प्रमाण एवाऽन्तर्भावात् । न नैगमस्य प्रमाण[ता] तादात्म्यविवक्षाभावात् ।

श्रुतस्य आगमस्य भेदाः विशेषा न पुनर्मतिज्ञानस्य । के ? नयाः, प्रतिपन्न 20

भिप्राया, कियन्त ? सप्त । कुत ? नैगमादिप्रभेदतः । किं-  
कारिकार्यं -  
मूलश्लोके ? इत्याह—‘द्रव्य’ इत्यादि । द्रव्यपर्यायौ मूलम् आश्रयो  
येषां ते तथोक्ता । किं स्वरूपं द्रव्यम् ? इत्याह—‘द्रव्यम्’ इत्यादि । एकराश्वोऽयं  
भावप्रधानः, एकरूपश्च अन्वयश्च सदृशपरिणाम ताभ्यां यथासत्त्वेन स्वपर्यायान्

(१) तुलना—उत्पन्नाविनष्टावग्राहक साम्प्रतकावधिषय मतिज्ञानं यतज्ञानं तु त्रिकालविषयम्  
उत्पन्नविनष्टानुत्पन्नावग्राहकम् । -तत्त्वार्थाधि० भा० १।२० । (२) तुलना अर्थांतरगतो विसदृश  
परिणामो व्यतिरेकः गोमहिषादिवत् । -परीक्षाम० ४।९ । (३) तुलना— तित्थयरवयणसंग्रहं विस  
सपचारमूलवागवणी । दन्वद्विषो यं पञ्चवयणो यं सेसा विषयप्राप्तिः ॥ मति० १।३ । (४) तुलना—  
प्रमाणानामेक एवायमुभयग्राहकवत् । इत्युक्तमिह ज्ञप्ते प्रधानगुणभाक्ता ॥ प्राधान्यनोभयमात्मनमथ  
गृह्णति वेदनम् । प्रमाणं नान्यदित्यतत्प्रपञ्चेन निवेदितम् ॥ -तत्त्वार्थाधि० पु० २६९ ।



हारेपि बहुल बंहिः तद्व्यवहारोपलम्भात् इति भावः ।

ननु प्रतीयते शब्दादर्थः स तु विचार्यमाणो न सद्गच्छते, तत्र तस्य सम्बन्धा-  
भावतः प्रत्यायकत्वायोगात्, इत्याह—‘अवाधिताम्’ इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः—यद्दशोऽर्थे  
सङ्केतितः यादृशः शब्दः देशान्तरे कालान्तरे च योग्यतालक्षणसम्बन्धवशात् तादृशस्य  
तादृशो वाचकः, न तत्र किञ्चिद्वाधकम् इत्युक्तम्—‘योग्यतापेक्षानादिसङ्केतः’ [ लघी० स्ववृ०  
का० ६२ ] इत्यत्र । अतः अवाधितां शब्दादुपजायमानां सामान्यविशेषात्मकार्यविषया  
तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रतीयनाश्रयणेन प्रमाणस्वरूपम्—‘प्रत्यक्षानुमानलक्षणमेष  
प्रमाणं नागमादि’ इति, प्रमेयस्वरूपम् प्रत्यक्षस्य पूर्वापरकोटिविच्छिन्नं स्वलक्षणमेव  
प्रमेयम् अनुमानस्य तु अन्यव्यावृत्तिमात्रम्’ इत्यादिप्रमाणानां सौगतानां युक्तम्  
उपपन्नम् किं तत् ? अभिप्रेतमात्रसूचकत्वम् । केयम् ? शब्दानाम् इति ।

व्याख्यातं मूलकारिकायाम् ‘ज्ञानं प्रमाणमात्मदेः’ इत्येतत् । साम्प्रतं  
‘नयो ज्ञातुरभिप्रायः’ इत्येतद्व्याख्यातुकाम आह—

श्रुतभेदा नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः ।

द्रव्यपर्यायिमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगम् ॥ ६६ ॥

निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकेण्युक्तत्वगः ।

निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ ॥ ६७ ॥

(१) बहिरर्थे । (२) छन्दस्य । (३) व्याख्या—‘ते प्रागुक्तलक्षणा नया भवन्ति ।  
के ? ते । श्रुतस्य सकलदेशस्य आगमस्य भेदा विकल्पा विकलादेशाः । कति ? सप्त । कुत  
नैगमादिप्रभेदतः ? किं विशिष्टा ? द्रव्यपर्यायिमूला । तत्र द्रव्यस्य स्वरूपमाह—द्रव्य सामान्य  
भवति । किं विशिष्टम् ? एवान्वयानुगम्, एकान्वयान्वयद्वय एकाव्ययी तावदनुगच्छति व्याप्नोतीत्यवा-  
न्वयानुगम् । तत्रैकानुगम् अथवा ( ऊर्ध्वता ) सामान्यं पूवापरव्यापकम्, सवृत्तपरिणामलक्षणं तिर्यक्-  
सामान्यमन्वयानुगम् । पुनः किं विशिष्टम् ? निश्चयात्मकम्, निर्गतश्चयः पर्यायान्तरसकरो यस्मादसौ  
निश्चय पर्याय स आत्मा यस्य तत्तद्योक्तम् । अपि पुनरन्य पर्यायो विद्यते भवति । किं विशिष्टम् ?  
व्यतिरेकपुण्यत्वगः, व्यतिरेकद्वयपुण्यत्वञ्च ते गच्छति तादात्म्येन परिणमतीति स तद्योक्तम् । तत्र  
व्यतिरेक एकस्मिन् द्रव्ये तमभाविपर्यायि । पुण्यत्वगः पुनरन्यन्तरगतो विमद्व्यवहारपरिणामः । तु पुनर्नि-  
श्चयव्यवहारौ मूलनयो आश्रितौ आश्रितवन्तौ । किम् ? द्रव्यपर्यायिम् । द्रव्यश्रितो निश्चयनय  
द्रव्याधिक इत्यर्थः । पर्यायाश्रितो व्यवहारनय पर्यायाधिक इत्यर्थः ।—लघी० ता० पृ० ८८ । (४)  
तुङ्गना—‘सप्त मूलण्या पण्यता । त जहा णगमे, सगहे, ववहारे, उज्जुमुण, सद्, समभिरुदे, एवमूए ।’—  
स्था० ७।१९ । अनुयोग० १३६ । नैगममग्रहव्यवहारजुमुवचन्दसमभिरुदेवमूना नया ।—तत्त्वायं०  
१।३४ । ‘नैगमसगहववहादज्जुमुए होइ बाधवे । सद्दे य समभिरुदे एवमूए य मूङ्गना ।’—आव० नि०  
गा० ७५४ । ‘नैगमसग्रहव्यवहारजुमुवचन्दा नया । आवचन्दी द्वित्रिभेदो ।’—तत्त्वायं० १।३४,  
३५ । सिद्धसनदिवाकराम्पु पद् नयान् स्वीतुवन्ति, तन्मनानुसारेण नैगमस्य सग्रहव्यवहारयोस्त-  
र्भावान् । द्रष्टव्यम्—सम्प्रति० १।४, ५ ।

१ बहिरुपलम्भ-व० । २ यादृशोऽर्थे सकेतित तादृश शब्दः वा० । ३ ‘कालान्तरे च’  
नास्ति व०, प० । ४-लोड्यादि-व० । ५-रेवापृथ-मु० लघी० ।

विवृतिः—नहि मतिभेदा नयाः त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषयत्वात्, मतेः साम्प्रतिकार्थग्राहित्वात् । मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिरोधात्मिकायाः कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात् । तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थकौ । द्रव्यम् एका-  
 न्वयात्मकम् । एकत्वं तदतत्परिणामित्वात्, सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वाद्  
 अन्वयि । पुरुषत्वादेरपेक्षातः सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानैकसन्तानात्मनां  
 तथाभासंरूपव्यतिकरव्यतिरेकाद् अन्वयिनोरस्पृष्टलक्ष्मणानैकप्रत्ययविषयत्व  
 मनुमिमीमहे । तथाहि—स्कन्धः स्वगुणपर्यायाणामेकत्वं न समानपरिणामः  
 पुरुषश्च । समानपरिणामोऽपि सकलपदार्थगोऽनेकत्वम् । निश्चयनयादेको जीवः  
 कर्मनिर्मुक्तः व्यवहारनयात् सकर्मकः । पर्यायः पृथक्त्वम् व्यतिरेकश्च । पृथक्त्वम्  
 एकत्र द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम् । व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशप-  
 रिणामः । व्यवहारपर्यायाः क्रोधादयः जीवस्य संसारिणः, निश्चयपर्यायाः शुद्धस्य  
 ज्ञानादयः प्रतिक्षणम् आत्मसात्कृतानन्तभेदाः । निश्चयनयात् पुद्गलद्रव्यमेकम्,  
 पृथिव्यादिभेदेऽपि रूपरसगन्धस्पर्शवस्त्वम् आविर्भूतानाविर्भूतस्वरूपमजहत् स्कन्ध-  
 परमाणुपर्यायभेदेषु रूपादिमन्त्रमपरिजहत् । नहि अवस्थादेशकालसंस्काराः  
 मूर्त्तत्वमत्यन्तं भिन्दन्ति अमूर्त्तभेदप्रसङ्गात्, सत्ताभेदाश्च जीवादयः सत्ताम्  
 इत्युक्तप्रायं नेहोच्यते । भेदवादिनोऽपि ज्ञानमेकम् एकरिमन् क्षणे स्वयमनेकाकार-  
 मात्मसात्कुर्वत् कथं निराकुर्युः ? तैतः तीर्थकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तावमूलव्याका-  
 रिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ । नहि तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति; तस्य  
 प्रमाण एवाऽन्तर्भावात् । न नेगमस्य प्रमाण [ता] तादात्म्यविवक्षाभावात् ।

श्रुतस्य आगमस्य भेदाः विशेषाः न पुनर्मतिज्ञानस्य । के ? नयाः, प्रतिपन्न- 20

भिप्राया, कियन्त ? सप्त । कुत ? नैगमादिप्रभेदतः । किं-  
 मूलास्ते ? इत्याह—‘द्रव्य’ इत्यादि । द्रव्यपर्यायौ मूलम् आद्यशो-  
 चेपा ते तथोक्ता । किं स्वरूप द्रव्यम् ? इत्याह—‘द्रव्यम्’ इत्यादि । एकराब्दोऽयं  
 भावप्रधानः, एकत्वञ्च अन्वयश्च सदृशपरिणामः ताभ्या यथासंख्येन स्वपर्यायान्

(१) तुलना—उत्पन्नाविनष्टायग्राहकं साम्प्रतकावविषयं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयम्  
 उत्पन्नविनष्टानुत्पन्नार्थग्राहकम् । —तत्त्वार्थवि० भा० १।२० । (२) तुलना— अर्थान्तरगतो विसदृश  
 परिणामो व्यतिरेकं गोमहिषादिवत् । —परीक्षा० ४।९ । (३) तुलना— तित्थयस्वरवयणसंग्रहं विसे  
 सत्पत्थारमूलवागरणीः । द्रव्यद्विषो य पञ्जवणो य सेसा वियप्पासि ॥ —संमत्ति० १।३१ । (४) तुलना—  
 ‘प्रमाण’ आत्मक एवायमुभयग्राहकत्वतः । इत्युक्तमिह ज्ञप्ते प्रधानगुणभावतः ॥ प्राधान्यतोभयात्मानमर्थं  
 गृह्णन्ति वेदनम् । प्रमाणं नान्यदित्यतः प्रपञ्चेन निवेदितम् ॥ —तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६९ ।

द्रव्यान्तराणि च अनुगच्छति अनुयाति इति तदनुगम् । 'एकत्वानुगम्' इत्यनेन भेदैका  
न्तनिषेधः, 'अन्वयानुगम्' इत्यनेन तु सर्वद्रव्यैकत्वनिरासः । तदेवविधं द्रव्यप्रमाणा-  
परिच्छेद्यं भविष्यति इत्याह—'निश्चयात्मकम्' इति । सशयादिव्यवच्छेदलक्षणा  
प्रमेयस्या गृहीतिक्रिया निश्चयः, स आत्मा स्वभावो यस्य तत् तथोक्तम् । न केवल  
5 द्रव्यमेव निश्चयात्मकम्, किन्तु अन्योऽपि पर्यायोऽपि, निश्चयात्मक इति लिङ्गपरि-  
णामेन सम्बन्धः । पुनरपि कथम्भूतः ? इत्याह—व्यतिरेकपृथक्त्वगः । स्वद्रव्य-  
पर्यायान्तरापेक्षया व्यतिरेकं परस्परव्यावृत्तिम् एकद्रव्यापरित्यागेन गच्छतीति व्यति-  
रेकगः, द्रव्यान्तरपर्यायापेक्षया पृथक्त्वं प्रथमद्रव्यवृत्तिर गच्छतीति पृथक्त्वगः ।  
ननु यदि नेगमादयो नया द्रव्यपर्यायमूलाः तर्हि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकलक्षणौ मूलनयौ  
10 किमूलौ ? इत्याह—'निश्चय' इत्यादि । चेतनस्य अचेतनस्य वा यः सन् स्वभावः न  
कदाचिद्विनश्यति तदवलम्बी नयो निश्चयः द्रव्यार्थिकनयः इत्यर्थः । यो विनश्यति  
स्वभावः तदवलम्बी व्यचहारः पर्यायार्थिक इति यावत् तो । तु शब्द अपिशब्दार्थः,  
द्रव्यपर्यायमाश्रितौ । वक्ष्यति च 'तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ' इत्यादि ।

तत्र प्रथमकारिकायाः प्रथमभागं व्यतिरेकमुखेन विधृष्वन्नाह—'नहि' इत्यादि ।

- 15 नहि नैव मतिभेदाः किन्तु श्रुतभेदाः, के ते ? नयाः । कुत  
विदुति याह्यानम्—  
एतत् ? इत्याह—'त्रिकाल' इत्यादि । त्रयः काला गोचरो येषाम्  
अनेकद्रव्यपर्यायाणां ते त्रिषो येषां तेषां भावात् तत्रात् । 'नयानाम्' इति विभक्ति-  
परिणामेन सम्बन्धः । मतिरपि तथा भविष्यति ? इत्याह—'मतेः' इत्यादि । मतेः इन्द्रिय-  
चरितायाः साम्प्रतिकार्थग्राहित्यात् वर्तमानकालगोचरद्रव्यपर्यायात्मकार्थग्राहकत्वात्  
20 'न मतिभेदा नयाः' इति सम्बन्धः । अनिन्द्रियचरितायास्तस्यां ते तर्हि भेदा भवन्तु  
तस्या त्रिकालगोचरद्रव्यादिविषयत्वात् इत्याह—'मनोमतेः' इत्यादि । न केवलम्  
इन्द्रियमते अपि तु मनोमतेरपि 'नहि भेदाः नयाः' इति सम्बन्धः । त्रिविष्टाया ?  
इत्याह—स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्तामिनिरोधात्मिकायाः । कुत एतत् ? इत्याह—  
'कारण' इत्यादि । निश्चयः इति मेति मनोमते कारणत्वात् 'कारणमतिः' इत्यु-  
25 च्यते, तथा परिच्छिन्नो योऽर्थः तद्विषयत्वान्मनोमतेः । तस्यैव कथञ्चिदधिर्नतया  
तथा महणात् प्रमुक्तम् ।

नयभेदं दर्शयन्नाह—'तत्र' इत्यादि । तत्रैव श्रुतभेदत्वं नयानां व्यवस्थिते मूल-  
नयौ कारणनयौ नेगमादीनाम् । कौ ? इत्याह—द्रव्यपर्यायार्थिकौ, द्रव्यश्च पर्यायश्च

(१) मतिः । (२) इन्द्रियचरिता मतिः । (३) इन्द्रियमतिविषयभूतस्य जयस्य च । (४)  
अर्थाभावात्तदनुगमकारणं विचारात्मकत्वात् नयानाम् । (५) मनोमत्या ।

तावेव अर्था तो यथासख्येन विद्येते ययो तौ तथोक्तौ । तत्र द्रव्यपद व्याचष्टे  
 'द्रव्यम्' इत्यादिना । एकत्वान्वयौ व्याख्यातौ, तौ आत्मा यस्य तत् तदात्मकम् ।  
 एतदेव समर्थयमान प्राह—'एकत्वम्' इत्यादि । 'द्रव्यम्' इत्यनुवर्तते । तस्य  
 एकत्व कुत ? इत्याह—'तद्' इत्यादि । स च विवक्षित असक्ष अविवक्षित तदतौ,  
 तौ च तौ परिणामौ च तौ यस्य स्त तत् तदतत्परिणामि, यदि वा, तयो परिणमत  
 इत्येव शील तदतत्परिणामि, तस्य भावात् तत्त्वात् । साम्प्रतम् 'अन्वयात्मक तत्'  
 इत्येतत् समर्थयते—अन्यायि द्रव्यान्तरेण अनुगमबद् 'द्रव्यम्' इति सम्बन्धः । कुत ?  
 इत्याह—'तद्' इत्यादि । सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वात् । अत्राह  
 सौगत—असमानानपेक्ष्य समानपरिणामा अनुपादानोपादेयानपेक्ष्य एकपरिणामा  
 केचन भावा कल्प्यन्ते न परमार्थतः, अपेक्षाकृतस्य धर्मस्याऽतत्त्विकत्वात्,  
 इत्याह—'पुरुष' इत्यादि । अस्यायमर्थ—नानैकसन्तानात्मनाम् नानासन्तानस्वभा-  
 वानाम् एकसन्तानस्वभावानांश्च युगपत्क्रमभाविना क्षणानाम् इत्यर्थः । तेषा यदपेक्षातः  
 यथोक्ताया अपेक्षाया सकाशात् कल्पित पुरुषत्व त्रिधेकसामान्यम्, आदिशब्देन द्रव्य-  
 विशेषपरिग्रहः, तस्मात् सत्यपि विद्यमानेऽपि समानेतरपरिणामातिशये समानपरिणा-  
 मातिशये तत्पर्युक्त इतरपरिणामातिशये एकत्वपरिणामप्रकर्षे । ननु इतरशब्दस्य उक्तविपरी-  
 तार्थाभिधायित्वात् समानपरिणामाद् इतरो विसदृशपरिणाम एव लभ्यते, न एकत्वपरि-  
 णामातिशय इति चेत्, एवमेतत्, तथापि—इह समानेकत्वपरिणामातिशययो प्रकृत-  
 त्वात् समानपरिणामात् इतर एकत्वपरिणाम एव उच्यते । तस्मिन् सत्यपि एकत्व  
 तदतत्परिणामित्वात् । सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वाद् 'अन्वयि' इति सम्बन्धः ।  
 नहि तथाऽपरिणतम् अपेक्षातः तद् भवति विप्रतिपेधात्, अन्यथा स्वयममूर्तमपि ज्ञान  
 ज्ञानान्तरात् अमूर्तात् व्यवर्त्तमान मूर्तं स्यात् । ननु च विचार्यमाणस्य तदतत्परिणा-  
 मिनः सदृशपरिणामलक्षणसामान्यस्य चानुपपत्ते अभिमतरूपबद् अनभिमतरूपेणापि  
 प्रसङ्गाच्च अयुक्तम्—एकत्वमित्यादि, इति चेदत्राह—'तथा' इत्यादि । तथा तदतिशय-  
 प्रकारेण यौ सङ्करव्यतिकरौ तयो व्यतिरेकाद् अभावाद् अन्वयिनोः तदतत्परिणा-  
 मिसामान्ययो अस्मत्समानैकप्रत्ययनिपयत्वम् साकल्येन नानैकसन्तानात्मस्व-  
 भावम् अनुमिमीमहे अनुमानेन प्रतिपद्यामहे 'अनुमाननिमित्तस्य उक्ततर्कस्य प्रविजृम्भ-  
 णात्' इत्यभिप्रायः ।

(१) न हि अग्नित्वेनापरिणत अपेक्षातः अनग्नित्वव्यावृत्त्यपेक्षया अग्निर्भवति जलादावपि  
 अनग्नित्वव्यावृत्त्या अग्नित्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् इति भावः ।

१ द्रव्यमित्यादि द्रव्यमित्यनुवर्तते व०, द्रव्यमित्यादि इत्यनुवर्तते थ० । २-ह सङ्का-आ०,  
 व० । ३-पेक्ष एक-व० । ४-उच्च युगपत्क्रमभाविनाञ्च युगपत्क्रमभाविना अ-आ० । ५ 'समानपरिणा-  
 मातिशय नास्ति थ०, समानपरिणामप्रकर्षे व० । ६-रूपेणातिशय-थ० ।

यदि वा वैशेषिकादिराह—पुरुषत्वमपेक्ष्य समानपरिणामातिशयो नानात्मसु,

बुद्ध्यादिगुणसमवायित्वमपेक्ष्य एकात्मनि एकत्वपरिणामातिशयो न परमार्थतः इति, तत्राह—‘पुरुषत्वादेः’ इत्यादि । पुरुषत्वम् आदिर्द्वयस्य बुद्ध्यादिसमवायित्व-त्रिगुणसंयोगित्वादे स तथोक्तः तस्य या अपेक्षा तत सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये ।

केपाम् ? इत्याह—नानैकसन्तानात्मनाम् । नाना एकसन्तानाश्च ते आत्मानश्च तेषाम् इति, शेष पूर्ववत् । ननु भवतु आत्मना समानैकत्वपरिणामः न घटादीना तत्र समान-परिणामस्यैव सभवात् इत्याशङ्क्याह—‘तथाहि’ इत्यादि । तद्यथा तेन अस्त्रलत्स-मानैरुप्रत्ययविषयत्वप्रकारेण च स्कन्धो घटाद्यवयवी, स किम् ? इत्याह—एकत्वम् । केपाम् ? इत्याह—‘स्व’ इत्यादि । स्वशब्देन स्कन्धः परामृश्यते तस्य ये गुणा रूपादयः ।

ये च पर्याया नवपुराणादयः तेषाम् एकत्वम् न समानपरिणामः ‘अस्त्रलदेकप्रत्ययविषयत्वात्’ इति भावः । ननु भिन्नसन्तानात्मनामिव एकसन्तानात्मनामपि समान-परिणाम एवास्तु इति सौगतः । तत्राह—‘पुरुषश्च’ इति । न केवल स्कन्धः किन्तु पुरुषोऽपि ‘स्वगुणपर्यायाणामेकत्वम्’ इति सम्बन्धः । ननु यथा कमभाविना सुरा-दीनामेव पुरुष तथा युगपद्भाविनामात्मनाम् एकत्व सौऽस्तु इति चेदत्राह—‘समान’ इत्यादि । अपिशब्द एवकारार्थः । समानपरिणाम एव सकलपदार्थगः नैकत्वं सकलपदार्थगम् ‘पुरुषस्य’ इति निभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । अनेन ‘तथाभावा’ इत्यादि समर्थितम्, द्रव्यमेकान्वयानुगम्’ इति कारिकापादश्च व्याख्यातः । निश्चयनयाद् द्रव्यार्थिकनयाद् एकः अभिन्न जीवः सर्वोऽपि सर्वसाधारणचेतनापरिणामापेक्षया । स एव द्विविधो व्यवहारनयात् इति दर्शयन्नाह—‘कर्म’ इत्यादि । कर्मणा ज्ञानाचरणीयादिना निर्मुक्तो रहितो जीवः, सकर्मकरश्च । कुतः ? व्यवहारनयात् पर्यायार्थिकनयात् । एवमेकन्द्रियादिभेदोऽपि चिन्त्यः । अनेन द्वितीयकारिकाया उत्तरार्द्धं व्याख्यातम् ।

पर्यायं कथयन्नाह—‘पर्यायः’ इत्यादि । पर्यायः कः ? इत्याह—पृथक्त्व व्यतिरेकश्च । तत्र पृथक्त्वपद व्याचष्टे—पृथक्त्वम्, एकरूप एकस्मिन् द्रव्ये गुणरूप-समामान्यविशेषाणां परस्परपरिहारेण कथञ्चिन् अवस्थानम् इत्यर्थः । व्यतिरेकपद निवृणोति—व्यतिरेको व्यावृत्तिः । कः ? इत्याह—सन्तानान्तरगतो निसदृशपरिणामः गोमेहिष्यादिपरिणामः । तत्र जीवगतपर्यायान् दर्शयन्नाह—‘व्यवहार’ इत्यादि । व्यवहारपर्यायाः पर्यायार्थिकनपर्यायाः इत्यर्थः । के ? श्रोत्रादयः कादाचित्कत्वात् ।

(१) गोपतः । (२) अद्वैतवादाः । (३) पुरुषः ब्रह्मण्यो नवनु ।

१ बुद्ध्यादिगुण-आ० । २ नानैकसन्तानात्मनाम् नास्ति थ० । ३ तथा च तेन व०, तथा तत्र आ० । ४-सन्तानानामपि व० । ५-य अनवस्थ आ०, थ० । ६ तद्वद्ध्यम्-थ० । ७ निश्चयाद् आ०, व० । ८-कश्चिन्नवदपि व० । ९ पर्याया क इ-व० । १०-इनवस्था-थ० । ११ गोमेहिष्यादि-थ० व० ।

किंविशिष्टस्य जीवस्य ते पर्यायाः ? इत्याह—संसारिणः । मुक्तस्य के पर्यायाः ?  
 इत्याह—‘निश्चय’ इत्यादि । निश्चयपर्यायाः द्रव्यार्थिकगोचराः पर्याया शुद्धस्य  
 ‘जीवस्य’ इति सम्बन्धः । के ते ? ज्ञानादयः अकादाचित्कत्वात् । कथम्भूतास्ते ?  
 ‘ते च’ इत्याह (इत्याह ते च) प्रतिक्षणम् आत्मसात्कृतानन्तभेदाः । न केवलं द्रव्यार्थि-  
 कनयाजीवस्यैव अभेदः अपि तु पुद्गलद्रव्यस्यापि इत्याह—‘निश्चय’ इत्यादि । निश्चय-  
 नयात् द्रव्यार्थिकनयात् पुद्गलद्रव्यम् एकम् अभिन्नम् । कस्मिन् सत्यपि ? इत्याह—  
 पृथिव्यादिभेदेऽपि । किं कुर्वन्तवेकम् ? इत्याह—‘रूप’ इत्यादि । अजहत् अपरित्यजत्,  
 किम् ? इत्याह—रूपरसगन्धस्पर्शवत्तम् ‘रूपरसगन्धस्पर्शवन्तं पुद्गलं’ [ तत्त्वार्थसू०  
 ५।२३ ] इत्यभिधानात् । कथम्भूतं तत् ? इत्याह—आविर्भूतानाविर्भूतस्वरूपम् ।  
 पृथिव्या तद्वै आविर्भूतस्वरूपं जलादौ अनाविर्भूतस्वरूपम्, जले गन्धस्य अनले गन्धरसयोः  
 अनिले रूपरसगन्धानामनाविर्भावात् ।

नैव जलादौ गन्धादिसद्भावे प्रमाणतः सिद्धे अनाविर्भावो युक्तः, अन्यथा सर्वस्य  
 सर्वत्राज्ञाविर्भाषप्रसङ्गात् साख्यदर्शनप्रतिप्रसङ्गः स्यात् इति चेत्, उच्यते—जैलादयो  
 गन्धादिमन्तः, स्पर्शवत्त्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा पृथिवी, स्पर्शादिमन्तश्चैते, तस्माद्-  
 गन्धादिमन्तः इति । यत् पुनः गन्धादिमन्तः भवति न तत् स्पर्शवत् यथा आत्मादि, 15  
 इत्यादि पदपदार्थपरीक्षायां पृथिव्यादीनामतत्त्वान्तरभावसमर्थनावसरे प्रपञ्चतः प्रकृत-  
 मिहावगन्तव्यम् । पुनरपि किं कुर्वन्त ? इत्यत्राह—‘स्कन्ध’ इत्यादि । स्कन्धाश्च षडा-  
 दयः परमाणवः अत्यन्तसूक्ष्माः पुद्गलाः त एव पर्यायाः परस्परतः प्रादुर्भावात्, पर-  
 माणुभ्यो हि स्कन्धाः प्रादुर्भवन्ति तेभ्यश्च परमाणव इति, तेषां भेदेऽपि रूपादिमत्त्वम-  
 परित्यजदेकं । दृष्टान्तार्थमेतत्, ततो यथा तत् परमाणुरूपं स्कन्धीभवत् स्कन्धस्वभावं 20  
 वा परमाणुरूपतामादधत् रूपादिमत्त्वमपरित्यजत् एकं तथा प्रकृतमपि इति । एतदेव  
 दर्शयन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न अवस्था च देशश्च कालश्च सस्कारश्च  
 ते मूर्तत्वं रूपादिमत्त्वम् “रूपादिमयी मूर्ति” [ १ ] इत्यभिधानात् । अत्यन्तं  
 सुष्ठु भिन्दन्ति ‘पृथिव्यादिभेदस्य स्कन्धपरमाणुपर्यायभेदस्य च’ इति सम्बन्धः । कुत  
 एतत् ? इत्याह—‘अमूर्त’ इत्यादि । अमूर्तो रूपादिरहितो यो भेदः व्यक्तिविशेषः तस्य 2,  
 प्रसङ्गात् । यथा च अवस्थादयो न रूपादिमत्त्वमत्यन्तं भिन्दन्ति, तथा सत्ताभेदाश्च

(१) ‘स्पर्शरसगन्धवन्तं पुद्गलं । -तत्त्वार्थसू० । (२) रूपरसगन्धादि । (३) वैरागिकः ।  
 (४) तुलना—पृ० २३८ टि० ४ । (५) पृ० २३८ । (६) तुलना— रूप मूर्तिरित्यर्थः । मूर्ति ?  
 रूपादिमत्त्वानपरिणामो मूर्ति । -सर्वार्थसि० राजवा० ५।५ ।

जीवादयः सत्ताम् 'अत्यन्त न भिन्दन्ति' इति सम्बन्धः । अंसद्भेदप्रसङ्गात् इत्युक्तं-  
 प्रायं 'जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनाः' [लघी० का० ३१] इत्यत्र, नेह पुनरु-  
 च्यते । ननु जीवादिद्रव्यस्य सत्तादिसामान्यस्य वा कस्यचिदसम्भवात् 'निश्चयनया-  
 देको जीवः' इत्याद्ययुक्तम्, तत्सम्भवे च अवस्थादिभेदेन विरुद्धधर्माध्यासतः प्रतिक्षणं  
 भेदप्रसङ्गात् तदेकत्वम् इत्याशङ्क्याह—'भेद' इत्यादि । ये विरुद्धधर्माध्यासतः सर्वथा  
 वस्तुनो भेदं वदन्ति सौगताः तेऽपि कथं नैव निराकुर्युः ? किं तत् ? ज्ञानम्, कथम्भूतम् ?  
 एकम् । किं कुर्वन् ? स्वयम् आत्मनोऽनेकाकारं नीलपीतादिविचित्राकारं प्राक्षमाहका-  
 कारविविक्तेतररूपतया प्रत्यक्षपरोक्षाकार वा आत्मसात्कुर्वन् । कदा ? एकस्मिन्  
 क्षणे । तन्निराकरणे सकलशून्यता स्यात् । सा च प्रत्यक्षपरिच्छेदे प्रपञ्चतः प्रतिक्षिप्ता  
 इत्यल पुनः प्रसङ्गेन । ततो यथा विरुद्धधर्माध्यासेऽपि एकमेकदा ज्ञानमविरुद्धं तथा  
 क्रमेण जीवादिद्रव्यमपि इति ।

उक्तार्थोपसंहारमाह—'तत्' इत्यादि । यत् उक्तप्रकारेण जीवादि सुप्तादिपर्याया-  
 त्मकं व्यवस्थितं ततः तीर्थकरस्य भवावतोऽर्हतो वचनं स्याद्वाद्प्रवचनं तस्य विषय-  
 भूताः, धृतभेदत्वात् नयानाम्, ये सङ्ग्रहविशेषाः सङ्ग्रहश्च विशेषाश्च व्यवहारादिनय-  
 भेदाः तेषां प्रस्तारस्य प्रपञ्चप्ररूपणस्य मूलव्यापारिणो आद्यौ उत्पादकौ निश्चेतव्यौ ।  
 कौ ? इत्याह—द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकौ । अन्यः कुतो नेति चेत् ? अत्राह—'नहि'  
 इत्यादि । हिर्यस्मात् न तृतीयं प्रकारान्तरं नयान्तरमस्ति । कुत एतत् ? इत्यत्राह—  
 'तस्य' इत्यादि । तस्य तदन्तरस्य प्रमाणे एव न नये अन्तर्भावात् 'न तदस्ति'  
 इति सम्बन्धः । प्रधानभूतान्योन्यात्मकसामान्यविशेषविषयाभिर्सेन्धेः प्रमाणत्वात् ।  
 नैगमोऽपि तर्हि प्रमाणं स्यात् इति चेदत्राह—'न' इत्यादि । न प्रमाणता, कस्य ?  
 नैगमस्य । कुत एतत् ? इत्याह—'तादात्म्य' इत्यादि । तादात्म्येन प्रमाणस्वभावत्वेन  
 विवक्षायाः अभावात्, नयत्वेन विवक्षासद्भावात् इत्यर्थः । एतदपि कुतः इत्यत्राह—

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि ।

विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः ॥३८॥

(१) असदबाधो भेद विषय तस्य प्रसङ्गात् असद्रूपत्वप्रमङ्गादित्यर्थः । (२) सौगत । (३)  
 विप्रज्ञानम्, प्राक्षमाहकाद्यनेकाकारं सवदनम् शास्त्राद्याकारादित्य-सवेदनापक्षया प्रत्यक्षपरोक्षात्मकं  
 गविदन वा । (४) सकलशून्यता । (५) पु० १३३ । (६) मुखाद्यनेकाकारम् । (७) अनिप्रायवतो  
 ज्ञानस्य । (८) व्याख्या—'स्यात् । क ? नैगमो नय । ना ? विवक्षा अभिप्राय । नयो ? धर्मयो  
 एकरवान्तरवयो । कुत ? गुणप्रधानभावेन । क्व ? एकधर्मिणि एकोऽभिधो धर्मो द्रव्यं तस्मिन् । तदा-  
 इति तस्य नैगमस्य आह्वयिष्ठमात्रं स्यात् । ना ? अत्यन्तभेदास्ति अत्यन्तो निरपेक्ष भेदा नानात्व  
 तस्याभिवचनं नैवापर्यायविधायो नैगमानाम् इत्यर्थः ।"—समी० ता० पु० १० ।

१ तत्ताभवे ज्ञानत्वा-ध० । २ स्यादादिवचनं आ० । ३ प्रस्तारस्य ध० । ४ प्रकारभूता-ध० ।

५ भित्तम्ब-प्र-प्रा०, ध० ।

विवृतिः—जीवः सन्नमूर्तः कर्त्ता सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टाऽसंख्यातप्रदेशो भोक्ता परिणामी नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षणः इति प्रधानवृत्त्या जीवस्वत्त्वनिरूपणायां गुणीभूताः सुखादयः । सुखादिस्वरूपनिरूपणायां वा आत्मा । तदत्यन्तभेदाभिसन्धिः नैगमाभासः । गुणगुणिनाम् अवयव्यवयवानां क्रियाकारकाणां जातितद्गतां चेत्यादि तादात्म्यमविवाक्षित्वा गुणगुणिनोः धर्मिधर्मयोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे, संग्रहादौ एकविवचेति भेदः ।

गुणप्रधानभावेन मुख्यामुख्यरूपता धर्मयोः एकस्मिन् धर्मिणि विवक्षा प्रतिपत्तुरभिसन्धि नैगमः स कथं प्रधानभूतोभयधर्मस्वभावधर्मि-  
कारिकाभ्याम्— विषयप्रमाणरूपता प्रतिपद्येत ? तदाभासमाह—अत्यन्तभेदोक्तिः  
'धर्मयोः एकधर्मिणि' इति सम्बन्धः, स्यात् तदाकृतिः नैगमाभासो भवेत् । 10

कारिका विवृण्वन्नाह—जीवः सन्नमूर्तः सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टा कर्त्ताऽसंख्यातप्रदेशो भोक्ता परिणामी नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षणः एव प्रधानवृत्त्या जीवस्वत्त्वनिरूपणायां जीवस्वरूपप्ररूपणायां क्रियमाणाया गुणीभूताः सुखादयो धर्माः । आंहादनाकार सुख तद्विपरीतस्वरूप दुःख स्वार्थग्रहण-  
विवृतिभ्याम्— स्वभाव ज्ञानम् इत्येव मुख्यतः सुखादिस्वरूपनिरूपणायां वा आत्मा 'गुणीभूतः' इति 15  
सम्बन्धः । नैगमाभास प्ररूपयन्नाह—'तद्' इत्यादि । तयोः सुखाद्यात्मनोः अत्यन्तभेदाभिसन्धिः नैगमाभासः । उदाहरणमाह—गुणगुणिनाम् अवयवावयविनां जातितद्गतां चेत्यादि । 'अत्यन्तभेदाभिसन्धिर्नैगमाभासः' इति सम्बन्धः । अनेन कपिलीयोऽपि चैतन्यसुखाद्योरत्यन्तभेदाभिसन्धिं चिन्तितः । कुतोऽसौ नैगमाभासः ?  
इत्यत्राह—'तादात्म्यम्' इत्यादि । यतोऽसौ धर्मधर्मिणोस्तदात्म्यं सदपि अविवाक्षित्वा 20  
स्वदुःखगमबासनाविपर्ययसितमते प्रतिपत्तुः प्रवर्त्तते ततोऽसौ नैगमाभास इति । धर्मधर्मिणोः इत्युपलक्षणार्थमेतत्, तेन अवयवावयविनोः क्रियाकारकयोः जातितद्गतोऽत्र ग्रहणम् । धर्मयोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे यतः ततोऽत्यन्तभेदविवक्षा तदाभास इत्यभिप्रायः । संग्रहादेरतः कुतो भेदः ? इत्यत्राह—'संग्रहः' इत्यादि । संग्रहः आदिर्द्विषय व्यवहारादेः स तथोक्तः, तत्र एकस्य गुणादेः गुण्यादेर्वा विवक्षा इति 25  
हेतोः भेदः नैगमात् संग्रहादेः इति ।

तत्र संग्रहस्वरूप सप्रतिपक्षं दर्शयन्नाह—

(१) विषय यत्प्रमाणं तद्रूपताम् । (२) 'सुखमांहादनाकार विज्ञानं मेयबोधनम्'—न्यायवि० ।  
द्रष्टव्यम्—अकलङ्कप्र० परि० पृ० ५८ ।

1—नाम ज० वि० । 2—भूतावि—ज० वि० । 3—निगमे ज० वि० । 4—भिसम्बन्धि आ० ।  
5—पश्यते आ०, थ० । 6—चात्मा व० । 7—सम्बन्धि थ० । 8—चेत्यादि आ० । 9—नैगमो यतः व०, थ० ।



सदभेदात् समस्तैक्यसंग्रहात् संग्रहो नयः ।

दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात् तत्स्वरूपानवाप्तिः ॥६९॥

विवृतिः-सर्वमेकं सदविशेषात् इति संग्रहो नयः । तदाभासो ब्रह्मवादः

तदभ्युपगमोपायाभावात् । नापि तस्योपेयत्वं खरविषाणवत् ।

समस्तस्य जीवाजीवविशेषप्रपञ्चस्य ऐक्येन संग्रहात् कारणात् संग्रहो

नयः 'प्रवर्तते' इत्युपस्कारः । कुतः समस्तैक्यसंग्रहः इत्याह-सदभे-

कारिकायं -

दात् । ब्रह्मवादोऽपि सदभेदमाश्रित्य समस्तैक्यं संगृह्णाति इति

सोऽपि संग्रहः स्यादित्यत्राह-'दुर्नय' इत्यादि । दुर्नयः संग्रहाभासो ब्रह्मवादः

स्यात् । कुत एतत् ? इत्याह-'तद्' इत्यादि । तस्य ब्रह्मणः यत्स्वरूपं

निराकृतसकलभेदप्रपञ्चं सचामात्रं तस्य अनवाप्तिः प्राप्तेरभावात् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह-'सर्वम्' इत्यादि सर्वं चेतनाचेतनरूपं वस्तुजातम् एकं

सदविशेषात् इति एवं संग्रहनयः प्रवर्तते । तदाभासः संग्रहाभासः

विवृतित्याख्यानम्-

ब्रह्मवादः । कुत एतत् ? इत्याह-'तत्' इत्यादि । तदभ्युपगमस्य

ब्रह्मवादस्वीकारस्य उपायाभावात् प्रमाणाभावात् । प्रमाणमूलो हि अभ्युपगमः सत्यः

इत्यभिप्रायः । दोषान्तरमाह-'नापि' इत्यादि । नापि तस्य ब्रह्मणः उपेयत्वं

स्वीकरणीयत्वं 'उपायाभावात्' इत्यभिसम्बन्धः । यस्य उपायामात्रो न तदुपेयम्

यथा खरविषाणम्, उपायाभावश्च ब्रह्मणः इति । यथा चास्य न कश्चिदुपायो घटते

तथा ब्रह्माद्वैतनिषेधावसरे व्यासतः चिन्तितम् ।

व्यवहारनयं दर्शयन्नाह-

व्यवहारानुकूल्यात् प्रमाणानां प्रमाणाता ।

नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः ॥ ७० ॥

विवृतिः-प्रमाणानां प्रामाण्यं व्यवहाराविसंवादात् इति आकुमारं प्रसिद्धम्,

(१) व्याख्या-"समस्तस्य जीवाजीवविशेषस्य ऐक्येन ऐक्यत्वेन संग्रहात् मुक्षिष्य संग्रहात् ।

यपमनेकस्य, संश्लेषमिष्टाद्यङ्क्याह-सदभेदात्, सत् स्वरूपसामान्यं सत्त्वासावभेदश्च तमाश्रित्य । नहि

मर्यादां निश्चिदं भिन्नमस्तीति वक्तुं युक्तं विरोधात् । दुर्नयं संग्रहाभासः स्यात् । क ? ब्रह्मवादः सत्ता-

द्वैतम् । कुत ? तत्स्वरूपानवाप्तिः, तस्य परपरित्यक्तब्रह्मणः स्वरूपभेदप्रपञ्चगून्यं सन्मात्रं तस्यान-

वाप्तिः प्रमाणादप्राप्तिस्तत्र, न सत् तत् प्रत्यक्षादिप्रमाणात् प्राप्यते तयाऽप्रतीतिः ।"-सूची० ता०

पृ० १० । (२) पृ० १५० । (३) "व्यवहारानुकूल्यात्, न संग्रहभेदको व्यवहारः तस्यानुकूल्यमविसंवाद

तस्मादयं । बाध्यमानानां मनायादीनां विसंवादिना ज्ञानानाम् । तत्र प्रमाणेतरव्यवस्थानिवन्धनत्वात्

व्यवहारो नयः, अन्यथा तदाभास इत्यर्थः ।"-सूची० ता० पृ० ११ । उद्धृतोऽयम्-"व्यवहारानुकूल्येन

प्रमाणानां प्रमाणाता । नान्यथा बाध्यमानानां नेपाञ्च तत्प्रसङ्गतः ।"-तत्त्वार्थस्तो० पृ० २७१ । तुलना-

"प्रामाण्यं व्यवहारण"-प्रमाणवा० ३।५ ।

अन्यथा संशयविपर्यासस्वप्नज्ञानादीनामपि प्रामाण्यमनिवार्यं स्यात् । प्रत्यक्षं सविकल्पकं प्रमाणं व्यवहाराविसंवादात् । उत्पादविगमध्रौव्यलणं सत् गुणपर्यय-वद्रव्यम् जीवश्चैतन्यस्वभावः इत्यादि श्रुतज्ञानस्य प्रमाणान्तरावाधन-पूर्वापरा-विरोधलक्षणसंवादसंभवात् प्रामाण्यम्, अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकव्यवहारानुकू-ल्याच्च । बहिरर्थविज्ञप्तिमात्रशून्यवचसां व्यवहारविरोधित्वात् दुर्नयत्वम् ।

**प्रमाणानाम्** अध्यक्षादीनां या **प्रमाणाता** सौगतादिभिरिष्यते मा व्यव-  
हारानुकूल्यादेव उपपन्ना नान्यथा, अन्यथा व्यवहारप्राप्ति-  
कारिण्यं - कूल्यप्रकारेण न, कुत एतत् ? इत्यत्राह—**‘वाध्यमान’** इत्यादि ।  
**वाध्यमानानां** व्यवहारानधिरूढप्रातीतिकद्विचन्द्रसकलशून्यताद्यर्थविपर्ययज्ञानानां  
तत्प्रसङ्गतः प्रमाणाताप्रसङ्गतः ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—**‘प्रमाणानाम्’** इत्यादि । प्रमाणानां प्रत्यक्षादीनां  
प्रामाण्यम् अमिध्यात्वम् इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारलक्षणव्यवहारावि-  
विवृतिव्याख्यानम्—  
संवादात्, इत्येतत् आकुमारम् आवालं प्रसिद्धम् । अन्यथा व्यव-  
हाराविसंवादाभावप्रकारेण तत्प्रामाण्ये संशयविपर्यासस्वप्नज्ञानादीनामपि प्रामा-  
मनिवार्यं स्यात् । तदविसंवादाच्च तत्प्रामाण्ये यत् परेषां निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तद-  
प्रमाणं व्यवहाराविसंवादाभावात् इति मन्यमानः प्राह—**‘प्रत्यक्षम्’** इत्यादि । प्रत्यक्षं  
सविकल्पकम् प्रमाणं **‘स्यात्’** इत्यनेन सम्वन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह—व्यवहारा-  
विसंवादात् । न पुनः निर्विकल्पकं तद्विपर्ययात् इति भावः । साम्प्रतं श्रुतस्य तत्  
एव प्रामाण्यं दर्शयन्नाह—**‘उत्पाद’** इत्यादि । उत्पादविगमध्रौव्याणि लक्षणं स्वरूपं  
यस्य तदेतल्लक्षणं जीवादिष्वस्तु सद् भवति, गुणपर्ययवद्रव्यं जीवश्चैतन्यस्वभावः  
इत्येवमादिश्रुतज्ञानस्य अस्पष्टतर्कणस्य **‘प्रामाण्यं स्यात्’** इति गतेन सम्वन्धः । कुत  
एतत् ? इत्यत्राह—**‘प्रमाणान्तर’** इत्यादि । श्रुतात् अन्यत् प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरं तेन  
अवाधनञ्च पूर्वापरयोः श्रुताव्ययोः आविरोधश्च लक्षणं यस्य संवादस्य तस्य तत्र  
संभवात् । अत्रेयार्थे हेत्यन्तरमाह—**‘अर्थ’** इत्यादि । अर्थो जीवादिः अभिधानं  
जीवादिशब्दः प्रत्ययः तद्विपर्ययो ज्ञानं ते आत्मा यस्य व्यवहारस्य तस्यानुकूल्याच्च

(१) तुलना—‘त्रय पदार्थाः अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्’—राजवा० पृ० १७ । अष्टसह० पृ० २५१ ।  
(२) व्यवहाराविसंवादात् । (३) सौगतानाम् । (४) द्रष्टव्यम्—पृ० ६०५ टि० ७ । (५) तुलना—  
‘गुणानामसञ्चो दब्ब एकदब्बस्सिआ गुणा । लक्खण पज्जवाण तु उभञ्जो अस्सिआ भवे ॥’—उत्तरा०  
२८।६ । “दब्ब सत्तल्लक्षणिय उप्पादब्बयधुवत्तमजुत्त । गुणपज्जयासय वा ज त भणन्ति सव्वण्ह ॥”—  
पचास्ति० गा० १० । “गुणपर्ययवद्रव्यम्”—तत्त्वार्थसू० ५।३८ । न्यायवि० का० १११ । “त परिमाणं तु दब्ब  
तुहं ज गुणपज्जयजुत्त । महंभुव जाणहि ताहं गुण कमभुव पज्जउ उत्तु ॥”—परमात्मप्र० गा० ५७ ।

१ श्रुतज्ञानं ज० वि० । २-मात्रे ह्यन्य-ज० वि० । ३ ‘अन्यथा’ नास्ति आ०, व० ।  
४-मारबाल श्र० । ५ इत्याह व०, श्र० । ६ संवादस्य तत्र आ०, व० ।

हेतोः श्रुतज्ञानस्य 'प्राप्ताप्यम्' इति सम्बन्धः । व्यवहारदुर्नयं दर्शयन्नाह—'बहिरर्थ' इत्यादि । बहिरर्थश्च विज्ञप्तिमात्रञ्च ताभ्यां शून्यं तत्प्रतिपादकवचसां दुर्नयत्वम् । बहिरर्थशून्यवचसां विज्ञप्तिमात्राद्यद्वैतप्रतिपादकवचसां तन्मात्रशून्यवचसां सकल-  
 5 शून्यताप्रतिपादकवचसामिति । कुतः तेषां दुर्नयत्वम् ? इत्यत्राह—'व्यवहारविरोधि-  
 त्वात्' इति । नहि तद्वचस्सु इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारादिलक्षणव्यवहारस्य अविरोधो युक्तः  
 प्रमाणप्रमेयसद्भावे सत्येव अस्यऽविरोधात् । ऋजुसूत्रनयं दर्शयन्नाह—

भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः ।

सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभासस्त्वलौकिकः ॥७१॥

विधृतिः—बहिरणवः संचितः स्थूलमेकाकारप्रत्ययमभूतं यथा दर्शयन्ति

10 तद्वत् संवित्परमाणवोऽपि चित्राकारमेकम् । ततो नैकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमं यत्  
 सक्रमं साधयेत् भेदस्याभेदविरोधात्, अन्यथा कचिन्नानात्मेव न स्यात् । सा-  
 पेक्षो नयः निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभे-  
 दादभेदं प्रतिपद्यत एव विशेषाभावात्, तदन्यतरापाये अर्थस्याऽनुपपत्तेः ।

सर्वस्य सर्वतो भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुः प्राञ्जल वर्त्तमानपर्याय-

15 कारिकार्थः—  
 मात्रं सूत्रयति प्ररूपयति इति ऋजुसूत्रः नयो मतः । प्रधान-  
 शब्दस्यैव सम्बन्धिशब्दत्वात् द्रव्यं तस्य अप्रधानम् । तदाभासमाह—

'सर्वथा' इत्यादि । सर्वथा गुणप्रधानभावाभावप्रकारेण एकत्वविक्षेपी एकत्व-  
 निराकारकः तदाभासः ऋजुसूत्राभासः । तुः यस्मादर्थे, यस्मादलौकिकः लोक-  
 व्यवहारातिक्रान्तोऽयमीदृशो भेदोऽभ्युपगमः । न खलु सर्वथैकत्वप्रतिक्षेपेण स्यासकोश-

20 कुशलादौ बालकुमारादौ वा भेदव्यवहारो लोके प्रसिद्धः ।

कारिकां विधृण्वन्नाह—'बहिः' इत्यादि । बहिरणवः दर्शयन्ति जनयन्ति स्थूलमे-

काकारप्रत्ययम्, किंविशिष्टम् ? अभूतम् अपरमार्थविषयम् । कथम्भू-  
 विवृतिव्याख्यानम्—  
 तास्ते ? सञ्चिताः पुञ्जीभूताः । एवविधास्ते यथा येन प्रकारेण तथा

(१) व्यवहारस्य । (२) "प्राधान्यतः मुख्यत्वेन, अनेन गोणत्वेन द्रव्यमप्यपेक्षत इत्यर्थः ।  
 तु पुनस्तदाभासो भवति । किं विशिष्टं ? एकत्वविक्षेपी, एणत्व द्रव्यं विशिष्टपति निराकारोत्पेक्षशील  
 एकत्वविक्षेपी । कथम् ? सर्वथा प्राधान्यतोऽप्राधान्यतश्च, पुन किं विशिष्टं ? अलौकिकः लोको  
 व्यवहारस्तत्प्रयोजनो लौकिकः तद्विपर्ययोऽलौकिकः अलौकिकादित्यर्थः । न हि परस्पर सजातीयवि-  
 जातीयव्यावृत्ता प्रतिक्षणविचाराव परमाणवो व्यवहियन्त परीक्षकं यतस्तिद्वययो नयाभासो न  
 स्यात् ।"—लघी० ता० पु० ९१ । (३) सीमयते पुञ्जीभूता परमाणव एव स्थूलाकारप्रत्यहेतवः,  
 तथाहि—'अर्वातराभिसम्बन्धाज्जायन्ते येऽणवोऽपरे । उक्तास्ते सञ्चितास्ते हि निमित्तं ज्ञानजन्मन ॥"  
 —प्रमाणवा० ३।१९५ । (४) "ऋजुः प्रगुण सूत्रयति तन्नयत इति ऋजुसूत्रः ।"—तत्त्वार्थसि०, राजवा०  
 १।३३ । (५) सर्वथा क्षणिकत्वस्वीकारः ।

विधं प्रत्ययं दर्शयन्ति तद्वत् संवित्प्रमाणवोऽपि, कथम्भूतम् ? चित्राकारम्, नीलादि-  
प्राह्याद्यनेकाकारमेकम् अत एव अभूतम् । उपसंहारमाह—‘ततः’ इत्यादि । यस्मादे-  
काकारप्रत्ययस्य अपरमार्थविषयत्वं ततो नैकमभिन्नस्वभावं तत्त्वं जीवादिवस्तु अक्रमं  
युगपद् अनेकरूपम् ‘युक्तम्’ इत्युपस्कारः । यत् सक्रमं क्रमवत् सुखादिभेदभिन्नम्  
आत्मानं साधयेत् । ‘यत्’ इत्याक्षेपे वा नैव साधयेत् । कुत एवत् ? इत्यत्राह—‘भेदस्य’  
इत्यादि । भेदस्य नानात्वस्य अभेदेन एकत्वेन विरोधात् । विपक्षे बाधकमाह—‘अन्यथा’  
इत्यादि । अन्यथा अन्येन तदविरोधप्रकारेण क्वचिद् घटपटादौ नानात्वमेव न  
स्यात् इति । अस्याभिसन्धेर्नयत्व दुर्नयत्वञ्च दर्शयन्नाह—‘सापेक्ष’ इत्यादि । सह  
प्रत्यनीकधर्मापेक्षया वर्तते इति सापेक्षः नयः । अपेक्षातो निष्क्रान्तः निरस्ता वा  
अपेक्षा येनासौ निरपेक्षः दुर्नयः । ननु प्रमाणाभावेन अभेदस्य कचिदनुपपत्तेः कथं  
तदपेक्षो नयः स्यात् ? इत्यत्राह—‘प्रतिभास’ इत्यादि । प्रतिभासस्य प्रत्यक्षादिसंवेद-  
नाकारस्य भेदात् स्वभावभेदं चेतनेतरस्वरूपनानात्वं व्यवस्थापयन् सौगतः तदभेदात्  
प्रतिभासाभेदात् अभेदं प्रतिपद्यत एव विशेषाभावात् । एतच्च ‘अर्थक्रिया न युज्येत  
नित्यक्षणािकपक्षयोः’ [ लघी० का० ८ ] इत्यत्र सप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् । अत्रैवार्थे समर्थ-  
नान्तरमाह—‘तद्’ इत्यादि । तयोः भेदाभेदयोर्मध्ये अन्यतरस्य भेदस्य अभेदस्य वा अपाये  
अर्थस्य उत्तरकार्यस्य संवेदनस्य चाऽनुपपत्तेः, सापेक्षो नयः निरपेक्षो दुर्नय इति ।

अथ सप्तनवेपु मध्ये के अर्थप्रधाना, के च शब्दप्रधानाः ? इत्याह—

चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपश्रयात् ।

त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविधां समाश्रिताः ॥७२॥

विधृतिः—कालकारकलिङ्गभेदात् शब्दः अर्थभेदकत् अभूत् भवति भवि-

(१) व्याख्या—“एते । के ? नैगमादय प्रागुक्ता चत्वारोऽर्थनया अर्थप्रधाना नया । कुत ?  
जीवाद्यर्थव्यपश्रयात्, जीवाजीवादीनामर्थानां व्यपश्रयाद् आलम्बनात् । त्रयः शेषा शब्दमभिरूढव-  
म्भूता, शब्दनया शब्दप्रधाना नया । किं विशिष्टा ? सत्यपदविधा समाश्रिता, सत्यानि प्रमाणान्त-  
रावाधितानि पदानि कालकारकादिभेदवाचीनि तेषां विद्या व्याकरणशास्त्रे तामाश्रिता आलम्बिना  
व्याकरणाश्रितत्वादित्यर्थः ।”-लघी० ता० पृ० ९२ । तुलना—“चत्वारोऽर्थप्रधाना शेषास्तत्र शब्दतः ।”  
-सिद्धिवि०, टी० पृ० ५१७ B । “तत्र सप्तहव्यवहारजुगुप्सा अर्थनया शेषा शब्दनया”-राजवा० पृ०  
१८६ । “अत्यम्बर सहोवसज्जण वत्पुमुज्जुसुत्ता । सद्गुहाणमत्योवसज्जण सेसमा विति ।”-  
विशेषा० गा० २७५३ । “तत्रजुगुप्सापर्यन्ताश्चत्वारोऽर्थनया मताः । त्रयः शब्दनया, शेषा शब्दवाच्या-  
र्थगोचराः ॥”-तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७४ । नयविब० पृ० २६२ । “एषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्र-  
वणत्वादर्थनयाः शेषास्तु त्रयः शब्दवाच्यगोचरतया शब्दनयाः ।”-प्रमाणनय० ७४४, ४५ । जैनतर्कभा०  
पृ० २३ । नयप्रदीप पृ० १०४ B । उद्धृतोऽयम्—“जीवाद्यर्थविनिश्चयात् ।”-आब० नि० मलय० पृ०  
३८१ B । सूत्रकृताग० टी० पृ० ४२६ A ।

1-विधप्रत्य-य०, व० । २ भेदनात् य० । ३ व्यवस्थापयेत् सौ-आ० । ४ ‘प्रतिभासाभेदात्’  
नास्ति य० । ५-स्य चानुप-आ० । ६-विन्यासमाधि-ज० वि० ।

प्यति, करोति क्रियते, देवदत्तो देवदत्ता इति । पर्यायभेदाद् अभिरूढोऽर्थभेदकृत् इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । क्रियाश्रयः एवम्भूतः । कुर्वत एव कारकत्वम् । यदा न करोति तदा कर्चृत्वस्य अयोगात् इति । कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तमर्थं प्रत्येति ? कथं च न ? तदप्रतिबन्धात् । 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येतत् प्रतिव्यूढम्; विज्ञानस्य अनागतनिर्णयात् । कृचिकोदयदर्शने शकटोदयो भविष्यति बुद्धिरविसंवादिनी, आदित्यः श्व उदेता, सूर्याचन्द्रमसोः ग्रहणं भविष्यति, तन्तवः पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो घटो भविष्यति, तन्दुला भविष्यन्त्योदनम्, व्रीहयः तन्दुला भविष्यन्ति, इत्याद्यनागतविषयाणाम् अविसंवादिनाम् आनन्त्यात् । ततः शब्दज्ञानमपि विवक्षाव्यतिरिक्तार्थग्राहि सिद्धं प्रतिबन्धमन्तरेणापि तत्प्रतिपादनस्वाभाव्यात् विज्ञानवदिति । वर्त्तनालक्षणः कालः, क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकम्, स्त्यान प्रसव-तदुभयाभावसामान्यलक्षणं लिङ्गम्, कथञ्चिद् वस्तुस्वभावभेदकं तथाप्रतीतेः । पर्यायोऽपि अर्थभेदकृत् । क्रियाभेदात् एकोऽपि शब्दः क्रियानिमित्तकव्युत्पत्तिः तदभावात् तदर्थं नाचष्टे इति परमैश्वर्यमनुभवन्नेव इन्द्रः नान्यदा, ततः सिद्धः क्रियाभेदः पाचकपाठकादिवत् । नहि वर्णपदवाक्यानां व्युत्पादकं शालं वितथम् परमार्थशब्दप्राप्त्युपायकृत् ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत् । व्यावहारिकप्रकृत्यादिप्रक्रियाप्रविभागेन यथा पारमार्थिकादनेकान्तात्मकादथादपोद्धृत्य तदंशमेकान्तं व्यावहारिकं तत्प्रतिपत्त्युपायं प्रकाशयन् नयः न मिथ्यात्वमनुभवेत्, निरपेक्षस्यैव मिथ्यात्वात् । अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्षत्वम् तदनिराकृतेः सापेक्षत्वं नान्यथा नयानां सम्यक्त्वमिध्यात्वे इति स्थितम् ।

चत्वार एते नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्राख्या व्याख्यातस्वरूपा हि स्फुटम् अर्थनया एव अर्थप्रधाननया अर्थनयाः । कुतः ? इत्याह—  
जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात् जीवाद्यर्थसमाश्रयणात् । अयः शब्दसमभिरूढैवम्भूताः शब्दनयाः शब्दप्रधाना नयाः शब्दनयाः । कुतस्ते तथाविधाः ? इत्याह—'सत्य' इत्यादि । सत्यानि अवितथानि अपशब्दस्वरूपरहितानि यानि पदानि कालकारकादिभेदवाचीनि तेषां विद्या व्याकरण यत्र तानि व्युत्पाद्यन्ते तां समाश्रिताः यतः ततः ते शब्दप्रधानाः ।

कारिकापूर्वार्द्धस्य अनन्तरमेव व्याख्यातत्वात् उत्तरार्द्धं विवृण्वन्नाह—'काल'

इत्यादि । शब्दः शब्दनयः अर्थभेदकृत् । कुतः ? कालकारकलिङ्गभेदात् । 'यथा' इत्यादिना एतदेव दर्शयति । तत्र कालभेदाद्

अभूत् भवति भविष्यति । कारकभेदात् करोति क्रियते । लिङ्गभेदात् देवदत्तो देवदत्ता इति । पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत् इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । क्रिया-

श्रयः एवम्भूतः । कुत एतत् ? इत्याह—‘कुर्वतः’ इत्यादि । शचीपतेः इन्दनादिक्रिया कुर्वत एव कारकत्वम्, यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्याऽयोगात् इति । परं ग्राह—  
 ‘कथम्’ इत्यादि । कथम् ? न कथञ्चित्, ‘पुनः’ इत्याक्षेपे, शब्दज्ञानं शब्दस्य कार्यं  
 यदर्थज्ञानं तत् विवक्षाव्यतिरिक्तमर्थं वहिःस्वलक्षणं प्रत्येति विपयीकरोति । सूरिः  
 परं पृच्छति—‘कथञ्च न’ इति । स पृष्टः ग्राह—तदप्रतिबन्धात् । तस्मिन् अर्थे अप्रति- 5  
 बन्धात् तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धासम्भवात् शब्दज्ञानस्य । तदप्रतिबन्धेऽपि तत्  
 तैमवे(वे)ति इति चेदत्राह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न बुद्धेः अकारणं किन्तु कारणं  
 विषयः इत्येतत् प्रतिब्यूढम् । कुत एतत् ? इत्याह—विज्ञानस्य अनागतनिर्णयात् ।  
 अनागतस्य अलब्धात्मलाभतया अकारणभूतस्य अर्थस्य निर्णयात् निर्णयसम्भवात् ।  
 तथाहि—कृत्तिकोदयदर्शने शकटोदयो भविष्यति बुद्धिरविसवादिनी, एवम् आदित्यः 10  
 च उदेता, सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणं भविष्यति, तन्तवः पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो  
 घटो भविष्यति, तन्दुलाः भविष्यन्त्योदनः, ग्रीहयः तन्दुला भविष्यन्ति इत्याद्य-  
 नागतविषयाणामविसंवादिना ज्ञानानामानन्त्यात् । ‘ततः’ इत्यादिना प्रकृतमर्थमुप-  
 सहरन्नाह—यतः । अनागतविषयस्य ज्ञानस्य सिद्धं ततः शब्दज्ञानमपि न केवलं प्रत्यक्षातु-  
 मानज्ञानम् विवक्षाव्यतिरिक्तार्थग्राहि सिद्धम् । ननु शब्दस्य अर्थप्रतिबन्धाभावात् 15  
 कथं तज्ज्ञानम् अर्थग्राहि ? इत्याह—‘प्रतिबन्ध’ इत्यादि । प्रतिबन्धमन्तरेणापि  
 तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धं विनापि तस्य शब्दस्य यत् प्रतिपादकं स्वाभाव्यं योग्यता-  
 लक्षणं स्वरूपं तस्मात् तत् तद्ग्राहि सिद्धम् । अत्र दृष्टान्तमाह—‘विज्ञानान्त’ इति ।  
 शब्दज्ञानस्य दार्ष्टान्तिकत्वात् इह विज्ञानग्रहणेन यत् प्राग् अर्थान्मयतया समर्थितं  
 प्रत्यक्षं तदेव गृह्यते, तदिव तद्वदिति । 20

ननु कालादिभेदात् शब्दनयस्य अर्थभेदकत्वं प्रतिपादितम्, कालादीनां तु  
 लक्षणं नोक्तम्, नैचालक्षितरूपाणाम् अर्थभेदप्रतीतिहेतुत्वं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् इत्या-  
 शङ्क्य तेषां लक्षणं प्ररूपयन्नाह—‘वर्त्तना’ इत्यादि । सकलपदार्थानां वृत्तिहेतुत्वं वर्त्तना  
 सा लक्षणं यस्य असौ तलक्षणः कालः । क्रियया आविष्टं युक्तं द्रव्यं कारकम्,  
 क्रिया कुर्वद्द्रव्यं कारकमित्यर्थः । लिङ्गं त्रिविधम् स्त्रीपुनपुसकभेदात् । तत्र स्त्यान- 25  
 सामान्यलक्षणं स्त्रीलिङ्गम् । प्रसवसामान्यलक्षणम् अपत्यजनकत्वात् तलक्षणं पुल्लिङ्गम् ।  
 तदुभयाभावसामान्यलक्षणं स्त्यानप्रसवोभयाभावमात्रलक्षणं नपुसकलिङ्गमिति । तदे-

(१) सीगत । (२) शब्दज्ञानम् । (३) अर्थम् । (४) शब्दज्ञानम् । (५) शब्दज्ञानम् ।

1 तत्तत्त्वमवेति व०, तत्तत्प्रमल्लवेति थ० । ॥ किन्तु कारणं नास्ति थ० । ३ शकटोदयं भवि-  
 आ०, शकटोदये च भवि-थ० । 4 अर्थं प्रति-व०, थ० । ॥ प्रत्यक्षं नास्ति थ० । ॥ न चालक्षण-  
 लक्षितरूपा-व० । 7 अर्थं भव-व० । ॥ क्रियाया अवशिष्टं थ० । ॥ ८-क्षणं स्त्यानप्रसवोभयाभाव  
 सामान्यलक्षणं स्त्यानप्रस-आ० ।

तदुक्तलक्षण कालादि कथञ्चिद् वस्तुस्वभावभेदकम् तथाप्रतीतेः प्रतिपत्तव्यम् ।

ननु 'पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत्' इत्युक्तमुक्तम्, पर्यायस्यार्थाऽभेदकत्वात् इत्याशङ्क्याह—'पर्याय' इत्यादि । न केवलं कालादयः किन्तु पर्यायोऽपि 'इन्द्रः, शक्रः, पुरन्दरः' इत्यादिरूपः अर्थस्य शचीपत्यादेः भेदकः कथञ्चिद् वैलक्षण्यापादकः 'तथाप्रतीतेः' इत्यनन्तरेणाभिसम्बन्धात् । यदपि 'क्रियाश्रय एवम्भूतः' इत्युक्तम्, तत्रापि कुतोऽस्य एकत्रापि पर्याये क्रियाभेदाद् भेदहेतुत्वम् ? इत्याह—'क्रिया' इत्यादि । क्रियाभेदाद् इन्दनादिभेदात् एकोऽपि शब्दः इन्द्रादिपर्यायरूपः क्रियानिमित्तकव्युत्पत्तिः तदभावात् तन्निमित्तकव्युत्पत्तेरभावात् तदर्थम् इन्द्रार्थं नाचष्टे इति हेतोः परमैश्वर्यम् इन्दनक्रिया अनुभवश्चैव इन्द्रः नान्यदा अभिपेचनादिकाले । एवं शक्र-काल एव शक्रः पूर्वारणसमय एव पुरन्दरः नान्यदा 'तथाप्रतीतेः' इति गतेन सम्बन्धः । यतो यत्क्रियापरिणतः पदार्थः तत्क्रियानिमित्तव्युत्पत्तिकैः शब्दैः तत्काल एवाभिधीयते नान्यदा । ततः सिद्धः क्रियाभेदो भेदको भावानां पांचकपाठकादिवत् ।

ननु क्रियामाश्रित्य शब्दा व्याकरणेन व्युत्पाद्यन्ते, तच्च मिथ्या इत्येके, वर्णा एव पदमेव वाक्यमेव वा सत्यमित्यन्ये, तन्मतमपाकर्तुमाह—'नहि' इत्यादि । नहि न एतद् वर्णपदवाक्यानां व्युत्पादकं शास्त्रं व्याकरणलक्षणवितथम् परमार्थशब्दप्राप्त्युपायत्वात् । नहि व्याकरणासत्यत्वे अपशब्दव्युदासेन सम्यक्शब्दप्रतीत्युपायः कश्चित् सभवति । ननु वृद्धव्यवहारपरम्परात एव शब्दाऽपशब्दविवेको भविष्यति अतस्तदर्थं व्याकरणसमाश्रयणमुक्तम्, इत्यप्यविचारितरमणीयम्, व्याकरणानपेक्षाद् वृद्धव्यवहारादेव आनन्देनाऽऽलिलशब्दानां प्रतिपद तद्विवेकस्य कर्तुमशक्यत्वात् । व्याकरणाश्रयणेन तु सामान्यविशेषयता लक्षणेन उपलक्षितानां स्वल्पप्रयत्नेनापि तेषां तद्विवेकः कर्तुं सुशकः । तथाहि—'कर्मण्यण्' [ पाणिनि० ३।२।१ ] इत्येकेनैव सूत्रेण कुम्भकार-रूपण्डलाव-शौल्का-ध्यावादयो बहवः शब्दाः सहस्रन्ते, अतः व्याकरणानुगृहीतात् लोकव्यवहारात् कुल्लेनैव शङ्गापशङ्गविभक्त्या कर्तुं शक्यत्वात् अस्ति व्याकरणस्योपयोगः । न चास्मात् प्रमाणत्वात् तद्विभागे नोपयोगः इत्यभिधातव्यम्; तदप्रामाण्ये कर्त्रादिकारकप्रपञ्चस्य सम्भूतप्रसङ्गात् । न च तत्सम्भूतः अस्ति । अतः अयमेव तदसम्भूतः स्वसिद्धये व्याकरणं प्रमाणयति, अन्यतः तद्व्यवस्थानुपपत्तेः । व्याकरणत एव हि प्रकृतिप्रत्ययविभागद्वारेण अन्योन्यविभक्तस्य कर्मकर्त्रादिकारकप्रपञ्चस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता नान्यतः, तथाप्रतिपत्तिहेतोस्ततोऽन्यस्याऽसंभवात् । ननु वर्णपदवाक्यानां निरक्षत्वात् किं तेन प्रकृत्यादि-

(१) शब्दापशब्दविवेकायम् । (२) वृद्धव्यम्—पृ० ७६० टि० १ । (३) कर्त्रादिकारकप्रत्ययम् ।

(४) व्याकरणशास्त्रम् ।

१ व्याचष्ट आ० । २ नाम्यथा श्र० । ३ पावकपाचकपाठकादि—आ०, पावकपाठकादि—व० ।

४—पाठादि—ध० । ५—परम्परया ॥ एव श्र० । ६ प्रतिपाद ध० । ७—विशयवत्त्वम्—आ० । ८—शास्त्र-ध्याया—ध० । ९ तत श्र० ।

प्रविभागमाश्रित्य व्युत्पाद्येत ? निरशानामपि तेषां तत्प्रविभागं परिकल्प्य व्युत्पादने तच्छास्त्रं वितथमेव स्यात् तैत्तिरीयभाष्येऽसंस्पर्शित्वात् इत्याह—‘व्यावहारिक’ इत्यादि । व्यवहारे व्यवहारनयभेदप्ररूपके वैयाकरणव्यवहारे वा भवा या प्रकृत्यादिप्रक्रिया तस्याः प्रविभागो भेदः तेन परमार्थः वास्तवो यः शब्दः वर्णपदवाक्यरूपः । वर्णो हि उदात्तादिभेदेन भिन्नः व्यवहारे वास्तवः प्रसिद्धः, पद तु सुप्तिङन्तभेदेन, वाक्यमपि अन्योन्यापेक्षाणां पदानां निरपेक्षः समुदायः इत्यादिभेदेन इति । यथा च नित्यनिर-  
शादिरूपाणां वर्णपदवाक्यानामनुपपत्तिः तथा ‘वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहु-  
रर्थानिवाञ्छितान्’ [ लघी० का० ६४ ] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्ररूपितम् । तस्य प्राप्त्यु-  
पायत्वात् स्वरूपावगतिहेतुत्वात् । ‘नहि तद्व्युत्पादकं शास्त्रं वितथम्’ इति सम्बन्धः ।  
प्रयोगः—यः परमार्थभूतस्य प्राप्त्युपायो नासौ वितथः यथा ज्ञातुरभिप्रायात्मको नयः,  
परमार्थभूतस्य शब्दस्य प्राप्त्युपायश्च वर्णपदवाक्यानां व्युत्पादकं शास्त्रमिति । तत्र  
‘ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत्’ इत्यमुं दृष्टान्तं ‘यथा’ इत्यादिना व्याचष्टे—यथा येन  
प्रकारेण न मिध्यात्वमनुभवेत्, कोऽसौ ? नयः ज्ञातुरभिप्रायः । किं कुर्वन् ?  
प्रकाशयन्, ‘किं तत् ? एकान्तम् । कथम्भूतम् ? तदज्ञम् अनेकान्तात्मकार्थिकदेशम् ।  
पुनरपि कथम्भूतम् ? व्यावहारिकम् व्यवहारप्रयोजनम् । पुनरपि किंविशिष्टम् ?  
तत्प्राप्त्युपायं तस्य अनेकान्तात्मकार्थस्य प्राप्तिः तस्या उपायः सा वा उपायो यस्य ।  
कथं तं प्रकाशयन् ? अपोद्धृत्य धृत्वा कृत्य । कस्मात् ? अर्थात् । कथम्भूतात् ?  
अनेकान्तात्मकात् । किं कल्पनातः तथाविधात्तस्मात् ? इत्याह—पारमार्थिकात् ।  
परमार्थोऽकल्पित रूपं तेन संभवात् । कुतोऽयमित्थम्भूतो न मिध्यात्वमनुभवेत् ?  
इत्याह—‘निरपेक्षस्य’ इत्यादि । प्रत्यनीकर्धर्मे निष्क्रान्ता अपेक्षा यस्यासौ निरपेक्षः  
तस्यैव नोक्तप्रकारस्य मिथ्यात्वात् । अथ कस्य निरपेक्षत्वं कस्य च सापेक्षत्वम् ?  
इत्याह—अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्षत्वं तदनिराकृतेः सापेक्षत्वम् । एवविधसापे-  
क्षानपेक्षत्वप्रकारेणैव नयानां सम्यक्त्वमिध्यात्वे नान्यथा इति स्थितम् ।

युक्तिस्वच्छजलं सुबोधकमलं सद्गङ्गावीचीचयम्,

गम्भीरं निखिलार्थैर्पालिकलितं सत्साधुदसाकुलम् ।

प्रज्ञाधीशपटिष्ठपाठकसंगमध्यानप्रतानान्वितम्,

जीयाद् दुर्गतिर्वीपलद्विह्वलनं जैनागमाख्यं सरः ॥ छ ॥

‘इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयसूत्रालङ्कारे षष्ठं परिच्छेदः समाप्तः ॥ छ ॥

(१) वर्णपदवाक्यानाम् । (२) वर्णपदवाक्यस्वरूपानवगाहनात् । (३) सापेक्षस्य ।

१-छते व०, -द्यत् आ० । २-रूपत्वात्-थ० । ३ व्यवहार-थ० । ४ शब्दप्रति-आ०, ‘शब्दस्य’  
नास्ति थ० । ५ ‘किं तत्’ नास्ति थ० । ६ कथम्भूत नास्ति थ० । ७ व्यवहार-थ० । ८-पायत्वं त-थ० ।  
९ ‘युक्तकृत्य’ नास्ति थ०, व० । १० भावात् थ० । ११-धर्मो नि-थ० । १२-त्वम् व०, थ० । १३  
परिकलि-आ० । १४ तापद्विह्वलनं थ०, व० । १५ इति श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यवि-व० । १६ षष्ठम् व० ।



# तृतीये प्रवचनप्रवेशे

सप्तमः निक्षेपपरिच्छेदः ।



प्रादुर्भूतं निखिलविषयोद्योतिसंघित्सरस्याम्,

शास्त्राभोजं सकलविषयप्रौढपत्रप्रपञ्चम् ।

लक्ष्मीक्षेत्रं प्रमितिनयसत्कर्णिकाकेसराढ्यम्,

निक्षेपोरुप्रवरमकरन्द्राप्तये सैन्यतां भोः ॥७॥

अथेदानीं शास्त्रविधानाभ्ययनपर्यवसितफलप्ररूपणपुरस्सरं निक्षेपस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।

परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्मनिनेकान् व्यावहारिकान् ॥ ७३ ॥

नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।

विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥ ७४ ॥

(१) व्याख्या—“ पुनरपि कथंभूत ? तपोनिर्जोर्णकर्मा, तपसा यथाख्यातचारित्रलक्षणेन व्युत्पन्नक्रियाविद्वत्तुल्यलक्षणात् निर्जोर्णानि निर्मूलितानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि द्रव्यभावरूपाणि येनासी तथोक्त । अनेन चारित्रतपस्याराधनादयः सूचितम् । भूय किंभूत ? जीवस्थानगुणस्थान-मार्गस्थापनतत्त्ववित् अनेन ज्ञानाराधना ज्ञातिता । पुन किंविशिष्ट ? विबुद्धाभिनिवेशेन, विशेषेण बृद्ध क्षायिकस्वरूपेण परिणतमभिनिवेशेन सम्यग्दर्शनं यस्यासी तथोक्त । अनेन दर्शनाराधना निरूपिता । एवमाराधनाचतुष्टयस्यैव मोक्षमार्गत्वोपपत्ते । किं कृत्वा विबुद्धाभिनिवेशेन सजात इत्याशङ्क्याह— अनुयुज्य पृष्ट्वा । कानि ? द्रव्याणि । किंविशिष्टानि ? जीवादीनि । के ? अनुयोगैश्च प्रश्नैरेव । किं विशिष्टैः ? निर्देशादिभिदा गर्तः । तत्र किमित्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथन निर्देशः यथा चेतनालक्षणो जीव इति । कस्येत्यनुयोगे स्वस्येत्याधिपत्यकथनं स्वाभित्वम् । केनेति प्रश्ने स्वेनेति करणनिरूपण साधनम् । कस्मिन्नित्यनुयोगे स्वस्मिन्नित्याधारप्रतिपादनमभिकरणम् । कियच्चिरमिति प्रश्ने अनन्त-कालमिति कालप्ररूपण स्थिति । कतिविध इत्यनुयोगे चैतन्यसामान्यादेकविध इति प्रकारकथन विधानम् । पूर्वं कृत्वा विरचय्य व्यस्य । कान् ? अर्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान्, अर्थश्च वाक् च प्रत्ययश्च ते आत्मान स्वभावा येषां ते च ते भेदाश्च व्यवहारास्तान् । तत्र अर्थोत्पत्तौ भेदो द्रव्यभाषो तयो-र्यमनत्वात् । वागात्मको नामव्यवहारः । प्रत्ययात्मकश्च स्थापनाव्यवहारः तस्य सकलरूपत्वात् । किंविशिष्टास्तान् ? श्रुतार्पितान् श्रुतेन अनेकान्तन विकल्पितान् । के ? नयानुगतनिक्षेपे, नयान् द्रव्यपर्यायविषयाननुगता अनुवृत्ता निक्षेपा न्यासास्तः । किरूपे ? उपायैः कारणैः । ख ? भेदवेदने मुख्यमुख्यविशेषनिर्णये कारणभेदेरित्यर्थः । आद्यो किं कृत्वा ? परीक्ष्य विचार्य । के परीक्ष्य ? अभि-धभि ज्ञानुरभिप्रायं नयैरित्यर्थः । पूर्वं किं कृत्वा ? अधिगम्य ज्ञात्वा । कथंयम् ? जीवादिप्रमेयम् । किंविशिष्टम् ? अनेकान्तात्मकम् । कस्मात् ? श्रुतात् स्याद्वादात् ।”—उद्यो० ता० पृ० ९५-९७ ।

1-प्रौढमेय-व० । 2-तां नो व०, -तां भो श्र० । 3-मभिध-व० । 4-वेदने आ०, व० ।

5 विधायार्थवाक्-प्र० । 6-भेदाच्छ्रुता-व० ।

अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिर्दां गतैः ।

द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिर्निवेशनः ॥७५॥

जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।

तपोनिर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥७६॥ इति ।

विवृतिः—श्रुतमनादि सन्तानापेक्षया, साधनं प्रति सादि । प्रमाणम्—  
त्रिकालगोचरसर्वजीवादपदार्थनिरूपणम्, तदर्थानुपरीक्षाप्रवणोऽभिसन्धिर्नयः ।  
ताभ्यामधिगमः परमार्थन्यावहारिकार्थानाम् । तदधिगतानां वाच्यतामापन्नानां  
वाचकेषु भेदोपन्यासः न्यासः । सोऽवरतः चतुर्थो नामस्थापनाद्रव्यभावतः ।  
तत्र निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम । तच्च जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमि-  
त्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽनेकत्वात् अनेकधा । आहितनामकस्य द्रव्यस्य सदसद्भा-  
वात्मना व्यवस्थापना स्थापना । अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं

(१) उद्धृता इमे—“तथा चाहुर्भट्टाकलङ्कदेवा—“धुतादयं विवृद्धाभिर्निवेशतः”—अतागारथ०  
पृ० १६९। (२) तुलना—“द्रव्यादिसामान्यार्पणात् श्रुतमनादिनिषेधनमिष्यते । न हि केनचित्पुरुषेण क्वचि-  
त्कदाचित्कपञ्चिदुत्प्रेक्षितमिति । तेषामेव विज्ञेयापेक्षया आदिरन्तरावच सभवतीति मतिपूर्वमित्युच्यते,  
यथाऽङ्कुरो बीजपूर्वकः स च सन्तानापेक्षया अनादिनिषेध इति ।”—सर्वार्थसि० १।२०। (३) तुलना—  
“विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्चाधिगमार्थो न्यासो निक्षेपः ।”—तत्त्वार्थभा० १।५ । “णिच्छए णिष्णए  
खिवदिति णिक्खेवो । सोवि छब्बिहो णामट्ठवणादव्वस्सेत्तभावमगलमिदि ।”—धम्मपटी० पृ० १० ।  
“य इह गुणाक्षेप स्यादुपचरित केवल स निक्षेपः ।”—पञ्चाध्या० श्लो० ७४१ । “प्रकरणादिवशेना-  
प्रतिपत्त्यादिव्यवच्छेदकयथास्थानविनियोगाय शब्दाद्यैरचनाविशेषो निक्षेपः ।”—जैनतर्कभा० पृ० २५ ।  
(४) तुलना—“जत्थ य ज जाणेज्जा निक्खेव निक्खिक्खे निरवसेस । जत्थवि अ न जाणेज्जा चउक्कणं  
निक्खिक्खे तत्थ ॥ आवस्सय चउव्विह पण्णत्ते । त जहा—नामावस्सय ठव्वावस्सय दव्वावस्सय भावाव-  
स्सय ।”—अनु० सू० ८ । “नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्मासः ।”—तत्त्वार्थसू० १।४ । “निक्षेपोऽनन्त-  
कल्पश्चतुरवरविष प्रस्तुतव्याक्रियार्थः । तत्त्वार्थज्ञानहेतु नयद्वयविषयः सशयच्छेदकारी ॥”—सिद्धिचि०  
परि० १२ । मूलाकारे षड्भावश्रयाधिकारे (पा० १७) सामायिकस्य निक्षेपः नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्र-  
कालभावे, एवमिष उक्त । आवश्यकनिर्मुक्तौ (पा० १२९) नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालवचनभावावि-  
कल्पात् सप्तविधो निक्षेपः प्रकृतिः । (५) “नाम सज्ञा कर्म इत्यनर्थान्तरम् ।”—तत्त्वार्थवि०  
भा० १।५ । “अतद्गुणे वस्तुनि सव्यवहारार्थं पुरुषाकारास्तियुज्यमानं सज्ञाकर्म नाम ।”—सर्वार्थसि०  
१।५ । राजयो० पृ० २० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८ । पञ्चाध्या० श्लो० ७४३ । “यस्य कस्यचिदनिदिष्ट-  
विशेषस्य निमित्तान्तरानपेक्ष सज्ञाकर्म नाम ।”—सिद्धिचि०, टी० पृ० ५७४ A. । “पञ्चायाणभिषेयं  
तिअमण्णत्थे तयत्थनिरवेक्ख । जाडिच्छिअ च नाम जावदव्व च पाएण ॥”—विशेषा० पा० २५ । जैनतर्क-  
भा० पृ० २५ । “अत्ताभिण्यायकया सज्ञा चेयणमचेयणे वा वि । ठवणादीनिरविक्खता केवल सज्ञा उ  
नामिदो ॥”—बृहत्कल्पभा० पा० १२ । “तत्थ णाममगल णामणिमित्तरनिरवेक्खता भगलसण्णा । तत्थ  
णिमित्तं चउव्विह जाइ दव्व गुण किरिया चेदि ।”—धम्मपटी० पृ० १७ । (६) “य काण्ठपुत्तचित्र-

१-भिवागतं आ०, मु० लघोः । २-वैशत ज० वि०, आ०, व० । ३-परीक्षप्रव-ज० वि० ।

४-वेक्षं कर्म ज० वि० ।

द्रव्यम् । तच्च आगम-नोआगमविकल्पाद् द्वेधा । तथोपयोगलक्षणो भावनिक्षेपः ।  
अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान् । तेन च निक्षिप्ताः  
पदार्थाः निर्देशादिभिः सैदादिभिश्चानुयोगैः अनुयुज्यन्ते । अनुयुक्ताः प्रयुक्ताः

कर्माधनक्षपादिषु स्थाप्यत जीव इति स्थापना जीव देवताप्रतिष्ठितवद इन्द्रो रुद्र स्वन्दो विष्णुरिति ।  
-तत्त्वार्थाधि० भा० १।५ । वाप्टपुस्तचित्रकर्माधनक्षपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना । -  
सर्वापसि०, राजवा० १।५ । पञ्चाध्या० श्लो० ७४३ । 'ज पुण तपत्यगुध्र सयभिप्पाएण तारिसा  
गार । कीरइ व निरागार इत्तरमियर व सा ठवणा । -विशेषा० गा० २६ । सम्भावमसम्भावे  
ठवणा पुण इदकेउमाइया । इत्तरमणिःतरा वा ठवणा नाम तु आववह ॥' -बृहत्कल्पभा० गा० १३ ।  
सदभावस्थापनया नियम असदभावेन वाऽतद्रूपेति स्पूण द्रवत । -तत्त्वचक्र० पृ० ३८१A । सिद्धिबि०  
टी० पृ० ४७४ B । जनतकभा० पृ० २५ । अहिदणामरस अणस्स सोयमिदिटठवण ठवणा णाम । सा  
दुविहा सम्भावासम्भावटठवणा चेदि । -धवलाटी० पृ० १९ । वरतुन कुनसनस्य प्रतिष्ठा स्थापना  
मता । सदभावेतरभदेन द्विधा तत्त्वाविरोधत । -तत्त्वार्थाधिलो० पृ० १११ ।

(१) द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्त प्रज्ञास्यापितोऽज्ञादिपारिणाभिकभावयुक्तो जीव  
उच्यते । -तत्त्वार्थाधि० भा० १।५ । गुण द्रोप्यते गुणान द्रोप्यतीति वा द्रव्यम् । -सर्वापसि०  
१।५ । अनागतपरिणामविधाय प्रति गृहीताभिमुख्य द्रव्यम् । अतदभव वा । -राजवा० पृ०  
२० । सिद्धिबि० पृ० ४७४ । धवलाटी० पृ० २० । तत्त्वार्थाधिलो० पृ० १११ । पञ्चाध्या० श्लो०  
७४४ । दब्बे पुण तत्त्वद्वी जस्सातीता भविस्सते वा वि । जो वा वि अणवजुत्तो इदस्स गुणे परिक  
हेई ॥ -बृहत्कल्पभा० गा० १४ । दणए दुयए दोरवयवो विगारो गुणाण सदावो । दब्ब भव्व  
भावस्स भूअभाव च ज जोग ॥ -विशेषा० गा० २८ । जनतकभा० पृ० २५ । भूतस्य भाविनो वा  
भावस्य हि कारण तु यत्ल्लोके । तदद्रव्य तत्त्वज्ञ सचेतनाचतन कथितम् ॥ -आद्य० नि० मलय० पृ०  
६ B । (२) वतमानतत्पर्यायोपलक्षित द्रव्य भाव । सर्वापसि० १।५ । राजवा० पृ० २१ ।  
सिद्धिबि० पृ० ४७४ । धवलाटी० पृ० २१ । तत्त्वार्थाधिलो० पृ० ११३ । पञ्चाध्या० श्लो० ७४५ ।  
जो पुण जहस्यजुत्तो मुददग्गण तु एस भाविदो । इदस्स वि अहिगार विपाणमाणो तदुवजुत्तो ।  
-बृहत्कल्पभा० गा० १५ । भावो विवक्षितत्रिम्यानुभूतियुक्तो हि य समारूपात् । सवत्तरिद्रादिवदि  
हेदनादिक्रियानुभवात् ॥ आवनि० मलय० पृ० ९ A । (३) तुलना- स किमथ ? अप्रकृतनि  
राकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च । -सर्वापसि० १।५ । तत्त्वार्थाधिलो० पृ० ९८ । अथ किमिति निक्षेप  
त्रियते इति चेत् ? उच्यते-त्रिविधा श्रोतार अव्युत्पन्न अवयवताक्षपविवक्षितपदाय एकदेशतोऽवगत  
विवक्षितपन्नाय इति । तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नतत्त्वान्नाध्यवस्यतीति विवक्षितपदस्यायम् । द्वितीय सगते  
कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति प्रकृतादर्थादयमथमादाय विषयस्यति वा । द्वितीयवसतीयोऽपि सगते  
विषयस्यति वा । तत्र यदव्युत्पन्न पर्यायाधिको भवेत्त्रिविधः अव्युत्पन्नव्युत्पादनमुखन अप्रकृतनिराक  
रणाय । अथ द्रव्यार्थाधक तद्वद्वारेण प्रकृतप्ररूपणायाशयनिक्षेपा उच्यन्ते व्यतिरेकधर्मनिषेधमन्तरेण  
विधिनियमानुपपत्त । द्वितीयतृतीययो सस्यविनाऽप्याशयनिक्षेपकथनम् । तयोरेव विषयस्यतो  
प्रकृतापविधारणाय निक्षेप क्रियते । उक्तं हि-अवगयनिवारणटठ पयदस्स परूवणाणिमित्त च ।  
ससयविणासणटठ तच्छवत्यवधारणटठ च । -धवलाटी० पृ० ३० । उद्धतमिद वाक्यम्-जनतकभा०  
पृ० २५ । (४) निदृसे पुरिसे कारण कहि केमु काउ कहविहं । -अनु० सू० १५१ । निदशरया  
मित्यसाधनाधिकरणस्थितिविधानत । तत्त्वार्थाधसू० १।७ । केण कस्य कत्थयि केवचिर कदिविधी  
य भावो य । उहि अणिजोगद्वारे -मूलाभा० ८।१५ । (५) सतपरूवणा दब्बपमाणुगमो  
सत्ताणुगमो फोसणाणुगमो काळाणुगमो अतराणुगमो भावाणुगमो अप्पावहुपाणुगमो चेदि । -उत्तलशा०

सर्वे पदार्थाः, तथापि जीवपदार्थविषयविशेषप्ररूपकाणि जीवस्थानगुणस्थान-  
मार्गणास्थानानि । एवं प्रमाणनयनिक्षेपास्तुयोगैः सर्वान् पदार्थानधिगम्य पुरुष-  
तत्त्वं जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरमवबुद्ध्य प्रवृद्धाभिनिवेशात्मक-  
सम्यग्दर्शनः तपसा निर्जीर्णकर्मा सर्वकर्मविनिर्मुक्तः बाधारहितमव्यवच्छिन्नमनन्त-  
मतीन्द्रियं सुखमृच्छति आत्मा । नहि गुणविनाशात् जडः गुणगुणिविनाशात्  
शून्यः, भोग्यविरहात्तदभोक्ता, तथाधिगमाभावात् तद्वाधासंभवाच्च । शरीरादिकं  
धर्मि ज्ञानावरणादिस्वरूपं न भवति साध्यताऽस्य तत्सत्यपि ज्ञानोदयसंभवात् ।

अयं शास्त्रस्य कर्ताऽध्येता वा आत्मा सुखमृच्छति सुखमयो भवति । किं-

विशिष्टः सन् ? इत्याह—‘विमुक्तः’ इति । विशेषेण मुक्तः सकल-  
कारिकार्यं - कर्मविपर्यजितः । विमुक्तोऽपि कथम्भूतः सन्नसौ स्यात् इत्याह—  
तपोनिर्जीर्णकर्मा इति । तपसा यथाख्यातचारित्रलक्षणेन निर्जीर्णानि निर्मूलो-  
न्मीलितानि कर्माणि येनासौ तथोक्तः । पुनरपि कथम्भूतः सन्नसौ विमुक्तः स्यात्  
इत्याह—‘जीवस्थान’ इत्यादि । प्रत्येकं चतुर्दशभिः जीवस्थानैः गुणस्थानैः  
मार्गणास्थानैश्च तत्त्ववित् जीवादिस्वरूपवित् । पुनरपि किंविशिष्टः सन्नसौ  
विमुक्तः स्यात् ? इत्याह—‘विवृद्ध’ इत्यादि । विशेषेण वृद्धं क्षायिकरूपतया परम-  
प्रकृपं प्राप्तम् अभिनिवेशनं सम्यग्दर्शनं यस्य स तथोक्तः । ‘विवृद्धाभिनिवे-

सू० ७ । “मे किं त अणुगमं ? नवविहे पणत्ते । त जहा—मतपय पखणया, दग्धपमाण च, क्षित, फुसणा य, कालो य, अ तर, भाग, भाव, अप्पावहु चेव ।”—अनु० सू० ८० । “सत्सत्त्वाक्षेत्रस्पर्शनका-  
लान्तरभावाल्पवहृत्वंश्च ।”—तत्त्वार्थसू० ११८ ।

(१) “सुहृमा बादरकाया ते सल्लुपज्जतया अपज्जता । एहदिया दु जीवा जिण्हि कहिया  
चदुवियप्पा ॥ पज्जत्तापज्जत्ता विय होति विगल्लदिया दु छब्बया । पज्जत्तापज्जत्ता सणि असणी य  
ससा दु ।”—मूला० पर्या० गा० १५२-५३ । गो० जी० गा० ७२ । कर्मप्र० ४१२ । (२) मिच्छादिद्वी  
सासादणो य मित्तो असज्जो चेव । दसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह व णायव्वो ॥ एतो अपुब्बकरणो  
अणियद्वी मुहुमसपराओ य । उवसतखीणमोहो सजोगकेवलजिणो अजोगी य ॥”—मूला० पर्या०  
गा० १५४-५५ । छब्बल्ल० सू० ९-२३ । गो० जी० गा० ९-१० । कर्मप्र० २१२ । (३) ‘गह  
इदि ए काए जोग वेदे कसाए णाणे सजमे दसण लेस्सा भविय सम्मत्त सणि आहारे वेदि ।”—  
छब्बल्ल० सू० ४ । “गह इदिये च काय जोगे वेदे कसाय णाणे य । सजम दसण लेस्सा भविया  
सम्मत्त सणि आहारे ॥”—मूलाचारपर्या० गा० १५६ । गो० जी० गा० १४१ । कर्मप्र० ४१९ ।

(४) “अव्धावाहमणियमणोवम पुण्णपावणिम्मूक्क । पुणरागमणविरहिय जिच्च अचल जणालम्ब ॥”  
—नियम० गा० १७७ । “शिवमजरमरुजमसयमव्यावाष विजोक्कभयशकम् । काष्ठायतसुखविद्याविभव  
विमल भजन्ति दर्शनपूता ॥”—रत्नक० श्लो० ४० । सर्वाधिसि० पृ० १ । तत्त्वानु० श्लो० २४२ ।

(५) तुलना—“आत्मलाभ विदुर्मोक्ष जीवस्यान्तर्मलक्षयात् । नाभाव नाप्यचैतन्य न चैतन्यमनर्थकम् ॥”  
—सिद्धिदि०, टी० पृ० ३८४ । यक्ष० उ० पृ० २८० । ‘स्वरूपावस्थिति पुस्ततदा प्रक्षीणकर्मण ।  
नाभावो नाप्यचैतन्य न चैतन्यमनर्थकम् ॥”—तत्त्वानु० श्लो० २३४ ।

१—शाब्द गुणगुण-ज०वि० । २ अस्य शा-ब० । ३ मुक्तोऽपि श्र० । ४ निर्जीर्णानिर्मूलो-आ० ।

शतः' इति क्वचित् पाठः । तत्रायमर्थः—विबृद्धाऽभिनिवेशतोऽयमात्मा जीवादितत्त्वयित् तपोनिर्जोर्णकर्मा च भवति सम्यग्दर्शनपूर्वकत्वात् सम्यग्-  
ज्ञानचारित्रयोरिति । अनेन च ग्रन्थेन विमुक्तेः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मिका सामग्री  
प्ररूपिता भवति, तदन्यतमस्याप्यपाये तस्या अनुपपद्यमानत्वात् । तदनुपपद्यमानत्वञ्च  
अत्रैव अनन्तरं प्रतिपादयिष्यते । किं कृत्वाऽसौ विबृद्धाभिनिवेशनः तत्त्वविचच  
इत्याह—'अनुयुज्य' इत्यादि । अनुयोगशब्दः प्रश्ने प्रतियचने च प्रवर्तते, तद्यथा  
'कृतानुयोगोऽपि भवान् किञ्चिद् ब्रवीति तूष्णीमादाय स्थितः' इत्यत्र अनुयोगशब्दः प्रश्ने  
प्रसिद्धः । 'वृत्तानुयोगोऽपि भवान् पुनः पुनः पृच्छति' इत्यत्र तु पृष्ठप्रतियचने इति ।  
तेनायमर्थः स्थितो भवति—अनुयुज्य जीवद्रव्यादेः स्वरूपादि तज्जिज्ञासया पृष्ट्वा ।  
कै. ? अनुयोगैश्च । अनुयोगैरेव, चकार एवकारार्थे । कियिषिष्टेः ? इत्याह—  
'निर्देश' इत्यादि । निर्देश आदिर्येषां स्वामित्वादिसदादीनां तद्विदां गतैः  
निर्देशादिभेदरूपैः इत्यर्थः ।

निर्देशादौ च प्रश्नं प्रति द्वयी गतिः—नामनि निर्ज्ञाते लक्षणनिर्णयार्थः प्रश्नो  
भवति लक्षणे वा निर्ज्ञाते नामनिर्ज्ञानार्थ इति । तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे 'किं लक्षणं जीवादि-  
द्रव्यम्' इति प्रश्नः, 'उपयोगादिलक्षणम्' इति प्रतिवचनम् । अपरस्मिन् पक्षे  
'उपयोगादिलक्षणः किन्नामा पदार्थः' इति प्रश्नः, 'जीवादिनामा' इत्युत्तरम् । के पुन-  
निर्देशादयः इति चेत् ? उच्यते—'किम्' इत्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथन निर्देशः । 'कस्य'  
इत्यधिपतित्वख्यापनं स्वामित्वम् । 'केन' इति करणप्रकाशनं साधनम् । 'कस्मिन्'  
इत्याधाराभिधानम् अधिकरणम् । 'कियच्चिरम्' इति कालकृतावस्थान्यवस्थापन  
स्थितिः । 'कतिविधम्' इतिप्रकारकथन विधानम् । अत्र किम्, कस्य, केन, कस्मिन्,  
कियच्चिरम्, कतिविधम् इति प्रश्नरूपः अनुयोगः । 'वस्तुस्वरूपकथनम्, अधिप-  
तित्वख्यापनम्' इत्यादिकस्तु प्रतिवचनरूप इति ।

अधिगता निर्देशादयः । सदादयो निरूप्यन्तामिति चेदुच्यते—सकलपदार्थाधि-  
गतिमूल द्रव्यपर्यायगुणसामान्यविशेषविषयं 'सत्' इत्यभिधान सत् । सकलादेश-

(१) विमुक्त । (२) 'प्रश्नोऽनुयोग पृच्छा च'—इत्यमर । (३) 'निर्देश स्वरूपाभिधानम्,  
स्वामित्वमाधिपत्यम्, साधनमुत्पत्तिनिमित्तम्, अधिकरणगविष्ठानम्, स्थिति कालपरिच्छेद, विधान  
प्रकारः'—सर्वायसि० १।७ । (४) उत्तररूप अनुयोग इति । (५) 'सदित्यस्तित्वनिर्देश । सभ्या  
भदगणना । क्षत्र निवासो वर्तमानकालविषय । तदेव स्पष्टं त्रिकालमोचरम् । कालो द्विविध  
मुख्यो व्यावहारिकश्च । अन्तर विरहकाल । भाव औपक्षमिकादिलक्षण । अल्पबहुत्वमन्योन्यापेक्षया  
विशेषप्रतिपत्ति ।'—सर्वायसि० १।८ ।

१ च वक्तते व० । २ पुन' नास्ति आ० । ३-द्रव्यादि स्व-आ० । ४ पृष्टा थ० । ५ निर्ज्ञाते  
थ० । ६-लक्षण कि-व० । ७ प्रश्ने जीवादीनामित्यु-व० । ८-त्वव्याख्याप-थ० । ९ किमिति व० ।  
१०-व्यताम थ० ।

त्वात् संप्रहनिमित्तम्, व्यवहारनिमित्तं वा विकलादेशत्वात् । भेदगणनं संख्या ।  
वर्तमाननिवाससामान्यं क्षेत्रम् । तदेव त्रिकालगोचरं स्पर्शनम् । कालो वर्तमानादि-  
लक्षणः । कस्यचित् सन्तानेन वर्तमानस्य कुतश्चिदन्तरो विरहकालः अन्तरम् । औपश-  
मिकादिः भावः । संख्याताद्यन्यतमनिर्धयेऽपि परस्परं विशेषप्रतिपत्तिनिमित्तमल्प-  
बहुत्वम् इति । एवमुक्तप्रकारनिर्देशादिरूपैरनुयोगैः किं कृत्वा जीवादिद्रव्याण्यनुयुङ्-  
क्तेऽयमात्मा ? इत्याह—‘विरचय’ इति । विशेषेण रचयित्वा विधाय, कान् ? इत्याह—  
‘अर्थ’ इत्यादि । अर्थश्च वाक् च प्रत्ययश्च तदात्मकभेदान् । अर्थात्मको हि  
भेदः—द्रव्यभावरूपः, धागात्मकः नामरूपः, प्रत्ययात्मकश्च स्थापनारूपः इति । किं-  
विशिष्टांस्तान् ? इत्याह—‘श्रुतार्पितान्’ इति । श्रुतेन अर्पितान् विवक्षितान् ।  
कैः कृत्वा तान् विरचय्य ? इत्याह—‘नय’ इत्यादि । नयेषु वस्त्वंशप्ररूपकेषु प्रवृत्तेषु  
सत्सु अनु पश्चाद् गताः प्रवृत्ता ये निक्षेपाः तैः । किंविशिष्टे ? उपायैः कारण-  
भूतैः । क ? भेदवेदने । नामस्थापनादिस्वभावभिन्नजीवादिद्रव्यवेदने । कुतः पुनरेषा  
नयानुगतत्वं सिद्धमिति चेत् ? नयनिरूपिते वस्त्वंशे प्रवृत्तेः । एतदेव दर्शयन्नाह—  
‘परीक्ष्य’ इत्यादि । परीक्ष्य विचार्य तांस्तान् द्रव्यपर्यायादीन्, तद्धर्मान्  
अनेकान्तात्मकाऽर्थांशान् । कथंभूतान् ? अनेकान् । पुनरपि किंविशिष्टान् ? व्याव-  
हारिकान् व्यवहारप्रयोजनप्रसाधकान् । कैः परीक्ष्य ? इत्याह—‘अभिसन्धिभिः’  
इति । अभिसन्धिभिः ज्ञातुरभिप्रायैः । किं कृत्वा ? अधिगम्य । कम् ?  
अर्थम् । किंविशिष्टम् ? अनेकान्तम् । कस्मादधिगम्य ? इत्याह—‘श्रुतात्’ इति ।  
कारिकाचतुष्टयं यथोद्देशं विवृण्वन्नाह—‘श्रुतम्’ इत्यादि । श्रुतम् आप्तवचनम्  
तत्कथंभूतम् ? अनादि । कथा ? सन्तानापेक्षया द्रव्यापेक्षया ।  
विद्वन्निव्याख्यातम्—  
कथं पुनर्द्रव्यं सन्तानशब्दवाच्यमिति चेत् ? ‘समीचीनः त्रिकालप्रवृ-  
त्तिनिरूपणपर्यायानुयायी तानः विस्तारो यस्य’ इति व्युत्पत्तेः । कथं तर्हि तर्तुं सादि ?  
इत्याह—‘साधनम्’ इत्यादि । साध्यते निर्वर्त्त्यते इति साधनो वर्षपदादिपर्यायः,  
साध्यते प्रतिपाद्यतेऽनेन इति वा, तं प्रति सादि ‘श्रुतम्’ इति सम्बन्धः । अनेन सर्वधा  
नित्यमनित्यं वा तर्तुं इति प्रत्याख्यातम् । प्रपञ्चितञ्चैतत् प्रागेव इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन ।  
तदेवंविधं श्रुतं प्रमाणम्, कुतः इत्याह—‘त्रिकाल’ इत्यादि । त्रिकालगोचराश्च ते  
सर्वपर्यायाश्च जीवादिपदार्थाश्च तेषां निरूपणम् यथावस्थितस्वरूपोद्योतनं तत्र प्रवर्णं  
दक्षम् । यत एवविधं ततस्तत्प्रमाणम् । प्रयोगः—यैतु त्रिकालगोचरसर्वपर्यायजीवा-

(१) श्रुतम् । (२) श्रुतम् । (३) श्रुत प्रमाण त्रिकालगोचरसर्वपर्यायजीवादिपदार्थनिरूपणप्रवणत्वात् ।

१ सप्रहृष्यवहा—२० । २ सन्तानो न व० । ३—इत्यपि ध० । ४ वाक्प्र—२० । ५ नयानुगत  
ध० । ६ ‘द्रव्यापेक्षया’ नास्ति २० । ७—प्रवृत्तिनि—आ० । ८ स्यादित्याह व० । ९ अनित्य नित्यं  
वा व०, २० । १०—इव ते जीवा—व० २० । ११—पर्यायवज्जीवा—व० ।

दिपदार्थनिरूपणप्रवणं तत् प्रमाणम् यथा सर्ववित्प्रत्यक्षम्, तथाभूतञ्चोक्तप्रकारं धृतमिति ।  
नयः कीदृशः ? इत्याह—‘तदर्थोऽयं’ इत्यादि । नयो भवति । कौऽसौ ? अभिस-  
न्धिः ज्ञात्रभिप्रायः । किंविशिष्टः ? तदर्थोऽपरीक्षाप्रवणः, तस्य धृतस्य अर्थो  
विषयः उक्तप्रकारो जीवादिः तस्य अंशो धर्मः नित्यत्वादिः तस्य परीक्षायां प्रवणो  
५ दक्षः । ताभ्यां धृतनयाभ्याम् अधिगमः निश्चयः । केपाम् ? इत्याह—परमार्थव्या-  
वहारिकार्थानाम् द्रव्यपर्यायाणाम् इत्यर्थः ।

अथेदानीं ‘तदधिगत’ इत्यादिना नयानुगतत्वं निक्षेपस्य प्रदर्श्य तत्स्वरूपं  
व्याचष्टे—तदधिगतानां धृतनयाधिगतानां द्रव्यपर्यायरूपाणां जीवादीनां वाच्यतामा-  
पन्नानां साधारणस्वरूपाणाम्, न हि असाधारणस्वरूपा अर्थपर्याया वाच्यतामापद्यन्ते ।  
१० वाचकेषु जीवादिशब्देषु भेदेन सङ्कुरव्यतिकरव्यतिरेकेण उपन्यासः जीवाद्यर्थानां  
प्ररूपणं न्यासः निक्षेप इति यावत् । स कति प्रकारो भवति ? इत्याह—‘सः’ इत्यादि । सः  
प्ररूपितस्वरूपो न्यासः अवरतः सङ्क्षेपतः चतुर्धा । कथम् ? इत्याह—‘नाम’ इत्यादि ।  
नाम-स्थापना-द्रव्य-भावैः प्रकारैः निक्षेपः चतुर्धा भिद्यते । ‘तत्र’ इत्यादिना तान् व्या-  
चष्टे—तत्र तेषु निक्षेपप्रकारेषु नामादिषु मध्ये किन्नाम ? इत्याह—‘निमित्त’ इत्यादि । किं  
१५ पुनः नाम्नो निमित्तं किं वा निमित्तान्तरमिति चेत् ? ‘वक्तुरभिप्रायोऽस्य निमित्तम्,  
जात्यादिकं तु निमित्तान्तरम्’ इति ब्रूमः । तदनपेक्षं यत् संज्ञाकर्म संज्ञाकरणम् इच्छा-  
वशात् तद्व्याप्तम् । तस्य इयत्ताव्यवच्छेदार्थमाह—‘तच्च’ इत्यादि । तच्च उक्तस्वरूपं नाम  
अनेकधा अनेकप्रकारं भवति । तथैहि—किञ्चिद् एकजीवनाम यथा दित्य इति ।

(१) सर्वेषां युगपत्प्राप्तिं सङ्कुर, परस्परविषयगमनं व्यतिकर, ताभ्यां व्यतिरेकेण प्रति-  
नियतस्वरूपस्थितत्वेनेति भावः । (२) तुलना—‘निमित्तान्तर पुनर्जातिब्रह्मगुणत्रयाः ।’—  
सिद्धिबि० टी० पृ० ४७४A । ‘नाम्नो वक्तुरभिप्रायो निमित्तं कथितं समम् । तस्मादव्युत् जात्यादि  
निमित्तान्तरमिष्यते ॥’—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९९ । (३) ‘जस्तं जीवस्त वा अजीवस्त वा जीवाण  
वा अजीवाण वा तदुभयस्त वा तदुभयाण वा’—अनु० सू० ९ । ‘व्यस्तसमस्तकानेकजीवाजीवविषयतोप-  
पत्ते—तथा [ व्यस्त ] जीवविषयतोपपत्त अय मासपिण्डो देवदत्तोऽयं देवदत्ता इत्यादिवत् । समस्तजीव-  
विषयतोपपत्ते एते सर्वे वर्गादय इत्यादिवत् । एनजीवविषयतोपपत्ते नाभेय पुरुषेव इत्यादिवत् ।  
अनेकजीवविषयतोपपत्ते अय दित्यः अय उचित्यः अय जिनदत्त इति चत्वारो जीवभेदा । तथा  
व्यस्ताजीवविषयतोपपत्ते न नृत्यं नयं च इत्यादि । समस्ताजीवविषयतोपपत्ते भूवादयो घुरित्यादि-  
वत् । एकाजीवविषयतोपपत्ते आकाश काल घर्म अघर्म इत्यादिवत् । अनेकाजीवविषयतोपपत्ते ती  
सदिव ।’—सिद्धिबि० टी० पृ० ४७४A । ‘तस्मिन् मगलस्य आचारो अट्ठविहो । त जहा, जीवो वा,  
जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो य अजीवो य, जीवा य अजीवो य, जीवो य अजीवा य,  
जीवा य अजीवा व ।’—धवलाटी० पृ० १९ । ‘किञ्चिद्धि प्रतीतमेकजीवनाम यथा दित्य इति ।  
किञ्चिदनेकजीवनाम यथा युष इति । किञ्चिदेकाजीवनाम यथा घट इति । किञ्चिदनेकाजीवनाम  
यथा प्रासाद इति । किञ्चिदकजीवकाजीवनाम यथा प्रतीहार इति । किञ्चिदकजीवानेकाजीवनाम

१ ‘धृतनयाधिगतानां’ नास्ति थ० । २-यन् स कति यावत् त कतिप्रका-आ० । ३ ‘नामादिवु’  
नास्ति आ० । ४ तदनपेक्षं यत् ब० ।

किञ्चिदनेकजीयनाम यथा यूथ इति । किञ्चिदेकाऽजीवनाम यथा घटः इति । किञ्चिदनेकाजीवनाम यथा प्रासाद इति । किञ्चिदेकजीव-एकाजीवनाम यथा प्रतीहार इति । किञ्चिदेकजीव-अनेकाजीवनाम यथा कौहार इति । किञ्चिद् अनेकजीवाऽजीवनाम यथा नगरमिति । इत्याद्यनेकप्रकारं तत् प्रतिपत्तव्यम् । कस्मात् तदनियतप्रकारम् ? इत्याह-जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमित्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽनेकत्वात् अनियतत्वात्, जात्यादिनियतनिमित्तापेक्षाणामेव शब्दानां नियतत्वोपपत्तेः । जातिद्वारेण हि ये शब्दाः द्रव्यादिषु प्रवर्तन्ते ते जातिशब्दाः यथा गौः अश्वः इत्यादयः । द्रव्यद्वारेण तु ये वर्तन्ते ते द्रव्यशब्दाः । ते च द्विविधाः-संयोगिद्रव्यशब्दाः, समवायिद्रव्यशब्दाश्च । तत्र संयोगिद्रव्यशब्दाः कुण्डली इत्यादयः, समवायिद्रव्यशब्दाः विपाणी इत्यादयः । गुण-कर्मद्वारेण तु ये द्रव्ये वर्तन्ते ते गुणशब्दाः कर्मशब्दाश्च प्रतिपत्तव्याः, यथा 'शुद्धो नीलः' इत्यादयः, 'गच्छत्यागच्छति' इत्यादयश्च ।

अथ का स्थापना ? इत्याह-'आहित' इत्यादि । स्थाप्यते इति स्थापना प्रतिकृतिः, सा च आहितनामकस्य अध्यारोपितनामकस्य द्रव्यस्य इन्द्रावेः 'सोऽयम्' इत्यभिसन्धानेन व्यवस्थापना । केनात्मना व्यवस्थापना ? इत्याह-'सद्भाव' इत्यादि । तत्र अध्यारोप्यमाणेन मुख्येन्द्रादिना समाना सद्भावस्थापना । मुख्याकारशून्या पुनः असद्भावस्थापना ।

यथा काहार इति । किञ्चिदेकाजीवानेकजीवनाम यथा मयुरेति । किञ्चिदनेकजीवाजीवनाम यथा नगरमिति ।"-तत्त्वार्थश्लो० ५०९८ ।

(१) दण्डधारको द्वारपाल, तत्र एकोऽजीव दण्ड जीवश्च द्वारपाल इति । (२) एको जीव धीवर, अनेकाश्च अजीवा जलाहरेण्य उपगुण्यमाना घटादयः । (३) तुलना-"यदुच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते इति । जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति । गुणशब्देषु गुणेन शुबल इति । क्रियाशब्देन क्रियाया पाचक इति । द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विपाणीति ।"-प्रमाणसं० टी० ५० १२ । "तत्त्व जातिनिमित्तं नाम गोमणुस्सपङ्कटस्थभवेत्तादि । सजोगवन्निमित्तं नाम दडी छती मीली इच्चेवमादि । समवायनिमित्तं नाम गल्लगदरे कण्ठे कुडो इच्चेवमादि । गुणनिमित्तं नाम किङ्को रुहिरौ इच्चेवमादि । किरियानिमित्तं नाम गायणो गच्छणो इच्चेवमादि ।"-धवलटी० ५० १८ । "जातिद्वारेण द्रव्ये हि द्रव्यादिषु वर्तते । जातिहेतु स विज्ञेय गौरव इति शब्दवत् ॥३॥ गुणप्राधान्यतो वृत्तो द्रव्ये गुणनिमित्तक । सुकल पाटल इत्यादिशब्दवत्सम्प्रतीयते ॥६॥ कर्मप्राधान्यतस्तत्र कर्महेतुनिबुध्यते । चरति प्लवते यद्वत्किञ्चिदित्यतिनिश्चितम् ॥७॥ संयोगिद्रव्यशब्द स्यात्कुण्डलीत्यादिशब्दवत् । समवायिद्रव्यशब्दो विपाणीत्यादिरास्थित ॥९॥"-तत्त्वार्थश्लो० ५० ९९ । (४) "स्थाप्यत इति स्थापना प्रतिकृतिः । सा आहितनामकस्य इन्द्रादेर्वास्तवस्य तत्त्वाध्यारोपात् प्रतिपत्ता सोत्यमित्यभिसम्बन्धेनान्यस्य व्यवस्थापना स्थापनामान स्थापनेति वचनात् ।"-तत्त्वार्थश्लो० ५० १११ । (५) तुलना-"जण कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा गधिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा सपाइमे वा अक्खे वा वराइए वा एगो वा अपेगो वा सम्भावट्ठवणा वा असम्भावट्ठवणा वा आवस्सएत्ति ठवणा ठविज्जइ से तं ठवणावस्सय ।"-अनु० सू० १० । "तत्त्व आमारवतए वत्तुम्मि सम्भावट्ठवणा,



अथ किलक्षणं द्रव्यम् ? इत्याह—‘अनागत’ इत्यादि । ननु ‘अनागतपरिणा-  
मविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम्’ इति द्रव्यलक्षणमयुक्तम्, “गुणपर्ययद्द्रव्यम्”  
[ तत्त्वार्थसू० ५।३८ ] इत्यागमविरोधादिति कश्चित् ; सोऽपि सूत्रकारमभिप्रायानभिज्ञः ;  
‘गुणपर्ययद्द्रव्यम्’ इति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभाविपरिणामाश्रयं  
5 द्रव्यमुक्तम् । तच्च यदा अनागतपरिणामविशेषं प्रत्यभिमुखं तदा वर्तमानपर्यायाकान्तं  
परित्यक्तपूर्वपर्यायश्च निश्चीयते, अन्यथा अनागतपरिणामाभिमुख्यानुपपत्तेः सरविपा-  
णवत् । केवलं द्रव्यार्थप्रधानत्वेन वचने अनागतपरिणामाभिमुखम् अतीतपरिणामा-  
नुयायिद्रव्यमिति निक्षेपप्रेकरणे तथा द्रव्यलक्षणमुक्तम् । सूत्रकारेण तु परमतव्यवच्छेदेन  
प्रमाणार्पणात् ‘गुणपर्ययद्द्रव्यम्’ इति सूत्रितम्, क्रमोऽक्रमानेकान्तस्य तथा व्यव-  
10 स्थितेः । तच्चैवंविधलक्षणलक्षितं द्रव्यं द्विधा भिद्यते आगम-नोआगमविकल्पात् ।  
तत्र आत्मा यो जीवादिप्राभृतं तत्त्वतो जानाति परन्तु चिन्तन-परप्रतिपादनलक्षणोप-  
योगीऽनुपयुक्तः स आगमद्रव्यम् । नोआगमः त्रेधा भिद्यते—ज्ञातृज्ञरीर-भावि-तद्व्यति-

तन्निवरीया असम्भावदुवणा ।”-धवलाटी० पृ० २० । “काष्ठपुस्तचित्रकर्मादयो ये सद्भावस्थापना-  
रूपा तथाऽज्ञानक्षेपादयोऽसद्भावस्थापनारूपा ।”-तत्त्वार्थभा० व्या० १।५ । “तत्राध्यारोप्यमाणेन  
भावेन्द्रादिना समाना प्रतिमा सद्भावस्थापना, मुख्यर्वाज्ञान स्वयं सस्यास्तद्बुद्धिसमवात कथञ्चित्सादृ-  
श्यसद्भावात् । मुख्यकारणव्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेसादेव तत्र सोऽप्यमिति  
सप्रत्ययात् ।”-तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११ ।

(१) सूत्रकार उमास्वाम्याचार्य । तुलना—“सोऽपि भूतार्थानभिज्ञः ; गुणपर्ययद्द्रव्यमिति हि  
सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभाविपरिणामाश्रयं द्रव्यमुक्तम् । तच्च यदा अनागतपरिणामविशेष  
प्रत्यभिमुखं तदा वर्तमानपर्यायाकान्तं परित्यक्तपूर्वपर्यायश्च निश्चीयते, अन्यथा अनागतपरिणामाभि-  
मुख्यानुपपत्तं सरविपाणादिवत् ।”-तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११२ । (२) क्रमभाविपर्यायापेक्षया क्रमाज्ञे-  
कान्तं सहभाविगुणापेक्षया तु अक्रमानकान्तं । (३) “स किं त दम्बावस्थय ? दुविह पणत्त त जहा  
आगमओ अ नोआगमओ अ ।”-अनु० सू० १२ । तत्त्वार्थसि०, राजवा० १।५ । धवलाटी० पृ० २० ।  
(४) “जस्त ण आवस्सएति पद सिक्खित ठित जितं मित परिजित नामसम धोत्तसम अहीणक्खर  
अणक्खवक्खर अवाइद्ववक्खर” मे ण तत्थ वायणाए पुच्छणाए परिअट्ठणाए धम्मकहाए नो अणुप्पेहाए,  
कम्हा ? अणुवओगो दब्बमिति कट्ठु ।”-अनु० सू० १३ । “जीवप्राभृतत्रायी मनुष्यजीवप्राभृतज्ञायो  
वा अनुपयुक्त आत्मा आगमद्रव्यजीव ।”-तत्त्वार्थसि०, राजवा० १।५ । “आगमओऽणुवउत्तो मगल-  
सहाणुवानिओ वत्ता । तत्राणलद्विसहिओऽवि नोवउत्तोत्ति तो दव्व ॥”-विज्जेवा० गा० २९ । “तत्थ  
आगमओ दव्वमगलं णाम मगलपाहुदजाणओ अणुवउत्तो, मगलपाहुदसहरयणा वा, तस्सत्थद्वधणक्ख-  
रयणा वा ।”-धवलाटी० पृ० २१ । (५) “स किं त नो आगमओ दम्बावस्थय ? तिबिह पणत्त, तं  
जहा—जाणयसरीरदं आवस्सय भविअसरीरदं आवस्सय जाणयसरीरमभविअसरीरवत्तिरित्तं दम्बावस्थया”  
-अनु० सू० १५ । “नो आगमद्रव्यजीवस्त्वेवा व्यतिष्ठते—ज्ञायकसरीर-भावि-तद्व्यतिष्ठतिरित्तभेदात् ।  
तत्र ज्ञानुर्वच्छरीर त्रिकालगोचरं तज्ज्ञायकसरीरम् । सामान्यापेक्षया नोआगमभाविजीवो नास्ति जीव-

१-पर्यायव-जा०, थ० । २-पर्यायव-जा०, थ० । ३-प्रकारेण तथा व० । ४-पर्यायव-  
अ०, थ० । ५-भूतं न जाना-थ० । ६-नोआनुपयुक्तं स आ०, यो वानुपयुक्तं स व० ।

तुर्दश भवन्ति । तैः प्ररूपितस्वरूपातिशये जीवद्रव्ये यथावज्ज्ञाते भुमूक्षणां मुक्त्यङ्गं  
रिपूर्णं रत्नत्रयं भवति नान्यथा । एतदेवाह—‘एवम्’ इत्यादि । एवम् उक्तप्रकारेण  
प्रमाणनयनिज्ञेपानुयोगैः पदार्थप्रतिपत्त्युपायैः सर्वान् पदार्थानधिगम्य पुरुषतत्त्वं  
तुनः जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरभवयुद्ध्य, इत्यनेन मुमुक्षोः सम्यग्ज्ञानं  
मुक्त्यङ्गं प्ररूपितम् । प्रवृद्धाभिनिवेशात्मकसम्यग्दर्शनः इत्यनेन सम्यग्दर्शनम्,  
तपसा निर्जीर्णकर्मा<sup>१</sup> इत्यनेन तु सम्यक्चारित्र्यमिति । तेन च सम्यग्दर्शनादित्रयेण  
निर्जीर्णकर्मा सर्वकर्मविनिर्मुक्तः सन् अयमात्मा सुखमृच्छति सुप्रमयो भवति ।  
किंविशिष्टं तत्सुखम् ? चाधारहितं विगतबाधम्, अव्यवच्छिन्नं शाश्वतम्, अनन्तम्  
इत्यन्ताधारणवर्जितम्, अतीन्द्रियम् विशुद्धात्ममात्रोत्थम् । ननु आत्मनो मुक्तौ  
बुद्ध्याद्यशेषविशेषगुणोच्छेदात् कथं सुखमयत्वमिति वैशेषिकाः । अत्यन्तचित्तसन्ता-  
नोच्छेदतः तस्यैवाऽसंभवादिति सौगताः । अभोक्तृत्वादिति सांख्याः । अत्राह—नहि  
इत्यादि । नहि नैव गुणविनाशाद् बुद्ध्यादिगुणोच्छेदात् जडः पापाणकरूपः मुक्तौ  
आत्मा भवति, गुणगुणिविनाशात् शून्यः ‘नहि’ इति सम्बन्धः । गुणाः ज्ञानादयः  
गुणी चित्तसन्तानः तेषां विनाशाद् अत्यन्तोच्छेदात् आत्मा शून्यः सकलस्वरूप-  
विविक्तो भवति ‘नहि’ इति सम्बन्धः । भोग्यविरहात् तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानाद्  
अभोक्ता आत्मा सुखादेः ‘नहि’ इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह—तथाधिग-  
माभावात् तद्बाधासंभवाच्च । यथा च मुक्तौ तथैविधस्य आत्मस्वरूपस्य कृतश्चिदपि  
प्रमाणादधिगमासंभवः तत्र च बाधासंभवः तथा अग्रे प्रपञ्चतः प्ररूपयिष्यते ।

ननु ज्ञानावरणादिकर्मणः सद्भावप्रसिद्धौ<sup>२</sup> ‘तपोनिर्जीर्णकर्मा’ इत्यभिधातुं  
आवरणस्वरूपविषये युक्तम् । नच तत्सद्भावः प्रसिद्धः । तद्धि शरीरम्, रागादि, देशका-  
द्वरणा पूर्वपक्ष - लादिकं वा भवेत् ? तत्र आद्यविकल्पद्वयमयुक्तम् ; शरीरे रागादौ  
च सत्यपि अर्थज्ञानोदयसंभवात् । यस्मिन् सत्यपि ज्ञानोदयसंभवः न तस्य ज्ञाना-  
वरणादिस्वरूपता यथा चक्षुरादेः, अर्थज्ञानोदयसंभवश्च शरीरादौ सत्यपि, तस्मान्न  
तस्यै ज्ञानावरणादिस्वरूपता इति । तस्य तत्स्वरूपतायां वा काण्डपटादिवन्न तत्सद्भावे  
तदुपलम्भसंभवो भवेत् । तर्हि देशकालादेस्तत्त्वभावताऽस्तु, सुप्रसिद्धा हि मेवादौ दूरदेश-  
ताया आवरणता रावणादौ दूरकालतायाः परमाण्वादौ सूक्ष्मस्वभावतायाः, मूलेकीलो-

(१) आत्मन एव । (२) मुखादिभ्यतिरिक्तस्य दूत्यस्य अभोनतृत्वरूपस्य वा । (३) तुलना-  
“तद्धि शरीरं रागादयो देशकालादिकं वा स्यात् ।”—प्रमेयक० पृ० २४१ । स्या० २० पृ० ३५६ । (४)  
शरीरं रागादिकं वा नावरणस्वरूपम् तत्सद्भावोऽपि ज्ञानोदयात् । (५) शरीरादेः । (६) शरीरादि-  
सद्भावे । (७) ज्ञानोपलम्भसंभवः । (८) आवरणस्वभावता । (९) भूम्यन्तर्गतस्य वृक्षमूलस्य  
कीलस्य उदकादेर्वा ।

१-रेण नयनि-आ० । २-दृष्टं सुखं य० । ३ अवच्छिन्नं य० । ४ ‘आत्मा’ नास्ति आ० ।  
५ इत्याह-य० । ६-द्वौ निर्जीर्ण-य० । ७ तद्भावः य० । ८ तस्याभास्यं य० । ९ ‘तस्य’ नास्ति य० ।

दकादौ च भूम्यादेः; इत्यप्यसमीचीनम्; तदभावस्य योगिनोऽप्यशक्यक्रियत्वात् । न खलु सातिशयवर्द्धिमताऽपि योगिना देशाद्यभावो विधातुं शक्यः । न चान्यत् किञ्चिदावरणं प्रतीयते । अस्तु वा तत्, तथापि-अविद्यारूपं तद् भविष्यति न पौद्गलिकम्, मूर्तिमताऽनेनैव अमूर्तस्य ज्ञानादेरावरणानुपपत्तेः, अन्यथा शरीरादेरप्यावरणत्व-प्रसङ्गः । आत्मगुणत्वात् कर्मणो न पौद्गलिकत्वमित्यन्ये । भवतु पौद्गलिकत्वम् ६ अन्यथाभूतत्वं वाऽस्य, तथापि न साकल्येन कचिन्निर्जरासम्भवः कार्यकारणप्रवाहेण प्रवर्तमानस्यास्य अनादित्वात्, अनादेश्च आत्मादिवद् विनाशासम्भवादित्यैपरे ।

अत्र प्रतिबिधीयते । यत्तावदुक्तम्-‘ज्ञानावरणादिकर्मणः सद्भावप्रसिद्धौ’ कर्मणः पौद्गलिकत्व- इत्यादि; तत्र किं कर्ममात्रसद्भावे भवता विप्रतिपत्तिः, ज्ञानावरणादिकर्म-प्रसाधनं सवरमि- विशेषे वा ? तन्नाद्यविकल्पोऽनुपपन्नः, शरीरादिव्यतिरिक्तस्य कर्म- 10 ज्ञेयस्य सिद्धिश्च- मात्रस्य अनुमानतः सद्भावप्रसिद्धेः । तथाहि-स्वपरप्रमेयबोधैकत्वभा- वस्य आत्मनो हीनगर्भस्थानशरीरविषयादिषु विशिष्टाभिरतिः आत्मतत्त्व्यतिरिक्तकारण- पूर्विका, तत्त्वात्, कृतस्ति तत्परपुरुषे कमनीयकुलकामिन्याः तन्नाशुपयोगप्रभवविशिष्टा- भिरतिवत् । द्वितीयविकल्पोऽप्ययुक्तः, ज्ञानावरणादिकर्मविशेषस्यापि तद्व्यतिरिक्तस्य

(१) दूरदेशताया दूरकालताया सूक्ष्मत्वभाषताया भूम्यादेर्वा अभावस्य । (२) वेदान्तिन । “अत एवावरणस्य अनिर्वाच्याविद्यास्वरूपस्वमङ्गीकर्तव्यम् । न तु दुरितरूपत्वमात्रेण तदपलापो युक्तः अनुमानसिद्धत्वात् । तथाहि-अस्ति तावन्मूढानामेव व्यवहारः ‘अज्ञानायाद्यतीतं विवेकिप्रसिद्धमात्मतत्त्वं नास्ति न प्रकाशते च’ इति योऽयं व्यवहारः आत्मनि भावरूपावरणनिमित्तो भवितुमर्हति, अस्ति प्रकाशते’ इत्यादिव्यवहारपुष्कलकारणे सति तद्विपरीतव्यवहारत्वात्, यथैव तथैव यथास्ति प्रकाशते षट् इति व्यवहारः । न च कारणणीकृत्यमसिद्धम्, नित्यसिद्धस्वप्रकाशचैतन्यातिरेकेणात्रान्यापेक्षाऽ-भावात् । न चाप्ययासिद्धिः, इतोऽतिरिक्तावरणस्य मूर्तद्रव्यस्य आत्मनि निरवयवे सर्वगतेषु सपाद-त्वात् ।”-विवरणप्र० पृ० २१ । (३) पौद्गलिककर्मणा । (४) योगा । इष्टव्यम्-पृ० ३ दि० ५ । (५) अविद्यादिरूपत्वम् । (६) कर्मणः । (७) जन्तुभट्टादयः । तुलना-“अन्यं तु मिथ्याज्ञानज-नित्यमस्कारस्य महकारिणोऽभावात् विद्यमानान्यपि कर्माणि न जन्मान्तरे शरीरात्मकाणीनि मन्यन्ते ।”-प्रज्ञ० श्रु० पृ० २० ख । “सहकारिवैकल्यात् कुमूलावस्थितबीजवत् कर्मणामनारम्भकत्वे सति न कश्चिदोप । एष एव च तेषां दाहो यत्कार्यानारम्भकत्वम् । नन्वविनष्टस्वरूपाणि कुमूलबीजवदेव कदाचिदावरण्यन्ते कार्यं तस्माद्वरमुच्छिद्यन्तामेव, किमिदानीं नित्यमात्मानमप्युच्छेत् यतामहे ?”-न्यायम० पृ० ५२३ । (८) पृ० ८०८ पृ० १९ । (९) तुलना-“चेतनस्य सत सम्बन्धन्तरं मोहोदयकारणं मदिरादिवत् । तत्कृतं सिद्धम् । विवादाध्यासितो जीवस्य मोहोदयः सम्बन्धन्तरकारणकः मोहोदय-त्वात् मदिराकारणकमोहोदयवदित्यनुमानात् ।”-अष्टसं०, अष्टसह० पृ० ४९ । “ससारी बन्धवान् परतन्त्रत्वादालानस्तम्भागतहस्तिवत् । परतन्त्रोऽपि हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात् कामोदकपरतन्त्रहीनस्थानपरिग्रहवच्चोविषब्राह्मणवत् ।”-आप्तप० पृ० १ । प्रमेयक० पृ० २४२ । (१०) शरीरादिव्यति-रिक्तः । (११) शरीरादिभिन्नस्य ।

अनुमानादेव प्रसिद्धेः । तथाहि—यत् सत् तत्सर्वमनेकान्तात्मकमित्यादि व्याप्तिज्ञानं सावरणम्, स्वविषयेऽस्पष्टत्वात्, यत् स्वविषयेऽस्पष्टं तत्सावरणम् यथा रेजोनीहारायन्तरिततरुनिकरादिज्ञानम्, स्वविषयेऽस्पष्टश्चेद ज्ञानमिति । मिथ्यादृशां सर्वत्र अनेकान्तस्वभावे भावे विपरीतज्ञानं सावरणम्, मिथ्याज्ञानत्वात्, धत्तूरकाद्युपयोगिनो मृच्छकलेकाञ्चनज्ञानवदिति ।

यदप्युक्तम्—‘अविद्यारूपं तद् भविष्यति न पौद्गलिकम्’ इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; अमूर्त्तस्य अमूर्त्तेनैव आवरणनियमाऽसम्भवात्, मूर्त्तेनापि मदिरादिना अमूर्त्तस्य ज्ञानादेरावरणदर्शनात् । कथमेवं शरीरादेर्न तदावरणत्वं स्यादिति चेत् ? ‘तदयिरुद्धत्वात्’ इति ब्रूमः । मूर्त्तत्वाविशेषेऽपि हि यदेव ज्ञानेन विरुद्धं तदेव तस्यै आवरणं युक्तं नान्यत्, अन्यथा अमूर्त्तत्वाविशेषात् अविद्यावत् आकाशादेर्ज्ञानान्तरस्य च आवरणत्वमनुपप्येत । तस्यै तेन विरोधश्च मदिरादिवत् पौद्गलिककर्मोदये प्रवन्धेन प्रयत्नमानस्य ज्ञानस्यै निरोधान्निश्चीयते । तथाहि—आत्मनो मिथ्याज्ञानादिः पुद्गलविशेषसम्बन्धनिवन्धनः, तत्स्वरूपान्यर्थाभावस्वभावत्वात्, उन्मत्तकादिजनितोन्मादादिवत् । न च मिथ्याज्ञानजनितापरमिथ्याज्ञानेन अनेकान्तः, तस्यापि अपरापरपौद्गलिककर्मोदये सत्येव संभवात् अपरापरोन्मत्तकादिर्सप्तसद्भावे तत्तत्तोन्मादादिसन्धानवत् ।

एतेन ‘आत्मगुणत्वात् कर्मणां न पौद्गलिकत्वम्’ इत्यपि प्रत्युक्तम्, तेषांमात्मगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वानुपपत्तितः सदैव आत्मनो मुक्तिप्रसङ्गात् । यो यस्य गुणः स तस्य पारतन्त्र्यनिमित्तं न भवति यथा पृथिव्यादेः रूपादिः, गुणश्च धर्माधर्मसंज्ञकं कर्म परैरिष्टम् इति । न चैतत् युक्तम्, आत्मनः परतन्त्रतया प्रमाणतः प्रतीतेः । तथाहि—

परतन्त्रोऽयमात्मा, हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात्, मद्योद्रेकपरतन्त्राऽशुचिस्थानपरिग्रहवद्भि-

(१) ‘अद्यप्यज्ञानस्वभावस्यात्मनः स्वविषयप्रवृत्तिं विशिष्टद्रव्यसम्बन्धनिमित्ता पीतहस्तपुरुषस्वविषयज्ञानाप्रवृत्तिवत् । यच्च ज्ञानस्य स्वविषयप्रतिबन्धकं द्रव्यं तद् ज्ञानावरणादिवस्तुसत्पुद्गलरूपं कर्म ।’—सम्भाति० टी० पृ० ७३६ । “यदप्रवृत्तिमत्स्वविषयं तत्सावरणं यथा तैमिरिकस्य लोचनविज्ञानमेकचन्द्रमसि, अप्रवृत्तिमच्च स्वविषये समस्तार्थलक्षणेऽमदादिज्ञानमिति ।”—स्या० १० पृ० ३५७ । “ज्ञान सावरणं विषयतया स्वविषयानवबोधकत्वात् ।”—प्रमेयक० पृ० २४० । (२) ‘तथा मिथ्यात्वपटलविलुप्तविवेकदृष्ट्या यदेतत्सर्वस्मिन्नेकान्तात्मके धत्तुनि विषयं ज्ञानं तत्सावरणं मिथ्याज्ञानत्वात् ।’—स्या० १० पृ० ३५७ । प्रमेयक० पृ० २४२ । (३) पृ० ८०९ पृ० ३६ । (४) ‘सुराभिभवदर्शनात्’—राजवा० पृ० ८१ । प्रमेयक० पृ० २४३ । प्रमेय० पृ० ६ । (५) ज्ञानस्य । (६) पौद्गलिकस्य ज्ञानावरणादिकमणः । (७) ज्ञानेन । (८) ‘आत्मनो मिथ्याज्ञानादि’—प्रमेयक० पृ० २४३ । (९) पृ० ८०९ पृ० ५ । (१०) ‘तेनात्मगुणोऽदृष्टो निराकृतो भवति, तस्य ससारहेतुत्वानुपपत्तः ।’—सर्वायसि० ८ । (११) ‘कर्मणांमात्मगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तात्वायोगात् सवदाऽऽत्मनो बन्धानुपपत्तमुक्तिप्रसङ्गात् ।’—आप्त० १३ । प्रमेयक० पृ० २४३ । स्या० १० पृ० ११०१ । (११) योगः ।

१ गजो-य० । २-निकारादि-य० । ३ ‘तस्य’ नास्ति वा० । ४-स्य तिरोधानाग्निस्यो-य०, -स्य तिरोपाग्निस्यो-य० । ५-याभावत्वात् उ-य० । ६-रसदभावे व० । ७-तन्त्रानुचितस्था-य० ।

शिष्टपुरुषवत् । हीनस्थान हि शरीरम्, आत्मनो दुःखहेतुत्वात्, कारागारवत्, तत्परि-  
ग्रह्याश्च ससारी सर्वेषां सुप्रसिद्ध एव । नच देवशरीरे तदभावात् पक्षाव्याप्तिः, तस्यापि  
मरणे दुःखहेतुत्वप्रसिद्धे । यत्परतन्त्रासौ तच्च कर्म, इति सिद्धमस्यै अनात्मगुण-  
त्वम्, अतः पौद्गलिकत्वमेवावस्थोपपन्नम् । प्रयोगे—पौद्गलिक कर्म, आत्मनः परतन्त्र्य-  
निमित्तत्वात्, निगलादिवत् । नच क्रोधादिभिर्व्यभिचारः, तेषाम् आत्मपरिणामानां पार- 5  
तन्त्र्यस्वभावरत्नात् । क्रोधादिपरिणामो हि जीवस्य पारतन्त्र्यं न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘न साकल्येन कचिन्निर्वासभवः’ इत्यादि, तदप्यनल्पतमो-  
विलसितम् कर्मणा सन्तानपरम्परयाऽनादित्वेऽपि कचिद् विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावे साक-  
ल्येन प्रक्षयोपपत्तेः । यस्य कचिद् विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावे तस्य तत्र साकल्येन प्रक्षयः  
यथा शीतस्पर्शस्य, सम्यग्दर्शनादिलक्षणतद्विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावश्च कचिदात्मनि इति । 10  
नचायं साध्यधिकलो दृष्टान्तः नहि अनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शो विपक्षभूतस्योष्णस्पर्-  
शस्य प्रकर्षसद्भावे निर्मूलतल प्रलयमुपैवन्न प्रतीतः, कार्यकारणप्रवादेण बीजाङ्कुरादि-  
सन्तानो वाऽनादिः प्रतिपक्षभूतदहननिर्दग्धबीजो निर्दग्धाङ्कुरो वा न प्रतीयते इति ।  
प्रतिपक्षपरमप्रकर्षसद्भावश्च अनुमानतः प्रसिद्धः, तथाहि—ज्ञानादयः कचित् परमप्रकर्षं  
प्रतिपद्यन्ते, प्रकृष्यमाणत्वात्, परिमाणवत् । इत्थं वा साकल्येन कर्मप्रक्षये प्रयोगः 15

(१) तुलना— मिथ्याज्ञानतदुद्भूततत्त्वसंवेतनावगात् । हीनस्थानगतजन्म—प्रमाणवा०  
१।२६३ । हीनस्थान शरीरमात्मनो दुःखहेतुत्वात् कस्यचि कारागृहवत्—आप्तप० पृ० १। प्रमेयक०  
पृ० २४३। स्या० २० पृ० ११०१ । (२) दुःखहेतुत्वाभावात् । (३) कमणः । (४) तानि च पुद्गलप-  
रिणामात्मकानि जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वादिगदादिवत् । —आप्तप० पृ० ६१ । प्रमेयक० पृ० २४३ ।  
(५) पृ० ८०९५०९ । (६) तुलना— सवपा सविपक्षत्वात्निर्हासातिगम्य इति । सात्मीभावात्तदव्यासात् ।  
हीनस्थानाववा भवचितः ॥ प्रमाणवा० ३।२२० । यच्चापचयधर्माणः प्रतिपक्षस्य सन्निधौ । अत्यन्ता  
पचयस्तेषां कलधीतमलादिवत् । —तत्त्वसं० का० ३४१६ । सात्मीभावाद्विपक्षस्य सतो दोषस्य सङ्क्षयः ।  
कर्माप्रलेपः प्रवृत्तानां निवृत्तिः फलदायिनाम् । —न्यायवि० का० ४४३ । (७) स कमभूतता भत्ता  
तद्विपक्षप्रकपतः । यथा शीतस्य भत्तहः कश्चिदुष्णप्रकपतः ॥ —आप्तप० का० ११० । अष्टसह० पृ०  
५४ । यदुक्तपतारतम्यात् यस्यापचयतारतम्यं तत्प्रकपनिष्ठागमनं भवति तस्य आत्यन्तिकः क्षयः यथा  
उष्णस्पर्शतारतम्यात् शीतस्पर्शस्य भवति च ज्ञानवराग्यादेरुपतारतम्यात् अज्ञानवराग्यादेरुपचयतारत-  
म्यमिति । —सन्मति० टी० पृ० ७३७ । (८) विपक्षप्रकपगमनात् कमणा सन्तानरूपतयाऽनादित्वं वि-  
प्रक्षयप्रसिद्धं । न ह्यनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शः —आप्तप० का० ११० । प्रमेयक० पृ० २४५ । स्या० २०  
पृ० ३५७ । (९) प्रतिपक्षभूतदहननिर्दग्धबीजो —आप्तप० पृ० ५९ । प्रतिपक्षभूतदहननिर्दग्धबीजो  
—प्रमेयक० पृ० २४५ । (१०) तुलना— अस्ति काष्ठाप्रप्तिः सवज्ञबीजस्य सात्त्विकत्वात् परिमाणवत् ।  
—योगभा० १।२५ । प्रकपः पुनः सिद्धः परमः परमात्मनि । तारतम्यप्रकपस्य सिद्धरूपप्रकपवत् ॥ —  
आप्तप० का० ११२ । अष्टसह० पृ० ५५ । प्रमेयक० पृ० २४५ । स्या० २० पृ० ३५८ । बुद्धिः प्रकपमा-  
याति परमं भवचिदात्मनि । प्रकृष्यमाणबुद्धित्वात् कनकादिविबुद्धिवत् ॥ —तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३१५ ।

कर्त्तव्यः—ज्ञानावरणादिहानिः कचित्पुरुषविशेषे परमप्रकर्षमायाति, प्रकृष्यमाणत्वात्, नभसि परिमाणवत् । न चात्राऽसिद्धं साधनम्; तथाहि—प्रकृष्यमाणा आवरणहानिः, आवरणहानित्वात्, माणिक्याद्यावरणहानिवत् । यद्वा, ज्ञानावरणादिकर्म कचिदामूलं प्रक्षीयते, समप्रक्षयहेतुत्वेतत्वात्, लोचने तिमिरादिवत् । तत्कर्मप्रक्षयस्य हि हेतु संवर-निर्जरे, तदन्यव्यतिरेकानुविधायित्वात्, यो यस्यान्यव्यतिरेकानुविधायी स तद्वेतुः यथा धूमोऽग्नेः, अन्यव्यतिरेकावनुविधत्ते च तत्प्रक्षयः संवरनिर्जरयोरिति । सति संवरे भाविकर्म नोत्पद्यते “अपूर्वकर्मणामास्रवनिरोधः संवरः” [ तत्त्वार्थसू० ९।१ ] इत्यभिधानात् । सञ्चितं पुनः तन्निर्जरातः प्रक्षीयते—“उपात्तकर्मणां निर्हरणं निर्जरा” [ ] इति वचनात् । सा च निर्जरा द्विविधा—औपक्रमिक-इतरभेदात् । तत्र औपक्रमिकी तपसा द्वादशविधेन साध्या, अनौपक्रमिकी तु यथाकालं संसारिणः स्यादिति ।

अत्र सांख्या म्रुवते—सत्यम्; अनात्मगुणोऽदृष्टं प्रकृतिपरिणामत्वात्तस्य “प्रकृति-अदृष्ट-कर्मण्यन्धादि-विषये सांख्यानां पूर्वपक्षः—परिणामः शुक्लं कृष्णञ्च कर्म” [ ] इत्यभिधानात् । प्रकृत्या हि कर्म क्रियते अतस्तत् तत्परिणामो नात्मनः तस्याऽकर्तृत्वात् ।

(१) “वोपावरणयोर्हानिः नि.वोपास्यतिशायनात् । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥” भाष्यमी० का० ४ । प्रमेयक० पृ० २४५ । (२) “प्रकृष्यमाणा आवरणहानिः आवरणहानित्वात् माणिक्याद्यावरणहानिवत् ।”—प्रमेयक० पृ० २४६ । स्या० २० पृ० ३५९ । (३) “क्षीयते क्वचिदामूलं ज्ञानस्य प्रतिबन्धकम् । समप्रक्षयहेतुत्वात्लोचने तिमिरादिवत् ॥”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १५ । (४) “तेषामागमिना तावद्विपक्षं सवरो भतः । तपसा सञ्चिताना तु निर्जरा कर्मभूताम् ॥”—आप्तप० का० १११ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६ । (५) “आस्रवनिरोधः संवरः”—तत्त्वार्थसू० ९।१ । उद्धृतमिदम्—प्रमेयक० पृ० २४५ । (६) “एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा ।”—सर्वार्थसि० १।४ । “उपासास्य कर्मणस्तपो-विनोपसन्निधाने सत्येकदेशसंक्षयलक्षणा निर्जरा ।”—राजवा० १।४ । “कर्मणा तु विपाकात्तपसा वा यः पाटः सा निर्जरा”—तत्त्वार्थभा० व्या०, तत्त्वार्थहरि० १।४ । “पूर्वोपाजितकर्मपरित्यागो निर्जरा”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४८३ । (७) “सा द्विप्रकारा—विपाकजेतरा च । तत्र चतुर्थतावनेकजातिविशेषा-वचूर्णिते ससारमहाणवे चिर परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मणः क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्य अनुभवोदया-वल्लोतोऽनुप्रविष्टस्य आरब्धफलस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा । यत्कर्म अप्राप्तविपाक-मालम् औपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादिनुदीर्णं बलादुदीर्णं बलादुदीर्णोदयार्थं प्रवेश्य वेद्यते आमू-पनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा ।”—सर्वार्थसि०, राजवा०, तत्त्वार्थभा० व्या० ८।२३ । “सा द्विविधा—अनौपक्रमौपक्रमिकी च । तत्र पूर्वा यथाकालं संसारिणः स्यात्, उपक्रमिकी तु तपसा द्वादश-विधेन साध्यते ।”—आप्तप० का० १११ । प्रमेयक० पृ० २४४ । स्या० २० पृ० ३५७ । “सोपक्रम निरुपक्रम च कर्म—आयुर्विपाक कर्म द्विविधम्—सोपक्रम निरुपक्रमञ्च । तत्र यथाईवस्थ वितानितं लघीयसा कालेन क्षुब्धेत् तथा सोपक्रमम्, यथा च तदेव सपिण्डितं चिरेण क्षुब्धेदेवं निरुपक्रमम् । यथा यथा चार्गिः क्षुब्धे कक्षे भुक्तो यातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम्, यथा वा स एवाग्निः तुरगशी रमतोऽज्यवेपु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम् ।”—योगसू० व्यासभा० ३।२२ । (८) द्रष्टव्यम्—पृ० ३६० । “तत्कार्यं चर्मादि.”—साध्यसू० २।१४ । (९) तुलना—“चतुष्पात् स्वत्वव्य कर्मजातिः—तृष्पा, सुषलकृष्णा, सुक्ला, अशुक्लाकृष्णा चेति ।”—योगभा० ४।७ । “अशुक्लाकृष्णकर्म १—दि वचि—अ० । २—अपहेतु—अ०, अपहेतु—आ० ।

साक्षित्वादिकमेव हि स्वरूपमात्मनो न कर्तृत्वादि । तदुक्तम्—

“तस्माच्च विपर्यासात् सिद्ध साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।

कैवल्य माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकैर्तृभावश्च ॥” [ साध्यका० १९ ]

तस्माच्च तस्मादेव त्रिगुणविपर्यासात् सिद्धमात्मनः साक्षित्वादिस्वरूपम्; तथाहि—  
साक्षित्वं तावदात्मनः गुणप्रवृत्तेरधिष्ठातृत्वम् स्वयमस्यै नैर्गुण्यात्, सुखादिभ्यो हि यतोऽयमर्थान्तरभूतः तस्मात् सत्प्रवृत्तौ साक्षी । तथा कैवल्यमप्यस्य सिद्धम् ततो विविक्तत्वात् । यतः सत्त्वय गुणेभ्यः पृथग्भूतः तस्मादेव केवलः, न तैः सह संसर्गेण वर्तते । तथा माध्यस्थ्यमप्यस्य विपर्ययात् सिद्धम् । विपर्यासां हि तुल्यबलत्वात् न्यूनाधिकतोपपत्तेश्च अन्योन्यं बाधानुग्रहौ उपपन्नौ, विपरी चायम्, तस्मान्नास्य न्यूनतादि, अत एव ईतरयोरनुपपत्तिः । तथा द्रष्टृत्वमध्यस्य चेतेन्यस्वरूपत्वात्सिद्धम् । 10

स्यान्मुमुक्षोर्भोगिनो यते । कृष्ण शुक्ल तथा मित्र कर्मान्येषा त्रिधा भवेत् ॥”—योगका० ४।१२ । उद्धृत-  
मिदम्—“प्रधानविवर्तं शुक्ल कृष्णञ्च कर्म ।”—भाष्यप० पृ० ६१ । “प्रधानपरिणामं शुक्ल कृष्णञ्च कर्म ।”—ब्रह्मेयक० पृ० २४४, २८५ । (१०) “प्रकृते क्रियमाणानि गुणं कर्माणि सर्वश । अहङ्कार-  
विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥”—भगवद्गी० ३।२७ ।

(१) “साक्षी चेत्ता केवलो निर्गुणश्च”—श्वेताश्व० ६।११ । “पुरि शयनात् प्रमाणात् पूरणात् पुरुषत्तिता । स चानादि सर्वगतचेतनो निर्गुणोऽपर ॥ द्रष्टा भोक्ता क्षेत्रविदमलोऽप्रसवधर्मक । सूक्ष्मो नित्यो ह्यनादिस्त्वमध्यनिधनोऽपि स ॥”—साध्यतत्त्ववि० पृ० १० । (२) “तस्माच्च यद्योक्तत्रगुण्य-  
विपर्यासाद् विपर्ययात् । निर्गुणं पुरुषो विवेकी भोक्तेत्यादिगुणानां पुरुषस्य यो विपर्यास उक्तः तस्मात् सत्त्वरजस्तमं सु कर्तृभूतेषु साक्षित्वं सिद्धं पुरुषस्यति । योऽयमधिकृतो बहुत्व प्रति, गुणा एव कर्तार प्रवर्तन्ते साक्षी न प्रवर्तते नापि निवर्तत एव । किञ्चान्यत्, कैवल्यम्—केवलभावः कैवल्यमग्न्यत्वमित्यर्थं त्रिगुणेभ्यः केवलोऽन्यः । माध्यस्थ्यभावः, परिव्राजकवन्मध्यस्थ पुरुष । यथा कश्चित् परिव्राजको ग्रामी-  
णेषु वर्षणार्थं प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थः, पुरुषोऽप्येव गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते तस्मात् द्रष्टृत्वमक-  
र्तृभावश्च । यस्मान्मध्यस्थः, तस्माद् द्रष्टा तस्मादवर्ता पुरुषः तेषां कर्मणामिति । सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा कर्मकर्तृभावेन प्रवर्तन्ते न पुरुष । एव पुरुषस्मास्तित्वञ्च सिद्धम् ।”—योगशा० भा०, माठशब्०, साध्यतत्त्वको०, जयमग, का० १९ । उद्धृतोऽयम्—न्यायवि० वि० पृ० ५४६ A. । विश्वतत्त्वप्र० पृ० १४० A. । (३) “अकर्तृभावश्चेत्यनेन सप्तविधमकर्तृभावमाश्रयति—न ह्ययं विषयेषु स्वस्यान्त करण-  
साक्षिर्ध्येऽध्यवसायं कुरुते । न च सत्त्वादीनां प्रकाशप्रवृत्तिनियमलक्षणैर्धर्मैः इतरेतरौपकारेणाप्रवर्तमा-  
नानां स्वेन चैतन्यलक्षणेन धर्मेण अङ्गभाव प्रतिपद्यते नाप्यङ्गिभावम् । एवं सह गुणं कार्यं न कुरुते स्त्रीकुमारवत् । स्थितप्रयोगं न कुरुते रथशकटयन्त्रप्रेरकवत्, न स्वात्मनो मूर्तिपण्डवत्, न परतः कुम्भ-  
कारवत्, नाप्यादेशात् मायाकारवत्, नोभयतो मातृपितृवत् ।”—युक्तिदी० पृ० १०० । (४) “तत्र साक्षित्वमित्यनेन गुणानां प्रवृत्तौ अस्वातन्त्र्यस्यापयति प्रधानस्य तदर्थनिबन्धनत्वात् प्रवृत्ते ।”—युक्तिदी० पृ० १०० । (५) गुणानां सत्त्वरजस्तमसां प्रवृत्ते, गुणस्य वा प्रधानस्य प्रवृत्ते । (६) पुरुषस्य । (७) गुणात् । “कैवल्यमित्यनेन सत्सारिधर्मत्वमात्मनो निवर्तयति । न यथा सत्त्वादीनां परस्परं प्रवाधादिध-  
मपेक्षाणां ससर्गः एव पुरुषस्य तैर्भवति ।”—युक्तिदी० पृ० १०० । (८) ‘माध्यस्थ्यमित्यनेन अतिशयनि-  
र्हसानुपपत्तेः, पुरुषस्य गुणं सह बाधानुग्रहानुपपत्तिः स्वकार्यप्रवृत्तौ चापसपात दर्शयति ।’—युक्तिदी० ।

(९) बाधानुग्रहयोः ।

प्रकृतिविकारभूता हि सत्त्वादयः, अतस्तेभ्यश्चैतन्यमपोद्धृत्य पुरुष एव स्थाप्यते, तस्मात् पुरुष एव चैतन्यस्वरूपत्वात् द्रष्टा । उक्तञ्च—“चैतन्यं स्वरूपं पुरुषस्य” [ योगभा० १।९ ] इति । अत्राऽभेदे पट्टी । चित्तिरेव हि पुरुषः, रूपशब्दः स्वभाववचनः । एतदेव हि आत्मनः स्वम् आत्मीयं रूपं स्वभावः यत् चैतन्यं नाम, तस्य व्यक्ता-  
व्यक्तयोरसंभवात् । तथाऽऋतृभावोऽपि अप्रसवधर्मित्वादस्य सिद्धः, यस्मात् प्रस्पन्दन-  
परिणामौ प्रसचार्यौ नात्मनि विद्येते तस्मादकर्त्ता इति ।

ननु सत्त्वादीनां कर्त्तृत्वे ‘पुरुषः पुण्यं करोति’ इत्यात्मनि कर्त्तृत्वप्रतीतिः कथ-  
मुपपन्नेति चेत् ? उपचारात्, यथैव हि स्वयमचेननापि बुद्धिः चेतनासर्गात् चेतना  
उपचर्यते, तैश्च कर्त्तृप्रधानसंसर्गात् स्वयमकर्त्ताप्यात्मा कर्त्तव्य उपचर्यते । तदुक्तम्—

“तस्मात्तत्सर्गादचेतनं चेतनावदिह (व) लिङ्गम् ।

गुणकर्त्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तव्यं भवत्युदासीनः ॥” [ साख्यका० २० ] इति ।

ततः चित्तवृत्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता चाऽभ्युप-

(१) “चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति । यदा चित्तिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदि-  
श्यते ? भवति च व्यपदेशो वृत्तिर्यथा चैनस्य गीरिति ।”—योगभा० १।९ । उद्धृतमिदम्—सर्वार्थसि०  
पृ० १ । व्यापवि० वि० पृ० ५४७ A । (२) “तावेतौ भोगापवर्गौ” बुद्धिकृता बुद्धावेव वर्तमानौ  
कथं पुरुषे व्यपदिश्यते इति ? यथा विजय पराजयो वा योद्धुषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते,  
स हि तस्य फलस्य भोक्तेति, एव बन्धमोक्षी बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्यते । स हि तत्फलस्य  
भोक्तेति । बुद्धरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिबन्धं तदर्थवसायो भोक्त इति । एतेन ग्रहणधारणोद्वाहोद्भव-  
ज्ञानाभिव्यक्तेः बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽभ्यारोपितसद्भावाः, स हि तत्फलस्य भोक्तेति ।”—योगभा०  
२।१८ । (३) “तस्मात्तत्सर्गादचेतनं चेतनावदिह लिङ्गम् । यस्याच्चेतनस्वभावः पुरुषः तस्मात्  
तत्सर्गादचेतनं महदादिलिङ्गम् अध्यवसायाभिमानसङ्कल्पालोचनादिषु वृत्तिषु चेतनावत् प्रवर्तते ।  
नो दृष्टान्तः ? तद्यथा अनुष्णाशीतो घटः शीताभिरद्भिः सस्पृष्टः शीतो भवति अग्निना समुक्त उष्णो  
भवति, एव महदादि लिङ्गमचेतनमपि भूत्वा चेतनावद् भवति । तस्मात् अध्यवसायः कुर्वन्ति गुणाः  
कार्यादिषु । तद्यथाऽग्नी अचोरः तत्सर्गदोषेण चौरतया प्रतीतस्ते तथा सत्त्वादयो गुणा कर्त्तारः  
तैः समुक्तः पुरुषोऽपि अकर्त्ताऽपि कर्त्ता भवति, कर्त्तृसर्गात् कर्त्तव्यं, परं परमार्थतया अकर्त्ता पुरुषः ।”  
—माठिरबु०, गीटपा०, साख्यतत्त्वकी०, जयमङ्ग० का० २० । “तस्मात् कारणस्य ग्रहणरूपता  
पुरुषस्य च कर्तृरूपता सम्बन्धन्तरसम्पर्कात् अन्यगताऽन्यत्रोपलभ्यमाना भक्त्याऽध्यवसातव्या न  
परमार्थतः । उक्तञ्च—चेतनाधिष्ठिता बुद्धिश्चेतनेव विभाव्यते । कर्तृष्ववस्थितश्चात्मा भोक्ता कर्त्तव्यं  
लक्ष्यते ॥”—मुक्तितो० पृ० १०४ । उद्धृतोऽयम्—न्यायम० पृ० ४८९ । “चेतनावदिह”—अष्टसह० पृ०  
६७ । व्यापवि० वि० पृ० ५९ A । स्या० २० पृ० २३४ । (४) “चित्तवृत्तिरपरिणामिन्यप्रति-  
संक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च, सुखदुःखमोहात्मकत्वमशुद्धिः सुखमोहावपि विधेकिनः ॥ सा-  
वृत्तौ दुःखवद् हेयो । तथा चातिमुन्दरमपि अन्तवद् दुनोति तेन तदपि हेयमेव विधेकिनः ।  
स्यमशुद्धिरन्तश्च चित्तवृत्तौ पुरुषे न स्तः इत्यत उक्तं शुद्धा चानन्ता चेति । ननु सुखदुःखमोहात्मक-  
शब्दादीनि चेतनमयानि तदाकारापन्ना कथं विमुद्धा ? तदाकारपरिग्रह-परिवर्जने च कुर्वन्ती कथ-  
मनन्तेत्यत उक्तम्—दर्शितविषया इति । दर्शितो विषयः शब्दादिवर्त्ये सा नवोक्ता । भवेदेतदेव यदि





रियम् न मम अनया सह संसर्गो युक्तः' इति, तदा विवेकख्यातेर्न तत्सम्पादितं कर्मफलमुपभुङ्क्ते, सौपि च 'विज्ञातविरूपाऽहं न मदीयं कर्मफलमनेन भोक्तव्यम्' इति मत्त्वा न तत्सम्पादनाय तं प्रति प्रवर्तते कुम्भिनीस्त्रीवद् दूरादपसर्पति । अतो गुण-पुरुषान्तरदर्शनाद् अपवर्गप्राप्तिः । अन्ये गुणाः सत्त्वादयोऽचेतनाः परार्थाः प्रकृति-विकारभूताः, अन्योऽहम् 'नै प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' [ सांख्यका० ३ ] इति भेदप्रत्ययः गुणपुरुषान्तरदर्शनेनम्, तस्मात् तद्व्याप्तिरिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'प्रकृतिपरिणाम' इत्यादि; तदसमीक्षिता-तत्प्रतिविधानपुरस्सरं भिधानम्; यतः सिद्धे धर्मिणि धर्मचिन्ता उपपद्यते । नच प्रकृतिः कर्मण पञ्चलिकृत धर्मिणी कुतश्चित्प्रमाणात् सिद्धा, तत्प्रसाधकरप्रमाणानां प्रकृतिपरीक्षा-प्रसाधनम्—प्रघट्टके प्रपञ्चतः प्रतिक्षिप्तत्वात् । अतः कथं तत्परिणामतया कर्मणां व्यावर्णनमुपपन्नम् ? अस्तु वाऽसौ; तथापि—पुरुषस्य निमित्तमपेक्ष्य तथो परिणमेत्, अनपेक्ष्य वा ? न साधनपेक्ष्य; मुक्तात्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय तस्याः तथा

(१) प्रकृति । (२) 'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः विवेकख्यातिः ।'—योगब०, व्यासभा० २।२६ । 'एव तत्त्वाभ्यासाप्राप्तिं मे नाहमिदपरिक्षेपम् ॥' अभ्यासेनैव तत्त्वदर्शनं तस्मादभ्यासात् पुरुषस्य वृद्धिरूपघटे—नास्मि तत्त्वानि, न मे तत्त्वानि, नाहं तत्त्वानाम् किन्तु प्रधान-काम्येतानि । तस्माज्ज्ञानभूतपद्यते एवमादि । अपरिक्षेप निरवक्षेपमित्यर्थः । किं ज्ञानम् ? गुणपुरुष-पान्तरोपलब्धिरूपमित्यर्थः ॥ अत्राह तेन ज्ञानेन पुरुषः किं करोति ? अत्रोच्यते—तेन निवृत्तप्रसङ्गमर्थ-वशात् सत्त्वरूपविनिवृत्ताम् । प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थित स्वस्य ॥"—सांख्यका० भाट० ६३-६४ । (३) प्रकृतिरपि । "प्रकृते मुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति । या वृष्टा-स्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ यया काचित् कुलस्त्री साध्वी स्वगृहद्वारि स्थिता पुरुषेण सह-संवागतेन दृष्टा सहसं व्रीडमाना त्वरित गृहं प्रविष्टा । सा एव मत्वा 'दृष्टाऽहमनेन' इति न पुन-र्दर्शनमुपैति पुरुषस्य । तस्याञ्च विनिवृत्ताया पुरयो मोक्ष गच्छति ॥"—सांख्यका० भाट० ६१ । तत्त्वमी० पृ० १९४ । सांख्यतत्त्वप्र० पृ० १७७ । सांख्यप्र० ३।६९, ७० । "दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको वृष्टाहमित्युपरताऽस्या । सति सयोगेऽपि तयो प्रयोजनं नास्ति सर्वस्य ॥ यथेमा रङ्गगता नर्तकी सर्वास्त्ववस्थानु वर्तमाना दृष्ट्वा विरमति रङ्गात् प्रेक्षक दृष्टा मयेत्युपेक्षक एक केवल शुद्ध पुरुषः तथा प्रकृतिरपि अनेन अहं दृष्टेति निवृत्ता । एका नैलोक्त्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृ-तिरस्ति । नतंयपि अहमनेन दृष्टेत्युपरमते नृत्यात् एव पुरुषोऽपि दृष्टा मयेथ ज्ञानचक्षुषा प्रकृति इति प्रेक्षकवदुपरमते मोक्ष गच्छतीत्यर्थः ।"—सांख्यका० भाट० ६६ । तदुक्तं नारदीये—सविकारापि मोक्षयेन चिर भुवता गुणात्मना । प्रकृतिर्ज्ञातदोषेय लज्जयेव निवर्तते ।"—सांख्यप्र० भा० पृ० १११ । (४) भोगसम्पादनाय । (५) "पुरुषस्तु पुनर्न प्रकृतिरनुत्पादकत्वान्न च विकृतिरनुत्पन्नत्वात् । नैवासौ कारणं न च कार्यमित्यर्थः ।"—भाट० पृ० १ । (६) पृ० ८१२ पृ० ११ । (७) पृ० ३५४ । (८) प्रकृति । (९) कर्मरूपतया । (१०) तुलना—"यदि प्रधान पुरुषस्य निमित्तमनपेक्ष्य प्रवर्तते, मुक्ता-त्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय प्रवर्तत अविशेषात् ।"—प्रश० व्या० पृ० २० घ० । प्रमेयक० पृ० ३१६ । प्रमेयर० ४।१ । (११) प्रकृते ।

परिणमनप्रसङ्गात् । अथ अपेक्ष्य, किं तदपेक्ष्यम्—विवेकानुपलम्भ, अदृष्ट वा ? न तावद् विवेकानुपलम्भः; तस्य विवेकोपलम्भाभावरूपतया मुक्तात्मन्यपि संभवात् । नच तदनुत्पत्तिप्रध्वंसयोः कश्चिद्विशेषः संभवति, अभावस्वभावत्वाविशेषात् । अदृष्टा-  
पेक्षयास्तु तस्याः तथापरिणामे अन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि अदृष्टे तदपेक्षया प्रकृतेः  
शुक्लकृष्णकर्मपरिणामसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अदृष्टसिद्धिरिति । अनादित्वात् तत्प्रवाहस्य  
अयमदोष—पूर्वं हि अदृष्टमपेक्ष्य अपरः तस्योस्तत्परिणामो भवति ततश्च अपरः इति;  
तदप्यनुपपन्नम्, मुक्तात्मन्यपि एवमस्याः शरीरादिसम्पादनाय तथा परिणामप्रसक्तेः ।  
तत्रास्याः निवृत्ताधिकारत्वात् तत्प्रसक्तिः; इत्यापि चार्त्तम्, अमुक्तात्मन्यपि अस्याः  
तत्सम्पादनाय तथापरिणामाऽभावानुपङ्गात् । तत्र प्रवृत्ताधिकारत्वात् दोषोऽयम्;  
इत्यपि श्रद्धामात्रम्, सर्वेयैकस्याऽनंशस्य प्रधानस्य प्रवृत्त-निवृत्ताधिकारत्वधर्मयोर्युगपद्वि-  
रोधात्, तद्विरोधे वा सर्वथास्यै एकत्वाऽनशस्यानुपपत्तिः ।

किञ्चिदेम् अमुक्तात्मन्यस्य प्रवृत्ताधिकारत्वज्ञानं—तत्र सम्बद्धत्वम्, शरीरसुरावि-  
सम्पादकत्वं वा ? न तावत् सम्बद्धत्वम्; मुक्तात्मन्यस्य गतत्वात्, प्रधानात्मनो  
नित्यसर्वगतत्वेन सर्वत्र सर्वदा संभवात् । अथ शरीरसुरादिसम्पादकत्वम्; तर्हि  
इतरेतराश्रय—सिद्धे ह्यमुक्तात्मानं प्रति प्रवृत्ताधिकारत्वे<sup>१</sup> त प्रत्येव तत्सम्पादकत्वसिद्धिः,  
तत्सिद्धौ च तं प्रति प्रवृत्ताधिकारत्वसिद्धिरिति ।

किञ्च, शरीरादिना तत्सम्पादितेन अस्य कश्चिदुपकारः क्रियते, न वा ? यदि

- (१) तुलना—“अथावृष्टापेक्षमिति चेत्, यस्य हि गुणपुरुषान्तरविवेकदर्शनानुपपत्तिः तं प्रति प्रधानं प्रवर्तते, न चामो मुक्तात्मनीति, तत्र; मुक्तात्मन्यपि विवेकदर्शनस्य विनाशेन प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । तदनुत्पत्तिविनाशयोः अदशनत्वेन विशेषे पक्ष्याम ।”—प्रज्ञ० व्यो० पृ० २० घ० । प्रमेयक० पृ० ३१६ । (२) सारावस्थाया विवेकस्यानुत्पत्तिः मुक्तदशाया च समुत्पन्नस्यापि विवेकस्य विनाश इति न अभावत्वेन कश्चिद् भव । (३) प्रकृते । (४) कर्मरूपतया परिणती । (५) प्रकृते शुक्लकृष्णादि-कर्मपरिणाम । (६) तुलना—“अथावृष्टापेक्षं प्रवर्तते इति चेत्, तदसत्, तस्यापि प्रधाने शक्ति-रूपतया व्यवस्थितस्य उभयत्राविशयात् ।”—प्रज्ञ० व्यो० पृ० २० घ० । प्रमेयक० पृ० ३१६ । (७) शुक्लकृष्णादिकमरूपेण । (८) “कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।—कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति द्वयं नष्टमपि नाशं प्राप्तमपि अनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात् । कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमपि अकुशलान् पुरुषान् प्रति अकृतार्थमिति तेषां द्वयोः कर्मविषयतामापन्नं लभत एव पररूपेण आत्मरूपमिति ।”—योगसू० भा० २।२२ । (९) शरीरादिसम्पादनाय कर्मरूपपरिणामप्रसङ्गः । (१०) ससार्थात्मनि । (११) तुलना—“न ह्यकमेव निवृत्ताधिकारत्वं प्रवृत्ताधिकारत्वयोर्युगपदधिकरणं युक्तं नष्ट-त्वानष्टत्वयोरिव विरोधात् ।”—आप्तप० पृ० ८३ । (१२) प्रधानस्य । (१३) अमुक्तात्मानं प्रत्येव । (१४) प्रधानसम्पादितेन । तुलना—“सिद्धिं प्रधानस्य विकारो महदादि पुरुषार्थो भवतु (वन्) पुरुषस्य कश्चिदुपकारं करोति न वा ? यदि करोति, पुरुषार्थान्तरमनर्थान्तरं वा ?”—युक्तप० टी० पृ० २९ । (१५) ससार्थात्मनः ।

१ अदृष्टापेक्षयास्तु जा० । २ तस्य तत्परि—व० । ३ प्रवृद्धिनिवृत्ता—थ० । ४ सम्बन्धत्वं व०,

थ० । ५ नित्यं सर्वं—व० ।

- न क्रियते, कथं तत् 'तस्य' इति व्यपदिश्येत ? मुक्तात्मनोऽपि तद्व्यपदेशप्रसङ्गात् ।  
 अथ क्रियते, किं ततो भिन्नः, अभिन्नो वा ? यदि अभिन्नः; तदा तत्करणे पुंसोऽपि  
 कार्यत्वानुपपन्नात् नित्यत्वक्षतिः । अथ भिन्नः; तदा पुंसो न किञ्चित्कृतं स्यात्, तस्ये-  
 तिव्यपदेशश्च न प्राप्नोति तेनै तस्याऽसम्बन्धात्, तेनोप्युपकारान्तरकरणे अनवस्था ।  
 ५ ततः प्रधानस्य स्वरूपेण असत्त्वात्, सतोऽपि वा कर्मपरिणामानुपपत्तेः, द्रव्यरूपस्य  
 कर्मणः पुद्गलपरिणामत्व भावरूपस्य तु आत्मपरिणामत्वमभ्युपगन्तव्यम् । पुद्गलात्मनोः  
 सद्भावस्य विचित्रपरिणामाधारत्वस्य च प्राक् प्रसाधितत्वात् । न च कर्मणोऽनित्य-  
 त्वादात्मनस्तत्परिणामोपगमे अनित्यत्वापत्तिर्दोषाय; कथञ्चित्तदनित्यत्वस्येष्टत्वात् ।  
 सकलभावानां कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकतया अनेकान्तसिद्धौ प्रसाधितत्वात् । प्रधान-  
 १० स्यापि च तत्परिणामोपगमे अनित्यत्वापत्तिः समाना ।

यदप्युक्तम्—'साक्षित्वं तापत् आत्मनो गुणप्रवृत्तेरधिष्ठातृत्वम्' इत्यादि, तदपि  
 मनोरथमात्रम्; सत्त्वरजस्तमोलक्षणगुणानां प्रवृत्तेः प्रकृतिपरीक्षायां प्रतिक्षिप्तत्वात्,  
 सर्वथा नित्यव्यापित्वादित्वभाषस्य चात्मनः स्वदेहप्रमितौ प्रतिव्यूढत्वात्, अतः किं  
 कस्य अधिष्ठातृ स्यात् ?

- १५ यदपि 'अकर्तृभावोऽपि अप्रसवधर्मित्वात्' इत्याद्युक्तम्, तदप्यविचारितरमणीयम्;  
 सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वाभ्युपगमे पुंसोऽवस्तुत्वापत्तिप्रसङ्गात् । प्रयोगः—भवत्कल्पितः  
 पुरुषो वस्तु न भवति, सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वात्, गगनेन्दीवरवत् ।

- यदपि 'यस्मात् प्रस्पन्दनपरिणामौ प्रसवाभौ नात्मनि विद्येते तस्मादकर्ता'  
 इत्यभिहितम्; तदप्यपेशलम्; स्वदेहप्रमितौ आत्मनः प्रस्पन्दनपरिणामयोः प्रसाधितत्वात् ।  
 २० अकर्तृत्वे च आत्मनो भोक्तृत्वविरोधः, यदयं भुजिक्रियां कुर्वन् भोक्ता इत्युच्यते यथा  
 गमिक्रियां कुर्वन् गन्ता इति । नहि तथाऽपरिणत तद्व्यपदेशमर्हति अतिप्रज्ञात् । तथा  
 च कर्तारि 'तृचोऽनुत्पत्तेः 'भोक्ता' इत्यात्मनो व्यपदेशो दुर्लभः । ननु भोक्तेति तृचो

(१) ससारिण । (२) शरीरादिना पुंसोऽभिन्नोपकारकरणे । (३) उपकारेण । (४)  
 पुन । (५) शरीरादिकृतोपकारेणापि । (६) तत् कर्म परिणाम यस्य । (७) अनित्यकर्मपर्याया-  
 त्मकत्वस्वीकारे । (८) पु० ८१३ प० ५ । (९) पु० ३५४-१ । (१०) पु० २६६-१ । (११) पु०  
 ८१४ प० ६ । (१२) पु० ८१४ प० ६ । (१३) तुलना—'अतः पुरुषस्य कर्तृत्वे युक्त वास्तव  
 भोक्तृत्वम् । अन्यथा हि भोगक्रियामकुर्वन् कथमुदासीनस्य भोक्तृत्व स्यात्, भोगस्य मुखदुःखवेदना-  
 रपत्वात्, तदाधारता तु भोक्तृत्वम् ।'—प्रश्न० व्यो० पु० ५२३ । भोक्तात्मा चेत्स एवास्तु कर्ता  
 तदविरोधतः । विरोधे तु तयोर्भोक्तु स्याद भुजो कर्तृता कथम् ॥"—आप्तप० का० ८१ । "कर्ता  
 आत्मा स्वकर्मफलभोक्तृत्वात्" साध्यकल्पितः पुरुषो वस्तु न भवति अकर्तृत्वात् सपुण्यवत् । किंच,  
 आत्मा भोक्ता अज्ञीक्रियते, स च भुजक्रिया करोति न वा ? यदि करोति तदाऽपराधि क्रियाभि किम-  
 परादम् ? अथ भुजिक्रियामपि न करोति, तर्हि कथं भोक्तेति नित्यम् ।"—यद्द० बृह० प्लो० ४९ ।  
 (१४) तृचप्रत्ययस्य ।

दर्शनात् न वास्तव कर्तृत्व सिद्धयति शब्दज्ञानानुपातिन कर्तृत्वविकल्पस्य वस्तुशून्यत्वात्, इत्यप्यसुन्दरम्, भोक्तृत्वादिधर्माणामप्यात्मनोऽवास्तवत्वोपपत्ते । तथोपगमे च चेतयते इति चेतनः पुरुषः परमार्थतो न सिद्धेत् चेतनशब्दज्ञानानुपातिनोऽपि विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वाविशेषात् । अथ एतदोपमयाद् भुजौ कर्त्ता इष्यते, स हि अकर्तृत्वविरोधः । क्रियान्तरस्य प्रधानसाध्यस्याऽप्रसाधकत्वादकर्तृत्वे प्रधानस्याप्यकर्तृत्वानुपपन्नः पुरुषसाध्यस्य भुजिलक्षणक्रियान्तरस्य तेनैवाप्यप्रसाधनात् । ततः पुनोऽकर्तृत्वे भोक्तृत्वाभाव एव । प्रयोग—संसारीत्मा सुप्ताद्युपभोक्ता न भवति, धर्मादीनामकर्तृत्वान्, मुक्तात्मवत् ।

अकर्तृभोक्तृत्वाभ्युपगमे च कृतनाशाऽकृताभ्यागमदोषप्रसङ्गः, प्रकृत्या हि कृत कर्म न च तस्या फलेनाभिसम्बन्ध इति कृतनाशः, पुरुषेण च तन्न कृतम् अथ च तत्फलेन तस्याभिसम्बन्ध इति अकृताभ्यागमः । अकर्तृ फलाभिसम्बन्धे च मुक्तात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गः । चेतनत्वादात्मनः अकर्तृत्वेऽपि तदभिसम्बन्ध इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम्, मुक्तात्मनोऽपि अत एव तदभिसम्बन्धानुपपन्नात्, संसार्यात्मनोऽपि वा तद्वदसौ न स्यादविशेषात् । प्रयोग—संसारीत्मा फलाभिसम्बन्धवान् न भवति, चेतनत्वात्, मुक्तात्मवत् । तथा प्रधान कर्मणा तत्फलस्य च कर्तृ न भवति, अभोक्तृत्वात्, मुक्तात्मवत् ।

यद्योक्तिम्—‘यथैव हि स्वयमचेतनापि बुद्धि चेतनाससर्गात्’ इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम् बुद्धिचेतनयोर्भेदाऽसम्भवात्, विशैनस्यैव हि ‘बुद्धि, चेतना, अध्यवसाय’ इति पर्यायाः । तदसम्भवश्च साहच्यं प्रति स्वसवेदनसिद्धौ<sup>१२</sup> प्रपञ्चितः । अतः कथं तद्दृष्टान्तावष्टम्भेन उपचारादात्मनः कर्तृत्व स्यात् ? ततः पुरुष ‘पुण्य करोति, ध्यान करोति’ इत्याद्यवाध्यमानप्रतीतिसिद्ध कर्तृत्वमस्य अनुपचरितमेवाभ्युपगन्तव्यम् ।

(१) ‘शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।—शब्दजनितं ज्ञानं शब्दज्ञानं तदनु पतितुं शीलं यस्य स शब्दज्ञानानुपाती वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो योऽध्यवसायः स विकल्प इत्युच्यते ।’—योगसू० भोजवृ० १।९ । (२) तुलना—भोक्तृत्वादिधर्माणामपि पुरुषस्याऽवास्तवत्वापत्तौ तथोपगमे चेतयते इति चेतनः पुरुषो न वस्तुतः सिद्धयतः चेतनशब्दज्ञानानुपातिनो विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वात् कर्तृत्वभोक्तृत्वादिशब्दज्ञानानुपातिविकल्पवत् ।—आप्तप० का० ८१ । (३) प्रधानेनापि । (४) तुलना—‘संसारीत्मा भोक्ता न भवति अकर्तृत्वात् मुक्तात्मवत् ।—यदव० बृह० श्लो० ४८ । (५) तुलना—‘प्रधानस्य बन्धमोक्षौ पुरुषस्तत्फलमनुभवतीति कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । प्रधानेन हि कृतो बन्धमोक्षौ न च तस्य फलानुभवनमिति कृतनाशः, पुरुषेण तु तो न कृतो तत्फलानुभवनञ्च तस्येत्येकताभ्यागमः कथं परिहृतुं शक्यः ?’—आप्तप० का० ११४ । यदव० बृह० श्लो० ४८, ५२ । (६) मुक्तात्मनोऽपि प्रधानकृतकमफलानुभवानुपपन्नात् ।—आप्तप० का० ११४ । (७) चेतनत्वादेव । (८) मुक्तवत्तः कमफलाभिसम्बन्धः । (९) तुलना—‘कर्तुं नाम विजानन्ति गृहादीनः सर्वथा गुणाः । भोक्तुं च न विजानन्ति किमयुक्तमतः परम् ॥’—चतुःश० १०१६ । कर्तुं नाम प्रजानाति प्रधानव्यञ्जनादिकम् । भोक्तुञ्च न विजानाति किमयुक्तमतः परम् ॥—तत्त्वस० श्लो० ३०० । (१०) पृ० ८१४ प० ८ । (११) द्रष्टव्यम्—पृ० १९३ टि० २ । (१२) पृ० १९३—(१३) बुद्धिदृष्टान्तवर्गेन ।

एतेन 'चिच्छक्तिरपरिणामिनी' इत्यादि प्रत्याख्यातम्, अपरिणामिन कस्य चिद्वस्तुत्वानुपपत्ते सपुष्पवत् । ननु मुक्तस्यात्मन शुद्धस्याऽपरिणामित्वेऽपि वस्तुत्व भवद्विरिष्टम्, इत्यप्यनल्पतमोविलसितम्, तस्यापि प्रतिसमय परिणामित्वप्रतिज्ञानात् प्रतिसमय दृश्यस्य परिणामित्वे द्रष्टुरपरिणामित्वानुपपत्ते । न च दृश्य वस्तु (वस्तुव) परिणाम्येव इत्यभिधातव्यम्, साख्यैस्तस्य परिणामित्वाऽभ्युपगमात् । अथ चिच्छक्ति अप्रतिसङ्क्रमत्वादपरिणामिनीत्युच्यते, तत्र, 'अस्या प्रतिविषय दर्शितविषयत्वे प्रति-सङ्क्रमोपपत्ते । बुद्धेरेव तथा प्रतिसङ्क्रमो न चिच्छक्ते, इत्यप्युक्तम्, बुद्धेरप्येवम् अप्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात्, 'विषयस्यैव प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात् । बुद्ध्याप्यवसीयमानस्य निषयस्य प्रतिसङ्क्रमसम्भवे बुद्धे कथं तदसम्भय इति चेत् ? तर्हि बुद्धे विषयप्रद-  
 10 शिकाया प्रतिसङ्क्रमे तद्विषय पश्यन्त्याश्चिच्छक्तेरपि कथमप्रतिसङ्क्रम ? यथैव हि प्रतिनियत विषय चिच्छक्तये दर्शयन्ती बुद्धि सङ्क्रामति तथा क्रमेण चिच्छक्तिरपि 'त पश्यन्ती' विशेषाभावात् । कथमन्यथा क्रमेण दर्शितविषयाऽसौ स्यात् ?

किञ्च, यदा बुद्ध्या विषय तस्यै प्रदर्श्यते तदा प्राचीनम् अदर्शितस्वरूपमसौ त्यजति न वा ? न त्यजति चेत्, कथं प्रागव्यक्तत्वाप्यसौ दर्शितविषया स्यात् ? अथ त्यजति, कथमपरिणामिनी, अदर्शितविषयत्वत्यागेन दर्शितविषयत्वोपादानस्य परिणा-  
 5 मित्वाविनाभावित्वात् ? अथ मतम्—चिच्छक्ते एक एवाऽभिन्न स्वभावस्तादृशो येन यो यत्र यदा यथा अर्थो बुद्ध्याऽप्यवसीयते त तत्र तदा तथा पश्यतीत्यतो दर्शितविषय-त्वेऽपि अस्या न प्रतिविषय स्वभावभेद यत परिणामित्व स्यादिति, तदप्यसमीचीनम्, बुद्धेरप्येवमेकस्वभावत्वप्रसङ्गात् । शक्य हि वक्तुम्—बुद्धेरेक एव क्रमभाष्यनेकविषया

(१) पृ० ८१४ व० १२ । (२) अदर्शितविषयत्वत्यागेन दर्शितविषयत्वोपादानादवस्थिताया एव तस्या परिणामित्वसिद्धिः । —युक्तधनु० टी० पृ० ३० । (३) मुक्तारमनोऽपि । स हि सक्त पूर्वोक्त

स्वभावत्यागोपादानाभ्यामवस्थितस्वभाव परिणाम्यस्य सर्वार्थान पश्यति नायथा प्रतिसमय दृश्यस्य परिणामित्वे द्रष्टुरपरिणामानुपपत्त । न चायं दृश्यमवयवपरिणामिन वक्तुं समर्थः, स्वयं तस्य परिणा-मित्वोपगमात् सिद्धान्तपरित्यागानुपपत्तात् । —युक्तधनु० टी० पृ० ३० । (४) दृश्यस्य । (५) 'प्रति-विषय' दर्शितविषयत्वे सत्तमात् । तथा बुद्धेरेव प्रतिसङ्क्रमो न तु चिच्छक्तेरिति चेत् न बुद्धरप्यप्रति-सङ्क्रमप्रसङ्गात् विषयस्यैव प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात् । —युक्तधनु० टी० पृ० ३० । (६) यथैव हि विषय प्रतिनियत दायतां बुद्धिर्विनिर्गतायते सत्तममिति तथा क्रमेण चित्तिगास्तरपि पश्यन्ती विगताभावात् । कथमन्यथा नमण दर्शितविषया स्यात् । —युक्तधनु० टी० पृ० ३१ । (७) विषयम् । (८) सना मति इति वाक्यम् । (९) चिच्छक्ति । (१०) चिच्छक्तेः । (११) 'तथा बुद्धरप्येकस्वभावत्व प्रसङ्गात् । शक्य हि वक्तुं बुद्धेरेक एव नमभाव्यनेकविषयव्यवसायस्वभावो यन गयाकाठ यथादेश यथा प्रकाशश्च विषयमध्यवस्यतीति न विनिर्बदनेकस्वभाव सिद्धयत् । —युक्तधनु० टी० पृ० ३२ ।

1 तेन थ० । 2—मित्यप्रति—आ० । ३ परिणामय थ० । 4 इत्यतदप्ययु—व० । 5 विषयस्यैव प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात् इति नास्ति व० । ६ प्रतिसङ्क्रमे नु—य० । 7 प्रतिनियमविषय व० । ८ स्वस्यै व० । 9 अदर्शितस्वरूप—व० ।

ध्यवसायस्वभावो येन यो यत्र यदा यथाऽवस्थितोऽर्थः तं तत्र तदा तथा अध्यवस्यतीति ।  
तथा इन्द्रियमनोऽहङ्कारादीनामपि विषयाऽऽलोचनसङ्कल्पनाऽभिमननाद्येकस्वभावत्व-  
प्रसङ्गात् न कश्चित् स्वभावभेदः सिद्ध्येत् ।

यदपि—चिच्छक्तेरप्रतिसङ्क्रमसिद्धौ शुद्धत्वादिति साधनमुच्यते; तदप्यसाधु;  
यतः शुद्धात्मनोऽशुद्धपरिणामसङ्क्रम एव विरुध्यते न पुनः शुद्धपरिणामसङ्क्रमः । ननु  
शुद्धपरिणामेनापि चिच्छक्तिरप्रतिसङ्क्रमा अनन्तत्वात्; इत्यप्यचारु; प्रकृत्या अनेका-  
न्तात्, अनन्तत्वेऽपि हि तस्याः महदादिपरिणामसङ्क्रमः सांख्यैरभ्युपगम्यते ।

यदप्युक्तम्—‘पङ्ग्वन्धयोरिव’ इत्यादि; तदतीवाऽसङ्गतम्; दृष्टान्त-दार्ष्टान्ति-  
कयोर्वैषम्यात्, पङ्ग्वन्धयोर्हि चेतनत्वात् ईदमित्यमेव अस्मदिष्टं कार्यं सेत्स्यतीति  
सम्प्रधार्य अन्योन्यापेक्षयोः प्रवृत्तिर्युक्ता, नतु प्रकृतिपुरुषयोः विपर्ययात् ।

यत्पुनरुक्तम्—‘चिद्रूपस्यापि अस्य अज्ञानतमश्छन्नतया’ इत्यादि; तत्र किम्  
अज्ञानमेव तमः, उत अज्ञानञ्च तमश्च इति ? प्रथमपक्षे मुक्तात्मापि प्रकृतिस्थमपि  
मुखादिकलं किञ्च आत्मस्थं मन्येत, तदुपभोक्ता च किञ्च स्यात्, तस्यापि ज्ञानाभायतो-  
ऽज्ञानतमश्छन्नत्वाऽपिशेषात् ? द्वितीयपक्षे तु किमिदम् अज्ञानादन्यत् तमो नाम ?  
रागादिकमिति चेत्; न; तस्य आत्मनोऽत्यन्तार्थान्तरभूतप्रकृतिधर्मतया आत्माच्छाद-  
कत्वानुपपत्तेः । तर्थाभूतेनापि तेन तदाच्छादने मुक्तात्मनोऽप्याच्छादनं स्यादविशेषात् ।  
अथ अधिकारिण एव तद् आच्छादकम् न मुक्तात्मा(त्म)नः; नतु किमिदमधिकारित्व  
नाम ? यं प्रति प्रधानं प्रवृत्ताधिकारि सोऽधिकारीति चेत्; न; प्रधाने प्रवृत्ताधि-  
कारित्वस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात् ।

यदप्युक्तम्—‘विवेकख्यातेः’ इत्यादि; तत्र ‘केयं विवेकख्यातिर्नाम ? प्रकृतिपुरु-  
षयोः स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयोः भेदेन प्रतिभासनमिति चेत्; सा कस्य—प्रकृतेः,

(१) “शुद्धात्मनोऽपि स्वशुद्धपरिणामप्रतिसङ्क्रमाविरोधात् तन्नामुद्धपरिणामसङ्क्रमस्यैवास्तभ-  
वात् ।”—मुक्तपत्र० टी० पृ० ३१ । (२) “प्रकृत्या व्यभिचारात् । सापि ह्यनन्ता । सान्तत्वेऽपि नित्य-  
त्वविरोधात् ।”—मुक्तपत्र० टी० पृ० ३१ । (३) पृ० ८१५ पं० २ । (४) तुलना—“अचेतने हि निरङ्कुशे  
प्रधाने बन्धुरि मुतरामनिर्गोष्ठे स्यात् । तत्त्वादिमपि पुमांस न बध्नाति प्रकृतिरिति कोऽस्या नियन्ता ?  
पङ्ग्वन्धन्यायेन सयोगस्य तुल्यत्वात् ।”—न्यायम० पृ० ४९१ । (५) पृ० ८१५ पं० ८ । (६) “यतः  
विमज्जानमेव तमः उत अज्ञानञ्च तमश्चेति ।”—षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (७) मुक्तात्मनोऽपि ।  
(८) मुक्तिदशाया ज्ञानं विनश्यति अतः तेषामपि ज्ञानप्रवृत्तसात्मकमज्ञानमस्त्येव । (९) अत्यन्तभिन्न-  
प्रकृतिधर्मत्वेनापि रागादिना । (१०) रागादिकम् । (११) पृ० ८१६ पं० १ । (१२) “तत्र केय  
स्यातिर्नाम—प्रकृतिपुरुषयोः स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयोः भेदेन प्रतिभासनमिति चेत्; सा कस्य—प्रकृतेः,  
पुरुषस्य वा ?”—षड्द० बृह० श्लो० ५२ ।

१ इदमिच्छमेव आ०, ब० । २ विपर्ययं स्यात् ब० । ३ अधिकारि एव ब० । ४ ‘न मुक्तात्मानः’  
नास्ति आ०, थ० । ५-धिकारी चेत् आ०, थ० । ६ केयां वि-ब० ।

पुरुषस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य वा कस्यचित् ? न तावच्चद्व्यतिरिक्तस्य, प्रकृति पुरुषव्यतिरे-  
केण अन्यस्य कस्यचिदपि सारथैरनभ्युपगमात् । नापि प्रकृते, तस्या असवेद्यपर्वणि  
स्थितत्वात्, अचिद्रूपत्वात्, अनभ्युपगमाच्च । नापि पुरुषस्य, तस्याप्यसवेद्यपर्वणि  
स्थितत्वात् । अतः प्रकृतिपुरुषयो असवेद्यपर्वणि स्थितयो स्वरूपमात्रस्याप्रतिभासे  
त्रिवेकेन ख्यातिः अतिदुर्घटा । घटपटादौ हि स्वस्वरूपेण सवेद्यपर्वणि स्थिते कुतश्चि-  
द्विभ्रमनिमित्तात् त्रिवेकेनाऽप्रतीते यथास्थितवस्तुप्रतिभासिप्रमाणवशाद् विवेकेन  
ख्यातिर्दृष्टा, न चात्र एतदति ।

स्त्रि, त्रिवेकेन ख्यातिः तत्रिश्चय, सा च बुद्धिधर्मत्वाद् भवन्मते पुरुषे न  
सम्भवति । सम्भवे वा सा ततो भिन्ना, अभिन्ना वा स्यात् ? यद्यभिन्ना, तदा आत्मवत्-  
त्रापि नित्यत्वानुपपन्नात् न कदाचिदमुक्षप्रसङ्गः । भिन्ना चेत्, अस्तु, तथापि—असौ  
नित्या, अनित्या वा ? यदि नित्या, किं सम्यग्वा असम्यग्वा वा ? असम्यग्वा चेत्, कथं  
तस्येति व्यपदिश्येत ? असम्यग्वाया अपि तस्यै तेन व्यपदेशे सर्वेण सह व्यपदेशप्र-  
सङ्गात् न कस्यचिदपि ससार स्यात् । अथ सम्यग्वा, न, नित्ययोस्तयो अन्योन्यमनु-  
पकाररूपो कस्यचिन्पि सम्यग्वास्यानुपपत्तेः । उपपत्तौ वा तस्यापि नित्यत्वात् सदात्मनो  
मुक्तिप्रसङ्गः । अथ अनित्या विवेकख्यातिः, नन्वनित्या सती असौ जन्म्या, अजन्म्या वा ?  
तत्र अनित्यायास्तस्या घटादिवदजन्यत्वानुपपत्तिः । जन्यत्वेऽप्यस्या किम् आत्मना,  
प्रकृत्या, तद्व्यतिरिक्तेन वा केनचिदसौ जन्येत ? न तावत् तद्व्यतिरिक्तेन, प्रकृति-पुरुष-  
व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदपि तज्जनकस्याऽनभ्युपगमात् । नाप्यात्मना, तस्य जनकत्वानभ्यु-  
पगमात् । अनभ्युपगमे वा प्रकृतिवियुक्तेन, तत्सहितेन वा तेनासौ जन्येत ? प्रथमपक्षे  
चक्रप्रसङ्ग-सिद्धे हि विवेकख्यातेर्जन्यत्वे प्रकृतिपुरुषयोर्वियुक्तत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ  
च तद्व्यतिरिक्तेन आत्मना विवेकख्यातेर्जन्यत्वसिद्धिरिति । तत्सहितात्मन्यत्वे तु सर्वत्र  
मर्यादा मर्यादा मोक्षः स्यात्, तथा सर्वत्र सर्वदाऽविशेषतः तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् ।

यदपि—विज्ञातविरूपाहम् इत्याद्यभिहितम्, तदप्यचर्चिताभिधानम्, प्रकृते-

(१) प्रकृति । (२) अणकोटौ । तस्या असवेद्यपर्वणि स्थितत्वादवतनत्वादनभ्युपग-  
माच्च । —पृष्ठ ८६० श्लो० ५२ । (३) अणकोटौ । (४) विवेकख्यातावपि । (५) विवेकख्यातः ।  
(६) पुरुषस्यपि व्यपदेशः । (७) सम्यग्वास्यापि । (८) आत्मनः । (९) विवेकख्यातिः । (१०)  
पृ० ८१६ प० २ । (११) तुत्रा—अवतनत्वानु, तथाहि—अवतनतया प्रपानस्य अहमननं दृष्टं  
(१२) यथा विज्ञातमिति विज्ञानानां पूर्ववत् प्रवृत्तिरविगच्छत्यहमतिप्रसङ्गः । —प्रा० ध्यो० पृ०  
२० प० । इत्यादिमिति विरमतांति चत् अहम्, न ह्यसौ एव तस्तीजतदुद्वेगद्वेगोता नि तस्यपुरुषयोगो

१-निर्दिष्टपटा आ० । २-तीन य-आ० । ३ विवेकस्य ख्यातिः आ० । ४ तावच्चद्व्यतिरि-  
क्तः । ५-ना अणक-व०, —नास्यानणक-य० । ६ च आ० । ७ हि नास्ति आ० । ८ तु मर्या-  
दा, य० । ९ विज्ञातविरूपाहम्-आ० ।



जडतया इत्थं विज्ञानानुपपत्ते । न खलु जडस्वरूपो घटादि विरूपतकतयाऽहमनेन ज्ञातोऽतो नैतस्मै फल सम्पादयामि' इति स्वयं सवेदयमानो दृष्टं जडानुदयो स्वरूप सङ्करप्रसङ्गात् । स्वरूपप्रतिपत्तो हि परमुखप्रेक्षित्वं जडस्य स्वरूपम् तन्निरपेक्षत्वं तु अजडस्य तदित्थं संकीर्त्येत ।

किञ्च, विज्ञातापि प्रकृतिः ससारदशापत् मोक्षदशायामपि आत्मनो भोगसम्पादनाय स्वभावतो वायुवत् प्रवर्त्तताम् तत्स्वभावस्य नित्यतया तदापि सत्त्वात् । नहि प्रवृत्तिस्वभावो वायुः विरूपकतया येन ज्ञातः तदप्रति तैत्स्वभावादुपरमते, अतः कुतो मोक्षः स्यात् ? तदा तदसत्त्वे वा प्रकृतेर्नित्यैकरूपतानुपपत्तिः, पूर्वस्वभावत्यागेन उत्तरस्वभावोपादानस्य तत्र विरोधात्, परिणामिनित्ये एव तदविरोधात् । प्रकृतेश्च परिणामिनित्यत्वाभ्युपगमे आत्मनोऽपि तदभ्युपगन्तव्यम्, तस्यापि प्राक्तनसुखाद्युपभोक्तृस्वभावपरिहारेण तदभोक्तृस्वभावास्वीकारात्, अमुक्तादिस्वभावत्यागेन मुक्तादिस्वभावोपादानाच्च । सिद्धे चास्य परिणामिनित्यत्वे सुखादिपरिणामैरपि परिणामित्वमस्याऽभ्युपगन्तव्यम्, इति सिद्धं - मोक्षेऽप्यात्मा निशुद्धज्ञानादिस्वभाव इति ॥ छ ॥

ननु मोक्षे विशुद्धज्ञानादिस्वभावताऽऽत्मनोऽनुपपन्ना बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदविशेषगुणाच्छेदरूपा रूपत्वात्तस्य । प्रत्यक्षादिप्रमाणेन हि आत्मस्वरूपे प्रतिपन्ने मनःप्रणिधानादिभिः ननु पूर्विकाया भावनायाः प्रकृपप्राप्तायाः परिपाकप्राप्ते तत्त्वज्ञाने नवानात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदे स्वस्वरूपेण आत्मनोऽवस्थानं मोक्षः ।

गतीभाष्याः पण्यवन्ति तेव नासी नियमेन व्यवहृतुमहतीत्यास्तामेतत् । - यायमं० पृ० ४९२ । प्रकृते जडतयस्य विज्ञानानुपपत्ते । पड० बृह० श्लो० ५२ ।

(१) घटादेरपि स्वयं विवेकेन प्रवृत्तौ । (२) तुलना- अस्या अचेतनतया विमृश्यकारित्वाभावात् । यद्यपि कृतेऽपि गन्धाद्युपलभ्य पुनस्तदथ प्रवर्तते तथा विवकरयातौ कृत्यामपि पुनस्तदथ प्रवर्तिष्यते स्वभावस्यानपायित्वात् । - प्रश्न० क० पृ० ४ । पड० बृह० श्लो० ५२ । (३) प्रवर्तकस्वभावात् । (४) सिद्धं चास्य परिणामिनित्यत्वे सुखादिपरिणामैरपि परिणामित्वमस्याभ्युपगन्तव्यमयथा मोक्षाभावप्रसङ्गः । - पड० बृह० श्लो० ५२ । (५) नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः । - प्रश्न० व्यो० पृ० ६३८ । आत्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिरप्यर्थो न सावधिका द्विविधदुःखावमर्गिणा सवनाम्ना सवपामात्मगुणानां दुःखावमर्गादत्यन्तग्रहणं च सर्वात्मना तद्वियोगाभिधानात् नवानामात्मगुणानां बुद्धिमुखदुःखच्छादपप्रयत्नधर्माधमसंस्काराणां निमूलोच्छेदोऽप्ययं इत्युक्तं भवति । यावदात्मगुणा सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः । तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्नविकल्पते ॥ - यायमं० पृ० ५०८ । (६) ननु तस्यामवस्थायाः कीदृशात्मवाञ्छिष्यते ? स्वरूपकप्रतिष्ठानं परित्यक्तोऽखिलगुणः ॥ - यायमं० पृ० ५०८ । समस्तात्मविशेषगुणोच्छेदोऽलक्षिता स्वरूपस्थितिरेव । - प्रश्न० क० पृ० २८७ । निश्चयं पुनस्तद्विनिवृत्तिरात्यन्तिकी - प्रश्न० किर० पृ० ६ । तस्मिन्नेतत् नित्यसवेद्यम् अननं सुखं विनिष्टा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरुपस्य मोक्ष इति । - न्यायसा० पृ० ४१ ।

१ जडस्वरूपो व० । २-तस्य फलं व० । ३ स्वयं वेदय-थ० । ४ सकीर्यते व० । ५ विरूपतया व०, थ० । ६-वृत्तस्वभा-थ० । ७-च्छेदस्वरूप-व० ।

तदुच्छेदे च प्रमाणम्-नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तान-  
त्वात्, प्रदीपादिसन्तानम् । नचायमसिद्धो हेतुः, पक्षे प्रवर्त्तमानत्वात् । नापि विरुद्धः,  
सपक्षे प्रदीपादौ सत्त्वात् । नाप्यनैकान्तिकः ; पक्षसपक्षद् विपक्षे परमाण्वादावप्रवृत्तेः ।  
नापि कालात्ययापदिष्टः, विपरीतार्थोपस्थापकयोः प्रत्यक्षागमयोरत्राऽसम्भवात् । नापि  
सत्यतिपक्षः, प्रतिपक्षप्रसाधकानुमानासम्भवात् ।

ननु सन्तानोच्छेदरूपेऽपि मोक्षे रुद्धिद्वेतुर्वक्तव्यः 'निर्हेतुरुविनाशाऽनभ्युपगमात्  
इति च न शङ्कनीयम्, तत्त्वज्ञानस्यैव तद्धेतुत्वात् । तत्त्वज्ञानं विपर्ययज्ञानव्यच्छेदकमेण  
निश्चयसहेतुः । दृष्टञ्च सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानोच्छेदे शुक्तिकादौ सामर्थ्यम् । निर्हेते  
च मिथ्याज्ञाने तन्मूला रागादयो निवर्त्तन्ते कारणाभावे कार्यानुत्पादात् । रागाद्यभावे  
च तत्कार्या मनोवाक्यायप्रवृत्तिः न्यावर्त्तते । तस्यावृत्तौ च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः ।  
आरब्धशरीरेन्द्रियविषयकार्ययोस्तु सुखादिफलोपभोगात् प्रक्षयः, अनारब्धतत्कार्ययोर-  
ध्यवसितयोस्तत्फलोपभोगादेव प्रक्षयः । तथा चागमः-

“नामुक्तं लीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि” [ ] इति ।

(१) 'नवानामात्मगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्, यो यः सन्तानं स मोक्षयन्त-  
मुच्छिद्यमानो दृष्टः यथा प्रदीपसन्तानं, तथा चायं सन्तानं, तस्मान् अत्यन्तमुच्छिद्यते ।'-प्रज्ञा० ध्यो०  
पृ० २० क० । “दुःखसन्ततिरत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वात् प्रदीपसत्ततिवदित्याचार्या ।'-प्रज्ञा० किर०  
पृ० १ । (२) 'ज्ञानपूर्वकास्तु वृत्तादसबन्धितफलाद् विमुद्धे कुत्रे जातस्य दुःखविगमोपायविज्ञासोरा-  
चार्यमुपसङ्गम्य उत्पन्नपट्टपदाद्यतत्त्वज्ञानस्य अज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य रागद्वेषाद्यभावात् तज्जयोर्धर्मा-  
धर्मयोरनुत्पत्तौ पूर्वसञ्चितयोश्चोपभोगाग्निरूपे सन्तोपमुख शरीरपरिच्छेदञ्च उत्पाद्य रागादिनिवृत्तौ  
निवृत्तिलक्षण केवलो धर्मः परमायं दशनत्र मुक्तं कृत्वा निवर्तते । तदा निरोधाग्निरवस्य आत्मन  
शरीरादिनिवृत्तिः, पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धव्यमानलवद्रुपनामो मोक्ष इति ।'-प्रज्ञा० भा० पृ० ६४ ।  
'इत्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पञ्चाः पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानं निश्चयसहेतुः ।'-  
प्रज्ञा० भा० पृ० २० ज० । “तदवज्ञानाप्रिथयसाधिगमः-न्यायसू० १।१।१ । (३) 'दुःखजन्मप्रवृत्ति-  
दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।'-न्यायसू० १।१।२ । 'त इमं मिथ्याज्ञानादयो  
दुःखान्ता धर्मा ज्वलिच्छेदेनैव प्रवर्त्तमानाः समार इति । यदा तु तत्त्वज्ञानात् मिथ्याज्ञानमपैति तदा  
मिथ्याज्ञानापायः दायाः अयान्ति दोषापायः प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्त्यपायः जन्मापैति, जन्मापायः दुःखमपैति,  
दुःखापायः पात्यन्तिकारणयोः निधयसमिति ।'-न्यायभा० १।१।२ । तथा ह्युपलब्ध सम्यग्ज्ञानस्य  
मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ सामर्थ्यं शक्तिः कादावित्रि ।'-प्रज्ञा० ध्यो० पृ० २० क० । (४) 'निवृत्तं च मिथ्याज्ञानं  
गमून्प्रसादनादयो नश्यन्ति कारणाभावे कार्यस्यानुत्पादादिति । रागाद्यभावे च तत्कार्या प्रवृत्तिरप्य-  
यतः, तदभावे च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः । आरब्धकार्ययोश्चोपभोगात् प्रक्षयः ।'-प्रज्ञा० ध्यो० पृ० २०  
क० । (५) उद्गोत्रम्-“यथोक्तम्-तामुक्तं लीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि । अवश्यमनुभोस्तस्य वृत्त-  
कर्म नृमातृभूमिः ।'-प्रज्ञा० ध्यो० पृ० २० क० । पक्षः-पृ० २२५ । प्रत्ययः-पृ० ३०८ । सामर्थ्यं-  
पृ० १०५ । विस्तृ० पृ० ३५१ । “अवश्यमनुभोस्तस्य”-अथवि० टो० पृ० १३ ।

१ परादि-ब० । २ ननु तं सन्तानं-ब०, थ० । ३ निर्हेतुरुविना-आ० । ४ न राक्षसीयम् तत्र  
ज्ञान-जा० । ५ एतदन्वयः पाठो नास्ति जा० । ६-नृपपति-थ०, ब० । ७ 'इति' नास्ति थ० ।

अत्रैवार्थे अनुमानम्—पूर्वकर्माणि उपभोगादेव क्षीयन्ते कर्मत्वात् प्रारब्धशरीरादिकर्मवत् । नच उपभोगात् तत्प्रज्ञये कर्मान्तरस्यावश्यम्भावात् संसारानुच्छेदः, समाधिवलादुत्पन्न-  
तत्त्वज्ञानस्य अवगतकर्मसामर्थ्यात्पादितयुगपदेशेपशरीरद्वाराऽवाप्ताशेषभोगस्य उपात्त-  
कर्मप्रज्ञयात् भाविकर्मोत्पत्तिनिमित्तमिध्याज्ञानजनिताऽनुसन्धानविकलत्वाच्च संसारो-  
च्छेदोपपत्तेः । अनुसन्धानं हि रागद्वेषौ, 'अनुसन्धीयते गतं चित्तमाभ्याम्' इति व्युत्पत्तेः । 5

अथ मिध्याज्ञानभावे तत्त्वज्ञानिनः तदुपभोक्तुमभिलाषस्यैवाऽसंभवात् तदुप-  
भोगानुपपत्तिः; तन्न, तदुपभोगं विना कर्मणां प्रक्षयानुपपत्तितः तस्यैवज्ञानिनः तदुप-  
भोक्तुमभिलाषाभावेऽपि कर्मक्षयार्थितया तत्र प्रवृत्त्युपपत्तेः वैद्योपदेशेन आतुरवदौषधा-  
चरणे । यथैव हि आतुरस्य अनभिलषितेऽपि औषधाचरणे व्याधिप्रक्षयार्थं प्रवृत्तिः तद्व-  
तिरेकेण तत्प्रक्षयानुपपत्तेः, एवमत्रापि । 'विवादापन्नः शरीरादिनिवृत्तौ आत्मा सर्ववैषयि-  
कमुत्पदुःखशून्यः, समस्तधर्माधर्मशून्यत्वात्, यस्तु वैषयिकमुत्पदुःखवान्नासौ समस्तधर्मा-  
धर्मशून्यः यथा संसार्यात्मा, समस्तधर्माधर्मशून्यश्च मुक्तात्मा, तस्मात् सर्ववैषयिकमुत्पदुःख-  
दुःखशून्यः' इत्यनुमानात्, "न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा सन्त  
प्रियाप्रिये न स्पृशतः" [ छान्दो० ८।१२।१ ] इत्यागमाच्चासौ तदौ तर्ह्यन्यः सिद्ध इति ॥छ॥

अत्र प्रतिपिधीयते । यत्तावदुक्तम्—'सन्तानत्वात्' इत्यादि, तदसमीचीनम्; 15

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं यस्माद् आत्मनः सर्वथा भिन्नानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानां सन्तानस्य  
मादस्य ज्ञानाद्यात्म- उच्छेदः प्रसाध्यते, अथ अभिन्नानाम्, कथञ्चिदभिन्नानां वा ? तत्रा-  
कृत्वप्रसाधनम्— यपक्षे आश्रयासिद्धो हेतुः; आत्मनोऽत्यन्तभिन्नानां तद्विशेषगुणानां

(१) "पूर्वकर्माण्युपभोगादेव क्षीयन्ते, कर्मत्वात्, यद्यत्कर्म तत्तदुपभोगादेव क्षीयते यथाऽऽरब्ध-  
शरीरं कर्म, तथा चामूनि कर्माणि, तस्मादुपभोगादेव क्षीयन्ते ।"—प्रश्न० व्यो० पृ० २० ख० । (२)  
"समाधिवलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानो हि कर्मणाञ्च साध्यमर्थं विदित्वा युगपच्छरीराणि निर्मायिोपभोग" —  
प्रश्न० व्यो० पृ० २० ख० । (३) "जानन्नपि हि तदधितया प्रवर्तत एव वैद्योपदेशादातुरवदौषधाचरण" —  
प्रश्न० व्यो० पृ० २० ख० । (४) "तस्य च न ह वै सशरीरस्य सन्त प्रियाप्रिययो बाह्यविषयसमो-  
गवियोगनिमित्तयो बाह्यविषयसयोगवियोगो ममेति मय्यमानस्य अपहृतिविनाश उच्छेद सन्तितिरूपयो-  
र्नास्तीति । त पुनर्देहाभिमानादशरीरस्वरूपविज्ञानेन निवर्तिताऽविवेकज्ञानमशरीरं सन्त प्रियाप्रिये न  
स्पृशत । स्पृशति प्रत्येकं सम्बध्यत इति प्रियं न स्पृशति अप्रियं न स्पृशतीति वाच्यद्वयं भवति धर्मा-  
धर्मकार्ये हि ते, अशरीरता तु स्वरूपमिति तत्र धर्माधर्मयोरसम्भवात्तत्कार्यभावो दूरत एवेत्यतो न  
प्रियाप्रिये स्पृशत ।"—छान्दो० शां० भा० । उद्धृतोऽयम्—न्यायम० पृ० ५०९ । बृहम० शां० भा०  
१।१।४ । यश० उ० पृ० २५४ । स्या० र० पृ० १११० । पद्व० बृह० श्लो० ५२ । स्या० म० पृ०  
७२ । न्यायसारटी० पृ० २८३ । जितु० पृ० ३५३ । (५) अशरीरावस्थायाम् । (६) वैषयिकमुत्पदुःख-  
प्रयोजकधर्माधर्मशून्यः । (७) पृ० ८२४ प० १ । (८) तुलना—'यत् आत्मनः सर्वथा भिन्नानां  
बुद्ध्यादिगुणानां सन्तानस्योच्छेद साध्यते, अभिन्नानां वा, कथञ्चिद् भिन्नानां वा ?"—पद्व० बृह०  
श्लो० ५२ । प्रमेयक० पृ० ३१७ ।

प्रागेव असत्त्वप्रतिपादनतस्तत्सन्तानस्य धर्मिणोऽसिद्धे । तथा तेषां भवता अस्यसवि-  
दितत्वोपगमात्, ज्ञानान्तरवेद्यत्वे च अनवस्थादिदोषानुपपन्नात्, अज्ञातानाञ्च सत्त्वा-  
ऽसम्भवादितोऽप्याश्रयासिद्धत्वम् । आत्मन सर्वथाऽभिन्नानां तु तेषां तत्साधने  
तद्वत्तस्याप्यत्यन्तोच्छेदप्रसङ्गात् कस्यासौ मोक्ष स्यात् ? कथञ्चित्तदभेदस्तु परैर्नाभ्युप-  
गम्यते अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । तथापि तदभ्युपगमे सर्वथा तदुच्छेदासिद्धि कथ-  
ञ्चित्तदनुच्छेदस्याप्येव प्रसिद्धे ।

सन्तानत्वञ्च साधन सामान्यरूपम्, विशेषरूप वा ? यदि सामान्यरूपम्,  
तदा स्वरूपासिद्धो हेतु, व्यक्तिभ्यः सर्वथा भिन्नस्यास्य सामान्यपरीक्षायां प्रतिक्षिप्त-  
त्वात् । अस्तु वा तद्रूपं तत्, तथापि परसामान्यरूपम्, अपरसामान्यरूप वा स्यात् ?  
प्रथमपक्षे गगनादिनाऽनेकान्त, अत्यन्तोच्छेदाभावेऽपि अत्र सत्तापरपर्यायस्य सन्तान-  
त्वहेतोः सङ्गात् । अथ अपरसामान्यरूपम्, विशेषगुणाश्रिता हि जातिः सन्तान-  
त्वम्, तर्हि द्रव्यविशेषे प्रदीपे तस्यासम्भवात् साधनविकलो दृष्टान्तः ।

अथ विशेषरूपम्, तत्रापि उपादानोपादेयभूतबुद्ध्यादिक्षणलक्षणविशेषरूपम्,  
पूर्वापरसमानतातीयक्षणप्रधाहमात्ररूप वा ? प्रथमपक्षे सन्तानत्वस्य असाधारणाऽनेका-  
न्तिफत्वम्, तद्वृक्षस्यास्य अन्यत्र कचिदप्यप्रवृत्ते । अभ्युपगमविरोधश्च, बुद्ध्यादि-  
क्षणानाम् उपादानोपादेयभावस्य योगैरनभ्युपगमात्, अन्यथा तत्सन्तानस्य अत्यन्तो-  
च्छेदो न स्यात् मुक्तावस्थायामपि पूर्वपूर्वबुद्ध्याद्युपादानक्षणाद् उत्तरोत्तरोपादेयबुद्ध्या-  
दिक्षणोत्पत्तिप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षे तु पैक्यपरमाणुरूपादिना अनेकान्त, तथाविध-

(१) बुद्ध्यादिगुणानाम् । तुलना तेषां बुद्ध्यादीनां विषयगुणानां परेण स्वसविदितत्वेना-  
नभ्युपगमान् पानान्तराद्यत्वे वाऽनवस्थादिगोचरप्रसक्तेरवस्थाविरम्यतात्स्य सत्त्वासिद्धे पुनरप्याश्रया-  
मिदं सन्तानत्वान्ति हेतुः । समति० टी० पृ० १५६ । प्रमेयक० पृ० ३१७ । (२) वद्यपिषण ।  
(३) विषयगुणवन्मनापि । (४) कथञ्चित्तदभेदप्रकारेण । (५) सन्तानत्व हेतुत्वेनोपादीयमान-  
मपि सामां यमभिप्रैत तत्र बुद्ध्यादिविषयगुणेषु प्रदीप च तेजोद्रव्य सत्तासामान्यव्यतिरेकेण अपरसामा-  
न्यस्यासम्भवात् स्वरूपासिद्धे । सत्तासामान्यरूपत्वे वा सन्तानत्वस्य सत्सदिति प्रत्ययहनुत्वमेव न पुन-  
सन्तानप्रत्ययहनुत्वम् — समति० टी० पृ० १५६ । प्रमेयक० पृ० ३१७ । (६) पृ० २८७ । (७) तुलना-  
विषयगुणानाम् अविप्रभेदधनं प्रत्ययमानं त्रयं त्रयकारणभावप्रवचनं प्रवृत्तं अपरापरपर्यायत्वमिति  
मात्रं वा ? — रत्नाकराव० पृ० ७५७ । प्रमेयक० पृ० ३१७ । 'ननु किमिदं सन्तानत्वम्—स्वतन्त्रम्  
अपरापरपर्यायत्वमिति वा एकाग्रपापरापरोत्पत्तिवा ? — स्या० भं० पृ० ८३ । किं त्रयकारण-  
भावेन प्रवृत्तिः, एकपापरापरोत्पत्तिवा ? — वायसारटी० पृ० २८७ । (८) स्वयंप्रकाशविशेषाव-  
तिरगापारण । — नरक० भृ० । ननु तस्य तथाभूतस्यायत्राननुवृत्तरसापारणान्तरात्किं त्रयम्  
अभ्युपगमविरोधश्च । — समति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । (९) मयम् । (१०)  
तुलना- पापिपरमाणुरूपादिना अनेकान्त । — प्रग० पृ० ४ । अनन्तान्तिवद्व

१ अगुणानाञ्च व० । २ तत्तत्प्रत्ययं तथापि व० । ३ अत्र सत्ताभावेत्यत्र सत्तापर-वा० ।  
४-वद्वान्यत्र यः । ५-मयमविरो-यः । ६ उत्तरापादेय-यः ।

सन्तानत्वस्यात्र सद्भावेऽपि अत्यन्तोच्छेदासम्भवात् ।

विरुद्धश्चायं हेतुः, कार्यकारणक्षणप्रवाहलक्षणसन्तानत्वस्य नित्यानित्यैकान्तयोर-  
सम्भवात्, अर्थक्रियाकारित्वस्य अनेकान्त एव प्रतिपादितत्वात् । साध्यविकलश्च दृष्टान्त,  
प्रदीपादेरत्यन्तोच्छेदासम्भवात्, तस्य स्वरूपान्तरेण अवस्थानात् । न च ध्वस्तस्यापि  
प्रदीपादे रूपान्तरेणावस्थानोपगमे प्रत्यक्षवाधा, चारिस्थिते तेजसि भासुरूपोपगमेऽपि  
तत्प्रसङ्गात् । अथ उज्ज्वल्यस्य भासुररूपाधिकरणतेजोद्रव्याभावेऽसम्भवात् तत्र  
अनुद्भूतस्यास्य परिकल्पनम्, तर्हि प्रदीपादेरपि अनुपादानोत्पत्तेरिव अन्त्यावस्थातोऽ-  
परापरपरिणामाधारत्वमन्तरेण सच्यकृतकत्वादेरनुपपत्तेः, अत्यन्तसन्तत्यनुच्छेदोऽपि  
परिकल्प्यतामपिशेषात् । प्रयोगैः—पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिरितिलक्षणपरिणामवान्  
प्रदीपादिः सत्त्वादिभ्यः पेटादिभ्यः । संप्रतिपक्षश्चायं हेतुः, तथाहि—बुद्ध्यादिसन्तानो  
नात्यन्तोच्छेदवान्, अखिलप्रमाणानुपलभ्यमानतयोच्छेदत्वात्, य एवधि, स न तत्त्वे-  
नोपादेयः यथा पाकजपरमाणुरूपादिसन्तानः, तथा चायम्, तस्मान्नात्यन्तोच्छेदवानिति ।  
नच प्रस्तुतानुमानादेव सन्तानोच्छेदोपलब्धेः सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतयोच्छेदत्वमसि-  
द्धमित्यभिधातव्यम्, अस्य अनेकदोषदुष्टतयाऽननुमानत्प्रतिपादनात् ।

किञ्च, अतोऽनुमानात् इन्द्रियजाना बुद्ध्यादिविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदः साध्येत, 15  
अतीन्द्रियाणां वा ? तत्रायविकल्पे सिद्धसाधनम्, अस्माभिरपि तत्र तदुच्छेदाभ्युपगमात् ।  
द्वितीयविकल्पस्त्वनुपपन्नः, अतीन्द्रियाणां तेषामत्यन्तोच्छेदे मुक्तौ कस्यचिदपि प्रवृत्त्यनु-  
पाकजपरमाणुरूपादिभिः, न्यायविसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावे वि अत्यन्तोच्छेदाभावात् । —सम्मति०  
टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । रत्नाकराव० ७।५७ । स्या० सं० पृ० ८४ । नायसारटी०  
पृ० २८७ । चित्तु० पृ० ३५७ ।

(१) 'विरुद्धश्चायं हेतुः, शब्दबुद्धिप्रदीपादिषु अत्यन्तानुच्छेदवत्त्वेव सन्तानत्वस्य भावात् ।  
—सम्मति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । रत्नाकराव० ७।५७ । पद्म० बृह० श्लो० ५२ ।  
(२) पृ० ३७२ । (३) 'साधनविकलश्च दृष्टान्त, प्रदीपादेरत्यन्तोच्छेदासम्भवात्, तेजसपरमाणूना  
भास्वरूपपरित्यागेन अश्ववाररूपतयाऽवस्थानात् । —पद्म० बृह० श्लो० ५२ । न्यायसारटी० पृ०  
२८७ । रत्नाकराव० ७।५७ । (४) उज्ज्वलस्थिते तेजोद्रव्ये । (५) भासुररूपस्य । (६) तुटना— तर्हि  
प्रदीपादेरनुपादानोत्पत्तिवन्न सन्ततिविपत्त्यभावमन्तरेण विपत्तिः सम्भवतीत्यनुमानत विप्र कल्प्यते  
तत्सन्तत्यनुच्छेदः । —सम्मति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । (७) पूर्वापरस्वभावपरिहाराङ्गी

—सम्मति० टी० पृ० १५८ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । (९) किञ्चा द्वयजाना बुद्ध्यादिविशेषगुणानामुच्छेद  
साध्यमानोऽस्ति उत अतीन्द्रियाणाम् ? —पद्म० बृह० श्लो० ५२ । (१०) तेष्यदुष्टहेतुजाना बुद्ध्या-  
दीनामात्मान्त करणसयोगजाना च मुक्तौ निवृत्तिं नृणां न निवाचयन्ते, कर्मक्षयहेतुकधोस्तु प्रथममुचा-  
नन्तज्ञानयोर्निवृत्तिमाचक्षणास्ते न स्वस्या प्रमाणविरोधात् । ततः कथञ्चिद् बुद्ध्यादिविषयगुणानां  
निवृत्तिः कथञ्चिदनिवृत्तिमुक्ती व्यवतिष्ठते । —अष्टसह० पृ० ६८ । पद्म० बृह० श्लो० ५२ ।

१—पादे स्वरूपा—व०, प्र० । २—स्पर्शरेषान्या—व० । ३—पदादिभ्यः आ० ।

पपत्ते । मोक्षार्थी हि सर्वो निरतिशयसुखज्ञानादिप्राप्त्यभिलाषेणैव प्रवर्तते न पुन सकलबुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदाभिलाषेण, अस्य केनचिदप्यनभिलषणीयत्वात् । न हि कश्चित् प्रेक्षावान् आत्मन सदगुणोच्छेदाय यतते तदुत्कर्षणार्थमेवास्य प्रयत्नप्रतीते । यदि हि मोक्षावस्थाया शिलाशकलकल्प अपगतसुखसवेदनलेश पुरुष सम्पद्यते तदा कृत मोक्षेण । ससार एव चरमस्तु यत्र सा-तरापि सुखलेशप्रतिपत्तिरस्ति । तच्चिन्त्यतामिदम्- किम् अल्पसुखानुभयो भद्रक, किं वा सकलसुखोच्छेद इति ? अतो न वैशेषिकोपकल्पिते निखिलगुणोच्छेदलक्षणे पापाणकल्पे मोक्षे कस्यचिद् गन्तुमिच्छाप्युपपन्ना । उक्तञ्च-

“धैरं वृन्दावन रम्ये शृगालत्वं प्रपद्यते ।

न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति ॥” [ ] इति ।

विज्ञ, मुक्तौ बुद्ध्यादिविशेषगुणानामभाव कारणाभावात्, निष्प्रयोजनत्वात्, विरुद्धत्वाद्वा स्यात् ? तत्राद्यपक्षे कस्य कारणस्य तत्राऽभाव-चक्षुरादे, तत्प्रतिबन्धकापायस्य वा ? चक्षुरादेऽत्रेत्, तर्हि तज्जन्यस्यैव ज्ञानादे तत्राभाव स्यात् नान्यस्य, अतः सिद्धसाध्यता । ननु सर्वस्य ज्ञानादे धर्माधर्मशरीरेन्द्रियादिकारणकलापाधीनजन्मत्वात् तदभावे ज्ञानादेरेवाऽसम्भवात् कथं सिद्धसाध्यता ? इत्यप्यसाधीय, महेश्वरज्ञानाद्यभावानुपपन्नात् । नित्यत्वात् तज्ज्ञानादेरवोपोयम्, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, तन्नित्यत्वस्य ईश्वरनिराकरणप्रघट्टके<sup>३</sup> प्रतिव्यूढत्वात् । तत्र चक्षुराद्यपायेऽपि ईश्वरस्य प्रतिबन्धकापायप्रभव ज्ञानाद्यभ्युपगन्तव्यम्, तद्वद् अन्यमुक्तात्मनामपि तेषां तत्त्वभावत्वात् । नच स्वभावापाये तद्वतोऽवस्थान युक्तमतिप्रसङ्गात् । अथ मुक्तस्य कृतकृत्यतया ज्ञानादिना प्रयोजननाभावात् मुक्तौ तदभाव, तत्र, प्रतिबन्धकापायोपेतस्य आत्मस्वरूपस्यैव एवविधत्वेन निष्प्रयोजनवासिद्धे । अनन्तज्ञानादिलक्षणविशिष्टगुणावाप्तिरेव च आत्मन कृतकृत्यतान पुन निखिलगुणोच्छेद, गुणोत्कर्षे एव लोकेऽपि कृतकृत्यशब्दप्रयोगप्रतीते ।

एतेन विरुद्धत्वपक्षोऽपि प्रत्युक्त, स्वरूपेण कस्यचिद्विरोधाऽसम्भवात् । मुक्तौ तेषां विरोधाभ्युपगमे च महेश्वरज्येष्ठा विरोधतोऽभावानुपपन्नात् लाभमिच्छतो मूलोच्छेद स्यात् ।

विज्ञ, बुद्ध्यादिविशेषगुणानामात्यन्तिकोच्छेदस्य मोक्षरूपताया ससारस्वरूपवच्छब्दव्यम-तत्सल्लु तद्विशेषगुणानुच्छेद, भवान्तरावाप्तिर्वा स्यात् ? प्रथमपक्षे महेश्वरस्य ससारित्वप्रसङ्ग । ततोऽन्येषामेव तदनुच्छेद वैलक्षण्यम् अतो नास्त्य ससारित्वानुपपन्न, इत्यपि भद्रामात्रम्, अर्थनरतीयन्यायानुसरणप्रसङ्गात् । असाधारण हि स्वरूप भावस्य

(१) अरि वृन्दावने गूढ्ये गूणाश्रितं स इच्छति । न तु निर्विषयं मोक्षं कश्चिदपि गौतम ।

-सम्भषण० श्लो० ४२३ । विवरणप्र० प० १३७ । वरं वृन्दावनं वामं गूणालम्बं सहोपयुक्तम् -वद० बह० श्लो० ५२ । वरं वृन्दावनं रम्ये श्रेष्ठत्वमभिव्यञ्जितम् -स्था० म० पृ० ८६ ।

(२) मुक्तोः (३) पृ० १०८ । (४) अनन्तज्ञानादिविशिष्टत्वेन । (५) पानानेनाम् । (६) महेश्वरा निरतिशयानाम् । (७) मगारल १८म् । (८) महेश्वरस्य । (९) दृष्टव्यम्-पृ० १६८ टि० ११ ।

१ कनकचरित्र-श्लो० । २ इत्यप्यत्रमा-व० । ३ च नास्ति यः । ४ अतोऽस्य वा० ।

लक्षणम् । तद्यदि तदनुच्छेदः संसारलक्षणम्, तर्हि यत्रासौ अस्ति तत्र सर्वत्र संसारित्वप्रसङ्गः मुक्तस्वरूपेणास्य विरोधान् । द्वितीयपक्षे तु अस्मन्मतसिद्धिः, 'सोपात्तकर्म-वशाद् भवाद् भवान्तरावाप्तिः संसारः' इत्यस्माभिरभ्युपगमात् ।

किञ्च, अत्यन्तं बुद्ध्यादिगुणोच्छेदस्य मोक्षत्वे प्रदीपनिर्वाणवादिर्नः भवैतः को विशेषः स्यात् ? तत्र हि स्वरूपेण आत्मनोऽसत्त्वम्, भवन्मते तु सतोऽप्यस्य सर्वथा तद्विकलस्य ग्राहकप्रमाणाभार्यात् । तथैवभूतं हि तत्स्वरूपं प्रत्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रतीयेत ? न तावत् प्रत्यक्षतः; मोक्षावस्थायां तस्यैवाऽसंभवात् । नाप्यनुमानतः; प्रत्यक्षाभावे भवन्मते अनुमानानुदयान्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन तस्याभ्युपगमात् ।

यदपि—तत्त्वज्ञानस्य विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदकमेण निःश्रेयसहेतुत्वमुक्तम्; तदुपपन्नम्; ऽसकलबुद्ध्यादिसन्तानोच्छेदहेतुत्वं तु तस्यैवोपपन्नम्; ऽस्यविरुद्धमिध्याज्ञानसन्तानोच्छेदहेतुत्वस्यैव तत्रोपपत्तेः शुक्तिकादौ तथादर्शनात् । ननु मिध्याज्ञाननिवृत्तौ रागाद्यनुत्पत्तेः तत्पूर्वकधर्माप्रादुर्भावतः शरीराद्यसंभवे सिद्ध एव मोक्षदशायां सकलबुद्ध्यादिसन्तानोच्छेदः; इत्यप्यपेशलम्, शरीरादेरभावेऽपि अनन्तातीन्द्रियाऽऽखिलपदार्थविषयसम्यग्ज्ञानसुखादिसन्तानस्य उच्छेदासिद्धेः, इन्द्रियजज्ञानादिसन्तानस्यैव तदैवभावेऽभावप्रसिद्धेः, तत्र च सिद्धसाधनम् इत्युक्तम् । अतीन्द्रियज्ञानादिसद्भावश्च सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रसाधितैः ।

यत्तुक्तम्—'आरब्ध' इत्यादि; तदपि न सूक्तम्, उपभोगात् कर्मेणामात्यन्तिकप्रक्षयानुपपत्तेः । तदुपभोगसमये हि अपरकर्मोत्पत्तिकारणस्य अभिलाषपूर्वकमनोवाकायव्यापारादेः संभवात् अविकलकारणस्य प्रचुरतरकर्मणो भवतः कथमात्यन्तिकप्रक्षयः ?

यदपि 'समाधिवलात्' इत्याद्युक्तम्, तदप्युक्तम्; अभिलाषरूपरागाद्यभावे साति-

(१) ज्ञानाद्यनुच्छेदः । (२) ज्ञानाद्यनुच्छेदस्य । (३) "कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः"—सर्वार्थसि० १।७ । "आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः ।"—राजवा० २।१० । "यववष्टम्भेनात्मनः संसरणमितश्चेतश्च गमनं भवति स संसारः, अथवा बलवदो मोहस्याख्या संसारः, नारकाद्यवस्था वा संसारः ।"—तत्त्वार्थभा० व्या० २।१० । (४) बोद्धात् । "यस्मिन् जातिर्न जरा न मृत्युर्न व्याधयो नाग्निप्रयसप्रयोगः । नेच्छाविषयप्रियविषयौ क्षेमं यव नैष्ठिकमभ्युतं तत् । वीषो यथा निर्द्वितमभ्युपेत नैवावर्ति गच्छति नान्तरिक्षम् । दिश न काञ्चिद्विदिश न काञ्चित्स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ एव कृती निर्द्वितमभ्युपेतो नैवावर्ति गच्छति नान्तरिक्षम् । दिश न काञ्चिद्विदिश न काञ्चित्स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥"—सौन्दरनन्द० १६।२७-२९ । (५) वैशेषिकस्य । (६) बौद्धमते । (७) वैशेषिकसिद्धान्ते । (८) 'असत्त्वम्' इति शेषः । (९) सकलबुद्ध्यादिगुणान्यम् । (१०) प्रत्यक्षत्वं । (११) 'तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्'—न्यायसू० १।१।५ । (१२) पृ० ८२४ पं० ७ । (१३) तत्त्वज्ञानस्य । (१४) शरीराभावे । (१५) पृ० ८९-१ । (१६) पृ० ८२४ पं० ११ । (१७) "उपभोगात् कर्मणः प्रसवे तदुपभोगसमये"—प्रमेयक० पृ० ३१९ । सम्मति० टी० पृ० १५९ । (१८) समुद्भवतः । (१९) पृ० ८२५ पं० २ । (२०) "अभिलाषरूपरागाद्यभावे

१ तत्र संसार-व० । २ अत्यन्तबुद्ध्या-य० । ३ भवता को आ० । ४ एतदन्तर्गतं पाठो नास्ति आ०, व० । ५ अनुपपत्तेः आ० । ६ उच्छेदसिद्धेः आ० । ७ तदैवभावाभावप्र-व० । ८ समयो हि य० ।

शयद्विमतो भवदभिप्रायेण योगिनोऽपि तत्त्वज्ञानादवगतकर्मसामर्थ्यस्य नानाशरीराणि विधाय अङ्गनाद्युपभोगाऽसम्भवात् । तत्सम्भवे वा अवश्यम्भावी नृपत्यादेरिव अतिभोगिनो योगिनोऽपि प्रचुरतरकर्मसम्भवः ।

यदपि—‘वैद्योपदेशेन’ इत्याद्यभिहितम्, तदप्यभिधानमात्रम्, आतुरस्यापि नीरुग्भावमभिलाषेणैव ओषध्याद्याचरणे प्रवृत्त्युपपत्तेः, अतः कथं तद्दृष्टान्तात् निरभिलापस्यापि तत्त्वज्ञानिनः तत्त्वज्ञानमात्रात् कर्मक्षयार्थितया अङ्गनाद्युपभोगः साधयितुं शक्यः, दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात् ? तत्र अश्लेषशरीरद्वाराऽवाप्ताश्लेषभोगस्य कर्मान्तरानुत्पत्तिः । किं तर्हि ? परिपूर्णसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्य इत्यलं विवादेन, जीवन्मुक्तेरिव परममुक्तेरपि त्रितयात्मकादेव वारणादुत्पत्तेः । ससारकारणं हि मिथ्यादर्शनादित्रयात्मकम् अतः तन्निवर्त्तकेनापि ‘त्रितयात्मकेनैव भवितव्यम्, एकरूपेण सम्यग्ज्ञानादिमात्रेण अस्य निवर्त्तयितुमशक्तेः । सम्यग्ज्ञानं हि विपरीताभिनिवेशविविक्ताऽऽत्मस्वरूपस्वभावसम्यग्दर्शनोपचितं बाह्याभ्यन्तरक्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपबृंहितं त्रितयात्मकमेव आगामिकर्मानुत्पत्तौ सञ्चितकर्मक्षये च समर्थम्, उष्णस्पर्शस्य भाषि-शीतस्पर्शानुत्पत्तौ प्रवृत्ततत्स्पर्शप्रध्वसे च सामर्थ्यवत् ।

यदपि—‘विवादापन्नं शरीरादिनिवृत्तावात्मा’ इत्याद्यनुमानम् ‘न ह वै’ इत्याद्यागमश्च आत्मनः सर्ववैषयिकसुखादिशून्यतायाः प्रमाणम्’ इत्युक्तम्, तदप्युक्तमेव, सिद्धसाधनानां, शरीरादिनिवृत्तौ हि संमस्तधर्मादिनिवृत्तेः तत्प्रभवमेव सुखादि मुक्तात्मनो नियतैतं न स्वात्मोत्थम् । यद्वि यत्कार्यं तत् तदभावे न भवति नान्यदतिप्रसङ्गात् । धर्माणभावे कुतस्तस्तेदुत्पत्तिः इति चेत् ? ‘प्रैतिवन्धापायात्’ इत्यसकृदावेदितम् । अतः परमकाष्ठाप्राप्तं सम्यग्दर्शनादित्रय परमप्रकर्षप्राप्तज्ञानादित्यरूपं मोक्षप्रसाधयतीति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यमिति ॥ छ ॥

स्याद्युपभोगासम्भवात् । १-सन्मति० टी० पृ० १५९ । प्रमेयक० पृ० १३९ ।

(१) स्यादिभोगं क्रियमाणं तु । (२) पृ० ८२५ पं० ८ । (३) ‘वैद्योपदेशप्रवृत्तमानादुरदृष्टान्तोभ्यसृगः’ -सन्मति० पृ० १६० । प्रमेयक० पृ० ३१९ । (४) योगिनः । (५) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मासमात्राः । -तत्त्ववाच्यपृ० १ । १ । ‘नार्दसंघिस्तं नाप्यं नागणं विद्यां न हन्ति परमगुणाः । अर्गुणस्तं न तस्य मोक्षो न तस्य अमोक्षस्तं निम्बान् ।’ -उत्तरा० २८।३० । (६) संसारस्य । (७) पृ० ८२५ पं० १०, २३ । (८) तुलना- ‘समागुमादुष्टपरिपात्रप्रभवेन भवसंभविनी हि त्रिधात्रिं परस्परानुपबन्धव्यवस्थायै व्यवस्थिता, सकलादुष्टप्रायकारणकं पुनरेकान्तिवात्मान्तिकरूपं कवनमयं त्रिं नि यवसदनायामिष्यत तत्तुत प्रतिपिष्यत ?’ -रत्नाकराव० ७।५७ । स्या० मं० पृ० ८५ । पृ० ६६० । इत्ये० ५२ । (९) स्वार्थोत्पत्तिसाधिममुत्पत्तिः ।

१ भोवपादा-३०, ४० । २-नृपति-आ०, ३० । ३-द्वयनचारित्र-४० । ४ कारणादुत्पत्ति-३०, कारणादुत्पत्ते आ० । ५ त्रयात्मकत्व-३० । ६-रूपत्वभावसमा-आ० । ७ समस्तकर्मादि-३० । ८ प्रतिबन्धकात्-४० । ९ परमप्रकर्ष-आ० । १०-सम्यग् आ० ।



ननु परमप्रकर्षप्राप्तसुखस्वभावतैव आत्मनो मोक्षः न तु ज्ञानादिस्वभावता, आनन्दरूपो मोक्षः तत्र प्रमाणाभावात् । सुखस्वभावतायां तु तत्सद्भावादसौ युक्ता । इति वेदान्तिना तथाहि—आत्मा सुखस्वभावः, अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वात्, अतन्य-पूर्वपक्ष-परतयोपादीयमानत्वाच्च, यद् यदेवंविधं तत्तत्सुखस्वभावम् यथा वैषयिकं सुखम्, तथा चात्मा, तस्मात्सुखस्वभाव इति । तथा, आत्मा सुखस्वभावः, वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेयोबुद्धिविषयत्वात्, निरुपचरितप्रेयःशब्दवाच्यत्वाद्वा, रागिणां वैषयिकसुखवदिति । इष्टार्थो मुमुक्षुर्प्रयत्नः, प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्, कृष्यादिप्रयत्नवत् इति । परमातिशयप्राप्तता च तत्सुखस्य अतोऽनुमानात्प्रसिद्धा—सुखतारतम्यं कचिद् विश्राम्यति, तारतम्यशब्दवाच्यत्वात्, परिमाणतारतम्यवदिति । तथा आगमोऽपि आत्मनो मोक्षे तैत्त्यभावतायां प्रमाणम्—

“आनन्द ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते ।” [ ]

“यदा दृष्ट्वा परं ब्रह्म सर्वं त्यजति बन्धनम् ।

तदा तच्चित्तमानन्दं भुङ्क्ते स्वात्मनि विन्दति ॥” [ ] इति

श्रुतिसद्भावात् ।

ननु नित्यानन्दस्य आत्मनि सर्वदा सद्भावाभ्युपगमे संसारदशायामप्युपलम्भप्रस-

- (१) “एव एव ह्यानन्दयति” “आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् विभेति कदाचन”—तैत्ति० २।७।४, ९ । “आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्”—तैत्ति० ३।७ । “विज्ञानमानन्द ब्रह्म”—बृहदार० ३।१।२८ । “आनन्दमयोऽभ्यासात्”—बृहत्सू० १।१।१२ । “तस्मादानन्दमयं पर एवात्मा”—आ० भा० । “ब्रह्मण्यनन्दशब्दोऽयं प्रयुक्तः सुखवाचकः । सर्वे च सुखे लोके आनन्दास्या प्रयुज्यते ॥”—बृहदार० वा० ३।१।१६६ । शिव० प्र० पु० २१६ । “इत्यनवच्छिन्नानन्दप्राप्तिरेव स्वतः पुरुषार्थ इत्याहुः ।”—सिद्धान्तसं० पु० ५०९ । (२) “तदेतत्प्रेमं पुत्राप्रेमं अन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरत्तरं यदयमात्मा आत्मानमव प्रियमुपासीत ॥”—बृहदार० १।४।८ । “आत्मनः सुखरूपत्वात् आनन्दत्वं स्वलक्षणम् । परप्रेमास्पदत्वेन सुखरूपत्वमात्मनः ॥ सुखहेतुषु सर्वेषां प्रीतिः सावधिरीक्ष्यते । कदापि नावधि प्रीतिः स्वात्मनि प्राणिना क्वचित् ॥ आत्मास्तं परमप्रेमास्पदं सर्वतरीरिणाम् । यस्य शेषतया सर्वमुपादेयत्वमुच्छति । एष एव प्रियतमं पुत्रादपि धनादपि । अन्वस्मादपि सर्वस्मावात्माय परमात्तरः ॥”—सर्वबेदान्तसि० श्लो० ६०३-२७ । “आत्मा सुखाभिन्नः सुखलक्षणवत्त्वाद् वैषयिकसुखवत् आत्मा सुखम् अनोपाधिकप्रमगोचरत्वात्”—संक्षेपशा० टी० पु० ३०-३१ । “परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यात्मनः सुखरूपत्वे प्रमाणम् ।”—चित्सु० पु० ३५८ । सिद्धान्तसं० पु० ४४५ । (३) वित्तस्त्रीपुत्रादयो हि आत्मायमुपादीयन्ते, परञ्चात्मन उपादानं तु नान्यार्थम्, स्वयमात्मा आत्मायमेवोपादीयते इत्यर्थः । (४) “प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च यच्च यावच्च चेष्टितम् । आत्मार्थमेव नान्यार्थं नातः प्रियतमं परं ।”—सर्वबेदान्तसि० श्लो० ६३० । (५) सुखस्वभावतायाम् । (६) “मोक्षेऽभिपद्यते”—अज्ञ० श्लो० पु० २० ख० । “आनन्द ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम् ।”—वेदान्तसि० पु० १५१ । तुलना—“नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षऽभिव्यज्यते ।”—न्यायभा० १।१।२२ । न्यायमर्म० पु० ५०९ । प्रकृतपाठ—सन्मति० टी० पु० १५१ । पदद्व० बृह० श्लो० ५२ । (७) उद्धृतोऽयम्—पदद्व० बृह० श्लो० ५२ ।

ज्ञात् मुक्तेतरावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः इति च न वाच्यम्; नित्यानन्दस्य नित्यात्मनि सैदा  
सद्भावेपि संसारदशायामावृतत्वेन अनभिव्यक्तितोऽनुपलम्भसंभवाऽविरोधात्, योगा-  
भ्यासादावरणप्रक्षये मोक्षावस्थाया तदभिव्यक्तेरुपलम्भः इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘आत्मा सुखस्वभावः’ इत्यादि; तत्र किमिदं

- 5 मोक्षावस्थाया कथ- सुखस्वभावत्वं नाम—सुखत्वजातिसम्बन्धित्वम्, सुखाधिकरणत्वं वा ?  
शिक्षित्यज्ञानादि- न तावत् सुखत्वजातिसम्बन्धित्वम्; गुणे एव अर्थे सद्भावात् ॥ नहि  
प्रसाधनम्— एका काचिज्जातिः द्रव्यगुणयोः आत्मसुखयोः साधारणा उपलभ्यते ॥  
नापि सुखाधिकरणत्वम्; नित्याऽनित्यविकल्पाऽनतिक्रमात्—यस्य हि सुखस्य अधिकर-  
णमात्मा तत्सुखं किं नित्यम्, अनित्यं वा ? न तावदनित्यम्; आत्मनोऽपि तैत्स्वभा-  
वतयाऽनित्यत्वप्रसङ्गात् । न यत्तु स्वभावाभावे तद्वतोऽवस्थानं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् ।  
10 अथ नित्यम्; किं कथञ्चित्, सर्वथा वा ? यदि कथञ्चित्; जैनमतसिद्धिः, द्रव्यतो  
नित्यस्य पर्यायतश्च अनित्यस्य कथञ्चिदाविर्भावतिरोभाववतः सुखपर्यायस्य आत्मनि  
ज्ञानादिपर्यायवत् स्याद्वादिभिरभ्युपगमात् ।

ननु मुक्तौ सुखादिपर्यायस्य अपरापरस्य आविर्भावाभ्युपगमे तत्कारणं वक्तव्यम्,

- 15 अकारणकस्य तत्पर्यायस्य आविर्भावानुपपत्तेः इति च न केतसि निषेयम्; आत्मन  
एव नत्प्रतिबन्धकापायोपेतस्य तैत्र तैत्कारणत्वेन प्राक् प्ररूपितत्वात् । सौख्यादिप्रतिब-  
न्धकमोहादिकर्मापायोपेतो हि आत्मैव मोक्षावस्थायां तथाभूतसुखज्ञानादिकारणम् घटा-  
द्यावरणापायोपेतप्रदीपक्षणवत् स्वपरप्रकाशकाऽपरप्रदीपक्षणोत्पत्तौ । किमपेक्षोऽसौ  
तदा तैज्जनयतीति चेत् ? ‘तत्प्रतिबन्धकापायापेक्ष एव’ इति ब्रूमः । तथाभूतस्यास्य  
20 तदुत्पादनस्वभावतया तदाऽन्यापेक्षाऽनुपपत्तेः, यद् यदा यदुत्पादनस्वभावं न तत्तदा  
तदुत्पादने अन्यापेक्षम् यथा अन्त्यानस्थायाम् अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने,  
तदुत्पादनस्वभावश्च मोक्षानस्थायाम् अतीन्द्रियमुखाद्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकापायोपेत आत्मा

(१) ‘तस्मादनतिशयानन्दस्वभावस्यात्मनोऽप्रविद्यातिरोधानमेव वक्ष्य, विद्यानिमित्तस्तदस्तमयो  
मोक्ष इति सिद्धम् ।’—चित्सु० पृ० ३६१ । ‘प्रत्यमेव परानन्दस्तिरोभूतः स्वमोहतः । स्वकण्ठचा-  
मीकरयत् प्राप्तप्राप्य स्वविचया ॥’—वे० सि० सु० ४ । १० । ‘यद्यपि संसारदशायामविद्यावृतस्व-  
रूपत्वादात्मा परमानन्दरूपतया न प्रपत तथापि तत्त्वविचयाऽप्रविद्यानिवृत्तौ स्वप्रकाशतया स्वयमेव  
परमानन्दस्वरूपतया प्रकाशते’—सिद्धान्तवि० पृ० ४५० । (२) पृ० ८३१ पं० ५ । (३) ‘तत्र यदि  
सुखस्वभावत्व मुक्तत्वज्ञानिसम्बन्धित्वम्, तत्र आत्मनि सम्भाव्यते गुणे एवास्थोपलम्भात् । न ह्येका-  
द्वद्गुणदिवदपरा जातिः द्रव्यगुणयोः साधारणोपलब्धति । अथ मुखाधिकरणत्वम्; तन्नास्ति; नित्या-  
नित्यविकल्पानुपपत्तेः ।’—प्रज्ञा० व्यो० पृ० २० पं० । (४) मुक्तत्वजातिसम्बन्धित्वस्य । (५) अनि-  
त्यमुक्तस्वभावतया । (६) मोक्षे । (७) मुखादिपर्यायाविर्भावकारणत्वन । (८) मोक्षावस्थायाम् ।  
(९) मुक्तम् । (१०) आत्मनः ।

१ तदास्यभावेऽपि आ० । इत्येतदन्तर्गतं पाठो नास्ति आ०, ध० । २ स्याद्वा । विभि० व० ।

३ तथान्या—य० । ४—तत्तदा तदुत्पादनेऽन्यापेक्षम् आ० ।

इति । हृदयते हि—संसारावस्थायामपि वासीचन्दनकल्पानां सर्वत्र समवृत्तीनां विशिष्ट-  
ध्यानादिव्यवस्थितानां सेन्द्रियशरीरादिव्यापाराजन्यः परमाह्लादरूपोऽनुभवः । स एव  
उत्तरोत्तरभावनाविशेषवशादुत्तरोत्तररामवस्थामासादयन् परमकाष्ठं प्रतिपद्यते इति सर्वं  
सुस्थम् । ततः तद्वशाद्यामपि तत्पर्यायस्य कथञ्चिदाविर्भावनिमित्तसद्भावात् कथञ्चिदेवा-  
नित्यः सुरादिपर्यायोऽभ्युपगन्तव्यः ।

सर्वथा तन्नित्यत्वग्राहिणः कस्यचिदपि प्रमाणस्याऽसंभवाच्च । तस्य हि ग्राहक  
प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमो वा स्यात् ? प्रत्यक्षञ्चेत्, किमैन्द्रियम्, मानसम्,  
स्वसंवेदनं वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; इन्द्रियाणां प्रतिनित्यत्वरूपादिगोचरचारितया  
तत्प्रभवप्रत्यक्षस्य ततोऽन्यत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; बाह्येन्द्रिय-  
निरपेक्षस्य मनसः कचिदपि प्रवृत्त्यसंभवात् । “अस्त-त्र बहिर्मनः” [ 10 ]  
इत्यभिधानात् । बहिरेव अस्य तैन्निरपेक्षस्याप्रवृत्तिः नान्तः इति चेत्, न, तत्रापि  
सम्यग्द्वय असम्यग्द्वय वा तस्य स्वसंवेदनसिद्धौ तत्र ज्ञानजनकत्वप्रतिपेधात् । तृतीय-  
विकल्पोऽप्यसुन्दरः, तथा प्रतीत्यभावात् । नहि स्वसंवेदनप्रत्यक्षे अनवच्छिन्नदेशकाल-  
कलाकलापः त्रिकालानुयायी नित्यनिरगः सुखस्वभावाऽनुभूयते प्रतीतिविरोधात् । तत्र  
प्रत्यक्षं सर्वथा नित्यसुरग्राहकम् । नाप्यनुमानम्, सर्वथा तन्नित्यत्वादिनाभाविनः कस्य-  
चिल्लिङ्गस्याऽसंभवात् । नाप्यागमः; सर्वथा सुखनित्यत्वप्रतिपादकस्य तस्याप्यप्रतीतेः ।

अस्तु वा कुतश्चित्तन्नित्यत्वप्रतीतिः : तथापि येतस्तत्प्रतीतिः तत् नित्यम्, अनित्यं  
वा ? न तावदनित्यम्, तैवाविधात्तनो नित्यं तत्प्रतीतिविरोधात् । कुतश्चास्य उत्पत्तिः

(१) तुलना—उपलभ्यते च वासीचन्दनकल्पस्य मुमुक्षो सर्वत्र समवृत्तेर्विशिष्टध्यानादिव्यव-  
स्थितस्य सेन्द्रियशरीरादिव्यापाराजन्य परमाह्लादरूपोऽनुभव, तस्यैव भावनावशादुत्तरोत्तररामवस्थामा-  
सादयतः परमकाष्ठानतिरापि सम्भाव्यते —“सन्मति० टी० पृ० १६१ । (२) तुलना—“आत्मनो नित्यमु-  
पसत्ताया प्रमाणाभावात् । प्रत्यक्षं तावदस्मद्वशादीनामन्येषां वा केपाञ्चिदस्मिन्नर्थे न प्रभवतीति केय  
कथा । अनुमानमपि न सम्भवति, लिङ्गलेशानवलोकनादिति ।”—यावत् ० पृ० ५०९ । ‘तस्य ग्राहक  
प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा स्यात् ?’—स्या० १० पृ० १११५ । (३) द्रष्टव्यम्—पृ० ४३२ डि० १ । (४)  
मनसः । (५) बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य । (६) अन्तः सुखादावपि । (७) मनसः । (८) पृ० १८५ ।  
(९) यस्मात्संवेदनात् तन्नित्यमुपानुभव तत्संवेदनम् । तुलना—“तदनन्तं सुखं मुक्तो पुनः संवेद्यस्वभा-  
वमसंवेद्यस्वभाव वा ? संवेद्यञ्चेत्, तत्संवेदनस्य अनन्तस्य सिद्धिः, अन्यथा अनन्तस्य सुखस्य स्वयं  
संवेद्यत्वविरोधात् । यदि पुनरसंवेद्यमेव तत्, तदा कथं मुचं नाम ? मातसंवेदनस्य सुखत्वप्रतीते ।”  
—अष्टसह० पृ० ६९ । “स विमानन्दो मुक्तावनुभूयते न वा ? यदि नानुभूयते, स्थितोऽप्यस्थिताप्र  
विशिष्यते जनुपभोग्यत्वात् । अनुभूयते चेत्, अनुभवस्य कारणं बाह्यम्”—प्रज्ञा० कण्व० पृ० २८६ ।  
‘नित्यं मुक्तमभिव्यज्यते इति कोऽभिप्रेक्ष्यते ? ज्ञानमिति चत्, नित्यमनित्यं वेति कल्पनानुपपत्तिः ।’  
—न्यायवा० पृ० ८५ । “अस्तु वा यत्किञ्चित्तद्ग्राहकं तथापि तन्नित्यमनित्यं वा ?”—स्या० १० पृ०  
१११६ । (१०) अनित्यसंवेदनात् ।

१-ध्यापारजन्यं व० । २-उत्तरभावना-व० । ३-वशात्तदुत्तरोत्तर-व० । ४-ततस्तच्छब्दशया  
-आ० । ५-कालकलाप-व० । ६-नित्यत्वप्रतीति-व० ।

स्यात्, अनित्यस्य अनुत्पत्तिधर्मकत्वानुपपत्तेः ? इन्द्रियादिभ्यश्च तदुत्पत्त्यभ्युपगमे सुखविषयत्वं न प्राप्नोति इत्युक्तमनन्तरमेव । अथ योगजधर्मपक्ष आत्ममनःसंयोग एव तज्जनकः, ननु योगजधर्मस्य मुक्तावसंभवात् कथमसौ तत्संयोगेन अपेक्षेत यतस्तत्रैतत्तदुत्पत्तिः स्यात् ? अर्थं औघं योगजधर्मपक्षः तत्संयोगः ज्ञानं जनयति, तच्चापेक्ष्य उत्तरोत्तरं ज्ञानमसौ जनयति इति; तदप्यसाम्प्रतम्; अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । नहि शरीरसम्बन्धानपेक्षं ज्ञानं तत्संयोगस्य ज्ञानोत्पत्तौ सहकारिकारणमिति भवतां राद्धान्तः, तदपेक्षस्यैव तस्य तदुत्पत्तौ कृतान्ते तत्सहकारिकरणस्योपवर्णनात् ।

अथ नित्यम्; तदा मुक्तेतरावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः, सुखतत्संवेदनयोः नित्यत्वेन उभयत्र सद्भावाऽविशेषात् । इन्द्रियजसुखेन चार्थं संसारावस्थायां साहचर्यानुभवप्रसङ्गात् सुखद्वयोपलम्भः स्यात् । प्रतिबद्धत्याक्तर्था तस्याऽनुपलम्भ इति चेत्; केनार्थं प्रतिबद्धत्वम्—शरीरेण, अविद्याया, वैषयिकसुखाद्यनुभवेन, बाह्यविषयव्यासङ्गेन वा ? न तावत् शरीरेण, अस्य सुखसाधकत्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वायोगात् । नहि यद् यदर्थं

(१) “अनित्यत्वे हेतुवचनम्”—न्यायभा० १।१।२२। (२) संवेदनोत्पत्तिस्वीकरणे । (३) तुलना—“आत्ममनःसंयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वम् । धर्मस्य कारणवचनम्—यदि धर्मो निमित्तान्तरम्, तस्य हेतुर्वाच्यो यत उत्पद्यते इति ? योगममाधिजस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदननिवृत्ति—यदि योगसमाधिजो धर्मो हेतुः, तस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदनमत्यन्तं निवर्ततेति ।”—न्यायभा० १।१।२२ । न्यायभा० पृ० ८५ । न्यायभा० ता० पृ० २४० । (४) आत्ममनःसंयोगेन । (५) मुक्तौ । (६) योगजधर्मपक्षादात्ममनःसंयोगात् । (७) ज्ञानोत्पत्तिः । (८) तुलना—“अथाद्यसंयोगजधर्मादुपजात विज्ञानमपेक्ष्य उत्तरं विज्ञानं तस्माच्चोत्तरमिति सन्तानम्, तत्र; प्रमाणाभावात् । तथा च शरीरसम्बन्धानपेक्षं विज्ञानमेव आत्मान्तं करणसंयोगस्य अपेक्षाकारणमिति न वृष्टम् ।”—प्रज्ञ० व्यो० पृ० २० ग० । “अथ आद्यं ज्ञानं योगजधर्मपक्षस्तत्संयोगो जनयति”—स्या० १० पृ० १११६ । (९) ज्ञानम् कर्मभूतम् । (१०) आत्ममनःसंयोगः । (११) आद्यज्ञानम् । (१२) आत्ममनःसंयोगः । (१३) आत्ममनःसंयोगस्य । (१४) शरीरसम्बन्धानपेक्षस्यैव । (१५) आत्ममनःसंयोगस्य । (१६) तुलना—“मुखवन्नित्यमिति चेत्, मसारावस्थस्य मुक्तेनाविशेषः, अभ्यनुज्ञाने च धर्माधर्मफलं साहचर्यं योगपक्षं गृह्यते—यदिदमुत्पत्तिस्थानेषु धर्माधर्मफलं सुखं दुःखं वा संवेद्यते पर्यायेण, तस्य च नित्यसंवेदनस्य च सहभावः योगपक्षं गृह्यते । न मुक्ताभावः नानभिग्न्यक्तिरस्ति, उभयस्य नित्यत्वात् ।”—न्यायभा०, भा० १।१।२२। “ततश्च धर्माधर्मफलम्या सुखदुःखम्यामस्य नित्यस्य सुखस्य साहचर्यमनुभूयते ।”—न्यायभा० पृ० ५१० । स्या० १० पृ० १११६ । (१७) नित्यमुखस्य । (१८) संसारावस्थायाम् । (१९) “केनास्य प्रतिबद्धत्वम्—शरीरेण, अविद्याया, वैषयिकसुखाद्यनुभवेन, बाह्यविषयव्यासङ्गेन वा ?”—स्या० १० पृ० १११६ । (२०) शरीरस्य । तुलना—“शरीरादिसम्बन्धं प्रतिबध्नेहेतुरिति चेत्, न, शरीरादीनामुपभोगार्थत्वात्, विषयस्य चाननुमानात् । स्थान्ततम्—संसारावस्थस्य शरीरादिसम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोः प्रतिबन्धकः तेनाविशेषो नास्तीति, एतच्चायुक्तम्; शरीरादय उपभोगार्था ते भोगप्रतिबन्धकं करिष्यन्तीत्यनुपपन्नम् । न चास्त्यनुमानम्—अशरीरस्य आत्मनो भोगः कश्चिदस्तीति ।”—न्यायभा० १।१।२२ । न्यायभा० पृ० ८६ । न्यायभा० ता० पृ० २४० । न्यायभा० पृ० ५१० ।

तत् तस्यैव प्रतिबन्धकम् अतिप्रसङ्गात् । प्रतिबन्धकं हि कार्यविघातकमुच्यते । न च शरीरं सुखस्य विघातकम् तस्मिन् सति तस्य आत्मलाभात् । यस्मिन् सति यस्यात्मलाभः न तत् तस्य प्रतिबन्धकम् यथा बीजमङ्कुरस्य, शरीरे सति आत्मलाभश्च सुखस्येति । तस्य तत्प्रतिबन्धकत्वे च तदपहन्तुर्हि साफलं न स्यात्, प्रतिबन्धविघातकस्य उपकारकत्वेन लोके प्रसिद्धेः । नापि अविद्यायाः तस्याः तुच्छरूपतया तत्प्रतिबन्धलक्षणाधिक्रियाकारित्वाऽसंभवात् । यत् तुच्छरूपं न तदर्थक्रियाकारि यथा मृगतृष्णिकाजलम्, तुच्छरूपा च अविद्या भवद्विरिष्टा इति । प्रतिपिद्वञ्च अविद्यायाः प्रतिबन्धकत्वं ब्रह्माद्वैतप्रचट्टके<sup>१</sup> प्रपञ्चेन इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन । नापि वैपयिकसुखाद्यनुभवेन; तेन हि नित्यसुखस्य तदनुभवस्य वा प्रतिबन्धः अनुत्पत्तिलक्षणो विनाशलक्षणो वा न युक्तः; द्वेयोरपि नित्यत्वाभ्युपगमात् । नापि बाह्यविषयव्यासङ्गेन, तेन हि प्रमातुः, इन्द्रियादेर्वा सम्बन्धिना तत्प्रतिबन्धः क्रियते ? पक्षद्वयमप्येतदयुक्तम्, आत्मनो हि प्रमातुर्व्यासङ्गः रूपादौ विषये ज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्तिः, इन्द्रियस्यापि एकस्मिन् विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे ज्ञानाऽजनकत्वम् । स चात्र असम्भाव्यः; सुखयत् तज्ज्ञानस्यापि सदा सत्त्वात् ।

किञ्च, यथौ मुख्यवस्थायाम् अनित्यं सुखं ज्ञानञ्चाऽतिक्रम्य नित्यं तत्परिकल्प्यते तथा नित्यत्वधर्माधिकरणं देहेन्द्रियादिकमपि परिकल्प्यतामविशेषात् । अथ धर्मादेः कार्यो देहः कथं तदभावे तत्र भवेत् प्रतीतिविरोधात् ? तदन्यत्रापि समानम् । अथ ससार(रि)सुखधिलक्षणं तत्सुखम् तेनायमदोषः; तर्हि देहोऽपि संसारदेहाद् विलक्षणः तत्र अस्मास्तु विशेषाभावात् ।

किञ्च, सुखयत् ज्ञानस्य मुक्तावभ्युपगमे तर्छक्तेः विपरीताभिनिवेशनिवृत्तिल-

(१) "प्रतिबन्धकं कार्यव्याघातकमुच्यते, न च नित्यमुखस्य अनुत्पत्तिः सम्भवति ।"—प्रश्न० श्रु० पृ० २० ग० । (२) शरीरस्य । "प्रतिबन्धकत्वेन तदपहन्तुर्हि साफलं न स्यात् । तथा हि प्रतिबन्धविघातक उपकारक एवेति दृष्टम् । न हि नित्यसुखस्येदनस्य प्रतिबन्धकस्य शरीरावेरपहन्तुर्हि साफलस्य अभाव इत्यलम् ।"—प्रश्न० श्रु० पृ० २० ग० । स्या० २० पृ० १११७ । (३) "प्रकाशस्य तुच्छेतावरीतुमशक्यत्वात् मेधा अपि खेरन्ये स्वरूपेण च वास्तवा । तत्त्वान्यत्वाच्च जित्या तु नाविद्यावरणक्षमा ॥"—न्यायम० पृ० ५१० । (४) पृ० १४३ । (५) नित्यमुख-तत्स्येदनयो । (६) "नित्यमुखे हि अनुभवस्यापि नित्यत्वाद् व्यासङ्गानुपपत्तिः । तथा हि आत्मनो रूपादिविषयकज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्तिर्व्यासङ्गः । एवमिन्द्रियस्यापि एकस्मिन् विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे ज्ञानाजनकत्वं व्यासङ्गः । न चैवमात्मनो रूपादिविषयकज्ञानोत्पत्तौ नित्यमुखे ज्ञानानुत्पत्तिः तज्ज्ञानस्यापि नित्यत्वात् ।"—प्रश्न० श्रु० पृ० २० ग० । (७) तुलना—"दृष्टातिक्रमश्च देहादिषु तुल्यः । यथा दृष्टमनित्यं सुखं परित्यज्य नित्यमुखं कामयते, एव देहेन्द्रियबुद्धीरनित्या दृष्टा त्रतिक्रम्य मुक्तस्य नित्या देहेन्द्रियबुद्धयः कल्पयितव्याः ।"—न्यायम०, वा०, ता० टी० १ । १ । २२ । "मुखवज्ज्ञानवच्चास्य काम देहेन्द्रियाद्यपि । नित्यं प्रकल्प्यतामित्य मोक्षो रम्यतरो भवेत् ।"—न्यायम० पृ० ५१० । (८) अनन्तज्ञानधारणाय उपयुज्यमानाया अनन्तशक्तेः ।

१ सम्बन्धेन तत्प्र-व० । २-करणदेहेन्द्रि-व० । ३ तदभावे तत्र आ०, तदभावे तत् प्रसवे तत्र व० ।

क्षणदर्शनस्य च सामर्थ्यसिद्धत्वात् अनन्तचतुष्टयस्वरूपलभलक्षणमोक्षप्रसिद्धेः जैनमत-  
सिद्धिः स्यात्, 'ग्रानन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इत्येकान्तत्यागात् । तन्न सुप्तस्वभावत्वलक्षणं  
साध्यं विचार्यमाणं भवन्मते घटते ।

साधनञ्च अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वम् अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्च अनेकान्ति-  
कत्वादसाधनम् ; दुःसाभावोऽपि भावात् । अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्चासिद्धम् ;  
नहि आत्मा अन्यायं नोपादीयते, सुप्ताद्यर्थमस्योपादनात् । अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्व-  
मध्यसिद्धम्, दुःखिनायामप्रियबुद्धेरपि भावात् ।

यदपि 'आत्मा सुप्तस्वभावः वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेयोबुद्धिविषयत्वात्' इत्युक्तम् ;  
तदप्येतेन प्रत्युक्तम् ; सुप्तस्वभावत्वे प्रागुक्ताशेषोपादानुपपन्नात् । प्रेयोबुद्धिविषयत्वं  
निरुपचरितप्रेयःशब्दवाच्यत्वञ्चाऽसिद्धम् ; कदाचिद् दुःखितायां तदभावात् । अन्य-  
थासिद्धञ्च, आत्मनो हि आत्यन्तिको दुःखाभावो मोक्षे स्यात् इति तत्र तत् साधनद्वयं  
न पुनः सुप्तस्वभाव इति । विरुद्धञ्च, सुप्तस्वभावताविपरीतस्य दुःखाभावस्वभावत्व-  
स्यैव अतः प्रसिद्धेः । नवाहि-दुःखाभावरूपोऽयमात्मा, वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेयो-  
बुद्धिविषयत्वात्, निरुपचरितप्रेयःशब्दवाच्यत्वाद्वा, रागिणां वैषयिकदुःखाभाववदिति ।

यदप्युक्तम्—'इष्टार्थो मुमुक्षूणां प्रयत्नः' इत्यादि; तदप्यमुन्दरम् ; हेतोरनेकान्तात् ।  
नहि इष्टार्थसाधनायैव प्रेक्षावतां प्रयत्नो भवति, व्याधिविशेषपरिज्ज्ञानां तेषाम् अनिष्टो-  
परमार्थमपि प्रयत्नप्रतीतेः ।

किञ्च, इष्टाशब्देनात्र किं सुप्तमभिधीयते, अभिप्रेतप्रयोजनमात्रं वा ? यदि  
अभिप्रेतप्रयोजनमात्रम्, कथमतः पुंसः सुप्तस्वभावता सिद्धेत् ? परस्परविरुद्धानेका-  
पवर्गसंभिद्धिप्रमद्वञ्च, कपिलादिमतानुसारिणामपि मुमुक्षूणां प्रयत्नस्य तदिष्टापवर्ग-  
लक्षणप्रयोजनप्रसाधकत्वप्रसक्तेः । प्रयत्नस्य प्रेक्षावत्त्वविशेषणात् न अनेकविरुद्धापवर्ग-  
संसिद्धिरिति चेत्, न; तद्विवेकस्य कर्तुमशक्यत्वात् । नहि भयन्मतानुसारिणः प्रेक्षायन्त  
न कपिलादिमतानुसारिणः इति विवेकः कर्तुं शक्यः, प्रमाणप्रनाधितसर्वधानित्यादि-

(१) "दुःखाभावरूपि भावात् । अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्चासिद्धम् ; सुप्ताद्यर्थमोपादनात् ।  
अनन्तचतुष्टयस्वरूपलभलक्षणमोक्षप्रसिद्धेः जैनमतसिद्धिः स्यात्, 'ग्रानन्दं ब्रह्मणो रूपम्'  
(२) ५० ८३१ ५० ६ । (३) प्रयत्नस्याभावात् । (४) ५० ८३१ ५० ७ । (५) तुलना-  
"इष्टार्थमार्थां प्रवृत्तिरिति चेत्, न, अनिष्टोपरमार्थत्वात् ।"—न्यायभा०, ५० १११२२ । "नाति-  
प्यारम्भात्तदार्थानिष्टस्यापि धान्तये । सन् प्रवृत्तमाना हि दुःखेन व्यापिष्यति ॥ अनिदुर्बलत्वाय  
ममारुहः रत्नार इति तदुपपत्त्याय व्यवस्थानं मन्त्रो न निष्प्रयोजनप्रवृत्त्या अवन्तीत्यनेनानि-  
—न्यायभा० ५० ५०९ ।

१-कालपरिचयात् ५० । २-विदुषितायां २० । ३ मुक्तस्वभावविषय-आ० । ४-भावावहिति  
भा०, -भावाविति २० । ५-कनपिमुमुक्षू-आ०, -कनपिष्टात्वं मुमुक्षू-२० । ६-सादिमतानुसारि-आ० ।  
७-प्रयासव्यापि-५० ।

स्वभावतत्त्वाङ्गीकारेण अशेषाणामप्यप्रेक्षावत्त्वप्रसिद्धेः । अथ सुखम् इष्टशब्देन उच्यते, तदा साध्यविकलता दृष्टान्तस्य । न खलु कृषीवलादीनां कृष्यादिप्रयत्नः साक्षात्सुखार्थो भवति, कृष्यादिफलनिष्पत्त्यर्थत्वात्तस्य । परम्परया तस्य तदर्थत्वे मुमुक्षुप्रयत्नस्यापि तर्था तदर्थत्वमस्तु । ननु मुमुक्षवो यदि साक्षात्सुखार्थप्रयत्ना न भवन्ति तदा ते निष्प्रयोजनप्रयत्ना एव स्युः प्रयोजनान्तरस्य तत्प्रसाध्यस्याऽसंभवात्, तदप्यपेशलम्, संसारदुःखोच्छेदलक्षणप्रयोजनस्य तत्प्रयत्नप्रसाध्यस्य सद्भावात् । दुस्सहो हि संसार-दुःखभारोऽयम् अतः तदुच्छित्तये प्रयत्नमानास्ते न निष्प्रयोजनप्रयत्ना भवितुमर्हन्ति ।

यत्पुनः 'सुखतारतम्यं कचिद्विश्राम्यति' इत्याद्यभिहितम्, तदप्यभिधानमात्रम्; परत्वादिना अनेकान्तात् । परापरादिवृद्धिप्रकर्षसमधिगतो हि परत्वादिप्रकर्षः तारत-म्यशब्दवाच्यो न च कचिद्विश्रान्तः ।

किञ्च, दुःखेऽप्येवं परमप्रकर्षप्रसङ्गः—दुःखतारतम्यं कचिद्विश्राम्यति तारतम्य-शब्दवाच्यत्वात् परिमाणतारतम्यमयम् इति । न च दुःखपरमप्रकर्षो भवद्विरिष्टः इत्यनेनैवपि अनेकान्तः ।

यदपि—'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इत्याद्यागमः मोक्षे सुखस्वभावतायायात्मनः प्रमाणम्' इत्याद्युक्तम्, तदतीवाऽसङ्गतम्, तस्य प्रामाण्यासंभवात् । गुणवर्द्धकृत्वेन हि वचनस्य प्रामाण्यम् । न च वेदे भवद्विः तदिष्टम् । अपौरुषेयत्वेनास्य प्रामाण्यम्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्, तदपौरुषेयत्वस्य प्रागेव प्रतिव्यूढत्वात् । अस्तु वा तस्य तथा प्रामाण्यम्, तथापि यथासौ मुक्तौ आनन्दरूपताम् आत्मनः प्रतिपादयति तथा तदभाव-मपि "न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरेषहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ।" [ छान्दो० ८।१२।१ ] इत्यादिवचनात् । अतः कास्य प्रामाण्यम् इति २० व्याघ्रतटीत्यायो भवतः संभाषातः । अथ इदमागमवचनम् अन्यथा व्याख्यायते—'सशरीरस्य' इति प्रक्रमात् सांसारिके सुखदुःखे अनुकूलेतरविषयोपलम्भसंभवे मोक्षे

(१) परम्परया । (२) मुमुक्षुप्रयत्नः । (३) पृ० ८३१ प० ८ । (४) दुःखपरमप्रकर्षणं । (५) पृ० ८३१ प० ११ । (६) पृ० ७२४-५ । (७) "स्यादेतदेव यथेतदेव केवलमागमवचनमथोप्यत, वचनान्तरमपि तु श्रूयते—न ह वै । ननु भवत्पठितमागमवचनमन्यथापि व्याख्यातुं शक्यते—सशरीरस्येति प्रक्रमात् सासारिके सुखदुःखे अनुकूलेतरविषयोपलम्भसंभवे तदानीमशरीरमात्मानं न स्पृशत इत्यर्थः । हन्त तर्हि त्वदधीतमपि वेदवचनमानन्दं ग्रहति संसारदुःखपरिहारक्रमप्रकरणादेव तदुःखापायविषयं व्याख्यास्यते । न खलु व्याख्यानस्य भगवतः कचिदभूमिर्गतिः । दृष्टाश्च दुःखोपशमं मुखशब्दप्रयोगाः । चिरञ्ज्वरशिरोऽर्ज्यादिव्याधिदुःखं खदितम् । मुखिनो वयमचेति तदपाये प्रयुञ्जते ॥"—न्यायम० पृ० ५०९ । (८) "कुटुम्बमपि मे प्रेयान् प्रेयास्त्वमपि हे सखे । किं करोमि द्विधा चित्तं इतो व्याघ्र इतस्तदी ॥"—परिशि० ३ । १६६ । लौकिक० वा० तु० भा० । "इतस्तद्विमितो व्याघ्र केनास्तु प्राणिनो गतिः ।"—यज्ञ० उ० पृ० १३८ । (९) 'न ह वै' इत्यादि वचनम् ।

१ तस्यास्त—ब० । २ तदा तव—ब०, थ० । ३ न वचि—आ० । ४ दुःखे तारतम्य आ० । ५-वृत्तेन हि आ०, थ० । ६-रपपातिरस्ति थ० । ७ समायात' नास्ति थ० ।

अशरीरमात्मानं न सृशतः' इति; तदपि मनोरथमात्रम्; 'आनन्दं वक्ष' इत्यस्यापि अन्यथा व्याख्यातुं सुशकत्वात्, आत्यन्तिकसंसारदुःखाभावविषयो हि अत्र आनन्द-शब्दः न पुनः मुखविषयः । दृष्टश्च दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगः यथा भराक्रान्तस्य चिरं-ज्वरशिरोर्च्यादिव्याधिदुःखितस्य वा तदपाये 'चिरं तदुःखेन खिन्नाः सुखिनो वयमद्य'  
इति तदात्मनां प्रतिभासप्रतीतेः ।

यद्योक्तम्—'नित्यानन्दस्य संसारदशायाम् आवृतत्वेनाऽनभिष्यक्तितोऽनुपलम्भः'  
इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; अविद्यादेः तदाचारकत्वप्रतिषेधात्, नित्यैकसर्वभायस्य स्वप्रकाशात्मन आश्रित्यमाणत्वायोगाच्च, परिणामिन एव हि वस्तुनः केनचिदावरणं युक्तम् कथञ्चिदनादितरूपपरित्यागेन आवृतरूपस्वीकारात् । अतः कथञ्चिदेव नित्यज्ञान-  
खादिस्वभावो मुक्तौ आत्मा प्रतिपत्तव्य इति ॥ छ ॥

ननु कार्यकारणभूतज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरेकेण अपरस्य आत्मनोऽसंभवात् कस्य नैराश्रयभावनातां ज्ञानादिस्वभावता मुक्तौ प्रसाध्येत ? मुक्तिश्च आत्मदर्शिनो दूरोत्सा-  
विमुक्तज्ञानोत्पत्तिरप्ये रिता । यो हि पश्यति आत्मानं स्थिरादिरूपं तस्य आत्मनि स्थैर्या-  
मोक्ष इति बौद्धस्य दिगुणदर्शननिमित्तः स्नेहोऽवश्यम्भावी, आत्मस्नेहाच्च आत्मसुखेपु  
पूर्वपक्ष - परितृप्यन् सुखेपु उत्साधनेषु च दोषास्तिरस्कृत्य गुणानारोपयति,  
गुणदर्शी च परितृप्यन् ममेति सुखसाधनान्युपादत्ते, ततो यावद् आत्मदर्शनं  
तावत्संसार एव । तदुक्तम्—

“यैः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शशतः स्नेहः । स्नेहात्सुखेपु तृप्यति तृप्या दोषास्तिरस्कुरुते ॥

(१) “आत्यन्तिके च संसारदुःखाभावे सुखवचनाद् आगमैर्गपि सत्यविरोधः । यद्यपि कश्चि-  
दागम स्यात् मुक्तस्यात्यन्तिक सुखमिति । सुखशब्द आत्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते ।  
दृष्टो हि दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगो बहुल लोके ।”—न्यायभा०, भा० १।१।२२ । “मुख्ये हि बाधकोप-  
पत्तेः गीण इति । तथाहि दुःखाभावेऽप्रमानन्दशब्दः प्रयुक्तो दृष्टः । सुखशब्दो दुःखाभावे यथा भारा-  
क्रान्तस्य बाहिकस्य तदपाये इति ।”—प्रश० ध्यो० पृ० २० व० । (२) पृ० ८३२ व० २ । (३) “य-  
पश्यात्मानं तत्रात्मनि अस्य द्रष्टु अहमिति यादवत अनपायिस्नेहो भवति । स्नेहात् सुखेपु तृप्यति  
तृप्यावान् भवति, तृप्या च सुखसाधनत्वेनाध्यवसितानां वस्तूनां दोषानघुषित्वादीन् तिरस्कुर्वते  
प्रच्छादयति । दोषतिरस्करणात् गुणदर्शी शुचित्वेष्टत्वगुणान् पश्यन् परितृप्यन् ममेति ममेद  
सुखमिति गर्दमान तस्य सुखस्य साधनानि गर्भगमनादीन्युपादत्ते । तेन आत्मदर्शनमूलत्वेन जन्मादे-  
रात्माभिनियेपो यावत्तावत् स आत्मदर्शी संसार एव । न केवल जन्मप्रवृत्तस्य दोषा अपि  
समस्ता सन्तीत्याह । आत्मनि सति ततोऽप्यस्मिन् परसत्ता परबुद्धिर्भवति, स्वपरयोर्व्याक्रम परि-  
पहोर्गभिष्वङ्ग द्वेप परित्याग तौ भवत । अनयो अनुनयप्रतिषेधयो सप्रतिबद्धा सर्वे दोषा राग-  
मात्सर्योर्षादयः प्रजायन्तः ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृता इमे—बोधिचर्या० पृ० पृ० ४९२ । अने-  
कान्तवप० पृ० २८ । यश० उ० पृ० २५२ । न्यायवि० वि० पृ० ५८१ A. । पद्म० बृह० श्लो०  
५२ । ज्ञानवि० पृ० १४७ A. । “य पश्यत्यात्मानं तस्यात्मनि भवति”—तिट्टिवि० टी० पृ० ५५  
B. । ‘आत्मनि सति’—अभि० आलोक० पृ० ६७ । प्रश० कन्द० पृ० २७९ ।

१ चिरदुःखेन व०, थ० । २-स्वभावतयास्य प्रकाशा-व० । ३ युक्तो थ० । ४-कारकभूत-  
वा० । ५-तृप्यन् आ०, व० । ६-तृप्यन् जा०, व० । ७-तृप्यति जा० ।



गुणदर्शी परितृप्यन् ममेति सुससाधनान्युपादत्ते । तेनात्मभिनिवेशो यावत्तावत् स ससारः ॥  
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ । अनयोः सम्प्रतिवद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥”  
[ प्रमाणवा० १।२।१-२१ ] इति ।

ततो मुक्तिमिच्छता स्वरूपं पुत्रकलत्रादिकञ्च अनात्मकमनित्यमशुचि दुःख-  
मिति श्रुतमय्या चिन्तामय्या च भावनया भावयितव्यम्, एवं भावयतः तत्र अभि-  
प्यङ्गाभावात् अभ्यासविशेषतो वैराग्यमुपजायते, अतः सास्त्रवचित्तसन्तानलक्षण-  
संसारनिवृत्तिरूपा मुक्तिरुपपद्यते । निरन्वयविनश्वरेषु हि चित्तक्षणेपु एकत्वाध्यारोपेण  
आत्माभिनिवेशात् आत्मप्रेमानुगतः प्राण्यभिधानः स्कन्धसन्तानः सांसारिकसुखसाधनेषु  
प्रवर्त्तमानः सास्त्रवचित्तसन्तानं सन्तनोति । ततोऽस्य व्यलीकाभिनिवेशस्य अपोहार्थं यैः  
नैरात्म्याभ्यासादिलक्षण असत्यपि आत्मनि नित्यनिरंशादिविभावे मोक्षरि इति । उक्तञ्च—

(१) तत्र श्रुतमयी श्रूयमाणेभ्य पर्यानुमानवाक्येभ्यः समुत्पद्यमानेन श्रुतशब्दवाच्यतामा-  
स्कन्दता निर्वृता परं प्रकर्म प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानलक्षणया चिन्तया निर्वृता चिन्तमयी  
भावनामारभते ।—आप्तप० का० ८६ । (२) अभिप्यङ्गो राग । (३) “कार्यकारणभूताश्च तत्रा-  
विद्यादयो मताः । व-धस्तद्विगमादिष्टो मुक्तिनिमलता धिय ॥ यथोक्तम्—चित्तमेव हि ससारो  
रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैविनिर्मुक्त भवान्त इति कथ्यते ।—तत्त्वस०, प० पृ० १८४ । (४)  
“तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकां । उत्पत्तामूला कुस्त सर्वदुष्टि मुमुक्षवः ॥”—प्रमाणवा०  
२।२५६ । किं पुनरिदं नैरात्म्यं नाम यदसत्सु नोपदेष्टव्यं सत्सु चोपदेष्टव्यमित्याह—अद्वितीय शिवद्वार  
कुदुष्टीना भयङ्करम् । विषय सर्वबुद्धानामिति नैरात्म्यमुच्यते ।—तत्रात्मना नाम योऽनुरूपत-  
स्वरूप स्वभावः, तदभावो नैरात्म्यम् । तच्च धर्मपुद्गलभेदात् द्वैतं प्रतिपद्यते । धर्मनैरात्म्यं पुद्गल-  
नैरात्म्यञ्च । तत्र पुद्गलो नाम य स्ङ्गानुपादाय प्रवृत्त्यते । स च स्कन्धेषु पञ्चधा मृग्यमाणा न  
संभवति । धर्मास्तु स्कन्धाद्यतनधातुसंश्लिष्टा पदार्था तदेतेषां धर्माणां पुद्गलस्य च यथास्व हेतु-  
प्रत्ययाधीनजन्मत्वावुपादाय प्रवृत्त्यमानत्वाच्च स्वायत्तमपरात् निजमकृतक रूप नास्तीति पुद्गलस्य  
धर्माणाञ्च नै स्वाभाव्य व्यवस्थाप्यते । यस्य चार्यस्य स्वरूपसिद्धिर्नास्ति तस्य केनान्येनात्मनास्तु  
सिद्धिरिति । तस्मात्सर्वेषां सिद्धलक्षणा एव पदार्था मूर्खजनस्य विमवादेकेनात्मना प्रतीत्य बोपादाय  
वा वर्त्तमाना मूढधिया सङ्गात्पव भवन्ति । यथास्वभाव तु सम्पददर्शनं प्रतिभाद्यमाना धर्मपुद्गलो  
सङ्गपरिक्षयवाहका भवन्ति । सङ्गपरिक्षयस्तु निर्वर्णप्रतिष्ठाकरणम् । विदितनैरात्म्यस्य हि सर्वेषु  
परिक्षीणसङ्गस्य न क्वचित्काचित्प्राधानं कुतो वा निमित्तोपलम्भ इत्यद्वितीयमेव शिवद्वारमतनैरा-  
त्म्यम् । (प० १५१) तस्वतो नैरात्म्यमिति यस्यैव वर्तते मतिः । तस्य भावात्कुत प्रीतिरभावेन  
कुतो भयम् ॥—चतु शत० पृ० १५१, १५५ । तत्त्वस० पृ० ८६६ । “यतस्ततो वास्तु भय यद्यहं नाम  
किञ्चन । अहमेव न किञ्चिज्ज्वेत भयं कस्य भविष्यति ॥”—बोधिच० ९।५७ । “वर नैरात्म्यभावना  
नैरात्म्यस्य पुद्गलादिविरहस्य भावना अभ्यासः वरमुत्तमम्, आत्मदर्शनप्रवृत्ताहङ्कारनिवृत्तिहेतुत्वात् ।  
तथाहि तावद् भावनाप्रकर्षपर्यन्तगमनात् साक्षान्नैरात्म्यदर्शनात् विरोधिनः सत्त्वायदर्शनं निवर्तते ।  
तन्निवृत्ती चकस्यानुगामिनो दर्शनाभावात् पूर्वापररूपविकलस्य क्षणमानस्य दर्शनम् । तत् पूर्वापरस-  
मारोपाभावाच्चानागतसुखसाधनं किञ्चिदात्मन पश्यति, ततो न तस्य क्वचिद्विषये रागो जायते नापि  
तत्प्रतिविरोधिन द्वेष आसङ्गाभावादेव । नाप्यकारिण प्रति अपकारस्थान पश्यति, येन यस्मिन् कृतो-

१-तुप्यन श्र० । २ चित्तलक्षणेपु श्र० । ३-नुपम प्रा-व० । ४ प्रामाण्यभि-श्र० । ५ यतोर्न

-व० । ६-विकलक्षणः श्र० ।

“मिथ्याधारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोचरि” [प्रमाणवा० १।१९४] इति ।

नैरात्म्याभ्यासादिलक्षणं यन्नाभावे तु आत्माभिनिवेशाऽनिवृत्तेः इन्द्रियादिषु उपभोगाश्रयत्वेन गृहीतेषु आत्मीयबुद्धेर्निवारयितुमशक्यत्वतो वैराग्यासम्भवात् मोक्षाय दत्तो जलाञ्जलि । तदुक्तम्—

‘उपभोगाश्रयत्वेन गृहीतेष्विन्द्रियादिषु ।

स्वत्वधी केन वार्येत वैराग्यं तत्र तत्कुत ॥” [प्रमाणवा० १।२२९] इति ।

अथोच्यते—नेन्द्रियादिषु उपभोगाश्रयत्वबुद्धिर्निबन्धनस्वत्वबुद्धिप्रभरोऽयम् आत्मीयस्नेह येनाय दोष स्यात् किन्तु गुणदर्शननिबन्धन, अतः तद्विरुद्धदोषदर्शने तन्निवृत्तितो वैराग्योपपत्तेः मुक्तिरूपपत्तेः, तदयुक्तम्, नैबन्धनस्वत्वबुद्धेरेव अस्या-  
विर्भावात्, स्वचक्षुरादिषु गुणदोषपरीक्षाधिकलानामपि बालपशुप्रभृतीनाम् उपभोगा-  
श्रयत्वबुद्धिनिबन्धनायाः स्वत्वबुद्धेः तत्र स्नेहस्याविर्भावात् । आत्मीयेऽपि च पिबट-  
काणकुण्डादिदोषदर्शनेऽपि अस्य भावात्, परकीयेषु गुणदर्शनेऽप्यभावात् । आत्मीये-  
ष्वपि अतीतेषु स्वदेहच्युतेषु च अङ्गावयवेषु गुणदर्शनेऽपि आत्मीयबुद्धित्वागे स्नेहस्या-  
भावात् तन्निबन्धनस्वत्वबुद्धिप्रभव एवासौ अभ्युपगन्तव्यः । अतः युक्तः तद्वपवच्छे-

दाय नैरात्म्यादिभावनाभ्यासः ।

अकार तयोद्वेगोरपि द्वितीयक्षणाभावतः । न चायं कृतेऽपकारे प्रक्षायतोऽप्यत्र वैरानिर्यातनमुचितम्, नापि यस्य वृत्तस्तेनापि । एव रागादिनिवृत्तौ अपि तत्प्रभवा वृत्तौपक्लेशा नोत्पद्यन्ते । नापि वस्तुतः कश्चित् कस्यचिदपवारकारी । इदं प्रतीत्यदमुत्पद्यते इति प्रतीत्यममृताददर्शनाद्वा । एव हि पुद्गलधूयतायाः सत्कायदर्शननिवृत्तौ छिन्नमूलत्वात् क्लेशा न समुदाचरन्ति । यथोक्तमायतयामतगु ह्यमुत्रै—तद्यथापि नाम गान्तमते वक्षस्य मूलच्छिन्नस्य सर्वशाखापत्रपलाश गुप्यति । एवमेव गान्तमते सत्कायदुष्टिप्रसमात् सर्वक्लेशा उपशाम्यन्तीति । तस्मादत्र नैरात्म्यभावना । —शोधिवर्णा० पृ० ५० ४९२-९३ । नैरात्म्यपरि० पृ० १२ ।

(१) मिथ्याधारोपस्य सत्सारित्वाध्यवसायस्य हानाथ यत्नोऽसत्यपि कस्मिन्निबन्धनात्मादौ माचरि । न हि यथावत्स्वेव व्यवहारं किन्तु यथावसायम् । तथाहि रज्जुरपि सर्पाध्यवसायविषयत्वात् परिहारविषयः । एवमहम्ब वदोऽहमेव मोयामीत्यधारोपा मुक्त्यर्थं व्यायामः । —प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृतोऽयम्—तत्त्वसं० पृ० १/३ । प्रमेयक० पृ० ३२१ । सप्तमि० टी० पृ० १६२, ४१८ । (२) आत्मीयबुद्धिहायान त्यागो न तु विषयः । उपभोगाश्रयत्वेन आत्मीयबुद्धिहाया तत्राहिदृष्टान्तं त्यागो न तु विषयः आत्मीयबुद्धिसत्तायाम् । यस्मात् उपभोगस्य आश्रयत्वेन कारणत्वेन गृहीतेष्विन्द्रियादिषु स्वत्वे धी आत्मीयत्वबुद्धिः केन ह्यनुना वायत ? क केनचित् । तत्कुतस्तत्र उपभोगसाधनं स्वीयावयवे वैराग्यं यत्नं त्यज्यते । ततो यत्त्यज्यते आत्मीयबुद्धिहायान्ता एव । न चैव स्नेहादिप्राप्तीयबुद्धिहायानिरस्ति यन्नेषा त्यागः स्यात् । —प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृतोऽयम्—यायवि० वि० पृ० ५८१ B । (३) भोगसाधनत्वनिवन्धनः । (४) स्नेहस्य । (५) उपभोगाश्रयत्वनिबन्धनः । (६) स्नेहः ।

१-ध्यानोप-ध० । २-प्रवृत्ता-ध० । ३ जानीयबुद्ध-वा० । ४ स्वत्वधी व० । ५ इति नास्ति व० । ६ निबन्धनस्वत्वबुद्धि-व० । ७ चेदयुक्तम् व० । ८ अस्याभावात् वा० । ९-अयंबुद्धि-व० । १०-दर्शनेष्यस्याभा-ध० ।

अथ तद्भावनाभावेऽपि कायक्षेत्रालक्षणात्तपसः सकलकर्मप्रश्रयान्मोक्षो भविष्यति; तन्न; कायक्षेत्रस्य कर्मफलतया नारकादिकायसन्तापवत् तपस्त्वायोगात् । विचित्रशक्ति-  
कश्च कर्म विचित्रफलदानाऽन्यथानुपपत्तोः, तच्च कथं कायसन्तापमात्रात् क्षीयेत  
अतिप्रसङ्गात् । अथ तपः कर्मशक्तीनां संक्षरेण क्षयकरणशीलमिति कृत्वा एकरूपादपि  
तपसः चित्रशक्तिकस्य कर्मणः क्षयः; नन्वेवं स्वल्पक्षेत्रेण एकोपवासादिनाऽपि अशेषस्य  
कर्मणः क्षयापत्तिः शक्तिसाक्ष्यान्यथानुपपत्तोः । उक्तञ्च—

“कर्मक्षयाद्विमोक्षः स च तपसः तच्च कायसन्तापः ।

कर्मफलत्वाचाररुदुःखमिव कथं तपस्तत्स्यात् ॥

अन्यदपि चैकरूपं तच्चित्रक्षयनिग्रन्धनं न स्यात् ।

तच्छक्तिसङ्करक्षया(य)कारीत्यपि वचनमात्रं तु ॥

अत्रैशास्तोकेऽपि स्त्रीण्ये सर्वक्षयप्रसङ्गो येत् ।” [ ] इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘कार्यकारण’ इत्यादि, तदसमीक्षिताभि-

सन्धयगुणवित्तस-  
न्तिरूपस्य मोक्षस्य  
समर्थनम्—

धानम्; कार्यकारणभूतज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरिक्तस्य आत्मनः सन्ता-

ननिषेधावसरे व्यासतः समर्थितत्वात् ।

यत्पुनरुक्तम्—‘यः परयत्यात्मानं स्थिरादिरूपम्’ इत्यादि, तत्सूक्तमेव; किन्तु

(१) “तपसा निर्जरा च”—तरवार्थसू० १।३ । (२) “फलवैचित्र्यदृष्टेश्च शक्तिभेदोऽनु-  
मीयते । कर्मणा तापसंक्लेसात् नैकरूपासत क्षय ॥—कर्मणा फलवैचित्र्यस्य नानागत्युपभोग्यानेकविधो-  
पकरणसाध्यविविधमुखदुःखोपभोगप्रकारस्य दृष्टेश्च शक्तिभेदे सामर्थ्यनानात्वमनुमीयते, अतो नाना-  
प्रकारफलजननसामर्थ्यात् वारणादेकरूपान् फलात् तापसंक्लेशात् कर्मणा क्षय ।”—प्रमाणवा० १।२७७ ।  
(३) “अथापि तपसः शक्त्या शक्तिसकरसक्षयं । क्लेशात्कुतश्चित् हीयेतासोपमक्लेशालेसत ॥—अथापि  
तपसः शक्त्या शक्तिसकरेण तापक्लेशमात्रफलेन तानि हीयन्ते । तपः शक्त्या कर्मणा सक्षयेण वा जन्मा  
भावः । यच्च किञ्चिदविशिष्टं तत् क्लेशात्कुतश्चित् क्लेशोऽस्तुञ्चनादे क्षीयते । कर्मक्षयाच्च मुक्ति  
अत्राह—हीयेतासोपमक्लेशालेसत । यदि तपसा कर्मक्षयोऽप्यपि कर्म हीयेत, अक्लेसतो विनैव क्लेशोऽस्तु-  
ञ्चनादिदुःखात् कर्मण क्षीणत्वात् । यथा नारकादिदुःखं न भवति तथा अस्त्रीयोपि न स्यात् । शक्ति-  
साक्ष्येणैव लेसतः सन्तापक्लेसात् केवलात् कर्म हीयेत, न तु क्षान्तरानुबन्धी ससारप्रबन्ध तपस्विन  
स्यात् । यदीष्टमपरं क्लेशात् तत्तपः क्लेश एव चेत् । तत्कर्मफलमित्यस्मात् शक्ते सकरादिकम् ॥  
तपसः शक्त्या शक्तिसकरमक्षयश्च तदा वक्तुं शक्यो यदि क्लेशादिष्टं क्लेशादपरमन्यतरो नान्यथा ।  
क्लेश एव चेत्तपः, तत्क्षेत्ररूपं तपः कर्मफलमित्यस्मात् कर्मफलभूतात्तपसः शक्तिसकरादिकं न युक्तम् ।  
आदिशब्दात् सक्षयश्च ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० १।२७८—७९ । (४) “क्षयनिमित्तमिह न स्यात् ।  
तच्छक्तिसकर क्षयकारीत्यपि . .”—यद्ब० बृह० श्लो० ५२ । ‘तच्छक्तिसकरक्षयकारीत्यपि’  
—स्या० २० पृ० १११८ । (५) पृ० ८३८ पं० ११ । (६) पृ० ९ । (७) पृ० ८३८ पं० १८ । (८)  
तुलना—“तत्पुनस्तमेव, किन्त्वतो जनो दुःखानुपगतं मुखसाधनं पश्यन्नात्मस्नेहात् सासारिकेषु दुःखानुप-  
गतमुखसाधनेषु प्रवर्तते अप्रध्यादौ च मुखानुरवत् ।”—यद्ब० बृह० श्लो० ५० । स्या० २० पृ० १११८ ।

१ अर्थतद्भाव—थ० । २—कर्मक्षया—व० । ३ सकरणे क्षय—थ० । ४ तच्चित्र क्षय—आ०,

व० । ५ यत् थ० । ६—ज्ञानलक्षणप्रवा—थ० ।

अज्ञो जनः दुःखानुपक्तमुपसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुपक्त-  
सुखसाधनेषु प्रवर्तते । हिताहितैविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुपसाधनं स्यादिकं परित्यज्य  
आत्मस्नेहात् आत्मन्तिकसुपसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते । यथा पथ्यापध्यविवेकमजान-  
न्नातुरः तादात्विकसुपसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापध्यविवे-  
कज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्तते । उक्तञ्च—

“तदात्वसुपसंज्ञेषु भाषेवज्ञोऽनुरज्यते ।

हितमेवानुरुद्धयन्तं प्रपरीक्ष्य परीक्षकः ॥” [ ] इति ।

यदप्युक्तम्—‘ततो मुक्तिमिच्छता स्वरूपं पुत्ररुलवादिकञ्च’ इत्यादि; तदप्येतेन  
प्रत्युक्तम्; सर्वथाऽनित्याऽनात्मकत्वादिभायनाया निर्विषयत्वेन मिथ्यारूपत्वात् सर्वथा  
नित्यादिभायनावन्मुक्तिहेतुत्वानुपपत्तेः । तन्निर्विषयत्वञ्च आत्मसिद्धेः क्षणभङ्गभङ्गस्य  
च प्रसाधितत्वात् प्रसिद्धम् । न च कालान्तरावस्थायिकानुसन्धातृव्यतिरेकेण भायना-  
प्युपपद्यते इत्युक्तं सन्ताननिषेधप्रचट्टके । यो हि निगडादिभिर्वद्धः तस्यैव तन्मुक्ति-  
कारणपरिहानानुष्ठानाभिसन्धिर्व्यापारे सति मोक्षः इति एकाधिकरण्ये सत्येव बन्धमोक्ष-  
व्यवस्था लोके प्रसिद्धा, इह तु अन्यः क्षणो बद्धः अन्यस्य च तन्मुक्तिकारणपरिहानम्  
अन्यस्य च अनुष्ठानाभिसन्धिः व्यापारश्चेति वैयधिकरण्यान् सर्वमनुपपन्नम् ।

किञ्च, सर्वो बुद्धिपूर्व प्रवर्तमानः ‘किञ्चिदिदमतो मम स्यात्’ इत्यनुसन्धानेन  
प्रवर्तते । इह च कस्तथाविधो मार्गाभ्यासे प्रवर्तमानः ‘मोक्षो मम स्यात्’ इत्यनुसन्द-  
ध्यात्—क्षणः, सन्तानो वा ? न तावत् क्षणः; तस्य एकक्षणस्थायितया निर्विकल्प-  
कतया च एतावतो व्यापारान् कर्तुमसमर्थत्वात् । नापि सन्तानः; तस्य सन्तानिन्य-  
तिरिक्तस्य सौगतैरनभ्युपगमात्, सन्ताननिषेधे निषिद्धत्वाच्च ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘निरन्वययिनश्चरेषु’ इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; आत्मनोऽन-

- (१) उद्धृतोऽयम्—भ्याषवि० वि० पृ० ५८१ । स्या० २० पृ० १११९ । (२) पृ० ८१९ पं० ४ ।  
(३) तुलना—“क्षणिकादिभावनाया मिथ्यारूपत्वात्, न च मिथ्याज्ञानस्य निश्चेयकारणत्वमतिप्रस-  
ङ्गात् ।”—प्रज्ञा व्यो० पृ० २० पं० ४ । “भावनाया विकल्पात्मिकायाः श्रुतमय्याश्चिन्तामव्याख्यावस्तु-  
विषयामा वस्तुविषयस्य यागित्तानस्य जन्मविरोधात् । कुतश्चिदतत्त्वविषयाद् विकल्पज्ञानात्तत्त्वविष-  
यस्य ज्ञानस्यानुपलब्धे ।”—आप्तप० का० ८३ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१ । षड्व० बृह० श्लो० ५२ ।  
(४) “न बन्धमोक्षो क्षणिकैकस्यो—क्षणिकमेक यच्चित्तं तत्तस्यो बन्धमोक्षो न स्याताम् । यस्य  
चित्तस्य बन्ध तस्य निरन्वयप्रणाशदुत्तरचित्तस्यावदस्यैव मोक्षप्रसङ्गात् । यस्यैव बन्ध तस्यैव मोक्ष  
इति एवचित्तसंस्थौ बन्धमोक्षौ”—युक्त्यनु०, टी० पृ० ४१ । (५) क्षणिकैकान्तपक्षे । (६) तुलना—  
“किं, सर्वो बुद्धिपूर्व प्रवर्तमान किञ्चिदिदमतो मम स्यादित्यनुसन्धानेन प्रवर्तते ।”—षड्व० बृह० श्लो०  
५२ । (७) पृ० ८३९ पं० ७ ।

1—साधन पश्यन् आ० । 2—विवेकस्तु आ० । 3—विवेकस्तु आ० । 4—नित्यादिभावम्—आ० ।  
5—अन्यत्रानुष्ठा—व० । 6—सन्धेर्व्यापा—आ० । 7—पूर्वं वर्तमान व० । 8—सन्ताननिषिद्ध—थ० ।

भ्युपगमे तथाभूतचित्तक्षणेपु एकत्वाध्यारोपानुपपत्तेः । तदनुपपत्तिश्च सन्तानभङ्गप्रपञ्चे प्रपञ्चिता । निरन्वयविनश्चरत्वे च 'संस्काराणा मोक्षार्थः, प्रयासो व्यर्थः । रागाद्युपर-  
मो हि भयन्मते मोक्षः, तदुपरमश्च विनाशः, तस्य च निर्हेतुकतया अयत्रसिद्धत्वात्  
तदर्थानुष्ठानादिप्रयासो निष्कल एव । तेन हि प्राक्तनस्य रागादिचित्तक्षणस्य नाशः  
क्रियेत, भाविनो वाऽनुत्पादः, तदुत्पादकशक्तेर्वा क्षयः, सन्तानस्य 'बोच्छेदः अनुत्पादो  
वा, निराश्र(स्त्र)वचित्तसन्तत्युत्पादो वा ? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः, विनाशस्य निर्हे-  
तुकतया भयन्मते कुतश्चिदुत्पत्तिविरोधात् । द्वितीयपक्षोऽप्यत एव अनुपपन्नः,  
उत्पादाभावो हि अनुत्पादः, सोऽभावरूपत्वात् कथं कुतश्चिदुत्पद्येत अप्सिद्धान्तप्रस-  
ङ्गात् ? तच्छक्तिक्षयार्थोऽपि तत्प्रयासोऽसङ्गतः, तत्क्षयस्याप्यभावरूपतया कुतश्चिदात्म-  
लाभासम्भवात् । 'सन्तानस्योच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्प्रयासः' इत्यप्येतेन प्रत्युक्तम्,  
क्षणोच्छेदानुत्पादवत् तदुच्छेदानुत्पादयोरभावरूपतया कुतश्चिदुत्पत्त्यनुपपत्तेः ।

किञ्च, सिद्धे वास्तवे सन्ताने तदुच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्प्रयासो युक्तः,  
न चासौ तथाभूतः सिद्धः, क्षणातिरिक्तस्य तस्य वास्तवस्य भवतानभ्युपगमात्, सन्तान-  
निपेक्षे निषिद्धत्वाच्च ।

किञ्च, अन्यज्ञानस्य ज्ञानान्तराकर्तृत्वे सन्तानोच्छेदो भविष्यति । तच्च कुतो  
न करोति सत्त्वात् तदुत्पादे शक्त्याच्च ? शक्तमपि सहकारिकारणाभावात् नोत्पाद-  
यति, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, तदभावावस्य अप्रतिबन्धकत्वात् । तेन हि प्रतिबन्धो  
भावस्योत्पत्तेः, उत्पादकत्वस्य वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः, शैक्यपक्षे हि कारणान्तरा-  
भावः अभावरूपतया सकलशक्तिविरहस्वभावो भावस्य नोत्पत्तिप्रतिबन्धः कर्तुमर्हति ।  
यत् सकलशक्तिविरहस्वभावः न तत् कस्यचिदुत्पत्तिप्रतिबन्धकम् यथा शशविषाणम्,

(१) तुलना—“अहेतुक्त्वान्नायस्य हि साहेतुन हिंसकः । चित्तसन्ततिनाशश्च मोक्षो नाप्याङ्ग-  
हेतुकः ॥”—आप्तमी० का० ५२ । आकस्मिकेऽर्धे प्रलयस्वभावे मार्गो न युक्तो बधकश्च न स्यात् ॥—  
तथा च सकलालवनिरोधलक्षणमोक्षस्य चित्तसन्ततिनाशरूपस्य वा शान्तनिर्वाणस्य मार्गो हेतुः नैरात्म्य-  
भावनालक्षणो न युक्तः स्यात् नाशकस्य कस्यचिद्विरोधात् । —युक्तपत्र० टी० पृ० ४० । निर्हेतुकतया  
विनाशस्य उपायव्ययम्, अयत्नसाध्यत्वात् । —प्रस० व्यो० पृ० २० ड । (२) तपोऽनुष्ठानादिना ।  
'किञ्च, तेन मोक्षार्थानुष्ठानेन प्राक्तनस्य रागादिक्षणस्य नाशः क्रियते, भाविनो वाऽनुत्पादः, तदुत्पादक-  
शक्तेर्वा क्षयः, सन्तानस्योच्छेदोऽनुत्पादो वा, निराश्रयचित्तसन्तत्युत्पादो वा ? —पद्० बृ० श्लो०  
५२ । (३) सौगतमते । (४) निर्हेतुकाऽभाववादः विधीयत इत्यर्थः । (५) सन्तानोच्छेदानुत्पादयोः ।  
(६) तुलना—'किञ्च वास्तवस्य सन्तानस्यानभ्युपगमात् किं तदुच्छेदादिप्रयासेन ? नहि मृतस्य मारण-  
व्यापि दृष्टम् । —पद्० बृ० श्लो० ५२ । (७) सहकारिकारणाभावेन । (८) सहकारिकारणाभावेन ।

१—रूपानुपपत्तिश्च सन्तान-व० । २—सत्सारिणाम् व०, ध० । ३—बोच्छेदः व० । ४—निराश्रयचित्त-  
आ० । ५—दुत्पद्यते आ० । ६—कुतश्चिद्वत्सलाभासम्भवात् सन्तानस्योच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्प्रया-  
सो युक्तो न चासौ व० । ७—पक्षानुष-ध० । ८—तराकतृत्वे व० । ९—सत्त्वादुत्पादे आ० । १०—तद्भाषस्य  
व० । ११—साध्यपक्षे व० । १२—रामावाभावरूपतया व० ।

तथाभूतश्च शार्ङ्गयमते सहकारिकारणाभाव इति । द्वितीयविकल्पोऽप्येतेन प्रतिव्यूढः; उत्पादकत्वस्य हि प्रतिबन्धः कार्योत्पादकपदार्थसत्ताऽपहारः, स च अश्वविपाणप्रख्ये तदभावे दुर्घटः ।

किञ्च, अन्त्यचित्तक्षणस्य अनर्थक्रियाकारित्वे अवस्तुत्वं स्यात्, ततः तज्जनकस्य इति, एवमायातमंशेषस्य चित्तसन्तानस्य अवस्तुत्वम् । अथ स्वसन्तानवर्तिनो ज्ञान-क्षणस्य अजनकत्वेऽपि सन्तानान्तरवर्तिनो योगिज्ञानस्य जननात् नाऽशेषस्य तत्सन्तान-स्याऽवस्तुत्वम्; तदयुक्तम्; रसादेरेककालस्य रूपादेः अन्यभिचार्यनुमानाऽभावात्पुद्गात्, अन्त्यक्षणवत् रूपादेर्विजातीयकार्यजनकत्वेऽपि सर्जातीयाजनकत्वसंभवात् । एक-सामर्थ्यधीनत्वेन रूपरसयोर्नियमेन कार्यद्वयारम्भकत्वे अन्यत्रापि कार्यद्वयारम्भकत्व-स्यात्, योगिज्ञान-अन्त्यक्षणयोरपि एकसामर्थ्यधीनत्वाऽपिशेषात् । अथ स्वसन्तान-वर्तिकार्यजननसामर्थ्यवद् भिन्नसन्तानर्कार्यजननसामर्थ्यम् अन्त्यक्षणस्य नेष्यते, तर्हि सर्वथा अर्थक्रियासामर्थ्यरहितत्वेन अस्य आकाशकुशेशयदवस्तुत्वं स्यात् । तथा-विधस्यापि वस्तुत्वे सर्वथाऽर्थक्रियारहितस्य अक्षणिकस्यापि वस्तुत्व-स्यात्, तथा च सत्त्वादयः क्षणिकत्वज्ञ साधयेयुः अनैकान्तिकत्वात् । तन्न सन्तानोच्छेदलक्षणा मुक्तिः । तत्कारणानुष्ठानप्रयासेन प्रसाध्या इति पक्षः क्षेमङ्करः ।

निराभ(स)वचित्तसन्तत्युत्पत्तिलक्षणा सा तत्प्रयासप्रसाध्या इति पक्षस्तु ज्यायान् । केवल 'सा चित्तसन्ततिः सान्ध्या, निरन्वया वा' इति वक्तव्यम्? तत्र अस्याः सान्ध्या-

(१) सहकारिकारणाभावे । (२) अर्थक्रियाकारित्वाभावे । तुलना—“वरमक्षणस्याकिञ्चित्कत्वेन अवस्तुत्वापत्तिरु पूर्वपूर्वक्षणानामप्यवस्तुत्वापत्त सकलसन्तानाभावप्रसङ्गः । विषुवादे सजातीय-कारणस्य योगिज्ञानस्य करणान्नावस्तुत्वमिति चेत्, न, आस्वाद्यमानरससमानकालरूपोपादानस्य रूपाकरणस्य रससहकारित्वप्रसङ्गात्, ततो रसाद्रूपानुमान न स्यात् ।”-सम्मति० टी० पृ० १६१ । स्या० १० पृ० ११२१ । प्रमेयक० पृ० ४९७ । (३) अन्त्यक्षणीत्वादकस्य उपान्त्यक्षणस्य । (४) यदा हि कार्यरससर्वज्ञो योगी तम् अन्त्यक्षण जानाति तदा सोऽन्त्य क्षण योगिज्ञानस्य सहकारितया समुत्पादको भवति नाकारण विषय इति सिद्धान्तात् । अतः सजातीयक्षणानुत्पादकोऽपि अन्त्यक्षण योगिज्ञानस्य

;

णवतिन रूप जनयित्वेव विजातीय द्वितीयक्षणवतिरस सहकारि भवति । यदि हि अन्त्यो ज्ञानक्षण सजातीय ज्ञानक्षणान्तरमनुत्पाद्यापि विजातीये सन्तानान्तरवर्तिनि योगिज्ञाने आलम्बनतया सहकारि स्यात् तदा पूर्वक्षणवतिरूपमपि द्वितीयक्षणवतिसजातीय रूपक्षणान्तरमजनयित्वेव विजातीये द्वितीयक्षणवतिनि रस सहकारि स्यात् । तथा च द्वितीयक्षणवतिरसात् रूपानुमान न स्यात् इति भावः । (६) रसोत्पादकत्वेऽपि । (७) रूपक्षणान्तरानुत्पादकत्वसंभवात् । (८) योगिज्ञान । (९) अन्त्यक्षणस्य । (१०) चित्तसन्तते ।

१ साध्यमते व० । २ ध्युत्पादकस्य हि अ०, उत्पादकत्वे हि व० । ३-मशेषचित्त-आ० ।

४ अन्तक्ष-आ० । ५ सजातीयजनकत्वासंभ-व० । ६ तत्कारणानुष्ठान-आ०, स्वकारणानुष्ठान-व० । ७ निराभयचित्त-आ० । ८-या चेति अ० ।

पक्ष एव युक्तः, तथाभूते एव चित्तसन्ताने मोक्षोपपत्तेः, बद्धो हि मुच्यते नाऽबद्धः । न च निरन्वये चित्तसन्ताने बद्धस्य मुक्तिः सम्भवति, तत्र हि अन्यो बद्धः अन्यश्च मुच्यते । सन्तानैक्याद् बद्धस्यैव मुक्तिरपि इति चेत्, ननु सन्तानार्थं परमार्थसन्, सवृत्तिसन् वा स्यात् ? यदि परमार्थसन्, तदा आत्मैव नामान्तरेण उक्तः स्यात् ? अथ सवृत्तिसन् ; तदा एकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वाद् 'अन्यो बद्धः अन्यश्च मुच्यते' इत्याया-  
तम्, तथा च बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिर्न स्यात् ।

अथ अत्यन्तनानात्वेऽपि क्षणानां दृढतररूपतया एकत्वाध्यवसायात् 'बद्धमात्मानं मोचयिष्यामि' इत्यभिसन्धाय प्रवर्तते, कैयमेवं नैरात्म्यदर्शनम् ? यतस्तद्वाचनाभ्या-  
सान्मुक्तिः स्यात् । अथ शास्त्रसंस्कारप्रभवं तद्दर्शनमस्ति, न तर्हि 'एकत्वाध्यवसायः  
अस्त्वनलरूपः, ईत्येकं सन्धिस्तोरन्यत्प्रच्यवते । अतः कुतो बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिः स्यात्  
यतो 'मिथ्याभ्यासोपहानार्थं यतोऽसत्यपि मोक्षिर' [प्रमाणवा० १।१९४] इत्युक्तं शोभेत ?  
यत्पुनरुक्तम्—'उपभोगाश्रयत्वेन' इत्यादि, तदप्यविचारितरमणीयम्, 'हेयोपादे-  
यत्त्वज्ञो हि आत्यन्तिकसुखसाधनम् उपभोगाश्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यते न तादात्विक-  
सुखसाधनम्, तथाहि'—

“एगो मे सैसदो अप्पा नाणदसण्णलक्खणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे सँजोगलक्खणा ॥ [भाष्यपाठ० गा० ५९]

सजोगमूल जीवेण पत्ता दुक्खपरपरा ।

तम्हा सँजोगसव्व तिविहेण वोसरे ॥” [मूलाचार० २।४८-४९]

(१) 'चित्तानां तत्त्वतोऽवितत्वसाधनात् सन्तानोच्छेदानुपपत्तश्च'—अष्टसह० पृ० १९ ।  
प्रमेयक० पृ० ३२० । सन्मति० टी० पृ० १६२ । 'केवलं सा चित्तसन्ततिः सान्वया निरन्वया वेति  
वक्तव्यम् । आद्यं सिद्धसाधनं तथाभूतं एव चित्तसन्ताने मोक्षोपपत्तः ।—बद्ध० बृह० श्लो० ५२ ।  
(२) निरन्वयक्षणिकपक्षऽपि । (३) सन्तानस्याप्यवस्तुत्वादप्यमात्मा तथोच्यताम् । कथञ्चिदवश्यं  
तादात्म्याद्विना सन्तत्यसम्भवात् ।—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३ । 'यदि सन्तानाद्यं परमाथसस्तदा आत्मैव  
सन्तानशब्देनोक्तं स्यात् । अथ सवृत्तिसन्, तदा एकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वादप्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यते  
इति बद्धस्य मुक्त्यर्थं न प्रवृत्तिः स्यात् ।—सन्मति० टी० पृ० १६२ । प्रमेयक० पृ० ३२१ । (४) तर्हि  
न नैरात्म्यदर्शनमिति कुतस्तद्विबचना मुक्तिः ?—सन्मति० टी० पृ० १६२ । प्रमेयक० पृ०  
३२१ । (५) नैरात्म्यभावनयाप्यमस्त्वनलरूपाया हि 'बद्धमेव आत्मानं मोचयिष्यामि' इत्येकत्वाध्यवसा-  
यस्य सम्भावनेन नास्ति । (६) नैरात्म्यदर्शनस्य समर्थने नियमाणः । (७) एकत्वाध्यवसायः । (८)  
पृ० ८४० पृ० ५ । (९) हेयोपादेयत्वञ्चा हि आत्यन्तिकसुखसाधनमुपभोगाश्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यन्ते  
न तादात्विकसुखसाधनम् ।—स्या० १० पृ० १११९ । (१०) 'एको मे सासवो अप्पा—निवमसा०  
गा० १०२ । एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदशनलक्षणः । सपा मे बाह्या भावा सर्वे सयोगलक्षणा ।  
सयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा । तस्मात्सयोजसम्बन्धं सर्वं त्रिविधं व्युत्सृजामि ।

१ बद्धात्मानं व० । २ यदप्युक्तं—व० । ३ उपयोगाद्य—आ० । ४—गात्रयमा—व० । ५ हि  
उक्तञ्च प्राकृतश्लोक एवो व० । ६ ससवो य० । ७ सयोग—आ० । ८ सयोग—आ० ।

“दौराः परिभक्ताराः न-धुर्जनो वन्धनं विपं विपयाः ।

ऋय (कोऽय) जनस्य मोहः ये रिपवस्तेषु मुह्यदाशा ॥” [ ]

इत्येवं भावयतो विवेकिनः संयोगसम्बन्धिषु दुःखहेतुषु भावेषु सुखलेशसाधन-

त्वस्य सद्भावेऽपि अन्यदा आत्यन्तिकसुखसाधनं रत्नैत्रयं पश्यतः कुतस्तेषु आत्मीय-

बुद्धिः यतस्ततो निवृत्तिर्न स्यात् ? ननु आत्मीयबुद्धेः ततः स्यान्निरवृत्तिः यदि एकात्तेन

तेषां दुःखहेतुत्वमेव स्यात्, न चैवम्, लेशतः सुखहेतुत्वस्याप्यत्र संभवात्, तेन दुःख-

हेतुत्वेऽपि आत्मीयस्नेहात् येनाकारेण सुखहेतुता तावतांशेन स्वस्योपकारकान् इन्द्रिया-

दीन् मन्यमानः तेषु नात्मीयबुद्धिं जहातीति; तदप्यसाम्प्रतम् ; तेषां सुखलेशसाधन-

त्वेऽपि अन्यैस्य आत्यन्तिकसुखसाधनस्य सद्भावेन 'निर्विपात्रस्य सद्भावेन सविपा-

नैस्येव त्यागसंभवात् ।

यदप्यभिहितम्—‘पिच्छटकाणकुण्डादिदोषदर्शनेऽपि’ इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम् ;

यतो न सौख्य्यादिगुणदर्शनात् स्नेहो भवतीत्यस्माभिरिष्यते, किन्तु उपभोगाश्रयत्वाख्य-

गुणदर्शनात् । विवेकिनश्च संयोगसम्बन्धिषु भावेषु जातिजरामरणप्रबन्धलक्षणसंसार-

दुःखहेतुत्वाख्यम् आत्यन्तिकदोषं पश्यतो न उपभोगाश्रयत्वाख्यस्य गुणस्य दर्शनमस्तीति

तन्निवन्धनैस्नेहस्य व्यावृत्तेः कथं दोषदर्शनं स्नेहस्य बाधकञ्च स्यात् ।

ननु तदोषं पश्यतो यद्यपि तत्कालेऽनुरागिणी मतिश्चर्लिता, तथापि तत्रासौ

नैव अत्यन्तं विरक्तो द्रष्टव्यः, पुनस्तद्गुणलेदर्शनादनुरागसंभवात् ; इत्यप्यसुन्दरम् ;

अद्वो हि वादात्त्विकदुःखहेतुत्वाख्यस्य तादात्विकदोषस्य दर्शनाद् विरक्तः तादात्विक-

सुखहेतुत्वाख्यस्य तादात्विकगुणस्य दर्शनात् पुनरनुरज्यते इति युक्तम्, हेयोपादेय-

तत्त्वज्ञस्तु जातिजरामरणप्रबन्धलक्षणदुःखहेतुत्वाख्यस्य आत्यन्तिकदोषस्य दर्शनाद्विरक्तो

न वादात्त्विकसुखहेतुत्वाख्यस्य तादात्विकगुणस्य दर्शनात् पुनरनुरज्यते, किन्तु आत्य-

न्तिकसुखहेतुत्वाख्यगुणदर्शनात् । न च संयोगसम्बन्धिषु तद्दर्शनमस्ति इति साकल्ये-

नासौ तत्र अपेक्षालक्षणं वैराग्यमात्मसात्करोति । ननु यदि तत्प्रबन्धलक्षणदुःखहेतुत्वेन

(१) सगृहीताभ्य इलोक सुभाषितरत्नभाण्डागारे । (२) “सम्बन्धदर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-

मार्गं”—तत्पर्यायसू० १११ । तुलना—“तत्र प्रथमं तावत् त्रीणि रत्नानि तद्यथा—बुद्धो धर्मं सपश्येति ।”

—धर्मसू० १ । (३) तात्कालिकमुखसाधनेषु स्यादपि । (४) तादात्विकमुखसाधनस्यादीनाम् ।

(५) रत्नत्रयस्य । (६) पू० ८४०५० ११ । (७) “यद्यप्येकत्र दोषेण तत्क्षणं चिन्ता मतिः । विरक्तो

नैव तत्रापि कामीव धनितान्तरः ।”—प्रमाणवा० ११२४१-४२ । (८) विरामवती जावा । (९)

तत्त्वज्ञ । (१०) संयोगसम्बन्धिषु स्यादपि ।

१-जना ब-ब० । २-सम्बन्धेषु थ० । ३ दुःखाहेतुषु ब०, आ० । ४-त्र भावान् ब० । ५-

त्वेऽप्यत्मीय-थ० । ६-स्यासद्भा-ब० । ७ निविशेपारास्य सद्भावेन ब० । ८-प्रत्येव त्यागे सभ-

वात् थ० । ९ सारूप्यादि-थ० । १०-सम्बन्ध्याभावेषु थ० । ११ गुणदर्शनमस्तीति ब०, आ० । १२-

स्नेहव्यावृ-ब० । १३ स्नेहवाध-ब० । १४ इत्यसु-ब० । १५ अन्यो हि आ० । १६-हेतुत्वाश्रयगुणदर्श-

नात् ब०, थ० । १७ अपेक्षा-थ० ।



तत्रासौ विरज्यते तदा आत्मन्यपि विरज्यताम् तथाविधदुःसहेतुत्वस्य तत्राप्यविशेषात्, तत्राविरागे वा अन्यत्रापि न विरज्येत विशेषाभावादिति; अत्र अज्ञमात्मानभिप्रेत्य एव-मुच्यते, तद्विपरीतं वा ? यदि अज्ञम्; तदा सिद्धमाधनम्, हेयोपादेयतत्त्वज्ञानरहिते तथाविधदुःसहेतौ आत्मनि वैराग्याऽभ्युपगमात् । हेयोपादेयतत्त्वज्ञानवति तु तस्मिन् तथाविधदुःहेतुत्वाभावात् वैराग्यम् ।

यच्चोक्तम्—'कायक्लेशस्य कर्मफलत्वात्' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्; हिंसादिविरतिलक्षणवृत्तोपबृंहकस्य कायक्लेशस्य कर्मफलत्वेऽपि तपस्त्वाविरोधात् । व्रता-विरोधी हि कायक्लेशः कर्मनिर्जराहेतुत्वात् तपोऽभिधीयते । न चैवं नारकादिकायक्लेश-स्यापि तपस्त्वानुपपन्नः, तस्य हिंसाद्यवेशप्रधानतया तद्विरोधित्वामंभवात् । अतः कथं प्रेक्षावतां तेन समानता मुमुक्षुकायक्लेशस्य आपादयितुं युक्ता ?

यदपि शक्तिसङ्करपक्षे 'स्वल्पेनैव' इत्याद्युक्तम्, तत्सूक्तम्, "विचित्रफलदानस-मर्थानां कर्मणां शक्तिसङ्करे सति क्षीणमोहान्त्यसमये अयोगिचरमसमये च अक्लेशतः स्वल्पेनैव परमशुद्ध्यानुरूपेण तपसा प्रक्षयाभ्युपगमात्, जीवन्मुक्तेः परममुक्तेश्चान्यथानुपपत्तेः । स तु तच्छक्तिसङ्करः बहुतरक्लेशसाध्यः इति युक्तः तदर्थोऽनेकविधोपवासादि-दुश्चरकायक्लेशाद्यनुष्ठानप्रयासः, तन्मन्तरेण तत्सङ्कराऽप्रसिद्धेः । अतः कथञ्चिदनवच्छिन्नो ज्ञानसन्तानोऽनेकविधदुर्धरतपोऽनुष्ठानात् मुच्यते इति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम् ॥ छ ॥

ननु 'अनवच्छिन्नो ज्ञानसन्तानः' इत्युक्तम्, सुपुप्ताद्यवस्थायामपि तदवच्छेदप्र-  
सुपुप्ताद्यवस्थायामास्ति ततिः । किञ्चिदपि अपरिच्छिन्दन्नेव हि 'मुमुक्षुः' इत्युच्यते, तत्र  
ज्ञानमिति वैशिष्ट्य- ज्ञानसद्भावे तदपरिच्छेदानुपपत्तेः । यदि च तत्र ज्ञानसद्भावः स्यात्  
दीना पूर्वपक्ष- तदा ज्ञानसुपुप्तावस्थयोर्भेदो न स्यात्, उभयत्र स्वपरावभासिज्ञान-  
सद्भावाऽविशेषात् । तत्र तत्सद्भावेऽपि निद्रयाऽभिभवात्, ज्ञानसद्भावस्याञ्च तदभावात्

(१) जन्मजरामरणादिप्रबन्धकारणत्वस्य । (२) स्यादित्यपि । (३) तुलना—“यादृशो दुःखहेतु स्तादृशो ह्येव, सोपाधिश्च तथा । निष्पाधिरपि हीयतामिति चत्, न, अतस्तत्त्वान्निष्प्रमीजनत्वाच्च ।”—आरमत० पृ० १०६ । (४) आत्मनि । (५) पृ० ८४१ पृ० २ । (६) 'हिंसाविरतिरुपपन्नोपबृंह-कस्य कायक्लेशस्य कर्मत्वेपि तपस्त्वाविरोधात् ।—यद्द० बृह० इली० ५२ । (७) व्रताविरोधि-त्वाभावात् । (८) नारकादिक्लेशेन । (९) पृ० ८४१ पृ० ५ । (१०) “विचित्रफलदानसमर्थानां कर्मणा शक्तिसङ्करे सति”—यद्द० बृह० इली० ५२ । (११) “मुपुप्तिवाले त्वच त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञानाजनमिति ।”—भुक्ता० का० ५६ । (१२) “सुपुप्तावस्थया ज्ञानसद्भावे जाग्रदवस्थातो न विशेषः स्यात्, उभयत्रापि स्वसवेद्यज्ञानस्य सद्भावाविशेषात् ।”—प्रश्न० ध्यो० पृ० २० ४ । (१३) “सुपुप्ती निद्रयाभिभूतत्वं विशेष इति चत्, असदेतत्, तद्वर्तमानतया तस्यापि तादात्म्येन अभिभावकत्वासम्भवात् । व्यतिरेके तु रूपादिपदार्थानामेव सत्त्वात् तत्स्वरूपं निरूप्यम् । अभिवक्ष्य यदि

१—लक्षणं दृ-व० । २—‘तत्सूक्तम्’ नास्ति थ० । ३ वाक्लेशतः थ० । ४—दु करकाय—थ० ।

५—सन्तानो नैकविध-व० । ६—वे च तदपरि-व० ।

नानयोरविशेष इति चेत्; ननु कोऽयं तया ज्ञानस्याऽभिभो नाम-नाशः, तिरोभावो वा ? यदि नाशः; कथं तत्र तत्सद्भावः तस्य तद्विरोधित्वात् । अयं तिरोभावः; तत्र; स्वपर-प्रकाशरूपज्ञानाभ्युपगमे तस्याप्यनुपपत्तेः । अतः सुपुत्राद्यवस्थायाम् उपलब्धिलक्षण-प्राप्तस्य ज्ञानस्यानुपलब्धेः अभाव एव ज्यायानिति ॥छा॥

अत्र प्रतिविधीयते । यथावदुक्तम्—‘किञ्चिदप्यपरिच्छिन्दन्नेव हि’ इत्यादि; तद-

सुपुत्राद्यवस्थास्यपि समीचीनम्; सुपुत्राद्यवस्थायां स्वापादिसंवेदनस्य तत्सुप्तसंवेदनस्य च ज्ञानसद्भावप्रसाधनम् सद्भावात् । तत्र हि ज्ञानानभ्युपगमे ‘सुप्तमहमस्वाप्तम्’ इति सुप्तो-  
त्थितस्य स्वापसुप्तस्मरणस्य ‘एतावत्कालं निरन्तरं सुप्तोऽहम् एतावत्कालञ्च सान्तरम्’ इति  
स्वाप्तस्मरणस्य चाभावानुपपत्तात्, तस्य ज्ञातयस्तुविषयत्वेन स्वविषयज्ञानान्तराधिनाभापि-  
त्वात् । यत् स्मरणं तत् स्वविषयज्ञानान्तराधिनाभापि यथा घटादिस्मरणम्, स्मरणञ्च  
सुप्तोत्थितस्य स्वापसुप्तादिसंवेदनमिति । अस्य स्वविषयज्ञानान्तरमन्तरेणाप्याधिर्भावे  
घटादिस्मरणस्यापि तदन्तरेणाधिर्भावः स्यात्, अतः कुतस्तदनुभयादिरपि सिद्ध्येत् ? ततः  
सुपुत्राद्यवस्थायां येनानुभवेन स्वापसुप्तादिस्मरणमाधिर्भाव्यते स तद्विषयोऽभ्युपगन्तव्यः ।

एतेन मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थायामपि ज्ञानसद्भावः प्रसाधितः, तदवस्थायाः प्रच्यु-

तस्य ‘तदा मया न किञ्चिदनुभूतम्’ इति स्मरणनिधेयत्वेन येनानुभवेन सता आत्मा  
निखिलानुभवविकलोऽनुभूयते तस्यामवस्थायां सोऽनुभोऽभ्युपगन्तव्यः, तमन्तरेण  
तत्स्मरणानुपपत्तेः । न च सुपुत्राद्यवस्थायां स्वापसुप्तस्य तत्संवेदनस्य वा ‘इदमित्थम्’

विनाशः, न विज्ञानस्य सत्त्व विनाशस्य वा निर्हेतुकत्वम् । अयं तिरोभावः, न; विज्ञानस्य सत्त्वेन तत्सत्तैव  
मवेदनमित्यभ्युपगमे तस्यानुपपत्तेः ।”-प्रश्न० श्रौ० पृ० २० इ ।

(१) निद्रया । (२) नाशस्य । (३) सद्भावविरोधित्वात् । (४, ५) ८४७ पृ० १८ । (५)

‘ततश्च सुपुत्रादनुभूत आनन्द आत्मा भावरूपाज्ञानञ्चेति त्रयमप्युत्थितेन परामृश्यते सुप्तमहमस्वाप्तम्  
न किञ्चिदवदिपमिति ।”-विवरणप्र० पृ० ६० । (६) “अस्ति चात्र स्वापलक्षणार्थनिरूपणम्-एताव-  
त्कालं निरन्तरमुपुत्ताऽहमेतावत्कालं सान्तरमित्यनुस्मरणप्रतीतिः ।”-प्रमेयक० पृ० ३२३ । (७) स्मर-  
णस्य । (८) अनुभवात्मकः । (९) तुलना-“सुप्तमूर्च्छाद्यवस्थायाम् वेत्ते नेति च ते कुतः । निश्चयो  
वेदनाभावादिति चेत्स कुतो गतः । यदीत्य भवतस्तस्मात् निश्चयः सप्रवर्तते । न चेति चित्तमित्येव सति  
सिद्धा सचित्तता ॥ यदि च तासु मूर्च्छाद्यवस्थायाम् न वेद्म्यहं चित्तमित्येव निश्चयः प्रवर्तते भवतः, तदा  
तर्नेव तथा प्रवृत्तेन निश्चयेन सचित्तता सिद्धा ।”-तत्त्वस०, पृ० ५० ५४० । प्रमेयक० पृ० ३२३ ।  
‘स्वप्नमूर्च्छाद्यवस्थायाम् चित्तं च यदि नेप्यतः । मृतिः स्यात्तत्र चोत्पत्तो मरणभाव एव वा ।”-तत्त्वस०  
पृ० ५४१ । (१०) निखिलानुभवविकल्पस्य आत्मनः स्मरणानुपपत्तेः । (११) तुलना-“स्यान्मतं यदि  
विज्ञानं दशास्वास्वस्ति तत्कथम् । न स्मृतिः प्रतिबुद्धाद तदाकारा भवेदिति ॥ तदकारणमत्यर्थं  
पाटवादरसम्भवात् । स्मरणं न प्रवर्तते सद्योजातादिचित्तवत् ॥-यदि ह्यनुभूत इत्येतावन्मात्रेणैव  
स्मरणं स्यात्स्यादतः, यावता सत्यप्यनुभवे पाटवाभ्यासादित्वादिर्वैकल्यात् स्मरणं न भवति, यथा  
सद्योजाताद्यवस्थायामनुभूतस्यापि चित्तस्य ।”-तत्त्वस०, पृ० ५४० । प्रमेयक० पृ० ३२५ ।

१ स्वप्नादिस-श्रौ० ॥ तत्सुप्तसंवेदनस्य नास्ति श्रौ० ॥ तत्र विज्ञाना-श्रौ० ॥ ४-मत्वापम् व० ।

५ यत् स्वप्नस्मरणं व० । ६-निद्राव्ययो येना-आ०, व० । ७ ननु सुपुत्रा-श्रौ०, न च सुप्ता-आ० ।

इति निरूपणाभावादभावः इत्यभिधातव्यम्, तदहर्जातवालकस्य मुखप्रक्षिप्तस्तन्यजनित-  
मुखेन तत्संवेदनेन चाऽनेकान्तात् । न खलु तत्तेन 'इदमित्थम्' इति निरूप्यते, अथ च  
अस्ति । नच दुःखाभावात् मुखशब्दप्रयोगोऽत्र गौणः, अभावस्य प्रतियोगिभावान्तर-  
स्वभावतया अभावविचारावसरे व्यवस्थापितत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'तत्र ज्ञानसद्भावे' इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, तत्र ज्ञानस-  
द्भावेऽपि जाग्रत्सुषुप्तावस्थयोर्भेदोपपत्तेः । यत्र हि अनभिभूत बाह्याध्यात्मिकाऽर्धविचार-  
चतुर ज्ञान सा जाग्रदवस्था, यत्र तु निद्राद्यभिभववशात्तद्विपरीतं सा सुषुप्तावस्था ।

यदपि—'कोऽयं निद्रादिना ज्ञानस्याभिभवः' इत्याद्युक्तम्, तत्रास्य तद्वशाद् बाह्या-  
ध्यात्मिकार्धविचारविधुरत्वमेवाऽभिभवः । स्वपरप्रकाशस्वभावत्वात्तस्यै कथं तद्विधुर-  
त्वम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्, गच्छतृणस्पर्शसंवेदनेन रूषभिचारात्, तस्य तत्स्वभावत्वेऽपि  
तन्निरूपणसामर्थ्यप्रतीतेः । नहि तत्स्वभावत्वमात्रेणैव ज्ञानस्य तन्निरूपणसामर्थ्यम्,  
सर्वत्राऽनभिभूतस्यैवास्यै तन्निरूपणसामर्थ्यसंभवात् । यथा च गच्छतृणस्पर्शसंवेदनम्  
अन्यमनस्कृतयाऽभिभूतम् तथा ईवप्रादिसंवेदनं निद्रादिना इति युक्तमुत्पद्यमानः ।  
कथञ्चैवंवादिनो मणिमन्त्रादिना अग्न्यादे शरावादिना च प्रदीपादेः प्रतिबन्धं सिद्ध्येत् ?  
नहि 'तेनै तस्यै नाशः' प्रतिबन्धं सम्भवति, प्रत्यक्षविरोधात् । नापि तिरोभावः, सर्वकार्य-  
जननसमर्थस्यास्य तिरोभाषस्याप्यसंभवात् । प्रतीत्यनतिरुमेणात्र स्वरूपसामर्थ्य-  
प्रतिबन्धाभ्युपगमः अन्यत्रापि समानः ।

किञ्च, सुषुप्तावस्थाया ज्ञानाभावः स एवात्मा प्रतिपद्यते, पार्श्वस्थो वा ? यदि  
स एष, किं तत एव ज्ञानात्, तदभावात्, तदनुपलम्भात्, जाग्रत्प्रबोधदशाभाविज्ञा-  
नान्तराद्या ? न तावत्तत एष, अस्याऽसत्त्वात् । यदसन्नं तत् कस्यचित्प्रतिपत्तिहेतुः 20

(१) प्रतियोगिन सकाशात् यदाभन्न भावान्तर भूतलादि तत्स्वभावतया । (२) पृ० ८४७ प०  
१९।(३) निद्रादिसामग्रीविशेषाद् विक्षिप्तं सुषुप्तावस्थाया गच्छतृणस्पर्शज्ञानन्युप बाह्याध्यात्मिकप  
दार्थान्कथमग्रहणविमुखं ज्ञानमस्ति अन्यथा जाग्रत्प्रबुद्धज्ञानप्रवाहयोरप्यभावप्रसक्तिरिति । —सम्मति०  
टी० पृ० १९३ । प्रमेयक० पृ० ३२३ । (४) पृ० ८४० प० १ । (५) ज्ञानस्य । (६) स्वपरप्रकाशनस्व-  
भावत्वमात्रेण (७) ज्ञानस्य । (८) तुलना— 'मणिमन्त्रादिना अग्न्यादिप्रतिबन्धं शरावादिना प्रदीपादि-  
प्रतिबन्धोऽपि च समानत्वात् ।'—प्रमेयक० पृ० ३२२ । (९) मन्त्रादिना शरावादिना वा । (१०)  
अग्न्यादे प्रदीपस्य वा । (११) निद्रया ज्ञानस्याभिभवेऽपि । (१२) तुलना— तदवस्थाया विज्ञानाभा-  
वप्राहकप्रमाणासंभवात् । तथाहि—न तावत्सुप्त एव तदवस्थाया विज्ञानाभावो वेत्ति तदा विज्ञानान-  
भ्युपगमात् । तदवगमे च तस्यैव ज्ञानत्वात् न तदवस्थाया तदभावः । नापि पार्श्वस्थितोऽन्यस्तदभाव  
वेत्ति, कारणव्यापकस्वभावानुपलब्धीना विरुद्धविधेर्वाऽत्र विषयऽव्यापारात्, अयस्य तदभावावभास  
कत्वायोगात् ।"—सम्मति० टी० पृ० ९० । प्रमेयक० पृ० ३२३ ।

१ तत्र तेन थ० । २ सुषुप्तावस्थेवेदन थ० । ३ वेदनतस्य थ० । ४ नाशं सम्भव० ।

५ स्वकायजनन-व० ।

यथा वन्ध्यास्तन्धय , असञ्च सुपुत्राद्यवस्थायामभिप्रेतं भवद्भिः ज्ञानमिति । नापि तद-  
भावात्, परिच्छेदकत्वस्य ज्ञानधर्मतया तदभावे सभवाभावात्, अन्यथा ज्ञानस्यैव  
'अभाव' इति नामकृत स्यात् ।

तदनुपलम्भतोऽपि तत्कालभाविन , अन्यकालभाविनो वा तत्र तदभावप्रतिपत्ति  
स्यात् ? प्रथमपक्षे कथं तत्र सर्वथा ज्ञानाभावः ? तदभावप्राहिणोऽनुपलम्भज्ञानस्य  
तत्र विद्यमानत्वात् । नापि अन्यकालभाविन , तस्य तत्प्रतिपत्तिहेतुत्वायोगात् । नहि  
अन्यकालोऽनुपलम्भोऽन्यकालस्याभावस्य प्रतिपत्तिहेतुः अतिप्रसङ्गात् । अनुपलम्भश्च  
उपलम्भाभावः , अभावश्च आश्रयग्रहण प्रतियोगिस्मरणसापेक्षं प्रहीतुं शक्यं , तत्परत-  
तया तद्ग्रहणस्मरणाभावे प्रहीतुमशक्यत्वात् । अतः अनुपलम्भ तत्रैच्छता तदाश्रय-  
तया तत्र प्रथममात्मा परिच्छेत्तव्यं प्रतियोगी च स्मर्त्तव्यः , अतः कथं सुपुत्राद्यव-  
स्थाया सर्वथा ज्ञानाभावः सिद्धेत् ? तत्र अनुपलम्भतोऽपि तत्र तदभावसिद्धिः ।

नापि जाग्रदप्रबोधदशाभाविज्ञानान्तरात्, तदपेक्षया सुपुत्रादिज्ञानस्य उपलब्धिल  
क्षणप्राप्तत्वासंभवात्, तदज्ञाभाविन तदभावप्राहिण कस्यचिज्ज्ञानान्तरस्थाऽप्रतीतेश्च ।  
'निर्भरमुपेन मया न किञ्चिज्ज्ञातम्' इति प्रबोधदशाभाविज्ञानं तदभावप्राहकत्वेन  
प्रतीयते एव इत्यप्यपेशलम्, एतस्मात् तदा तत्सद्भावस्यैव प्रतीतेः । स्मृतिरूपं हि इदम्,  
'स्मृतिश्च तदज्ञाया तदभावप्राहिज्ञानान्तरमन्तरेण नोपपद्यते' इत्युक्तमनन्तरमेव, तत्र  
सुपुत्राद्यवस्थायां स एवात्मा ज्ञानाभावः प्रतिपत्तुं समर्थः ।

नापि पार्श्वस्थ , कारणस्य भावव्यापकानुपलब्धे विरुद्धविधेर्वा तदभावाऽविनाभा  
विनो लिङ्गस्य अत्रासंभवात् । न च तत्र तत्सद्भावाऽविनाभाविनोऽप्यस्याऽसंभवः समान  
इत्यभिधातव्यम्, ईवात्मनि तदविनाभावित्वेनाऽवधारितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकार-  
विशेषादेः तत्सद्भावाऽविनाभाविनो लिङ्गस्य अत्रोपलब्धे , जाग्रदशायामपि अन्यचेतो  
वृत्ते तद्व्यतिरेकेण अन्यतोऽप्रतिपत्तेः ।

ननु द्विविधोऽत्र प्राणादि - चैतन्यप्रभवः , प्राणादिप्रभवश्च । तत्र चतन्यप्रभवो

(१) ज्ञानाभावे । (२) सुपुत्राद्यवस्थायाम् । (३) ज्ञानाभावः । (४) आश्रयभूतस्य  
आत्मनो ज्ञानमथ च ज्ञानाभावस्य प्रतियोगिना ज्ञानस्य स्मरणमस्त्येवेति भावः । (५) सुपुत्रिदशायाम् ।  
(६) ज्ञानाभावः । (७) लिङ्गस्य । (८) तुलना - स्वात्मनि स्वसंविदितविज्ञानाविनाभूतत्वेन  
निश्चितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकारविशेषादेः तत्सद्भावायामुपलभ्यमानलिङ्गस्य सदभावेन अनुमान  
प्रतीत्यत्पत्तिः । -संमतिः टी० पृ० ९० । प्रमेयक० पृ० ३२४ । (९) ज्ञानाविनाभावित्वेन । (१०)  
प्राणापानशरीरोष्णतादिभ्य एव ज्ञानं प्रतीयत इत्यर्थः । (११) ननु द्विविधोऽत्र प्राणादि चतन्य  
प्रभवो जाग्रदशायाम् प्राणादिप्रभवश्च सुपुत्राद्यवस्थायामिति । -प्रमेयक० पृ० ३२४ ।

१ तत्प्रतिहेतुत्वा-आ०, व० । २-कालस्य भावस्य आ० । ३ निर्भरत्वजन्यं मया न कि-३०  
आ० । ४ मया किञ्चिज्ज्ञानम् थ० । ५ तदभावस्यैव थ० ।

जामदशायाम् प्राणादिप्रभवश्च सुषुप्तावस्थायामिति । तत्र चेतन्यप्रभवप्राणादेर्जामद-  
शया चैतन्यानुमान युक्तम् न पुन प्राणादिप्राणादे । न खलु गोपालघटिकादो धूमप्रभव-  
धूमादन्यनुमान दृष्टम् अग्निप्रभवधूमादेव तदर्शनात्, इत्यप्यचारु, सुषुप्तेतरावस्थयोः  
प्राणादेर्विशेषाऽप्रतीते । यैवेव हि सुषुप्त प्राणिति तथैव इतरोऽपि, अन्यथा 'किमय  
सुषुप्तः किं वा जागर्ति' इति सन्देहो न स्यात् । यदि चेतो सुषुप्तस्य चैतन्यप्रभवा न  
स्यु तर्हि जामतः परवञ्चनाभिप्रायेण सुषुप्तव्याजेनाऽवस्थितस्य तादृशमेव तेषां सम्भवो  
न स्यात् । नहि अग्नेर्चायमानो धूम प्रयत्नशतैरपि धूमादन्यतो वा जायते, धूमप्रभवो  
वाऽग्नेः इति । दृश्यन्ते च यादृशा एव सुषुप्तस्य प्राणादय तादृशा एव अस्यापि ।  
तन्नैते भिन्नकारणप्रभवाः । चेतन्येतरप्रभवाश्च प्राणादीन् विवेचयन् वीतरागेतरप्रभवान्  
व्यापारादीनपि विवेचयतु । तथा च "सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टन्ते वीतरागाश्च  
सरागवत् अतो वीतरागेतरविभागो निश्चेतुमशक्यः" [ ] इति विप्लवते ।

सुषुप्तादौ च प्रथम प्राणादि कुतो जायताम् ? जामद्विज्ञानसहकारिणो जाम-  
प्राणादेः इति चेत्, न, एकस्माज्जामद्विज्ञानात् अनन्तरभावी प्राणादि कालान्तरभावि  
च प्रबोधज्ञानम् इत्यस्याऽसम्भाव्यमानत्वात् । नहि एकस्मात् सामग्रीविशेषात् क्रम-  
भाविकार्यद्वयसम्भवो युक्तः, अन्यथा नित्यावप्यक्रमात् क्रमवत्कार्यद्वयोत्पत्तिः स्यात् ।  
तथा च "नाकृमात् क्रमिणो भावाः" [प्रमाणवा० १।४५] इत्यस्य विरोधः । तस्मात्  
सुषुप्तावस्थाभाविन एव ज्ञानात् तत्कालभाविप्राणादिप्रभवोऽभ्युपगन्तव्यः, अतः कथं  
तत्र ज्ञानाभावसिद्धिः ? ततो ज्ञानस्य कदाचिदपि व्यवच्छेदासभवात् सिद्धोऽनवच्छिन्नो  
ज्ञानसन्तानः, तस्य च मुक्तिकारणानुष्ठानात् प्रतिबन्धककर्मप्रक्षये अनन्तचतुष्टयस्वरूप-  
लाभो मोक्ष इति ।

तथा च घातिकर्मप्रक्षये समुत्पन्नकेवलज्ञानादेर्भगवतो मुक्तिर्यैरभिप्रेता<sup>१</sup>तैः जीव-  
न्मुक्तये दत्तो जलाञ्जलिः अनन्तचतुष्टयासभवात् । कबलाहारो हि जुद्धेदनोदये  
गृह्यते, तदुदये च जुद्धो यस्य सभवात् भगवतः कैथमनन्त सौख्यम् ? यतोऽनन्तचतुष्टय-  
स्वरूपलाभलक्षणा जीवन्मुक्तिः स्यात् । न च तत्र भुक्तावेदकं किञ्चित्प्रमाणमस्ति ॥छ॥

- (१) यैवेव हि सुषुप्त प्राणिति तथैतरोऽपि, अन्यथा किमय सुषुप्तः किं वा जागर्ति इति  
सन्देहो न स्यात् । यदि चेतो सुषुप्तस्य चैतन्यप्रभवा न स्यु किन्तु प्राणादिप्रभवा, तर्हि जामतः  
परवञ्चनाभिप्रायेण सुषुप्तव्याजेनावस्थितस्य तादृशमेव तेषां भावो न स्यात् । -प्रमेयक० पृ० ३२५ ।  
(२) प्राणप्रभवाणामेव प्राणादीनाम् । (३) द्रष्टव्यम्-पृ० ६०३ टि० १ । (४) एकस्माज्जामद्विज्ञा-  
नादनन्तरभावी प्राणादि कालान्तरभावि च प्रबोधज्ञानमित्यस्यासम्भाव्यमानत्वात् । -प्रमेयक० पृ० ३२५ ।  
(५) द्रष्टव्यम्-पृ० ६१९ टि० १० । (६) श्वेताम्बर यापनीयश्च । (७) केवलनि ।

१ सुप्त आ० । २ एव सुप्तस्य य० । ३ विवेचयत य० । ४ सुप्तादौ च आ० । ५-भाविप्राणादेः  
का-थ० । ६-द्रवस्य सभ-व० । ७-सिद्ध य० । ८ कथमनन्तसौख्यं आ० । ९-क किञ्चित् य० ।

नन्विदमस्ति—यदा भुक्तिः अविकलकारणा तदाऽसौ भवत्येव यथा छद्मस्थाव-  
 स्थायाम्, तथाभूता चासौ संयोगिकेत्यवस्थायामिति । 'द्विविध  
 हि भुक्तेः कारणम्—बाह्यम् आभ्यन्तरञ्च । तत्र बाह्यम्—आहारादि,  
 तत्तावदविकलमास्ते न तत्र विप्रतिपत्तिः । आभ्यन्तरमपि पर्याप्ति-  
 वेद्य-तैजस-दीर्घायुष्कोदयलक्षणऽभगवति अविकलमेव । यतो हि  
 शरीरेन्द्रियादिनिष्पत्तिः सा पर्याप्तिः । वेद्यं सुखदुःखसाधकं कर्म । तैजसम् अन्त-  
 स्तेजः शरीरोष्मा, यतो भुक्ताऽन्नादिपाको भवति इति । दीर्घमायु चिरजीवनकारण  
 कर्म । एतदुदयात् क्षुद्रेदना उपजायते, अस्ति च तदुदयो भगवति अतो भुक्तिसिद्धिः ।  
 तदनभ्युपगमे वा तत्र क्षुदभावः प्रमाणात् प्रतिपत्तव्यः । तच्च प्रमाणम्—आगमः,  
 अन्यद्वा स्यात् ? न तावदागमः, सिद्धवत् संयोगिकेवल्लिनि क्षुदभावप्रतिपादकस्य आग-  
 मस्याऽसंभवात्

प्रमाणान्तरान्च निषेधः स्वभावानुपलम्भात्, अन्यतो वा स्यात् ? न तावत्  
 स्वभावानुपलम्भात्, केवलिनो विप्रकृष्टस्वभावत्वात् । न च विप्रकृष्टस्वभावे भावे  
 स्वभावानुपलम्भो युक्तः, एरुञ्जानससर्गिपदार्थान्तरोपलम्भलक्षणत्वात्तस्य । अन्यतोऽपि  
 विधीयमानात्, निषिध्यमानाद्वा तन्निषेधः स्यात् ? यदि विधीयमानात्, तदा तेन विरो-  
 धिना भवितव्यम्, अवरुद्धविधेरभावाऽसाधकत्वात् । न च क्षुद्धिरोधि केवलिनि  
 किञ्चित् प्रतीयते । न च ज्ञानादिगुणा एव तत्र तद्विरोधिनः । इत्यभिधातव्यम्, यतो  
 ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोधः, तद्विरोधस्य वा ? यदि ज्ञानादिमात्रस्य, तर्हि यथा यथा  
 तद्गुणा विवर्द्धन्ते तथा तथा क्षुधो हानितारतम्येन भवितव्यम् प्रकाशविवृद्धाविव तमसः,  
 न चैवमस्ति । नहि घालादौ ज्ञानाद्यपचये क्षुदुपचयः, ततः प्रभृति च ज्ञानाद्युपचये  
 तारतम्येन क्षुदपचयो लक्ष्यते । तत्र ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोधः । अथ ये

(१) अस्ति च केवलिभुक्तिः समग्रहेतुयथा पुरा भुक्ते । पर्याप्तिवेद्यतैजसदीर्घायुष्कोदयो  
 हेतुः ॥ नष्टानि न कर्माणि क्षुधो निमित्तं विरोधिनो न गुणा । ज्ञानादयो जिने किं सा ससारस्तिपति  
 नास्ति । '—केवलिभू० श्लो० १-२ । सम्मति० टी० पृ० ६१२ । स्या० २० पृ० ४७४ । व्याख्यात्मिक०  
 पृ० ६३ B । अस्ति केवलिना भुक्तिः समग्रसामग्रीकरत्वात् पूर्वभुक्तिवत् । सामग्री चेय प्रक्षपाहारस्य,  
 तद्यथा पर्याप्तत्वं वेदनीयोदय आहारपतितनिमित्तं तैजसशरीर दीर्घायुष्यत्वं चेति । '—सूत्रकृ० श्लो०  
 पृ० ३४५ । युक्तिप्र० पृ० १५३ । (२) यतः कवलाहारभुक्तेर्दिष्टा कारणं बाह्यमाभ्यन्तरं च । तत्र  
 बाह्यमशनादि तत्तावदस्त्यव न तत्र कस्यापि विवादः । आभ्यन्तरं पर्याप्तिवेद्यतैजसदीर्घायुष्कोदय  
 लक्षणम् । '—स्या० २० पृ० ४७५ । (३) तम इव भासो वृद्धो ज्ञानादीनां न तारतम्येन । क्षुध  
 हीयते न च तज्ज्ञानादीनां विरोधमस्ति ॥ अविकलकारणभावे तदन्यभावे भवेदभावेन । इदमस्य  
 विरोधीति ज्ञाने न तदस्ति केवलिनि । '—केवलिभू० श्लो० ३-४ । स्या० २० पृ० ४७३ । 'न कवला  
 हारवत्त्वेन तस्यासवज्ञत्वं कवलाहारसवज्ञत्वयोरविरोधात् । '—प्रमाणनय० २।२७ ।

१ संयोगिकत्व—ब० । २ एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ० । ३ भावे नास्ति श्र० । ४—तद्व्यम-  
 विधरभा—आ० । ५ ज्ञानापचये ब० ।

केवलिगता ज्ञानादयः प्रकर्षपर्यन्तप्राप्ताः तेषामेव क्षुधा विरोधः; तन्न; तथाप्रतिप-  
त्तुमशक्तेः । नहि केवलिज्ञानादयः क्षुधं विरुन्धन्ति इति अर्वागदृशा प्रतिपत्तुं शक्यम्;  
अतीन्द्रियत्वात्तेषाम् ।

किञ्च, अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावात् विरोधगतिर्भवति शीतस्पर्शस्येव  
अग्निसन्निधौ । ऐतच्चात्र दुर्घटम्—केवलिगुणानामतीन्द्रियतया 'एतत्सन्निधौ क्षुन्न भवति'  
इति प्रतीतेरनुपपत्तेः । तन्न विधीयमानात् कुतश्चित् तन्न क्षुधोऽभावसिद्धिः ।

निषिध्यमानश्च भावः तस्याः कार्यम्, कारणम्, व्यापको वा स्यात् ? यदि  
कार्यम्; तदात्मनिर्वर्तनसमर्थाऽविकलकारणस्यैव तत् नियुक्तिमवगमयेत् न कारण-  
मात्रस्य, अस्य कार्याभावेऽपि भावाविरोधात् । कारणमपि निवर्त्तमानं कार्यं निवर्त्तयति  
यथा वह्निर्धूमम्, व्यापकं वा निवर्त्तमानं व्याप्यम् यथा वृक्षः शिशापाम् । न चात्र  
क्षुधः कारणस्य व्यापकस्य वा कस्यचिन्निवृत्तिरस्ति । नच मोहनीयादिकर्मचतुष्टयाऽभा-  
वात् क्षुधोऽभावः; तस्याः तत्कार्यत्वस्य तत्त्वभावत्वस्य वाऽसंभवात् । नहि क्षुत् तत्कर्म-  
चतुष्टयकार्या; प्राक्प्रतिपादितवाह्याभ्यन्तरकारणप्रभवत्वात्तस्याः । प्रतिपक्षभावनयाऽ-  
नियत्त्यत्वेन मोहस्वभावत्वाऽसंभवाच्च, यो हि मोहस्वभावः स प्रतिपक्षभावनया निर्वर्त्त्यते  
यथा क्षमादिभावनया क्रोधादिः, मोहस्वभावा च क्षुद् भवन्निरिष्टा इति । तथा च  
क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थं शास्त्रे प्रतिपक्षभावनैव उपदिश्येत न क्लेशभूयिष्ठध्यानाध्ययनविघात-  
कारिणी पिण्डैपणा । शीतोष्णवाधातुल्यत्वाच्च क्षुधो न मोहस्वभावत्वम्, अन्यथा तद्वा-

(१) "अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद्विरोधगतिः ।"—न्यायवि० पृ० १६ । (२)  
विरोधज्ञानम् । (३) "निषिद्धमानश्च भावस्तस्या कार्यं कारण व्यापको वा स्यात् ।"—स्या० १० पृ०  
४७३ । "किमेव सति कवलाहारस्म व्यापक कारण कार्यं सहचरादि वा सार्वज्ञ्येन विरोधमधिवमेत् ।"—  
रत्नाकराव० २।२७ । आध्यात्मिक० श्लो० ५ । (४) क्षुध । (५) "यदि कार्यम्, तदा तन्निवर्त्त-  
मानम् आत्मनिर्वर्त्तनसमर्थाया एव क्षुधो निवृत्तिमवगमयेत् न सर्वथा, कारणमात्रस्य कार्याभावेऽपि  
भावाविरोधात् ।"—स्या० १० पृ० ४७३ । (६) कारणमात्रस्य अनुकूलात्मन । (७) "ज्ञानावरणी-  
यादेर्ज्ञानावरणादिकर्मण कार्यम् । क्षुत् तद्विलक्षणास्या न तस्य सहकारिभावोऽपि ।"—केवलिभू० श्लो०  
१० । "न हि क्षुन्मोहनीयकार्या वेदनीयप्रभवत्वात् ।"—स्या० १० पृ० ४७३ । (८) 'न क्षुध विमो-  
हपाको यत्प्रतिमस्थानभावननिवर्त्त्या । न भवति, विमोहपाकः सर्वोऽपि हि तेन विनिवर्त्यः ।"—केव-  
लिभू० श्लो० ७ । स्या० १० पृ० ४७४ । शास्त्रवा० टी० पृ० ३९३ B. । आध्यात्मिक० पृ० ५९  
B. । "यतो मोहविपाका क्षुन्न भवति तद्विपाकस्य प्रतिपक्षभावनया प्रतिसत्त्वानेन निवर्त्यमान-  
त्वात् । तथाहि कपायाः प्रतिकूलभावनया निवर्तन्ते क्षुद्वेदनीय तु रोगघ्नोष्णविपादिवत् जीवपुद्गलवि-  
पाकितया न प्रतीपवासनामानेन निवर्तते अतो न मोहविपाकस्वभावा क्षुदिति"—मृच्छ० शी० पृ० ३४६  
A. । पृथितप्र० पृ० १५० । (९) "शीतोष्णवाततुल्या क्षुत् तत्प्रतिविपानकाङ्क्षा तु । मूढस्य  
भवति मोहात् तथा भृशं बाध्यमानस्य । शीतोष्णसुदुःस्वाद्यो हि ननु वेदनीय इति ।"—केवलिभू० श्लो०  
८, १३ । स्या० १० पृ० ४७४ ।

१-यत्वात्सन्निधौ ब० । २ भगवतीति आ० । ३ तदात्मनिवर्त्तनसमर्थाविकल-श्र० ।  
४-भावे भावा-व० । ५ निवर्त्यते ब० ।

धाया अपि मोहस्यभावत्त स्यादविशेषात् ।

ननु भगवत क्षुद्रभ्युपगमे अक्षेपज्ञत्वादिविरोध, क्षुद्रदये अस्मदादिवत्तत्र ज्ञानदर्शनचेष्टादे प्रक्षयात्, तदसमीचीनम्, ज्ञानावरणादिप्रक्षये जातायामपि क्षुधि ज्ञानादिक्षयाऽयोगात्, तत्क्षयो हि ज्ञानावरणादिकर्मोदयनिवन्धन । अतः अस्मदादौ तदुदयातिशयोक्तं तत्क्षयातिशयो युक्तं भगवन्ति तु तदावरणादेरक्षेपस्यापगमात् सत्यामपि क्षुधि न ज्ञानादिक्षयः । नहि अग्न्यभावे सत्यपीन्धने धूमो भवति । तत्कर्मचतुष्टय-प्रभवत्वे च क्षुधः “एकादश जिने क्षुत्पिपासादयः परीपहा वदनीयप्रभवाः” [ ] इत्यागमविरोधः । नैच उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिं विहरतः सयोगकेवलिनः तावत्कालं कायस्थितिः भुक्तिं विना घटते । अथ अनन्तवीर्यस्यात् तां विनाप्यस्य तत्स्थितिः, तर्हि आयुष्कर्मणापि विना तत्स्थितिप्रसङ्गात् न वदाचित् शरीराद्यपायः स्यात् इति मोक्षाय दत्तो जलाञ्जलिः । तत्स्थिते. आयुष्कर्मपेक्षणे वा आहारापेक्षणमप्यस्तु उभयस्यापि तत्कारणत्वाऽविशेषात् ।

किञ्च, प्रदीपज्वालाजलधारासमान शरीरम्, तत्र च यथा तैलक्षये न प्रदीपज्वालाऽ-वतिष्ठते जलागमनमन्तरेण वा जलधारा तथा शरीरमपि भुक्त्यभावे न स्थितिर्मास्तिष्णुते ।

अथ भुक्तिर्दोष, यदुपपासादिप्रत्याख्यानं क्रियते, निर्दोषे च केवलिनि दोषो विरुद्धः, तर्हि निपद्या गमनञ्च अर्हति न प्राप्नोति स्थानयोगादिना निपद्यादेः प्रत्याख्या-नात्, वचनञ्च न प्राप्नोति मौनप्रतिकोपलम्भात् ।

अथ मतम्—अक्षेपज्ञस्य भासादिकं पश्यतः कथं भुक्तिः अन्तरायोपपत्तेः ? तद-

(१) ‘अनन्तं च मुक्तं भवतु ज्ञानादिगुणसंगतम् । क्षुधादयो न बाधन्ते पूर्णं त्वस्ति महोदय ॥’

—आश्रितं ३०।११ । जैनमतभा० पृ० ८ । (२) ज्ञानावरणोदयात् । (३) ज्ञानक्षयातिशयः । (४) “निरस्तघातिकमचतुष्टयं जिने वेदनीयसद्भावात्तदाश्रया एकादश परीपहा सन्ति अथवा एकादश जिने न सन्तीति वाक्यस्य कल्पनीयः । —सर्वायसि० १।११ । (५) ‘दिशोनपूर्वकोटीविहरणमव सतीह केवलिनः । सूत्रोक्तमुपापादि न भुक्तिश्च न नियतकाला स्यात् । —केवलिभू० श्लो० २४ । समति० टी० पृ० ११३ । सूत्रकृ० श्लो० पृ० ३४६ B । स्या० २० पृ० ४८० । शास्त्रवा० टी० पृ० ३९५ A । (६) भुक्तिम् । (७) ‘आयुरिवाभ्यवहारो जीवमहेतुविनाभ्यवहते । चेत्तिष्ठत्वनन्तवीर्यं विनायुषा कालमपि तिष्ठत ॥ न ज्ञानवदुपयोगो वीर्यं कमक्षमण लब्धस्तु । तत्रायुरिवाहारोऽपेक्ष्यत न तत्र बाधास्ति ॥’ —केवलिभू० श्लो० २०—२१ । स्या० २० पृ० ४८० । (८) ‘तैलक्षयं न दीपो न जलागममन्तरेण जलधारा । तिष्ठति यथा तनो स्थितिरपि न विनाहारयोगेन ॥ —केवलिभू० श्लो० ३१ । स्या० २० पृ० ४८० । (९) ‘भुक्तिर्दोषो यदुपोष्यते न दोषश्च भवति निर्दोषः । इति निगदितो निपद्याहति न स्थानयोगादे ॥’ —केवलिभू० श्लो० २८ । स्या० २० पृ० ४८० । (१०) परमावधयुक्तस्य लघुस्यस्यैव नान्तरायोऽपि । सर्वायदशनऽपि स्थानं चान्यथा पूर्वमपि भुक्तिः ॥ —केवलिभू० श्लो० ३२ । स्या० २० पृ० ४८० ।

1—याज्ञक्षयाति—व० । 2—वति तदा—य० । 3 कमचतु—व० । 4 इत्याद्यागम—व० ।

5—पूर्वकोटिविह—व० । 6 घटत व० । 7 तत्र यथा आ० । 8 भुक्ताभावे आ० । 9—मास्तिष्ठते व० । 10 भुक्तिर्दोषा यदु—आ० ।



सङ्गतम्, अवधिज्ञानिभिः परमर्षिभिरनेकान्तात्, ते हि सकल त्रैलोक्य पश्यन्ति अथ च भुञ्जते, एवं केवल्यपि । इन्द्रियविषये एव हि अन्तरायो नान्यत्र, अन्यथा छद्मस्था-  
वस्थायामप्यन्तरायः स्यात्, भगवता तदापि अवधिज्ञानेन अशेषवस्तुसाक्षात्करणात् ।

न च भुक्तौ जिह्वारसप्राप्ते. केवलिनो मतिज्ञानानुपङ्गः, यतो न इन्द्रियविषय-  
सम्बन्धमात्रेण मतिज्ञानं भवति । किं तर्हि ? तत्सम्बन्धे मतिज्ञानाग्रणक्षयोपशमे च  
सति । एतच्च प्रक्षीणाशेषावरणे केवलिनि नास्ति इति न तज्ज्ञानानुपङ्गः, अन्यथा  
श्रोत्रादीन्द्रियाणां दिव्यतूर्यादिरवेण गणधरदेवादिरूपेण सुगन्धिकुसुमधूपवासादिगन्धेन  
मरुत्सिंहासनस्पर्शेन सम्बन्धेऽपि मतिज्ञानमनुपज्येत ।

सं च भगवान् पूर्वाह्णे अपराह्णे च पादोनप्रहरं धर्मोपदेशनाकाल एव सिंहा-  
सनाधिरूढ आस्ते, शेषेदिनं तु दिव्यस्थाने देवच्छन्दकामिधाने गणधरदेवान्विहाय अन्य-  
मनुष्यतिरश्चामगोचरे ईशानदिशायां समवसरणीयद्वितीयप्राकाराभ्यन्तरवर्त्तिनि गत्वा  
पत्यङ्गे आसने वा यथा सुखमास्ते । तत्र च गणधरदेवैरानीतमाहारं सकलदोषशुद्ध  
क्त्वा क्षुब्धेदनोदये गृह्णाति । ते च 'आहारं तदीयहस्ते निक्षिप्तं पश्यन्ति, कथमसौ  
भुङ्क्ते' इत्येतत्तु न पश्यन्ति, मनुष्यतिरश्चा सर्वज्ञाहारनी(नि)हारणामगोचरत्वात् इति ॥७॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'आहारवेद्यादिकर्मोदयलक्षणवाह्याभ्यान्तर-

कवलाहारनिरसनपुर कारणसङ्गात् क्षुब्धोदये सति अविकलकारणा भगवतो भुक्तिर्भ-  
स्सर केवलिन नाक वत्येष' इत्यादि, तदसमीचीनम्, यैत. तैत्तसङ्गात्तदुदये केवलनि  
माहारप्रसाधनम्— आहारमात्रं प्रसाध्यते कवलाहारो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम्,

(१) 'इन्द्रियविषयप्राप्तौ यदभिनिबोधप्रसञ्जनं भुक्तौ । तच्छन्दगन्धरूपस्पर्शप्राप्त्या प्रति  
बुद्धम् ॥'—केवलिभ० इलो० ३३ । स्था० १० पृ० ४८० । 'रासनं च मतिज्ञानमाहारणं भवद्यदि ।  
प्राणीयं स्यात्तत्रा पुष्पघ्राणतपणयोगतः ॥'—वाञ्छि० ३०।२१ । (२) पूर्वद्वारेण समवसरणं प्रविशत्यथ ।  
प्रदक्षिणीकृत्य पूरुसिंहासने निषीदति । पादपीठन्यस्तपादं कृतवीथनमस्कृति । विभक्तं दशना स्वामी  
गम्भीरमधुरध्वनिः ।—काललोक० ३०।२१ । (३) प्राकारस्थं द्वितीयस्थान्तरे चोत्तरपूरुवतः ।  
देवच्छन्दं विचक्रुस्त स्वाभिनिविश्यामहेतवे ॥'—त्रिपिटि० १।३।४४४ ६७९ । इत्थं बलिबिधौ पूर्णं जिना  
प्रथमवप्रत । अवतीत्य द्वितीयस्य वप्रत्यक्षानकोणके । देवच्छन्दमागत्य मुखं तिष्ठन्ति नाकिभिः ।  
—काललोक० ३०।६८ ६९ । तथाहि स भगवान् पूर्वाह्णे अपराह्णे च पादोनप्रहरं यावत् धर्मोपदेशकाल  
एव सिंहासनाधिरूढ आस्ते शेषं तु दिनं देवच्छन्दकामिनि दिव्यस्थानं यथासुखं गमयति । तत्र च गण  
धरदेवैरानीतमाहारं निक्षिप्तदोषविशुद्धं विहाय क्षुब्धेदनोदये गृह्णाति । आहारं च तदीयपाणिपत्यङ्गवत्स  
मासचक्षुषः पश्यन्ति कथमसौ भुङ्क्ते इत्येतत्तु न पश्यन्ति मन्त्राहारनिहारयोर्मसचक्षुषामगोचरत्वात् ।  
—स्था० १० पृ० ४६९ । (४) पृ० ८५२ पृ० १ । (५) अत्र किमाहारमात्रं प्रसाध्यते कवलाहारो  
वा ? —रत्नक० टी० पृ० ५ । प्रमेयक० पृ० ३०० ।

१ परममहर्षिभिरमहर्षिभिर—व० । २-धूमवासादि—व० । ३ पूर्वाह्णे च पादोन—वा०, व० ।  
४ अस्ति व० । ५ तत्र गणधर—आ० । ६ तद्भावात्—व० ।

“यासयोगकेवलिनो जीवा आहारिणः” [ ] इत्यभ्युपगमात् । पङ्क्तिद्वयो हि आहारः प्रवचने प्रसिद्धः—

“नोकम्-कम्हारो कवलाहारो य लेणमाहारो ।

उज्ज मणो वि य कमसो आहारो ऋन्विहो गेयो ॥ ” [ भावस० गा० ११० ]

इत्यभिधानात् । तत्र च कवलाहाराभावेऽपि अन्यस्य कर्म-नोकर्माऽऽदानलक्षणस्य आहारस्य भावान् न आहारित्व भगवतो विरुद्धम् । न च कवलाहारेणैव आहारित्वं जीवानामित्यभ्युपगमो युक्तः; एकैन्द्रियाण्डजत्रिदशानाम् अभुञ्जानतिर्यङ्मनुष्याणाञ्च अनाहारित्वप्रसङ्गान् । द्वितीयपक्षे तु त्रिदेशादिभिर्व्यभिचारः; तेषां वेद्यादिकर्मोदयात् क्षुदुदये सत्यपि कवलाहाराभावात् । अथार्थं तदुदयः तैमसाधयन्नपि केवलिनि प्रसाधयति; तदेतत् केवलिनो महन्माहात्म्यम्—यद्विषयविषमग्रहाभिभूतप्राणिषु

(१) “आहारा एदियप्पहुडि जाव सजागकेवलिंस—अथ कवललेपोप्पमन कर्माहारान् परि-  
त्यज्य नाकर्माहारो ग्राह्य ।”—छत्त, टी० पृ० ४०९ । “आहारानुवादन आहारकेषु मिथ्यादृष्टधावीनि सयोगकवस्यन्तानि ।”—सर्वायंसि० १।८। “यावरकायप्पहुदी सजोगिचरमोत्ति होवि आहारी ।”—जीव-  
का० गा० ६९७ । (२) “नोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेणहारो य । उज्ज मणो वि य कमसो आहारो ऋन्विहो गेयो ॥ नोकम्मकम्महारो जीवाण होइ चउगइययाण । कवलाहारो गरपमु रक्खमु य लेणमाहारो ॥ पत्तीणुज्जाहारा अइयमग्गेमु वट्टमाणाण । देवेसु मणाहारो चउन्विहो गत्थि केव-  
ल्लिणो । नोकम्मकम्महारो उवयारेण तस्स जामे भणिओ । न हु णिच्छएण सो वि हु स वीयराओ परो जम्हा ॥”—भावस० गा० ११०—११३ । भावस० इत्थो० २२६ । उद्धतेयम्—प्रमेयक० पृ० ३०० । प्रवचनता० टी० पृ० २८ । रत्नक० टी० डि० पृ० ५ । श्वेताम्भरायणेषु निविध आहार प्रकृति—  
“भावाहारो तिबिहा ओए लोम य पक्खेवे । सरीरेणोमाहारो तयाव फानेण लोमआहारो । पक्खेवा-  
हारा पुण नायल्लिमा होइ नायव्वा । भावाहारा जीवा सज्व अपज्जत्तगा मुण्यव्वा । पज्जत्तगा ॥ लोम पक्खव हाइ नायव्वा ॥ एमिदिअदवाण नरइयाण च नत्थि पक्खेवो । सेसण पक्खेवो ससारत्थाण जीवाण ॥”—सूत्रक० नि० गा० १७० ७३ । बीदधमंसग्रहे पक्खा आहारा प्रकृति—“पक्खाहारा प्पानाहारा कवलीराहारा प्रत्याहारा स्पर्शाहारा सचेतनिकाहाराश्चेति ।”—धम्मस० पृ० १५। (३)  
‘जरवाहिदुत्तरहियं अहारणिहारवज्जिव विमत्त । सिद्धान् खेलमओ गत्थि दुगळा य दो सो य ।”—  
वापपा० गा० ३७ । ‘पडिममयं दिक्खनमं जोगी नाकम्मदहूपडिउट्ट । मयपवड वधदि गलिदवसंसा-  
उमसंतिरी ॥”—लण्णिसा० गा० ६१४ । “लामान्तरायस्यायेपस्य निरासान् परित्यक्तकवलाहारक्रि-  
यानां केवलिनो यत्त मरीरकत्रायानहेतवाज्यमनुजाऽऽसाधारणा परमज्जना मूढमा अनन्ता प्रतिममयं  
दुग्गला मन्थयमरमानि स पायिको लाम ।”—सर्वायंसि० २।४ । “नोरमंसमनामानमाहार गूत्ताड-  
हेन । दहत्थिनिमं व-अदममाक्रमि सम्मनम् ॥”—भावस० इत्थो० २२८ । “प्रथमपक्षे सिद्धनाथनताः  
आमयादकृजिन आहारिणा जीवा इत्यभ्युपगमात् ।”—रत्नक० टी० पृ० ५ । प्रमेयक० पृ० ३०० ।  
‘तदा नाकमाहाराणां कवलिनामाहारवद्वम् ।”—प्रब० टी० पृ० २९ । (४) ‘एकैन्द्रियेषु जीरेषु  
कतागता प्रवर्तते । आहारे मानना दमममृत्प्वगित्प्ववि । इति ह्योर्जिनन्दस्य कर्माहारवृत्तिः ।  
हृत्पिपित्तं वक्त्राभ्या ।”—भावस० इत्थो० २३० ३१ । प्रमेयक० पृ० ३०० । (५) ‘दवदह्मिन्ता  
प्यविचार’—रत्नक० टी० पृ० ५ । (६) दवादिषु । (७) कवलाहारम् ।

१। कर्मकम्महारो ध० । १ म कव-आ० । ३ पक्षे आ०, व० । ४ यद्विषये विषम-आ० ।

कवलाहारप्रसाधनाऽसमर्थोऽपि तदुदयः तत्र समर्थो भवतीति !

किञ्च, 'तत्र तदुदयः तैत्साधनसमर्थः' इत्येतत् कुतः प्रतिपन्नम्—अभ्युपगम-  
मात्रात्, प्रमाणतो वा ? यदि अभ्युपगममात्रात्; अतिप्रसङ्गः, सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वसिद्धि-  
प्रसङ्गात् । अथ प्रमाणतः; किमत्र प्रमाणम्—प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमो वा ?  
प्रत्यक्षश्चेत्; किम् ऐन्द्रियम्, अतीन्द्रियं वा ? न तावदैन्द्रियम्; तस्य अशेषहाहार-  
निहाराऽगोचरत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा “आहारा य निहारा केवलियो पञ्चना”  
[ ] ईत्यागमविरोधः । 'अतीन्द्रियं तु तत्रैव प्रवर्तते' इत्यत्र कोशपान विधेयम् ।

अथानुमानम्; किमत्र लिङ्गम्—तदुदय एव, मनुष्यत्वम्, देहस्थितित्वं वा ?  
न तावत्तदुदय एव; अस्य त्रिदशादिभिर्न्येभिचारप्ररूपणात् । नापि मनुष्यत्वम्;  
अयोगकेवलिना अनेकान्तात् । अथास्य मनुष्यप्रकृत्यतिक्रान्तत्वात् नानेनेन अनेकान्तः;  
तर्हि असिद्धो हेतुः, सयोगकेवलिनोऽपि तद्वत्तदतिश्रान्तत्वात् । तदुक्तम्—

“मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ॥”

[ बृहत्सं० अमन्त० इत्यो० ७५ ] इति ।

नापि देहस्थितित्वम्; तथाहि—‘भगवतो देहस्थितिः आहारपूर्विका देहस्थिति-  
त्वात् अस्मदादिदेहस्थितिवत्’ इत्यत्र प्रयोगे किम् आहारमात्रपूर्वकत्वं तस्थितेः प्रसाध्येत,  
कवलाहारपूर्वकत्वं वा ? प्रथमपक्षे ‘सिद्धसाध्यता’ इत्युक्तम् । द्वितीयविकल्पे तु त्रिदशा-  
दिभिर्न्येभिचारः, तेषां कवलाहाराभावेऽपि देहस्थितिसंभवात् । अथ ‘औदारिकशरीर-  
स्थितित्वात्’ इति विशिष्य उच्यते ततो न व्यभिचारः; तन्न, तदीयौदारिकशरीरस्थितेः  
परमौदारिकशरीरस्थितिरूपतया अस्मदाद्यौदारिकशरीरस्थितिविलक्षणत्वात् । तस्याश्च  
केवल्यवस्थायां केशादिविवृद्धयभाववत् तद्वृद्धयभावोऽविरुद्ध एव ।

अथ तद्वृद्धयभावो ‘देवोपनीतः न धातिकर्मक्षयजः येन तद्वत् केवल्यव-  
स्थायां तद्वृद्धयभावोऽप्यापाद्येत, बालोत्पादनानन्तरं हि इन्द्रो वज्रं नरकशेषु भगवतो  
भ्रामयति अतस्तद्वृद्धयभाव इति; तदयुक्तम्; वज्रप्रभावतः तेषां मूलतोऽप्युत्थानाभाव-  
प्रसङ्गात्, सर्वतीर्थकृतामेकादृशकेशादिप्रतीतिप्रसङ्गाच्च, न चैवम्, ऋषभादितीर्थ-

(१) वेद्यादिकर्मोदयः । (२) केवलिकलाहारसाधनसमर्थः । (३) कवलाहारासाधनसमर्थः ।  
(४) “पञ्चमे आहारानीहारे अदिस्मे मसचखुणा ।”—समवा० सू० ३४ । (५) प्रत्यक्ष अयोगशाहारासा-  
धात्करणे । (६) अयोगिवन्मनुष्यप्रकृत्यतिरान्तत्वात् । (७) “एरिसगुणेहि सब्ब अइसयचत सुपरि-  
मलामोय । ओरालिं च काय णायब्ब अरहपुरिस्स ॥”—बोधप्रा० गा० ३९ । “तद् भगवतः शरीर-  
मौदारिक न भवति किन्तु परमौदारिकम्—शुद्धस्फटिकसकाश तेजोमूर्तिमय वपुः । जायते क्षीणक्षोपस्य  
सप्तधातुविवर्जितम् ।”—प्रव० टी० पृ० २८ । (८) परमौदारिकशरीरस्थिते । (९) केशादिवृद्धय-  
भावः । “अवट्टिए केसमसुरोमनहे”—समवा० सू० ३४ ।

१ तु न प्रवर्तते व० । २ नानेकान्त व०, न तेनानेकान्त थ० । ३—कस्थितित्वात् थ० ।  
४ केशादिवृद्धय—थ०, व० । ५ बोधोपनीत व० । ६ धातिकक्षयज व०, थ० । ७ बालोत्पादनान्तरं आ०, थ० ।

कृता केशकलापस्य गुरुलघुभावेन विलक्षणस्य उपलब्धेः । ततो घातिकर्मक्षयावस्थाया  
यस्य यावन्तो नरकेशाः तस्य तावन्त एवाऽऽतिष्ठन्ते इति । येवेत्यवस्थाया घातिक्ष-  
यजो यथा तच्छरीरस्थितो केशादिवृद्धभावलक्षणोऽतिशयोऽस्ति तथा तद्भुक्त्यभावल-  
क्षणोऽप्यस्तु अविशेषात् । छद्मस्थावस्थावच्छास्यं भुक्त्यभ्युपगमे अक्षिपद्मनिवेशः (मेपः)

नलकेशवृद्धादिभ्युपगम्यताम् । तदभावातिशयाभ्युपगमे वा भुक्त्यभावातिशयोऽप्य-  
भ्युपगन्तव्यो विशेषाभावात् । तपोमाहात्म्यात् चतुरास्यत्वादियन्च अभुक्ति-  
पूर्वकत्वेऽपि शरीरस्थितेन कश्चिद्विरोधः । दृश्यते हि पञ्चकृत्यो भुञ्जानस्य यादृशी  
शरीरस्थितिः तादृश्येव प्रतिपक्षभावनोपेतस्य चतुस्त्रिद्व्येकभोजनस्यापि, तथा प्रतिदिनं  
भुञ्जानस्य यादृशी सा तादृश्येव एकद्व्यादिदिनान्तरितभोजिनोऽपि । श्रूयते च  
बाहुवलिप्रभृतीनां सधत्सरप्रमिताहारवैकल्येऽपि विशिष्टा शरीरस्थितिः । आयु कर्मैव  
हि प्रधानं तत्स्थितेर्निमित्तम्, भुक्त्यादिकं तु सहायमात्रम् । तच्छरीरोपचयोऽपि  
लाभान्तरायप्रक्षयात् प्रतिसमयं तदुपचयनिमित्तभूतानां दिव्यपरमाणूनां लैभाद् घटते ।

ननु मास वर्षं वा तदभावे तत्स्थित्वापि नाशालं तत्स्थितिः पुनः तदाहारे प्रवृत्ति-  
प्रतीतेरिति चेत्, कुतः तत्स्थितेः आकालमप्रतीतिः—प्रत्यक्षतः, अनुमानाद्वा ? यदि  
प्रत्यक्षतः, सर्वज्ञवीतरागाय दत्तो जलाञ्जलिः तद्वत् ततः तदप्रतीतेरप्यविशेषात् । अनुमा-  
नात् तत्सिद्धिरन्यत्राप्यविशिष्टा । यथैव हि 'ज्ञानप्रकर्षः दोषावरणापकर्षश्च क्वचित्  
परमप्रकर्षमापद्यते प्रकृष्यमाणत्वात् परिमाणयत्' इत्युच्यते, तथा 'एकद्व्यादिदिनान्तरि-  
तभोजिनाम् अभुक्तिपूर्वको देहस्थितिप्रकर्षः क्वचित् परमकाष्ठामापद्यते तत्त्वान् तद्वदेव'

(१) केवलिनः । (२) 'तपोमाहात्म्याच्चतुरास्यत्वादिवच्छास्याभुक्तिपूर्वकत्वे तस्यां को  
विरोधः ?—प्रमेयक० पृ० ३०२। (३) द्रष्टव्यम्—पृ० ८५६ टि० ३। लाभान्तरायस्याशेषनिरासनं  
परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिना यत् शरीरबलाधानहेतवोऽयमनुज्ञासाधारणा परमशुभा  
सूक्ष्मा अनन्ता प्रतिसमयं पुदगला सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः । तस्मादोदारिकशरीरस्य  
किञ्चिन्मयूतपूर्वकोटिवपस्थितिः कवलाहारमन्तरेण कथं सम्भवतीति यद्वचनं तदशिक्षितकृतं विज्ञायते ।'  
—राजवा० २।४। लाभान्तरायक्षयालाभं परमशुभपुदगलादानलक्षणं परमोदारिकशरीरस्थितिहेतुः ।  
—तत्त्वावली० पृ० ३१४। प्रमेयक० पृ० ३०२। (४) मास वर्षं वापि च तानि शरीराणि तेन  
भुक्तेन । तिष्ठन्ति न चाकालं नाप्यथा पूर्वमपि भुक्तिः ॥ —केवलभु० इत्ये० २२। स्वा० १०  
पृ० ४८०। (५) 'विपक्षभावनावशाद् रागादीनां ह्यायतिशयदशनात् केवलिनः तत्परमप्रकर्षसिद्ध  
वीतरागातासमवे भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र किं न स्यात् ? तदभावनातो भोजनादावपि ह्याय  
निशयदशनाविज्ञपात् । तथाहि एकस्मिन् दिनं यो न कवारान् भुङ्क्ते कदाचित् विपक्षभावनावशात्  
पुनरेकवारं भुङ्क्ते कश्चित्पुनरेकदिनाद्यन्तरितभोजनं जय पुनः पक्षमासवत्सराद्यन्तरितभोजनं  
इति । —रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ० ३०२।

१ केवलाव-व० थ० । २-जातिश-थ० । ३-अवस्थुपगमे व० । ४-तिशयोऽभ्युप-आ० ।  
५-दिनं भोजनं भुञ्जा-व० । ६-भोजनोऽपि थ० । ७-ते थ० । ८-कुतस्तत्रास्थि-आ० । ९-तत्  
तत्प्रती-आ० ।

इत्युच्यतामविशेषात् । तत्र शरीरस्थितेरपि भगवतो वेद्याद्युदयात् क्षुदुदयः कवलाहार-  
प्रसाधनसमर्थः प्रत्येतुं शक्यः ।

असिद्धञ्च अविकलकारणत्वं मुक्तेः, मोहनीयसहायं हि वेद्यादिकर्म क्षुदादिकार्य-  
करणेऽविकलसामर्थ्यं भवति, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । यथैव हि पतिते सैन्यनायके असा-  
मर्थ्यं सैन्यस्य, तथा मोहनीये विनष्टे अघातिकर्मणामिति । यथा च निर्विपीकृत्य मन्त्रिणा  
उपयुज्यमानमपि विपं न दाहमूर्च्छादि कर्तुं समर्थम् तथा शुक्रध्यानानलनिर्दग्धमोहोदयं  
वेद्यादि क्षुधादिकमिति । प्रयोगः—भगवति बुभुक्षा नास्ति, तत्कारणमोहाभावात्, यत्र  
यत्कारणाभावो न तत्र तत्कार्यम् यथा अनग्निप्रदेशे धूमः, नास्ति च अर्हति मोह इति ।

किञ्च, कर्मणामुदयो यद्यनपेक्षः कार्यमुत्पादयेत्, तर्हि त्रिवेदानां कपायाणां वा  
प्रमत्तादिषु उदयोऽस्ति इति मैथुन भ्रुकृत्त्यादिकञ्च स्यात्, ततश्च मनसः सङ्गोभात् कथं  
शुद्धध्यानाधाप्तिः क्षपकश्रेण्यारोहणं वा यतः कर्मक्षपणा स्यात् ? नन्वेवं नामाद्युदयोऽपि  
तत्र स्वकार्यकारी न स्यात्; इत्युक्तम्; शुभप्रकृतीनां तत्र अप्रतिबद्धत्वेन स्वकार्यकारि-  
त्योपपत्तेः । यथैव हि बलवता राह्या स्वमार्गानुसारिणा लब्धे देशे दुष्टा जीवन्तोऽपि न  
स्यदुष्टाचरणविधातारः सुजनास्तु अप्रतिहततया स्वकार्यस्य विधातारः, तथा प्रकृतमपि ।  
कथं पुनरशुभप्रकृतीनामेव अर्हति प्रतिबद्धं सामर्थ्यं न पुनः शुभप्रकृतीनामिति चेत् ?  
उच्यते—अशुभप्रकृतीनामर्हन् अनुभाग घातयति न तु शुभप्रकृतीनाम्, यतो गुणधा-  
तिनां षण्डो नाऽदोषाणाम् ।

यदि च प्रतिबद्धसामर्थ्यमप्यसातावेदनीयं स्वकार्यकारि स्यात् तर्हि षण्डकपा-  
टादिविधानं भगवतो व्यर्थम् । तद्धि यदा न्यूनमायुः वेदनीयादिकमधिकस्थितिकं भवति  
तदा तेन कर्मणां समस्थित्यर्थं विधीयते । नच अधिकस्थितिकत्वेन फलदानसमर्थं कर्म  
उपायशतेनापि अन्यथा कर्तुं शक्यमिति न कश्चिन्मुक्तः स्यात् । अथ तपोमाहात्म्यात्

(१) “घादि व वेयणीय मोहस वलेण घाददे जीव ।”—गो० कर्मका० ग।० १९। “मोहनी-  
यकर्मसहायसर्वं वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने सामर्थ्यात् ।”—रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ० ३०३।  
“यथैव ब्रह्मादिवीजं जलसहकारिकारणसहितमक्षूरादिकार्यं जनयति तथैवासद्वैतकर्म मोहनीयसह-  
कारिकारणसहितं क्षुधादिकार्यमुत्पादयति ।”—प्रब० टी० पृ० २८। (२) “यदि मोहाभावेऽपि क्षुधा-  
दिपरीपहं जनयति तर्हि वधरोमादिपरीपहमपि जनयतु, न च तथा ।”—प्रब० टी० पृ० २८। प्रमेयक०  
पृ० ३०३। (३) “दुभप्रकृतीना तनाप्रतिबद्धत्वेन ..”—प्रमेयक० पृ० ३०३। (४) “हन्तेऽपि-  
क्रियत्वात् सभूयात्मप्रदेशानां च बहिरुद्गमनं समुदात्तं । .. वेदनीयस्य बहुत्वादल्पत्वाच्चायुपोनाभोग-  
पूर्वकमायुःसमीकरणार्थं ब्रह्मस्वभावत्वात् मुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदाविर्भावोपशमनवद्देहस्थात्मप्रदेशानां  
बहिः समुदात्तनं केवलिसमुदात्तं ।”—राजवा० पृ० ५३। “मूलसरीरमलडिय उत्तरदेहस्य जीवदि-  
उत्स । जिग्मगण देहादो होदि समुत्पादयाम तु ।”—जीवका० ग।० ६६७ ।

१—एते घातिकर्म—व०, आ० । २ उपयुज्यमा—व० । ३—मोहसहायं जा०, थ० । ४ च थ० । ५  
क्षपणश्रे—आ० । ६—त्वेन कार्य—व० । ७ सुजना अप्र—व० । ८—बद्धसाम—व० । ९ षण्डप्रतरादि—व०, थ० ।

‘निर्नीर्णम् अधिकरित्वित्त्वेन फलदानाऽसमर्थम् औयु कर्मसमान कर्म क्रियते, तथा  
वेद्यमपि तद्दानासमर्थं क्रियतामविशेषात् । नच कारणमस्ति इत्येतावर्तव्यं कार्योत्पत्तिः ,  
अन्यथा इन्द्रियादिकार्यस्याप्यनुपपन्नात् भगवतो मतिज्ञानस्य रागाग्नीनाञ्च प्रसङ्गः । अथ  
आवरणक्षयोपशमस्य मोहनीयकर्मणश्च सहकारिणो विरहान् नेन्द्रियादि स्वकार्यं कुर्यात्,  
५ अत एव वेदनीयमप्यविशेषात् ।

न चेयं युभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्यैव कार्यम् येन अत्यन्तप्रक्षीणमोहेऽपि  
स्यात्, तथाहि—युभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्य कार्यं न भवति इच्छात्यात् रिरसायत् ।  
भोक्तुमिच्छा हि युभुक्षा, सा कथं वेदनीयस्यैव कार्यम् ? अथवा योन्यादिषु रन्तुमि-  
च्छा रिरसापि तत्कार्यं स्यात्, तथा च फलाहारवत् स्यादावपि तत्प्रसङ्गात् नेश्वरा-  
१० दस्य विज्ञेयः । यथा च रिरसा प्रतिपक्षभावनातो नियतं तदा युभुक्षापि । प्रयोगः—  
भोजनाकाङ्क्षा प्रतिपक्षभावनातो नियतं आकाङ्क्षात्यात् स्याद्याकाङ्क्षायात् । नन्यस्तु  
तद्भावनाकाले तन्निवृत्तिः तदभावे तु प्रवृत्तिः पुनः स्यात्, इत्येतत् स्याद्याकाङ्क्षायामपि  
समानम् । यथा चास्या चेतसः प्रतिपक्षभावनामयत्वात् अत्यन्तनिवृत्तिः तथा भोजना-  
काङ्क्षायामपि, यथा च निर्मोहत्वेन स्याद्याकाङ्क्षा विरुद्धा तथा युभुक्षापि । तथा  
१५ च प्रयोगः—न युभुक्षावान् केवली, तद्विरोधिनिर्मोहस्वभावोपेतत्वात्, यो यद्विरोधिस्व-  
भावोपेतः नासौ तद्वान् यथा उष्णस्पर्शस्वभावोपेतं कश्चित् प्रदेशं न शीतस्पर्शवान्,  
क्षुद्रिरोधिनिर्मोहस्वभावोपेतश्च केवलीति ।

एतेन इदमपि प्रत्युक्तम्—‘प्रतिपक्षभावनात् क्षुधो निवृत्तौ क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थं  
शास्त्रे सैव उपदिश्येत न पिण्डैषणा’ इत्यादि, चेतसो हि प्रतिपक्षभावनामयत्वसिद्धे  
२० प्राक् पिण्डैषणोपदेशात्, तन्मयत्वसिद्धौ तु कामवेदनानिवृत्तिवत् नि शेषक्षुद्वेदनानिवृ-  
त्तिसिद्धे न किञ्चित् तद्वेदनाप्रतीकारार्थं द्रव्यान्तरैषणया ? अथ आकाङ्क्षारूपा क्षुध  
भवति तेन धीतमोहेऽपि अस्याः संभवः, कथमेव रिरसाया अपि अनाकाङ्क्षारूपाया तत्र  
संभवो न स्यात् ? अथ अनाकाङ्क्षारूपताऽस्याः प्रतीतिविरुद्धा, तदेतद् युभुक्षायामपि  
समानम् । अस्तु बाऽनाकाङ्क्षारूपत्वमस्या, तथापि दुःखरूपत्वात् अनन्तसुखे भगवत्स-  
५ संभवः, यद् दुःखरूपं न तत्तत्र संभवति यथा कामपीडादि, दुःखरूपा च क्षुदिति ।

(१) भोक्तुमिच्छा हि युभुक्षा सा मोहनीयकालत्वात् कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात्  
बन्ध्या रिरसाया अपि तत्र प्रसङ्गात् । —रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ० ३०४। (२) पृ० ८५३  
पृ० १५। (३) आकाङ्क्षारूपत्वाभावात् । (४) केवलनि । (५) रिरसाया । (६) क्षुत्पीडासंभवे  
चास्य कथमनन्तशील्य स्यात् यतोऽनन्तचतुष्टयस्वाभिताऽस्य । —रत्नक० टी० पृ० ६। यदि क्षुधा  
वाधास्ति तर्हि क्षुधा क्षीणगुणस्तेरनन्तवीर्यं नास्ति तत्र च क्षुधा दुःखितस्य अनन्तसुखमपि नास्ति । —  
प्रव० टी० पृ० २८। प्रमेयक० पृ० २९९ ।

१ निर्नीर्णस्थितिक—आ०। ३ आयु कर्म क्रियते थ०। ३ तत एव ४०। ४ मोहनीयनिरपेक्ष—व०।  
॥ तथाहि चादुभु—थ०। ॥ प्रवृत्तिः स्यात् थ०। ७ अथ काक्षारूपा आ०। ८ अस्यासंभवः थ० व०।

यत्र हि अनन्तसुखं न तत्र दुःखलेशोऽप्यस्ति यथा सिद्धेषु, अनन्तसुखञ्च अर्हति इति । ननु सकलवाधानिवृत्त्यात्मकं यदनन्तं सुखं तत्राभिप्रेतं तदसिद्धम्, क्षुद्धाधाभ्युपगमात्, सकलकर्मविप्रमुक्तानां सिद्धानामेव हि तथाविधं तदस्ति नाऽर्हताम् तत्र वेदनी योदयसभवादिति, तदसत्, तदुदयस्य तत्र तद्वाधाहेतुत्वाभावप्रतिपादनात् ।

किञ्च, अर्हति अनन्तं सुखं सर्वप्रदेशव्यापि अव्याहृतमास्ते अप्रादेशिकत्वात्तस्य, सुखदुःखयोरेकत्रैकदा विरोधतोऽसंभवाच्च, तत्कथं क्षुद्धदुःखलेशोऽपि तत्र संभाव्यः ? अन्यथा अस्मदादिसुखवत् प्रादेशिकमेव तत्सुखं स्यात् । अतः तथाविधं सुखं भगवति सन्निधीयमानं स्वविरुद्धं दुःखं निवर्त्तयति यथा अग्निं शीतम् । तन्निवृत्तौ च तद्व्याप्याया क्षुधो निवृत्तिः, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्यावश्यं निवृत्तेः वृक्षनिवृत्तौ शिशपावत् । प्रयोगः—यत्रै यद्विरोधि बलवदस्ति न तत्र अभ्युदितकारणमपि तद् भवति यथा अत्युष्णप्रदेशे शीतम्, अस्ति च क्षुद्धदुःखविरोधि बलवत् केवलिनि अनन्तसुखमिति । तथा, यत्कार्यविरोध्यनिवर्त्यं यत्रास्ति तत्र तदविकलमपि स्वकार्यं न करोति यथा श्लेष्मादिविरुद्धाऽनिवर्त्यं पित्तविकाराक्रान्ते पुरुषे न दध्यादि श्लेष्मादि करोति, वेद्यफलविरुद्धाऽनिवर्त्यं सुखञ्च भगवति इति । ततो निराकृतमेवेत्—‘नहि बालादौ ज्ञानाय-पचये क्षुदुपचयः’ इत्यादि, अनन्तसुखसदभाविनामेव ज्ञानादीनां क्षुद्धिरोधित्वव्यवस्थिते ।

यदप्युक्तम्—‘नहि केवलिज्ञानादयः क्षुधं विरुन्धन्ति इत्यर्वाङ्गदृशा प्रतिपत्तुं शक्यमतीन्द्रियत्वात्तेषाम्’ इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, अतीन्द्रियत्वात्तेषां तद्विरोधित्वाऽप्रतिपत्तौ सर्वार्थसाक्षात्कारित्वादेरपि अप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । यथैव हि तेषामतीन्द्रियत्वात् ‘एतत्सन्निधौ क्षुन्नं भवति’ इत्यर्वाङ्गदृशा प्रत्येतुं न शक्यते तथा ‘एते सर्वसाक्षात्कारिणः’ इत्यपि । अथ अनुमानात्तेषां तत्साक्षात्कारित्वं प्रतीयते, तद्विरोधित्वेन किमपराद्धं येन तेषामनुमानात् तन्न प्रतीयेत ? प्रतिपादितञ्च क्षुद्धिरोधित्वानुमानं प्राक् इत्यलमतिप्रसङ्गेन । सर्वज्ञत्वाच्च भगवतः क्षुद्धभावः, क्षुद्धभ्युपगमे हि तद्वाधया सर्वज्ञता हीयेत निःशक्तिकत्वञ्च स्यात् । अस्मदादौ हि क्षुत्प्रवर्षीडाकान्ते ज्ञानादेरभावः सुप्रतीतः ‘क्षुत्पीडितोऽहं न किञ्चिज्ज्ञानमिह, न किञ्चित्पश्यामि, उरथातुमपि न शक्नोमि’ इति प्रतीतेः ।

यदप्युक्तम्—‘ज्ञानावरणादिकर्मोदयनिबन्धनं तत्क्षयः’ इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, १३

(१) वेदनीयोदयस्य । (२) सर्वप्रदेशव्यापि अनन्तसुखम् । (३) नास्ति केवलिनि क्षुद्धदुःखं तदवलवद्विरोध्यनन्तसुखसदभावात् । यत्र यद्विरोधि—प्रमेयक० पृ० ३०५ । (४) केवलिनि वदनीयं स्वकायं क्षुद्धदुःखं न करोति तत्कायविरोध्यनिवर्त्यं अनन्तसुखसदभावात् । (५) पृ० ८५२ प० २० । (६) पृ० ८५३ प० २ । (७) केवलज्ञानादीनाम् । (८) क्षुद्धिरोधित्वम् । (९) पृ० ८५४ प० ४ ।

१ सिद्धं नन्त—अ० । २ यदत्यन्तं सुखं अ०, यदनन्तं आ० । ३-गमात्कर्मवि-अ० । ४-गिकमिव आ० । ५-तथाविधमुक्तं अ० । ६ यथा आ० अ० । ७ प्रतीयते अ० । ८ क्षुद्धविरो-आ०, क्षुद्धित्वानुमा-अ० ।

प्रक्षीणाशेषावरणस्य भगवतो ज्ञानादिक्षयाभाववत् प्रक्षीणाशेषमोहस्य क्षुत्पीडालेशस्याप्यनुपपत्तेः । मोहनीयसहाय वेदनीय क्षुत्करणे प्रभुः' इति प्राक् प्रपञ्चतः समर्थितत्वात् ।

“एकादश जिन” [ सत्त्वार्थसू० १।११ ] इत्यागमोऽपि क्षुधाद्येकादशपरीपहप्रतिपेधपर प्रतिपत्तव्य, ‘एवेन अधिकान दश एकादश’ इति व्युत्पत्तेः । मोहनीयसहायस्य वेदनीयस्य कार्यभूताः क्षुधाद्येकादशपरीपहाः, तत्सहायस्य च अर्हति अत्यन्तप्रक्षयात् न वेदनीयोदयोदयमात्रात् तत्र ते सन्ति, अन्यथा रोगादिपरीपहाणामपि तत्र सत्त्वप्रसङ्गात्, अस्मदादौ तदुदये क्षुत्पिपासायद् रोगादीनामप्युपलम्भात् । छद्मस्थजिनेषु भोगभूमिजादिषु च तदुदयेऽपि रोगादीनामभावाद् व्यभिचारे कवलाहारस्यापि व्यभिचारोऽस्तु, देवादिषु तदुदयेऽपि तदभावात् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटि विहरत’ इत्यादि, तदप्यचारु, शरीरस्थिते आयु कर्मण एव नियतनिमित्तप्रतिपादनात्, मुक्तिं विनापि आकाल तस्मिन् स्थिते समर्थितत्वाच्च ।

यदप्यभिहितम्—‘भुक्तेर्दोषरूपतया भगवत्सभवे वचनादेरप्यसभय स्यात्’ इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, यचनादे तीर्थस्वरूपकर्मोदयापादितत्वात् दोषरूपत्वासभवाच्च, नहि औष्टादशदोषेषु मध्ये क्षुधादिवद् वचनमपि पठ्यते । भुक्तेरपि वेदनीयोदयापादितत्वात् तत्र सत्त्वमस्तु, इत्यप्यसङ्गतम्, मोहसद्भावसहायस्यैवास्य तत्सम्पादने सामर्थ्यप्रतिपादनात् । यथैव हि मोहप्रक्षयसहाय तीर्थस्वरूप विशिष्टवचनादिविधाने समर्थं तथा मोहसद्भावसहाय वैद्य भुक्त्वादिविधाने इति ।

यदप्युक्तम्—‘अवधिज्ञानिवत् सकलज्ञस्य सकल जगत्पश्यतोऽपि अन्तरायासभय’

(१) अथवा एकादश जिनो न सन्ति इति वाक्यस्य कल्पनीय सोपस्कारत्वात्सूत्राणाम् । — सर्वावसि० १।११। अथवा नाय वाक्यस्य एकादश जिन कश्चित्कल्प्यत इति किं तर्हि ? एकादश सतीति । कथम् ? उपचारात् यथा निरवशपरिणस्तज्ञानावरण परिपूजज्ञाने एकाग्रचित्तानिरोधाभावोऽपि कमरजोविधूननफलसभवात् ध्यानीपचार तथा क्षुधादिवेदना भावपरीपहाभाविऽपि वेदनीयकर्मोदय इत्यपरीपहसदभावात् एकादश जिन सन्तीत्युपचारो युक्तः । — राजवा० १।११। ‘शक्तित एव केवलिन्यवादश परीपहा सन्ति न पुनव्यक्तित केवलाद वेदनीयाव व्यक्तक्षुधाद्यसभवादित्युपचारतस्ते तत्र परिज्ञातव्याः । — तत्त्ववाच्यश्लो० प० ४९२। ‘तथ असादनिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि ।’ — कमका० गा० २७५। क्षुत्पिपासादयो यस्मात् समर्था मोहसहाय । इव्यकर्मभ्रवात्तपामस्तित्वमुपचारतः । — भावस० श्लो० २३४। यच्चोपचारतोऽप्यस्यैकादश परीपहा न सभाव्यन्ते तत्र तत्रापि परत्वात् सूत्रस्य एकेनाधिकान दश परीपहा जिन एकादश जिन इति व्युत्पत्तः । — प्रमेयक० पृ० ३७७। (२) वेदनीयोदयः । (३) पृ० ८५४ प० ८। (४) पृ० ८५४ प० ११। (५) क्षुत्पिपासाजरात द्रुज मान्तकभयसमया । न रागद्वेषमोहाश्च चक्षन्दात् चिन्ताऽऽरतिनिद्राविस्मयमदस्वेदलगा गृह्यन्ते । एते अष्टादश दोषा — रत्नक०, टी० १।६। (६) पृ० ८५५ प० १।

१ तत्र न सन्ति श्र० । २ भुक्तेरपि वेदनीयोदयापादितत्वात् तत्र सत्त्वमस्तु इत्यप्यसभवाच्च नहि अष्टादश—आ० । ३ दोषोदयत्वाच्च—व० । ४ वेदनीयोपादि—आ० । ५ मोहसहा—व०, श्र० ।



इत्यादि; तदप्यनुपपन्नम्; तैज्ज्ञानस्य सोपयोगतया तैत्काल एव स्वविषयाऽशेषार्थसाक्षा-  
त्करणसंभवात् । यदैव हि अवधिज्ञानोपयोगमवधिज्ञानी करोति तदैवासौ तद्विषय-  
भूतमशेषं वस्तु पश्यति नान्यदेति, भोजनकाले यद्यसौ उपयोगं करोति तदाऽन्तरायो  
भवत्येव, नचायं प्रकारः केवलज्ञाने संभवति तस्यै सदा उपयुक्तत्वात् ।

यदप्युक्तम्—‘नेन्द्रियार्थसम्बन्धमात्रेण मतिज्ञानं भवति’ इत्यादि; तदप्यसुन्दरम्; ६  
विषयविषयिसम्बन्धे समुपजायमानस्य ज्ञानस्य अमतिज्ञानत्वे मतिज्ञानवाचोच्छेदप्रस-  
ङ्गात् । अथ मतिज्ञानावरणक्षयोपशमस्य सहकारिणोऽभावात् नेन्द्रियाणि स्वविषय-  
सम्बन्धेऽपि स्वकार्यमाविर्भावयन्ति, तर्हि मोहनीयस्यापि सहकारिणोऽभावात् वेद्यमपि  
स्वकार्यं न कुर्यात् इत्युक्तम् ।

किञ्च, किमर्थमसौ भुङ्क्ते—शरीरोपचयार्थम्, ज्ञानदर्शनवीर्यादिवक्ष्यनिवृत्त्यर्थम्, 10  
क्षुद्रेदनाप्रतीकारार्थम्, आयुषोऽसाधितमुक्तिकस्यापवर्त्तननिवृत्त्यर्थम्, रसगृह्युपशमार्थम्,  
लोकानुग्रहार्थं वा ? न तावत् शरीरोपचयार्थम्, लभान्तरायप्रक्षयात् प्रतिसमयं विशिष्ट-  
परमाणुलाभादेव तत्सिद्धेः । तदर्थं तद्ग्रहणे च कथमसौ निर्ग्रन्थः स्यात् शरीरसम्भू-  
च्छासंभवात् प्राकृतपुरुषवत् । नापि ज्ञानादिवक्ष्यनिवृत्त्यर्थम्, तत्क्षयनिवन्धनाभावादेव  
तद्वक्ष्यप्रसिद्धेः । ज्ञानादिवक्ष्यस्य हि निवन्धनं ज्ञानावरणादिवक्ष्योपशमः, तस्मिन् सति 15  
भोजनाद्यभावे तद्वक्ष्यप्रतीतिः । स च प्रक्षीणशेषावरणे भगवति नास्ति इति कथं तत्प्र-  
क्षयाशङ्काऽपि यतो मुक्तिः स्यात् ? नापि क्षुद्रेदनाप्रतीकारार्थम्, अनन्तमुखीये भगवति  
अस्याः संभवाभावस्य उक्तत्वात् । नापि आयुषोऽसाधितमुक्तिकस्य अपवर्त्तननिवृत्त्यर्थम्;  
चरमोत्तमदेहानामनपवर्त्त्यायुष्कत्वादेव तथाविधस्यास्य अपवर्त्तनानुपपत्तेः । नापि  
रसगृह्युपशमार्थम्, धीतमोहस्य रसगृह्येवानुपपत्तेः । नापि लोकानुग्रहार्थम्; अनन्त- 20  
वीर्यस्य वीर्यक्षयनिवन्धनाभावतो मुक्तिमन्तरेणापि लोकमनुग्रहीतुं समर्थत्वात् ।

यच्चोक्तम्—‘देवच्छन्दके गत्वा यथासुप्रभासे’ इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम् ; यतः

(१) अवधिज्ञानस्य । (२) उपयोपसमये । (३) केवलज्ञानस्य । (४) १० ८५५ १० ४ ।  
(५) तुलना—“न दलाउसाहणदठ न शरीरस्य य चयद्व तेजद्व । नाणद्व सजमद्व भाणद्व केव  
भुजति ।”—मूला० ६ । ६२। प्रव० टी० १० २९ । प्रमेयक० १० ३०६ । (६) शरीरोपचयार्थम् ।  
(७) ज्ञानावरणीयकर्मोऽभावादेव । (८) “ओषपादिकचरमोत्तमदेहामग्येवर्षायुषोऽनपवर्त्त्यायुष ।”  
—तत्त्वार्थसू० २।५३ । “चरम उत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहा विपरीतमसारा तज्जन्मनिर्वाणार्हा  
इत्यर्थः ।”—सर्वार्थसि० । “चरमदेहा अन्त्यदेहा इत्यर्थं ये तेनैव शरीरेण सिद्धयन्ति, उत्तमपुरुषा  
तीर्थकरचरुत्वर्थं चक्रवर्तिनः —तत्त्वार्थाधि० । “देवा नेरइयावि य ब्रह्मवशाउया य तिरमणुआ ।  
उत्तमपुसिआ य तहा चरममरीरा य निरुवकमा ॥”—ठाणागवि० । (९) “बाह्यप्रत्ययवशादायुषो  
हासोऽपवर्त्त ।”—राजवा० २।५३ । (१०) १० ५५८ १० १० ।

१ सवोपयुक्त—थ० । २ आयुषोऽनुदितमुचित—थ० । ३ शरीरमूच्छासि—थ० । ४ अपवर्त्तनिवृ-  
—व०, अपवर्त्तनं निवृ—आ० । ५ मुक्तिम—थ० ।

समवशरण विहाय भगवान् किमर्थं तत्र गच्छति—मनोविक्षेपपरिहारेण ध्यानसिद्ध्यर्थम्, निरोधाक्षमत्वतो यथासुरमवस्थानार्थम्, रहस्यकार्यानुष्ठानार्थं वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः, अमनस्कतया भगवतो मनोविक्षेपाऽसंभवात्, योगनिरोधसद्भावेन उपचारतः तत्र ध्यानाभिधानाच्च । द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः, अनन्तवीर्यस्य निरोधाऽक्षमत्वानुपपत्तेः ।  
 ५ अनन्तसुरस्य दुःखलेशस्याप्यभावतो 'यथासुरम्' इत्यस्यापि दुर्घटत्वात् ।

रहस्यकार्यञ्च निन्द्यम्, अनिन्द्यं वा ? न तावन्निन्द्यम्, प्रक्षीणाशेषदोषस्य निन्द्य-  
 कार्यानुष्ठानविरोधात् । अथ अनिन्द्यम्, तत्किं भोजनम्, कर्मक्षपणं वा ? न तावद्भो-  
 जनम्, तस्य अमोहे भगवति प्रतिपिद्धत्वात् । अप्रतिपेधे वा कस्मादसौ एकान्ते गत्वा  
 १० भुङ्क्ते—दृष्टि[दोष]भयात्, यौचकभयात्, अनुचितानुष्ठानत्वाद्वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः ;  
 भगवतो दृष्टिदोषागोचरत्वात् । यदीयेन हि नाम्ना अन्येषा दृष्टिदोषादेरुपशमो भवति स कथं  
 तद्दोषगोचरः स्यात् ? द्वितीयविकल्पे तु भगवतो महद्दीनत्वं प्रकथापितम् । न खलु महास-  
 स्वस्य पृष्ठतो लग्नान् वुभुक्षापीडितशिष्यान् विहाय पितुरिव पुत्रम् एकान्ते गत्वा भोजनं  
 युक्तम् । अनुचितानुष्ठानत्वे तु न तत्र तत्परिकल्पना भेयसी स्यादितिसेवनपरिकल्पनावत् ।

कर्मणामपि क्षपणं पूर्वोपार्जितानाम्, भुक्तिकालोपार्जितानां वा तत्र अर्हता विधीयते ?

१५ पूर्वोपार्जितानाञ्चेत्, घातिनाम्, अघातिनां वा ? न तावत् घातिनाम् ; तेषां पूर्वमेव  
 क्षपितत्वात् । नाप्यघातिनाम्, तेषां यथाकालं क्षपयिष्यमाणत्वात्, सततं शुक्लध्याना-  
 नलतः कर्मेन्धननिचयनिर्दहनसमर्थत्वाच्चास्य । नहि 'भगवत् शुक्लध्यानानलो देवच्छन्दके  
 एव प्रज्वलति न तु समयशरणादौ' इत्यभ्युपगमो युक्तः ; तत्रस्थस्यास्य ध्यानान्तरप्रसङ्गात् ।

भुक्तिकालोपार्जितकर्मणां तु कथं क्षपणम् ? प्रतिक्रमणतश्चेत्, अस्तु, परन्तु भगवतो

२० निर्दोषता दुर्लभा । यः प्रतिक्रमणं करोति नासौ निर्दोषः, यथा अस्मदादि, प्रतिक्रमणं  
 करोति च भगवानिति । कृत्वदोषनिराकरणं हि प्रतिक्रमणम्, तत्कुर्यात्, कथमस्य निर्दो-  
 षता स्यात् ? अथ ता ('त') न करोति, कथं भुंक्तिर्यात् समुत्पन्नदोषं निराकुर्यात् ?  
 आहारकृत्यामात्रेणापि हि अप्रमत्तोऽपि सन् साधुः प्रमत्तो भवति नाहं भुञ्जानोऽपि  
 इति महच्चिन्तनम् । दोषवत्त्वे चास्य श्रेणीतः पतितत्वान्न केवलभाक्त्वः स्यात् ।

(१) निरवशपरिस्तनानावरणं युगपत्सकलपदार्थावभासिकवलज्ञानातिशयं चिन्तानिरोधा-  
 भावऽपि तत्फलक्रमनिहरणकालेखया ध्यानोपचारवत् । —सर्वायसि० ९।११। (२) एकासनं शरीरा-  
 वस्थिते तत्परिस्पन्दस्य निरोधः । (३) एकान्ते । (४) समवशरणस्थितस्य भगवत् । (५) तुलना—  
 'किं चासौ भुक्त्वा प्रतिक्रमणादिकं करोति न वा ? —प्रमेयक० पृ० ३०६ । (६) मिथ्या दुष्कृता-  
 मिथानादिविव्यक्तप्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम् । —सर्वायसि० ९।२२। (७) प्रतिक्रमणम् । (८) 'अप्रमत्तो  
 हि साधुराहारकयामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नाहं भुञ्जानोऽपीति महच्चिन्तनम् ।' —रत्नक० टी० पृ०  
 ८६४ । प्रमेयक० पृ० ३०६ ।

१ तत्राद्यपक्षो—व० । २ वचकभ—श्र० । ३ प्रज्वलति श्र०, ज्वलति आ० । ४ परं च  
 भग—व० । ५ कस्य व० । ६ भवति—श्र० ।

यदप्युक्तम्—‘भुञ्जानोऽसौ गणधरदेवैरपि न दृश्यते’ इत्यदि; तत्रादर्शने किं कारणम्—  
बहलतमः पटलाच्छादितत्वम्, काण्डपटाद्यावृतत्वम्, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरोधानम्,  
अन्यजनातिशायी माहात्म्यविशेषो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; तदेहदीप्त्या तमपटलस्य  
निर्मूलोन्मूलितत्वात् । काण्डपटाद्यावृताय च तस्मै कथं भिक्षा दीयेत ? विद्याविशेषो-  
भ्युपगमे चास्य विद्याधरादिवत् निर्ग्रन्थताविरोधः । अथ अन्यजनातिशायी माहात्म्य- ८  
विशेषः कश्चित्तस्येप्यते येन भुञ्जानो नाऽवलोक्यते इति; ननु अन्यजनातिशायी  
भोजनाभावलक्षण एवाऽतिशयः अस्य इष्यताम् तस्यैव प्रमाणोपपन्नत्वात् । ततो  
भगवतोऽनन्तचतुष्टयलाभलक्षणं जीवन्मुक्तिमिच्छता अनन्तसौख्यमेष्टव्यम् । तदिष्टौ च  
च भुक्त्यभावोऽभ्युपगन्तव्यः तमन्तरेणास्य अनन्तसौख्यानोपपत्तेः प्रतिपादितत्वात्  
इति ॥ छ ॥

10

तल्लक्षणा च मुक्तिः पुंस एव न स्त्रियाः; तस्याः नपुंसकवत्तदयोग्यत्वात्,  
तन्मुक्तिप्रमाधकप्रमाणासंभवाच्च ।

नन्विदमरित तत्प्रसाधक प्रमाणम्—अस्ति स्त्रीणां निर्वाणम् अविकलकारणत्वात्  
स्त्रीनिर्वाणवाद सितप- पुंवत् । निर्वाणस्य हि कारणं रत्नत्रयम्, “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि  
मोक्षमार्गः” [ तत्त्वार्थसू० ११ ] इत्यभिधानात् । तच्च स्त्रीषु विद्यते; 15  
च पूर्वपक्ष - तथाहि—सर्वज्ञोक्तार्थानाम् ‘इदमित्थमेव’ इति श्रद्धान् सम्यग्दर्शनम्,  
यथावदवगमः सम्यग्ज्ञानम्, तदुक्तप्रतस्य यथावदनुष्ठानं सम्यक्चारित्र्यम्, एतद्रत्नत्रयम् ।  
एतच्च स्त्रीषु सिद्ध्यत् सर्वकर्मविप्रमोक्षलक्षणं मोक्षं साधयति । नहि स्त्रीषु रत्नत्रयस्य  
केनचिद्विरोधोऽस्ति यतोऽविकलकारणत्वासिद्धिः स्यात् ।

(१) पृ० ८५५ पं० १३ । (२) “तत्रादर्शनेऽप्युक्तसेवित्वादेकान्तमाश्रित्य भुङ्क्ते इति  
कारणम्, बहलान्धकारस्थितभोजन वा, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरोधान वा ?”—प्रमेयक० पृ० ३०७ ।  
“तत्र तु प्रच्छन्नमुक्तौ मायास्थान दैन्यवृत्ति अन्येऽपि पिण्डजुद्धिव्यतिता बहवो दोषा ।”—प्रब० टी०  
पृ० २९ । (३) “तर्हि परमौदारिकशरीरत्वाद् भुक्तिरेव नास्त्ययमेवातिशय किञ्च भवति ।”—प्रब०  
टी० पृ० २९ । (४) “अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुंवत् यदविकलहेतुक स्त्रीषु । न विद्यम्यति हि रत्नत्रयसप्तद्  
निवृत्तेहेतु ॥”—स्त्रीमू० श्लो० २ । सम्प्रति० टी० पृ० ७५२ । एतदर्थम् उत्तराध्ययनस्य षाड्यटीकापि  
विलोचनीया । “इत्थोल्लङ्घसिद्धा—सम्यग्दर्शनादीनि पुरुषाणांमिव स्त्रीषामप्यविकलानि दृश्यन्ते तथाहि-  
.....”—प्रज्ञा० मलय० पृ० २० A. । नन्वि० मलय० पृ० १३१ B. । रत्नाकराव० ७।५७ । पद्म०  
बृह० श्लो० ५२ । “यथोक्त मागनीयतन्त्रे—णो खलु इत्थी अजीवो, ण यावि अभन्वा, ण यावि दमण-  
विरोहिणी, णो अमाणुमा, णो अप्पारिउप्पत्ती, णो असखेज्जाउया, णो अइकूरमई, णो ण उदमन्त-  
मोहा, णो ण मुद्धाचारा, णो असुद्धबोदी, णो ववसायवज्जिअया, णो अपुब्बकरणविरोहिणी, णो णवगुण-  
ठाणरहिआ, णो अजोगा लद्धीए, णो अकल्लाणमायण ति कह न उरतमधम्मसाहिगति ।”—ललितवि०  
पृ० ५७ B । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२९ B. ।

१—पटलसंछादितत्वम् य० । २ दीयते य० । ३—दाभ्युपगमाच्चत्स्य य० । ४ यथार्थावगमः  
य० । ५ तदुक्तस्य यथावद—आ०, सङ्कुर्वन् व्रतस्—य० । ६—जित्तमेष्टव्यं मोक्षं आ० ।

अथोच्यते—स्त्रीयो रत्नत्रयविरुद्धाः पुंसोऽन्यत्वात् देवादिवत् । सुप्रसिद्धो हि देवनारकनिर्यग्भोगभूमिजानां पुंसोऽन्येषां देवादित्वेन रत्नत्रयस्य विरोधः, एवं स्त्रीणां स्त्रीत्वेनैव अस्य विरोधः सिद्ध इति; तदसमीक्षिताभिधानम्; यतोऽविरुल्लङ्घरणस्य भयतोऽन्यभावेऽभावात् विरोधगतिर्भवति । स्त्रीत्वसद्भावे च रत्नत्रयाभावः प्रत्यक्षतः;  
 ५ अनुमानात्, आगमाद्वा प्रतीयेत ? न तावत् प्रत्यक्षतः; रत्नत्रयस्य अतीन्द्रियत्वात् । नाप्यनुमानतः; तदभावाऽविनाभाविनो लिङ्गस्य कस्यचिदभावात् । नाप्यागमात्; तत्र तदभावावेदिनः तस्याप्यसंभवात् । नहि सुरनारकादिवत् तत्र तदभावप्रतिपादकं किञ्चित् प्रयचनयचनं संभवति । नन्वस्तु रत्नत्रयमोत्रं तत्र न तदस्माभिर्निपिध्यते तस्य मोक्षाऽप्रसाधकत्वात्, यत्तु मोक्षप्रसाधकं प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तम् तस्य तत्राभावात् मोक्षाभावः  
 १० इति; तदयुक्तम्; अदृष्टे विरोधप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । न खलु प्रकर्षपर्यन्तं प्राप्तं रत्नत्रयम् अस्माकं दृश्यम्, न चादृश्यस्य विरोधः प्रतिपत्तुं शक्यः अतिप्रसङ्गात् । न चाप्रतिपन्न-विरोधस्य तस्य तत्राभावो ग्रहीतुं शक्यः अतिप्रसङ्गेरेव ।

अथ मतम्—अनुमानतः स्त्रीणां निर्वाणाभावप्रतीतेर्न तत्र तत्सद्भावाभ्युपगमो युक्तः; तथाहि—नास्ति स्त्रीणां निर्वाणम् सप्तमपृथिवीगमनाभावात् सम्मूर्च्छितादिवत् इति;  
 १० तदसङ्गतम्; विपर्ययव्याप्तेरसिद्धितः तद्गमनाभावस्य निर्वाणाभावेनाऽऽयाप्तेः । इह यद् यत्र नियम्यते तद्विपर्ययेण तद्विपक्षस्य व्याप्तौ नियमो दृष्टः, यथा अग्निना धूमस्य व्याप्तौ धूमाभावेन अग्न्यभावस्य, शिशपात्नस्य च वृक्षत्वेन व्याप्तौ वृक्षत्वाभावस्य शिशपात्नाभावेन व्याप्तिः । न चैवमत्र विपर्ययव्याप्तिरस्ति; तदभावश्च सप्तमपृथिवीगमनादेः निर्वाणं प्रत्यकारणत्वात् अव्यापकत्वाच्च सिद्धः । नहि सप्तमपृथिवीगमन निर्वाणस्य रत्नत्रयवत् कारणं सिद्धम् गुणाष्टकवद्वा व्यापकम् येन तदभावे निर्वाणाभावः  
 २०

(१) “रत्नत्रय विरुद्ध स्त्रीत्वेन यथामरादिभावेन । इति वाङ्मात्रं नात्र प्रमाणमाप्तागमोऽन्यद्वा ॥ जानीते जिनवचनं श्रद्धतो चरति चायिका शबलम् । नास्यास्यसम्भवोऽस्या नादृष्टविरोध-गतिरस्ति ।”—स्त्रीमु० श्लो० ३४ । “अथ स्त्रीत्वादेव न तासां तत्परिष्वसामर्थ्यम्, न, स्त्रीत्वस्य तत्परिष्वसामर्थ्येन विरोधासिद्धे । नहि अचिकलकारणस्य तत्परिष्वसामर्थ्यस्य स्त्रीत्वसद्भावादभावः क्वचिदपि निदिशतो येन अग्निशीतयोरिव सहानवस्थानविरोधो तयो सिद्धो भवेत् ।”—सम्मति० टी० पृ० ७५२ । प्रज्ञा० मलय० पृ० २० A । नन्दि० मलय० पृ० १३२ B. (२) रत्नत्रयस्य । (३) स्त्रीपृ० । (४) रत्नत्रयस्य । (५) “सप्तमपृथिवीगमनाभावमव्याप्तमेव मन्यन्ते । निर्वाणाभावे-नापश्चिमतनवो न ता यान्ति ॥”—स्त्रीमु० श्लो० ५ । सम्मति० टी० पृ० ७५३ । प्रज्ञा० मलय० पृ० २० B. । नन्दि० मलय० पृ० १३२ B । रत्नाकराव० ७५५७ । यद्वा० बृह० श्लो० ५२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२८ A. । यस्तिप्र० पृ० ११५ ।

१ पुंसोऽन्यत्वं तेषां अ० २ प्रतीयते अ० । ३—मात्रं तन्त्रम् न व०,—मात्रं तत्रं न अ० । ४ मोक्षप्रसा—अ० । ५ यत्तु प्रमाणकृतप्रसा—व० । ६—युक्तं न दृष्टं विरो—व० । ७ चादृश्ये वि—अ० । ८—व्याप्तेरिति इह अ० । ९ गुणाष्टकवदव्याप—अ० ।

स्यात् । नचाकारणाऽव्यापकस्य निवृत्तौ अकार्यव्याप्यस्य निवृत्तिरतिप्रसङ्गात्, अतः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमिदं साधनम् । चरमदेहैर्निश्चितव्यभिचारश्च, ते हि तेनैव जन्मना मुक्तिभाजो न सप्तमपृथिवीं गच्छन्ति अथ च मुच्यन्ते ।

किञ्च, विषमगतयोप्यधस्तात् उपरिष्ठात्तुल्यमासहस्रारं गच्छन्ति च तिर्यश्च तदधोगत्यूनताऽहेतुः । नहि अधोगतो स्त्रीपुंसयोरतुल्य सामर्थ्यमिति सुगतावपि अनु-  
ल्यत्वमुक्तम्, अशुभपरिणामस्य शुभपरिणामप्रत्यहेतुत्वात् । तथाहि—भुजगखगचतु-  
ष्पात्सर्पजलचराणां विषमाऽधोगतिरभुजगानां स(नामस)क्षिणा प्रथमायाम्, रगानां  
चतुष्पदा पञ्चम्याम्, सर्पाणां षष्ठ्याम्, जलचराणां सप्तम्यामधोभूमौ  
उत्पादात्, शुभगतित्तु समा सर्वेषामेवैषा सहस्रारान्तस्योपरि उत्पादस्य सम्भावत् ।

न च वादादिलब्धभावात्तासा मोक्षाभावः, 'इत्थमेव मोक्ष' इति नियमा-

(१) 'विषमगतयोप्यधस्तादुपरिष्ठात्तुल्यमासहस्रारम् । गच्छन्ति च तिर्यश्चस्तदधोग-  
त्यूनताऽहेतुः ॥ —स्त्रीमू० श्लो० ६ । अपि च भुजपरिसर्पा द्वितीयामेव पृथिवीं यावत् गच्छन्ति  
न परतः परपृथिवीयमनहेतुतयारूपमनोवीयपरित्यग्भावात्, तृतीया यावत् पक्षिणः चतुर्थीं  
चतुष्पदा पञ्चमीमुखा अथ च सवप्यध्वमुत्कपतः सहस्रारं यावत् गच्छन्ति । तत्राधोगतिविषये  
मनोवीयपरित्यगित्वस्य दशानादध्वगतावपि च न तद्व्यप्यम् । —प्रज्ञा० मलय० पृ० २१ A ।  
महि० मलय० पृ० १३३ A । पञ्च० बह० श्लो० ५२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२८ B ।  
युक्तिप्र० पृ० ११५ । (२) प्रथमायामसंज्ञिन उत्पद्यन्ते प्रथमद्वितीययोः सरीसृपा तिसृषु पक्षिणः  
चतसृषु रगा पचसु सिंहा षट्सु स्त्रियाः सप्तसु मत्स्यमनुष्या —राजवा० पृ० ११८ । अमणः सरिसृप-  
विहगमः फणिः सिंहस्थीणः मच्छमणुषाणः । पदमादिषु उत्पत्तिं अङ्गवारादो दुःखोणिं वारोति ॥ —त्रिलोक-  
सा० गा० २०५ । असत्री खलु पदमं, दुःखं च सरीसृपा तद्वयं पचसी । सीहा जति चउत्थि उरगा  
पुणः पचमि पुडबि । छिडि च इत्थिआओ मच्छा मणुया म सत्थमि पुडबि । एसो परमुववाओ बोधव्वो  
नरयपुडबिसु ॥ —बृहत्स० गा० २८४-८५ । त्रिलोक्यदी० गा० २५३ । (३) तदप्योनपु असंज्ञिन-  
पर्यास्ता पचेद्विषया सत्ययवर्षायुषः अपशुभपरिणामवचनं पुण्यवचनमनुभूय भवनवासिषु व्यन्तरेषु  
चोत्पद्यन्ते । त एव संज्ञिनो मिथ्यादृष्टयः सासादनसम्यग्दृष्टयश्चसहस्रारादु पश्यन्ते त एव सम्यग्-  
दृष्टयः सौधर्मादिषु अभ्युत्तान्तेषु जयन्ते । —राजवा० पृ० १६९ । पचिदियतिरियाण उववाओक्को  
सओ सहस्रारे —बृहत्स० गा० १६४ । (४) वादादिविबुधगत्वादिलब्धिविरहे श्रुते कनीयसि च ।  
जिनकल्पमनःपयविरहेऽपि न सिद्धिविरहोस्ति ॥ वादादिलब्धभावावदभविष्यद् यदि च सिद्धपभा-  
वोऽपि । तासांमवारमिष्यद् यथैव जम्बुयमादारात् । —स्त्रीमू० श्लो० ७८ । प्रज्ञा० मलय० पृ०  
२१ A । रत्नाकराव० ७ । ५७ । नापि वादादिलब्धिविरहितत्वेन मूकनेवलिभिव्यभिचारात् ।  
—पञ्च० बह० श्लो० ५२ । 'मापतुपादीनां लब्धविषयेहेतुसंयमाभावेऽपि मोक्षहेतुतच्छ्रवणात्,  
क्षायोपशान्तिकलम्बिविरहेऽपि क्षायिकलम्बेरप्रतिपातात् । —शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७ B ।

१-व्याप्यनिवृ-ब० । २-गति न ता हेतु ब०, गतिरूनताऽहेतुः अ० । ३-रतुल्यताम-आ० ।  
४ शुभगतावपि ब०, अ० । ५ भुजगानां प्रथमायां आ० अ० भुजगानां सन्तिनां प्रथमायां ब०, पृ०  
बृ० । ६ प्रथमायां संज्ञिनां द्वितीयायां खगानां तृतीयायाम् भुजगानां चतुर्थ्यां चतुष्पदानां पञ्चम्याम्  
स्थीणां षष्ठ्यां जलचराणां ब०, प्रथमायां खगानां तृतीयायां चतुष्पदानां पचम्यां सर्पाणां षष्ठ्यां  
जलचराणां श्रुतितायां पृ० प्रती । ७ उपपादस्य अ० ।

भावात् । “धूयन्ते हि अनन्ताः सामायिकमात्रसंसिद्धाः” [तत्त्वार्थभा० सम्बन्ध का० २७(?) ]  
यदि च स्त्रीणां यथा वादाद्यतिशयाः तपोविभवजन्मानो न संभवन्ति तथा मोक्षोपि न  
स्यात्; तदा आगमे तदतिशयाभाववत् मोक्षाभावोऽप्युच्येत । न ह्यस्य परिशेषणे किञ्चि-  
न्निबन्धन पश्यामः ।

अथ स्त्रीणां वैखलक्षणपरिमहसद्भावान्न मोक्षः; तर्हि मोक्षार्थित्वात् किन्न तैत्  
ताभिः परित्यज्यते ? न खलु वस्त्रं प्राणाः; “तेऽपि हि मुक्त्यर्थिना परित्यज्यन्ते किं पुनर्न  
यस्त्रम् ? अथ “नो केष्यङ्गिगंगीय अचेलार् होर्चए” [ कल्पसू० ५।२० ] इत्यागमविरोधः  
तस्याः तत्परित्यागे; तर्हि प्रतिलेखनवत् मुक्त्यङ्गमेव तत्स्यात् । यथैव हि सर्वज्ञैः  
मोक्षमार्गप्रणायकेः उपदिष्टं प्रतिलेखनं मुक्त्यङ्ग भवति न पुनः परिग्रहः तथा वैखल-  
मप्यतिशेषात् । यदि च धर्मसाधनानां सूत्रविहितानां परिग्रहत्वं स्यात् तदा पिण्डौपधि-  
शय्यादीनामपि वस्त्रवत् परिग्रहत्वं स्यात्; तथा च तदुपायिनां मोक्षाभावः स्यात् § ।  
सत्यपि यत्र मोक्षभ्युपगमे गृहिणां कुतो न मोक्षः इति चेत् ? ममत्वसद्भावात् । नहि  
गृही यत्रे ममत्वरहितः । ममत्वमेव च परिग्रहः । सति हि ममत्वे नग्नोऽपि परिग्रहवान्  
भरति । आर्यिकायाश्च ममत्वाभावाद् उपसर्गादासक्तमिव अम्बरमपरिग्रहः । नहि यतेरपि  
प्राप्तं गृहं या प्रविशतः कर्म नोकर्म च आददानस्य अपरिग्रहत्वे अममत्वावन्त्यत् शरणमस्ति ।

अथ यत्रे जन्तूत्पत्तेः हिंसासद्भावतः चारित्रस्यैवाऽसंभवात् कथं मोक्षप्राप्तिः ?  
तन्न; प्रमादाभावे हिंसाऽनुपपत्तेः । प्रमादो हि हिंसा । “प्रमत्तयागात् प्राणव्यपरोपणं  
हिमा” [ तत्त्वार्थभा० ७।१३ ] इत्यभिधानात् । अन्यथा पिण्डौपधिशय्यादौ यतेरपि  
हिंसकत्वं स्यात् । अर्हदुक्तेन यत्रेन सञ्चरतोऽस्य प्रमादाभारादहिंसकत्वे आर्यिकाया

(१) “धूयन्त चानन्ता सामायिकमात्रसंसिद्धाः”—तत्त्वार्थभा० । “अनन्ताः सामायिक-  
मात्रसिद्धा इति वचनान्”—रात्रवा० पृ० १० । (२) “यदि वस्त्रादविमुक्तिः; त्यजेतद्, अथ  
न वस्त्रं हानुम् । उत्सृज्यति न्यूनवद्वयया देशतो द्रूप्यत । त्यागे सर्वत्यागो ग्रहणेऽप्यो दोष  
इत्युपादानम् । वस्त्रं गृहणाऽन्यानां परिग्रहाऽतीति चूत्यादौ । यत्सयमोपकाराय वर्तते प्रोक्तमतदु-  
पकरणम् ॥ परमेत्य हि तत्साधनमनान्यदधिकरणमाहाहृन् ॥”—स्त्रोमु० स्तो० १०-१२ । रत्ना-  
कराव० ७।५३ । वस्त्रं गृहं स्तो० ५२ । (३) वस्त्रम् । (४) प्राणा अपि । (५) “नो  
केष्यङ्गिगंगीय अचेलार् होर्चए”—कल्पसू० । न वन्त्यत निर्यग्या अचेलया भवितुम् । (६)  
‘विहितं मुद्गं धियं यथा परेज्य निहितं कारणेति वक्ष्यति । तेन चित्तं तदवस्थ निरतिशयं परे  
अथ ॥ त्रिनक्षत्रागमनं हीलज्जयिष्यहोऽन्यस्य । हीलज्जं त्रिं यथा मज्जमा उदत्तं विवेचयेत् ॥”  
—विशेषा० भा० २६-२३ । सम्प्रति० टी० पृ० ७४८ । (७) “मूच्छां परिग्रहः”—तत्त्वार्थभा० ७।१७।  
‘मूच्छा परिग्रहा बुधा’—यस्य० ६।२१ । (८) ‘ममत्तो सन्नामपि चादित्रयत्वेन परिहृत्यार्था ।  
हिंसावती पुमानिव न ननुमाताहुः साके ॥”—स्त्रोमु० स्तो० १५ । “प्राणातिपातपरिणामाभावात्”  
—सातरवा० यमा० पृ० ४२३ ॥

१ धूयन्ति हि व०, थ० । २ सामायिकमात्र—जा० । ३ न सति जा०, व० । ४ यो च वस्त्र-  
य० । ५ पुनश्च वक्ष्यं थ० । ६ कर्तृव व०, थ० । ७ होर्चए व०, थ० । ८ एतद्व्यगंत. पाठो नास्ति  
य० । ९ अम्बरमपिग्रहः जा० । १०—या हि वि—थ० । ११ अर्हदुक्त्यत्वेन थ० । १२ आदिवाक्यामपि जा० ।

अपि अहिंसकत्वं स्यादविशेषात् । उदुक्तम्—

“जियदु य मरुदु अ जीवो अयदाचारस्त शिच्छिदा हिंसा ।

पयदस्त श्णतिथि वैन्धो हिंसामेत्तेण समिदस्त ॥” [ प्रवचनता० ३।१७ ]

न च पुरुषैरवन्धत्वात् स्त्रीणां मोक्षाभावः, गणधरादिभिर्व्यभिचारात्, ते हि नार्हदादिभिर्वन्ध्यन्ते अथ च मुच्यन्ते । ततो रत्नत्रयमेव तत्कारणं न वन्धत्वमवन्धत्वं वा । ६

न च मौयावाहुल्यात्तासां निर्वाणाभावः, पुसामपि तद्वाहुल्यसद्भावात् । मोहोदयो हि तत्कारणम्, स च उभयोरप्यविशिष्टः ।

न च हीनसत्त्वाः स्त्रियः ततो न निर्वान्ति इत्यभिघातव्यम्, यतः सत्त्वं तपः-शीलसाधारणम् इह एष्टव्यम् नान्यत्, तस्यै निर्वाणं प्रत्यनङ्गत्वात् । तच्च आर्थासु सुप्रसिद्धमेव । उक्तञ्च—

“गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वा विल्याता. शीलवत्तया जगति ।

सीतादयः कथं तास्तपसि विशीला वितरताश्च ॥” [ स्त्रीमु० श्लो० ३१ ]

तथा— “अज्झै(ट्ट)सयमेगसमये पुरुसाणं शिन्नुदी समैक्कतादा ।

धीलिगेण य वीस सेसा दसकं ति बोधव्वा ॥” [ ]

(१) “मरुदु य जियदु जीवो”—प्रब० । उदुक्तोऽयम्—सर्वायसि० ७।१३। म्रियता वा जीवतु वा जीवो अयदाचारस्य निश्चिता हिंसा। प्रयत्नस्य नास्ति बधो हिंसामात्रेण समितस्य । (२) “अप्रतिबन्धत्वाच्चेत्समयतवर्गेण नार्थिकसिद्धिः । बन्धता ता यदि ते नोनत्व कल्प्यते तासां ॥ सन्तपूना पुरुषभ्यस्ता स्मरणकारणादिकारिभ्यः । तीर्थकराऽऽकारिभ्यो न च जिनकल्पादिरिति गणधरादीनाम् । अहं न न बन्धते न तावताऽसिद्धिरगते । प्राप्तान्यथा विमुक्तिरस्यान स्त्रीपुंसयोस्तुल्यम् ॥”—स्त्रीमु० श्लो० २४-२६ । “अथ महाव्रतस्थपुरुषावन्धत्वात् न तासां मुक्त्यवाप्तिः, तर्हि गणधरादेरपि अहं बन्धत्वात् न मुक्त्यवाप्तिरस्यति ।”—सन्मति० टी० पृ० ७५४ । रत्नाकराव० ७।५७। पङ्क्० बृह० श्लो० ५२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२९ A. । मुक्तिप्र० पृ० ११४ । (३) “मायादि पुष्पाणामपि द्रुपादिप्रसिद्धभावश्च । पण्णा सस्यानाना तुल्यो वर्णत्रयस्यापि ॥”—स्त्रीमु० श्लो० २८ । रत्नाकराव० ७।५७ । पङ्क्० बृह० श्लो० ५२ । “चरमधरीरिणामपि नारदादीनां मायादिप्रकर्षवत्त्वधवणात् ।”—शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७ A. । (४) “स्त्री नाम मन्दसत्त्वा उत्तङ्गसमपता न तेनात्र । तत्कथमनल्पवृत्तयः सन्ति हि शीलाम्बुधेर्वला ॥ ब्राह्मीमुन्दर्यापि राज्ञोमती चन्दना गणधराभ्याम् । अपि देवमनुजमहिता विल्याता शीलसत्त्वाभ्याम् ॥”—स्त्रीमु० श्लो० २९-३० । पङ्क्० बृह० श्लो० ५२ । (५) तपः शीलव्यतिरिक्तस्य । (६) “शीलव्रतितमा जगति । तपसि विसत्त्वा विशीलाश्च ।”—स्त्रीमु० । (७) “अत्रैवायं विषयान्तरप्रतिपादिका प्रक्षपणाया—विसिद्धिगाउ पुरिता अदुसय एगसमयवो सिज्झ । दस चेव नपुसा तह उवरि समएण पडिसेहो । एकस्मिन् समये उत्कर्षं हि वयो विधाति मिध्यन्ति । पुरुषा अपट्शतमष्टाधिक शतम् । तथा समयनैकेन नपुसका दशं व सिध्यन्ति । उक्तसत्त्वाया उपरि सर्वत्रापि प्रतिषेधः ।”—बृहत्स०, मलय० गा० ३४७ । “अष्टशतमेकसमय पुरुषाणामादिरागम् ( माहुरागमे ) सिद्धि ( सिद्धम् ) । स्त्रीणां न मनुष्ययोग गीणार्थो मुख्य-हानिर्वा ।”—स्त्रीमु० श्लो० ३५ ।

१ दोसो व० । २-मित्तेण व० । ३ अथ मुच्य-थ० । ४ आर्यासु सिद्धमेव व० । ५

अठसमय-थ०, अट्शतय-व० । ६ समदा व०, समसादा आ० । ७-कति थ० ।

इत्याद्यागमश्च स्त्रीनिर्वाणे प्रमाणम् ।

अथ अत्र स्त्रीशब्देन स्त्रीवेदो गृह्यते; कथमेवमपि स्त्रीणां निर्वाणनिषेधः ? यथैव हि स्त्रीवेदेन पुंसः सिद्धिः तथा स्त्रीणामपि स्यात्, भावो हि सिद्धेः कारणम् ।

किञ्च, द्रव्यतः पुरुषः भावतः स्त्रीरूपो भूत्वा यथा निर्वाति तथा द्रव्यतः स्त्र्यपि भावतः पुरुषो भूत्वा किन्न निर्वाति अविशेषात् ? न च सिद्धयतो वेदः संभवति, अनिवृत्तिर्वादरसाम्पराये एव अस्य परिक्षयात् । अथ भूतपूर्वगत्या क्षपकश्रेण्यारोहण येन वेदेन करोति तेनासौ मुक्तः इत्युच्यते; ननु किमनेन उपचारेण श्रित्रया एव स्तनप्रजननधर्मादिमत्या निर्वाणमस्तु इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिबिधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अविकलकारणत्वात्’ इत्यादि; तत्र अविकल-

द्रव्यस्त्रीणा तद्वन्ति कारणत्वमसिद्धम्; तत्कारणं हि रत्नत्रयम्, तत्किं परमप्रकर्षप्राप्तं वांछप्राप्तिरित्यनम्— सत् तत्कारणं स्यात्, तन्मात्रं वा ? यदि तन्मात्रम्; तदा गृहिणा-मपि निर्वाणप्रसङ्गः । अथ परमप्रकर्षप्राप्तम्; तन्न, तत्र तस्य परमप्रकर्षप्राप्तत्वाऽनुपपत्तेः । तथाहि—निर्वाणकारणज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति, परमप्रकर्षत्वात्, सप्तमपृथिवीगमनकारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षवत् । तथा चेदमयुक्तम्—‘अदृष्टे विरोधप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः’ इत्यादि । प्रत्यक्षतो हि अदृश्यस्यार्थस्य विरोधः प्रतिपत्तुमशक्यो न तु अनुमानादितोऽपि, अन्यथा कथं सप्तमपृथिवीगमनकारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षस्यापि तत्र विरोधप्रतिपत्तिः स्यात् ?

यदप्युक्तम्—‘सप्तमपृथिवीगमनभावस्य निर्वाणाभावेनाऽव्याप्तेः’ इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; अकार्यकारणम्यापि कृत्तिकोदयात् शकटोदयादेः प्रतिपत्तिदर्शनात् । अविनाभावो हि गम्यगमकभावे निवन्धनं न कार्यकारणत्वादि, स चात्र अस्त्येव । न खलु तादात्म्यतदुत्पत्त्योरेव अविनाभावो नियतः; कृत्तिकोदयादेः शकटोदयादिकं प्रत्यगमकत्वप्रसङ्गात् इति । एतच्च सौगतोपकल्पितव्याप्तिविचारावसरे संप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् । अतश्च ‘सप्तमपृथिवीगमनादेः निर्वाणं प्रत्यकारणत्वादव्यापकत्वाच्च’ इत्यादि प्रत्युक्तम् । कथञ्चैववादिनो अर्वाग्भागाभावात् परभागाभावो निश्चीयेत, अंतयोः तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धासम्भवात् ? अथात्र एकैर्धसमवायः सम्बन्धोऽस्ति तस्मा-

(१) “न च पु देहे स्त्रीवेदोदयभावे प्रमाणमङ्गञ्च । भावः सिद्धो पु वत् पुमा अपि (पु सोऽपि) न सिद्धयतो वेदः ॥ क्षपकश्रेण्यारोहे वेदेनोच्यत पूर्ववेदेन । स्त्रीति नितराममूर्ये मुख्येऽर्थे युज्यते नेतराम् ॥”—स्त्रीमु० श्लो० ३९-४० । (२) वेदस्य । (३) पृ० ८६५ पं० १३ । (४) स्त्रीषु । (५) “भोक्षहेतुज्ञानादिपरमप्रकर्षः”—प्रमेयक० पृ० ३२८ । (६) पृ० ८६६ पं० १० । (७) पृ० ८६६ पं० १५ । (८) अविनाभाव । (९) पृ० ४४६ । (१०) अर्वाग्भागाभावपरभागाभावयोः । (११) एकस्मिन्नेव भित्त्याख्ये अवयविनि अर्वाग्भागपरभागाख्ययो अवयवयो समवायात् तयो परस्परमेकार्यसमवायः समस्त्येव ।

१ इत्यागम-ध० । २ -वादरसपराय-आ० । ३ ‘तदा’ नास्ति आ०, थ० । ४ -प्रतिपत्ते-रित्यादि आ० । ५ अदृश्यायंत्वं व० ।



देव अनयोः गम्यगमकभावो भविष्यति, ननु नैयायिकस्य मतमेतन्न सिताम्बरस्य । न खलु समवायासिद्धौ तस्यै एकार्थसमवायसिद्धिरुपपद्यते तत्सिद्धिपूर्वकत्वात्तस्यौ । अस्तु वा तत्सिद्धिः, तथापि—अतस्तत्तयोर्गम्यगमकभावे प्रकृतयोरपि सोऽस्तु तत्राप्ये-  
कार्थसमवायसद्भावात्, यत्रैव हि आत्मनि सप्तमपृथिवीगमनयोग्यता समेवता तत्रैव  
मुक्तिगमनयोग्यतापि । न च सप्तमपृथिवीगमनाभावात् स्त्रीणां निर्वाणनिषेधः साध-  
यितुमिष्टं येनोक्तदोषानुपपन्नं स्यात्, किं तर्हि ? परमप्रकर्षत्वाद्धेतोः दृष्टान्ते सिद्धसा-  
ध्यव्याप्तिकात् निर्वाणकारणाभावः तत्र साधयितुमिष्टः । तदभावाच्च निर्वाणाभाव  
स्वयमेव तत्र सेत्स्यति । न खलु निर्हेतुका कार्यस्योत्पत्तिः अतिप्रसङ्गात् । ततोऽयुक्त-  
मुक्तम्—‘सप्तमपृथिवीगमनं न निर्वाणस्य रत्नत्रयवत् कारणम्’ इत्यादि ।

यदपि—‘चरमदेहैः निश्चितम्यभिचारम्’ इत्याद्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, यतः सप्तम-  
पृथिवीगमनाभावे तन्निर्वर्तनसमर्थकमार्जनसामर्थ्याभावः । स च स्त्रीष्वेवास्ति न चरम-  
शरीरिषु । श्रूयते हि भरतप्रभृतिचक्रार्त्तिना चरमशरीराणामपि ग्रंथानकसमये सप्तमपृ-  
थिव्या गमनयोग्यकर्मार्जना, देवार्चनसमये तु सर्वार्थसिद्धाविति । उत्कृष्टो हि शुभोऽशु-  
भश्च परिणामः यथाक्रमम् उत्कृष्टायां शुभगते अशुभगतेर्वा हेतुभूतं कर्म आरभते,  
तत्परिणामप्रारम्भे च पुरुषस्यैव सामर्थ्यं न स्त्रिया । यथैव हि तस्या तीव्रतराशुभ-  
परिणामे सामर्थ्याभावः तथा उत्कृष्टशुभपरिणामेऽपि । उत्कृष्टशुभपरिणामेन च मुक्तिः ।

एतेन ‘विपमगतयोऽप्यधस्तात्’ इत्याद्यपि” प्रतिव्यूढम्, प्रकृष्टगतिप्रारम्भहेतुभूत-  
कर्मोपार्जनसमर्थस्यैव मुक्तियोग्यतोपपत्तेः न तद्विपरीतस्य । श्रूयते हि प्रतिनियताऽवा-  
न्तरगतिप्रारम्भकर्मवशात् प्रतिनियतोत्पादस्थानानामपि नाराकाणां क्षपितकर्मणा तिर्य-  
ग्लोके सर्वेषामपि नियमतः ‘सन्निपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु चोत्पादः’, देवानाञ्च  
तथाविधकर्मवशात् प्रतिनियतोपपादस्थानोत्पन्नानां तिर्यग्लोक एव तेषु एकेन्द्रियेषु च

(१) तस्मिन् हि अवयवायविनो कथञ्चित्तादात्म्याभ्युपगमात् । (२) श्वेताम्बरस्य । (३) एकधसमवायमिदं । (४) एकार्थसमवायात् । (५) मत्तमपृथिवीगमनसामर्थ्यं मुक्तिगमनसामर्थ्यं योश्च । (६) स्त्रीषु । (७) निर्वाणकारणाभावाच्च । (८) पृ० ८६६ पं० २० । (९) पृ० ८६७ पं० २ । (१०) दिग्विजययानासमये । (११) पृ० ८६७ पं० ४ । (१२) गिरयादो निस्सरिदो णरतिरिण कम्मसण्णपज्जत्त । गम्भभवे उप्पज्जदि सत्तमपुढवोदु तिरिण्ण व ॥ —त्रिलोकसा० गा० २०३ । “णरयियाण गमण सण्णीपज्जत्तकम्मतिरियणरे । चरमचऊ तित्थूणे तेरिच्छेवेव सत्तमिया ॥ —कमका० गा० ५३८ । (१३) सत्तिपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु च । आहारया दु देवे देवाण सण्णिकम्मति रियणरे । पत्तयपुढविआऊवादरपज्जत्तण गमण ॥ भवणतियाण एव तित्थूणणरेमु चय उप्पत्ती । ईसाणताणग सदरदुगताणरुण्णीसु ॥ —कमका० गा० ५४२-४३ ।

१ समवेता न तत्रैव मुक्तिगमनायोग्यतापि व० । ॥ निर्हेतुककथ-अ० । ३ ततो युक्तमुक्तम् व० । ४-शरीरेषु व०, अ० । ५-णामप्राप्ते च व० । ॥ यथाविध-आ० । ७-निपतत्स्थानो-आ०, नियतोत्पादस्थानो-व० ।

नियमेनोत्पाद इति । न च तथाविधकर्मोपार्जनसामर्थ्येन मुक्तियोग्यता सम्भवति इति न मुक्तियोग्यताविचारवसरे किञ्चिदनेन प्रयोजनम् । यस्य तु उपरिष्ठात् प्रकृष्टशुभगति-प्रसाधने सामर्थ्यम् तस्य अधस्तात् प्रकृष्टशुभगतिप्रसाधनेऽपि तदस्ति यथा पुंस इति स्त्रीणां प्रकृष्टाया शुभगतौ सामर्थ्यभ्युपगच्छता अशुभगतावपि तथाविधाया तदभ्युप-गन्तव्यम् । तथा च “इत्थी वदतीत्यो अहो न उपपजति” [ ] इत्यादि भवदीयागमविरोधः ।

यत्तु चान्यदुक्तम्—‘न च वादादिलब्धभावात्तासा मोक्षाभावः’ इत्यादि, तदप्यु-  
क्तिमात्रम्, यतो यत्र ऐहिकग्रादविक्रियाचारणादिलब्धीनामपि हेतुः सयमविशेषो नास्ति  
तत्र मोक्षहेतुरसौ भविष्यतीति कः सुधीः श्रद्धान्वितः ? वादलब्धिः खलु इन्द्राद्यास्था-  
नेषु बृहस्पत्यादिष्वपि प्रतिबन्धकेषु सत्सु छलजात्यादिपरिहारेण स्वतन्त्रप्रतिपादनसा-  
मर्थ्यम् । विक्रियालब्धिः इन्द्रादिरूपोपादानशक्तिः । चारणलब्धिः गगनगमनसामर्थ्यम् ।  
आदिशब्दात् अक्षीणमहानसादिलब्धिपरिग्रहः । तद्वेतुश्च सयमविशेषो न स्त्रीणां  
प्रयत्ने प्रतिपाद्यते ।

यदप्यभिहितम्—‘आगमे वादादिलब्ध्यतिशयाभाववत् मोक्षाभागेऽप्युच्येत’ इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, सयमविशेषनिषेधादेव आगमे तासा मोक्षाभावप्रतिपादनप्रसिद्धे । सुप्रसिद्धो हि आगमे पुसा मोक्षहेतो आचेलक्यादिसयमविशेषस्य विधि , स्त्रीणा तु निषेध । न च कारणाभावे कार्योत्पत्ति अतिप्रसङ्गात् । सयममात्र तु सवपि आसा न मोक्षहेतु तिर्यग्गृहस्थादिसयमवत् । तथा, नास्ति स्त्रीणा मोक्ष परिग्रहवचनात् गृहस्थवत् ।

प्राप्ते । - प्रमेयक० पृ० ३३० । (३) समय । (४) सत्त्वादिष्वपि प्रतिबन्धिषु सत्सु अप्रतिहततया निवृत्तराजिमान परत्वाप्रापेक्षान्त्ववादित्वम् । - राजबा० पृ० १४४ । (५) अभास्तराजस्योपपन्नमप्रकृष्टान्त्वमोपनिष्योपनोभिषा दीपतततो भावनान्वयपरस्त्वन्वावरोपयि यदि भुञ्जान तद्विषयं नाम दीपत तत्र दीपनमहानसा । - राजबा० पृ० १४५ । (६) पृ० ८६८ पं० ३ । (७) त्रिं इच्छीण हव भुञ्जति तं एव कालमिषि । अजिजयति एव कल्या कल्यावरणं नृजइ । पवि सिग्भइ वत्परो त्रिणमास्य जइ वि होइ नित्ययोगे । जग्या विमोक्तमाया समा उम्ममया मव्व ॥ निगमि य इन्धीण पणतरे पादिवागपुत्तु । ननिओ मृदुमो काओ तास वह होइ पव्वग्जा ॥ जइ दमणण मुत्ता उता मण्ण गावि मंनुत्ता । धारं चरिण चरित इत्थीमु न पावया भणिया ॥ चित्तामाहि न तपि इन्ने भावं नहा म्हाइण । विज्जदि मासा तमि इत्थाणु जइवंकया नयण ॥ - सूत्रप्रा० पा० २३ २६ । निष्पद्यते इत्थीण मिदी न हि तप्य त्रम्मया त्रिं । तच्छा तण्हिरूव विमणिय निगमिप्याण ॥ निप यन्निप्राणपूषण इत विज्जितं कथित त्तिम प्रावरणमहितं चिद्गत्ताणामिति । - प्रव० रो० पृ० ३०२ । (८) पृ० ८६८ पं० ८ ।

१-प्रतिपादने-आ० । -इत्याह छठोरो भूतो न उ-व० । ३ यतो नास्ति च०, थ० ।

४-एषादिषु आ०, व० ।

लेखन तावत् सयमप्रतिपालनार्थं भगवतोपदिष्टम्, वक्षः तु किमर्थमुपदिष्टमिति ? तदपि तत्प्रतिपालनार्थमिति चेत्, तथाहि—अभिभूयन्ते प्रायेण विवृताङ्गोपाङ्गसन्दर्शनजनितचित्तभेदै पुरुषैः अङ्गना अकृतप्रावरणाः घोटिकेव घोटकेरिति, तत्र कुतस्तां तैरभिभूयन्ते न पुनस्ते ताभिः अकृतप्रावरणत्वाविशेषेऽपि इति वक्तव्यम् ? तासामल्पसत्त्वोपेततया अभिभाव्यत्वाच्चेत्, सुप्रसिद्धो ह्ययं विभागः गवाश्चादो स्त्रीप्रकृतिरभिभाव्या पुरुषप्रकृतिरभिभाविका इति, तदेतन्महामोहविजृम्भितम्, यासामतितुच्छसत्त्वानां प्राणिमात्रेणाप्यभिभवः ताः सकलत्रैलोक्याभिभाजककर्मांशिप्रक्षयलक्षण मोक्षमहासत्त्वप्रसाध्य प्रसाधयन्तीति ।

यदप्युक्तम्—‘यदि धर्मसाधनानां परिग्रहत्व स्यात्’ इत्यादि, तत्र कोऽयं धर्मयत्साधनत्वं वक्षस्य स्यात्—पुण्यविशेष, सयमविशेषो वा ? प्रथमपक्षे कथं तन्मुक्तिहेतुः ? आगमविहितविधिना गृह्यमाणस्यास्य गृहस्थयत् पुण्यस्यैव हेतुत्वात् । पुण्यहेतोश्च मुक्तिहेतुत्वे दानादेरपि तद्वेतुत्वप्रसङ्गः । ‘सयमविशेषहेतुत्वं तु तस्य दुरुपपादम्, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागो हि सयमः, स च याचैनसीवनप्रक्षालनशोषणनिक्षेपादानचौरहरणादिमनसङ्गोभकारिणि वस्त्रे गृहीते कथं स्यात् ? प्रत्युत सयमोपपातकमेवैतत् बाह्याभ्यन्तरनेर्ध्वन्यप्रतिपन्थित्वात् ।

नन्वेव पिण्डौषधादीनामपि परिग्रहत्वप्रसङ्गात् कथं तदादायिनामपि मोक्षः स्यात् ? इत्यप्यसारम्, तेषाम् उद्गमादिदोषपरिहारेण उपादीयमानानां रत्नत्रयोपबृंहणहेतुत्वात् । न हि ते सिद्धान्तविहितविधिना उपादीयमाना मोक्षहेतोरपकर्तारः । तदग्रहणे च अपूर्णेऽपि काले विपत्तेरापत्तेः आत्मघातित्वं स्यात्, वस्त्राऽग्रहे तु नाऽयं दोषः । पद्माऽष्टमादिक्रमेण च मुमुक्षुभिः पिण्डादिकमपि त्यज्यते, परमनेर्ध्वन्यभागिभिः तैः प्रतिलेखनञ्च, न तु स्त्रीभिः कदाचिद्वस्त्रम् । नच गृहीतेऽपि वस्त्रे ममेदभावस्य आसामसम्भवादपरिग्रहत्वं वाच्यम्, विरोधात्, बुद्धिपूर्वं हि पतितं वस्त्रं हस्तेनावायं परिध्यानाया मूर्च्छारहितत्वानुपपत्तेः, न बुद्धिपूर्वं पतितमन्वादीयते न तत्र मूर्च्छाभावः यथा सुवर्णादौ, तथा आदीयते च स्त्रीभिर्वस्त्रमिति ।

(१) स्त्रिय । (२) पुरुषा । (३) ५०८६८ ५० १० । (४) वस्त्रस्य । (५) ‘गण्हदि व चेलखड भायणमत्थित्ति भणिदमिह सुत्त । जदि सो चत्तालवो हवदि कहु वा अणारम्भो ॥ वत्थ नखड दुट्ठिभायणमण्ण च गण्हदि णियद । विज्जदि पाणाग्गो विक्खमो तस्स चित्तमि ॥ गण्हदि विधुण्ण धोवड सोमेड जद तु आदवे मित्ता । पत्थ च चेलखड विमदि परदो य पात्रयदि ॥ किध तमिह णत्थि मुच्छा आरमो व असज्जमो तस्स । तथ परदव्वम्मि रदो कधगप्पाण पसाधयदि ॥ — प्रव०, टी० ५० २९७ । प्रमेयक० ५० ३३१ । (६) “बुद्धिपूर्वं हि हस्तेन पतितं वस्त्रमादाय — प्रमेयक० ५० ३३३ ।

१-विशेषणेति वक्त-व० । २-भाव्य पुरुष-ध० । ३-राशिसय-ध० । राशिप्रक्षयलण आ० । ४ सयमादाय-आ० । ५-पूर्वकं हि य० ।

एतेन 'उपसर्गाद्यासक्तमिव अम्बरमपरिग्रहः' इत्यादि प्रत्याख्यातम्, उपसर्गाद्या-  
सक्ते वस्त्रे पतिते बुद्धिपूर्वग्रहणासंभवात् ।

अथोच्यते—स्त्रीणां वस्त्रत्यागाभ्युपगमे कुलस्त्रीणां लज्जाभूयिष्ठत्वात् दीक्षाग्रहणमेव  
न स्यात्, वस्त्रे तु सति तत्परिग्रहमात्रं दोषः सकलशीलपरिपालनं तु गुणः इति त्यागो-  
पादानयोः गुणदोषाल्पबहुत्वनिरूपणेन भगवता वस्त्रमुपदिष्ट तासामिति, तदेतद-  
स्माकमभीष्टमेव, नहि अत्रार्थे वयं विप्रतिपद्यामहे, मोक्षे एव अस्माकं विप्रतिपत्तेः । नच  
तच्छील मोक्षप्रेसाधनाय प्रभवति परिग्रहचदाश्रितत्वात् गृहस्थशीलवत् । नहि गृहस्थ-  
शील त्यागोपादानयोः गुणदोषाल्पबहुत्वनिरूपणेन भगवतोपदिष्टमपि मोक्षप्रसाधनाय  
प्रभवति एव प्रकृतमपि । अथ तच्छील हिंसाशवलितत्वात् न तत्प्रसाधनाय प्रभवति;  
तदन्यत्रापि समानम् । न एतलु स्त्रीसम्बन्धि शील हिंसाशयल न भवति, यूकालिक्षा-  
यनेकजन्तुसम्मूर्च्छनाधिकरणवस्त्रसमन्वितत्वात् गृहस्थशीलवत् । तत्सम्मूर्च्छनाधि-  
करणस्य च वस्त्रस्य हिंसानङ्गत्वे मूर्द्धजानामपनयनानर्थक्यं स्यात् ।

यदप्यभिहितम्—'प्रमादाभावे तासां हिंसानुपपत्तेः' इत्यादि, तदप्यपेशलम्,  
लोभकपायपरिणतो तासामप्रमत्तत्वात्तनुपपत्तेः, तत्परिणतेरेव प्रमादत्वात् । तदुक्तम्—

“विक्रंहा तहा नसाया इदिय शिदा य तह य पण्णा (यो) य ।

चडु चडु पण् एंगेगे हुति पमादा हु पयणरस ॥” [पञ्चम० १।१५] इति ।

लोभकपायपरिणतिश्च स्त्रीणां बुद्धिपूर्वं वस्त्रस्वीकारात् अस्तीत्यवसीयते । अथ  
धीतरागत्वेऽप्यासां लज्जापनोदार्थं सत्स्वीकारसंभवात् नातस्तासां तत्परिणतिमिद्विः,  
नन्वेव कर्मपीडापनोदार्थं कस्मिन्नादिस्वीकारोप्यासां किञ्च स्यादविशेषात् ? अथ तत्पी-  
डासद्भावे धीतरागत्वं तासां विरुद्धते, तदेतत् लज्जासद्भावेऽपि समानम् । न एतलु  
धीतरागस्य लज्जा उपपद्यते, सति रागे ग्रीभस्तावयवप्रकृतादनेऽङ्गारूपत्वात्तत्स्थाः । यो  
धीतरागो नासी लज्जान्, यथा शिशुः, धीतरागा च भवद्विरभिप्रेता आर्यिका इति ।

(१) “अर्वागन्दरादिषु गृहीतचोरो यतिर्न मुच्यते । उपसर्गे वा चोरे ग्दादि सयस्यते चात्ते ॥”  
—स्त्रीमु० श्लो० १७ । (२) गृहस्थशीलम् । (३) पु० ८६८ प० १७ । (४) ‘पदोः पमादमदया  
एदासि विति भागिया पमदा । तम्हा ताजो पमदा पमादवहुता त्ति णिहिद्वि ॥ सति धुवं पमदाण  
माहरदासा भयं दुगुणं य । चित्तं चित्ता माया तम्हा तासि ण विज्जाण ॥’—प्रब० टी० पु० ३०२ ।  
“मायापमावपरा पडिमास तमु ह्योद पमदलण । णिच्च जाणिस्सवो दारद्वं गतिथि चित्तस्स ॥”  
—भावस० पा० ९३ । (५) विवकास्त्रया कपाया इन्द्रियनिन्द्रातथैवं प्रणयश्च । चतुदचतुपञ्चकं  
भवन्ति प्रमादा गन्तु पञ्चदश ॥ गापयं जोवकाण्डेऽपि (३४) वतत । उद्धृतम्—धवलाटी० पु०  
१७८ । (६) ‘ह्यागतातितिवृत्त्यर्थं वस्त्रादि यदि गृह्यत । कामिनादिस्त्रया विप्र कामगोडादि  
गान्धव ।’—प्रमथक० पु० ३३१ । (७) कामपीडा । (८) लज्जाया ।

१-सर्गाद् व्यासकृत-आ० । २-अत्रार्थेऽप्यस्य विप्र-व० । ३-प्रसाधाय व० । ४-नाय भवत्येव प्रकृत-  
व० । ५-वृत्तान्ति-व० । ६-नामे तासां-व० । ७-एतेकं थ० । ८-बुद्धिपूर्वग्रहण-आ०, बुद्धिपूर्वग्रहण-थ० ।  
९-कामादि-थ० ।

यदि च पुसाम् अचेलः संयमो मुक्तेर्हेतुः स्त्रीणां तु सचेलः, तदा कारणभेदात् मुक्तेरप्यवश्यमनुपज्येत भेदः । योऽत्यन्तभिन्नसंयमः सोऽत्यन्तभिन्नकार्यारम्भकः यथा यतिगृहिसंयमोऽत्यन्तभिन्नस्वर्गाचारम्भकः, अत्यन्तभिन्नश्च सचेलोऽचेलरूपो मुक्तिहेतुतयाऽभिप्रेत आर्य-अर्यिकासंयम इति । न चानेयोः मुक्तिभेदोऽस्ति, सकलकर्म-क्षयलक्षणाया मुक्तेः उभयोर्भवद्विस्तृत्यतयाऽभ्युपगमात् ।

किञ्च सचेलसंयमस्य मुक्तिहेतुत्वे मुक्त्यर्थिना न वस्त्रादेस्त्याग कर्त्तव्यतया उपदिश्येत, उपदिश्यते चैसौ तेषां तथा, अतो वस्त्रादेर्मुक्त्यङ्गत्वानुपपत्तिः । प्रयोगः—वस्त्रं मुक्तेरङ्गं न भवति, मुक्त्यर्थिना तत्त्यागस्य कर्त्तव्यतयोपदिश्यमानत्वात्, यत्त्यागो मुक्त्यर्थिना कर्त्तव्यतयोपदिश्यते न तत् मुक्तेरङ्गम् यथा मिथ्यादर्शनादि, कर्त्तव्यतयोपदिश्यते च तेषां वस्त्रत्याग इति । यत्पुनः मुक्तेरङ्गं न तत्त्यागस्तदर्थिना कर्त्तव्यतया उपदिश्यते यथा सम्यग्दर्शनादेरिति ।

यथान्यदुक्तम्—‘पुरुषैरवन्धत्स्वस्य गणधरैर्व्यभिचारः’ इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, यतोऽर्हता तीर्थकरत्वेनामपुण्यातिशयवशात् परममहत्त्वपदप्राप्तत्वेन अखिलजनैर्बन्धत्वमेव न बन्धकत्वम् । नहि कश्चित् तत्पदादधिकपदार्हो जगत्पुण्यस्य यस्य ते<sup>१</sup> यन्धका भविष्यन्ति, गणधराणां तु तथाविधपुण्याऽभावात् तत्पदप्राप्तेरभावात् तद्वन्धत्वम् । मुक्तिसामग्री तु तीर्थकरेतरेषां सिद्ध्यता न विशिष्यते । आर्यिकायास्तु सा विशिष्यते, तत्रेतरत्वाभावात् । तथा, स्त्रीणां न निर्वाणपदप्राप्तिः, यतिगृहिदेवबन्धपदाऽनर्हत्वात्, नपुंसकादिवत् । यतीनां हि बन्धपदं द्विविधम्—परम्, अपरञ्च । तत्र परम्—तीर्थकरत्वलक्षणम् । अपरम्—आचार्यादिलक्षणम् । तदुभयमपि पुसामेव उपदिश्यते न स्त्रीणाम् । तथा गृहिणा देवानाञ्च बन्धपदं द्विविधम्—परऽपरभेदात् । तत्र तेषां बन्धपरपदम्—चक्रवर्त्तित्वम् इन्द्रत्वञ्च । अपरम्—महाम(मा)ण्डलिकादि सामानिकादि च । तदपि पुसामेव श्रूयते न स्त्रीणाम् । प्रतिगृहञ्च प्रभुत्वं पुसामेव न स्त्रीणाम् । तथा पितरि सत्यसति च पुत्रस्यैव लघो विंशकस्यापि सर्वत्र कार्येऽधिकारो न पुत्रीणां महतीनां सुरुपाणामपि । अतो यासां मासारिकलक्ष्ण्यामपि अधिकारो नास्ति तासां मोक्षलक्ष्ण्यामधिकारो भविष्यति इति किमपि महाद्भुतम् ।

ननु यदि महत्याः त्रियोऽनर्हत्वात्तासाममुक्तिः तदा गणधरादीनामप्यमुक्तिः

(१) ‘तर्हि कारणभेदात् मुक्तेरप्यनुपज्येत भेदः स्वर्गादिवत् ।—प्रमेयक० पृ० ३३० । (२) आय-आधिक्यो । (३) वस्त्रत्यागं मुक्त्यर्थिना कर्त्तव्यतया । (४) पृ० ८६९ पृ० ४ । (५) तीर्थकरा । (६) परममहत्त्वपदप्राप्ते । (७) तीर्थकरवत् सकलजगद्बन्धत्वम् ।

१ बन्धका च भवि-श्र० । २-पुण्यानुभावतस्तत्प-आ०, पुण्येभावतस्तत्पद-व० । ३-भाव-स्तत्पद-श्र० । ४ तद्वन्धत्वम् व०, श्र० । ५-करे तेषां श्र० । ६ आधिक्यामु सा व० । ७ व-उपपदं व० । ८ चक्रवर्त्तित्वं व० । ९ विपक्षकस्यापि व० ।

स्यात् महत्या. तीर्थकरत्वश्रियः तेषामप्यनर्हत्वाविशेषात्; इत्यप्यसुन्दरम्, व्यक्तिभेद-  
स्यात्र विधिनिषेधयोरनङ्गत्वात् । पुरुषवर्गो हि महत्या श्रियामधिकृतो न स्त्रीवर्गः  
अतस्तत्परिहारेण तस्यैव मुक्तिरभ्युपगन्तव्या, न पुनः कचिद्व्यक्तौ तद्विधिश्रियोऽ-  
सभवेऽपि मुक्त्युपलम्भाद् व्यभिचारमुद्धान्य मुक्तिं प्रति स्त्रीणां तत्समानताऽऽपादयितु  
युक्ता । न खलु एकस्य राजपुत्रस्य राज्यप्राप्तौ अन्यतत्पुत्राणां तदप्राप्तिः ततो हीन-  
त्वेऽपि पुन्या समत्वं युक्तम्, पुत्रवर्गात् पुत्रीवर्गस्य सकलव्यवहारेषु लोके अत्यन्त-  
विलक्षणतया प्रसिद्धे । तत्र स्त्रीणां न मोक्षः पुरुषेभ्यो हीनत्वात् नपुंसकादिवत् ।  
न च तेभ्यो हीनत्वमासामसिद्धम्, अनन्तरमेव अस्य समर्थितत्वात् ।

इतश्च तत्सिद्धम् यतः सारणैवारणपरिचोदनादीनि स्त्रीणां पुरुषाः कुर्वन्ति न  
स्त्रियः, पुरुषाणाम्, तीर्थकराकारधराश्च पुरुषा न स्त्रियः । उक्तञ्च—

“सारणैवारणपरिचोदनाद् पुरिसां करेई गृह्ण ईत्थी” [ ]

ननु न हीनत्वमधिकत्वं वा मुक्तेरङ्गम्, किन्तु रत्नत्रयं शिष्याचार्यवत्, तथाहि—  
शिष्या आचार्येभ्यो हीनाः ते तु तेभ्योऽधिकाः अथ च उभयेषां मुक्तिः, तद्वद् आर्या-  
णाम् आर्यिकाणाञ्च सा भविष्यति, इति च श्रद्धामात्रम्, यतः शिष्याचार्यवत् हीना-  
धिकत्वेऽपि स्त्रीपुरुषयोर्मुक्तिः अविशेषतः स्यात् यदि तद्वत् तयोरपि मुक्तिहेतुभूत  
रत्नत्रयमविशेषतः स्यात्, न च स्त्रीषु तद्वस्ति, तद्वेतुभूतस्यास्य प्रपञ्चत तासु प्रागेव  
प्रतिपिद्धत्वात् । रत्नत्रयमात्रं तु तत्र सदपि न तद्वेतु, गृहस्थादेरपि मुक्तिप्रसङ्गात् । नहि  
प्रचण्डमार्त्तण्डप्रसाध्ये कार्ये प्रदीपस्य स्वप्नेऽपि सामान्यं प्रतीयते ।

यदप्युक्तम्—‘गार्हपत्येऽपि मुसत्त्वाः’ इत्यादि, तदप्यविचारितरमणीयम्, नहि  
यथा अनेकदुर्धरपरीपहसहस्तेन अखिलकर्मनिर्मूलनसमर्थं महासत्त्वं पुसा प्रसिद्धम्  
तद्विधं स्यमेऽपि स्त्रीणामस्ति । स्त्रीवर्गापेक्षयैव सीतादीनां सत्त्वप्रकर्षसंभवात्  
‘महासत्त्वाः’ इत्युच्यन्ते । नहि तासां पुसामिव सत्त्वार्थिक्यमस्ति कापि कार्ये ।  
तथाविधसत्त्वविकलानाञ्च तासां कथं महासत्त्वसाध्यमुक्तिहेतुरत्नत्रयसमप्रता स्यात् ।  
तथाहि—न स्त्रीशरीरं मुक्तिहेतुरत्नत्रयसमप्रतोपेताऽऽत्माश्रयः महता पापेन निर्वर्त्तित-  
स्यात् नाररादिशरीरवत् ।

नित्यं, अखिलकर्मव्रणणाप्रारम्भहेतोस्तर्त्तुं तदाश्रयतोपपद्यते । न च स्त्रीशरी-

(१) सारणपरिहारेण । (२) तीर्थकरत्वश्रियः । (३) सारणां हिंसे प्रवतनलक्षणा इत्य-  
स्मारणलक्षणा वा उपगन्तत्वाद् वारणा अहिताग्निवारणलक्षणा, वीर्यणा समययोगेषु स्तस्ति  
समनुष्ठानतः नरादृगां विधानुमित्यादिवचनन प्ररणा प्रतिचोदना तत्रैव पुन पुन प्ररणा । —गच्छा०  
पृ० गा० १७ । ओपनि० टी० गा० ४४८ । (४) शिष्याचार्यवत् आर्य-आर्यिकयोरपि । (५)  
पृ० ८६१ पं० ११ । (६) गारस्य । (७) मुक्तिहेतुरत्नत्रयसमप्रतोपेतात्माश्रयता ।

१ अस्तिभरः स्यात् विधि—जा० । २ तत्प्राप्तिः ३० । ३ सारणचारण—जा० । ४ सारणचारण  
—जा० । ५ इति जा० । ६ आचार्याणामपि—ध० । ७ विषयमपि क्वापि जा० । ८ नव शरीरस्य जा० ।

रस्य तत्प्रारम्भहेतुतोपपद्यते । तथाहि—न स्त्रीशरीरं सकलकर्मक्षपणाप्रारम्भहेतुः महता पापेन मिथ्यात्वसहायेन उपार्जितत्वात् नारकादिशरीरवत् । स्त्रीनिर्वर्त्तकं हि कर्म महत्पापम् न मिथ्यादष्टैरेन्येन उपार्ज्यते । यद्यपि सासादनसम्यग्दृष्टिरपि तदुपार्जयति तथाप्यसौ सम्यग्दर्शनमयसादयन् मिथ्यादष्टिरेव, मिथ्यादर्शनाभिमुखस्यास्य मिथ्यादर्शनेनैव व्यपदेशात् । सम्यग्मिथ्यादष्टिरपि हि उत्तावत् नार्जयति, किमङ्ग पुनः सम्यग्दृष्टिः ? स्त्रीत्वेन उत्पद्यमानोऽपि जीवो मिथ्यात्वपरिणत एव उत्पद्यते । तदुक्तम्—

“हेतु हेट्टिमासु पुढविमु जोइस-वण-मवण-सव्वइत्थीसु ।

वारेस (वारस) मिच्छुववौदे सम्माइट्ठी य उप्पयदि ॥” [पवस० १।१९३ (?) ]

यासाञ्च उत्कृष्टस्थितिकदेवपदप्राप्तिरपि नास्ति ताः मोक्षपदं प्राप्स्यन्ति इति महक्यायकौशलम् ।

यदप्युक्तम्—‘अदृशमयेगसमये’ इत्याद्यागमश्च स्त्रीनिर्वाणे प्रमाणम्’ इत्यादि; तदप्यनल्पतमोविलसितम्, अस्य आगमस्य अस्मत्प्रत्यप्रमाणत्वात्, तदप्रमाणत्वञ्च प्रमाणबाधितार्थप्रतिपादकत्वात् सुप्रसिद्धम् । यथा च स्त्रीनिर्वाणलक्षणोऽर्थः प्रमाण-

(१) ‘चित्तस्थावो तासि सित्थिल्ल अत्तव च पक्खलण । विज्जदि सहसा तामु अ उप्पादो सुहममणुआण ।”—प्रव० टी० पृ० ३०१ । “सुहमापज्जत्ताण मणुआण जोषिणादिकक्खेसु । उप्पत्ती होइ सया अण्णसु य तणुपप्पेसु ॥ गहु अत्थि तेण तेसि इत्थीण दुविहसज्जमोद्धरण । सजमधरणण विणा ण मोवलो तेण जम्मेण ॥”—भावस० गा० ९४-९५ । “सदैवाशुद्धता योनौ गल्लमलाश्रयत्वेन । रजस्वलनमेतासा मास प्रति प्रजायते ॥ उत्पद्यन्ते सदा स्त्रीणा योनौ कक्षादिसन्धिषु । सूक्ष्मापर्याप्तका मर्यास्ताद्गृहस्य स्वभावतः ॥ स्वभाव कुत्सितस्तासा लिंगव्याप्यन्तकुत्सितम् । तस्मान् प्राप्यते साक्षाद् द्वेधा समयभावना ॥ उत्कृष्टसमय मुक्त्वा शुक्लध्यान न योग्यता । नो मुक्तिस्तद्विना तस्मात्तासा मोक्षोऽतिद्वय ॥ सप्तम नरक गन्तु शक्तिर्यासा न विद्यते । आवसहननाभावान्मुक्तिस्तासा कुतस्तनी ॥ योपितस्वरूपतीर्थेणा तालिगस्तनभूषिता । अर्वा प्रतिष्ठिता क्वापि विद्यन्ते चैरप्रकथ्यताम् । न सन्ति चेन्मताभाव सन्ति चेद् भण्डिभास्पदम् । एव दोषद्वयासयान्मोक्षो न घटते स्त्रिय ॥”—भावस० श्लो० २४४-५० । (२) “सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो । णासिय-सम्मत्तो सो सासणणामो मूणेयवो ॥”—जीवका० गा० २० । “विपरीताभिनिवेशतोऽसद्वृत्तित्वात् । तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्येव नास्य सासादनव्यपदेश इति चेत्, न, सम्यग्दर्शनवारितप्रतिबन्धनन्तानुबन्धु-दयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद् भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात् तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेश किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते ।”—पवसादी० पृ० १६४ । (३) “ वारसमिच्छोवादे सम्माइट्ठिस्स णाय उववादो”—पवस० । ‘ णदेसु समुपज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो’—पवसादी० पृ० २०९ । “हेट्टिमच्छपूढवीण जोइसि वण भवण सव्व इत्थीण । पुण्णिदरे णहि सम्मो ण सासणो णारयापुण्ण ॥”—जीवका० गा० १२७ । अद्यस्तनपदनरकेषु ज्योतिर्व्यन्तरभवनवासिषु तिर्यग्मनुष्यदेवस्त्रीषु द्वादशसु मिथ्यात्वोपपादस्थानेषु सम्यग्दृष्टय न समुत्पद्यन्ते इत्यर्थः । (४) पृ० ८६९ पृ० १३ ।

1-वसादयत् मि-आ० । 2-रपि हेतु तावत् थ० । 3-किपुन थ० । 4-तत्त्ववोत्प-व० ।

5-वारसतिमिच्छुववादे आ०, थ० । 6-वादेसम्या इत्थि न उप-थ० । 7-अद्वय-आ० ।

8-अस्मान् प्रत्यप्र-थ० ।

योधो मे' न तथाविधोऽस्ति न सरस्वत्या प्रदत्तो वर,  
साहाय्यञ्च न कस्यचिद्वचनतोप्यस्ति प्रैवन्धोर्दये ।  
यत्पुण्य निननाथभक्तिननित तेनार्थैर्मत्यद्भुत,  
सञ्जातो निरित्तार्थबोधनिलय साधुप्रसान्तात्पर ॥ १ ॥

कल्याणावसथ सुवर्णरचित विद्याधरै सेवित,  
तुङ्गाङ्गो विबुधप्रियो बहुविधश्रीनो गिरीन्द्रोर्षम ।  
भ्राम्यद्भिर्न बृहस्पतिप्रभृतिभि प्राप्त यदीय पदम्,  
न्यायान्भोधिनिमन्धन चिरमसौ स्थेयात् प्रवैन्ध पर ॥ २ ॥

मूल यस्य समस्तवस्तुविषय ज्ञान पर निर्मलम्,  
बुध्न सव्यवहारसिद्धमखिल सवान्ति मान महत् ।  
शारदा सर्वनथा प्रपन्ननिबहो निक्षेपमालामला,  
जीयाज्जैनमत्ताऽग्निपोऽत्र फलित स्वर्गादिभि सत्फलै ॥ ३ ॥

भव्यान्भोनदिवाकरो गुणनिधि योऽभूज्जगद्गुण,  
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रनलधि श्रीपद्मानदिप्रभु ।  
तच्छिष्यादकलङ्कमार्गनिरतात् सफ्यायमार्गोऽखिल,  
सुव्यक्तोऽनुपमप्रमेयरचितो जात प्रभाचन्द्रत ॥ ४ ॥

अभिभूय निनविपक्ष निरित्तमतोद्योतनो गुणान्भोधि ।  
सविता नयतु चिनेन्द्र शुभप्रमन्ध प्रभाचन्द्र ॥ ५ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्रयालङ्कारे सप्तम परिच्छेद समाप्त ॥छ॥

(१) प्रभाचन्द्रश्च । (२) न्यायकुमुदचन्द्रविरचन । (३) न्यायकुमुदचन्द्र । (४) न्यायकुमुदचन्द्र ।

[—यस्य ध० । —यस्य व० । ३ न्यायान्भोधिनिमन्धन आ० न्यायान्भोधिनिमन्धन ध० ।  
४ तस्याय—य० । ५ समाप्त । इति लघीयस्रयालङ्कारे लघीयस्रयालङ्कारादिसिद्धिना परापरपरमपठितप्रमाणोपा  
दिनमन्त्रपुष्पनिराहृतिनिमित्तमनन्ततः श्रीमत्प्रभाचन्द्रपरिचितं न्यायकुमुदचन्द्रो लघीयस्रयालङ्कार  
इति इति संवत्सम् । श्रीमत्प्रभाचन्द्राय नमः । श्रीमत्प्रभाचन्द्राय नमः । ४० ।



श्रीनन्दिसंघकुलमन्दिररत्नदीप(पः), सिद्धान्तिमूर्ध्व(ध्रं)तिलको नन्दिनामा ।  
चूडामणिप्रभृति सर्वनिमित्तवेदी चूडामणिमैव निमित्तविदां बभूव ॥ १ ॥

शिष्यस्तस्य तपोनिधिः शमनिधिर्वि [ यानिधि ] धीनिधिः ।

शीलानन्दितमन्यलोकहृदयः सौख्यैकनन्दीत्यभूत् ॥

आरुह्य प ( प्र ) तिभागुणप्रचहणं सद्गोधिरत्नो [ ब्रह्म ] ।

[ सत्सि ] द्धान्तमहोदधेरनवधेः पारं परं दृष्टवान् ॥ २ ॥

अन्तेवासी समजनि मुनेस्तस्य यो देवनन्दी,

दीप्तोत्तमप्रभृतिवपसा [ सां धाम यो ] देवनन्दी ।

चातुर्वर्ण्यश्रमगणनिभिर्देवचङ्कर ( द ) नीयो,

देवश्चासावजनि परमानन्दयोगाच्च नन्दी ॥ ३ ॥

एतस्मादुदयाचलाद्भि [ धिवशा ] ह्री [ लो ] दयेनाभितः ।

श्रीमद्भास्कर(न)न्दिना दशदिशस्तेजोभिरुच्योतिताः ॥

विद्वत्तारकचक्रपालमखिलं मिथ्यातमोभे [ विभि-

रथोद्भा ] सवचोमरीचिनिचयैराच्छादितं सर्वतः ॥ ४ ॥ ४ ॥

त्यक्ता धातृकथापि वादिनिषर्हर्नाल्पोऽपि जल्पः कृतः ।

जल्पकै [ क्षमया च नो ] निगदितं पाण्डित्यवेतण्डिकैः ॥

षट्कर्कोपनिपन्निशाणनिशितप्रज्ञस्य तैः सेव्यते ।

श्रीमद्भास्कर(न)न्दिपण्डितपतेः [ पादारविन्द ] यी ॥ ५ ॥

इति न्यायकुमुदचन्द्रवृत्तितर्कः समाप्तः मि ( त्र ३ ) ति ॥ ६ ॥



ग्रन्थाम् १६००० ॥ १५२० ॥ छ ॥ शुभं भवतु ॥ छ ॥ श्री ॥

20

## समाप्तोऽयं ग्रन्थः



## न्यायकुमुदचन्द्रसम्पादकप्रशस्तिः ।

भजति सागरमण्डलमुद्धरे सुकृतिभिः 'खुरई'विकसत्पुरे ।  
सुपरवार'जवाहरलालतः' समजनिष्ट 'महेन्द्रकुमारकः' ॥ १ ॥

कवीनाश्रितवीनारूप्यनगरे 'धर्मदासतः' ।  
नामिनन्दनसद्विद्यालये संस्कृतशिक्षणम् ॥ २ ॥

प्रारम्भिकमुपादाय विशेषाधिजिगांसया ।  
विद्वत्सुन्दरमिन्दूरविद्यालयमवाप्तवान् ॥ ३ ॥

'धंशीधरात्'धर्ममधीत्य 'जीवन्धराच्च' तर्कं श्रमतः सतर्कम् ।  
स्याद्वादनिद्यालयमेत्य तस्मिन्नश्रान्तमश्राम्यमहं चिराय ॥ ४ ॥

न्यायमध्यापयन्नन्तेमासिनोऽपि निरन्तरम् ।  
अभूवमुत्तमश्रेण्यां न्यायाचार्यस्ततः परम् ॥ ५ ॥

गनेपणापूर्णधिचेह टिप्पणीतिहाससम्यक्तुलना मया श्रमात् ।  
विलिख्य तत्रानवधानदूषणं सुधीजनः शोधयितेत्युपेक्ष्यते ॥ ६ ॥

रसरसयुग्मनेत्रे वीरनिर्वाणवर्षे,  
प्रथमदलनग्न्यां भौमवारान्वितायाम् ।  
कृतिरियमगमन्मे पूर्णतां मासि भाद्रे,  
गुरुचरणरूपौषेनान्तरेणान्तरायम् ॥ ७ ॥

न्यायकुमुदचन्द्रस्य

॥ प रि शि ष्टा नि ॥

[ INDEXES. ]

---

“श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।  
जीयाज्जैनेन्द्रचन्द्रस्य शासनं जिनशासनम् ॥”

—अकलङ्कदेवः

“पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।  
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥”

—हरिभद्रः

“परमागमस्य वीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।  
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥”

—अमृतचन्द्रः

[illegible]

कारिकार्थम्  
पूर्वपूर्वप्रमाणत्व फल  
प्रणिपत्य महावीर  
प्रतिभासभिदेकार्थे  
प्रतिसविदितोत्पत्ति-  
प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा  
प्रत्यक्षाभ कथञ्चित्स्थित्वा-  
प्रत्यक्ष बहिरन्तरचा-  
प्रत्यक्ष विवाद ज्ञानं  
प्रत्यक्षेषु न लक्ष्यरन्  
प्रत्येक वा भजन्तीह  
प्रमाणनयनिक्षेपानभि-  
प्रमाण श्रुतमर्थेषु  
प्रवचनपदान्यभ्यस्य  
प्राकृतामयोजनाच्छेष  
प्रामाण्य व्यवहारादि  
प्राय श्रुतेर्विस्वादात्  
बहिरर्पोस्ति विज्ञप्ति-  
बह्वाद्यवप्रहायत्तत्वा-  
ब्रह्मवादस्तदाभास  
भविष्यत्प्रतिपद्येत  
भव्य पच गुरुन्  
भदाना नासिदात्मको  
भेदाभेदात्मके ज्ञेये  
भेद प्राधान्यतो'न्वि-  
मलविद्धमार्गव्यक्ति-  
मिष्येतरात्मक दुःखादुभय-  
मिष्येवान्ते विज्ञयो वा  
मर्देर्न भिनदेशार्थानि  
यद्यप्येवाविस्वादि  
युज्यत क्षणिकेऽर्ध-  
यै तेजोधानपेक्षाभ्या  
लक्षणं क्षणिकैकान्ते  
लिङ्गात् साध्याविनाभाव-  
लिङ्गिणीरनुमान  
वक्ष्यमिदं तत्राश्रय

पृ०  
१७३  
६५५  
६४०  
५२७  
५०२  
५२१  
६११  
२०  
५२७  
६७५  
६५५  
५२९  
८७९  
४०३  
६२८  
५९८  
६३१  
१७३  
६२१  
४५९  
८७८  
६०९  
६०५  
७९२  
७७३  
३९७  
६२८  
६१८  
५२१  
६१६  
६०५  
६१४  
४३४  
४३४  
६९६  
कारिकार्थम्  
वर्णा पदानि वाक्यानि  
वाञ्छिताश्च क्वचिन्नति  
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र  
विरचम्यायं वाक्यप्रत्यया-  
विवक्षा नैगमोऽप्यन्त-  
वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्य-  
व्यपेक्षात समक्षेऽर्थे  
व्यवसायात्मक ज्ञान  
व्यवहारानुकूल्यात्तु  
व्यवहाराविसवादस्तदा-  
व्यवहाराविसवादी नय  
व्याप्ति साध्येन हेतो  
शुद्ध ब्रह्ममभिप्रेति  
श्रुतभेदा नया सप्त  
श्रुतादर्थमनेकान्तम-  
इव आदित्य उदेतेति  
पट्टकारकी प्रकल्प्येत  
सप्रह सर्वभदेक्यमभि-  
सशयादिविदुत्पाद-  
सहृतात्तेपचिन्ताया  
सदभेदात् समस्तैवय  
सदस्तत्त्वावर्तिनर्भासं  
सत्येतरव्यवस्था का  
सन्तानेषु निरन्वयक्षणिक्-  
सन्निधेरिन्द्रियार्थानां  
सर्वज्ञाय निरस्तवाचकधियो  
सर्वैकत्वविक्षपी  
सर्वत्र चेदनारवास  
स्याद्वाद सकलादेशो  
स्वतोऽर्था सन्तु सत्तावत्  
स्वसविद्विषयाकार-  
स्वसवेद्य विकल्पाना  
स्वहेतुजनितोप्यर्थ  
स्वेच्छया तापनिरम्य

पृ०  
६९६  
६९६  
६९१  
७९८  
७८८  
४८३  
५०३  
६७९  
७९०  
५२९  
६३१  
६५२  
६०९  
७८२  
७९८  
४५९  
६५०  
६२१  
६६१  
५२५  
७९०  
६१२  
६००  
४  
६९३  
६५३  
७९२  
५९८  
६८६  
६२४  
४६३  
५२५  
६७८  
६९६



## १. सविष्टतिलधीयस्त्रयगतानि अवतरणानि ।

अवतरणम्  
हिन्दुपमनसो वारण विज्ञानस्य  
गुणानां परमं रूपं न दृष्टि-  
गुणानां वृत्तं चरन्  
तत्राश्रयधमनुमानव्यतिरिक्तं  
नहि तत्रवज्ञानमिष्य

पृ०  
६६१  
६२८  
६२५  
६२७  
२१

अवतरणम्  
नहि बुद्धस्वारणं विषय  
माननुज्ञातान्वयव्यतिरेकं  
बन्धुर्नप्रतं तु वाच मूचयन्ति  
वक्ष्यमिदं तत्राश्रय मूचकं वचनं निति

पृ०  
६३८  
६७४, ७९४  
६००  
६९६

## § ३. सविष्टतिलघीयस्य लाक्षणिकानां विशिष्ट-दार्शनिकानां च नाम्नां सूचिः ।

अकलक	६५३ १६, ८७९ ५
अकिञ्चित्कर	२१ २
अक्षाययोग	११५ १४
अणुपरिमाण्डल्यक्षणभगाद्यवीक्षण	४८३ ६
अतीन्द्रियप्रत्यक्ष	६८२ ६
अथ	२१३ ॥
अर्थनय	७९३ १८
अर्थसाक्ष्यभूत	६७६ २
अर्थानिधानप्रत्ययात्मक	६३२ १
अद्वयानुपलब्धि	४६२ १६
अधरोत्तरादिज्ञान	५०४ १
अनागतनिर्णय	६३८ ६, ७९४ ५
अनिन्द्रियप्रत्यक्ष	६८२ ५
अनुमान	४३४ १३
अनुयोग	७९९ १ ८०१ २
अयत्र विस्तरेणोक्त	६९६ १९
अयत्रक्षयम्	६४६ १
अयत्रोक्तम्	६८२ ९
अन्यध्यानपपत्तिवित्त	४३५ १
अपभ्रष्ट	८७८ २४
अपज्ञानादिभाषण	६९७ २
अप्रस्तुताद्यपिाकरण	८०० २
अभिप्रतमात्रसूचित्व	६९७ ६
अभिलाषसंज्ञायोग्यता	६७९ १९
अभिखण्ड	६३७ २०
अलौकिक	६९२ ८
अलौकिकप्रतिभान	६५७ ३
अवग्रह	११५ १५, ११६, ११६ २
अवाय	११५ १५, ११६ ३
अविसर्वाद	६३२ ३
अविसर्वादस्मृति	४०४ १
अवशय	७४ ५
असवेद्यमार्गचित्करमनुपायमनुपेय	६८० २
आकुल प्रलपन्	६३२ ७
आप्ततरव्यवस्था	६०० १५
इत्यम्भत	६३७ २०
इन्द्रनादिन्द्र	६४६ ९

इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष	७४ ६
ईहा	११५ १५, ११६ २
उपमान	४८८ २२
उपयोग	११५ १८
उपयोग	६८६ २
ऋजुसूत्र	६३५ २१
ऋजुसूत्रनय	७९२ ७
ऋ प भा दि म हा वी र	२ १३
एतस्मात्पूर्वं पश्चिममुत्तर	४०२ १०
एवम्भूत	६३८ ३ ७९४ २
कायकारणलक्षण	६१४ १०
कारक	७९४ १०
कारक	६९२ ३
कारण	६१४ १४
काय	६२४ १४
कृत्तिकादि	५९८ १८
कृत्तिकादय	४५९ १२, ७९४ ५
क्षणिकपरिमण्डलादि	४८३ १०
गुणपययवद्वय	६३२ २ ७९१ २
गुणानां वृत्त चल	६२५ ३
ग्रामधानकमेतन्नामक	५०२ ११
चतुर्था (निक्षप)	७९९ ८
चतुर्विध (मतिज्ञान)	१७२ २१
चत्वार (अथनय)	७९३ १८
चल	६२८ १०
चित्रनिर्भासिन्	३९८ २३
चित्रसवित	६३५ २१
चित्राकारमेक	७९२ १०
चित्राभिसन्धि	६०२ ८
जलचद्र	४५० १०, ११
जिन	८७९ २
जिनश्वरपदप्राप्तिलक्षणस्वायसपत्ति	८७९ ९
जीवस्थानगुणस्थानमागणास्थान	७९९ ३, ८०१ १, ३
जै मि नि	७४ ९
ज्ञातुरभिप्राय	६०६ १, ६५६ ९, ७९४ १५
तक	४०४ २, ६५२ २

१ परिशिष्टप्रसिम्नं स्पूलोऽङ्कं पुण्डसख्या सूचयति सूक्ष्मोऽङ्कश्च पञ्चितसख्याम् । स्पूलाक्षरमुद्रिताश्च शब्दा  
लाक्षणिका ज्ञेया ।

तज्जनम्	६७५. १४.
तथाभावसंकरव्यतिकरव्यतिरेक	७८३. ६.
तदत्यन्तभेदाभिसन्धि	७८९. ३.
तदाकृति (नंगमाभास)	७८८. २४.
तदाभास (संग्रहाभास)	६२१. ६; ७९०. ३.
तदाभास (ऋजुमूत्राभास)	७९२. ८.
तदुत्पत्ति	६७८. १८; ६७९. १९.
तदुत्पत्तिसारूप्य	६४०. १४.
तदुत्पत्तिसारूप्यादिलक्षणव्यभिचार	६४४. ५.
तद्व्यवसिति	६७५. १४.
तमस्	६६५. २२; ६६६. १, २.
तादात्म्यतदुत्पत्ती	४३५. १; ६०२. ११
तामसखण्डकुल	६७४. ३.
तादृश	१४. १४

प्रयः (शब्दजनय)	७८३ १९.
दुर्नय	६३६. ४, ६५०. ५; ७९२. १२.
दुर्नय ६३१. २२, ६३२. ४; ७९०. २; ७९१ ५.	
दूरासन्नकार्यप्रत्यक्ष	६४०. १८
दृश्यादृश्यभेदेतरात्मक	३६७. २१.
द्रवति द्रोप्यति अदुद्रवत्	६०७. १.
द्रव्य	६०७ १; ७८२. १४, ७८३. ३
द्रव्य (निक्षेप)	८०० १.
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्तत्पर्यनिष्ठित	६४६. २.
द्रव्यपर्यायात्मा	२१३ ७
द्रव्यपर्यायाधिक	७८३. ३, १८.
द्रव्यमावेन्द्रिय	११५. ७.
द्रव्याधिक	६०६. १; ६०७. १७.
द्रव्येन्द्रिय	११५. ७.
द्रिधेय (प्रमाण)	६८२. २.
द्रै एव प्रमाणे	५०४. ४.
धर्मतीर्थकर	२. १२.
धारणा	१७२ २१, २२; ४०४. १.
नपुंसक	६४६. ८.
नय ६०५. १; ६३६. ४, ६५०. ५; ६५६. ९;	
६८१. ३; ६८८. १; ७९२. १२, ७९९. ६.	
नय ६३१. २२; ६३२. ४, ७८२. १३, ७८३.	
१, ७९४. १७.	
नयदुर्नय	६०५. ७.
नहि दुष्टेऽनुपपन्नं	५९९ २.
नाशारण	६७४. २.
नाम (निक्षेप)	७९९. ९
नामस्थानाद्रव्यभावः	७९९. ८.
निक्षेप	८००. २.
निर्देशादि	७९९. १; ८००. ३.
निरपेक्ष	६३६. ८; ७९२. १२.
निरपेक्षा	७९४. १८.

निश्चयनय	७८३. ८.
निश्चयपर्याय	७८३. ११.
निश्चयव्यवहारौ	७८२. १६.
नंगम	६२२. १०; ७८८. २४.
नंगम	६२२. १२; ६२८. १०; ७८३. १९,
	७८९. ६.
नंगमाभास	६२२. १०; ७८९. ४.
न्यास	६५६. ८; ७९९. ८.
पंचगुरु	८७८. २३.
परमायम	६८६. ८.
परिच्छेदपरिच्छेदकभाव	६७८. १७.
परिमण्डलादि	४८३. ९.
परोक्ष	२०. १४; ६०२. २, ८.
परोक्षेऽन्तर्भाव	५०४. ४.
पर्याय	६३५. २१; ६३७. २०; ७८३. ९;
	७९४. १२.
पर्यायाधिक	६०६. १.
पाचकपाठकादिवत्	७९४. १४.
पुमान्	६४६. ८.
पुरन्दर	६३८. ३; ६४६. १०; ७९४. २.
पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे	१७३. १७.
पूर्वापराविरोधलक्षणसवाद	७९१. ३.
पृथक्त्व	७८३. ९.
प्रतिसविदितोत्पत्तिव्यय	५२७. १६.
प्रतिसंहारव्युत्पत्तिव्यय	५२५. ६.
प्रतिस्वहारेकान्त	५२८. २.
प्रत्यक्ष	२०. १३.
प्रत्यक्ष ४२७. १; ६११. १०; ६४४. १२, १५;	
	६८२. २, ४.
प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन	४८४. १६; ६१४. १३.
प्रत्यक्षाम	५२१. १९; ५५५. ७.
प्रभव	४८५. १६.
प्रमाण	६५०. ६, ६५६. ८, १०; ७९९. ६.
प्रमाणनयनिक्षेपानुयोग	८०१. २.
प्रमाणफल	१७४. ११.
प्रमाणफलव्यवस्था	१७३. १८.
प्रवचनपद	८७९. ३.
प्रसिद्धार्थसाधर्म्य	४८८. २२; ४८९. १, ४.
प्रस्तुतार्थव्याकरण	८००. २.
प्रान्तामियोजन	४०३. ७.
प्रादेशिकप्रत्यक्ष	६८२. ४.
बहिरर्थविवक्षितमात्रसूचकवचसा	७९१. ५.
बहुवहुविषयिप्रानिम्नानुक्तप्रवेतरविवक्ष	१७४. ७
बहुलावयप्रहासपट्वत्त्वारिणत्	१७३. १६.
बालिशगोप	६७४. ३.
बुद्ध	४. १९.
बहुलावय	६२१. ६, १०; ७९०. २, ३.
मट्टाकलंकसाधनानुस्मृतप्रवचनप्रवेश	८७९. ११.
भावनिक्षेप	८००. १.



भावेद्वय	११५ १८
मण्याविसामग्रीप्रभव	६०२ १४
मतिज्ञान	१७२ २१ ७८३ १
मनोमति	७८३ २
म हा नी र	६५५ ८
माया	६२८ १३
मिथ्यकान्त	६२८ ५
मरु (प्रत्यक्ष)	७४ ६
मुख्यसव्यवहारत	२० १३
मत्तप्रतिबिम्बभत्	६७६ ४
मूलनय	७८३ ३
यस्मिन् सत्यव यदभाव	६१४ १४
यावज्जयव्यापिनानरहितसकलपुरुषपरिपत्त	
परिज्ञान	७४ ७
याम्यतापेक्षानादिसङ्कत	६८७ १
रभ्यापुष्प	७४ १०
रिक्ता बाचोयवित	६४६ ६
लताचूलादि	६०२ १३
लब्ध	११५ १८
लिंग	७९४ ११
लोकव्यवहार	६२९ २
वक्त्रभिप्राय	५३० १ ६९६ १६ १८
घणपदवाक्यव्यत्वादकास्तन	७९४ १४
वत्तनारुभण	६४६ ३ ७९४ १०
वागव्यभिचारकात्	६०० १४
वाक्यवानकलक्षणसम्बन्ध	६४४ ८
विकलसकथा	६८६ ३
विक्रिया	३९६ २३
विज्ञप्तिमात्र	६३१ २३
विधिनियधानुवादातिदेशादिवाक्य	६९२ ३
विप्रकृष्टाद्यन्तरवत्	६१४ १४
विपमोऽयमुपयास	६५६ ११
विषय	११५ १६
विषयिन	११५ १७
वी र जि न	६५३ १६
वक्तव्य	६८६ ९
वशाद्य	७४ ५
व्यतिरेक	७८३ १०
व्यवहार	६२८ ५
व्यवहारनय	७८३ ९
व्यवहारपर्याय	७८३ ११
व्याप्ति	४२७ ४, ६५२ १
शकट	४५९ १२ ५९८ १८
शकटोदय	७९४ ५
शब्द (नय)	८३७ १९ ७९३ २०
गहनय	७९३ १९
गव्ययोजन	४०४ ३
गव्यसमभिरुद्धी	६३८ ३
गव्यानुयोजन	४०३ ७

शुद्ध गो	६२९ १
श्रुत ४०३ ७ ५२९ २४, ६८६ २ ७९८	६ ९ ७९९ ५
श्रुतज्ञान ४०४ ३ ५३० १	६०२ १७
	७९१ ३
श्रुतानतदाभासव्यवस्था	५२९ ९
श्रुतभद	७८२ १३
श्रुति ५९८ १५ ६०२ १०	६३२ ३
श्रुतिकल्पनादुष्टादि	५९९ ३
पटकारकी	६४६ ६, ६५० २
पटकारकीसम्भव	६५० ३
सग्रह ६०० १९ ६१० १	६२१ ५ ७९० १ ३
सज्ञाकम	७९९ ९
सज्ञासञ्ज्ञिसप्रतिपत्तिसाधन	५०२ १२
सज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्ति	४८९ २
सवृत्ति	१७३ १९, १७४ १
सव्यवहारानुपयोगिन्	२१ २
सग्यकान्त	४६२ १६
सहृताद्यपक्षिन्ता	४२५ ३
सकलवित	६५३ १५
सकलादेश	६८६ ३
सत्तासमवाय	६२४ १९
सत्त्वपुरुषत्ववक्तृत्वादे	७४ ९
सत्त्वप्रमेयत्वानुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादि	६८६ ६
सत्यपदविद्या	७८३ १९
सयानतव्यवस्था	६९७ ४
सयानतव्यवस्थाययानुपपत्ति	६९६ १८
सत्यतरव्यवस्था	६०० १३
सदादि (अनुयोग)	८०० ३
सदगपरिणामलक्षणसामान्यप्रमत्त्व	७८३ ३
सदसापरापरतोत्पत्तिविप्रलम्भ	५२१ १
सन्तान	४ १८
सन्निकष	६६४ १
सन्निकर्षादि	२१ १ ६६३ २१
सन्नित्वविषयबलोत्पत्ति	४२७ २
समात्रदान	११६ १
सप्त (नय)	७८२ १३
मत्तघात्यनयोष	६५२ ४
समवाय	६२९ १ ३ ४
समारोपव्यवच्छिन्नाकाक्षण	५२२ ३
सम्बन्धप्रतिपत्त	५०२ ७
सम्यगकान्त	६८८ १
सहकर्मभाविन	६१३ २
सहकर्मविवर्तिन	६१२ २०
साध्यव्यवहारिक	७४ ६
साकल्य	६८६ ९
साधकतम	२१ ४
साधनदूषणतदाभासवाक्य	६९२ ४
साधनासाधनाङ्गव्यवस्था	६०० १६

सापेक्ष	६३६ ३ ७९२ ११
सापेक्षत्व	७९४ १८
सु ग ते त र	६०० १५
सुतुच्छक	६२८ १३
मुनिश्चितमभवदवाधकप्रमाण	७४ ७, ६८२ ७
सूर्याचन्द्रमसोद्यहण	४५९ १३ ७९४ ६
स्व-घ	७८३ ७
स्त्यानप्रसवतदुभयाभि वसामा यलक्षण	७९४ ११
स्त्यायत्यस्या गभ इति स्त्री	६४६ ७
स्मापना	७९९ ११
स्पष्ट	६८२ ४
स्मृति	४०४ १, ६४० १० १५
स्पात्कार	६९१ २२ ६९२ १
स्याच्छब्द	६८८ २
स्याज्जीव एव	६८८ १
स्यात्पदप्रयोग	६८७ २

स्यादस्त्यव जीव	६८८ २
स्यादवाव	६८६ ३, ४
स्यादवाद	६४६ १३, ६८६ ७, ६९२ ४
स्याद्वादिन्	६५३ १३
स्यादवादेक्षणसप्तक	६५५ ८
स्वपरिविस्वादन्यसनीयन	६३२ ॥
स्वभावनरात्म्य	६३२ ६
स्वभावभूतान्यापोहस्वार्थप्रतिपादन	६८७ १
स्वभावहेतु	४८५ १४
स्वप्रतिमात्र	३७२ १५
स्वकीचविरचितदशनप्रदशनमात्र	६२८ ११
स्वायसपत्ति	८७९ ९
हानोपादानोपेक्षाप्राप्तपत्तफल	४१९ ६
हिताहितप्राप्तिपरिहारसमथ	६८२ ४
हेतुवाद	६०० १२
हेतुवादरूप	८७९ ८

## § ४. अन्याचार्यैः स्वग्रन्थेषु समुद्धृतानां लघीयस्त्रयकारिकाणां विवृत्यंशानाञ्च तुलना ।

### १ वीरसेन

लघी०	यवलाटीका
पा० ५१	पृ० १७
२ रत्नभद्रशिष्य अनन्तवीर्य	
लघी०	सिद्धिविनिश्चय टीका
पा० ७	पृ० १८४ A
पा० ७ प्रमाणरूपेण	पृ० १९ B
पा० ५६	पृ० १८७ B
पा० ५७	पृ० १९३ A
पा० ५९	पृ० १० B
पा० ६२	पृ० ४ A

### ३ गियानन्द

लघी०	प्रमाणपरीक्षा
पा० ३	पृ० ६९
पा० ३	अष्टसहस्री
पा० २२ त्रिभिराध्याप्तव-	पृ० १३४
	पृ० २७७
	पत्रपरीक्षा
पा० ३	पृ० ५

### का० ४ तदस्ति मुनिश्चिता

का० ४	तदस्ति मुनिश्चिता
का० ३७	पृ० ५६
	सत्यज्ञातनपरीक्षा
	पृ० १५ B
	तदवापदलोकवातिक
का० ४	पृ० १८५
का० ७	पृ० ४२४
का० १०	पृ० २३९
पा० ३२	पृ० २७०
का० ५४ इन्द्रियमनसो	पृ० ३३०
पा० ७०	पृ० २७१
का० ३२	नयविवरण
	पृ० ६७

### ४ प्रभाचन्द्र

लघी०	प्रमेयकमलमासतण्ड
का० ३ तन्मानं प्रमाण	पृ० २५

### ५ अनन्तवीर्य

लघी०	प्रमेयरत्नमासा
पा० १९-२०	३।५

६ वादिराज

लघी०	न्यायविनिश्चयविवरण
का० ३	पृ० ४८ A
का० ५	पृ० ३२ A
का० ५ विषयविषयि	पृ० ३२ A
का० १४	पृ० ५२७ A
का० ५२	पृ० ३२ A
का० ५९	पृ० ३३ A
	प्रमाणनिर्णय
का० ४ तदस्ति सुनिश्चिता	पृ० १९

७ आशाधर

लघी०	अनगारधर्माभितटीका
का० ७३-७६	पृ० १६९
	इष्टोपवेशटीका
का० ५७	पृ० ३०

८ शीलाङ्गाचार्य

लघी०	सूत्रकृताङ्गटीका
का० ४	पृ० २२७ A
का० ७२	पृ० ३२६ A

९ अभयदेव

लघी०	सम्मतितकटीका
का० ५ विषयस्तावत्	पृ० ५५३
का० ५ कथञ्चिदभदेऽपि	पृ० ५५३
का० १० अविस्वावस्मृते	पृ० ५५३
का० २२	पृ० ५९५
का० २२ तिमिराद्युपप्लव	पृ० ५९५
का० ३२	पृ० २७२
का० ५६	पृ० ५४४

१० बादि देवसूरि

लघी०	प्रमाणनयनरत्नालोकाङ्कुर
का० ३ सन्निकषदिरज्ञानस्य	११४
का० ४ अनुमानाद्यतिरेकेण	२१३
का० ५ कथञ्चिदभदेऽपि	२१२
	स्याद्वावरत्नाकर
का० ४	पृ० ३१६
का० १९	पृ० ४९८

११ रत्नप्रभ

लघी०	रत्नाकरावतारिका
का० १९।२०	३।३

१२ हेमचन्द्र

लघी०	प्रमाणमीमांसा
का० ४ तदस्ति सुनिश्चिता	पृ० १४
का० ४ यावज्जयव्यापि	पृ० १४
का० ४ अत्रानुपलम्भ	पृ० १४
का० ५ विषयस्तावत्	पृ० २१
का० ५ कथञ्चिदभदेऽपि	पृ० २२
का० ६ धारणा	१।२।१९
का० ७	१।१।३९
का० ८	पृ० १४
का० १९-२०	पृ० ३५

१३ मलयगिरि

लघी०	आद्य० दि० मलयगिरिटीका
का० ३०	पृ० ३७० B
का० ५७	पृ० १७
का० ६३	पृ० ३६९ B
का० ६२ क्वचित्स्यात्कार	पृ० ३६९ B
का० ७२	पृ० ३८१ B

नविसूत्रटीका

का० ५७	पृ० ६६ B
--------	----------

१४ देवेन्द्रसूरि

लघी०	प्रथमकामप्रपटीका
का० ५७	पृ० ८

१५ यशोविजय

लघी०	जैनतकभाषा
का० ७६ अप्रस्तुतार्थापरिणामात्	पृ० २५
	शास्त्रवातटीका
का० ४	पृ० ३१० B
	मुक्ततत्त्वविनिश्चय
का० ३०	पृ० १६ B
का० ६३	पृ० १६ A.

## § ५. न्यायकुमुदचन्द्रगतान्यवतरणानि ।



अकतीं निर्गुण शुद्ध	[	]	११२
अकर्म कर्म	[	]	३०४
अकुर्वन् विहित कर्म [ मन० ११.४४ ]	[	]	५७५
अक्लेशास्तोकेऽपि	[	]	८४१
अग्निष्टोमेन यजेत [	[	]	५८६, ५९४
अङ्गुल्यग्रे हस्तिपूय-	[	]	६९२
अदृढसयमेगसमये	[	]	८६९
अत इदमिति यत [ वंश० सू० २।२।१० ]	[	]	२५७
अत एवानुमानानामपश्यन्त	[	]	७०
अतीतानागतौ कालौ	[	]	७२३
अतीतैककालाना गतिर्ना [ प्रमाणवा० स्वयं० १।१२ ]	[	]	४५९
अथ स्थगितमप्येतदस्त्वये [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	३२-३३ ] ७१५
अथापीन्द्रियसंस्कार [ मी० इलो० शब्दनि० इलो० ]	[	]	६९-७० ] ७१३
अदृष्टसङ्गतित्वेन सर्वेषां [ मी० इलो० शब्दनि० इलो० ]	[	]	२४९ ] ७०३
अधिष्ठानानुत्वाच्च [ मी० इलो० शब्दनि० इलो० ]	[	]	१८७ ] ४५३
अग्निदग्ध कियान् सर्व [	[	]	७०
अग्निद्वैकरूपत्वाद्गीचीबुद्बुद- [	[	]	१४१
अनुमानविरोधो वा [	[	]	७०
अनवगतोऽप्यनेकान्त [ बहुत्व० इलो० १०३ ]	[	]	६८८
अनेकान्तिक सम्बन्धविचार [ न्यायसू० १।२।५ ]	[	]	३९९
अनेकान्तिकता तावदेतू [ मी० इलो० शब्दनि० इलो० ]	[	]	१९ ] ७१५
अन्धादयं महानन्ध [ अतमानु० इलो० ३५ ]	[	]	३९३
अन्यपाकरणं चास्य [ मी० इलो० चोदना० इलो० ]	[	]	१५० ] ७२४
अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य [ प्रज्ञ० भा० पृ० १६ ]	[	]	३०२
अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मेऽन्यथा [	[	]	१५
अप्यपानुपपत्त्या गृहेति [ मी० इलो० सम्बन्ध० इलो० ]	[	]	१४१ ] ५४५, ५५०
अप्यर्थान्तिस्तद्वन्था [ वाक्यप० २।४२५ ]	[	]	५५३
अन्यदपि धैर्यं तच्चित्र- [	[	]	८४१
अन्यदविन्द्याप्राप्त- [	[	]	५५३, ५६२
अन्या तावदियमप्यत्रिय द्युत [	[	]	५

अन्यार्थं प्ररितो वायुर्ग्रथान्य [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	इलो० ८० ] ७०९
अन्ये तु चोदयन्त्यत्र प्रतिबिम्बो [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	इलो० १८३ ] ४५२
अपरस्मिन् पर युगपदयुगप- [ वंश० सू० २।२।६ ]	[	]	२५१
अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विधेय [ न्यायसू० १।१।३१ ]	[	]	३१३
अपूर्वकर्मणामास्तवनिरुध सवर [ तत्त्वार्थसू० ]	[	]	१।१।(?) ] ८१२
अपोह शब्दलिङ्गाभ्या न वस्तु [ अणभङ्गाध्याय (?) ]	[	]	५५१, ५५७
अपवाभिसम् न्धादाप [ प्रज्ञ० भा० पृ० ३५ ]	[	]	२१४
अप्रत्यक्षा नो बुद्धि प्रत्यक्षोऽर्थः [ शाबरभा० १।१।५ ]	[	]	१७६
अप्राप्तकण्ठशस्वात् ध्वनेर्न [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	इलो० ७० ७१ ] ७१३
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ [ मी० इलो० अभाव० इलो० ]	[	]	६ ] ४६८
अप्युर्मदतिना नित्य [ मी० इलो० शब्दनि० इलो० ]	[	]	१८६ ] ४५२
अभिधाभावनामाहुरन्यामेव [ तन्त्रवा० २।१।१ ]	[	]	५७६
अभिलाषवती प्रतीति [ न्यायवि० पृ० ११ (?) ]	[	]	४५
अयोगमपर्यवर्त्यमत्यन्ता- [ प्रमाणवा० ४।१९० ]	[	]	६९३
अर्थग्रहण बुद्धिश्चेतना [ न्यायभा० ३।२।४६ ]	[	]	१८२
अर्थापत्तिरति प्रतिपक्षसिद्धे [ न्यायसू० ५।१।२१ ]	[	]	३२७
अर्थापत्तिरित्य चोक्त्या [ मी० इलो० शब्दनि० इलो० ]	[	]	२३७ ] ७०१, ७१९
अर्थापत्त्यावगम्यैव [ मी० इलो० शब्दनि० इलो० ]	[	]	५०८
अर्थादापत्रस्य स्वशब्देन [ न्यायसू० ५।२।१५ ]	[	]	३३३
अर्थेन घटयत्येना न हि [ प्रमाणवा० ३।३०५ ]	[	]	१६६, १६७
अर्थो ह्यर्थं गमयति [	[	]	५३३
अवयवविपर्ययवचन- [ न्यायसू० ५।२।११ ]	[	]	३३३
अवस्थादेशकालादिभेदाद् [ वाक्यप० १।३२ ]	[	]	६८
अविज्ञातञ्चाज्ञानम [ न्यायसू० ५।२।१७ ]	[	]	३३४
अविज्ञातत्वेऽर्थं कारणापपत्तिर [ न्यायसू० १।१।४० ]	[	]	३१५
अविद्याऽस्मितारागद्वेषा- [ योगसू० २।३ ]	[	]	१०९
अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा [ प्रमाणवा० ३।३५४ ]	[	]	१३३

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभि- [ न्यायसू० १।१।२२ ] ३२१  
 अविशेषोपेतं हेतो प्रतिपिद्धे [ न्यायसू० ५।२।६ ] ३३१  
 अशक्तं सर्वम् [ ] ३९६  
 असदकरणादुपादानग्रहणात् [ साध्यका० ९ ] ३५२  
 अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं [ भी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ११२ ] ७७०  
 अत्येदं कारणं कार्यं संयोगि [ वंशे० सू० १।२।३ ] ४६०  
 अस्वतन्त्रं बहिर्गतं [ ] ४३१, ८३३  
 आकाशमपि नित्यं सद् [ भी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३०-३१ ] ७१५  
 आख्यातशब्दं सत्तातो [ वाक्यप० २।१ ] ७३९  
 आतिथं कटुको रूक्ष [ राजनिघ० ] ६६९  
 आत्मत्वाभिस्तम्बन्धादात्मा [ प्रश्न० भा० पू० ६९ ] २१५  
 आत्मनि सति परसज्ञा [ प्रमाणवा० १। १९ ] ८३९  
 आत्मलाभे हि भावानां [ भी० श्लो० सू० २ श्लो० ४८ ] १९५, १९९  
 आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिर्मान- [ न्यायसू० १।१।९ ] ३०९  
 आत्मा मनसा युज्यते मन [ न्यायम० पू० ७४ ] ३६५  
 आदौ ब्रह्मा मूलतो ब्राह्मणं ससर्ज [ ] ७७०  
 आनन्दं ब्रह्म [ बृहदा० ३।५।२८ ] ८३८  
 आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तत्त्व [ ] ८३१, ८३७  
 आरामं तस्य पश्यन्ति [ बृहदा० ४।३।१४ ] १४७  
 आसयोगकेवलिनो जीवा [ ] ८५६  
 आसर्गप्रलयादेका बुद्धि [ ] १८९  
 आहारा या निहारा [ ] ८५७  
 आहृदिधातुं प्रत्यक्ष [ ब्रह्मसि० तर्कपाद श्लो० १ ] १४९  
 इत्यो छट्ठीभो अहो [ ] ८७२  
 इत्यभिधा स्वयं भावा [ सम्बन्धप० (?) ] ३०९  
 इन्द्रियार्थसमनन्तरप्रत्यय- [ ] ४७  
 इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्- [ न्यायसू० १।१।४ ] ५२३  
 इयं त्वन्येव सर्वोयो [ तन्त्रशा० २।१।१ ] ५७५  
 ईश्वरज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षज [ ] ६८४  
 उत्क्षेपणमपसंज्ञमाकुञ्चन [ वंशे० सू० १।१।७ ] २७९  
 उत्तरस्थाप्रतिपत्तिः [ न्यायसू० ५।२।१८ ] ३३४  
 उदाहरणसामर्थ्यात्साध्य- [ न्यायसू० १।१।३६ ] ३१४  
 उदाहरणपक्षस्तथैत्युपसंहारो [ न्यायसू० १।१।३८ ] ३१५  
 उपात्तकर्मणा निर्हरण [ ] ८१२  
 उपभोगाश्रयत्वेन गृहीते- [ प्रमाणवा० १।२२९ ] ८८०  
 उपलब्धिसाधनानि [ न्यायभा० पू० १८ ] २८  
 उभयकारणोपपत्तेरप- [ न्यायसू० ५।१।२५ ] ३२८  
 उभयसाधर्म्याप्रक्रिया- [ न्यायसू० ५।१।१६ ] ३२७  
 ऊर्ध्ववृत्तितदेकत्वाद- [ भी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८९ ] ४५३

एकं प्रतिषेधहेतु [ न्यायवि० पू० ३९ ] १२०  
 एवद्वयमगुण संयोग- [ वंशे० सू० १।१।१७ ] २७९  
 एकधर्मीपक्षेरेविशेषे [ न्यायसू० ५।१।२३ ] ३२७  
 एकसामग्र्यधीनत्वादुपादे [ प्रमाणवा० १।१० ] २३६  
 एवस्मिन्नापि दृष्टेऽर्थे [ भी० श्लो० उपमान० श्लो० ४६ ] ४९२  
 एकस्यार्थस्वभावस्य [ प्रमाणवा० ३।४२ ] ५२४  
 एवात्मसमवेतानन्तरज्ञानग्राह्य- [ ] १८८  
 एकादश जिते [ तत्त्वावसू० १।११ ] ८६२  
 एकादश जिते धृतिपासादय [ ] ८५४  
 एगो मे सख्यो अथा [ भावपाहु० गा० ५९, मलावा० गा० २।४८ ] ८४५  
 एव धर्मेविना धर्मिणामेव [ प्रश्न० भा० पू० १५ ] ३६४  
 एव प्रागन्तया वृत्त्या [ भी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९० ] ४५४  
 कञ्चित् कालं स्थिरं सद्यः [ ] ७०१, ७१८  
 कर्मक्षयाद्विभोक्ष [ ] ८४१  
 कर्मण्य [ वाचिनि० ३।२।१ ] ७६०, ७९६  
 कल्पनापोढमभ्रान्तम् [ न्यायवि० १।४ ] ५२३  
 कस्यचित् यदीष्यत [ भीमासाश्लो० सू० २ श्लो० ७६ ] १९६  
 काभीति ( भीमि ) [ जैनेन्द्रव्या० १।३।३२ ] ६४१  
 कामी यत्रैव यः कश्चित्- [ प्रमाणवास्तिकाल० पू० ३० ] ५८४  
 कार्यव्यासङ्गात् क्या- [ न्यायसू० ५।२।१९ ] ३३४  
 कालात्म्यापदिष्ट [ न्यायसू० १।२।९ ] ३२०  
 कालादे स्वयम्भेदात् [ ] ६४७  
 किं स्यात् सा चिन्तकस्याम् [ प्रमाणवा० ३।२।१० ] १३०, ६१३  
 क्रियायां प्रवर्तकं वचनम् [ शाबरभा० १।१।२ ] ५७८  
 क्रियावद् गुणवत् समवायि- [ वंशे० सू० १।१।१५ ] २१४  
 क्रियाविष्टद्रव्यकारकम् [ लघी० त्वव० का० ७२ ] ४२  
 क्लेशकर्मविपाकाश्रय- [ योगसू० १।२४ ] १०९  
 क्षणिका हि सा [ शाबरभा० १।१।५ (?) ] ४३  
 क्षीरे दधि भवेदेवम् [ भी० श्लो० अभाव० श्लो० ५ ] ४६८  
 गगद्गारे कुशावर्ते [ ] ६३४  
 गत्वा गत्वा तु तान् देशान् यद्यर्थो [ भी० श्लो० अर्था० श्लो० ८ ] ७२५  
 गत्वा गत्वापि तान् देशान् नास्य [ न्यायम० पू० ३८ ] ५१२  
 गन्धं पूर्णव्यामेव [ ] २३८  
 गन्धो घ्राणग्राह्य [ प्रश्न० भा० पू० १०५ ] २७३  
 गन्धदद्याप्यसम्बन्धात् [ भी० श्लो० उप० श्लो० ४५ ] ४९२

गवय गृहमाणञ्च न [ मी० श्लो० उप० श्लो० ४४ ] ४९२	तथा भिन्नमभिन्न वा [ मी० श्लो० शब्दनि श्लो० २७१ ] ७०३
गवयोपमिताया गोस्तज्ज्ञान- [ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ४ ] ५०८	तथा वैधर्म्यात् [ न्यायसू० १।१।३५ ] ३१४
गाहृष्यर्षि मुसत्वा [ स्त्रीसू० श्लो० ३१ ] ८६९	तद्यदमल ब्रह्म [ बृहदा० भा० वा० ३।५।४४ ] १४१
गुणदर्शी परित्यज्य ममेति [ प्रमाणवा० १।२२० ] ८३९	तदतद्रूपिणो भावा [ प्रमाणवा० ३।२५१ ] १२६
गुणपययवदद्रव्यम् [ तत्त्वार्थसू० ५।३८ ] ८०६	तदनुपलब्धरनुपलम्भा- [ न्यायसू० ५।१।२९ ] ३२८
गुणभ्यो दोषाणामभाव [ मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६५ ] १९८	तदाद्यसुखसज्ञायु [ ] ८४२
गोशब्द ज्ञातसम्बन्ध [ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४४ ] ७०२	तदेतन्नूनमावातम् [ प्रमाणवा० ३।२०९ ] १३२
गृहीता वस्तुसदभावम् [ मी० श्लो० अभा० श्लो० २७ ] ४६४ ७२४	तदेव नियमाभावात् [ ] ७०
चक्षु श्रोत्रमनसामप्राप्ताय- [ ] ८३	तदेव च स्यान्न तदेव [ बृहत्संख्य० श्लो० ४२ ] ३६९
चिच्छक्तिपरिणामिन्यप्रति- [ योगभा० पु० १५ ] ११४	तथा शून्य भवेत् पुसाम [ ] ५९७
चित्रप्रतिभासाप्यकम् [ प्रमाणवा० तत्काल० लि० ५० ३९५ ] १२६ ६१८	तावत्काल स्थिरञ्चनम् [ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३६६ ] ७१६
चतस्र स्वरूप पुरुषस्य [ योगभा० १।९ ] ६१४	तेजस्वाभिसम्ब धातु [ प्रज्ञ० भा० पु० ३८ ] २१४
चतुर्न्याजमभिव्यक्तिघटा- [ ] ३४३	तेन प्रयत्नक वाक्यम् [ मी० श्लो० चोदना० श्लो० ३ ] ५७५
छमु हेतुकिमासु पुढविमु [ पञ्चसू० १।१९३(?) ] ८७७	तेनाग्निहोत्र जुहुयात् [ प्रमाणवा० ३।३१८ ] ५४८
जलबुद्बुदवज्जीवा [ ] ३४२	तेन द्विधासम्बन्धात् [ मी० श्लो० प्रत्य० श्लो० २३७ ] ६९९
जियदु य मरदु अ [ प्रवचनसार ३।१७ ] ८६९	तेभ्यश्चतयम् [ ] ३४२
ज्ञानसम्बन्ध प्रत्यक्षदे- [ शाबरभा० १।१।५ ] ४३	तो च भावो तदयश्च [ सम्बन्धप० (?) ] ३०६
ज्ञान (त) सम्बन्धसम्बन्धा [ यादवभा० पु० ४४७ ] ३३६	ततीयस्थानसत्कान्ती [ प्रमाणवा० ४।५१ ] ६८५
पापनीयन धमण [ यायभा० १।१।३३ ] ३१४	त्यक्ताज्यवत्तत्प्रत्यक्ष [ ] १३०
	त्रिगुणमविवेकि विषय [ साधवका० ११ ] ३५३
	त्रिपु पदार्थेषु सत्करी [ ] ३९९
	त्रकाल्यानुत्पत्त [ न्यायसू० ५।१।८ ] ३२७
	दशनस्य परावर्त्तादित्य- [ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ७ ] ५०८
तत्र रूप चक्षुर्ग्राह्यम् [ प्रज्ञ० भा० पु० १०४ ] २७७	दशनाद्वर्त्तनाभ्यां तु [ ] ७०
तत्रानुभवमात्रम् [ प्रमाणवा० ३।३०२ ] १६६	दारा परिभवकारा [ ] ८४६
तत्रैव बोधययम् [ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४५२ ] ४५२	द्विस्तावानुपलब्धो हि [ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २५० ] ७०३
तत्त्व भावेन [ वगै० सू० ७।२।२८ ] ३०३	दृष्टमस्तगतं चित्त [ जाबाल० ४।५४ ] ६२४
तत्त्वार्थव्यवसायसुरक्षणाय [ यादवसू० ४।२।५० ] ३१९	देवालदगाभद- [ ] ६९
तदगुणरपकृष्टानाम् [ मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६३ ] ७०३	दृश्यत मेचवालो हि [ ] ३६९
तद्विषयवादिपरातम् [ न्यायसू० १।१।३७ ] ३१४	दृश्यमानाद् यदयश्च [ ] ४९३
तत्राधिकरणान्मुपगम- [ न्यायसू० १।१।२६ ] ३१२	दृष्टत्वाम विरोधादि [ ] ३६९
तस्मान्च विवर्णमात् [ साधवका० १९ ] ८१३	दृष्टान्तस्य कारणान्न- [ न्यायसू० ५।१।९ ] ३२५
तस्मात्तत्त्वमर्गा- [ साधवका० २० ] ८१४ १९०	द्रव्याणि द्रव्यान्तरमा- [ वश० सू० १।१।१० ] २६८
तस्मादप्य सङ्ख्या [ तत्ति० ६।४।७ (१) ] ७६१	द्रव्यात् स्वस्मादभि- [ ] ३७०
तस्माच्च स्मयत् तत्त्वस्य [ मी० श्लो० उप० श्लो० ३७ ] ४९०	द्रव्यान्म्यगुणवान [ वश० सू० १।१।१६ ] २७२
तथा च स्थानपूर्वोक्ति [ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४२ ] ७०२	दृष्टव्यो रेयमा मा [ बृहदा० ४।५।६ ] ५९७
तथा प्रापति शोभम् [ ] ७२६	द्रव्यस्वकारपक्ष तु [ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८६ ] ७१४
	द्रव्योरेकाभिसम्बन्धात् [ सम्बन्धप० ] ३०६
	धर्मविवत्पनिदध [ न्यायसू० १।२।१४ ] ३२२

धर्माऽधर्मौ स्वाश्रयसयुक्ते	[	२४७
धर्मिणोऽनेकरूपत्वम्	[	३६८
धर्मिणो ह्यनन्तरूपत्वम्	[	३७१
धर्मं चोदनेन प्रमाणम्	[	७३५
धियोऽनीलादिरूपत्वे	[ प्रमाणवा० ३।४३३ ]	१२४
धत्तूरकपुष्पवद् आदौ	[	२७०
न च पर्यनुगोऽत्र	[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४३ ]	७१४
न च स्यादघबहारोऽयम्	[ मी० श्लो० अभा० श्लो० ]	४६७
न चापि स्मरणात् पदवादि-	[ मी० श्लो० प्रत्य० श्लो० २३९ ]	६९९
न चाप्यदृष्टिमात्रेण	[	७०
न चावस्तुनः एते स्युः	[ मी० श्लो० अभा० श्लो० ]	४६७
न चैतस्यानुमानत्व	[ मी० श्लो० उपमान० श्लो० ]	४३ ४९१
न तस्य किञ्चिद् भवति न भवत्येव	[ प्रमाणवा० १।२८१ ]	३८८
न तावदिन्द्रियेणैषा	[ मी० श्लो० अभा० श्लो० ]	१८ ४६३
न ब्रह्मादि स्वतः सत्	[	६१०
न नर सिंहरूपावात्	[	३६९
नभस्त्वयैव गृहद्वारवतिन	[ न्यायसू० पु० ३८ ]	५११
न प्रकृतिर्नविकृति पुरुष	[ साहचका० ३ ]	६२७, ८१६
न प्रत्यक्षीकृता याव-	[	६९
न नरो नर एवेति	[	३६९
नरान् वृष्ट्या त्वसर्वज्ञान्	[	९४
न विकल्पानुविद्धस्य	[ प्रमाणवा० २।२८३ ]	५२५
न सोऽस्ति प्रत्ययो	[ वाक्यप० १।१२४ ]	१४०, १४५
न स्वतो नापि परत	[ माध्यमिकका० प्रत्यय० का० ]	१ १३२
न ह वै शरीरस्य प्रिया-	[ छान्दो० ८।१२।१ ]	८२५, ८३०, ८३७
न हिस्मात् सर्वाभूतानि	[ कर्मपु० अ० १६ पु० ]	५५३ ६३४
न हि स्मरणतो यस्माक्	[ मी० श्लो० प्रत्यय० श्लो० ]	२३४ ६९९
न ह्यर्थे शब्दा सन्ति	[	५३४
नाकारण विषय	[	६५८
नात्रमात्रमिणो	[ प्रमाणवा० १।४५ ]	६२०, ८५१
नागृहीतविशेषणा	[	२८६
नाशत शपक नाम	[	५४९
नाननुकृतान्वयव्यतिरेक	[	६४०
नाभुक्त क्षीयते कर्म	[	८२४
नान्योन्याभावा	[ प्रमाणवा० ३।३२७ ]	१३३, ६८४
नाय वस्तु न चावस्तु	[ तत्त्वार्थश्लो० पु० ११८ ]	३६४

नादेनाहितवीजाया-	[ वाक्यप० १।८५ ]	७४९, ७५४
नाऽभावो विद्यते सत	[ भगवद्गी० २।१६ ]	३५८
नास्तित्ता पथसो दधि	[ मी० श्लो० अभा० श्लो० ]	३ ४६७
निग्रहप्राप्तस्यानिग्रह	[ न्यायसू० ५।२।२१ ]	३३४
नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या	[ प्रश० भा० पु० १३ ]	२९२
नित्यमनित्यभावादनित्ये	[ न्यायसू० ५।१।३५ ]	३२९
नित्याः शब्दार्थसम्बन्धा.	[ वाक्यप० १।२३ ]	५५०
नियमश्चानुमाञ्जत्व	[	७०
निरूपणानुस्मरणविकल्पे-	[ अभिष० १।३३ ]	३९५
निर्दिष्टकारणाभावेऽप्यु-	[ न्यायसू० ५।१।२७ ]	३२८
निर्वाणैऽपि परे प्राप्ते	[	५
निष्कलत्वेन शब्दस्य	[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ]	२३९ ७०२
नीलसुखादिविचित्रप्रतिभासाप्येकैव	[ प्रमाणवाति-काल० ]	१३०
नीलादिविचित्रविज्ञानज्ञानो-	[ प्रमाणवा० ३।२२० ]	१२५
नेह नानास्ति किञ्चन	[ बृहदा० ४।४।१९, कठोप० ]	४।११ १४७
नो कप्यद् नियम्योप	[ कल्पसू० ५।२० ]	८६८
नैसर्गिक वैनयिकञ्चा-	[ न्यायभा० १।१।२५ ]	३१२
नोकम्मन्महारो	[ भाषस० गा० १।१० ]	८५६
पक्षप्रतिपक्षे प्रतिज्ञाधि-	[ न्यायसू० ५।२।५ ]	३३१
पदमात्र पदञ्चान्त्य	[ वाक्यप० २।२ ]	७३९
पदार्थपूर्वकस्तस्मात्	[ मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ]	३३६ ७४३
पदार्थानां तु मूलत्वमिष्ट	[ मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ]	१११ ७४४
परमार्थकतान्त्ये	[ प्रमाणवा० ३।२०६ ]	५५४
परलोकिनोऽभावात्परलोका-	[	३४३
परस्परविषयगमन व्यतिकर	[	३६०
परस्परविनाभूत द्वय-	[ प्रमाणवातिकाल० पु० ३० ]	५८८
परापेक्षा हि सम्बन्ध	[ सम्बन्धप० ]	३०६, ३०९
परिपत्रप्रतिवादिभ्या	[ न्यायसू० ५।२।९ ]	३३२
पारतन्त्र्य हि सम्बन्ध	[ सम्बन्धप० ]	३०५
पीनो दिवा न भुङ्क्ते	[ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ]	५१ ५०८
पुवेद वेदता जे पुरिता	[ प्रा० सिद्धन्त० गा० ६ ]	८७८
प्रकृतादवधिप्रतिसम्ब-	[ न्यायसू० ५।२।७ ]	३३२
प्रकृतिपरिणाम सुक्त कृष्णञ्च	[	८१२
प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कार	[ साहचका० २२ ]	१८९
		३५१, ३५५

प्रतिज्ञासाधनप्रतिषेधे [न्यायसू० ५।२।३] ३३०	प्रेरणा हि विना कार्यं [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०] ५८४
प्रतिज्ञाहानि प्रतिज्ञान्तर [न्यायसू० ५।२।१] ३३०	प्ररणन निययोऽत्र [प्रमाणवातिकाल० पृ० २९] ५८३
प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनमना- [न्यायसू० १।१।३२] ३१४	प्रेर्यते पुरुषो नैव [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०] ५८३
प्रतिज्ञाहेतुविरोध [न्यायसू० ५।२।४] ३३१	वहुकृत्वोऽपि वस्त्वात्मा [ ७०
प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा [न्यायसू० ५।२।२] ३३०	वाधनालक्षण दुस्त्वम् [न्यायसू० १।१।२१] ३१०
प्रतिनियतदेशा वृत्तिरभि- [ ४१	वुद्धिमुखदु खेच्छाद्वेपप्रयत्न- [ १७३
प्रतिमन्वन्तरञ्चैव धृति- [मत्स्यपु० १४५।५८] ७२६	वृद्धाध्यवसायसमर्थ [ १९०
प्रत्यक्षमनुमानञ्च साधन्यो- [पद० समु० श्लो० ७२ (?) ] ५०५	ब्राह्मणेन गृह्य [ ७७०
प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभूत- [न्यायसू० पृ० ११] ४६	भवत्तत्त्वविनाभाव [ ६९
प्रत्यक्ष कल्पनापोढ प्रत्यक्षणैव [प्रमाणवा० २।१२३] ५२५	भादौ वीकनपुस्क पुवत् [जनेन्द्रया० ५।१।५३] ६०४
प्रत्यक्षमेव प्रमाणमगीणत्वादिति [ ७०	भावाभावयोस्तद्वता [न्यायवा० पृ० ६] २९
प्रत्यक्षादेरनुत्पत्ति प्रमाणा- [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११] ४६४	भावा येन निरूप्यन्ते [प्रमाणवा० ३।३६०] १३२
प्रत्यक्षानुमानोपमानाब्दा [न्यायसू० १।१।३] ३०९	भिक्षवोऽहमपि भावोपम [ ६८३
प्रत्यक्षेण हि प्रतिपत्ते प्रतिबन्धे [ ५१४	भिन्नकाल कथ ग्राह्य- [प्रमाणवा० ३।२४७] १६५,
प्रत्यक्षेणामबुद्धेऽपि सादृश्ये [मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३८] ४९०	१६७, ४०९
प्रत्यक्षविषय यथा दत्ते [मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३९] ४९०	भिन्नविशेषण मुख्यमभिन्न- [ ३९९
प्रत्ययार्थो नियोगश्च [प्रमाणवातिकाल० पृ० २९] ५८३	भिन्ने चैकत्वनिरपत्वे [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७२] ७०३
प्रत्ययरत्नपात्रेयैरुहणा- [वाचस्प० १।८४] ७४९	भिन्नेष्वभिन्ना नित्या [ ७७९
प्रमतयोगान प्राणव्यप- [तत्त्वार्थसू० ७।१३] ८६८	भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यंतज [न्यायसू० पृ० २०] ४७
प्रमाणक प्रमाणम् [ २८	भूयोदग्नेनयम्यापि न [ ७०
प्रमाणनकासाधनोपासम्भ [न्यायसू० १।२।१] ३१६, ३३८	भूयोदृष्ट्या च धूमो [ ७०
प्रमाणनयैरधिगम [तत्त्वार्थसू० १।६] ६५१	भूयोव्यवसामान्ययोगो [न्यायसू० पृ० १४६] ४९१
प्रमाणपञ्चक यत्र [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १] ४६६, ७२५	भेदाना परिमाणात् [साध्यका० १५] ३५०, ३५४
प्रमाणप्रमयमयप्रयोजन- [न्यायसू० १।१।१] ३०९	मथित्याचकबद्धोपाधि- [प्रश० भा० पृ० ६४ (?) ] २५२
प्रमाणमविमवादिज्ञान- [प्रमाणवा० १।३] ६३३	मतिपूर्वं धृतम् [तत्त्वार्थसू० १।२०] ४०५
प्रमाणपट्टकविज्ञातो [मी० श्लो० अर्था० श्लो० १] ५०५	मदसाक्षितवद्विज्ञानम् [ ३४२, ३४८
प्रमाणभावनिर्णीतचैत्रा- [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ८] ५०८	मध्यमा प्रतिपत्तेव [ १३१
प्रत्यक्षार्थानि वस्तुना [न्यायसू० ५।१।३७] ३२९	मनस्त्वाभिसम्बन्धागमन [प्रश० भा० पृ० ८६] २१५
प्रत्यक्षानन्तरं ज्ञान [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३१ ३२] ७१५	मन्त्राद्युपपत्ताधाया [प्रमाणवा० ३।३५५] १३३
प्रागुक्त कारणभावा- [न्यायसू० ५।१।१२] ३२६	ममेद कायमित्यव ज्ञात [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०] ५८३
प्राग्भाषो य मुराष्ट्राणा [न्यायसू० पृ० १४१ (?) ] २५९	ममेद भोग्यमित्यव [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०] ५८४
प्रातिपूर्विकप्राप्तिविज्ञान [प्रश० भा० पृ० १५१] २७०	महत्त्वनेकद्रव्यत्वादप- [पेशो० सू० ४।१।६] ३०
प्रागर्थ्यं व्यवहारेण [प्रमाणवा० २।५] ४८, १६७, ४५०, ६३०	मानुषो प्रहृष्टिमम्यतो- [बृहत्सं० श्लो० ७५] ८५७
प्रेरणाविषय कार [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०] ५८८	मिथ्याध्यारापहानार्थ [प्रमाणवा० १।१९४] ८४०, ८५५
	मिथ्योत्तरं ज्ञान [न्यायसू० का० ३७१] ३३९
	मूत्रे हि वाद उपलभ्यत [शाबरभा० १।१।५] ५३५
	मूत्रप्रवृत्तिरिति- [साध्यका० ३] ३५६
	मृतस्य जीवतो दूरे [न्यायसू० पृ० ४३] ५१६



मृण्डवचनमूत्रादि घटो [ ] १९६	लौकिकपरीक्षकाणाम् [न्यायसू० १।१।२५] ३१२
य पश्यन्मात्मान [प्रमाणवा० १।२।१९] ८३८	वचनविधातोऽर्थविकल्पो [न्यायसू० १।२।१०] ३२१
य पूर्वाविगतोऽज्ञो [मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३३] ६९८	वटे वटे वैश्रवण [ ] ७२८, ७३३
य एव लौकिका शब्दा [शाबरभा० १।३।३०] ५९३, ७२०	वर वृन्दावने रम्ये [ ] ८२८
यज्ञार्थं पशव सृष्टा [मनु० ५।३९] ६३४	वर्णक्रमनिर्देशवत् [न्यायसू० ५।२।८] ३३२
यस्य तदादि गु [जनेन्द्रव्या० १।२।११४] ७६६	वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र [मी० श्लो० सू० २ श्लो० ७४] १९९
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थ [वाक्यप० १।३४] ६८	वस्तुत्वसकरमिद्विध [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २] ४६७
यत्रैव जनयदेना तत्रैवास्य [ ] २७, ६६, २०६	वायुपता चेदुत्क्रामेद् [वाक्यप० १।१२५] १४०
यत्तिष्ठौ अन्यप्रकरण- [न्यायसू० १।१।३०] २१३	वायुत्वाभिमतम्बन्धात् [प्रश० भा० पू० ४४] २१४
यथा घटादेर्वीपादिरभि- [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४२] ७१४	विकलायोनेय शब्दा [ ] ५३७
यथानुवाक दलोका वा [वाक्यप० १।८३] ७४९, ७५५	विकहा तथा कसाया [वचस० १।१५] ८७४
यथा माया यथा स्वप्नो [माध्यमिक० संस्कृतप० का० ३४] १३२	विज्ञातीयानामनारम्भ- [ ] २६८
यथा विगुह्यमाकाशम् [बृहदा० भा० वा० ३।५।४३] १४१	विज्ञातस्य परिपदा [न्यायसू० ५।२।१६] ३३३
यथैव प्रथम ज्ञानम् [ ] १९६	विधेर्लक्षणमेतावदप्रवृत्त- [ ] ५७३
यथैवाऽऽहारकालादे [प्रमाणवा० ३।३।६९] १६६	विप्रतिपक्षप्रतिपक्षप्रकारस्य [ ] ३३९
यथोक्तोपपन्न छलजाति- [न्यायसू० १।२।२] ३१८, ३३८	विप्रतिपक्षिप्रतिपक्षिच [न्यायसू० १।२।१९] ३२९
यद् यन उपलब्धिलक्षण- [ ] ४८४	विमुख्य पक्षप्रतिपक्षाभ्या- [न्यायसू० १।१।४१] ३१६
यदा वृष्ट्वा पर ब्रह्म [ ] ८३१	विशिष्टसाधनाभ्यवच्छिन्न- [विधिवि० पू० २४६] ५९६
यदेवायक्रियाकारि [ ] ३८२, ३९६	विशेषानुगमाऽभावात् [ ] ६९
यद्वाऽनुवृत्तिग्रावृत्ति- [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ६] ४६७	विशेष्य नाभिधा गच्छेत [ ] ५६७
यद्विज्ञान स्वविषये [ ] ६७३	वेदाध्ययन सर्व [मी० श्लो० वाक्याधि० श्लो० ३६६] ७२२
यमयममधिकृत्य प्रवर्तते [न्यायसू० १।१।२४] ३१२	व्यक्तित्वत्वमात्र [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७३] ७०३
यस्मात् प्रकरणचिन्ता [न्यायसू० १।२।२७] ३१९	व्यावृत्तपोलिङ्गलिङ्गत्वम् [न्यायसू० पू० १।१७] ४४८
यस्य गुणस्य हि भावात् [पात० महाभा० ५।१।११९] २७५	शक्ति करण कार्यम् [ ] ३५०
युगपज्ज्ञानाऽनुत्पत्तिमेव- [न्यायसू० १।१।१६] १८५	शब्दवृद्धाभिधायि [मी० श्लो० सम्बन्ध० १४०] ५४५
युज्यते नाधिपक्षे च [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २४१] ७०२	शब्दब्रह्मणि निष्णात [ब्रह्मवि० रूप० २२] १३९
ये तु प्रत्यक्षतो विश्व [ ] ६९	शब्दार्थयो पुनर्वचन [न्यायसू० ५।२।१४] ३३३
यो धर्मशील [ ] ७२९	शब्दे दोषादुभयस्तावद् [मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६३] ७२३
यो ब्रह्माण विदधाति [श्वेताश्व० ६।१८] ७२६	शब्दे वाचकसामर्थ्यम् [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २३८] ७०२
रसो रसनेन्द्रियग्राह्य [प्रश० भा० पू० १०५] २७३	शब्दे वाचकसामर्थ्यात् [मा० श्लो० अर्थान् श्लो० ५] ५०८
रूपरसगन्धस्पर्शवन्त [तत्त्वार्थसू० ५।२३] ७८७	शब्दोत्पत्तिनिषिद्धत्वात् [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २२६] ७११
रूपरसगन्धस्पर्शा सख्या [वंशे० सू० १।१।६] २७३	शिरसोऽयववा निम्ना [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४] ४६८
रूपस्वेपो हि सम्बन्ध [सम्बन्धपरी० (?) ३०६] ७८७	श्रुतमविसृष्टतर्कणम् [तत्त्वार्थश्लो० पू० २३७] ४०४
रूपादिमयी मूर्ति [ ] ७८७	श्रूयन्ते हि अनन्ता [तत्त्वार्थभा० सम्बन्धका० २७] ८६८
लक्षणहेत्वो क्रियाया [जनेन्द्रव्या० २।२।१०४] ४४९	श्वेतमज्जमालभेत [ ] ७६३
लिङ् लोटतव्यप्रत्यय- [ ] ५८२	
लोपान्मासपदेसे [द्रव्यसू० भा० २२, जीवका० भा० ५८८ (?) ७८८	

पदेव धर्मिण	[	अभिष० १११७]	३६४
पण्णामनन्तराजोतम्	[	अभिष० १११७]	३६५
पण्णामाश्रितत्वम्	[	प्रश० भा० पृ० १६]	३०२
सजोगमूल जीवेन	[	मुल्लाचार० २१४९]	८४५
सयोगाद्विभागात् शब्दान्व	[	वेदो० सू० २१२१३१]	२४६
सवादस्याथ पूर्वेण	[		१९६
सत्यपि आनन्त्य	[	न्यायम० पृ० ६२२]	३४९
सत्सम्प्रयोगे	[	जैमिनिसू० १११४]	५२३
सदुच्चात्प्रतीति-	[	मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४८]	७०३
सधन ब्राह्मण हन्यात्	[		७६३
स धर्मोऽभ्युपगन्तव्यो	[	मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४०]	७०२
सन्निकर्षं अपोपलब्धि-	[		२८
स प्रतिपक्षस्थापना-	[	न्यायसू० ११२३]	३१९, ३३८
समय प्रतिमर्त्य वा	[	मी० श्लो० सम्बन्ध० श्लो० १३]	५५३
समानतन्त्रप्रसिद्ध	[	न्यायसू० १११२९]	३१३
सम्बद्ध वतमानञ्च गृह्यते	[	मी० श्लो० सू० ४ श्लो० ८४]	५३
सम्बन्धज्ञानसिद्धिरूपेद्	[	मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४३]	७०२
सम्बन्धश्चिन्नाप्रमाणक	[	मी० श्लो० पृ० ६८०]	५५०
सम्भवतोऽर्थस्य अतिसामान्य-	[	न्यायसू० ११२१३]	३२२
सम्बद्धज्ञानज्ञानचारित्राणि	[	तत्त्वार्थसू० १११]	८६५
सरागा अपि बीतरागवच्चेष्टन्ते	[		६०३, ८५१
सर्वं खल्विदं ब्रह्म	[	छान्दोग्यो० ३१४११]	१४७
सर्वं सालम्ब्य ज्ञानम्	[		६६२
सर्वचित्तचैतानामात्म-	[	न्यायवि० पृ० १९]	४७
सर्वतन्त्रप्रतितन्त्र-	[	न्यायसू० १११२७]	३१२
सर्वतन्त्राश्रितवद् तन्त्र	[	न्यायसू० १११२८]	३१२
सर्वस्वोभयरूपत्वे	[	प्रमाणवा० ३११८१]	६२०
सर्वपा मरणप्राप्तिं सङ्कर	[		३६०
सवितर्कविचार हि	[	अभिष० ११३२]	३९५
सव्यभिचारविषय-	[	न्यायसू० ११२४]	३१९
स हि ह्य वेवकर्तारम्	[		७२६
साधर्म्यवैधर्म्याभ्या प्रत्यव-	[	न्यायसू० ११२१८]	३२२
साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामपसहारे	[	न्यायसू० ५११२]	३२३
साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकय-	[	न्यायसू० ५१११]	३२३
साधर्म्योत्कर्षधर्मो-	[	न्यायसू० ५११३२]	३२८
साधुभिर्भाषितव्य	[		७६१
साध्यत्वे हेतुव्यापार	[		५७९

साध्यदृष्टान्तयो धर्म-	[	न्यायसू० ५११४]	३२४
साध्यनिर्देश प्रतिज्ञा	[	न्यायसू० १११३०]	३१४
साध्यरूपतया येन ममेदमिति	[	प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०]	५८४
साध्यसाधर्म्यातद्धर्मभावो	[	न्यायसू० १११३६]	३१४
साध्याविनिष्ट	[	न्यायसू० ११२१८]	३२०
समानानेकधर्मोपपत्ते-	[	न्यायसू० १११२३]	३१०
सामान्यदृष्टान्तयोरेन्द्रिय-	[	न्यायसू० ५१११४]	३२६
सामान्यद्वाराकोऽप्यस्ति	[		७०
सामान्यवर्ण्य सादृश्यमेकैव	[	मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३५]	४९३
सारणवारणपरिचोपग्राह	[		८७६
सादृश्यं च सम्बन्ध	[		६९
सिद्धमेक यतो ब्रह्म	[	प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०]	५८४
सिद्धरूपं हि यद्भोग्य	[	प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०]	५८४
सिद्धान्तमभ्युपेत्य जनिय-	[	न्यायसू० ५१२२३]	३३५
सिद्धान्तमभ्युपेत्य तदि-	[	न्यायसू० ११२६]	३१९
मिदि. स्वात्मोपलब्धि	[	स० सिद्धमं श्लो० १४]	१२९
मुखमाहन्नादनाकारम्	[		६०४
मुखिवेचित कार्य कारण	[		६०४
स्थिरवाग्वचनीत्या च	[	मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६२]	७११
स्पर्शं त्वगिन्द्रियग्राह्य	[	प्रश० भा० पृ० १०६]	२७३
स्पर्शच्छब्दस्य हि सत्कारा-	[	मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ५२]	७११
स्वत सर्वप्रमाणाना	[	मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४७]	१९५
स्वपक्ष दोषाभ्युपगमात्	[	न्यायसू० ५१२२०]	३३४
स्वपरावभासमेक ज्ञान	[		१८७
स्वविषयानन्तरविषय-	[	न्यायवि० पृ० २०]	४७
स्वाभिधेयानिनाभूत-	[	तन्त्रवा० ११४२३]	५६८
स्वामित्वेनाभिमानो हि	[	प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०]	५८४
हिरण्यगर्भं प्रकृत्य	[		८७
हिरण्यगर्भं सर्वज्ञ	[		९५
हीनमन्यतमेनापि	[	न्यायसू० ५१२१२]	३३३, ४३६
हेतुमदनित्यमव्यापि	[	साध्यका० १०]	३५३
हेतुदाहुरणाधिक-	[	न्यायसू० ५१२१३]	३३३
हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु	[	प्रमाणवा० ३११४]	४३९
हेतुव्यपदेशात् प्रतिज्ञाया	[	न्यायसू० १११३९]	३१५
हेत्वाभासादच यथोक्ता	[	न्यायसू० ५१२२४]	३३५

## § ६. न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्टा न्यायाः ।

अन्धसर्पविलप्रवेशन्याय	२४८।२७	लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः	३०९।२
अन्नं वै प्राणा.	३५।६	वीचीतरङ्गन्याय	२४५।६; २४६।१२; २४९।१२
अर्धजरतीयन्याय	१६८।२०	सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टन्ते	८५१।१०
इतो व्याघ्र इतस्तटी	८३७।२१	सलिलसमीरणन्याय	५८६।७
गोर्वाहीक	५५९।१७; ५६०।१	सापत्यन्याय	६८५।१३
न हि दृष्टेऽनुपपत्तिर्नाम	१९।१०	हस्तिप्रतिहस्तिन्याय	३१९।६
नहि सुशिक्षितोऽपि खड्गः आत्मानं छिनत्ति,			
सुशिक्षितोऽपि वा वटुः स्वस्कन्धमारोहति	१८२।१५		

## § ७. न्यायकुमुदचन्द्रगतानाम् ऐतिहासिक-भौगोलिकनाम्नां सूचिः ।

शृङ्गभादि	८५७।२७	मालव	२५९।३
कालासुर	७२६।९	मेर्वादि	८०८।२५
कीशाम्बी	५१२।५	रावणशङ्खचक्रवर्त्यादि	५३५।६
नन्दिषध	८८१।१	रावणादि	८०८।२६
नालिकेरद्वीप	१७९।१, ४१०।१२	छत्र	७२६।२, ९
प्रजापति	७२६।४	वीर	६५३।१६; ६५४।१२
बाहुबलिप्रभृति	८५८।१०	बुन्दावन	८२८।८
बुद्ध	५।८, १२	सत्यभामा	७३९।३
भरतप्रभृतिचनवर्तिन्	८७१।१२	सीता	८६९।१२; ८७६।२१
महावीर	४९।१४	सुराष्ट्र	२५९।३

## § ८. न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्टा ग्रन्था ग्रन्थकृतश्च ।

अकलङ्क	१।२; २।१; ४०२।८; ५२१।११;	कपिलादिवचन	६०१।३
६०५।२; ६५३।१६; ६५४।११; ८८०।१५		काण्वमाध्यान्दिनर्तत्तिरीयादिशाखाशेव	७२६।१०
अकलङ्कदेव	६०४।१७	कादम्बर्यादि	७२७।५, ८
अक्षपाद	३०९।१३	कुमारिल	५०५।१२
अनन्तवीर्य	१।२; ६०५।३	कुमुदेन्दु	६०४।१५
अभिनवनेमायिक	४९७।१४	गीतम	८२८।९
आचार्य	२।१०; ६७३।२०	जरसेयायिक	३३७।१
आचार्याय वच.	६७३।१८	जैमिनि	५०५।११
उपनिषद्वाक्य	१४७।६	जैमिन्यादि	१४।२, ३
कणाद	३०९।१२	ठक्यास्त्र	५१४।१
कण्वादि	७२६।१३	तत्त्वार्थमाध्यादि	६४६।१५
कपिलमहर्षिप्रभृति	१११।१२	तत्त्वोपप्लववादिन्	३३९।४

त्रयो वेदा	७२६।४	भास्वरनन्दिन्	८८१।१२, १८
त्रिमन्थानादि	७३७।८	मनु	७२२।१
दिङ्नागादि	६६।१८, १९	मन्वादि	३५२।९; ७३६।१, १३
देवनन्दिन्	८८१।७, ८	मानिष्यनन्दिन्	१।७
धर्मकीर्त्यादि	६०२।५	वातिकार	१९८।१३; ३१०।८
न्यायभाष्य	१५६।३	वृद्धनैयायि	४९७।९; ५००।१८
पदार्थप्रवेशनग्रन्थ	३६४।५	वदनिहामपुराण	७७०।२
पद्मनन्दिप्रभु	८८०।१४	वेद्यवन-न	२७५।१९
परमानन्दनन्दिन्	८८१।१०	वेद्यवशास्त्र	६६९।३
पोराणिक	७२६।६	विशाकार भीमानक	२७९।११
प्रज्ञाकरगुप्त	६१९।९	गुप्त	२७२।२०, २७३।८; ३०९।१६; ३१४।१; ३१६।३, ७; ३१८।८; ३१९।८; ३२१।१; ३२२।१२; ५५०।१९; ७६०।३
प्रभाकर ४२।१५, ५२।१३; ५०५।१२, ५८७।१३		गुप्तार	३१०।८; ३१२।९; ३१९।९; ३२३।४; ३३०।५; ८०६।३, ४, ८
प्रभाचन्द्र	८८०।१६, १८	गुप्तारभाष्यवार्याप्तिकारादि	७६१।१६
प्रभन्तु	१।५	गुरि	६६३।१३; ७९५।४
प्रमयकमलमार्तण्ड	३३९।६, ३८०।१	सौम्यनन्दिन्	८८।४
बृहस्पत्यादि	८७२।१०	स्मृतिपुराणादि	७२६।१०
भट्ट	७२४।१९	खणाध्याय	१३५।१४
भारतादि ७२२।११, ७२९।१८, ७३१।१८, ७३२।३; ७३३।१२			
भाष्य	५५०।१९		
भाष्यकार २८।९, ३११।९, ३३९।१४, ३४०।१			

## § ६. न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गतानां लाक्षणिकशब्दानां सूचिः ।

लाक्षणिकशब्दा	पृ०	पं०	अपार्थक	३३२	१२
अज्ञान	३३४	३	अप्रतिपत्ति	३२९	१४
अज्ञाननिवृत्ति	२०९	१६	अप्रतिभा	३३४	६
अग्निमा	११०	१२	अप्रतिसंख्यानिरोध	३९२	३
अधिक	३३३	८	अप्राप्तकाल	३३३	३
अधिकरण	८०२	१९	अप्राप्तिसम	३२५	१३
अधिकरणसिद्धान्त	३१३	४	अप्राप्य	१९८	२४
अध्यवसाय	६७८	८	अभ्यनुज्ञा	५८८	८
अध्यपण	५८८	७	अभ्युपगमसिद्धान्त	३१३	७
अननुभाषण	३३३	१७	अमृतत्व	६८९	१५
अनुत्पत्तिसम	३२६	९	अयान्तर	३३२	१
अनुपलब्धिसम	३२८	८	अर्थापत्ति	५०५	५
अनुमान	५१८	९	अर्थापत्तिसम	३२७	१०
अनुसन्धान	८२५	५	अल्पबहुत्व	८०३	४
अनित्यसम	३२८	१५	अवयव	३१३	११
अनैकान्तिक	३१९	११	अवर्ण्य	३२४	१९
अनोपक्रमिकी	८१२	१०	अवर्ण्यसमा	३२५	२
अन्तर	८०३	३	अविवक्षित	३९१	६
अपकर्षसमा	३२४	१६	अविवक्षातार्थ	३३२	८
अपक्षेपण	२८०	३	अविद्या	३९३	१०
अपवर्ग	३१०	६	अविज्ञापसम	३२७	१३
अपसिद्धान्त	३३५	५	अविसर्वाद	४१०	५

असत्त्व	१३७	३	दुःख	३१०	४
असमवायिकारण	२१७	१८	दृष्टान्त	३१२	४
अहेतुसम	३२७	५	दोष	३१०	२
आकाश (बोध)	३९१	९	द्रव्य	११७।५, २१४।३	
आकुञ्चन	२८०	८, ६	नामरूप	३९१	५
आगमद्रव्य	८०६	१२	निक्षेप	८०४	११
आगमभाव	८०७	९	निगमन	३१५	७
आत्मा	३०९	२३	निग्रहस्थान	३२९	१२
इन्द्रिय	३०९	२४	नित्यसम	३२९	१
ईशित्व	१११	२	निमित्ताकारण	२१८	१
उत्कर्षसमा	३२४	१२	निरनयोऽन्यानुयोग	३३५	३
उत्क्षेपण	२७९	२२	निरर्थक	३३२	३
उदाहरण	३१४	८	निर्जरा	८१२	८
उद्देश	२१	८	निर्णय	३१६	३
उपचारछल	३२२	७	निर्देश	८०२	१७
उपनय	३१५	३	निश्चय	७८४	७
उपपत्तिसम	३२८	१	नैगमनय	६२३	१३
उपमान	४८९	१७	नैगमाभास	६२३	२३
उपलब्धिसम	३२८	४	नोभागमभाव	८०७	१०
उपादान	३९२	६	न्यून	३३३	६
एकदेश	२२४	८	पक्ष	६७।१७; ४३८।२, ४	
धीपक्रिमिकी	८१२	९	पक्षप्रतिपक्ष	३१७	१
करणत्व	३६	१०	पदस्फोट	७५४	१४
कर्तृता	३६	९	परिक्षेप	३०१	१६
कर्म	२८१	९	परीक्षा	२१	१०
कर्मत्व	३६	१०	पर्यनयोऽन्योपेक्षण	३३४	१६
कार्यसम	३२९	७	पर्याप्त	८५२	६
काल	८०३	७	पर्याय	११७	३
कालात्ययापदिष्ट	३२०	११	पारतन्त्र्य	३०६।०१, २३	
कृत्स्न	२२४	८	पुनरुक्त	३३३	१०
क्षेत्र	८०३	२	प्रकरण	३२०	१
गन्ध	२७३	७	प्रकरणसम	३१९।१६; ३२७।१	
गमन	२८०	७	प्रतिश्रमण	८६४	२१
चारणलब्धि	८७२	११	प्रतिज्ञा	३१४	२
चेतन	४८	२०	प्रतिज्ञान्तर	३३०	१३
छल	३२१	१	प्रतिज्ञाविरोध	३३१	६
जडत्व	११९	११	प्रतिज्ञासन्त्यास	३३१	६
जन्म	३४८	३	प्रतिज्ञाहानि	३३०	११
जरामरण	३९२	८	प्रतिज्ञान्तरसिद्धान्त	३१३	२
जल्प	३१८	४	प्रतिदृष्टान्तसम	३२६	३
जाग्रदवस्था	८४९	७	प्रतिबन्ध	८३५	९
जाति	३२२।१२, ३९२।७		प्रतिबन्धक	८३५	१
जीवन्मुक्ति	८६५	८	प्रतिभा	५९६	५, ८
ज्ञान	७८९	१५	प्रतिसंख्यानिरोध	३९२	३
तर्क	३१५।९; ४१८।१४		प्रत्यक्ष	२४	१
तादात्म्य	३६४	२०	प्रत्यभिज्ञा	४११	११
तृष्णा	३९२	६	प्रत्यवमर्श	४११	७
तैजस	८५२	६	प्रमाण	३०९	१९
दक्षिणबन्ध	११०	२	प्रमेय	३०९	२१
दीर्घमायुः	८५२	७	प्रयोजन	३१२	१

प्रवृत्ति	३१०	२	विप्रतिपत्ति	३२९	१३
प्रसङ्गसम	३२६	१	विभाग	२१	११
प्रसारण	२८०	७	विरुद्ध	३१९	१३
प्राकाम्य	१११	१	विशेष	२९२	३
प्राकृतबन्ध	११०	१	विसर्वाद	६३५	१३
प्राप्ति	१११	१	वेद (लिङ्ग)	८७८	१८
प्राप्तिसम	३२५	१२	वेदना	३९२	६
प्रेत्यभाव	३१०	३	वेद्य	८५२	६
प्रेषणा	५८८	७	वैकारिक	११०	२
फल	३१०	४	वैधर्म्यसम	३२४	९
बुद्धि	३०९	२४	व्यतिकर	३६०	१५
भव	३९२	७	व्यभिचार	३१९	१०
भाव	८०३	४	व्याप्ति	४१८१४; ४२२१९	
भाववाक्य	७४२	२	सरीर	३०९	२४
भाविजीव	८०७	३	श्रुत	४०४	४
भाविनीब्राम	८०७	३	सख्या	८०३	३
भूत	३९१	९	सप्रह	७९०	५
मतानुज्ञा	३३४	१२	सप्रहन य	६१०१५; ६२१११	
मन	३१०११, १३९५	९	सप्रहाभास	६२११५; ७९०१८	
महिमा	११०	१३	सयम	८७३	१३
मुक्ति	८३९	७	सवर	८१२	७
मुख्यप्रत्यक्ष	२५	४	सम्यवहार	५२	२
मूर्तत्व	७८७	२३	सम्यवहार प्रत्यक्ष	२५	५
यत्रकामावसायिता	१११	३	सदाय	५२१६; ३१०१७	
योग्यता	३११८, १८४१६, ५३८१३		सदायसम	३२६	१४
रस	२७३	६	ससार	८२९	३
रूप	२७३	६	सस्कार	३९१	३
रूपरूपेय	३०७	२१	सङ्कर	३६०	१२
रूपस्कन्ध	३९१	५	सङ्कृत	५३९	३
लक्षण	२१	८	सत्	८०२	२४
लक्षणा	५६८	३	सत्त्व	३६४	१
लक्षिमा	११०	१३	समवाय	२१५१९; २९४१८	
लज्जा	८७४	२१	समवायिकारण	२१७	१७
द्वयं	३२४	१९	समारोप	५२४	३
द्वयंसमा	३२५	१	सम्यक्चारित्र्य	८६५	१७
वसित्व	१११	२	सम्यक्ज्ञान	८६५	१७
वाक् छल	३२१	६	सम्यग्दर्शन	८६५	१६
वाक्य	७३८	१	सर्वतन्त्रसिद्धान्त	३१२	१२
वाक्यस्फोट	७५४	१५	सम्यग्भिचार	३१९	९
वाद	३१६	७	सादृश्य	७१९	१२
वादलब्धि	८७२	९	साधन	८०२	१८
विकल्पसमा	३२५	९	साधर्म्यसम	३२३	९
विभ्रियालब्धि	८७२	११	साध्यसम	३२०	७
विक्षप	३३४	८	साध्यसमा	३२५	७
विज्ञान	१२९११५, ३९११४		सामान्यछल	३२२	१
वितण्डा	३१९	४	सिद्धान्त	३१२	१८
विद्या	३९१	३	सुख	१२९११५; ७८९११४	
विधान	८०२	२०	सुपुत्र	८४७	१८
विधि	५७३	२१	सुपुत्रोद्यवस्था	८४९	७
विपर्यय	५२	७	स्थिति	८०२	२०

स्पर्श	२७३।८; ३९२।६	स्वामित्व	८०२	१८
स्पर्शन	८०३	हिंसा	८६८	१७
स्मृति	४०६	हेतु	३१४	४
स्वत	१९५	हेत्वन्तर	३३१	१२
स्वसवेदन	१७४	हेत्वाभास	३१९	८

## § १०. न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गताः केचिद्विशिष्टाः शब्दाः ।



अक्षीणमहानसादिलब्धि	८७२।१२	असवेद्यपर्व	१९२।१२; ८२२।२
अग्निष्टोमादि	५७६।४	असत्कार्यवाद	५६१।४
अग्निहोत्र	५४८।४	आकाशकुलशयवत्	८४४।१२
अङ्गुलिशिक्षराधिकरणकरेणुशतवचस्	५४३।२	आयिका	८६८।१४; ८७४।२२
अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते	५३१।१०; ५३६।११, १४, ५३७।१२, ६९२।१२	इन्द्र	८५७।२२
अञ्जनतिलकमन्त्रादि	८२।४, २६३।२६	इन्द्राद्यास्यान	८७२।९
अत्यन्तोपकारकभूत्य	३४९।८	ईश्वर	३२२।१, १६३।२२, १७२।७, १३
अद्वैतवादिन	५७।२४	ईश्वरकपिलब्रह्मवत्	५।९, ११
अनपवर्त्यामुष्णत्व	८६३।१९	उत्तमभक्तमधि	१६२।२२
अनिवृत्तिबाधरसाम्पराय	८७०।६	उत्पलपत्रशतच्छेदवत्	१८२।७
अनुग्रहच्छापराभिभवाभिलाषपूजाख्यात्यादि	३३६।२५	उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत्	७२।२, ८१।१८
अनुमानानुमेयभावो वा कल्पनाश्लिषकल्पित	४८७।३	उदगमादिदोष	८७३।१७
अनेकभावाभावोपाधिखचित	४७८।४	उद्दिष्टा	१०४।१०
अन्तरायोपपत्ति	८५५।१८	उन्मत्तवाक्यवत्	२०।६
अपववज्जम्बूफलादि	४२५।१३	उमेश्वरत्व	३६९।९
अपवर्तना	८६३।१९	ऊर्णनाभ	१४८।१३, १५३।६
अप्रतिस्वयानिरोध	३९।१२	एकादश (परिपह)	८६२।३
अभिनवर्नयामिक	४१७।१४	ओषपादिक	३५२।११
अभिन्नयोगक्षेमप्रत्यासत्ति	२०८।३	ओशनस्	७५३।२
अय शलाकाकल्पा परमाणव	२३१।२०	कञ्चुकप्रख्य	३९१।७
अयोगकेवलम्	८५७।१०	कटुतैलादि	४२५।१२
अयोगिचरमसंभय	८४७।१२	कपिलादिमतानुसारिन्	८३६।२०, २३
अयोगोलकवह्निविवेकवत्	१९०।९	कल्पमहाकल्पादि	१११।१२
अरिष्टादिक	६१८।१३	कवलाह्वर	८५१।२२
अर्द्धपञ्चमाकार (अपोह)	५५५।३	काककाष्ण्यादिवत्	४४०।६; ४९१।१०
अलातचत्रवत्	५२८।१४	काकदन्तपरीक्षावत्	२०।८
अवधिज्ञानिन	८५५।१, ८६३।२	काचकामलादिदोष	२००।१०, ५४०।९
अशक्यविवेचनत्वप्रत्यासत्ति	२०८।२	काचपञ्चप्रसङ्ग	३७३।९
अश्वविपाणप्रख्य	४७६।२	कापिलीय	७८९।१९
अश्विन्दुदय	४७१।१०	कार्माणसरीर	३९४।९
अष्टकाद्यथानुष्ठानाधिन्	७२२।१	कुण्डिनीस्त्रीवत्	८१६।३
अष्टद्वयकपरमाणु	३९४।१९	कुटुम्ब	२०२।१२
अष्टविध (ऐश्वर्य)	११०।११	कुत्तिकोदय	४२०।५; ४४०।४, ४६१।७; ४६२।१०, ८७०।१८
अष्टादशदोष	८६२।१०	कुत्तिकोदयसकटोदय	४४८।३
		केकायित	१०।५

केमोण्डुकादिज्ञान	१६५।२१, ६६२।२०,	तैमिर	५२३।४
कोशपात	७४३।१३	तैमिरिकोपलब्धि	२३१।२२
क्रियाविशेषमनोपबीतादिचिह्नोपलब्धि	१८३।१०	तोयशीतस्पर्शव्यञ्जकवाय्वयविवत्	१५७।१
क्षपकश्रेणी	७७८।१०	त्रयोदशविध (करण)	३५०।१३
क्षपकश्रेण्यारोहण	८७८।२	त्रिकट्टकादि	४२५।१२
क्षीणमाहान्त्यसमय	८५९।११, ८७०।६	त्रिदण्डदर्शन	४६२।९
क्षुरमोदकसब्दोच्चारण	८४७।१२	त्रिधा (व्युत्पाद्य)	२१।१७
क्षुरादिपापाणादिशब्दध्वन	५३६।१०	निप्रकारा (वेदना)	३९१।११
खरकद्रम	१४४।१५	त्रिविध (अप्रमाण)	१९६।१७
गणधरदवादिरूप	२०२।१८	त्रिविध (कारण)	२१७।१६
गणधरादि	८५५।७	त्रिविध (संस्कार)	२७५।३, २७८।२२; ७११।८
गणमूल	८६९।४	त्रिविध (फल)	३१८।२
गुणाष्टकवत्	२।३	त्रिविध (छल)	३२१।५
गोपालघटिकादि	८६६।२०	त्रिविध (लिङ्ग)	७९५।२५
गोह्मना इत्यादिवत्	४२५।१, ८५१।२	दण्डकनाटादिविधान	८५९।१८
घोटिकव घोटकं	७६७।७	दशपौर्णमासयज्ञ	५७८।६
चतुरार्यसत्य	८७३।३	दशविध (कार्य)	३५०।१२
चतुर्विंशति (गुण)	३९३।७	दशाननदाह	६१९।११
चन्द्रकान्ताद्यन्तर्भूतजलादि	२१५।६	दिव्यतूर्यादिरव	८५५।७
चन्द्रोदय समुद्रबुद्धयो	३१९।२५	दिव्यपरमाणुलाभ	८५८।१२
चरमदेह	४४८।४	दीर्घसङ्कुलीभक्षणानि	२७०।२२; २७१।७ १३
चरमपारीरित्	८६७।२	दूरस्थविरलकेशदर्शन	६३६।१३
चरमोत्तमदेह	८७१।११	दूरासनायापनिबद्धवृष्टिप्रेक्षकजनवत्	५६५।८
चार्वाक	८६३।१९	दृष्टिदोषभय	८६४।९
चर्वाकमत	१९४।२२, ३४१।१५	देवच्छन्दक	८५५।१०; ८६४।१७
चिच्छायाच्छुलितबुद्धिवृत्ति	१७३।१२, ३४१।१७	देवनारकतियोगभोगभूमिज	८६६।२
चित्रपट्यादि	१९२।१६	देशोनपर्वकोटि	८५४।८
चित्रपट्यादिसामग्री	४१५।१५	द्वादश (मिथ्योपपाद)	७७७।८
चौरशब्द	४१४।१६	द्विप्रकार (निरोध)	३९२।१
जलकल्लोत्पत्	५४७।२	द्विविध (उपदेश)	८८।२
जलबुद्बुदवत्	३७०।६	द्विविध (स्वप्न)	१३५।१२
जिन	३४२।११; ३४८।८	द्विविध (ब्रह्म)	१३९।१७
जिनपान	५२१।११	द्विविध (सक्ति)	१५८।१६
जिनपानिमनानुमारित्	२।४	द्विविध (प्रमाणफल)	२०९।१४
जिनेन्द्रपद	३०८।२०; ३७१।१७	द्विविध (सामान्य)	२१५।७
जैन	२।३	द्विविध (अनेकान्त)	३७२।१
जैनमत	७१।१९, ७७।१०, २७९।१०; ३०७।१; ४८४।१	द्विविध (अभाव)	३६८।७
ज्ञानावरणादिकर्म	१५७२६।९	द्विविध (पर्युदास अपोह)	५५५।७
ज्योत्स्ना	३४८।१९, ७४०।८, ८३२।११	द्विविध (प्राणादि)	८५०।२३
ज्वराद्युन्मथन	८०८।१९	द्विविध (मुक्तिकारण)	८५२।२
तयागनादि	६६९।५	द्विविध (यतिवन्द्यपद)	८७५।१८
तदहन्नात्रमलक	७३१।३	द्विविध (गृहि-देववन्द्यपद)	८७५।२०
तर्ङ्गिणीतीरे पत्रानि सन्ति	५८७।१३	घत्तूरककोदवादि	३४८।६
तिमिराद्युपपन्नज्ञान	३४७।१६	घत्तूरकपुष्पवन	२७०।२०
तीर्थकस्त्वर्चमोदय	५४२।११	घत्तूरकवाद्ययोगिन्	८१०।४
तीर्थकरत्वनामपुष्पात्रिजय	५२३।१३	घनुवदपरिज्ञानाधिन्	४।१३
तीर्थकरवाचस्परी	८६२।७	घानुच्छवत्	४३७।१०
तीर्थकवाचस्परी	८७५।१३	घुषद्वहनादि	२२५।१६, ३६२।२५
तीर्थकान	८७६।१०	न वदाचिदनीदृश जगत्	१०२।२७
	६३४।१९	नचास्तीरे फलानि सन्ति	५४१।८



नटभटवरुदचर्मकारादि	७६७।१४	प्रतिच्छेदन	८६८।८, ८७३।११
नरसिंह	३६९।९, १९	प्रतिसंख्यानिरोध	३९२।१
नर्तकी	२२५।१०	प्रतिस्तरारकान्त	५२८।२०, २४
नव (द्रव्य)	२१४।७	प्रतीत्यसमुत्पाद	३९०।१
नागकाणिकाधिमर्दकरतलादिवत्	१५६।६	प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चक	४४४।१६, ४४५।१९
नारक	८७१।१९	प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकसाधन	१२।३
नारकादिकायसन्तापवत्	८४१।२	प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन	६१८।२
निखिलगुणोच्छेदलक्षणे पापाणकल्पे मोक्षे	८२८।२७	प्रदीपज्वालाजलधारासमानशरीर	८५४।१३
निरशोकपरमब्रह्मसिद्धि	१२०।२७	प्रदीपनिर्वाणवादिन्	८२९।४
निर्विपीकरणादि	७३१।३	प्रमाणान्तरसम्प्लव	५०५।२
निपदा	८५४।१६	प्रमेयानुप्रवेश	५०९।८, ५१६।११
निस्तरङ्गमहोदधिप्रसूय	३५०।७	प्रयाणकसमय	८७१।१२
निहार	८५७।६	प्रसुप्तिकादिरोग	३४६।१८
निहितमन्त्रिताधीतादि	४०९।११	प्राकृतपुरुषवत्	८६३।१४
नैयायिक १८४।९, ४९६।३, ४९९।१२	६२०।१४,	प्राकृतवैकारिकदक्षिणलक्षणबन्धनयसदभाव	१०९।१४
६२९।१७, ६३०।२६, ६३३।२०, ६७५।१२, ८७१।१			
नैयायिकादि	४३६।१५, ६३५।१३, ६५७।२४,		
	६६५।१२		
नैरात्म्यवाद	१६।६	प्राकृतशब्दवत्	७६३।२१
नैरात्म्यादिभावनाभ्यास	८४०।१५	बन्ध्यामुतमौभाष्यादिव्यावर्णनप्रत्यय	३२।१४
नोकर्म	८०७।५	बलातैत्रादि	७१३।३२
पङ्कगन्धवत्	८१५।२, ८२१।९	बुद्धादिवत्	६।२
पञ्च (कर्म)	२७५।७	ब्रह्मन्	१२१।३, १४३।११, १४
पञ्च (बुद्धीन्द्रिय)	३५२।१	ब्रह्मवाद	१२७।१६, ७१२।१२
पञ्च (कर्मिन्द्रिय)	३५२।२	ब्रह्मादित् ६२।१४, ३५०।४, ३५७।१७, ५८५।१२	
पञ्च (हेतु)	४६०।१९	ब्रह्मादित्वादिन	१३९।१५
पञ्चधा (अनुमान)	४६०।१६	ब्रह्मादित्वादिसाख्यपरिकल्पित	३५८।२१
पद्मनालतन्तुवत्	२६८।१	बोद्ध १२।४, १३५।१८, १८६।२१, ३५०।२,	
परमर्तग्रन्थभाक्	८७३।२०		६३३।१६
परमब्रह्मण	३८।१६, १४७।३, ६	बौद्धकल्पितनिरसबुद्धि	४८३।१६
परमवक्तृत्वान	८४७।१३	बौद्धादान्	२७९।१
परमौदारिकशरीर	८५७।१९	बौद्धादि	५८२।२
परिमण्डल	४८४।१८	ब्राह्मण भोजय	७६९।५
परीपह	८५४।७	ब्राह्मण्यजाति	७६७।१८, ७७१।१
पशोरिव रज्ज्वा नियन्त्रितस्यापढीकनम्	६५।१२	भारताध्ययनवत्	७७२।३
पारिमाण्ययादि	२९३।४	भुजगखगचतुष्पदसर्पजलचराणाम्	८६।६
पिण्डजर्जरादिसब्द	५३५।२	भूतग्रहभ्याधिपरिग्रह	४६३।२
पिण्डपणा	८५३।१७	भूतमुष्टि	३५२।६, ३५५।६
पिण्डोपधिसंख्यादि	८६८।१०	भूतसृष्टिप्रक्रियावत्	३५८।१७
विष्टपेपगानुपङ्ग	३७५।२४	भूतवनवदितोषित	५३८।१९
पिष्टोदकमुडधातव्यादिपरिणतत्ववत्	३४३।११	मणिप्रमया मणिबुद्धि.	२०२।१२
पुरुषाद्यद्वैत	३९९।८, ६६८।११	मणिमन्त्रादि	८४९।१४
पुरुषाद्वैत	२०७।२१, ३९६।१४, ४१२।१२	मत्तमूर्च्छिताद्यवस्था	८८८।१४
पुरुषाद्वैतवादिन्	६११।८, ६१२।६	मदशक्तिनवद् विज्ञानम	३४२।७
प्रस्योपास्याविरहित	६०।२०	मधुप	४९९।१३
प्रस्योपास्याविहीनत्व	६१७।२३	मध्यमङ्गलभूत	६५५।६
प्रजापति	७२६।४	मन्त्रवादिन्	७३१।३
प्रतिबन्धकमप्यादि	१६२।२४	मन्त्राद्युपल्लवसामर्थ्य	१३२।२०
प्रतिविम्बोदयवादिन्	४५१।१९	मरीचिकातोयनिदर्शन	४८४।१५
प्रतिभासाद्वैतवादिन्	५।११, १३	मरुत्सिंहासनस्पर्श	८५५।८
		महाप्रलय	५५०।४
		महामोहान्तान्तान्तर करणात् सौमतात्	४९।१४

महेस्वर	१८८२	वात्स्यादि	४२५१११
मातृविवाहोपदेयावत्	२०१९	वादवित्रिमाचारपादिलब्धि	८७२१८
मायागोलकवत्	६३६१२	वादाद्यनिगम	८६८१२
मायाबाहुत्व	८६९१६	वामीचन्दनचल्य	३४४१३; ८३३११
मायोपम	६८३१२५	वाहकैलि	३१५१११
मिथ्यादर्शनादित्रयात्मक	८३०१९	विचित्ररेगानिकरकरध्वनामिव	१४११२
मीमांसक १०२१२८; २७९१११; ३२०१९, ५०२१		विज्ञानार्थेन	६२११४; ११९१६
२, ५०५१६, ७१११८, ७२७१९; ७२८१८; ७३५११८		विद्यापरादिवत्	८६५१५
मीमांसकतृतात	२७९१८	विप्रभु	७१०१११
मीमांसकनैयायिक	५०२११७	विनापा	३९०११
मीमांसकमत	१८४१९, ५३२१९	विवादस्थिरत्वतपिच्छलत्वादि	२७५११९
मूलकौलवादि	३११११३	विधिपट्याञ्जनार्थि	५४०१८
मूलकौलोदवादि	८०८१२६	विद्वज्जिज्ञासिपत्र	५७६१३
मेचवादि	३६९११४	विषमच्छद	५००११
मेघरूपता	१६६११५	बीचीनरद्गुद्वद्गुनेनादि	१४१११०; १४८१७
यत्तार्थम्	६३४११६	बीचीतरज्ञादि	२४७१९
यथाभ्यान्वारित्र	८०११११	वृत्तिविहत्यादिद्रूपण	२२७१२
यथार्थनामा अवला	८७८११६	वदयापाठकादिप्रविष्ट	७७९११
यमलकवत्	७१९११२	वैभाषिक	३८९१२४, ३९०११; ३९५११२
याचनबीबनप्रक्षालनघोषणनिक्षेपादानचौरहृणादि-	७३३११३	वैयाकरण	२७५११७; २७९११२; ६४८११८
मन सक्षोभकारिणि वस्त्रे	७३३११३	वैयाकरणव्यवहार	७७७१३
यूकालिक्षाद्यनेकजन्तुसम्पूच्छनाधिकरणवस्त्रस-		वैयंपिक २३६१२८; ३०९१११; ६२७१७; ८०८११०	
मान्वित्त्य	८७४११०	वैयंपिकनास्त्र	२८७१२०
योगाचार ११९११०; १६५११४; ३९७११९		वैयंपिकनादि	७८६११
योगाचारमाध्यमिकमत	३८९१२३	वैयंपिकी मुक्ति	८२८१९
योग १०९१७; ११२१८; २२०१११; २२१११४; २२२१		व्याकरण	७६०११; ७९६१२६
८२३१४१२५, ३५८१२२; ३९९१११, ४२८१३; ४३२१		व्याकरणप्रामाण्य	७६०११७
१४, ७२६१९, ८२६११६		व्याघ्रादिनेत्रचूर्णाञ्जन	१९८११७
योगशीलत	४८५१३	शब्दपरमप्रह्मविकल्प	१३९११७
योगादि	७२७१३	शब्दप्रह्म	१४२१६
योगाभिमत	११२१२	शब्दविधिवान्	५७४१६
योगीपकल्पितेश्वर	१०९१४	शब्दव्यापारविधिवान्	५७६१७
रत्नत्रय	८४६१४, ८६५११४	शब्दस्य उत्पत्तिप्रक्रिया	२४२१४
रविकिरणसस्पृष्टनीहारनिकरवत्	१३३१७	शाक्य	५५९१७; ८४४११
रिरक्षा	८६०१९	शाक्यपक्ष	८४३११८
रोगादिपरीपह्	८६२१६	शिशुमारवसाञ्जन	१९८११८
रोहिष्युदय	४२०१५	शिव्याचार्यवत्	८७६११२
लकुटचपेटादि	३३८१२४	शुक्लध्यानानल	८५९१६; ८६४११६
लतावदयार्थि	६०३११७	शुक्लध्यानानावाप्ति	८५९१११
लाभान्तरायप्रक्षय	८५८११२	शून्यवादिन्	२३११
लालावत	१५६१८	श्रेणी	८६४१२४
लूनपुनर्जनिनखत्रेयादिवत्	२४५१२०; ४१८१२; ७०३११०, ७१५११४	श्वभास	५४८१५
लोकपालपरिगृहीतदिक्प्रदेश	२५८१४	श्वो मे भ्राता आगन्ता	५९६१९
लोभकपायपरिणति	८७४११४	पट्टपदार्थ	२१४११
लोकायतिक	१०१८	पट्टपदार्थलक्षण	२१३११९
वज्र	८५७१२२	पट्टप्रकार (सन्निकर्ष)	२८२१०
वट वटे वैश्रवण	७२८१७, ७३३११४	पट्टप्रकार (अर्थापत्ति)	५०६१३
वर्णाश्रमव्यवस्था	७७८१९	पडावतन	३९०१७
वलिपलितादिक	२५१११०	पद्विष (आहार)	८५६११
		पद्विष (शब्द)	२४५१२३



## § ११. न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गतदार्शनिकनामसूचिः ।



अगदाब्द	३०८।१४	अनेकाजीवनाम	८०५।२
अकारणगुणपूर्ववत्त्व	२४१।८	अनन्याप्राप्ति	४४१।१
अकृष्टप्रभवस्मावरादि	१०४।१६	अनन्यादिगन्धव	४४१।६
अक्रमानकाल	३७२।२	अन्यवर्णबुद्धि	७४५।१
अक्षयिवत्त्व	३७६।२१	अन्यविज्ञप	२१५।८; २९२।१०
अक्षिपक्ष	८५८।४	अन्ययानुपपत्ति	४२३।१३
अख्याति	६०।४	अन्ययानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत्	४४१।६
अज्ञहार	२२५।१०, ३६२।१५, ७०३।१०	अन्ययागव्यवच्छेद	६९४।५
अज्ञहारस्फोट	७५६।१४	अन्यवस्तुविज्ञानपक्ष	४७६।४
अचल	८६८।७	अन्यग्राह	५५६।५
अचलसयम	८७५।१	अन्यापोहमात्राभिधायरत्व	५५१।८
अनिद्वेषावश्य	४८९।१५	अन्योन्यव्यवच्छेद	६९३।१
अनिग्रमज्ञद्वैयर्थ्यलक्षणबाधप्रसक्ति	४००।३	अन्योन्याभाव	४६७।११
अतिसामान्य	३२२।२	अन्यव्यतिरेकसमधिगम्य	३४३।१
अतीन्द्रियज्ञान	८६।१५	अपर	२८३।२२
अतीन्द्रियसाक्षि	१५८।१०	अपरत्व	२७६।१६
अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्व	८३१।३	अपूर्वानुपूर्वाविरण	७२४।४
अत्यन्ताभाव	४६८।१	अपशान्त्रुद्धि	२७६।७
अत्यन्तायागव्यवच्छेद	६९३।५, ६९४।८	अपोदारव्यवहार	२७७।८
अदुष्टादि	१६३।२१	अपाह	५५१।९, ५५५।७; ५५६।२, ५५७।५
अद्वयज्ञानकल्पना	२०७।१७	अपोस्तभेद	५६२।५
अद्वैतरूपता	७१९।१५	अपोरूपेयत्व	७२१।१, ५
अद्वैतवादिमतमिद्धि	५४।११	अप्रतिपत्ति	३६०।१६
अधिगति	२०५।११	अवाधितविषयत्व	४४२।७
अधिष्ठानाज्जुल्लव	४५२।९	अभावदोष	३७१।२०
अनन्तरपरतपोपादीयमानत्व	८३१।३	अभावपूर्विकार्यापत्ति	५१६।७
अनपवर्त्तयाम्युक्तत्व	८६३।१९	अभावप्रमाण	४६३।७
अनभ्यासावस्था	२०१।१९	अभावार्थ्यापत्ति	५०८।१२
अनाद्यविद्योपप्लव	६२।१५	अभिज्ञाक्षण	३८२।९
अनाध्याप्रह्यातिशय	१४३।८	अभिघा	५६७।१२; ५७७।१
अनिर्वचनीयार्थस्याति	६३।७	अभिघात्रीत्यक्ति	५०८।३
अनुत्पादात्तादकत्व	२६९।९	अभूताभाववित्त्व	२२०।१३; २२१।१८
अनुपलब्धि	४४६।१; ४६५।७	अभेद	३६५।१९; ३८०।८
अनुमानपूर्विकार्यापत्ति	५०६।५	अवृत्तसिद्ध	२९४।२४
अनुमानापमानपूर्विकार्यापत्तिद्वय	५१५।११	अवृत्तसिद्धत्व	२९७।२०
अनुमितानुमान	४५०।१	अवृत्तसिद्धि	२९९।९
अनुयोगाब्द	८०२।६	अयोगव्यवच्छेद	६९३।४; ६९४।१
अनुवाकप्रत्यय	७४९।१; ७५५।११	अयकार्यता ज्ञानस्य	६५९।११
अनुसंहति	७४२।४	अर्थक्रियाकारित्व	३७५।८
अनुस्मरण	३९५।५	अर्थक्रियाज्ञान	२०२।५
अनकजीवनाम	८०५।१	अर्थप्रधाननय	७९३।१७
अनकजीवाजीवनाम	८०५।३	अर्थप्राकटन	२०१।१
अनकाकारचित्रज्ञान	१९३।८	अर्थभावना	५७९।११; ५८२।१४

अर्थात्मको व्यवहार	६३४।९	आत्मव	३९१।१७
अर्थात्मिका भावना	५७९।१०	आहङ्कारिकत्व	१५७।२०
अर्थापत्ति	५०५।१४	आहार	८५७।६
अर्थापत्तिरनुमानमेव	५१३।१०	आहारकयामात्र	८६४।२३
अर्थापत्तिपूर्वकार्यापत्ति	५०७।१०, ५१५।१३	आह्लादनाकारत्व	१२९।१३
अधपञ्चमाकार (अपोह)	५५५।३	इच्छा	५७४।५
अहङ्कारतत्त्व	८६८।१९	इच्छाप्रयत्नप्रभृतयो विधिप्रकारा	५९८।१
अलौकिकाधख्याति	६४।१	इन्द्रियदोष	१९६।१९
अल्पाचतरत्त्व	६१७।२३	इन्द्रियप्रत्यक्ष	४७।१२
अवधिज्ञानिन	८५५।१, ८६३।२	इन्द्रियवृत्ति	४०।२, ५
अवयविन्	२३१।६	इन्द्रियसंस्कार	७१३।६
अविद्या	१४३।१	इष्टविधातकृत	६९।४, ७३।१८
अविद्यातिमिरोपहृत	१४१।४	इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारादिलक्षणव्यवहार	७९२।५
अविद्यारूप	८०९।३	उपदेश	५७४।४, ५९४।४
अविप्लुतत्व	७७२।८	उपदेशो विधि	५९४।२
अविषेकि	३५३।२७	उपमोग्रास्य	८४५।१३
अशक्यविवेचनत्व	१२५।१९, १२७।११	उपमान	४८९।९, ४९७।९
असत्कायवाद	३५६।१४	उपमानपूर्विकाऽर्थापत्ति	५०६।६
असत्ख्याति	६०।१५	उपमानस्य प्रत्यभिज्ञानस्वभावत्वम्	४९४।१८
असत्प्रतिपक्षत्व	४४३।९	उपलब्धिलक्षणप्राप्तप्रतिपध्यायानुपलब्धि	भूतलाद्या
असदभावस्थापना	८०४।१६	अयोपलब्धि प्रतिपक्ष्ययटादिस्मरणलक्षणसामग्री	
असाधुशब्दप्रयोग	७५८।८	विशय	४६४।१
असिद्धविपरीताधर्मविचारविपक्षत	४३९।२	उपसर्गाद्यासक्त	८६८।१४, ८७४।१
अस्मयमाणकतृकत्व	७२४।८	उपादान	३९१।१
अहङ्कार	३५१।१५	उभयदोष	३६०।११
आकाश	२४२।२	उभयसंस्कार	७११।७, ७१४।७
आकाशप्रदेशश्रणी	२५८।१३, १८	ऊढतासामान्य	६४७।२
आख्यातशब्द	७३९।८	ऊर्ध्वदि स्थितवशादि	३०५।८
आगमनोभागमरूपता	८०७।७	ऊर्ध्वानि	४४४।१५
आगमनोभागमविकल्प	८०६।१०	एकजीव-अनवाजीवनम्	८०५।३
आचेलकयादिसयमविशय	८७२।१६	एकजीव-एकाजीवनाम	८०५।२
आतप	६६९।४	एकजीवनाम	८०४।१८
आत्मख्याति	६२।१	एकत्वाध्यवसाय	४९।१७, २८९।११
आत्मगत	१९७।२३	एकद्रव्यत्व	२०४।११
आत्मदर्शन	८३८।१२	एकलोलीभाव	३०९।८
आत्मनोऽप्राप्तक्रियासम्बन्धवगम	५७४।३	एकसाधनप्रयचीन	२३६।७
आत्मन	२५९।२३	एकाऽजीवनाम	८०५।१
आत्माद्वत	२३९।२१	एकात्मसमवेतानन्तरज्ञान	१८२।५
आदर्शादि	४५१।१५	एकात्मसमवेतानन्तरज्ञानग्राह्य	१८८।६
आदित्यादिक्रिया	२५५।११	एकाधसमवाय	८७०।२४
आनन्द	८३१।११	एकोऽनवयव शब्द	७४१।३
आनन्दशब्द	८३८।२	एकोपाध्युपकायत्व	२३०।१४
आप्तोक्तत्वैवैव	५३६।१	एवकार	६९४।१
मायतन	३९२।४	ओदन	५४७।७
आरूप्यधातु	३९२।१०	कण्टकशास्त्रावरणवत्	३१९।२
आवरण	७०८।६	कथञ्चित् विज्ञानाभिन्नहेतुजत्व	१२९।१३
आवरणत्व	७०६।९	करण	२२५।१०, ३६२।१५
आशय	१०९।११	करणस्फोट	७५६।१३
आशुभमणादिज्ञान	५२३।४	नतव्यताप्रतिपत्ति	५७४।४
आसन्नप्रलयस्यायिन्	१८९।१६	नतत्वसामग्री	९९।४

कर्म	१०९।१०; ५७४।३; ८०७।४
कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्व	१७५।२
कर्मनोकर्म	८६८।१५
कर्मनोकर्मदानलक्षण आहार	८५६।५
कर्मपदार्थ	२७९।१३
कर्मशब्द	८०५।१०
कर्मैव अभिप्रतार्थप्रसाधकत्वाद् विधि	५९१।२१
फलना	४७।१५
कबलाहार	८५१।२२
कामधातु	३९२।९
कामपीडापनोदार्थ कामुकादिस्वीकार	८७४।१९
कारक	४२।२
कारकव्यापार	७०९।१२
कारकसाफल्य	३३।१०
कारणानुमान	४६२।३
कार्यत्व	३६२।२६
कार्यप्रेरणयो सम्बन्ध	५८४।४
कार्यसहिता प्रेरणा	५८३।१०
कार्यानुपलम्भ	९१।१८
कालक्रम	१५१।२१, २३
कालद्रव्य	२५।११
कालाकासादि	४४०।४
कालानु	२५४।५
कृतकत्व	३७६।४
कृतकृत्यता	८२८।२१
कृतनाश अहताभ्यामदोष	६।१६
कृतमिति प्रत्ययविपर्यय	१०१।५
केवलव्यतिरेक्यनुमान	२१४।१०
केदादिबिबृद्धभाववत्	८५७।२०
नम	१५१।२०; ४४५।१५
नमयोगपद्य	३५७।८, ३८०।८
नमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्व	८।३
नमाक्रमानेकान्त	८०६।९
नमानेकान्त	३७२।२
नमो वाक्यम्	७४१।५
क्रियाविशेषनिबन्धन ब्राह्मणत्व	७७८।१२
क्षणक्षयस्वर्गप्रापणसामर्थ्यादि	८८४।२
गन्धादिस्फोट	७५६।६, १०
गवादय शब्दा साधव	७५७।६
गाव्यादि	७५७।७
गाव्यादिशब्द	७६२।३
गुण	२७३।२
गुणपदार्थ	२७२।१७
गुणपुरुषान्तरदर्शन	८१६।३
गुणवान् शब्द	२४३।६
गुणशब्द	८०५।१०
गुल्य	२७४।१७, २७८।३
गो-मावी-गोणी-गोपोतलिकेत्यादय	७६७।५
गोशब्दलिपिबुद्धि	७१६।१७
गोण	३९९।१३

गोपत्व	७१।१
ग्राह्यग्राहकवंपुर्व	१३३।१०
गटाद्युभाव	४४४।१८
गनादिव्यापारव्यभिचानुषङ्ग	७०९।१४
चक्षुरादिगत	१९७।२१
चिच्छिन्नारूपरिणामिन्वप्रतिश्रमा	८१४।१२
चिच्छिन्नायानङ् श्रान्ति	१९२।५
चित्र	१२४।१०
चित्रज्ञान १९।८; ५६।२६; १३०।२१; ३८१।१२	४१५।१५
चित्रज्ञानरूपता	६२०।१८
चित्रज्ञानादि	४१५।६
चित्रप्रतिभासा	१२६।१
चित्ररूपप्रतिपत्ति	२२९।१४
चित्राकारवैज्ञान	४१४।१६
चित्राकारवैज्ञानवेदनयत्	३०७।२२
चित्राङ्गनसिद्धि	१२६।१३
चिर्नञज्ञान	६१८।१०
चिन्तामयी	८३९।५
चतस्यप्रभव	८५०।२३
चोदना	५५१।३
छाया	६६७।१०; ६६९।४; ६७२।६
छिद्रमूलत्व	७२२।९; ७२९।८
जराभरण	३९१।२
जलधारणाद्यर्थक्रियाकारित्व	२३३।१७
जापःपुष्पावस्था	८४७।२०
जाग्रद्विज्ञान	६१८।१२
जाति	३३९।१८; ३९१।१
जानिगद्य	८०५।७
जानि सद्रघातवतिनी	७४०।११
जात्यन्तरत्व	३६९।३
जिज्ञासा	३३७।१
जिन	५२१।११
जीर्णकूपप्रासादादिवत् १००।७; ७३१।५; १३७।१२	१७८।२६
ज्ञातृत्वविशिष्टस्यार्थस्य	४२।२१
ज्ञातृव्यापार	३११।१५
ज्ञातृत्व (निग्रह)	१८९।१४
ज्ञान	६६६।१६
ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेक	१८१।१५, १६
ज्ञानान्तरवेद्यत्व	५४१।३
ज्ञापक	३११।१४
ज्ञेयस्य (निग्रह)	६७७।१
तज्जन्म	९२।१५
तत्कारणविरुद्धविधि	६४५।२
तन्निश्चय	३१८।१५
तत्त्वज्ञानसरक्षण	३५२।६; ३५५।८
तत्त्वसृष्टि	३५८।१७
तत्त्वसृष्टिप्रक्रिया	३३८।२२
तत्त्वाध्यवसायसरक्षणार्थत्व	३५९।१६
तत्पुरुषबद्धब्रीहिवृद्धसमास	

तत्समुदायो नियोग	५८४।७	नटभटचरुटवर्मकारादि	७६७।१४
तथागतादि	५८७।१३	नररचितरचनावशिष्ट	७३७।११
तथोपपत्ति	४२३।१३	नानासमवाय	३०२।१३
तदतद्रूपहेतुज	१२६।१८	नामरूप	३९०।७
तदध्यवसाय	६४५।१	निक्षेपमान्ता	८८०।११
तदाकारार्पणक्षम	१६५।१८	निग्रहबुद्धि	३१७।१२, ३३८।४
तदित्युल्लेखित्व	४०७।२	नित्यशब्द	७०१।४
तदुत्पत्ति	६४४।११	नित्यसम्बन्ध	५४७।४, ५४९।११
तद्वितोत्पत्ति	३६४।१५	निमित्तकारणत्रियानुविधान	४५९।१
तद्वयवसिति	६७७।१	निमित्तान्तर	८०४।१६
तद्व्यापकविरुद्ध	९२।१०	नियोग	५७४।१, ५८२।१७
सद्विरुद्धकार्यविधि	९२।१९	निराकाङ्क्षत्व	७३८।५
सद्विरुद्धोन्तरानुमान	४६२।४	निरासवचित्तसन्तत्युपतिलक्षणा	८४४।१६
तपस्	८४७।८	निरूपण	३९५।५, ७
तमस्	६२७।३; ६६९।५, ६७२।६	निर्विकल्पक	४५।२३, ४६।१
तर्क	४२०।१	निर्विकल्पेतत्कारकविकल्पवत्	४१४।१७
तात्पर्यशक्ति	५०८।३	निवारणबुद्धि	३१७।१३
तावार्थ्य	३५९।१९, ४४६।७	निवचय आरोपमनसो	२०५।२१
तादात्म्यतदुत्पत्ति	४४४।१०	निश्चितत्वभ्यापि रूपान्तरस्य	४४१।१४
तादात्म्यनिमित्तत्व	७००।१०	नैर्घृण्याद्युपालम्भ	१४८।१३
तादात्म्यकमुलसाधन	८४२।२	नैयायिकानुमान	४६०।२०
ताद्रूप्य	६७७।१	नैरात्म्यदर्शन	८४५।८
ताप-शोष उपप्लम्भ-उद्वगादि	३५०।२२	नैरात्म्याभ्यासादिलक्षण	८३९।१०, ८४०।२
तिरस्कृततदुपाधिप्रवर्तनमान	५७४।२	पक्ष	४३५।९
तृतीयस्थानसकान्ति	६८५।१२	पक्षधर्मत्वसहिता	५१८।१३
तृप्या	३९१।१	पक्षधर्मत्वादिलक्षणत्रयान्वितत्व	४३८।१२
त्रिगुणत्व	३५३।२६	पक्षप्रतिपक्ष	३१६।५
त्रित्वाविसरूपाज्ञान	५०४।१७	पञ्चरूपत्व	४४२।१
नैरूप्यमान	४४०।२	पटाद्यवयविन्	२२६।२
न्यक्षपरिपूर्ण	५७८।५	पद	७९७।५
स्वगण्यनिश्चितशोणितादिपरिणामविशेष	३४३।१४	पदादिस्फोट	७५४।११
दाक्षिण्य	५४७।७	पर	२८३।२०
दिक्	२५७।१९	परतन्त्र	३५३।२२
दिग्द्रव्य	२५७।२८	परत्व	२७४।१६
दुःश्रवणत्व	७३०।४	परत्वापरत्व	२७७।२०
दुर्भणत्व	७३०।४	परमाणुरूप	२१५।११
दूरतिमिर	५४०।८	परमात्मस्वभावो नियोग	५८४।१०
देशानम	१५१।२१, २२	पररागादिवेदन	१६८।१०
देशद्रव्य	२५९।९	परलोकाभाव	३४३।१६
देशादिविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभाव	४७१।८	परस्परपरिद्वारस्थिति	३७०।५
देशाद्यविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभाव	४७१।६	परस्परविरुद्धभावनानियोगादिव्याख्या	७३५।४
द्रवत्व	२७४।१८; २७८।१५	परस्परसप्तकपालोत्पाद	४८०।९
द्रव्यत पुरुषवेद	८७०।४, ८७८।१३	परापर	२५१।६
द्रव्यशब्द	८०५।८	परापयोग्यपचयौमपचचिरक्षिप्रप्रत्यय	२५१।५
धर्म	३।१	परापरव्यतिरेक	२५२।१८
धर्माधर्म	२७९।७	परापेक्षास्वरूप	३०५।१२
धर्माधर्मद्रव्य	३४०।४	परिमाण	२७४।१
धारावाहिकप्रत्यक्ष	४०५।१७	पर्युदासरूपोऽणोह	५५६।१३
ध्वनि	७१०।५	पाटनपूरणप्रसङ्ग	५३६।१०
नभयंसवित्तिकल	४६६।१४	पादस्फोट	१८८।००

पारतन्त्र्यलक्षण	३०५।१२	प्रवर्तना	५८९।९
पुंवेद वेदन्ता	८७८।२	प्रवर्तना भाव	५८८।११
पुंवेदोदय	८७८।६	प्रवृत्त-निवृत्ताधिरास्त्वधर्म	८१७।१०
पुरुष एव नियोगः	५८४।२२	प्रवृत्ताधिकारस्व	८१७।१२
पुरुषेभ्यो हीनत्वात्	८७६।७	प्रवृत्तिनिवृत्तिसदभाव	२६।१
पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टान्यवर्ण	७५०।२	प्रयत्नादिसामधी	४७२।२
पूर्ववर्णविज्ञानाभावविशिष्ट	७५०।६	प्रसङ्गविपर्यय	१७३।१६
पृथक्त्व	२७४।१२	प्रसङ्गसाधन	२२४।११
पृथग्गतित्व	२९८।८	प्रसङ्गरूप	५५६।१६
प्रकाशगत	१९७।२२	प्रमाद-लाघव-उद्वर्ष-प्रीत्यादि	३५०।२२
प्रकृत्यमाणत्व	२३६।१५, ८११।१५; ८१२।१२;	प्रसिद्धार्थत्वात्	६१।१२
	८५८।१७	प्रानट्य	१९७।६
प्रतिकर्मव्यवस्था	१६६।११	प्राकृत	७६४।६
प्रतिज्ञाप्रयोग	४३६।९	प्राकृतपदवत्	७६३।२१
प्रतिज्ञार्थकदेशात्वप्रसङ्ग	४९१।८	प्रागनाब	४६७।१०
प्रतिनियतव्यञ्जकव्यञ्ज्य	७०९।२	प्रागभावाद्यवान्तरभेद	४८२।६
प्रतिनियतावरणाद्यर्थ	७०९।२	प्राकृत्य	४५२।२
प्रतिपक्षभावनानिवर्त्यत्व	८५३।१३	प्राणादिप्राण	८५।११
प्रतिपक्षप्रवृत्तिप्राप्तिप्रतीति	७८०।१५	प्राप्पकारि	७५।१२
प्रतिबन्ध	१६३।२६	प्रामाण्य	१९५।३
प्रतिबिम्ब	४५१।२; ४५४।३, ९	प्राचक्ष्यामिधान	५७८।१
प्रतिभा	५७४।५, ५९५।१४	प्रेरणा	५८३।५
प्रतियोगिग्रहणमव्यपेक्ष	४२४।१५	प्रेरणासहित कार्यम्	५८३।७
प्रतियोगिता	४७६।७	प्रेरणाभ्येष्टणाम्प्राप्त्यलक्षण	५८८।३
प्रतीत्यसमुत्पाद	३९०।१	प्रेर्यादि	५७४।१, ५८८।१०
प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति	५०६।४; ५१४।१०	फल	५७४।२; ५८९।९
प्रत्यक्षानुपलम्भ	४२६।१	फलका द्वावि	४६०।६
प्रत्यक्षाभ	५२४।२४	फलभिलाप	५७४।३; ५९१।१४
प्रत्यभिज्ञा	८११।८	बहिर्व्याप्ति	४४।१२
प्रत्ययात्मक	६३६।९	बह्वादिभिर्द्वादशप्रभेदै-	१७४।१४
प्रत्यवनाशिनी	१४०।२	वाधितविपर्यय	४४२।५
प्रत्यवस्थापन	३२३।१	बाह्याभ्यन्तरनैर्घन्यप्रतिपत्त्यन्	८७३।१५
प्रत्यासत्ति	३०६।२४	बिम्बरूप	४५१।१३
प्रत्यामलतिमिर	५४०।८	बीजप्ररोहणसरक्षण	३१९।२
प्रदीपादिस्फोट	७५६।२	बुद्धिमत्कर्तृपूर्वक	९७।१६
प्रघट	३५०।८	बुद्धिविपर्यय	७४।१६
प्रघन-ईद्वरादिकारकनिरपेक्ष	३९०।४	बुद्धयध्वंसित	१९०।६
प्रघनपरिणाम	१८९।१३	बुद्धादिविज्ञेयगुणोन्मूलकरूपत्व	८२३।१९
प्रध्वसाभावलक्षण	४६७।१०	बुद्धचारुद	५८६।१९
प्रबोध	६१८।१२	बुद्धसा	८६०।६
प्रगतादि	८५९।१०	ब्राह्मण्यजाति	७६७।१८; ७७१।१
प्रमाण	४८।१०	यक्ति	५७४।५; ५९७।३
प्रमाणत्रयसम्पाद्य	५४५।६	भव	३९१।१
प्रमाणफलव्यवस्था	१९५।६	भविष्यत्ताप्रत्ययरूपता	११६।१२
प्रमानुदोष	१९६।१९	भावत. वेदत्रयान्यतमवेदाधिहृद	८७८।१७
प्रमोष	५९।९	भावना	५७४।१
प्रयत्न	५७४।५	भावनाव्यसस्कार	२७५।५
प्रयाजादिभ्यामार	५७८।७	भावनाद्यर्थभेद	५४८।२
प्रयोजकसन्नेहव्युदासार्थ	४२९।३	भावनारूप	२७९।३
प्रयोजन	३३७।२	भावमरणादि	६१८।१२



भुक्ति	८५२।१	रूपधातु	३९२।९
भूतकोटि	१३१।११	रूपसंस्लेपस्वभाव	३०५।१२
भूयोदर्शनावगतान्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रिय- प्रभववा प्रत्यक्षम्	४२८।८	रूपालोकाद्यनेकवारणकलाप	३८४।१४
भेद	३६५।१८; ३८०।८	लक्षणा	५६८।१
भेदव्यवहार	१५४।५	लक्षितलक्षणा	५६८।५
भेदाग्रह	५४।५	लक्ष्यनिर्देश	४३७।१०
भोग्यरूपो नियोग	५८४।१६	लक्ष्यवेधप्रवीणलक्षण	४३७।७
मध्यक्षणस्वभाव	१३०।२२	लिङ्ग	३५३।२०; ४२७।६
मध्यमाप्रतिपत्	१३१।१०	लिङ्गलोढतत्त्वप्रत्ययान्त	५७४।१४
मध्यमाप्रतिपत्ति	१३१।८	वस्तुत्वादि	९३।१
मध्याविज्ञानपरिग्रह	५०४।१६	वध्यधातानुमान	४६२।७
मनस्	३५२।३	वस्तुत्व	३६४।२४
मनःप्रत्यक्ष	४७।१३	वस्तुवसकरसिद्धि	४६७।१०
मनोगतबोध	१९७।२२	वाक्य	७९७।५
मनोबोध	१९६।१९	वागुरूपता	१४०।२
मनोद्रव्य	२६८।१८	वाच्यवाचकभाव	२९५।३
मनोवृत्ति	४०।६	वाच्यसवित्यपेक्षण	४९८।१७
महान्	५५०।४	वाच्यवासकमावामभव	१८।३
महामहत्वाध्यमुक्तिहेतुरत्ययसमप्रता	८७६।२३	विकल्पमात्राधीनजन्य	५३७।१५
मातृकास्फोट	७५६।१४	विकल्पानुविद्य	५२५।१२
मातृपितृज	३५२।११	विकारित्व	१०१।६
मात्रामात्रिक-कार्य-विरोधि-सहचारि-स्वस्वामि- वध्यधातकादि-सप्तविधानुमान	४६२।१	विचार	३९५।४
मात्रामात्रिकानुमान	४६२।२	विजातीयव्यावृत्ति	२८९।५
माध्यमिक	१२७।८; २०६।१६	विज्ञान	३९०।६
मार्ग	३९१।१७	विज्ञानाभिन्नहेतुज	१२६।९
मीमांसकाभिमतार्थापत्ति	५०५।२	वितर्क	३९५।३
मीमांसकाभ्युपगतमुपमानम्	४९६।३	विधि	५७३।२०; ५९५।१४
मीमांसकोपनिर्णयोपमान	४९७।१६	विधि	६४१।२३
मुख्य	३९९।१३	विधूतकरणान्जालता	१६८।१५
मुख्यकाल	२५३।२५	विपक्षबाधकप्रमाण	४४५।११
मुख्यत्व	३९९।१२	विपरीतव्याप्ति	६४।१७
मेयरूपता	१६६।१५	विपर्ययानध्यवसाययो	३३६।२४
मोक्ष	८२३।१७	विभाग	२७४।१८; २७७।१४
यतिगृहिदेववन्द्यपदानहै	८७५।१७	विभिन्नकर्तृकत्व	२२३।९
यन्त्रारूढनियोगाभिधान	५८५।१४	विभिन्नपरिमाणत्व	२२३।१२
यन्त्रारूढो नियोग	५८४।१३	विभिन्नशक्तिवत्त्व	२२३।११
याजनार्ध्यापनप्रतिग्रहप्रहादि	७७३।१६	विरुद्धधर्माध्यास	२२३।७
युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्ग	२६९।६	विरुद्धविधि	९२।४
युगपन्निखिलद्रव्यावगाहकार्य	२५०।१	विरुद्धाव्यभिचारिन्	६९।५
योगिप्रत्यक्ष	४७।१४; ४३२।१६	विरोध	३६०।८; ३६९।३; ३७०।३
योग्यता	३१।२०	विरोधगति	८५३।४
योग्यतालक्षणसम्बन्ध	१२१।२४; ५३८।७	विश्वा	५३१।१०, ५३५।१५; ७८०।२३
योगपद्य	२२०।११	विवेकव्याप्ति	८१६।१; ८२१।२०
रक्तारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यास	२२८।१८	विवेकव्याप्ति	५२।१३
रजः	६२७।३	विवेकानुपलम्भ	८१७।१
रज्जुगन्ध्यादि	३६३।७	विशिष्टदण्डधादिप्रत्यय	४३१।१२
राजा	४९९।१३	विशिष्टदण्डधादिप्रत्ययवत्	४२१।८
रिरसा	८६०।९	विशिष्टा सङ्कतिः	७११।७
		विशेषणभाव	३०४।१
		विशेषणविशेष्यभाव	३०१।५

विशेषपदार्थ	२९२।१	श्रुतज्ञान	५२९।२२
विशेषविच्छेदानुमान	२९६।१२	श्रुतमयी	८३९।५
विषमगतय	८६७।८	श्रुतार्थापत्ति	५०७।१२; ५१५।१५
विषय	३५३।२८	श्रेय साधनता	५९३।११
विषयगतदोष	१९७।२१	श्रेय साधनत्वात्स्यधर्म	५७४।८
विषयदोष	१९६।२०	श्रेय साधनत्वात्स्यधर्माविगम	५९३।६
विषयविषयिभाव	२९५।४	श्रोत्र	२४८।२६
विषयाकारविवेक	४८४।१	श्रोत्रसंस्कार	७११।७
विषयान्ध	३९३।२५	श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वम्	८५।१६
विषयालोचनसङ्कल्पनाभिमननाद्यनेकस्वभाववत्त्व	८२१।२	पद ( पदार्थ )	२१४।१
विषादवैयर्थ्यबीभत्सगौरव-आवरणादि	३५१।१	पदप्रकार ( सन्निकर्ष )	२८।२०
वीतराग	३१८।१५	पडत्तापत्ति	२३३।१३
वृद्धव्यवहार	७५७।८	सख्या	२७३।१२
वंग गुण	२७५।३; २७९।२	सज्जनसिद्धिबन्धप्रतिपत्ति	५००।२
वेदना	३९०।७	सज्जनसिद्धिबन्धप्रतिपत्तिफल	४९६।१०
वेदाध्ययन	७२२।१७	समुत्पन्नविशेषणभाव	४६३।१७
वैराग्य	८४६।२३	समुत्पन्नसंयोगात्प्राप्त्यवस्थलक्षण	७७६।१७
व्यक्त	३५३।१०	संयोग	२७४।१४; २७७।१५
व्यतिकर	३६०।१४	संयोगद्वय	८०५।८
व्यतिरेक	२५१।६	संयोगिसमवायिलिङ्ग	४६१।१४
व्यधिकरणासिद्ध	४९१।१०	मवादवज्ञान	१९६।४
व्यवहार	६३३।८	संशय	३३७।२; ३६०।७; ३६८।२०
व्यवहारकाल	२५३।२५	सदाप्युदास	३३७।२
व्याकरणप्रामाण्य	७६०।१७	सदायादिदोषोपनिषात	३६०।६
व्यापक	४२३।५	सरकार	३९०।६
व्यापकानुपलम्भ	९१।२१	सकलनून्यता	१३१।८; ३९८।१६
व्याप्य	४२३।५	सङ्कर	२६०।१२
व्यामोह	२११।१०	सङ्कलन	४९४।५
व्युत्पत्तिनिमित्त	२६।२	सङ्कृत	५४७।२
शक्ति	३५०।१४, ५०६।८	सङ्घात	७४०।१
शक्तिसंकरपक्ष	८४७।११	सङ्घवहारादुदय	४७५।१०; ४८०।१
शक्यप्राप्ति	३३७।२	सन्तानसम्बन्ध	६।१५; ८०३।२१
शक्यविवेचन	१२६।१, २	सन्तानोच्छेद	६१६।६
शब्द	५७३।२३	सपक्षविपक्षव्यवस्था	४३८।५
शब्दनित्यत्व	६९८।१	समवायपदार्थ	२९४।१६
शब्दप्रधान	७९३।१७	समवायिद्वय	८०५।८
शब्दभावना	५७९।२	समुदय	३९१।१६
शब्दसंस्कार	७११।७, १३	समुद्वाश	३६४।२५
शब्दस्वभावब्रह्मसद्भाव	१३९।१९	समुद्देकदेश	३६४।२३
शब्दाकारानुस्यूत	१४१।१८	सम्पूर्णचेतनालाभ	२०२।१८
शब्दात्मक	६३४।१०	सम्बन्ध	३०५।१०
शब्दानुविद्ध	१४०।८	सम्बन्धसम्बन्ध	४३२।९, १०
शब्दार्थसम्बन्ध	५५०।१८	सर्वग्रहणप्रसङ्ग	२३०।१३
शरीरपरिमाणत्व	२६१।६	सर्वधर्मनिरात्मता	१३१।८, १०
शास्त्रेऽनियतकथाया वा	४३८।८	सर्वविमविज्ञानाहित	७२८।१५
शुद्धपरिणामसङ्क्रम	८२१।५	सर्वविमभाषात्मक	२।४
शुद्धकार्य ( नियाग )	५८३।३	सर्वज्ञाविनाश	८६।२२
श्रावणत्व	४४०।११	सर्वविमसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य	१३१।५, ४४२।१०
श्रुत	५२९।२१, ५३०।६	सर्विकल्पक	४५।२३, ४६।१
		सर्वदक्षिणविषयसि	४५७।११

सहकारिशक्ति	१५९११	स्नेह	२७५१२
सहचरानुमान	४६२१५	स्नेहगुण	२७८१९
सहानवस्थालक्षण	३७०१५	स्पर्श	३९०१७
सहोपलम्भनियम	११८११६; १२३११	स्फोट	७४५१११, ७५४११३
साकल्य	३५११	स्मृति	४०५११०
साक्षिवादि	८१३१४	स्मृतिप्रमोष	५४१६, १२
सादृश्यविशिष्टस्य गोपिण्डस्य	४९०१९	स्मृत्याभास	४१०१६
सादृश्यव्यवहार	४९३११७	स्याच्छब्द	३१८
साधकतम	२९११०	स्यात्कार	६९४१११
साधनवाक्य	७३८११	स्वकारणसत्तासमवाय	१०११५, २२०११२
सानुतन्त्र	५५०११९	स्वपरिणामादल्पपरिमाणकारणारब्धत्वनियम	२१५११७
सामग्री	३३१८	स्वदर्शनात् स्वामिनोऽनुमानम्	४६२१६
सामानाधिकरण्य	५६४१३	स्वभावहेतुद्वय	४४५१९
सामान्य	२८३११७	स्वभ्यस्ते विषये	२०१११७
सामान्यमात्रे सङ्केत	५६७१८	स्वरूपप्रयुक्तस्याप्यभिचारस्य	४२२१९
सामान्यविशेष	३६९१८	स्वरूपशक्ति	१५९११
सारूप्य	१६९११, २०५११०, ६४४१२१	स्वसवेदन	४७११०
सावयव	३५३१२२	स्वात्मनि क्रियाविरोधात्	१८२११४, १८७१७
सावयवत्व	१०११५	हस्त	४९११३
सालवचित्तसतान	८३९१९	हस्तसत्ताद	५४२१६
सालवचित्तसतानलक्षणससारनिवृत्तिरूपमोक्ष	८३९१६	हस्तस्फोट	७५६११२
मुनिश्चितासभद्राधकप्रमाण	८९१८	हिता	५९३११३
मुपुत्ताद्यवस्था	८४७११७, ८४८१६, १७	हीनगर्भस्थानशरीरविषयादि	८०९११२
सोमराजा	७२६१४	हीनसत्त्व	८६९१८
स्त्रीनिर्वाण	८६५११३, ८७०११	हीनस्थानपरिग्रहवत्त्व	८१०१२०
स्थासकोद्यकुशूलादि	७९२११९	हेतुमत्	३५३११०
स्थितिस्थापक	२७५१७, २७९१४		
स्निग्धक्षत्तलक्षणप्रकारान्तर	२३३१११		

## §१२. मूल-टिप्पण्युपयुक्तग्रन्थसङ्केतविवरणम् ।

प्रकलङ्घन० परि०—अकलङ्घनप्रयपरिशिष्टम् [सिंधी जैन सीरिज कलकत्ता] ७८९.  
 अद्वयवज्रसं०—अद्वयवज्रसंग्रह [गायकबाद सीरिज वडोदा] ४०९.  
 अद्वयवज्रसं० तत्त्ववर्णा०—अद्वयवज्रसंग्रहहृत्तत्त्ववर्णावली [गायकबाद सीरिज वडोदा] १२५.  
 अनागारध०—अनागारधर्माभूतम् [माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थ० बम्बई] ७९९.  
 अनुयोगदा० } अनुयोगद्वारसूत्रम् [आयमोदयसमिति  
 अनु० सू० } सूत्र] २४२, ६०९, ६०९, ६२२, ६३२,  
 ६३६-६३८, ७८२, ७९९-८०१, ८०४-८०७  
 अनेकान्तवाद० } अनेकान्तवाद प्रवेश [हेमचन्द्राचार्य  
 अनेकान्तप्र० } ग्रन्थावली पाटन] ५३७, ६२०  
 अनेकान्तवादप्र० } दि०—अनेकान्तवादप्रवेशटिप्पणम्  
 [हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली पाटन] ३६९.

अनेकान्तजय० } अनेकान्तजयपताका [यशोविजय-  
 अनेकान्त० प० } ग्रन्थमाला काशी] ५१, १४०,  
 ५२६, ५३४, ५३६, ५३७, ५४०, ५४१, ५५३-  
 ५५५, ५५९, ५६०, ५६४, ६२०, ६२१, ६४०, ८३८  
 अन्ययो०—अन्ययोगव्यवच्छेदशास्त्रिका स्याद्वाद-  
 भन्त्यन्यन्तर्गता [रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई]  
 ५६६  
 अपोहसिद्धि०—अपोहसिद्धि [एशियाटिक सोसाइटी  
 कलकत्ता] ५५४  
 ग्रन्थ० आलोको०—अभिसमयालोकालङ्कार [गायक-  
 बाद सीरिज वडोदा] ५, १२४, १२६, ३८२,  
 ३८४, ५२४, ८३८  
 ग्रन्थ० कोश } ग्रन्थमालाकोश [ज्ञानमण्डल प्रेस  
 ग्रन्थ० } काशी] ८३, १२०, २७२, ३९१,  
 ३९२, ३९५, ६०२.

अभिषेक व्या०-अभिषेकशेखर नालन्दात्या व्याख्या  
[ ज्ञानमण्डल प्रेस काशी ] ३९२, ३९४, ३९५.  
अमरको०-अमरकोश. [ निर्णयसागर प्रेस बम्बई ]  
१९९, २०२, ७३८, ८०२.  
अल० चि०-अलङ्कारचिन्तामणिः [ जनेन्द्र प्रेस  
कोल्हापुर ] १, ५९६.  
अवयवविनिरा०-अवयवविनिराकरणम् [ एशियाटिक  
सोसाइटी कलकत्ता ] २२८, २३१.  
अयंसं०-अयंसंग्रहः [ निर्णयसागर प्रेस बम्बई ] ८७,  
५७३, ५७७-५७९.  
अष्टश०-अष्टशती अष्टसहस्रा मुद्रिता [ निर्णयसागर  
प्रेस बम्बई ] ६, १०, १८, २३, ४९, ८९,  
१०५, १०६, १०९, ११५, ११९, १२३, १२४,  
१३६, १३९, १५५, २३३, २४३, ३६६, ३६७,  
३७१, ३७४, ३८१, ३८८, ४२७, ४३८, ४५४,  
४६२, ४८०, ४८७, ५०३, ५०४, ५२२, ५६५,  
५६८, ६०१, ६०२, ६०४, ६०५, ६१६, ६७६,  
६७७, ६८०-६८२, ७०३, ७०६, ७०८, ७१०,  
७२०, ७३०, ७३१, ७३६, ७३८, ७३९, ८०९.  
अष्टसह०-अष्टसहस्री [ निर्णयसागर प्रेस बम्बई ]  
६, १०, ११, १७, १८, १९, २२, २३, २९,  
४६, ४९, ५३, ७४, ८९, ९७, १०५, १०६,  
१०९, ११५, ११९, १२३, १-४, १२६, १२७,  
१२९-१३६, १३६, १३८, १३९, १४१, १४७,  
१५१, १५५, २१६, २२५, २३०, २३३, २३६,  
२४३, ३०३, ३०५, ३०७, ३५७, ३६६, ३६७,  
३७१, ३७४, ३७५, ३८१, ३८२, ३८८, ३९१,  
३९८, ४००, ४०२, ४१७, ४२७, ४२९, ४३८,  
४५४, ४६२, ४८०, ४८७, ५०३, ५०४, ५२२,  
५३४, ५४०, ५५१, ५५४, ५६५, ५६८, ५७७,  
५७९, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५-५८७, ६०१-  
६०५, ६१६, ६२०, ६२३, ६२८, ६४०, ६७६,  
६७७, ६८०-६८२, ६८५, ७०३, ७०६, ७०८-  
७१०, ७२०, ७२३, ७२६, ७३०, ७३१, ७३६,  
७३८-७४३, ७८०, ७९१, ८०९, ८११, ८१४,  
८२७, ८३३, ८४५.  
अष्टसह० यशो० अष्टसहस्रीविवरण यशोविजय-  
अष्टसह० वि०० कृतम् [ जैनग्रन्थप्रकाशक सभा  
राजनगर ] ५८३, ५८४, ६८७.  
भारत० भारतभूविज्ञान [ जीवानन्द विद्या-  
भारतभूवि० सागर कलकत्ता ] ४४३, ८४७.  
भारतानु०-भारतानुयासनम् प्रथममूलकान्तर्गतम्  
[ प्र० पन्नालाल जैन भद्रेनी काशी ] ३९३.  
भारिपु०-आदिपुराणम् [ जैनसिद्धान्त प्रकाशिनो सस्था  
कलकत्ता ] ७३८.  
आध्यात्मिक०-आध्यात्मिकमतपरीक्षा यशोविजय-  
ग्रन्थमालान्तर्गता [ जैनप्रथमप्रकाशक सभा भाव-  
नगर ] ८५२, ८५३.  
भातप०-भातपरीक्षा [ जैनसिद्धान्तप्रकाशिनो सस्था  
कलकत्ता ] ४, ५, १९, ८९, ९४, ९७, १०९,

११९, १२४, १३३, १५२, १८२, १८७, १८८,  
१९०, १९१, २३७, २९५, २९७, २९८, ३०२,  
३६४, ३६५, ४९०, ६२४, ६२६, ६४०, ६८२,  
७३४, ७३५, ७७६, ८०९-८१३, ८१७-८१९,  
८३९, ८४२.

भातमी०-भातमीमांसा [ जैनसिद्धान्त प्रकाशिनो  
सस्था कलकत्ता ] १५, १६, २२, २३, १२४,  
१३९, १५५, २०९, २३६, ३०५, ३५७, ३६६,  
३७४, ३७५, ३८२, ४०१, ५२२, ६००, ६०५,  
६०६, ६२३, ६९७, ८१२, ८४३.

भावश्यकनि०-आवश्यकनिर्मुक्तिः [ आगमोदय समिति  
सूरत ] ८२, ११५, १७३, ६०९, ६२२, ६३२,  
६३६, ६३८, ७८२, ७९९.

भाव० नि० मलयग०-भावश्यकनिर्मुक्तिमलयगिरि-  
टीका [ आगमोदय समिति सूरत ] ६०५, ६०६,  
६७४, ६८६, ६८८, ६९१, ७९३, ८००.

भाव० नि० हूरि०-आवश्यकनिर्मुक्तिहारभट्टीटीका  
[ आगमोदय समिति सूरत ] १७३.

आ० वि०-आदर्शपुस्तकान्तर्गता मुद्रिता विवृति. ६३७.  
आयर्त्तावली-माध्यमिकवृत्ती निर्दिष्टा । ४८४.

आलापपद्धति-देवसेनकृता नयचक्रसंग्रहान्तर्गता  
[ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई ] २३, ६०६,  
६०७.

इष्टोप० टी०-इष्टोपदेशटीका [ माणिकचन्द्र ग्रन्थ-  
माला बम्बई ] ६७४.

उत्तरपु०-उत्तरपुराणम् [ जैनसिद्धान्त प्रकाशिनो  
सस्था कलकत्ता ] ७७३.

उत्तरा०-उत्तराध्ययनसूत्रम् [ आगमोदय समिति  
सूरत ] ६३२, ६४६, ६६९, ७७८, ७९१,  
८३०.

उत्तराध्यय० पादपटीका-उत्तराध्ययनसूत्रस्य शास्त्रा-  
चार्यविरचिता टीका [ आगमोदय समिति सूरत ]  
८६५.

उपायहृदय०-उपायहृदयम् [ पापकबाड सीरिज बड़ौदा ]  
३१२, ३२१-३२६, ३२९.

श्रुत० पुरुष०-श्रुतदेवस्य पुरुषसूक्तम् [ आनन्दाश्रम  
सीरिज पूना ] ७७०.

श्लोचि० टी०-श्लोचनिर्मुक्तिटीका [ आगमोदय  
समिति सूरत ] ८७६.

कटोप०-कटोपनिषत् [ निर्णयसागर प्रेस बम्बई ] १४७.

कर्म०-कर्मग्रन्थाः [ आत्मानन्दसभा भावनगर ] ८०१.

कर्म० टी०-कर्मग्रन्थटीका [ आत्मानन्दसभा भाव-  
नगर ] ६७४.

कल्पसू०-कल्पसूत्रम् [ जैन साहित्यसंशोधक ग्रन्थमाला  
अहमदाबाद ] ८६८.

कमु०-कमुरोपनिषत् [ निर्णयसागर प्रेस बम्बई ] १४९.

कात्यायनवातिक०-कात्यायनप्रणीतं यातिकम् ६.

काव्यम्- [ निर्णयसागर प्रेस बम्बई ] ११३.

कासलोक०-कासलोकप्रकाशः [ देवचन्द्र लालभाई  
पंडे सूरत ] ८५५.

मासा [गायकवाड सीरिज बडोदा]

काशः [बम्बई युनि० सीरिज]  
६००.

ताव्यप्रकाशटीका [बम्बई युनि०]  
१६९३

ताव्यानुशासनम् [निर्णयसागर प्रेस]  
१२, ५६७.

ममि०-रुद्रदकृतकाव्यालङ्कारस्य नमि  
चिंता टीका [निर्णयसागर प्रेस बम्बई]

मासाश्लोकवातिकस्य सुचरितमिश्रवि-  
काशिका टीका [त्रिवेन्द्रम्] ६९८,  
७६०.

मंपुराणम् ६३४.

-केवलभूतितप्रकरणम् [जैनसाहित्य सखो  
ने मुद्रितम्] ८५२-८५५, ८५८

-कौशीतिकब्राह्मणम् १८८

ध्याय-ज्ञानश्रीकृत भिक्षुराहुलसाङ्ख्यायन-  
८ ५५२

सि०-क्षणभङ्गसिद्धि [एशियाटिक सो०  
कलकत्ता] ९, ४४५, ४७६.

१७०-खण्डनखण्डलाद्यम् [लाजरस क० काशी]  
१३७, ४१२.

० वृ०-गच्छाचारप्रकीर्णकवृत्ति [आगमोदय  
समिति मुरत] ८७६

० त्वचि०-नस्तत्त्वविनिश्चय [आरमानन्द सभा  
भावनगर] ६०५, ६८६-६८८, ६९१

० सत्र-गुह्यसूत्रम्, बोधिचर्यावतारपञ्जिकायामुद्धृतम्  
८४०

० कर्मका०-गोमटसारकर्मकाण्डम् [रायचन्द्र  
शास्त्रमाला बम्बई] ८५९, ८६२, ८७१.

० गो० जीव०-गोमटसारजीवकाण्डम् [रायचन्द्रशास्त्र  
माला बम्बई] ८०१, ८५६, ८५९, ८७४,  
८७७.

गौडपादभा०-सारयकारिकागौडपादभाष्यम् [बोखम्बा  
सीरिज काशी] १८९, १९०, ८१३, ८१४.

चतु० श०-चतु शतकम् [विश्वभारती ग्रन्थमाला  
शान्तिनिकेतन] १६८१, ८२, ८६, ८१९, ८३९.

चतुशतकवृ०-चतु शतकवृत्ति. [विश्वभारती ग्रन्थ-  
माला शान्तिनिकेतन] ७९.

चन्द्रप्रभच०-चन्द्रप्रभचरितम् [निर्णयसागर प्रेस  
बम्बई] १८६.

चरकस०-चरकसंहिता [निर्णयसागर प्रेस बम्बई]  
२५, ३०९, ३१०, ३१२-३१४, ३१६, ३१८-  
३२१ ३२५-३२७, ३३०-३३३, ३३७, ५०३.

चिन्मुखी-तत्त्वप्रदीपिका चिन्मुखी [निर्णयसागर प्रेस  
बम्बई] ६३, २३७, २८५, २९२, ४१५,

४२०, ८२१, ४६६, ५३७, ५७०, ६६८, ६६९,  
८२४, ८२५, ८२७, ८३१, ८३२.

छन्नसङ्घा-छन्नसङ्घागमः [जैनसाहित्योद्धारक फड  
अमरावती] ८००, ८०१, ८५६.

छन्दोम०-छन्दोमञ्जरी [जीवानन्द विद्यासागर  
कलकत्ता] २७८

छान्दोग्यो०-छान्दोग्योपनिषत् [निर्णयसागर प्रेस  
बम्बई] १४७, ८२५, ८३०, ८३७

छान्दो० शा० भा०-छान्दोग्योपनिषत् शाङ्करभाष्यम्  
[गीता प्रेस गोरखपुर] ८२५.

जयध०-जयधवलटीका, धवलटीकाया प्रस्तावना-  
टिप्पणयो समुद्धृता ६०७, ६२२, ६३८

जयम०-सारयकारिकाया जयमङ्गलाटीका [कलकत्ता]  
६२७, ६२८, ८१३, ८१४.

जाबाल०-जाबालोपनिषत् [निर्णयसागर बम्बई]  
६३४.

जैनतर्कभा० } जैनतर्कभाषा [सिधी जैन सीरिज  
जैनतर्कपरि० } कलकत्ता] २३, ७४, ११६, १५८,  
जैनतर्कप० } ४०७, ४१०, ४११, ४१८, ४२२,  
४३५, ४४०, ४४५, ४५९, ४९०, ४९२ ५००,  
६१०, ६२१, ६२२, ६३२, ६३६, ६३८, ६५०,  
६८६, ६८७, ७९३, ७९९, ८००, ८५४.

जैनतर्कवा०-जैनतर्कवातिकम् [लाजरस क० काशी]  
२०, २३-२५, ७४, १२६, ४६४, ४८९,  
५१३, ५४३.

जैनतर्कवा० दु०-जैनतर्कवातिकवृत्ति. [लाजरस क०  
काशी] ३६९, ४०७, ४०८, ४४०, ४७२.

जैनेन्द्रव्या०-जैनेन्द्रव्याकरणम् [जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी  
संस्था कलकत्ता] ४४९, ६०४, ६१७, ६४१, ७६६.

जैनेन्द्रप्र०-जैनेन्द्रप्रक्रिया प० बसोपरकृता [सोलापुर]  
६४१

जैमिनि०-जैमिनिसूत्रम् ५-३, ५४५, ५५१, ५६६,  
७०१, ७२२, ७३५, ७७७

जैमिनिव्यायमाला- [बोखम्बासीरिज काशी] ५७६,  
५७८, ५७९, ५८२, ७५७.

ज्ञानवि०-ज्ञानविन्दु यशोविजयग्रन्थमालान्तर्गत  
[जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर] ८३८

ज्ञानसि०-ज्ञानसिद्धि थालिदोपग्रन्थान्तर्गता [गायक-  
वाड सीरिज बडोदा] ५४७

ठाणागवि०-ठाणागवित्ति [आगमोदय समिति मुरत]  
८६३

तत्त्वचि०-तत्त्वचिन्तामणि. [एशियाटिक सोसाइटी  
कलकत्ता] ७१६.

तत्त्वचि० अनु०-तत्त्वचिन्तामणि-अनुमानग्रन्थ  
[एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता] ४२८, ५३९.

तत्त्वचि० अव०-तत्त्वचिन्तामणि-अवयवग्रन्थ [एशि-  
याटिक सोसाइटी कलकत्ता] २

तत्त्वचि० व्या०-तत्त्वचिन्तामणिव्याप्तिग्रन्थ ४१९

तत्त्वचि० शब्द०-तत्त्वचिन्तामणि शब्दग्रन्थ ७१३,  
७२०, २६, ७३६, ७५८, ७६१.

तत्त्वचि०-तत्त्वचिन्तामणि [अग्रभूय युनि० सीरिज]  
६८९.

तत्त्वमी०-तत्त्वमीमासा साख्यसग्रहान्तर्गता [चौखम्बा  
सीरिज काशी] ८१६.

तत्त्वद्याया०-तत्त्वयाथाप्यदीपनम् साख्यसग्रहान्तर्गतम्  
[चौखम्बा सीरिज काशी] ११०.

तत्त्वसं०-तत्त्वसग्रहः [ गायकवाड सीरिज बड़ौदा ]

७-१०, २०, २३, २५, ४६, ४८, ६८-७०,  
७३, ८६, ८७-९०, ९६, ९७, ९८, १०७-  
१०९, ११२, ११३, ११७, ११८, १२२, १२५,  
१४२, १४६, १४७, १०३, १५५, १६६, १६८,  
१९३-१९६, १९८, २०१-२०३, २०५, २०८,  
२२३-२२८, २३१, २४२, २५१, २५४, २५८,  
२७५-२७७, २७९-२८१, २८३, २८४, २८७-  
२८९, २९२-२९४, ३००, ३०१, ३४२, ३४३,  
३४४, ३५०, ३५४, ३५८, ३६०, ३६९, ३७३,  
३७४, ३७६-३७८, ३८०, ३९८, ४०७, ४३४,  
४३६, ४३९, ४४२, ४४४, ४४५, ४५२, ४५३,  
४६४, ४६६-४६८, ४८०, ४८९, ४९०, ४९२,  
४९३, ४९९, ५०४, ५०५, ५०८, ५१५, ५१६,  
५३१, ५३६, ५४३, ५४४, ५४९, ५५२, ५५४,  
५५७, ५६३, ६०१, ६२३, ६२६, ६२९, ६३६,  
६७५, ६७९, ६८०, ६९८, ७००, ७०२, ७०३,  
७०९, ७११, ७१२-७१७, ७२३, ७२९, ७३०,  
७३४-७३६, ७४९, ७५०, ७५१, ७५६, ७७०,  
७७३, ७७४, ८११, ८१९, ८३९, ८४८.

तत्त्वसं०-तत्त्वसग्रहपञ्जिका [ गायकवाड सीरिज  
बड़ौदा ] ६, ७, २३, २६, ४६, ८२, ८३,  
८६-९२, ९४, ९६, ९८, १०४, १०७, ११३,  
१२२, १२३, १३१, १४०-१४३, १४५, १४६,  
१५०, १५३, १८९, २०१-२०३, २१७, २२६,  
२२९, २३६, २७६, २८४, २८८, ३४१, ३४२,  
३४४, ३४६, ३४७, ३५५-३५७, ३६४, ३७७,  
३७८, ३८२, ३८३, ३९०, ३९१, ४१०, ४१३,  
४४४, ४५१-४५३, ४६४, ४६६-४६८, ४७५,  
४९५, ५०२, ५०५, ५४३-५४५, ५४७, ५५१-  
५५७, ५९६, ६३३, ६३६, ६५८, ७००, ७०९,  
७११, ७१३-७१५, ७३०, ७४९, ७५०, ८३९,  
८४०, ८६८.

तत्त्वानु०-तत्त्वानुशामनम् [ भाणिकचन्द्र ग्रन्थमाला  
बम्बई ] ८०१.

तत्त्वार्थभा०-तत्त्वार्थार्थिगमभाष्यम् [ आर्ह त्रभाकर-  
कार्यालय पुना ] ३, २३, ११५, ११६, ११५,  
१७२, २५०, २५४, ५०४, ६०६, ६०९, ६१०,  
६२२, ६३२, ६३६-६३८, ६४७, ७८३, ७९९,  
८००, ८१३, ८६८.

तत्त्वार्थभा० टी० } तत्त्वार्थभाष्यस्य मित्रसमीप-  
तत्त्वार्थभा० व्या० } व्याख्या [ देवचन्द्रालताभाई  
तत्त्वार्थमित्र० ] पञ्चमखण्ड [ ८३, २५४-२५६,  
११९, ८०३, १११, ४१८, ६५३, ६०६, ६०७,  
११०, १२२, ६३३, ६३९-६४०, ६३०-६३२,  
६८२, ११६, ११७, ३५४, ८०९, ८१२, ८२९, ८६८.

तत्त्वार्थराजवा० } तत्त्वार्थराजवातिकम् [ जैनसिद्धा-  
राजवा० ] न्तप्रकाशिनी सत्या कलकत्ता ]

४, १४, २१-२३, २५-२७, ४६, ५१, ७८,  
८१-८३, ८६, ११०, ११५, ११६, १५८,  
१६५, १७३, २३६, २४७, २५५, २५८, ३०३,  
३४१, ३५०, ३६८, ३६९, ३९१, ३९५, ४५७,  
६०६, ६०७, ६१०, ६२२, ६३२, ६३६, ६३८,  
६४७, ६७२, ६८६, ७५३, ७८७, ७९१, ७९२,  
७९९, ८००, ८०६, ८०७, ८१०, ८१२, ८२९,  
८५८, ८५९, ८६०, ८ ३, ८६७, ८६८, ८७२,  
८७८.

तत्त्वार्थ० श्लो० } तत्त्वार्थश्लोकवातिकम् [ निर्णय-  
तत्त्वा० श्लो० ] सागर प्रेस बम्बई ] ४-६, ११,

१४, १७-२०, २२, २३, २५, २७, २९, ४०,  
४७, ४८, ५०, ५१, ६६, ६७, ७४, ७८-८३,  
८६, ८७, ९७, १०४, १०६, १०९, ११५,  
११६, १२४, १२७, १३०, १३२, १३३,  
१३७-१४०, १४२, १४७, १५५, १५८,  
१७१-१७३, १७६, १७७, १८५-१८७, १८९,  
१९०, १९८, २०१, २०५, २०९, २१०, २१६,  
२३१, २४२, २४६, २४७, २५०, २५४, ३०२,  
३०३, ३०५-३०८, ३२९, ३३८-३४१, ३४३-  
३४५, ३४९, ३६४, ३७१, ३७४, ३७५, ३८४,  
३९५, ३९८, ४०४, ४०८, ४१०, ४१८, ४३१,  
४३२, ४३४, ४३५, ४३९, ४४०, ४४१, ४४३,  
४४८, ४५०, ४६८, ४९९, ५०२, ५०४, ५०५,  
५१३, ५२२, ५२४, ५२५, ५५९, ५६०, ५६८,  
५७०, ५७७, ५७९, ५८२-५८७, ५९३, ६०३,  
६०६, ६१०, ६२१, ६२२, ६३०, ६३२, ६३६,  
६३८, ६४०, ६६१, ६६४, ६७४, ६८२, ६८५,  
६८६, ६९२, ७०३, ७१२, ७१३, ७२०, ७२६,  
७३५, ७३६, ७३९, ७४०, ७५२, ७५४, ७५६,  
७६२, ७६५, ७८३, ७९०, ७९३, ७९९, ८००,  
८०४-८०७, ८११, ८१२, ८४२, ८४५, ८५८,  
८६२, ८६३, ८७८.

तत्त्वार्थसारः-प्रथमगुच्छान्तर्गतः [ प्र० पद्मालालजी  
चौधरी भवेनी काशी ] २३, २५, ३२, १५८,  
१६५, ६०६, ६१०, ६२२, ६३२, ६३६,  
६३८.

तत्त्वा० मु०-तत्त्वार्थसूत्रम्-सर्वाथसिद्धिसम्मतसूत्रपा-  
ठान्वितम् । ३, २०, २४, १५५, १५८, १७३,  
२१६, २५०, २५४, ३४०, ४०३, ४०५, ६०५,  
६३२, ४४६, ६५१, ६६९, ७८२, ७८७, ७९१,  
७९९, ८००, ८०१, ८०६, ८१२, ८३०, ८४१,  
८६६, ८६२, ८६३, ८६५, ८६८.

तत्त्वार्थहृत्-तत्त्वार्थार्थिगमभाष्यहृत्प्रभृतीया वृत्तिः  
[ आरमानन्दसभा भावनगर ] ६०६, ६०७,  
६१०, ६२२, ६३२, ६३६-६३८, ८१२.

तत्त्वार्थमि० मु०-तत्त्वार्थार्थिगममूत्रम्, भाष्यममृत-  
मूत्रपाठान्वितम् । १७३, २५४, ७८२.

तत्त्वोप०—तत्त्वोपप्लवसिंह [ गायकवाड सीरिज बडोदा ] ८, ४०, ५८, ६९, १२६, २१९, ३००, ३४१, ३६०, ३६९, ३७२, ३७७, ४२०, ५२५, ६२८, ६९६, ६९८, ७२५, ७२६, ७२८, ७६२, ७६४.

तन्त्रवा०—तन्त्रवातिकम् [ आनन्दाश्रम सीरिज पूना ] ४०७, ५६६-५६८, ५७६, ५७७, ५७९, ५८०, ७५७, ७५८, ७६०, ७६१, ७६७-७६९.

तन्त्रवा० न्यायमु० } तन्त्रवातिकस्य न्यायमुद्राव्याख्या  
न्यायमु० } [ चोखम्बा सीरिज काशी ]  
५७४, ५७७, ५७९, ५८२, ५८८, ५९२, ७६८, ७६९.

तन्त्ररह०—तन्त्ररहस्यम् [ गायकवाड सीरिज बडोदा ] ४०६, ४०८, ४७९, ४८९, ५०६, ५७७, ५७९, ५८२, ५८३, ५९३, ६६६, ६६७, ६९८ ६९९, ७२०.

तर्कभा०—नर्कभाषा केसवमिश्रकृता २१, २४, २५  
तर्कभा० मो०—नर्कभाषा मोक्षकरगुप्तकृता [ मुनि-  
पुण्यविजयसत्ता लिखिता ] ४१२, ४२३, ४४३,  
५५१, ६०१

तर्कस० अनु०—तर्कसंग्रह अनुमानखण्डम् ८१६.

तर्कस० बी०—तर्कसंग्रहबीपिका टीका २१, ४९६

तर्कभा०—तर्कशास्त्रम् श्रीविद्वत्ताम्रद्विष्टलोजिकान्त-  
र्गतम् [ गायकवाड सीरिज बडोदा ] ३२३-३३५

ता० प०—तात्पर्यटीकाया परिषद्द्विटीका [ एशिया  
टिक सोसाइटी कलकत्ता ] ४१९, ४२८

तैत्ति०—तैत्तिर्युपनिषत् [ निर्णयसागर बम्बई ] १५१,  
८३१

तैत्ति०—तैत्तिरिसंहिता । ७६१

तौता०—तौतातित्तस्तितिलकम् [ सरस्वती भवन काशी ]  
५६८, ५९३, ७२०, ७५७, ७५९, ७६१

त्रि० प्रा०—त्रिक्रमकृत प्राकृतव्याकरणम् [ चोखम्बा  
सीरिज काशी ] ७६४

त्रिलोकसा०—त्रिलोकसार [ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला  
बम्बई ] ८६७, ८७१.

त्रिपण्डि०—त्रिपण्डिशालापुरपचरित्रम् [ जैनधर्म-  
प्रसारकसभा भावनगर ] ८५५.

त्रैलोक्यबी०—त्रैलोक्यदीपकम् ८६७

हठा०—दशवैकालिकग्रन्थम् [ आगमोदय समिति सूरत ]  
८६८

द्रव्यस०—द्रव्यसंग्रह [ रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई ]  
६४६, ६६९.

धम्मप०—धम्मपदम् [ महाबोधि सो० सारनाथ ] ७७८

द्वात्रि०—द्वात्रिंशदद्वात्रिंशतिका यशोविजयकृता [ जैन-  
धर्मप्रसारकसभा भावनगर ] ८५४, ८५५.

द्रव्यानुयोगत०—द्रव्यानुयोगतर्कभा [ रायचन्द्रशास्त्र-  
माला बम्बई ] २५४,

धर्मप०—धर्मपरीक्षा अमितागतिकृता ७७३, ७७८

धर्मवि० टी०—धर्मविन्दुटीका [ एशियाटिक सो०  
कलकत्ता ] ८२४.

धर्मसारप्रकरणम्—स्वाध्यादरत्नाकरे उद्धतम् । ४५५

धर्मस०—धर्मसंग्रहणी [ आगमोदय समिति सूरत ]  
२५४, ६४०, ८२४.

धर्मस०—धर्मसंग्रह [ ग्रॉक्सफोर्ड युनि० सीरिज ]  
६००, ८४६, ८५६.

धर्मस० वृ०—धर्मसंग्रहणीवृत्ति [ आगमोदय समिति  
सूरत ] ५५३.

धवला० टी० } धवलाटीका [ जैन साहित्योद्धारकफड  
छबलखण्ड टी० ] अमरावती ] ५९९, ६०६, ६०७,

६२२, ६३२, ६३३, ६३६, ६३८, ६५६, ६५७,  
७३५, ७९०, ८००, ८०२, ८०३, ८०६, ८०७,

८५६, ८७४, ८७७

धवला० टी० वेदनाखण्ड—धवलाटीकायाः वेदनाखण्ड.  
मुद्रितधवलाटीकाया प्रस्तावनायामुल्लिखित  
६०६

ध्वन्या० टी०—ध्वन्यालोकस्य लोचनटीका [ निर्णय-  
सागर प्रेस बम्बई ] ७४९.

नन्दि० मलय०—नन्दिमूलमलयगिरिटीका [ आगमोदय  
समिति सूरत ] ४६६, ५४८, ६७४, ८६५-८६७.

नयचक्र०—नयचक्रसंग्रह [ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला  
नयचक्रस० ] बम्बई ] २३, ६०६, ६१०, ६२२,

६३२, ६३६, ६३८, ६८६

नयचक्रवृ०—नयचक्रवृत्ति लिखिता [ श्वे० मन्दिर  
रायघाट काशी ] ३६९, ३७१, ४५४, ४६२,

५३७, ५५३, ६०६, ६०७ ६२८, ६३६, ६३८,  
७३९, ८००

नयप्रदीप—यशोविजयग्रन्थमालान्तर्गत [ जैनधर्म-  
प्रसारक सभा भावनगर ] ६०६, ६९२, ७९३

नयग्रहस्य०—यशोविजयग्रन्थमालान्तर्गतम् ६०६

नवतरङ्ग०—नवतरङ्गवाद्या ६६९

नयविब० } नयविवरणम् प्रथमच्छास्त्रान्तर्गतम् [ प्र०  
नयवि० ] पन्नालाल चौधरी भवैनी काशी ]

४७९, ४८९, ५०६, ६०६, ६१०, ६२१,  
६२२, ६३२, ६३६, ६३८, ७०१-७०३,

७२१, ७९३

नयोप० वृ०—नयोपदेशवृत्ति यशोविजयग्रन्थमालान्त-  
र्गता १४०, १४१

मातृघशा०—मातृघशास्त्रम् [ गायकवाड सीरिज  
बडोदा ] ७३७, ७५६, ७६४.

नियम०—नियमसार [ जैनग्रन्थरत्नाकर बम्बई ]  
८०१, ८४५.

नैराहम्यप०—नैराहम्यपरिपुच्छा [ विश्वभारती शान्ति-  
निकेतन ] ६३३, ६८४, ८४०.

नैषध०—नैषधीय नरितम् [ वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई ]  
७७२

नैषध० टी०—नैषधीयनरितटीका [ वेङ्कटेश्वर प्रेस  
बम्बई ] ७७३

न्यायकलि०—न्यायकलिका [ सरस्वतीभवन काशी ]  
१५७, ३१०, ३१२-३१६, ३१८-३२२, ३३५,  
४१९, ४३१, ४४२, ४४३, ४९६.

न्यायकु०—न्यायकुमुमाञ्जलि [चौखम्बा सीरिज काशी] २४, १८, १०१, १५९, २०५, ४०७, ४४४, ४४५, ४८९, ४९६, ४९७, ५१३, ५१६, ५१८, ५३६, ५७७, ५७९, ५८०, ५८८, ६०५, ६७२, ६८६, ७२७

न्यायकु० प्रका०—न्यायकुमुमाञ्जलिप्रकाश [चौखम्बा सीरिज काशी] २

न्यायकुमु०—न्यायकुमुदचन्द्रे प्रस्तुत ग्रन्थ ४२०, ६१३, ६३३, ६८२, ६८५

न्यायको०—न्यायकोश [बम्बई युनि० सीरिज] २८२, ६९३

न्यायबो०—न्यायबोपिका [जैनसिद्धान्त प्र० संस्था कलकत्ता] २५, ४१०, ४१८, ४३५, ४४०.

न्यायपरि०—न्यायपरिमुद्धि [चौखम्बा सीरिज काशी] ५८२, ७२६

न्यायप्र०—न्यायप्रवेश [गायकवाड सीरिज बडोदा] ४६, ६९, ४३४, ४३५, ५८८, ६०१, ६७९,

न्यायप्र० नू०—न्यायप्रवेशवृत्ति ४६, ३३३, ४३८, ५३६

न्यायप्र० वृत्तिप०—न्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिका ७, ६, ५३४, ५३६

न्यायवि०—न्यायविन्दु [चौखम्बा सीरिज काशी] २३, २४, ४६, ४७, ५१, ६९, १२०, १६६, २०५, ३७०, ३८२, ४३५, ४३९, ४४४, ४५०, ४६२, ५२३, ५२८, ५९८, ५९९, ६२७, ६७९, ६८१, ८५३

न्यायवि० टी०—न्यायविन्दुटीका [चौखम्बा काशी] २०, २३, २५, २६, ४८, ५०, ४०६, ४१९, ४३६, ४३८, ४८७, ५२३, ६६१, ६८०, ६८२

न्यायवि० टी० डि०—न्यायविन्दुटीकाटिप्पणी [विष्णो-पिका नृसिंहा रणिया] ४६, १४० ५२५

न्यायबो०—तर्कमहस्य न्यायबोधिनी टीका [निर्णय मागर बम्बई] २५

न्यायभा०—न्यायभाष्यम् [गुजराती प्रेस बम्बई] २ ३, ९, १६, १८, १९-२३, २५, २७, २८, ६५, ७१, ७९, ८७, ९७, १०९, १२७, १३९, १५०, १५६, १८२, १९३, १९६, २०८, २२०, २२६, २३६, ३०९-३३५, ३३७, ३६७, ३४८, ४११, ४९६, ५०३, ५१२, ५३५, ५३६, ५३९, ५६९, ५८८, ६०१, ६६७, ७१५, ७२०, ७५०, ८२८, ८३१, ८३६-८३६, ८३८

न्यायप्र०—न्यायप्रश्नटीका [विश्वनाथर गोस्वामी काशी]

न्यायप्र० १, ३, १५, १६, १८, २०, २१, २६, २८-३०, ३२-३८, ४१-४५, ५१, ५६, ६०-७३, ७७, ७९, ८२, ८६, ८८, ९८, १०९, १२४, १२६, १२९, १३३, १३९, १४०, १४७, १४९, १५३, १५०, १५६, १५८, १५९, १६६, १७२, १७७, १९१-१९६, २०१, २०५, २०८, २२६, २४०, २४९, २८८-२९०, ३१०, ३१२-३१४, ३१७-३१९, ३३६-३३८, ३३९, ३४०, ३४२, ३४६,

३४७, ३४९, ३५७, ३७६, ३८०, ३८१, ३८४-३८६, ३८८, ४०१, ४०८, ४११, ४१६, ४१९, ४२२, ४३१, ४३८, ४४२, ४४६-४४८, ४६४, ४६७-४७२, ४७७, ४७८, ४८१, ४८२, ४९१-४९३, ४९५-४९९, ५०९-५१२, ५१४-५२०, ५३१-५३५, ५३७, ५३९-५४२, ५४४-५४८, ५५०, ५५३, ५६१-५६४, ५६९, ५७०, ५७३, ५७४, ५७७, ५८१, ५८३, ५८९, ५९३, ५९६, ५९८, ६६१, ६६४, ६८९, ७०३-७०५, ७०८, ७२३, ७२५, ७२८, ७२९, ७३१, ७३८, ७५०-७५२, ७५५, ७५७, ७५८, ७६१, ७६८, ८०९, ८१४, ८२०, ८२३, ८२५, ८३१ ८३३-८३७

न्याय० मा० } न्यायरत्नमाला [चौखम्बा सीरिज न्यायरत्नमा०] काशी] ४१९, ४२३, ४२८, ३१, ५७७, ५७८, ५९३, ६९८, ७०१-७०३, ७११, ७१४, ७१५, ७४२

न्यायमूलप्रकरणम्—तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायामुद्धृतम् ४३५.

न्यायलीला०—न्यायलीलावती [निर्णयसागर बम्बई] २, ६०, ९७, १०९, २१४, २२८, २४०, २७८, ४१९, ४४३, ५०१, ५१२, ५३१, ७२९.

न्यायली० कण्ठा०—न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम् [चौखम्बा सीरिज काशी] २८२.

न्यायली० प्रकाश—न्यायलीलावतीप्रकाश [चौखम्बा सीरिज काशी] २४१.

न्यायवा०—न्यायवातिकम् [चौखम्बा काशी] १६, १८, २१-२३, २५, २८, २९, ३४, ७५-७७, ७९, ८२, ९८, ९९, १०७, १०९, १३९, १५६, १५८ १९४, २०८, २२४, २२९, २६९, २८४, २९५, ३१०-३२५, ३२८, ३३०-३३४, ३४०, ३५७, ३८७, ४०६, ४११, ४२८, ४३४, ४६२, ४६८, ४९६, ५१२, ५३५, ५३६, ५५९, ५६१, ५६२, ५६४, ५६९, ५८८, ६४६, ६६७, ७०३, ७०८, ७२०, ७३०, ७३८, ७५०, ७५७, ७५८, ८३३-८३६, ८३८

न्यायवा० ता० } —न्यायवातिकतात्पर्यटीका

न्यायवा० ता० टी० } [चौखम्बा सीरिज काशी]

६, २०, २७, २९, ४०, ४६, ५१, ५४, ५६, ६०-६३, ७५-७७, ८२, ९८, ९९, १०७, १०९, १२९, १३९, १५६, १५८, १९३, १९४, २०५, २२६, २२८, २२९, २३६, २९५, ३१०, ३१३, ३१८-३२०, ३२३, ३८०, ४०८, ४०९, ४१४, ४१९, ४२७, ४२८, ४३८, ४४२, ४४८, ४५०, ४६१, ४६२, ४९६, ५१६, ५१८, ५१९ ५२६, ५३६, ५४०, ५५९, ५६०, ६६७, ७०८, ७१६, ७३८, ७५२, ७५८, ७६१, ८३६, ८३५

न्यायवि०—न्यायविनिश्चय अकलद्रुष्यत्रयान्तर्गत [विष्णो सीरिज बम्बई] १७, ६०, ७३, ९३, १२३, १२९, १३९ १६६, १६८, १७१, १७८, १८५, १८६, १८९, २०९, २२७, २२८,







प्रमाणपरी०—प्रमाणपरीक्षा [ जैनसिद्धान्तप्र० मस्या  
कलकत्ता ] २३-२७, २९, ३०, ४९, ५१, ७१,  
१३५, १७६, १८३, १८६, १८७, १८९, १९४,  
२०१-२०५, ४०७, ४१०, ४११, ४१६-६१८  
४३४, ४३५, ४३९-४४२, ४५९, ५६०, ६५७,  
७२३

प्रमाणमी०—प्रमाणमीमासा [ मिथी जैन सीरिज  
कलकत्ता तथा ग्राह्यप्रभावर वार्यान्त्रय पूना ]  
२३-२५, २७, ७४, ८२, ११५ ११६, १६६,  
१७३, २०९, ३७१, ४०७, ४०९, ४११, ४१६,  
४१८, ४१९, ४२३, ४३४, ४३५, ४३८, ४४०-  
४४२ ४५०, ४५९, ६६३, ४६४, ४८९, ४९२,  
५००, ५०४, ५२०, ६४०, ६५६, ६५७, ६६४,  
६७७, ६८२, ६८३.

प्रमाणलक्षण टी०—प्रमाणलक्षणटीका २४

प्रमाणवा०—प्रमाणवातिकम् [ भिक्षुराहुलसाकृत्या  
यनसत्कम् ] ५, २३, ४८, १०९, ११८, १२४-  
१२६ १३०-१३३ १४३, १६५-१६८, १६९,  
२०५, २०९, २२७, २३०, २३१, २३६, २८७,  
२८९, ३७२, ३७३, ३८२, ४०७, ४०९, ४१०,  
४३३-४३५, ४३९, ४४५, ४५०, ४७७, ५१५,  
५२४-५२६, ५३०, ५३९, ५४८, ५५१, ५५२,  
५५४, ६०१, ६१३, ६२०, ६२८-६३०, ६३२,  
६४४, ६७५, ६७६, ६७९, ६८४, ६८५, ६९२,  
६९३, ७१२, ७१३, ७३०, ७३३, ७३५, ७३७,  
७९०, ७९२, ८११, ८३८-८४१, ८४६, ८५१

प्रमाणवा० अल० } प्रमाणवातिवालङ्कार [ भिक्षुरा  
प्रमाणवातिवाक्य० } हुलसाकृत्यायनसत्क लिखित ]  
११८, १२५, १२६, १३१, १३३, १६६, ४०८,  
४१०, ४१२, ४१९, ४३५, ४६०, ५२२, ५२८,  
५८२-५८७, ५९९, ६१८, ६२८, ६३४, ६७५,  
७७२-७७४, ७७८, ७७९.

प्रमाणवा० मनोरथ० } प्रमाणवातिकमनोरथनन्दिनी  
मनोरथ० } वृत्ति [ विहार उडीसा  
जर्नल ] ४०८, ४०९, ४१९, ४२२, ४३३, ४३९,  
४४९, ४७६, ४८०, ५२२, ५२५ ५२६, ५६६-  
५४८, ५५१, ५५२, ५५४, ६०१, ६१३, ६१४,  
६१९, ६२०, ६४६, ६७६, ६८४, ६९३, ६९४,  
७२६, ७३०, ७३५, ७३८, ८४० ७४१

प्रमाणवा० स्ववृ० टी०—प्रमाणवातिकस्ववृत्तिटीका  
[ भिक्षुराहुलसाकृत्यायनसत्क प्रफुल्लितम् ]  
६१२, ४१९, ४२३, ४२७, ४३९, ४४०, ४४४,  
४४९, ४५९, ४६८, ४७३, ४७४, ४७६, ४८०,  
४८७, ५२७, ५२८, ५३६, ५३९, ५४३,  
५४५-५४९, ५५१, ५५२, ५५४, ५५५, ५६४,  
५६६, ५७०, ६०३, ६०९, ६२०, ६६४, ६६५,  
६९४, ६९८, ७०३, ७०४, ७०६, ७०७, ७०९-  
७१२, ७२३, ७२६, ७२८, ७३०-७३२, ७३६,  
७३७, ७४९, ७५०, ७५५, ७५७ ७६५, ७७७,  
७७९.

प्रमाणस० } प्रमाणसमुच्चय [ मंगूर मूनि० सीरिज ]  
प्रमा०स० } २३, २४, ४६, ८२, १६६, २०५,  
५२२, ६७५, ६७९,

प्रमाणसमु० टी० } प्रमाणसमुच्चयटीका [ मंगूर  
प्रमाणस० टी० } मूनि० ] २३, ४६, ८०५

प्रमाणस०—प्रमाणसग्रह [ सिधी जैन सीरिज कलकत्ता ]  
३३९, ३७१, ४१०, ४२७, ४२६, ४४०, ६०३,  
६५६, ६८२, ६८४, ६९७.

प्रमाणस० टि०—प्रमाणसग्रहटिप्पणम् अकलङ्कप्रत्य-  
नयान्तर्गमम् [ मिथी सीरिज कलकत्ता ] ६८४,  
६९७.

प्रमेयक०—प्रमेयकमलमार्तण्डः [ निर्णयसागर बम्बई ]  
१, ५, १०, ११, २०, २३, २९, ३१, ३५,  
३६, ३८, ३९, ४१-४५, ४७, ६९, ५२, ५५,  
५८, ६०-६३, ६६, ६७, ६९, ७१, ७२, ७४,  
७७-८३, ८९-९१, ९३, ९४, ९७, ९८, १०१,  
१०४ १०६, १०७, १०९, ११२, ११३, १२१,  
१२३, १२४ १२५, १२७, १३०, १३१, १३३,  
१३०, १४०-१४३, १४५-१४७, १४९, १५३,  
१५५ १५७, १६२, १६४, १६६, १७१, १७२,  
१७६-१७८, १८३, १८६-१९०, १९३-१९६,  
१९८-२०२, २०५, २१६, २१७, २२४-२२७,  
२३३, २३९, २४२, २४३, २४६, २५०, २५१,  
२५६-२५९, २६१, २६३-२६८, २७१, २७२,  
२७६-२७८, २८०, २८१, २८५, २८८, २९३-  
२९५, २९७, २९८, ३००-३०८, ३३६, ३३८,  
३४१-३४९, ३५५, ३५७, ३५८, ३६४, ३६६,  
३६७, ३७०-३७२, ३७४, ३८२, ३८३-३८९,  
४०५, ४०७, ४०८, ४१०, ४११, ४१५-४१८,  
४२९, ४३१-४३३, ४३६, ४३८-४४३, ४५२,  
४५३, ४५७, ४५९, ४६४, ४६६, ४६८, ४७२-  
४७५, ४८९, ४९०, ४९३, ४९३, ४९८, ५०१,  
५०५, ५०८, ५१२, ५१३, ५१६, ५२०, ५२४,  
५२६, ५३८, ५४७-५४९ ५५१, ५५३, ५५४,  
५५७, ५५९-५६५, ५७०, ५७१, ६०६, ६१०,  
६१८, ६१९, ६२१, ६२२, ६३०, ६३२, ६३६,  
६३८, ६४०, ६५०, ६५७, ६५९, ६६२, ६६३,  
६७०, ६७१, ६७६, ६८६, ६९८, ६९९, ७०२,  
७०३, ७०६-७१५, ७१८, ७१९, ७२१, ७२३-  
७२६, ७४९-७५६, ७६२, ७६५, ७७०-७७५,  
७७८-७८१, ८०८-८१३, ८१६, ८१७, ८२४-  
८२७, ८२९, ८३० ८४०, ८४४, ८४५, ८४८-  
८५१, ८५५, ८५६, ८५८-८६५, ८७०, ८७२,  
८७५

प्रमेयक० टि०—प्रमेयकमलमार्तण्डटिप्पणम् [ निर्णय-  
सागर बम्बई ] ६९

प्रमेयरत्नको०—प्रमेयरत्नकोश [ जैनधर्मप्रसारकसभा  
भावनगर ] ४६४.

प्रमेयरत्नसा०—प्रमेयरत्नसागर [ १० फूलचन्द्रजी शारस्त्री  
अमरावती ] ९, २३, ८९, ९१, ९३, ९७, १०१,

बोधिनी-न्यायकुमुदाञ्जलिबोधिनी टीका [ सरस्वती-  
भवन काशी ] २

ब्रह्मविन्दूपनि०-ब्रह्मविन्दूपनिषत् [ निर्णयसागर  
बम्बई ] १३९

ब्रह्मसि०-ब्रह्मसिद्धिः [ मद्रास म० सीरिज ] १४९

ब्रह्मसू०-ब्रह्मसूत्रम् १६, १४७-१४९, ३४४, ८३१

ब्रह्मसू० भास्करभा०-ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्यम् [ चौ-  
खम्बा सीरिज काशी ] १४९.

ब्रह्मसू० शा० भा०-ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् [ निर्णय-  
सागर बम्बई ] १६, १७, ६०, १२४, १४७-  
१४९, १५५, २६१, २२८, ३०५, ३४२, ३४६,  
३५४, ३६०, ३८६, ७५२, ७५४, ८२५

ब्रह्मसू० शा० भा० आन०-ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यस्य  
आनन्दगिरिटीका [ निर्णयसागर ] १६८

ब्रह्मसू० शा० भा० भा०-शाङ्करभाष्यभामती  
शा० भा० भामती, भामती टीका [ निर्णयसागर ]

५४, ६०, ६२, ६३, ६८, १२२, १२४, १४७,  
३४१, ३४४, ३९०, ४२७, ६२८

ब्रह्मसू० शा० भा० रत्नप्रभा०-ब्रह्मसूत्रशाङ्करभा-  
ष्यस्य रत्नप्रभा टीका [ निर्णयसागर ] १६८

ब्रह्म०-ब्रह्मोपनिषत् [ निर्णयसागर बम्बई ] १४८

भगवतीसू०-भगवतीसूत्रम् [ आगमोदय समिति  
मूख ] ६३२, ६६९.

भगवद्गी०-भगवद्गीता [ आनन्दाश्रम पूना ] १४८,  
३५०, ३५२, ३५८, ८१३, ८१५

भगवद्गी० शा० भा०-भगवद्गीताशाङ्करभाष्यम्  
[ आनन्दाश्रम पूना ] ५५२

भावनावि०-भावनाविवेकः [ सरस्वतीभवन काशी ]  
५७७

भाष्यवि० टी०-भाष्यनाविवेकटीका ५७७

भाष्यपाठ०-भाष्यप्रामुख्यम् पट्टप्रामुख्यद्वयग्रहान्तर्गतम्  
[ मानिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई ] ५९

भावप्रका०-भावप्रकाशः [ बम्बई ] २७५, ४२५.

भाष्य०-भाष्यग्रह [ मानिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई ]  
८५९, ८६२, ८७१, ८७७

भाट्टवि०-भाट्टचिन्तामणि [ मद्रास ] ६९८, ६९९,  
७२०, ७५९, ७६१

भाट्टटी०-भाट्टटीका [ चौखम्बा काशी ] ७२१

भाट्टरह०-भाट्टरहस्यम् [ नाथचौवरम् ] ५९८.

मत्स्यपु०-मत्स्यपुराणम् [ आनन्दाश्रम पूना ] ७२६

मध्यान्तवि०-मध्यान्तविभागसूत्रम् [ विश्वभारती  
शान्तिनिकेतन ] ६६७

मध्यान्तवि० मू० टी०-मध्यान्तविभागसूत्रटीका १३१,  
१३३, ३९०, ३९२

मनुस्मृति [ निर्णयसागर बम्बई ] ५७५, ६३४  
७२२, ७३३

मनुस्मृ० भाष्य०-मनुस्मृतिसम्बन्धसूत्रावलीटीका  
[ निर्णयसागर बम्बई ] ७७५

महा भा० प्रदीप-महाभाष्यप्रदीपिका [ चौखम्बा  
काशी ] १९८, ७४६

महाभार०-महाभारतम् [ निर्णयसागर बम्बई ] ५६०.

महायानसू० } महायानसूत्रालङ्कारः [ पेरिस By

महायानसूत्राल० } सिल्वन लेवी ] १२२, ६८४,

महावि०-महाविद्याविडम्बनम् [ गायकवाड सीरिज  
काशी ] १००

सीरिज काशी ] २०

माध्यमिक ब० } माध्यमिककारिकावृत्ति [ विन्डो-  
माध्यमिकका० ] यिका बुद्धिका रशिया ] १०, २०,  
१३२, ३९०, ४८४, ६८४

मानमेयो०-मानमेयोदय [ यियोसिफिरुल सो०  
अड्यार ] ५७७, ५७९, ६६९, ६९७, ६९९, ७२३

मीमांसास्या०-मीमांसास्यायप्रकाश [ चौखम्बा  
काशी ] ५७७-५७९, ५८८, ५९२.

मी० परि०-मीमांसापरिभाषा [ चौखम्बा काशी ]  
५७७, ५७८

मीमांसाबाल०-मीमांसाबालप्रकाश [ चौखम्बा काशी ]  
५७७-५७९

मीमांसाभा०-मीमांसाभाष्यम् [ चौखम्बा काशी ]  
७२२.

मीमांसार्यप्र०-मीमांसार्यप्रकाश. [ चौखम्बा काशी ]  
५७७-५७९

मीमांसाद० } मीमांसासूत्रम् २५, १३९

मीमांसासूत्र० }

मी० इत्य०-मीमांसाश्लोकवार्तिकम् [ चौखम्बा  
काशी ] १६, १५, १७, १८, २०, ४२, ५१,  
५३, ८२, ८६, ९५, ९६, १०५, १०७-१०९,  
१२४, १३९, १४०, १४७, १५३, १५५, १६४,  
१९५-१९७, १९९, २०९, २४६, ३४३, ३४५,  
३६६, ३६९, ४०२, ४०७, ४१९, ४२२, ४२३,  
४२८, ४५२-४५४, ४५९, ४६३-४६८, ४९०,  
४९२, ४९३, ५०५, ५१६, ५२०, ५३२, ५३४,  
५३५, ५४०, ५४४, ५४५, ५५०, ५५३, ५५७,  
५६१-५६४, ५६६, ५७३, ५७५, ५७६, ५९३,  
५९४, ६०६, ६९७-७०३, ७०९, ७११, ७१३-  
७१६, ७१९, ७२१-७२५, ७३५, ७४१-७४३,  
७५१, ७५२, ७५६, ७६७, ७६८.

मीमांसाश्लो० काशिका-मीमांसाश्लोकवार्तिककाशि-  
कावृत्ति [ त्रिवेन्द्रम् ] १२६

मी० इत्य० टी० } मीमांसाश्लोकवार्तिकवृत्ति

मी० इत्य० व्याख्य० } राम्या टीका [ चौखम्बा  
सीरिज काशी ] २८, ८७, १३३, १६६, १७६,  
१९६, ४५३, ४६३, ४६४, ४६६, ४६७, ४९०,  
४९१, ५०६, ५०७, ५०९-५११, ५२०, ५४६,  
६६९, ६९३, ६९९, ७२१, ७३९, ७४१, ७४३,  
७५१, ७७०.

मुक्तावली-नारिकवली मुक्तावली [ निर्णयसागर  
बम्बई ] २५, ३६, ८२, १५९, ७७०, ४८२,  
४८३, ४९६, ५९८, ५९३, ७३८, ७५०, ८८७.

वाक्यप० पु० टी०—वाक्यपदीयस्ववृत्तिटीका [लाहौर]  
७५०.

वाक्यप० टी० } वाक्यपदीयपुष्कराजीया प्रका-  
वाक्यप० पु० टी० } दाख्या टीका [चौखम्बा सीरिज  
वाक्यप० प्र० } काशी ] १४०, ५५०, ५५३,  
५८०, ६४६, ७३९-७४१, ७४९, ७५७.

वाक्यायाम०—वाक्यायामातृकावृत्तिः प्रकरणपञ्चि-  
कान्तर्गता [ चौखम्बा काशी ] ५८१.

वाग्भट्टा० टी०—वाग्भट्टालङ्कारटीका [निर्णयमागर  
बम्बई] ७६४.

वाच०—वाचस्पत्यकोश [कलकत्ता] ६९३.

वाङ्मयाय [महाबोधि सोसाइटी सारनाय] ३२९,  
३३८, ३४०, ४३५, ४४५, ४६७, ६०२, ७३८,  
७६२, ७६५, ७६६.

वाङ्मयायटी०—वाङ्मयायटीका [महाबोधि सोसाइटी  
सारनाय] ४४२, ४६२, ६२३, ७६२.

विश्वस्तिमा० } विश्वस्तिमाविश्वस्तिमात्रता-  
विदा० विश्वस्तिमा० } सिद्धिः [By. सिस्वन  
केबी वेरिस] १२०, २१९, २३१, ६३२.

विधिषि०—विधिषिवेक [लाजरस प्रेस काशी] १०९,  
४३२, ४८०, ५७४, ५७७, ५८०, ५८७, ५८६,  
५८७-५९५.

विधि० वि० टी० } विधिषिवेकन्यायकणिकाटीका  
विधिषि० न्यायकणि० } [लाजरस प्रेस काशी] ११९,  
१२७, १२४, १३९, १८१, ४०९, ४८०, ५७४-  
५७६, ५८०, ५९०, ५९१, ५९४-५९६, ६६९.

विवरणप्र० } विवरणप्रमेयसंग्रह [विजयानगर  
वि० प्रमेयस० } सीरिज काशी] ६०, ६३, १२६,  
८०९, ८२८, ८३१, ८४८.

विशेषा० } विशेषावयवभाष्यम् [यशो०  
विशेषाव० भा० } ग्रन्थमाला काशी] २५-२७,  
११५, ६०६, ६०७, ६०९, ६१०, ६२२, ६२४,  
६३२, ६३६-६३८, ७९३, ७९९, ८००, ८०६,  
८०७, ८६८.

विशेषा० भा० ग्र०—विशेषावयवभाष्यवृहद्वृत्ति  
[यशो० ग्रन्थमाला काशी] १७३.

विश्वरूपप्र०—विश्वरूपप्रकाशकम् निमित्तम् [ग्यादाद  
विद्यालय काशी] ४६४, ८६६, ७२३.

वेदान्तपरि०—वेदान्तपरिभाषा [निर्णयमागर बम्बई]  
२४, २५.

वेदान्तसि०—वेदान्तमिथान्मन्त्रद्वयी [अक्युन ग्रन्थ  
माला काशी] ८३१, ८३२.

वेदार्थ०—वेदार्थसंग्रह [गङ्गानगर काशी] ५०७.

वे० उप० } वे०विषयसूत्रोपगार [चौखम्बा सीरिज  
उप० } काशी] २, ११, १६, २६, २८, ७६,  
७९, १३, १०९, १५६, २०९, ३०३, ३०६, ४१९,  
५००, ५०१, ५१५, ५१६, ७३१, ६६७, ७०९.

वे० पु० } वे०विषयसूत्रम् । ७६, २९, ३०, ३१, ७७,  
वे० प्र० } १३६, १३९, १५६, २१८, २१९.

२४१, २४२, २४६, २४७, २५१, २५७, २५८,  
२६८, २६९, २७२-२७४, २७८-२८०, २८२,  
२८३, २९४, ३०३, ३०४, ३४९, ३९९, ४०६,  
४६०, ४७२, ६३१, ६६७, ७२९, ७७६.

वे० सू० वि०—वे०विषयसूत्रविवृतिः [गुजराती प्रेस  
बम्बई] २४१.

वैयाकरणभू०—वैयाकरणभूषणम् [चौखम्बा काशी]  
५८८, ६९३, ७४६, ७५७, ७५८, ७६१.

वैयाकरणभू० व०—वैयाकरणभूषणवर्णनटीका [चौखम्बा  
काशी] ५७७, ५७९, ५८२.

व्या० प्रज्ञ० } व्याख्याप्रज्ञप्ति [आगमोदय समिति  
व्या० प्र० } मूरत] २५०, ३४०, ६०५.

व्युत्पत्तिवा० भा०—व्युत्पत्तिवाङ्मयाधारी टीका  
[निर्णयसागर बम्बई] ४८९.

शब्दकल्पद्रुम—कोश [कलकत्ता] ७४९.

शब्दकी०—शब्दकीस्तुभम् [चौखम्बा काशी] ७५८.

शब्दज्ञ०—शब्दज्ञानप्रकाशिका [चौखम्बा काशी]  
५६८, ५७३, ७३८.

शब्दार्णव०—शब्दार्णवचन्द्रिका [जैनसिद्धान्त प्रकाशनी  
संस्था कलकत्ता] ६१७, ७६६.

शाबरभा०—शाबरभाष्यम् [आनन्दाश्रम पुना] ४३,  
४४, ८२, १२४, १३९, १७५, १७६, १९७,  
२७९, ३४३, ४०६, ४३४, ४५४, ४६३, ४८९,  
५०५, ५१८, ५३५, ५३६, ५४४, ५४५, ५५१,  
५७४, ५७६, ५७८, ५९३, ५९४, ६९७, ६९९-  
७०२, ७२०-७२३, ७४२, ७५०, ७५७, ७५८,  
७७७, ८३१.

शाबरभा० प्रभाटी०—शाबरभाष्यप्रभाटीका [आनन्दा-  
श्रम पुना] १७५.

शास्त्रदी०—शास्त्रदीपिका मुद्रशीनाचार्यद्वयटीका-  
महिता । १६, २०, २४, ६२, ६९, ८६, १०६,  
१३९, १५५, १६४, १७२, १७६, २७९, ३६५,  
३६६, ४०६, ४६५, ४६६, ४८९, ४९१, ५०६,  
५१०, ५४५, ५४६, ५६६-५६८, ५७६, ५७७,  
५७९, ६८५, ६९८, ६९९, ७०१, ७०२, ७२१-  
७२३, ७२७, ७३५, ७४७, ७५७.

शास्त्रदी० युक्तिस्तेह० प्र० सि०—शास्त्रदीपिकायुक्ति-  
स्तेहप्रविणीमिथान्मन्त्रद्वयी [निर्णयमागर  
बम्बई] १६५, ६६२.

शास्त्रवार्ता० } शास्त्रवार्तामिथान्मन्त्रद्वयी [देवचन्द्र  
शास्त्रवा० } लखनौ मूरत] १८, ८९, ९७,  
शास्त्रवा० समु० } १०९, १२४, १४१, १५५, ३४३,  
३६५, ३८७, ५३६, ५३८, ५४०, ५४८, ५५३,  
५५४, ५६१, ७३१, ७३५.

शास्त्रवा० टी० } शास्त्रवार्तामिथान्मन्त्रद्वयी  
शास्त्रवा० यशो० } विजयानगर टीका [देव-  
शास्त्रवा० समु० टी० } चन्द्र लखनौ मूरत] ५२,  
६६, ८७, १०९, १२६, १३२, १३३, १४०,  
१६१, १६६, १६८, १८७, १९५, १९८, ५२८-

वाक्यप० वृ० टी०—वाक्यपदीयस्ववृत्तिटीका [लाहौर]  
७५०.

वाक्यप० टी० } वाक्यपदीयपुष्कराजीया प्रका-  
वाक्यप० पु० टी० } शास्त्रा टीका [चौखम्बा सीरिज  
वाक्यप० प्र० } काशी ] १८०, ५५०, ५५३,  
५८०, ६४६, ७३९-७४१, ७४९, ७५७.

वाक्यार्थमा०—वाक्यार्थमातृकावृत्तिः प्रकरणपञ्चि-  
कान्तर्गता [चौखम्बा काशी ] ५८१.

वाग्भट्टा० टी०—वाग्भट्टालङ्कारटीका [निर्णयनागर  
बम्बई ] ७६४.

वाच०—वाचस्पत्यकोश. [कलकत्ता ] ६९३.

वाचन्याय [महाबोधि सोसाइटी सारनाथ ] ३२९,  
३३८, ३४०, ४३५, ४४५, ४६२, ६०२, ७३८,  
७६२, ७६५, ७६६.

वादव्यायटी०—वादव्यायटीका [महाबोधि सोसाइटी  
सारनाथ ] ४४२, ४६२, ६२३, ७६२.

विश्लिप्तिमा० } विश्लिप्तकविश्लिप्तिमात्रता-  
विश० विश्लिप्तिमा० } सिद्धिः [ By. सिल्वन  
लेवी पेरिस ] १२०, २१९, २३१, ६३२.

विधिबि०—विधिविवेक [लाजरस प्रेस काशी ] १०९,  
४३२, ४८०, ५७४, ५७७, ५८०, ५८२, ५८६,  
५८७-५९५.

विधि० बि० टी० } विधिविवेकन्यायवर्णिकाटीका  
विधिबि० न्यायकणि० } [लाजरस प्रेस काशी ] ११९,  
१२२, १२४, १३९, १८१, ४०९, ४८०, ५७४-  
५७६, ५८०, ५९०, ५९१, ५९४-५९६, ६६९.

विवरणप्र० } विवरणप्रमेयसंग्रह [विजयानगर  
पि० प्रमेयसं० } सीरिज काशी ] ६०, ६३, १२४,  
८०९, ८२८, ८३१, ८४८.

विशेषा० } विशेषावश्यकभाष्यम् [यशो०  
विशेषाव० भा० } ग्रन्थमाला काशी ] २५-२७,  
११५, ६०६, ६०७, ६०९, ६१०, ६२२, ६२४,  
६३२, ६३६-६३८, ७९३, ७९९, ८००, ८०६,  
८०७, ८६८.

विशेषा० भा० बृह०—विशेषावश्यकभाष्यवृहद्वृत्ति  
[यशो० ग्रन्थमाला काशी ] १७३.

विद्वत्तत्त्वप्र०—विद्वत्तत्त्वप्रकाशकम् लिखितम् [स्याहाय  
विद्यालय काशी ] ४६४, ४६६, ७२३.

वेदान्तपरि०—वेदान्तपरिभाषा [निर्णयनागर बम्बई]  
२४, २५.

वेदान्तसि०—वेदान्तसिद्धान्तमञ्जरी [अच्युत ग्रन्थ-  
माला काशी ] ८३१, ८३२.

वेदार्थ०—वेदार्थसंग्रहः [पण्डितपत्र काशी ] ५९७.

वेदो० उप० } वेदोपिकमूनोपस्कार. [चौखम्बा सीरिज  
उप० } काशी ] २, ११, १६, २६, २८, ७६,  
७९, ९७, १०९, १५६, २७९, ३०३, ३०४, ४१९,  
५००, ५०१, ५१५, ५१६, ५३१, ६६७, ७२९.

वेदो० सू० } वेदोपिकमूनम् ७४, २५, ३०, ३१, ९७,  
वेदो० व० } १३६, १३९, १५६, २१४, २१५,

२४१, २४२, २४६, २४७, २५१, २५७, २५८,  
२६८, २६९, २७२-२७४, २७८-२८०, २८२,  
२८३, २९४, ३०३, ३०४, ३४९, ३९९, ४०६,  
४६०, ४७२, ६३१, ६६७, ७२९, ७७६.

वे० सू० बि०—वेदोपिकमूनविवृतिः [गुजराती प्रेस  
बम्बई ] २४१.

वेद्याकरणभू०—वेद्याकरणभूषणम् [चौखम्बा काशी ]  
५८८, ६९३, ७४६, ७५७, ७५८, ७६१.

वेद्याकरणभू० व०—वेद्याकरणभूषणदर्पणटीका [चौखम्बा  
काशी ] ५७७, ५७९, ५८२.

व्या० प्रज्ञ० } व्याख्याप्रज्ञप्ति. [आगमोदय समिति  
व्या० प्र० } मुरत ] २५०, ३४०, ६०५.

व्युत्पत्तिवा० सा०—व्युत्पत्तिवादाभाधारी टीका  
[निर्णयसागर बम्बई ] ४८९.

शब्दकल्पद्रुम.—कोशः [कलकत्ता ] ७४९.

शब्दकी०—शब्दकीस्तुभम् [चौखम्बा काशी ] ७५८.

शब्दश०—शब्दशक्तिप्रकाशिका [चौखम्बा काशी ]  
५६८, ५७३, ७३८.

शब्दान्वय०—शब्दान्वयशक्तिप्रकाशिका [जैनसिद्धान्त प्रकाशनी  
संस्था कलकत्ता ] ६१७, ७६६.

शाबरभा०—शाबरभाष्यम् [आनन्दाश्रम पूना ] ४३,  
४४, ८२, १२४, १३९, १७५, १७६, १९७,  
२७९, ३४३, ४०६, ४३४, ४५४, ४६३, ४८९,  
५०५, ५१८, ५३५, ५३६, ५४४, ५४५, ५५१,  
५७४, ५७६, ५७८, ५९३, ५९४, ६९७, ६९९-  
७०२, ७२०-७२३, ७४२, ७५०, ७५७, ७५८.

७७७, ८३१.

शाबरभा० प्रभाटी०—शाबरभाष्यप्रभाटीका [आनन्दा-  
श्रम पूना ] १७५.

शास्त्रदी०—शास्त्रदीपिका सुदर्शनाचार्यकृतटीका-  
सहिता । १६, २०, २४, ४२, ६९, ८६, १२४,  
१३९, १५५, १६४, १७२, १७६, २७९, ३६५,  
३६६, ४०६, ४६५, ४६६, ४८९, ४९१, ५०६,  
५१०, ५४५, ५४६, ५६६-५६८, ५७६, ५७७,  
५७९, ६८५, ६९८, ६९९, ७०१, ७०२, ७२१-  
७२३, ७२७, ७३५, ७४२, ७५७.

शास्त्रदी० युक्तिस्नेह० प्र० सि०—शास्त्रदीपिकायुक्ति-  
स्नेहप्रवरिणीसिद्धान्तचन्द्रिका [निर्णयनागर  
बम्बई ] १६५, ६६२.

शास्त्रवाता० } शास्त्रवार्तासमुच्चय [देवचन्द्र  
शास्त्रवा० } लालभाई मुरत ] १८, ८९, ९७,  
शास्त्रवा० समु० } १०९, १२४, १४१, १५५, ३४३,  
३६५, ३८७, ५३६, ५३८, ५४०, ५४८, ५५३,  
५५४, ५६१, ७३१, ७३५.

शास्त्रवा० टी० } शास्त्रवार्तासमुच्चयस्य यशो-  
शास्त्रवा० यशो० } विजयकृता टीका [देव-  
शास्त्रवा० समु० टी० } चन्द्र लालभाई मुरत ] ५२,  
६६, ८७, १०९, १२६, १३२, १३३, १४०,  
१४१, १४३, १४४, १४७, १५५, १६८, ५२४-

वाक्यप० पु० टी०—वाक्यपदीयस्ववृत्तिटीका [लाहौर] ७५०.

वाक्यप० टी० } वाक्यपदीयपुष्पराजीया प्रका-  
वाक्यप० पु० टी० } शास्त्रा टीका [चौखम्बा मीरज  
वाक्यप० प्र० } काशी ] १८०, ५५०, ५५३,  
५८०, ६४६, ७३९-७४१, ७४९, ७५७.

वाक्यार्थमा०—वाक्यार्थमातृकावृत्तिः प्रकरणपञ्च-  
कान्तर्गता [ चौखम्बा काशी ] ५८१.

वाग्भट्टा० टी०—वाग्भट्टालङ्कारटीका [निर्णयमागर  
बम्बई] ७६४.

वाच०—वाचस्पत्यकौश [ कलकत्ता ] ६९३.

वाद्यपद्यः [ महाबोधि सोसाइटी सारनाथ ] ३२९,  
३३८, ३४०, ४३५, ४४५, ४६२, ६०२, ७३८,  
७६२, ७६५, ७६६.

वाद्यन्यायटी०—वादन्यायटीका [ महाबोधि सोसाइटी  
सारनाथ ] ४४२, ४६२, ६२३, ७६२.

वित्तस्तिमा० } वित्तिकावित्तस्तिमात्रता-  
विश० वित्तस्तिमा० } सिद्धिः [ By. सिल्वन  
लेवी पेरिस ] १२०, २१९, २३१, ६३२.

विधिबि०—विधिबिबेकः [ लाजरस प्रेम काशी ] १०९,  
४३२, ४८०, ५७४, ५७७, ५८०, ५८७, ५८६,  
५८७-५९५.

विधि० बि० टी० } विधिबिबेकन्यायकणिकाटीका  
विधिबि० न्यायकणि० } [ लाजरस प्रेम काशी ] ११९,  
१२२, १२४, १३९, १८१, ४०२, ४८०, ५७४-  
५७६, ५८०, ५९०, ५९१, ५९४-५९६, ६६९.

विवरणप्र० } विवरणप्रमेयसमूह [ विजयानगर  
वि० प्रमेयसं० } सोरिज काशी ] ६०, ६३, १२४,  
८०९, ८२८, ८३१, ८४८.

विशेषा० } विशेषावश्यकभाष्यम् [ यशो०  
विशेषाव० भा० } ग्रन्थमाला काशी ] २५-२७,  
११५, ६०६, ६०७, ६०९, ६१०, ६२२, ६२४,  
६३२, ६३६-६३८, ७९३, ७९९, ८००, ८०६,  
८०७, ८६८.

विशया० भा० बृह०—विशेषावश्यकभाष्यबृहद्वृत्ति  
[ यशो० ग्रन्थमाला काशी ] १७३.

विश्वतत्त्वप्र०—विश्वतत्त्वप्रकाशकम् लिखितम् [ स्याद्व्यास  
विद्यालय काशी ] ४६४, ४६६, ७२३.

वेदान्तपरि०—वेदान्तपरिभाषा [ निर्णयमागर बम्बई]  
२४, २५.

वेदान्तसि०—वेदान्तमिदान्तमञ्जरी [ जयन्त ग्रन्थ-  
माला काशी ] ८३१, ८३२.

वेदार्थ०—वेदार्थसमूहः [ पण्डितपत्र काशी ] ५९७.

वेदो० उप० } वेदोपिकमूनोपम्कार [ चौखम्बा मीरज  
उप० } काशी ] २, ११, १६, २४, २८, ७६,  
७९, ९७, १०९, १५६, २७९, ३०३, ३०४, ४१९,  
५००, ५०१, ५१५, ५१६, ५३१, ६६७, ७२९.

वेदो० सू० } वेदोपिकमूनम्. ७४, २५, ३०, ३१, ९७,  
वेदो० ख० } १३६, १३९, १५६, २१४, २१५,

२४१, २४२, २४६, २४७, २५१, २५७, २५८,  
२६८, २६९, २७२-२७४, २७८-२८०, २८२,  
२८३, २९४, ३०३, ३०४, ३४९, ३९९, ४०६,  
४६०, ४७२, ६३१, ६६७, ७२९, ७७६.

वे० सू० बि०—वेदोपिकमूनविवृतिः [ गुजराती प्रेम  
बम्बई ] २४१.

वेद्याकरणभू०—वेद्याकरणभूषणम् [ चौखम्बा काशी ]  
५८८, ६९३, ७४६, ७५७, ७५८, ७६१.

वेद्याकरणभू० ख०—वेद्याकरणभूषणदर्पणटीका [ चौखम्बा  
काशी ] ५७७, ५७९, ५८२.

व्या० प्रज्ञ० } व्याख्याप्रज्ञप्ति. [ आगमोदय समिति  
व्या० प्र० } मुरत ] २५०, ३४०, ६०५.

व्युत्पत्तिवा० भा०—व्युत्पत्तिवादगादाधारी टीका  
[ निर्णयमागर बम्बई ] ४८९.

शब्दकल्पद्रुम—कोशः [ कलकत्ता ] ७४९.

शब्दकी०—शब्दकीस्तुभम् [ चौखम्बा काशी ] ७५८.

शब्दसं०—शब्दशब्दप्रकाशिका [ चौखम्बा काशी ]  
५६८, ५७३, ७३८.

शब्दार्णव०—शब्दार्णवचन्द्रिका [ जैनसिद्धान्त प्रकाशनी  
संस्था कलकत्ता ] ६१७, ७६६.

शाबरभा०—शाबरभाष्यम् [ आनन्दाश्रम पूना ] ४३,  
४४, ८२, १२४, १३९, १७५, १७६, १९७,  
२७९, ३४३, ४०६, ४३४, ४५४, ४६३, ४८९,  
५०५, ५१८, ५३५, ५३६, ५४४, ५४५, ५५१,  
५७४, ५७६, ५७८, ५९३, ५९४, ६९७, ६९९-  
७०२, ७२०-७२३, ७४२, ७५०, ७५७, ७५८.

७७७, ८३१.

शाबरभा० प्रभाटी०—शाबरभाष्यप्रभाटीका [ आनन्दा-  
श्रम पूना ] १७५.

शास्त्रदी०—शास्त्रदीपिका मुद्रशनाचार्यकृतटीका-  
सहिता । १६, २०, २४, ४२, ६०, ८६, १२४,  
१३९, १५५, १६४, १७२, १७६, २७९, ३६५,  
३६६, ४०६, ४६५, ४६६, ४८९, ४९१, ५०६,  
५०९, ५४५, ५४६, ५६६-५६८, ५७६, ५७७,  
५७९, ६८५, ६९८, ६९९, ७०१, ७०२, ७२१-  
७२३, ७२७, ७३५, ७४२, ७५७.

शास्त्रदी० युक्तिस्नेह० प्र० सि०—शास्त्रदीपिकायुक्ति-  
स्नेहप्रप्रणिशित्दान्तचन्द्रिका [ निर्णयमागर  
बम्बई ] १६५, ६६२.

शास्त्रवार्ता० } शास्त्रवार्तासमुच्चय. [ देवचन्द्र  
शास्त्रवा० } लालमार्ड मुरत ] १८, ८९, ९७,  
शास्त्रवा० समु० } १०९, १२४, १४१, १५५, ३४३,  
३५५, ३८७, ५३६, ५३८, ५४०, ५४८, ५५३,  
५५४, ५६२, ७३१, ७३५.

शास्त्रवा० टी० } शास्त्रवार्तासमुच्चयस्य यशो-  
शास्त्रवा० यशो० } विजयहृता टीका [ देव-  
शास्त्रवा० समु० टी० } चन्द्र लालमार्ड मुरत ] ५२,  
६६, ८७, १०९, १२६, १३२, १३३, १४०,  
१८१, १४६, १४८, १४७, १५५, १६८, ५४४-

साक्ष्यद०-साक्ष्यदर्शनम् [ चौखम्बा काशी ] २४, २५, ८२.  
 साक्ष्यस०-साक्ष्यसग्रह [ चौखम्बा सीरिज काशी ] ११०, १८९.  
 साक्ष्यप्र० भा० } साक्ष्यप्रवचनभाष्यम् [ चौखम्बा  
 साक्ष्यप्र० { सीरिज काशी ] २६, ४०, १८९, १९०, ८१६.  
 साक्ष्यमू०-साक्ष्यमूत्रम् [ कलकत्ता ] ३५२, ४३४, ८१२.  
 साक्ष्यसूत्रवि०-साक्ष्यसूत्रविवरणम् [ चौखम्बा काशी ] ६२७  
 सा० ब०-साहित्यदर्पणम् [ निर्णयसागर बम्बई ] ५६८, ५७०, ७३८  
 सायणभा०-सायणभाष्यम् पुरुषसूक्तस्य [ धानन्दा-  
 धर्म पूना ] ७७०.  
 सि० चन्द्रोद्यम-सिद्धान्तचन्द्रोदयः न्यायकोश समुद्धृत  
 २४  
 सिद्धान्तवि०-सिद्धान्तविन्दुः [ चौखम्बा काशी ] ८३१, ८३२.  
 सिद्धान्तले०-सिद्धान्तलेशसग्रह [ चौखम्बा काशी ] ८३१  
 सिद्धिबि०-सिद्धिविनिश्चय सिद्धिविनिश्चयटीकात  
 समुद्धृतः [ मन्पादकमत्क ] ६६, ४०३, ४२७, ४६८, ५२२, ५२४, ५२५, ५२७, ५९९, ६००, ६०५, ६०६, ६१४, ६१६, ६५६, ६७६, ६८२, ६९२, ६९३, ७०८, ७०९, ७१९, ७३०, ७३३, ७९९, ८००, ८०१, ८०४  
 सिद्धिबि० टी०-सिद्धिविनिश्चयटीका [ प० मुखलाल  
 सत्का ] ५, ६, ११, १८, २०, २३, २४, २६, ४०, ४६, ५१, ५३, ९७, १२६, १२८, १३१-१३३, १५५, १६६, २०९, ३४९, ३८८, ४०२, ४०३, ४१०, ४२७, ४३२, ४५९, ४६४, ५०४, ५२२, ५२४-५२७, ५३४, ५३७, ५५१, ५५६, ६०५-६०७, ६१८, ६१९, ६२८, ६३०, ६३३, ६३६, ६४०, ६५६, ६६५, ६७६, ६७६, ६७८, ६८२, ६८५, ६८६, ६९२, ६९३, ६९५, ७०८, ७०९, ७२३, ७३०, ७३३, ७९९-८०१  
 सिद्धि० } सिद्धिहेमव्याकरणस्य बृहद्भूति  
 हंसश० बृह० } [ अहमदाबाद ] ४, ७६०  
 सुभाषितरत्नमालासागर [ निर्णयसागर बम्बई ] ८४६  
 मृधुत०-मृधुतसहिता [ निर्णयसागर बम्बई ] २७५, ३१०  
 सूत्रक० नि०-सूत्राकृताङ्गनियुक्ति [ आहतप्रभाकर  
 कार्यालय पूना ] ८५६  
 सूत्रक० टी० } सूत्रशृतागशीकाट्टीका [ आगमो-  
 सूत्रकृतागशी० } दय समिति मुरत ] ६०३, ६०४, ७९३, ८५२-८५४  
 सूत्रशा०-सूत्रग्रामृतम् षट्प्राश्नादिग्रहान्तर्गतम्  
 [ मा० प० बम्बई ] ८७२.  
 सोन्दरनन्द०-सोन्दरनन्दमहाकाव्यम् [ पञ्जाब यूनि०  
 सीरिज ] ८२९

स्त्रीमू०-स्त्रीमूत्रप्रकरणम् जैनसाहित्यसोपकपत्रे  
 मुद्रितम् [ अमदाबाद ] ८६५-८७०, ८७६.  
 स्थानाग० } स्थानाङ्गसूत्रम् [ आगमोदय समिति  
 स्था० { मुरत ] ६०५, ७८२.  
 स्थानागसू० टी०-स्थानाङ्गसूत्रटीका [ आगमोदय  
 समिति मुरत ] ६२२  
 स्पन्दका० व्या०-स्पन्दकारिवाक्याख्या [ काश्मीर-  
 सीरिज ] १४०.  
 स्प० र०-स्पन्दरत्नम् [ काश्मीर सीरिज ] ७३४.  
 स्फुटार्थ० अभि०-स्फुटार्था अभिधर्मकोशव्याख्या  
 [ विन्लोपिका बुद्धिका रशिया ] ८१, ८२, ८६, १८२, २५०, २७२, ३९०  
 स्फोटसि०-स्फोटसिद्धि [ मद्रास यूनि० ] ७४५-७५०  
 स्फोटसि० टी०-स्फोटसिद्धिटीका [ मद्रास यूनि० ] ४०९, ७४९-७५०.  
 स्फोट० भा० } स्फोटसिद्धि भारतमिथुहता  
 स्फोटसि० भा० { [ त्रिवन्ध्रम् ] ७४५, ७४७, ७४८.  
 स्फोट० ग्या०-स्फोटसिद्धिन्यायविचार [ त्रिवन्ध्रम् ] ७४५-७४८  
 स्फोटच०-स्फोटचन्द्रिका स्फोटसिद्धिपरिशिष्टे उद्धृता  
 ७५५  
 स्फोटतत्त्व } स्फोटतत्त्वम् स्फोटसिद्धिपरिशिष्टे समु  
 स्फोटत० } द्रुतम् ७४५, ७५०.  
 स्वा० म०-स्वाहादमञ्जरी [ रायचन्द्र शास्त्रमाला  
 बम्बई, त्रितीय सं० ] ४, १९, २३, १२४, १३३, १३९, १४०, १४४, १४७, १४९, १५५, १६६, १६७, १७२, १८६, १८७, १८९, २६६-२६८, २८८, ३००, ३५८, ३७१, ५३७, ५४०, ५५१, ६०६, ६१०, ६२२, ६३७, ६३६, ६३८, ६४०, ६७०, ६९२, ७७०, ८२६-८२८, ८३०.  
 स्वा० रत्नाकर० } स्वाहादरत्नाकर [ आहतप्रभाकर  
 स्वा० रत्ना० } कार्यालय पूना ] ७, ९, १०, १३-१५, १७-२०, २३, २९, ३१, ३४-४१, ४४, ४९, ५२, ५४-७४, ७७, ७८, ८०-८७, ८९-९१, ९४, ९७, १०५, १०७, १०९, १११-११४, १२१, १२३-१३५, १३७, १३९-१४३, १४५-१४७, १४९, १५३, १५५-१५९, १६२, १६६, १६५, १६७, १७२, १७३, १७६, १७८, १८२-१८५, १८७-१९१, १९३, १९५, १९६, १९८, १९९, २०१, २०५, २१६, २१७, २२४, २२७, २३४, २३७, २४६, २४८, २५०, २५१, २५३, २५८, २५९, २६१, २६३, २६४, २६८, २७०, २७६-२७८, २८१, २८५-२८८, २९३, २९४, २९८, २९९, ३०३, ३०५-३०८, ३३५-३३७, ३४१, ३४५, ३५४, ३५८, ३६१, ३६२, ३६४, ३७१, ३८५, ३८६, ४०८, ४०७-४११, ४१४-४१८, ४२०, ४२२, ४२४-४२६, ४२९-४३२, ४३६-४४१, ४४३, ४४६-४४८, ४५५-४५९, ४६१, ४६४, ४६६-४६८, ४८८, ४७०, ४७२-



साहयद०-साहयदशंनम् [ चौलम्बा काणी ] २४, २५,  
८२.

साहयस०-साहयसह [ चौलम्बा मोरिज काणी ]  
११०, १८९.

साहयप्र० भा० } साहयप्रवचनमाध्यम् [ चौलम्बा  
साहयप्र० } मोरिज काणी ] २६, ४०, १८९,  
१९०, ८१६.

साहयसू०-साहयसूत्रम् [ कलकत्ता ] ३५२, ४३४,  
८१२.

साहयसूत्रवि०-साहयसूत्रविवरणम् [ चौलम्बा काणी ]  
६२७

सा० द०-माहिषदशंनम् [ निर्णयसागर बम्बई ]  
५६८, ५७०, ७३८

सायणभा०-सायणभाष्यम् पुरुषसूक्तस्य [ छानन्दा-  
श्रम पूना ] ७७०.

सि० चन्द्रोदय-सिद्धान्तचन्द्रोदयः न्यायकोशे समुद्धृत  
२४

सिद्धान्तवि०-सिद्धान्तविन्दु [ चौलम्बा काणी ] ८३१,  
८३२.

सिद्धान्तले०-सिद्धान्तलेशसंग्रह [ चौलम्बा काणी ]  
८३१

सिद्धि०-सिद्धिविनिश्चय मिद्धिविनिश्चयटीकात  
समुद्धृत [ मम्पादकसत्त्व ] ६६, ४०३, ४२७,  
४६८, ५२२, ५२४, ५२५, ५२७, ५९९, ६००,  
६०५, ६०६, ६१४, ६१६, ६५६, ६७६, ६८२,  
६९२, ६९३, ७०८, ७०९, ७१९, ७३०, ७९३,  
७९९, ८००, ८०१, ८०४

सिद्धि० टी०-सिद्धिविनिश्चयटीका [ प० मुखलाल  
सत्का ] ५, ६, ११, १८, २०, २३, २४, २६, ४०,  
४६, ५१, ५३, ९७, १२६, १२९, १३१-१३३,  
१५५, १६६, २०९, ३४९, ३८८, ४०२, ४०३,  
४१०, ४२७, ४३२, ४५९, ४६४, ५०४, ५२२,  
५२५-५२७, ५३४, ५३७, ५५१, ५५६, ६०५-  
६०७, ६१८, ६१९, ६२८, ६३०, ६३३, ६३६,  
६४०, ६५६, ६६५, ६७४, ६७६, ६७८, ६८२,  
६८५, ६८६, ६९२, ६९३, ६९५, ७०८, ७०९,  
७२३, ७३०, ७९३, ७९९-८०१

सिद्धहे० } सिद्धहेमव्याकरणस्य बृहद्भूति  
हमश० बृह० } [ अहमदाबाद ] ४, ७६०

सुभाषितरत्नभाषासागर [ निर्णयसागर बम्बई ] ८४६

सुधुत०-सुधुतसहिता [ निर्णयसागर बम्बई ] २७५, ३१०

सूत्रकृ० ति०-सूत्राकृताङ्गनिर्मुक्ति [ आर्हतप्रभाकर  
कार्यालय पूना ] ८५६

सूत्रकृ० शी० } सूत्रकृतागशीलाङ्कटीका [ प्रागमो-  
सूत्रकृतागशी० } दय समिति मूरत ] ६०३, ६०४,  
सूत्रकृतागशी० } ७९३, ८५२-८५६

सूत्रप्रा०-सूत्रप्राभूतम पटप्राभूतादिमयहान्नयनम्  
[ मा० प्र० बम्बई ] ८७२.

सौन्दरनन्द०-सौन्दरनन्दमहाकाव्यम् [ पञ्जाब यूनि०  
सीरिज ] ८२९

स्त्रीम०-स्त्रीमन्त्रप्रकरणम् त्रैलोक्याभ्यासनीधनपत्रे  
मुद्रितम् [ अमदाबाद ] ८६५-८७०, ८७६.

स्यानीय० } स्यानाङ्गसूत्रम् [ आगमोदय समिति  
स्या० } मूरत ] ६०५, ७८२.

स्यानीयसू० टी०-स्यानाङ्गसूत्रटीका [ आगमोदय  
समिति मूरत ] ६२०

स्पन्दका० स्या०-स्पन्दकारिकाव्याख्या [ बादमीर-  
मोरिज ] १४०.

स्प० र०-स्पन्दरत्नम् [ बादमीर सीरिज ] ७३४.

स्फुटार्थ० अभि०-स्फुटार्था अभिधर्मकोशव्याख्या  
[ विष्णोपिना बुद्धिका रागिया ] ८१, ८२, ८६,  
१८२, २५०, २७२, ३९०

स्फोटसि०-स्फोटसिद्धि [ मद्रास यूनि० ] ७६५-७५०

स्फोटसि० टी०-स्फोटसिद्धिटीका [ मद्रास यूनि० ]  
४०९, ७४९-७५०.

स्फोट० भा० } स्फोटसिद्धि भारतमित्रवृत्ता  
स्फोटसि० भा० } [ त्रिवेन्द्रम् ] ७६५, ७४७,  
७४८.

स्फोट० स्या०-स्फोटसिद्धिन्यायविचार [ त्रिवेन्द्रम् ]  
७४५-७४८

स्फोटच०-स्फोटचन्द्रिका स्फोटसिद्धिपरिशिष्टे उद्धृता  
७५५.

स्फोटतत्त्व } स्फोटतत्त्वम् स्फोटसिद्धिपरिशिष्टे समु  
स्फोटस० } द्रुतम् ७५५, ७५०

स्या० म०-स्यादादमन्त्रगी [ रायचन्द्र शास्त्रमाला  
बम्बई, द्वितीय स० ] ४, १९, २३, १२४, १३३,  
१३९, १४०, १४४, १४७, १४९, १५५, १६६,  
१६७, १७२, १८६, १८७, १८९, २६६-२६८,  
२८८, ३००, ३५५, ३७१, ५३७, ५४०, ५५१,  
६०६, ६१०, ६२२, ६३२, ६३६, ६३८, ६४०,  
६७०, ६९२, ७७०, ८२६-८२८, ८३०.

स्या० रत्नाकर० } स्यादादमन्त्रगी [ आर्हतप्रभाकर  
स्या० रत्ना० } कार्यालयपूना ] ७, ९, १०,

१३-१५, १७-२०, २३, २९, ३१, ३४-४१,  
४४, ४९, ५२, ५४-७४, ७७, ७८, ८०-८७, ८९-  
९१, ९४, ९७, १०५, १०७, १०९, १११-११४,  
१२१, १२३-१३५, १३७, १३९-१४३, १४५-  
१४७, १४९, १५३, १५५-१५९, १६२, १६६,  
१६५, १६७, १७२, १७३, १७६, १७८, १८२-  
१८५, १८७-१९१, १९३, १९४, १९६, १९८,  
१९९, २०२, २०५, २१६, २१७, २२४, २२७,  
२३४, २३७, २४६, २४८, २५०, २५१, २५३,  
२५६, २५९, २६१, २६३, २६४, २६८, २७०,  
२७६-२७८, २८१, २८५-२८८, २९३, २९४,  
२९८, २९९, ३०३, ३०५-३०८, ३३५-३३७,  
३४१, ३४५, ३५४, ३५८, ३६१, ३६२, ३६४,  
३७१, ३८४, ३८५, ३८८, ४०७-४११, ४१४-  
४१८, ४२०, ४२२, ४२४-४२६, ४२९-४३२,  
४३६-४४१, ४४३, ४४६-४४८, ४५५-४५९,  
४६१, ४६४, ४६६-४६८, ४६८, ४७०, ४७२-

साह्यद०—साह्यदर्शनम् [ चौखम्बा काशी ] २४, २५,  
८२.

साह्यस०—साह्यसग्रह. [ चौखम्बा मीरज काशी ]  
११०, १८९.

साह्यप्र० भा० } साह्यप्रवचनभाष्यम् [ चौखम्बा  
साह्यप्र० } सीरिज काशी ] २६, ४०, १८९,  
१९०, ८१६.

साह्यसू०—साह्यसूत्रम् [ कलकत्ता ] ३५२, ४३४,  
८१२.

साह्यसूत्रवि०—साह्यसूत्रविवरणम् [ चौखम्बा काशी ]  
६२७

सा० द०—साहित्यदर्पणम् [ निर्णयसागर बम्बई ]  
५६८, ५७०, ७३८

सायणभा०—सायणभाष्यम् पुरुषसूक्तम् [ आनन्दा-  
श्रम पूना ] ७७०.

सि० चन्द्रोदय—सिद्धान्तचन्द्रोदय. न्यायकोशे समुद्धृत  
२४

सिद्धान्तवि०—सिद्धान्तविन्दुः [ चौखम्बा काशी ] ८३१,  
८३२.

सिद्धान्तले०—सिद्धान्तलेखसग्रह [ चौखम्बा काशी ]  
८३१.

सिद्धिबि०—सिद्धिविनिश्चय सिद्धिविनिश्चयटीकात  
समुद्धृतः [ मय्यादकसत्क ] ६६, ४०३, ४२७,  
४६८, ५२२, ५२४, ५२५, ५२७, ५९९, ६००,  
६०५, ६०६, ६१४, ६१६, ६५६, ६७६, ६८२,  
६९२, ६९३, ७०८ ७०९, ७१९, ७३०, ७९३,  
७९९, ८००, ८०१, ८०४.

सिद्धिबि० टी०—सिद्धिविनिश्चयटीका [ प० मुखलाल  
सत्का ] ५, ६, ११, १८, २०, २३, २४, २६ ४०,  
४६, ५१, ५३, ९७, १२६, १२९, १३१-१३३,  
१५५, १६६, २०९, ३०९, ३८८, ४०२, ४०३,  
४१०, ४२७, ४३२, ४५९, ४६६, ५०६, ५२२,  
५२५-५२७, ५३४, ५३७, ५५१, ५५६, ६०५-  
६०७, ६१८, ६१९, ६२८, ६३०, ६३३, ६३६,  
६६०, ६५६, ६६५, ६७६, ६७६, ६७८, ६८२,  
६८५, ६८६, ६९२, ६९३, ६९५, ७०८, ७०९,  
७२३, ७३०, ७९३, ७९९-८०१.

सिद्धिह० } सिद्धिहेमव्याकरणस्य बृहद्वृत्ति

... ] ८४६

... ५, ३१०

... प्रभाकर

कार्यालय पूना ] ८५६.

सूत्रक० टी० } सूत्रकृतामशौलाश्रुटीका [ आगमो-  
सूत्रकृतामशौ० } दय समिति मुरत ] ६०३, ६०४,  
सूत्रकृतामशौ० } ७९३, ८५२-८५४

सूत्रभा०—सूत्रभाष्यम् पटभाष्यतादिसमग्रहान्तर्गतम्  
[ मा० प्र० बम्बई ] ८७२.

सौन्दर्यन०—सौन्दर्यनन्दनहाकाव्यम् [ पञ्जाब यूनि०  
सीरिज ] ८२९

स्त्रीमु०—स्त्रीमक्तिप्रकरणम् जैनसाहित्यसंशोधकपत्रे  
मुद्रितम् [ अमदावाद ] ८६५-८७०, ८७४.

स्यानाग० } स्यानाङ्गसूत्रम् [ आगमोदय समिति  
स्या० } मुरत ] ६०५, ७८२.

स्यानागसू० } टी०—स्यानाङ्गसूत्रटीका [ आगमोदय  
समिति मुरत ] ६२२

स्पन्दका० व्या०—स्पन्दकारिकाव्याख्या [ काश्मीर-  
सीरिज ] १४०.

स्प० र०—स्पन्दरत्नम् [ काश्मीर सीरिज ] ७३४.

स्फुटार्प० अभि०—स्फुटार्था अभिधर्मकोशव्याख्या  
[ बिल्लोथिका बुद्धिका रागिया ] ८१, ८२, ८६,  
१८२, २५०, २७२, ३९०

स्फोटसि०—स्फोटसिद्धि [ मद्रास यूनि० ] ७६५-७५०

स्फोटसि० टी०—स्फोटसिद्धिटीका [ मद्रास यूनि० ]  
४०९, ७४९-७५०.

स्फोट० भा० } स्फोटसिद्धि भारतमित्रकृता  
स्फोटसि० भा० } [ त्रिवेन्द्रम् ] ७६५, ७७७,  
७४८.

स्फोट० ग्या०—स्फोटसिद्धिग्यायविचार [ त्रिवेन्द्रम् ]  
७४५-७४८

स्फोटच०—स्फोटचन्द्रिका स्फोटसिद्धिपरिशिष्टे उद्धृता  
७६५.

स्फोटतत्त्व } स्फोटतत्त्वम् स्फोटसिद्धिपरिशिष्टे समु  
स्फोटत० } द्रुतम् ७६५, ७५०.

स्या० स०—स्याद्वादमञ्जरी [ रायचन्द्र शास्त्रमाला  
बम्बई, द्वितीय स० ] ४, १९, २३, १२४, १३३,  
१३९, १४०, १४४, १४७, १६९, १५५, १६६,  
१६७, १७२, १८६, १८७, १८९, २६६-२६८,  
२८८, ३००, ३५८, ३७१, ५३७, ५४०, ५५१,  
६०६, ६१०, ६२२, ६३७, ६३६, ६३८, ६४०,  
६७०, ६९२, ७७०, ८२६-८२८, ८३०.

स्या० रत्नाकर० } स्याद्वादरत्नाकर [ आर्हत्प्रभाकर  
ग्या० रत्ना० } कार्यालयपूना ] ७, ९, १०,

१३-१५, १७-२०, २३, २९, ३१, ३४-६१,

४४, ४९, ५२, ५४-७४, ७७, ७८, ८०-८७८९-

९१, ९४, ९७, १०५, १०७, १०९, १११-११४,

१२१, १२३-१३५, १३७, १३९-१४३, १६५-

१४७, १४९, १५३, १५५-१५९, १६२, १६६,

१६५, १६७, १७२, १७३, १७६, १७८ १८२-

१८५, १८७-१९१, १९३, १९४, १९६, १९८,

१९९, २०१, २०५, २१६, २१७, २२४, २२७,

२३४, २३७, २४६, २४८, २५०, २५१, २५३,

२५८, २५९, २६१, २६३, २६४, २६८, २७०,

२७६-२७८, २८१, २८५-२८८, २९३, २९४,

२९८, २९९, ३०३, ३०५-३०८, ३३५-३३७,

३४१, ३४५, ३५४, ३५८, ३६१, ३६२, ३६४,

३७१, ३८४, ३८५, ३८८, ४०७-४११, ४१४-

४१८, ४२०, ४२३, ४२४-४२६, ४२९-४३२,

४३६-४४१, ४४३, ४४४-४४८, ४५५-४५९,

४६१, ४६४, ४६६-४६७, ४६८, ४७०, ४७२-

साह्यप्र०—साह्यप्रदर्शनम् [ चौलम्बा काशी ] २४, २५, ८२.

साह्यप्र०—पारथम्यग्रह. [ चौलम्बा सीरिज काशी ] ११०, १८९.

साह्यप्र० भा०—साह्यप्रवचनभाष्यम् [ चौलम्बा साह्यप्र० ] सीरिज काशी ] २४, ४०, १८९, १९०, ८१६.

साह्यप्र०—साह्यप्रवचनम् [ कलकत्ता ] ३५२, ४३४, ८१२.

साह्यप्रवचनम्—साह्यप्रवचनम् [ चौलम्बा काशी ] ६२७

सा० द०—साहित्यदर्पणम् [ निर्णयसागर बम्बई ] ५६८, ५७०, ७३८

सायणभा०—सायणभाष्यम् पुरुषसूक्तम् [ आनन्द-श्रम पूना ] ७७०.

सि० चन्द्रोदय—सिद्धान्तचन्द्रोदयः न्यायकोशे समुद्धृत २४

सिद्धान्तवि०—सिद्धान्तविष्णुः [ चौलम्बा काशी ] ८३१, ८३२.

सिद्धान्तले०—सिद्धान्तशेखरग्रह [ चौलम्बा काशी ] ८३१

सिद्धि०—सिद्धिविनिश्चय सिद्धिविनिश्चयटीकात समुद्धृतः [ सम्पादकसक ] ६६, ४०३, ४२७, ४६८, ५२२, ५२४, ५२५, ५२७, ५९९ ६००, ६०५, ६०६ ६१४, ६१६, ६५६, ६७६, ६८२, ६९२, ६९३, ७०८ ७०९, ७१९, ७३०, ७९३, ७९९, ८००, ८०१, ८०४

सिद्धि० टो०—सिद्धिविनिश्चयटीका [ प० मुवलाल सत्का ] ५, ६, ११, १८, २०, २३, २४, २६ ४०, ४६, ५१, ५३, ९७, १२६, १२९, १३१-१३३, १५५, १६६, २०९, ३४४, ३८८, ४०२, ४०३, ४१०, ४२७, ४३२, ४५९ ४६४, ५०४, ५२२, ५२५-५२७, ५३४, ५३७, ५५१, ५५६, ६०५-६०७, ६१८, ६१९, ६२८, ६३०, ६३३, ६३६, ६४०, ६५६, ६६५, ६७४, ६७६, ६७८, ६८२, ६८५, ६८६, ६९२ ६९३, ६९४, ७०८, ७०९, ७२३, ७३०, ७९३, ७९९-८०१

सिद्धहे०—सिद्धहेमव्याकरणस्य बृहद्वृत्ति ह्रमश० बृह० [ अहमदाबाद ] ४, ७६०

सुभाषितरत्नभाण्डागार [ निर्णयसागर बम्बई ] ८४६

सुधुत०—सुधुतसहिता [ निर्णयसागर बम्बई ] २७५, ३१०

सूत्रक०—सूत्राष्टाङ्गसिद्धिः [ आहृत्यभाकर कार्यालय पूना ] ८५६

सूत्रक० शो०—सूत्रकृतायगीताष्टुटीका [ आगमो-सूत्रकृतायगी० ] दय समिति मूरत ] ६०३ ६-४,

सूत्रकृतायगी० ] ७९३, ८५२-८५४

सूत्रप्र०—सूत्रप्रामुक्तम् पञ्चमप्रवृत्तिप्रवृत्तार्गणम् [ मा० य० बम्बई ] ८७२.

सीधरनन्द०—सीधरनन्दप्रवृत्तिकाव्यम् [ पञ्चाव यूनि० सीरिज ] ८२९

स्त्रीम०—स्त्रीमन्त्रिप्रकरणम् जैनसाहित्यमनोधकपत्रे मुद्रितम् [ अमदाबाद ] ८६५-८७०, ८७४.

स्थानांग०—स्थानाङ्गसूत्रम् [ आगमोदय समिति स्थानांग० ] मूरत ] ६०५, ७८२

स्थानांगसू० टो०—स्थानाङ्गसूत्रटीका [ आगमोदय समिति मूरत ] ६२२

स्वतन्त्रका०—स्वतन्त्रकारिकाव्याख्या [ काश्मीर-सीरिज ] १४०.

स्व० २०—स्वतन्त्रत्वम् [ काश्मीर सीरिज ] ७३४.

स्फुटार्थ०—अभि०—स्फुटार्था अभिप्रमर्शोक्तव्याख्या [ विज्ञोषिका वृद्धिका रत्निपा ] ८१, ८२, ८६, १८२, २५०, २७२, ३९०

स्फोटसि०—स्फोटसिद्धि [ मद्रास यूनि० ] ७६५-७५०

स्फोटसि० टो०—स्फोटसिद्धिटीका [ मद्रास यूनि० ] ४०९, ७४९-७५०.

स्फोट० भा०—स्फोटसिद्धि भारतमिश्रवृत्ता

स्फोटसि० भा०—[ त्रिवेन्द्रम् ] ७६५, ७४७, ७४८

स्फोट० ग्या०—स्फोटसिद्धिग्यावविचार [ त्रिवेन्द्रम् ] ७४५-७४८

स्फोटच०—स्फोटचन्द्रिका स्फोटसिद्धिपरिशिष्टे उद्धृता ७४५

स्फोटतत्त्व०—स्फोटतत्त्वम् स्फोटसिद्धिपरिशिष्टे समुद्धृतम् ७६५, ७५०.

स्वा० म०—स्वाङ्गादमन्त्रजनी [ रामचन्द्र वास्तवमाला बम्बई, द्वितीय स० ] ४, १९, २३, १२४, १३३, १३९, १४०, १४४, १४७, १४९, १५५, १६६, १६७, १७२, १८६, १८७, १८९, २६६-२६८, २८८, ३००, ३५८, ३७१, ५३७, ५४०, ५५१, ६०६, ६१०, ६२२, ६३०, ६३६, ६३८, ६४०, ६७०, ६९२, ७७०, ८२६-८२८, ८३०.

स्वा० रत्नाकर०—स्वाङ्गादरत्नाकर [ आहृत्यभाकर ग्या० रत्ना० ] कार्यालयपूना ] ७, ९, १०, १३-१५, १७-२०, २३, २९, ३१, ३४-४१, ४४, ४९, ५२, ५४-७४, ७७, ७८, ८०-८७, ८९, ९४, ९७, १०५, १०७, १०९, १११-११४, १२१, १२३-१३५, १३७, १३९-१४३, १४५-१४७, १४९, १५३, १५५-१५९, १६२, १६६, १६५, १६७, १७२, १७३, १७६, १७८ १८२-१८५ १८७-१९१, १९३, १९४, १९६, १९८, १९९, २०१, २०५, २१६, २१७, २२४, २२७, २३४, २३७, २४६, २४८, २५०, २५१, २५३, २५८, २५९, २६१, २६३, २६४, २६८, २७०, २७६-२७८, २८१, २८५-२८८, २९३, २९४, २९८, २९९, ३०३, ३०५-३०८, ३३५-३३७, ३४१ ३४५ ३५४, ३५८, ३६१, ३६२, ३६४, ३७१, ३८४ ३८५ ३८८, ४०७-४११, ४१४-४१८, ४२०, ४२२, ४२४-४२६, ४२९-४३२, ४३६-४४१, ४४३, ४४६-४४८, ४५५-४५९, ४६१ ४६४, ४६६-४६७, ४६८, ४७०, ४७२-

४७५, ४८५ ४८९, ४९०, ४९२, ४९८, ५००,  
५०४, ५०५ ५०८, ५१२, ५१३, ५१५-५१७,  
५२०, ५२४, ५२६, ५३२-५३४, ५३७-५४२,  
५४५, ५४६, ५५३, ५५४, ५६५ ६२०, ६४०,  
६५७, ६६९-६७३, ६८५ ६९२ ६९८-७१८  
७२३-७४२, ७४९ ७५०, ७५३, ७५५, ७७०-  
७७५, ७७७-७७९ ८०८, ८१०-८१२ ८१४  
८२५, ८३३-८३५, ८४१, ८४२ ८४४, ८४५  
८५२-८५५ ८५८

स्वामिकारि०-स्वामिकारिकेयानप्रेक्षा [ जैनसिद्धान्त-  
प्रकाशिनी सस्या कलकत्ता ] १९

हेतुमिड०-हेतुमिडम्बनोपाय लिखित [ भाण्डारकर  
इस्टीट्यूट पूना ] ४२०

हेतुमिडु [ P तारकससक ] २०६ ४३४ ४३५  
४४५

हेतुमिडुटी०-हेतुमिडुटीका [ प० मुखलालसत्का ]  
७, ८, २० ६० १२६ २०८ ३६० ३६९,  
३७३ ३७६, ३७८, ३८८, ४१९, ४४२-४४५  
४४९, ४५४, ४६२ ४६६ ४६७, ४७६ ४८०,  
४८५, ६०९ ६१४.

हेमप्राकृ०-हेमचन्द्राचार्यकृत प्राकृतव्याकरणम् [ पूना ]  
७६४

हैम-कोश [ भावनगर, काशी ] ७६७

आ० आदर्शत्वेन कल्पिता ईडरभण्डारीया न्याय-  
कुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रति ।

आ० डि० आदर्शप्रते प्रान्तभागे उपलब्धा टिप्पणी ।

ई० वि० ईडरभण्डारीयानुदितप्रत्यन्तर्गता स्ववि-  
वृत्तिप्रति ।

ज० वि० जगपुरीया स्वविवृत्तिप्रति ।

य० बनारसस्यस्याद्वादविद्यालयसत्का न्याय-  
कुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रति ।

मु० लघो० मुद्रित लघोपस्थयम् ।

अ० श्रवणवेङ्गोलस्य श्री [ पण्डिताचार्यबाह-  
कीर्तिभट्टारकसत्का, न्यायकुमुदचन्द्रस्य  
लिखिता प्रति ।

का० कारिका

गा० गाथा

इलो० इलोक



## शुद्धिपत्रम्

पृ०	प०	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	प०	अशुद्धम्	शुद्धम्
४१४-३	}	प्रथक्	पृथक्	६३४	११	को विसवाद	कोऽविसवाद
४२९-१२				६५४	२८	प्रकान्त-	प्रबान्त-
४६३-१२				६७१	१२	-प्राप्ति-	-प्राप्ति-
५३८-५				७४९	८	वाक्यप०	वाक्यप०
४१९	१	प्रमाण्यात्	प्रामाण्यात्	७५७	७	गान्वादीनाम्	गान्वादीनाम्
४३६	१६	-सङ्कतस्या-	-सङ्केतस्या-	७६७	३	गावीशब्द	गावीशब्द
४४६	१२	वप-	वप-	७९७	२७	तृद्वि-	तृद्वि-
४६४	४	स्मृत्वा	स्मृत्वा	८०२	१७	-रूपक-	-रूपक-
४६७	१२	(१) अभावस्य	(१) अभावप्रमाणस्य	८०४	३	पक्षसपक्षद्	पक्षसपक्षद्
४६९	१०	रूपित्य	रूपित्य	८२४	७	व्यच्छे-	-व्यच्छे-
४७३	२१	(४) घटधर्मतया	(४) भूतलधर्मतया	८२५	१३	इति	इति
४७३	२१	(५) घटात्	(५) भूतलात्	८३७	८	-तम्	-तम्
४८८	१८	योग्ययोग्यौ	योग्ययोग्यौ	८४६	२	मुद्दाशा	मुद्दाशा
५१५	९	विधिनोच्यते	विधिनोच्यते	८५१	२१	मूनि-	भुक्ति-
५७२	१७	-विशिष्ट	-विशिष्ट	८५५	९	पूर्वादि	पूर्वादि
५७२	२२	-नियतद्वय-	-नियततद्वय-	८६४	२२	-स्वप्रदोष	-स्वप्रदोष
५७३	२१	विश्लेषण-	विश्लेषण-	प्र० ५	१०	-भूत	-भूत
६१४	१६	कार्यम् इति	कार्यमित्यत				
			कारणम् इति				



## माणिकचन्द्र-जैनग्रन्थमालामें प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची



१ लघीयस्त्रयादिसग्रह	I=)	२३ मूलाचार सटीक-उत्तरार्द्ध	१॥)
२ सागारधर्मांमृत सटीक (अप्राप्य)		२४ रत्नकरण्डभावकाचार सटीक	२)
३ दिक्कान्तकीरव (नाटक)	I=)	२५ पञ्चसग्रह	॥I=)
४ पाश्चिमायचरित (काव्य)	II)	२६ लाटीसहिदा	II)
५ मैथिलीकल्याण (नाटक)	I)	२७ पुरदेवचम्पू	III)
६ आराधनासार सटीक	I)II	२८ जैन शिला लेखसग्रह	२)
७ जिनदत्तचरित (काव्य)	I)II	२९ पद्मचरित (पद्म-पुराण) प्रथम खंड	१॥)
८ प्रद्युम्नचरित (काव्य)	II)	३० " " " द्वितीय खंड	२)
९ चारित्रसार (अप्राप्य)		३१ " " " तृतीय खंड	२)
१० प्रमाणनिर्णय (अप्राप्य)		३२ हरिवंशपुराण प्रथम खंड	२)
११ आचारसार "		३३ " " " द्वितीय खंड	१॥)
१२ त्रिलोकसार सटीक (अप्राप्य)		३४ नीतिवाक्यमृत सटीक (परिशिष्ट)	I)
१३ तत्त्वानुशासनाविसग्रह (अप्राप्य)		३५ जम्बूद्वीपचरित (काव्य)	१॥I)
१४ अनगारधर्मांमृत सटीक	३॥I)	३६ त्रिपष्टिसंमृतिशास्त्र मराठी टीकासहित	II)
१५ युक्त्यनुशासन "	III=)	३७ महापुराण (प्रथम खंड)	१०)
१६ नयचक्रसग्रह	III=)	३८ ग्यायकुमुदचन्द्र—भट्टाकलवदवके	
१७ पद्मप्रभूतादिसग्रह "	३)	लघीयस्त्रय यथपर श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यकृत	
१८ प्रायश्चित्तसग्रह	१=)	भाष्य (प्रथम खंड)	८)
१९ मूलाचार सटीक-पूर्वार्द्ध	२॥I)	३९ ग्यायकुमुदचन्द्र (द्वितीय खंड)	८॥I)
२० भाषसग्रहादि	२॥I)	४० वराहचरित—जटाचार्य (सिंहनाद)	
२१ सिद्धांतसारादिसग्रह	१॥I)	कृत प्राचीन महाकाव्य	३)
२२ नीतिवाक्यमृत सटीक	१॥II)	४१ महापुराण (द्वितीय खंड)	१०)

नोट—सभी ग्रन्थ बंदन गस्ते हैं, लागतमात्र मूल्यमें बंने जाते हैं ।

मिलनेका पता—नाथूराम प्रेसी

मन्त्री—माणिकचन्द्र-जैनग्रन्थमाला

ठि० हीराबाग, पो० गिरगांव, बम्बई न० ४